

## भारतीय अर्थ-व्यवस्था की अर्द्ध-विकसित प्रकृति

15

इन सब कारणों के परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व तक देश में—(क) प्रति-व्यक्ति आय बहुत ही निम्न थी, (ख) आर्थिक विकास की दर बहुत ही कम, साधारणतया वार्षिक एक प्रतिशत के लगभग थी, तथा (ग) देश की अर्थ-व्यवस्था में संतुलन का अभाव था।

### पंचवर्षीय योजनाओं में आर्थिक विकास (Economic Development in Five Year Plans)

किन्तु, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में आर्थिक विकास के लिए आयोजित प्रयास का युग प्रारम्भ हुआ। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत देश में द्रुतगति से आर्थिक विकास के लिए प्रयास किये जा रहे हैं। देश के सम्पूर्ण साधनों का वैज्ञानिक आधार पर सर्वेक्षण किया जा रहा है तथा इनके अधिकतम प्रयोग पर जोर दिया जा रहा है। संक्षेप में, पंचवर्षीय योजनाओं ने देश के आर्थिक विकास में निम्न प्रकार से सहयोग प्रदान किया है—

- (1) देश के आर्थिक एवं औद्योगिक ढाँचे की त्रुटियों को दूर कर,
- (2) उपलब्ध साधनों के उत्तम प्रयोग के द्वारा, तथा
- (3) लोगों को आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में जागरूक बनाकर।

प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं में 1951-52 से 1965-66 के अन्तर्गत देश के शुद्ध राष्ट्रीय आय में कुल 61 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस अवधि में राष्ट्रीय आय (1948-49 ई० के मूल्य-तल के आधार पर) 9100 करोड़ रुपये से बढ़कर 1965-66 में 14,640 करोड़ रुपये हो गयी। इस प्रकार इस अवधि में राष्ट्रीय आय में प्रतिवर्ष 3 प्रतिशत (Compound rate of growth) की दर से वृद्धि हुई। इस अवधि में प्रति व्यक्ति आय (1948-49 के मूल्य-तल पर) 1951-52 में 250.3 रुपये से बढ़कर 1965-66 में 301.4 रुपये हो गई। प्रथम योजना की अवधि में विकास की वार्षिक दर 3.4 प्रतिशत, द्वितीय योजना की अवधि में 4 प्रतिशत तथा तृतीय योजना की

1. प्रचलित मूल्य-तल पर देश की राष्ट्रीय-आय 1951-52 में 9970 करोड़ रु० से बढ़कर 1965-66 में 20590 करोड़ रुपये हो गयी। इसी प्रकार प्रचलित मूल्य-तल पर प्रति-व्यक्ति आय 1951-52 में 274.2 रुपये से बढ़कर 1965-66 में 423.9 रुपये हो गयी, जबकि 1948-49 के मूल्य-तल पर यह 301.4 रुपये ही हुई। इन दोनों प्रकार के अंकों में अन्तर इस अवधि में मूल्य-तल में अधिक वृद्धि का परिणाम है—Economic Survey of India, 1969-70.

2. तृतीय योजना के प्रथम चार वर्षों में राष्ट्रीय आय में 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु अंतिम वर्ष यानी 1965-66 में इसमें 5.7 प्रतिशत की कमी हुई। 1966-67 में राष्ट्रीय आय में केवल 1.5 प्रतिशत, 1967-68 में 9 प्रतिशत, 1968-69 में 2.4 प्रतिशत तथा 1969-70 में 5.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई। Economic Survey 1970-71;

अवधि में 2.9 प्रतिशत थी। किन्तु तृतीय योजना का अन्तिम वर्ष, यानी 1965-66 भयानक सूखे तथा भारत-पाक युद्ध के कारण असामान्य वर्ष था।

किन्तु, इस अवधि में राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ-साथ जनसंख्या में भी द्रुतगति से वृद्धि हुई जिससे प्रति-व्यक्ति आय में वृद्धि बहुत ही साधारण थी। प्रथम योजना के प्रारम्भ से लेकर तृतीय योजना के अन्त तक जनसंख्या में अनुमानतः 2.5 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई जबकि 1950-51 से 1964-65 के बीच प्रति-व्यक्ति आय में 2.8 प्रतिशत औसत वार्षिक वृद्धि हुई थी। इससे ऐसा जान पड़ता है कि तृतीय योजना की समाप्ति के बाद भी देश स्वतः प्रचालित आर्थिक विकास की स्थिति में नहीं पहुँच पाया।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) 1969-74 में राष्ट्रीय आय में वार्षिक 5.5 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था। आयोग के अनुसार 1968-69 के मूल्य-तल के आधार पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन (Net National domestic product) के 1968-69 में 28,198 करोड़ रुपये से बढ़कर 1973-74 में 38,451 करोड़ रुपये होने का आयोजन था। इस आधार पर योजना-काल में प्रति व्यक्ति आय में 3 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि की आशा की गयी थी।

किन्तु चतुर्थ योजना के इन लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो सकी तथा योजना काल में 1960-61 के मूल्य-तल के आधार पर राष्ट्रीय आय में 3.3 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि ही हुई। 1969-70 में राष्ट्रीय निपज (Net National Product) में 6.5 प्रतिशत, 1970-71 में 5.2 प्रतिशत तथा 1971-72 में 1.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु 1972-73 में इसमें 1.5 प्रतिशत की कमी हुई। पुनः 1973-74 में इसमें 5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। किन्तु चतुर्थ योजना काल में देश की जनसंख्या में भी प्रतिवर्ष लगभग 2.5 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई, अतएव प्रति व्यक्ति आय में केवल नाम-मात्र की ही, प्रायः 1.2 प्रतिशत वार्षिक दर से वृद्धि हुई।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five year Plan) में भी पहले वार्षिक 5.5 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था, किन्तु पाँचवीं योजना के प्रथम वर्ष (1974-75) में कुल राष्ट्रीय निपज में वृद्धि की दर बहुत ही कम लगभग 0.2 प्रतिशत ही हो पायी। अतएव योजना की अन्तिम रूप-रेखा में वार्षिक विकास की दर के सम्बन्ध में 4.37 प्रतिशत का ही लक्ष्य रखा गया। किन्तु योजना के इस लक्ष्य की भी पूर्ति नहीं हो पायी तथा योजना आयोग के अनुसार

3- तृतीय योजना के अन्त, यानी 1965-66 में राष्ट्रीय आय 14 660 करोड़ रुपये हो गयी जबकि योजना का लक्ष्य 19,000 करोड़ रुपये का था। वास्तव में, सूखा आदि के कारण 1965-66 असामान्य वर्ष था, जिससे राष्ट्रीय आय बहुत कम हो गयी।



पाँचवीं योजना के चार वर्षों (1974-78) में विकास की दर अनुमानतः 3.9 प्रतिशत ही रही।

1960-61 के मूल्यतल के आधार पर राष्ट्रीय आय 1960-61 में 13,263 करोड़ रुपये से बढ़कर 1977-78 में 23,400 करोड़ रुपये हो गयी। इसी प्रकार प्रति व्यक्ति आय 1960-61 में 305.6 रुपये से बढ़कर 1977-78 में 375 रु० हो गयी, यानी इसमें लगभग 23 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि केवल 1961 से 1970 के बीच दस वर्षों में जनसंख्या में 25 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी।

छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan) (1978-83) के प्रारूप में 4.7 प्रतिशत वार्षिक विकास की दर की कल्पना की गयी है। विकास की आयोजित दर को इसमें पूर्व की योजनाओं की अपेक्षा कम रखा गया है। आयोग के अनुसार ऐसा दो बातों को ध्यान में रखकर किया गया है। सर्वप्रथम तो छठी योजना में त्रिनियोग की रूप-रेखा ऐसी तैयार की गयी है जिससे समाज में धन का वितरण निर्धनों के पक्ष में अधिक हो तथा द्वितीयतः कृषि तथा उद्योग दोनों के विकास के लक्ष्यों के निर्धारण में पूर्व की अपेक्षा यथार्थता पर अधिक जोर दिया गया है।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. United Nations : Measures for the Economic Development of Under-developed Countries.
2. United Nations : World Economic survey, 1975
3. Agrawal and Singh : Approach to the Problems of Under-development
4. Mahalanobis, P. C. : Talks on Planning
5. First, Second, Third, Fourth & Fifth Five Year Plans of India
6. Economic Survey 1977-78
7. Draft Five Year Plan (1978-83)



## अध्याय : 2

## प्राकृतिक साधन एवं आर्थिक विकास

## (Natural Resources &amp; Economic Development)

आर्थिक विकास में प्राकृतिक साधनों का योगदान (Role of Natural Resources in Economic Development) :— किसी देश का आर्थिक विकास मुख्यतः वहाँ के प्राकृतिक साधनों पर निर्भर करता है। प्रो० लीविस (W. A. Lewis) के शब्दों में, “किसी देश के साधनों की मात्रा ही उसके विकास की मात्रा एवं प्रकार की सीमा निर्धारित करती है।” (The extent of a country's resources is quite obviously a limit on the amount and type of development which it can undergo.)<sup>1</sup> प्राकृतिक साधनों की सामूहिक शक्ति ही देश तथा समाज के आर्थिक विकास की सीमा एवं प्रकृति निर्धारित करती है। यह शक्ति वह आधारशिला है जिस पर मनुष्य श्रम कर सम्पत्ति का सृजन करता है। उदाहरणार्थ, किसी देश की जलवायु, वर्षा तथा भूमि की बनावट के द्वारा कृषि की प्रकृति एवं उपज निश्चित होती है; तट-रेखा, नदियाँ तथा पहाड़ वाणिज्य-व्यापार को प्रभावित करते हैं और वन-सम्पत्ति, खनिज-सम्पत्ति एवं शक्ति के साधन उद्योग-धन्धों की गति को निर्धारित करते हैं। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन तथा आर्थिक विकास में भूमि तथा अन्य प्राकृतिक साधनों को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया था। आज भी लीविस तथा बॉमाल जैसे अर्थशास्त्रियों के अनुसार प्राकृतिक साधन विकास के महत्त्वपूर्ण निर्धारक तत्व हैं। किन्तु दूसरी ओर आर० एफ० हैरोड (R. F. Harrod) ने अपने विकास-सम्बंधी मॉडल में भूमि को कोई महत्त्व ही नहीं प्रदान किया है क्योंकि इनके अनुसार विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं के संदर्भ में प्राकृतिक साधनों का परिमाणात्मक महत्त्व बहुत अधिक नहीं है। किन्तु इन दोनों ही विचारधाराओं में अत्युक्ति की मात्रा अधिक पायी जाती है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास के कारण आधुनिक युग में प्राकृतिक साधनों का आर्थिक विकास में प्राचीन महत्त्व नहीं रह गया है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आर्थिक विकास की दृष्टि से प्राकृतिक साधनों का कोई महत्त्व ही नहीं रह गया है। अल्पकिसित देशों में तो आज भी पूँजी एवं तकनीकी ज्ञान के अभाव के कारण भूमि द्वारा इन साधनों का प्रतिस्थापन अधिक संभव नहीं होता।

इस प्रकार आज भी मानव के आर्थिक जीवन पर प्राकृतिक साधनों का बड़ा ही व्यापक प्रभाव पड़ता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सम्यक्ता के विकास एवं ज्ञान में अभिवृद्धि के साथ-साथ मानव का प्रकृति के ऊपर स्वामित्व निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है, किन्तु इसकी भी एक निश्चित सीमा होती है जिसके बाद मानव को प्राकृतिक शक्तियों पर ही आश्रित रहना पड़ता है। भारत के आर्थिक जीवन में भी प्राकृतिक साधनों की प्रधानता रही है, अतः भारत की आर्थिक स्थिति का अध्ययन हम इसके प्राकृतिक साधनों के संक्षिप्त विवरण से ही प्रारम्भ करेंगे।

क्षेत्रफल तथा विस्तार<sup>2</sup> :— भारत का क्षेत्रफल 32, 87, 782 वर्ग कि० मी० है। भारत में सम्पूर्ण विश्व के भूखण्ड का प्रायः 2.4 प्रतिशत भाग है। क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत विश्व का सातवाँ देश है। इसका क्षेत्रफल ब्रिटेन के क्षेत्रफल का प्रायः तेरह गुना तथा जापान का आठ गुना है। किन्तु यह कैनाडा के क्षेत्रफल का एक-तिहाई तथा रूस के क्षेत्रफल का केवल सातवाँ भाग है। वास्तव में, भारत एक विशाल भूखण्ड है जो भूमध्य रेखा के उत्तर में 8° से लेकर 37° उत्तरी अक्षांश रेखा तक तथा 68° से लेकर 97° पूर्वी देशान्तर रेखाओं के बीच स्थित है<sup>3</sup>। उत्तर से दक्षिण तक इसकी लम्बाई प्रायः 3214 कि० मी० तथा पूर्व से लेकर पश्चिम तक इसकी चौड़ाई लगभग 2933 कि० मी० है।

भारत केवल आकार में ही बड़ा नहीं, वरन् मानव जाति के प्रायः छठे अंश (15.1 प्रतिशत) का निवास-स्थान है। 1971 ई० की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या 54.8 करोड़ है।

भौगोलिक एवं जलवायु-सम्बंधी विशेषताएँ :— भारत के विभिन्न भागों में भौगोलिक एवं जलवायु-सम्बंधी बड़ी विभिन्नताएँ पायी जाती हैं। भारत का विस्तार इतना अधिक तथा प्राकृतिक बनावट इतनी विभिन्न है कि सम्पूर्ण

2. विभाजन के पूर्व भारतवर्ष का क्षेत्रफल 15,74,00 वर्गमील था। इसका प्रायः 77.2 प्रतिशत भाग भारत संघ को तथा 22.8 प्रतिशत भाग पाकिस्तान को मिला। भारत—1976, पृ० 1.

3. India—1976

1. W. A. Lewis : The Theory of Economic Growth. p. 32.



## भारतीय अर्थशास्त्र

देश में एक प्रकार की जलवायु नहीं पायी जाती। यहाँ गगनचुम्बी पर्वत-श्रेणियाँ, विस्तृत समतल मैदान, सघन जंगल, पठार तथा मरुभूमि—सभी प्रकार के क्षेत्र पाये जाते हैं। साथ ही, विस्तृत सागर की जलराशि इसके दोनों लम्बे किनारों को स्पर्श करती है। भौगोलिक स्थिति तथा जलवायु में इस विभिन्नता का प्रभाव मानव के आर्थिक जीवन पर व्यापक रूप से पड़ता है। डा० वेरा एंस्टे (Dr. Vera Anstey) ने इसका विवरण निम्न प्रकार से किया है :—“भारतीय जलवायु की विभिन्नता के कारण पशु, वनस्पति एवं कृषि-पदार्थों में इतनी अधिक विभिन्नता पायी जाती है कि यहाँ बड़े-बड़े वालों वाली कश्मीर की पहाड़ी भेड़ों से लेकर राजस्थान के ऊँट और बंगाल के चीते तथा असम के हाथी तक मिलते हैं; उत्तर प्रदेश के गेहूँ, फलों एवं देवदार के बगीचों से लेकर समुद्री किनारे तथा निचले प्रदेशों के चावल एवं नारियल तक मिलते हैं तथा बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा में कोयला एवं लोहा से लेकर मैसूर में सोना तथा पंजाब में नमक के पहाड़ तक पाये जाते हैं।” साथ ही, भारत में कई परस्पर-विरोधी बातें भी मिलती हैं। एक ओर तो राजस्थान में प्रायः वर्षा नहीं के बराबर होती है तो दूसरी ओर असम के चेरापुंजी नामक स्थान में वार्षिक वर्षा 460 इंच होती है जो विश्व में प्रायः सबसे अधिक है। एक ओर हिमालय का अधिकतर भाग वर्ष भर बर्फ से ढँका रहता है तो दूसरी ओर यहाँ संसार में अधिकतम तापक्रम वाले स्थान भी पाये जाते हैं। इस प्रकार हमारे देश में जलवायु एवं भौगोलिक विभिन्नताएँ बहुत अधिक पायी जाती हैं। ये भौगोलिक विभिन्नताएँ हमारे आर्थिक जीवन को अधिक समृद्ध बनाती हैं तथा हमारे सम्मुख विविध एवं समृद्ध आर्थिक जीवन के विकास की असीम सम्भावनाएँ प्रस्तुत करती हैं।

## भारत की मिट्टी

मिट्टी का मानव के आर्थिक जीवन से अत्यंत घनिष्ठ सम्बन्ध है। कृषि की सफलता बहुत अंशों में मिट्टी की आकृति पर ही निर्भर करती है, अतः भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए मिट्टी का महत्त्व बहुत ही बढ़ जाता है। भारत में विभिन्न प्रकार की मिट्टी पायी जाती है। किन्तु, कृषि के दृष्टिकोण से कृषि-आयोग ने यहाँ की मिट्टी को निम्नांकित चार वर्गों में विभाजित किया है—  
(1) गंगा या अन्य नदियों द्वारा लायी गयी मिट्टी—यह मिट्टी नयी तथा उपजाऊ होती है। नदियाँ अपने प्रवाह के साथ इस प्रकार की मिट्टी को लाती हैं और अपने दोनों किनारों पर जमा कर देती हैं। इस प्रकार की मिट्टी गंगा के मैदान, पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्री तट, कृष्णा, कावेरी तथा गोदावरी के डेल्टा एवं असम की सुर्मा घाटी में पायी जाती है। गेहूँ, चावल, जौ, ईख आदि की खेती के लिए यह विशेष रूप से उपयुक्त

होती है। (2) लाल मिट्टी—इस प्रकार की मिट्टी में लोहे का अंश अधिक होने के कारण इसका रंग पीला अथवा लाल होता है। यह मुख्यतः तमिलनाडु, मैसूर, महाराष्ट्र के दक्षिण-पूर्वी भाग तथा उड़ीसा में पायी जाती है। रासायनिक तत्त्वों के अभाव में यह कम उपजाऊ होती है। ज्वार, बाजरा, मूँगफली तथा तिलहन की खेती के लिए यह विशेष रूप से उपयुक्त होती है। (3) काली मिट्टी—इस प्रकार की मिट्टी ज्वालामुखी पर्वत के लावा से बनी होती है; अतः यह अति प्राचीन होती है। यह दक्षिण के पठार के दो लाख वर्गमील क्षेत्र में पायी जाती है। कपास तथा ज्वार की खेती के लिए यह विशेष रूप से उपयुक्त होती है। (4) रेतीली मिट्टी—इस प्रकार की मिट्टी पहाड़ियों तथा पठारों में पायी जाती है। मोटी तथा पथरीली होने के कारण यह कम उपजाऊ होती है। छोटानागपुर, उड़ीसा के पहाड़ी प्रदेश, असम एवं मध्य प्रदेश में इस प्रकार की मिट्टी विशेष रूप से पायी जाती है। कृषि के लिए यह प्रायः उपयुक्त नहीं होती।

## भारत की वन-सम्पत्ति

(India's Forest Resources)

आर्थिक विकास में वनों का योगदान (Role of Forests in Economic Development) :—किसी देश के आर्थिक विकास में वनों का स्थान महत्वपूर्ण होता है। आर्थिक क्षेत्र में वनों से किसी देश की कृषि, उद्योग, परिवहन तथा व्यापार आदि सभी लाभान्वित होते हैं। इतना ही नहीं, इनका प्रभाव देश की जलवायु तथा सुरक्षा पर भी पड़ता है। वनों में कुछ उद्योग-धंधों के लिए कच्चे पदार्थ मिलते हैं। इमारती तथा जलावन की लकड़ियाँ प्राप्त होती हैं। कृषि के क्षेत्र में तो वनों का और भी अधिक महत्त्व है।

भारत के बहुमूल्य प्राकृतिक साधनों में भी इसके विशाल वनों का प्रमुख स्थान है। देश के भिन्न-भिन्न भागों में जलवायु, वर्षा तथा प्राकृतिक वनावट में विभिन्नता के अनुसार विभिन्न प्रकार के वन पाये जाते हैं। 80" से अधिक वर्षा वाले स्थानों में सबा हरे-भरे वन पाये जाते हैं। ताड़, बाँस, फर्न तथा रबर आदि इनके मुख्य वृक्ष हैं। इस श्रेणी के वन पश्चिम के समुद्री तट तथा हिमालय की पूर्वी चिकली ढालों पर पाये जाते हैं। 40" से 80" तक वर्षा वाले स्थानों में मौसमी अथवा पतझड़ वाले वन पाये जाते हैं। साल तथा सागौन इनके प्रमुख वृक्ष हैं। इस प्रकार के वन दक्षिणी पठार तथा उत्तर-पूर्वी प्रदेशों में पाये जाते हैं। 40" से कम वर्षा वाले स्थानों में झाड़ियों के वन पाये जाते हैं जिनमें बबूल के वृक्ष प्रमुख हैं। पूर्वी राजस्थान तथा दक्षिणी-पश्चिमी उत्तर प्रदेश में इस प्रकार के वन मुख्य रूप से पाये जाते हैं।

भारतीय वनों का क्षेत्र एवं विस्तार (Area and

1. India—1976



## प्राकृतिक साधन एवं आर्थिक विकास

**Extent of Forests) :**—भारत के कुल 32.8 लाख वर्ग कि० मी० भौगोलिक क्षेत्रफल में से वनों का क्षेत्रफल 7.50 लाख वर्ग कि० मी० है जो देश के सम्पूर्ण क्षेत्रफल का प्रायः 23 प्रतिशत भाग है। अधिकांश वन मुख्यतः हिमालय, विंध्य प्रदेश तथा दक्षिण के पठार तक ही सीमित हैं। देश के शेष भाग में वनों का प्रतिशत प्रायः नगण्य है। देश के सबसे घने आबाद प्रदेश—गंगा-सिन्धु के मैदान में, जहाँ वनों की सबसे अधिक आवश्यकता है, इनका प्रतिशत बहुत ही कम है।

देश में वनों का प्रति व्यक्ति औसत 0.2 हेक्टर पड़ता है। किन्तु वनों का यह क्षेत्रफल देश की भौगोलिक स्थिति तथा आवश्यकताओं की दृष्टि से निश्चय ही अपर्याप्त है। विश्व के कुल वन-प्रदेश का केवल 2 प्रतिशत भाग भारत में है जबकि इसकी जनसंख्या विश्व की कुल जनसंख्या का प्रायः 15.1 प्रतिशत भाग है। वनों का क्षेत्रफल देश के कुल क्षेत्र का फिनलैंड में 46 प्रतिशत, रूस में 44 प्रतिशत, कनाडा में 33 प्रतिशत तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में 25 प्रतिशत भाग है। स्पष्ट है कि इन देशों की तुलना में यह अनुपात भारत में बहुत ही कम है। 1952 ई० की हमारी राष्ट्रीय वन-नीति सम्बन्धी प्रस्ताव के अनुसार देश के कम-से-कम एक-तिहाई भाग में वनों का होना आवश्यक माना गया है जिसमें से पहाड़ी क्षेत्र में वनों का अनुपात 60 प्रतिशत तथा समतल मैदान में 20 प्रतिशत होना चाहिए। अतः भारत में वनों का वर्तमान प्रतिशत आदर्श अनुपात से बहुत ही कम है। इतना ही नहीं, देश में वनों के वितरण में भी घोर विषमता पायी जाती है।

प्रति व्यक्ति औसत वन-क्षेत्र की दृष्टि से भी हमारी स्थिति अन्य देशों की अपेक्षा अधिक शोचनीय है। प्रति व्यक्ति वनों का क्षेत्र संयुक्त राज्य अमेरिका में 4.4 एकड़ तथा रूस में 8.5 एकड़ है, जबकि भारत में केवल 0.5 एकड़ (0.2 हेक्टर) ही है। इसमें भी अधिकांश वन केवल नाम-मात्र के ही वन हैं। साथ ही, यहाँ पर वनों की प्रति एकड़ औसत वार्षिक उपज 3 घनफीट लकड़ी है जबकि फ्रांस में यह 56.8 घनफीट, जापान में 37 घनफीट तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में 18 घनफीट है। इससे देश में प्रति-व्यक्ति उपलब्ध लकड़ी की खपत भी कम होती है। उदाहरण के लिए, अमेरिका में राउण्ड वुड (Round Wood) की प्रति-व्यक्ति औसत खपत 58 घनफीट तथा इंगलैंड में लुगदी (Pulp) की प्रति-व्यक्ति खपत 78 घनफीट है, जबकि भारत में इनकी खपत क्रमशः केवल 1.4 एवं 1.6 घनफीट ही है। वनों से कुल राष्ट्रीय आय का कनाडा में 5 प्रतिशत भाग तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में 6 प्रतिशत भाग प्राप्त होता है, जबकि भारत में 1966-67 में वनों से कुल राष्ट्रीय आय का केवल 1.3 प्रतिशत भाग ही प्राप्त

हुआ था।<sup>1</sup>

### वनों की आर्थिक उपयोगिता (Economic Advantages of Forests)

वन किसी देश की आर्थिक व्यवस्था को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों ही रूपों से लाभ पहुँचाते हैं। भारत में भी यहाँ की वन-सम्पत्ति देश के आर्थिक विकास में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों ही रूप में अधिक सहायक होती है।

भारतीय वनों की अप्रत्यक्ष उपयोगिता (Indirect advantages of Forests) अथवा लाभ निम्नांकित हैं—प्रथमतः, वन जलवायु को अधिक सम बनाते हैं, वायु में नमी लाते हैं और इस प्रकार वर्षा होने में सहायक होते हैं। द्वितीयतः, वन प्रबल वादों को रोक कर जल के प्रवाह को अधिक नियमित बनाते हैं और इस प्रकार नदियों में जल के बहाव को निरन्तर बनाये रखते हैं। तृतीयतः, वन वेगवती हवाओं एवं तूफान को रोकते हैं तथा समीपवर्ती क्षेत्रों को ठंडी एवं गर्म हवाओं से बचाते हैं। चतुर्थतः, वन मिट्टी के कटाव को रोककर उर्वर भूमि को नष्ट होने से बचाते हैं; ये वनों की उर्वरा शक्ति को भी बढ़ाते हैं। पंचमतः, वन जंगली जानवरों को आश्रय प्रदान करते हैं तथा मवेशियों के चारागाह का कार्य करते हैं। और अंततः, वन देश के प्राकृतिक सौंदर्य तथा स्वास्थ्य की अभिवृद्धि में भी सहायक होते हैं। इस प्रकार वन भारतीय कृषि को विभिन्न प्रकार से लाभान्वित करते हैं, अतः इन्हें 'भारतीय कृषि का सहचर' (Forests are handmaid of Indian Agriculture.) कहा जाता है।

वनों की प्रत्यक्ष उपयोगिता (Direct Advantages of Forests) :—वनों की प्रत्यक्ष उपयोगिता इनसे प्राप्त उपजों से सम्बन्धित है। भारतीय वनों से प्राप्त उपजों को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जाता है :—

(क) प्राथमिक उपजें (Major Forest Products)— इनमें वनों से प्राप्त विभिन्न प्रकार की लकड़ियाँ आती हैं। भारतीय वनों में प्रायः चार-हजार किस्म की लकड़ियाँ पायी जाती हैं जिनका प्रयोग इमारती एवं जलावन के लिए तथा उद्योग-धन्धों के कच्चे पदार्थ के रूप में किया जाता है। साल, सागौन, देवदार, महोगनी, शीशम आदि इनकी प्रमुख लकड़ियाँ हैं। 1969-70 ई० में भारतीय वनों से प्रायः 8.5 करोड़ रुपये मूल्य की 221.6 लाख घन मीटर लकड़ी प्राप्त हुई थी।

(ख) गौण उपजें (Minor Forest Products)— गौण उपजों के अंतर्गत लकड़ी के अतिरिक्त वनों से प्राप्त अन्य सभी प्रकार की उपजें आती हैं। भारत के वनों में

1. The Eastern Economists Annual Number, 1969. p. 1237



## भारतीय अर्थशास्त्र

बाँस तथा सबई एवं भाभर की घासों पायी जाती हैं जिनका प्रयोग कागज बनाने में किया जाता है। वनों में दिया-सलाई बनाने की लकड़ी भी मिलती है। इनके अतिरिक्त वनों से बीरोजा, रज्जन, तारपीन तथा चंदन के तेल आदि भी प्राप्त होते हैं। भारतीय वनों की एक प्रमुख उपज लाह भी है जिसका उपयोग पॉलिश, वानिस तथा ग्रामोफोन के रिकार्ड आदि के निर्माण में किया जाता है। भारतीय वनों से रेशम, गोंद, चमड़ा कमाने की सामग्री, रबर तथा तरह-तरह की जड़ी-बूटियाँ भी प्राप्त होती हैं। भारतीय वनों से सरकार को भी प्रतिवर्ष लगभग 14-15 करोड़ रुपये की आय प्राप्त होती है। वन-सम्बन्धी उद्योगों में देश के लाखों व्यक्तियों को रोजगार भी मिलता है।

इस प्रकार भारतीय वनों का हमारे आर्थिक जीवन में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। इनसे कृषि, वाणिज्य तथा उद्योग प्रायः सभी क्षेत्रों में सहायता मिलती है। भारतीय वनों से 1970-71 में 108 करोड़ रुपये की 217 लाख घन मीटर लकड़ी तथा 34 करोड़ रुपये की अन्य सामग्रियाँ प्राप्त हुई थीं।<sup>1</sup>

### भारत सरकार की वन-सम्बन्धी नीति (Forest Policy of the Government of India)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व सरकार की वन-सम्बन्धी नीति (Forest policy of the Government in the Pre-independence Era)—ब्रिटिश शासनकाल के प्रारम्भिक वर्षों में रेलों के निर्माण तथा बढ़ती हुई जन एवं पशु-संख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वनों का विनाश बड़ी तेजी के साथ हो रहा था। धीरे-धीरे ब्रिटिश सरकार ने वनों के आर्थिक महत्त्व को समझा और उनकी रक्षा का कार्य-भार उठाया। सर्वप्रथम, 1855 ई० में लार्ड डलहौजी ने वनों को इस निर्मम विनाश से बचाने का प्रयत्न किया। 1864 ई० में वनों के वैज्ञानिक प्रबन्ध एवं प्रशासन के लिए 'इन्स्पेक्टर जनरल ऑफ फारेस्ट्स' (Inspector General of Forests) के अधीन एक 'राजकीय वन-विभाग' का संगठन हुआ। तब से इस विभाग का निरन्तर विकास होता रहा है तथा आजकल इसके नियन्त्रण में देश के कुल भौगोलिक क्षेत्र का प्रायः 23 प्रतिशत भू-भाग है। 1894 ई० में भारतीय वनों के सम्बन्ध में भारत सरकार ने एक वन-नीति की घोषणा की जिसके अनुसार भारतीय वनों को निम्नांकित चार वर्गों में विभाजित<sup>2</sup> किया गया—(क) वे वन जिनकी सुरक्षा जलवायु एवं भौगोलिक दृष्टिकोण से आवश्यक है; (ख) वे वन जिनसे व्यापारिक कार्यों के लिए बहुमूल्य लकड़ियाँ प्राप्त होती हैं; (ग) छोटे-छोटे वन जिनमें साधारण प्रकार

की लकड़ियाँ मिलती हैं, तथा (घ) चरागाह एवं घास के मैदान जो केवल नाम-मात्र के लिए ही वन हैं।

शासन-व्यवस्था की दृष्टि से वनों को एक-दूसरे ढंग से निम्नांकित<sup>3</sup> तीन वर्गों में विभाजित किया गया है :—

1. सुरक्षित वन (Reserved Forests) :—इन वनों में बहुमूल्य लकड़ियाँ उत्पन्न होती हैं। जलवायु तथा प्राकृतिक दृष्टिकोण से भी इनकी रक्षा आवश्यक है। अतः सरकार इन वनों पर कठोर नियन्त्रण रखती है। इन वनों से लकड़ी काटना, इनमें पशुओं को चराना तथा प्रवेश करना निषिद्ध रहता है। 1969-70 ई० में इस श्रेणी के वनों का क्षेत्रफल 381 लाख हेक्टर था।

2. रक्षित वन (Protected Forests) :—इस प्रकार के वनों में अच्छी लकड़ी उत्पन्न होती है। इनके प्रयोग का अधिकार जनता को एक सीमा के अन्दर ही दिया जाता है। 1969-70 ई० में इस श्रेणी के वनों का क्षेत्रफल 245 लाख हेक्टर था।

3. अवर्गित वन (Unclassed Forests) :—इनका आर्थिक महत्त्व प्रथम दोनों श्रेणी के वनों से कम रहता है। अतः, इन पर नाम-मात्र का ही सरकारी नियन्त्रण रहता है। इनमें पशु चराने तथा लकड़ी काटने पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता। 1969-70 ई० में इस श्रेणी के वनों का क्षेत्रफल 125 लाख हेक्टर था।

इस प्रकार उक्त वन-नीति का मुख्य उद्देश्य वनों का संरक्षण था और इस दिशा में यह नीति पर्याप्त मात्रा में सफल भी रही। किन्तु इसमें सरकार ने अपने कार्य को वनों के वर्गीकरण तक ही सीमित रखा। वनों के विकास एवं विस्तार के प्रति सरकार प्रायः बिल्कुल जागरूक नहीं थी। फिर भी, वन-सम्बन्धी अनुसंधान को प्रोत्साहित करने के लिए 1906 ई० में सरकार ने देहरादून में एक वन-अनुसंधानशाला (Forest Research Institute) की स्थापना की। सन् 1925 ई० के भारतीय संविधान के अनुसार वन 'प्रान्तीय विषय' हो गया। तब से प्रत्येक राज्य की वन-व्यवस्था अलग-अलग है। फिर भी, भारत सरकार द्वारा इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं। केन्द्र में वन-सम्बन्धी विषयों पर परामर्श देने के लिए एक प्रधान

3. 1969-70 ई० में विभिन्न प्रकार के वनों का क्षेत्रफल निम्न प्रकार से था :—

- |                                    |                      |
|------------------------------------|----------------------|
| (1) सुरक्षित वन (Reserved Forests) | 380.7 लाख हेक्टर मी० |
| (2) रक्षित वन (Protected Forests)  | 244.5 लाख हेक्टर मी० |
| (3) अवर्गित वन (Unclassed Forests) | 125.1 लाख हेक्टर मी० |
| कुल                                | 750.3 लाख हेक्टर मी० |

Source—INDIA. 1976. p. 219

1. India—1976

2. Agricultural Commission Report, P. 215.



वन-निरीक्षक है। प्रबन्ध की सुविधा के लिए प्रत्येक राज्य को विभिन्न वन-क्षेत्रों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक क्षेत्र का प्रबन्ध एक 'वन-संरक्षक' (Conservator of Forests) के अधीन रहता है। पुनः प्रत्येक वन-क्षेत्र को छोटे-छोटे विभागों में विभाजित किया जाता है जिसका प्रबन्ध एक 'फॉरेस्ट रेंजर्स' (Forest Rangers) के अधीन रहता है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद वन-नीति (Forest Policy in the Post-Independence Period) :— स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार का ध्यान वनों के संरक्षण एवं विकास की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। इसी उद्देश्य से जुलाई, 1950 ई० में भारत सरकार के तत्कालीन कृषि एवं खाद्य-मंत्री श्री के० एम० मुन्शी ने वन-महोत्सव (Van Mahotsava) अथवा 'अधिक वृक्ष लगाओ' (Grow More Trees) आन्दोलन की शुरुआत की। तब से प्रतिवर्ष वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में एक सप्ताह तक वन-महोत्सव समारोह मनाया जाता है तथा देश में लाखों वृक्ष लगाये जाते हैं। सन् 1950 ई० में ही वन-विकास सम्बन्धी विषयों पर परामर्श देने के लिए एक केन्द्रीय वन-सलाहकार समिति (Central Forest Advisory Board) की स्थापना की गयी। पुनः 12 मई, 1952 ई० को भारत सरकार ने अपनी नयी वन-नीति (Forest Policy) की घोषणा की जिसमें यह सुझाव दिया गया कि "देश की सम्पूर्ण भूमि के प्रायः एक-तिहाई भाग में वनों को बनाये रखना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। हिमाचल प्रदेश, दक्षिण तथा अन्य पहाड़ी क्षेत्रों में, जहाँ भूमि-क्षरण का भय अधिक हो, कुल भूमि के प्रायः 60 प्रतिशत भाग में वनों का रहना आवश्यक है तथा मैदान में जहाँ पर भूमि समतल हो, तथा भूमि-क्षरण का भय कम रहता हो, वन-भूमि का अनुपात 20 प्रतिशत होना चाहिए।"

किन्तु, उक्त नीति में निर्दिष्ट लक्ष्य तथा वनों के वर्तमान क्षेत्र में बहुत बड़ा अन्तर है। साथ ही, देश के अधिकांश वन हिमालय, विन्ध्य तथा दक्षिण के पठार तक ही सीमित हैं। सिन्धु-गंगा का समतल मैदान प्रायः वनों से खाली पड़ा है। देश की वर्तमान खाद्य-समस्या के फल-स्वरूप हमारे समक्ष कृषि-विस्तार के उद्देश्य से भूमि की मांग भी बहुत अधिक बढ़ गयी है। ऐसी स्थिति में वनों के विस्तार की योजना तैयार करते समय हमें इस बात का पता लगाना होगा कि हमारे देश में वंजर भूमि कितनी है और उसमें से कृषि के लिए कितनी भूमि का उपयोग किया जा सकता है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में देश की सम्पूर्ण वंजर भूमि के सर्वेक्षण का सुझाव दिया गया था जिससे इस सम्बन्ध में एक संतुलित एवं पूरक पद्धति विकसित की जा सके।

इस वन-नीति में प्रत्येक प्रकार के वनों के विकास एवं

संरक्षण पर पर्याप्त जोर दिया गया है। इस वन-नीति के अनुसार वनों को नये सिरे से निम्नांकित चार वर्गों में विभाजित किया गया है—(1) रक्षित वन (Protected Forests), (2) राष्ट्रीय वन (National Forests), (3) देहाती वन (Village Forests), तथा (4) वृक्ष-प्रदेश (Tree land)।

इस नीति में वन्य-प्रदेशों में कृषि-भूमि के विस्तार को रोकने पर भी अधिक जोर दिया गया है। साथ ही, वनों के विस्तार के लिए निम्नांकित सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं—

- (क) एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार वनों के क्षेत्रफल को बढ़ाने के लिए वृक्षारोपण का कार्य किया जाय। किसी प्रदेश से वनों को साफ करने के पूर्व उतने ही क्षेत्र में नये वन लगाना आवश्यक है।
- (ख) ग्रामीण क्षेत्रों में ईंधन एवं चरागाह की सुविधा प्रदान करने के लिए सीमान्त तथा कम उपजाऊ भूमि पर वृक्ष लगाये जायें।
- (ग) दुर्गम वनों के विकास के लिए उनमें आवागमन एवं संचार के साधनों का अत्यधिक विस्तार किया जाय।
- (घ) वन-सम्बन्धी उद्योगों को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए वन अनुसंधानशाला एवं उद्योगपतियों में निकटतम सुम्पर्क स्थापित किया जाय।

इस प्रकार यह वन-नीति निश्चय ही सराहनीय है। इससे देश की वन-व्यवस्था अत्यधिक सुदृढ़ हो जायगी जिससे कृषि, उद्योग तथा वाणिज्य सभी विशेष रूप से लाभान्वित होंगे।

### पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत वन (Forests under Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) में वनों के संरक्षण एवं विकास तथा आवागमन के साधनों के विस्तार पर पर्याप्त जोर दिया गया था। आयोग के अनुसार देश में वनों के क्षेत्र में वृद्धि का कार्यक्रम दीर्घ-कालीन, था अतएव अल्पकाल में वनों के क्षेत्र को बढ़ाने के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना में निम्नांकित सुझाव दिये गये थे :—(1) मिट्टी के कटाव को रोकने के लिए वृक्षारोपण; (2) कृषि की सीमान्त भूमि पर वृक्ष लगाना; तथा (3) ईंधन एवं चारे की पूर्ति के लिए गाँवों में बाग लगाना। प्रथम योजनाकाल में प्रायः 75 हजार एकड़ भूमि में नये वन लगाने तथा वनों के पुनरुद्धारका कार्य किया गया। 15 हजार एकड़ भूमि में दियासलाई की लकड़ी के वन लगाये गये। योजनाकाल में वनों में 5000 कि० मी० से अधिक लम्बी सड़कें बनायी गयीं। योजनाकाल में प्रायः 2 करोड़ एकड़ निजी वनों को सरकारी नियन्त्रण में लाया गया। जंगली जानवरों की



सुरक्षा के लिए 1952 ई० में एक 'इण्डियन बोर्ड ऑफ वाइल्ड लाइफ' (Indian Board for Wild Life) की स्थापना की गयी। योजनाकाल में वन अनुसंधानशाला का भी विस्तार किया गया। प्रथम योजनाकाल में वनों के विकास पर प्रायः 8.5 करोड़ रुपये व्यय किया गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में योजना आयोग के अनुसार वन-सम्बन्धी कार्य-क्रमों के निम्नांकित उद्देश्य थे: "Forest Policy has to be directed, on the one hand, to securing the long range development of forest resources and on the other hand to meeting the increasing demand for timber in the immediate future." द्वितीय योजना में इस सम्बन्ध में निम्नांकित कार्यक्रम अपनाये गये थे—(1) भूमि के कटाव तथा रेगिस्तान की वृद्धि को रोकने के लिए वृक्षारोपण, बंजर भूमि में वृक्ष लगाना तथा नहरों एवं सड़कों के किनारे पर अधिकाधिक वृक्ष लगाना; (2) हाल में सरकारी नियन्त्रण में आये हुए वनों में सुधार; व्यापारिक महत्त्व की लकड़ियों की किस्म तथा उत्पादन में वृद्धि करना। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 50 हजार एकड़ भूमि पर सागौन, 13 हजार एकड़ भूमि पर बेंत, नीलगोंद तथा 50 हजार एकड़ भूमि में दियासलाई की लकड़ी के पेड़ लगाने की व्यवस्था थी, (3) वन-सम्बन्धी अनुसन्धान एवं शिक्षा को प्रोत्साहित करना, (4) वनों में 7400 मील लम्बी सड़क बनाना अथवा उनमें सुधार करना, (5) जंगली जानवरों की सुरक्षा; तथा (6) वनों में काम करने वाले श्रमिकों में सहकारी समितियों की स्थापना।

विभिन्न राज्यों की वन-विकास सम्बन्धी योजनाओं में समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से द्वितीय योजनाकाल में वन आयोग (Forestry Commission) की नियुक्ति की गयी। जंगली जानवरों की सुरक्षा के उद्देश्य से योजनाकाल में देश के विभिन्न भागों में 18 राष्ट्रीय पार्क बनाये गये। साथ ही, दिल्ली में आधुनिक तरीके की एक 'पशु वाटिका' (Zoological Park) भी बनायी गयी। वनों की गौण उपजों, जैसे—बाँस, लाह तथा तेल देनेवाली वृक्ष, औषधिक जड़ी-बूटियाँ, घास इत्यादि के उत्पादन एवं संचय के नये तरीके निकालने की व्यवस्था थी। द्वितीय योजनाकाल में प्रायः 40 हजार एकड़ भूमि में दियासलाई की लकड़ी के पेड़ लगाये गये। इसके अतिरिक्त 18 हजार वर्गमील वनों का सर्वेक्षण तथा सीमांकन किया गया।

द्वितीय योजनाकाल में वन-विकास की सद में 21.2 करोड़ रुपये व्यय हुए।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में वन-विकास की प्रगति (Progress of Forest Development in the Third Five Year Plan) :—तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में भी वनों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था।

योजनाकाल में उन कार्यक्रमों पर विशेष जोर दिया गया जिनसे देश की दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता मिले तथा वनों से उत्पन्न विभिन्न पदार्थों का कुशल तरीके से उपयोग किया जा सके। योजनाकाल में वनों में आवागमन एवं संचार की व्यवस्था पर विशेष जोर दिया गया था। 1961-66 के बीच में ईंधन की लकड़ी की कमी को दूर करने के लिए गाँव के आस-पास की 119 हजार हेक्टर परती भूमि में शीघ्र तैयार होने-वाले वन लगाये गये। साथ ही, 476 हजार हेक्टर भूमि में सागवान तथा अन्य औद्योगिक एवं व्यापारिक महत्त्व की लकड़ियाँ लगायी गयीं। इनके अतिरिक्त 249 हजार हेक्टर भूमि में शीघ्र तैयार होने वाली इमारती लकड़ियों के वृक्ष लगाये गये। इस अवधि में वनों में 1.17 हजार कि० मी० लम्बी सड़क बनायी गयी। वनों से प्राप्त होने वाली गौण उपजों के उत्पादन को बढ़ाने पर भी योजनाकाल में विशेष रूप से ध्यान दिया गया। इस अवधि में 30 हजार वर्ग किलोमीटर वनों का सर्वेक्षण किया गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में वनों के विकास पर 51 करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन था जब कि योजनाकाल में वास्तविक व्यय 46 करोड़ रुपये ही हुआ। इसी प्रकार 1966-69 के बीच तीन एकवर्षीय योजनाओं (Three one year Plans) के अन्तर्गत वनों के विकास पर 41 करोड़ रुपये व्यय हुए।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना<sup>1</sup> में वन विकास की प्रगति (Progress of Forests in the Fourth Five Year Plan):—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में वन-विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत कृषि तथा उद्योग दोनों की तत्कालीन तथा दीर्घकालीन आवश्यकताओं को ध्यान में रखा गया था। योजनाकाल में औद्योगिक लकड़ी की मांग के 1968-69 ई० में 110 लाख घनमीटर से बढ़कर 1973-74 ई० में 170 लाख घनमीटर होने का अनुमान था। इस अन्तर की पूर्ति के लिए चतुर्थ योजनाकाल में (1) 340 हजार हेक्टर भूमि में शीघ्र तैयार होने वाली लकड़ियों के वृक्ष लगाने की व्यवस्था थी; (2) 300 हजार हेक्टर भूमि में आर्थिक दृष्टि से उपयोगी लकड़ियों के उपजाने पर जोर दिया गया था, तथा (3) 188 हजार हेक्टर भूमि में निम्न कोटि के वनों में सुधार की व्यवस्था की गयी थी। किन्तु नयी लकड़ियों के तैयार होने में विलम्ब होगा, अतएव चतुर्थ योजनाकाल में वनों को काटकर औद्योगिक लकड़ी की पूर्ति की बढ़ाने पर जोर दिया गया था। फिर भी, आयोग का यह अनुमान है कि 1973-74 तक केवल 135 लाख घनमीटर औद्योगिक लकड़ी की मांग की ही पूर्ति की जा सकी है। ईंधन की लकड़ी की पूर्ति को बढ़ाने के कार्यक्रम के अन्तर्गत 75

1. Fourth Five Year Plan—A Draft, 1969, 74.



## प्राकृतिक साधन एवं आर्थिक विकास

हजार हेक्टर परती भूमि पर वृक्ष लगाने पर जोर दिया गया था। चतुर्थ योजना में 251 हजार हेक्टर भूमि में शीघ्र तैयार होने वाली लकड़ी तथा 289 हजार एकड़ में आर्थिक एवं व्यावसायिक दृष्टि से महत्वपूर्ण लकड़ियों को लगाया गया। योजनाकाल में वनों में 8 हजार कि० मी० नयी सड़कों का निर्माण किया गया था।

चतुर्थ योजना में वन-सम्बन्धी विकास कार्यक्रम की मद में 94 करोड़ रु० व्यय हुआ था।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में वन (Forests in the Fifth Five Year Plan) :—पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में भी वनों के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया था। योजनाकाल में औद्योगिक लकड़ी के उत्पादन को 1973-74 में 94 लाख घन मीटर से बढ़ाकर 1978-79 में 123 लाख घन मीटर करने का आयोजन था। औद्योगिक लकड़ी के उत्पादन में इतनी अधिक वृद्धि के लिए पाँचवीं योजना काल में 350 हजार हेक्टर भूमि में शीघ्र तैयार होने वाली लकड़ियों के वृक्ष लगाने तथा 760 हजार हेक्टर भूमि में औद्योगिक दृष्टि से उपयोगी लकड़ियों के वृक्ष लगाने का आयोजन था। इसी प्रकार पाँचवीं योजनाकाल में वन-क्षेत्र में 15 हजार किलोमीटर लम्बी सड़क बनाने का भी आयोजन था।

पाँचवीं योजना में वनों के विकास पर कुल 220.5 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था।

छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan) में भी वनों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया है।

वनों के विकास के लिए कुछ उपयोगी सुझाव— इस प्रकार भारत की आर्थिक व्यवस्था में वनों का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु भारतीय वनों की वर्तमान स्थिति संतोषजनक नहीं है। अतएव, वनों के विकास की आवश्यक योजना में निम्नांकित बातों पर जोर देने की आवश्यकता है :—

(1) सर्वप्रथम तो वनों के विकास के लिए एक दीर्घ कालीन योजना तैयार की जानी चाहिए। केन्द्रीय वन आयोग द्वारा इस उद्देश्य से एक ऐसे संगठन की स्थापना की जानी चाहिए जिसमें अर्थशास्त्री, उद्योगपति एवं वन विशेषज्ञ हों और जो सड़क-विकास की ही तरह वन-विकास की भी एक दीर्घकालीन योजना तैयार कर सकें।

(2) ग्रामीण क्षेत्रों में परती भूमि पर शीघ्र तैयार होने लायक जलावन की लकड़ी के वन लगाने की प्रबल आवश्यकता है।

(3) वनों से कागज के निर्माण के लिए बांस के अतिरिक्त अन्य कच्चे पदार्थों की खेती को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इनके अन्तर्गत दियासलाई जैसे वन-उद्योगों को प्रोत्साहित करने का भी प्रयास किया जाना चाहिए।

(4) वन लगाने के सम्बन्ध में प्रत्येक क्षेत्र की

विस्तृत जाँच-पड़ताल के बाद वनों का एक न्यूनतम प्रतिशत निर्धारित करना चाहिए तथा वन-विभाग को इस न्यूनतम प्रतिशत तक पहुँचने का प्रयास करना चाहिए।

सारांश यह है कि वर्तमान वन-साधनों के आयोजित एवं व्यवस्थित रूप में विदोहन एवं संरक्षण के साथ-साथ वनरोपण एवं वनों के विस्तार पर पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए।

## भारत की खनिज-सम्पत्ति (India's Mineral Resources)

आर्थिक विकास में खनिज-सम्पत्ति का योगदान:  
(Role of Minerals in Economic Development)

आर्थिक विकास के वर्तमान युग में किसी भी देश का औद्योगिक विकास मुख्यतः खनिज-पदार्थों पर ही अवलम्बित है। इनके अभाव में आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, लोहा एवं कोयला से इस्पात उद्योग का विकास होता है। जो औद्योगिक विकास के लिए विलकुल आवश्यक है। वास्तव में, खनिज ही आज के विशालकाय उद्योगों के प्राण हैं। इस समय विश्व के प्रायः सभी राष्ट्र एक सुनियोजित योजना के आधर पर अपने देश को अधिक सुखी एवं समृद्ध बनाने में संलग्न हैं अथवा अपनी खनिज-सम्पत्ति की सहायता से अपने आधारभूत उद्योगों की उन्नति कर रहे हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा रूस अपनी खनिज-सम्पत्ति के समुचित विकास के फलस्वरूप ही आज विश्व के अग्रगण्य राष्ट्र बन पाये हैं। भारत जैसे विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था वाले देश के लिए तो खनिज-पदार्थों का अध्ययन और भी महत्वपूर्ण हो जाता है।

भारत की खनिज-सम्पत्ति का सामान्य विवरण <sup>1</sup>(A General Survey of the Mineral Resources of India) :—भारत में खनिज-पदार्थों का विस्तृत भंडार है। यहाँ विभिन्न प्रकार के खनिज-पदार्थ पाये जाते हैं। देश में आधारभूत उद्योग-धन्धों के विकास के लिए आवश्यक प्रायः सभी खनिज-पदार्थ—लोहा, कोयला, मैंगनीज आदि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। पूर्ति की दृष्टि से योजना आयोग ने हमारे खनिज-पदार्थों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया है :—

(1) प्रथम श्रेणी में वे खनिज-पदार्थ हैं जो हमारी आवश्यकताओं के लिए हर हालत में पर्याप्त हैं, जैसे लोहा, अभ्रक, मैंगनीज, क्रोमाइट, कोयला, टिटैनियम, थोरियम, बॉक्साइट तथा मोनाजिट। इनमें लोहा, मैंगनीज तथा अभ्रक का वर्तमान उत्पादन हमारी आवश्यकताओं से बहुत अधिक है, अतः इनका निर्यात भी किया जाता है।

1. India 1976.



(2) दूसरी श्रेणी में वे खनिज-पदार्थ आते हैं जो किंचित पर्याप्त मात्रा (Fairly adequate supply) में उपलब्ध हैं, यद्यपि इनमें से अनेक का उत्पादन आवश्यकता से बहुत ही कम होता है। इस श्रेणी में क्रोमाइट, नमक, जिप्सम, सोना तथा चीनी मिट्टी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(3) तीसरी श्रेणी में वे खनिज-पदार्थ आते हैं जो देश की आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त हैं तथा जिनके लिए हमें मुख्य रूप से विदेशों पर आश्रित रहना पड़ता है; जैसे—पेट्रोल, शीशा, गन्धक, टीन, ग्रेफाइट इत्यादि।

उपरोक्त वर्गीकरण से यह स्पष्ट है कि पेट्रोलियम, ताम्बा, शीशा तथा कुछ अन्य लोहहीन (Non-ferrous)

धातुओं के लिए हमें मुख्य रूप से विदेशों पर आश्रित रहना पड़ेगा। किन्तु, देश के आर्थिक विकास के लिए अन्य आवश्यक खनिज-पदार्थ हमारे देश में ही पर्याप्त मात्रा में सुलभ हैं। उदाहरणार्थ, भारत को अभ्रक के उत्पादन में विश्व में प्रायः एकाधिकार प्राप्त है। यहाँ का लोहा अति उत्तम कोटि का होता है; मैंगनीज, टीटेनियम थोरियम, इलमेनाइट तथा मोनाजाइट के सम्बन्ध में भी हमारी गणना विश्व के प्रमुख राष्ट्रों में की जाती है। इस प्रकार जैसा कि श्री चार्ल्स एच० बेहरी (Charles H. Beheri) ने कहा है कि अपने कोयले एवं लोहे के भंडार तथा मानव शक्ति के साथ भारत की गणना विश्व के उन्नतशील देशों में की जा सकती है।

पिछले कुछ वर्षों से देश में खनिज-उत्पादन की प्रवृत्ति का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :—

#### खनिज-उत्पादन (1951 से 1976)

| खनिज                                       | 1951 | 1960  | 1966 | 1971  | 1974  | 1976  |
|--------------------------------------------|------|-------|------|-------|-------|-------|
| कोयला (लाख टन में)                         | 249  | 526   | 680  | 6.9   | 833   | 10.0  |
| लोहा (लाख टन में)                          | 37   | 166   | 268  | 337   | 348   | 430   |
| मैंगनीज (लाख टन में)                       | 13   | 14.5  | 17   | 17.8  | 14.5  | 17.0  |
| बॉक्साइट (हजार टन में)                     | 68   | 337   | 750  | 11.9  | 1272  | 1436  |
| ताम्बा (हजार टन में)                       | 375  | 438   | 484  | 666   | 1417  | 2363  |
| जिप्सम (हजार टन में)                       | 207  | 997   | 1294 | 1073  | 1050  | 711   |
| अवरख (हजार टन में)                         | ...  | 29.2  | 22.9 | 18.4  | 13.4  | 9.0   |
| पेट्रोलियम (हजार टन में)                   | ...  | 4540  | 4647 | 7190  | 7491  | 8700  |
| खनिज-उत्पादन का निर्देशांक                 | ...  | 100   | 149  | 197.3 | 294   | 302   |
| खनिज-उत्पादन का मूल्य (करोड़ रुपये में)... |      | 161.0 | 320  | 442.6 | 780.2 | 850.0 |

भारत में प्राप्त होने वाले कुछ प्रमुख खनिजों का विवरण इस प्रकार से है :—

1. लोहा (Iron Ore) :—विश्व के लोहा उत्पादक राष्ट्रों में भारत का प्रमुख स्थान है। उत्तम प्रकार के लोहा भंडार वाले राष्ट्रों में ब्राजिल के बाद विश्व में भारत का ही स्थान है। यहाँ की लोह धातु की कुछ किस्में तो संसार भर में सर्वश्रेष्ठ समझी जाती हैं। इनमें 60 से 70 प्रतिशत तक शुद्ध लोहे का अंश वर्तमान रहता है। भारत में कच्चे लोहे का संभावित भण्डार लगभग 2150 करोड़ टन है। देश में अच्छी किस्म के लोहे का भण्डार मुख्यतः बिहार तथा उड़ीसा में केन्द्रित है। बिहार में लोहे की खानें सिंहभूमि जिले के नोगामुंडी, गुआ तथा बन्दगाँव में पायी जाती हैं। उड़ीसा की पहाड़ियों की उत्तरी ढालों पर बयोंडर, मयूरभंज तथा बोनाई में भी लोहे की प्रमुख खानें हैं। बिहार एवं उड़ीसा की लोहे की खानों के समीप ही कोयला, चूना-पत्थर तथा मैंगनीज पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं जिससे इस क्षेत्र में इस उद्योग के विकास की अपार सम्भावनाएँ हैं। इसके बाद गोआ

का स्थान है। मध्य-प्रदेश में चन्दा एवं दुर्ग जिलों में तथा तामिलनाडु के सलेम एवं त्रिचनापली में भी लोहे के विशाल भंडार का पता चला है, किन्तु इनके समीप कोयले के अभाव के कारण इस क्षेत्र की खानों में अभी कार्य प्रारम्भ नहीं किया जा सका है। इसके अतिरिक्त आन्ध्र के नेल्लोर, मैसूर के वावबूदन की पहाड़ी, महाराष्ट्र के रत्नगिरि, उत्तर प्रदेश के कूमायूँ तथा बंगाल के रानी-गंज में भी लोहे का विशाल भंडार निहित है। 1969 ई० में देश के सबसे अधिक लोहा गोआ (97 लाख टन), में उत्पन्न हुआ था। इसके बाद उड़ीसा (60 लाख टन), (बिहार 53 लाख टन), मध्य प्रदेश (37 लाख टन) तथा मैसूर (28 लाख टन) का स्थान था।

पंचवर्षीय योजनाओं में खनिज लोहे के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हो रही है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इसका उत्पादन 1950-51 ई० में 32 लाख से बढ़कर 1955-56 में 43.1 लाख टन हो गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक 1960-61 ई० में खनिज लोहे के उत्पादन को बढ़ाकर 125 लाख टन करने का आयोजन था, किन्तु



इसका उत्पादन अनुमानतः 110 लाख टन ही हुआ। तृतीय पंचवर्षीय योजना में कच्चे लोहे का उत्पादन बढ़कर 230 लाख टन ही हुआ। 1968-69 में खनिज लोहे का उत्पादन 260 लाख टन तथा 1969-70 में 280 लाख टन था। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) के अन्त में इसे बढ़ाकर 1973-74 ई० तक 514 लाख टन करने का आयोजन था। इस उद्देश्य से भिन्न भिन्न स्थानों में, विशेषतः सार्वजनिक क्षेत्र में नयी-नयी लोहे के खानों का विकास किया गया। किन्तु योजना के अन्त में खनिज लोहे का उत्पादन अनुमानतः 370 लाख टन ही हो सका। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan) में खनिज लोहे का उत्पादन 1977-78 में 430 लाख टन हुआ तथा छठी योजना के अंत में इसके उत्पादन को बढ़ाकर 1982-83 में 650 लाख टन करने का आयोजन है।

अभी भी भारत अन्य देशों की तुलना में लोहे के उत्पादन में बहुत पीछे है। 1968-69 ई० में भारत में केवल 260 लाख टन खनिज लोहे का उत्पादन हुआ था जबकि उसी वर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका में 895 लाख टन तथा सोवियत रूस में 1707 लाख टन कच्चे लोहे का उत्पादन हुआ था। विश्व के कुल उत्पादन का भारत 4.2 प्रतिशत भाग लोहा उत्पन्न करता है। अतः इस क्षेत्र में अभी बहुत अधिक प्रयत्नों की आवश्यकता है।

**निर्यात (Export)**—भारत से लोहे का निर्यात मुख्यतः जापान को किया जाता है। खनिज लोहे के निर्यात को बढ़ाने के उद्देश्य से राष्ट्रीय खनिज विकास निगम (National Mineral Development Corporation) द्वारा किरीबुरु (Kiriburu) तथा बैलाडीला (Bailadila) में लोहे की नयी खानों का विकास किया जा रहा है। इधर कुछ वर्षों से इसके निर्यात में बहुत वृद्धि हो रही है। देश के कुल खनिज निर्यात के 51 प्रतिशत तथा कुल निर्यात का 6.2 प्रतिशत कच्चे लोहे का होता है।

**2. मैंगनीज (Manganese)** :—विश्व के मैंगनीज-उत्पादक राष्ट्रों में रूस एवं गोल्ड कोस्ट के बाद भारत का तृतीय स्थान है। यहाँ का मैंगनीज अच्छी किस्म का होता है तथा इसमें 59 प्रतिशत तक शुद्ध धातु पायी जाती है। मैंगनीज का प्रयोग मुख्यतः इस्पात उद्योग में किया जाता है। किन्तु भारत लोहा एवं इस्पात के उत्पादन में अभी बहुत पीछे है। अतः अधिकांश मैंगनीज यहाँ से कच्चे रूप में ही निर्यात कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए 1954 ई० में मैंगनीज का उत्पादन 14.14 लाख टन हुआ था जिसमें से 9.4 लाख टन का निर्यात किया गया था। 1960-61 ई० तक निर्यात की मात्रा को बढ़ाकर 15 लाख टन करने का आयोजन था जो पूरा नहीं हो सका। यहाँ से मैंगनीज का निर्यात मुख्यतः अमेरिका, कनाडा तथा जर्मनी आदि देशों को किया जाता है। मैंगनीज एक बहुमूल्य पदार्थ है। अतः इतनी अधिक मात्रा में इसका निर्यात देश के औद्योगिक पिछड़ेपन का सबसे बड़ा सबूत है।

भारत में मैंगनीज मुख्यतः मध्य प्रदेश, तमिलनाडु, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक में पाया जाता है। मध्य प्रदेश के छिन्दवारा, बालाघाट तथा भण्डारा जिलों में मैंगनीज की प्रमुख खानें हैं। यहाँ देश के सम्पूर्ण उत्पादन का प्रायः 60 प्रतिशत भाग मैंगनीज उत्पन्न किया जाता है। इसके अतिरिक्त तमिलनाडु के विजगापट्टम तथा वेलारी जिलों में; मैसूर के सिमोगा एवं महाराष्ट्र के नागपुर एवं पंच-महल में भी मैंगनीज की खानें हैं। साथ ही, बिहार के सिंहभूम तथा उड़ीसा के कोंझर एवं बोनाई में भी थोड़ा-बहुत मैंगनीज पाया जाता है।

मैंगनीज का उत्पादन 1951 ई० में 13 लाख टन, 1966 ई० में 17 लाख टन तथा 1974 ई० में 41 लाख टन था। भारत में मैंगनीज के भण्डार के सम्बन्ध में सही अनुमान लगाना कठिन है। किन्तु कहा जाता है कि इसका अनुमानित भण्डार प्रायः 20 करोड़ टन है जिसमें से 16 करोड़ टन केवल मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र तथा गुजरात राज्यों में है।<sup>1</sup> यह विश्व के कुल अनुमानित भण्डार का 30 प्रतिशत भाग है।

**3. अभ्रक (Mica)** :—अभ्रक आज के युग का एक महत्त्वपूर्ण खनिज-पदार्थ है। देश की सुरक्षा के दृष्टिकोण से इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। विद्युत् का विकास मुख्यतः अभ्रक पर ही आधारित है। विश्व के अभ्रक-उत्पादक देशों में भारत का सर्वप्रथम स्थान है तथा विश्व के कुल उत्पादन का प्रायः 70 से 80 प्रतिशत भाग तक अभ्रक यहीं से प्राप्त होता है। अतः विश्व में अभ्रक-उत्पादन के क्षेत्र में भारत को प्रायः एकाधिकार प्राप्त है।

भारत में अभ्रक मुख्यतः बिहार की खानों से ही प्राप्त होता है। बिहार का अभ्रक-क्षेत्र गया, हजारीबाग तथा मुंगेर जिलों में 60 से 80 मील लम्बी तथा 12 से 16 मील चौड़ी एक तलहटी के रूप में विस्तृत है। हजारीबाग जिला इसका प्रमुख उत्पादक है। यहाँ की खानों से रूबी जाति का अभ्रक निकाला जाता है जिसकी संसार भर में मांग होती है। देश के कुल उत्पादन का प्रायः तीन-चौथाई भाग अभ्रक बिहार उत्पन्न करता है। इनके अतिरिक्त राजस्थान के अजमेर, मारवाड़, किशनगढ़, उदयपुर तथा जयपुर, आंध्र के नेल्लोर तथा गोदावरी एवं तमिलनाडु के सलेभ तथा नीलगिरि जिलों में भी अभ्रक की खानें हैं। 1960 ई० में अभ्रक का उत्पादन 29 हजार टन, 1966 ई० में 23 हजार टन तथा 1971 ई० में 14.4 हजार टन था।

भारत में अभ्रक की खपत बहुत ही कम होती है, अतः इसका अधिकतर भाग विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है। भारत से अभ्रक का मुख्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका, पश्चिमी जर्मनी तथा ब्रिटेन को निर्यात किया जाता है। किन्तु वर्तमान समय में विदेशों में अभ्रक की



मांग कम हो जाने से इसका मूल्य भी कम हो गया है जिससे इस उद्योग को मन्दी का सामना करना पड़ रहा है। यहाँ की खानों से अन्नक निकालने में मशीनों का बहुत कम प्रयोग किया जाता है जिससे खर्च बहुत अधिक पड़ता है। व्यवस्थित खुदाई तथा उचित निरीक्षण के अभाव में अन्नक उद्योग में बहुत अधिक अपव्यय होता है। अतः इस उद्योग के विकास के लिए व्यवस्थित ढंग से खुदाई की बड़ी प्रबल आवश्यकता है। साथ ही, अन्नक को विभिन्न श्रेणियों में विभाजित करने की संतोषजनक पद्धति का अनुकरण भी अनिवार्य है।

4. बॉक्साइट (Bauxite)—बॉक्साइट का उपयोग मुख्यतः अयुनियम बनाने में किया जाता है। भारत में बॉक्साइट का उत्पादन 1908 ई० से प्रारम्भ हुआ। यहाँ के बॉक्साइट के भण्डार का अभी तक सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। फिर भी ऐसा अनुमान किया जाता है कि भारत में सभी प्रकार के बॉक्साइट का भंडार प्रायः 24 करोड़ टन है जिसमें उत्तम कोटि का बॉक्साइट प्रायः 12 करोड़ टन है।

भारत में बॉक्साइट मुख्यतः मध्य प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, तमिलनाडु, महाराष्ट्र तथा कश्मीर में पाया जाता है। मध्य प्रदेश इसका सबसे बड़ा उत्पादक राज्य है। बिहार के पलामू तथा राँची जिलों में भी बॉक्साइट का विस्तृत भंडार है। 1951 ई० में बॉक्साइट का उत्पादन 68 हजार टन था जो बढ़कर 1969 में 287 हजार टन तथा 1976 ई० में 144 लाख टन हो गया। अयुनियम उद्योग के विकास के साथ-साथ बॉक्साइट की मांग में वृद्धि हो रही है।

5. ताम्बा (Copper)—प्राचीन काल में भारत ताम्बे एवं पीतल की बनी वस्तुओं के लिए विख्यात था, किन्तु आजकल यहाँ ताम्बे का उत्पादन बहुत कम होता है। ताम्बा मुख्य रूप से बिहार के सिंहभूमि जिले में पाया जाता है। यहाँ का ताम्र अंचल 80 मील लम्बी तथा 4 मील चौड़ी एक तलहटी के रूप में विस्तृत है। सिंहभूमि जिले के घाटशिला के समीप मोसाबनी तथा घोबानी में ताम्बे की प्रमुख खानें हैं। भारत के कुल उत्पादन का शत-प्रतिशत भाग ताम्बा इसी क्षेत्र की खानों से निकाला जाता है। घाटशिला के समीप ही मनुभंडार में ताम्बे एवं पीतल का अकेला कारखाना 'इण्डियन कॉपर कॉरपोरेशन' स्थित है। इसके अतिरिक्त आन्ध्र में नेल्लोर, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, राजस्थान तथा सिक्किम में भी ताम्बा पाया जाता है। 1976 ई० में 24 लाख टन खनिज ताम्बा का उत्पादन हुआ था। भारत में ताम्बे का अनुमानित भंडार 35 करोड़ टन है जिसमें 0.8 प्रतिशत से 2 प्रतिशत तक शुद्ध धातु पायी जाती है।

भारत में प्रतिवर्ष प्रायः 8 हजार टन तैयार ताम्बे का उत्पादन होता है, जबकि 1965 ई० तक देश में ताम्बे की

वार्षिक मांग अनुमानतः 150 हजार टन थी। अतएव, यहाँ प्रतिवर्ष बहुत अधिक मात्रा में ताम्बे का आयात किया जाता है। तृतीय योजनाकाल में राजस्थान के खेत्री-दरीबो (Khetri-Daribo) तथा सिक्किम के रगोपा क्षेत्र से ताम्बा निकालने की व्यवस्था की गयी थी। राजस्थान क्षेत्र से ताम्बा निकालने की योजना का व्यय 12.5 करोड़ रुपये तथा सिक्किम क्षेत्र का अनुमानित व्यय 2.5 करोड़ रुपये था।

6. क्रोमाइट (Chromite):—क्रोमाइट एक सामरिक महत्त्व का खनिज है। भारत में इसके भंडार के सम्बन्ध में विश्वसनीय आँकड़ों का अभाव है; किन्तु यह देश की आवश्यकताओं के लिए निश्चय ही पर्याप्त है। भारत में क्रोमाइट बिहार के सिंहभूमि; कर्नाटक के मैसूर तथा हसन, महाराष्ट्र के रत्नगिरि तथा सामन्तवादी; तमिलनाडु के सलेम; आन्ध्र के कृष्णा तथा उड़ीसा के बर्योझर जिलों में पाया जाता है। 1976 ई० में क्रोमाइट का उत्पादन 401 हजार टन था। भारत में अधिकांश क्रोमाइट कच्चे रूप में ही निर्यात किया जाता है।

तृतीय योजना काल में बिहार के सिंहभूमि, कर्नाटक के मैसूर तथा हसन जिले एवं उड़ीसा के क्रोमाइट क्षेत्रों के विस्तृत सर्वेक्षण की व्यवस्था की गयी थी।

7. जिप्सम (Gypsum):—जिप्सम एक महत्त्वपूर्ण औद्योगिक खनिज है। आजकल इसका प्रयोग मुख्य रूप से अमोनियम सल्फेट नामक कृत्रिम खाद तैयार करने में किया जाता है। भारत में जिप्सम सबसे अधिक राजस्थान में पाया जाता है। इस राज्य के जोधपुर, बीकानेर तथा जयसलमेर डिवीजन इसके प्रमुख क्षेत्र हैं। कुल उत्पादन का प्रायः 80 प्रतिशत भाग जिप्सम इसी क्षेत्र से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त तमिलनाडु के त्रिचनापाल्ली, आन्ध्र के नेल्लोर तथा उत्तर प्रदेश के देहरी गढ़वाल एवं देहरादून में भी थोड़ा-बहुत जिप्सम पाया जाता है। देश में अमोनियम सल्फेट के उत्पादन में वृद्धि के फलस्वरूप गत कुछ वर्षों से जिप्सम के उत्पादन में भी वृद्धि हो रही है। जिप्सम का उत्पादन 1951 ई० में 207 हजार टन था जो बढ़कर 1967 ई० में 997 हजार टन तथा 1976 ई० में 711 हजार टन हो गया।

पंचवर्षीय योजनाओं में अमोनियम सल्फेट के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि के आयोजन के फलस्वरूप जिप्सम के उत्पादन में भी बहुत अधिक वृद्धि हो रही है। भारत में जिप्सम का अनुमानित भंडार 119 करोड़ टन है जिसमें से 114 करोड़ टन केवल राजस्थान में है।

8. सोना (Gold)—हमारे देश में बहुमूल्य धातुएँ बहुत कम पायी जाती हैं। भारत में सोने का उत्पादन भी बहुत कम होता है। यह विश्व के कुल उत्पादन का केवल 2 प्रतिशत भाग सोना उत्पन्न करता है। सोना भारत के विभिन्न प्रदेशों में विस्तृत रूप से किन्तु कम परिमाण में



## प्राकृतिक साधन एवं आर्थिक विकास

पाया जाता है। देश के कुल उत्पादन का प्रायः 98 प्रतिशत भाग सोना केवल कर्नाटक में कोलार की खानों से निकाला जाता है। यहाँ पर चैम्पियन तथा उडगाम नाम की इसकी दो खानें हैं। दोनों खानों को काफी गहराई तक खोदा जा चुका है। अतः उत्पादन अब कम होते जा रहा है तथा उत्पादन व्यय बढ़ते जा रहा है। इसके अतिरिक्त हैदराबाद के हट्टी क्षेत्र तथा तमिलनाडु के अनन्तपुर एवं सलेम में भी सोने का पता चला है। भारत में 1976 ई० में 467 लाख रुपये मूल्य का 3132 किलोग्राम सोने का उत्पादन हुआ था। शुद्ध स्वर्ण के रूप में देश में स्वर्ण का अनुमानित भंडार 45,369 किलोग्राम है।

अन्य खनिज-पदार्थ (Other minerals) — इनके अतिरिक्त हमारे देश में अन्य प्रकार के खनिज-पदार्थ भी पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए, भारत में अणु-शक्ति के लिए आवश्यक प्रायः सभी खनिज-पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। इनमें यूरेनियम, थोरियम, बेरिलियम, लिथियम, जिस्कोनियम तथा ग्रेफाइट का मुख्य स्थान है। यूरेनियम (Uranium) सम्बन्धी खनिज का भंडार भारत में पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। हाल में ही, इसके दो नये क्षेत्रों का पता चला है—(1) बिहार के सिहभूमि जिले में ताम्र अंचल के समानान्तर 60 मील लम्बी एक पट्टी के रूप में, तथा (2) मध्य राजस्थान में। द्रावन्कोर तथा तमिलनाडु के समुद्री किनारों के बालू में मोनाजाइट मिला है जो यूरेनियम तथा थोरियम की प्राप्ति का मुख्य साधन है। इसमें 8 से लेकर 10 प्रतिशत तक मोनाजाइट मिलता है। बेरिलियम धातु बेरिल नामक खनिज से प्राप्त होती है। उत्तरी बिहार, राजस्थान तथा मध्य प्रदेश में इसका विस्तृत भंडार है। बेरिलियम के उत्पादन में भारत का विश्व में प्रमुख स्थान है। अणु-शक्ति के लिए आवश्यक अन्य सभी खनिज-पदार्थ भी भारत में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में अभी विशेष जाँच-पड़ताल नहीं की जा सकी है।

देश के औद्योगीकरण के साथ-साथ खनिज-पदार्थों का उत्पादन भी बढ़ते जा रहा है। गत कुछ वर्षों में देश के समस्त-खनिज उत्पादन के मूल्य का अन्दाजा निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> से लगाया जा सकता है :—

| वर्ष | खनिज-उत्पादन का मूल्य<br>(लाख रुपये में) |
|------|------------------------------------------|
| 1931 | 23,90                                    |
| 1941 | 89,20                                    |
| 1956 | 106,20                                   |
| 1961 | 181,20                                   |
| 1966 | 320,10                                   |
| 1969 | 397,70                                   |
| 1971 | 442,67                                   |
| 1974 | 780,28                                   |

क्या भारत की खनिज-सम्पत्ति देश के औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त है ?

इस प्रकार भारत के खनिज पदार्थ देश की औद्योगिक आवश्यकताओं के लिए प्रायः हर हालत में पर्याप्त है। यहाँ आधुनिक उद्योगों के विकास के लिए आवश्यक प्रायः सभी खनिज-पदार्थों का विशाल भंडार पाया जाता है। भारत विश्व में अन्नक का सबसे बड़ा उत्पादक देश है। यहाँ का कच्चा लोहा अति उत्तम कोटि का होता है, मैंगनीज एवं क्रोमाइट के उत्पादन में भी भारत का विश्व में प्रमुख स्थान है तथा अणु-शक्ति के लिए आवश्यक प्रायः सभी खनिज-पदार्थों की देश में प्रचुरता है। किन्तु हमारे देश में निकेल, टीन, जस्ता, गन्धक तथा पेट्रोलियम जैसे महत्वपूर्ण खनिज-पदार्थों का अभाव है जिससे औद्योगिक विकास में निस्संदेह कठिनाई उत्पन्न होगी। परन्तु इन पदार्थों के अभाव को निर्यात के द्वारा दूर किया जा सकता है। अतः खनिज-पदार्थों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत की खनिज-सम्पत्ति देश के औद्योगीकरण के लिए हर हालत में पर्याप्त है। औद्योगिक आयोग के अनुसार भी भारत की खनिज-सम्पत्ति देश में आधारभूत उद्योगों के लिए, निकेल इत्यादि कुछ धातुओं को छोड़कर पर्याप्त है। इस सम्बन्ध में योजना आयोग की भी यही राय है।

### भारत सरकार की खनिज-नीति

(Mineral Policy of the Government of India)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व की खनिज-नीति—देश के प्राकृतिक साधनों में खनिज-पदार्थों का विशेष महत्त्व है। देश के औद्योगिक विकास के लिए इनका बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। औद्योगिक उपयोग के अतिरिक्त इनका महत्त्व इस दृष्टि से भी अधिक है कि इनके उत्पादन तथा उपभोग के पश्चात् इनका अस्तित्व सदा के लिए समाप्त हो जाता है। अतः सरकार द्वारा इनके सम्बन्ध में एक विशेष नीति को अपनाना अनिवार्य हो जाता है। भारत में खनिज-पदार्थों का विस्तृत भंडार है, किन्तु देश के औद्योगीकरण के लिए इनका अभी बहुत ही कम उपयोग किया जा सका है। साथ ही, देश के औद्योगीकरण तथा इनके उत्पादन में संतुलन का अभाव है। अभी हाल तक हमारे देश में अन्नक, मैंगनीज तथा क्रोमाइट जैसे महत्त्वपूर्ण खनिज-पदार्थों का उत्पादन केवल निर्यात के उद्देश्य से ही होता था। यह राष्ट्रीय हित के लिए कदापि अनुकूल नहीं कहा जा सकता। इससे निकट भविष्य में इन बहुमूल्य पदार्थों का अभाव हो सकता है। साथ ही, देश में खनिज-पदार्थों के उत्पादन का तरीका भी अवैज्ञानिक है जिससे बहुत-से खनिज-पदार्थ खानों से निकालने की प्रक्रिया में यों ही नष्ट हो जाते हैं। इससे खनिज-पदार्थों

1. India 1976.

2. First Five Year plan—p. 382.



## भारतीय अर्थशास्त्र

का भारी अपव्यय होता है। शान्ति अथवा युद्ध, दोनों परिस्थितियों में खनिज हमारे उद्योगों के आधार हैं, अतः इनकी समुचित व्यवस्था तथा उपभोग के लिए उचित नीति को अपनाना आवश्यक है जिससे इनका पर्याप्त संरक्षण तथा सुचारु रूप से उपयोग हो सके।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत की खनिज-नीति—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सरकार द्वारा देश के खनिज साधनों के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया जा रहा है। देश की औद्योगिक नीति में भी खनिज-पदार्थों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया है। इस सम्बन्ध में भारत सरकार की वर्तमान नीति को निम्नांकित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) खनिज-पदार्थों का अन्वेषण तथा पैमाइश—भारत के प्रायः सभी खनिज-पदार्थों के सम्बन्ध में विश्व-सनीय आँकड़ों का सर्वथा अभाव है। खनिज-साधनों के समुचित विकास के लिए इनके परिमाण तथा स्थिति का ठीक-ठीक पता लगाना अनिवार्य है। इससे देश के औद्योगिक विकास में पर्याप्त सहायता मिलेगी। इस कार्य के लिए सरकार द्वारा देश में कई संस्थाओं की स्थापना की गयी है जिनमें भारतीय खदान परिषद् (Indian Bureau of Mines), राष्ट्रीय धातु-शोधन प्रयोगशाला (National Metallurgical Laboratory) तथा ईंधन अनुसंधान संस्था (Fuel Research Institute) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त खनिज-पदार्थों के सम्भावित क्षेत्रों की जाँच-पड़ताल के लिए भारत के भू-गर्भ सर्वेक्षण-विभाग (Geological Survey of India) द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं। 1953 ई० में भारत सरकार द्वारा एक खनिज-परामर्शदातृ समिति (Mineral Advisory Board) की स्थापना की गयी थी जो खनिज-पदार्थों के सम्बन्ध में सरकार को परामर्श देती है।

(ख) खनिज-पदार्थों का संरक्षण—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व महत्त्वपूर्ण खनिज-पदार्थों का उत्पादन अनियोजित ढंग से हो रहा था जिससे इन पदार्थों के अभाव की आशंका हो गयी थी। अतएव ऐसे खनिज-पदार्थों के संरक्षण के लिए सरकार द्वारा प्रयत्न किये जा रहे हैं। उदाहरण के लिए, कोयले के भण्डार को सुरक्षित रखने के लिए 1952 ई० में एक कोयला खान (संरक्षण एवं सुरक्षा) विधान [Coal Mines (Conservation and Safety) Act] बनाया गया। इसके अनुसार कोयले के भण्डार को सुरक्षित रखने का अधिकार सरकार ने स्वयं ग्रहण कर लिया है। साथ ही, उच्च कोटि के कोयला का साधारण कार्यों में उपयोग करने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया है।

(ग) खनिज-पदार्थों के निर्यात पर प्रतिबन्ध—देश की

खनिज-सम्पत्ति के समुचित उपयोग के लिए इनके आयात तथा निर्यात को भी नियन्त्रित करना आवश्यक है। भारत से प्रतिवर्ष अन्नक, मैंगनीज तथा क्रोमाइट इत्यादि महत्त्वपूर्ण खनिज-पदार्थों का बहुत बड़ी मात्रा में यों ही निर्यात कर दिया जाता है। जो देश के आर्थिक हित के लिए कदाचित उचित नहीं है। इन खनिज-पदार्थों के निर्यात को यथासम्भव निर्मित (Finished) अथवा अर्द्ध-निर्मित (Semi-Finished) वस्तुओं के रूप में निर्यात करने पर जोर दिया जा रहा है। इससे देश के औद्योगिक विकास में सहायता मिलने की आशा की जाती है।

### पंचवर्षीय योजनाओं में खनिज-विकास की नीति (Mineral Development Policy in Five Year Plans)

खनिज हमारे आर्थिक विकास के आधार हैं, अतएव पंचवर्षीय योजनाओं में इनके विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया जा रहा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में खनिज-विकास के कार्यक्रम के अन्तर्गत निम्नांकित बातों की व्यवस्था थी—(क) प्रमुख खनिज-पदार्थों के भण्डार तथा उनकी किस्म का पता लगाने के लिए इनके सम्भावित क्षेत्रों का विस्तृत सर्वेक्षण, (ख) महत्त्वपूर्ण खनिज-पदार्थों के उपयोग में मितव्ययिता से काम लेना, (ग) सरकारी क्षेत्र के कोयले की खानों का पुनर्संरक्षण, (घ) पेट्रोल के सम्भावित क्षेत्रों का भू-गर्भीय सर्वेक्षण, तथा (च) अन्नक, क्रोमाइट एवं मैंगनीज आदि खनिज-पदार्थों को कच्चे रूप में निर्यात नहीं करके इन्हें यथासम्भव निर्मित अथवा अर्द्ध-निर्मित (Finished or Semi-Finished) रूप में निर्यात करना चाहिए।

प्रथम योजनाकाल में खनिज-पदार्थों के विकास की मद में 2.5 करोड़ व्यय रुपये का आयोजन था। योजना काल में भारतीय खदान परिषद् (Indian Bureau of Mines) तथा भू-गर्भ सर्वेक्षण (Geological Survey of India) विभाग द्वारा खनिज-पदार्थों के भण्डार के सम्बन्ध में खोज का कार्य प्रारम्भ किया गया। इन संस्थाओं ने खनिज-पदार्थों के उत्पादन को बढ़ाने, वर्तमान खनिज साधनों का सदुपयोग करने, नये साधनों का विकास करने, उत्पादन के आधुनिक तरीकों का प्रयोग करने तथा खनिज-सम्बन्धी पैमाइश के लिए अनेक सिफारिशों की जिनके आधार पर द्वितीय योजना के अन्तर्गत खनिज-विकास के लिए कार्यक्रम तैयार किये गये।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में खनिज उद्योग की प्रगति—द्वितीय योजना में उद्योग-वर्धनों को उच्च प्राथमिकता प्राप्त होने के कारण खनिज-सम्पत्ति के विकास पर भी पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया था। खनिज-पदार्थों के अन्वेषण तथा पैमाइश, विकास एवं उत्पादन-वृद्धि के लिए योजनाकाल में 73 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था।



द्वितीय योजना में देश के खनिज-साधनों के सर्वेक्षण पर पूरा जोर दिया गया था। इस उद्देश्य से भारतीय खदान-परिषद् तथा भू-गर्भीय सर्वेक्षण विभाग के 6 करोड़ रुपये के व्यय से विस्तार का आयोजन था। साथ ही, कोयला, ताम्बा, मैंगनीज, क्रोमाइट, जस्ता, रांगा तथा पेट्रोलियम इत्यादि के क्षेत्रों के विस्तारपूर्वक जाँच-पड़ताल की भी व्यवस्था थी। इनके अतिरिक्त अन्य खनिज-पदार्थों के सर्वेक्षण एवं पैमाइश की व्यवस्था भी द्वितीय योजना काल में की गयी थी। योजना काल में खनिज-पदार्थों की बढ़ती मांग को पूरा करने के लिए इनके उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन था।

द्वितीय योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) में कई खनिज-पदार्थों के निष्कासन का कार्य प्रारम्भ किया गया। राजकीय क्षेत्र में कोयला के निष्कासन का कार्य National Development Corporation द्वारा किया जाता है। अप्रैल, 1956 ई० की औद्योगिक नीति के अनुसार और कई खनिज-पदार्थों—लोहा, मैंगनीज, क्रोमाइट, जिप्सम, गन्धक, हीरा एवं सोना इत्यादि भी सार्वजनिक क्षेत्र की सूची में आ गये हैं जिससे भविष्य में इन खनिजों का निष्कासन केवल सरकारी क्षेत्रों में ही हो सकता था। नवम्बर, 1958 ई० में कोयला तथा पेट्रोल के अतिरिक्त अन्य खनिजों के निष्कासन के लिए National Mineral Development Corporation Ltd. नामक एक निगम की स्थापना की गयी जिसका प्रधान कार्य कोयला तथा तेल के अतिरिक्त अन्य खनिज-पदार्थों का निष्कासन था।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में खनिज-विकास की प्रगति (Development of Mineral Resources in the Third Five Year Plan)—तृतीय पंचवर्षीय योजना में खनिज-पदार्थों के उत्पादन एवं विकास में महत्वपूर्ण वृद्धि की व्यवस्था थी। योजनाकाल में उद्योग-धन्धों पर अत्यधिक जोर होने के कारण खनिज-पदार्थों के उत्पादन में भी महत्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन था। योजना में खनिज-पदार्थों के लिए तैयार कार्यक्रमों पर राजकीय-क्षेत्र में 478 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी, किन्तु, सार्वजनिक क्षेत्र में इस मद में वास्तविक व्यय 525 करोड़ रुपये था। तृतीय योजनाकाल में लोहे का उत्पादन 1960-61 ई० में 107 लाख टन से बढ़कर 1965-66 ई० में 230 लाख टन तथा कोयला का उत्पादन 1960-61 ई० में 546 लाख टन से बढ़कर 1965-66 ई० में 703 लाख टन हुआ। योजना में महत्वपूर्ण खनिज-पदार्थ के सम्भावित क्षेत्रों की विस्तृत रूप से जाँच-पड़ताल की भी व्यवस्था थी। इस उद्देश्य से 10 करोड़ रुपये व्यय से भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग (Geological Survey of India) तथा 5 करोड़ रुपये के व्यय से भारतीय खदान-परिषद् (Indian Bureau of Mines) के विस्तारीकरण का भी आयोजन था।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में खनिज उद्योग की प्रगति (Minerals in the Fourth Five Year Plan)—चतुर्थ योजना (1969-73) काल में खनिज-उत्पादन की मद में सार्वजनिक क्षेत्र में 739.4 करोड़ रुपये तथा निजी क्षेत्र में 100 करोड़ रुपये विनियोग की व्यवस्था थी। योजनाकाल में प्रमुख खनिज-पदार्थों के उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन था। इस प्रकार 1973-74 ई० तक लोहा के उत्पादन को बढ़ाकर 514 लाख टन तथा कोयले के उत्पादन को बढ़ाकर 935 लाख टन करने की व्यवस्था थी। किन्तु योजना के इन लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हुई तथा 1973-74 ई० में खनिज लोहे का उत्पादन बढ़कर 370 लाख टन एवं कोयले का उत्पादन बढ़कर 790 लाख टन ही हुआ। सरकार द्वारा खनिज उद्योग में लगी इकाइयों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए एक Mineral Financial Corporation की स्थापना भी की गयी है।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में खनिज (Minerals in the Fifth Five Year Plan)—पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में भी खनिज-पदार्थों के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया था। पाँचवीं योजना में खनिज विकास की मद में सरकारी क्षेत्र में 1140 करोड़ रु० व्यय का आयोजन है। योजना में खनिज लोहे के उत्पादन को 1973-74 ई० में 370 लाख टन से बढ़ाकर 1978-79 ई० में 580 लाख टन तथा कोयले के उत्पादन को 1973-74 ई० में 790 लाख टन से बढ़ाकर 1978-79 में 1350 लाख टन करने का आयोजन था।

छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan) में भी खनिज विकास कार्यक्रम को प्राथमिकता दी जा रही है। योजनाकाल में कोयले के उत्पादन को बढ़ाकर 1982-83 में 1490 करोड़ तथा खनिज लोहे के उत्पादन को 650 लाख टन करने का आयोजन है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश के औद्योगिक विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। देश की खनिज नीति का प्रधान उद्देश्य देश के औद्योगीकरण को आगे बढ़ाना है। वास्तव में, इस उद्देश्य से खनिज-पदार्थों की खोज के कार्य में और अधिक तीव्रता लाने की आवश्यकता है जिससे देश महत्वपूर्ण खनिज-पदार्थों के सम्बन्ध में आत्मनिर्भर बन सके।

### शक्ति के साधन

#### (Sources of Power)

शक्ति के साधनों का आर्थिक विकास में योगदान (Role of Power Resources in Economic Development)—आज का युग 'शक्ति का युग' है आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था मुख्यतः शक्ति के साधनों पर आधारित है। वास्तव में, शक्ति आर्थिक विकास का अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्त्व है। जिस प्रकार मनुष्य के लिए भोजन तथा कृषि के लिए जल की आवश्यकता होती है उसी



## भारतीय अर्थशास्त्र

प्रकार कल-कारखानों को प्रचालित करने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। सामान्य तौर पर यह अनुमान लगाया जाता है कि शक्ति में प्रत्येक 2 प्रतिशत वृद्धि से औद्योगिक उत्पादन में 3 प्रतिशत की वृद्धि होती है।

अविकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों में प्रति-व्यक्ति बिजली की खपत बहुत ही कम होती है, किन्तु जैसे-जैसे आर्थिक विकास होते जाता है तथा प्रति-व्यक्ति आय बढ़ता जाती है, इसके साथ-ही-साथ प्रति-व्यक्ति बिजली की खपत भी बढ़ती जाती है। वास्तव में प्रति व्यक्ति आय एवं प्रति-व्यक्ति बिजली की खपत में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है जो निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> में स्पष्ट है :—

| देश                   | जनसंख्या | प्रति व्यक्ति बिजली की खपत 1970 (कि० ग्राम कोयले में) | प्रति व्यक्ति आय (डॉलर में) |
|-----------------------|----------|-------------------------------------------------------|-----------------------------|
| संयुक्त राज्य अमेरिका | 21.5     | 11,485                                                | 4,274                       |
| ब्रिटेन               | 5.5      | 5,464                                                 | 1,993                       |
| जापान                 | 11.3     | 3,839                                                 | 1,658                       |
| भारत (1976)           | 61.0     | 201                                                   | 88                          |

इससे प्रति-व्यक्ति आय तथा प्रति-व्यक्ति बिजली की खपत में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। साथ ही, चूंकि कुल विद्युत् के प्रायः तीन-चौथाई भाग का प्रयोग विद्युत् उत्पन्न

| करने के साधन | 1950 | 1955 | 1960-61 | 1965-66 | 1970-71 | 1973-74 |
|--------------|------|------|---------|---------|---------|---------|
| जल           | 5.8  | 9.4  | 19.2    | 41.4    | 63.8    | 69.5    |
| कोयला        | 15.6 | 22.7 | 34.3    | 56.1    | 75.1    | 86.3    |
| तेल          | 1.6  | 2.1  | 3.0     | 4.2     | 4.0     | 4.1     |
| अणु-शक्ति    | +    | +    | +       | +       | 4.2     | 6.4     |
| कुल          | 23.0 | 34.2 | 56.5    | 101.7   | 147.1   | 166.3   |

निम्नांकित तालिका<sup>2</sup> से सम्पूर्ण विश्व एवं हमारे देश में कुल व्यापारिक शक्ति प्राप्त करने में इन विभिन्न साधनों का महत्त्व बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है :—

| साधन                | भारत (1967) | सम्पूर्ण विश्व (1951) |
|---------------------|-------------|-----------------------|
| कोयला               | 74.4        | 57.1                  |
| पेट्रोल             | 13.5        | 37.1                  |
| जल-विद्युत् (Hydro) | 12.1        | 5.8                   |

कुल 100.0

100.0

अब शक्ति प्राप्त करने के इन विभिन्न साधनों का निम्न वितरण-प्रस्तुत किया जाता है :—

1. U. N. Statistical Year Book, 1971

उत्पादक कार्यों में किया जाता है; अतएव बिजली का उत्पादन ही किसी देश के औद्योगीकरण का भी एक अच्छा मापदण्ड है।

किन्तु, इस प्रतिस्पर्धात्मक युग में प्रत्येक राष्ट्र के लिए केवल शक्ति के साधनों की प्रचुरता ही अनिवार्य नहीं, प्रत्युत् अपेक्षाकृत कम मूल्य पर उनकी सुलभता, अनुकूलता तथा उपयोगिता भी आवश्यक है।

शक्ति के कई साधन हैं :—वायु, लकड़ी, कोयला, तेल, अल्कोहल, जल तथा अणु-शक्ति (Atomic energy)। इनमें से वायु तथा लकड़ी का प्रयोग वर्तमान समय में प्रायः नहीं के बराबर ही होता है। अल्कोहल का प्रयोग भी भारत में औद्योगिक ईंधन के रूप में बहुत कम होता है। साथ ही, अणु-शक्ति का विकास तो हमारे यहाँ अभी अत्यन्त प्रारम्भिक स्थिति में ही है। अतः, भारत में शक्ति के तीन प्रमुख साधन हैं—(1) कोयला, (2) पेट्रोल, तथा (3) जल। इनमें से पेट्रोल का हमारे देश में अभाव है। साथ ही, पेट्रोल तथा कोयला पृथ्वी के गर्भ से निकाले जाते हैं, अतः इनके समाप्त होने की आशंका बनी रहती है। किन्तु जल शक्ति का अक्षय (Inexhaustible) साधन है, अतः औद्योगिक विकास के लिए हमारी समस्त आशाओं का केन्द्र जल-विद्युत् ही है।

निम्नांकित तालिका<sup>3</sup> से विद्युत् उत्पन्न करने के इन विभिन्न साधनों के जेनरेटिंग प्लांट्स (Generating plants) की संस्थापित क्षमता का अन्दाजा लगता है।

### (क) कोयला (Coal)

कोयला शक्ति का एक प्रमुख साधन है। आज भी भारत में शक्ति की कुल आवश्यकताओं का प्रायः 75 प्रतिशत भाग कोयला द्वारा ही प्राप्त होता है। कोयला-उत्पादन की दृष्टि से भारत का विश्व में सातवाँ स्थान है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि देश में कुल मिलाकर 8095 करोड़ टन कोयले का भंडार है। इनका अधिकतर भाग कोयला मुख्यतः बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्य प्रदेश तथा आन्ध्र राज्यों में पाया जाता है। इनमें बिहार तथा पश्चिमी बंगाल की खानों का प्रमुख स्थान

2. India Pocket Book of Economic Information 1973-74

3. The Eastern Econ. Nov. 1970



है। भारत के कुल उत्पादन का प्रायः 70 प्रतिशत भाग कोयला केवल बंगाल तथा बिहार की खानों से ही प्राप्त होता है। इसके बाद मध्य प्रदेश का स्थान है जहाँ से देश के कुल उत्पादन का प्रायः 17 प्रतिशत भाग कोयला उत्पन्न किया जाता है। बिहार के झरिया, कर्णपुरा, बोकारो, रामगढ़, गिरीडीह, डालटेनगंज में तथा बंगाल के रानीगंज में कोयला पाया जाता है। उड़ीसा तथा आन्ध्र में भी कोयले की खानें हैं, किन्तु इनका उत्पादन बहुत ही कम होता है। इनके अतिरिक्त असम की गारो पहाड़ियों एवं कामरूप जिले तथा राजस्थान के बीकानेर से भी कोयला निकाला जाता है, किन्तु इनका उत्पादन प्रायः नगण्य हैं। तमिलनाडु के समुद्री किनारों पर दक्षिणी आर्काट जिले के निवेली नामक स्थान में भी लिगनाइट नामक कोयले (भूरा कोयला) के विस्तृत भण्डार का पता चला है। इस क्षेत्र के लिए एक योजना कार्यान्वित की जा रही है जिसमें उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हो गया है। इससे 1967 ई० में प्रायः 30 लाख टन लिगनाइट उत्पन्न हुआ था।

**कोयले का उत्पादन :—**भारत में कोयले का उत्पादन 1931 ई० में 239 लाख टन था जो बढ़कर 1939-40 ई० में 251 लाख टन हो गया। तब से कोयले का उत्पादन निरन्तर बढ़ते जा रहा है। 1950-51 ई० में कोयले का उत्पादन 323 लाख टन था जो 1955-56 ई० में 384 लाख टन, 1960-61 ई० में 557 लाख टन, 1965-66 ई० में 677 लाख टन, 1968-69 ई० में 695 लाख टन, 1973-74 में 790 तथा 1977-78 में 1032 लाख टन हो गया। छठी पंचवर्षीय योजना के अन्त में 1982-83 में कोयले के उत्पादन को बढ़ाकर 1490 लाख टन करने का आयोजन है।

पहले भारत में कोयला निष्कासन का कार्य निजी तथा सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में किया जाता था। किन्तु 1971 ई० में देश में कोकिंग तथा 1972 ई० में नन-कोकिंग कोयले की खानों का राष्ट्रीयकरण किया गया जिससे आजकल कोयला निकालने का कार्य केवल सरकारी क्षेत्र में ही किया जाता है। इस कार्य के लिए जनवरी, 1973 में एक Coal Mines Authority की स्थापना की गयी। किन्तु कोयले का उत्पादन यातायात सम्बन्धी सेवाओं में विस्तार से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है, अतएव जबतक यातायात के साधनों का विस्तार नहीं होगा तब तक कोयला उद्योग के उत्पादन में संतोषजनक प्रगति संभव नहीं है।

किन्तु भारत में शक्ति के लिए कोयले की स्थिति संतोषजनक नहीं है। इसके कई कारण हैं। सर्वप्रथम तो, देश में कोयले का प्रादेशिक वितरण बड़ा ही विषम है। देश का अधिकांश कोयला, लगभग 80 प्रतिशत भाग, केवल दामोदर घाटी क्षेत्र (बिहार) एवं बंगाल की खाड़ी से ही प्राप्त होता है। शेष भाग उड़ीसा, आन्ध्र

तथा मध्य प्रदेश में मिलता है। इससे देश के अन्य भागों में कोयला ले जाने का खर्च बहुत अधिक पड़ता है। अतः भारत में कोयला की समस्या केवल उत्पादन की ही नहीं, वरन् इसकी ढुलाई की भी है। साथ ही, हमारे देश के कोयले में राख एवं नमी की मात्रा अधिक होने के कारण इसमें गर्मी उत्पन्न करने की शक्ति भी बहुत कम पायी जाती है। खानों से कोयला निकालने का तरीका भी बड़ा दोषपूर्ण है। भारत में खानों से कोयला निकालने में यन्त्रों का बहुत कम प्रयोग किया जाता है, फलस्वरूप कोयले का बहुत अपव्यय होता है। 1937 ई० में भारतीय कोयला समिति ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा था कि "भारत में कोयले का व्यवसाय एक ऐसी दौड़ के समान है जिसमें लाभ को सर्वदा प्राथमिकता दी जाती है तथा सुरक्षा उसके बाद द्वितीय स्थान पर आती है।"<sup>1</sup>

इतना ही नहीं, हमारे देश में कोयले का भंडार भी सीमित है। भारत में सभी प्रकार के कोयले का अनुमानित भण्डार प्रायः 8095 करोड़ टन है जिसे सुगमतापूर्वक खानों से निकाला जा सकता है। विश्व के कुल सम्भावित कोयले के भण्डार का प्रायः 40 प्रतिशत भाग संयुक्त राज्य अमेरिका में, 31 प्रतिशत भाग रूस में 18 प्रतिशत चीन में तथा भारत में केवल 1.1 प्रतिशत भाग है। इससे देश में कोयले के भण्डार की कमी स्पष्ट हो जाती है। विशेषज्ञों द्वारा भी इस सम्बन्ध में हमें बार-बार चेतावनी मिलती रहती है। योजना आयोग के अनुसार भी हमारे देश में अच्छी किस्म के कोयले का अभाव है। यह निश्चय ही हमारे लिए अत्यन्त चिन्ता का विषय है। अतः कोयले के उपयोग में मितव्ययिता से काम लेना अति आवश्यक है। इसी उद्देश्य से भारत सरकार द्वारा 1952 ई० में एक कोयला खान (संरक्षण तथा सुरक्षा) विधान पारित किया गया था। इसके अनुसार कोयले के भण्डार को सुरक्षित रखने का अधिकार सरकार ने स्वयं प्राप्त कर लिया है। खानों से कोयला निकालने के तरीकों में भी सुधार आवश्यक है जिससे कोयले की बर्बादी को रोका जा सके। खराब किस्म के कोयले के प्रयोग को प्रोत्साहित करने के लिए विभिन्न स्थानों में कोयला धोने के कारखानों (Coal Washeries) की भी स्थापना की जा रही है।

उपरोक्त सभी दोषों के कारण हम भारत में शक्ति के लिए कोयले पर बहुत अधिक निर्भर नहीं रह सकते।

भारत ने 1968 ई० में विश्व के कुल उत्पादन का 3.5 भाग कोयला उत्पन्न किया था जबकि उसी वर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका के उत्पादन का प्रतिशत 24.9 तथा सोवियत संघ में 20.7 प्रतिशत था। कोयले की प्रति व्यक्ति खपत भारत में प्रायः 0.07 टन है जबकि

1. India Pocket Book of Economic Information, 1973-74.



अमेरिका में यह 4.65 टन है। इससे इस सम्बन्ध में भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

**पंचवर्षीय योजनाओं में कोयला उद्योग का विकास (Development of Coal Industry in the Five Year Plans):**—पंचवर्षीय योजनाओं में कोयला उद्योग के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया जा रहा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) में योजना आयोग ने अपने प्रतिवेदन में यह मत प्रकट किया था कि भारत में कोयले का भंडार देश की औद्योगिक आवश्यकताओं के लिए सामान्यतः पर्याप्त है, किन्तु यहाँ अच्छी किस्म के कोयले का अभाव है। अतएव आयोग ने कोयले के भण्डार को सुरक्षित रखने की सिफारिश की थी। योजना काल में कोयले के संरक्षण तथा विकास के निम्नलिखित कार्यक्रम अपनाये गये थे— (क) देश के कोयले के भण्डार का सर्वेक्षण तथा पैमाइश; (ख) विभिन्न उपयोगों के आधार पर कोयले का वैज्ञानिक वर्गीकरण; (ग) कोयला ढोने के लिए रेलवे के अतिरिक्त अन्य सस्ते साधनों की व्यवस्था। प्रथम योजनाकाल में कोयले का उत्पादन 1950-51 ई० में 223 लाख टन से बढ़कर 1955-56 ई० में 384 लाख टन हो गया।

**द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan)** में लोहा-इस्पात उद्योग के विकास, थर्मल पावर जेनरेटर तथा रेलवे की आवश्यकताओं इत्यादि को ध्यान में रखते हुए खनिज-विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत कोयला उद्योग के विकास को प्रमुख स्थान दिया गया था। अतएव द्वितीय योजना काल में कोयले का उत्पादन 1955-56 ई० में 384 लाख टन से बढ़कर 1961-62 में 557 लाख टन हो गया। भारत सरकार की 1956 ई० की औद्योगिक नीति के अनुसार कोयला उद्योग में नयी खानों की व्यवस्था का दायित्व भारत सरकार का ही हो गया है। अतएव, द्वितीय योजना काल में सार्वजनिक क्षेत्र में कोयले की नयी-नयी खानों में कार्य प्रारम्भ किया गया। सार्वजनिक क्षेत्र की खानों की व्यवस्था के लिए 'राष्ट्रीय कोयला विकास निगम' (National Coal Development Corporation) नामक एक निगम की स्थापना की गयी। साथ ही, सार्वजनिक क्षेत्र के लोहा-इस्पात के कारखानों को अच्छी किस्म का कोयला प्रदान करने के लिए योजनाकाल में दो कोयला धुलने के कारखानों (Coal Washeries) की स्थापना भी की गई।

**तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan)** में भी लोहा-इस्पात, थर्मल पावर तथा रेलवे तीनों के विकास पर पर्याप्त जोर देने के परिणाम स्वरूप खनिज-पदार्थों के अन्तर्गत कोयले के विकास को प्रथम स्थान दिया गया था। तृतीय योजना काल में कोयले के उत्पादन में 413 लाख टन वृद्धि का आयोजन था। कोयले के उत्पादन में इतनी अधिक वृद्धि के लिए कोयले

की नयी खानों में कार्य प्रारम्भ करने का आयोजन था। इस कार्य के लिए योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में 103 करोड़ रुपये तथा निजी क्षेत्र में 60 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी, किन्तु तृतीय योजना के अन्त में 1965-66 ई० में कोयले का उत्पादन 677 लाख टन ही हुआ।

तृतीय योजनाकाल में निवेली योजना के अन्तर्गत लिगनाइट के उत्पादन को बढ़ाकर 48 लाख टन करने का आयोजन था जबकि इसका उत्पादन अनुमानतः 26 लाख टन हुआ।

**चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan)** में भी कोयले के उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन था। योजनाकाल में कोयले के उत्पादन को 1968-69 ई० में 695 लाख टन से बढ़ाकर 1973-74 में 935 लाख टन करने का आयोजन था। किन्तु इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं हुई तथा 1973-74 में कोयले का उत्पादन 790 लाख टन ही हुआ। इसी प्रकार लिगनाइट का उत्पादन चतुर्थ योजना के अन्त में 34 लाख टन हुआ। चतुर्थ योजनाकाल के दौरान देश में कोयले की सभी खानों का पूर्ण रूप से राष्ट्रीयकरण कर लिया गया जिससे कोयला निष्कासन का कार्य अब पूर्णतया राजकीय क्षेत्र के अन्तर्गत आ गया।

**पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan)** में भी कोयला उद्योग के विकास को उच्च प्राथमिकता प्राप्त है। योजना काल में कोयले के उत्पादन को 1973-74 में 790 लाख टन से बढ़ाकर 1978-79 में 1350 लाख टन करने का आयोजन था। इसी प्रकार लिगनाइट के उत्पादन को 1973-74 में 34 लाख टन से बढ़ाकर 1978-79 में 60 लाख टन करने का आयोजन था। पाँचवीं योजना में कोयला उद्योग के विकास पर लगभग 550 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। 1977-78 में कोयले का उत्पादन 1032 लाख टन हुआ।

**छठी योजना के अन्तः** यानी 1982-83 में कोयले की कुल आवश्यकता 1505 लाख टन लगायी गयी है। इसमें से योजना आयोग के अनुसार 1490 लाख टन देश की खानों से उत्पन्न किया जायगा। इसमें से आयोग के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र के दो उपक्रमों के द्वारा 1440 लाख टन तथा टाटा एवं इंडियन आयरन की खानों से 50 लाख टन कोयला उत्पादन किया जायगा। शेष का विदेशों से आयात करने का आयोजन है। छठी योजना के अंत में कोयले के उत्पादन को बढ़ाकर 1982-83 में 1490 लाख टन करने का आयोजन है।

### पेट्रोलियम (Petroleum)

पेट्रोलियम शक्ति का एक प्रमुख साधन है तथा विश्व की कुल शक्ति की आवश्यकताओं का प्रायः एक-तिहाई भाग इसके द्वारा पूरा किया जाता है। किन्तु, भारत में



पेट्रोलियम का अभी बहुत कम उत्पादन होता है। अभी तक ज्ञात स्रोतों के अनुसार देश में पेट्रोलियम का कुल प्रमाणित भंडार 440 लाख टन है, किन्तु देश में पेट्रोलियम का उत्पादन बहुत कम होता है। 1976 में विश्व में पेट्रोलियम का कुल उत्पादन 276.7 करोड़ मेट्रिक टन था जिसमें से भारत का उत्पादन केवल 87 लाख टन, यानी विश्व के कुल उत्पादन का प्रायः 0.3 प्रतिशत भाग ही था। देश में पेट्रोलियम की मांग में पिछले कुछ वर्षों में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। परिणामस्वरूप हमें विदेशों से बहुत बड़ी मात्रा में प्रति वर्ष पेट्रोलियम का आयात करना पड़ता है। 1977-78 में रूख तेल (Crude oil) का उत्पादन 108 लाख टन के लगभग था जो उस वर्ष की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए बहुत ही कम कहा जा सकता है। देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अभी भी प्रायः 150 लाख टन रूख तेल का आयात करना पड़ेगा। 1971 में रूख तेल की कीमत प्रति बैरल 128 डॉलर थी जो बढ़कर 1973-74 में 262 प्रति बैरल हो गयी। इससे पेट्रोलियम के आयात पर 1976-77 में 1412 करोड़ रुपये व्यय करना पड़ा था जिससे विदेशी विनिमय-सम्बन्धी संकट और भी घनीभूत हो गया है। अतएव इस कठिनाई को दूर करने के लिए तीन दिशाओं में प्रयत्न आवश्यक हैं—

(क) देश में पेट्रोल के उत्पादन को बढ़ाया जाय,

(ख) पेट्रोल के अभिवृद्ध उपभोग में कमी की जाय, तथा

(ग) रूख तेल के प्रतिस्थापक विकसित किए जायें।

तेल के नये-नये क्षेत्रों की खोज (Exploration of New Oil Regions): देश के भिन्न-भिन्न भागों में पेट्रोल के सम्भावित भंडार के पता लगाने के कार्य पर वर्तमान समय में बहुत अधिक जोर दिया जा रहा है। एक अनुमान के अनुसार भारत में पेट्रोलियम का सम्भावित क्षेत्र 10 36 लाख वर्ग किलोमीटर में विस्तृत है जिसके अन्तर्गत असम, पश्चिमी बंगाल, पंजाब एवं हिमाचलप्रदेश, जम्मू-कश्मीर, राजस्थान, काम्बे, गंगा की घाटी, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश एवं केरल के समुद्री किनारे तथा अंडमन-निकोबार द्वीप समूह आदि सम्मिलित हैं। आजकल पेट्रोल तथा प्राकृतिक गैस आयोग द्वारा देश में पेट्रोल के नये-नये क्षेत्रों का पता लगाने का कार्यक्रम चल रहा है। इन प्रयत्नों में पर्याप्त सफलता भी मिली है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में असम, जैसलमेर तथा काम्बे में पेट्रोल की खोज का कार्य किया गया जिसके फलस्वरूप असम के नहरकटिया (Naharkatiya) तथा मोरन (Moran) क्षेत्र में पेट्रोल का पता चला यहाँ की खानों से प्रति वर्ष प्रायः 25 लाख टन पेट्रोल प्राप्त किया जायगा जो आगे चलकर 40-50 लाख टन तक हो जायगा। इस प्रकार इन क्षेत्रों की खानों के विकास के पश्चात् देश की कुल आवश्यकता का प्रायः 40% भाग पेट्रोलियम देश की खानों से ही प्राप्त हो जायगा। इस क्षेत्र से पेट्रोल निकालने का कार्य आरम्भ

करने के लिए 1959 ई० में Oil India Private Limited नामक एक कम्पनी की स्थापना की गयी जिसने 1962 ई० से पेट्रोल निकालने का कार्य प्रारम्भ किया। गुजरात के तेल-क्षेत्र से भी तेल निकालने का कार्य भी प्रारम्भ किया गया है।

पेट्रोल की खोज का कार्य पेट्रोल तथा प्राकृतिक गैस आयोग (Oil and Natural Gas Commission) की देख-रेख में पंजाब के ज्वालामुखी क्षेत्र में, स्टैंडर्ड बैक्युम ऑयल कम्पनी की देख-रेख में पश्चिमी बंगाल के सम्भावित क्षेत्रों में तथा असम ऑयल कम्पनी की सहायता से असम के सम्भावित क्षेत्रों में किया जा रहा है। पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बिहार के सम्भावित क्षेत्रों का भी कनाडा की प्राद्योगिक सहायता से सर्वेक्षण किया जा रहा है। इन सभी कार्यों के लिए द्वितीय योजना काल में 26 करोड़ रुपये तथा तृतीय योजनाकाल में 147 करोड़ रुपये व्यय किये गये। बम्बई के पास समुद्र से भी तेल निकालने का कार्य किया जा रहा है तथा इस कार्य में भी पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। पाँचवीं योजना में इस कार्य के लिए 420 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। छठी योजना में पेट्रोलियम-क्षेत्र में कुल 2550 करोड़ रुपये का व्यय किया जायगा।

पेट्रोलियम का परिष्करण (Oil Refining)—राजकीय क्षेत्र में तेल साफ करने के दो कारखाने असम के नूनमती (Nunmati) तथा बिहार के बरोनी (Barauni) नामक स्थानों में स्थापित किये गये। बरोनी कारखाना सोवियत सरकार की सहायता से बनाया गया है। इसी प्रकार गुजरात क्षेत्र के तेल को साफ करने के लिए राजकीय क्षेत्र में कोयली (Koyail), जो बरोदा के समीप है, में एक तेल-शोधक कारखाना स्थापित किया गया है। इसके अतिरिक्त कोचीन में एक तेल साफ करने का कारखाना बनाया गया है। तमिलनाडु में भी चतुर्थ योजना की अवधि में एक तेल शोधक कारखाना स्थापित किया है। 1973-74 तक देश में पेट्रोलियम की परिष्करण क्षमता बढ़कर 240 लाख टन हो गयी। यह बढ़कर पाँचवीं योजना के अन्त में 1977-78 में 275 लाख टन हो गयी। पाँचवीं योजना काल में 10 लाख टन क्षमता की बोंगाई गाँव शोधशाला तथा 60 लाख टन क्षमता की मथुरा शोधशाला के अतिरिक्त कोयली शोधशाला के विस्तार का भी आयोजन था। छठी योजना काल में 1982-83 तक देश में तेल के परिष्करण की क्षमता के बढ़कर 375 लाख टन होने की आशा है।

इन सब प्रयत्नों के परिणामस्वरूप देश में पिछले कुछ वर्षों से पेट्रोलियम के उत्पादन तथा परिष्करण क्षमता में हो रही वृद्धि निम्नांकित तालिका से स्पष्ट हो जाती है—



## अशोधित पेट्रोलियम का उत्पादन (लाख टन में)

| वर्ष             | रुस तेल | परिष्कृत क्षमता |
|------------------|---------|-----------------|
| 1950-51          | 3.7     | 4.5             |
| 1960-61          | 4.1     | 58.0            |
| 1970-71          | 70.1    | 180.0           |
| 1973-74          | 75.0    | 225.0           |
| 1977-78          | 107.7   | 275.0           |
| 1982-83 (आयोजित) | 180.0   | 375.0           |

किन्तु देश में पेट्रोल के उत्पादन में वृद्धि के बावजूद 1977-78 तक भारत अपनी कुल आवश्यकता का केवल 40 प्रतिशत भाग पेट्रोल ही उत्पन्न कर पाता था तथा शेष का उसे विदेशों से आयात करना पड़ता था। पिछले कुछ वर्षों से पेट्रोलियम के मूल्य में बहुत अधिक वृद्धि के कारण पेट्रोलियम के आयात पर बहुत अधिक विदेशी मुद्रा व्यय करनी पड़ती है। अतएव पेट्रोलियम के आयात को कम करने के लिए देश में पेट्रोलियम के नये-नये क्षेत्रों का पता लगाना अति आवश्यक है। छठी योजना के अन्त तक ऐसी आशा की जाती है कि देश में पेट्रोल का उत्पादन बढ़कर 180 लाख टन हो जायगा। यदि समुद्र में खुदाई के कार्य में सफलता मिल जायगी तो इसमें बहुत अधिक वृद्धि की आशा की जाती है।

(ग) जल-शक्ति  
(Hydro-electricity)

देश में सफलतापूर्वक औद्योगिक विकास के लिए सस्ती शक्ति की उपलब्धि एक अनिवार्य शर्त है। आधुनिक समय में किसी देश में बिजली के उत्पादन को देखकर उस देश के आर्थिक विकास तथा जनता के जीवन-स्तर का अनुमान लगाया जा सकता है। (The extent of the electric development in a country can be regarded as a positive index of the economic prosperity and standard of living of the people.) शक्ति उत्पन्न करने का कार्य कोयला, तेल तथा जल के द्वारा किया जा सकता है।

किन्तु, भारत में शक्ति के लिए कोयला तथा पेट्रोलियम की स्थिति संतोषजनक नहीं है। फिर भी, इसे जलशक्ति का विशाल साधन उपलब्ध है। अनुमान लगाया जाता है कि विश्व में जल-शक्ति के वर्तमान साधन का भंडार कम-से-कम 50 करोड़ अश्व-शक्ति (H.P.) है जिसमें से बेल्जियम तथा कांगो में 9 करोड़ अश्व-शक्ति, संयुक्त राज्य अमेरिका में 38 करोड़ अश्व-शक्ति तथा भारत में 27 करोड़ अश्व-शक्ति के साधन वर्तमान हैं।<sup>1</sup> इस प्रकार देश में जल-शक्ति के साधनों की निस्सन्देह प्रचुरता है। भारत में जल-शक्ति के वर्तमान साधनों का अभी तक पूर्ण रूप से सर्वेक्षण भी नहीं किया जा सका है, फिर भी यह अनुमान लगाया जाता है कि भारत में कम-से-कम

411 लाख कि० वा० जल-विद्युत् उत्पन्न करने की क्षमता वर्तमान है।<sup>2</sup> इसका क्षेत्रीय वितरण निम्न प्रकार से है—

|                                                    |                |
|----------------------------------------------------|----------------|
| 1. पश्चिमी घाट से पश्चिम की ओर बहने वाली नदियों से | 43 लाख कि० वा० |
| 2. दक्षिणी भारत से पूर्व की ओर बहने वाली नदियों से | 86 " "         |
| 3. मध्य भारत की नदियों से                          | 43 " "         |
| 4. गंगा की तराई की नदियों से                       | 48 " "         |
| 5. ब्रह्मपुत्र, मनीपुर तथा ताप्ति से               | 125 " "        |
| 6. सिन्धु नदी से                                   | 66 " "         |
| कुल                                                | 411 " "        |

भारत में जल-शक्ति के विकास के कई लाभ हैं :— सर्वप्रथम तो यहाँ शक्ति के अन्य साधन अपर्याप्त हैं, अतः देश के औद्योगीकरण के लिए हमें मुख्य रूप से जल-शक्ति पर ही आश्रित रहना पड़ेगा। साथ ही, जल-शक्ति का उत्पादन-व्यय भी बहुत ही कम पड़ता है। अनुमान लगाया जाता है कि जल-शक्ति उत्पन्न करने का खर्च कोयले की तुलना में प्रायः एक-चौथाई भाग पड़ता है। साथ ही, जल-शक्ति को सुगमतापूर्वक तथा कम खर्च में ही दूर-दूर तक ले जाया जा सकता है। इससे विकेंद्रित आर्थिक व्यवस्था के निर्माण में भी बहुत अधिक सहायता मिलती है। जल-शक्ति सस्ती होने के कारण उद्योग-धन्धों के अतिरिक्त कृषि, सिंचाई, यातायात तथा लघु उद्योगों के विकास में भी इसका उपयोग किया जा सकता है। इसका एक लाभ यह भी है कि इसमें शक्ति-उत्पादन वस्तु का नाश नहीं होता, केवल इसमें निहित शक्ति का ही प्रयोग किया जाता है।

देश में 'अभी कर्नाटक, केरल तथा जम्मू एवं कश्मीर में मुख्यतः जल-विद्युत्, बिहार, पश्चिमी बंगाल तथा गुजरात में मुख्यतः थर्मल तथा शेष भागों में दोनों जल तथा थर्मल की प्रधानता है।

भारत में जल-शक्ति का विकास  
(Development of Hydro-electricity in India)

इस प्रकार भारत में जल-शक्ति के साधनों की प्रचुरता है, किन्तु खेद है कि हमारे देश में अभी तक इसका एक बहुत छोटा भाग ही प्रयुक्त किया जाता है। राष्ट्रीय नियोजन समिति के अनुसार 1942 ई० में देश की सम्भावित जल-शक्ति के साधनों का केवल 1.4% भाग ही विकसित किया गया था जबकि यूरोप तथा अमेरिका के अधिकांश देशों में इसके 15 से 90% तक का विकास हो गया था। चतुर्थ योजना प्रारम्भ होने के समय, यानी मार्च 1969 तक देश की कुल सम्भावित क्षमता का केवल सातवाँ भाग ही प्रयोग किया जा सका था।

1. India-1957, P. 3.

2. India-1976.



भारत में जल-विद्युत् उत्पादन का 200 कि० वा० की संस्थापित क्षमता का पहला कारखाना 1897-98 ई० में दार्जिलिंग में स्थापित किया गया। इसके शीघ्र बाद ही 1899 ई० में कलकत्ता में वाष्प से चलने वाला एक हजार कि०-वा० क्षमता का एक विद्युत्-उत्पादन यन्त्र स्थापित किया गया। पुनः 1902 ई० में मैसूर राज्य में कावेरी नदी पर शिवसमुद्रम् में एक जल-शक्ति उत्पादन केन्द्र की स्थापना की गयी। इस केन्द्र से 59,200 कि० वा० बिजली उत्पन्न की जाती है।

महाराष्ट्र राज्य में पश्चिमी घाट पहाड़ पर टाटा बन्धुओं के प्रयत्न से लोनावला, आन्ध्र घाटी तथा निलागुला नामक तीन स्थानों में बिजली उत्पादन के तीन केन्द्र स्थापित किये गये। ग्रिड व्यवस्था द्वारा इन तीनों केन्द्रों को मिला दिया गया। इन केन्द्रों से 2,32,000 कि० वा० बिजली उत्पन्न की जाती है जिसका उपयोग बम्बई, थाना, कल्याण और पूना में रोशनी, उद्योग-धन्धे, रेलवे एवं ट्राम तथा अन्य कार्यों के लिए किया जाता है।

तमिलनाडु में नीलगिरि पर्वत से निकलने वाली पाईकारा नदी पर बांध बनाकर बिजली उत्पन्न की जाती है। इस केन्द्र की स्थापना का कार्य 1932 ई० में प्रारम्भ हुआ था। तमिलनाडु में जल-विद्युत् उत्पादन का दूसरा केन्द्र कावेरी नदी पर मेट्टूर बांध के नीचे है। यहाँ से 40 हजार कि० वा० बिजली उत्पन्न की जाती है। इनके अतिरिक्त तिरुनेवेली जिले में ताम्रपर्णी नदी के झरनों से 1938 ई० में पापनाशम् विद्युत्-केन्द्र की स्थापना की गयी। इसकी उत्पादन-क्षमता 21 हजार कि० वा० की है। इसी प्रकार 1952 ई० में मैसूर राज्य में जोग झरने पर शेरारवती नदी के जल को रोक कर महात्मा गाँधी विद्युत्-केन्द्र की स्थापना की गयी है।

पूर्वी पंजाब में व्यास की सहायक नदी के किनारे मण्डी में जल-विद्युत् का एक विशाल कारखाना मण्डी जल-विद्युत् केन्द्र है। यहाँ से शिमला, अम्बाला आदि स्थानों को बिजली प्रदान की जाती है। यहाँ 48 हजार कि० वा० बिजली उत्पन्न की जाती है। कश्मीर राज्य में श्रीनगर से 34 मील दूर बारामूला नामक स्थान में झेलम नदी के जल से बिजली उत्पन्न की जाती है। उत्तर प्रदेश में गंगा नहर से भोरा, सुमेरा, बहादुरबाद, पलड़ा, चितौड़ा, मुहम्मदपुर और साहेबाल में जल-शक्ति उत्पन्न की जाती है। ये सभी केन्द्र ग्रिड-व्यवस्था द्वारा सम्बन्धित हैं। इनके अतिरिक्त शारदा नहर जल-विद्युत् व्यवस्था से भी 41 हजार कि० वा० बिजली उत्पन्न की जाती है।

इनके अतिरिक्त देश के अन्य भागों में भी विद्युत् उत्पादन के छोटे-बड़े कारखाने हैं जिनसे बिजली उत्पन्न की जाती है। उपरोक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि भारत के कुछ राज्यों, जैसे—उड़ीसा, मध्य प्रदेश तथा असम में जल-विद्युत् उत्पन्न करने के केन्द्र प्रायः नहीं

पाये जाते हैं। इन राज्यों में बिजली-उत्पादन के लिए कोयले का ही मुख्य रूप से प्रयोग किया जाता है। भारत में गाँवों को अभी बहुत कम बिजली मिलती है। अधिकांश बिजली का उपयोग नगरों में ही किया जाता है। पाँचवीं योजना के अंत तक भी देश के कुल 40 प्रतिशत गाँवों को ही बिजली प्राप्त हो पायी थी।

जल-शक्ति के विकास की नयी योजनाएँ—भारत में जल-विद्युत् के विकास की अपार सम्भावनाओं के बावजूद इसका अभी बहुत ही कम विकास हुआ है। अनुमान लगाया जाता है कि भारत की नदियों में प्रतिवर्ष प्रायः 1356 लाख घनफीट जल बहता है जिसमें से 1951 ई० तक केवल 76 लाख घनफीट यानी प्रायः 5.6 प्रतिशत का सिंचाई एवं बिजली के लिए प्रयोग होता था। प्रथम योजना के अन्त तक विभिन्न कार्यक्रमों के फलस्वरूप इस जलराशि का अनुमानतः 10 प्रतिशत भाग प्रयुक्त किया जाने लगा था। इस विशाल जल-राशि का यदि जल-शक्ति के उत्पादन में प्रयोग किया जाय तो इससे देश के औद्योगिक विकास में पर्याप्त सहायता मिलेगी। किन्तु भारत में जल-शक्ति के विकास के मार्ग में प्रधान कठिनाई यह है कि यहाँ वर्षा मौसमी होने के कारण जल को रोक कर रखने के लिए बाँध तथा जलाशयों का निर्माण करना पड़ता है जिसमें बहुत अधिक व्यय करना पड़ता है। फिर भी, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सरकार द्वारा इस क्षेत्र के विकास के लिए विशेष प्रयत्न किये जा रहे हैं।

पंचवर्षीय योजनाओं में जल-विद्युत् का विकास (Development of Power in Five Year Plans)

मार्च, 1951 में देश में विद्युत् की स्थापित क्षमता 23 लाख कि० वा० थी। पंचवर्षीय योजनाओं में विद्युत् के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया जा रहा है। इससे इस में पर्याप्त प्रगति भी हो रही है जो निम्नांकित विवरण से स्पष्ट है :—

प्रथम पंचवर्षीय योजना में शक्ति का विकास :— प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) में सिंचाई एवं बिजली के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता प्राप्त थी। योजना काल में बिजली की योजनाओं पर कुल 153 करोड़ रुपये व्यय किया गया था। प्रथम योजनाकाल में देश में विद्युत् की संस्थापित क्षमता 1950-51 ई० में 23 लाख कि० वा० से बढ़कर 1955-56 ई० में 34 लाख कि० वा० हो गयी। इसके फलस्वरूप प्रति-व्यक्ति बिजली की औसत खपत 1950-51 ई० में 21 इकाई से बढ़कर 1955-56 ई० में 26 इकाई हो गयी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में विद्युत् का विकास (Development of Power in the Second Five Year Plan) :—द्वितीय पंचवर्षीय योजना में विद्युत् के विकास पर 464 करोड़ रुपये व्यय किये गये। योजना के अंत में विद्युत् की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए द्वितीय योजना काल में बिजली की संस्थापित क्षमता को 1955-56



ई० में 34 लाख कि० वा० से बढ़ाकर 1960-61 ई० में 69 लाख कि० वा० करने का आयोजन था। योजना-काल में 44 नयी विद्युत् योजनाओं पर कार्य प्रारम्भ किया गया। किन्तु, द्वितीय योजनाकाल में विदेशी विनिमय-सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण विद्युत्-उत्पादन सम्बन्धी लक्ष्य पूरा नहीं हो सका तथा 1960-61 ई० में विद्युत् की संस्थापित क्षमता केवल 57 लाख कि० वा० ही हुई। उद्योग-धन्धों के विकेन्द्रीकरण तथा कृषि में विकास के लिए द्वितीय योजनाकाल में छोटे-छोटे गाँवों तथा नगरों तक बिजली पहुँचाने का विशेष आयोजन था।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में विद्युत् का विकास<sup>1</sup> (Development of Electricity in the Third Five Year Plan):—तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी विद्युत् के विकास पर पर्याप्त जोर दिया था। योजनाकाल में विद्युत् की संस्थापित क्षमता को 1960-61 ई० में 57 लाख कि० वा० से बढ़ाकर 1965-66 ई० में 127 लाख कि० वा० करने का आयोजन था किन्तु योजना के अन्त में बिजली की संस्थापित क्षमता 102 लाख कि० वा० ही हो सकी। तृतीय योजना काल में सार्वजनिक क्षेत्र में विद्युत् के विकास-सम्बन्धी कार्यक्रमों पर कुल 1292 करोड़ रुपये व्यय हुआ। योजना के अन्त तक 50 हजार गाँवों तथा शहरों को बिजली प्रदान की गयी थी।

तीन एक-वर्षीय योजनाओं (Three One-Year Plans) में विद्युत् के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। इन योजनाओं में यानी 1966-69 के बीच शक्ति के विकास की मद में कुल 1222 करोड़ रुपये व्यय हुए तथा विद्युत् की संस्थापित क्षमता 1965-66 में 102 लाख कि० वा० से बढ़कर मार्च, 1969 में 143 लाख कि० वा० हो गयी।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना<sup>2</sup> (Fourth Five Year Plan) में विद्युत् का विकास—चतुर्थ योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में विद्युत् के विकास पर 2443 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी जबकि वास्तविक व्यय 2983 करोड़ रुपये हुआ। इसमें से 1555 करोड़ रुपये विद्युत्-उत्पन्न करने, 806 करोड़ रुपये विद्युत् के वितरण (Transmission), 568 करोड़ रुपये ग्रामों के विद्युतीकरण तथा 54 करोड़ रुपये जल-पड़ताल पर व्यय किये गये। योजनाकाल में विद्युत् की संस्थापित क्षमता को अप्रैल, 1969 ई० में 143 लाख कि० वा० से बढ़ाकर मार्च, 1974 ई० में 221 लाख कि० वा० करने का आयोजन था। इसमें से जल-विद्युत् की उत्पादन-क्षमता के 94 लाख किलोवाट, ताप-विद्युत् (Thermal power) के 127 लाख किलोवाट तथा अणु-शक्ति के 10 लाख किलोवाट होने की आशा थी। किन्तु चतुर्थ योजना के अन्त में बिजली की संस्थापित क्षमता बढ़कर

184 लाख कि० वा० ही हो पायी। इस प्रकार चतुर्थ योजना में विद्युत् की संस्थापित क्षमता में केवल 41 लाख कि० वा० की ही वृद्धि हो पायी। योजना के अन्त में मार्च, 1974 में विद्युत् की प्रति व्यक्ति औसत खपत 97 इकाई हो गयी।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan) में भी विद्युत् के विकास पर बहुत अधिक जोर दिया गया था। पाँचवीं योजना की रूप-रेखा के अनुसार देश में विद्युत् की संस्थापित क्षमता को बढ़ाकर 1978-79 तक 309 लाख कि० वा० करने का आयोजन था। किन्तु 1977-78 में विद्युत् की उत्पादन-क्षमता 260 लाख कि० वा० ही हो पायी है। किन्तु संशोधित रूप के अनुसार योजनाकाल में विद्युत् की मद में 7016 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। योजना काल में 81 हजार अतिरिक्त गाँवों तथा शहरों को विद्युत् प्रदान करने की व्यवस्था थी।

छठी पंचवर्षीय योजना में इस मद में 15,750 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है तथा विद्युत् की संस्थापित क्षमता को बढ़ाकर 1982-83 में 426 लाख कि० वा० करने का आयोजन है।

इस प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं में विद्युत् के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया जा रहा है। निम्नांकित तालिका से पंचवर्षीय योजनाओं में शक्ति के विकास का अन्दाजा लगता है :—

| वर्ष <sup>1</sup> | विद्युत् की संस्थापित प्रति-व्यक्ति बिजली का क्षमता (लाख किलो वाट में) | औसत उपभोग (इकाई में) |
|-------------------|------------------------------------------------------------------------|----------------------|
| 1950-51           | 23                                                                     | 21                   |
| 1955-56           | 34                                                                     | 26                   |
| 1960-61           | 57                                                                     | 38                   |
| 1965-66           | 102                                                                    | 61                   |
| 1968-69           | 143                                                                    | 78                   |
| 1973-74           | 184                                                                    | 97                   |
| 1977-78           | 260                                                                    | ...                  |
| 1982-83 (आयोजित)  | 426                                                                    | ...                  |

भारत में शक्ति के विकास की एक आलोचनात्मक समीक्षा

(A Critical Review of the Development of Power in India).

पहले भी इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि भारत में शक्ति के साधन के रूप में पेट्रोल एवं कोयले की स्थिति संतोषजनक नहीं है, किन्तु यहाँ पर जल-शक्ति एवं अणु-शक्ति के साधनों की प्रचुरता है। हमारे देश में अनुमानतः 411 लाख किलोवाट जल-विद्युत् उत्पन्न करने की क्षमता वर्तमान है। किन्तु खेद है कि हम अभी तक इसका एक बहुत छोटा भाग ही उपयोग कर पाये हैं। मार्च, 1978 में, सभी प्रकार से उत्पन्न विद्युत् की कुल संस्थापित क्षमता 260 लाख कि० वा० थी। इससे देश में बिजली के अभाव

1. India 1970.

2. Fourth Five Year Plan (1969-74) & India 1976.

1. Eastern Economist : 26 July 1977.



का अन्दाजा लगता है। अन्य देशों की तुलना में हमारे यहाँ बिजली की प्रति-व्यक्ति औसत खपत बहुत ही कम है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

विद्युत् की प्रति व्यक्ति संस्थापित क्षमता और औसत उपभोग 1961 एवं 1970 में<sup>1</sup>

| देश            | प्रति व्यक्ति संस्थापित क्षमता (किलोवाट में) |      | प्रति-व्यक्ति औसत वार्षिक उपभोग (इकाई में) |      |
|----------------|----------------------------------------------|------|--------------------------------------------|------|
|                | 1961                                         | 1970 | 1961                                       | 1970 |
| स्वीडन         | 1.30                                         | 1.91 | 5100                                       | 7580 |
| अमेरिका        | 1.07                                         | 1.75 | 4780                                       | 7998 |
| इंग्लैंड       | 0.74                                         | 1.20 | 2750                                       | 4462 |
| पश्चिमी जर्मनी | 0.54                                         | 0.85 | 2320                                       | 3991 |
| जापान          | 0.27                                         | 0.66 | 1405                                       | 3476 |
| भारत           | 0.014                                        | 0.03 | 51                                         | 111  |

इस प्रकार भारत में जितनी बिजली का एक वर्ष में उपभोग किया जाता है, संयुक्त राज्य अमेरिका उतनी बिजली एक हफ्ते में ही उत्पन्न कर लेता है। देश में प्रति-व्यक्ति बिजली की औसत खपत कम होने के साथ-साथ भिन्न-भिन्न राज्यों की खपत भी में बहुत अधिक असमानता पायी जाती है। इस प्रकार 1966-67 में दिल्ली में प्रति-व्यक्ति बिजली की औसत खपत 277 इकाई, महाराष्ट्र में 117 इकाई, कर्नाटक में 583 इकाई, पश्चिमी बंगाल में 113 इकाई, पंजाब में 109 इकाई, उत्तर प्रदेश में 45.5 इकाई बिहार में 60.5 इकाई तथा उड़ीसा में 73 इकाई थी।<sup>2</sup>

किन्तु, सन्तोष का विषय है कि पंचवर्षीय योजनाओं में सरकार द्वारा जल-विद्युत के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। इस उद्देश्य से कई बहुउद्देशीय नदी-घाटी योजनाओं पर कार्य चल रहा है। परन्तु देश में नदी-घाटी योजनाओं के कार्यान्वयन में कई कठिनाइयाँ हैं—सर्वप्रथम तो यहाँ पर इस कार्य के लिए आवश्यक यन्त्रों का अभाव है जिनके लिए हमें मुख्य रूप से विदेशों पर निर्भर करना पड़ता है। साथ ही, विशेषज्ञों का भी देश में अभाव है। विदेशों से प्राप्त सहायता द्वारा इन कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास किया जा रहा है।

इस प्रकार हमारे देश में भी पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत विद्युत-उत्पादन में वृद्धि हो रही है। नेशनल कौंसिल ऑफ एप्लायड इकॉनॉमिक रिसर्च (National Council of Applied Economic Research) ने यह अनुमान लगाया है कि 1950 ई० में टन कोयले के रूप में प्रति-व्यक्ति बिजली की खपत 0.10 से बढ़कर 1975 ई०

में 0.62 हो गयी, यानी 25 वर्षों में इसमें लगभग 6 गुनी वृद्धि हो गयी। इसी प्रकार 1950-51 में विद्युत् की कुल संस्थापित क्षमता 23 लाख कि० वा० से बढ़कर मार्च, 1978 में 226 लाख कि० वा० हो गयी यानी इसमें दस-गुनी वृद्धि हुई इसे एक का शक्ति-विस्फोट बतलाया गया है जिससे भविष्य में होनेवाले औद्योगिक विकास का आभास मिलता है। किन्तु, इतनी अधिक वृद्धि के बावजूद, 1975 ई० में हमारे देश में प्रति-व्यक्ति बिजली की औसत खपत संयुक्त राज्य अमेरिका के वर्तमान उपयोग का केवल पन्चासवाँ भाग ही होगी। [Considering that the level of consumption as recently as 1950 was only 0.10 the (tons of coal-equivalent), the six-fold increase in 25 years amounts to an energy explosion unprecedented in our history and is a measure of industrial and economic development that the future is expected to bring to India. Despite this considerable increase in consumption; the average per capita level in 1975 will only be about one fifteenth of the current per-capita consumption in U. S. A.] इससे स्पष्ट है कि हमारे देश में बिजली का उत्पादन अभी बहुत ही कम है। अतः विश्व के अन्य विकसित राष्ट्रों की बराबरी करने के लिए हमें विद्युत् उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि करनी होगी।

#### (घ) परमाणु-शक्ति (Atomic Energy)

द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व में अणु-शक्ति के विकास का प्रयत्न किया जा रहा है। कुछ राष्ट्रों को इस क्षेत्र में पर्याप्त सफलता भी मिली है। वास्तव में, अणु-शक्ति के उत्पादन से विश्व को शक्ति का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण साधन प्राप्त हुआ है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि 1 टन यूरेनियम (Uranium) से 10,000 टन कोयले के बराबर शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। इस प्रकार कोयले की अपेक्षा इसकायातायात-सम्बन्धी व्यय भी बहुत ही कम पड़ता है। वर्तमान समय में अणु-शक्ति केन्द्र बनाने का व्यय थर्मल विद्युत् केन्द्र की अपेक्षा 15 से 20 गुना अधिक पड़ता है, किन्तु अणु शक्ति केन्द्र का निर्माण-व्यय भी क्रमशः कम हो रहा है तथा आशा की जाती है कि अगले कुछ वर्षों में यह शक्ति का सबसे सस्ता साधन हो जायागा। अणु-शक्ति मुख्यतः यूरेनियम तथा थोरियम नामक पदार्थों से उत्पन्न होती है।

हमारे देश में भी अणु-शक्ति के विकास की अपार सम्भावनाएँ हैं। यहाँ पर यूरेनियम का कुल अनुमानित भंडार 2000 टन तथा थोरियम का 5,00,000 टन है। तमिलनाडु तथा केरल के समुद्री किनारे के बालू में यूरेनियम (Uranium) तथा थोरियम (Thorium) पर्याप्त मात्रा में वर्तमान हैं। बिहार के राँची जिले में हाल में

1. United Nations Statistical Year Book—
2. India Pocket Book of Economic Information.



ही यूरेनियम, थोरियम तथा इल्मेनाइट (अणु-शक्ति के लिए आवश्यक एक अन्य पदार्थ) के विस्तृत भंडार का पता चला है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारत में अणु-शक्ति उत्पन्न करने के विशाल साधन उपलब्ध हैं।

भारत सरकार भी अणु-शक्ति के विकास के लिए बहुत अधिक प्रयत्नशील है। देश की औद्योगिक नीति (Industrial Policy) के अनुसार अणु-शक्ति के विकास की जिम्मेवारी भारत सरकार की है। अतः इस कार्यक्रम के लिए 1948 ई० में भारत सरकार द्वारा एक 'अणु-शक्ति आयोग' (Atomic Energy Commission) की नियुक्ति की गयी तथा केन्द्र में 1954 ई० में एक पृथक् अणु-शक्ति विभाग की स्थापना की गयी। 1956 ई० में बम्बई के समीप ट्रम्बे (Trombay) नामक स्थान में भारत के पहले एटॉमिक रिएक्टर (Reactor) की स्थापना की गयी। यह चिकित्सा एवं औद्योगिक अनुसन्धान के लिए आइसोटोप्स तैयार करता है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में बम्बई के समीप तारापुर में तथा राजस्थान के राणा प्रताप सागर में दो अणु-शक्ति उत्पादन-केन्द्रों की स्थापना का आयोजन था। योजनाकाल में इस मद में 51 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। इनमें से तारापुर केन्द्र 1969 ई० में तथा राणा प्रताप-सागर केन्द्र 1972 ई० में चालू हो गया। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में अणु-शक्ति के विकास पर 120 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। योजनाकाल में तमिलनाडु के कालपकाम (Kalpakkam) नामक स्थान में 400 मे० वा० क्षमता के एक अणु-शक्ति उत्पादन-केन्द्र स्थापित करने का आयोजन था। साथ ही राणाप्रताप सागर केन्द्र की क्षमता को भी दुगुना करने का आयोजन था। चतुर्थ योजना के अन्त तक अणु-शक्ति उत्पादन केन्द्रों की संस्थापित क्षमता के 21.4 लाख कि० वा० होने की आशा थी। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan) में राजस्थान में अणु-शक्ति केन्द्र की द्वितीय इकाई जिसकी क्षमता 235 मेगावाट की थी को प्रारम्भ करने का आयोजन था। साथ ही, कालपकाम केन्द्र के 235 मे० वा० क्षमता की दो इकाइयों में भी कार्य प्रारम्भ करने का आयोजन था। पाँचवीं योजना की अवधि में उत्तर प्रदेश के नरोरा नामक स्थान में एक अणु-शक्ति उत्पादन केन्द्र स्थापित करने पर भी कार्य प्रारम्भ करने की व्यवस्था थी।

किन्तु, फिर भी अणु-शक्ति के विकास की गति अगले कुछ वर्षों तक निश्चय ही मन्द रहेगी। 1975 ई० तक हमारी कुल व्यापारिक शक्ति की आवश्यकताओं का केवल

2.2% भाग ही अणु-शक्ति से प्राप्त हो सका है। इससे स्पष्ट है कि अगले कुछ वर्षों तक हमारी शक्ति की कुल आवश्यकताओं का बहुत थोड़ा भाग ही अणु-शक्ति द्वारा प्राप्त होता रहेगा।

### नदी-घाटी योजनाएँ

#### (River Valley Projects)

आजकल देश में अनेक नदी-घाटी योजनाओं पर भी कार्य चल रहा है। इनमें से कुछ योजनाएँ बहुउद्देशीय (Multi-purpose River Valley Projects) हैं, यानी इनका एक से अधिक उद्देश्य है, जैसे—सिंचाई, विजली, मिट्टी के कटाव का नियन्त्रण, बाढ़-नियन्त्रण, यातायात तथा मछली-पालन इत्यादि। नीचे कुछ महत्वपूर्ण बहुउद्देशीय नदी-घाटी योजनाओं का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

1. भाखरा नांगल योजना (Bhakhra Nangal Project)—यह भारत की सबसे बड़ी नदी-घाटी योजना है तथा पंजाब में सतलज नदी के जल से तैयार की गयी है। यह पंजाब, हरियाणा तथा राजस्थान सरकारों की सम्मिलित योजना है। 1948 ई० में ही इस योजना पर कार्य प्रारम्भ किया हुआ। इसके दो भाग हैं—भाखरा योजना तथा नांगल योजना। भाखरा योजना के अन्तर्गत सतलज नदी के आर-पार एक तंग पहाड़ी रास्ते पर भाखरा में 226 मीटर ऊँचा एक बाँध बनाया गया है। बाँध के दोनों तरफ दो विजली घर हैं। नांगल योजना के अन्तर्गत भाखरा से 8 मील नीचे नांगल नामक स्थान में एक 29 मीटर ऊँचा बाँध तथा 64 कि० मी० लम्बा हाइडेल चैनल बनाया गया है। भाखरा बाँध की बायीं ओर एक तथा हाइडेल चैनल के दोनों ओर गंगुवाल एवं कोटला में दो विजली घर हैं। ये तीनों विजली घर तैयार हो गये हैं तथा इनकी सम्मिलित संस्थापित क्षमता 6,04,00 कि० वा० है। इसके अन्तर्गत लगभग 1104 कि० मी० लम्बी नहरें तथा 3360 कि० मी० से अधिक लम्बी इनकी उपशाखाएँ हैं जिनसे पंजाब, हरियाणा एवं राजस्थान की 14.6 लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त है। 1976-77 ई० में इससे 16 लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई थी। इस योजना का व्यय 175.1 करोड़ रुपये हैं। इसके अतिरिक्त भाखरा के दायें तट पर एक दूसरा



बिजली घर बनाया गया है जिसका अनुमानित व्यय 59.7 करोड़ रुपये है तथा जिससे 6 लाख कि० वा० जल-विद्युत् के उत्पादन की आशा है। पंजाब पुनर्संगठन योजना के अन्तर्गत अक्टूबर, 1967 में एक Bhakra Management Board स्थापित किया गया जो आजकल इसकी व्यवस्था करता है।

2. दामोदर घाटी योजना (Damodar Valley Project) :—इस बहुदेशीय नदी घाटी योजना का प्रधान उद्देश्य दामोदर तथा इसकी सहायक नदियों को बंध में करना है जो प्रतिवर्ष भीषण बाढ़ों के द्वारा बिहार के छोटानागपुर तथा बंगाल के एक बहुत बड़े हिस्से को क्षतिग्रस्त करती रही हैं। इस योजना का निर्माण अमेरिका की टीनेसी घाटी योजना (T. V. A.) के आधार पर किया गया है। योजना को कार्यान्वित करने के लिए 1948 में दामोदर घाटी निगम (Damodar Valley Corporation) नामक एक निगम की स्थापना की गयी।

दामोदर घाटी योजना बिहार, पश्चिमी बंगाल तथा केन्द्रीय सरकार की सम्मिलित योजना है। इस योजना के दो भाग हैं—प्रथम भाग, जिसका कार्य 1948 में प्रारम्भ किया गया, में निम्नलिखित की व्यवस्था थी—(1) चार बड़े-बड़े बांध—तिलैया, कोनार, मैथन तथा पंचेत-हिल एवं साथ में कोनार, के अतिरिक्त अन्य तीन स्थानों में कुल 1.04 लाख कि० वा० संस्थापित क्षमता के एक-एक जल-विद्युत् उत्पादन केन्द्र की स्थापना; (2) बोकारो, दुर्गापुर तथा चन्द्रपुरा में कुल 9.57 लाख कि० वा० क्षमता के तीन थर्मल पावर स्टेशन, (3) विस्तृत विद्युत् की लाइन (Transmission line) तथा विद्युत्-उत्पादन के उप-केन्द्र, (4) दुर्गापुर में एक सिंचाई बांध तथा 1550 मील लम्बी नहर-व्यवस्था जिसमें 85 मील तक जहाज चलाये जा सकते हैं। प्रथम योजना काल में इस योजना का केवल प्रथम भाग ही पूरा होने को था जो पूरा हो गया बराकर नदी पर 1200 फीट लम्बा तथा 99 फीट ऊँचा तिलैया बांध का 1953 में भूतपूर्व प्रधान मन्त्री पं० नेहरू द्वारा उद्घाटन हुआ। इससे 40 हजार कि० वा० विद्युत् उत्पादन की जा सकती है। कोनार नदी पर 910 फीट लम्बा कोनार बांध भी मई, 1954 में तैयार हुआ। इसके जलाशय का जल आजकल बोकारो थर्मल पावर स्टेशन को ठंडा करने के लिए प्रयोग किया जाता है। बोकारो का थर्मल पावर स्टेशन, जो पूर्व का सबसे बड़ा थर्मल स्टेशन है, 1953 ई० में तैयार हुआ। इसकी वर्तमान क्षमता 1,50,000 कि० वा० की है इसका विस्तार किया गया है जिससे इसकी संस्थापित क्षमता में 75 हजार कि० वा० की और वृद्धि हुई है। बराकर नदी पर मैथन बांध का भी उद्घाटन भूतपूर्व प्रधान मंत्री पं० नेहरू द्वारा 1957 ई० में हुआ। वहाँ पर जमीन

के नीचे एक विद्युत्-उत्पादन केन्द्र है जिसकी संस्थापित क्षमता 60 हजार कि० वा० की है। पंचेतहिल के बांध का कार्य भी 1959 ई० में पूरा हो गया। बांध के समीप 40 हजार कि० वा० संस्थापित क्षमता का एक विद्युत् उत्पादन केन्द्र भी बनाया गया है, जिसका उद्घाटन सितम्बर, 1959 ई० में हुआ। दुर्गापुर का सिंचाई बांध जो 692 मीटर लम्बा तथा 11.6 मीटर ऊँचा है, 1955 ई० में तैयार हुआ। नहर-व्यवस्था के अन्तर्गत नदी के दोनों किनारों से दो नहरें निकाली जा रही हैं। शाखाओं सहित नहर-व्यवस्था की कुल लम्बाई 1550 मील होगी। इसमें से बायें किनारे की नहर में 85 मील तक नाव या जहाज चलाये जा सकते हैं। यह कलकत्ता तथा रानी-गंज के कोयला-क्षेत्रों के बीच यातायात का एक अतिरिक्त साधन प्रदान करेगी। मुख्य नहर का कार्य प्रायः पूरा हो गया है तथा शाखाओं पर अभी कार्य चल रहा है। 15,000 कि० वा० क्षमता का दुर्गापुर थर्मल पावर स्टेशन भी कार्य करने लगा है। चन्द्रपुरा थर्मल पावर स्टेशन की संस्थापित क्षमता प्रारम्भ में, 2,70,000 कि० वा० होगी तथा यहाँ से मुख्यतः रेल चलाने के लिए बिजली प्रदान की जायगी। इसका एक भाग 1964 ई० में चालू किया गया। इस प्रकार दामोदर योजना के प्रथम भाग का कार्य प्रायः पूरा हो गया। इसका खर्च 86 करोड़ रुपये आंका गया था। तृतीय योजनाकाल में 1.25 लाख कि० वा० क्षमता के दो और केन्द्र इस योजना के अन्तर्गत चन्द्रपुरा तथा दुर्गापुर में स्थापित करने की व्यवस्था थी जिनसे इसकी कुल संस्थापित क्षमता 9.70 लाख कि० वा० हो जाने को थी। साथ ही, योजना के प्रथम भाग से 10.4 लाख एकड़ भूमि में सिंचाई-प्राप्ति की व्यवस्था है। योजना के द्वितीय भाग में बालपहारी (Balphari), बोकारो, आयर (Aiyar) एवं बर्मो (Beromo) में चार बड़े-बड़े बांध तथा साथ में जल-विद्युत् उत्पादन-केन्द्र स्थापित करने का आयोजन है।

योजना के प्रथम भाग से बिहार को बिजली की सुविधा तथा बंगाल को अधिक सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई है। इसके द्वारा उत्पन्न बिजली का प्रयोग छोटानागपुर तथा दक्षिणी बिहार के औद्योगिक केन्द्रों में किया जा रहा है। आजकल उत्तर बिहार को भी दामोदर घाटी निगम से बिजली प्रदान की जाती है।

3. हीराकुड योजना (Hirakud dam Project) :—उड़ीसा में सम्बलपुर से 10 कि०मी० ऊपर महावदी के जल से हीराकुड नामक स्थान में सिंचाई एवं बिजली उत्पादन करने के लिए यह योजना कार्यान्वित की गयी है। 4800 मीटर लम्बा हीराकुड बांध संसार का प्रायः सबसे लम्बा बांध है। बांध के निकट एक बिजली घर बनाया गया है जिसकी संस्थापित आरंभिक क्षमता 1,23,000 कि० वा० की है। बिजली घर तैयार हो गया है तथा यहाँ



से रूरकेला, जोड़ा एवं राजगंजपुर आदि स्थानों को बिजली प्रदान की जाती है। इस योजना को दो चरणों में पूरा किया जा रहा है। प्रथम चरण का कार्य 68 करोड़ रुपये के व्यय से पूर्ण रूप से पूरा हो गया है तथा इससे उड़ीसा के 5.53 लाख हेक्टर भूमि में स्थायी सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई है। प्रथम चरण के सहायक के रूप में 58.4 करोड़ रुपये के व्यय से महानदी डेल्टा सिंचाई योजना का कार्य कार्यान्वित किया गया है जिससे 6.8 लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई होने की आशा है।

द्वितीय चरण में 14.2 करोड़ रुपये व्यय का अनुमान है। द्वितीय चरण का कार्य समाप्त हो गया है। इसमें 72 हजार कि० वा० क्षमता का चिपिमा में एक बिजली घर बनाया गया है तथा हीराकुड के बिजली घर की क्षमता में 75 हजार कि० वा० की वृद्धि की गयी है, अतः अब इस योजना की कुल सस्थापित क्षमता 2,70,000 कि० वा० हो गयी है।

4. कोशी योजना (Kosi Project) :—यह बिहार की प्रमुख नदी घाटी योजना है। इसके द्वारा विपद्वाहिनी नदी कोशी के नियन्त्रण का प्रयत्न किया गया है। कोशी नदी सदियों से अपनी भयंकर बाढ़ों द्वारा उत्तरी बिहार को क्षतिग्रस्त करती आ रही है। अतः इसे 'उत्तरी बिहार का शोक' (Sorrow of North Bihar) कहा जाता है। यह इस क्षेत्र को प्रतिवर्ष अपने नाश के ताण्डव की लीला-भूमि बनाती रही है। बाढ़ के समय यह कई धाराओं द्वारा अपने समस्त क्षेत्र को प्रवाहित करती है जिससे इस क्षेत्र में यातायात की व्यवस्था भी छिन्न-छिन्न हो जाती है। इसकी धारा में बराबर परिवर्तन होते रहते हैं। गत 200 वर्षों में यह अपनी मुख्य धारा से 100 कि० मी० अलग होकर बहने लगी है। इस प्रकार उपरोक्त विभिषिकाओं के द्वारा कोशी सदियों से उत्तरी बिहार को क्षतिग्रस्त करती रही है। इस विपद्वाहिनी को नियन्त्रित करने के लिए 14 जनवरी, 1956 ई० से इस योजना का कार्यान्वयन प्रारम्भ हुआ।

इस योजना के अन्तर्गत निम्नांकित कार्य की व्यवस्था है :—

(1) नेपाल में हनुमाननगर से लगभग 4 मील ऊपर आवश्यक जलमोड़ बाँधों के साथ एक मील लम्बा बाँध का निर्माण किया गया है जो जून, 1962 ई० में पूरा हो गया। ये जलमोड़-बाँध बाँध के पूर्व एवं पश्चिम दिशा में प्रत्येक 8 मील लम्बे हैं।

(2) दोनों ओर बाढ़ से सुरक्षा के लिए बाँध के नीचे पश्चिम में 70 मील लम्बा तथा पूर्व में 60 मील लम्बा तटबन्ध बनाये गये हैं। इनका कार्य भी प्रायः पूरा हो गया है। इसके साथ ही पूर्वी जलमोड़-बाँध के ऊपर 12 मील लम्बा एक जलमोड़-बाँध तटबन्ध भी बनाया जा रहा है।

3. नदी की पूर्वी दिशा से एक नहर निकाली जा रही है जिससे पूर्णिया तथा सहरसा जिले की कुल 5.8 लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई हो सकेगी। यह नहर भीमनगर से अररिया तक होगी। इसकी चार शाखाएँ होंगी जो पूर्णिया, सुपौल तथा अररिया से होकर गुजरेंगी। सिंचाई के साथ-साथ इस नहर-व्यवस्था से 9.4 लाख हेक्टर बंजर भूमि को कृषि-योग्य बनाने की आशा है। मुख्य नहर की खुदाई का अधिकांश कार्य पूरा हो गया है। 9 जुलाई, 1964 ई० को इस नहर का उद्घाटन हुआ।

4. हनुमाननगर भीमनगर राज के निकट से पुरानी धाराओं को खोदकर चालू किया जायगा जिससे बाढ़ का जल छिट-पुट होकर बह सकता है।

उपरोक्त कार्यक्रमों के अतिरिक्त इस योजना के द्वितीय चरण में निम्नांकित कार्यक्रमों की व्यवस्था है :—

(क) तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में कोशी योजना से दो और नहर निकालने की स्वीकृति दी गयी-पश्चिमी नहर तथा राजपुर नहर। पश्चिमी नहर से दरभंगा जिले की 3.25 लाख हेक्टर तथा राजपुर नहर से सहरसा एवं मुंगेर जिलों की 1.60 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा मिलेगी। इस प्रकार कोशी नहर-व्यवस्था के पूरा होने पर कुल 1.90 लाख मन अधिक अन्न का उत्पादन होगा। पश्चिमी नहर से नेपाल की 12,920 हेक्टर भूमि की सिंचाई होगी।

(ख) पूर्वी नहर के सिरे पर एक जल-विद्युत्-केन्द्र स्थापित किया जायगा जिसकी संस्थापित क्षमता 20 हजार कि० वा० की होगी। इसकी आधी शक्ति नेपाल को तथा आधी बिहार को प्रदान की जायगी।

कोशी योजना का अनुमानित व्यय प्रायः 110 करोड़ रुपये है। इसके सम्पादन में अभी तक पर्याप्त सफलता मिली है। तटबन्धों का कार्य भी पूरा हो गया है। इसमें जन-सहयोग ने प्रशंसनीय कार्य किया है। हनुमाननगर बाँध का कार्य भी प्रायः पूरा हो गया है। भीमनगर से बथनाहा तक सामान ले जाने के लिए नौरो गेज की रेलवे लाइन बँटायी गयी है। नहर की खुदाई का कार्य भी हो गया है। पश्चिमी नहर का कार्य पाँचवीं योजना में पूरा होगा। इससे उत्तरी बिहार को चतुर्दिक् लाभ की आशा की जाती है।

5. चम्बल योजना :—यह मध्य प्रदेश तथा राजस्थान सरकारों की सम्मिलित योजना है। इस योजना के अन्तर्गत यमुना की प्रमुख सहायक नदी चम्बल पर चौरसीगढ़ से कोटा तक की लगभग 80 कि० मी० की दूरी में 3 बाँध बनाने का प्रावधान है। योजना के प्रथम चरण में गाँधी सागर बाँध, गाँधी सागर विद्युत्-गृह, ट्रांसमिशन, कोटा (Kotha) बाँध तथा इसके दोनों ओर नहरें बनाने का कार्यक्रम सम्मिलित किया गया है। गाँधीसागर बाँध जलाशय में 68.5 लाख एकड़ फीट पानी आ सकेगा तथा नहर प्रणाली



## प्राकृतिक साधन एवं आर्थिक विकास

से राजस्थान और मध्य प्रदेश की 4.46 हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त होगी। गाँधी सागर शक्ति-गृह-विद्युत-उत्पादन की चार इकाइयों (Generating Sets) की संस्थापित क्षमता का अनुमान 80,000 किलोवाट है। इनमें से तीन इकाइयों में उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हो गया है। गाँधी सागर बाँध तथा तत्सम्बन्धित शक्ति-गृह भी पूरा हो गया है। कोटा बाँध तथा तत्सम्बन्धित नहर-प्रणाली का निर्माण कार्य भी पूरा हो चुका है तथा 20 नवम्बर, 1960 ई० से इससे सिंचाई के लिए पानी उपलब्ध होने लगा है। योजना के द्वितीय चरण में चम्बल नदी पर कोटा शहर से 35 मील ऊपर चितौड़ जिले में चूलिया जल-प्राप्त के निकट राणाप्रताप सागर बाँध तथा तत्सम्बन्धित शक्ति-गृह के निर्माण का कार्यक्रम सम्मिलित है। इसके निर्माण का कार्य भी अब पूरा हो गया है। इस भाग के पूरा हो जाने पर 1.21 लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई हो सकेगी तथा 10,000 किलोवाट विद्युत् का उत्पादन होगा। चम्बल योजना के प्रथम चरण के कार्यक्रम की अनुमानित लागत 70 करोड़ रु० तथा द्वितीय चरण के कार्यक्रम का अनुमानित व्यय 17 करोड़ रु० है। यह योजना पूरी हो गयी है। 16 करोड़ रुपये के व्यय से इसे योजना के तृतीय चरण का कार्य प्रारम्भ किया गया है जिसके अन्तर्गत जवाहर सागर बाँध तथा 33 हजार कि० वा० क्षमता के तीन एवं 60 हजार कि० वा० की क्षमता के एक विद्युत्-गृह का निर्माण किया जा रहा है। इस प्रकार इस योजना के पूरा होने पर इससे 5.66 लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई होगी तथा 3.86 लाख कि० वा० विद्युत् उत्पन्न होगी।

6. गंडक योजना (Gandak project) :—गंडक योजना के सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल का कार्य 1947 ई० में ही प्रारम्भ हुआ था। जाँच-पड़ताल के बाद 1951 ई० में इसका स्वरूप तैयार किया गया, किन्तु बिहार सरकार ने पहले कोशी योजना को प्राथमिकता दी जिससे इसके कार्य में कुछ देर हो गयी। पुनः इस सम्बन्ध में नेपाल सरकार से बातचीत प्रारम्भ हुई और अन्ततः 4 दिसम्बर, 1958 ई० को बाँध के सम्बन्ध में नेपाल सरकार से एक समझौता हुआ तथा 4 मई, 1964 ई० को इस बाँध का शिलान्यास हुआ। बिहार तथा उत्तर प्रदेश राज्य इसमें सम्मिलित हैं तथा नेपाल को भी इससे विद्युत् एवं सिंचाई की सुविधा प्राप्त होने की आशा है।

गंडक योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यक्रमों की व्यवस्था है :—

1. त्रिवेणी नहर के उद्गम स्थान से 1000 फीट नीचे भैरालोटन (Bhainsalotan), जिसे अब बाल्मीकि-नगर कहा जाता है, में 75 मीटर लम्बी सड़क के साथ-साथ एक बाँध बनाया जायगा। बाँध का आधा भाग भारत में तथा आधा भाग नेपाल में पड़ेगा।

2. बाँध के दोनों किनारे से नहरें निकाली जायँगी। पश्चिमी किनारे की मुख्य नहर-द्वयवस्था से छपरा जिले की प्रायः 5 लाख हेक्टर तथा उत्तर प्रदेश के गोरखपुर एवं देवरिया जिले की 3 लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई होगी। पश्चिमी किनारे से भी एक और नहर निकाली जायँगी जिससे नेपाल की 16 हजार हेक्टर भूमि की सिंचाई होगी।

3. पूर्वी किनारे की नहर से बिहार के मुजफ्फरपुर, चम्पारण तथा दरभंगा जिले की 6.73 लाख हेक्टर भूमि तथा नेपाल की प्रायः 47 हजार हेक्टर भूमि की सिंचाई होगी।

4. मुख्य पश्चिमी नहर पर एक जल-विद्युत्-केन्द्र स्थापित किया जायगा जिसकी संस्थापित क्षमता 15 हजार कि० वा० की होगी। यह विद्युत् केन्द्र नेपाल सरकार को अनुदान के रूप में दिया जायगा।

यह योजना बिहार एवं उत्तर प्रदेश राज्यों की सम्मिलित योजना है। इस योजना का अनुमानित व्यय 170 करोड़ रुपये है।<sup>1</sup> इसकी अन्तिम सिंचाई क्षमता 15 लाख हेक्टर भूमि की है जिसमें से 12 लाख हेक्टर बिहार में, 3 लाख हेक्टर उत्तर प्रदेश में तथा 0.50 लाख हेक्टर-भूमि नेपाल में होगी।<sup>2</sup>

7. रिहान्द बाँध योजना (Rihand Dam Project) :—उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में पीपरी नामक स्थान पर सोन की सहायक रिहान्द नदी के आर-पार 300 फीट ऊँचा तथा 3,065 फीट लम्बा एक बाँध बनाया गया है जिसका उद्घाटन 7 जनवरी, 1963 ई० को किया गया। इस योजना पर 1954 ई० से ही नियमित रूप से कार्य चल रहा है। इस पर कुल 37.5 करोड़ रुपये व्यय हुए हैं जिसके लिए अमेरिका से भी सहायता प्राप्त हुई थी। योजना के अन्तर्गत 180 वर्गमील का एक पन्तसागर नामक एशिया का सबसे बड़ा मनुष्यकृत जलाशय बनाया गया है जिसमें 76 लाख एकड़ फीट जल एकत्रित हो सकता है। इस जलाशय के निर्माण से 188 वर्गमील क्षेत्र में सिंचाई हो सकेगी जिसमें से 85,000 एकड़ भूमि उत्तर प्रदेश और शेष मध्य प्रदेश में है। रिहान्द बाँध योजना के अन्तर्गत 2.5 लाख कि० वा० क्षमता का एक विद्युत्-केन्द्र स्थापित किया गया है। इस योजना द्वारा उत्पादित बिजली हिन्दुस्तान अल्यूमिनियम कारपोरेशन लि० (Hindustan Aluminium Corporation Ltd.) और सीमेंट एवं सोडा गैस कारखानों, वाराणसी के विद्युत् इंजन की फैक्ट्री तथा उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश राज्यों में बाँध के समीपवर्ती भागों में स्थित अन्य कारखानों को प्रदान की जाती है। मुगलसराय और कानपुर के बीच चलने वाली रेलों के लिए तथा उत्तर प्रदेश और बिहार

1. India-1976

2. Planning Commission : Annual Plan. 1966-67.



## भारतीय अर्थशास्त्र

के ट्यूब वेल्स को भी इस बाँध द्वारा बिजली प्रदान करने की व्यवस्था की गयी है। पाँच लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करनेवाली विहार की नहरों को इस योजना के जलाशय से पानी दिया जायगा। लगभग 14 लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करने वाले उत्तर प्रदेश के ट्यूब वेल्स (Tube-wells) को बिजली प्रदान करने के साथ-साथ इस योजना से उत्तर प्रदेश के लगभग 600 गाँवों और नगरों को भी बिजली प्रदान की जायगी।

‘पंतसागर’ जलाशय से छोड़ा गया जल 20 मील नीचे 1 लाख किलोवाट की संस्थापित क्षमता वाले ओबरा (Obra) नामक शक्ति-गृह के काम आता है। इस योजना के अन्तर्गत एक थर्मल पावर स्टेशन रूस की सहायता से बनाया जायगा जिसकी संस्थापित क्षमता 2.5 लाख किलोवाट होगी।

इसके अतिरिक्त भारत में और बहुत-सी नदी घाटी योजनाओं पर कार्य चल रहे हैं जिनसे विद्युत् एवं सिंचाई की सुविधा प्राप्त की जायगी। आंध्र एवं कर्नाटक राज्यों की सम्मिलित योजना के रूप में तुंगभद्रा योजना

पर भी कार्य चल रहा है। इस योजना से 28 हजार कि० वा० बिजली उत्पन्न होगी। महाराष्ट्र की योजना कोयना से 2.3 लाख किलो वा० बिजली-उत्पन्न होगी। इस प्रकार देश के विभिन्न भागों में बहुत-सी नदी-घाटी योजनाओं पर कार्य चल रहा है जिनसे पर्याप्त मात्रा में जल-विद्युत् उत्पन्न करने का आयोजन है।

निष्कर्ष :—भारत के प्राकृतिक साधनों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि यहाँ पर प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता है। दूसरे शब्दों में, प्रकृति ने हमें अपने उपहार प्रदान करने में अति उदारता दिखलायी है। किन्तु दुःख है कि अभी तक हम इसका समुचित उपयोग नहीं कर पाये हैं जिससे हम अन्य देशों की अपेक्षा बहुत ही निर्धन हैं। इसलिए भारत को ‘निर्धनों से बसा हुआ एव समृद्ध राष्ट्र’ कहते हैं। कहा भी जाता है कि “भारत धनी है, किन्तु भारतीय निर्धन हैं।” (India is rich, but Indians are poor.) किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत देश के आयोजित आर्थिक विकास का प्रयास किया जा रहा है। इन योजनाओं में प्राकृतिक साधनों के विकास की गति को भी तीव्र बनाया जा रहा है।

## विशेष अध्ययन-सूची

- |                        |                                                    |
|------------------------|----------------------------------------------------|
| 1. Govt. of India      | : Search for Minerals in India (1964).             |
| 2. NCAER               | : Demand for Energy in India 1950 to 1975          |
| 3. Govt. of India      | : India 1976                                       |
| 4. Planning Commission | : Third, Fourth and Fifth Five Year Plans of-India |
| 5. Planning Commission | : Draft Five Year Plan (1978-83)                   |



## अध्याय : 3

भारतवर्ष की जनसंख्या  
(Population of India)

“पुत्र के जन्म से मनुष्य को सब लोकों पर विजय प्राप्त होती है, पौत्र के जन्म से वह अमर हो जाता है एवं तत्पश्चात् प्रपौत्र के जन्म से उसको सूर्य लोक मिलता है।” : मनुस्मृति।

“भारतवर्ष की जनसंख्या को नियन्त्रित करना राष्ट्रीय कल्याण एवं नियोजन की दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।”

जनसंख्या एवं आर्थिक विकास (Population and Economic Growth):—किसी देश की आर्थिक समृद्धि प्रधानतया दो बातों पर निर्भर करती है—प्रयत्नतः, प्राकृतिक साधन, जिनमें मिट्टी, जलवायु, भौगोलिक स्थिति तथा खनिज एवं शक्ति के साधन आदि प्रमुख हैं एवं द्वितीयतः मानव-कारक (Human factor) जिसमें सक्रिय जनसंख्या की राशि एवं गुण सम्मिलित हैं। किन्तु इन दोनों में मनुष्य की ही प्रधानता है क्योंकि साधनों का समुचित उपयोग देशवासियों की संख्या एवं स्वभाव पर ही आश्रित है। सभ्यता एवं ज्ञान में विकास के साथ-साथ प्रकृति पर मानव का स्वामित्व निरन्तर बढ़ते जा रहा है। वह अपनी इच्छा एवं आवश्यकतानुसार साधनों में अनुकूलता प्रदान करता है। अतः उत्पादन में, मानव सक्रिय सहयोग प्रदान करता है। वास्तव में वह उत्पादन का साधन एवं साध्य दोनों ही है। प्राकृतिक साधनों की विपुलता के बावजूद यदि किसी देश की जनसंख्या गुण एवं मात्रा दोनों दृष्टि से हीन है तो वह देश आर्थिक विकास के दौरान निश्चय ही पीछे रह जायगा। इस प्रकार किसी देश का आर्थिक विकास वहाँ के निवासियों पर इतना अधिक निर्भर करता है कि उसके विभिन्न स्वरूपों की जाँच किए वगैर आर्थिक समस्याओं का अध्ययन प्रायः अधूरा ही रह जाता है।

भारत एक निर्धन देश है तथा इसकी निर्धनता आज विश्व में सामान्य चर्चा का विषय बन गयी है। यहाँ की प्रति व्यक्ति आय बहुत ही निम्न है तथा लोगों का जीवन-स्तर संसार के प्रायः सभी सुसभ्य देशों से निम्न है। हमारी यह अत्यधिक निर्धनता प्राकृतिक विपुलता के बीच बनी हुई है। इस प्रकार देश की आर्थिक स्थिति सुधारने

1. “Countries that practice death control must also practice birth control or prepare now for a time when their people will have to live standing up because there won't be room to sit down or lie down.”

—Dr. Clement Market.

तथा जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए भारतीय आर्थिक जीवन का गंभीर एवं वैज्ञानिक अध्ययन अनिवार्य होता है। अतः आर्थिक विकास की किसी भी योजना में निम्नांकित प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है—देशवासियों की संख्या कितनी है? पिछले वर्षों में इस संख्या में किस गति से वृद्धि हुई है तथा इसका देश की आर्थिक व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा है? देशवासियों की आजीविका के प्रमुख साधन क्या हैं? यदि देश की जनसंख्या आवश्यकता से अधिक है तो जन-धन्य की समस्या के समाधान के लिए क्या प्रयत्न किये जाने चाहिए आदि। जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए इन प्रश्नों पर समुचित ध्यान देना आवश्यक हो जाता है।

जनसंख्या-सम्बन्धी संक्रमण का सिद्धान्त  
(Theory of Demographic Transition)

जनसंख्या-सम्बन्धी संक्रमण के सिद्धान्त के अनुसार कोई अर्थ-व्यवस्था आर्थिक विकास के दौरान जन्म-दर एवं मृत्यु-दर की दृष्टि से चार पृथक्-पृथक् स्तरों से होकर गुजरती है।

प्रथम स्तर स्थिरता की स्थिति है। इसमें जन्म-दर एवं मृत्यु दर दोनों ही अत्यधिक ऊँची होती है जिससे जनसंख्या प्रायः स्थायी रहती है। वास्तव में, एक पिछड़ी हुई कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था में जन्म-दर तथा मृत्यु-दर दोनों ही अत्यधिक ऊँची होती हैं। मृत्यु-दर निर्धनता, पौष्टिक भोजन तथा स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं के अभाव आदि के कारण अधिक होती है। इसी प्रकार पिछड़े हुए देशों की सामाजिक प्रथाएँ तथा अन्धविश्वास के कारण जन्म-दर अधिक होती है। साथ ही, कृषि-प्रधान समाज में बड़ा परिवार अधिक लाभदायक होता है। कोल एवं हूवर (Cole and Hoover) का इस सम्बन्ध में निम्नांकित कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है: “Children contribute at an early age...and are the traditional sources of security in the old



age of parents. The prevalent high death rates, especially in infants imply that such security can be attained only when many children are born." जन्म तथा मृत्यु-दर दोनों अधिक होने के कारण इस स्तर में जनसंख्या की वास्तविक वृद्धि की दर बहुत अधिक नहीं होती।

द्वितीय स्तर जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि का स्तर है। जब किसी देश की अर्थ-व्यवस्था विकास की ओर उन्मुख होती है तो मृत्यु-दर में बहुत कमी होने लगती है, किन्तु जन्म-दर प्रायः ज्यों-की-त्यों रह जाती है। पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक भोजन, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुविधाओं में वृद्धि आदि के कारण मृत्यु-दर कम होने लगती है। किन्तु, जन्म-दर को प्रभावित करनेवाले कारणों जैसे सामाजिक एवं धार्मिक रीति-रिवाज आदि में बहुत धीरे-धीरे परिवर्तन होने के कारण जन्म-दर में प्रायः कोई कमी नहीं होती। अतएव, द्वितीय स्तर में जनसंख्या में वास्तविक वृद्धि बहुत अधिक होती है। इसीलिए इसे जनसंख्या के विस्फोट (Population explosion) का स्तर भी कहते हैं।

तृतीय स्तर में मृत्यु-दर में और भी कमी होने लगती है। इसमें जन्म-दर में भी कमी होती है, किन्तु मृत्यु-दर में अधिक तीव्र गति से कमी होती है जिससे इस स्तर में भी जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि होती है। किन्तु इस स्तर तक आते-आते कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था धीरे-धीरे औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तित होने लगती है तथा जनसंख्या गाँवों से नगरों की ओर स्थानान्तरित होने लगती है। पारिवारिक सम्बन्धों का महत्त्व धीरे-धीरे घटने लगता है। साथ ही, आर्थिक प्रगति से प्राचीन विश्वासों तथा रीति-रिवाजों का महत्त्व घटने लगता है।

चतुर्थ तथा अन्तिम स्तर में जन्म-दर एवं मृत्यु-दर दोनों के निम्न-स्तर पर स्थायी होने से जनसंख्या में वृद्धि की गति भी बहुत ही मंद पड़ जाती है। इस स्तर में उद्योग-धन्धों की प्रधानता बढ़ जाती है। इसमें उद्योग-धन्धों के विकास के कारण जनसंख्या का प्रवाह गाँवों से शहरों की ओर होने लगता है। शहरी जनसंख्या में वृद्धि तथा औरतों के बाहर काम करने के परिणामस्वरूप लोग परिवार के आकार में स्वेच्छापूर्वक कमी करने लगते हैं। इससे जन्म-दर में भी बहुत कमी आ जाती है। इस सम्बन्ध में कोल एवं हूवर<sup>1</sup> का निम्नांकित कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है: "One of the features of economic development is typically increasing urbanization and children are usually more

of a burden and less of an asset in an urban setting than in a rural." बच्चों के सम्बन्ध में लोगों की आम धारणा "एक आनन्द, दो भीड़ तथा तीन अव्यवस्थानीय" (One Pleasure, two crowd and three unmanageable) की हो जाती है। इस प्रकार चतुर्थ तथा अन्तिम स्तर में विकसित अर्थ-व्यवस्था में जन्म-दर एवं मृत्यु-दर में निम्न-स्तर पर एक नया संतुलन स्थापित कर लेती है जिससे जनसंख्या में बहुत कम वृद्धि होती है।

भारत में पिछले कुछ वर्षों से मृत्यु-दर में धीरे-धीरे कमी हो रही है, जैसा कि अगले पृष्ठ की तालिका से स्पष्ट है। 1941 ई० के बाद मृत्यु-दर में निरन्तर रूप से कमी हो रही है, किन्तु जन्म-दर में इस प्रकार की कमी नहीं हो पाती। सारांश यह है कि भारत अभी जनसंख्या सम्बन्धी संक्रमण के द्वितीय स्तर से ही गुजर रहा है परिणामस्वरूप इसकी जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि हो रही है।

**भारतीय जनसंख्या का आकार (Size of the Indian Population) :**—भारत की जनसंख्या के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात इसका बड़ा आकार है। जनसंख्या की दृष्टि से यह चीन के बाद विश्व का दूसरा सबसे अधिक जनसंख्या वाला देश है। विश्व की सम्पूर्ण जनसंख्या के प्रायः छठा भाग लोग यहाँ निवास करते हैं। 1971 ई० की जनगणना<sup>2</sup> के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या 54 करोड़ 79 लाख यानी 54.8 करोड़ है। इनमें से 28 करोड़ 40 लाख पुरुष तथा 26 करोड़ 40 लाख औरतें हैं, यानी हमारे देश में औरतों की औसत संख्या प्रति एक हजार पुरुषों पर 930 है।

भारत में उत्तरी मैदान देश का सबसे घना आबाद प्रदेश है। इसका प्रधान कारण इस भाग की उत्तम जलवायु तथा उपजाऊ भूमि है। इसके बाद दक्षिणी पठार का स्थान है और सबसे कम जनसंख्या का घनत्व उत्तर के पहाड़ी प्रदेशों में है।

### भारतीय जनसंख्या में वृद्धि (Growth of the Indian Population)

भारत की जनसंख्या केवल विशाल ही नहीं, वरन् उत्तरोत्तर विशालतर होती जा रही है। देश की वर्तमान

1. भारत एवं पाकिस्तान की सम्मिलित जनसंख्या रूस को छोड़कर शेष यूरोप की जनसंख्या के लगभग बराबर है तथा अफ्रिका, उत्तरी अमेरिका एवं दक्षिणी अमेरिका महाद्वीपों की सम्मिलित जनसंख्या के लगभग बराबर है। ग्रेट ब्रिटेन की जनसंख्या से यह 9 गुनी तथा ऑस्ट्रेलिया की जनसंख्या से 65 गुनी अधिक है।

2. भारत में प्रति 10 वर्षों पर जनगणना होती है। अन्तिम जनगणना 1971 ई० में हुई थी। अगली जनगणना 1981 में होगी।

1. Cole A. J. and Hoover E. M.—Population Growth and Economic Development in Low-Income Countries PP. 1-11.



## भारतवर्ष की जनसंख्या

आर्थिक समस्याओं में यह निश्चय ही सर्वाधिक प्रमुख समस्या है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि प्रारम्भ में दीर्घकाल तक भारत की जनसंख्या लगभग स्थायी (Stationary) रही होगी। प्लेग, युद्ध, महामारी, अकाल आदि प्राकृतिक अवरोधकों की क्रियाशीलता के अतिरिक्त जनसंख्या के इस प्रकार स्थायी रहने का मुख्य कारण देश में दीर्घकाल तक शान्ति एवं सुरक्षा का सामान्य रूप से अभाव कहा जाता है। देश में शान्ति एवं सुरक्षा ब्रिटिश शासन काल की एक अपूर्व देन है। अतः उन्नीसवीं सदी के मध्य तक देश की जनसंख्या में प्रायः कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई थी। 'फलतः देश में उस समय तक जनाधिक्य की समस्या नहीं उत्पन्न हुई थी। किन्तु इसके बाद जनसंख्या में नियमित रूप से वृद्धि प्रारम्भ हुई जिससे देश में कृषि-योग्य भूमि का अभाव होने लगा। फलस्वरूप खाद्यान्न का अभाव तथा कृषि के समक्ष उपविभाजन एवं अपखण्डन जैसी बुराइयाँ उत्पन्न हो गयीं।

निम्नांकित तालिका<sup>2</sup> से 1901 से 1971 के बीच देश में जनसंख्या की वृद्धि का अन्दाजा लगाया जा सकता है :-

1. इस सम्बन्ध में Kingsly Davis ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'Population of India and Pakistan' में निम्नलिखित विवरण दिया है जो विशेष रोचक जान पड़ता है:-

भारत की जनसंख्या का 300 B. C. से लेकर 1871 ई० के बीच का अनुमान

| वर्ष       | जनसंख्या          |
|------------|-------------------|
| 300 B. C.  | 100 से 140 मिलियन |
| 1600 A. D. | 100 "             |
| 1800, " "  | 120 "             |
| 1834, " "  | 130 "             |
| 1846 A. D. | 130 मिलियन        |
| 1855, " "  | 175 "             |
| 1867, " "  | 194 "             |
| 1871, " "  | 215 "             |

2. प्रस्तुत आँकड़े केवल भारत संघ के अन्तर्गत के क्षेत्र की जनसंख्या को ही बतलाते हैं। India 1976-

भारत की जनसंख्या में वृद्धि<sup>3</sup> (1970-71)

| जनगणना वर्ष        | जनसंख्या (लाख में) | गत वर्षों में वृद्धि (+) या ह्रास (-) लाख में) | प्रतिवर्ष वृद्धि (+) या कमी (-) |
|--------------------|--------------------|------------------------------------------------|---------------------------------|
| 1901               | 2383               | ...                                            | ...                             |
| 1911               | 2520               | + 137                                          | + 5.8                           |
| 1921               | 2512               | ... 8                                          | + 0.4                           |
| 1931               | 2788               | + 276                                          | + 10.4                          |
| 1941               | 3185               | + 397                                          | + 12.7                          |
| 1951               | 3609               | + 424                                          | + 13.3                          |
| 1961               | 4390               | + 781                                          | + 21.4                          |
| 1971               | 5479               | + 1089                                         | + 24.8                          |
| 1901 ई० से 1971 ई० |                    | + 3096                                         | + 130.0                         |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1901 ई० से 1971 ई० के बीच 70 वर्षों में भारत की जनसंख्या में कुल 3096 लाख की वृद्धि हुई। किन्तु जनसंख्या की वृद्धि प्रत्येक दशाब्दी में एक समान रूप से नहीं हुई है। 1901 ई० से 1910 ई० के बीच भारत की जनसंख्या में 137 लाख, यानी 5.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई; किन्तु 1911 ई० से 1920 ई० के बीच जनसंख्या में पुनः 8 लाख यानी 0.4 प्रतिशत की कमी हुई; 1921 ई० से 1930 ई० के बीच जनसंख्या में 276 लाख यानी 10.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1931 ई० से 1940 ई० के बीच 397 लाख, यानी 12.7 प्रतिशत की वृद्धि हुई, 1941 ई० से 1950 ई० के बीच जनसंख्या में 424 लाख, यानी 13.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1951 ई० से 1960 ई० के बीच देश की जनसंख्या में प्रायः 781 लाख यानी 21.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई तथा 1961 एवं 1970 के बीच 1089 लाख की यानी 24.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई। यदि तीन दशक औसत की तुलना की जाय तो 1901 ई० से 1930 ई० के बीच जनसंख्या की औसत वृद्धि की दर 4.2 प्रतिशत प्रति दशक तथा 1931 ई० से 1961 ई० के बीच औसत 15.8 प्रतिशत प्रति दशक रही है।

वास्तव में, 1901 ई० से 1910 का समय ऋतुओं के अनुकूल होने के कारण असाधारण समृद्धि का था। साथ ही, यह दशक प्लेग, मलेरिया आदि बिमारियों से भी

1. 1951 ई० से 1960 ई० के बीच भारत की जनसंख्या में 7.8 करोड़ की वृद्धि हुई जो इंग्लैंड की जनसंख्या से प्रायः 1 1/2 गुनी, कनाडा की जनसंख्या से 5 गुनी तथा ब्राजिल की जनसंख्या से 2 गुनी अधिक है। केवल 1941 ई० से 1950 ई० के बीच देश की जनसंख्या में 4.2 करोड़ की वृद्धि हुई जो स्पेन, पुर्तगाल तथा स्विट्जरलैंड की सम्मिलित जनसंख्या के बराबर है।



मुक्त रहा। अतः इस अवधि में जनसंख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। किन्तु 1911 ई० से 1920 ई० के बीच वाले दशक में पुनः जनसंख्या में भारी कमी हुई। इसका प्रमुख कारण प्लेग, हैजा तथा मलेरिया आदि महामारियों का प्रकोप था जिनसे लाखों व्यक्तियों की मृत्यु हो गयी। इस दशक में केवल इन्फ्लुएंजा से 120 लाख से लेकर 130 लाख तक व्यक्तियों की मृत्यु हुई। साथ ही, अन्तिम तीन वर्षों में प्रथम महायुद्ध के साथ-साथ खराब ऋतुओं के कारण फसलों की कमी भी जनसंख्या में कमी के प्रमुख कारणों में से एक थी।

1921 ई० के बाद जनसंख्या में वृद्धि के कारण :— किन्तु 1921 ई० के बाद हम देश की जनसंख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि पा रहे हैं। इसके निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं :—  
(i) सिंचाई की सुविधा में वृद्धि (Increase in facilities for Irrigation) :—इसका सर्वप्रथम कारण 1921 ई० के बाद देश के विभिन्न भागों में सिंचाई की सुविधाओं में विस्तार है। सिंध एवं पंजाब में इसी समय सिंचाई-व्यवस्था का निर्माण हुआ जिससे वहाँ की अर्द्ध-मरुभूमि वाले क्षेत्रों में भी पर्याप्त मात्रा में उपज होने लगी। इसी प्रकार उत्तर-प्रदेश, बिहार तथा राजस्थान के कुछ क्षेत्रों में भी सिंचाई की व्यवस्था हुई। सिंचाई की सुविधा के कारण कृषि का कार्य बहुत ही निश्चित हो गया जिससे अकाल की भीषणता में बहुत कमी हुई।  
(ii) यातायात के साधनों का विकास (Development of the means of Transport)—इस युग में यातायात के साधनों, विशेषतः रेल एवं सड़कों का भी पर्याप्त मात्रा में विकास हुआ। सम्पूर्ण देश में रेल लाइनों तथा सड़कों का एक जाल-सा बिछ गया। इससे अकाल की भीषणता में कमी आयी।  
(iii) जन-स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं का विस्तार (Improvement in health and sanitation measures) :—देश की जनसंख्या में 1921 ई० के बाद नियमित रूप से वृद्धि का सर्वाधिक प्रधान कारण देश में जन-स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं में विस्तार है। 1930-31 ई० के बाद देश में इस सुविधाओं का पर्याप्त मात्रा में विस्तार हुआ। इससे मृत्यु-दर (death rate) में धीरे-धीरे कमी होने लगी और जन्म-दर में भी साथ-ही-साथ कोई कमी नहीं होने के कारण जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि होने लगी।

इस प्रकार 1921 ई० से भारत की जनसंख्या में नियमित रूप से वृद्धि का युग प्रारम्भ होता है। इसीलिए 1951 ई० की जनगणना के विवरण में 1921 ई० को 'महान विभाजक' (The Great Divide) कहा गया है; क्योंकि इसके पहले जनसंख्या न्यूनताधिक रूप में घटती हुई-सी थी, परन्तु इस वर्ष के बाद इसमें निरन्तर रूप से वृद्धि होती रही है। इसके पूर्व तक जनसंख्या एवं अन्न के उत्पादन में सन्तुलन था, किन्तु इसके पश्चात् यह धीरे-धीरे समाप्त

होने लगा। 1951 ई० से 1960 ई० के बीच देश की जनसंख्या में प्रतिवर्ष औसत रूप से 2.15 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में योजना आयोग ने 1951 ई० से 1960 ई० के बीच दस वर्षों में जनसंख्या में 12.5 प्रतिशत की वृद्धि का अनुमान किया था। इस आधार पर द्वितीय योजना के अन्त में यानी 1960-61 ई० में जनसंख्या का अनुमान 40 करोड़ लगाया गया था, किन्तु योजना आयोग का यह अनुमान सर्वथा गलत सिद्ध हुआ तथा 1961 ई० में देश की जनसंख्या बढ़कर 43.9 करोड़ हो गयी। 1971 ई० की जनगणना के अनुसार तो भारत की जनसंख्या में वार्षिक 2.48 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई।

इस तरह भारत की जनसंख्या की वृद्धि के उपरोक्त सभी कारण बतलाये जाते हैं। किन्तु भारत में जनसंख्या की वृद्धि का सबसे महत्वपूर्ण कारण देशवासियों की घोर निर्धनता तथा निम्न जीवन-स्तर है। "निर्धन लोगों को अधिक संतान होती है" यह एक सर्वविदित तथ्य है जिसका ज्वलंत उदाहरण भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या है।

किन्तु इस काल में भी जनसंख्या की वृद्धि प्रत्येक राज्य में एक समान रूप से नहीं हुई। 1961 से 1970 ई० के बीच आन्ध्र, बिहार, हिमाचल प्रदेश, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश तथा उड़ीसा में वृद्धि की दर 24.8 प्रतिशत से कम रही है तथा असम, गुजरात, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब, राजस्थान एवं पश्चिमी बंगाल में 24.8 प्रतिशत से भी अधिक वृद्धि हुई। वृद्धि की दर सबसे अधिक केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्रों में 45.3, असम में 33.5 तथा नागालैंड में 39.4 प्रतिशत रही है।

अन्य देशों की जनसंख्या में वृद्धि (Growth of Population in other Countries) :—निम्नलिखित तालिका से विश्व के कतिपय देशों में पिछले दशक में जनसंख्या में हुई वृद्धि का अन्दाजा लगता है :—

| देश            | औसत वार्षिक वृद्धि की दर (1951-60) |
|----------------|------------------------------------|
| आस्ट्रेलिया    | 2.3 प्रतिशत                        |
| कैनाडा         | 2.5 „                              |
| संयुक्त राज्य  | 1.7 „                              |
| अमेरिका        |                                    |
| जापान          | 1.2 „                              |
| पश्चिमी जर्मनी | 1.1 „                              |
| ब्रिटेन        | 0.4 „                              |
| भारत (1961-70) | 2.5 „                              |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1951-60 ई० के बीच जनसंख्या में वृद्धि की दर भारत (2.15 प्रतिशत) की अपेक्षा कैनाडा तथा आस्ट्रेलिया में अधिक थी। किन्तु ये सभी देश विकसित राष्ट्र हैं। साथ ही, इनकी जनसंख्या बहुत ही कम है। उदाहरण के लिए, उक्त दर पर कैनाडा की



## भारतवर्ष की जनसंख्या

जनसंख्या में प्रतिवर्ष 4.8 लाख की वृद्धि होती है जबकि भारत में वार्षिक वृद्धि अब 125 लाख से भी अधिक होती है।<sup>1</sup>

### भारत में जनसंख्या का घनत्व (Density of Population in India)

प्रति वर्ग कि० मी० में निवास करनेवाले व्यक्तियों की औसत संख्या को जनसंख्या का घनत्व कहते हैं। कोई देश प्रति वर्ग कि० मी० में कितनी जनसंख्या को आश्रय प्रदान कर सकता है यह उस देश के प्राकृतिक साधनों अथवा आर्थिक विकास के स्तर पर निर्भर करता है। 1971 ई० की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या का औसत घनत्व 178 व्यक्ति प्रति वर्ग कि० मी० है जबकि 1961 ई० की जनगणना के अनुसार यह केवल 142 व्यक्ति प्रतिवर्ग कि० मीटर था। जनसंख्या का यह औसत घनत्व प्रत्येक राज्य में एक समान नहीं है। इस सम्बन्ध में हमें इतनी अधिक विभिन्नता देखने को मिलती है कि 1971 ई० की जनगणना के अनुसार, जम्मू एवं कश्मीर में जनसंख्या का औसत घनत्व 42 व्यक्ति प्रति वर्ग कि० मी० से लेकर केरल में 549 तथा दिल्ली में 2738 तक है। पश्चिमी बंगाल में यह घनत्व 504, बिहार में 324 तथा मध्यप्रदेश में केवल 94 है।

हमारे देश में जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ जनसंख्या के औसत घनत्व में भी वृद्धि होती जा रही है जो निम्नलिखित तालिका<sup>2</sup> से स्पष्ट है :—

| वर्ष  | 1921 | 1931 | 1941 | 1951 | 1961 | 1971 |
|-------|------|------|------|------|------|------|
| घनत्व | 81   | 90   | 103  | 117  | 142  | 178  |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत में 1921 ई० के बाद जनसंख्या का घनत्व निरन्तर रूप से बढ़ता ही जा रहा है। जनसंख्या में नियमित रूप से वृद्धि के परिणामस्वरूप देश की जनसंख्या के औसत घनत्व में भी वृद्धि हो रही है। इसका प्रभाव यह हुआ है कि देश में आजीविका के अन्य साधनों के अभाव में कृषि पर जनसंख्या का बोझ निरन्तर बढ़ते जा रहा है, जोत छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होती जा रही है तथा कृषि की उपज में भी निरन्तर कमी होती जा रही है। ये सब इस बात के परिचायक हैं कि देश में जनसंख्या का घनत्व सर्वोत्तम से भी अधिक है।

1. पिछले कुछ वर्षों में विश्व की कुल जनसंख्या में भी बहुत तेजी के साथ वृद्धि हुई है। 1961 ई० में सम्पूर्ण विश्व की जनसंख्या अनुमानतः 313.5 करोड़ थी जो बढ़कर 1976 में 404.5 करोड़ हो गयी। 1966-76 ई० के बीच इसमें 1.9 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई।

### 2. India—1976

किसी देश में जनसंख्या के घनत्व को प्रभावित करने वाले अनेक कारण हैं, जिनमें वहाँ की जलवायु, वर्षा, भूमि की उपजाऊ-शक्ति, प्राकृतिक साधन, सिंचाई की सुविधा, आर्थिक विकास का स्तर आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हमारे देश में जनसंख्या का घनत्व वर्षा, सिंचाई की सुविधा, जलवायु, मिट्टी की आकृति, आर्थिक विकास तथा शान्ति एवं सुरक्षा की सुविधा पर निर्भर करता है। इस प्रकार देश के विभिन्न भागों में जनसंख्या के घनत्व में विभिन्नता के अनेक कारण हैं। किन्तु हमारे देश में जनसंख्या के घनत्व के सम्बन्ध में यह विभिन्नता बहुत हद तक हम भास्त्वसियों के घर नहीं छोड़ने की प्रवृत्ति तथा प्रवास-सम्बन्धी अन्य कठिनाइयों के कारण ही पायी जाती है।

भारत की जनसंख्या के घनत्व की विदेशों से तुलना:— अब हमें यह देखना है कि भारत में जनसंख्या का घनत्व वास्तव में अधिक है या कम। विदेशों से तुलना के द्वारा यह अधिक स्पष्ट हो जाता है। विश्व के कतिपय प्रमुख देशों में जनसंख्या का घनत्व इस प्रकार है:—

| देश | 1968 ई० में जनसंख्या का औसत घनत्व प्रति वर्ग कि० मी०<br>(Censity per sq. K. M.) |
|-----|---------------------------------------------------------------------------------|
|-----|---------------------------------------------------------------------------------|

|                 |     |
|-----------------|-----|
| जापान           | 273 |
| पश्चिमी जर्मनी  | 234 |
| युनाइटेड किंगडम | 227 |
| निदरलैंड        | 379 |
| भारत (1971)     | 178 |

उपरोक्त सभी देशों से भारत के घनत्व की तुलना करने पर भय का कोई कारण नहीं जान पड़ता। इन देशों में जनसंख्या का घनत्व भारत से निश्चित ही अधिक है, लेकिन उपरोक्त वर्ग के सभी देश औद्योगिक राष्ट्र होने के कारण अधिक जनसंख्या को सुगमतापूर्वक आश्रय प्रदान कर सकते हैं। किन्तु भारत एक कृषि-प्रधान देश है, अतः इसकी तुलना विश्व के कृषि-प्रधान राष्ट्रों के घनत्व के साथ से ही करनी चाहिए। जब हम भारत के घनत्व की तुलना विश्व के कृषि-प्रधान देशों से करते हैं तो इस समस्या की भीषणता का अन्दाजा लगता है :—

| देश | 1968 में जनसंख्या का औसत घनत्व प्रति वर्ग कि० मी०<br>(Density per sq. K. M.) |
|-----|------------------------------------------------------------------------------|
|-----|------------------------------------------------------------------------------|

|                                  |     |
|----------------------------------|-----|
| कैनाडा                           | 2   |
| संयुक्त राज्य अमेरिका (U. S. A.) | 21  |
| रूस (U. S. S. R.)                | 11  |
| भिन (U. A. R.)                   | 32  |
| भारत (1971)                      | 178 |

उपरोक्त वर्ग के देशों के साथ तुलना करने पर हम



इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत में जनसंख्या का घनत्व इस वर्ग के सभी देशों से अधिक है। यह हमारे लिए निश्चय ही चिन्ता का विषय है।

अतएव जनसंख्या के औसत घनत्व से किसी देश की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में कोई सामान्य निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है। जनसंख्या के घनत्व एवं आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध को जानने के लिए हमें प्रत्येक देश की आर्थिक व्यवस्था का पृथक्-पृथक् रूप से अध्ययन करना पड़ेगा। कोई देश सामान्यतया कितनी जनसंख्या को आश्रय प्रदान कर सकता है यह उस देश के प्राकृतिक साधनों तथा आर्थिक विकास के स्तर पर निर्भर करता है। एक औद्योगिक देश एक नितान्त कृषि-प्रधान देश की तुलना में अधिक व्यक्तियों को आश्रय प्रदान कर सकता है। भारत एक कृषि-प्रधान राष्ट्र है, अतः इसका औसत घनत्व निश्चय ही बहुत अधिक है। साथ ही, जनसंख्या का घनत्व भी बढ़ते जा रहा है। इससे प्रति-व्यक्ति उपलब्ध कृषि की जानेवाली भूमि की मात्रा घटती जा रही है।

निम्नांकित तालिका से भारत तथा कुछ अन्य देशों में उपलब्ध प्रति-व्यक्ति कृषि-योग्य भूमि के क्षेत्र का अन्दाजा लगता है :—

|                                       | भारत<br>(1951) | सम्पूर्ण<br>विश्व | रूस के<br>अतिरिक्त<br>शेष यूरोप | संयुक्त<br>राज्य<br>अमेरिका |
|---------------------------------------|----------------|-------------------|---------------------------------|-----------------------------|
| जनसंख्या (करोड़ में)                  | 36.1           | 240               | 39.6                            | 15.1                        |
| भूमि का क्षेत्रफल<br>(करोड़ एकड़ में) | 81.3           | 3251              | 121.6                           | 190.5                       |
| प्रति-व्यक्ति क्षेत्र<br>(शतानु में)  |                |                   |                                 |                             |
| (Per capita area<br>in cents)         |                |                   |                                 |                             |
| समस्त भूमि                            | 225            | 1254              | 307                             | 1264                        |
| कृषि-भूमि                             | 97             | 351               | 153                             | 741                         |
| जोतने-बोने योग्य<br>भूमि              | 97             | 126               | 92                              | 302                         |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा यूरोप की तुलना में एक औसत भारतीय को कृषि के लिए बहुत ही कम भूमि उपलब्ध है। विश्व की कुल भूमि के केवल 9.4 प्रतिशत, संयुक्त राज्य अमेरिका में 24 प्रतिशत तथा यूरोप में 30 प्रतिशत भूमि को ही कृषि-कार्य में प्रयुक्त किया जाता है जबकि भारत में कुल भूमि का प्रायः 44 भाग को कृषि-कार्य के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इससे अमेरिका तथा यूरोप में बहुत अधिक भूमि बंजर है जिसका प्रयोग चरागाह वगैरह के रूप में किया जाता है। परन्तु भारत में इस प्रकार की भूमि

का सर्वथा अभाव है। अतएव निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि भारत की भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक बोझ है।

### जन्म-दर तथा मृत्यु-दर

#### (Birth Rate and Death Rate)

किसी देश में जनसंख्या का आकार प्रधानतया जन्म-दर और मृत्यु-दर पर निर्भर करता है। (Growth of population is a function of birth and deaths) यदि जन्म-दर की अपेक्षा मृत्यु-दर कम है तो जनसंख्या में वृद्धि होगी और मृत्यु-दर अधिक है तो जनसंख्या में कमी होगी। जन्म-दर तथा मृत्यु-दर के इस अन्तर को अति-जीवन दर (Survival Rate) कहा जाता है। जनसंख्या में वृद्धि या कमी इसी के द्वारा मालूम की जा सकती है। प्रति-वर्ष एक हजार जनसंख्या पर होनेवाले औसत जन्म तथा मृत्यु को क्रमशः जन्म-दर एवं मृत्यु-दर कहते हैं। भारत विश्व के सबसे अधिक जन्म-दर वाले देशों में से है। प्रगतिशील पश्चिमी राष्ट्रों में पिछले कुछ वर्षों से जन्म-दर एवं मृत्यु-दर में घटने की प्रवृत्ति निरन्तर बनी रहती है। किन्तु हमारे देश में अभी ये दरें इस प्रकार से कम नहीं हुई हैं।

शत तीस-चालीस वर्षों में विश्व के प्रमुख प्रगतिशील राष्ट्रों में जन्म-दर तथा मृत्यु-दर दोनों में विशेष रूप से कमी हुई है। इन देशों में शिक्षा के प्रचार तथा सन्तति-निरोध के कृत्रिम उपायों के प्रयोग द्वारा जन्म-दर में आश्चर्यजनक कमी हुई है। शिक्षा तथा जीवन-स्तर में वृद्धि के परिणामस्वरूप इन देशों ने छोटे परिवार के आर्थिक महत्त्व को समझा है। अतएव, इन देशों में लोग अपने परिवार के आकार को स्वेच्छा से सीमित करने का प्रयास करने लग गये हैं। इसी प्रकार जन-स्वास्थ्य के साधनों में वृद्धि द्वारा मृत्यु-दर में विशेष रूप से कमी हुई है। यूरोपीय देशों में रहन-सहन की अच्छी परिस्थितियों तथा मृत्यु-निवारक कारणों पर अधिकार रहने के कारण

1. डॉ० ज्ञानचन्द्र के अनुसार भारत में जीवनांक विशेष रूप से अविश्वसनीय हैं क्योंकि यहाँ इन आँकड़ों के एकत्र करने की प्रणाली अत्यन्त दोषपूर्ण है, विशेषतः गाँवों में जहाँ इसके लिए निरक्षर तथा कम वेतन पानेवाले व्यक्ति नियुक्त किये जाते हैं। इन बातों को ध्यान में रखते हुए डॉ० ज्ञानचन्द्र के अनुसार भारत में जन्म-दर प्रति हजार 48 तथा मृत्यु-दर 33 है। देखिए Dr. Gyan-chand—India's Teeming Millions—p. 78 1971 ई० की जनगणना के अनुसार 1961-7. ई० के बीच भारत में औसत वार्षिक जन्म-दर प्रति वर्ष 41.1 तथा मृत्यु-दर 18.9 थी।



## भारत की जनसंख्या

मृत्यु-दर निश्चित रूप से घट गयी है।<sup>1</sup> परन्तु खेद की बात है कि भारत में जन्म और मृत्यु-दर इस प्रकार से कम नहीं हुई है।

1921 ई० से 1971 ई० के बीच भारत में जन्म एवं मृत्यु-दरों का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

| दशब्दी  | जन्म-दर<br>(प्रति 1000<br>व्यक्तियों पर) | मृत्यु-दर<br>(प्रति 1000<br>व्यक्तियों पर) |
|---------|------------------------------------------|--------------------------------------------|
| 1921-31 | 46.4                                     | 36.3                                       |
| 1931-41 | 45.2                                     | 31.2                                       |
| 1941-51 | 39.9                                     | 27.4                                       |
| 1951-61 | 41.7                                     | 22.8                                       |
| 1961-71 | 41.1                                     | 18.9                                       |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1941 ई० तक भारत में जन्म तथा मृत्यु-दरें प्रायः स्थायी रही हैं। किन्तु इसके बाद स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं में विस्तार से मृत्यु-दर में तीव्र गति से कमी हुई है।

किन्तु भारत में जन्म तथा मृत्यु-दर सम्बन्धी उपरोक्त आँकड़े किसी भी प्रकार सही तथा विश्वसनीय नहीं कहे जा सकते। 1951 ई० के जनगणना-सम्बन्धी विवरण के अनुसार हमारे देश में कहीं भी जन्म-दर सम्बन्धी सरकारी आँकड़े वास्तविक जन्म-दर का प्रतिनिधित्व नहीं करते।<sup>2</sup> इसका मुख्य कारण अधिकांश जनता का अशिक्षित तथा रूढ़िवादी होना है। साथ ही, गाँवों का चौकीदार, जो साधारणतया इस सम्बन्ध में पंजीयक का कार्य करता है, भी इसके लिए बहुत हद तक उत्तरदायी है। इन सब दोषों के कारण वास्तविक जन्म तथा मृत्यु-दरों का अन्दाजा लगाना बहुत ही कठिन हो जाता है। 1941 ई० से 1950 ई० के बीच सरकारी रजिस्ट्रों में दर्ज जन्म एवं मृत्यु-संख्या के आधार पर भारत में औसत जन्म एवं मृत्यु-दरें क्रमशः 72.2 तथा 19.4 थीं। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि 1941 ई० से 1950 ई० के बीच देश की जनसंख्या की वृद्धि केवल 7.8 प्रतिशत ही थी। किन्तु इस अवधि में जनसंख्या की वास्तविक वृद्धि इससे निश्चय ही बहुत अधिक थी। अतः 1951 ई० की जनगणना के विवरण में यह बतलाया गया था कि पिछली दशब्दी में वास्तविक जन्म-दर 40 तथा मृत्यु-दर 27 थी।

1. द्वितीय महायुद्ध काल के बाद यूरोपीय देशों में जन्म-दर में बहुत अधिक वृद्धि हुई। इसका मुख्य कारण यह था कि युद्ध के बाद ब्याह की दर (Marriage rate) में प्रायः वृद्धि हो जाती है जिससे जन्म-दर अधिक हो जाती है। किन्तु इसे केवल अस्थायी प्रवृत्ति मात्र ही समझना चाहिए। धीरे-धीरे जन्म-दर में कमी होने लगेगी।

2. "No where can the official figures be accepted as representative of the total number of births."—Census of India 1951, pp. 133-4.

भा० अ०—4

विश्व के अन्य राष्ट्रों की तुलना में ये दरें हमारे देश में निश्चय ही बहुत अधिक हैं जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

प्रति एक हजार व्यक्तियों पर (1976 ई०)<sup>3</sup>

| देश            | जन्म-दर<br>(Birth rate) | मृत्यु-दर<br>(Death rate) | अतिजीवन दर<br>(Survival rate) | शिशु-मृत्यु दर<br>(Infant mortality) |
|----------------|-------------------------|---------------------------|-------------------------------|--------------------------------------|
| कैनाडा         | 15.7                    | 7.3                       | 8.4                           | 15.6                                 |
| संयुक्त राज्य  |                         |                           |                               |                                      |
| अमेरिका        | 15.0                    | 9.1                       | 5.9                           | 17.6                                 |
| जापान          | 18.6                    | 6.5                       | 12.1                          | 11.3                                 |
| फ्रांस         | 15.2                    | 10.4                      | 4.8                           | 15.5                                 |
| पश्चिमी जर्मनी | 10.1                    | 11.7                      | 1.6                           | 22.7                                 |
| इटली           | 15.7                    | 9.6                       | 6.1                           | 25.7                                 |
| ग्रेट ब्रिटेन  | 13.2                    | 11.9                      | 1.3                           | 17.2                                 |
| भारत           | 35.2                    | 15.9                      | 19.3                          | 12.2                                 |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत में जन्म-दर, मृत्यु-दर, तथा शिशु-मृत्यु दर तीनों विश्व के प्रायः सभी आधुनिक विकसित राष्ट्रों से अधिक हैं।

भारत में जन्म-दर अधिक होने के कारण  
(Causes of High Birth-rates in India)

भारत में जन्म-दर अधिक होने के बहुत-सारे कारण हैं। जन्म-दर को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारणों को मुख्य रूप से निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

- (1) वातावरण-सम्बन्धी कारण, जो प्राकृतिक बनावट तथा जलवायु द्वारा निर्धारित होते हैं,
- (2) आर्थिक कारण (Economic Causes); तथा
- (3) धार्मिक एवं सामाजिक कारण (Socio-Religious Factors)।

(1) वातावरण-सम्बन्धी कारणों के अन्तर्गत जलवायु एवं प्राकृतिक परिस्थितियाँ प्रधान हैं। वास्तव में जन्म-दर पर जलवायु एवं प्राकृतिक परिस्थितियों का व्यापक रूप से प्रभाव पड़ता है। ठंडी जलवायु की अपेक्षा गर्म जलवायु वाले देशों में औरतें बहुत ही कम आयु में तारुण्य अवस्था को प्राप्त कर लेती हैं। भारत के साथ तो यह बात सामान्य रूप से लागू होती है। हमारे देश में शादी भी कम उम्र में ही होती है। अतः जन्म-दर का अधिक होना अति स्वाभाविक है।

(2) आर्थिक कारण (Economic Causes) :— जन्म-दर को प्रभावित करने वाले कारणों में आर्थिक परिस्थितियों की निश्चय ही प्रधानता है। आर्थिक

3. United Nations Statistical Year Book, 1955.



कारणों अथवा परिस्थितियों में निम्नलिखित प्रधान हैं :—

(क) निर्धनता (Poverty) :—भारत एक निर्धन देश है। निर्धनता के कारण भी यहाँ पर जन्म-दर बहुत अधिक है। प्रायः यह कहा जाता है कि निर्धन व्यक्तियों को अधिक सन्तान होती है। जितना ही अधिक कोई निर्धन व्यक्ति होगा, उसका परिवार भी उतना ही बड़ा होता है। जीवन-स्तर में सुधार के साथ-साथ एक सीमा के पश्चात् जन्म-दर में कमी होने लगती है। पश्चिम के प्रगतिशील राष्ट्रों ने इस बात को सिद्ध कर दिया है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका के गोरे निवासियों की तुलना में निग्रो निवासियों के परिवार बड़े होते हैं। भारत के अधिकांश व्यक्ति बहुत ही निर्धन हैं। यहाँ का सामान्य जीवन-स्तर भी बहुत ही निम्न है। अतएव, यह कहा जाता है कि “हमारी विशाल जनसंख्या हमारी निर्धनता का उतना बड़ा कारण नहीं है जितना कि उसका परिणाम।” (Our Population is not so much the cause of our poverty as it is the result of it.)

(ख) आर्थिक अदूरदर्शिता (Lack of Economic Foresight) :—भारत में लोग शादी करने तथा सन्तान उत्पन्न करने में दूरदर्शिता से कार्य नहीं लेते। पश्चिमी देशों में इसके ठीक विपरीत लोग शादी तथा सन्तान उत्पन्न करने में विवेक से काम लेते हैं। निर्धनता के साथ-साथ भारत में अशिक्षा का, विशेषतः स्त्रियों में, विस्तृत साम्राज्य है। इन कारणों से शादी या सन्तान उत्पन्न करने में औसत भारतीय विवेक (prudential consideration) से काम नहीं लेते।

(ग) निम्न जीवन-स्तर (Low Standard of Living) :—एक औसत भारतीय का जीवन-स्तर इतना निम्न है कि परिवार बढ़ जाने से उसे बहुत कम आर्थिक चिन्ता होती है। कभी-कभी तो यह देखा जाता है कि परिवार में वृद्धि के फलस्वरूप कमाने वालों की संख्या में वृद्धि होती है। अतः, निर्धन व्यक्तियों के लिए सन्तान अतिरिक्त आय का एक साधन होती है। इस प्रकार भारत में जन्म-दर अधिक होने का प्रमुख कारण लोगों की निर्धनता है।

(3) धार्मिक एवं सामाजिक कारण (Socio-Religious Factors) :—जन्म-दर पर धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। भारत में सामाजिक एवं धार्मिक विचारधाराएँ भी जन्म-दर को बढ़ने में बहुत अधिक सहायक रही हैं। धार्मिक तथा सामाजिक कारणों में निम्नलिखित प्रधान हैं :—

(क) शादी की सर्वजनीनता (Universality of Marriage) :—भारत में धार्मिक एवं सामाजिक रीति-रिवाजों के कारण प्रत्येक हिन्दू विवाह करना तथा बच्चा पैदा करना अपना परम धर्म समझता है। हमारे देश में

शादी को एक पवित्र संस्कार तथा अधिक बच्चा का होना ईश्वरीय खुशी का द्योतक माना जाता है।

(ख) संयुक्त परिवार की प्रथा (Joint Family System) :—भारत में जन्म-दर अधिक होने का एक प्रमुख कारण संयुक्त परिवार की प्रथा भी है। संयुक्त परिवार की प्रथा के कारण अधिक बड़े परिवार के लालन-पालन का दायित्व किसी एक व्यक्ति पर नहीं होता, अतः सन्तानोत्पत्ति की प्रवृत्ति में किसी प्रकार की आर्थिक रुकावट नहीं आने पाती।

(ग) बाल-विवाह (Child Marriage) :—जन्म-दर अधिक होने का एक प्रधान कारण बाल-विवाह भी है। आज भी हमारे देश में बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित है। हमारे देश में 50 प्रतिशत लड़कियों की शादी 15 वर्ष से कम आयु में ही हो जाती है तथा 30 वर्ष की आयु तक इनके अधिकांश बच्चे हो जाते हैं। बाल-विवाह की प्रथा को रोकने के लिए सितम्बर, 1929 ई० में एक विधान पारित हुआ जिसे 1930 ई० में लागू किया गया। फिर भी समाज पर इसका कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा तथा 1951 ई० की जनगणना के अनुसार 1931 से 1950 ई० के बीच प्रायः 95 लाख शादियाँ इस कानून के विरुद्ध हुईं। बाल-विवाह हमारे समाज तथा देश के लिए एक अभिशाप है। इससे जन्म-दर में अत्यधिक वृद्धि होती है।

इस प्रकार भारत में अत्यधिक जन्म-दर के उपरोक्त सभी कारण हैं। किन्तु इन सभी कारणों में बाल-विवाह तथा शादी की सर्वजनीनता (Universality of Marriage) ही प्रमुख हैं। जनता की घोर निर्धनता भी निस्सन्देह अधिक जन्म-दर का एक प्रमुख कारण है; किन्तु हमारे देश में आर्थिक कारणों से अधिक महत्वपूर्ण कारण सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ हैं। डा० ज्ञानचन्द के अनुसार “भारत में अत्यधिक जन्म-दर सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का परिणाम है। अतएव जब तक हमारे सामाजिक एवं नैतिक वातावरण में आमूल परिवर्तन नहीं होगा तब तक पश्चिमी देशों की तरह हमारे देश में भी जन्म-दर में कमी की कोई आशा नहीं की जा सकती।”

1. “The high birth rate in india is a part of our culture and it is only when the moral sentiments of the community change either by choice or by the force of circumstances that a fall in the birth rate comparable with the fall which has taken place elsewhere can be expected.”—Dr. Gyanchand : India's Teeming Millions, P. 145.



## भारत की जनसंख्या

### भारत में मृत्यु-दर (Death Rate in India)

भारत में मृत्यु-दर भी अन्य देशों की तुलना में अधिक है। वास्तव में, अनियन्त्रित तथा ऊँची जन्म-दर प्रायः ऊँची मृत्यु-दर से सम्बन्धित होती है। मृत्यु-दर किसी देश की सामाजिक परिस्थितियों तथा आर्थिक विकास का मापदण्ड है। जनसंख्या में समान वृद्धि अत्यधिक जन्म-दर एवं अत्यधिक मृत्यु-दर अथवा साधारण जन्म-दर एवं साधारण मृत्यु-दर के द्वारा भी हो सकती है। किन्तु अत्यधिक जन्म-दर एवं अत्यधिक मृत्यु-दर द्वारा किसी देश की जनसंख्या में वृद्धि उस देश के आर्थिक पिछड़ेपन तथा उसकी अर्द्ध-विकसित सभ्यता का परिचायक है। इसके विपरीत, कम जन्म-दर तथा कम मृत्यु-दर समाज की आर्थिक समृद्धि एवं स्वास्थ्य के क्षेत्र में वैज्ञानिक तरीकों के प्रयोग के सूचक हैं। जलवायु, जाति, पेशा आदि में विभिन्नता के कारण विभिन्न देशों की मृत्यु-दर में भी विभिन्नता पायी जाती है। मृत्यु-दर आर्थिक संकट के समय किसी समाज की अवरोध-शक्ति (Resistance power) का सूचक है। यदि मृत्यु-दर में प्रतिवर्ष परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण विभिन्नता पायी जाती हो तो इसका अर्थ यह है कि समाज में प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध अवरोध शक्ति का अभाव है। जनसंख्या में भी कमी या वृद्धि केवल जन्म-दर पर ही नहीं, बल्कि मृत्यु-दर पर भी निर्भर करती है। हमारे देश में मृत्यु-दर के सम्बन्ध में भी विश्वसनीय आँकड़ों का अभाव है। 1971 की जनगणना के अनुसार, भारत के प्रत्येक एक हजार व्यक्तियों में से 18.9 व्यक्तियों की प्रति वर्ष मृत्यु होती थी।<sup>1</sup> इसके विपरीत इंग्लैंड में मृत्यु-दर प्रति हजार 11.4 तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में केवल 9.2 है। इससे स्पष्ट है कि संसार के विकसित राष्ट्रों की तुलना में भारत में मृत्यु-दर बहुत अधिक है।

भारत में मृत्यु-दर अधिक होने के कारण (Causes of high death-rate in India) :—भारत में मृत्यु-दर अधिक होने के निम्नलिखित प्रधान कारण हैं :—

(क) निर्धनता एवं निम्न जीवन-स्तर (Poverty and the Low Standard of Living) :—भारत में ऊँची मृत्यु-दर अन्तोगत्वा यहाँ के निवासियों की सामान्य गरीबी के कारण ही है जो लोगों को मलेरिया, प्लेग तथा हैजा जैसी बीमारियों से बचने में पूर्णतया असमर्थ बना

1. योजना आयोग के अनुमान के अनुसार 1968-69 में देश में जन्म-दर प्रति हजार 39 तथा मृत्यु-दर 14 थी, यानी वर्तमान समय में देश की जनसंख्या में प्रतिवर्ष 2.5 प्रतिशत की दर से वृद्धि हो रही है।

देती हैं। निर्धनता के कारण हमारे देश में अधिकांश व्यक्तियों की कुछ न्यूनतम आवश्यकताएँ, जैसे—भोजन, वस्त्र, आवास आदि भी अपूर्ण रह जाती हैं। इससे उनका स्वास्थ्य निरन्तर खराब होते जाता है और वे अकारण ही मृत्यु के शिकार बन जाते हैं।

(ख) जन-स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव (Lack of Public Health and Medical facilities) :—हमारे देश में जन-स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं का भी अभाव है। देश की विशालता एवं जनता की सामान्य निर्धनता को ध्यान में रखते हुए जिस पैमाने पर अस्पतालों एवं डॉक्टरों की व्यवस्था होनी चाहिए उससे बहुत ही कम मात्रा में ये उपलब्ध हैं। चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं के अभाव में मृत्यु-दर का अधिक होना अति स्वाभाविक है।

(ग) संक्रामक रोग (Epidemics) :—भारत में ऊँची मृत्यु-दर का एक प्रधान कारण देश में तरह-तरह की संक्रामक बीमारियों—हैजा, प्लेग, चेचक, इन्फ्लूएन्जा इत्यादि की प्रधानता है। इन संक्रामक बीमारियों के कारण प्रतिवर्ष देश के लाखों व्यक्ति अकाल ही मृत्यु के शिकार हो जाते हैं। जन-स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं में विस्तार के द्वारा अब इन बीमारियों का प्रकोप कम हो रहा है, फिर भी इन्हें अभी तक पूर्णतया निर्मूल नहीं किया जा सका है। उदाहरण के लिए, 1957 में इन्फ्लूएन्जा तथा 1963 में चेचक के प्रकोप से देश में लाखों व्यक्ति मृत्यु के शिकार हो गये थे।

(घ) जलवायु :—जलवायु का प्रभाव भी किसी देश की मृत्यु-दर पर पड़ता है। ठंडी जलवायु की अपेक्षा गर्म जलवायु में लोग कम जीने की आशा रखते हैं। भारत की जलवायु भी गर्म है अतः यहाँ पर अन्य देशों की अपेक्षा मृत्यु-दर अधिक है।

(च) जनता की अज्ञानता, अन्धविश्वास एवं अस्वास्थ्यकर सामाजिक आदतें (Ignorance, superstitions and unhygienic social habits of the people) :—भारतवासियों की अज्ञानता, अन्धविश्वास तथा इनकी कुछ अस्वास्थ्यकर सामाजिक आदतें भी देश में मृत्यु-दर अधिक होने का प्रधान कारण हैं। हमारे देश में बच्चों के पालन-पोषण के सम्बन्ध में उचित ज्ञान का अभाव रहता है जिससे इनकी उचित रूप में सेवा नहीं हो पाती। इसी प्रकार बहुत-सी बीमारियों को आज भी देशवासी किसी देवी-देवता अथवा भगवान का प्रकोप समझते हैं। अतएव इनकी उचित दवा-दारू की व्यवस्था नहीं करके लोग झाड़ू-फूँक आदि का ही सहारा लेते हैं। इन सबके चलते भी देश में मृत्यु-दर अधिक होती है।

(छ) अत्यधिक शिशु मृत्यु-दर (Excessive infant mortality) :—भारत में मृत्यु-दर अधिक होने का एक प्रधान कारण अत्यधिक शिशु मृत्यु-दर भी है। अत्यधिक



शिशु मृत्यु-दर के कई कारण हैं जिनकी व्याख्या आगे की गयी है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि इससे भी हमारे देश में मृत्यु-दर अधिक होती है।

(ज) प्रजनन अवस्था में औरतों की अत्यधिक मृत्यु:— भारत में मृत्यु-दर अधिक होने का एक प्रधान कारण प्रजनन अवस्था में औरतों की अत्यधिक मृत्यु भी है। बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा तथा प्रसव-सम्बन्धी ज्ञान एवं सुविधाओं के अभाव आदि के कारण देश में औरतों की अत्यधिक मृत्यु होती है जिससे मृत्यु-दर अधिक होती है।

इनके अतिरिक्त, मृत्यु-दर पर जनता की शिक्षा तथा देशवासियों की कृषि पर अत्यधिक निर्भरता आदि का भी प्रभाव पड़ता है। अतः भारत में अत्यधिक मृत्यु-दर जनता की घोर गरीबी, अति निम्न जीवन-स्तर, शिक्षा का अभाव, अधिक जनसंख्या का कृषि पर आश्रित होना तथा जन-स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं के अभाव आदि के कारण भी पायी जाती है।

भारत में मृत्यु-दर को दो प्रधान विशेषताएँ हैं:—

(1) अत्यधिक शिशु-मृत्यु-दर (Excessive Infant mortality):—हमारे देश में शिशु-मृत्यु-दर संसार के प्रायः सभी सुसभ्य राष्ट्रों से अधिक है। निम्नांकित तालिका से भारत तथा कुछ अन्य देशों में शिशु मृत्यु-दर का तुलनात्मक अन्दाजा लगाया जा सकता है:—

शिशु मृत्यु-दर प्रति हजार 1976 में

| देश                   | शिशु मृत्यु-दर |
|-----------------------|----------------|
| इंग्लैंड              | 16.3           |
| फ्रांस                | 12.1           |
| संयुक्त राज्य अमेरिका | 16.6           |
| कैनाडा                | 15.6           |
| जापान                 | 11.3           |
| इटली                  | 22.6           |
| भारत (1976)           | 122            |

इस प्रकार उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि पश्चिमी देशों की तुलना में भारत में शिशु मृत्यु-दर भी बहुत अधिक है। 1951 ई० की जनगणना के विवरण<sup>1</sup> के अनुसार प्रत्येक एक हजार में होनेवाली 27 मृत्युओं में से 11 पाँच वर्ष से कम आयुवाले बच्चों की होती है। पुनः इस 11 में से 7 मृत्यु एक वर्ष से कम आयुवाले बच्चों की होती है। भारत में इस अत्यधिक शिशु मृत्यु-दर का प्रमुख कारण जनता की घोर गरीबी है जिससे अधिकांश माँ-बाप अपने बच्चों के लिए पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक पदार्थ, विशेषतः दूध आदि की व्यवस्था करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं। बाल-विवाह एवं प्रसव-सम्बन्धी समुचित सुविधा के अभाव में भी यहाँ शिशु मृत्यु-दर अधिक होती है।

1. Census Report—I. P. 188.

(2) प्रजनन काल में औरतों की अत्यधिक मृत्यु:— भारतीय मृत्यु-दर की दूसरी प्रमुख विशेषता प्रजनन अवस्था में अधिकांश औरतों की मृत्यु है। इसका प्रमुख कारण बाल-विवाह है जो लड़कियों को अपरिपक्व अवस्था में ही माँ बनने के लिए बाध्य करता है। इसके अतिरिक्त पर्दा-प्रथा, अत्यधिक बच्चे पैदा करना, प्रसव-सम्बन्धी चिकित्सा तथा आवश्यक ज्ञान का अभाव, प्रसव के पहले तथा बाद में काम से मुक्ति नहीं मिलना, लोगों में यह विश्वास कि पुरुषों की तुलना में औरतों का जीवन कम बहुमूल्य है आदि कारणों से भी औरतों की अधिक मृत्यु होती है। इस प्रकार हमारे देश में प्रजनन आयु में ही बहुत-सी औरतों की मृत्यु हो जाती है जिसके फलस्वरूप पुरुषों के अनुपात में औरतों की संख्या निरन्तर घटती जा रही है।

### पुनरुत्पादन की वास्तविक दर (The Net Reproduction Rate)

जन्म-दर एवं मृत्यु-दर के अध्ययन से केवल भूत एवं वर्तमान की प्रवृत्ति का निर्देश-मात्र मिलता है। इससे भविष्य की जनसंख्या के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त होता। भविष्य की जनसंख्या की वास्तविक वृद्धि की दर जानने के लिए श्री आर० आर० कुजिन्स्की (R. R. Kuczynsky) ने वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर पुनरुत्पादन की वास्तविक दर के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वास्तव में, जनसंख्या की समस्या यह नहीं है कि जन्म-दर से मृत्यु-दर कम है अथवा अधिक; वरन् यह है कि क्या उत्पत्ति-क्रम इस प्रकार है कि एक पीढ़ी के लोग अपने जीवनकाल में इतने बच्चे उत्पन्न कर सकेंगे, जो उनके रिक्त स्थानों की पूर्ति कर सकें? इसका अभिप्राय यह है कि क्या उत्पत्ति-दर इस प्रकार है कि प्रत्येक एक हजार नवजात युवतियाँ अपने पुनरुत्पादन-काल में ऐसी एक हजार बालिकाओं को जन्म दे सकेंगी जो सन्तानोत्पत्ति का कार्य कर सकें। इससे स्पष्ट है कि यदि 1000 माताएँ अपने पुनरुत्पादन काल में 1000 बालिकाएँ उत्पन्न कर लें तो जनसंख्या ठीक-ठीक बनी रहेगी तथा पुनरुत्पादन की वास्तविक दर 1 होगी। इससे अधिक या कम होने पर जनसंख्या में क्रमशः वृद्धि या कमी होगी।

किन्तु, भारत में ऐसी आँकड़ों का अभाव है जिनके आधार पर वास्तविक पुनरुत्पादन की दर का सही-सही

2. R. R. Kuczynsky : "The pertinent question is not : Is there an excess of births over deaths but rather are natality and mortality such that a generation which would be permanently subjected to them, would during its life time, that is, until it had died out, produce sufficient children to replace that generation."



## भारत की जनसंख्या

अन्दाजा लगाया जा सके। यहाँ इस प्रकार के आँकड़ों का अभाव है जिनसे यह पता लग सके कि भिन्न-भिन्न आयुवाले वर्गों में स्त्रियों को कितनी बालिकाएँ उत्पन्न हुईं। सन् 1941 की जनगणना में इस प्रकार के आँकड़े केवल कोचीन के लिए तथा 1951 ई० की जनगणना में केवल मध्य प्रदेश के लिए एकत्र किये गये थे। कोचीन के आँकड़ों को 1931 ई० की अविभाजित भारत की नारी-संख्या की जीवन-सारिणी पर उपयोग करते हुए प्रो० डी० डी० घोष ने भारत में वास्तविक पुनरुत्पादन की दर 1.1 बतलाया था। राष्ट्रीय नियोजन समिति ने जनसंख्या-सम्बन्धी अपने विवरण में भारत की वास्तविक पुनरुत्पादन-दर 4.54 बतलाया था जबकि इंग्लैंड और वेल्स में यह दर 0.81, संयुक्त राज्य अमेरिका में 1.40, फ्रांस में 0.9 तथा आस्ट्रेलिया में 0.95 थी। इस प्रकार राष्ट्रीय नियोजन समिति के अनुमान के आधार पर जनसंख्या में एक पीढ़ी में 45.4 प्रतिशत की वृद्धि होनी चाहिए जबकि प्रो० घोष के अनुसार एक पीढ़ी में केवल 11 प्रतिशत की ही वृद्धि होनी चाहिए। अतः राष्ट्रीय नियोजन समिति के अनुमान वास्तव में प्रो० घोष को तुलना में वास्तविकता के अधिक समीप जान पड़ते हैं। प्राप्त आँकड़ों के अनुसार भारत की जनसंख्या में 1921 ई० से 1950 के बीच के 30 वर्षों में प्रायः 12 प्रतिशत प्रति दशक की दर से वृद्धि हुई। केवल गत दशक में ही देश की जनसंख्या में 24.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। अतः एक पीढ़ी, यानी 30-35 वर्षों के अन्दर जनसंख्या में केवल 11 प्रतिशत की वृद्धि का अनुमान निश्चय ही सही नहीं जान पड़ता।

इस प्रकार वास्तविक पुनरुत्पादन-दर की जानकारी के अभाव में भारत में जनसंख्या की भावी वृद्धि के सम्बन्ध में कोई निश्चित अनुमान लगाना कठिन है। फिर भी, 1951 ई० की जनगणना के विवरण में 1951 ई० से 1980 ई० तक जनसंख्या की वृद्धि का अनुमान लगाया गया था। यह अनुमान दो विभिन्न मान्यताओं पर आधारित था—(क) 1951 से 1980 ई० के बीच तीन दशाब्दियों में जनसंख्या की वृद्धि 1921 से 1950 ई० के बीच वाली दशाब्दियों की औसत वृद्धि के अनुसार होगी। (ख) तीनों दशाब्दियों में जनसंख्या की वृद्धि 1941-50 ई० के अनुसार होगी। ये विभिन्न मान्यताएँ अनुमानित जनसंख्या की निचली तथा ऊपरी सीमा को निश्चित करती हैं जो निम्न प्रकार से हैं :—

| वर्ष | जनसंख्या की निचली सीमा (करोड़ में) | जनसंख्या की ऊपरी सीमा (करोड़ में) |
|------|------------------------------------|-----------------------------------|
| 1951 | 36.1                               | 36.1                              |
| 1961 | 40.7                               | 41.1                              |
| 1971 | 45.8                               | 46.9                              |
| 1981 | 52.7                               | 53.5                              |

उक्त अनुमान के अनुसार अन्य बातों के स्थिर रहने

पर भारत की जनसंख्या 1981 ई० तक 52.7 करोड़ से 53.5 करोड़ के बीच हो जाती, किन्तु देश की जनसंख्या 1971 ई० में ही 54.8 करोड़ हो गयी। इससे स्पष्ट है कि जनसंख्या-सम्बन्धी उक्त सारे अनुमान बिल्कुल गलत सिद्ध हुए।

### स्त्री-पुरुष का अनुपात (Sex Ratio)

जनसंख्या के विभिन्न पहलुओं में स्त्री एवं पुरुषों के अनुपात (Sex ratio) का अध्ययन भी विशेष महत्त्व रखता है। इसके कई कारण हैं :—सर्वप्रथम तो स्त्री पुरुष के अनुपात पर ही देश में स्त्रियों के प्रति पुरुषों का दृष्टिकोण (Sexual attitude) निर्भर करता है। साथ ही, औरतों में पुरुषों की अपेक्षा कार्य करने की शारीरिक शक्ति भी कम होती है। अतएव, ये उत्पादन-कार्य में पुरुषों से कम ही सहयोग दे सकती हैं जिससे प्रति-व्यक्ति आय सामान्यतः कम होती है।

भारत में पुरुषों की अपेक्षा औरतों की संख्या कम है। 1971 ई० की जनगणना के अनुसार भारत की कुल 54.8 करोड़ जनसंख्या में से पुरुषों की संख्या 28.4 करोड़ तथा औरतों की संख्या 26.4 थी, यानी प्रत्येक 1000 पुरुषों पर औरतों की औसत संख्या 910 थी। दूसरे शब्दों में, 1971 ई० की जनगणना के अनुसार भारत में औरतों का प्रतिशत 48.3 तथा पुरुषों का प्रतिशत 51.7 है। भिन्न-भिन्न जनगणनाओं के अनुसार भारत में प्रति एक हजार पुरुषों के अनुपात में औरतों की संख्या इस प्रकार थी<sup>1</sup>—

| वर्ष | प्रति एक हजार पुरुष पर औरतों की संख्या |
|------|----------------------------------------|
| 1921 | 955                                    |
| 1931 | 950                                    |
| 1941 | 945                                    |
| 1951 | 946                                    |
| 1961 | 941                                    |
| 1971 | 930                                    |

भारत के अधिकांश राज्यों में पुरुषों की अपेक्षा औरतों की संख्या कम है। केवल केरल तथा दादरा एवं नागर हवेली में पुरुषों की अपेक्षा औरतों की संख्या अधिक है। 1971 ई० की जनगणना के अनुसार इन राज्यों में प्रति एक हजार पुरुष पर औरतों की संख्या क्रमशः 1016 तथा 1007 है। औरतों का अनुपात सबसे कम अंडमन निकोबार (प्रति एक हजार पुरुष पर 664) तथा दिल्ली (प्रति एक हजार पुरुष पर 801) में है। पश्चिमी बंगाल, जम्मू एवं कश्मीर, उत्तर प्रदेश तथा हरियाणा में प्रति हजार पुरुषों पर औरतों

1. India 1976.



की संख्या 900 से भी कम है। शहरों में गाँवों की अपेक्षा औरतों का अनुपात कम है। सम्पूर्ण देश के लिए प्रत्येक एक हजार पुरुषों पर गाँवों में औसत रूप से 952 औरतें तथा शहरों में 859 औरतें हैं। प्रत्येक एक हजार पुरुषों पर औरतों की संख्या कलकत्ता में 642, बम्बई में 569, मद्रास में 921 तथा हैदराबाद में 989 है।

इस प्रकार पुरुषों की तुलना में औरतों की संख्या हमारे देश में कम है। यूरोप के अधिकांश राष्ट्रों की स्थिति ठीक इसके विपरीत है। प्रत्येक एक हजार पुरुषों पर औरतों की संख्या 1950 ई० में इटली में 1053 तथा 1951 ई० में इंग्लैंड एव वेल्स में 1071 थी। इसी प्रकार 1930 ई० में संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रत्येक एक हजार पुरुषों पर औरतों की संख्या 985 थी। सम्पूर्ण विश्व में प्रति एक हजार पुरुषों पर औसत रूप से 992 औरतें हैं।

औरतों की संख्या में कमी के कारण—हमारे देश में पुरुषों के अनुपात में औरतों की कमी के विभिन्न कारण हैं। इस सम्बन्ध में सबसे प्रमुख कारण बाल-विवाह है जो लड़कियों को अपरिपक्व अवस्था में ही माँ बनने के लिए बाध्य कर देता है। अधिक बच्चों की संख्या का औरतों के स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है जिनसे उनकी मृत्यु-दर दर बढ़ जाती है। हमारे देश की सामाजिक परम्परा के कारण भी लड़कियों की सामान्य रूप से अवहेलना की जाती है। हमारे समाज में सर्वत्र लड़की को आये-प्राप्ति का साधन माना जाता है, किन्तु

लड़कियों को परिवार का भार समझा जाता है। प्रसव-सम्बन्धी सुविधाओं का भी हमारे देश में अभाव पाया जाता है। अत्यधिक काम करने तथा पर्दा-प्रथा के कारण औरतों का स्वास्थ्य निरन्तर खराब होते जाता है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि गर्भाधान की स्थिति में भी औरतें अन्तिम दिन या अन्तिम क्षण तक कार्य करती रहती हैं। इसका इनके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे औरतों की मृत्यु अधिक होती है। सन् 1961 ई० की जनगणना के प्रतिवेदन में ऐसा कहा गया है कि लड़के और लड़कियों का असमान अनुपात कभी-कभी इस बात का भी द्योतक माना गया है कि भारत में अब भी कन्या की हत्या पूर्णतया बन्द नहीं हो पायी है। सारांश यह है कि हमारे देश में पुरुषों की अपेक्षा औरतों का जीवन बहुत अधिक कठोर है जिससे इनके अनुपात में कमी होती जा रह रही है।

### आय के अनुसार जनसंख्या का वितरण (Distribution of Population by Age)

किसी देश की जनसंख्या के अध्ययन में आयु के अनुसार जनसंख्या के वितरण का अध्ययन भी विशेष महत्त्व रखता है। 1971 ई० की जनगणना के अन्तर्गत भारत में विभिन्न आयु-समूहों के निम्नलिखित आँकड़े प्रस्तुत किये गये थे :-

| आयु के अनुसार जनसंख्या का वर्गीकरण | आयु वर्ग (वर्ष में) | कुल जनसंख्या का प्रतिशत |
|------------------------------------|---------------------|-------------------------|
| 1. शिशु एवं बच्चे                  | 0 से 14 वर्ष तक     | 42.0                    |
|                                    | (i) 15 से 19 तक     | 8.7                     |
| 2. युवक एवं युवतियाँ               | (ii) 20 से 24 तक    | 7.9                     |
|                                    | (iii) 25 से 29 तक   | 7.4                     |
| 3. अघड़े पुरुष एवं औरतें           | (i) 30 से 39 तक     | 12.6                    |
|                                    | (ii) 40 से 49 तक    | 9.3                     |
| 4. वृद्ध पुरुष एवं औरतें           | (i) 50 से 59 तक     | 6.1                     |
|                                    | (ii) तथा उसके ऊपर   | 6.0                     |
|                                    | कुल                 | 100.0                   |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि कुल जनसंख्या में कम आयुवालों का अनुपात ही अधिक है तथा अधिक आयु तक जीवित रहनेवाले लोगों की संख्या बहुत ही कम है। किसी देश की जनसंख्या का आयु के अनुसार वितरण एक पिरामिड के आकार की तरह होता है। कम आयु वाला वर्ग जो जनसंख्या का प्रायः सबसे बड़ा भाग होता है, इस पिरामिड का आधार है। धीरे-धीरे ऊँची आयु वाले वर्गों के साथ पिरामिड की चौड़ाई कम होती जाती है और अन्त में यह एक बिन्दु पर समाप्त हो जाती है; क्योंकि एक निश्चित आयु के बाद कोई भी व्यक्ति जीवित न मिलेगा जिसकी गणना हो सके।

विभिन्न देशों में आयु-वर्गों में विभिन्नता के कारण पिरामिड का आकार भी विभिन्न प्रकार का होता है। भारत में जन्म एवं मृत्यु-दरें बहुत अधिक हैं जिससे यहाँ के आयु पिरामिड का आकार बहुत विस्तृत एवं चौड़ी बहुत नुकीली होती है। यहाँ 14 वर्ष से कम आयु वाले लोगों का प्रतिशत 42.0 तथा 60 वर्ष से अधिक आयु वालों का प्रतिशत केवल 6.0 है। इससे जनसंख्या की दीर्घ-जीविता की कमी का अन्दाजा लगता है। अगले पृष्ठ की तालिका के अन्तर्गत भारत के आयु पिरामिड के आधार

### 1. India—1976.



## भारत की जनसंख्या

एवं चोटी की तुलना विश्व के कुछ प्रमुख राष्ट्रों के साथ की गयी है:—

## कुल जनसंख्या का प्रतिशत

| देश      | 15 वर्ष से कम आयु वाले लड़के-लड़कियाँ | 55 वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्ति |
|----------|---------------------------------------|----------------------------------|
| भारत     | 42.0                                  | 8.1                              |
| जर्मनी   | 23.5                                  | 19.1                             |
| इंग्लैंड | 22.5                                  | 21.1                             |
| फ्रांस   | 21.3                                  | 21.4                             |
| जापान    | 35.4                                  | 11.0                             |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि प्रत्येक एक हजार जनसंख्या में 15 वर्ष से कम आयु वाले व्यक्तियों की संख्या भारत में 420, इंग्लैंड में 225 तथा फ्रांस में 213 है। इसका अर्थ यह है कि इंग्लैंड एवं फ्रांस में लड़के-लड़कियों को भारत की तुलना में प्रारम्भिक जीवन की अधिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं। इसी प्रकार प्रत्येक एक हजार जनसंख्या पर 55 वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्तियों की संख्या भारत में केवल 81, इंग्लैंड में 211 तथा फ्रांस में 214 है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एक औसत भारतीय एक औसत इंग्लैंड अथवा फ्रांस निवासी की तुलना में कम ही आयु तक जीवित रहने की आशा रखता है।

**जीवन की औसत आयु (Life Expectancy):—** किसी भी देश की जनसंख्या के अध्ययन में जीवन की औसत आयु का अध्ययन भी विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इसका कारण यह है कि जीवन की औसत आयु पर ही किसी देश की कार्यशील जनसंख्या (Working Population) की मात्रा निर्भर करती है। हमारे देश की जनसंख्या तो बहुत अधिक है किन्तु यहाँ के निवासियों के जीवन की औसत आयु बहुत ही कम है। 1971 ई० की जनगणना के अनुसार भारत में पुरुषों के जीवन की औसत आयु 47.0 वर्ष तथा औरतों की 45.6 वर्ष है। संयुक्त राज्य अमेरिका में पुरुषों की औसत आयु 67 वर्ष तथा औरतों की 75 वर्ष की तुलना में वास्तव में ये बहुत ही कम हैं। इसका प्रमुख कारण भारतवासियों का निम्न जीवन-स्तर है जिसके परिणामस्वरूप अधिकांश व्यक्तियों को पौष्टिक भोजन; वस्त्र तथा आवास जैसी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं हो पाती। अतः इनकी औसत आयु कम होती है। किन्तु चिकित्सा एवं स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुविधाओं के फलस्वरूप गत दो दशक के बीच भारत में जीवन की औसत आयु में वृद्धि हुई है। इस प्रकार जीवन की प्रत्याशित आयु जो 1923 ई० वाले दशक में केवल 27 वर्ष थी, 1941 ई० में 32 वर्ष हो गयी तथा 1971 ई० की जनगणना के अनुसार यह 47 वर्ष हो गयी।

### गाँवों एवं नगरों में जनसंख्या का वितरण (Distribution of Population between Villages and Towns)

भारत गाँवों का देश है। प्रारम्भ से ही भारत में गाँवों की प्रधानता रही है। आजकल भी, जबकि पश्चिम के औद्योगिक राष्ट्रों में अधिकांश जनता नगरों में निवास करती है, भारत की कुल जनसंख्या के प्रायः 80.0 प्रतिशत व्यक्ति गाँवों में ही निवास करते हैं। 1971 ई० की जनगणना के अनुसार भारत की प्रायः 54.8 करोड़ जनसंख्या में से प्रायः 43.9 करोड़ व्यक्ति, यानी प्रायः 80 प्रतिशत लोग गाँवों में तथा 11.9 करोड़ व्यक्ति, यानी प्रायः 20 प्रतिशत लोग शहरों में निवास करते हैं। परन्तु नागरिक जनसंख्या का अनुपात देश में सर्वत्र एक समान नहीं है। पश्चिमी भारत में यह प्रतिशत 31.3 तथा पूर्वी भारत में 11.1 है। इसी प्रकार नागरिक जनसंख्या का प्रतिशत महाराष्ट्र में 28.2 से लेकर उड़ीसा में केवल 4 तथा बिहार में 8.4 प्रतिशत है।

गत कुछ वर्षों से देश के औद्योगीकरण के साथ-साथ नागरिक जनसंख्या के अनुपात में भी क्रमशः वृद्धि हो रही है जो निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> से स्पष्ट है:—

| वर्ष | ग्रामीण जनसंख्या का प्रतिशत | नागरिक जनसंख्या का प्रतिशत |
|------|-----------------------------|----------------------------|
| 1921 | 88.8                        | 11.2                       |
| 1931 | 88.0                        | 12.0                       |
| 1941 | 86.1                        | 13.9                       |
| 1951 | 82.7                        | 17.3                       |
| 1961 | 82.0                        | 18.0                       |
| 1971 | 80.0                        | 20.0                       |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1941-50 ई० के बीच दस वर्षों में नागरिक जनसंख्या के अनुपात में 3.4

1. India, 1976.



प्रतिशत की वृद्धि हुई जब कि 1921 ई० से 1940 ई० के बीचवाले दो दशकों में केवल 2.5 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई थी। किसी देश की जनसंख्या के गाँवों एवं नगरों में विभाजन से उस देश की आर्थिक प्रगति का अन्दाजा लगाया जा सकता है। भारत की जनसंख्या का गाँवों एवं नगरों में उपरोक्त वितरण सतोषजनक नहीं कहा जा सकता। संतुलित आर्थिक व्यवस्था वाले देशों में ग्रामीण एवं नागरिक जनसंख्या के प्रतिशत में प्रायः समानता पायी जाती है। ग्रामीण जनसंख्या की अत्यधिक प्रधानता हमारे देश के औद्योगिक पिछड़ेपन का परिचायक है। पश्चिमी राष्ट्रों में नागरिक जनसंख्या का अनुपात ही अधिक है जो निम्नलिखित तालिका<sup>1</sup> से स्पष्ट है :—

| देश                          | नागरिक जनसंख्या का प्रतिशत | ग्रामीण जनसंख्या का प्रतिशत |
|------------------------------|----------------------------|-----------------------------|
| इंग्लैंड (1968)              | 79.0                       | 21.0                        |
| मिस्र (1969)                 | 58.4                       | 41.6                        |
| कैनाडा (1956)                | 73.6                       | 26.4                        |
| संयुक्त राज्य अमेरिका (1960) | 70.0                       | 30.0                        |
| जापान (1965)                 | 68.0                       | 32.0                        |
| फ्रांस (1968)                | 70.0                       | 30.0                        |
| सोवियत रूस (1969)            | 56.0                       | 44.0                        |
| भारत (1971)                  | 20.0                       | 80.0                        |

भारत में नागरिक जनसंख्या की कमी के कारण यहाँ बड़े-बड़े नगरों का भी अभाव है। 1971 की जनगणना के अनुसार भारत में 19 बड़े-बड़े नगर (दस लाख या उससे अधिक जनसंख्या वाले); 2687 छोटे-छोटे नगर तथा कस्बे एवं 5,73,721 गाँव हैं।

साक्षरता की समस्या (Problem of literacy) :— किसी देश की जनसंख्या के अध्ययन के सम्बन्ध में वहाँ की साक्षरता की समस्या का अध्ययन भी विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। हमारे देश में शिक्षा का बड़ा ही अभाव है। यहाँ के अधिकांश व्यक्ति आज भी अशिक्षित हैं। इंग्लैंड तथा अमेरिका आदि देशों में प्रायः सभी व्यक्ति शिक्षित होते हैं। किन्तु, भारत में साक्षरता की कमी है। 1951 में साक्षरता का प्रतिशत केवल 16.6 तथा 1961 में 24 प्रतिशत था। इससे स्पष्ट है कि पछले दशकों में साक्षरता के प्रतिशत में वृद्धि हुई है किन्तु फिर भी देश के तीन-चौथाई से भी अधिक व्यक्ति अब भी अशिक्षित हैं। औरतों में तो यहाँ शिक्षा का और अभाव है। 1971 ई० की जनगणना के अनुसार भारत में 29.5 प्रतिशत लोग शिक्षित हैं। इनमें 39.5 प्रतिशत पुरुष तथा 18.7 प्रतिशत औरतें शिक्षित हैं।

## जनसंख्या का व्यावसायिक वितरण (Occupational Distribution of Population)

अभी तक हमने जनसंख्या का अध्ययन आकार, निवास-स्थान, आयु तथा लिंग आदि के आधार पर किया है, किन्तु इससे देश की भौतिक समृद्धि तथा आर्थिक प्रगति का कोई अन्दाजा नहीं लगता। जनसंख्या के पेशेवर विभाजन के अध्ययन से ही किसी देश की आर्थिक प्रगति का सही-सही अन्दाजा लगाया जा सकता है। जनगणना-सम्बन्धी आँकड़े ही इसके अध्ययन के लिए प्रमुख साधन हैं। किन्तु हमारे देश में जनगणना के अंकों के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन करना कठिन हो जाता है। इसका प्रमुख कारण प्रत्येक जनगणना के समय आँकड़ों के एकत्र करने की प्रणाली में विभिन्नता है जिससे दो जनगणना वाले वर्षों में समानता नहीं रह जाती।

कार्यशील जनसंख्या (Working Population) :— कार्यशील जनसंख्या के अन्तर्गत जो व्यक्ति वास्तव में काम पर लगे हैं, उनके अतिरिक्त प्रशिक्षण पाने वाले व्यक्तियों को भी रखा गया है। अकार्यशील जनसंख्या के अन्तर्गत बच्चे, बूढ़े, विद्यार्थी तथा बिना पारिश्रमिक घर के काम करने वालों को भी रखा गया है। 1971 की जनगणना के अनुसार देश की कुल प्रायः 54.8 करोड़ जनसंख्या में से प्रायः 32.9 प्रतिशत व्यक्ति कार्य करने-वाले, यानी कार्यशील जनसंख्या (Working Population) हैं। इनमें से पुरुषों की कुल संख्या के प्रायः 11.8 प्रतिशत व्यक्ति कार्यशील हैं। विश्व के कुछ अन्य देशों से तुलना करने पर भारत में कार्यशील जनसंख्या के सम्बन्ध में स्थिति का अन्दाजा<sup>2</sup> लगता है :—

### विभिन्न देशों में कार्यशील जनसंख्या का प्रतिशत

| देश                          | पुरुष | औरतें | कुल  |
|------------------------------|-------|-------|------|
| रूस (1959)                   | 55.8  | 49.3  | 52.2 |
| पश्चिमी जर्मनी (1960)        | 63.6  | 33.2  | 47.5 |
| ब्रिटेन (1951)               | 66.6  | 27.4  | 46.2 |
| संयुक्त राज्य अमेरिका (1951) | 55.0  | 26.1  | 40.4 |
| भारत (1951)                  | 52.5  | 11.8  | 32.9 |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि जहाँ तक कार्यशील जनसंख्या के प्रतिशत का प्रश्न है भारत की स्थिति प्रमुख पश्चिमी देशों से बहुत भिन्न है। साथ ही, भविष्य में जन्म-दर में प्रत्याशित कमी तथा औरतों की शिक्षा में वृद्धि के परिणामस्वरूप कार्यशील जनसंख्या के प्रतिशत में अधिक वृद्धि की जाती है।

1. India Pocket Book of Economic Information—1973-74

2. Fact Book on Man Power, p. 39.



कार्यशील जनसंख्या का पेशे के अनुसार वितरण (Distribution of Working Population by Industrial Categories) :— किसी देश की जनसंख्या का पेशेवर वितरण तथा उसके आर्थिक विकास में बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव में, आर्थिक विकास की प्रत्येक अवस्था का एक निश्चित पेशेवर ढाँचे से सम्बन्ध होता है। प्रो० कोलिन क्लार्क के अनुसार “प्रतिव्यक्ति औसत उच्च आयवाले देशों में कार्यशील जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग तृतीयक उद्योगों में लगा रहता है जबकि निम्न औसत आय वाले देशों में कृषि की प्रधानता रहती है।” (A high average level of real income per head

is always associated with a high proportion of the working population engaged in tertiary sector; low real income per head, on the other hand, is always associated with a low proportion of the working population in tertiary production and a high percentage in primary production.)

भिन्न-भिन्न जनगणनाओं के अनुसार भारत की कुल कार्यशील जनसंख्या का विभिन्न पेशों के अनुसार विभाजन निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> से स्पष्ट होता है :—

कार्यशील जनसंख्या का विभिन्न पेशों में प्रतिशत वितरण

| उद्यम                       | 1901   | 1931   | 1951   | 1961   |
|-----------------------------|--------|--------|--------|--------|
| 1. कृषि                     | 50.6   | 45.1   | 50.0   | 52.8   |
| 2. कृषि-श्रमिक              | 16.9   | 24.8   | 19.7   | 16.7   |
| 3. खान, वन तथा मछली इत्यादि | 4.3    | 5.2    | 3.0    | 2.6    |
| 4. गृह-उद्योग               | —      | —      | —      | 6.4    |
| 5. मैन्युफैक्चरिंग उद्योग   | 11.7   | 8.9    | 9.0    | 4.2    |
| 6. निर्माण कार्य            | 0.8    | 1.0    | 1.0    | 1.2    |
| 7. व्यापार                  | 6.1    | 5.6    | 5.3    | 4.1    |
| 8. यातायात एवं संचादवाहन    | 1.1    | 1.0    | 1.5    | 1.6    |
| 9. अन्य सेवाएँ              | 8.5    | 8.4    | 10.5   | 10.4   |
| कुल योग                     | 100.0% | 100.0% | 100.0% | 100.0% |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1961 ई० की जनगणना के अनुसार देश की कुल कार्यशील जनसंख्या का प्रायः 69.5 प्रतिशत भाग कृषि पर, 2.6 प्रतिशत भाग खान, मछली तथा जंगल आदि उद्योगों में, 11.7 प्रतिशत भाग निर्माण उद्योगों तथा शेष 16.1 भाग अन्य उद्योगों में लगे थे।

कार्यशील जनसंख्या के वितरण को तीन क्षेत्रों (three sectors) के अनुसार भी देखा जा सकता है। ये तीन क्षेत्र हैं—प्राथमिक क्षेत्र (Primary sector) जिसमें 1 से 3 तक, द्वितीयक क्षेत्र (Secondary Sector) जिसमें 4, 5 और 6 एवं तृतीयक (Tertiary) क्षेत्र जिसमें 7, 8 एवं 9 श्रेणियों के पेशे आते हैं। निम्नांकित तालिका से भारत में इन तीनों क्षेत्रों में कार्यशील जनसंख्या का वितरण भी स्पष्ट हो जाता है :—

| वर्ष | प्राथमिक क्षेत्र | द्वितीयक क्षेत्र | तृतीयक क्षेत्र |
|------|------------------|------------------|----------------|
| 1941 | 71.8             | 12.6             | 15.6           |
| 1951 | 72.1             | 10.6             | 17.3           |
| 1961 | 72.1             | 11.8             | 16.1           |
| 1971 | 72.1             | 11.2             | 16.7           |

विभिन्न पेशों में इसका विस्तारपूर्वक वितरण निम्नांकित तालिका से भी स्पष्ट हो जाता है :—

| पेशे                                      | औद्योगिक पेशों के अनुसार जनसंख्या का प्रतिशत वितरण | 1901 | 1951 | 1971 |
|-------------------------------------------|----------------------------------------------------|------|------|------|
| (A) प्राथमिक क्षेत्र (1 + 2 + 3)          |                                                    | 71.8 | 72.1 | 72.1 |
| 1. कृषक                                   |                                                    | 50.6 | 50.0 | 43.3 |
| 2. कृषक-मजदूर                             |                                                    | 16.9 | 19.7 | 26.3 |
| 3. पशु-पालन, वन, मत्स्य तथा बगान          |                                                    | 4.3  | 2.4  | 2.5  |
| (B) द्वितीयक क्षेत्र (4 + 5 + 6 + 7)      |                                                    | 12.6 | 10.6 | 11.2 |
| 4. खान एवं खनिज                           |                                                    | 1.1  | 0.6  | 0.6  |
| 5. घरेलू उद्योग                           |                                                    | —    | —    | 3.5  |
| 6. घरेलू उद्योगों के अतिरिक्त अन्य उद्योग |                                                    | 11.7 | 9.9  | 5.9  |
| 7. निर्माण                                |                                                    | 0.8  | 1.0  | 1.2  |

1. Fact Book on Manpower.



| देश                               | औद्योगिक पेशों के अनुसार<br>जनसंख्या का प्रतिशत<br>वितरण |       |       | व्यवसाय                                         | भारत | संयुक्त राज्य<br>अमेरिका | इंग्लैंड |
|-----------------------------------|----------------------------------------------------------|-------|-------|-------------------------------------------------|------|--------------------------|----------|
| (C) तृतीयक क्षेत्र (8+<br>9 + 10) | 15.6                                                     | 17.3  | 16.7  | (क) कृषि पशु-पालन,<br>वन, एवं, मत्स्य<br>उद्योग | 706  | 128                      | 50       |
| 8. वाणिज्य एवं<br>व्यवसाय         | 6.0                                                      | 5.3   | 5.6   | (ख) खनिज एवं निर्माण<br>उद्योग तथा वाणिज्य      | 153  | 456                      | 555      |
| 9. यातायात एवं<br>संवहन           | 1.1                                                      | 1.5   | 2.4   | (ग) अन्य उद्योग तथा<br>सेवाएँ                   | 141  | 416                      | 395      |
| 10. अन्य सेवाएँ                   | 8.5                                                      | 10.5  | 8.7   | कुल                                             | 1000 | 1000                     | 1000     |
| कुल                               | 100.0                                                    | 100.0 | 100.0 |                                                 |      |                          |          |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि देश में पिछले प्रायः 20 वर्षों में कृषकों की संख्या में कमी हुई है, किन्तु कृषक मजदूरों की संख्या बढ़ी है। इसी प्रकार यातायात एवं संवहन में भी कुछ परिवर्तन हुए हैं। किन्तु अन्य मर्दाने प्रायः एक समान रही हैं।

भारत की जनसंख्या के पेशेवर विभाजन के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि यहाँ कृषि पर आश्रित व्यक्तियों का प्रतिशत बहुत अधिक तथा उद्योग, व्यापार एवं परिवहन आदि में लगे हुए व्यक्तियों का प्रतिशत बहुत ही कम है। यह कृषि पर अधिक तथा उद्योग-धन्धों पर कम निर्भरता हमारी असंतुलित आर्थिक व्यवस्था का परिचायक है। विश्व के किसी भी सुसभ्य एवं प्रगतिशील राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था में इस प्रकार का व्यावसायिक असंतुलन नहीं दीख पड़ता। निम्नांकित तालिका में 1951 ई० में भारत, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा इंग्लैंड में प्रत्येक एक हजार स्वावलम्बी व्यक्तियों का व्यवसाय के आधार पर वर्गीकरण दिखलाया जाता है —

ऊपर की तालिका से स्पष्ट है कि प्रत्येक एक हजार स्वावलम्बी व्यक्तियों में से कृषि एवं तत्सम्बन्धी उद्योगों में हमारे देश में 706 व्यक्ति लगे हुए हैं जबकि इनकी संख्या संयुक्त राज्य अमेरिका में 128 तथा इंग्लैंड में केवल 50-ही है। इससे हमारी कृषि पर अत्यधिक निर्भरता स्पष्ट हो जाती है। इसके फलस्वरूप देश में संतुलित एवं स्थायी (Stable) आर्थिक व्यवस्था का निर्माण प्रायः असम्भव-सा हो जाता है।<sup>1</sup> भारतीय कृषि वर्षा पर निर्भर करती है और यहाँ पर वर्षा की प्रकृति बड़ी ही अनिश्चित है। अतः भारतीय कृषि पर अत्यधिक निर्भरता का अर्थ है प्रकृति की अनिश्चितताओं पर आश्रित होना। यदि किसी वर्ष वर्षा नहीं हुई तो कृषि का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं हो पाता जिससे देश में आर्थिक संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। 1880 ई० के दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति है कि यहाँ कृषि ही अधिकांश जनता के जीविकोपार्जन का एकमात्र साधन है। यह कथन हमारी आर्थिक व्यवस्था के साथ आज भी उसी प्रकार सामान्य रूप से लागू होता है। देश के आर्थिक विकास के लिए उद्योग-धन्धों का विकास आवश्यक है, जिससे कृषि पर से हमारी इतनी अधिक निर्भरता को कम किया जा सके।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. Census of India, 1971.
2. U. N. Demographic Year Book 1963.
3. Fact Book on Manpower prepared by the Institute of Applied Manpower Research, New Delhi.
4. India : 1976



1. भारत सरकार के एक प्रकाशन ( India Pocket Book of Economic Information ) के अनुसार भारत में 1961 ई० में 70 प्रतिशत व्यक्ति कृषि पर लगे थे जबकि उसी वर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका में केवल 7 प्रतिशत, आस्ट्रेलिया, कनाडा तथा पश्चिमी जर्मनी में 11 प्रतिशत तथा फ्रांस में 7 प्रतिशत लोग कृषि पर आश्रित थे।



## अध्याय : 4

## भारत के लिए जनसंख्या-सम्बन्धी नीति

## (Population Policy for India)

जनसंख्या-सम्बन्धी नीति का अर्थ (Meaning of the Population Policy) :—जनसंख्या-सम्बन्धी नीति का तात्पर्य किसी देश की सरकार की उस मान्यता से है जिसके अनुसार वह जनसंख्या की वृद्धि अथवा निरोध को प्रोत्साहित अथवा हतोत्साहित करती है। यह नीति सभी देशों के लिए एक समान नहीं हो सकती क्योंकि कुछ देशों में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता रहती है तथा उनका प्राविधिक स्तर भी पर्याप्त मात्रा में ऊँचा रहता है। अतएव कभी-कभी इन देशों में प्राकृतिक साधनों के समुचित विदोहन के लिए श्रम-शक्ति का अभाव, जान पड़ने लगता है, अतएव यहाँ पर जनसंख्या की वृद्धि को प्रोत्साहित करना आवश्यक हो जाता है। सोवियत संघ तथा आस्ट्रेलिया आदि देशों में बहुत-कुछ इसी प्रकार की स्थिति पायी जाती है। इसके विपरीत, भारत तथा चीन जैसे अल्प-विकसित देशों में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता होते हुए भी समुचित औद्योगिक विकास के अभाव में इन देशों की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग बेकारी तथा अर्द्ध-बेकारी की स्थिति में पड़ा रहता है। इन देशों में तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या एक भीषण समस्या के रूप में उपस्थित होती है। अतएव इन देशों में जनसंख्या-सम्बन्धी नीति का प्रधान उद्देश्य तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या का नियन्त्रण होता है। किन्तु भारत सरकार की जनसंख्या-सम्बन्धी नीति के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन के पूर्व देश में जनाधिक्य की स्थिति के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है।

क्या भारत में जनाधिक्य है? (Is India over-Populated?) :—जनसंख्या-सम्बन्धी विभिन्न आँकड़ों के अध्ययन के उपरान्त हमारे संमक्ष दो प्रश्न हैं। क्या भारत में जनाधिक्य है? क्या भारत की जनसंख्या आवश्यकता से अधिक है? और पुनः यह प्रश्न होता है कि यदि भारत में जनाधिक्य है, यानी यहाँ की जनसंख्या आवश्यकता से अधिक है तो जनाधिक्य की इस स्थिति को दूर करने के लिए हमें क्या करना चाहिए? किस प्रकार हम अपनी जनसंख्या को एक सुसभ्य आर्थिक जीवन-स्तर प्रदान कर सकते हैं? भारत में आज भी सर्वत्र निर्धनता का साम्राज्य विस्तृत है। लोगों का जीवन-स्तर बहुत ही निम्न है। अधिकांश जनता भूखी, नंगी तथा बेकार है। भारत की इस भीषण गरीबी का प्रमुख कारण जनसंख्या की अनियन्त्रित वृद्धि ही है। यदि हम निम्न जीवन

स्तर से सन्तुष्ट हैं तो जनसंख्या की समस्या हमारे लिए कोई चिन्ता का विषय नहीं होगी। किन्तु जब हम एक नये भारत की कल्पना करते हैं, जिसमें दरिद्रता का साम्राज्य नहीं होकर स्वस्थ एवं सुसभ्य जीवन की सारी सुविधाएँ उपलब्ध होंगी तो जनसंख्या के सम्बन्ध में एक सुनिश्चित योजना की आवश्यकता पड़ेगी। भारतीय जनता को इसी दरिद्रता एवं भुखमरी के जीवन-स्तर से उठाकर सुख एवं समृद्धि के मार्ग पर ले जाने के लिए जनसंख्या का नियन्त्रण बिल्कुल आवश्यक है।

किन्तु जनाधिक्य की समस्या पर विचार करने के पूर्व यह देखना आवश्यक है कि जनाधिक्य का क्या अर्थ है? इसके लिए हमें जनसंख्या के मान्य सिद्धांतों की विवेचना करनी होगी। जनसंख्या का आधुनिक सिद्धांत माल्थस से प्रारम्भ होता है जिन्होंने 1798 ई० में जनसंख्या के सिद्धांत पर अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक प्रकाशित की। माल्थस के अनुसार मनुष्य में प्रजनन-शक्ति अपार मात्रा में पायी जाती है। अतः किसी देश की जनसंख्या में जीवन-निर्वाह के साधनों से अधिक वृद्धि की प्रवृत्ति पायी जाती है। यदि इस प्रजनन-शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग किया जाय तो अपवादस्वरूप अति अनुकूल परिस्थितियों के अतिरिक्त जीवन-निर्वाह के साधन जनसंख्या की वृद्धि के बहुत पीछे रह जायेंगे। यह प्रवृत्ति युद्ध, अकाल, महामारी आदि नैसर्गिक अवरोधकों द्वारा मृत्यु-दर में वृद्धि के कारण नियन्त्रित होती है। इनसे बचने के लिए मनुष्य को स्वयं आत्मसंयम, ब्रह्मचर्य, देर से विवाह आदि प्रतिबन्धक निरोधों को अपनाना चाहिए। अब यह देखना है कि क्या माल्थस के अनुसार भारत की जनसंख्या आवश्यकता से अधिक है? हमारे देश में इतनी बड़ी जनसंख्या के लिए जीवन-निर्वाह के साधनों का निश्चित रूप से अभाव है जो हमारे निम्न जीवन-स्तर से ही स्पष्ट हो जाता है। साथ ही, हमारे देश में जनसंख्या की वृद्धि प्रतिबन्धक निरोधों जैसे देर से ब्याह, ब्रह्मचर्य पालन तथा संतति निरोधक उपायों के प्रयोग द्वारा नियन्त्रित नहीं होती। आज यहाँ विवाह की दर पश्चिमी देशों की तुलना में बहुत अधिक है। बाल विवाह के विरुद्ध कानून रहने पर भी यह प्रथा देश में प्रचलित है और 1931 से 1951 ई० के बीच 92 लाख विवाह इस नियम के विरुद्ध हमारे देश में हुए थे। पश्चिमी देशों में प्रजनन शक्ति पूर्णतया प्रयोग में नहीं आती क्योंकि इस



देशों में अविवाहित रहने तथा देर से शादी करने की प्रथा अधिक प्रचलित है। संतति-निरोध के साधनों का प्रयोग भी यहाँ प्रायः नगण्य ही है। इस प्रकार भारत में प्रतिबन्धक निरोधों का बहुत कम उपयोग किया जाता है।

प्रतिबन्धक निरोधों के अभाव में जनसंख्या के नियन्त्रण में हमारे यहाँ प्राकृतिक अवरोधक ही प्रबल रहे हैं। माल्थस के अनुसार जनसंख्या तथा जीवन-निर्वाह के साधनों में संतुलन स्थापित करने का मनुष्य स्वयं यदि प्रयत्न नहीं करता, तो अकाल, महामारी, हैजा, प्लेग आदि प्रकृति के कष्टकारक तरीके अपना कार्य प्रारम्भ करते हैं। भारत में ये सब विस्तृत रूप से पाये जाते हैं। उपलब्ध आँकड़ों के आधार पर कहा जाता है कि 19 वीं शताब्दी के अकालों द्वारा कुल 324 लाख तथा केवल 1943 ई० के बंगाल के अकाल में 30-35 लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई। महामारियों का प्रकोप भी हमारे यहाँ कुछ कम नहीं रहा है। 19०1 से 1921 ई० के बीच ज्वर से 188 लाख तथा प्लेग से 83 लाख व्यक्ति मर गये। केवल 1918-19 ई० के इंग्लैण्ड से 84 लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई। 1938 ई० में मलेरिया से 15.8 लाख व्यक्ति मर गये। इसी प्रकार 1937 ई० में चेचक और हैजे से प्रति लाख क्रमशः 16 और 29 व्यक्ति मरे। अतः प्राकृतिक अवरोधक ही हमारे देश की जनसंख्या को कम करने में अधिक क्रियाशील रहे हैं जिससे मृत्यु दर भी बहुत अधिक रही है। अधिकांश देशवासियों की पर्याप्त मात्रा में तथा पोषिक भोजन नहीं मिल पाता जिससे उनकी कार्य करने की शक्ति ही कम हो जाती है और वे अकाल या किसी महामारी के शिकार बन बैठते हैं। इस प्रकार घोर निर्धनता के कारण शिशुओं एवं वयस्कों में मृत्यु-दर बहुत अधिक पायी जाती है। अतः इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में माल्थस के अनुसार जनाधिक्य की स्थिति निश्चित रूप से वर्तमान है।

जनसंख्या का दूसरा तथा अधिक मान्य सिद्धान्त कैमन का आदर्शतम जनसंख्या का सिद्धान्त (Optimum Theory of Population) है। इसके अनुसार किसी दिये हुए समय, अर्थात् ज्ञान एवं परिस्थितियों के समान रहने पर, किसी देश के लिए एक आदर्शतम जनसंख्या होती है जिससे देश के आर्थिक साधनों का उपयोग पूर्ण-रूपेण सम्भव होता है और फलस्वरूप प्रति व्यक्ति आय भी अधिकतम होती है। जब जनसंख्या इससे कम होती है, तो देश के आर्थिक साधनों का समुचित उपयोग नहीं हो पाता जिसके फलस्वरूप प्रति व्यक्ति आय कम हो जाती है। यदि जनसंख्या इससे अधिक होती है तो देश के आर्थिक साधनों पर जनसंख्या की अनावश्यक भीड़ हो जाती है एवं उत्पादन ह्रास नियम क्रियाशील होने लगता है जिससे प्रति व्यक्ति आय भी घट जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार जनाधिक्य का अर्थ जनसंख्या का आदर्शतम आकार से अधिक होना है। जनसंख्या में वृद्धि

से देश की श्रम-शक्ति में भी वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप सामान्यतः कुल धन में वृद्धि होती है। किन्तु इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि धन की यह वृद्धि जनसंख्या में वृद्धि की समानुपातिक है या नहीं जिससे प्रति-व्यक्ति आय कम-से-कम पूर्ववत् बनी रहे। यदि जनसंख्या की वृद्धि इस गति से हो कि इसके परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति आय में कमी की सम्भावना हो तो इसे जनाधिक्य की प्रवृत्ति (Tendency to over-population) कहते हैं। इसी प्रकार यदि वर्तमान जनसंख्या इतनी अधिक है कि, इसके कम होने से प्रति-व्यक्ति आय में वृद्धि की सम्भावना हो तो इसे जनाधिक्य की दशा (State of over-population) कहते हैं। इस प्रकार हमारे देश में आजकल जनाधिक्य की प्रवृत्ति तथा दशा दोनों ही वर्तमान हैं।

दो महत्वपूर्ण मत :—भारत में जनाधिक्य के सम्बन्ध में हमारे समक्ष विभिन्न दृष्टिकोण हैं। इस सम्बन्ध में हम मुख्य रूप से दो प्रकार के परस्पर-विरोधी विचारों का अध्ययन करेंगे। जनसंख्या विशेषज्ञों में भी प्रायः दो प्रकार की विचारधारा है। पहली विचारधारा उन विद्वानों की है जो जनसंख्या को भय की दृष्टि से देखते हैं। इनका कहना है कि विश्व की निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए खाद्यान्नों का अभाव है एवं प्राकृतिक साधनों की कमी है, अतः जनसंख्या पर नियन्त्रण आवश्यक है। उदाहरण के लिए विलियम वोग्ट (William Vogt) ने अपनी पुस्तक 'Road to Survival' में यह स्पष्ट किया है कि विश्व के सीमित प्राकृतिक साधनों को देखते हुए भारत की जनसंख्या अधिक है। प्रतिदिन अतिरिक्त 50 हजार पेट भरने के लिए बिना जोती हुई जमीन नहीं है। एक अन्य विद्वान ओसबॉर्न (Osborn) ने 'Our Plundered Planet' में इसी बात को स्वीकार किया है। भारतीय जनसंख्या-विशेषज्ञ डॉ० एस० चन्द्रशेखर ने 'Hungry People and Empty Lands' में इसी मत का समर्थन किया है। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि मानवीय समाज के सभी प्रारूपों (Patterns) में मनुष्य ने प्रकृति के उपहारों का जम कर उपयोग किया है और बदले में उसे कुछ भी नहीं दिया है। अपनी निरन्तर लालसा की तृप्ति के लिए उसने पेड़-पौधे एवं पशु तक को नष्ट कर डाले और इस प्रकार प्राकृतिक वातावरण का संतुलन भंग कर दिया। सभी स्थानों में चारगाहों में अत्यधिक चराइयाँ हो रही हैं, पानी की सतहें नीचे गिर रही हैं, नदियाँ अत्यधिक जल के वेग के कारण अपने मार्ग को बदल रही हैं। संक्षेप में, प्रकृति ने अपना सन्तुलन खो डाला है। अतः जनसंख्या की वृद्धि कम करके भूमि के बोझ वहन करने की शक्ति के अनुसार इसे सन्तुलित करना चाहिए।

जनसंख्या के सम्बन्ध में दूसरा मत उन आशावादियों का है (जिनमें मार्क्सवादी भी शामिल हैं) जो 'सम्पन्नता



के बीच गरीबी' (Poverty in the midst of plenty) के सिद्धांत का समर्थन करते हैं। इनके अनुसार समस्या जनाधिक्य की नहीं वरन् कम उत्पादन एवं दोषपूर्ण वितरण की है। इस विचारधारा के कुछ समर्थक तो आर्थिक समस्याओं का मुख्य कारण पूँजीवादी ढाँचे को ही ठहराते हैं। इनका कहना है कि समाज का आर्थिक ढाँचा बदलने से धनोत्पादन एवं वितरण सुधर जायेंगे और कोई समस्या नहीं रहेगी। इन आशावादियों में कोलिन क्लार्क और डी कास्ट्रो (Josue de Castro) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कोलिन क्लार्क (Colin Clark) ने अपनी पुस्तक "*Population Growth and Land Use*" में यह कहा है कि "किसी भी राजनीतिक नेता को चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, किसी भी अर्थशास्त्री को चाहे वह कितना भी विद्वान क्यों न हो, बच्चों के जन्म में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। इतना ही नहीं, वरन् इसके विपरीत उनके माता-पिताओं को यह अधिकार, है कि वे प्रधान मन्त्रियों एवं अर्थशास्त्रियों से मांग करें कि वे विश्व का इस प्रकार से संगठन करें कि बच्चों को पर्याप्त मात्रा में खाने को मिल सके।" इनके अनुसार जनसंख्या की वृद्धि ही लोगों को कृषि की पुरातन एवं परम्परागत विधियों को छोड़कर आधुनिक अधिक उत्पादक विधियाँ अपनाने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार क्लार्क ने जनसंख्या की वृद्धि के लाभकारी प्रभावों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। इसी प्रकार डी० कास्ट्रो के शब्दों में "विश्व में जीने का रास्ता नालथस के नये अनुयायियों के नुस्खों में नहीं है जिसमें अतिरिक्त व्यक्तियों को मिटा दिया जाता है और न सन्तति-निग्रह में है। वरन् धरती पर प्रत्येक को उत्पादक बनाने के प्रयास में है। विश्व में अत्यधिक मनुष्य की उपस्थिति से भूख एवं कष्ट पैदा नहीं होते हैं, वरन् कम उत्पादन एवं अधिक खाने वालों के होने से ही ऐसा होता है।"

इस प्रकार अत्यधिक आशावादी विचारधारा वाले यह मानते हैं कि मनुष्य केवल पेट लेकर ही नहीं आता वरन् साथ में दो हाथ भी लाता है। यदि समाज का संगठन उसे इन हाथों का सदुपयोग करने का पर्याप्त अवसर दे तो वह अतिरिक्त धनोत्पादन करके सामाजिक कल्याण में वृद्धि कर सकता है।

किन्तु हम यहाँ दोनों मतों के विवाद में न पड़कर यही कहना चाहेंगे कि दोनों में सत्यांश है। अकेला कोई भी मत पूर्णतया सही नहीं है। इन दोनों में अन्तर किसी एक मत पर जोर देने की प्राथमिकता (Priority of emphasis) का ही अन्तर है। जो जनसंख्या के नियन्त्रण का समर्थन करते हैं, क्या वे अधिक उत्पादन एवं उचित वितरण का विरोध करते हैं? नहीं, लेकिन वे जनसंख्या

के नियन्त्रण को प्राथमिकता देते हैं। इस प्रकार, जो अधिक उत्पादन एवं उचित वितरण का समर्थन करते हैं, क्या वे जनसंख्या की अनियन्त्रित वृद्धि चाहते हैं? नहीं, लेकिन वे उत्पादन-पक्ष को प्राथमिकता देते हैं, अतः इन दोनों मतों में प्राथमिकता का ही अन्तर है। वास्तव में, विशेषतः भारतीय परिस्थितियों में, ये दोनों काम साथ-साथ चल सकते हैं और चलने भी चाहिए। इस सन्दर्भ में हमें, 'एक मनुष्य कम और एक इकाई वस्तु अधिक' की नीति का पालन करना होगा।

प्रथम मत : भारत वर्ष में जनाधिक्य  
(India is Over-populated)

अब भारत के संदर्भ में हमें इन दोनों विचारों को देखना है। सर्वप्रथम तो भारत में जनाधिक्य है इस कथन की पुष्टि के लिए इसके समर्थक साधारणतः निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं।

(1) कृषि पर जनसंख्या की अत्यधिक निर्भरता (Excessive dependance of population on Agriculture)—भारत की कृषि पर, जो यहाँ का मुख्य व्यवसाय है, जनसंख्या का बहुत अधिक भार है। इसके फलस्वरूप प्रति-कृषिक परिवार को आर्थिक जोत से भी कम ही भूमि मिलती है। हमारे देश में आर्थिक जोत के सम्बन्ध में बहुत-से अध्ययन किये गये हैं जिनके आधार पर एक औसत परिवार के लिए 12 से 15 एकड़ तक भूमि आर्थिक जोत मानी जा सकती है। परन्तु प्रत्येक कृषक परिवार को यदि इतनी भूमि दी जाय तो आधे से अधिक व्यक्ति भूमिहीन ही रह जायेंगे। इतना ही नहीं, हमारे देश में प्रति व्यक्ति उपलब्ध कृषि-योग्य भूमि की मात्रा में भी क्रमशः ह्रास होते जा रहा है। 1931 ई० में प्रति-व्यक्ति प्राप्त कृषि-योग्य भूमि का औसत 0.88 एकड़ से घटकर 1951 ई० में 0.72 एकड़ हो गया। इसी प्रकार 1911 ई० से 1950 ई० के बीच 40 वर्षों में देश की जनसंख्या में प्रायः 51.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि कृषि-योग्य भूमि के क्षेत्र में वस्तुतः कोई वृद्धि नहीं हुई। इसी प्रकार 1951 से 1971 के बीच जनसंख्या 36.1 करोड़ से बढ़कर 54.8 करोड़ हो गयी है यानी इसमें लगभग 50 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि इस बीच कृषि के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्र 1951 में 1190 लाख एकड़ से बढ़कर 1971 ई० में केवल 1380 ही लाख एकड़ ही हुआ, यानी इसमें केवल 16 प्रतिशत की वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप प्रति-व्यक्ति उपलब्ध कृषि-योग्य भूमि का क्षेत्र 0.33 हेक्टर से घटकर 0.26 हेक्टर हो गया। कृषि-योग्य भूमि के अनुपात में देश में जनाधिक्य की मात्रा का पता लगाने के विभिन्न प्रयास किये गये हैं। प्रत्येक-व्यक्ति 2.5 एकड़ कृषि-योग्य भूमि एक व्यक्ति के स्वास्थ्य एवं कार्य-क्षमता को बनाये रखने के

1. The Eastern Economist, Annual Number

1970,



## भारतीय अर्थशास्त्र

लिए न्यूनतम मानी गयी है।<sup>1</sup> पर इन बातों की कि भारत के अधिकांश भागों में दो फसलें उपजायी जाती है, तथा पश्चिम के ठण्डे देशों की तुलना में यहाँ खाद्यान्न की आवश्यकता कम होती है, ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारत में पाँच व्यक्तियों के एक औसत परिवार के लिए पाँच एकड़ भूमि न्यूनतम ढंग से आवश्यक है। इस प्रकार प्रति-व्यक्ति एक एकड़ कृषि-योग्य भूमि के आधार पर निम्नलिखित तालिका<sup>2</sup> से 1931 ई० में जनाधिक्य की समस्या का अन्दाजा लगता है—

| राज्य               | जनसंख्या<br>(लाख में) | कृषि-भूमि<br>का क्षेत्र<br>(दस लाख<br>एकड़ में) | प्रति-व्यक्ति<br>कृषित भूमि<br>का क्षेत्र<br>(एकड़ में) | जना-<br>धिक्य |
|---------------------|-----------------------|-------------------------------------------------|---------------------------------------------------------|---------------|
| बंगाल               | 501                   | 23                                              | 0.47                                                    | 21            |
| बिहार एवं<br>उड़ीसा | 376                   | 24                                              | 0.36                                                    | 1.58          |
| उत्तर प्रदेश        | 484                   | 36                                              | 0.74                                                    | 1.65          |
| मद्रास              | 467                   | 34                                              | 1.74                                                    | 1.35          |
| पंजाब               | 635                   | 26                                              | 1.12                                                    | 0.89          |
| मध्य प्रदेश         | 155                   | 45                                              | 1.58                                                    | 0.63          |
| बम्बई               | 219                   | 33                                              | 1.61                                                    | 0.62          |

पिछले 40 वर्षों में इन राज्यों की जनसंख्या और भी तेजी के साथ बढ़ी है। साथ ही, देश-विभाजन के फल-स्वरूप कृषित भूमि की तुलना में भारत को अधिक जनसंख्या मिली थी। अतएव इन तथ्यों से इस समस्या की गम्भीरता और भी स्पष्ट हो जाती है।

(2) खाद्यान्न का अभाव (Shortage of Food grains) :—देश की प्रायः 70 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर ही आश्रित है, फिर भी देश की कृषि से यहाँ के निवासियों के लिए पर्याप्त मात्रा में अन्न नहीं प्राप्त हो पाता। इनसे देश में खाद्यान्न का अभाव उत्पन्न हो जाता है जिसे दूर करने के लिए प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये का अन्न विदेशों से आयात करना पड़ता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही जनसंख्या में खाद्यान्न की अपेक्षा अधिक तेजी से वृद्धि होने लगी। श्री पी० के० वत्तल के अनुसार 1913-14 से 1934-35 के बीच जनसंख्या में प्रायः प्रतिवर्ष औसत रूप से 1 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई किन्तु खाद्यान्नों के उत्पादन में केवल 0.65 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। इसी प्रकार डॉ० ज्ञानचन्द्र के अनुसार 1901 ई० से 1934 के बीच देश की जनसंख्या में 21 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी जबकि कृषि की जानेवाली भूमि के क्षेत्र

में केवल 11 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। इन अनुमानों से यह स्पष्ट है कि देश में जनसंख्या की वृद्धि तथा खाद्य के उत्पादन में असंतुलन निरन्तर बढ़ते ही जा रहा है।

देश-विभाजन के बाद तो यहाँ खाद्यान्न का अभाव और भी बढ़ गया है। आज भी देश के अधिकांश व्यक्तियों को भर-पेट भोजन नहीं मिलता। हमारे देश में केवल अन्न की ही कमी नहीं वरन् हमारे भोजन में पोषक तत्वों का भी अभाव है। देश में प्रायः 95 प्रतिशत व्यक्तियों को संतुलित भोजन (Balanced diet) नहीं मिलता। 1940 में सर जॉन मेगा ने यह अनुसार लगाया था कि भारत में केवल 39 प्रतिशत व्यक्तियों को पोषक-तत्व युक्त भोजन; 41 प्रतिशत को कम पोषक-तत्व युक्त भोजन तथा 20 प्रतिशत को अत्यन्त कम पोषक-तत्व युक्त भोजन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि भारत में जनाधिक्य की स्थिति वर्तमान है। हाल में ही डंडेकर तथा रथ ने यह सिद्ध किया है कि देश के 40 प्रतिशत व्यक्तियों के भोजन में पर्याप्त मात्रा में कैलरिज नहीं प्राप्त हो पाता।

(3) उद्योग-धन्धों का अविकसित होना (Lack of Industrial Development): भारत औद्योगिक दृष्टि से एक पिछड़ा राष्ट्र है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश में उद्योग-धन्धों के विकास पर अधिक जोर अवश्य दिया जा रहा है, किन्तु फिर भी, औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादन वृद्धि अत्यधिक महत्त्वपूर्ण नहीं रही है। देश में उद्योग-धन्धों का विकास इतनी तीव्र गति से नहीं हुआ है जिससे बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। देश में उद्योग-धन्धों के पिछड़ेपन का अन्दाजा इसी बात से लगाया जाता है कि 1964-65 ई० में खनिज, लघु-उद्योग तथा कारखानों से देश की कुल राष्ट्रीय आय का केवल 18 प्रतिशत भाग ही प्राप्त हुआ था जबकि कृषि का हिस्सा 51.3 प्रतिशत भाग था। साथ ही, कारखानों में उस वर्ष केवल 46-90 लाख व्यक्ति ही कार्य करते थे जो देश की सम्पूर्ण कार्यशील जनसंख्या का एक बहुत ही छोटा भाग था। उद्योग-धन्धों के अविकसित होने के कारण ही हमारे देश में कृषि पर जनसंख्या की निर्भरता बढ़ती जा रही है, भूमि-हीन मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई है तथा बेकारी में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई है।

(4) प्रतिबंधक निरोधों का अभाव (Lack of Preventive Checks)—देश में जनाधिक्य की स्थिति वर्तमान है, इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि यहाँ पर जनसंख्या के नियंत्रण में प्रतिबंधक निरोध काम में नहीं लाये जाते हैं। प्रतिबंधक निरोधों (Preventive checks) के अन्तर्गत देर से व्याह करना, आत्मसंयम तथा संतति-निरोध के कृत्रिम साधनों (Artificial methods of birth-control) का प्रयोग इत्यादि आते हैं। भारत

1. Proceedings of the World Population Conference—food and population—p. 81.
2. Food Planning for 400 millions By R. K. Mukherjee, p. 21



में इन सारे उपायों का अभाव है। यहाँ पर शादी करना तथा बच्चा पैदा करना प्रत्येक व्यक्ति अपना परम कर्तव्य समझता है। साथ ही, हमारे देश में आज भी बाल-विवाह की प्रधानता है। इंग्लैंड तथा अमेरिका में 30 वर्ष की अविवाहित औरतें क्रमशः 41 प्रतिशत और 23 प्रतिशत हैं, जबकि भारत में 15 वर्ष की प्रायः 75 प्रतिशत लड़कियाँ विवाहित हैं। इससे यह स्पष्ट है कि हमारे देश में प्रजनन शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग होता है। साथ ही, हमारे देश में देशवासियों की अशिक्षा, निर्धनता तथा धार्मिक एवं सामाजिक वातावरण के कारण संतति-निरोध के कृत्रिम साधनों का भी बहुत कम प्रयोग होता है। ये सभी तथ्य इस बात के परिचायक हैं कि देश में जनाधिक्य की स्थिति वर्तमान है।

(5) नैसर्गिक निरोधों की प्रधानता (Preponderance of Positive checks) — भारत में प्रतिबन्धक निरोधों का अभाव है, किन्तु यहाँ पर नैसर्गिक निरोधों की ही प्रधानता है। माल्थस के अनुसार बाढ़, अकाल, महामारी इत्यादि नैसर्गिक निरोध जनाधिक्य की स्थिति के सूचक हैं। भारत में वर्तमान समय में भी इन प्राकृतिक आपत्तियों की प्रधानता है। प्रतिवर्ष देश के भिन्न-भिन्न भागों में बाढ़ तथा सूखा से बहुत अधिक क्षति होती है तथा हजारों व्यक्तियों की मृत्यु होती है। देश में हैजा, चेचक तथा इन्फ्लूएंजा आदि महामारियों का प्रकोप यदा-कदा पाया जाता है जिनके परिणामस्वरूप हजारों व्यक्तियों की मृत्यु होती है। अतएव इस आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि भारत में जनाधिक्य की स्थिति वर्तमान है।

(6) निम्न जीवन-स्तर (Low Standard of Living) — भारत में निम्न जीवन-स्तर भी इस बात का परिचायक है कि देश में जनाधिक्य की स्थिति वर्तमान है। हमारे देश में 1976 में प्रति-व्यक्ति औसत वार्षिक आय 140 डॉलर थी, जबकि उसी वर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका के एक औसत निवासी की प्रति व्यक्ति औसत वार्षिक आय 6670 डॉलर, कनाडा की 6190 डॉलर तथा जापान की 4070 डॉलर थी। इससे स्पष्ट है कि एक औसत भारतवासी की अपेक्षा संयुक्त राज्य अमेरिका के निवासी की औसत आय 50 गुना से भी अधिक है। इससे भारतवासियों के निम्न जीवन-स्तर का अन्दाजा लगता है। हमारा यह निम्न जीवन-स्तर देश में जनाधिक्य की स्थिति का सबसे बड़ा परिचायक है।

(7) बेकारी की समस्या (Problem of unemployment) — भारत में जनाधिक्य की स्थिति का सर्वाधिक प्रमुख सूचक देश में बेकारी की भीषण समस्या है। देश में लाखों व्यक्ति काम चाहते हुए भी बेकार हैं। पाँच पंचवर्षीय योजनाओं और तीन एक-वर्षीय योजनाओं के कार्यान्वयन के बावजूद बेरोजगारों की संख्या दिन-प्रति

दिन बढ़ती ही जा रही है। देश में काम-दिलाऊ संस्थाओं (Employment Exchanges) द्वारा उपलब्ध आँकड़ों से यह पता चलता है कि बेकारी की समस्या निरन्तर बढ़ती ही चली जा रही है। योजना आयोग के अनुसार प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में देश में 33 लाख व्यक्ति बेकार थे। द्वितीय योजना के प्रारम्भ में यह बढ़कर 53 लाख तथा तृतीय योजना के प्रारम्भ के 71 लाख हो गयी। चतुर्थ योजना के प्रारम्भ में यह संख्या 120 लाख के लगभग हो गयी। इससे स्पष्ट है कि पंचवर्षीय योजनाओं में बहुत अधिक व्यक्तियों के लिए रोजगार की सुविधा नहीं प्रदान की जा सकी तथा बेरोजगारों की संख्या में और भी वृद्धि हुई। इससे बेकारी की समस्या की गम्भीरता का अन्दाजा लगता है। इसके अतिरिक्त बहुत बड़ी संख्या में लोग अर्द्ध-बेरोजगारी की स्थिति में भी हैं। यह देश में जनाधिक्य की स्थिति का प्रधान सूचक है।

इससे स्पष्ट है कि हमारे देश में जनाधिक्य की स्थिति वर्तमान है। दूसरे शब्दों में, कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन की क्षमता से जितनी जनसंख्या का निर्वाह हो सकता है उससे अधिक मनुष्य यहाँ निवास करते हैं, यानी यहाँ जनाधिक्य की स्थिति वर्तमान है। श्री ए० एम० कॉर्रिसेण्डर्स ने भारत में जनसंख्या-सम्बन्धी विभिन्न तथ्यों को ध्यान में रखते हुए अपनी पुस्तक "वर्ल्ड पोपुलेशन" में लिखा है कि यहाँ जीवन-निर्वाह के साधनों पर जनसंख्या का अधिकतम भार है। कुछ वर्ष पूर्व सर जॉन मेगा ने भी इस बात की चेतावनी दी थी कि भारत की अत्यधिक निर्धनता का प्रमुख कारण जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि है। यदि देश की जनसंख्या इसी गति से बढ़ती रही तो भविष्य में इसके कारण बहुत बड़ा संकट उपस्थित हो सकता है। डॉ० जानचन्द, डा० राधाकमल मुखर्जी तथा प्रो० पी० के० वंतल आदि अर्थशास्त्रियों के अनुसार भी देश में निश्चय ही जनाधिक्य है। भारत के भूतपूर्व जनगणना आयुक्त (Census Commissioner) श्री गोपाल स्वामी आयरंगर ने बढ़ती हुई जनसंख्या के दबाव के कारण 1981 ई० को मृत्यु वर्ष (Death year) कहा था क्योंकि उस समय तक हमारी जनसंख्या इतनी अधिक हो जायगी कि हम इसका पालन-पोषण करने में असमर्थ हो जायेंगे।

द्वितीय विचार : भारतवर्ष में जनाधिक्य नहीं है  
(India is not Over-populated)

इसके विपरीत कुछ लोगों का कहना है कि भारत में जनाधिक्य की समस्या नहीं है। उदाहरण के लिए, 1931 ई० के जनगणना आयुक्त डॉ० हट्टन के अनुसार भारत की जनसंख्या द्वारा अभी तक देश के साधनों का अतिक्रमण नहीं हुआ है। डा० पी० जे० थामस तथा



श्री डी० जे० कर्वे के अनुसार भी भारत में जनसंख्या की तुलना में प्रति-व्यक्ति आय में तीव्र गति से वृद्धि हो रही है। श्री कर्वे ने हमारा ध्यान देश में घटती हुई शिशु-मृत्यु की दर, सामान्यतया स्थायी या घटती हुई जन्म-दर, निश्चित रूप से घटती हुई मृत्यु-दर एवं जीवन की औसत आयु में वृद्धि की ओर आकषित किया है और इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है कि देश में जनाधिक्य की स्थिति में धीरे-धीरे सुधार हो रहा है।

भारत में जनाधिक्य के विरुद्ध सामान्यतया निम्न-लिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं जो वास्तव में यथार्थ नहीं जान पड़ते :—

(1) जनसंख्या का घनत्व अपेक्षाकृत कम है (Comparatively less density of population) :—जनाधिक्य के विरुद्ध सर्वप्रथम तर्क यह दिया जाता है कि भारत में पाश्चात्य देशों की तुलना में जनसंख्या का घनत्व बहुत ही कम है। 1931 ई० के जनगणना-आधुक्त डा० हट्टन का कहना है कि यूरोप की तुलना में कृषि पर आश्रित जनसंख्या का घनत्व भारत में अधिक हो सकता है क्योंकि यहाँ कि भूमि अति उर्वर है। साथ ही, गर्म जलवायु के कारण यहाँ के निवासियों की आवश्यकताएँ भी कम हैं। जनसंख्या के घनत्व की चर्चा करते समय हमने देखा था कि वास्तव में भारत की जनसंख्या का घनत्व इंग्लैंड, फ्रांस, बेल्जियम तथा जापान आदि देशों की तुलना में कम है। किन्तु ये सभी देश औद्योगिक देश हैं। अतः, ये सामान्यतः अधिक व्यक्तियों को आश्रय प्रदान कर सकते हैं, भारत एक कृषि-प्रधान देश है, अतएव इसके घनत्व की तुलना कृषि-प्रधान देशों के साथ ही की जानी चाहिए। एक कृषि-प्रधान देश सामान्यतया कम ही जनसंख्या को आश्रय प्रदान कर सकता है। अतः पाश्चात्य औद्योगिक देशों की तुलना में कम घनत्व के कारण यहाँ जनाधिक्य का अभाव नहीं कहा जा सकता।

(2) प्रति-व्यक्ति औसत आय क्रमशः बढ़ रही है (Average per-capita income is increasing) :—जनाधिक्य के विरुद्ध दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि भारत की प्रति-व्यक्ति औसत आय क्रमशः बढ़ रही है जो जनाधिक्य की स्थिति में सम्भव नहीं है। इस कथन की पुष्टि में समय-समय पर प्रति व्यक्ति औसत आय के सम्बन्ध में दिये गये अनुमानों को बतलाया जाता है। इस प्रकार दादा भाई नौरोजी के अनुसार भारत की प्रति व्यक्ति औसत आय 1871 ई० में अनुमानित 20 रुपये प्रति वर्ष थी, लार्ड कर्जन के अनुसार 1900 ई० में 33 रुपये, डा० राव के अनुसार 1931 ई० में 65 रुपये तथा राष्ट्रीय आय समिति के अनुमान के अनुसार 1950-51 ई० में भारत की प्रति-व्यक्ति आय 256 रुपये थी जो 1955-56 ई० में बढ़कर 281 र० हो गयी। इस प्रकार देश में प्रति-व्यक्ति औसत

आय में वृद्धि के फलस्वरूप यह कहा जा सकता है कि यहाँ जनाधिक्य की स्थिति नहीं है। किन्तु, इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि देश में 'मुद्रा-प्रसार के कारण केवल मौद्रिक आय में ही वृद्धि हुई है, वास्तविक आय में इस अवधि में प्रायः कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। वास्तव में, देश की आर्थिक परिस्थितियों में कोई भी ऐसा स्पष्ट एवं दृष्टिगोचर सुधार नहीं हुआ है जिससे कि यह कहा जा सके कि हमारी आर्थिक समृद्धि में वृद्धि हुई है। अतः इस तर्क के आधार पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि भारत में जनाधिक्य की स्थिति नहीं है।

(3) जनसंख्या में वृद्धि की दर अधिक नहीं है (Rate of Increase in Population is not much) :—जनाधिक्य के विरुद्ध तीसरा तर्क यह दिया जाता है कि पश्चिमी देशों की तुलना में भारत की जनसंख्या अपेक्षाकृत कम दर से बढ़ रही है। उदाहरण के लिए, 1888 ई० से 1930 ई० के बीच 50 वर्षों में भारत की जनसंख्या में केवल 39 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई थी। जबकि उसी समय में इंग्लैंड की जनसंख्या में 54 प्रतिशत तथा संयुक्त राज्य अमेरिका की जनसंख्या में 186 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। परन्तु केवल अल्प वृद्धि के आधार पर ही यह नहीं कहा जा सकता कि भारत में जनाधिक्य नहीं है। इसके लिए हमें कम-से-कम यह देखना होगा कि घनोत्पत्ति में कम-से-कम जनसंख्या के अनुपात में वृद्धि होती है या नहीं। पश्चिमी देशों में जनसंख्या की वृद्धि की गति निस्संदेह अधिक रही है। किन्तु, उनका विकास भी इतनी तीव्रता के साथ हुआ है कि वास्तव में लोगों के जीवन-स्तर में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। भारत के साथ ऐसी बात नहीं पायी जाती है। साथ ही, भारत में जनसंख्या की वृद्धि को नियन्त्रित करने में प्राकृतिक अवरोधकों की ही प्रधानता रही है। अतः जनाधिक्य के विरुद्ध यह तर्क भी सबल नहीं जान पड़ता।

(4) श्रम का अभाव (Shortage of Labour) :—भारत में जनाधिक्य के विरुद्ध एक तर्क यह भी दिया जाता है कि यहाँ श्रम का अभाव है। किन्तु यह तर्क भी वास्तव में तथ्यहीन जान पड़ता है क्योंकि भारत में श्रम के अभाव को कौन कहे, वास्तव में यहाँ बेकारी तथा अर्द्ध-बेकारी बहुत ही अधिक है। कुछ विशेष अवसरों पर, जैसे फसल बोने तथा काटने के समय श्रम का अभाव अवश्य महसूस होता है। परन्तु वर्ष के शेष भाग में श्रामिक अधिकांशतः बेकार ही रहते हैं। कृषि-आयोग की राय में भी असम के अतिरिक्त अन्य किसी भी राज्य में श्रम का अभाव नहीं है। उद्योग-धंधों में देश के बहुत ही कम व्यक्तियों को रोजी मिल पाती है। यह जनाधिक्य की स्थिति का परिचायक है। देश में शिक्षित एवं विशेषज्ञ श्रमिकों का अभाव अवश्य है, किन्तु इसमें यह नहीं कहा जा सकता कि भारत में श्रम का सामान्य रूप में अभाव है।



इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत में जनाधिक्य के विरुद्ध दिये जाने वाले प्रायः सभी तर्क तथ्यहीन हैं। अतः यह निर्विवाद है कि वर्तमान परिस्थितियों में यहाँ जनाधिक्य की स्थिति वर्तमान है।

**निष्कर्ष (Conclusion):**—भारत में जनाधिक्य की स्थिति वर्तमान है:—भारत में जनसंख्या-सम्बन्धी विभिन्न तथ्यों के अध्ययन के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि भारत में निश्चित रूप से जनाधिक्य की स्थिति वर्तमान है जो हमारे आर्थिक जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित करती है। अतः देश के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक पुनर्निर्माण की किसी भी योजना में जनाधिक्य की समस्या को महत्वपूर्ण स्थान देना अनिवार्य है। वास्तव में, देश के आर्थिक पुनर्निर्माण में हमारी वर्तमान जनसंख्या बहुत बड़ी रुकावट सिद्ध हो रही है। अतः वर्तमान जनसंख्या में कमी अथवा कम-से-कम भविष्य की वृद्धि में रुकावट निश्चित रूप से अनिवार्य है। इससे हमारा तात्पर्य यह नहीं कि हमारा उद्देश्य पश्चिमी देशों के कृत्रिम जीवन-स्तर की नकल करना है। सादगी का जीवन एक अच्छा आदर्श है तथा इसके विरुद्ध हम कुछ नहीं कह सकते। किन्तु भारत की सादगी कुछ और प्रकार की सादगी है। हमारे देश के अधिकांश निवासियों की स्थिति इतनी दारुण है कि वे अपने जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति में भी बहुधा असमर्थ रहते हैं। यहाँ के अधिकांश व्यक्ति अर्द्ध-भूखे, अर्द्ध नंगे, बीमार, अशिक्षित तथा अकुशल हैं। कम-से-कम दो-तिहाई व्यक्तियों को पर्याप्त मात्रा में भोजन नहीं मिल पाता। हमारे यहाँ प्रति-व्यक्ति उपलब्ध खाद्यान्न की मात्रा संयुक्त राज्य अमेरिका के एक-तिहाई भाग से भी कम है। अतः ऐसी स्थिति में 'सादा जीवन तथा उच्च विचार' (Plain living and high thinking), जो प्रारम्भ से ही भारतीय सभ्यता<sup>1</sup> का आधार रहा है, को भी जीवन का अन्तिम आदर्श मानने पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि वर्तमान परिस्थितियों में हमारी जनसंख्या का आकार आवश्यक जनसंख्या के आकार का कम-से-कम दुगुना है।

#### जनाधिक्य के निराकरण के उपाय (Measures to check over-population)

इस प्रकार भारत में निश्चित रूप से जनाधिक्य है। वास्तव में, जनसंख्या की दृष्टि से हम इतनी तीव्र गति से आगे बढ़ रहे हैं कि देश में प्रगति एवं परिवर्तनों के बावजूद हम आर्थिक दृष्टि से अगतिशील बने हुए हैं। (Demographically we are running so fast that economically, despite changes, and progress, we are standing still), डॉ० जुलियन हक्सले (Jull-

1. "It is ridiculous to have poverty as a national ideal."

भा० अ०—5

ian Huxley) ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि यदि भारत अपनी जनसंख्या की समस्या के समाधान में विफल रहा तो इससे एक बड़ी भारी राजनीतिक एवं सामाजिक अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी तथा यदि सफल हुआ तो उसे एशिया का ही नेतृत्व प्राप्त नहीं होगा वरन् सम्पूर्ण विश्व की आशा का केन्द्र बन जायगा। आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से भारत के लिए मृत्यु-दर के नियन्त्रण के साथ-साथ जन्म-दर में कमी भी अनिवार्य है। साथ-ही, देश को अपने आर्थिक-नियोजन में उन साधनों को प्राथमिकता देना भी अनिवार्य है जिनसे कि देश में पुनः उत्पादन की दर को घटाया जा सके अन्यथा देश आर्थिक विकास की दौड़ में निश्चय ही पीछे पड़ जायगा। सारांश यह है कि जनाधिक्य की इस समस्या के समाधान के बगैर देश के आर्थिक विकास की कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती।

इस समस्या के समाधान के लिए सामान्यतः निम्न-लिखित सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं:—

- (1) प्रवास या विदेशों में जाकर बसना,
- (2) आर्थिक विकास,
- (3) शिक्षा का प्रचार, तथा
- (4) जनसंख्या पर नियन्त्रण।

(1) प्रवास (Emigration):—पश्चिमी देशों में प्रवास के द्वारा जनसंख्या के भार को कम करने में पर्याप्त सफलता मिली है। भारत में भी यहाँ के निवासियों को विदेशों में बसने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है जिससे जनाधिक्य की स्थिति में सुधार की आशा की जा सकती है। डॉ० राधाकृष्ण मुखर्जी तथा चन्द्रशेखर ने संसार के वीरान स्थलों में भारतवासियों को ले जाकर बसाने का सुझाव दिया है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय प्रवास हमारे वश से बाहर की बात है। साथ ही, हाल की घटनाओं से इस बात की पुष्टि होती है कि विदेशों में बहुत ही बड़ी संख्या में दलवासियों को बसने की कोई सम्भावना नहीं है। आजकल प्रायः 40 लाख भारतीय विदेशों में रहते हैं जिनमें 75 प्रतिशत लोग लंका, मलाया तथा बर्मा में हैं। किन्तु इन देशों में भारतवासियों की स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। लंका, मलाया तथा बर्मा में द्वितीय युद्ध के पूर्व तथा बाद की घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवासियों को इन देशों में बसाने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता। दक्षिणी अफ्रिका तथा आस्ट्रेलिया की इस सम्बन्ध की नीति ने तो इस बात को और भी स्पष्ट बना दिया है कि भारतवासियों को अपनी उन्नति के लिए स्वयं अपने देश पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। इन देशों में भारतवासियों के विरुद्ध कानून बनाये गये हैं जिससे इनका प्रवास सम्भव नहीं जान पड़ता। अतः हमारे देश में जनाधिक्य की समस्या का समाधान प्रवास के द्वारा नहीं किया जा सकता।



देश के अन्दर भी विभिन्न राज्यों में अन्तर्देशीय गमन के द्वारा जनसंख्या के वितरण को अधिक समान बनाया जा सकता है। आज भी असम—जैसे छितरे बसे हुए राज्यों में जनसंख्या के विस्तार के लिए पर्याप्त स्थान है। परन्तु, ऐसा करने पर भी देश के घने आबाद क्षेत्रों की जनसंख्या का एक बहुत छोटा भाग ही स्थानान्तरित किया जा सकता है। साथ ही, घर तथा परिचित परिस्थितियों के प्रति स्वाभाविक प्रेम (Home-sickness), रुढ़िवादिता तथा देशवासियों की असाहसी प्रकृति से इस उपचार की सीमा और भी स्पष्ट हो जाली है। इतना ही नहीं, विभिन्न राज्यों में भाषा, विचार, रहन-सहन तथा जलवायु में विभिन्नता के कारण भी लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने की आशा नहीं की जा सकती। साथ ही, देश-विभाजन के फलस्वरूप विस्थापितों की संख्या बढ़ गयी है जिनके पुनर्वास की समस्या हमारे समक्ष है। अतः इन सारी कठिनाइयों के कारण अन्तर्-देशीय गमन द्वारा जनाधिक्य के भार को कम करने की भी बहुत कम सम्भावना है।

### (2) आर्थिक विकास (Economic Growth) :—

प्रायः ऐसा कहा जाता है कि आर्थिक विकास, यानी कृषि एवं उद्योग-धन्धों के आयोजित विकास द्वारा राष्ट्रीय आय में समुचित वृद्धि कर जनाधिक्य की समस्या का निराकरण किया जा सकता है। यह जनाधिक्य की समस्या का एक अप्रत्यक्ष किन्तु शक्तिशाली उपचार है। इसमें कोई सन्देह नहीं की प्रारम्भ में आय की वृद्धि से जनसंख्या की वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है, किन्तु इसके फलस्वरूप धीरे-धीरे जीवन-स्तर ऊँचा होने लगता है और जीवन-स्तर ऊँचा होने से जनसंख्या के वैच्छिक नियन्त्रण की इच्छा एवं क्षमता बढ़ती जाती है। यूरोपीय देशों से ऐसा अनुभव हुआ है कि जीवन-स्तर ऊँचा होने से कुछ ऐसी भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक शक्तियाँ स्वयं व्याप्त हो जाती हैं जो जनसंख्या में वृद्धि की प्रवृत्ति को कम करने में सहायक होती हैं। भारत में भी देशवासियों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो जाने से वे सन्तानोत्पत्ति में दूरदर्शिता से काम लेने लगेंगे। इस प्रकार आर्थिक विकास जनाधिक्य की समस्या का सबसे अधिक प्रभावोत्पादक एवं आशाजनक उपचार समझा जाता है। परन्तु इसके लिए एक सुनिश्चित योजना के आधार पर कृषि एवं उद्योग-धन्धों के विकास की नीति अपनानी पड़ेगी।

भारत में खाद्यान्न का अभाव बहुत अधिक है जिसे दूर करने के लिए कृषि के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर देना अनिवार्य है। कृषि-विकास के सम्बन्ध में हमारा लक्ष्य यह होना चाहिए कि उत्पादन में इस प्रकार से वृद्धि हो जिससे कि बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताएँ सुगमतापूर्वक पूरी की जा सकें। सिंचाई, खाद एवं उत्तम बीज की व्यवस्था, बंजर भूमि के उद्धार तथा सहकारिता

के विकास द्वारा कृषि-उत्पादन में वृद्धि की जा सती है।<sup>1</sup> किन्तु, इन सब उपायों से कृषि में स्थायी सुधार की आशा नहीं की जा सकती। जब तक जोतों के उपविभाजन एवं अपखंडन तथा ग्रामीण कर्ज जैसी भारतीय कृषि की मौलिक समस्याओं का निराकरण नहीं किया जायगा, तब तक कृषि के क्षेत्र में कोई आमूल परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती।

किन्तु केवल कृषि में विकास द्वारा ही राष्ट्रीय आय में पर्याप्त वृद्धि की आशा नहीं की जा सकती। इसके लिए तीव्र गति से उद्योग-धन्धों के विकास की भी बड़ी आवश्यकता है, या यों कहा जा सकता है कि देश में संतुलित आर्थिक व्यवस्था के निर्माण के लिए कृषि एवं उद्योग-धन्धों का विकास अपेक्षित है। हमारे देश में उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में विकास की अत्यधिक सम्भावनाएँ हैं। इसके लिए आधारभूत एवं मूल उद्योगों के विकास पर अधिक जोर देना होगा जिससे कि देश में औद्योगिक विकास की नींव सुदृढ़ की जा सके। साथ ही, उद्योग-धन्धों एवं खनिज-सम्बन्धी अनुसन्धान को भी प्रोत्साहित करना होगा तथा श्रमिकों की स्थिति में सुधार की आवश्यकता पड़ेगी। किन्तु इस सम्बन्ध में जानने योग्य बात यह है कि भारत जैसे विशाल देश में, जहाँ पूँजी की अपेक्षा श्रम ही प्रधानता है केवल वृहत् पैमाने के उद्योग-धन्धों के विकास के द्वारा ही जनाधिक्य की समस्या का समाधान सम्भव नहीं है। अतः लघु एवं कुटीय उद्योगों के विकास पर पर्याप्त जोर देना आवश्यक है।

इस प्रकार देश में कृषि के पुनरुत्थान तथा औद्योगीकरण द्वारा जनाधिक्य की समस्या का समाधान किया जा सकता है। किन्तु उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ समाज में धन एवं आय के वितरण की विषमता को भी यथा-सम्भव दूर करने का प्रयास करना होगा। उत्पादन के साथ-साथ वितरण पर भी पर्याप्त मात्रा में ध्यान देना चाहिए नहीं तो देशवासियों का एक बहुत बड़ा भाग बढ़े हुए उत्पादन के लाभ से प्रायः वंचित रह जायगा। इस प्रकार उत्पादन में वृद्धि एवं वितरण में आवश्यक सुधार द्वारा जनाधिक्य की समस्या का निराकरण किया जा सकता है।

### (3) शिक्षा का प्रचार (Spread of Education)

—किसी देश की आर्थिक क्षमता को पूर्णतया विकसित करने के लिए सामान्य तथा विशेष दोनों ही प्रकार की शिक्षाओं का बहुत अधिक महत्त्व है। भारत में इन दोनों प्रकार की शिक्षाओं का अभाव है। फलस्वरूप यहाँ की अधिकांश जनता अशिक्षित हैं। औरतों में तो शिक्षा का और भी अभाव है जिससे कोई भी आन्दोलन यहाँ लोकप्रिय नहीं बन सकता। अशिक्षित होने के कारण लोग परिवार नियोजन (Family Planning) तथा संतति-नियंत्रण (Birth-Control) के महत्त्व को नहीं समझ पाते। शिक्षा के



विकास द्वारा इस आन्दोलन को अधिक लोकप्रिय बनाया जा सकता है। आज पश्चिमी देशों में प्रत्येक दम्पति के समक्ष 'बच्चा अथवा कार' (Whether a baby or a car) का प्रश्न अति स्वाभाविक रूप से आता है जिसमें साधारणतः कार को ही प्राथमिकता मिलती है। इससे स्पष्ट है कि शिक्षा के क्रमिक विकास द्वारा सन्तानोत्पत्ति की प्रवृत्ति कम हो जाती है तथा पारिवारिक नियोजन को बल मिलता है। नेशनल सैम्पुल सर्वे के एक अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि इंटरमीडियट तथा अधिक पढ़ी औरतों को औसत रूप से 2.6 बच्चे, मैट्रिक तक पढ़ी औरतों की औसतन 4.2 बच्चे, मिडिल तक पढ़ी औरतों को 4.5 बच्चे तथा अशिक्षित औरतों की औसत 6 बच्चे होते हैं। इससे जनसंख्या के नियन्त्रण में शिक्षा का महत्त्व विलकुल स्पष्ट हो जाता है। अतः, देश में शिक्षा का प्रचार आवश्यक है। इसके लिए शिक्षा की साधारण योजनाओं के साथ-साथ प्रौढ़ शिक्षा के लिए भी एक व्यापक योजना बनायी जानी चाहिए। इस दिशा में भारत सरकार से बहुत-कुछ आशा की जाती है।

### परिवार नियोजन (Family Planning)

जनाधिक्य की समस्या के समाधान के लिए परिवार नियोजन एक महत्त्वपूर्ण उपचार है। परिवार नियोजन (Family Planning) का अर्थ है स्वेच्छापूर्वक अपने परिवार के आकार को सीमित बनाना। आजकल इस बात पर जोर दिया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने साधनों के अनुसार ही अपने परिवार को सीमित रखना चाहिए, ताकि सकीर्ण सन्तान को जीवन में उन्नति का पर्याप्त अवसर उमिल के। यह तभी सम्भव हो सकता है जब लोगों में इस बात त धारणा स्थान ग्रहण कर ले कि उनका परिवार सीमिकी रहे, अर्थात् वे सभी अपने रहन-सहन के स्तर को ऊपर उठाने का प्रयत्न करें तथा अपनी सन्तान के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भली-भाँति समझें। अधिक सन्तान होने से परिवार का समुचित विकास नहीं हो पाता तथा रहन-सहन का समान स्तर भी नीचा होते जाता है। पश्चिम के प्रगतिशील राष्ट्रों में लोगों के बीच आज यह आम धारणा काम कर रही है जिसके फलस्वरूप पिछले प्रायः 50-60 वर्षों में उन देशों में जन्म-दर में बहुत अधिक कमी हुई है। इन देशों में सन्तानोत्पत्ति में प्रत्येक दम्पति के सामने 'बच्चे अथवा कार' का प्रश्न रहता है। और 'कार' ही के पक्ष में अधिकांश निर्णय होते हैं। दूसरे शब्दों में, परिवार नियोजन का आशय है कि स्वेच्छा से सोच-समझ कर सन्तान हो, अदूरदर्शिता अथवा चूक से नहीं। (Child by choice; not by chance; by design not by accident, is the motto of Family Planning) किन्तु कभी-कभी परिवार नियोजन के उद्देश्य से सावधानी एवं दूरदर्शिता बहुत आगे तक बढ़ जाती है जिससे

कठिनाइयों की आशंका होने लगती है।<sup>1</sup> परन्तु भारत के सम्बन्ध में वह भय निरर्थक ही जान पड़ता है। इस प्रकार जनाधिक्य की समस्या के समाधान के लिए परिवार नियोजन की बड़ी आवश्यकता है।

पाश्चात्य देशों में परिवार-नियोजन पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया जाता है, किन्तु हमारे देश में किंचित शिक्षित व्यक्तियों को छोड़कर, सामाजिक जीवन में परिवार-नियोजन को अभी उतना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिल पाया है। भारत में धार्मिक एवं सामाजिक प्रथाओं के फलस्वरूप प्रत्येक हिन्दू विवाह करना तथा बच्चा पैदा करना अपना परम धर्म समझता है। हिन्दू धर्म के अनुसार पुत्र के बगैर मनुष्य का जीवन पूर्ण नहीं होता तथा मृत्यु के उपरांत उसकी आत्मा को शान्ति नहीं मिलती। इतना ही नहीं, हमारे देश में बाल-विवाह की प्रथा आज भी प्रचलित है जिससे अधिक सन्तान का होना स्वाभाविक है। इन सब कारणों से परिवार-नियोजन का हमारे देश में विशेष महत्त्व है।

परिवार-नियोजन के विभिन्न साधन हैं। इनमें संयमित जीवन व्यतीत करना सबसे अच्छा उपाय है। हमारा देश प्रारम्भ से ही ब्रह्मचर्य पालन के लिए विख्यात रहा है। आज भी यदि आरम्भ से ही लोगों के चरित्र एवं व्यक्तित्व के विकास की ओर पर्याप्त ध्यान दिया जाय तो गार्हस्थ्य जीवन में भी वे संयम का भली-भाँति पालन कर सकते हैं। फिर/भी, वर्तमान परिस्थितियों में सर्वसाधारण के लिए संयमित जीवन व्यतीत करना सम्भव नहीं जान पड़ता। डाक्टरों की राय में भी दीर्घकाल तक संयम रखने से विवाहित दम्पति के शरीर और मस्तिष्क पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। वास्तव में विवाहित दम्पति को अधिक समय तक संयम से रहने का उपदेश देना भूख दूर करने के लिए पेट काटने के उपाय के समान है।

इसलिए परिवार के आकार को सीमित रखने के लिए सन्तति-निग्रह (Birth Control) के कृत्रिम साधनों का प्रयोग एक उत्तम तरीका है। जन्म-दर को घटाने में सन्तति-निग्रह के कृत्रिम साधनों का यूरोपीय देशों में महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। भारत में भी आज इन उपायों के अधिकाधिक प्रयोग की बड़ी आवश्यकता है किन्तु सन्तति-निग्रह के कृत्रिम उपायों के विरुद्ध भारत में अनेक तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। सर्वप्रथम, तो इन्हें अप्राकृतिक

1. जैसा कि फ्रांस में हुआ था। मार्शल पेटा के अनुसार 1940 में फ्रांस की हार का प्रमुख कारण बच्चे का कम होना था जिससे कि देश में सिपाहियों की कमी हो गयी। आज भी फ्रांस इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। यहाँ परिवार को बढ़ाने के लिए स्वयं सरकार द्वारा प्रयत्न किये जाते हैं।



करार किया जाता है। किन्तु, यदि संतति-निग्रह के कृत्रिम उपायों को अप्राकृतिक कहा जाता है तो आधुनिक सुसंस्थ जीवन से सम्बन्धित कपड़ा, औषधियाँ तथा फर्नीचर आदि भी निश्चय ही अप्राकृतिक हैं। इनके विरुद्ध दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि इन साधनों के दुरुपयोग से सामाजिक परम्परा नष्ट हो जायगी। धार्मिक दृष्टिकोण से भी इनके विरुद्ध आपत्ति उठाई जाती है। किन्तु पारिवारिक नियोजन के लाभों पर ध्यान देने से संतति-निग्रह के विरुद्ध उठायी जाने वाली सारी आपत्तियाँ तथ्यहीन हो जायेंगी। देश में जनाधिक्य की समस्या इतनी जटिल होती जा रही है कि इनके समाधान के लिए संतति-निग्रह के उपायों को अपनाना अनिवार्य है। देश की जनसंख्या को विवेकपूर्ण ढंग से नियंत्रित करना आवश्यक है जिसमें संतति-निग्रह के कृत्रिम साधनों का महत्वपूर्ण स्थान होगा।

संतति-निग्रह के विरुद्ध उठायी जानेवाली आपत्तियाँ मुख्यतः इसके साधनों से ही संबंधित हैं। वास्तव में, संतति-निग्रह की इच्छा के विरुद्ध किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं उठायी जाती है। संतति-निग्रह आंदोलन के विरुद्ध सबसे बड़ी आलोचना कैथोलिक चर्च वाले करते हैं। इन लोगों का कहना है कि बच्चे व्याह के आवश्यक सामाजिक परिणाम हैं। गाँधीजी के लेखों में भी इस प्रकार की विचारधारा पायी जाती है। इन्होंने परिवार के परिसीमन में आत्म-संयम पर ही विशेष जोर दिया है तथा संतति-निग्रह के कृत्रिम साधनों की नैतिक दृष्टि से आलोचना की है। किन्तु मानव-संख्या का इतिहास प्रारम्भ से ही वैज्ञानिक उपायों द्वारा प्रकृति की विभीषिकाओं पर नियंत्रण रहा है। संतति-निग्रह के कृत्रिम साधनों को इसी तरह का साधन समझना चाहिए। इनके समुचित-उपयोग से विवाहित दम्पति के स्वास्थ्य एवं आयु में वृद्धि होती है। साथ ही, इनके उपयोग से भौतिक कल्याण में भी वृद्धि होती है, बच्चों की शिक्षा एवं स्वास्थ्य में वृद्धि होती है तथा औरतों का सामाजिक महत्त्व भी बढ़ता है। किन्तु, इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि संतति-निग्रह व्यक्तिगत आकांक्षा पर आधारित है। अतएव इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय नीति का उद्देश्य अधिक-से-अधिक इसके पक्ष में लोकमत तैयार करना ही हो सकता है जिससे अपने परिवार की सीमा निर्धारित करने में प्रत्येक दम्पति सामाजिक हित से ही अधिक प्रभावित हो सके।

किन्तु, संतति-निग्रह के प्रश्न पर भारत में ही गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया गया है। भारत में

संतति-निग्रह आंदोलन अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही है। देश के कुछ समाज-सुधारकों तथा चिकित्सा-शास्त्रियों ने निस्संदेह इसके पक्ष में अपने विचार प्रकट किये हैं। हरिपुरा कांग्रेस में अपने अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए सुभाषचन्द्र बोस ने भी जन्म-दर में कमी की सिफारिश निश्चित रूप से की थी। किन्तु अभी तक यह आंदोलन हमारे देश की जनसंख्या के एक बहुत ही छोटे भाग तक पहुँच पाया है। वास्तव में, हमारे देश में इस आंदोलन के प्रचार में बहुत-सारी कठिनाइयाँ हैं। भारत-जैसे विध्वन के प्रचार में बहुत-सारी कठिनाइयाँ हैं। भारत-जैसे विध्वन देश के निवासियों के लिए यह अधिक खर्चीला भी जान पड़ता है। सर्वप्रथम तो ऐसा कहा जाता है कि निर्धन व्यक्तियों के लिए बच्चे पैदा करना और पालना संतति-निग्रह के कृत्रिम साधनों की तुलना में अधिक सस्ता पड़ता है। अतः, इस आंदोलन को लोकप्रिय बनाने के लिए जनता में कृत्रिम साधनों के प्रचार की बड़ी आवश्यकता है। साथ ही, हमारे देश के अधिकांश व्यक्तियों, विशेषतः औरतों के अशिक्षित होने के कारण भी इसके प्रचार में बड़ी कठिनाई होती है। अशिक्षित होने के कारण हमारे अधिकांश देशवासी रुढ़िवादी होते हैं। अतः, वे संतति-निग्रह के प्रति किसी भी प्रकार की हमदर्दी नहीं दिखलाते। इस प्रकार देश की अधिकांश ग्रामीण जनता के पास तक संतति-निग्रह आंदोलन को पहुँचाने में अनेक कठिनाइयाँ जान पड़ती हैं जिनको दूर करने के लिए सरकार की ओर से संगठित प्रयत्नों की आवश्यकता है। हर्ष का विषय है कि पंचवर्षीय योजनाओं में योजना आयोग ने इस सम्बन्ध में एक निश्चित कार्य-क्रम तैयार किया है जिससे आंदोलन के सफल होने में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। देश के निर्धन निवासियों के बीच "safe-period" के तरीके के प्रचार द्वारा भी जन्म-दर को कम किया जा सकता है। किन्तु जन-साधारण के लिए यह तरीका भी बहुत सुगम नहीं जान पड़ता।

### पंचवर्षीय योजनाएं एवं परिवार-नियोजन (Five Year Plans and Family Planning)

पंचवर्षीय योजनाओं में परिवार नियोजन के कार्यक्रम पर विशेष रूप से जोर दिया जा रहा है। योजना आयोग के अनुसार देश में बढ़ती हुई निर्धनता को कम करने के लिए जनसंख्या के नियंत्रण की बहुत बड़ी आवश्यकता है। चतुर्थ योजना तैयार करते समय आयोग ने इस सम्बन्ध में एक दीर्घकालीन दृष्टिकोण अपनाया था जिसका उद्देश्य चतुर्थ योजनाकाल में जनसंख्या में जो 2.5 प्रतिशत वर्ष की दर से वृद्धि हो रही थी उसे कम कर 1980-81 ई० तक 1.7 प्रतिशत प्रतिवर्ष करना; जन्म-दर को 1968-69 में 39 प्रति हजार से घटाकर 1980-81 तक 26 प्रति हजार करना तथा मृत्यु-दर को 14 प्रति हजार से घटाकर 9 प्रति हजार करना था।

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल (First Five Year Plan) के लिए योजना आयोग ने परिवार

1. "It is one thing when married people regulate the number of their progeny by moral restraint and totally another when they do so in spite of sexual indulgence. In one case people gain in every respect, in the other, there is nothing but harm."  
—M. K. Gandhi.



नियोजन का एक विस्तृत कार्य-क्रम तैयार किया था। आयोग के अनुसार परिवार नियोजन के क्षेत्र में सफलता दो बातों पर निर्भर करती है—परिवार नियोजन के प्रति जनता में सहानुभूति उत्पन्न करना तथा इस सम्बन्ध में उचित परामर्श एवं लाभप्रद उपायों को बतलाना। योजना काल में इसके लिए बहुत से कार्य किये गये। मई, 1953 ई० में 'फेमली प्लानिंग रिसर्च एण्ड प्रोग्राम्स कमिटी' की स्थापना की गयी। पुनः मई, 1954 ई० में एक फेमली प्लानिंग ग्रांट्स कमीशन की नियुक्ति की गयी। प्रथम योजना, में इसके लिए 65 लाख रुपये व्यय का आयोजन था, किंतु वास्तविक व्यय केवल 18.5 लाख रुपये ही हुआ। योजना काल में राज्य एवं स्थानीय संस्थाओं द्वारा संचालित 205 'फेमली प्लानिंग क्लिनिक्स' को सहायता दी गयी तथा 147 नये परिवार नियोजन केन्द्रों की स्थापना की गयी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में भी योजना आयोग ने देश की जनसंख्या के नियंत्रण को राष्ट्रीय कल्याण एवं राष्ट्रीय नियोजन की दृष्टि से आवश्यक समझा। आयोग के अनुसार "राष्ट्रीय नियोजन एवं कल्याण दोनों ही दृष्टियों से जनसंख्या के आकार एवं गुण दोनों का नियन्त्रण आवश्यक है।" (The problem of regulation of population from the dual standpoint of size and quality is of utmost importance to national welfare and national planning.) द्वितीय योजना काल में परिवार नियोजन-सम्बन्धी कार्यक्रम के निम्नलिखित प्रधान उद्देश्य थे :—(1) परिवार नियोजन के सम्बन्ध में जनता को शिक्षित बनाना; (2) परिवार नियोजन के सम्बन्ध में जनता को परामर्श तथा सहायता देने की सुविधाओं में विस्तार करना, (3) अधिकाधिक व्यक्तियों को प्रशिक्षित बनाने के लिए पर्याप्त मात्रा में परिवार नियोजन केन्द्रों की स्थापना, (4) जनसंख्या-सम्बन्धी विभिन्न तत्त्वों के सम्बन्ध के अनुसंधान करना, तथा (9) एक सुसंगठित केन्द्रीय संगठन की स्थापना करना।

परिवार नियोजन कार्यक्रम तथा जनसंख्या सम्बन्धी समस्याओं के विधिवत एवं निरन्तर अध्ययन के लिए 1956 ई० में एक स्वतन्त्र परिवार नियोजन मण्डल (Family Planning Board) का निर्माण किया गया। द्वितीय योजना के अन्त में फेमली प्लानिंग क्लिनिक की संख्या बढ़कर शहरी क्षेत्रों में 827 तथा ग्रामीण क्षेत्रों में 1379 हो गयी। द्वितीय योजना का इस सम्बन्ध में अनुमानित व्यय 6 करोड़ रुपये था।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) में परिवार नियोजन पर पर्याप्त मात्रा में जोर

दिया गया था। तृतीय योजना में यह विचार प्रकट किया गया था कि उचित समय के अन्दर जनसंख्या की वृद्धि में स्थायित्व के उद्देश्य का आयोजित विकास में विशेष महत्त्व होना चाहिए। (The objective of stabilising the growth of population over a reasonable period must be at the centre of planned development.) उपरोक्त दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए तृतीय पंचवर्षीय योजना में परिवार नियोजन कार्य-क्रम की मद में 27 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि वास्तविक व्यय 24.86 करोड़ रुपये हुआ। योजना काल में परिवार नियोजन कार्य-क्रम के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों पर विशेष जोर दिया गया था :—(क) परिवार नियोजन के लिए लोगों को शिक्षित बनाना; (ख) परिवार नियोजन सम्बन्धी सेवाओं का विस्तार; (ग) इसमें पर्याप्त व्यक्तियों को प्रशिक्षित बनाना; (घ) जन्म-निरोधक वस्तुओं की पूर्ति, तथा (ङ) जनसंख्या के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में अनुसंधान करना। तृतीय योजनाकाल में परिवार नियोजन केन्द्रों की संख्या को बढ़ाकर 8200 करने का आयोजन था जबकि योजना के अन्त में इन केन्द्रों की संख्या ग्रामीण क्षेत्रों में 3676 तथा शहरी में 1381 हो गयी। इसके अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रों में 708 उपकेन्द्र कार्य करते थे। तृतीय योजनाकाल में लगभग 80 लाख लूप (I U C D) लगाये तथा 13.3 लाख (Sterilisation operations) किये गये।

तीन एक-वर्षीय योजनाएँ (Three One Year Plans) —तृतीय योजना के पश्चात् भी इस कार्य-क्रम पर पूर्ववत् जोर दिया जाता रहा है। 1966-69 के बीच परिवार नियोजन की मद में 72.23 करोड़ रुपये व्यय हुए तथा मार्च, 1969 तक ग्रामीण क्षेत्रों में 4250 परिवार नियोजन केन्द्र एवं 11,752 उपकेन्द्र तथा शहरी क्षेत्रों में 2856 परिवार नियोजन केन्द्र हो गये। अप्रैल, 1966 में केंद्र में एक पृथक परिवार नियोजन विभाग की स्थापना की गयी जिसका मुख्य कार्य राज्यों के इस कार्य में समन्वय स्थापित करना है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में परिवार नियोजन पर विशेष रूप से जोर दिया गया था। चतुर्थ योजना काल में इस मद में 315 करोड़ रुपये का व्यय प्रस्तावित था जबकि अनुमानित व्यय 276.5 करोड़ रुपये हुआ। योजना काल में परिवार नियोजन कार्य-क्रम का उद्देश्य जन्म-दर को 1968-69 में 39 प्रति हजार से हटाकर 1973-74 में 32 प्रति हजार करना था किंतु जन्म-दर वस्तुतः 35 ही हो पायी। परिवार नियोजन के महत्त्व को देखते हुए केंद्र में एक (Central Family Planning Council) की स्थापना की गयी। केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री इसके अध्यक्ष तथा राज्यों के स्वास्थ्य मन्त्री इसके सदस्य हैं। योजना काल में जनसंख्या के नियंत्रण



के अन्य कार्यक्रमों के साथ-साथ IUCD के प्रयोग पर अधिक जोर देने की व्यवस्था थी। इसके लिए अधिक महिला डॉक्टरों की व्यवस्था की गयी है। इसके अतिरिक्त संतति-निरोध के नये-नये साधनों के प्रयोग पर भी जोर दिया गया था जिससे कि 1973-74 तक 280 लाख दम्पति के लाभान्वित होने की आशा थी। इस कार्य के लिए जन सहयोग को प्राप्त करने पर पूरा-पूरा जोर दिया गया था। जनता को इस सम्बन्ध में शिक्षित बनाने पर भी अधिकाधिक जोर की व्यवस्था थी।

पांचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan) में भी परिवार नियोजन कार्यक्रम पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया था। आयोग के अनुसार पांचवीं योजना के प्रारम्भ में जन्म-दर को 34 प्रति हजार से घटाकर 1978-79 तक 30 हजार करने का आयोजन था, किन्तु यह अनुमानतः 33 प्रति हजार ही हो सका है। योजना काल में इस मद में 516 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि योजना के चार वर्षों में कुल 380 करोड़ रुपये व्यय हुआ। योजना काल में ग्रामीण क्षेत्रों में 130 परिवार नियोजन केन्द्र तथा 5101 उप-केन्द्र स्थापित किये गये। किन्तु अपात काल में परिवार नियोजन कार्यक्रम का बड़ा ही दुरुपयोग हुआ जिससे यह बहुत ही अलोक-प्रिय हो गया। अतएव जनता सरकार ने 1977 में इस सम्बन्ध में अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए एलान किया कि परिवार नियोजन को इच्छा के विरुद्ध नहीं लादा जायगा। साथ ही इसका नामकरण परिवार कल्याण (Family Welfare) किया गया।

छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan) में भी परिवार नियोजन कार्यक्रम को परिवार कल्याण कार्यक्रम (Family Welfare Programme) के रूप में लागू किया जाता है। छठी योजना में पांच वर्षों में इस कार्यक्रम में 765 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है।

### जनसंख्या-सम्बन्धी उपयुक्त नीति (Proper Population Policy)

भारत की जनसंख्या के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् हमारे समक्ष यह प्रश्न उठता है कि देश के लिए उपयुक्त जनसंख्या-सम्बन्धी नीति क्या होनी चाहिए। भारत जैसे विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था वाले देश में जहाँ जनसंख्या बहुत तीव्र गति के साथ बढ़ रही है, जनसंख्या-सम्बन्धी उपयुक्त नीति का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में, आर्थिक नियोजन सामाजिक नियोजन का ही एक अंग है और उपयुक्त जनसंख्या-सम्बन्धी नीति के अभाव में आर्थिक नियोजन सम्भव नहीं हो सकता। अतएव भारत के आर्थिक विकास की किसी भी योजना में जनसंख्या सम्बन्धी नियोजन का महत्वपूर्ण स्थान है। (Any comprehensive scheme of economic planning in India must include

within its scope population planning as well.) सदियों की गुलामी ने हमारी आर्थिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया है। किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद आर्थिक नियोजन के आधार पर हम अपने आर्थिक विकास का प्रयत्न कर रहे हैं। भारत में आर्थिक विकास का प्रधान उद्देश्य देश की विशाल जनसंख्या के जीवन-स्तर को ऊँचा बनाना है। किन्तु जनसंख्या में वृद्धि की वर्तमान गति से हमारे आर्थिक विकास की योजनाओं को कार्यान्वित करने में कठिनाई हो रही है। डॉ० ग्यानचन्द्र (Gyanchand) के शब्दों में : 'द्रुतगति से बढ़ती हुई जनसंख्या भारत के आर्थिक विकास के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा सिद्ध हो रही है' (A rapidly growing population is the most fundamental obstacle to the economic development of India.) अतएव यदि जनसंख्या की वृद्धि की गति को नियोजित नहीं किया जायगा तो पंचवर्षीय योजनाओं में विकास की जो सृष्टि की जा रही है, वह निश्चय ही धीमी पड़ जायगी। इससे जीवन-स्तर में अपेक्षित सुधार भी नहीं हो सकता। दिसम्बर, 1958 ई० में अखिल भारतीय वित्तिका परिषद में भारत के तत्कालीन स्वास्थ्य मन्त्री डॉ० करमाकर ने अपने भाषण में कहा था कि 'जनसंख्या में असाधारण वृद्धि राष्ट्र के समक्ष गम्भीर समस्या उत्पन्न कर रही है। यह देशवासियों के जीवन-स्तर को निम्न बना रही है, बेकारी में वृद्धि कर रही है तथा देश के विकास के मार्ग में बाधा उत्पन्न कर रही है। देश की जनसंख्या का स्वास्थ्य, व्यक्तियों के गुण तथा देश का आर्थिक पुनरुत्थान इत्यादि चीजें प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से जनसंख्या की समस्या पर ही आधारित है।' (The abnormal increase in our population is posing serious threat before the nation. It is lowering the standard of living, increasing conditions of unemployment, and arresting the growth of the country. The health of the nation, the quality of individual, the economic recovery of the country are based directly or indirectly on the problem of population.) योजना आयोग ने भी प्रायः इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है : 'भारत जैसी स्थिति वाले देश की जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि की दर का आर्थिक विकास एवं प्रति व्यक्ति जीवन-स्तर पर निश्चय ही विपरीत प्रभाव पड़ेगा।' (Under the conditions prevailing in a country like India, high rate of population growth is bound to affect adversely the rate of economic advancement and living standard per capita.)"

आज भारत की जनसंख्या हमारे आयोजन-निर्माताओं के अनुमान से भी अधिक तेजी से बढ़ रही है। द्वितीय योजना तैयार करते समय योजना आयोग ने यह अनुमान



लगाया था कि देश की जनसंख्या 1960-61 ई० में 41 करोड़ के लगभग हो जायगी। किन्तु, 1961 ई० की जनगणना के अनुसार देश की जनसंख्या 43.9 करोड़ हो गयी। पिछले दस वर्षों (1961-71 ई०) में तो देश की जनसंख्या में 2.5 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से वृद्धि हुई है। 1971 ई० में देश की जनसंख्या बढ़कर 54.8 करोड़ हो गयी। 1976 ई० के प्रारम्भ में यह बढ़कर 60 करोड़ हो गयी। इसका तात्पर्य यह है कि वर्तमान समय में भारत की जनसंख्या में प्रतिवर्ष प्रायः 1.25 करोड़ से भी अधिक लोगों की वृद्धि हो रही है। जनसंख्या में इस गति से वृद्धि से आयोग के सभी अनुमान गलत सिद्ध हो सकते हैं। साथ ही, आर्थिक विकास के सभी लाभ इस कारण समाप्त हो सकते हैं। इस प्रकार आर्थिक नियोजन की सफलता वस्तुतः उपयुक्त जनसंख्या-सम्बन्धी नीति पर ही निर्भर करती है। अनुमान लगाया जाता है कि यदि देश की जनसंख्या को नियोजित करने का सफल प्रयास नहीं किया जायगा तो अगली पंच-वर्षीय योजना में चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाओं में विस्तार के परिणामस्वरूप देश की जनसंख्या में और तेजी के साथ वृद्धि होगी। अतएव उचित नियन्त्रण के अभाव में हमारी जनसंख्या देश के लिए एक विकट स्थिति उत्पन्न कर सकती है। इससे बेकारी की समस्या का कोई हल नहीं मिल सकता। इस प्रकार देश में आर्थिक विकास की किसी भी योजना को सफल बनाने के लिए जनसंख्या-सम्बन्धी उपयुक्त नीति की बहुत बड़ी आवश्यकता है। निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि देश के आर्थिक विकास की कुंजी शीघ्र एवं प्रभावपूर्ण राष्ट्र-व्यापी जनसंख्या के नियन्त्रण-सम्बन्धी कार्यक्रम में ही निहित है।

### जनसंख्या-सम्बन्धी नयी नीति (New Population Policy)

16 अप्रैल, 1976 को भारत सरकार ने अपनी जनसंख्या सम्बन्धी नीति की घोषणा की। इस नीति के अनुसार जनसंख्या को सीमित रखने की आवश्यकता आर्थिक एवं मानवीय दोनों ही दृष्टि से समझा गया। आर्थिक इसलिए कि हृद से ज्यादा जनसंख्या एक बोझ बन जा सकती है तथा मानवीय इसलिए की शक्ति से अधिक लोगों का पालन-पोषण करके मनुष्य बनाना संभव नहीं है। ऐसा जीवन-स्तर को निम्न बनाकर तथा मृत्यु-दर

को बढ़ाकर ही संभव हो सकता है और यह अमानवीय है। आर्थिक विकास के पीछे मानवीय हित की धारणा और समता की योजना रखने पर ही जनसंख्या को सीमित बनाने की नीति नैतिक कहला सकती है और घोषित नीति में इस प्रकार के नैतिकता के तत्त्व वर्तमान हैं।

1976 में केन्द्र सरकार द्वारा घोषित नयी जनसंख्या-सम्बन्धी नीति में निम्नांकित दो बातों को प्रधानता दी गयी है। सर्वप्रथम तो लड़के एवं लड़कियों की व्याह की उम्र को बढ़ाकर क्रमशः 21 एवं 18 कर दिया गया है। साथ ही, लड़कियों की शिक्षा एवं योग्यता बढ़ाने तथा समाज की निगाहों में उन्हें लड़के के बराबर महत्त्व दिलाने पर जोर दिया गया है। द्वितीयतः परिवार-नियोजन को सफल बनाने के उद्देश्य से नसबंदी को अनिवार्य बनाने या नहीं बनाने की बात राज्य सरकारों के जिम्मे छोड़ दी गई है। इस नीति के अनुसार यदि कोई राज्य विधान सभा यह अनुभव करती है कि नसबंदी को अनिवार्य बनाना जरूरी है तथा इसका समय आ गया है। तो वह ऐसा कर सकती है। किन्तु इस प्रकार की रोक तीन संतानों के बाद और उस राज्य के निवासी सभी जाति, धर्म, मत एवं सम्प्रदायों के भारतीयों पर बिना भेद-भाव के लगायी जानी चाहिए। केन्द्रीय सरकार की इस सम्बन्ध में यह राय है कि जनमत परिवार नियोजन पहले से कठोर उपाय अपनाने के लिए तैयार तो हो चुका है किन्तु देश के अधिकतर भागों में प्रशासनिक एवं अस्पताली व्यवस्था राष्ट्र-व्यापी अनिवार्य नसबंदी के परिणामों को संभालने के लिए अभी पर्याप्त नहीं है। अतएव फिलहाल केन्द्र नसबंदी को अनिवार्य बनाने के लिए कानून बनाने की बात सोचता है।

भारत सरकार की नयी जनसंख्या-सम्बन्धी नीति जनसंख्या को नियंत्रित करने की दिशा में निश्चय ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी ऐसी आशा की जाती है। 1976 के प्रारम्भ में देश की जनसंख्या 60 करोड़ को पार कर चुकी थी तथा वर्तमान समय में प्रतिमाह यह 10 लाख की दर से बढ़ रही है। इस हिसाब से इस शताब्दी के अन्त तक देश की जनसंख्या 100 करोड़ पार कर जायगी। अतएव आर्थिक विकास का लाभ देश की विशाल जनसंख्या तक पहुँचाने के लिए परिवार नियोजन पर अधिक जोर देने की प्रबल आवश्यकता है और ऐसी आशा की जाती है कि वर्तमान नीति इस सम्बन्ध में निश्चय ही अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. Cole, A. J. and : Population Growth and Economic Development in Low-Income Countries.
2. Census of India, 1971, Paper no. I 1972.
3. Agrawal, S. N. : Population.



## अध्याय : 5

## राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक विकास

## (National Income and Economic Development)

राष्ट्रीय आय का अर्थ (Meaning of National Income):—किसी भी देश की अर्थ व्यवस्था के अध्ययन में उसकी राष्ट्रीय आय के संबंध में जानकारी का आजकल बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान हो गया है। यह अर्थ-व्यवस्था की गतिविधियों एवं परिवर्तनों को मापने का सर्वाधिक प्रचलित तरीका है। किसी देश की राष्ट्रीय आय किसी वर्ष-विशेष में उत्पन्न वस्तुओं तथा सेवाओं के कुल योग के बराबर होती है। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में उत्पन्न के विभिन्न साधन मिलकर जिन वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करते हैं उनके कुल योग को राष्ट्रीय आय कहा जाता है। इसका कुछ अंश उपभोग में तथा कुछ अंश पूँजी के रूप में पुनः उत्पादन के कार्य में लगाया जाता है। राष्ट्रीय आय पदार्थ एवं सेवाओं के मूल्य तथा पूँजीगत पदार्थ के लिए दिये गये मूल्यों के आधार पूँजी की वृद्धि के योग में से वर्तमान पूँजीगत पदार्थों की घिसावट एवं उनके बदलने के लिए अपेक्षित धन राशि को घटाने से प्राप्त होती है। वास्तव में पूँजी एक तरह का कोष (Stock or Fund) है, तथा आय एक तरह का प्रवाह (Flow) होती है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय किसी एक वर्ष में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं के समूह को कहते हैं, किन्तु इसमें दुबारा गणना नहीं होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि किसी शिक्षक की वार्षिक आय 10000 रु० है जिसमें से वह अपने क्लर्क को 1200 रु० प्रतिवर्ष देता है तो क्लर्क की आय की गणना अलग से नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इसकी गणना पहले ही की जा चुकी है। दूसरी ओर, राष्ट्रीय आय में विदेशों से प्राप्त होनेवाली विशुद्ध आय जोड़ी जाती है। प्रो० साइमन कुजनेट्स (Simon Kuznets) के अनुसार "राष्ट्रीय आय वस्तुओं की वह विशुद्ध उत्पत्ति है जो एक वर्ष की अवधि में देश की उत्पादन-प्रणाली में अन्तिम उपभोक्ताओं के हाथ में पहुँचती है अथवा देश की पूँजीगत वस्तुओं के स्टॉक में विशुद्ध रूप में वृद्धि करती है।" (National income is the output of commodities and services following the year from the country's productive system into the hands of the ultimate consumers or into net additions to the country's stock of capital goods.) राष्ट्रीय आय की अन्य कई प्रकार से भी परि-

भाषा दी जाती है।<sup>1</sup> उदाहरण के लिए, भारत की National income Committee के अनुसार, "राष्ट्रीय आय में एक दिये समय में उत्पन्न सभी वस्तुओं तथा सेवाओं की जाती है। किन्तु इसमें एक ही चीज की दुबारा गणना नहीं की जानी चाहिए।" (A national income estimate measures the volume of commodities and services turned out during a given period, counted without duplication.)

### राष्ट्रीय आय के अध्ययन का महत्व (Importance of the study of National Income)

किसी देश की राष्ट्रीय आय का अध्ययन कई कारणों से महत्वपूर्ण है। इससे देश की समग्र आर्थिक स्थिति का अन्दाजा लगता है। यही कारण है कि आजकल सभी देशों द्वारा राष्ट्रीय आय के अनुमान तैयार किये जाते हैं। भारत की राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee)<sup>2</sup> का इस सम्बन्ध में निम्नांकित कथन

1. "The national income for any period consists of the money value of goods and services becoming available for consumption during that period reckoned at current selling value plus additions to capital reckoned at the prices actually paid for the new capital good and adding the net accretion of or deducting the net drawing upon stocks, also reckoned at current prices. Services provided at non-profit making basis by the state and local authorities are included on the basis of charges made. Where taxation is levied on particular commodities and services, such as the custom and excise duties on commodities or the entertainment tax, such taxes are not included in the selling value." Colin Clark— National Income, pp. 1—2

2. पुनः इसी समिती के अनुसार :—"National Income estimates or accounts are measures of the total net product of a country's economy with distribution among significant operating sectors and the several economic functions all gauged on a consistent basis permitting quantitative mea-



विशेष रूप से उल्लेखनीय है :—“National income statistics provide a wide view of the country's entire economy as well as of the various groups in the population who participate as producers and income receivers, and that if available over a substantial period, they reveal clearly the basic changes in the country's economy in the past and suggest, if not fully reveal, the trend for the future.”

वास्तव में, किसी देश की राष्ट्रीय आय का अध्ययन निम्नलिखित कारणों से अत्यधिक महत्वपूर्ण है :—

1. सर्वप्रथम तो राष्ट्रीय आय के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि देश के प्राकृतिक साधनों का कहाँ तक उपयोग हो पाया है। साथ ही, इससे यह भी पता चलता है कि कृषि, उद्योग, वाणिज्य-व्यापार आदि का कितना विकास हुआ है। इससे यह भी जान पड़ता है कि राष्ट्रीय आय कितनी उत्पन्न होती है और इसका विभाजन किस प्रकार से होता है। विशेष रूप से हमको यह ज्ञात होना चाहिए कि किसी देश की राष्ट्रीय आय का कितना भाग उपभोग के काम में आता है और कितना बचाया जाता है और साथ ही विनियोग की मात्रा बचत के बराबर है या नहीं।

2. सरकार को बजट बनाते और करारोपण के समय भी राष्ट्रीय आय का ज्ञान आवश्यक होता है। आजकल बजट का उद्देश्य देश को मुद्रा-स्फीति और बेरोजगारी से बचाकर आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति की ओर अग्रसर करना होता है। राष्ट्रीय आय के अध्ययन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मुद्रा-स्फीति से बचने के लिए कितनी बचत करनी होगी या कितना करारोपण करना होगा तथा बेरोजगारी से बचने के लिए राज्य को कितना विनियोग करना होगा। जिन देशों में आर्थिक विकास के लिए आर्थिक नियोजन की नीति अपनायी जाती है उनमें राष्ट्रीय आय के अध्ययन का विशेष महत्व होता है। अधिक विकास के लिए राष्ट्रीय आय का उत्तरोत्तर अधिक भाग बचाकर विनियोग करना आवश्यक होता है और इसके लिए उपयुक्त मौद्रिक नीति तथा कीमतें एवं मजदूरी सम्बन्धी नीतियाँ अपनानी पड़ती हैं।

3. दो या दो से अधिक देशों के बीच किसी सामान्य भार के न्यायोचित विभाजन में भी राष्ट्रीय आय के आँकड़ों की सहायता ली जाती है।

surement. These measures tell us how much the various sectors have produced, distributed and consumed, and they tell it for the economy as a whole without duplication.”

## राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक प्रगति (National Income and Economic Progress)

साधारणतः राष्ट्रीय आय या प्रति-व्यक्ति आय (राष्ट्रीय आय ÷ जनसंख्या) को देश की आर्थिक प्रगति का द्योतक माना जाता है। निःसन्देह यदि राष्ट्रीय आय जनसंख्या की तुलना में अधिक तेजी के साथ बढ़ती है तो प्रति व्यक्ति की आय भी बढ़ जाती है और साधारणतः प्रति-व्यक्ति आय बढ़ने का अर्थ यह होता है कि देश में आर्थिक क्षमता, उत्पादन तथा उपभोग की सम्भावनाओं में वृद्धि हो रही है। परन्तु निम्नांकित कारणों से प्रतिव्यक्ति आय सदा देश के सुख एवं समृद्धि को ठीक-ठीक प्रकट नहीं करती—

(1) मौद्रिक आय बढ़ जाने से भी यदि मुद्रा की क्रय-शक्ति घट जाती है तो वास्तविक उपभोग तथा संतुष्टि नहीं बढ़ती।

(2) मौद्रिक मूल्य सदा वस्तुओं की सामाजिक उपयोगिता को प्रकट नहीं करता। प्रति-व्यक्ति मौद्रिक आय बढ़ने का तात्पर्य यह है कि पहले की तुलना में प्रति व्यक्ति उत्पादन का मूल्य अधिक है। परन्तु, इससे यह प्रकट नहीं होता कि किस प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा है। युद्ध के दिनों में अस्त्र-शस्त्र के उत्पादन के बढ़ने के राष्ट्रीय आय एवं प्रति-व्यक्ति आय बढ़ जाती है, परन्तु इससे राष्ट्र का जीवन-स्तर नहीं बढ़ने पाता। इसी प्रकार शांति-काल में भी यदि शराब जैसी नशीली वस्तुओं का उत्पादन बढ़ जाता है तो इससे वास्तविक जीवन-स्तर नहीं बढ़ता।

(3) राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से यह नहीं प्रकट होता कि इसे प्राप्त करने के लिए नागरिकों को कितना परिश्रम करना पड़ता है। आराम (Leisure) कम कर कठिन परिश्रम द्वारा राष्ट्रीय आय बढ़ाई जा सकती है परन्तु इससे वास्तविक सुख का स्तर नहीं बढ़ता।

(4) इसी प्रकार बगैर सोचे-समझे देश के प्राकृतिक साधनों का उपयोग करके अल्प-काल में राष्ट्रीय आय बढ़ायी जा सकती है। परन्तु, दीर्घकालीन दृष्टि से इसे अच्छा नहीं माना जा सकता है।

(5) राष्ट्रीय आय उत्पादन का मूल्य बतलाती है, उपभोग की मात्रा को नहीं बतलाती। परन्तु, जीवन स्तर को उन्नत बनाने के लिए उपभोग में वृद्धि अनिवार्य है। यदि बढ़ती हुई राष्ट्रीय आय बचाकर विनियोग में लगायी जाती है तो इससे भावी आय तो बढ़ती है, परन्तु वर्तमान उपभोग एवं जीवन-स्तर नहीं बढ़ता। फिर ‘उपभोग’ के

$$1. \text{ Per Capita Income} = \frac{\text{National Income}}{\text{Total Population}}$$



सम्बन्ध में जो आँकड़े एकत्र किये जाते हैं वे उपभोक्ता वस्तुओं और सेवाओं पर किये जाने वाले खर्च को बतलाते हैं, उपभोक्ताओं द्वारा उनसे प्राप्त होने वाली संतुष्टि को नहीं बतलाते।

(6) और, अन्ततः प्रति-व्यक्ति आय में वृद्धि से केवल यह मालूम होता है कि औसत आय बढ़ी है। परन्तु यदि औसत आय बढ़ने के साथ-ही-साथ धन एवं आय के वितरण की विषमता भी बढ़ जाती है तो जन-साधारण का जीवन-स्तर बढ़ने की जगह घट सकता है। अतएव राष्ट्रीय आय या प्रति-व्यक्ति आय को देखकर आर्थिक कल्याण के सम्बन्ध में कोई निश्चित निष्कर्ष निकालने में बड़ी सावधानी से कार्य लेना चाहिए।

### भारत की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में अनुमान (Estimates of India's National Income)

भारत की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में समय-समय पर विभिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न अनुमान लगाये गये हैं। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम दादा भाई नौरोजी ने 1868 ई० में देश की प्रति-व्यक्ति आय का अनुमान 20 रुपये लगाया था। 1899 ई० में विलियम डिग्बी (William-Digby) ने ब्रिटिश भारत की औसत प्रति-व्यक्ति आय का अनुमान 18 रुपये, लार्ड कर्जन ने 1897-98 के लिए 30 रुपये, शाह एवं खन्वाता ने 1921-22 में सम्पूर्ण भारत की प्रति-व्यक्ति आय का अनुमान 74 रुपये तथा डॉ० बी० के० आर० बी० राव ने 1931-32 के लिए 62 रुपये अनुमान लगाया था। किन्तु इनमें से अधिकांश अनुमान वैयक्तिक प्रयासों के परिणाम होने के कारण, व्यावहारिक दृष्टि से बहुत ही कम महत्त्व के थे। साथ ही, इनमें कई गम्भीर त्रुटियाँ थीं। किन्तु इन सीमाओं के बावजूद, उपरोक्त व्यक्तियों ने इस सम्बन्ध में मार्ग प्रशस्त किया, अतः उन्हें इस कार्य के लिए उचित श्रेय देना अनिवार्य है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद अगस्त 1949 ई० में भारत सरकार ने राष्ट्रीय आय एवं तत्सम्बन्धी विषयों पर विचार करने के उद्देश्य से प्रो० पी० सी० महालनोबीस की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) की नियुक्ति की थी। राष्ट्रीय आय समिति के अनुसार 1949-50 ई० में प्रति व्यक्ति आय 256 रुपये थी। इस समिति के अनुमान वास्तविकता से अधिक समीप जान पड़ते हैं। समिति ने देश में राष्ट्रीय आय-सम्बन्धी आँकड़ों को एकत्र करने की प्रणाली के दोषों पर विचार किया तथा इसमें आवश्यक सुधार लाने की सिफारिश की।

किन्तु आज भी हमारे देश में राष्ट्रीय आय-सम्बन्धी अनुमान सरकारी आँकड़ों पर ही आधारित है। केंद्र तथा राज्य सरकारों से प्राप्त आँकड़े ही इसके लिए प्रयोग

किये जाते हैं। किन्तु, इन आँकड़ों की अनेक सीमाएँ हैं। कृषि एवं तत्सम्बन्धी उद्योगों के आँकड़े तो विलकुल अपूर्ण होते हैं। कृषि का हमारे देश की आर्थिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान है, फिर भी इसके सम्बन्ध में सही आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। हमारे देश में इन आँकड़ों को एकत्र करने की प्रणाली आज भी पूर्णतया दोषपूर्ण है। कारखाना संस्थानों के अन्तर्गत भी छोटे-छोटे कारखानों के सम्बन्ध में संतोषजनक आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु, इन छोटे छोटे कारखानों का हमारी आर्थिक व्यवस्था में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। सरकारी कार्यों एवं अन्य सेवाओं के सम्बन्ध में भी आर्थिक वर्गीकरण करना कठिन हो जाता है। इन सब कठिनाइयों के साथ-साथ राष्ट्रीय आय के अनुमान से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण कठिनाई देश की जनता की निरक्षरता एवं हिसाब नहीं रखने की आदत भी है। साथ ही हमारे देश में आज भी वस्तु विनिमय प्रणाली विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर प्रचलित है। इससे भी इस क्षेत्र में कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

इस प्रकार देश में राष्ट्रीय आय के आँकड़े एकत्र करने की प्रणाली बहुत ही दोषपूर्ण है। राष्ट्रीय आय समिति के अनुसार भी सरकारी गणनाओं में 10 प्रतिशत तक अशुद्धि की सम्भावना रहती है। किन्तु, उपरोक्त तथ्यों के विवेचन से यह कहा जाता है कि सरकारी गणनाओं में विशेषतः कृषि एवं छोटे-छोटे उद्योगों से सम्बन्धित अनुमानों में 10 प्रतिशत से भी अधिक अशुद्धि की सम्भावना पायी जाती है। राष्ट्रीय आय समिति ने आँकड़े एकत्र करने की प्रणाली में सुधार के लिए बहुत से उपाय प्रस्तावित किया था जिन्हें सरकार आजकल अमल में लाने का प्रयास कर रही है। आँकड़ों के निरन्तर एवं विधिवत् संग्रह के लिए सरकार द्वारा 1950 ई० में एक राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण (National Sample Survey) की स्थापना की गयी जिससे इस कार्य में बहुत अधिक सुविधा की आशा की जाती है।

वर्तमान समय में भारत में राष्ट्रीय आय-सम्बन्धी आँकड़े दो प्रकार से प्रकाशित होते हैं :—

(क) परम्परागत तरीका (Conventional series) — इस पद्धति में राष्ट्रीय आय के आँकड़े 1948-49 ई० के मूल्य तथा प्रचलित मूल्यों के आधार पर तैयार किये तथा प्रकाशित किये जाते हैं।

(ख) संशोधित तरीका (Revised Series) — इस तरीके से राष्ट्रीय आय की गणना प्रचलित मूल्य (Current prices) के साथ-साथ 1960-61 के मूल्य-तल के आधार पर तैयार की जाती है। पहले-पहल C. S. O. द्वारा 1967 में संशोधित आधार पर राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया गया था। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को निम्नांकित 15 वर्गों में विभाजित किया गया — (1) कृषि, (2) वन, (3) मत्स्य, (4) खनिज, (5)



बड़े पैमाने के निर्माण, (6) लघु प्रमाण निर्माण, (7) निर्माण, (Construction), (8) विद्युत्, गैस एवं जल-आपूर्ति, (9) यातायात एवं संवादवाहन, (10) व्यापार, (11) बैंकिंग एवं बीमा, (12) मकान (Real estates and ownership of dwellings) (13) सार्वजनिक प्रशासन एवं प्रतिरक्षा तथा (14) अन्य सेवाएँ। निर्माण

के अतिरिक्त सभी क्षेत्रों में संशोधित तरीके में एक ही तरीका-आय-पद्धति को अपनाया गया। केवल निर्माण के अन्तर्गत आय एवं वस्तु-प्रवाह (Expenditure and commodity flow method) को अपनाया गया है। वर्तमान समय में इसे प्रचलित मूल्य तथा 1970-71 ई० के मूल्य-तल के आधार पर तैयार किया जाता है।

### विभिन्न उद्योगों एवं सेवाओं से प्राप्त आय (करोड़ रुपये में)

(National Income by Industrial Origin)

इस प्रकार किसी देश की राष्ट्रीय आय उत्पादन के विभिन्न साधनों के सहयोग का परिणाम है। भारत में विभिन्न औद्योगिक क्षेत्रों द्वारा प्राप्त आय का अन्दाजा निम्नलिखित तालिका<sup>1</sup> से लगाया जा सकता है—

### विभिन्न उद्योगों एवं सेवाओं से प्राप्त आय (करोड़ रुपये में) प्रचलित मूल्य पर

| उद्योग                          | 1960-61 | 1965-66 | 1970-71 | 1975-76 | 1976-77 |
|---------------------------------|---------|---------|---------|---------|---------|
| 1. कृषि                         | 6,570   | 9,533   | 16,275  | 24,842  | 25,258  |
| 2. वन-उद्योग                    | 174     | 298     | 403     | 752     | 821     |
| 3. मत्स्य उद्योग                | 77      | 124     | 238     | 498     | 541     |
| 4. खनिज                         | 144     | 234     | 342     | 406     | 895     |
| कुल                             | 6,965   | 10,179  | 17,258  | 27,001  | 27,515  |
| 5. कारखाना संस्थान (रजि०)       | 1,071   | 1,839   | 2,957   | 5,979   | 6,659   |
| 6. लघु संस्थान (अरजि०)          | 785     | 1,225   | 1,759   | 3,576   | 3,879   |
| 7. निर्माण (Construction)       | 620     | 942     | 1,895   | 3,420   | 3,970   |
| 8. विद्युत्, गैस तथा जल आपूर्ति | 68      | 441     | 316     | 618     | 743     |
| कुल                             | 2,544   | 4,150   | 6,927   | 13,601  | 15,251  |
| 9. यातायात, संचय एवं संचार      | 569     | 1,033   | 1,594   | 2,951   | 3,357   |
| 10. व्यापार तथा होटल इत्यादि    | 1301    | 2,659   | 3,908   | 7,956   | 8,271   |
| कुल                             | 1,870   | 3,692   | 5,502   | 10,907  | 11,628  |
| 11. बैंकिंग एवं बीमा            | 158     | 364     | 636     | 1,775   | 1,955   |
| 12. वास्तविक सम्पत्ति तथा       |         |         |         |         |         |
| 13. निवास-स्थान                 | 386     | 615     | 1,016   | 1,438   | 1,641   |
| 14. सार्वजनिक सेवाएँ            | 538     | 1,099   | 1,635   | 3,230   | 3,480   |
| 15. अन्य सेवाएँ                 | 905     | 1,538   | 1,722   | 2,894   | 3,064   |
| कुल                             | 1,987   | 3,616   | 5,009   | 9,342   | 10,140  |
| कुल राष्ट्रीय आय                | 13,366  | 29,786  | 34,696  | 60,851  | 64,534  |

इस प्रकार उपरोक्त तालिका से देश की राष्ट्रीय आय अगले पृष्ठ की तालिका<sup>2</sup> से राष्ट्रीय आय में विभिन्न साधनों के सहयोग का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

1. Report on Currency and Finance, 1974-75 & Economic Times April 17, 1978.
2. Economic Survey 1977-78



## राष्ट्रीय आय में विभिन्न साधनों का हिस्सा (प्रतिशत)

| उद्योग                                     | 1950-51 | 1960-61 | 1965-66 | 1970-71 | 1973-74 | 1974-75 |
|--------------------------------------------|---------|---------|---------|---------|---------|---------|
| 1. कृषि एवं तत्सम्बन्धी उद्योग             | 49.0    | 52.5    | 44.2    | 46.2    | 43.2    | 41.2    |
| 2. खनिज, निर्माण, विद्युत् एवं लघु संस्थान | 16.7    | 19.2    | 22.6    | 22.3    | 22.6    | 23.8    |
| 3. वाणिज्य एवं यातायात                     | 18.8    | 14.1    | 16.6    | 15.8    | 16.3    | 16.4    |
| 4. बैंकिंग, बीमा इत्यादि                   | 15.7    | 4.2     | 4.4     | 4.0     | 4.3     | 4.4     |
| 5. सार्वजनिक प्रशासन प्रतिरक्षा एवं अन्य   |         | 10.5    | 12.2    | 12.6    | 14.5    | 14.8    |
| 6. शुद्ध आंतरिक आय                         | 100.2   | 100.5   | 100.0   | 100.9   | 100.9   | 100.6   |
| 7. बाहर से प्राप्त शुद्ध आय                | -0.2    | -0.5    | -0.0    | -0.9    | -0.9    | -0.6    |
| कुल राष्ट्रीय आय                           | 100.0   | 100.0   | 100.0   | 100.0   | 100.0   | 100.0   |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि देश की कुल राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा भाग कृषि से ही प्राप्त होता है। 1960-61 में कृषि से देश की कुल आय का प्रायः 52.5 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ था, किन्तु 1965-66 तथा 1967-68 में खराब फसल के कारण कृषि से प्राप्त आय में अत्यधिक कमी हो गयी। किन्तु पुनः 1967-68 में कृषि से प्राप्त आय में वृद्धि होने लगी है। 1974-75 में कृषि से कुल राष्ट्रीय आय का केवल 41.2 प्रतिशत भाग ही प्राप्त हुआ था।

डा० राव ने 1931-32 ई० एवं 1950-51 में देश की राष्ट्रीय आय की तुलना की है। इनके अनुसार इन दोनों वर्षों में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में प्रायः कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इस प्रकार भारतीय अर्थ-व्यवस्था दो दशाब्दों के बीच पूर्णतः स्थायी रही है। इसके विस्तृत विवेचन से स्पष्ट है कि इस समय के बीच में देश के औद्योगिक एवं कृषि में विकास लिए किये गये प्रयत्नों से वास्तविक आय में प्रायः कोई वृद्धि नहीं हुई।

विश्व के अन्य देशों से तुलना (Comparison with other countries of the world) :- इस प्रकार भारत की प्रति-व्यक्ति औसत आय विश्व के प्रायः सभी सुसभ्य देशों से कम है। इससे हमारी निर्धनता का अन्दाजा लगता है। भारत की निर्धनता आज विश्व विख्यात है। यहाँ सर्वत्र भुखमरी एवं दरिद्रता का विस्तृत साम्राज्य है। हमारी प्रति-व्यक्ति औसत आय विश्व के प्रायः सभी सुसभ्य देशों से कम है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :-

2. India Pocket Book of Economic Information 1973-74

देश प्रति-व्यक्ति औसत आय (1976 ई० में)  
(यू० एस० डॉलर में)

|                       |       |
|-----------------------|-------|
| पश्चिमी जर्मनी        | 6,260 |
| ब्रिटेन               | 3,590 |
| संयुक्त राज्य अमेरिका | 6,670 |
| कैनाडा                | 6,190 |
| जापान                 | 4,070 |
| भारत                  | 140   |

इस प्रकार भारत की प्रति-व्यक्ति औसत आय की तुलना में संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन तथा पश्चिमी जर्मनी की प्रति-व्यक्ति औसत आय क्रमशः 50 गुना, 55 गुना तथा 34 गुना अधिक है। इससे हमारी राष्ट्रीय आय की अपर्याप्तता का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

### राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee)

अगस्त, 1949 ई० में राष्ट्रीय आय एवं तत्सम्बन्धित विषयों पर विचार करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने प्रो० पी० सी० महालनोबिस की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) की नियुक्ति की थी। राष्ट्रीय आय समिति ने देश की राष्ट्रीय आय का अनुमान 1948-49 एवं 1950-51 ई० के लिए लगाया था। समिति की पहली रिपोर्ट 1951 में तथा अन्तिम रिपोर्ट 1954 में प्रकाशित हुई।

समिति के अनुसार 1948-49 ई० में भारत की कुल राष्ट्रीय आय 8650 करोड़ रुपये तथा प्रति-व्यक्ति औसत आय 246.9 रुपये थी। इसे डॉलर के रूप में परिवर्तित करने पर 58.7 डॉलर के लगभग होता है। वर्तमान समय में भी यह 88 डॉलर के ही लगभग है। इसकी तुलना यदि हम उस वर्ष में संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रति-व्यक्ति आय 4573 डॉलर तथा कैनाडा की 3769 डॉलर से करते हैं तो हमारी भीषण विध्वंसता स्पष्ट हो जाती है।



भारत में प्रतिव्यक्ति आय के कम होने का प्रधान कारण अधिकांश देशवासियों की घोर निर्धनता है। कमिटी के अनुसार देश की राष्ट्रीय आय में विभिन्न साधनों के हिस्से के अध्ययन से देश की असंतुलित अर्थ-व्यवस्था का अन्दाजा लगता है। 1974-75 ई० में राष्ट्रीय आय का प्रायः 41.2 प्रतिशत भाग केवल कृषि (पशु-पालन सहित) से प्राप्त हुआ था; वाणिज्य, यातायात एवं संवादवाहन से 16.4 प्रतिशत तथा निर्माण-उद्योगों तथा हस्तकला एवं खनिज से केवल 23.8 प्रतिशत आय प्राप्त हुई थी। इसके विपरीत इंग्लैंड में 1961 ई० में उद्योग-धन्धों से कुल राष्ट्रीय आय का 45 प्रतिशत भाग तथा कृषि से केवल 4.5 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ था। इस भारत की असंतुलित आर्थिक व्यवस्था का अन्दाजा लगता है। राष्ट्रीय आय समिति की पहली रिपोर्ट के अनुसार भारत में कुल राष्ट्रीय आय का प्रायः 50 प्रतिशत भाग खाद्यान्नों पर व्यय किया जाता है। राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण, 1955 ई० (National Sample Survey, 1955) के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में कुल आय का दो-तिहाई भाग खाद्यान्न तथा एक-तिहाई भाग वस्त्र आदि पर व्यय किया जाता है। इस प्रकार हमारे देश में भोजन एवं वस्त्र व्यय की दो प्रधान मदें हैं जिनपर राष्ट्रीय आय का अधिकतर भाग व्यय किया जाता। इससे पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत अत्यधिक मात्रा में घाटे की वित्त-व्यवस्था का परिणाम भी स्पष्ट हो जाता है। स्पष्ट है कि घाटे की वित्त-व्यवस्था के परिणामस्वरूप जो अतिरिक्त आय का सृजन होगा उससे भोजन एवं वस्त्र की मांग बढ़ेगी। अतएव, भारत-जैसे देश में मुद्रा-स्फीति के दबाव को रोकने के लिए खाद्यान्न एवं वस्त्र की पूर्ति का पर्याप्त मात्रा में लोचपूर्ण होना अति आवश्यक है।

राष्ट्रीय आय समिति के मुख्य विचार :— भारत की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में राष्ट्रीय आय समिति के मुख्य विचार निम्नांकित प्रकार के हैं :—

(1) समिति के अनुसार भारत की राष्ट्रीय आय चालू कीमतों के आधार पर 1948-49 ई० में 8650 करोड़ रुपये थी जो बढ़ाकर 1949-50 ई० में 9010 करोड़ रु० तथा 1950-51 ई० में 9530 करोड़ रु० हो गयी। इस प्रकार इन तीन वर्षों में राष्ट्रीय आय में 880 करोड़ रु० या प्रायः 10.2 प्रतिशत की वृद्धि हुई। परन्तु इस अवधि में कीमतों में भी वृद्धि हो रही थी। समिति ने यह बतलाया कि 1948-49 ई० की कीमतों के आधार पर राष्ट्रीय आय, जो 1948-49 ई० में 8650 करोड़ रु० थी, 1950-51 ई० में केवल 8850 करोड़ रु० ही हो पायी थी यानी स्थायी मूल्य-तल पर राष्ट्रीय आय में केवल 200 करोड़ रुपये की ही वृद्धि हुई। इस प्रकार तीन वर्षों में राष्ट्रीय आय में वास्तविक वृद्धि केवल 9.3 प्रतिशत हुई।

(2) समिति के अनुसार भारत में प्रति व्यक्ति आय चालू कीमतों के अनुसार 1948-49 ई० में 246.9 रु०

थी जो बढ़कर 1950-51 ई० में 265.2 रु० हो गयी, यानी चालू कीमतों के आधार पर इन तीन वर्षों में प्रति-व्यक्ति आय में 7.4 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। परन्तु यदि स्थिर कीमतों के आधार पर हिसाब लगाया जाय तो ज्ञात होता है कि इस अवधि में प्रति-व्यक्ति आय लगभग एक समान रही। वास्तव में, यह 1949-50 ई० में 0.7 प्रतिशत बढ़ी, परन्तु 1950-51 ई० में से 0.9 प्रतिशत घट गयी।

(3) समिति के प्रतिवेदन से यह स्पष्ट है कि 1950-51 ई० में हमारी राष्ट्रीय आय में कृषि का हिस्सा 51.3 प्रतिशत, खनिज उद्योग, माल तैयार करने के कारखानों और छोटे उद्योगों का 16.1 प्रतिशत; वाणिज्य परिवहन एवं संचार का 17.7 प्रतिशत और अन्य सेवाओं का 5.1 प्रतिशत था। इन आँकड़ों से भारत की अर्थ-व्यवस्था का असंतुलन प्रकट होता है। यह भी स्पष्ट है कि इस असंतुलन को दूर करने के लिए भारत में उद्योगों का विकास आवश्यक है। किन्तु सन्तोष का विषय है कि हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में इस ओर प्रयत्न किया जा रहा है।

(4) समिति के प्रतिवेदन से यह स्पष्ट होता है कि 1950-51 ई० में भारत के विशुद्ध घरेलू उत्पादन की कीमत 9550 करोड़ रु० थी जिसमें 6290 करोड़ रुपये का उत्पादन कृषि एवं छोटे उद्योगों में हुआ और 1020 करोड़ रुपये का उत्पादन बड़े उद्योगों से हुआ था। इन आँकड़ों से भारत की अर्थ-व्यवस्था में कृषि तथा लघु उद्योगों की प्रधानता स्पष्ट हो जाती है। इनके उत्पादन का मूल्य बड़े उद्योगों की अपेक्षा प्रायः 6 गुना अधिक है। हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में भी छोटे उद्योगों का महत्त्व स्वीकार करके इनके विस्तार और पुनः संगठन की व्यवस्था भी की गयी थी।

(5) राष्ट्रीय आय समिति के अनुमान के अनुसार चालू कीमतों के आधार पर 1948-49 एवं 1952-53 के बीच राष्ट्रीय आय में खेती तथा तत्सम्बन्धित उद्योगों का योगदान 49.1 प्रतिशत से बढ़ाकर 51.3 प्रतिशत हो गया जबकि खनिज तथा निर्माण उद्योगों का भाग 17.1 प्रतिशत से घटकर 16.1 प्रतिशत रह गया। परन्तु, यदि स्थिर कीमतों के आधार पर हिसाब लगाया जाय तो स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं प्रकट होता है।

(6) समिति की रिपोर्ट से यह प्रकट होता है कि करों से प्राप्त आय, विशेषतः परोक्ष करों की आय सरकारी व्यय और सार्वजनिक क्षेत्रों में विनियोग बढ़ा है। ये बातें भारतीय अर्थ-व्यवस्था में सरकारी क्षेत्र के बढ़ते हुए महत्त्व को स्पष्ट करती हैं।

(7) राष्ट्रीय आय समिति के प्रतिवेदन की 38वीं और 39वीं सारणियों से स्पष्ट होता है कि इस अवधि में भारत में विदेशी पूँजी का आयात घट गया था। इसका कारण स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस सम्बन्ध में सरकारी नीति की अनिश्चितता एवं विदेशी पूँजी का अधिकाधिक मात्रा में बाहर जाना है।



### पंचवर्षीय योजनाओं में राष्ट्रीय आय (National Income in Five Year Plans)

भारत में योजनाकरण का प्रधान उद्देश्य देशवासियों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना है। भारत की प्रति व्यक्ति आय बहुत ही कम है। यही कारण है कि हमारा जीवन-स्तर इतना निम्न है। अतः पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत उत्पादन में चतुर्दिक वृद्धि द्वारा देश की राष्ट्रीय आय को बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में राष्ट्रीय आय (National Income in the First and Second Five Year Plans) :- प्रथम पंचवर्षीय योजना तैयार करने के समय योजना आयोग ने इस सम्बन्ध में एक दीर्घकालीन नीति अपनायी थी जिसके अनुसार राष्ट्रीय आय का 1967-68 ई० तक तथा प्रतिव्यक्ति आय को 1973-74 ई० तक दुगुना करने का आयोजन था। किन्तु, प्रथम योजना में राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय दोनों में आयोजित लक्ष्य से भी अधिक वृद्धि हुई जिससे यह अनुमान किया जाने लगा था कि ये लक्ष्य कम ही समय में पूरे हो जायेंगे। अतएव, आयोग ने आगे चलकर इनमें परिवर्तन किया। प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में राष्ट्रीय आय एवं प्रतिव्यक्ति औसत आय में वृद्धि का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :-

प्रथम एवं द्वितीय योजनाओं में राष्ट्रीय आय में वृद्धि

| इकाई                                                                                | 1950-51 | 1955-56 | 1960-61 | 18<br>दस वर्षों<br>प्रतिशत वृद्धि |
|-------------------------------------------------------------------------------------|---------|---------|---------|-----------------------------------|
| राष्ट्रीय आय करोड़<br>(1960-61 ई० रु० में 10,240 12,130 14,140 42.6 के मूल्य-तल पर) |         |         |         |                                   |
| जनसंख्या<br>(दस लाख में)                                                            | 361     | 397     | 439     | 2.15                              |
| प्रति व्यक्ति आय<br>(1960-61 ई० रुपये में 284 306 326 16.0 के मूल्य-तल पर)          |         |         |         |                                   |

योजना आयोग के अनुसार प्रथम योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में 18.4 प्रतिशत, तथा प्रतिव्यक्ति आय में प्रायः 11 प्रतिशत की वृद्धि हुई। द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में कुल 25 प्रतिशत की वृद्धि का आयोजन था, किन्तु 5 वर्षों में राष्ट्रीय आय में 20.4 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। इस प्रकार 10 वर्षों में यानी 1951-52 से 1960-61 ई० के बीच राष्ट्रीय आय में 42.6 प्रतिशत तथा प्रतिव्यक्ति आय में 16.0 प्रतिशत की वृद्धि हुई। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रथम एवं द्वितीय योज-

1. Government of India : Economic Survey 1974-75

नाकाल के दस वर्षों में राष्ट्रीय आय में औसत रूप से 4 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि हुई। किन्तु चूँकि इस बीच जनसंख्या में भी लगभग 2.8 प्रतिशत से अधिक हुई। अतएव, प्रतिव्यक्ति आय में केवल 16 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) के पाँच वर्षों में प्रतिव्यक्ति औसत आय 1948-49 ई० के मूल्य-तल पर 1950-51 में 247.5 रु० तथा 1955-56 में 267.8 रु० से बढ़कर 1960-61 ई० में 293.7 रुपये हो गयी। किन्तु 1960-61 ई० के मूल्य तल के आधार पर प्रति व्यक्ति आय द्वितीय योजना के अन्त में 326 रुपये थी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय आय (National Income in the Third Five Year Plan)—तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी राष्ट्रीय आय में 5 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि का आयोजन था। किन्तु तृतीय पंचवर्षीय योजना के इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकी तथा 1960-61 ई० के मूल्य-तल के आधार पर तृतीय योजना के प्रथम चार वर्षों में राष्ट्रीय आय में 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु 1965-66 में इसमें 5.7 प्रतिशत की कमी हुई। योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में 1961-62 ई० में 3.9 प्रतिशत तथा 1962-63 ई० में केवल 2.1 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसके पश्चात् इसकी गति में कुछ सुधार हुआ तथा राष्ट्रीय आय में 1963-64 ई० में 6.1 प्रतिशत तथा 1964-65 ई० में 8 प्रतिशत की वृद्धि हुई। किन्तु, 1965-66 ई० में देश में भयानक सूखा तथा पाकिस्तानी आक्रमण के कारण राष्ट्रीय आय में 5.7 प्रतिशत की कमी हुई। इस प्रकार तृतीय योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में प्रायः 2.5 प्रतिशत वार्षिक की दर से वृद्धि हुई, जबकि लक्ष्य 5 प्रतिशत से भी अधिक वार्षिक वृद्धि का था। और चूँकि, तृतीय योजनाकाल में जनसंख्या में भी प्रायः इसी दर से वृद्धि हुई अतएव प्रतिव्यक्ति आय (per-capita income) में इस अवधि में प्रायः कोई वृद्धि नहीं हुई, यानी 1965-66 ई० के अन्त में प्रतिव्यक्ति आय प्रायः उतनी ही थी जितनी कि योजना के प्रारम्भ, यानी 1960-61 ई० में। तृतीय योजना के बाद वाले वर्षों यानी तीन एक-वर्षीय योजनाओं में 1966-67 में राष्ट्रीय आय में 1.1 प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु 1967-68 में राष्ट्रीय आय में 9 प्रतिशत तथा 1968-69 में लगभग 3 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

तृतीय योजना के प्रारम्भ से लेकर आठ वर्षों में राष्ट्रीय आय एवं प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :-



## राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक विकास

79

राष्ट्रीय आय एवं प्रति-व्यक्ति आय (1960-61 के मूल्य-तल पर)

| वर्ष    | राष्ट्रीय आय<br>(करोड़ रु० में) | राष्ट्रीय आय का<br>सूचनांक<br>(1960-61 = 100) | प्रति-व्यक्ति आय<br>(रु० में) | प्रति-व्यक्ति आय<br>का सूचनांक<br>(1960-61 = 100) |
|---------|---------------------------------|-----------------------------------------------|-------------------------------|---------------------------------------------------|
| 1960-61 | 13,267                          | 100.0                                         | 305.7                         | 100.0                                             |
| 1961-62 | 13,732                          | 103.5                                         | 309.3                         | 101.2                                             |
| 1962-63 | 13,994                          | 105.5                                         | 308.2                         | 100.8                                             |
| 1963-64 | 14,769                          | 111.3                                         | 318.3                         | 104.1                                             |
| 1964-65 | 15,884                          | 119.7                                         | 335.1                         | 109.6                                             |
| 1965-66 | 15,081                          | 113.7                                         | 310.9                         | 101.7                                             |
| 1966-67 | 15,257                          | 115.0                                         | 308.2                         | 100.8                                             |
| 1967-68 | 16,616                          | 125.2                                         | 328.4                         | 107.4                                             |
| 1968-69 | 17,180                          | 129.5                                         | 331.7                         | 108.5                                             |

तृतीय योजना में

वार्षिक वृद्धि की दर 2.6

.03

दीर्घकालीन विकास की प्रत्याशा (The Long Term Perspective)—तृतीय योजना के निर्माण के समय देश के आर्थिक विकास के लिए एक दीर्घकालीन उद्देश्य निश्चित किया गया था जिसके अनुसार आगे आने-वाले वर्षों में 6 प्रतिशत वार्षिक विकास की आशा की गयी थी। किन्तु कई कारणों से तृतीय योजना तथा बाद के दो वर्ष (1966-67 एवं 1967-68) कठिनाइयों से परिपूर्ण सिद्ध हुए जिससे आयोग के दीर्घकालीन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकी। अतएव चतुर्थ योजनाकाल में 5.7 प्रतिशत विकास की दर निश्चित की गयी जिसके अनुसार 1973-74 में प्रत्याशित राष्ट्रीय आय तृतीय योजना के दीर्घकालीन लक्ष्य से कम ही होनेकी थी। किन्तु चतुर्थ योजना में किये गये प्रयासों तथा आगे की योजनाओं में ऊँची दर से विनियोग के कारण पाँचवीं तथा आगे आनेवाली पंच-वर्षीय योजनाओं में विकास की दर में और अधिक वृद्धि अनुमानतः 6 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि की आशा की गयी थी। इस आधार पर 1980-81 ई० में राष्ट्रीय आय

(1967-68 के मूल्य-तल पर) के 582 बिलियन यानी 1968-69 से दुगुना होने की आशा की गयी थी। किन्तु इस अवधि में चूँकि जनसंख्या में भी एक-तिहाई के लगभग वृद्धि का अनुमान था, अतएव 1980-81 ई० में प्रति व्यक्ति आय 1967-68 की तुलना में 53 प्रतिशत ही अधिक होने की आशा थी। दीर्घकालीन विकास के इस परिवर्तित क्रम के अनुसार तृतीय योजनाकाल में निर्धारित 1975-76 के लक्ष्य की पूर्ति 1980-81 ई० में यानी तीन-चार वर्ष बाद में होने की थी। चतुर्थ योजना के अनुसार 1968-69 से 1980-81 के बीच राष्ट्रीय आय में वृद्धि का लक्ष्य निम्नांकित तालिका<sup>2</sup> से स्पष्ट हो जाता है—

| वर्ष                             | राष्ट्रीय आय<br>1968-69 के मूल्य तल पर<br>(100 करोड़ रु० में) | जनसंख्या प्रति व्यक्ति<br>(लाख में) | व्यक्ति<br>आय<br>(रु० में) |
|----------------------------------|---------------------------------------------------------------|-------------------------------------|----------------------------|
| 1968-69                          | 290.7                                                         | 527                                 | 542                        |
| 1973-74                          | 383.1                                                         | 596                                 | 643                        |
| 1978-79                          | 517.0                                                         | 666                                 | 775                        |
| 1980-81                          | 582.2                                                         | 690                                 | 854                        |
| 1967-68 की तुलना में             |                                                               |                                     |                            |
| 1980-81 में वृद्धि का<br>सूचनांक | 200.0                                                         | 131                                 | 153                        |

किन्तु जैसा कि आगे के विवरण से स्पष्ट है, इस दीर्घकालीन प्रत्याशा की भी पूर्ति नहीं हो सकी।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय आय (National Income in the Fourth Five Year Plan)—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भी राष्ट्रीय आय में महत्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन था। चतुर्थ योजना में विकास के विभिन्न कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप ऐसी आशा की गयी थी कि योजनाकाल में वार्षिक विकास की दर 5.5 होगी। योजना आयोग के अनुसार योजनाकाल में विभिन्न उद्योगों की शुद्ध उत्पत्ति की वृद्धि का अन्दाजा निम्नांकित तालिका<sup>3</sup> से लगाया जा सकता है—

1. तृतीय योजना में अगले 15 वर्षों में राष्ट्रीय आय में वृद्धि का निम्नांकित लक्ष्य निर्धारित किया गया था। :—  
राष्ट्रीय आय (1960-61 ई० के

| वर्ष                                | मूल्य-तल पर)     | प्रति-व्यक्ति आय (1960-61 ई० के<br>मूल्य-तल पर) |
|-------------------------------------|------------------|-------------------------------------------------|
| 1960-61 (द्वितीय योजना के अन्त में) | 14,500 करोड़ रु० | 330 रु०                                         |
| 1965-66 (तृतीय योजना के अन्त में)   | 19,000 " "       | 385 " "                                         |
| 1970-71 (चतुर्थ योजना के अन्त में)  | 25,000 " "       | 450 " "                                         |
| 1975-76 (पंचम योजना के अन्त में)    | 33,000 " "       |                                                 |
|                                     | से 34,000 " "    | 530 " "                                         |

2. Fourth Five Year Plan, 1969-74 p. 432

3. Fifth Five Year Plan Draft (1974-79)



चतुर्थ योजना में शुद्ध उत्पत्ति का अनुमान  
(1968-69 के मूल्य तल पर करोड़ रु० में)

| मदें                             | 1968-69 | 1973-74 |
|----------------------------------|---------|---------|
| 1. कृषि एवं तत्सम्बन्धी उद्योग   | 14,864  | 18,951  |
| 2. खनिज, निर्माण तथा लघु संस्थान | 5,497   | 8,058   |
| 3. वाणिज्य, यातायात एवं संचार    | 4,414   | 6,142   |
| 4. अन्य                          | 4,295   | 5,155   |
| 5. विदेशों से प्राप्त आय         | (—)270  | (—)406  |
|                                  | 28,800  | 37,900  |

चतुर्थ योजनाकाल में जनसंख्या में औसत प्रतिवर्ष 2.5 प्रतिशत की दर से वृद्धि की आशा थी। अतएव इस आधार पर चतुर्थ योजनाकाल में प्रति व्यक्ति आय में अनुमानतः 3 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि का अनुमान था। विकास के उपरोक्त लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए चतुर्थ योजनाकाल में आन्तरिक वृद्धि की दर को 1968-69 के 9 प्रतिशत से बढ़ाकर 1972-73 ई० में 13.2 प्रतिशत तथा विनियोग की दर को 1968-69 के 11.3 प्रतिशत से बढ़ाकर 1973-74 में 14.5 प्रतिशत करने का आयोजन था।

किन्तु चतुर्थ योजना के इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हुई है तथा 1969-70 में स्थिर मूल्यों पर राष्ट्रीय आय में 5.7 प्रतिशत, 1970-71 में 4.9 प्रतिशत तथा 1971-72 में 1.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई किन्तु 1972-73 में राष्ट्रीय आय में 0.9 प्रतिशत की कमी ही हुई। 1973-74 ई० में पुनः राष्ट्रीय आय में 3.1 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस प्रकार चतुर्थ योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में अनुमानतः 3 प्रतिशत वार्षिक की ही वृद्धि हुई। और चूंकि योजना की अवधि में जनसंख्या में भी 2.5 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि हुई, अतएव प्रति व्यक्ति आय में वस्तुतः 0.5 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई।

पांचवीं पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय आय (National Income in the Fifth Five Year Plan)—पांचवीं पंचवर्षीय योजना की रूप-रेखा में राष्ट्रीय आय में वार्षिक 5.5 प्रतिशत निर्धारित की गयी थी। (The Fifth Plan envisage an average annual rate of growth of 5.5 percent in gross domestic product at factor cost.) पांचवीं योजना के प्रधान उद्देश्य—निर्धनता के निवारण के लिए विकास में इससे भी अधिक दर

से वृद्धि आवश्यक थी, किन्तु भूगतान संतुलन, कुल विनियोग की मात्रा तथा विभिन्न क्षेत्रों में क्षमता के सृजन तथा उपयोग के क्षेत्र की कठिनाइयाँ आदि को देखते हुए यह संभव नहीं जान पड़ता है।

किन्तु आगे चलकर इसमें परिवर्तन किया गया तथा अंतिम रूप से वार्षिक विकास की दर को पांचवीं योजनाकाल में 4.37 प्रतिशत रखा गया। किन्तु योजना के इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो पायी, तथा योजना आयोग के अनुसार पांचवीं योजना (1974-78) के चार वर्षों में विकास की दर अनुमानतः 3.9 प्रतिशत ही रही।

छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan) (1978-83) के प्रारूप के अनुसार योजना काल में 4.7 प्रतिशत वार्षिक विकास की दर निश्चित की गयी है। विकास की यह दर निश्चित रूप से कम है, किन्तु ऐसी आशा की जाती है कि योजना के अंतिम वर्ष तक आगामी योजना (1983-88) काल में विकास की उच्च दर हासिल करने की क्षमता प्राप्त हो जायगी।

निष्कर्ष :—इस प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं का प्रधान उद्देश्य देश की राष्ट्रीय आय में पर्याप्त वृद्धि करना है, किन्तु जनसंख्या में द्रुतगति से वृद्धि के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय में समान रूप से वृद्धि नहीं होती। इससे यह कहा जा सकता है कि जिस अनुपात में राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो रही है उसी अनुपात में हमारी औसत समृद्धि में वृद्धि नहीं हो रही है। साथ ही, यह बढ़ती हुई राष्ट्रीय आय कहाँ तक हमारी आर्थिक समृद्धि की वृद्धि में सहायक होती है, यह राष्ट्रीय आय के समुचित वितरण पर ही निर्भर करता है। राष्ट्रीय आय पर मूल्य-तल का भी प्रभाव पड़ता है। मूल्य-तल में वृद्धि के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय की वृद्धि से हमारी समृद्धि में आनुपातिक दर से वृद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं में बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय से जनसाधारण तभी लाभान्वित हो सकता है जबकि मूल्य-तल में विशेष वृद्धि नहीं हो तथा आय का वितरण अधिक समान एवं न्यायपूर्ण तरीके से हो। अतः आज देश की आर्थिक समृद्धि के लिए उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—(1) मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति को रोकना, (2) जनसंख्या की वृद्धि पर नियन्त्रण तथा (3) आय का अधिक उचित एवं न्यायपूर्ण तरीके से वितरण।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. Final Report of the National Income Committee, Feb. 1954
2. V. K. R. V. Rao : National Income of the British India, 1936
3. N. C. A. E. R. Distribution of National Income by States 1969-71.
4. India, 1976
5. First, Second, third, Fourth & Fifth Five Year Plans of India.
6. Draft Five year Plan (1978-73).



**"The central objective of Planning in India is to raise the standard of living of the people and to open to them opportunity for a richer and more varied life."**

**—Planning Commission**

**"Planning under a democratic system, may be defined as the technical co-ordination by dis-interested experts of consumption, production, investment, trade and income distribution, in accordance with social objectives set by representative bodies of the nation. Such planning is not to be considered only from the point of view of economics and the raising of the standard of living, but must include cultural and spiritual values and the human side of life"**

**—National Planning Committee**



★ इस खंड में ★

- ★ अध्याय : 6 आर्थिक नियोजन के मूल सिद्धान्त  
(Fundamentals of Economic Planning)
- ★ अध्याय : 7 भारत में योजनाकरण के अठारह वर्ष  
(Eighteen years of Planning in India)
- ★ अध्याय : 8 चतुर्थ पंचवर्षीय योजना  
(Fourth Five Year Plan)
- ★ अध्याय : 9 पंचम पंचवर्षीय योजना (1974-79)  
(Fifth Five Year Plan)
- ★ अध्याय : 10 छठी पंचवर्षीय योजना  
(Sixth Five Year Plan 1978-83)
- ★ अध्याय : 11 आर्थिक विकास के लिए वित्त  
(Finance for Economic Development)
- ★ अध्याय : 12 सार्वजनिक क्षेत्र एवं आर्थिक विकास  
(Public Sector & Economic Development)
- ★ अध्याय : 13 भारतीय निर्धनता एवं आयोजन प्रक्रिया  
(Indian Poverty and the Planning Process)
- ★ अध्याय : 14 भारत में पूँजी-निर्माण  
(Capital Formation in India)



## अध्याय : 6

## आर्थिक नियोजन के मूल सिद्धान्त

## (Fundamentals of Economic Planning)

प्राक्कथन—आर्थिक नियोजन मुख्यतः बीसवीं शताब्दी का ही देन है। यों तो साधारणतया नियोजन मानव जीवन का एक अंग है और कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जिसमें सफलता प्राप्त करने के लिए निश्चित मात्रा में नियोजन की आवश्यकता नहीं पड़ती हो। प्रारम्भ से ही मनुष्य की यह प्रकृति चली आ रही है; किन्तु मानव सभ्यता के विकास, विज्ञान की प्रगति, जनसंख्या में वृद्धि तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं निर्भरता में वृद्धि के कारण आधुनिक समय में मानव जीवन बड़ा ही जटिल हो गया है। आर्थिक जीवन की यह जटिलता धीरे-धीरे इतनी बढ़ती जा रही है कि आजकल नियोजन के बगैर इसका सफल संचालन सम्भव ही नहीं रह गया है। अनियोजित क्रियाओं से लक्ष्य की पूर्ति बिल्कुल सम्भव नहीं है। प्रो० रॉबिन्स (Robbins) ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि “सही शब्दों में, सम्पूर्ण आर्थिक जीवन में नियोजन की आवश्यकता होती है। योजना तैयार करना किसी उद्देश्य से कार्य करना या चुनाव है और चुनाव ही आर्थिक क्रियाओं का निचोड़ है। (strictly speaking all economic life involves planning. To plan is to act with a promise, a purpose, to chose and choice is the essence of economic activities) दूसरी जगह प्रो० रॉबिन्स ने योजनाकरण के सम्बन्ध में कहा है कि ‘आर्थिक नियोजन आज के युग की अचूक औषधि है। कल्याणकारी राज्य के आदर्शों को प्राप्त करने का एक-मात्र साधन आर्थिक नियोजन ही है। (Economic planning is a grand panacea of our age. Economic planning is the only means of realising the ideals of a welfare state.)

इस प्रकार आज के युग में आर्थिक नियोजन आधुनिक आर्थिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है। अब इसके महत्त्व के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं रह गया है, वास्तविक विवाद नियोजन की मात्रा के सम्बन्ध में ही है। लीविस (Lewis) का भी इस सम्बन्ध में यह कथन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है कि “नियोजन एवं निर्वाधता के बीच विवाद आर्थिक जीवन में व्यवस्था एवं अराजकता के बीच विवाद नहीं।” (The dispute

between planning and laissez fair is not a dispute between order and anarchy in economic life.) इनके अनुसार सभी राजनीतिक विचारक इस मान्यता से प्रारम्भ करते हैं कि सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उत्पादन तथा वितरण दोनों पर नियंत्रण अनिवार्य है। विवाद का विषय केवल यह है कि इनमें कितना नियंत्रण अदृष्टिगोचर एवं कितना दृष्टिगोचर होना चाहिए। अदृष्टिगोचर नियंत्रण जिसे अब्ध नीति के समर्थक मानते हैं, का प्रयोग बाजार की शक्तियों द्वारा किया जाता है तथा दृष्टिगोचर नियंत्रण, जिसे नियोजन के समर्थक मानते हैं, राज्य के द्वारा संगठित किया जाता है। एक दूसरी जगह लीविस का कहना है कि “आज मुख्य बात यह नहीं है कि नियोजन हो अथवा नहीं, वरन् यह है कि नियोजन का क्या रूप होना चाहिए।” (In fact, the central issue in the discussion on planning is not whether there shall be planning or not, but what form shall it take.)

आधुनिक समय में विशेषतः 1929-32 ई० की भयानक आर्थिक मन्दी के बाद से, योजनाकरण का महत्त्व राजनीतिक एवं आर्थिक विचारों में इतना अधिक बढ़ गया है कि आज यह आर्थिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है। वास्तव में, वर्तमान समय में आर्थिक नियोजन की धारणा से सारा विश्व इस प्रकार से प्रभावित हो गया है कि यह इस युग की सर्वोत्तम प्रणाली बन गयी है। यह युद्धोत्तर काल का सबसे बड़ा नारा, यों कहा जाय कि आधुनिक युग का नैतिक धर्म तथा सभी आधुनिक बीमारियों के लिए रामबाण हो गया है। यह अनियन्त्रित पूँजीवादी समाज की सारी बुराइयों की एक-मात्र दवा है। यही कारण है कि रूस, चीन तथा अन्य सम्यवादी देशों में ही नहीं, वरन् इंग्लैंड एवं अमेरिका जैसे पूँजीवादी देशों में भी विचार एवं कार्यप्रणाली पर इसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है।

आर्थिक नियोजन क्या है ?

(What is Economic Planning?)

1. Robbins : Economic Planning and the International Order, P. 3.

अर्थशास्त्र की ही तरह भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों



ने नियोजन की भी विभिन्न तरीके से परिभाषित किया है। कुछ ने नियोजन के उद्देश्य (Objectives) पर अधिक जोर दिया है तो कुछ ने उसकी प्रणाली (Technique) पर तथा कुछ ने निवेश (Investment) पर अधिक जोर दिया है तो कुछ ने अधिक लोगों की उन्नति तथा समाज के अधिकतम कल्याण पर। वास्तव में, योजनाकरण का आशय देश के आर्थिक साधनों का एक निश्चित उद्देश्य से नियंत्रित तरीके से प्रयोग करना है। साधनों के अनियंत्रित प्रयोग से इनका समुचित उपयोग नहीं हो पाता। साथ ही, समाज के आर्थिक कल्याण में भी इससे कोई वृद्धि नहीं होती। अतएव, योजनाकाल के अन्तर्गत एक केन्द्रीय अधिकारी के निर्देशानुसार इनका प्रयोग नियंत्रित तरीके एवं निश्चित उद्देश्यों के लिए किया जाता है। दूसरे शब्दों में, “आर्थिक नियोजन किसी दिये हुए समय में किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आर्थिक शक्तियों का युक्तिपूर्ण नियन्त्रण है। यह सावधानीपूर्वक सोच-समझकर किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति का तरीका है।” (Economic planning is the rational control of the economic forces for the attainment of a well-defined objective within a given interval of time. It is a carefully throughout, co-related, purposive policy.)

भिन्न-भिन्न अर्थ शास्त्रियों ने आर्थिक नियोजन की विभिन्न प्रकार से परिभाषा दी है जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

लिविस लाविन (Lewis Lorwin) के अनुसार “योजनाबद्ध आर्थिक व्यवस्था संगठन की एक ऐसी प्रणाली है जिसमें सारे व्यक्ति तथा यन्त्रादि, उपकरण एवं उद्योग एक सम्पूर्ण व्यवस्था की समुचित इकाइयाँ माने जाते हैं जिससे तमाम उपलब्ध साधनों का एक निश्चित अवधि के अन्तर्गत किसी समुदाय की आवश्यकताओं की अधिकतम संतुष्टि के लिए उपयोग किया जा सके।” (Planned economy is a scheme of economic organisation in which individual and separate plants, industries and enterprises are treated as co-ordinate units of one single system for the purpose of utilising available resources to achieve the maximum satisfaction of the people's needs within a given time.) प्रो० लाविन ने जनता की अधिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन की सभी इकाइयों को केन्द्रीय सत्ता के निर्देशानुसार चलाने पर अधिक जोर दिया है। इनके अनुसार योजनाबद्ध आर्थिक व्यवस्था का प्रधान लक्ष्य है प्रत्येक उत्पादक इकाई की सम्पूर्ण प्रणाली पर निर्भरता, उत्पादन तथा उपभोग का संतुलन और किसी एक ऐसी केन्द्रीय सत्ता की उपस्थिति जो आर्थिक प्रणाली के उद्देश्यों को निर्धारित करे और साथ ही, अलग-अलग तथा भिन्न-भिन्न तत्त्वों के उचित उपयोग को निश्चित करे।

प्रो० लाविन की परिभाषा के अनुसार आर्थिक नियोजन के निम्नलिखित तीन प्रधान उद्देश्य हैं—

- (1) देश के सम्पूर्ण साधनों का अधिकतम उपयोग करना,
- (2) उत्पत्ति एवं उपभोग के बीच संतुलन स्थापित करना, और
- (3) साधनों का प्रयोग व्यक्तियों की आवश्यकताओं की अधिकतम संतुष्टि के लिए करना।

इसी प्रकार डिकिन्सन (Dickenson) के अनुसार “आर्थिक नियोजन का आशय है एक केन्द्रीय अधिकारी द्वारा सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था की वृहत् जाँच के बाद महत्वपूर्ण आर्थिक निर्णयों को करना—क्या और कितना उत्पादन होना चाहिए, उत्पादन कैसे, कब और कितना किया जाय, तथा किस ँ बीच इसका वितरण होना चाहिए” (Economic planning is the making of major economic decisions—what and how much is to be produced, have ween and where is to be produced and to whom it is to be allocated by the conscious decision of a determinate authority on the basis of a comprehensive survey of the economic system as a whole.)<sup>1</sup> इस प्रकार डिकिन्सन ने सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था की विस्तृत जाँच के पश्चात् महत्वपूर्ण आर्थिक निर्णयों पर जोर दिया है।

डिकिन्सन की उपरोक्त परिभाषा में आयोजित अर्थ-व्यवस्था की निम्नलिखित तीन प्रधान विशेषताओं पर जोर दिया गया है—

- (1) आर्थिक निर्णयों की जानी-बूझी प्रकृति (Conscious nature of economic decisions),
- (2) नियन्त्रण की एकता (unity of control), तथा
- (3) सम्पूर्ण आर्थिक निर्णयों को अर्थ-व्यवस्था की जाँच पर आधारित करना।

इसी तरह विश्व बैंक (International Bank) के अनुसार “विकास कार्यक्रम का आशय सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में उपलब्ध साधनों की एक सूची तैयार करना और तब इन साधनों पर ध्यान देते हुए यह निश्चय करना कि विकास की विभिन्न योजनाओं को किस क्रम में कार्यान्वित किया जाय। विकास का प्रधान अस्त्र बढ़ती हुई दर से पूँजी का निर्माण है।” (The technique of development programmes consists in essence of making



an inventory of the sum total of resources available to each economy, and then deciding the order in which various development projects should be undertaken within the limits of the available resources... the main instrument of all development is accelerated capital formation.) इस अर्थ में योजनाकरण के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों पर जोर दिया जाता है—(i) आर्थिक साधनों का सर्वेक्षण, (ii) विकास के कार्यक्रम की एक सूची तैयार करना, तथा (iii) पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहित करना। किन्तु, इस परिभाषा से वास्तव में आयोजन का बोध नहीं होकर औद्योगीकरण का बोध होता है।

इसी प्रकार श्रीमती ऊटन (Wootton) ने आर्थिक नियोजन की निम्नलिखित परिभाषा दी है :—“आर्थिक नियोजन एक ऐसी प्रणाली है जिनमें बाजार को स्वेच्छापूर्वक कार्य करने के लिए स्वतन्त्र न छोड़कर इस प्रकार संगठित किया जाता है कि वह एक आदर्श बन जाय।” (Economic planning is a system in which the market mechanism is deliberately manipulated with the object of producing a pattern other than that which would have resulted from its spontaneous activity.) इस परिभाषा में श्रीमती ऊटन ने बाजार के नियन्त्रण एवं कीमत के निर्धारण पर अधिक जोर दिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आयोजित अर्थ-व्यवस्था में बाजार का नियन्त्रण एवं कीमत के निर्धारण का बहुत अधिक महत्त्व रहता है, क्योंकि इन दोनों बातों पर ही उत्पत्ति एवं वितरण का नियन्त्रण निर्भर करता है। परन्तु यह कहना कि नियोजन में केवल बाजार का नियन्त्रण एवं कीमत का निर्धारण होता है, वास्तव में तथ्यहीन है। श्रीमती ऊटन ने अपनी दूसरी पुस्तक में नियोजन की परिभाषा इस प्रकार से दी है: “नियोजन का अभिप्राय किसी राजकीय पदाधिकारी द्वारा आर्थिक प्राथमिकताओं के जाने-बूझे तथा सचेत निर्णय से है।” (Planning may be defined as the conscious and deliberate choice of economic priorities by some public authority.)

### प्रजातन्त्रीय बनाम साम्यवादी नियोजन (Democratic Vs. Communistic Planning)

आर्थिक नियोजन के दो मुख्य रूप हैं:—

(क) प्रजातन्त्रीय नियोजन (Democratic Planning), एवं

(ख) समाजवादी नियोजन (Communistic or Socialistic Central Planning)।

(क) प्रजातन्त्रीय नियोजन (Democratic Planning) :—साधारणतया लोगों की यह धारणा है कि

योजनाकरण की सफलता केवल समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत ही सम्भव है, क्योंकि योजना के अन्तर्गत एक निश्चित मात्रा में सरकारी नियन्त्रण अनिवार्य समझा जाता है और प्रजातन्त्र में जनता को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है। अतएव, कुछ लोग प्रजातन्त्र एवं आर्थिक नियोजन को सहगामी नहीं मानते, किन्तु यह उनका कोरा भ्रम है। वास्तव में, प्रजातन्त्रीय तरीके से भी आर्थिक नियोजन का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है। हमारी पंचवर्षीय योजनाएँ इसका ज्वलन्त उदाहरण हैं। प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में नियोजन का कार्य जनता की राय से किया जाता है। जब आर्थिक नियोजन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लोकतान्त्रिक तरीकों का प्रयोग किया जाता है, तो इसे प्रजातन्त्रीय नियोजन कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में, इसमें नियोजन का कार्य पूर्ण या रूप से प्रजातन्त्रीय तरीके से होता है। इसमें लक्ष्यों का निर्धारण ऊपर से नहीं किया जाता, बरन् जनता स्वयं विधान सभा अथवा संसद् के द्वारा योजनाकरण की आवश्यकता, इसके उद्देश्य तथा उत्पादन एवं विकास आदि का लक्ष्य निर्धारित करती है। अतएव, “प्रजातन्त्रीय नियोजन में योजना बनाने, उसको कार्यान्वित करने तथा लक्ष्यों के निर्धारण करने का कार्य जनता के परामर्श से किया जाता है।” (Democratic planning refers to a situation in which the people are associated both in the preparation and execution of the plan.) इस प्रकार की योजना में सरकार या योजना-अधिकारी द्वारा जनता पर किसी भी प्रकार के बलात्कार (Coercion) का प्रयोग नहीं किया जाता। जनसाधारण सरकार एवं उसकी कमजोरियों अथवा त्रुटियों के सम्बन्ध में आलोचना कर सकता है। इससे व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति में सुधार होता है, रोजगार के नये अवसर प्रदान किये जाते हैं तथा उत्पादन एवं राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि होती है। प्रजातन्त्रीय नियोजन में जनता की भलाई एवं कल्याण पर विशेष रूप से जोर दिया जाता है। इसमें उत्पत्ति के साधनों पर सामान्यतः निजी स्वामित्व रहता है। किन्तु सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत भी कुछ महत्वपूर्ण विकास की योजनाओं को सम्मिलित किया जाता है। भारत में आर्थिक नियोजन के कार्य में निजी एवं राजकीय क्षेत्र दोनों एक दूसरे के कन्धे-से-कन्धा मिलाकर देश के आर्थिक विकास में सहयोग प्रदान कर रहे हैं। इस प्रकार प्रजातन्त्रीय नियोजन जनता द्वारा तथा जनता के लिए नियोजन है। इसमें सरकार भी जनता के प्रतिनिधि के रूप में ही हाथ बटाती है। सरकार नियोजन की रूप-रेखा तैयार कर उसे जनता के बीच उनके विचारों को जानने के लिए प्रसारित करती है।

किन्तु, प्रजातन्त्रात्मक नियोजन की सफलता के सम्बन्ध में साधारणतया लोग सन्देह व्यक्त करते हैं। इसके लिए यह तर्क दिया जाता है कि जनता सामान्य रूप से अशिक्षित होती है। अधिकांश व्यक्तियों को



आर्थिक नियोजन की जटिल प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं होती। साथ ही, नियोजन के सफल संचालन के लिए शीघ्र निर्णय की आवश्यकता पड़ती है और प्रजातन्त्रात्मक अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत बहुत-सी बातों के सम्बन्ध में शीघ्र निर्णय करना असम्भव हो जाता है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि नियोजन के कार्य में त्याग की भावना निहित रहती है जिसके लिए प्रजातन्त्र के अन्तर्गत लोग शीघ्र तैयार नहीं होते। अतएव, प्रजातन्त्रात्मक नियोजन की प्रगति निश्चित रूप से मन्द होती है।

(ख) साम्यवादी नियोजन (Socialistic or Communistic or Central Planning)—साम्यवादी नियोजन के अन्तर्गत नियोजन का कार्य एक साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था की स्थापना के लिए किया जाता है। यह पूर्णतः केन्द्रित होती है। इस प्रकार के नियोजन में सरकार का उत्पादन, उपभोग तथा वितरण सभी क्षेत्रों पर पूरा-पूरा अधिकार रहता है। इसमें एक केन्द्रीय आयोजन अधिकारी (Central Planning Authority) होता है जिसके जिम्मे योजना-सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्य तथा निर्णय रहते हैं। उत्पादन के साधनों का विभिन्न उपयोगों में वितरण इसी संस्था अथवा अधिकारी द्वारा किया जाता है। इसमें निजी क्षेत्र (Private Sector) का प्रायः कोई अस्तित्व नहीं रहता। साम्यवादी नियोजन को पद्धति को सर्वप्रथम रूस ने ही अपनाया था। वहाँ पर इस प्रकार की आर्थिक-व्यवस्था को अपनाया गया जिसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कोई स्थान नहीं है। आर्थिक जीवन के सभी अंगों पर सरकार का कठोर नियन्त्रण रहता है। साम्यवादी रूस में जब यह प्रणाली अपनायी गयी तो वहाँ के व्यक्तिगत जीवन पर कड़े नियन्त्रण लगा दिये गये और व्यक्तिगत क्रियाओं पर सरकारी नियमों का एक जाल सा बिछा दिया गया। निजी उपक्रम तथा बाजार-प्रणाली को बिल्कुल समाप्त कर दिया गया। संक्षेप में, रूस में आर्थिक विकास की वेदी पर जनता के सुख एवं समृद्धि की बलि चढ़ा दी गयी। अतः साम्यवादी नियोजन की प्रणाली की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(1) देश के सम्पूर्ण साधनों पर सरकार का नियन्त्रण रहता है तथा इनका प्रयोग सरकार द्वारा निर्धारित प्राथमिकताओं के आधार पर ही किया जाता है।

(2) इस प्रकार की व्यवस्था में निजी उपक्रम (Private Sector) का कोई स्थान नहीं होता।

(3) नियोजन का कार्य सरकार तथा केन्द्रीय योजना अधिकारी के प्रत्यक्ष निर्देशन में किया जाता है।

डिकिन्सन (Dickenson) के अनुसार साम्यवादी नियोजन की प्रणाली प्रजातन्त्रात्मक नियोजन की प्रणाली से श्रेष्ठ है; क्योंकि इसमें उत्पादन के साधनों पर समाज का पूर्ण अधिकार हो जाता है और इनका प्रयोग एक संस्था द्वारा एक निश्चित योजना के आधार पर किया जाता है। इससे समाज के सभी सदस्य लाभान्वित

होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस प्रकार का आर्थिक नियोजन जिसके अन्तर्गत विभिन्न स्तरों पर सब प्रकार के निर्णय का अधिकार एक केन्द्रीय संस्था को है और जिसके अन्तर्गत सदैव आर्थिक कल्याण के लिए प्रयत्न किया जाता है, पूँजीवादी प्रणाली से श्रेष्ठ है। किन्तु, साम्यवादी नियोजन के क्षेत्र में भी कुछ प्रधान कठिनाइयाँ हैं। इनमें केन्द्रीय योजना अधिकारी अथवा सरकार, जो नियोजन के कार्य को कार्यान्वित करती है, का अत्यधिक बलवान होना अनिवार्य है। साथ ही, प्रत्येक निर्णय का उद्देश्य जनता का कल्याण होना चाहिए किसी व्यक्ति अथवा वर्ग का नहीं। फिर भी, विशेष प्रयत्नों द्वारा इस प्रकार की योजना को सफल बनाया जा सकता है। सरकार को आर्थिक नियोजन को इस प्रकार से कार्यान्वित करना चाहिए जिससे जनता का अधिकतम कल्याण हो सके। सारांश यह है कि संगठित प्रयासों द्वारा ही साम्यवादी नियोजन को अधिक सफलीभूत बनाया जा सकता है। प्र० पीगू (Pigou) का इस सम्बन्ध में यह कथन बड़ा ही महत्वपूर्ण है : "The system of socialist Central Planning, if it could be effectively organised would in many respect be preferable to our existing system."

इस तरह इन दोनों प्रकार के नियोजन में अन्तर स्पष्ट है। प्रजातन्त्रीय नियोजन जनता की स्वीकृति से होता है। इसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, जनता की अलाई एवं कल्याण का विशेष महत्व रहता है। इसमें विकास एवं जन-कल्याण के बीच एक प्रकार का सामंजस्य स्थापित किया जाता है। (In democratic planning, peoples welfare and well-being are also of great significance. Necessarily, compromise is made between growth and welfare objectives.) सरकार इस प्रकार की योजना का निर्माण कर उसे जनमत जानने के लिए विस्तृत रूप से प्रचार करती है। साथ ही, जनता के सहयोग को प्राप्त करने का प्रयास करती है। इससे स्पष्ट है कि प्रजातन्त्रीय नियोजन जनता की सहमति पर आधारित है। वस्तुतः भारत में आर्थिक नियोजन प्रजातन्त्रीय ढंग का ही नियोजन है। यहाँ पर देश के आर्थिक विकास का कार्य दो क्षेत्रों में विभाजित होता है—सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) तथा निजी क्षेत्र (Private Sector)। देश के आर्थिक विकास में ये दोनों क्षेत्र आपस में कंधे-से-कंधा मिलाकर कार्य करते हैं। अतएव भारत में नियोजन का यही रूप प्रचलित है।

अर्द्ध-विकसित देशों में नियोजन की विधि  
(Technique of Planning in Under-developed Countries)

अब देखना यह है कि अर्द्ध-विकसित देशों के लिए नियोजन की कौन-सी विधि उपयुक्त होती है ? अर्द्ध-



विकसित देशों में आर्थिक नियोजन का प्राथमिक उद्देश्य केवल वर्तमान आय एवं उत्पादन-शक्ति में वृद्धि करना ही नहीं होना चाहिए, वरन् भविष्य में द्रुतगति से आर्थिक विकास का प्रयास करना भी होना चाहिए। आर्थिक नियोजन की प्रारम्भिक स्थिति में जब देश की अर्थ-व्यवस्था को अर्द्ध-स्थिर (Semi-stagnant) स्थिति से बाहर निकालने के लिए प्रयत्न किये जाते हैं तो इस स्थिति को आत्म-स्फूर्ति विकास (Take off) का स्तर कहा जाता है। इस समय में विकास का कार्य बहुत तीव्र गति से होना चाहिए; क्योंकि इसी समय में आर्थिक विकास के लिए जो प्रयत्न किये जायेंगे उनसे भविष्य में विकास के लिए गति प्राप्त होगी। अतएव अर्द्ध-विकसित देशों में आर्थिक नियोजन के क्रम में यही काल सबसे महत्वपूर्ण काल होता है और अर्द्ध-स्थिर (Semi-stagnant) अवस्था से बाहर निकालने (Take-off) की स्थिति तक तीव्र गति से विकास-कार्य पूरा करने के लिए नियोजन पूर्णरूप से प्रभावपूर्ण होना चाहिए। वास्तव में, इस प्रकार के देशों की आर्थिक समस्याएँ इतनी गम्भीर एवं विभिन्न प्रकार की होती हैं कि छोटे-छोटे टुकड़ों में नियोजन का कार्य कभी-सफल नहीं हो सकता। अतएव, आवश्यकता इस बात की है कि प्रारम्भिक अवस्था में एक बड़ी मात्रा में पूँजी का विनियोग किया जाय जिससे यातायात एवं सवादवाहन, आधार-भूत उद्योग एवं जल-शक्ति आदि जैसे प्रमुख उद्योगों का द्रुत-गति से विकास किया जा सके। इन कार्यक्रमों की समाप्ति के बाद ही द्रुतगति से आर्थिक विकास का कार्य प्रारम्भ हो सकता है।

निस्सन्देह इस प्रकार के विनियोग से शीघ्र लाभ प्राप्त नहीं होंगे। अतएव, सरकार को ही इन क्षेत्रों के विकास के लिए आवश्यक पूँजी का प्रवन्ध करना होगा। इसलिए अर्द्ध-विकसित देशों में विकास-सम्बन्धी नियोजन की सफलता का प्रथम रहस्य भारी एवं आधारभूत उद्योग के विकास, यातायात के साधनों की उन्नति, सिंचाई के साधनों के विकास तथा विद्युत-शक्ति के अधिकाधिक उत्पादन में ही है। भारी उद्योगों के विकास से नये-नये विनियोगों को प्रोत्साहन मिलेगा और निरन्तर बढ़ता हुआ विनियोग इस बात का सूचक है कि देश की अर्थ-व्यवस्था अर्द्ध-स्थिर अवस्था से बाहर निकल चुकी है। साथ ही साथ, यातायात के साधनों के विकास, सिंचाई तथा विद्युत-शक्ति की उत्पत्ति से देश के नये-नये क्षेत्रों में विनियोग के लिए सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं और वस्तुओं का बाजार विस्तृत होता है। इन सुविधाओं के अधिकाधिक मात्रा में उपलब्ध होने से देश में पूँजी-निर्माण की गति तीव्र होती है और व्यक्तियों के कल्याण में वृद्धि होती है। इन सुविधाओं के अभाव में बहुधा अर्द्ध-स्थिर अवस्था से बाहर निकालने की स्थिति तक अत्यधिक समय लग जाता है और इस प्रकार अधिक समय नष्ट होने से देश के

आर्थिक विकास में उतना ही अधिक समय लग जाता है। इन सुविधाओं के विकास के लिए सक्रिय सरकारी प्रयत्नों की आवश्यकता होती है, या यों कहना चाहिए कि सरकारी प्रयत्नों के वगैर इस सुविधाओं का विकास सम्भव नहीं है; क्योंकि सामान्य रूप से आर्थिक विकास की उच्च दर निम्नलिखित बातों पर निर्भर करती है :—

- (1) आर्थिक विकास एवं व्यक्तियों के आर्थिक कल्याण की प्राप्ति के लिए किये गये राजकीय व्यय की मात्रा,
- (2) देश में पूँजी-निर्माण की दर, और
- (3) सामाजिक एवं राजनीतिक कारण जिनके अन्तर्गत जनता का सहयोग, नियोजन के प्रति जनता की अभिरुचि एवं सामाजिक ढाँचे में उचित परिवर्तन आदि आते हैं।

यदि आर्थिक विकास की गति में वृद्धि करनी है, तो यह आवश्यक है कि राजकीय व्यय उचित कार्यक्रमों पर किया जाय, नये-नये विनियोग को प्रोत्साहित किया जाय, सामाजिक ढाँचे में उचित परिवर्तन किये जाएँ और नियोजन के कार्य को अधिक लोकप्रिय बनाया जाए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रारम्भिक अवस्था में राजकीय व्यय बहुत अधिक होगा, क्योंकि अर्द्ध-विकसित देशों में निजी क्षेत्र सामान्य रूप से लज्जाशील होता है और जोखिम वहन करने के लिए शीघ्र तत्पर नहीं होता।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अविकसित अथवा अर्द्ध-विकसित देशों में प्रजातन्त्रीय आधार पर आर्थिक नियोजन तभी सफल हो सकता है जबकि प्रारम्भिक स्थिति में सरकार भारी एवं आधारभूत उद्योग धन्धों, यातायात, सिंचाई एवं बिजली आदि के तीव्र विकास पर पर्याप्त मात्रा में विनियोग करे। इस प्रकार के विनियोजन की रकम पर्याप्त होनी चाहिए साथ ही, सरकार को इस बात पर भी ध्यान देना पड़ेगा कि आर्थिक विकास के साथ-साथ सामाजिक तथा आर्थिक कल्याण में भी वृद्धि हो रही है। दूसरे शब्दों में, सरकार को आर्थिक विकास के साथ-साथ सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को भी लागू करना चाहिए। हमारे देश में भी आर्थिक नियोजन की इसी विधि का प्रयोग किया जा रहा है। तृतीय योजना के निम्नांकित कथन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है : “The task before an under-developed country is not merely to get better results within the existing framework



of economic and social institutions but to contribute effectively to the realisation of wider mould and refashion these so that they contribute to and deeper social values.

### विशेष अध्ययन-सूची

1. W. A. Lewis : The Principles of Economic Planning.
2. H. D. Dickenson : Economics of Socialism.
3. Govt. of India : First, Second, Third, Fourth and Fifth Five Year Plans.
4. Govt. of India : Draft Five Year Plan (1978-83)

—:०:—



## अध्यय : 7

## भारत में योजनाकरण के अठारह वर्ष

[Eighteen Years of Planning in India (1951-52 to 1968-69) ]

भारत में योजनाकरण के अधूरे प्रयत्न—सदियों की गुलामी ने भारतीय अर्थ-व्यवस्था को पंगु बना दिया है, हमारे आर्थिक जीवन को अस्त-व्यस्त कर दिया है। यही कारण है कि प्रचुर साधनों के होते हुए भी आज देश निर्धनता से व्याप्त है तथा एक औसत भारतीय की आय विश्व के प्रायः सभी सुसभ्य देशों के निवासियों से कम है। ब्रिटिश शासनकाल में देश के आर्थिक विकास के लिए कोई सक्रिय प्रयास नहीं किया गया था। फलस्वरूप, निर्धनता के निर्भम जाल से मुक्ति पाने के लाखों प्रयत्नों के बावजूद आज हम बहुत ही पिछड़े हैं।

इस निर्धनता को दूर कर बहुलता की स्थिति उत्पन्न करने के उद्देश्य से अंग्रेजी शासनकाल से ही देश में योजनाकरण के मार्ग के अपनाने की बात विभिन्न व्यक्तियों एवं संस्थाओं द्वारा सोची जा रही है। सर्व-प्रथम श्री एम० विश्वेश्वरैया ने 1934 ई० में प्लान्ड इकॉनमी फॉर इंडिया नामक एक पुस्तक प्रकाशित की जो भारत के आर्थिक विकास के सम्बन्ध में योजना की प्रथम रूप-रेखा थी। बाद में 1938 ई० में काँग्रेस द्वारा श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में नेशनल प्लानिंग कमिटी (National Planning Committee) की नियुक्ति की गयी जिसने देश के आर्थिक विकास के लिए योजना का एक मसविदा 1948 में प्रकाशित किया। इसके बाद देश के समक्ष एक-एक करके तीन विकास की योजनाएँ रखी गयीं। सर्वप्रथम भारत के चुने हुए आठ व्यवसायियों ने देश के लिए 1941 ई० में एक बम्बई योजना (Bombay Plan) प्रस्तुत की जिसका उद्देश्य 15 वर्षों में प्रति-व्यक्ति औसत आय को दुगुना करना था। इस योजना में 15 वर्षों के अन्तर्गत कुल 10000 करोड़ रु० व्यय की व्यवस्था थी तथा इसका मुख्य उद्देश्य कृषि-उत्पादन में 130% तथा उद्योग धन्धों के उत्पादन में 500% वृद्धि करना था। किन्तु, इस योजना की बड़ी कड़ी आलोचना हुई। ठीक उसी समय श्री एम. एन. राय ने अपनी जन योजना (People's Plan) प्रस्तुत की जिसमें 10 वर्षों में कुल 1500 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। साथ ही, उसमें उत्पादन एवं वितरण के नियन्त्रण पर पूरा-पूरा जोर दिया गया था। किन्तु यह योजना भी पूर्णतः आदर्शवादी थी। अतएव इसकी भी कटु आलोचना की गयी। तृतीय योजना गांधी योजना (Gandhian Plan) थी जो कि श्रीमन्नारायण द्वारा तैयार की गयी थी जिसमें 10 वर्षों में प्रायः 3,500 करोड़ रु० व्यय का आयोजन था। इस योजना में गाँवों को स्वावलम्बी

बनाने के लिए कुटीर उद्योग-धन्धों के विकास पर अधिक जोर दिया गया था। वास्तव में, विकेन्द्रीकरण तथा यथा-सम्भव कम नियन्त्रण ही इस योजना के मूल-मन्त्र थे।

इस प्रकार उपरोक्त सारी योजनाओं की बड़ी-कड़ी आलोचना हुई। वास्तव में, ये सभी योजनाएँ अधिकांशतः आदर्शवादी थीं तथा इनमें व्यावहारिकता का अभाव था। साथ ही, इसमें आर्थिक जीवन के प्रत्येक पहलू के विकास की व्यवस्था का भी अभाव था। साथ ही, ये योजनाएँ गैर-सरकारी थीं। उक्त सभी कारणों से इन योजनाओं को व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सका।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद धीरे-धीरे यह बात स्पष्ट होने लगी कि एक व्यापक योजना द्वारा ही देश के संपूर्ण साधनों का समुचित रूप से उपयोग सम्भव हो सकता है। अतएव, 1950 ई० में भारत सरकार द्वारा एक योजना आयोग (Planning Commission) की नियुक्ति की गयी। जुलाई, 1951 ई० में योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना की एक रूप-रेखा सर्व-साधारण के विचारार्थ प्रकाशित की जिसे अन्तिम रूप से दिसम्बर, 1952 ई० में संसद के समक्ष प्रस्तुत किया गया। अप्रैल, 1951 से प्रथम योजना का कार्य प्रारम्भ हुआ तथा मार्च 1956 में समाप्त हुआ।

## 1. प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56)

## (First Five Year Plan)

प्रथम पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य (Objectives of the First Five Year Plan) :—भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना के निम्नलिखित प्रधान उद्देश्य थे :—

(1) प्रथम योजना का सर्वप्रथम उद्देश्य द्वितीय विश्व-युद्ध एवं देश-विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न तात्कालिक समस्याओं का समाधान था। विश्व-युद्ध तथा देश-विभाजन के कारण देश की आर्थिक व्यवस्था में कई प्रकार के असंतुलन उत्पन्न हो गये थे जिन्हें ठीक करना प्रथम योजना का प्रधान उद्देश्य था।

(2) प्रथम योजना का दूसरा प्रधान उद्देश्य देश की आर्थिक व्यवस्था को इस प्रकार से सबल बनाना था जिससे कि भविष्य में द्रुतगति से विकास सम्भव हो सके, यानी योजना का उद्देश्य भविष्य में विकास के लिए नींव को सुदृढ़ बनाना था। भारत जैसे अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था-वाले देश की एक प्रमुख विशेषता देश में विकास के आधारभूत साधनों जैसे सिंचाई के साधन, बिजली, यातायात तथा संवादवाहन के साधनों और इस्पात एवं



## भारतीय अर्थ-व्यवस्था

मशीनों जैसे आधारभूत उद्योगों का अभाव है। भविष्य में आर्थिक विकास के लिए मार्ग को प्रशस्त बनाने के लिए इनका विकास अनिवार्य है। वास्तव में, ये भविष्य में आर्थिक विकास की नींव को सुदृढ़ बनाते हैं। प्रथम योजना में इनके विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था।

(3) प्रथम योजना का तृतीय प्रधान उद्देश्य उत्पादन क्षमता में वृद्धि तथा आर्थिक विषमता को यथा-सम्भव कम करना था। (The First Plan aimed primarily at increased productivity and reduction in economic inequalities.)

(4) प्रथम योजना का उद्देश्य मुद्रा-स्फीति के दबाव को कम करना भी था।

(5) प्रथम योजना का एक प्रमुख उद्देश्य यातायात के साधनों में इस प्रकार की वृद्धि करना था जिससे कि खाद्यान्न एवं कच्चे पदार्थों के ढोने में अधिकाधिक सुविधा हो, या।

(6) इस योजना में बड़े पैमाने पर सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था पर भी जोर दिया गया था।

(7) राज्यों में दक्ष प्रशासकीय मशीनरी की व्यवस्था भी इस योजना का एक प्रधान उद्देश्य था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रथम योजना में कल्याणकारी सिद्धान्तों पर आधारित एक मिश्रित आर्थिक-व्यवस्था के निर्माण को आदर्श के रूप में स्वीकार किया गया था। आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना में योजनाकाल के उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए कहा था कि "The central objective of Planning in India is to raise the standard of living of the people and to open to them opportunity for a richer and more varied life. Planning must, therefore, aim at utilising more effectively, the resources, human and material available to the community so as to obtain for them a larger output of goods and services, and also at reducing inequality of income, wealth and opportunity." दूसरे शब्दों में आर्थिक नियोजन का प्रधान उद्देश्य राष्ट्रीय कल्याण में वृद्धि था। आयोग के शब्दों में, आर्थिक विकास आर्थिक नियोजन का एक-मात्र लक्ष्य नहीं है। वास्तव में, आर्थिक विकास लक्ष्य नहीं होकर एक साधन-मात्र है। जो कुछ भी भौतिक उन्नति समाज करता है उसका उद्देश्य राष्ट्रीय कल्याण में वृद्धि होता है।" (Economic development is but a means to an end, the building up through efforts and sacrifices widely shared by society without caste or class or privilege, which it offers every section of the community.)

प्रथम पंचवर्षीय योजना का कुल व्यय (Total outlay of the First Plan) :—प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत पाँच वर्षों की अवधि में कुल 2378 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। किन्तु प्रथम योजना के पाँच वर्षों में केवल 1960 करोड़ रुपये, यानी कुल आयोजित व्यय का प्रायः 82.4 प्रतिशत भाग खर्च ही किया जा सका। योजना के प्रायः सभी मदों में वास्तविक व्यय आयोजित व्यय से कम था जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

| मदें                        | आयोजित व्यय<br>(करोड़ रुपये में) | वास्तविक व्यय<br>(करोड़ रुपये में) | प्रतिशत<br>वितरण |
|-----------------------------|----------------------------------|------------------------------------|------------------|
| 1. कृषि एवं सामुदायिक विकास | 354                              | 291                                | 15               |
| 2. सिंचाई एवं बिजली         | 637                              | 570                                | 30               |
| 3. उद्योग-धन्धे एवं खनिज    | 188                              | 117                                | 5                |
| 4. यातायात एवं संवहन        | 571                              | 523                                | 26               |
| 5. समाज-सेवाएँ एवं विविध    | 628                              | 459                                | 24               |
| कुल                         | 2378                             | 1960                               | 100              |

योजना-आयोग के शब्दों में विकास-सम्बन्धी कार्यक्रम आरम्भ होने में देर तथा योजना के कार्यान्वयन के लिए आवश्यक प्रशासकीय संगठन की समुचित व्यवस्था के अभाव में ही वास्तविक व्यय इस प्रकार से कम हुआ। योजनाकाल में कुल विनियोग का 94 प्रतिशत भाग घरेलू साधनों से तथा 6 प्रतिशत भाग विदेशी साधनों से उपलब्ध हुआ था।

प्रथम योजना के वित्तीय साधन (Financial Resources of the First Five Year Plan) :—प्रथम योजनाकाल में व्यय की गयी कुल 1960 करोड़ रुपये की रकम विभिन्न साधनों द्वारा निम्न प्रकार से प्राप्त हुई थी :—

| साधन                      | प्रथम योजना के वित्तीय साधन<br>रकम (करोड़ रुपये में) | कुल का<br>प्रतिशत |
|---------------------------|------------------------------------------------------|-------------------|
| 1. कर तथा रेलवे से बचत    | 752                                                  | 38                |
| 2. बाजार से उपलब्ध ऋण     | 205                                                  | 10                |
| 3. लघु बचत एवं असंचित ऋण  | 304                                                  | 16                |
| 4. अन्य पूँजीगत साधन      | 94                                                   | 5                 |
| 5. बाहर से प्राप्त सहायता | 185                                                  | 10                |
| 6. घाटे की वित्त-व्यवस्था | 420                                                  | 21                |
| कुल                       | 1960                                                 | 100               |



उपरोक्त तालिका से प्रथम योजना में विभिन्न साधनों से प्राप्त वित्तीय सहयोग का अन्दाजा लगता है। कर तथा रेलवे की वज्रत द्वारा पाँच वर्षों में कुल 752 करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई थी जो प्रथम योजना के कुल वास्तविक व्यय का प्रायः 38 प्रतिशत भाग थी। इसके बाद घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit financing) का स्थान था जिससे कुल 420 करोड़ रुपये, यानी वास्तविक व्यय का प्रायः 21 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ था। इसी प्रकार विदेशी सहायता का प्रतिशत प्रायः 10 था। लघु वज्रत एवं असंचित ऋण से प्रथम योजनाकाल में 304 करोड़ रुपये, यानी कुल व्यय का प्रायः 16 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ था।

### प्रथम योजना के लक्ष्य एवं उनकी पूर्ति (Targets and Achievements of the First Five Year Plan)

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत विकास-सम्बन्धी विभिन्न लक्ष्यों के निर्धारण में निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया गया था—(क) कृषि के उत्पादन में वृद्धि तथा ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का पुनर्निर्माण करना, (ख) आर्थिक स्थायित्व बनाए रखना, तथा (ग) आगे आनेवाली बड़ी पंचवर्षीय योजनाओं के लिए मार्ग तैयार करना। योजना आयोग के शब्दों में ही “The First Five Year plan will inevitably be a period of preparation and painful gathering of resources to support a sustained advance.”

वास्तव में, प्रथम पंचवर्षीय योजना भारत में आयोजित विकास क्षेत्र में प्रथम सफल प्रयास थी। योजना के बहुत-से लक्ष्य पूरे हुए—देश में कृषि तथा उद्योग-धन्धों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई और इस प्रकार प्रथम योजना अपने उद्देश्यों की पूर्ति में बहुत हद तक सफल रही जो निम्नांकित विवरण से स्पष्ट है—

1. राष्ट्रीय आय—प्रथम पंचवर्षीय योजना के पाँच वर्षों में राष्ट्रीय आय में प्रायः 18 प्रतिशत की वृद्धि हुई। कृषि एवं तत्सम्बन्धी कार्यों के शुद्ध उत्पादन में योजनाकाल में 14.7 प्रतिशत; खनिज एवं लघु-उद्योगों के शुद्ध उत्पादन में 18.2 प्रतिशत; वाणिज्य, यातायात एवं संवहन में 21.6 प्रतिशत तथा अन्य सेवाओं में 26.7 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1953-54 तथा 1954-55 में कृषि के शुद्ध उत्पादन में सबसे अधिक वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में भी अधिकतम वृद्धि हुई। योजना काल में औसत प्रति-व्यक्ति आय में 11 प्रतिशत तथा प्रति-व्यक्ति उपभोग स्तर में 8 प्रतिशत की वृद्धि हुई। खाद्यान्नों का प्रति वयस्क प्रतिदिन उपभोग 1950-51 ई० में 12.3 औंस से बढ़कर 1955-56 ई० में 14.4 औंस हो गया।

कपड़े का प्रति-व्यक्ति औसत वार्षिक उपभोग 9.7 गज से बढ़कर 19.4 गज हो गया तथा चीनी का प्रति व्यक्ति उपभोग 0.57 औंस हो गया। इसी प्रकार अन्य औद्योगिक वस्तुओं के उपभोग में भी महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। योजनाकाल में विनियोग की दर में लगभग 2.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई। योजना की अवधि में देश की जनसंख्या 35.9 करोड़ से बढ़कर लगभग 38.4 करोड़ हो गयी, फिर भी प्रति-व्यक्ति आय में प्रायः 11 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

2. कृषि-उत्पादन के क्षेत्र में :—प्रथम योजना में कृषि के उत्पादन में वृद्धि पर महत्वपूर्ण जोर दिया गया था। योजनाकाल में अधिकांश कृषि-सम्बन्धी लक्ष्यों की पूर्ति भी हो गयी। खाद्यान्नों के उत्पादन में 76 लाख टन वृद्धि का आयोजन था, जबकि वास्तविक वृद्धि 120 लाख टन के लगभग हुई। योजनाकाल में खाद्यान्नों के उत्पादन में 18 प्रतिशत, कपास के उत्पादन में 45 प्रतिशत तथा तिलहन के उत्पादन में 8 प्रतिशत की वृद्धि हुई। योजनाकाल में सभी फसलों के उत्पादन का सूचनांक 1950-51 में 96 (1949-50—100) से बढ़कर 1955-56 में 117 हो गया। सिंचाई, सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा संहकारिता के क्षेत्र में भी प्रथम योजना में पर्याप्त उन्नति हुई।

3. औद्योगिक उत्पादन में (In Industrial Production)—प्रथम योजनाकाल में उद्योग-धन्धों के उत्पादन में वृद्धि का कोई विशेष प्रयास नहीं किया गया था, फिर भी प्रथम योजनाकाल में कुल औद्योगिक उत्पादन में 38 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसमें से पूँजीगत मालों (Capital goods) के उत्पादन में 70 प्रतिशत, मध्यवर्ती मालों के उत्पादन 34 प्रतिशत तथा उपभोक्ता वस्तुओं (Consumers goods) के उत्पादन में 34 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

प्रथम योजना में विद्युत की संस्थापित क्षमता में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। योजनाकाल में विद्युत की संस्थापित क्षमता 1950-51 में 23 लाख कि० वा० से बढ़कर 1955-56 में 34 लाख कि० वा० हो गयी, यानी पाँच वर्षों में विद्युत की संस्थापित क्षमता में 11 लाख कि० वा० की वृद्धि हुई (लक्ष्य 13 लाख कि० वा० का था)।

4. सिंचाई सम्बन्धी सुविधाओं में (In Irrigation Facilities) :—योजनाकाल में सिंचाई की सुविधाओं का भी पर्याप्त मात्रा में प्रसार हुआ—इसमें 100 लाख एकड़ में लघु सिंचाई योजनाओं के माध्यम से तथा 60 लाख एकड़ में बृहत् सिंचाई की योजनाओं के माध्यम से सिंचाई की व्यवस्था की गयी थी। योजना की अवधि में अनेक बहूदेशीय नदी-घाटी परियोजनाओं जैसे कि भाखरा नांगल, दामोदर घाटी तथा हीराकुंड योजना पर कार्य की गति बढ़ा दी गई, जबकि चम्बल, रिहण्ड, कोपल तथा कोशी आदि कई नई बड़ी परियोजनाएँ भी शुरू हुईं।



## भारतीय अर्थशास्त्र

5. परिवहन तथा संचार के क्षेत्र में (In the field of Transport & Communication)—परिवहन तथा संचार के क्षेत्र में भी प्रथम योजना में पूर्ण रूप से संतोषजनक प्रगति हुई। योजना की अवधि में 30 बड़े नये पुल बनाए गए, राष्ट्रीय राज्य-मार्गों की 636 मील अविद्यमान कड़ियाँ (Missing links) जोड़ी गई और वर्तमान सड़कों में से 4000 मील में सुधार किया गया। 380 मील लम्बी नई रेल लाइनें बिछाई गईं और 430 मील लम्बी टूटी हुई लाइनों की मरम्मत की गई। योजना की अवधि में देश में रेल इंजनों का उत्पादन 27 से बढ़कर 179, गाड़ी के डिब्बों का उत्पादन 673 से बढ़कर 1221 और माल डिब्बों का उत्पादन 3707 से बढ़कर 14317 हो गया। प्रथम योजनाकाल में सामुद्रिक जहाज के टन भार में भी पर्याप्त वृद्धि हुई तथा देश में जहाज का कुल टन भार 3,90,707 रजिस्टर्ड टन से बढ़कर 1955-56 तक 4,800,000 रजिस्टर्ड टन हो गया।

6. सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में (In the field of social Services)—प्रथम योजनाकाल के सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई। इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण कदम यह उठाया गया कि 2 अक्टूबर, 1952 को सामुदायिक विकास (Community Development) तथा 2 अक्टूबर, 1953 को राष्ट्रीय विकास सेवाएँ (National Extension Services) शुरू की गईं। योजना के अन्त तक इन कार्यक्रमों का विस्तार 1,40,000 गाँवों के 7-8 करोड़ निवासियों तक हो चुका था। सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में एक और उपलब्धि यह हुई कि भूमि के अधिकार-सम्बन्धी सुधारों का शुभारंभ हुआ और लगभग सभी राज्यों से मध्यस्थों को समाप्त कर दिया गया। शिक्षा तथा चिकित्सा आदि के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई।

7. कीमत स्तर में (In Price-Level):—योजना की अवधि में कुल मुद्रा की पूर्ति में 10% से कुछ अधिक वृद्धि हुई। परन्तु 1950-51 की तुलना में 1955-56 में कीमत स्तर 13 प्रतिशत गिर गया। परिणामस्वरूप जीवन-स्तर का सूचक अंक भी पर्याप्त मात्रा में घट गया।

8. भुगतान संतुलन में (In Balance of Payments)—योजना के अन्त में भुगतान संतुलन की स्थिति पूर्वाधारित (anticipated) स्थिति की अपेक्षा अधिक संतोषजनक थी। मूल अनुमानों में 180 से 200 करोड़ रुपये तक के औसत वार्षिक घाटे की आशा थी, परन्तु वास्तव में, 96 करोड़ रुपये के “अधिकृत दानों” (official donations) के लिए ऋण लेने के बाद, समस्त योजना-अवधि में कुल घाटा 30 करोड़ रुपये का था। जहाँ तक पाउंड-शेष (Sterling Balances) का सम्बन्ध है, वास्तव में 138 करोड़ रुपये निकाले गये जबकि योजना में प्रत्याहार की राशि 290 करोड़ रुपये निश्चित की गयी थी।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि “प्रथम पंचवर्षीय योजना में देश में कृषि तथा उद्योग दोनों ही के उत्पादन-स्तर में उल्लेखनीय सुधार हुआ। इसने अर्थ-व्यवस्था में अनेक संस्थात्मक परिवर्तन का भी सूत्रपात किया।

प्रथम योजना में निर्धारित आर्थिक स्वरूप (Economic pattern envisaged in the First Five Year plan)—प्रथम पंचवर्षीय योजना में देश में एक मिश्रित आर्थिक व्यवस्था (mixed economy) की व्यवस्था थी। योजना के कार्यक्रम एवं लक्ष्य इसी मूलभूत उद्देश्य को ध्यान में रखकर तैयार किये गये थे। दूसरे शब्दों में, देश के आर्थिक विकास में सार्वजनिक क्षेत्र (public sector) तथा निजी क्षेत्र (Private sector) दोनों की सत्ता को स्वीकार किया था। देश की औद्योगिक व्यवस्था को तीन क्षेत्रों में विभाजित किया गया था—(क) प्रथम श्रेणी के कुछ उद्योगों को केवल सार्वजनिक क्षेत्र (Public sector) के अन्तर्गत रखा गया था। (ख) द्वितीय, कुछ उद्योगों के क्षेत्र में सार्वजनिक तथा निजी दोनों क्षेत्रों की व्यवस्था थी। (ग) तृतीय कुछ उद्योगों को केवल निजी क्षेत्र (private sector) के अन्तर्गत छोड़ दिया गया था। योजना-काल में सार्वजनिक तथा निजी दोनों ही क्षेत्रों के विकास को सरकार द्वारा उचित प्रश्रय प्रदान किया गया।

### प्रथम योजना की आलोचनात्मक समीक्षा (An Appraisal of the First Five Year Plan)

इस प्रकार प्रथम पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य द्रुत गति से आर्थिक विकास के लिए वातावरण तैयार करना था। योजना के अन्तर्गत खाद्यान्न एवं कच्चे पदार्थों की कमी को दूर करने का विशेष तौर से प्रयत्न किया गया था। अधिकांश मदों में प्रथम योजना के निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति हो गयी, किन्तु फिर भी कई बातों को लेकर इसकी आलोचना की जाती है जिनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

(1) संक्रमणकालीन योजना (Transition Plan)—इन सब उपलब्धियों के बावजूद, यह कहा जा सकता है कि प्रथम योजना केवल “संक्रमणकालीन योजना” थी। इसने किसी नये कार्यक्रम का प्रचलन नहीं किया। वास्तव में, यह युद्धोत्तरकालीन कार्यक्रमों में एक प्रकार से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास मात्र थी। योजना के लिए निर्धारित सभी लक्ष्य, वास्तव में बहुत ही साधारण थे अतः उन्हें पूरा करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि योजना की अवधि में मौनसून की अच्छी स्थिति ने खाद्यान्न की स्थिति को बहुत ही सुगम बना दिया।



भौतिक साधनों को पूर्ण रीति से निर्धारित किये वगैर ही यह शीघ्रतापूर्वक तैयार की गयी थी। परिणामस्वरूप यह मूल रूप से एक वित्तीय योजना (Financial Plan) थी। परन्तु वित्तीय-क्षेत्र में भी योजना के सभी मर्दों में वास्तविक व्यय आयोजित व्यय से कम ही रहा तथा कुल आयोजित व्यय का केवल 82.3 प्रतिशत भाग ही व्यय किया जा सका। आयोग ने इन त्रुटियों की ओर ध्यान देते हुए कहा है कि योजना के विभिन्न कार्यक्रम देर से प्रारम्भ किये गये। साथ ही, उन्हें पूरा करने के लिए उचित प्रशासकीय संगठनात्मक प्रबन्ध का भी अभाव था।

(3) अत्यधिक आशावादी दृष्टिकोण—प्रथम योजना की आलोचना इस बात को लेकर भी की जाती है कि इसमें वित्त को जुटाने में अत्यन्त आशावादी दृष्टिकोण अपनाया गया था और जनता से उसकी शक्ति से भी अधिक प्राप्त करने की आशा की गयी थी। आलोचकों का कहना है कि योजना आयोग के अनुसार पाँच वर्षों में केन्द्रीय सरकार के बजट, राज्य सरकारों के बजट तथा रेलवे से क्रमशः 160 करोड़, 408 करोड़ एवं 170 करोड़ रुपये अतिरिक्त आय प्राप्त होगी। किन्तु आलोचकों के अनुसार भारतीय जनता का अधिकतर भाग पहले से ही अत्यन्त निर्धन है, अतः कर के रूप में इससे और अधिक आय प्राप्त करने की आशा करना उचित नहीं जँचता। इसी प्रकार प्रथम योजना में यह आशा की गयी थी कि अतिरिक्त आय का 20 प्रतिशत भाग पूँजी-निर्माण के कार्य में लगाया जायगा, किन्तु भारत की स्थिति को देखते हुए यह अनुमान भी अत्यधिक जान पड़ता है। इसी प्रकार 1967 ई० तक प्रति व्यक्ति आय को दुगुना करने का लक्ष्य भी असंभव ही सिद्ध हुआ।

(4) विकास के लक्ष्यों को वर्ष के आधार पर विभाजित (annual breakdown) नहीं किया गया था—प्रथम योजना का चतुर्थ दोष यह था कि इसमें विकास के लक्ष्यों को वर्ष के आधार पर नहीं निश्चित किया गया था। किसी भी विकास की योजना के अन्तर्गत प्रति वर्ष में कितना विकास होगा इसका एक ठोस लक्ष्य तैयार करना आवश्यक होता है। किन्तु प्रथम योजना में लक्ष्य केवल सम्पूर्ण योजना काल के लिए ही निश्चित किये गये थे; इनका वार्षिक वितरण निश्चित नहीं किया गया था। वार्षिक लक्ष्यों के अभाव में योजना की कमी को जानना तथा उसे दूर करना अत्यधिक कठिन हो जाता है।

(5) उद्योग-धन्धों की अज्ञहेलना (Neglect of industries);—प्रथम योजना काल में कृषि पर ही अधिक जोर दिया गया था, उद्योग-धन्धों के विकास की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं थी। कृषि को प्राथमिकता देने का प्रधान कारण यह बतलाया गया था कि 1951 ई० के पूर्व से चली आनेवाली योजनाओं को पूरा करना अनिवार्य था। साथ ही, इससे औद्योगिक विकास की जड़ भी

सुदृढ़ होगी। वृहत् एवं मध्यम उद्योगों के लिए जो थोड़ी रकम निश्चित भी की गयी थी उसका प्रायः आधा भाग भी व्यय नहीं किया जा सका। इससे संगठित उद्योगों के क्षेत्र में विकास बहुत ही कम हुआ तथा इस क्षेत्र के रोजगार की संभावनाओं में भी बहुत कम ही वृद्धि हुई।

(6) बेकारी की समस्या की उपेक्षा (Neglect of the problem of Unemployment)—प्रथम पंचवर्षीय योजना में बेकारी की समस्या के समाधान का कोई प्रयास नहीं किया गया था। परिणामस्वरूप 1953 तक देश में रोजगार की स्थिति बहुत खराब हो गयी। अतएव, योजना आयोग को 309 करोड़ रुपये के व्यय से ग्यारह सूत्रीय रोजगार का कार्यक्रम (Eleven Point Employment Programme) तैयार करना पड़ा। इसके बावजूद योजना काल में केवल 45 लाख व्यक्तियों के लिए ही रोजगार की सुविधा प्रदान की गयी जबकि कुल श्रम-शक्ति में योजना की अवधि में प्रायः 100 लाख की वृद्धि हुई।

(7) नियन्त्रण के तकनीक के प्रयोग का अभाव (No use of the technique of controls):—प्रथम योजना में सरकार ने नियन्त्रण तथा नियमन के उन तकनीकों का भी प्रयोग नहीं किया जिनकी प्रथम योजना काल में विस्तृत रूप से चर्चा की गयी थी।

(8) योजना को लागू करने के लिए उचित संगठन का अभाव :—अन्ततः यह कहा जा सकता है कि प्रथम योजना की सबसे बड़ी त्रुटी यह थी कि इसमें योजना को लागू करने के लिए उचित संगठन का अभाव था। कुछ उद्योग-धन्धों तथा नदी-घाटी योजनाओं को पूरा करने के लिए स्वतंत्र निगमों की स्थापना अवश्य की गयी थी परन्तु इन पर सरकार अपना पूर्ण नियन्त्रण नहीं स्थापित कर सकी। परिणामस्वरूप बहुत-सा रुपया योंही बर्बाद हो गया।

निष्कर्षः—इस प्रकार कई बातों को लेकर प्रथम योजना की आलोचना की जाती है। किन्तु इन आलोचनाओं के बावजूद भी यह कहा जा सकता है कि प्रथम योजना अपने उद्देश्यों की पूर्ति में बहुत अधिक सफल रही। वास्तव में, देश की अर्थ-व्यवस्था पर इसका बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ा। प्रथम योजना ने वर्षों की मृतप्राय-अर्थ-व्यवस्था में एक नयी जान फूँक दी। (The First Five Year Plan introduced a new dynamic element in a long static and stagnant situation.) इस योजना की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि इसने देश में द्रुतगति से आर्थिक विकास के लिए एक सुगम वातावरण तैयार किया जिससे भविष्य में बड़ी-बड़ी योजनाओं की आधारशिला रखी गयी।



## 2. द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-1961)

## (Second Five Year Plan)

द्वितीय योजना के मुख्य उद्देश्य (Main objectives of the Second Five Year Plan):—द्वितीय पंचवर्षीय योजना का समय अप्रैल, 1956 ई० से लेकर मार्च, 1961 तक था। योजना आयोग के अनुसार द्वितीय योजना का मुख्य उद्देश्य पाँच वर्षों की अवधि में देश की राष्ट्रीय आय में कुल 25 प्रतिशत की वृद्धि करना, अर्थिकों की संख्या में होनेवाली वृद्धि के लिए रोजगार के साधनों को बढ़ाना तथा औद्योगीकरण की गति को तीव्र बनाना जिससे आगे की योजनाओं के लिए अधिक तीव्र विकास की पृष्ठभूमि तैयार हो सके, था। (The main task before the Second Five Year Plan is to secure an increase of about 25 p.c. over the Five Year, to enlarge employment opportunities at a rate sufficient to absorb the increase in labour force consequent on the increase in population and to take a major stride forward in the direction of industrialisation so as to prepare the ground for more rapid advance in the plan periods to come.)<sup>1</sup> दूसरे शब्दों में, द्वितीय पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य विकास के उस क्रम को आगे बढ़ाना था जिसे प्रथम योजना ने जन्म दिया था तथा जिसके द्वारा जनता के सुख एवं समृद्धि की नींव रखी गयी थी। द्वितीय योजना का प्रमुख उद्देश्य ग्रामीण भारत का पुनर्निर्माण करना था। दूसरे शब्दों में, इसका उद्देश्य औद्योगिक प्रगति की आधारशिला रखना तथा दुर्बल एवं अल्प सुविधा-प्राप्त वर्गों के लिए अधिकतम संभव सीमा तक सुविधाओं को उपलब्ध बनाना और देश के सभी भागों का संतुलित विकास करना था। It aimed at rebuilding rural India, to lay the foundation of industrial progress and to secure to the greatest extent possible opportunities for the weaker sections of the society.)

इसी व्यापक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर द्वितीय पंचवर्षीय योजना के निम्नलिखित उद्देश्य निश्चित किये गये थे :—

(1) राष्ट्रीय आय में समुचित वृद्धि (Rapid increase in national income)—जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए राष्ट्रीय आय में समुचित वृद्धि आवश्यक है तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि के लिए द्रुतगति से आर्थिक विकास अनिवार्य है। अतएव द्वितीय योजना में पाँच वर्षों में राष्ट्रीय आय में 25%, यानी 5 प्रतिशत

1. Planning Commission : Second Five Year Plan, p. 5.

वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य था। इसके अनुसार देश की राष्ट्रीय आय को 1955-56 ई० में 10,800 करोड़ रु० से बढ़ाकर 1960-61 ई० में 13,480 करोड़ रुपये करने का आयोजन था। इसके फलस्वरूप प्रति व्यक्ति आय में लगभग 18% तथा प्रति-व्यक्ति औसत उपभोग-व्यय में 8 की वृद्धि का आयोजन था।

(2) उद्योग-वर्धनों का तीव्र विकास (Rapid Industrialisation of the country)—द्वितीय योजना में औद्योगीकरण पर, विशेषतः आधारभूत एवं भारी उद्योग-वर्धनों को उच्च प्राथमिकता प्रदान की गयी थी। योजना-काल में उद्योग एवं खनिज के विकास पर कुल 890 करोड़ रुपये सरकारी क्षेत्र में व्यय करने का आयोजन था। इसमें उद्योग एवं खनिज पर 690 करोड़ रुपये तथा कुटीर एवं लघु उद्योगों पर 200 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। आयोग ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से यह घोषणा की गयी थी कि "Investment in basic Industries creates demand for Consumers goods, but it does not enlarge the supply of consumers goods in the short run nor does it directly absorb any large quantities of labour. A balanced pattern of industrialisation therefore, requires a well-organised effort to utilise labour for increasing the supply of much needed consumers' goods in a manner which economises the use of capital."

(3) अधिकाधिक रोजगार की व्यवस्था (Vest expansion in employment opportunities)—द्वितीय योजना के अन्तर्गत रोजगार की अधिकाधिक व्यवस्था भी की गयी थी जिससे बेकारी की समस्या का कुछ हल किया जा सके। वास्तव में, रोजगार के सम्बन्ध में योजना आयोग ने एक दीर्घकालीन नीति अपनायी थी जिसके अनुसार देश में 1966-67 ई० तक पूर्ण रोजगार की व्यवस्था कायम करनी थी।

(4) आर्थिक विषमता में कमी (Reduction in economic inequalities)—दूसरे शब्दों में, धन तथा आय के वितरण की विषमताओं को कम करना तथा आर्थिक शक्तियों का अधिक समान वितरण द्वितीय योजना का एक प्रधान उद्देश्य था।

द्वितीय योजना का कुल व्यय Total (Outlay of the Second Five Year Plan)—द्वितीय योजना का आकार प्रथम योजना से बहुत अधिक बड़ा था। इसमें पाँच वर्षों में सरकारी क्षेत्र में 4,800 करोड़ व्यय का आयोजन था जिसका विभिन्न मर्दों में वितरण निम्न प्रकार से था—



## भारत में योजनाकरण के अठारह वर्ष

95

| मदें                        | व्यय (करोड़ रुपये में) |                |               |                |
|-----------------------------|------------------------|----------------|---------------|----------------|
|                             | प्रथम योजना काल        |                | द्वितीय योजना |                |
|                             | व्यय की रकम            | कुल का प्रतिशत | व्यय की रकम   | कुल का प्रतिशत |
| 1. कृषि एवं सामुदायिक विकास | 354                    | 14.9           | 568           | 11.8           |
| 2. सिंचाई एवं बिजली         | 637                    | 27.2           | 913           | 19.0           |
| 3. उद्योग एवं खनिज          | 188                    | 7.9            | 890           | 18.5           |
| 4. यातायात एवं संवहन        | 571                    | 24.0           | 1,385         | 28.9           |
| 5. सामाजिक सेवाएँ           | 542                    | 22.4           | 945           | 19.7           |
| 6. विविध                    | 86                     | 3.6            | 99            | 2.1            |
| कुल                         | 2,378                  | 100.0          | 4,800         | 100.0          |

व्यय की जानेवाली कुल 4,800 करोड़ रुपये की रकम में से 2,529 करोड़ रुपये केन्द्र द्वारा तथा 2,271 करोड़ रुपये राज्य सरकारों द्वारा व्यय किया जाने को था। द्वितीय योजना काल में सार्वजनिक क्षेत्र के लिए निर्धारित 4800 करोड़ रुपये की कुल राशि में से 3800 करोड़ रुपये पूँजी विनियोग के रूप में तथा 1000 करोड़ रुपये चालू व्यय के रूप में व्यय का आयोजन था। इसके अतिरिक्त द्वितीय योजनाकाल में निजी क्षेत्र में 2400 करोड़ रुपये विनियोग की व्यवस्था थी।

इस प्रकार, द्वितीय योजना काल में सार्वजनिक क्षेत्र में 4800 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था, किन्तु योजना में अन्तिम रूप से कुल 4600 करोड़ रुपये ही व्यय किया जा सका। इसका विभिन्न मदों में वितरण निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है—

## व्यय (करोड़ रुपये में)

| मदें                     | व्यय की रकम       |               | प्रतिशत वितरण     |               |
|--------------------------|-------------------|---------------|-------------------|---------------|
|                          | योजना की व्यवस्था | वास्तविक व्यय | योजना की व्यवस्था | वास्तविक व्यय |
| कृषि एवं सामुदायिक विकास | 568               | 530           | 11.8              | 11.0          |
| सिंचाई एवं बिजली         | 913               | 865           | 19.0              | 19.0          |
| ग्रामीण एवं लघु उद्योग   | 200               | 175           | 4.2               | 4.0           |
| उद्योग एवं खनिज          | 690               | 900           | 14.4              | 20.0          |
| यातायात एवं संवहन        | 1,385             | 1300          | 28.9              | 18.0          |
| सामाजिक सेवाएँ एवं विविध | 1044              | 830           | 31.7              | 28.0          |
| कुल                      | 4800              | 4600          | 100.0             | 100.0         |

### द्वितीय योजना के लक्ष्य तथा उनकी पूर्ति (Targets of the Second Five Year Plan and their Achievements)

द्वितीय पंचवर्षीय योजना अत्यधिक महात्वाकांक्षी तथा साहसयुक्त (Ambitious and bold) थी। अपने लक्ष्यों के निर्धारण में यह अत्यधिक महात्वाकांक्षी तथा कुल व्यय के सम्बन्ध में साहसिक कही जा सकती है। किन्तु प्रथम योजना के ठीक विपरीत द्वितीय योजना को प्रारम्भ से ही विभिन्न प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इनमें मौनसून की अप्रत्याशित असफलता, स्वेज-संकट, बढ़ते हुए मूल्य-तल तथा विदेशी विनियमों की कठिनाइयाँ आदि उल्लेखनीय हैं। यही कारण है कि द्वितीय योजना के विभिन्न लक्ष्यों की पूर्ति में एक प्रकार की विषमता पायी जाती है। फिर भी, कहा जा सकता है कि विभिन्न कठिनाइयों के बावजूद प्रथम योजना ने जिस उर्ध्वगामी प्रवृत्ति का सूत्रपात किया था, द्वितीय

योजनाकाल में भी वह जारी रही। अब द्वितीय योजना के प्रमुख लक्ष्यों तथा इनकी उपलब्धियों की निम्नांकित व्याख्या से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है।

राष्ट्रीय आय (National Income) :— द्वितीय पंचवर्षीय योजना में पाँच वर्षों में राष्ट्रीय आय में 25 प्रतिशत तथा प्रति-व्यक्ति आय में 18 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था। किन्तु द्वितीय योजना के इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकी तथा पाँच वर्षों में राष्ट्रीय आय में 20.4 प्रतिशत तथा प्रति-व्यक्ति आय में केवल 8.0 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। वास्तव में, द्वितीय योजनाकाल में योजना आयोग ने जनसंख्या में वृद्धि का अनुमान 1.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष लगाया था जबकि वास्तविक वृद्धि 2 प्रतिशत प्रतिवर्ष से भी अधिक हुई जिससे द्वितीय योजना आयोग के सारे अनुमान ही गलत सिद्ध हो गये। इस प्रकार प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं की 10 वर्षों की अवधि, अर्थात् 1951 से 1961 के बीच राष्ट्रीय

1. इसमें 99 करोड़ रुपये की रकम विविध क्षेत्र की भी सम्मिलित है।



आय में 42.6 प्रतिशत तथा प्रति व्यक्ति आय में केवल 16 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। द्वितीय योजना काल में कुल विनियोग राष्ट्रीय आय के 1955-56 में 7.3 प्रतिशत से बढ़कर 1960-61 में 11.7 प्रतिशत हो गया। किन्तु आंतरिक बचत का प्रतिशत योजना काल में राष्ट्रीय आय के 7.5 से बढ़कर केवल 8.5 प्रतिशत ही हो सका। बचत तथा विनियोग के इस अंतर को विदेशी सहायता, निर्यात अतिरेक (export surplus) तथा विदेशी विनिमय की संचित निधियों से ही पूरा किया जा सका। योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में वृद्धि के लक्ष्य को नहीं प्राप्त करने का एक प्रधान कारण पूँजी-निपज अनुपात (Capital-Output Ratio) में आयोजित स्तर से कम वृद्धि है। द्वितीय योजना की अवधि के लिए पूँजी-निपज अनुपात को 2.3 : 1 मान लिया गया था जब कि यह 3.86 : 1 ही हो सका, यानी पूँजी-निपज अनुपात में परिकल्पित स्तर तक वृद्धि नहीं हो सकी।

**कृषि-सम्बन्धी लक्ष्य तथा उनकी उपलब्धि (Targets of Agriculture and their Achievements) :—**द्वितीय योजना में कृषि को प्रथम योजना की अपेक्षा कम महत्त्व दिया गया था। द्वितीय योजना काल में कृषि-सम्बन्धी लक्ष्यों के निर्धारण में निम्नांकित बातों को प्रधानता दी गयी थी—(क) देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए ऊँचे स्तर पर खाद्यान्न की व्यवस्था करना, (ख) वृद्धिशील औद्योगिक व्यवस्था के लिए पर्याप्त मात्रा में कच्चे पदार्थों की व्यवस्था करना, (ग) कृषि-पदार्थों की उपज में वृद्धि के द्वारा निर्यात को बढ़ाना, तथा (घ) योजनाकाल में अधिक अन्न उपजाकर संभावित मुद्रा-स्फीति को रोकना। द्वितीय योजना में कुछ कृषि-पदार्थों के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। उदाहरण के लिए, खाद्यान्नों का उत्पादन 1955-56 में 658 लाख टन से बढ़कर 1960-61 में 329 लाख टन कपास का उत्पादन 40 लाख गाँठ से बढ़कर 53 लाख गाँठ तथा तिलहन का उत्पादन 56 लाख टन से बढ़कर 70 लाख टन हुआ। किन्तु जूट का उत्पादन 1955-56 में 42 लाख गाँठ से घटकर 1960-61 में 41 लाख गाँठ हो गया। योजना काल में सभी कृषि-फसलों के उत्पादन का सूचकांक (1949-50=100) 1955-56 में 117 से बढ़कर 1960-61 में 135 हो गया।

द्वितीय योजना काल में सिंचाई के क्षेत्र में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। योजना काल में सिंचाई के विभिन्न साधनों से कुल 132 लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई जिसमें से 69 लाख एकड़ भूमि में वृहत सिंचाई कार्यक्रमों तथा 63 लाख एकड़ भूमि में लघु सिंचाई कार्यक्रमों द्वारा सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई।

**उद्योग धन्धों के लक्ष्य तथा उपलब्धि (Targets of Industries and their Achievements) :—**द्वितीय

योजना-काल में उद्योग-धन्धों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था तथा योजना काल में उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति भी हुई थी। द्वितीय योजना काल में कच्चे लोहे तथा अलुमिनियम के उत्पादन में 150 प्रतिशत, इस्पात की पिंडों के उत्पादन में 100 प्रतिशत, मशीनी औजारों के उत्पादन में 500 प्रतिशत, तथा विद्युत की उत्पादन क्षमता में 68 प्रतिशत की वृद्धि हुई। द्वितीय योजना काल में सार्वजनिक क्षेत्र में 10-10 लाख टन क्षमता के इस्पात के तीन कारखाने-दुर्गापुर, भिलाई तथा राउरकेला में स्थापित किए गए। साथ ही, इस्पात के निजी क्षेत्र के दोनों कारखानों का भी विस्तार किया गया। द्वितीय योजना में इस्पात के उत्पादन को 1955-56 में 13 लाख टन से बढ़कर 1960-61 में 43 लाख टन करने का आयोजन था, किन्तु योजना का यह लक्ष्य भी पूरा नहीं हो सका था तथा इस्पात का वास्तविक उत्पादन 1960-61 में केवल 23 लाख टन ही हुआ। योजना काल में कृत्रिम खाद, कोयला तथा सामुद्रिक जहाज आदि के उत्पादन में भी पर्याप्त वृद्धि हुई।

द्वितीय योजनाकाल में औद्योगिक उत्पादन के सूचक अंक में (1950-51=100) 40 प्रतिशत वृद्धि हुई। द्वितीय योजनाकाल काल में उद्योग-धन्धे पर विशेष रूप से जोर दिया गया था, अतएव इसमें कई नयी औद्योगिक वस्तुओं जैसे मशीनी औजार, भारी विद्युत यंत्र तथा कृषि-सम्बन्धी यन्त्र आदि का उत्पादन प्रारम्भ हुआ। इनके अतिरिक्त अखवारी कागज, मोटर साईकिल स्कूटर, डी० डी० टी तथा अन्य औषधियाँ आदि का उत्पादन प्रारम्भ हुआ। विद्युत-सम्बन्धी वस्तुओं जैसे बिजली के पंखे, रेडियो, रिफ्रिजरेटर आदि जैसे टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ हुआ। योजनाकाल में उपभोक्ता उद्योगों को अपेक्षाकृत कम महत्त्व दिया गया था।

द्वितीय योजना काल में कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास की मद में सरकारी क्षेत्र में 175 करोड़ रुपये व्यय किया गया। योजनाकाल में इस क्षेत्र के उत्पादन में भी पर्याप्त वृद्धि हुई।

**यातायात एवं संवादवाहन (Transport and Communication) :—**द्वितीय योजनाकाल में यातायात तथा संवादवाहन के विकास पर भी पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में रेलों के विकास को उच्च प्राथमिकता प्राप्य थी। वास्तव में, इस अवधि में भारतीय रेलों के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई। योजनाकाल में रेलों के माल ढोने की क्षमता 1955-56 में 11.6 करोड़ टन से बढ़कर 1960-61 में 15.6 लाख टन हो गयी। विद्युतीकरण तथा डिजलाइजेशन के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई। सामुद्रिक जहाजों के माल ढोने की क्षमता 1955-56 में 4.8 लाख टन G. R. T. से बढ़कर 1960-61



में 8.6 लाख GRT हो गयी। योजनाकाल में पर्याप्त मात्रा में नयी सड़कों भी बनवायी गयीं। सड़कों के अन्तर्गत भी पक्की सड़कों की लम्बाई 1955-56 में 183 हजार कि० मी० से बढ़कर 1960-61 में 236 हजार कि० मीटर हो गयी।

सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में (In the sphere of Social Services) :—द्वितीय योजनाकाल में सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में भी पर्याप्त मात्रा में प्रगति हुई। इनके अतिरिक्त भूमि-सुधार कार्यक्रम पर्याप्त मात्रा में आगे बढ़ा। सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार कार्यक्रमों के क्षेत्र में भी संतोषजनक प्रगति हुई। इसी तरह शिक्षा, परिवार नियोजन तथा चिकित्सा आदि सुविधाओं में भी प्रगति प्रगति हुई।

द्वितीय योजना में रोजगार (Employment in the Second Five Year Plan) :—द्वितीय योजनाकाल में आयोग ने देश में बेरोजगारों की संख्या का अनुमान निम्न प्रकार से लगाया था—

|                      | शहरी क्षेत्रों में | ग्रामीण क्षेत्रों में (लाख में) | कुल |
|----------------------|--------------------|---------------------------------|-----|
| नये रोजगार चाहनेवाले | 38                 | 62                              | 100 |
| पुराने बेरोजगार      | 25                 | 28                              | 53  |
|                      | कुल 63             | 90                              | 153 |

इनमें से द्वितीय योजनाकाल में 80 लाख व्यक्तियों को रोजगार दिलाने का अनुमान था, यानी आयोग के अनुमान के अनुसार ही द्वितीय योजना के अन्त में भी पूर्ण रोजगार की स्थिति नहीं स्थापित की जा सकी थी। योजना आयोग के शब्दों में ही 'यह आशा करना अनुचित होगा कि दूसरी योजना के अन्त तक पूर्ण रोजगार की स्थिति कायम हो सकेगी। वास्तव में, इस उद्देश्य की पूर्ति आयोजित प्रयत्नों की एक लम्बी प्रक्रिया द्वारा ही की जा सकती है जिसकी अवधि दूसरी योजना से भी अधिक लम्बी होगी।' फिर भी, हमको रोजगारों की संख्या को अधिकतम बनाने के लिए प्रयत्न करने ही होंगे। योजना आयोग ने सितंबर, 1955 में शिक्षित बेरोजगारों की समस्या के अध्ययन करने के लिए एक विशेषज्ञ अध्ययन दल की नियुक्ति की थी। इस अध्ययन दल का मुख्य उद्देश्य एक ऐसी योजना प्रस्तुत करना था जिससे शिक्षित व्यक्तियों में बेकारी की समस्या को सुलझाया जा सके। इस ग्रुप का अनुमान था कि लगभग 5.5 लाख शिक्षित व्यक्ति उस समय बेकार थे और दूसरी योजना के अन्त तक उनकी संख्या बढ़कर 20 लाख हो जाने की सम्भावना थी। दूसरी योजना में लगभग 14.5 लाख शिक्षित व्यक्तियों को रोजगार मिल जायेगा और इसलिए केवल 5.5 लाख शिक्षित व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करने की समस्या रह गयी थी। इस अध्ययन दल ने कई योजनाएँ प्रस्तुत की जिनको योजना आयोग की सिफारिशों के अनुसार भा० अ०—7.

पहले कुछ चुने हुए क्षेत्रों में ही लागू किया जायेगा और यदि इनके परिणाम अच्छे होंगे तो उनको सामान्य रूप से अपनाया जायेगा।

कुछ भी हो, योजना के अन्त तक कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में कुल 80 लाख व्यक्तियों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि एवं भूमि-सुधार कार्यक्रमों के कारण 16 लाख अन्य व्यक्तियों को और रोजगार मिलने की आशा थी। किन्तु अन्तिम रूप से द्वितीय योजना काल में कृषि के अतिरिक्त अन्य मर्दानों में केवल 65 लाख व्यक्तियों के लिए ही रोजगार की व्यवस्था की जा सकी। इसका तात्पर्य यह है कि द्वितीय योजना के अन्त तक देश में 88 लाख व्यक्ति बेरोजगार थे।

### द्वितीय योजना के वित्तीय साधन (Financial Resources of the Second Five Year Plan)

द्वितीय योजना प्रथम योजना की तुलना में बहुत बड़ी थी। इसमें सार्वजनिक क्षेत्र में कुल 4800 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था, किन्तु पाँच वर्षों में योजना का वास्तविक व्यय 4600 करोड़ रुपये ही हुआ। योजना में व्यय की गयी रकम विभिन्न साधनों से निम्न प्रकार से प्राप्त हुई :—

द्वितीय योजना के वित्तीय साधन (करोड़ रुपये में)

|                                                    | प्राप्त रकम | प्रतिशत           |
|----------------------------------------------------|-------------|-------------------|
| साधन आयोग द्वारा वास्तविक आयोग वास्तविक प्रस्तावित | रकम         | द्वारा प्रस्तावित |

|                                              |      |      |       |       |
|----------------------------------------------|------|------|-------|-------|
| 1. चालू आय से बचत (1955-56 के करों की दर पर) | 350  | —50  | 7.3   | —1.2  |
| 2. अतिरिक्त करों द्वारा                      | 450  | 1052 | 9.4   | 22.7  |
| 3. जनता से ऋण                                | 700  | 780  | 14.6  | 17.4  |
| 4. अल्प बचत                                  | 500  | 900  | 90.4  | 8.3   |
| 5. रेलवे से अनुदान                           | 150  | 150  | 3.1   | 3.3   |
| 6. निर्वाह-निधि तथा अन्य जमा खाते            | 250  | 230  | 5.1   | 6.3   |
| 7. विदेशों से प्राप्त साधन                   | 800  | 1090 | 16.7  | 22.4  |
| 8. घाटे की वित्त-व्यवस्था                    | 1200 | 948  | 25.0  | 20.   |
| 9. कमी, जो स्व-देश के साधनों से पूरी होगी    | 400  | —    | 8.3   | —     |
| कुल                                          | 4800 | 4600 | 100.0 | 100.0 |



द्वितीय योजना की असफलताएँ—इस प्रकार द्वितीय योजना निस्संदेह पहली योजना की तुलना में पर्याप्त मात्रा में बढ़ी थी। साथ, ही यह कृषि तथा उद्योग-धन्धों के उत्पादन में वृद्धि करने में पर्याप्त मात्रा में सफल भी रही। किन्तु द्वितीय योजना कई क्षेत्रों में सफल नहीं हो सकी। उदाहरण के लिए, कृषि के क्षेत्र में जूट, कपास, तिलहन तथा गन्ना आदि सभी का उत्पादन लक्ष्य से बहुत ही कम रहा, सिचाई तथा बिजली का उत्पादन भी लक्ष्य से बहुत ही कम रहा। उद्योग-धन्धों के अन्तर्गत लोहा तथा इस्पात कोयला, अलमुवियम, सीमेंट तथा सूती-वस्त्र आदि सभी का उत्पादन योजना के लक्ष्य से बहुत ही कम रहा। इस प्रकार द्वितीय योजना के अन्त तक सम्पूर्ण ग्रामीण जनसंख्या को सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा कार्यक्रमों के अन्तर्गत लाने का आयोजन था, किन्तु यह कार्यक्रम भी पूरा नहीं हो सका। योजनाकाल में रोजगार की सुविधाओं में भी पर्याप्त मात्रा में वृद्धि नहीं हो पायी। योजना का लक्ष्य 100 लाख अतिरिक्त व्यक्तियों के लिए रोजगार की सुविधा प्रदान करना था जबकि योजनाकाल में केवल 60 लाख अतिरिक्त व्यक्तियों के लिए ही रोजगार की व्यवस्था की जा सकी। राष्ट्रीय आय में आयोजित लक्ष्य से बहुत ही कम वृद्धि हुई एवं जनसंख्या के तीव्र गति से बढ़ने के कारण प्रतिव्यक्ति आय में तो बहुत ही कम वृद्धि हुई।

इन क्षेत्रों में द्वितीय योजना की असफलता के लिए बहुत सारे कारण बतलाये जाते हैं। इनमें निम्नांकित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(क) औद्योगिक क्षेत्र की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मौनसून की अनिश्चिता के कारण कृषि उत्पादन समरूप तथा सतत नहीं रह सका। पिछले वर्ष की तुलना में 1957-58 में खाद्यान्न का उत्पादन केवल 0.9 प्रतिशत अधिक था, 1958-59 में 5 प्रतिशत अधिक था किन्तु अगले वर्ष में यह घटकर केवल एक प्रतिशत अधिक रह गया। कृषि-सम्बन्धी अन्य फसलों के उत्पादन में भी इसी प्रकार बहुत कम वृद्धि हुई।

(ख) कच्चे माल की कमी और उपयुक्त विद्युत् तथा अन्य मशीनों की अपर्याप्तता के कारण भी औद्योगिक उत्पादन मुख्यतः कम रहा। दो वर्षों में, 1958-59 में औद्योगिक उत्पादन स्थिर अर्थात् एक समां रह रहा। किन्तु 1959-60 में इसमें 4.8 प्रतिशत तथा 1960-61 में 7 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

(ग) खाद्यान्न, आवश्यक कच्चे माल एवं भारी मशीनरी आदि के बड़े पैमाने पर आयात के कारण योजना के प्रारम्भ से विदेशी विविमय की अत्यधिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गईं। परिणामस्वरूप भारत की विदेशी विविमय निधियों में से, योजना की अवधि के दौरान, 521 करोड़ रुपये विलाने गए। इसके फलस्वरूप

गम्भीर विदेशी विविमय संकट उत्पन्न हो गया था, जिसके कारण खाद तथा भारी रासायनिक उद्योग एवं शक्ति की परियोजनाओं को पूरा करने में देर लगी।

(घ) उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने में कुटीर तथा लघु उद्योगों की असफलता, प्रशासकीय अक्षमता एवं परिवहन की असुविधाओं के कारण अर्थ-व्यवस्था में स्फीतिकारी दबाव बहुत बढ़ गया। मूल्य-तल पर सबसे बुरा प्रभाव तो 1200 करोड़ रुपये के घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit financing) का पड़ा। परिणाम-स्वरूप द्वितीय पंचवर्षीय योजना में थोक कीमतों का सामान्य सूचक लगभग 30 प्रतिशत बढ़ा; खाद्य वस्तुएँ सामूहिक रूप में 23 प्रतिशत, औद्योगिक कच्चा माल 45 प्रतिशत और निमित्त वस्तुएँ 35 प्रतिशत से भी अधिक महँगी हो गईं। बढ़ती हुई कीमतों की इस प्रवृत्ति ने भारत को, विक्रय के लिए अच्छा और क्रय के लिए निम्न कोटि का बाजार बना दिया। परिणामतः, भारतीय निर्यातों में सुधार का कोई चिह्न वहीं प्रकट हुआ। वे लगभग स्थिर रहे तथा योजनाकाल में इनमें नाम-मात्र की कमी ही हुई।

## द्वितीय योजना की समालोचना

### (A Critical Appraisal of the Second Plan)

द्वितीय योजना को प्रारम्भ से ही बहुत-सारी आलोचनाओं का शिकार होना पड़ा। बाद की घटनाओं ने इनमें से कुछ आलोचनाओं को सत्य और कुछ को मिथ्या भी सिद्ध कर दिया। वास्तव में, द्वितीय योजना के विरुद्ध निम्नलिखित प्रमुख आलोचनाएँ दी जाती हैं—

(1) द्वितीय योजना अत्यधिक महत्वाकांक्षी (Over-ambitious) थी—द्वितीय योजना का आकार पहली योजना से बहुत बड़ा, प्रायः दुगुना था। अतएव यह बहुत महत्वाकांक्षी थी। इसमें विनियोग की दर के 1955-56 ई० में राष्ट्रीय आय के 7.3 प्रतिशत से बढ़कर 1960-61 ई० में 10.6 प्रतिशत हो जाने का अनुमान था। विनियोग की दर में योजनाकाल में वस्तुतः इससे भी अधिक वृद्धि हुई किन्तु आन्तरिक वचत की दर में नाममात्र की ही वृद्धि हुई। अतएव श्री के० सी० नियोगी (K. C. Neogy) के अनुसार, “द्वितीय योजना अव्यावहारिक तथा अत्यधिक महत्वाकांक्षी थी और इसका विशाल भवन अत्यन्त कमजोर नींव पर खड़ा था।” (The Second Plan was unrealistic and over-ambitious and its massive super structure was raised on precarious foundations.)

(2) द्वितीय योजना के निर्माताओं ने भी इसके निर्माण में अत्यधिक महत्वाकांक्षी दृष्टिकोण अपनाया था। सर्वप्रथम तो ज्योंही योजना बनकर तैयार हुई त्योंही इसके लक्ष्यों को बढ़ा दिया गया। अप्रैल, 1956 में योजना प्रारम्भ की गयी, किन्तु शीघ्र ही इसे विदेशी विविमय



## भारत में योजनाकरण के अठारह वर्ष

सम्बन्धी संकटों का सामना करना पड़ा। इन प्रारम्भिक कठिनाइयों के कारण ही आजोचकों ने इसे 'महत्वाकांक्षा का संकट' (Crisis of the Confidence) कहना प्रारम्भ किया। जून, 1958 में द्वितीय योजना की Rephasing की गयी तथा इसे दो भागों में विभाजित कर दिया गया। प्रथम भाग को core of the plan कहा गया। इसमें कुल व्यय 4500 करोड़ रुपये रखा गया। दूसरे भाग का कुल व्यय 300 करोड़ रुपये रखा गया। योजना के प्रथम भाग को किसी भी तरह से पूरा करना था, किन्तु द्वितीय भाग की पूर्ति को साधनों की उपलब्धि पर निर्भर बना दिया गया। किन्तु 5 वर्षों में योजना का वास्तविक व्यय 4600 करोड़ रुपये हुआ।

वास्तव में, द्वितीय योजना देश की आवश्यकताओं को देखते हुए तो बहुत बड़ी नहीं कही जा सकती। किन्तु साधनों की दृष्टि से अत्यधिक महत्वाकांक्षी अवश्य थी। फिर भी यह कहना पड़ता है कि भारत जैसे अविकसित देश के तीव्र आर्थिक विकास के लिए मामूली योजना से काम भी नहीं चल सकता। इसके लिए हमें विशाल विनियोग की व्यवस्था करनी ही पड़ेगी और इसके लिए जनता को तैयार होना पड़ेगा।

(3) द्वितीय योजना में कृषि पर कम तथा उद्योग-वन्धों पर अधिक जोर दिया गया था—द्वितीय योजना के विरुद्ध यह सर्वाधिक प्रमुख आलोचना है। द्वितीय योजना में औद्योगीकरण के आधार को सुदृढ़ बनाने पर विशेष रूप से जोर दिया गया था। वास्तव में, रोजगार, उत्पादन, राष्ट्रीय आय आदि में वृद्धि के लिए ऐसा आवश्यक भी प्रतीत होता है। किन्तु, योजना में कृषि पर अपेक्षाकृत कम जोर दिया गया था। वह द्वितीय योजना की सबसे बड़ी कमी थी। इसके परिणामस्वरूप जबकि प्रथम योजनाकाल में कृषि-उत्पादन में 22 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी, द्वितीय योजनाकाल में इसमें केवल 20 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई किन्तु द्वितीय योजना में प्रथम योजना की अपेक्षा कृषि एवं सामुदायिक विकास पर भी अधिक व्यय किया गया था। फिर यह क्यों कहा जाता है कि कृषि की अवहेलना की गयी थी? वास्तव में, योजना-आयोग ने प्रथम योजना की अपेक्षा द्वितीय योजना में कृषि पर कम जोर दिया था जो योजना-आयोग की सबसे बड़ी भूल थी। इसका कारण यह था कि आयोग ने प्रथम योजना में कृषि-उत्पादन की वृद्धि पर अत्यधिक सन्तोष प्रकट किया था। इससे कृषि-विकास के प्रति द्वितीय योजना की तत्परता (Readiness) में थोड़ी कमी आ गयी। इस रूप में कृषि की अपेक्षा अवश्य की गयी थी और इसीलिए तृतीय तथा चतुर्थ योजनाओं में इस भूल को सुधारा गया है तथा कृषि के उत्पादन में वृद्धि को अधिक महत्व दिया गया।

इस आधार पर हम कह सकते हैं कि आगामी पंच-वर्षीय योजनाओं में भी हमको कृषि की पैदावार बढ़ाने के लिए भारी प्रयत्न करने होंगे अन्यथा देश में औद्योगिक

विकास की गति भी धीमी हो जायदी। अभी तक भारतीय कृषि का आधार सुदृढ़ नहीं हो पाया है।

(4) उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने के लिए कुटीर एवं लघु उद्योगों पर विशेष जोर दिया गया था तथा कारखाना उद्योगों की अवहेलना की गयी थी—योजना में एक तरफ आधारभूत उद्योगों के लिए भारी विनियोग की व्यवस्था थी एवं दूसरी तरफ कुटीर उद्योगों की उन्नति के लिए बड़े पैमाने पर सरकारी प्रयत्नों का भी आयोजन था। इसमें उपभोग के सामान बनानेवाले कारखानों, जैसे सूती-वस्त्र तथा चीनी उद्योग आदि पर प्रतिबन्ध लगाकर सम्बन्धित लघु उद्योगों के विकास का प्रयत्न किया गया था। योजना की यह नीति केवल अल्पकालीन हो सकती है, लेकिन दीर्घकालीन दृष्टिकोण से भी बड़े पैमाने के उद्योगों को विकास का समान अवसर देना चाहिए और उसकी व्यवस्था भी की जानी चाहिए।

(5) योजना में घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit Financing) पर अधिक जोर दिया गया था जिससे मुद्रा-स्फीति होने की सदा आशंका बनी रही—द्वितीय योजना में 1200 करोड़ रुपये की रकम के घाटे की वित्त व्यवस्था से देश में मुद्रा-प्रसार में बहुत अधिक वृद्धि हुई। इस सम्बन्ध में शुरू से ही योजना के वित्तीय पक्ष की कटु आलोचना होती रही। साथ ही, योजनाकाल में कर-वृद्धि से, विशेषतः परोक्ष करों में वृद्धि होने से निम्न उपभोक्ता वर्ग की ऊँचे मूल्य देने पड़े। देश में विशाल मात्रा में विकास व्यय में वृद्धि का आयोजन था, लेकिन उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन इस अनुपात से नहीं बढ़ाने की व्यवस्था थी क्योंकि अधिकांश व्यय आधारभूत उद्योगों पर किया जाने को था। दूसरी योजना के आरम्भ से ही मुद्रा-स्फीति का दबाव प्रारम्भ हो गया। किन्तु वास्तव में, घाटे की वित्त व्यवस्था के जिस सीमा तक प्रतिकूल परिणाम की आशंका प्रकट की गई थी उतनी भयानक स्थिति द्वितीय योजनाकाल में नहीं उत्पन्न हो सकी है। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि आर्थिक विकास की प्रत्येक प्रक्रिया में कुछ मुद्रा-स्फीति अवश्य ही विहित रहती है। इसे एक सीमा तक टाला भी नहीं जा सकता।

(6) सार्वजनिक क्षेत्र के विकास पर अपेक्षाकृत अधिक जोर दिया गया था—प्रथम योजना में सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र का हिस्सा प्रायः 50 : 50 था जबकि दूसरी योजना में यह 60 : 40 हो गया। इसलिए कुछ लोगों ने यह आशंका प्रकट की थी कि निजी क्षेत्र को विकास का पूर्ण अवसर नहीं दिया गया था। लेकिन यह आशंका सही नहीं कही जा सकती। वास्तव में, निजी क्षेत्र को सार्वजनिक क्षेत्र के साथ कदम-में-कदम मिलाकर चलना चाहिए। साथ ही, द्वितीय योजना में निजी क्षेत्र के विकास के लिए बहुत-सी सुविधाएँ प्रदान की गयी थीं।

(7) विदेशी साधनों पर अत्यधिक निर्भरता—द्वितीय योजना में 800 करोड़ रुपये के लगभग विदेशी ऋण एवं सहायता प्राप्त करने का आयोजन था, लेकिन यह अनुसाव



बाद में कम सिद्ध हुआ और इसके लगभग दुगुने विदेशी साधनों की आवश्यकता प्रतीत हुई। इतनी अधिक मात्रा में विदेशी साधनों पर निर्भरता किसी भी राष्ट्र के लिए अच्छी नहीं है। किन्तु भारत जैसे किसी भी अविकसित देश को औद्योगिक विकास के क्षेत्र में विदेशी सहायता की आवश्यकता ही आवश्यकता पड़ती है। फिर भी, यह कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध में विस्तृत रूप से छानबीन के बाद ही विष्कर्ष पर आना चाहिए था।

### 3. तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-66)

#### (Third Five Year Plan)

तृतीय पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य (Objectives of the Third Five Year Plan)—तृतीय पंचवर्षीय योजना अगले 15 वर्षों के व्यापक विकास की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए तैयार की गई थी। इस योजना के निम्नलिखित प्रधान उद्देश्य थे—

(क) अगले वर्षों में राष्ट्रीय आय में वार्षिक 5 प्रतिशत से भी अधिक की वृद्धि करना और इस हिसाब से देश के विकास में विनियोग करना जिससे आगे भी राष्ट्रीय आय में वृद्धि का यही क्रम जारी रहे। (To secure an increase in the National income of over 5 p.c. per annum and at the same time ensure a pattern of investment so as to sustain this rate of growth during subsequent plan periods.) दूसरे शब्दों में, तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में 25 प्रतिशत से अधिक वृद्धि का आयोजन था, यानी राष्ट्रीय आय को 1961-61 में 14, 500 करोड़ रुपये से बढ़ाकर योजना के अन्त में 19,000 करोड़ रुपये या इससे भी अधिक करने का आयोजन था। योजनाकाल में प्रति व्यक्ति आय में 17 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था जिससे वह 1960-61 ई० में 330 रुपये से बढ़कर 1965-66 ई० में 385 रुपये हो जाने की थी। इसी प्रकार, तृतीय योजना में उपभोग-स्तर में 4 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि का आयोजन था। साथ ही, योजना के अन्त में वचत को राष्ट्रीय आय के 14 प्रतिशत करने का लक्ष्य था।

(ख) खाद्यान्नों की उपभोग में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना एवं कृषि की उपज में इतनी अधिक वृद्धि करना, जिससे कि उद्योगों की बढ़ती हुई जरूरतें भी पूरी हो और निर्यात भी हो सके। (Achieve self-sufficiency in foodgrains and increase agricultural production to meet the requirements of industry and trade.) तृतीय पंचवर्षीय योजना में कुल-कृषि उत्पादन में 30 प्रतिशत तथा खाद्यान्नों के उत्पादन में 26 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था। इस लक्ष्य की प्राप्ति के बाद देश के खाद्यान्नों के सम्बन्ध में आत्मनिर्भर हो जाने की आशा की गयी थी।

(ग) इस्पात, बिजली, तेल, ईंधन आदि बुनियादी उद्योगों को बढ़ाना और मशीन बनाने के कारखाने स्थापित करना जिससे 10 वर्षों के अन्दर अपने देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक मशीनें देश से ही प्राप्त की जा सकें। आधारभूत एवं प्रधान उद्योगों के विकास पर तृतीय योजना में भी अधिक जोर दिया गया था। तृतीय योजनाकाल में समस्त औद्योगिक उत्पादन में 11 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का आयोजन था।

(घ) योजनाकाल में देश की श्रम-शक्ति (Man Power) का पूर्ण रूप से उपयोग एवं रोजगार के साधनों में पर्याप्त वृद्धि करना (Utilise to the fullest possible extent the man power of the country)—तृतीय योजना में सम्मिलित कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप योजनाकाल में 140 लाख (35 लाख कृषि में तथा 105 लाख गैर-कृषि-में) अतिरिक्त व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था का आयोजन था।

(च) धन एवं आय के वितरण की विषमता को कम कर आर्थिक शक्तियों का अधिक न्यायोचित वितरण करना।

दीर्घकालीन विकास की व्यवस्था—तृतीय पंचवर्षीय योजना के निर्माण के क्रम में योजना आयोग ने आगामी पन्द्रह वर्षों के लिए विकास की सभी सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर एक दीर्घकालीन विकास का कार्यक्रम तैयार किया था। वास्तव में, देश के आर्थिक विकास के लिए विकास की दीर्घकालीन व्यवस्था अनिवार्य है जिससे कि अर्थ-व्यवस्था का तेजी से विकास हो सके तथा वह द्रुत-गति से आत्मनिर्भरता तथा स्वतः प्रचालित विकास की ओर अग्रसर हो सके। आयोग के शब्दों में, तृतीय तथा बाद में आनेवाली योजनाओं के लिए विकास की जिस कार्य-प्रणाली की कल्पना की जा रही है, उसके अनुसार कृषि तथा उद्योगों की पारस्परिक निर्भरता, आर्थिक तथा सामाजिक विकास, राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय विकास और घरेलू एवं बाह्य साधन को संतुलित करने की पारस्परिक निर्भरता पर जोर देने की आवश्यकता है। इस नीति के अनुसार एवं वैयक्तिक एवं तकनीकी क्षमता के विकास तथा उत्पादकता के सामान्य स्तर को ऊँचा उठाने पर पर्याप्त मात्रा में जोर देना अनिवार्य है। इसके साथ ही जनसंख्या, रोजगार तथा सामाजिक परिवर्तनों पर भी जोर देने की आवश्यकता है।”

अतः इस व्यापक उद्देश्य को ध्यान में रखकर तृतीय तथा आगे आनेवाली योजनाओं में आर्थिक विकास की गति को और भी तीव्र बनाने के लिए बचत तथा विनियोग में वृद्धि की व्यवस्था की गयी थी। द्वितीय योजना के अन्त



में राष्ट्रीय आय का 11 प्रतिशत भाग विनियोग किया जाता था। इसे बढ़ाकर तृतीय, चतुर्थ तथा पाँचवीं योजनाओं के अन्त तक क्रमशः 14-15, 17-18 तथा 19-20 प्रतिशत करने का आयोजन था। इस सम्बन्ध में आयोग ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की थी "For achieving a cumulative rate of growth of over 5. p.c. per annum, it will be necessary to undertake net investment to the extent of more than 14 percent of the national income as compared to the present level of 11.5 per cent." इसके परिणामस्वरूप चतुर्थ तथा पाँचवीं योजनाओं के अन्त में शुद्ध विनियोग के क्रमशः 17,000 करोड़ रुपये तथा 25,000 करोड़ रुपये हो जाने का अनुमान था। इसी प्रकार पाँचवीं योजना के अन्त तक आंतरिक बचत के राष्ट्रीय आय के 8.5 प्रतिशत से बढ़कर 18—19% तक होने जाने की आशा की गयी थी। इसी दीर्घकालीन विकास को ध्यान में रखकर तृतीय योजना का कार्य प्रारम्भ किया गया था।

तृतीय योजना का कुल विनियोग एवं व्यय (Total Investment and Outlay of the Third Plan)—उपरोक्त उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए तृतीय योजना

काल में कुल 10,400 करोड़ रुपये विनियोग का आयोजन था, जबकि, द्वितीय योजनाकाल में विनियोग 6750 करोड़ रुपये तथा प्रथम योजना में 3360 करोड़ रुपये विनियोग ही हुआ था। इसमें से सार्वजनिक क्षेत्र में 3300 करोड़ रुपये तथा निजी क्षेत्र में 1400 करोड़ रुपये विनियोग की व्यवस्था थी।

इस प्रकार तृतीय पंचवर्षीय योजना का आकार प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं की अपेक्षा बहुत बड़ा था। सार्वजनिक क्षेत्र में तृतीय योजनाकाल में कुल 7500 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि द्वितीय योजनाकाल में वास्तविक व्यय 4600 करोड़ रुपये तथा प्रथम योजना काल में 1960 करोड़ रुपये था।

सरकारी क्षेत्र में व्यय किये जानेवाले कुल 7500 करोड़ रुपये में से 3600 करोड़ रुपये केन्द्र द्वारा एवं 3900 करोड़ रुपये राज्य सरकारों द्वारा व्यय किया जाने को था। किन्तु पाँच वर्षों में सार्वजनिक क्षेत्र में तृतीय योजना का वास्तविक व्यय 8577 करोड़ रुपये, यानी आयोजित व्यय से लगभग 1077 करोड़ रुपये अधिक व्यय हुआ। इसका विभिन्न मर्दों में वितरण विस्तारित तालिका से स्पष्ट है—

### तृतीय योजना का व्यय (करोड़ रुपये में)

| मर्दें                      | तृतीय योजना का प्रस्तावित व्यय | तृतीय योजना का वास्तविक व्यय | कुल का प्रतिशत |
|-----------------------------|--------------------------------|------------------------------|----------------|
| 1. कृषि एवं सामुदायिक विकास | 1068                           | 1089                         | 12.7           |
| 2. बृहत् एवं मध्यम सिंचाई   | 650                            | 664                          | 7.7            |
| 3. विद्युत्                 | 1012                           | 1252                         | 14.6           |
| 4. ग्रामीण एवं लघु-उद्योग   | 264                            | 241                          | 2.8            |
| 5. संगठित उद्योग एवं खनिज   | 1520                           | 1726                         | 20.1           |
| 6. परिवहन एवं संचार         | 1486                           | 2112                         | 24.7           |
| 7. सामाजिक सेवाएँ एवं विविध | 1300                           | 1493                         | 17.4           |
| 8. Inventories              | 200                            | .....                        | .....          |
|                             | —                              | —                            | —              |
| कुल                         | 7500                           | 8577                         | 100.0          |

इस प्रकार स्पष्ट है कि तृतीय योजना का प्रस्तावित तथा वास्तविक व्यय कृषि, सिंचाई एवं लघु उद्योगों में प्रायः एक समान था जबकि परिवहन एवं संचार में वास्तविक व्यय बहुत अधिक तथा सामाजिक सेवाओं, संगठित उद्योगों एवं खनिज तथा विद्युत् में थोड़ा अधिक था। मूल्य में अत्यधिक वृद्धि के कारण ही तृतीय योजना के व्यय में इतनी अधिक वृद्धि हुई।

निजी क्षेत्र में विनियोग—तृतीय योजना में निजी क्षेत्र में कुल 4100 करोड़ रुपये विनियोग की व्यवस्था

थी। इसमें से कृषि के क्षेत्र में 800 करोड़ रुपये, ग्रामीण एवं लघु उद्योगों में 275 करोड़ रुपये, उद्योग एवं खनिज में 1050 करोड़ रुपये तथा समाज सेवाएँ एवं गृह-निर्माण के क्षेत्र में 1075 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी।

### तृतीय योजना के लक्ष्य तथा उपलब्धियाँ

(Targets and Achievements of the Third Five Year Plan)

तृतीय योजना 31 मार्च, 1966 को समाप्त हुई किन्तु



योजना के अधिकांश लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो सकी। योजना आयोग के अनुसार तृतीय योजना पर्याप्त प्रगति नहीं कर सकी तथा इसकी उपलब्धियाँ पूर्वांश से कम ही रही। सर्वाधिक महत्वपूर्ण न्यूनताएँ कृषि तथा उद्योगों के क्षेत्र में रही। आयोग के अनुसार वित्तीय दृष्टि से तो योजना के लक्ष्य पूरे हो गये परन्तु उत्पादन तथा क्षमता के सम्बन्ध में कई भौतिक लक्ष्य नहीं पूरे किये जा सके जिसके लिए निम्नांकित कारण प्रधान थे—मौसम-सम्बन्धी प्रतिकूल परिस्थितियाँ, प्रारम्भिक कार्यवाही करने में असफलता, कार्यक्रमों को अंतिम रूप प्रदाव करने में विचंब, हमारी सीमाओं पर आक्रमण तथा द्वितीय योजना की कुछ कमजोरियाँ आदि।

तृतीय योजना में कृषि-पदार्थों के उत्पादन में 1961-62 ई० में 10 प्रतिशत की वृद्धि हुई। किन्तु 1962-63 ई० में 3 प्रतिशत की कमी हुई। पुनः 1963-64 ई० में 3.7 प्रतिशत तथा 1964-65 ई० में 10.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। किन्तु 1965-66 के असामान्य वर्ष होने के कारण कृषि-पदार्थों के उत्पादन में अत्यधिक कमी हुई। इस वर्ष खाद्यान्नों के उत्पादन में 20 प्रतिशत की कमी हुई। खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाकर 1965-66 ई० तक 1000 लाख टन करने का आयोजन था जबकि इनका उत्पादन 196-66 ई० में केवल 720 लाख टन ही हुआ। इसी प्रकार औद्योगिक उत्पादन में भी तृतीय योजना में औद्योगिक रूप से वार्षिक 11 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था, जबकि इसमें 1961-62 ई० में 8.2 प्रतिशत, 1962-63 ई० में 9.6 प्रतिशत, 1963-64 ई० में 9.2 प्रतिशत तथा 1964-65 ई० में 8.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई। किन्तु 1965-66 ई० में औद्योगिक उत्पादन में 3.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इससे स्पष्ट है कि तृतीय योजना के औद्योगिक उत्पादन के लक्ष्य भी पूरे नहीं हो सके। परिणामस्वरूप योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में भी अपेक्षित लक्ष्य से बहुत ही कम वृद्धि हुई। राष्ट्रीय आय में योजनाकाल के प्रथम चार वर्षों में 1960-61 ई० के मूल्य-तल के आधार पर 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि 1965-66 ई० में इसमें 5.6 प्रतिशत की कमी हुई। इससे स्पष्ट है कि तृतीय योजना के लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो सकी। तृतीय योजना में राष्ट्रीय आय को बढ़ाकर 1965-66 ई० में 19,000 करोड़ रुपये करने का आयोजन था जबकि यह लगभग 15,630 करोड़ रुपये (1960-61 ई० के मूल्य-तल पर) ही हुई। योजनाकाल में प्रति-व्यक्ति आय में तो प्रायः कोई वृद्धि नहीं हुई। योजनाकाल में पूँजी-निपज अनुपात (Capital-output ratio) को 2.3 : 1 माना गया था, किन्तु वास्तव में यह इससे बहुत अधिक 3.53 : 1 रहा।

इस प्रकार तृतीय योजना की प्रगति संतोषजनक नहीं रही। तृतीय योजना की इस असंतोषजनक प्रगति का प्रधान कारण कृषि तथा उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में आयोजित लक्ष्य से बहुत ही कम वृद्धि है। चतुर्थ योजना

के स्मृति-पत्र में आयोग ने इसकी व्याख्या निम्न प्रकार से की है : "In actual fact, national income growth in the first three years of the Third Plan has been less the 19 p. c.—owing largely to serious setbacks in agricultural production and delays in realisation of output from some of the investments—as against an increase of about 30 p. c. assumed for the five years period." अब तृतीय योजना के विभिन्न क्षेत्रों में इसके लक्ष्य तथा इनकी उपलब्धियों की सविस्तार व्याख्या की जायगी।

तृतीय योजना में कृषि (Agriculture in the Third Plan)—तृतीय योजना में कृषि को प्रमुख स्थान दिया गया था। प्रथम योजनाकाल में कृषि-उत्पादन में 27 प्रतिशत तथा द्वितीय योजनाकाल में 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई, यानी आयोजन के प्रथम दशक में कृषि के उत्पादन में वार्षिक औसत 4 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई। तृतीय योजनाकाल में खाद्यान्नों की उपज में 30 प्रतिशत तथा अन्य सभी फसलों की उपज में 30 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था। इस प्रकार तृतीय योजना में कृषि की मद में वार्षिक 6 प्रतिशत यानी कुल 30 प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य था जबकि योजना-काल में कृषि-पदार्थों के उत्पादन में वास्तविक वृद्धि केवल 11 प्रतिशत की ही हुई। तृतीय योजना काल में कृषि की कुछ प्रमुख फसलों के उत्पादन के लक्ष्य तथा योजना के अन्त में इनकी उपलब्धि निम्न प्रकार से थी—

#### तृतीय योजना में कृषि-पदार्थों के उत्पादन का लक्ष्य तथा उपलब्धि

| फसलें                  | 1960-61<br>ई०<br>उत्पादन<br>में | तृतीय योजना में<br>1965-66<br>ई०<br>उत्पादन का<br>लक्ष्य | 1965-66<br>ई०<br>वास्तविक<br>उत्पादन |
|------------------------|---------------------------------|----------------------------------------------------------|--------------------------------------|
| खाद्यान्न (लाख टन में) | 824                             | 1000                                                     | 720                                  |
| तिलहन " "              | 70                              | 100                                                      | 64                                   |
| गन्ना " "              | 111                             | 101                                                      | 120                                  |
| (गुड़ के रूप में)      |                                 |                                                          |                                      |
| कपास (लाख गाँठ में)    | 53                              | 70                                                       | 58                                   |
| जूट " "                | 41                              | 62                                                       | 45                                   |
| चाय (लाख कि०ग्रा० में) | 320                             | 409                                                      | 373                                  |

इस प्रकार तृतीय योजना के कृषि-सम्बन्धी लक्ष्य पूरे नहीं हो सके। खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाकर 1965-66 ई० में 1000 लाख टन करने का आयोजन था, किन्तु 1961-62 ई० में इसका उत्पादन 810 लाख टन, 1962-63 ई० में 784 लाख टन, 1963-64 ई० में 794 लाख

1. Memorandum on the Fourth Five Year Plan; p. 1—3



टन, 1964-65 ई० में 889 लाख टन तथा 1965-66 ई० में केवल 720 लाख टन ही हुआ। स्पष्ट है कि 1965-66 में खाद्यान्नों का उत्पादन 1960-61 से भी कम रहा। इसी प्रकार कपास के उत्पादन को बढ़ाकर 70 लाख गांठ तथा जट के उत्पादन को बढ़ाकर 62 लाख गांठ करने का आयोजन था जबकि 1965-66 ई० में इनका उत्पादन क्रमशः 48 लाख गांठ ही हुआ। 1965-66 में कृषि-उत्पादन का तीव्र पतन अभूतपूर्व था जिसने कृषि-उत्पादन के सूचकों को पुनः 1959-60 के स्तर पर ला दिया।

तृतीय योजनाकाल में कृषि, सामुदायिक विकास एवं सिंचाई पर कुल 1718 करोड़ रुपये, यानी योजना के कुल व्यय के 23 प्रतिशत भाग व्यय का ही आयोजन था जबकि इस मद में वास्तविक व्यय प्रायः 1753 करोड़ रुपये हुआ। इसमें से कृषि एवं सामुदायिक विकास पर 1089 करोड़ रुपये तथा बड़ी एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं पर 664 करोड़ रुपये व्यय किया गया। योजना के कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिए कृषि-प्रशासन के उचित संगठन पर ध्यान देना आवश्यक समझा गया था। वस्तुतः, भारतीय कृषि में विकास के लिए व्यय में वृद्धि की उतनी अधिक आवश्यकता नहीं है जितना कि एक उचित कृषि-सम्बन्धी प्रशासन की जो इन कार्यक्रमों को सुचारु रूप से लागू कर सके। किन्तु योजनाकाल में खाद्यान्नों के उत्पादन में सन्तोषजनक प्रगति नहीं हो पायी।

तृतीय योजनाकाल में सिंचाई-प्राप्त भूमि के क्षेत्र में 200 लाख एकड़ की वृद्धि की व्यवस्था थी जबकि वास्तविक उपलब्धि प्रायः 138 लाख एकड़ की ही हुई। इसी प्रकार नवजनक खाद का उपयोग, जो सन् 1960-61 ई० में करीब 3 लाख 60 हजार टन था, को बढ़ाकर 1965-66 ई० में 10 लाख टन करने का आयोजन था; जबकि इसका उपयोग 1965-66 ई० में 6 लाख टन हुआ। इसी प्रकार अक्टूबर, 1963 ई० तक देश की सम्पूर्ण ग्रामीण जन-संख्या को सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत लाने का आयोजन था जो प्रायः पूरा हो गया। सहकारी संगठन पर भी पर्याप्त जोर दिया गया था और खेती के लिए सहकारी समितियों द्वारा अधिक ऋण दिलवाने की व्यवस्था थी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास (Industrial Development in the Third Five year Plan):—वृत्तगति से आर्थिक विकास के लिए देश का औद्योगिक विकास एक अनिवार्य शर्त है। प्रथम योजना काल में उद्योग-धन्धों के विकास पर पर्याप्त जोर नहीं दिया गया था। किन्तु, द्वितीय योजना काल में उद्योग-धन्धों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। तृतीय योजना काल में भी उद्योग-धन्धों के उत्पादन में सहस्र-

पूर्ण वृद्धि का लक्ष्य था, किन्तु योजना काल में औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादन मुख्यतः हतोत्साहित करनेवाला ही रहा।

तृतीय योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में संगठित उद्योग एवं खनिज की मद में 1520 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जो योजना के कुल व्यय का प्रायः 20 प्रतिशत भाग था। किन्तु योजनाकाल में इस मद में कुल 1926 करोड़ रुपये ही व्यय हुआ। इसके अतिरिक्त लघु एवं कुटीर उद्योगों पर 264 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि योजना का कुल व्यय इस मद में 240 करोड़ रुपये हुआ।

तृतीय योजनाकाल में औद्योगिक उत्पादन में औसत वार्षिक 11 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था, किन्तु इस लक्ष्य की भी पूर्ति नहीं हो सकी तथा औद्योगिक उत्पादन में 1961-62 में 8.2 प्रतिशत, 1962-63 में 9.6 प्रतिशत, 1963-64 में 9.2 प्रतिशत तथा 1964-65 में 8.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि 1965-66 ई० में केवल 5.3 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। कुल मिलाकर औद्योगिक उत्पादन में योजनाकाल में 7.9 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई। किन्तु सामान्य औद्योगिक उत्पादन की अपेक्षा आधारभूत उद्योगों के उत्पादन में अधिक वृद्धि हुई। उदाहरण के लिए, विद्युत्-यन्त्र के उत्पादन में 71 प्रतिशत, गैर-विद्युत्-यन्त्रों में 82 प्रतिशत, धातुओं के उत्पादन में 57 प्रतिशत, पेट्रोलियम की वस्तुओं के उत्पादन में 48 प्रतिशत तथा रासायनिक उद्योगों के उत्पादन में 38 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसके विपरीत चीनी तथा वस्त्र-उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि केवल 13 प्रतिशत ही थी।

तृतीय योजनाकाल में भारी तथा अघारभूत उद्योगों के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया था जिससे भविष्य में अर्थ-व्यवस्था स्वतः प्रचालित आर्थिक विकास की ओर उन्मुख हो सके। योजना में कुछ प्रमुख उद्योगों के उत्पादन के लक्ष्य तथा इनकी उपलब्धि इस प्रकार है:—

#### वार्षिक उत्पादन

| उद्योग             | इकाई       | 1960-61 में उत्पादन | 1965-66 में उत्पादन का लक्ष्य | 1965-66 में वास्तविक उत्पादन |
|--------------------|------------|---------------------|-------------------------------|------------------------------|
| 1. कोयला           | लाख टन     | 555                 | 970                           | 703                          |
| 2. खनिज लोहा       | ”          | 110                 | 300                           | 230                          |
| 3. तैयार इस्पात    | ”          | 24                  | 69                            | 45                           |
| 4. अल्युमिनियम     | हजार टन    | 18.2                | 80                            | 52                           |
| 5. सीमेंट          | लाख टन     | 80                  | 132                           | 108                          |
| 6. कागज एवं गत्ता  | हजार टन    | 350                 | 700                           | 558                          |
| 7. सल्फ्यूरिक एसिड | हजार टन    | 368                 | 1500                          | 662                          |
| 8. काँस्टिक सोडा   | हजार टन    | 101                 | 345                           | 218                          |
| 9. चीनी            | लाख टन     | 35                  | 35                            | 35.5                         |
| 10. सूती-वस्त्र    | करोड़ मीटर | 654                 | 525                           | 440                          |



चीन तथा पाकिस्तान के आक्रमण से उत्पन्न संकट की स्थिति के परिणामस्वरूप औद्योगिक कार्यक्रमों की प्राथमिकता में थोड़ा-सा परिवर्तन भी किया गया तथा इस्पात, आधारभूत हल्की धातु (basic light metals), खनिज तेल एवं यन्त्र-निर्माण उद्योगों पर अधिक जोर दिया जाने लगा। इससे औद्योगिक विकास में सहायता मिलने के साथ-साथ यातायात तथा शक्ति आदि के विकास में भी पर्याप्त सहायता मिलने की आशा की जाती थी।

**ग्रामीण एवं लघु उद्योग :—**हस्त-कर्षा और घरेलू उद्योग के जरिये कपड़े के उत्पादन को 1960-61 ई० के 201.3 करोड़ मीटर से बढ़ाकर 1965-66 ई० में 350 करोड़ मीटर करने का आयोजन था जबकि 1965-66 ई० में इसका उत्पादन 314 करोड़ मीटर हुआ। दूसरी योजना में 66 औद्योगिक संस्थान बनाये गये थे। तीसरी योजना में इस प्रकार के 300 और संस्थान बनाने की व्यवस्था थी, जबकि 1965-66 ई० तक वास्तव में 234 संस्थान ही और बनाये गये। चतुर्थ योजना में भी इस मद में विशेष जोर दिया गया।

**बिजली :—**द्वितीय योजना के अन्त में बिजली की संस्थापित क्षमता 57 लाख किलोवाट हो गयी। इसे बढ़ाकर तीसरी योजना के अन्त तक 127 लाख किलोवाट करने का आयोजन था। किन्तु तृतीय योजना के इस लक्ष्य की भी पूर्ति नहीं हो सकी तथा 1965-66 ई० में विद्युत् की स्थापित क्षमता लगभग 102 लाख कि० वा० ही हुई।

**रोजगार :—**तृतीय पंचवर्षीय योजना में रोजगार के साधनों में भी पर्याप्त वृद्धि का आयोजन था। किन्तु योजना के इस लक्ष्य की भी पूर्ति नहीं हो सकी। योजना के प्रारम्भ में 80 लाख बेरोजगारों की विद्यमानता का अनुमान था। साथ ही, ऐसा अनुमान था कि योजना-काल में नये काम चाहनेवालों की संख्या में वृद्धि होगी जिससे बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या बढ़कर 2.5 करोड़ हो जायगी। किन्तु तृतीय योजना में कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में 105 लाख तथा कृषि में 35 लाख व्यक्तियों के लिए अतिरिक्त रोजगार के साधनों की ही व्यवस्था की जा सकी। अतएव इस प्रकार तृतीय योजना के इस लक्ष्य की भी पूर्ति नहीं हो सकी।

**यातायात एवं संचादवाहन (Transport and Communication) :—**यातायात एवं संचादवाहन के क्षेत्र में भी तृतीय योजना में 1485 करोड़ रुपये, यानी कुल व्यय के प्रायः 20 प्रतिशत भाग के व्यय का आयोजन था। किन्तु आगे चलकर इसमें वृद्धि की गयी तथा योजनाकाल में इस मद में प्रायः 2112 करोड़ रुपये व्यय किया गया। यातायात एवं संचादवाहन के क्षेत्र में भी तृतीय योजना में पर्याप्त वृद्धि का आयोजन था। रेलों की माल ढोने की क्षमता को 1960-61 ई० में 1540 लाख टन से बढ़ाकर 1965-

66 ई० में 24.0 लाख टन करने, यानी इसमें 60 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था जबकि योजना के अन्त में इनकी माल ढोने की अनुमानित क्षमता 20.3 लाख टन ही हुई। योजनाकाल में 1200 लाख मील लम्बी नयी रेल लाइन बनाने का आयोजन था। जहाजरानी के सम्बन्ध में भी योजना का लक्ष्य प्रायः 2 लाख टन (G. R. T.) के नये जहाजों को काम में लाना था। बाद में इसमें वृद्धि की गयी जिसके परिणामस्वरूप देश में कुल जहाजों का टन भार 1960-61 ई० में 8.6 लाख GRT से बढ़कर 1965-66 में 15.4 लाख GRT हो गया।

**शिक्षा तथा समाज सेवाओं के क्षेत्र में (In the field of Education and Social Services) :—**शिक्षा के क्षेत्र में भी तृतीय योजनाकाल में पर्याप्त प्रगति हुई। योजनाकाल में तकनीकी शिक्षा के प्रसार पर विशेष रूप से जोर दिया गया था। तकनीकी क्षेत्र के लिए निर्धारित वार्षिक प्रवेश का लक्ष्य 1963-64 में ही पूरा हो गया। इसी प्रकार जन-स्वास्थ्य, परिवार नियोजन की सुविधाओं तथा पिछड़े वर्गों एवं आदिवासियों के कल्याण में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। जन-स्वास्थ्य के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्व उपलब्धि मलेरिया-उन्मूलन तथा औसत जीवन की प्रत्याशा (life expectancy) के बढ़कर 50 वर्ष हो जाना था। योजनाकाल में परिवार नियोजन के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई। ग्रामीण क्षेत्र में परिवार नियोजन केन्द्रों की संख्या 1100 से बढ़कर 3676 तथा शहरी क्षेत्र 549 से बढ़कर 1381 हो गयी। किन्तु फिर भी योजनाकाल में चीन तथा पाकिस्तानी आक्रमण के कारण बहुत सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में कटौती करनी पड़ी।

**मूल्य-स्तर के क्षेत्र में (In the Field of Price-Level) :—**तृतीय योजना की सर्वाधिक प्रमुख विफलता मूल्य-स्तर में वृद्धि को रोकने के क्षेत्र में थी। मूल्य-स्तर में वृद्धि की प्रवृत्ति वास्तव में द्वितीय योजना के अन्तिम वर्ष से ही प्रारम्भ हुई। 1962 में चीनी तथा 1965 में पाकिस्तानी आक्रमण से उत्पन्न संकट की स्थिति में इसे और अधिक बल मिला तथा मूल्य-स्तर में वृद्धि की प्रवृत्ति निरंतर बनी रही। 1960-61 की तुलना में 1965-66 में थोक मूल्यों के सूचक अंक में 32 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस अवधि में खाद्यान्नों के मूल्य में वृद्धि 48.4 प्रतिशत, औद्योगिक कच्चे मालों में 32.6 प्रतिशत, निमित्त वस्तुओं में 26.1 प्रतिशत तथा माध्यमिक वस्तुओं में 27.1 प्रतिशत हुई। मूल्य-स्तर में यह अप्रत्याशित वृद्धि कई भौतिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए विप्रेरक (disincentive) सिद्ध हुई। वास्तव में, मूल्य-तल में इस अप्रत्याशित वृद्धि के लिए कई कारण उत्तरदायी थे जिनमें घाटे की वित्त-व्यवस्था (deficit financing) पर अत्यधिक जोर तथा कृषि के उत्पादन में कमी आदि मुख्य रूप से उत्तरदायी थे।



भुगतान संतुलन के सम्बन्ध (In case of Balance of Payments) में तृतीय योजना का समय प्रारम्भ से ही कठिनाइयों का समय रहा। योजनाकाल में निर्यात की अपेक्षा आयात की मात्रा बहुत अधिक रही। उदाहरण के लिए, 1965-66 में आयात 1335.3 करोड़ रुपये तथा निर्यात केवल 781.8 करोड़ रुपये था, यानी योजना के अन्तिम वर्ष में देश का भुगतान संतुलन 553.6 करोड़ रुपये से इसके विपक्ष में था।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के वित्तीय साधन (Financial Resources of the Third Five Year Plan)—तृतीय योजना में सरकारी क्षेत्र में व्यय किये जानेवाले कुल 7500 करोड़ रुपये की रकम को निम्नलिखित प्रकार से प्राप्त करने की व्यवस्था थी तथा कुल वास्तविक व्यय 8577 करोड़ की रकम निम्न प्रकार से प्राप्त हुई:—

#### तृतीय योजना के वित्तीय साधन (करोड़ रुपये में)

| साधन                                                                | प्रस्तावित | वास्तविक |
|---------------------------------------------------------------------|------------|----------|
| 1. वर्तमान करों के आधार पर राजस्व से बचत                            | 550        | —419     |
| 2. वर्तमान आधार पर रेलों से प्राप्त धन                              | 100        | 62       |
| 3. वर्तमान आधार पर सार्वजनिक क्षेत्र के अन्य उद्योगों से प्राप्त धन | 450        | 373      |
| 4. सार्वजनिक ऋण                                                     | 800        | 823      |
| 5. अल्प बचत (Small Savings)                                         | 600        | 565      |
| 6. भविष्य-विधि आदि से मिलने वाला धन                                 | 540        | 608      |
| 7. अनिवार्य जमा एवं वार्षिकी                                        | ...        | 117      |
| 8. अतिरिक्त कर                                                      | 1710       | 2892     |
| 9. विदेशी सहायता जिसकी बजट में व्यवस्था की गयी थी                   | 2200       | 2423     |
| 10. घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit Financing)                      | 550        | 1133     |
| कुल योग                                                             | 7500       | 8577     |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि योजना में घाटे की वित्त-व्यवस्था को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया। इससे पाँच वर्षों में केवल 550 करोड़ रुपये की रकम प्राप्त करने की व्यवस्था थी जबकि वास्तव में 1133 करोड़ रुपये की रकम, याची आयोजित रकम से प्रायः दुगुनी रकम प्राप्त हुई। इसी प्रकार विदेशी सहायता भी आयोजित रकम से बहुत अधिक 2423 करोड़ रुपये यानी योजना के कुल व्यय का प्रायः 30 प्रतिशत भाग थी। अतिरिक्त करों से लगभग 35 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ।

#### तृतीय पंचवर्षीय योजना की कुछ आधारभूत कमजोरियाँ

##### (Some Basic Defects of the Third Five Year Plan)

तृतीय पंचवर्षीय योजना के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि इसमें कई आधारभूत त्रुटियाँ थीं। इसका सबसे बड़ा दोष तो यह था कि इसमें कई नीतियों की दृढ़तापूर्वक घोषणा तो की गई थी किन्तु उन्हें कार्यान्वित करने में समान दृढ़ता का अभाव था। वास्तव में, इस योजना की अधिकांश नीतियों को कार्यान्वित करने में आत्म-बल का अभाव था। मूल्य-सम्बन्धी नीति, रोजगार-सम्बन्धी नीति तथा भूमि-सुधार की योजनाओं के साथ यह बात बिल्कुल स्पष्ट रूप से लागू होती है। अतः हमलोग यहाँ पर तृतीय योजना की विमर्शित आधारभूत कमजोरियों की चर्चा करेंगे:—

(1) कृषि-विकास सम्बन्धी उचित नीति का अभाव (Lack of a proper policy of Agricultural Development):—पहली दो योजनाओं की तरह तृतीय योजना का भी सबसे बड़ा दोष कृषि के विकास के लिए एक समुचित नीति का अभाव था। वास्तव में, कृषि-सम्बन्धी नियोजन के दो सहायक स्तर हैं—प्रथम स्तर जनसंख्या के उपभोग की आवश्यकताओं तथा उद्योग-धन्धों के लिए कच्चे माल की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए विभिन्न फसलों के उत्पादन के राष्ट्रीय लक्ष्य का निर्धारण तथा इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए कुल व्यय निश्चित करना होता है। द्वितीय स्तर में लक्ष्यों को प्रभावपूर्ण तरीके से कार्यान्वित करने के लिए प्रशासनिक व्यवस्था में उचित सुधार करना होता है। इस द्वितीय स्तर में विभिन्न उत्पादन-सम्बन्धी इकाइयों के द्वारा सम्पादित किये जानेवाले लक्ष्यों को उचित रूप से निर्धारित करना होता है। राष्ट्रीय लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्रशासनिक व्यवस्था को क्रियाशील बनाना आवश्यक होता है। अन्य दो योजनाओं की तरह तृतीय योजना का प्रधान दोष भी कृषि-संबन्धी नीति के निर्धारण में इस द्वितीय स्तर पर उचित ध्यान का अभाव था। वास्तव में, इस योजना के कृषि-संबन्धी कार्यक्रमों की सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि इसमें कृषि-सम्बन्धी प्रशासनिक व्यवस्था



में आवश्यक परिवर्तन लाये बगैर कृषि की मद में बहुत बड़ी-बड़ी रकमों के व्यय का आयोजन था। इसलिए कृषि पर इतना जोर होने के बावजूद तृतीय योजना के कृषि-सम्बन्धी लक्ष्यों की पूर्ति वहीं हो सकी।

(2) निर्यात पर उचित जोर का अभाव (Lack of adequate emphasis on export) :—आर्थिक विकास की दीर्घकालीन योजना को कार्यान्वित करने में निर्यात का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। किन्तु भारत में प्रथम तीनों पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत इस आधारभूत तथ्य की अवहेलना की गयी थी। यही कारण है कि आर्थिक वियोजन के प्रथम दस वर्षों में विश्व के कुल व्यापार में भारत का हिस्सा 1950-51 ई० में 2.1 प्रतिशत से घटकर 1961-62 ई० में 1.2 प्रतिशत हो गया। तृतीय योजना में निर्यात-प्रोत्साहन की आवश्यकता को महसूस तो अवश्य किया गया था जो तृतीय योजना के निम्न दयान से स्पष्ट है : "In view of the foreign exchange there has to be a clear priority in its allotment in favoured industries producing for export or providing a substantial surplus for export." किन्तु इस प्रकार की अभिव्यक्ति को कार्यरूप देने के लिए प्रायः कोई भी प्रयास नहीं किया गया था। वास्तव में, तृतीय योजना में निर्यात-प्रोत्साहन के उचित कार्यक्रमों का अभाव था।

(3) संवादवाहन एवं यातायात के साधनों के विकास का अभाव :—तृतीय योजना में औद्योगिक विकास के अनुरूप यातायात एवं संवादवाहन के साधनों पर भी जोर नहीं दिया गया था जिससे योजनाकाल में धीरे-धीरे कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगीं। वास्तव में, जबकि संवादवाहन तथा यातायात के क्षेत्र में प्रथम योजना के कुल व्यय का 24.5 प्रतिशत तथा द्वितीय योजना का 28.9 प्रतिशत भाग व्यय किया गया था, तृतीय योजना में इस मद में केवल 19.8 प्रतिशत भाग व्यय की ही व्यवस्था थी। यह तृतीय योजना की बहुत बड़ी कमी थी।

(4) मूल्य-नीति के स्पष्टीकरण की आवश्यकता :—तृतीय योजना में उचित मूल्य-नीति की आवश्यकता पर तो बल दिया गया था, लेकिन उसका यथेष्ट रूप से स्पष्टीकरण नहीं किया गया था। वास्तव में, आर्थिक विकास के लिए मूल्य में स्थिरता की बहुत अधिक आवश्यकता है। खाद्यान्नों एवं आवश्यक उपभोक्ता पदार्थों के मूल्य में स्थिरता अधिक आवश्यक है। किन्तु तृतीय योजनाकाल में मूल्य-स्तर में स्थिरता तो नहीं ही लायी जा सकी, उल्टे इसमें मूल्य-तल में बहुत अधिक वृद्धि हुई जिसका कि योजना के कार्यक्रमों पर बड़ा ही विपरीत प्रभाव पड़ा।

इस प्रकार, संक्षेप में तृतीय योजना कई दोषों से परिपूर्ण थी। वस्तुतः यह अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न पड़-

लुओं पर एक असम्बद्ध निबन्ध की तरह थी। परिणाम-स्वरूप योजना के बहुत सारे महत्त्वपूर्ण लक्ष्य पूरे नहीं हो सके तथा योजना पूर्णरूप से सफल नहीं हो सकी। सच पूछा जाय तो तृतीय योजना की इस आर्थिक असफलता से योजनाकरण की वर्तमान प्रणाली पर से लोगों का विश्वास ही समाप्त होने लगा। योजना के अंतिम वर्ष में उत्पन्न खाद्य-संकट तथा मूल्य-तल में अत्यधिक वृद्धि से तो जनता का मानों धैर्य ही समाप्त हो गया।

अब प्रश्न यह है कि क्या तृतीय योजना ने अपने स्वावलम्बी तथा आत्मोत्पादक अर्थ-व्यवस्था के लक्ष्य को पूरा किया? इस सम्बन्ध में निर्णय आंतरिक बचत-आय अनुपात के आधार पर किया जा सकता है। आयोग का यह अनुमान था कि तृतीय योजना में आंतरिक बचत बढ़कर 11.5 प्रतिशत हो जायगी। 1951-52 में आंतरिक बचत राष्ट्रीय आय का 5.3 प्रतिशत भाग थी जो बढ़कर 1960-61 में प्रायः 8 प्रतिशत तथा 1965-66 में 10.6 प्रतिशत हो गयी। योजना के अन्त में विनियोग की दर राष्ट्रीय आय के 11 प्रतिशत से बढ़कर 13 प्रतिशत हो गयी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि तृतीय योजना के अन्त तक भारतीय अर्थ-व्यवस्था आत्मसफूर्ति (Take off) की अवस्था तक पहुँच चुकी थी जहाँ से आगे की योजनाओं में यह स्वतः वृद्धि (Self-sustaining growth) की आशा कर सकती है।

#### 4. वार्षिक योजनाएँ (1966-69)

(Annual Plans : 1966-69)

प्राक्कथन :—तृतीय पंचवर्षीय योजना का कार्य मार्च, 1966 ई० में समाप्त हो गया तथा अप्रैल, 1966 ई० से चतुर्थ योजना का समय प्रारम्भ होने को था। किन्तु कई कारणों से इस समय तक चतुर्थ योजना तैयार नहीं की जा सकी थी। सर्वप्रथम चतुर्थ योजना के सम्बन्ध में एक स्मृति-पत्र (Memorandum on the Fourth Five Year Plan) प्रस्तुत किया गया। आगे चलकर अगस्त, 1966 ई० में इसकी एक रूप-रेखा (Draft Outline) भी तैयार की गयी जिसे संसद के समक्ष प्रस्तुत किया गया। किन्तु जैसा कि हम पहले देख चुके हैं तृतीय योजना को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। इनमें 1962 एवं 1965 ई० के चीनी तथा पाकिस्तानी आक्रमण एवं 1965-66 में सूखा के कारण कृषि-पदार्थों के उत्पादन में भयानक कमी उल्लेखनीय हैं। 1966-67 ई० में तो देश के एक बहुत बड़े भाग में अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। अतएव इनके परिणामस्वरूप योजनाकरण के कार्य में एक प्रकार की शिथिलता उत्पन्न हो गयी तथा चतुर्थ योजना का कार्य अप्रैल, 1969 ई० से पहले नहीं प्रारम्भ हो सका। इसी बीच 1966-67, 1967-68 एवं 1968-69 में तीन वार्षिक योजनाएँ कार्यान्वित की गयीं।



## भारत में योजनाकरण के अठारह वर्ष

वार्षिक-योजनाओं का कुल व्यय (Total outlay of Annual Plans) :—इस प्रकार 1966-67, 1967-68 तथा 1968-69 में तीन एक-वर्षीय योजनाएँ कार्यान्वित की गयीं। इनमें से 1966-67 में वास्तविक व्यय 2165 करोड़

रुपये, 1967-68 में 2085 करोड़ रुपये तथा 1968-69 में 2379 करोड़ रुपये हुआ। एक-वर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कुल व्यय के विभिन्न मदों में वितरण का अन्दाजा विम्बोकिता तालिका से लगाया जा सकता है :—

एक-वर्षीय योजनाओं में कुल व्यय का वितरण (करोड़ रुपये में)<sup>1</sup>

| मदें                        | 1966-67 में<br>वास्तविक<br>व्यय | 1967-68 में<br>वास्तविक<br>व्यय | 1968-69 में<br>वास्तविक<br>व्यय | 1966-69 में<br>कुल<br>व्यय |
|-----------------------------|---------------------------------|---------------------------------|---------------------------------|----------------------------|
| 1. कृषि एवं सामुदायिक विकास | 334                             | 318                             | 459                             | 1111                       |
| 2. वृद्धि एवं मध्यम सिंचाई  | 149                             | 144                             | 175                             | 468                        |
| 3. विद्युत्                 | 404                             | 392                             | 413                             | 1209                       |
| 4. ग्रामीण एवं लघु उद्योग   | 43                              | 44                              | 41                              | 128                        |
| 5. संगठित उद्योग एवं खनिज   | 576                             | 471                             | 526                             | 1513                       |
| 6. यातायात एवं संवादवाहन    | 424                             | 394                             | 401                             | 1219                       |
| 7. सामाजिक सेवाएँ एवं विविध | 295                             | 322                             | 361                             | 978                        |
| कुल                         | 2165                            | 2085                            | 2376                            | 6626                       |

इस प्रकार तीनों एक-वर्षीय योजनाओं का कुल व्यय 6626 करोड़ रुपये था जो चतुर्थ योजना, जिसमें पाँच वर्षों में 15,306 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था, का 42 प्रतिशत भाग था। किन्तु इस बात को ध्यान में रखते हुए कि अर्थ-व्यवस्था 1966-69 के बीच सुस्ती का अनुभव कर रही थी, तीन वर्षों में 6626 करोड़ रुपये का व्यय कोई कम नहीं कहा जा सकता।

1966-67 में अर्थ-व्यवस्था की प्रगति (Progress of the Economy during the year 1966-67) :— 1966-67 का वर्ष लगातार सूखा का दूसरा वर्ष था। इस वर्ष खाद्यान्नों का उत्पादन 760 लाख टन था जो 1965-65 से थोड़ा अधिक होते हुए भी 1964-65 की तुलना में बहुत ही कम था। परिणामस्वरूप इस अवधि में बड़े पैमाने पर खाद्यान्नों का आयात करना पड़ा। कृषि के उत्पादन में ह्रास का औद्योगिक उत्पादन, विशेषतः उन उद्योगों के जो कृषि-पदार्थों पर निर्भर करते थे, पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। 1966-67 में औद्योगिक उत्पादन में केवल 0.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि 1964-65 में वृद्धि की दर 7 प्रतिशत तथा 1965-66 में 3.9 प्रतिशत थी। विद्युत् उत्पादन की क्षमता में 12 लाख कि० वा० की वृद्धि हुई। बचत-आय अनुपात, जो 1965-66 में 10.3 प्रतिशत था, 1966-67 में घटकर 8.2 प्रतिशत हो गया। यातायात के साधनों पर भी इसका बड़ा ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

1967-68 तथा 1968-69 में आर्थिक प्रगति (Economic Progress during 1967-68 & 1968-69) :—

आर्थिक पुनरुत्थान का क्रम 1967-68 में प्रारम्भ हुआ तथा 1968-69 में भी जारी रहा। पिछले वर्ष की तुलना में राष्ट्रीय आय में 1967-68 में 8.9 प्रतिशत तथा 1968-69 में 1.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई। पुनरुत्थान का जो क्रम 1967-68 में प्रारम्भ हुआ उसका 1968-69 में भी संतोषजनक परिणाम प्राप्त हुआ तथा मूल्य-तल एवं भुगतान संतुलन की स्थिति में आशाजनक सुधार हुआ।

इस अवधि में कृषि के उत्पादन में भी आशातीत प्रगति हुई। 1965-66 तथा 1966-67 में देश के अधि-कतर भाग में दुर्भिक्ष की स्थिति उत्पन्न होने के कारण कृषि के क्षेत्र में नये तकनीक का बड़े पैमाने पर प्रयोग प्रारम्भ हुआ तथा इसके परिणाम भी अत्यन्त संतोष-जनक हुए। तवीन तकनीक के प्रयोग से कृषि-उत्पादन में एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न हो गयी जिसे कृषि-क्रान्ति या हरी क्रान्ति (Green Revolution) कहते हैं। 1967-68 में खाद्यान्नों का उत्पादन 950 लाख टन तथा 1968-69 में 960 लाख टन हुआ जो पिछले सभी वर्षों से अधिक था। खाद्यान्नों के उत्पादन में इस अत्यधिक वृद्धि के परिणामस्वरूप इसके मूल्य में भी बहुत अधिक कमी हुई। 1968-69 के खाद्यान्नों के मूल्य सूचकांक में 9.5 प्रतिशत की कमी हुई।

इस अवधि में निर्यात में भी बहुत वृद्धि हुई। 1967-68 में निर्यात में 3.4 प्रतिशत तथा 1968-69 में 13.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। साथ ही, आयात में इस अवधि में कमी हुई। आयात में कमी के लिए मुख्यतः खाद्यान्नों के उत्पादन में बड़े पैमाने पर वृद्धि ही उत्तरदायी थी। विम्बोकिता तालिका से तीनों एक-वर्षीय योजनाओं



की अवधि में अर्थ-व्यवस्था के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में प्रगति का अन्दाजा लगाया जा सकता है—

| मर्दाने                           | पिछले बर्ष से प्रतिशत परिवर्तन |         |         |         |
|-----------------------------------|--------------------------------|---------|---------|---------|
|                                   | 1965-66                        | 1966-67 | 1967-68 | 1968-69 |
| 1. राष्ट्रीय आय (स्थिर कीमतों पर) | -5.6                           | +0.9    | +8.9    | +1.7    |
| 2. कृषि-उत्पादन                   | -17.1                          | -0.3    | +22.3   | -1.8    |
| 3. खाद्यान्नों का उत्पादन         | -19.1                          | +3.1    | +28.0   | -1.1    |
| 4. औद्योगिक उत्पादन               | +5.1                           | -0.3    | -0.5    | +6.3    |
| 5. थोक कीमतें                     | +7.6                           | +16.9   | +11.6   | -1.1    |
| 6. आयात                           | +4.4                           | -4.3    | -3.4    | -7.3    |
| 7. निर्यात                        | -1.3                           | -8.9    | +3.4    | +13.5   |

उपरोक्त तालिका से तीनों एक-वर्षीय योजनाओं में देश की अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति का अन्दाजा लगता है।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. Planning Commission : First, Second, Third and Annual Plans.
2. Govt. of India : Economic Survey--1969-70, 1970-71 & 1971-72.
3. B. R. Shenoy : Planning & Economic Development.
4. Planning Commission : Progress Report of Five Year Plans & Annual Plans.
5. Planning Commission : Fourth Five Year Plan.



## अध्याय : 8

## चतुर्थ पंचवर्षीय योजना काल में आर्थिक विकास

(Economic Progress under the Fourth Five Year Plan 1969-74)

आयोजित विकास के दो स्तर (Two phases of Planned Development)—चतुर्थ योजना के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विवरण प्रारम्भ करने के पूर्व यह कहना युक्तिसंगत होगा कि देश के आयोजित आर्थिक प्रयत्नों को विम्नांकित दो स्तरों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम स्तर 1951-52 से 1961-62 का है। इस अवधि में सतत विकास के लिए प्रयत्न किये गये। इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप देश में विनियोग कुल राष्ट्रीय आय के 7.6 प्रतिशत से बढ़कर 12.2 प्रतिशत तथा आन्तरिक वचत राष्ट्रीय आय के 5.3 प्रतिशत से बढ़कर 9.6 प्रतिशत हो गयी। इस अवधि में राष्ट्रीय आय में 4.3 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से वृद्धि हुई तथा प्रति व्यक्ति आय में कुल 17.6 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस अवधि के अन्तिम वर्षों में भारत में औद्योगिक क्रांति शुरुआत हुई तथा सर्वत्र एक प्रकार का आशावाद वर्तमान था।

दूसरा स्तर 1962 ई० के अन्त में चीनी आक्रमण के साथ प्रारम्भ होता है। चीनी आक्रमण ने हमारे विकास के क्रम को बिस्कुल ठप्प कर दिया। आगे चलकर 1965 ई० में पाकिस्तानी आक्रमण ने तो विकास की गति को बिल्कुल पीछे की ओर मोड़ दिया। 1965-66 तथा 1966-67 में देश के एक-बहुत बड़े भाग में भयानक सूखा तथा अकाल की स्थिति ने आर्थिक विकास की गति को और भी अवरुद्ध कर दिया। परिणामस्वरूप तृतीय योजना तथा बाद के तीन वर्षों के Plan holidays की अवधि ने आयोजित विकास के लिए उपयुक्त वातावरण को ही समाप्त कर दिया। इस स्तर की विशेषता को कुछ आँकड़ों से स्पष्ट किया जा सकता है। तृतीय योजना की पाँच वर्षों की अवधि में कुल राष्ट्रीय आय में केवल 14.7 प्रतिशत तथा प्रति व्यक्ति आय में 1 प्रतिशत से भी कम वृद्धि हुई। दूसरी ओर 1964-65 से 1966-67 के बीच मूल्य-तल में 46.1 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसमें से 1964-65 में मूल्य तल 10.9 प्रतिशत, 1965-66 में 15.3 प्रतिशत तथा 1966-67 में 16.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। परिणामस्वरूप, इस अवधि में वास्तविक आय में वृद्धि के बजाय कमी ही हुई।

Fourth Five Year Plan)—अगस्त, 1966 में चतुर्थ योजना की एक रूप-रेखा तैयार की गयी, किन्तु भयंकर सूखा तथा मुद्रा-स्फिति के दबाव के कारण सरकार ने इस रूप-रेखा को कार्य-रूप देने का निश्चय छोड़ दिया तथा इसकी जगह वार्षिक योजनाओं को कार्यान्वित किया जाने लगा 1966-67 से 1968-69 के बीच तीन वर्षों की अवधि जिसे Plan Holidays की अवधि कहा जाता है में तीन एक-वर्षीय योजनाएं (One Year Plans) कार्यान्वित की गयीं। इन योजनाओं के निर्माण में योजना आयोग एक ही बात पर ध्यान देता था वो यह था कि योजना का आकार इतना ही बड़ा होना चाहिए जितना कि बिना कठिनाई के आंतरिक साधनों से प्राप्त किया जा सके।

तृतीय पंचवर्षीय योजना से आरम्भ होनेवाले अगले 15 वर्षों में भारत में योजनाकरण का प्रधान उद्देश्य देश में स्वतः प्रचलित आर्थिक विकास के लिए मार्ग तैयार करना, अधिक रोजगार की व्यवस्था करना तथा देश में आर्थिक एवं सामाजिक विषमताओं को यथासम्भव कम करना माना गया था। तृतीय पंचवर्षीय योजना को इन उद्देश्यों की पूर्ति के दीर्घकालीन महान कार्यक्रम का प्रथम स्तर समझा गया था तथा उसके आकार एवं नीति का निरूपण इसी आधार पर किया गया था। किन्तु तृतीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से ही विभिन्न कारणों से इन क्षेत्रों में संतोषजनक प्रगति नहीं हो सकी तथा देश की मौलिक समस्याएँ—भूख, निर्धनता एवं बेरोजगारी इत्यादि प्रायः उसी प्रकार रह गयी। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना का निर्माण इसी संदर्भ में किया गया था। अतएव इसमें इन समस्याओं के समाधान के लिए बहुत बड़े प्रयत्नों की आवश्यकता पर जोर दिया गया था। योजना आयोग का इस सम्बन्ध में निम्न कथन विशेष रूप से स्पष्ट है :—  
“The Fourth Plan, must ensure that inspite of unanticipated difficulties in the immediate past, the move towards a better life for the common people maintains its momentum.”<sup>1</sup>  
तृतीय योजनाकाल में मूल्य-तल में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई। इस प्रकार तृतीय योजना की इस असफलता से देश में आर्थिक नियोजन के सम्बन्ध में एक विराशाजनक

चतुर्थ योजना के निर्माण का संक्षिप्त इतिहास  
(A Brief History of the Formulation of the

1. Memorandum on the Fourth Five Year Plan p. 1.



वातावरण का सृजन हो गया। ऐसी स्थिति में चतुर्थ योजना का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। वास्तव में, चतुर्थ पंचवर्षीय योजना की प्रमुख समस्या मूल्य-तल में वृद्धि के वर्गेर विकास के क्रम को आगे बढ़ने की थी, जो योजना आयोग के निम्न बयान से स्पष्ट है : "The crucial problem for the Fourth Plan is thus of accelerating the tempo of development without accelerating inflationary trends in the economy. This obviously entails higher savings and investments and clear priority not only for Plan as against non-plan expenditure, but also for essential as against non-essential private expenditure."<sup>1</sup> अतः चतुर्थ योजना को तृतीय योजना के निर्मांकित चार प्रधान उद्देश्यों को पूरा करना समझा गया था—

- (1) स्वतः प्रचालित अर्थ-व्यवस्था की प्राप्ति;
- (2) प्रादेशिक संतुलन स्थापित करना जिससे विकास का लाभ सभी क्षेत्रों को समान रूप से प्राप्त हो सके;
- (3) स्थायित्व के साथ-साथ विकास (Growth with stability); तथा
- (4) हर एक व्यक्ति के लिए न्यूनतम जीवन-स्तर को व्यवस्था करना।

योजना आयोग (Planning Commission) के शब्दों में, "हमलोगों की अर्थ-व्यवस्था के विकास में चतुर्थ योजना निर्णायक महत्त्व की है। इसे पहले की तीन पंचवर्षीय योजनाओं तथा तीन वार्षिक योजना की निष्पत्तियों को सुदृढ़ बनाकर अर्थ-व्यवस्था को आगे बढ़ाना एवं इनकी त्रुटियों को यथासम्भव दूर करना है तथा पंचम योजना के अन्त तक देश में स्वतः प्रचालित अर्थ-व्यवस्था के निर्माण के लिए आधार तैयार करना है।" (The Fourth Five Year Plan represents a crucial stage in the development of our economy. It has to consolidate and carry forward the achievements of the three earlier plans, make up for their shortfalls as far as practicable and prepare the ground for a self-reliant economy to be attained by the end of the Fifth Plan) चतुर्थ योजना के पूर्व के वर्षों में आर्थिक विकास वस्तुतः रुक सा गया था। कृषि के उत्पादन में बहुत कम वृद्धि हो रही थी। औद्योगिक उत्पादन तो बिल्कुल धीमा ही पड़ गया था। 1966-67 में औद्योगिक उत्पादन में केवल 1.7 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी तथा 1967-68 में तो केवल 0.3 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई थी। उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में इस अत्यन्त कम वृद्धि के परिणामस्वरूप अधिकांश उद्योगों

में बहुत अधिक क्षमता बेकार पड़ी थी। चतुर्थ योजना के अनुसार इसके लिए सार्वजनिक नियोजन कार्य-क्रम की शिथिलता ही मुख्यरूप से उत्तरदायी थी। इस प्रकार चतुर्थ योजना में इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया था कि "Problems of low income, unemployment and under-employment remain sizeable."<sup>2</sup>

## चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के प्रमुख उद्देश्य

### (Objectives of the Fourth Five Year Plan)

इसी व्यापक संदर्भ में चौथी योजना में विकास के कार्यक्रम तैयार करने का प्रयास किया गया था। इसमें दो मुख्य उद्देश्यों को सामने रखा गया था—(क) 'स्थायित्व के साथ-साथ विकास' (Growth with stability), तथा (ख) आत्मनिर्भरता की अधिकाधिक प्राप्ति (Progressive achievement of self-reliance)। इन्हीं दो व्यापक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर चतुर्थ योजना भी तैयार की गयी थी। इन व्यापक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए चतुर्थ योजना में निर्मांकित उद्देश्यों को अपनाया गया था :—

(1) राष्ट्रीय आय में 5.5 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि (Attaining a growth of 5.5 % Per annum of National Income)—चतुर्थ योजना में राष्ट्रीय आय में 5.5 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का आयोजन था। इसके लिए कृषि के उत्पादन में पाँच वर्षों में 31 प्रतिशत तथा उद्योग-धन्धों के उत्पादन में पाँच वर्षों में 40 से 50 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था। इस प्रकार इस सम्बन्ध में चतुर्थ योजना का प्रधान उद्देश्य आर्थिक विकास की गति को और तीव्र बनाना था (The plan aims at accelerating the current tempo of economic activity so as to provide productive employment to all; extend the base of social services and bring about significant improvement in living standard of the people.)

2. आत्म-स्वावलम्बन की प्राप्ति (To achieve Self-reliance) :—कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में यथाशीघ्र आत्म-स्वावलम्बन की प्राप्ति के लिए ऐसे कार्यक्रमों को उच्च प्राथमिकता प्रदान करना जिससे निर्यात में वृद्धि हो तथा आयात हतोत्साहित हो। योजना काल में निर्यात में प्रतिवर्ष 7 प्रतिशत की वृद्धि का लक्ष्य रखा गया



## चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-74)

था। साथ ही खाद्यान्नों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि का आयोजन था जिससे 1971 ई० के बाद PL 480 के अन्तर्गत अमेरिका के खाद्यान्न तथा कच्चे पदार्थों के आयात की आवश्यकता नहीं रह जाय।

3. आर्थिक स्थायित्व (To bring about economic stability) :—आर्थिक विकास की गति को तीव्र बनाने के लिए आर्थिक स्थायित्व एक अनिवार्य शर्त है। इसके लिए सर्वप्रथम मूल्य-तल का स्थायित्व आवश्यक है और मूल्य-तल के स्थायित्व को प्रोत्साहित करने के लिए स्फीति जनक तत्त्वों को रोकना तथा बाटे की वित्त-व्यवस्था को समाप्त करना होगा। खाद्यान्नों के उत्पादन में कमी तथा विदेशी सहायता पर अत्यधिक निर्भरता से अस्थायित्व उत्पन्न होने की आशंका रहती है। अतः इन्हें दूर करना भी आवश्यक बतलाया गया था।

4. आय की विषमता में कमी (Reduction of Income disparities) :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना का एक प्रधान उद्देश्य आय की विषमता में कमी करना तथा सामाजिक न्याय एवं समानता की प्राप्ति (Achieving social justice and equality) था। किन्तु केवल वित्तीय-उपायों द्वारा ही आय की विषमता को समाप्त नहीं किया जा सकता, अतएव चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अर्थ-व्यवस्था के विकास की गति को बढ़ाने, व्यवसाय तथा उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के अधिक विकेंद्रीकरण, कमजोर इकाइयों की उत्पादकता को बढ़ाने तथा सामान्य मनुष्य, विशेषतः समाज के कम सुविधा-प्राप्त व्यक्तियों के लिए रोजगार के अधिक अवसर प्रदान करने पर जोर दिया गया था। (The Fourth Plan intends to attain this social objective through more rapid growth of the economy, greater diffusion of enterprise and of the ownership of means of production, increasing productivity of the weaker units and widening opportunities of productive work and employment to the common man and particularly the less privileged section of the society.) इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एकाधिकार अधिनियम तथा औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति के अन्तर्गत महत्वपूर्ण कदम उठाने की व्यवस्था थी। बैंकों के राष्ट्रीयकरण तथा राजकीय वित्तीय संस्थाओं द्वारा उचित नीति के अनुकरण से इस सम्बन्ध में बहुत अधिक सहायता प्राप्त हो सकती है। योजना में समाज के कमजोर वर्ग की आवश्यकताओं पर विशेष जोर देने की व्यवस्था थी।

5. क्षेत्रीय विषमता की समाप्ति (Correcting the Regional Imbalances) :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में क्षेत्रीय विषमता को समाप्त करने की जवाबदेही राज्य सरकारों पर रखी गयी थी। प्रत्येक राज्य सरकार इस

उद्देश्य से अविकसित क्षेत्रों के विकास के लिए सहकारी निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत उद्योग-धन्धों की स्थापना की योजना तैयार करगी जिसके लिए भारत सरकार उन्हें आवश्यक वित्तीय सहायता प्रदान करेगी। इसके लिए राज्यों के बीच वित्तीय सहायता के वितरण की प्रणाली में भी परिवर्तन लाने का प्रयास किया गया। इसके अनुसार केन्द्रीय सहायता का 60 प्रतिशत भाग राज्यों के बीच उनकी जनसंख्या के आधार पर देने की व्यवस्था थी।

6. आय की विषमता में कमी (Increase in Employment opportunities) :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना का एक प्रधान उद्देश्य सम्पूर्ण श्रम-शक्ति को रोजगार प्रदान करने के लिए ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में रोजगार के अधिक अवसरों की व्यवस्था करना था। ग्रामीण क्षेत्रों में इस उद्देश्य से लघु-सिंचाई, भूमि-संरक्षण तथा विशेष क्षेत्रों के विकास जैसी श्रम-प्रधान योजनाओं (Labour-intensive schemes) को प्राथमिकता प्रदान करने की व्यवस्था थी। शहरी क्षेत्रों में इस उद्देश्य से उद्योग-धन्धों के विकास को प्राथमिकता देने की व्यवस्था थी और कृषि तथा उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में अधिक उत्पादन के कारण तृतीयक क्षेत्र में भी रोजगार में वृद्धि की आशा की गयी थी। किन्तु चतुर्थ योजना में रोजगार में परिमाण-वृद्धि की कोई चर्चा नहीं की गयी थी।

7. महत्वपूर्ण आर्थिक संस्थानों का पुनर्संरगठन (Re-organisation of Economic institutions) :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भूमि-सुधार के क्षेत्र में अधिक प्रयत्नशील-कार्यक्रमों पर जोर दिया गया था। साथ ही, इन कार्यक्रमों की अधिक सक्रियता के साथ कार्यान्वित करने पर भी जोर दिया गया था। योजनाकाल में सहकारी कृषि-व्यवस्था के प्रचार को भी समुचित प्रोत्साहन प्रदान करने की व्यवस्था थी। साथ ही, सहकारिता के प्रचार पर भी जोर देने की व्यवस्था थी।

8. परिवार नियोजन (Family Planning) :—जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि को रोकने तथा जीवन-स्तर में सुधार के लिए बड़े पैमाने पर देश भर में परिवार नियोजन के कार्यों को कार्यान्वित करने की सुविधा प्रदान करना चतुर्थ योजना का एक प्रधान उद्देश्य था।

1. "Co-operative organisation should embrace all activities from production, through credit, sale, supply, processing and storage to consumer stores and act as an integrated system so that they can fully discharge their social and economic responsibilities of attention of the needs of the weaker among their members."



9. सरकारी क्षेत्र का अधिकाधिक कार्यभार (Greater Role of the Public Sector) :— चतुर्थ योजना में सरकारी क्षेत्र के कार्यभार के सम्बन्ध में बहुत ही कम चर्चा की गयी थी। योजना में इस बात का उल्लेख था कि “यह मूल प्रत्याशा कि वृद्धिशील सरकारी क्षेत्र कुछ समय के पश्चात् निरंतर विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में साधन उपलब्ध करायेगा पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं हो पाया। अतएव इन उद्योगों के साधन की स्थिति उन्नत न होने के कारण चतुर्थ योजना में औद्योगिक क्रियाकलापों के केवल सीमित मात्रा में विस्तार की व्यवस्था की गयी थी।” वास्तव में, चतुर्थ योजना में इस सम्बन्ध में मुख्यतः राजकीय क्षेत्र की कुशलता एवं लाभदायकता को बढ़ाने पर ही जोर दिया गया था।

इन्हीं आधारभूत उद्देश्यों को ध्यान में रखकर चतुर्थ पंचवर्षीय योजना तैयार की गयी थी।

### चतुर्थ पंचवर्षीय योजना का कुल व्यय (Total Outlay of the Fourth Five Year Plan)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-74) में निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्रों में कुल 24,882 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। इसमें से सार्वजनिक क्षेत्र में पाँच वर्षों में 15,902 करोड़ रुपये तथा निजी क्षेत्र में 8980 करोड़ रुपये का व्यय प्रस्तावि तथा सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय की जानेवाली कुल 15,902 करोड़ रुपये की रकम में से 13655 करोड़ रुपये विनियोग तथा 2,247 करोड़ रुपये प्रचलित व्यय (Current outlay) था। इसी प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय किये जानेवाले कुल 15902 करोड़ रुपये में से केन्द्र की योजनाओं पर 8090 करोड़ रुपये, केन्द्र द्वारा प्रारम्भ योजनाओं पर 781 करोड़ रुपये, केन्द्र-प्रशासित प्रदेशों की योजनाओं पर 425 करोड़ रुपये तथा राज्यों की योजनाओं पर 6606 करोड़ रुपये व्यय किया जाने को था। व्यय की जाने वाली कुल 15,902 करोड़ रुपये की रकम का विभिन्न मर्दों में वितरण विम्नांकित तालिका से स्पष्ट है—

### चतुर्थ योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल व्यय<sup>1</sup> (करोड़ रुपये में)

| मर्द                                   | चतुर्थ योजना का मौलिक परिव्यय |         | चतुर्थ योजना का प्रत्याशित व्यय |         |
|----------------------------------------|-------------------------------|---------|---------------------------------|---------|
|                                        | वास्तविक व्यय                 | प्रतिशत | कुल व्यय                        | प्रतिशत |
| 1. कृषि, सामुदायिक विकास तथा सहाकारिता | 2,728                         | 17.2    | 2,320                           | 14.7    |
| 2. बिचाई एवं बाढ नियन्त्रण             | 1,087                         | 6.8     | 1,354                           | 8.6     |
| 3. बिजली                               | 2,448                         | 15.4    | 2,932                           | 18.6    |
| 4. लघु उद्योग                          | 293                           | 1.8     | 2,243                           | 1.5     |
| 5. संगठित उद्योग एवं खनिज              | 3,338                         | 21.0    | 2,864                           | 18.2    |
| 6. यातायात एवं संवादवाहन               | 3,237                         | 20.4    | 3,080                           | 19.5    |
| 7. समाज सेवाएँ एवं विविध               | 2,771                         | 17.4    | 2,985                           | 18.9    |
| कुल                                    | 15,902                        | 100.0   | 15,779                          | 100.0   |

1966 ई० में चतुर्थ योजना की जो रूप-रेखा तैयार की गयी थी उसके अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र में 16,000 करोड़ रुपये तथा निजी क्षेत्र में 7,725 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। बाद में जो नयी रूप-रेखा तैयार की गयी उसके अनुसार 1969-74 में चतुर्थ योजना में कुल 24,398 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था की गयी थी।

इसमें से सार्वजनिक क्षेत्र में 14,398 करोड़ तथा निजी क्षेत्र में 10,000 करोड़ रुपये का व्यय प्रस्तावित था। किन्तु चतुर्थ योजना में अन्तिम रूप से 24,882 करोड़ रुपये का व्यय ही स्वीकार हुआ। किन्तु चतुर्थ योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में अन्तिम रूप से 15,779 करोड़ रुपये व्यय हुआ जिसका विभिन्न मर्दों में वितरण उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है।



वार्षिक आधार पर चतुर्थ योजना का कुल व्यय निम्न प्रकार से था<sup>1</sup>:

| वर्ष    | व्यय करोड़ रु० | प्रतिशत |
|---------|----------------|---------|
| 1969-70 | 2,210          | 13.6    |
| 1970-71 | 2,524          | 15.6    |
| 1971-72 | 3,130          | 19.3    |
| 1972-73 | 3,973          | 24.5    |
| 1973-74 | 4,364          | 27.0    |
|         | 16,201         | 100.0   |

इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्र (Private sector) में 8980 करोड़ रुपये का विनियोग प्रस्तावित था जिसका विभिन्न मदों में वितरण निम्न प्रकार से था—कृषि एवं संबंधित उद्योग 1600 करोड़ रु०, विद्युत् 75 करोड़ रु०, लघु उद्योग 560 करोड़ रु०, संगठित उद्योग एवं खनिज 2000 करोड़ रु०, यातायात एवं संवादवाहन 920 करोड़ रु० तथा समाज सेवा एवं विविध मद में 3825 करोड़ रुपये।

चतुर्थ योजना में प्राथमिकता का क्रम (Scheme of Priorities in the Fourth Plan):—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय की जानेवाली कुल रकम के विभिन्न मदों में वितरण से यह स्पष्ट है कि इस योजना में कृषि, विद्युत् तथा उद्योग-धन्धों पर तृतीय योजना की अपेक्षा अधिक, यातायात एवं संवादवाहन तथा कुटीर उद्योग पर अपेक्षाकृत कम तथा समाज सेवाओं पर लगभग बराबर जोर दिया गया था। कृषि एवं सिंचाई पर तृतीय योजनाकाल में कुल व्यय का 20.4 प्रतिशत भाग खर्च हुआ था जबकि चतुर्थ योजना में इस मद में प्रायः 24 प्रतिशत भाग व्यय हुआ। इसी प्रकार शक्ति पर तृतीय योजना में 14 प्रतिशत तथा चतुर्थ योजना में इस मद में 17.8 प्रतिशत व्यय हुआ। उद्योग एवं खनिज की मद में भी तृतीय योजना में 20 प्रतिशत व्यय किया गया था जबकि चतुर्थ योजना में 18.4 प्रतिशत ही खर्च हो सका। समाज-सेवाओं एवं विविध पर दोनों पंचवर्षीय योजनाओं पर कुल व्यय लगभग एक समान था। किंतु यातायात एवं संवादवाहन पर कुल व्यय तृतीय योजना काल में 24.6 प्रतिशत था जबकि चतुर्थ योजना में यह घटकर 18.3 हो गया। इसी प्रकार कुटीर एवं लघु उद्योगों में तृतीय योजना के कुल व्यय का 2.8 प्रतिशत भाग खर्च हुआ जबकि चतुर्थ योजना में इस मद में केवल 1.8 प्रतिशत व्यय का आयोजन था। अतएव जहाँ तक व्यय की जानेवाली रकम का सम्बन्ध है चतुर्थ योजना का आकार बड़ा होने के कारण तृतीय योजना की तुलना में इसमें प्रायः प्रत्येक मद में बहुत अधिक रकम व्यय हुई।

### चतुर्थ पंचवर्षीय योजना की विधि (Strategy of the Fourth Five Year Plan)

तृतीय पंचवर्षीय योजना में कृषि के क्षेत्र में अपेक्षित प्रगति नहीं हो सकी जिससे योजनाकाल में भीषण खाद्य-संकट की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। अतएव चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सिंचाई एवं कृषि के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया था तथा इस मद में व्यय की रकम को उद्योग-धन्धों के समकक्ष करने का प्रयास किया गया था। चतुर्थ योजना के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र में योजना काल में संगठित उद्योगों एवं खनिज पर 3838 करोड़ रुपये तथा कृषि एवं सिंचाई पर 3915 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। इससे स्पष्ट है कि चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि पर बहुत अधिक जोर दिया गया था। वास्तव में, पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओं के अनुभव से यह स्पष्ट हो गया था कि कृषि के क्षेत्र में क्रान्ति अपूर्ण एवं अपर्याप्त रही अतएव वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए यह अनिवार्य भी जान पड़ता था। इसके लिए कृषि के यन्त्रीकरण की आवश्यकता पर जोर दिया गया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में, जहाँ का कृषक समाज अभी भी प्राचीन रूढ़ियों से ग्रस्त है, कृषि के यन्त्रीकरण के मार्ग में बहुत अधिक कठिनाइयाँ होंगी, किंतु परिस्थिति ऐसी है कि इस क्षेत्र में शुरुआत करनी है। इसलिए चतुर्थ योजना में खाद, ट्रैक्टर, कीड़े, मकोड़ों को मारने की दवाओं आदि के उत्पादन को बढ़ाने पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया था।

देश की अर्थव्यवस्था में स्थायित्व लाने के लिए आवश्यक उपभोक्ता पदार्थों के मूल्य में स्थायित्व भी अनिवार्य है और भारत में कुल घरेलू आवश्यकता का लगभग तीन-चौथाई भाग कृषि-पदार्थों द्वारा निर्मित वस्तुओं का ही होता है। इन पदार्थों की माँग में योजनाकाल में 4-5 प्रतिशत प्रति वर्ष वृद्धि की आशा थी। अतएव इस बात को ध्यान में रखकर चतुर्थ योजना में कृषि-पदार्थों के उत्पादन में इससे कुछ अधिक, यानी लगभग 5 प्रतिशत प्रति वर्ष वृद्धि का आयोजन था।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि के विकास की प्रस्तावित नीति को गहन-क्षेत्र-सम्बन्धी नीति (Intensive area Approach) कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत देश के कुछ चुने हुए क्षेत्रों में कृषि-कार्य में गहन प्रयत्नों की व्यवस्था थी। पाकिस्तान द्वारा भारत पर 1965 में आक्रमण तथा अमेरिका द्वारा P. L. 480 के अन्तर्गत गेहूँ देने में आभाकानी करने के परिणामस्वरूप कृषि के विकास पर अधिक जोर अति आवश्यक था। इस सम्बन्ध में चतुर्थ योजना का प्रधान उद्देश्य 1971 से P. L. 480 के अन्तर्गत कृषि-पदार्थों के आयात को बिल-कुल समाप्त करना था। संतोष का विषय है कि योजना का यह उद्देश्य पूरा हो गया तथा 1972 ई० से

1. Draft Fifth Five Year Plan (1974-79)



खाद्यान्न के आयात को बिलकुल समाप्त कर दिया गया। किंतु 1972-73 में खाद्यान्नों की उपज कम होने के कारण पुनः इनके आयात की आवश्यकता पड़ी।

किन्तु चतुर्थ योजना में कृषि पर अधिक जोर देने का तात्पर्य यह नहीं था कि औद्योगीकरण की गति को धीमा बनाने का प्रयास किया गया था। वास्तव में, भारत जैसे विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था वाले देश में कृषि तथा उद्योग दोनों में साथ-साथ विकास की भी प्रबल आवश्यकता है। साथ ही, तीव्र गति से औद्योगीकरण के लिए कृषि के उत्पादन, खाद्यान्न एवं कच्चे माल में तीव्र गति से वृद्धि अनिवार्य है और कृषि के उत्पादन में वृद्धि के लिए रासायनिक खाद, कीड़े-मकोड़ों को मारने की दवा तथा कृषि-सम्बन्धी यन्त्रों के उत्पादन से सम्बन्धित उद्योगों का तीव्र विकास अनिवार्य है। सारांश यह है कि तीव्र गति से आर्थिक विकास के लिए कृषि एवं उद्योग दोनों का संतुलित विकास अनिवार्य है। इसीलिए चतुर्थ पंच-वर्षीय योजना में कृषि के साथ-साथ उद्योग-धन्धों के विकास पर भी पर्याप्त जोर दिया गया था और सुरक्षा-सम्बन्धी प्रयत्नों में वृद्धि के साथ-साथ कृषि एवं उद्योग

दोनों पर समान रूप से अधिक जोर देने के कारण चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के आकार को बड़ा रखा गया था। आयोग ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि "Therefore, in the Fourth Five Year Plan, simultaneously with the adoption of the intensive area approach in agriculture, the industrial programmes are to be reoriented in such a way that the production of essential inputs like fertilizers, insecticides and farm equipments is substantially augmented."

### चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के लक्ष्य एवं उनकी पूर्ति (Physical Targets of the Fourth Five Year Plan & their Achievements)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के लक्ष्यों का निर्धारण योजना के विभिन्न उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए किया गया था। निम्नांकित तालिका से योजना के कुछ प्रमुख लक्ष्यों का अन्दाजा लगता है :—

| मदें                   | इकाई        | 1968-69<br>में उत्पादन | चौथी योजना<br>के लक्ष्य | 1973-74<br>में उत्पादन | निष्पादन<br>सूचकांक |
|------------------------|-------------|------------------------|-------------------------|------------------------|---------------------|
| कृषि-क्षेत्र           |             |                        |                         |                        |                     |
| खाद्यान्न              | लाख टन      | 980                    | 1290                    | 1147                   | 48.7                |
| कपास                   | लाख गाँठ    | 60                     | 80                      | 65                     | 25                  |
| जूट                    | लाख गाँठ    | 62                     | 74                      | 56                     | शून्य               |
| गन्ना                  | लाख टन      | 120                    | 150                     | 136                    | 53.3                |
| उर्वरक (उपभोग)         |             |                        |                         |                        |                     |
| (i) नाइट्रोजन          | लाख टन      | 11.4                   | 32.0                    | 20.0                   | 40.0                |
| (ii) फॉस्फोरस          | लाख टन      | 3.9                    | 14.0                    | 6.0                    | 22.7                |
| (iii) पोटाश            | लाख टन      | 1.6                    | 9.0                     | 4.1                    | 33.7                |
| सिंचाई-क्षमता (कुल)    | लाख हेक्टर  | 169                    | 233                     | 21.4                   | 70.3                |
| विद्युत स्थापित क्षमता | लाख कि० वा० | 143                    | 230                     | 189                    | 50                  |
| तैयार इस्पात           | लाख टन      | 47                     | 81.0                    | 54.4                   | 21.7                |
| खनिज लोहा              | लाख टन      | 281                    | 514                     | 357                    | 36.5                |
| अल्युमिनियम            | हजार टन     | 125.3                  | 220.0                   | 190.0                  | 68.3                |
| ताम्बा                 | हजार टन     | 9.4                    | 31.0                    | 18.0                   | 40.0                |
| जस्ता                  | हजार टन     | 26.3                   | 70.0                    | 28.0                   | 4.0                 |
| कोयला                  | लाख टन      | 695                    | 934                     | 790                    | 40.0                |
| उर्वरक (उत्पादन)       |             |                        |                         |                        |                     |
| (i) नाइट्रोजन          | हजार टन     | 541                    | 2500                    | 1162                   | 31.6                |
| (ii) फॉस्फोरस          | हजार टन     | 210                    | 900                     | 350                    | 20.0                |
| अख्तारी कागज           | हजार टन     | 31                     | 150                     | 43                     | 10.0                |
| पेट्रोलियम (अपरिष्कृत) | लाख टन      | 61                     | 260                     | 215                    | 77.4                |



## चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-74)

115

|                    |              |       |       |       |       |
|--------------------|--------------|-------|-------|-------|-------|
| सूती-वस्त्र मशीनरी | करोड़ रुपये  | 13.8  | 45.0  | 35.0  | 67.9  |
| सीमेंट मशीनरी      | करोड़ रुपये  | 8.2   | 19.0  | 5.0   | शून्य |
| चीनी मशीनरी        | करोड़ रुपये  | 11.8  | 21.0  | 16.0  | 45.0  |
| सूती कपड़ा         |              |       |       |       |       |
| कारखाना क्षेत्र    | करोड़ मीटर   | 429.7 | 510.0 | 420.0 | शून्य |
| चीनी               | (लाख टन में) | 36    | 47    | 43    | 67    |
| सीमेंट             | (लाख टन में) | 122   | 180   | 160   | 66    |

स्रोत : चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-74) और पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79) (प्रारूप)

राष्ट्रीय आय (National Income) :—चतुर्थ योजना में सम्मिलित कार्यक्रमों के आधार पर यह आशा की गयी थी कि योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में 5.5 प्रतिशत की दर से वार्षिक वृद्धि होगी। 1968-69 ई० के मूल्य-तल के आधार पर राष्ट्रीय आय के 1968-69 में 28,800 करोड़ रुपये से बढ़कर 1973-74 में 37,500 करोड़ रुपये होने का अनुमान था। आयोग के अनुसार योजनाकाल में जनसंख्या में 2.5 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि के आधार पर प्रतिव्यक्ति आय में 3 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का अनुमान था। इस प्रकार प्रतिव्यक्ति आय 1968-69 में 546 रुपये से बढ़कर 1973-74 में 636 रुपये होने की आशा थी। राष्ट्रीय आय में योजनाकाल में विभिन्न क्षेत्रों का योगदान निम्न प्रकार से होने को था :—

| मर्दाने                      | 1968-69 | 1973-74 |
|------------------------------|---------|---------|
| कृषि एवं तत्सम्बन्धी उद्योग  | 14,864  | 18,550  |
| खनिज, निर्माण एवं लघु उद्योग | 5,497   | 8,058   |
| वाणिज्य, यातायात एवं संचार   | 4,414   | 6,142   |
| अन्य                         | 4,025   | 5,150   |
| शुद्ध उत्पत्ति               | 28,800  | 37,900  |

राष्ट्रीय उत्पत्ति तथा आय में वृद्धि के इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आन्तरिक बचत की दर को 1968-69 में 9 प्रतिशत से बढ़ाकर 1973-74 में 13.6 प्रतिशत तथा विनियोग की दर को 11.3 प्रतिशत से बढ़ाकर 14.5 प्रतिशत करने का आयोजन था। खाद्यान्नों के आयात को

1970-71 तक बिल्कुल समाप्त करने का आयोजन था। साथ ही, गैर-खाद्य पदार्थों के आयात की वृद्धि को 5 प्रतिशत प्रतिवर्ष तक सीमित करने की व्यवस्था थी तथा निर्यात में 7 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का आयोजन था। इससे विदेशी विनिमय-सम्बन्धी कठिनाइयों के धीरे-धीरे दूर होने की आशा की गयी थी।

राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित चतुर्थ योजना के प्रमुख तथ्यों को निम्नांकित तालिका से स्पष्ट<sup>1</sup> किया जा सकता है :—

| मर्दाने                                              | इंकाई | 1969-68 | 1973-74 |
|------------------------------------------------------|-------|---------|---------|
| राष्ट्रीय आय (1968-69 के मूल्य-तल पर, करोड़ रु० में) |       | 28,800  | 37,900  |
| जनसंख्या (अक्टूबर 1 को करोड़ में)                    |       | 52.7    | 59.7    |
| प्रतिव्यक्ति आय (रुपये में)                          |       | 546     | 636     |
| आंतरिक बचत राष्ट्रीय आय के प्रतिशत में               |       | 9       | 13.2    |
| शुद्ध विनियोग राष्ट्रीय आय के प्रतिशत में            |       | 11.3    | 14.5    |
| प्रतिव्यक्ति निजी उपभोग                              |       | 49.4    | 55.9    |

किन्तु, चतुर्थ योजना के राष्ट्रीय आय-सम्बन्धी लक्ष्य पूरे नहीं हो सके तथा 1960-61 के मूल्य-तल के आधार पर राष्ट्रीय आय के 1969-70 में 6.4 प्रतिशत, 1970-71 में 5.1 प्रतिशत एवं 1971-72 में 1.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई किन्तु 1972-73 में इसमें 1.2 प्रतिशत की कमी हुई। पुनः 1973-74 में इसमें 4.6 प्रतिशत की वृद्धि हुई। निम्नांकित तालिका से चतुर्थ योजना के कुछ प्रधान सूचक स्पष्ट हो जाते हैं—

1. Economic Survey, 1975-76.



## चौथी योजना की प्रगति के कुछ चुने हुए सूचक

|                                        | 1969-70                          | 1970-71 | 1971-72 | 1972-73 | 1973-74 |
|----------------------------------------|----------------------------------|---------|---------|---------|---------|
|                                        | (पिछले वर्ष पर प्रतिशत परिवर्तन) |         |         |         |         |
| राष्ट्रीय आय, 1960-61 की कीमतों पर     | 6.4                              | 5.1     | 1.8     | —1.2    | 4.6     |
| प्रति व्यक्ति आय, 1960-61 की कीमतों पर | 4.3                              | 9.2     | —0.4    | —3.6    | 2.8     |
| कृषि-उत्पादन                           | 7.8                              | 8.9     | —0.5    | —9.1    | 11.0    |
| खाद्यान्न-उत्पादन                      | 5.8                              | 9.8     | —3.0    | —9.5    | —       |
| औद्योगिक उत्पादन                       | 7.4                              | 3.0     | 3.3     | 5.3     | —2.5    |
| थोक कीमतें                             | 3.7                              | 5.5     | 4.0     | 9.9     | 21.1    |
| निर्यात                                | 4.1                              | 8.6     | 4.8     | 21.9    | 20.0    |
| आयात                                   | —17.0                            | 3.3     | 11.6    | —1.5    | 33.7    |
| रेलों द्वारा ढोया गया माल              | 2.5                              | —0.7    | 4.6     | 2.5     | —       |

### चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि (Agriculture in the Fourth Five Year Plan)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि पर विशेष रूप से जोर दिया गया था। वास्तव में, कृषि-पदार्थों, विशेषतः खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि आत्म-निर्भरता तथा मूल्य-स्थायित्व दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अति आवश्यक थी। योजना आयोग के अनुसार अर्थ-व्यवस्था में कृषि की निर्णायक स्थिति तथा तृतीय योजना में कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रमों की असफलता को ध्यान में रखते हुए चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी थी। (In view of the critical importance of agriculture and the recent experience of shortfall, agricultural programmes as well as the production and supply of various inputs of agriculture will be given the highest priority in the fourth plan.) देश के आर्थिक विकास को स्थायित्व प्रदान करने के लिए उपभोक्ता वस्तुओं के मूल्य में स्थायित्व आवश्यक है। और, चूंकि भारत में कुल घरेलू व्यय का 60 प्रतिशत तथा वस्तुओं के उपभोग का 85 प्रतिशत भाग कृषि-पदार्थों तथा इन्हीं पर आधारित निर्मित पदार्थों का है, अतः मूल्य-तल में स्थिरता की स्थिति से आय में आयोजित वृद्धि मुख्यतः कृषि के उत्पादन में वृद्धि पर ही आधारित है। National Sample Survey के अनुसार भारत में खाद्य-पदार्थों की मांग की लोच 0.8 है। इस लोच तथा जनसंख्या में अनुमानित वृद्धि को ध्यान में रखते हुए कृषि-पदार्थों की मांग में चतुर्थ योजना काल में 4.5 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से वृद्धि का अनुमान था। खाद्यान्नों के आयात को दूर करने के लिए इसमें और अधिक दर से वृद्धि (लगभग 5 प्रतिशत वार्षिक) की आवश्यकता पड़ेगी। कृषि-पदार्थों के उत्पादन में उक्त दर से यानी 5 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का

लक्ष्य विभिन्न परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उचित था। किन्तु आयोग के अनुसार इस सम्बन्ध में दो बातों पर सदा ध्यान देने की आवश्यकता थी। प्रथमतः, (क) मौसम की अनियमितता के कारण फसलों के उत्पादन में परिवर्तन, तथा (ख) दाल, तेलहन एवं रेशेदार फसलों के उत्पादन का आवश्यकता से कम होना। इनमें से पहले के लिए सरकार द्वारा पर्याप्त मात्रा में बफर स्टॉक (Buffer stock) रख कर खाद्यान्नों के मूल्य को स्थायी बनाने के लिए उचित हस्तक्षेप आवश्यक है तथा दूसरे के लिए उत्पादन-क्षेत्र अथवा कृत्रिम पदार्थों के उत्पादन के द्वारा समायोजन को आवश्यक बतलाया गया।

चतुर्थ योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में कृषि, सामुदायिक विकास, सहकारिता तथा सिंचाई की मद में कुल 3814 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि कुल वास्तविक व्यय 3978 करोड़ रुपये हुआ था जो योजना के कुल व्यय का प्रायः 24.3 प्रतिशत भाग था। तृतीय योजनाकाल में इस मद में व्यय 1753 करोड़ रुपये था। अतः तृतीय योजना की अपेक्षा कृषि एवं सिंचाई पर चतुर्थ योजना में लगभग दुगुनी से भी अधिक रकम व्यय हुई। कृषि के क्षेत्र में चतुर्थ योजना के दो प्रमुख उद्देश्य थे। प्रथम, अगले दस वर्षों में 5 प्रतिशत कृषि-उत्पादन में निरन्तर वृद्धि के लिए वातावरण तैयार करना और द्वितीयतः, ग्रामीण जनसंख्या के अधिकाधिक भाग को विकास के कार्यक्रम में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना। अतएव, योजना में कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रमों का प्रधान उद्देश्य दो प्रकार के उपायों से कृषि की उत्पादकता में वृद्धि तथा असन्तुलन की समाप्ति के द्वारा कृषि-उत्पादन में वृद्धि करना था।

चतुर्थ योजना में निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति से कृषि-उत्पादन में वार्षिक 5.59 प्रतिशत (Compound) की दर से वृद्धि की आशा थी। इसमें से खाद्यान्नों के उत्पादन में 5.92 प्रतिशत तथा गैर-खाद्यान्नों के उत्पादन में



5.01 प्रतिशत की वृद्धि का अनुमान था किन्तु चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि की विभिन्न फसलों का उत्पा-

दन लक्ष्य से कम ही रहा जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

### कृषि-पदार्थों के उत्पादन का लक्ष्य

| कृषि-पदार्थ               | 1960-61 | 1968-69 | 1973-74<br>(लक्ष्य) | 1973-74<br>(उत्पादन) |
|---------------------------|---------|---------|---------------------|----------------------|
| 1. खाद्यान्न (लाख टन में) | 820     | 980     | 1290                | 1147                 |
| 2. गन्ना (गुड़) ,, ,,     | 112     | 120     | 150                 | 136                  |
| 3. तेलहन ,, ,,            | 70      | 85      | 105                 | 94                   |
| 4. कपास (लाख गॉठ में)     | 53      | 60      | 80                  | 65                   |
| 5. जूट ( ,, ,, )          | 41      | 62      | 74                  | 56                   |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि चतुर्थ योजना के अधिकांश कृषि-सम्बन्धी लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो सकी। कपास तथा जूट जैसी रेशेदार फसलों का उत्पादन तो लक्ष्य से बहुत ही कम रहा।

**भूमि-सुधार (Land Reforms) :—**प्रारम्भ से ही योजना आयोग द्वारा भूमि-सुधार को अत्यधिक महत्त्व दिया जा रहा है। आयोग के अनुसार भूमि-सुधार सम्बन्धी कार्य क्रमों का प्रधान उद्देश्य 'भूमि उसके जोतने वाले की हो' (Land to the tillers of the soil) है, किन्तु पिछले 18 वर्षों में इस क्षेत्र में बहुत कम प्रगति हो पायी थी। आयोग ने चतुर्थ योजना में भी इस बात पर जोर दिया था कि उपज में वृद्धि के लिए भूमि-सुधार बिल्कुल अनिवार्य है। इस उद्देश्य से जोतनेवालों को भूमि की सुरक्षा प्रदान करने (Security of tenures) के लिए कई राज्यों में नियम बनाये गये हैं। जिन राज्यों में इस सम्बन्ध में अबतक नियम नहीं बनाये गये थे, उनमें भी नियम बनाने पर चतुर्थ योजनाकाल में जोर देने की व्यवस्था थी। योजनाकाल में भूमि के अधिकारों के सम्बन्ध में अधिकार का लेखा (Records of rights) तैयार कराने तथा सर्वे सेटलमेंट की व्यवस्था थी जिसके लिए राज्य की योजनाओं में 10.7 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। भूमि की अधिकतम सीमा-निर्धारण के कार्यक्रमों को भी पूरा करने के सम्बन्ध में सुझाव दिये गये थे। बेकार भूमि के उद्धार पर भी जोर दिया गया था। इस कार्य के लिए योजना में 45 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। चतुर्थ योजना में 94 लाख हेक्टर भूमि की चकबन्दी का आयोजन था। इस कार्य के लिए 28.4 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी।

**चतुर्थ योजना में सिंचाई (Irrigation in the Fourth Five Year Plan) :—**चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि के क्षेत्र में गहन कार्यक्रमों को प्रधानता दी गयी थी। इस योजना में सिंचाई के सम्बन्ध में पुनर्विचार करने पर जोर दिया गया था। देश की नदियों में कुल मिलाकर 178 मिलियन हेक्टर-मीटर जल बहता है जिसमें

से केवल 56 मिलियन हेक्टर मीटर जल का प्रयोग सिंचाई के लिए किया जा सकता है। इसमें से 1951 ई० तक केवल 9.5 मिलियन हेक्टर-मीटर अथवा कुल प्रयोग किये जाने योग्य जल का 17 प्रतिशत भाग प्रयुक्त किया जाता था। यह तृतीय योजना के अन्त में बढ़कर 18.5 मिलियन हेक्टर-मीटर अथवा कुल प्रयोग किये जाने योग्य जल का प्रायः 33 प्रतिशत भाग हो गया। 1966-69 के बीच 2 मिलियन हेक्टर मीटर अतिरिक्त जल का इस कार्य के लिए प्रयोग किया जाने लगा था। चतुर्थ योजना में 5 मिलियन हेक्टर-मीटर और जल को सिंचाई के लिए प्रयोग करने का आयोजन था जिससे कुल 25.5 मिलियन हेक्टर-मीटर यानी कुल प्रयोग किये जाने योग्य जल का 16 प्रतिशत भाग सिंचाई के लिए प्रयोग किया जाने लगेगा।

तीनों पंचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई की क्षमता में बहुत अधिक वृद्धि हुई, किन्तु इसका पूर्ण रूप से उपयोग नहीं किया जा सका। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सिंचाई के क्षेत्र में अतिरिक्त क्षमता के सृजन तथा उपयोग के बीच अन्तर को कम करने का प्रयास किया गया था। दूसरे शब्दों में, इस योजना में सिंचाई के क्षेत्र में अबतक जो कार्य किये गये थे उन्हें सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया गया था। चतुर्थ योजनाकाल में, सिंचाई की मद में 965 करोड़ रुपये तथा बाढ़-नियंत्रण पर 129 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। चतुर्थ योजना में कुल 50 लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई की अतिरिक्त क्षमता का सृजन किया जाने को था जिसमें से 32 लाख हेक्टर का वास्तव में प्रयोग किया जाने को था।

**चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में विद्युत उत्पादन (Development of Power in the Fourth Plan) :—**चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में विद्युत के विकास पर भी पर्याप्त जोर दिया गया था। तृतीय योजना के अन्त में विद्युत की संस्थापित क्षमता 1965-66 ई० में 102 लाख



किलोवाट थी जो बढ़कर 1968-69 ई० में अनुमानतः 143 लाख किलोवाट हो गयी। चतुर्थ योजना के अन्त में इसे बढ़ाकर 1973-74 ई० तक 232 लाख किलोवाट करने का आयोजन था। किन्तु योजना के अंत में संस्थापित क्षमता बढ़कर 189 लाख किलोवाट ही हुई। निम्नलिखित तालिका से 1960-61 से 1973-74 के बीच देश में विद्युत की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि का अन्दाजा लगता है:—

| वर्ष    | विद्युत-उत्पादन का विकास<br>संस्थापित क्षमता<br>(लाख कि० वा० में) | प्रति-व्यक्ति<br>उपयोग इकाई में |
|---------|-------------------------------------------------------------------|---------------------------------|
| 1960-61 | 56.5                                                              | 38.0                            |
| 1965-66 | 101.7                                                             | 61.0                            |
| 1968-69 | 143.0                                                             | 77.3                            |
| 1973-74 | 189.0                                                             | ...                             |

चतुर्थ योजनाकाल में विद्युत के विकास की मद में कुल 2983 करोड़ रुपये व्यय हुआ जबकि इस मद में 2448 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था।

### चतुर्थ योजना में उद्योग

#### (Industries in the Fourth Five Year Plan)

तृतीय योजना से प्रारम्भ होनेवाले आठ वर्षों में औद्योगिक विकास बड़ा ही अनिश्चित ढंग से हुआ। तृतीय योजना के प्रथम चार वर्षों में औद्योगिक निवेश तथा विकास के लिए परिस्थितियाँ अपेक्षाकृत अनुकूल थीं, अतः विकास पर्याप्त मात्रा में हुआ। इसके बाद आनेवाले तीन वर्षों की अवधि के अर्थ-व्यवस्था के लिए उपयुक्त नहीं होने के कारण औद्योगिक विकास की दर में भी कमी हुई—पहले धीरे-धीरे तथा बाद में तीव्र गति से। औद्योगिक उत्पादन में यह कमी 1965 ई० में पाकिस्तानी आक्रमण तथा इसके बाद के दो वर्षों में लगातार सूखे का परिणाम थी। इसका देश के सामान्य विकास की दर पर बड़ा ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में उद्योग एवं खनिज को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास सम्बन्धी कार्यक्रम का सर्वप्रथम उद्देश्य देश के औद्योगिक ढाँचे के असंतुलन को दूर करना तथा ऐसी परिस्थितियों का सृजन करना था जिनमें उद्योगों की वर्तमान क्षमता का पूर्ण रूप से प्रयोग किया जा सके। साथ ही, भुगतान संतुलन पर अत्यधिक जोर दिये बगैर देश में औद्योगिक उत्पादन तथा क्षमता में यथासम्भव वृद्धि के लिए परिस्थितियों का निर्माण भी अनिवार्य है। इनके साथ ही, देश में बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए उद्योगों के क्षेत्र में रोजगार के अधिकाधिक अवसरों का निर्माण भी आवश्यक है। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए चतुर्थ योजना के औद्योगिक विकास-सम्बन्धी कार्यक्रम तैयार किये गये हैं। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी आवश्यकता तीव्र गति से

आत्मनिर्भरता प्राप्त करने की है। आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए कृषि से सम्बन्धित उद्योगों का तीव्र गति से विकास आवश्यक है। अतः इस उद्देश्य से धातु, पेट्रोलियम तथा रसायन उद्योगों के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर देना आवश्यक है। इन उद्योगों में और अधिक विनियोग के साथ ही इनकी वर्तमान क्षमता का पूर्ण रूप से उपयोग अनिवार्य है।

द्वितीयतः, क्षेत्रीय असंतुलन को दूर करने के लिए भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उद्योग-धन्धों का dispersion भी आवश्यक है। वास्तव में, देश के भिन्न-भिन्न गैर-कृषि क्षेत्रों में रोजगार प्रदान करने के लिए उद्योग-धन्धों का dispersion आवश्यक है। इस प्रकार की नीति संतुलित विकास तथा तात्कालिक दृष्टिकोण से भी सम्पूर्ण समाज के लिए लाभदायक सिद्ध होगी।

तृतीयतः, पूँजी-प्रधान उद्योगों में श्रमिकों में तकनीकी बेरोजगारी की सम्भावनाओं को दूर करना भी अनिवार्य है। ऐसा इसलिए आवश्यक हो जाता है कि देश की वर्तमान परिस्थितियों में अन्य मदों में रोजगार प्रदान करना बड़ा ही कठिन हो गया है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि औद्योगिक विकास में आधुनिक तकनीक का प्रयोग नहीं किया जायगा। इसका तात्पर्य केवल यही है कि इस प्रकार का कोई भी कदम उठाने में पर्याप्त मात्रा में सावधानी से काम लेना अनिवार्य है।

चतुर्थतः, योजनाकाल में भी देश का औद्योगिक विकास 1956 ई० की औद्योगिक नीति के ढाँचे में ही होगा। इस नीति में सार्वजनिक, निजी तथा सहकारी क्षेत्रों में उद्योगों के विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में सोच-समझकर नीति का अनुकरण किया गया है। सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत केवल उन्हीं उद्योगों को रखा गया है जो देश के औद्योगिक ढाँचे की कमी को पूरा करने के लिए आवश्यक हैं। ऐसा क्षेत्र, जिसमें निजी अथवा सहकारी क्षेत्र के अन्तर्गत उचित विकास की आशा की जाती है, सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं रखा गया है। साथ ही सरकार ने औद्योगिक विकास की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए चतुर्थ योजना में एक नयी औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति की घोषणा की।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में संगठित उद्योग एवं खनिज के विकास पर कुल 3338 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि इस मद में वास्तविक व्यय 2700 करोड़ रुपये हुआ। इसके अतिरिक्त इस मद में निजी तथा सहकारी क्षेत्र में योजनाकाल में 2250 करोड़ रुपये विनियोग का आयोजन था।

योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार द्वारा उद्योग-धन्धों के मद में कुल 2700 करोड़ रुपये व्यय में से लोहा एवं इस्पात उद्योग पर 867 करोड़ रुपये, उर्वरक तथा कीड़े-मकोड़े मारने की दवाओं के



## चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-74)

उद्योग पर 378 करोड़ रुपये, पेट्रोलियम उद्योगों पर 307 करोड़ रुपये तथा कोयला उद्योग पर 84 करोड़ रुपये व्यय हुए।

नीचे की तालिका<sup>3</sup> से चतुर्थ योजनाकाल में कुछ प्रमुख उद्योगों के उत्पादन का लक्ष्य तथा इनकी उपलब्धि स्पष्ट हो जाती है :—

| उद्योग                    | 1960-61<br>में उत्पादन | 1968-69<br>में उत्पादन | 1973-74<br>में लक्ष्य | 1973-74<br>में उत्पादन |
|---------------------------|------------------------|------------------------|-----------------------|------------------------|
| तैयार इस्पात (लाख टन)     | 23.9                   | 47.0                   | 81.0                  | 48.9                   |
| अल्युमिनियम (हजार टन)     | 18.3                   | 125.0                  | 220.0                 | 147.9                  |
| नेत्रजनक खाद (")          | 101.0                  | 541                    | 2500.0                | 1058.0                 |
| फास्फोरिक खाद (")         | 53.0                   | 210.0                  | 900.0                 | 319.0                  |
| सल्फ्यूरिक एसिड (हजार टन) | 368.0                  | 1068.0                 | 2500.0                | 1343.0                 |
| अखबारी कागज (,, ,)        | 23.0                   | 60.0                   | 150.0                 | 48.7                   |
| कोयला (लाख टन)            | 556.7                  | 665.0                  | 935.0                 | 790.0                  |
| खनिज लोहा (")             | 110.0                  | 261.0                  | 514.0                 | 357.0                  |
| अशोधित पेट्रोल (")        | 4.1                    | 60.6                   | 85.0                  | 72.0                   |

चतुर्थ पंचवर्षीय योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों की स्थापना का कार्य भी पहले-पहल करने की व्यवस्था थी। इस उद्देश्य से योजनाकाल में 31 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। खनिज-पदार्थों के अन्तर्गत लोहा, कोयला तथा तंबाके के उत्पादन को बढ़ाने पर भी विशेष रूप से जोर दिया गया था।

चतुर्थ योजना में औद्योगिक उत्पादन में 8 से 10 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का आयोजन था। इसमें से 1969-70 में औद्योगिक उत्पादन में 6.8 प्रतिशत, 1970-71 में 3.7 प्रतिशत, 1971-72 में 4.5 प्रतिशत तथा 1972-73 में 5 प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु 1973-74 में इस मद में प्रायः कोई भी वृद्धि नहीं हुई।<sup>1</sup>

कुटीर एवं लघु उद्योगों (Cottage and Small Scale Industries) के विकास पर भी चतुर्थ योजनाकाल में पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया था। इस मद में योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में 293 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि वास्तविक व्यय 255 करोड़ रुपये हुआ था। इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्र में इस मद में 560 करोड़ रुपये विनियोग की आशा थी। विकेन्द्रित क्षेत्र में सभी प्रकार के कपड़े के उत्पादन को 1968-69 ई० में 340 करोड़ मीटर से बढ़ाकर 1973-74 में 425 करोड़ मीटर करने की व्यवस्था थी।

### चतुर्थ योजना में यातायात एवं संवादवाहन (Transport and Communication in the Fourth. Plan)

आर्थिक विकास की किसी भी योजना में यातायात एवं संवादवाहन पर अधिकाधिक मात्रा में जोर देना

अनिवार्य हो जाता है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भी यातायात एवं संवादवाहन के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया था। योजनाकाल में इस मद में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल 3245 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि इस मद में वास्तविक व्यय 2983 करोड़ रुपये हुआ।

चतुर्थ योजनाकाल में रेलवे के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। रेलों के भार ढोने की क्षमता 1968-69 में 20.3 करोड़ टन थी जिसे बढ़ाकर 1973-74 में 24.0 करोड़ टन करने की आशा की गयी थी किन्तु यह 21.5 करोड़ टन ही हो पायी। रेलों के विकास पर योजनाकाल में 1050 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। इसके अतिरिक्त रेलवे अपकर्ष कोष में से 525 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। योजनाकाल में रेलों द्वारा 1259 इंजन, 1 लाख से अधिक माल डब्बे तथा 6418 यात्री डब्बे खरीदने का आयोजन था। डिजल से 1968-69 में 19-200 किलोमीटर गाड़ियाँ चलती थीं, इन्हें बढ़ाकर 1973-74 तक 22 हजार किलोमीटर करने का आयोजन था। इसी प्रकार 1968-69 तक 2900 किलोमीटर का विद्युतीकरण किया गया था। इसे बढ़ाकर 1973-74 तक 4600 किलोमीटर करने का आयोजन था। योजनाकाल में आधारभूत एवं मुख्य उद्योगों की पूर्ति के लिए कुछ नयी लाइनों का भी निर्माण किया जाने को था।

योजनाकाल में सड़कों के विकास के मद में 876 करोड़ रुपये, जहाजरानी के विकास पर 131 करोड़ रुपये तथा नागरिक उड्डयन के विकास पर 203 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था।

### 1. Draft Fifth Five Year Plan (1974-79)

### 2. Fifth Five Year Plan



इस प्रकार उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में यातायात एवं संवादवाहन के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया है।

**शिक्षा तथा सामाजिक सेवाएँ (Education and Social Services) :—**चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सामाजिक सेवाओं की मद में 2600 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि इस मद में वास्तविक व्यय 2864 करोड़ रुपये हुआ था। इसका विभिन्न मदों में वितरण निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

| मदें                                       | व्यय (करोड़ रुपये में) |
|--------------------------------------------|------------------------|
| शिक्षा                                     | 853.0 करोड़ रुपये      |
| वैज्ञानिक अनुसंधान                         | 140.0 " "              |
| स्वास्थ्य                                  | 434.0 " "              |
| परिवार नियोजन                              | 315.0 " "              |
| गृह-निर्माण तथा नागरिक एवं प्रादेशिक विकास | 251.0 " "              |
| पिछड़े वर्गों का कल्याण                    | 193.0 " "              |
| नागरिक विकास                               | 529.0 " "              |
| विविध                                      | 149.0 " "              |

कुल 2864 करोड़ रुपये

पिछले वर्षों में शिक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हुई। पहले से पाँचवें वर्ग के विद्यार्थियों की संख्या 1960-61 में 3.5 करोड़ से बढ़कर 1968-69 में 5.5 करोड़, छठे से आठवें वर्ग में 70 लाख से बढ़कर 120 लाख, नवें से बारहवें वर्ग में 30 लाख से बढ़कर 68 लाख तथा विश्वविद्यालय स्तर में 7.4 लाख से बढ़कर 16.9 लाख हो गयी। चतुर्थ योजनाकाल में शिक्षा के अन्तर्गत 6 से 11 वर्ष के बीच के 85.0 प्रतिशत बच्चों को स्कूल भेजने का लक्ष्य था। इस योजना में शिक्षा के मद में 822.6 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जिसमें 26.6 प्रतिशत प्राथमिक, 20.8 प्रतिशत माध्यमिक, 14.5 प्रतिशत विश्वविद्यालय तथा 20.9 प्रतिशत तकनीकी शिक्षा पर व्यय का आयोजन था। चतुर्थ योजना के अंत में पहले से पाँचवें वर्ग के विद्यार्थियों की संख्या बढ़कर 637 लाख छठे से आठवें वर्ग की 150 लाख, नवें से बारहवें वर्ग की 85 लाख तथा विश्वविद्यालय स्तर में 30 लाख हो गयी। योजनाकाल में स्वास्थ्य तथा परिवार नियोजन पर भी विशेष जोर दिया गया था।

**चतुर्थ योजना में रोजगार (Employment in the Fourth Five Year Plan)—**1951 से 1961 ई० के बीच श्रम-शक्ति में 210 लाख की वृद्धि हुई। इस अवधि में गैर-कृषि क्षेत्र के रोजगार में 120 लाख तथा कृषि के क्षेत्र में 50 लाख की वृद्धि हुई। इस प्रकार द्वितीय योजना के अंत में बेरोजगारों की संख्या अनु-

मानतः 40 लाख थी। तृतीय योजना में श्रम-शक्ति में 240 लाख की वृद्धि हुई जबकि केवल 145 लाख व्यक्तियों को ही रोजगार दिया जा सका था। अतएव, इस अनुमान के आधार पर चतुर्थ योजना के प्रारम्भ में 90 से 100 लाख व्यक्ति बेरोजगार थे। इनमें तीन-चौथाई भाग ग्रामीण थे। चतुर्थ योजना में रोजगार के सम्बन्ध में निश्चित आंकड़े नहीं दिये गये थे।

अतएव, चतुर्थ योजना में श्रम-प्रधान उपायों जैसे—सड़क, लघु सिंचाइ, भूमि-संरक्षण, सिंचाई, बाढ़-नियन्त्रण, सहकारिता तथा लघु उद्योगों पर विशेष जोर दिया गया था। इसके अतिरिक्त श्रम-प्रधान उपायों को कार्यान्वित करने के लिए चतुर्थ योजना में औसत रूप से प्रतिवर्ष 290 करोड़ रुपये वित्तीय संस्थाओं द्वारा सहायता प्रदान करने की व्यवस्था थी। कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रमों पर अधिक जोर देने के कारण कृषि-क्षेत्र में भी रोजगार की सुविधाओं के पर्याप्त मात्रा में विकसित होने की आशा की जाती थी।

### चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के वित्तीय साधन (Financing of the Fourth Five Year Plan)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में सम्मिश्रित रूप से 24,882 करोड़ रुपये के व्यय का आयोजन था। इसमें से सार्वजनिक क्षेत्र में 15,902 करोड़ रुपये व्यय तथा निजी क्षेत्र में 8,980 करोड़ विनियोग का आयोजन था। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र में कुल 15,902 करोड़ रुपये प्रस्तावित व्यय को विभिन्न साधनों से निम्न प्रकार से प्राप्त करने का आयोजन था :—

### चतुर्थ योजना के वित्तीय साधन (करोड़ रुपये में) साधन चतुर्थ योजना के वित्तीय साधन (प्रस्तावित) (वास्तविक)

|                           |        |        |
|---------------------------|--------|--------|
| योजना के पूर्व प्रचलित    |        |        |
| करों के आधार पर बचत       | 1673.0 | —306.0 |
| " " प्रचलित दर पर         |        |        |
| सार्वजनिक संस्थाओं की बचत | 2029.0 | 1135.0 |
| रिजर्व बैंक से लाभ        | 202.0  | 296.0  |
| जनता से ऋण                | 1415.0 | 2135.0 |
| लघु बचतें                 | 769.0  | 1162.0 |
| विविध पूंजीगत प्राप्तियाँ | 1635.0 | 3241.0 |
| नये कर तथा सार्वजनिक      |        | 4280.0 |
| संस्थाओं के लाभ           | 3198.0 |        |
| बाह्य ऋण                  | 2614.0 | 2087.0 |
| घाटे की वित्त-व्यवस्था    | 850.0  | 2060.0 |

कुल 15,902.0 16,160.0



चतुर्थ योजना की वित्तीय व्यवस्था की सविस्तार व्याख्या आगे चलकर एक पृथक् अध्याय में की गयी है।

### चतुर्थ योजना की आलोचनात्मक समीक्षा (A Critical Evaluation of the Fourth Five Year Plan)

इस प्रकार चतुर्थ पंचवर्षीय योजना का कार्य अप्रैल, 1969 ई० से प्रारम्भ हुआ तथा मार्च, 1974 ई० में समाप्त हुआ। चतुर्थ योजना की प्रगति किसी भी प्रकार से संतोषजनक नहीं कही जा सकती। इसके उद्देश्य पूरे नहीं हो सके। अतएव इस योजना की कई बातों को लेकर आलोचना भी की जाती है। इनमें निम्नांकित आलोचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(1) चतुर्थ योजना रोजगार-प्रधान नहीं थी (The Fourth Plan was not employment-oriented):—सर्वप्रथम तो यह कहा जाता है कि चतुर्थ योजना में रोजगार के साधनों की अधिकाधिक व्यवस्था का अभाव था। भारत-जैसे अर्द्ध-विकसित देश में, जिसकी जनसंख्या में प्रतिवर्ष 2.5 प्रतिशत की दर से वृद्धि हो रही है, योजना करण का प्रधान उद्देश्य बढ़ती हुई श्रम-शक्ति के लिए रोजगार के साधनों की अधिकाधिक व्यवस्था होनी चाहिए। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि चतुर्थ योजना प्रारम्भ होने के समय देश में प्रायः 160 लाख व्यक्ति बेरोजगार थे। साथ ही, योजनाकाल में 230 लाख नये आगन्तुकों के लिए भी रोजगार की व्यवस्था करनी थी, यानी पूर्ण रोजगार की व्यवस्था के लिए 390 लाख व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करना होगा। क्या योजना में इतना अधिक व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था की जा सकेगी? किन्तु पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओं की तरह चतुर्थ योजना में भी इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रभावपूर्ण उपायों का अभाव था। योजना में कितने व्यक्तियों को रोजगार प्रदान किया जायगा, इसकी भी कोई चर्चा नहीं थी। इससे स्पष्ट है कि योजना आयोग बेरोजगारी की समस्या की अवहेलना कर एक महत्वपूर्ण सामाजिक तथा आर्थिक समस्या से विमुख रहा है। भारत जैसे अल्प-विकसित देश में अल्प-रोजगार की समस्या भी गंभीर है। किन्तु चतुर्थ योजना में इसकी भी कोई चर्चा नहीं थी। यह भी इस योजना की एक प्रधान कमी थी। आलोचकों का यह भय निराधार नहीं सिद्ध हुआ तथा चतुर्थ योजना के अंत में बेरोजगारी की भयावह स्थिति उत्पन्न हो गयी।

(2) प्रादेशिक विषमता (Regional imbalances) तथा आय एवं सम्पत्ति के वितरण की विषमता (Inequalities in the distribution of income and wealth) को दूर करने का भी कोई सक्रिय प्रयास नहीं किया गया था :—भारत में पिछले प्रायः 23-24 वर्षों के आयोजित

प्रयत्नों के बावजूद देश के विभिन्न क्षेत्रों के आर्थिक विकास में व्याप्त विषमता को दूर नहीं किया जा सका है। परिणामस्वरूप, देश के कुछ भाग के लोगों का जीवन-स्तर सामान्य-स्तर से बहुत ही निम्न है। इसी प्रकार आय तथा सम्पत्ति के वितरण में भी घोर विषमता व्याप्त है। देश के प्रत्येक औसत निवासी तक योजनाकरण के लाभ को पहुँचाने के लिए इन दोनों प्रकार की विषमताओं को दूर करना अनिवार्य है। किन्तु चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भी इस सम्बन्ध में निश्चित एवं प्रभावपूर्ण उपायों का अभाव था। इससे प्रत्येक व्यक्ति को एक न्यूनतम आय (national minimum) प्रदान करने के उद्देश्य की पूर्ति भी नहीं हो पायी।

(3) निर्यात-सम्बन्धी नीति अवास्तविक थी (Export policy was unrealistic):—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में निर्यात के सम्बन्ध में 7 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का आयोजन था। निर्यात में इतनी अधिक वृद्धि पिछले प्रायः 17-18 वर्षों के अनुभव को देखते हुए अत्यधिक कठिन जान पड़ती है। 1968-69 में निर्यात में 13 प्रतिशत की वृद्धि अवश्य हुई थी, किन्तु यह अवमूल्यन तथा औद्योगिक सुस्ती के बाद एक प्रकार से समुत्थान का परिणाम थी। निर्यात में इतनी अधिक वृद्धि के लिए निर्यात-सम्बन्धी उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि, निर्यात की वस्तुओं में गुणात्मक सुधार आदि आवश्यक हैं जिनके लिए योजना में कोई निश्चित व्यवस्था नहीं की गयी थी।

(4) राजकीय उपक्रमों से अत्यधिक आय की आशा (Too much expectation from public enterprises):—चतुर्थ योजना कई अवास्तविक तथ्यों पर आधारित थी। इसी प्रकार का एक तथ्य राजकीय उपक्रमों में विनियोग की गयी पूँजी से 15 प्रतिशत वार्षिक प्रतिफल की आशा थी जो निश्चय ही बहुत अधिक थी। पिछले पाँच वर्षों में इनकी आय से तुलना करने पर यह अधिक स्पष्ट हो जाता है :—

केन्द्रीय सरकार के उपक्रमों की प्रत्याशित तथा वास्तविक आय (करोड़ रु० में)

| वर्ष    | प्रत्याशित आय | वास्तविक आय |
|---------|---------------|-------------|
| 1964-65 | 62.54         | 27.49       |
| 1965-66 | 44.45         | 22.99       |
| 1966-67 | 31.37         | —11.93      |
| 1967-68 | 9.29          | —42.58      |

इससे स्पष्ट है कि चतुर्थ योजना में राजकीय उपक्रमों से प्रस्तावित आय पिछले कुछ वर्षों में इनकी निष्पत्तियों को देखते हुए अत्यधिक जान पड़ती है। वास्तविकता भी यही थी। चतुर्थ योजनाकाल में 1968-69 की दर पर राजकीय उपक्रमों से 2029 करोड़ रुपये प्राप्त होने की



आशा थी जबकि वास्तव में 1135 करोड़ रुपये की रकम ही प्राप्त हो सकी।

इस प्रकार चतुर्थ योजना की कई-एक आलोचनाएँ की जाती हैं। देश के कुछ राज्य, जिनमें योजना की अवधि में गैर-कांग्रेसी सरकारें थीं, भी इस योजना से संतुष्ट नहीं थे। साथ ही, प्रत्येक राज्य केन्द्र से अधिकाधिक सहायता की मांग करते थे। ऐसी स्थिति में चतुर्थ योजना सफल नहीं ही हो सकी। किन्तु यह भी कहा जा सकता है कि देश के आर्थिक विकास के लिए नियोजित तरीकों को अपनाना ही एक-मात्र उपाय है। ऐसी स्थिति में योजनाकरण को बिल्कुल बन्द कर देने की अपेक्षा आगे की ओर बढ़ना ही उत्तम उपाय जान पड़ता है। (An uneasy beginning is better than a deadly pause.)

**राष्ट्रीय आय का वितरण (Distribution of National Income):**—अन्य अविकसित देशों की तरह भारत में आयोजित विकास का एक प्रधान उद्देश्य देश की राष्ट्रीय आय के वितरण में व्याप्त विषमता को यथासंभव कम करना है। देश में आयोजित विकास के प्रथम दशक में (1951-60) राष्ट्रीय आय में 40 प्रतिशत तथा प्रति-व्यक्ति आय में 18 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि दूसरे दशक (1961-70) में राष्ट्रीय आय में प्रायः 35 प्रतिशत तथा प्रति-व्यक्ति आय में 11 प्रतिशत की वृद्धि हुई। ऐसी स्थिति में यह पता लगाना आवश्यक है कि इस बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय का समाज के विभिन्न वर्गों के बीच किस प्रकार से वितरण हुआ है। इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रयत्न किये गये हैं। इनमें National Council of Applied Economic Research तथा भारत सरकार द्वारा प्रो. महालनविस की अध्यक्षता में नियुक्त "Committee

on the Distribution of Income and Levels of Living" विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन दोनों अध्ययनों का निष्कर्ष यह है कि देश में नियोजन की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप आर्थिक विकास का लाभ समाज के अत्यंत धनी वर्ग के द्वारा ही हड़प लिया गया है। दूसरे शब्दों में, नियोजन की प्रचलित प्रणाली आय एवं धन के वितरण की विषमता को कम करने में बिल्कुल असमर्थ रही है। महालनविस समिति के शब्दों में "Even after 10 years of planning and despite fairly heavy dose of taxation on the upper incomes; there is a considerable measure of concentration in urban areas. This would also hold good for rural income, as in their cases, even the burden of taxation is not heavy on the higher ranges of income." महालनविस समिति ने आय के इस अत्यधिक संकेन्द्रण के लिए दो कारणों को मुख्य रूप से उत्तरदायी बतलाया था। सर्वप्रथम तो बेरोजगारी एवं अर्द्ध-बेरोजगारी के कारण समाज के एक बहुत बड़े वर्ग के लोगों की आय बहुत ही निम्न है। द्वितीयतः, बड़े पैमाने पर कर-वंचना (Tax-evasion) के कारण समाज के धनिक वर्ग की आय बहुत अधिक रह जाती है।

इससे स्पष्ट है कि आयोजन के प्रमुख उद्देश्य धन एवं आय के वितरण की विषमता के निवारण के लिए अन्य उपायों के साथ-साथ देश में रोजगार के साधनों में वृद्धि अति आवश्यक है। देशवासियों के लिए बड़े पैमाने पर रोजगार की व्यवस्था के द्वारा ही निर्धन लोगों की आय में वृद्धि की जा सकती है। साथ ही, देश की कर-प्रणाली में आवश्यक संशोधन द्वारा कर-वंचना को रोकने के प्रयास भी आवश्यक है।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. Final Report of the National Income Committee, Feb. 1954
2. V. K. R. V. Rao : National Income of British India, 1939
3. N. C. A. E. R. : Distribution of National Income by States 1960-61.
4. India, 1976
5. First, Second, Third, Fourth and Fifth Five Year Plans of India.



## अध्याय : 9

### पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79)

#### (Fifth Five Year Plan)

**प्राक्कथन :—**31 मार्च, 1974 को चौथी पंचवर्षीय योजना का कार्य समाप्त हुआ तथा अप्रैल, 1974 से पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79) से प्रारम्भ हुई। 30 मई, 1972 को योजना आयोग ने एक प्रलेख पाँचवीं योजना का 'दार्शनिक आधार' राष्ट्रीय विकास-परिषद् के समक्ष प्रस्तुत किया था जिसमें पाँचवीं योजना के निर्माण के लिए मार्गदर्शी सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये थे। आगे चलकर एक नया प्रलेख "Approach to the Fifth Plan" तैयार किया गया जिसे संसद् ने स्वीकार कर लिया। इस प्रलेख में पाँचवीं योजना की एक संक्षिप्त रूप-रेखा तैयार करने का प्रयास किया गया था और पुनः '72-73 के मूल्य-तल के आधार पर इसमें संशोधन किया गया तथा पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79) का प्रारूप प्रस्तुत किया गया। पाँचवीं योजना से सम्बन्धित सभी प्रलेखों में इस बात का उल्लेख है कि भारत जैसे विकासोन्मुख देश में निर्धनता का निवारण तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता की प्राप्ति (The removal of Poverty and the attainment of Economic self-sufficiency) दो महत्वपूर्ण उद्देश्य हैं जिन्हें पाँचवीं योजना में पूरा करना है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विकास की उच्च दर, भाव का अधिक समान वितरण तथा आंतरिक बचत की दर में महत्वपूर्ण वृद्धि अति आवश्यक हैं। (Removal of poverty and attainment of self-reliance are the two major objectives that the country has set out to accomplish in the Fifth Plan. As necessary corollaries, they require higher growth, better distribution of incomes & a very significant step up in the rate of domestic savings.) इसके साथ-ही-साथ प्रजातांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाना, अक्तियों के संकेन्द्रण को रोकना, आय एवं सम्पत्ति के वितरण की विषमता को कम करना तथा देश के विभिन्न क्षेत्रों का संतुलित विकास आदि की भी प्रबल आवश्यकता है। पाँचवीं योजना इन्हीं व्यापक उद्देश्यों के संदर्भ से तैयार की गयी है। सितम्बर, 1976 में पाँचवीं योजना अंतिम रूप से प्रकाशित की गयी।

**पाँचवीं योजना के प्रमुख उद्देश्य**  
(Basic Objectives of the Fifth Five Year Plan)

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के निम्नांकित प्रधान उद्देश्य थे :—

(1) निर्धनता का अन्त (Removal of Poverty)  
:—पाँचवीं योजना का सर्वाधिक प्रधान उद्देश्य निर्धनता को समाप्त करना था। निर्धनता-निवारण का उद्देश्य वास्तव में भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश के लिए

लिए बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। कारण स्पष्ट है। यदि निर्धनता का निवारण शान्तिपूर्ण तथा प्रजातांत्रिक तरीके नहीं हो सकता तो सम्पूर्ण देश में विनाशकारी प्रवृत्तियों के अधिक बलवती होने की समानता अधिक हो जाती है। (If the country does not move faster in removing poverty through an evolutionary, consultative and democratic process, a destructive trend might set in to engulf the whole nation) पिछले प्रायः 22-23 वर्षों के नियोजन के परिणामस्वरूप देश में औसत प्रति-व्यक्ति आय में पर्याप्त वृद्धि हुई। इसके परिणामस्वरूप जीवन स्तर में सर्वत्र सुधार हुआ। फिर भी देश की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग आज भी निर्धनता के निर्मम जाल में उलझा हुआ है। आयोग ने अनुमान लगाया था कि 22 करोड़ से भी अधिक लोग उपभोग के न्यूनतम स्तर (Minimum standard of consumption) से नीचे थे। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि वर्तमान मूल्य-तल के आधार पर न्यूनतम उपभोग स्तर के लिए 40 रुपये प्रतिमाह प्रति व्यक्ति व्यय की आवश्यकता है। अतएव, निर्धनता-निवारण का तात्पर्य यह है कि देशवासियों को कम-से-कम इतनी आय अवश्य होनी चाहिए जिससे कि वे अपनी न्यूनतम उपभोग की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

इस प्रकार निर्धनता की समाप्ति (Removal of Poverty) के उद्देश्य को पाँचवीं योजना में अत्यधिक महत्व दिया गया है। किन्तु निर्धनता को समाप्त करने के प्रश्न पर योजना के लिए प्रस्तुत अलग-अलग प्रलेखों में अन्तर था।

उदाहरणतः सुब्रह्मण्यम प्रलेख में निर्धनता के तीन मुख्य कारण बतलाये गये हैं :—(i) खुली बेरोजगारी (Open unemployment), (ii) अल्प-रोजगार (Under-employment), और (iii) कृषि तथा सेवा-क्षेत्रों में उत्पादकों की बहुत भारी संख्या का निम्न-साधन सम्बन्धी आधार (Low resource base of a very large number of producers in agriculture and service sectors)<sup>1</sup> इसीलिए पहले दार्शनिक आधार सम्बन्धी प्रलेख में यह स्पष्ट कहा गया था कि "घोर निर्धनता की परिसमाप्ति अर्थ-व्यवस्था की विकास-दर में एक निश्चित वृद्धि मात्र के परिणाम के रूप में प्राप्त नहीं की जा सकती।" इसके लिए तो 'बेरोजगारी, अल्परोजगार और व्यापक चरम निर्धनता की समस्याओं पर

1. Towards an Approach to the Fifth Plan, 1972, p. 5.



सीधा प्रहार करना होगा।<sup>1</sup> (For this purpose, the strategy suggested was to launch a direct attack on the problem of unemployment; under-employment and massive low-end poverty.)

किन्तु, दूसरी ओर श्री डी० पी० धर के दार्शनिक आधार के प्रलेख में एक अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया था। "निर्धनता के युगल कारण हैं—(क) अल्प विकास और (ख) विषमता। अतएव एक ही दिशा में प्रयत्न करने से इस समस्या पर निकट भविष्य में काबू नहीं पाया जा सकता। ... व्यापक निर्धनता पर सफल प्रहार करने के लिए विकास और असमानता दोनों में कमी अनिवार्य है। निर्धनता को दूर करने की विकास-विधि के दो मुख्य तत्त्व हैं—अन्तर्देशीय उत्पादन (Domestic product) की बढ़ती हुई दर और जनसंख्या की घटती हुई वृद्धि दर।"<sup>2</sup> (The twin causes of poverty are under-development and inequality. The problem cannot be overcome within the foreseeable future by efforts in one direction only. Growth and reduction in inequality are both indispensable to a successful attack on mass poverty. The strategy for elimination of poverty thus rested on two major factors—a rising rate of growth of domestic product coupled with a declining rate of growth of population.) नीति-सम्बन्धी इस सिद्धान्त को तय करने के पश्चात् प्रलेख में यह विचार किया गया था कि क्या कुल राष्ट्रीय उत्पादन में 6.2 प्रतिशत की वृद्धि-दर स्वीकार की जाय जैसा कि चौथी योजना के परिप्रेक्ष्य में कल्पित किया गया था। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि भारत में आयोजन के पहले दशक (अर्थात् 1951-60) में 3.8 प्रतिशत औसत वार्षिक विकास-दर प्राप्त की गयी और दूसरे दशक (1961-70) में 3.7 प्रतिशत की वार्षिक विकास दर कायम रखी जा सकी; पाँचवीं योजना की प्रारम्भिक रूपरेखा में कुल राष्ट्रीय उत्पादन में 5.5 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि के लक्ष्य को ही व्यावहारिक समझा गया था। आगे चलकर योजना की अंतिम रूप-रेखा में इसे हटाकर 4.37 प्रतिशत कर दिया गया था जबकि पाँचवीं योजना के चार वर्षों में इसमें 3.9 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

(2) आधारभूत न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति (Provision for Basic minimum needs):—योजना आयोग के अनुसार देश की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति से भी वंचित रह जाता है। अतएव पाँचवीं योजना का एक प्रधान उद्देश्य देशवासियों की आधारभूत न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था करना था। योजना आयोग ने

आधारभूत न्यूनतम आवश्यकताओं के अन्तर्गत निम्नांकित को रखा है : 14 वर्ष तक के बच्चों तथा बच्चियों के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था (Elementary education for children up to the age of 14), परिवार नियोजन तथा बच्चों के लिए पोषित आहार से युक्त जनस्वास्थ्य की न्यूनतम सुविधाएँ (Minimum public health facilities integrated with family planning and nutrition for children), भूमिहीन श्रमिकों के लिए आवास (House-site for landless labourers), ग्रामीण क्षेत्रों में विद्युतीकरण तथा बड़े-बड़े शहरों की गंदी वस्तियों में सफाई (Slum improvement in larger towns)। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में इन सारी बातों पर ध्यान दिया जाने को था। पाँचवीं योजना में इन न्यूनतम आवश्यकताओं से सम्बन्धित कार्यक्रमों पर अनुमानतः 300 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था की गयी थी।

संक्षेप में, इसके अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यक्रम सम्मिलित किये गये हैं :—

(i) 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चे-बच्चियों को प्राथमिक शिक्षा :—भारत सरकार 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों को जनवरी, 1960 ई० तक निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा देने के सांविधानिक निर्देश को पूरा करने में असमर्थ रही है। चौथी योजना के अन्त तक 6 से 11 आयु-वर्ग में 84 प्रतिशत बच्चे स्कूलों में प्रवेश प्राप्त कर सकेंगे और 11-14 आयु वर्ग के सभी बच्चों का 40 प्रतिशत। पाँचवीं योजना में यह प्रस्ताव रखा गया था कि 1979 तक 6-11 आयु-वर्ग के सभी बच्चों के लिए स्कूलों में व्यवस्था की जायगी परन्तु, 11 से 14 आयु वर्गों में 50 प्रतिशत की सीमा पार करना सम्भव नहीं होगा।

(ii) सार्वजनिक स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुविधाएँ :—आज हमारे देश में प्रत्येक ऐसे प्रखंड जिसकी जनसंख्या 80,000 से 1,00,000 है, में एक सार्वजनिक स्वास्थ्य-केन्द्र है और 8 से 10 उप-केन्द्र हैं। इसको न्यूनतम स्तर मानते हुए इस कार्यक्रम की कमजोरियाँ दूर करनी होंगी, अर्थात् इन केन्द्रों में कर्मचारियों, आवश्यक उपकरणों एवं औषधियों और भवन-निर्माण आदि की उचित व्यवस्था करना होगी। पाँचवीं योजना के लिए यही वास्तविक लक्ष्य रखा गया था।

साथ ही, परिवार नियोजन कार्यक्रम को जारी रखना होगा। किन्तु, इसे स्वास्थ्य एवं पोषण-सम्बन्धी सुविधाओं का विकास-प्रोग्राम के साथ समन्वित करना जरूरी है। प्रोटीन की कमी की समस्याओं का समाधान करने के लिए पाँचवीं योजना में गर्भवती माताओं और छोटे-छोटे बच्चों के लिए पोषण सम्बन्धी सुविधाओं की व्यवस्था करनी होगी।

1. उपयुक्त रचना में, पृ० 1.

2. उपयुक्त रचना में, पृ० 1.



(iii) पीने का पानी :—5,67,000 ग्रामों में से 1,50,000 ग्राम ऐसे हैं जिसमें पीने के लिए पानी की कमी है। परन्तु बहुत से ग्रामों में हरिजनों एवं पिछड़े वर्गों के इलाकों में पीने के पानी का संभरण अपर्याप्त है। पाँचवीं योजना में इस मद पर 550 करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे जबकि चौथी योजना में इस मद पर इसका एक-तिहाई भाग ही खर्च किया गया था।

(iv) भूमिहीन श्रमिकों के लिए संकानों की जगहें उपलब्ध कराने का विस्तृत कार्यक्रम तैयार किया जायगा।

(v) सड़कें एवं बिजली :—योजना आयोग के प्रलेख में यह उल्लेख किया गया है कि ऐसे सभी ग्रामों के लिए, जिनकी न्यूनतम जनसंख्या 1,500 से अधिक है, पाँचवीं योजना के अन्त तक सभी मौसमों में काम आनेवाली सड़कों की व्यवस्था करनी होगी। इसी प्रकार पाँचवीं योजना के अन्त तक सभी राज्यों में बिजली का इतना अधिक विस्तार करना होगा कि प्रत्येक राज्य की कम-से-कम 30-40 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या को बिजली की सुविधा प्रदान की जा सके।

(vi) गन्दी बस्तियों की सफाई एवं परिवेश उन्नति (Slum clearance and environmental improvement) :—ऐसे सभी नगरों के लिए जिनकी जनसंख्या 5 लाख से अधिक है, गन्दी बस्तियों की सफाई का मास्टर-प्लान (Master plan) तैयार करना होगा।

पाँचवीं योजना के आधारभूत न्यूनतम आवश्यकताओं के अंतर्गत उपरोक्त सभी कार्यक्रम सम्मिलित हैं।

(3) रोजगार की अधिकाधिक व्यवस्था :—पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में बेरोजगारी की समस्या के समाधान पर भी जोर दिया गया था। देश में 1951 से 1960 के बीच जनसंख्या का जो विस्फोट (Population explosion) हुआ उसके परिणामस्वरूप अवश्रम-शक्ति में एक प्रकार से विस्फोट (Labour force explosion) का अनुभव किया जा रहा है। अतएव, योजना-निर्माताओं के समक्ष आज प्रधान समस्या श्रम-शक्ति के इस विस्फोट, जो विकास तथा स्थायित्व के लिए एक प्रकार से चुनौती है, विकास के कार्य के लिए प्रयुक्त करना है। आयोग के शब्दों में, "Explosion of productive employment opportunities is crucial to accelerated growth and inequality. Idle man-power, the unemployed, the under-employed and the very thinly employed is a vast resource for development. If utilised, it could give a powerful stimulus to growth."

इस उद्देश्य से रोजगार-प्रधान कार्यों (Employment-intensive heads of development) पर पाँचवीं योजना में व्यय की रकम को बढ़ा दिया जाने को था। इस श्रेणी के कार्यक्रमों के अंतर्गत लघु सिंचाई, भूमि-

संरक्षण, दुग्ध आपूर्ति उद्योग आदि आते हैं। इन रोजगार प्रधान कार्यों पर चतुर्थ योजना की तुलना में पाँचवीं योजना में दुगुनी रकम व्यय करने की व्यवस्था थी। इसके साथ ही पाँचवीं योजना में बेकार लोगों को स्वयं रोजगार में स्थापित करने (Self-employment) की व्यवस्था पर भी जोर था।<sup>1</sup>

(4) आर्थिक स्वावलम्बन (Economic self-reliance) :—पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में विदेशी सहायता से पूर्ण स्वावलम्बन के उद्देश्य की प्राप्ति को प्राथमिकता दी गयी थी। एक निश्चित समय के अन्दर विदेशी सहायता पर निर्भरता को समाप्त करने पर सर्व-प्रथम तृतीय पंचवर्षीय योजना में जोर दिया गया था। चतुर्थ योजना में भी इस क्षेत्र में बहुत-कुछ प्रगति हुई है। पाँचवीं योजना में पहले इस सम्बन्ध में उद्देश्य योजना के अन्त, यानी 1978-79 तक विदेशी सहायता की रकम को बिल्कुल शून्य करने का रखा जा रहा था जो आयोग के निम्नांकित कथन से बिल्कुल स्पष्ट है, "It is suggested that, to start with the exercises, the Fifth Plan may proceed on the basis of zero net aid position by 1978-79 with the clear understanding that the implications brought out in the exercise will be reviewed once again before the Fifth Plan and final operative decisions are taken." किन्तु पाँचवीं योजना के प्रारूप में इस बात की चर्चा की गयी है कि 1972-73 तथा बाद में खाद्यान्नों के आयात की आवश्यकता तथा इस्पात, उर्वरक, पेट्रोल एवं अखबारी कागज के मूल्य में वृद्धि आदि को ध्यान में रखते हुए अब यह संभव नहीं है कि 1978-79 तक विदेशी सहायता को शून्य के स्तर पर लाया जाय। फिर भी आयोग के अनुसार शुद्ध विदेशी सहायता (Net Foreign aid) कुल विनियोग का 3:1 प्रतिशत तथा कुल राजकीय क्षेत्र के विनियोग का 4:6 प्रतिशत होगी जबकि चतुर्थ योजना में इनका प्रतिशत क्रमशः 8:2 तथा 13:6 प्रतिशत था। योजना आयोग के शब्दों में; "It is thus visualised that by 1985-86, we would be in a position to meet the maximum amount of foreign exchange requirements including debt service"

1. Approach to Fifth Plan 1974-1979, Jan. 1973. आयोग के अनुसार, "The Fifth Plan envisages a substantial opportunity for wage, employment in the non-agricultural sectors, Expanded, fuller and more productive self-employment is anticipated in agriculture, cottage industries, road transport, trade and services sectors."



charges from our own resources, thus obviating the need of any large scale flow concessional aid." उपरोक्त बातों को ध्यान में रखते हुए पाँचवीं योजना में पाँच वर्षों में पहले कुल 3000 करोड़ रुपये विदेशी सहायता का अनुमान था। इसमें से 1600 करोड़ रुपये ब्याज वगैरह चुकाने में लग जायगा तथा 400 करोड़ रुपये भी अन्य समायोजनों में लग जाने को था। अतएव विकास-सम्बन्धी कार्यों के लिए शुद्ध 1000 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता ही रह जायगी। किन्तु पाँचवीं योजना में अंतिम रूप से 4,834 करोड़ रुपये विदेशी सहायता की व्यवस्था की गयी थी।

5. आर्थिक विषमता का निवारण :—इनके अतिरिक्त पाँचवीं योजना में आर्थिक विषमता के निवारण (Reduction in Economic inequalities) पर भी जोर दिया गया था। देश में अभी तक विकास के सम्बन्ध में जो कार्य किये गये हैं उनसे समाज के दलित वर्गों को नाम-मात्र का ही लाभ हो पाया था। अतएव विकास-सम्बन्धी योजना में ऐसे उपायों को भी सम्मिलित करने पर जोर दिया गया था जिनसे समाज में धन एवं आय का पुनर्वितरण हो सके। (A growth-oriented strategy must have woven in it a series of redistributive measures)

इनके अतिरिक्त पाँचवीं योजना में निम्नांकित उद्देश्यों की भी प्रधानता थी—

6. कुल आन्तरिक उत्पादन (Gross Domestic Produce) में 5.5 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि: किन्तु वाद-में यह दर 4.37 प्रतिशत ही वार्षिक कर दी गयी जबकि योजना के प्रथम चार वर्षों में वार्षिक उत्पत्ति में 3.9 प्रतिशत की दर से ही वृद्धि हुई।

7. सामाजिक कल्याण (Social welfare) के कार्यों के विस्तार पर अधिकाधिक जोर,

8. कृषि, प्रमुख एवं आधारभूत उद्योगों तथा जन-साधारण की उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन करने वाले उद्योगों पर जोर; तथा

9. अनावश्यक उपभोग पर कठोर नियन्त्रण।

पाँचवीं योजना का कुल व्यय  
(Total Outlay of the Fifth Plan)

पाँचवी योजना के प्रारूप के अनुसार पाँच वर्षों का अवधि में कुल 53, 411 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था तय की गयी थी। इसमें से सार्वजनिक क्षेत्र में कुल 37,250 करोड़ रुपये तथा निजी क्षेत्र में 16,161 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। किन्तु पाँचवीं योजना में अन्तिम तौर पर सार्वजनिक क्षेत्र में पाँच वर्षों में 39,303 करोड़ रुपये का व्यय निश्चित किया गया। इसमें से योजना के प्रथम तीन वर्षों में 19,396 करोड़ रुपये व्यय हुआ तथा अन्तिम दो वर्षों में 19,907 करोड़ रुपये का व्यय रखा गया। इसका विभिन्न मदों में वितरण निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

पाँचवीं योजना का कुल व्यय करोड़ रुपये में<sup>1</sup>

| विकास की मदें                            | पाँचवीं योजना का प्रारूप | 1974-77 में व्यय | 1977-79 में आयोजित व्यय | पाँचवीं योजना का कुल व्यय |
|------------------------------------------|--------------------------|------------------|-------------------------|---------------------------|
| 1. कृषि एवं तत्सम्बन्धी                  | 4935.0                   | 2130.2           | 2513.4                  | 6643.6                    |
| 2. सिंचाई एवं बाढ़-नियंत्रण              | 2680.0                   | 1651.5           | 1788.7                  | 3440.2                    |
| 3. विद्युत्                              | 6190.0                   | 3513.0           | 3780.9                  | 7293.9                    |
| 4. उद्योग एवं खनिज                       | 9029.0                   | 5205.4           | 4996.2                  | 10200.6                   |
| 5. यातायात एवं संचहन                     | 7115.0                   | 3552.7           | 3328.7                  | 6881.4                    |
| 6. शिक्षा                                | 1726.0                   | 587.8            | 696.5                   | 1284.3                    |
| 7. सामाजिक एवं सामुदायिक सेवाएँ          | 5075.0                   | 2322.4           | 2444.4                  | 4766.8                    |
| 8. पहाड़ी एवं आदिम क्षेत्र               | 500.0                    | 177.5            | 262.5                   | 450.0                     |
| 9. जिसका अभी विनिधान नहीं प्राप्त हुआ है | —                        | 260.4            | 66.3                    | 326.7                     |
| कुल                                      | 37250.0                  | 19400.9          | 19886.6                 | 39287.5                   |

1. Fifth Five Year Plan. (1974-79), p. 115, कुल व्यय में 16 करोड़ रुपये की रकम सम्मिलित नहीं है।



## पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79)

इस प्रकार पाँचवीं योजना में चौथी योजना की अपेक्षा बहुत अधिक, प्रायः दुगुनी से भी अधिक रकम के विनियोग का आयोजन था। व्यय के विभिन्न मदों में वितरण से स्पष्ट है कि चौथी तथा पाँचवीं योजना में कुल व्यय का विभिन्न मदों में वितरण लगभग एक ही समान था। इसमें कोई मौलिक अन्तर नहीं था।

पाँचवीं योजना के कुल व्यय को देखने से स्पष्ट है कि 1974-77 के तीन वर्षों में कुल व्यय 19400.9 करोड़ रुपये था जबकि 1977-79 के दो वर्षों में 19886 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। स्पष्ट है कि शेष दो वर्षों में प्रायः 51 प्रतिशत व्यय पूरा करना था।

पाँचवीं योजना में विकास की दर (Growth Rate in the Fifth Plan) :—पाँचवीं योजना के प्रारूप में कुल उत्पादन में प्रतिवर्ष 5.5 प्रतिशत की दर से वृद्धि का आयोजन निश्चित किया था। निर्धनता के शीघ्र निवारण के लिए, उत्पादन में इससे अधिक वृद्धि उचित होती किन्तु पाँचवीं योजनाकाल में भुगतान-संतुलन की स्थिति, कुल विनियोग की मात्रा आदि को देखते हुए इससे अधिक वृद्धि सम्भव नहीं जान पड़ती है। दूसरी ओर, इससे कम विकास की दर मानने पर अर्थ-व्यवस्था में विभिन्न क्षेत्रों, विशेषतः आधारभूत एवं भारी उद्योगों के क्षेत्र में विकास की दर को बहुत अधिक मंद करने की आवश्यकता पड़ती। अतएव योजना के विभिन्न पहलुओं को देखते हुए विकास की वार्षिक दर 5.5 प्रतिशत ही निश्चित

की गयी थी। इसमें से विभिन्न क्षेत्रों के लिए विकास की वार्षिक दर अलग-अलग निश्चित की गयी थी जो इस प्रकार थी :—

| क्षेत्र            | औसत वार्षिक उत्पादन में वृद्धि की दर प्रतिशत में |
|--------------------|--------------------------------------------------|
| कृषि               | 3.94 प्रतिशत                                     |
| खनिज               | 12.58 "                                          |
| निर्माणकारी उद्योग | 6.92 "                                           |
| विद्युत            | 10.12 "                                          |
| यातायात            | 4.79 "                                           |
| सेवाएँ             | 4.88 "                                           |
| विकास की कुल दर    | 4.37 "                                           |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि पाँचवीं योजना में कृषि में विकास की वार्षिक दर 3.94 प्रतिशत है जबकि खनिज उद्योग में यह 12.58 प्रतिशत तथा निर्माणकारी उद्योगों में 6.92 प्रतिशत है। इसी प्रकार विद्युत के क्षेत्र में यह 10.11 प्रतिशत वार्षिक है।

किन्तु पाँचवीं योजना के अंतिम रूप के अनुसार 1974-75 में कुल आंतरिक उत्पादन में 0.2 प्रतिशत तथा 1975-76 में 6 प्रतिशत की वृद्धि हुई और 1976-79 के बीच इसमें वार्षिक 5.2 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन किया गया। इस प्रकार पाँचवीं योजना के पाँच वर्षों में औसत 4.37 वार्षिक विकास की व्यवस्था की गयी। किन्तु पाँचवीं योजना के चार वर्षों (1974-78) में विकास की दर वार्षिक 3.9 प्रतिशत ही रही।

### पाँचवीं योजना के कुछ प्रधान लक्ष्य (Main Targets of the Fifth Plan)

पाँचवीं योजना में कृषि तथा उद्योग-धंधे दोनों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजना के कुछ प्रमुख लक्ष्य निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> से स्पष्ट हो जाते हैं :—

| वस्तु         | इकाई        | 1973-74 में उत्पादन | 1978-79 में उत्पादन का लक्ष्य | योजना के अंतिम वर्ष 1977-78 में उत्पादन |
|---------------|-------------|---------------------|-------------------------------|-----------------------------------------|
| खाद्यान्न     | लाख टन में  | 1047                | 1250                          | 1210                                    |
| कोयला         | "           | 790                 | 1240                          | 1032                                    |
| खनिज-लोहा     | "           | 357                 | 560                           | 430                                     |
| पेट्रोल       | "           | 72                  | 142                           | 107.7                                   |
| चीनी          | "           | 40                  | 54                            | 52.0                                    |
| सीमेंट        | "           | 146                 | 208                           | 192                                     |
| नवजनक खाद     | हजार टन में | 1058                | 2900                          | 2060                                    |
| फॉस्फेटिक खाद | "           | 319                 | 770                           | 660                                     |
| कागज अखवारी   | हजार टन में | 49                  | 80                            | 58                                      |

1. Fifth Five Year Plan (1974-79), p.102 & Sixth Five Year Plan Draft (1978-83)



## पाँचवीं योजना की आलोचनात्मक समीक्षा (A Critical Appraisal of the Fifth Five Year Plan)

किन्तु, अर्थशास्त्रियों द्वारा पाँचवीं योजना की बहुत अधिक आलोचना की गयी है। इसकी कुछ मान्यताओं पर भी सन्देह व्यक्त किया गया है। संक्षेप में, पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के प्रस्ताव की आलोचना निम्नांकित बातों को लेकर की गयी है :—

(i) राष्ट्रीय न्यूनतम की प्राप्ति के लिए विकास की उच्च दर की आवश्यकता (Higher growth rate for achieving national minimum) :—पंचम योजना की जो रूप-रेखा तैयार की गयी है उसमें सभी व्यक्तियों के लिए एक न्यूनतम स्तर (Minimum Subsistence for all) की प्राप्ति के उद्देश्य पर जोर दिया गया है तथा इसके लिए प्रारूप में 5.5 प्रतिशत वार्षिक विकास की दर का आयोजन था जबकि अंतिम रूप से 4.37 प्रतिशत वार्षिक कर दिया गया। किन्तु आलोचकों के अनुसार पिछले प्रायः 20 वर्षों के नियोजन के अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पाँचवीं योजना में विकास की जिस विधि की व्यवस्था की गयी है उसके आधार पर विभिन्न वर्गों के उपयोग के स्तर में व्याप्त अन्तर को समाप्त करना संभव नहीं है। वास्तव में, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विकास की अधिक उच्च दर की प्राप्ति का आयोजन आवश्यक था। पिछले 20 वर्षों के आर्थिक नियोजन के इतिहास से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि हम 5 से लेकर 5.5 प्रतिशत विकास की दर के अभ्यस्त से हो गये हैं (और वार्षिक उपलब्धि 3 से 3.5 प्रतिशत के बीच होती है। इससे अधिक दर से वृद्धि केवल अच्छे मौनसून वाले वर्ष में ही होती है।) वास्तव में, इससे अधिक वृद्धि (4 से 5 प्रतिशत तक की) बगैर नियोजन वाले वर्ष में 1965-66 के बाद भी हुई।

ऐसी स्थिति में प्रश्न यह है कि क्या हमें 5.5 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि से सन्तुष्ट हो जाना चाहिए? कुछ आलोचकों, जैसे पी. पी. मेधोरा (P. P. Medhora) के अनुसार इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कम-से-कम 7.5 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का आयोजन अनिवार्य है। इसमें से कृषि में विकास की वार्षिक दर 6 प्रतिशत, उद्योग-धन्धों में 10 से 12 प्रतिशत तथा तृतीय क्षेत्र में 5 से 6 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का आयोजन किया जाना चाहिए था। पाँचवी योजना के चार वर्षों में औसत विकास की दर 3.9 प्रतिशत ही रही।

(ii) उपभोग स्तर में विषमता को कम करने के लिए दो विकल्प (Preferred variants to reduce disparities in levels of consumption) :—विकास के साथ-साथ आर्थिक आत्मनिर्भरता (economic self-reliance with growth) के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आयोग द्वारा प्रयुक्त विकल्पों की भी बहुत अधिक आलो-

चना की जाती है। इस संबंध में आयोग के समक्ष दो विकल्प थे; प्रथम इस मान्यता पर आधारित है कि विभिन्न आय वर्गों में उपभोग का वितरण 1968-69 के स्तर पर ही रहेगा और दूसरा, इस मान्यता पर आधारित है कि निम्न आय वाले वर्गों के उपभोग में पर्याप्त मात्रा में परिवर्तन होगा। आयोग के अनुसार, "There is a positive co-relation between reduced inequality and self-reliance. Two variants of the Fifth plan model have been worked out. Both provide for a 5.5 P. C. overall rate of growth, but one assumes unchanged inequality and the other reduced inequality. The second variant shows an improvement in the balance of payment. Now that self-sufficiency has been achieved in foodgrains the consumption pattern of the lower income strata has a much lower import content than the middle and upper income strata. And redistribution, therefore, in favour of the poor is bound to have a favourable impact on the Balance of payment."

आयोग के अनुसार पाँचवी योजना की अवधि में पाँच वर्षों में 3000 करोड़ रुपये विदेशी सहायता का अनुमान था इसमें से 1600 करोड़ रुपये व्याज आदि के चुकता करने में तथा 400 करोड़ रुपये पूँजीगत वस्तुओं के आयात में मान लिया गया था। योजनाकाल में इस प्रकार 1000 करोड़ रुपये शुद्ध विदेशी सहायता का अनुमान था। अब आयोग के अनुसार मध्यम तथा उच्च आय वर्ग के व्यक्तियों के उपभोग में कटौती के द्वारा आयात में पर्याप्त मात्रा में कटौती की जा सकती है। किन्तु आयोग ने इस बात की चर्चा नहीं की है कि उच्च आय वर्गों के उपभोग की किन-किन वस्तुओं में कटौती करनी है। केवल यह बतलाया गया है कि द्वितीय विकल्प अपनाने से पाँचवी योजना की अवधि में समाज के 30 प्रतिशत धनी व्यक्तियों का उपभोग ग्रामीण क्षेत्रों में 84.42 रुपये से घटकर 80.30 रुपये तथा शहरी क्षेत्रों में 113.2 रुपये से घटकर 108.3 हो जायगा। आलोचकों के अनुसार देश के उच्च आय वाले 10 प्रतिशत व्यक्तियों के उपभोग स्तर में कटौती से ही पर्याप्त मात्रा में सुधार हो सकता है।

1. Phiroz P. Medhore : Progress at Tortoise Pace : Economic and Political Weekly, Annual Number, Feb. 1973.



इससे अधिक लोगों की आय में कटौती के प्रयत्न सामाजिक न्याय की दृष्टि में यथोचित नहीं है। दंदेकर एवं रथ (Dandekar and Rath) ने अपनी पुस्तक "Poverty in India" में यह तर्क प्रस्तुत किया है कि केवल उच्च आय वाले 5 प्रतिशत ग्रामीण तथा नागरिक धनी व्यक्तियों के उपभोग व्यय में 15 प्रतिशत की कटौती तथा इससे नीचे वाले 5 प्रतिशत व्यक्तियों के उपभोग व्यय में 7.5 प्रतिशत कमी से सार्वजनिक कार्यों के लिए 800 से 1000 करोड़ रुपये प्रति वर्ष प्राप्त किया जा सकता है। प्रो० परान्जये (H. K. Paranjape) के अनुसार तो उच्च आय वाले 2 प्रतिशत व्यक्तियों का उपभोग स्तर ही इतना अधिक ऊँचा है कि इसमें कटौती के परिणाम महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। अतः एव उच्च आय वाले 30 प्रतिशत व्यक्तियों के उपभोग स्तर में कटौती का निर्णय बहुत कुछ राजनीतिक जान पड़ता है।

(iii) अपर्याप्त सांस्थानिक परिवर्तन (Inadequate Structural Changes):—पाँचवीं योजना के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निर्धारित नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए सामाजिक आर्थिक ढाँचे में उचित परिवर्तन की प्रबल आवश्यकता है, किन्तु योजना-निर्माताओं ने संभवतः इस बात पर ध्यान नहीं दिया है। खाद्यान्नों के थोक व्यापार का सरकारी नियंत्रण (Take-over of wholesale Foodgrains Trade) एक ऐसा उपाय है जिसका स्वागत हम सभी को करना चाहिए; क्योंकि इसकी कीमतों को स्थिर करने में पर्याप्त सफलता की आशा की जा सकती है। किन्तु, खेद की बात है कि सरकार ने इस प्रगतिशील उपाय को कुछ व्यापारियों के दबाव में आकर समाप्त कर दिया। इसी प्रकार, ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों का विस्तार, बैंक-साख का विकेन्द्रीकरण एक ऐसी उचित दिशा में कदम है जिनसे छोटे किसानों, कारीगरों एवं छोटे उद्यमकर्त्ताओं को पूँजी साधन प्राप्त हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त, भू-जोतों की अपेक्षाकृत नीची अधिकृत सीमा, निर्धारित करने का विधान भी एक प्रगतिशील उपाय है जिसके द्वारा स्वामित्व का और अधिक प्रसार किया जायगा। जबकि ये उपाय निश्चित दिशाओं में प्रगति की ओर संकेत करते हैं। ग्रह विचित्र बात है कि उद्योग और व्यापार के स्वामित्व का ढाँचा आयोजकों की दृष्टि से ओझल हो गया। यह अत्यन्त आवश्यक है कि उद्योग तथा व्यापार के क्षेत्रों में भी इसी आधार पर संरचनात्मक परिवर्तन किए जायें ताकि विकास को मन्द करने वाले ऋणात्मक तत्त्वों के प्रभाव को दूर किया जा सके। इस प्रकार संरचनात्मक परिवर्तन के मुख्य क्षेत्र निम्नलिखित होने चाहिए :—  
भा० अ०—9

(क) बड़े-बड़े व्यापारिक एवं एकाधिकारी घरानों (Business and Monopoly Houses) को तोड़ना चाहिए और इनके अधीन की फर्मों या तो सरकारी क्षेत्र के अधीन ले आनी चाहिए या मिश्रित क्षेत्र (Joint Sector) के अधीन। मिश्रित क्षेत्र की योजना इस प्रकार बनानी चाहिए कि गैर-सरकारी एकाधिकारी पूँजी के रोधी एवं क्षतिकारी प्रभावों (inhibitive and deleterious influence) को सीमित किया जा सके। राष्ट्रीय पूँजी द्वारा विदेशी तकनीकों का अन्तर्लेखन हो (Absorption of Foreign Technology) ताकि वह लागत की दृष्टि से स्पर्द्धी बन सके, तीव्र आर्थिक विकास के साथ आत्मनिर्भरता प्राप्त करने का सबसे विश्वसनीय उपाय है। विदेशी पूँजी अपने साथ विदेशी संस्कृति लाती है जिसका कई प्रकार से राष्ट्रीय जीवन पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, इससे मजदूरी और वेतन के प्रेसों ढाँचे का प्रोत्साहन मिलता है जिससे सर्वोत्कृष्ट वर्गों (Elite Classes) को लाभ होता है। इससे प्रदर्शन प्रभाव (Demonstration Effect) भी उत्पन्न होता है जो विनियोग को विलासपूर्ण उपभोग के लिए अपनिर्देशन करता है। एच० के० परान्जये ऐसी नीति का समर्थन करते हुए स्पष्ट रूप में लिखते हैं कि 'विदेशी पूँजी और बड़े घरानों पर विश्वास करके कुछ समय के लिए औद्योगिक प्रगति का भ्रम कायम किया जा सकता है, परन्तु इससे सतत आर्थिक प्रगति की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती जिससे कि आर्थिक असमानताओं में कमी के साथ आत्मनिर्भरता प्राप्त हो सके ..... जब तक विदेशी पूँजी और बड़े व्यापारियों की अर्थ-व्यवस्था पर जकड़ तोड़ी नहीं जाती तब तक सर्वोत्कृष्ट वर्गों के उपभोग को कम करना सम्भव नहीं होगा।' (Relying on foreign capital and larger houses may create an illusion of industrial progress for a while; but it will not meet the basic requirements of sustained economic progress with reduction in inequalities and attainment of self-reliance. Unless the stronghold of foreign Capital and big business on the economic system is broken, it will not be possible to curtail the consumption of the elites.)

(ख) सरकार को वेतन और मजदूरी का एक ऐसा ढाँचा कायम करना चाहिए जो विदेशों में प्रचलित वेतनमान के अनुकूल न हो, बल्कि जो भारतीय संदर्भ के समाज में वर्तमान भारी और अकार्यात्मक आय (Disfunctional Incomes) और उपभोग-स्तर के अन्तर्गों को कम करे। इस प्रकार के राष्ट्रीय मजदूरी



ढाँचे (National Wage Structure) के विकास से श्रम-वर्ग का सहयोग प्राप्त करने में बहुत अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हो सकता है।

(ग) एक महत्वपूर्ण परिवर्तन जिसके चालू करने की आवश्यकता है, अन्तर्वर्ती तकनीक (Intermediate Technology) को अपनाना है। यह एक बड़ी भारी भूल है कि एक श्रम-प्रचुर और पूँजी-न्यून देश एक श्रम-न्यून और पूँजी-प्रचुर देश की तकनीकें बड़े पैमाने पर अपना ले। इसलिए यह आवश्यक है कि और अधिक अनुसन्धान और विकास सम्बन्धी प्रयासों द्वारा उत्पादन के श्रम-प्रधान उपायों की खोज की जाय ताकि आयातित तकनीक का प्रतिस्थापन किया जा सके। इस प्रकार के संरचनात्मक परिवर्तन से ही भारत विदेशी पूँजी के चंगुल से मुक्ति प्राप्त कर सकता है, बड़े एकाधिकारी घरानों की जकड़ को तोड़ सकता है और वास्तविक आर्थिक विकास (जिसमें राज्य अग्र-भाग अदा करे) को सुदृढ़ बना सकता है।

उत्पादन के वर्तमान ढाँचे में मिश्रित पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का अन्तर्विरोध वर्तमान है। अतएव निर्धनता को दूर करने और आय तथा उपभोग-स्तर की असमानताओं को कम करने के उद्देश्य से संरचनात्मक परिवर्तनों को अनिवार्य बना दिया है जिससे कि भारत में एक उचित तरीके का समाजवादी समाज स्थापित किया जा सके। परन्तु कुछ समाजवादी उपायों को पहले आगे बढ़ा लेना और फिर इनमें भी पीछे हट जाना मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्विरोध का ही परिणाम है। पाँचवीं योजना निःसंदेह इस ओर एक प्रयास है किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पिछली चार योजनाओं की तरह जब तक इस योजना के कार्यक्रमों को भी तत्परता के साथ अमल में नहीं लाया जायगा तब तक हम अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल नहीं हो सकते तथा देश समाजवाद की ओर आगे नहीं बढ़ सकता।

#### विशेष अध्ययन-सूची

- |                        |   |                                                                                |
|------------------------|---|--------------------------------------------------------------------------------|
| 1. Planning Commission | : | Towards an Approach to the Fifth Five Year Plan.                               |
| 2. Planning Commission | : | Fifth Five Year Plan Draft (1974-79).                                          |
| 3. H. K. Paranjape     | : | Socialism or State Capitalism in Economic & Political Weekly, Annual No. 1975. |
| 4. Planning Commission | : | Fifth Five Year Plan (1974-79).                                                |
| 5. Planning Commission | : | Draft Five Year Plan. (1978-83).                                               |



## अध्याय : 10

छठी पंचवर्षीय योजना (1978-83)  
(Sixth Five Year Plan : 1978-83)

**प्राक्कथन :—**जनता सरकार ने पाँचवीं योजना को इसकी अवधि से एक वर्ष पूर्व, यानी चार वर्षों (1974-78) में ही समाप्त कर अप्रैल, 1978 से आयोजित विकास के एक नये कार्यक्रम, अनवरत योजना (Rolling Plan) लागू करने की घोषणा की। इस अनवरत योजना के प्रथम चरण के रूप में अप्रैल, 1978 से पाँच वर्षों (1978-83) के लिए छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan) प्रारम्भ की गयी।

**अनवरत योजना का अर्थ (Meaning of Rolling Plan) :—**किन्तु, अनवरत योजना का आशय क्या है? अनवरत योजना एक लम्बे समय की अवधि को ध्यान में रखकर तैयार की जाती है। वास्तव में, नियोजन की प्रक्रिया एक निरंतर चलनेवाली प्रक्रिया है। पहले स्थिर नियोजन प्रणाली के अन्तर्गत पंचवर्षीय योजनाएँ पाँच वर्षों की अवधि को ध्यान में रखकर तैयार की जाती थीं तथा इन योजनाओं की उपलब्धियों तथा विफलताओं के सम्बन्ध में पाँच वर्ष समाप्त होने पर ही विचार किया जाता था। किन्तु, अनवरत योजना एक लम्बे समय (संभवतः 10 से लेकर 25 वर्षों तक के लिए) को ध्यान में रखकर तैयार की जायगी तथा इसके अन्तर्गत विकास-सम्बन्धी लक्ष्यों की समीक्षा प्रतिवर्ष की वास्तविक उपलब्धियों एवं विकास के लिए उपलब्ध संसाधनों के परिप्रेक्ष्य में की जायगी। उदाहरण के लिए, अगले वर्ष यानी 1979-80 के लिए वार्षिक योजना तैयार करते समय 1978-79 में विभिन्न क्षेत्रों में हुई प्रगति का मूल्यांकन किया जायगा। साथ ही, 1979-80 के लिए उपलब्ध साधनों को ध्यान में रखा जायगा। यदि किसी क्षेत्र विशेष में कम प्रगति हुई हो, तो 1982-83 के लक्ष्य

को ध्यान में रखकर उसमें अगले वर्षों के लिए अतिरिक्त प्रयत्न कर जोर दिया जायगा। अतएव अनवरत योजना का मुख्य उद्देश्य यह है कि प्रत्येक वर्ष की उपलब्धियों को ध्यान में रखकर योजना में निरंतर आवश्यक परिवर्तन किये जायेंगे।

इस प्रकार अनवरत योजना स्थिर नियोजन की तरह एक ही बार में पाँच वर्षों के लिए विकास की एक नीति निश्चित कर देने पर जोर नहीं देती, बल्कि इसके बदले देश की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप बदलते हुए दृष्टिकोणों के अनुसार क्रमिक एवं अनवरत विकास की नीति पर जोर देती है।

छठी पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य  
(Objectives of the Sixth Five Year Plan)

भारत में प्रारम्भ से ही आर्थिक नियोजन का प्रधान उद्देश्य देशवासियों की व्यापक निर्धनता, भीषण बेरोजगारी तथा धन एवं आय के वितरण की विषमता को समाप्त करना रहा है। पिछले प्रायः 27 वर्षों के आयोजन की अवधि में कृषि, उद्योग, यातायात तथा समाज सेवाओं के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति हुई है, किन्तु आयोजन के इन लाभों से देश की विशाल जनसंख्या मुख्य रूप से वंचित ही रह गयी है। जीवन की औसत आयु निसंदेह 32 वर्षों से बढ़कर आजकल 52 के लगभग पहुँच गयी है, प्राथमिक विद्यालयों में विद्यार्थियों का प्रतिशत 32 प्रतिशत से बढ़कर 69 प्रतिशत हो गया है, किन्तु देश में अभी भी 20 करोड़ लोग अशिक्षित हैं। बेरोजगारी की समस्या त्रिकराल ही है। वास्तव में, आयोजित प्रयास के अधिकांश लाभ अभी जनसंख्या तक नहीं पहुँच पाया है। दूसरे शब्दों में देश में 27-28



वर्षों के नियोजन से अपेक्षित सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। इसके कई कारण हैं जिनमें निम्नांकित विशेष रूप से उल्लेखनीय जान पड़ते हैं—(i) प्रायः सभी योजनाओं में बचत एवं विनियोग की अत्यधिक लैची दर के परिणामस्वरूप अर्थ-व्यवस्था में विकास की ऊँची दर निर्धारित की गयी थी। किन्तु ये दरें वास्तविक तथ्यों पर आधारित नहीं थीं जिससे अर्थ-व्यवस्था के हरेक क्षेत्र में विकास की प्रत्याशा एवं वास्तविक निष्पत्तियों में बहुत अधिक अन्तर रहने लगा। (ii) द्वितीयतः, विभिन्न योजनाओं की अवधि में कृषि की उपज में उन्चावचन तथा बाह्य घटनाओं के प्रभाव के कारण समायोजन की कोई व्यवस्था नहीं थी। इनके फलस्वरूप तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम पंचवर्षीय योजनाओं में अपेक्षित सफलता नहीं प्राप्त हो सकी।

छठी पंचवर्षीय योजना भी इन्हीं व्यापक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर तैयार की गयी है। इसमें अगले 10 वर्षों में निम्नांकित उद्देश्यों की पूर्ति का उल्लेख किया गया है :

1. देश से बेरोजगारी तथा काफी सीमा तक अर्द्ध-बेरोजगारी को समाप्त करना। (The removal of unemployment & under-employment);
2. निर्धनता के स्तर से भी नीचे जीवन व्यतीत करनेवाले लोगों के जीवन-स्तर में पर्याप्त मात्रा में सुधार (An appreciable rise in the standard of living of the poorest section of the population);
3. निम्न-आय वर्ग के लोगों के लिए राज्य द्वारा आधारभूत न्यूनतम आवश्यकताओं (Basic Minimum needs) की पूर्ति की व्यवस्था करना (Provision by the state of some of the basic needs of the people in these income group) जैसे : स्वच्छ पेय जल,

प्रारम्भिक एवं वयस्क शिक्षा की अधिकाधिक व्यवस्था, स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुविधाओं का विस्तार, ग्रामीण सड़कों में सुधार, भूमिहीनों के लिए गाँवों में आवास तथा शहरों की गंदी वस्तियों (Urban slum) के लिए न्यूनतम सेवाओं (minimum services) की व्यवस्था करना।

छठी योजना के ये आधारभूत उद्देश्य हैं। अगले 10 वर्षों में इन उद्देश्यों को मुख्य रूप से पूरा करने की व्यवस्था की जा रही है। योजना के उपरोक्त प्राथमिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निम्नांकित उद्देश्यों पर जोर दिया गया है :—

4. पिछले वर्षों की तुलना में अर्थ-व्यवस्था के लिए उच्च विकास की दर (higher rate of growth) प्राप्त करना। (To achieve a higher rate of growth of the economy than in the past);
5. धन एवं आय के वितरण की वर्तमान विषमताओं में अधिकाधिक मात्रा में कमी लाना (Significant reduction in the present disparities of income & wealth); तथा
6. आत्म-निर्भरता (Self-reliance) की दिशा में देश को सतत आगे बढ़ाना। (Ensuring the country's continued proper towards self-reliance.)

उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए छठी योजना में निम्नांकित चार क्षेत्रों पर मुख्य रूप से जोर देने की व्यवस्था है :

- (i) कृषि (Agriculture),
- (ii) कुटीर एवं लघु उद्योग (Cottage and Small Scale Industries),
- (iii) समन्वित ग्रामीण विकास के लिए क्षेत्रीय नियोजन (Area Planning for Integrated Rural Development), तथा



## छठी पंचवर्षीय योजना (1978-83)

133

- (iv) आधारभूत न्यूनतम आवश्यकताओं की व्यवस्था (Provision for basic Minimum needs)।

छठी पंचवर्षीय योजना का कुल व्यय  
(Total Outlay of the Sixth Five Year Plan)

छठी पंचवर्षीय योजना के प्रारूप के अनुसार पाँच वर्षों (1978-83) में निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र में कुल 116,240 करोड़ रुपये की विशाल राशि के व्यय का आयोजन है। इसमें से 69,380 करोड़ रुपये सार्वजनिक

क्षेत्र (Public Sector) में तथा शेष 46,860 करोड़ रुपये निजी क्षेत्र में व्यय का आयोजन है। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र में किया जानेवाला व्यय कुल व्यय का प्रायः 60 प्रतिशत भाग है तथा शेष 40 प्रतिशत निजी क्षेत्र में व्यय का आयोजन है।

निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> से सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय की जानेवाली कुल 69,380 करोड़ रुपये का विभिन्न मदों में वितरण स्पष्ट हो जाता है :

(करोड़ रुपये में)

| मदें                         | पाँचवीं योजना<br>(1974-79) का<br>व्यय | कुल व्यय<br>का प्रतिशत | छठी योजना<br>(1978-83) के प्रारूप<br>के अनुसार व्यय | कुल व्यय<br>का प्रतिशत |
|------------------------------|---------------------------------------|------------------------|-----------------------------------------------------|------------------------|
| 1. कृषि एवं तत्सम्बन्धी व्यय | 4,302                                 | 11.0                   | 8,600                                               | 12.4                   |
| 2. सिंचाई एवं बाढ़-नियन्त्रण | 4,226                                 | 10.7                   | 9,650                                               | 13.9                   |
| 3. उद्योग एवं खनिज           | 7,362                                 | 18.7                   | 10,350                                              | 14.9                   |
| 4. शक्ति, विज्ञान एवं तकनीक  | 10,219                                | 26.2                   | 20,800                                              | 30.0                   |
| 5. यातायात एवं संवहन         | 6,917                                 | 17.6                   | 10,625                                              | 15.3                   |
| 6. सामाजिक सेवाएँ            | 6,224                                 | 15.8                   | 9,355                                               | 13.5                   |
| कुल व्यय                     | 39,322                                | 100.0                  | 69,380                                              | 100.0                  |

उपरोक्त तालिका को देखने से स्पष्ट है कि पाँचवीं योजना की तरह छठी योजना में भी कृषि एवं सिंचाई को उच्च प्राथमिकता प्राप्त है, तथा उद्योग एवं खनिज को अपेक्षाकृत कम महत्त्व दिया गया है। किन्तु शक्ति, विज्ञान एवं तकनीक को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसी प्रकार यातायात एवं संवहन तथा समाज सेवाओं को अपेक्षाकृत कम महत्त्व दिया गया है।

कृषि एवं ग्रामीण विकास को अधिक महत्त्व (Greater Emphasis on Agriculture and Rural Develop-

## 1. Draft Five Year Plan (1978-83).

ment) :—छठी पंचवर्षीय योजना की एक प्रधान विशेषता कृषि एवं ग्रामीण उद्योग को अधिक महत्त्व है। योजना की अवधि में लघु एवं सीमांत कृषकों तथा भूमिहीन मजदूरों विशेषतः हरिजन एवं आदिवासियों की स्थिति में सुधार पर अधिक ध्यान दिया जायगा। कृषि की उपजों को बढ़ाने में सिंचित क्षेत्र के विस्तार पर अधिक जोर दिया जायगा। साथ ही, फसलों के अंतर्गत के कुल क्षेत्र में वृद्धि पर अधिक जोर दिया जायगा। इसके साथ ही अच्छे बीज, उत्तम खाद, साख एवं विपणन की उचित व्यवस्था तथा भूमि-सुधार के कार्यक्रमों



को भी छठी योजना में अत्यधिक महत्व प्रदान किया गया है। योजनाकाल में दलहन तथा तिलहन की खेती के विस्तार पर अधिक जोर दिया जायगा।

कृषि-पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि पर भी छठी योजना में विशेष रूप से जोर देने की व्यवस्था है। खाद्यान्नों के उत्पादन को 1977-78 में 1210 लाख टन से बढ़ाकर 1982-83 में 1405 से 1445 लाख टन के बीच करने का

आयोजन है। इसी प्रकार गन्ने के उत्पादन को 1570 लाख टन से बढ़ाकर 1880 लाख टन तथा कपास के उत्पादन को 64 लाख गाँठ से बढ़ाकर 81 लाख गाँठ करने का आयोजन है।

निम्नांकित तालिका से छठी पंचवर्षीय योजना में ग्रामीण विकास के विभिन्न कार्यक्रमों पर सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय का अन्दाजा लगता है—

ग्रामीण विकास पर सार्वजनिक क्षेत्र में प्रस्तावित व्यय

(करोड़ रुपये में)

| क्षेत्र                                 | पाँचवीं योजना में व्यय<br>(1974-79) | छठी योजना में व्यय<br>(1978-83) |
|-----------------------------------------|-------------------------------------|---------------------------------|
| 1. कृषि एवं तरसम्बन्धी कार्यक्रम        | 4644                                | 9525                            |
| 2. सिंचाई एवं बाढ़-नियन्त्रण            | 3434                                | 7925                            |
| 3. खाद एवं कीटनाशक औषधियाँ              | 1555                                | 1688                            |
| 4. ग्रामीण क्षेत्रों के लिए बिजली       | 1676                                | 3557                            |
| 5. ग्रामीण सड़कें                       | 500                                 | 800                             |
| 6. ग्रामीण जल-आपूर्ति                   | 432                                 | 765                             |
| 7. ग्रामीण स्वास्थ्य एवं परिवार नियोजन  | 729                                 | 1482                            |
| 8. पहाड़ी एवं आदिवासी क्षेत्र           | 450                                 | 800                             |
| 9. ग्रामीण शिक्षा                       | 846                                 | 1400                            |
| 10. परम्परागत कुटीर एवं ग्रामीण उद्योग  | 330                                 | 1000                            |
| 11. ग्रामीण आवास                        | 55                                  | 500                             |
| 12. अन्य कार्यक्रम                      | 100                                 | 483                             |
| कुल                                     | 14,751                              | 29,925                          |
| सार्वजनिक क्षेत्र में योजना का कुल व्यय | 39,322                              | 69,380                          |
| ग्रामीण व्यय कुल व्यय के प्रतिशत में    | 37.5                                | 43.1                            |

समन्वित ग्रामीण विकास (Integrated Rural Development) :—छठी योजना में कृषि के विकास-सम्बन्धी कार्यक्रमों को कुटीर एवं ग्रामीण उद्योगों के विकास की योजना के साथ समन्वित कर एक व्यापक एवं

समन्वित योजना तैयार की जायगी। इसके लिए प्रखंड स्तर पर व्यापक कार्यक्रम तैयार कर इन्हें राज्य-स्तर के कार्यक्रमों के साथ समन्वित करने का प्रयास किया जायगा। देश में अभी कुल लगभग 5100 प्रखंड हैं। इनमें से प्रायः



3000 प्रखंड S F D A, D P A P तथा C A D जैसे किसी-न-किसी विशेष कार्यक्रम से सम्बन्धित हैं। शेष में से दो हजार को एक निर्धारित प्राथमिकता के आधार पर समन्वित विकास कार्यक्रम तथा ऐसे ग्रामीण विकास के कार्यक्रम जिनका उद्देश्य पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करना है, के लिये चुने जाने का आयोजन है। इनके अतिरिक्त योजना की अवधि में प्रत्येक वर्ष 300 और प्रखंड चुने जायेंगे। और इस प्रकार जो 1600 प्रखंड शेष बच जायेंगे उन्हें अगली पंचवर्षीय योजना में इस कार्य के लिए चुना जायगा।

**सिंचाई एवं बाढ़-नियंत्रण (Irrigation and Flood Control) :—**छठी योजना के कृषि-सम्बन्धी लक्ष्यों को पूरा करने में सिंचाई के क्षेत्र में विस्तार पर अधिक जोर दिया गया है। योजना काल में 170 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि के लिए सिंचाई की क्षमता के सृजन का आयोजन है। (पाँचवीं योजना के चार वर्षों में 86 लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई की क्षमता का सृजन हुआ था।) इसमें 90 लाख हेक्टर भूमि में लघु सिंचाई तथा 80 लाख हेक्टर में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं से पूरा करने का आयोजन है। इसी प्रकार बाढ़-नियंत्रण पर भी पर्याप्त मात्रा में जोर दिया जा रहा है। छठी योजना में सिंचाई एवं बाढ़-नियंत्रण पर व्यय निर्भनांकित तालिका से स्पष्ट हो जाता है :—

सिंचाई एवं बाढ़-नियंत्रण पर व्यय (करोड़ रु० में)

| मदें                      | पंचम योजना<br>(1974-79) | छठी योजना<br>(1978-83) |
|---------------------------|-------------------------|------------------------|
| 1. मध्यम एवं वृहत् सिंचाई | 3,089                   | 7,250                  |
| 2. लघु सिंचाई             | 792                     | 1,725                  |
| 3. बाढ़-नियंत्रण          | 345                     | 675                    |
|                           | —                       | —                      |
| कुल                       | 4,226                   | 9,650                  |
|                           | —                       | —                      |

इस प्रकार स्पष्ट है कि छठी योजना में सिंचाई

एवं बाढ़-नियंत्रण पर 9,650 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है जो पाँचवीं योजना के दुगुने से भी अधिक है।

**विजली (Energy) :—**इसी प्रकार छठी पंचवर्षीय योजना में बिजली के विकास पर भी पर्याप्त मात्रा में जोर दिया जा रहा है। योजना काल में पाँच वर्षों में 18,500 मेगावाट विद्युत् उत्पादन क्षमता के सृजन का आयोजन है जिससे योजना के अन्त में देश में कुल मिलाकर 44,500 मेगावाट विद्युत् उत्पन्न करने की क्षमता हो जाय। कुल 18,500 मेगावाट में से 13000 मेगावाट थर्मल, 4550 मेगावाट जल-विद्युत् तथा 925 मेगावाट अणु-शक्ति के द्वारा उत्पन्न करने का आयोजन है।

विद्युत् के विकास पर छठी योजना में पाँच वर्षों में 15,750 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। (पाँचवीं योजना में इस मद में 7,016 करोड़ रुपये व्यय हुआ था।) योजना काल में ग्रामीण क्षेत्रों के विद्युतीकरण पर और अधिक जोर देने की व्यवस्था है। इस अवधि में एक लाख अतिरिक्त गाँवों को विद्युत् प्रदान करने का आयोजन है। इस प्रकार छठी योजना में विद्युत् के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है।

**पेट्रोलियम :—**पेट्रोलियम निष्कासन तथा परिष्करण के कार्य पर भी अधिक जोर देने की व्यवस्था है। योजना काल में इस मद में पाँच वर्षों में 2550 करोड़ रुपये तथा कोयला उद्योग के विकास पर 1850 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। इसके फलस्वरूप पेट्रोल की उत्पादन-क्षमता के बढ़कर 1982-83 तक 125 लाख टन प्रति वर्ष हो जाने का अनुमान है। किन्तु इसके बाद भी भारत पेट्रोल के सम्बन्ध में आत्म-निर्भर नहीं हो पायगा।

छठी पंचवर्षीय योजना में उद्योग  
(Industries in the Sixth Five Year Plan)

छठी पंचवर्षीय योजना में उद्योग-धन्धों के विकास पर भी पर्याप्त जोर दिया गया है। योजना में उद्योग-धन्धों के विकास का उद्देश्य देश में अधिकाधिक रोजगार की व्यवस्था करना, निर्धनता का निवारण एवं आधारभूत



न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति को सम्भव बनाना है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ग्रामीण एवं लघु उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में अधिकाधिक विनियोग की व्यवस्था है। बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धे, जिनमें पूँजी एवं नियोजन का अनुपात बहुत ही कम है, छठी योजना में अपेक्षाकृत कम महत्त्व दिया गया है। छठी योजना में उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में निम्नांकित विधि (Industrial strategy) अपनाने पर जोर दिया गया है—

- (क) वर्तमान क्षमता का पूर्ण उपयोग;
- (ख) ऐसे तकनीक को अपनाना जिसमें पूँजी-निपज का अनुपात निम्न है (To employ technologies which have a low Capital-output Ratio);
- (ग) कोकिंग कोयले तथा इसी प्रकार के अन्य खनिज, जिनकी पूर्ति हमारे यहाँ कम है, का संरक्षण;
- (घ) विदेशी विनिमय कोष का सदुपयोग,
- (च) निजी कम्पनी क्षेत्र में आर्थिक शक्तियों के संकेन्द्रण को रोकना, तथा
- (छ) उत्पादन-व्यय में कटौती करना।

उपरोक्त बातों को ध्यान में रखकर छठी पंचवर्षीय योजना में उद्योग-धन्धों के विकास-सम्बन्धी लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं।

ग्रामीण एवं लघु उद्योग (Village & Small Industries):—देश में रोजगार के साधनों को बढ़ाने के उद्देश्य से ग्रामीण एवं कुटीर उद्योग-धन्धों के विकास को उच्च प्राथमिकता दी गयी है। इन उद्योगों को विकास के लिए प्रायः सभी सुविधाएँ प्रदान की जायेंगी। समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (Integrated Rural Development Programme) के अन्तर्गत इन उद्योगों के विकास को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। प्रत्येक जिले में एक जिला उद्योग केन्द्र (District Industries Centre) स्थापित किया गया है जहाँ पर उद्योग-धन्धों के विकास से सम्बन्धित सभी सुविधाएँ एक स्थान में प्रदान करने की व्यवस्था है।

ग्रामीण एवं लघु उद्योग के विकास की मद में छठी योजना में 1410 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है जबकि पाँचवीं योजना में इस मद में 388 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। इस प्रकार छठी योजना में इस मद में तीन गुनी रकम के व्यय का आयोजन है।

बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धों के विकास पर छठी योजना में 8940 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है जबकि पाँचवीं योजना में इस मद में 6852 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। छठी योजना की अवधि में इस्पात उद्योग के विकास पर 2491 करोड़ रु०, खाद एवं उर्वरक पर 1649 करोड़ रुपये, भारी इंजीनियरिंग पर 597 करोड़ रुपये तथा पेट्रो-रसायन पर 481 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। खनिज-पदार्थों के अन्तर्गत लोहा की मद में 528 करोड़ रुपये तथा कोयला पर 1850 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है। बड़े पैमाने के उद्योगों पर व्यय की जानेवाली कुल रकम में से 5600 करोड़ रुपये पूर्व से चली आनेवाली योजनाओं पर तथा 3340 करोड़ रुपये नयी योजनाओं पर व्यय किया जायगा।

#### छठी योजना में यातायात एवं संवादवाहन (Transport and Communication under the Sixth Plan)

छठी पंचवर्षीय योजना में रोजगार तथा ग्रामीण विकास पर अधिक जोर होने के कारण यातायात-सम्बन्धी नीति का प्रधान उद्देश्य कृषि-पदार्थों तथा आदानों के आवागमन की सुविधा प्रदान करना, ग्रामीण क्षेत्रों में सड़कों का विकास तथा सड़क यातायात-सम्बन्धी सेवाओं को सुदृढ़ बनाना है। किन्तु इसके साथ-ही-साथ यातायात व्यवस्था को विकासशील अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने पर भी जोर दिया गया है। योजना-काल में यातायात के विभिन्न साधनों के विकास की गति को निर्धारित करने में इनकी वर्तमान क्षमता का पूर्ण उपयोग, माल तथा यात्रियों (Goods and Passenger traffic) की मात्रा में संभावित वृद्धि तथा बड़े-बड़े नगरों में औद्योगिक एवं व्यावसायिक क्रियाओं में अभिवृद्धि पर पूरा-पूरा जोर दिया गया है।

छठी योजना में यातायात एवं संवादवाहन के विकास की मद में 10,625 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है जबकि पाँचवीं योजना में इस मद में 6917 करोड़ रुपये व्यय का



व्यवस्था थी। छठी योजना में रेलवे के विकास पर 3350 करोड़ रुपये तथा सड़कों के विकास पर 2183 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है। इसी प्रकार संवादवाहन के विकास पर 2095 करोड़ रुपये, नागरिक उड्डयन पर 700 करोड़ रुपये तथा जहाजरानी पर 637 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है।

### छठी योजना में सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था (Social Services and the Sixth Five Year Plan)

सामाजिक सेवाओं के अन्तर्गत छठी पंचवर्षीय योजना में निरक्षता-निवारण, प्राथमिक शिक्षा के विस्तार तथा शिक्षा को रोजगार-मूलक बनाने पर अधिक जोर देने की व्यवस्था है। योजनाकाल में वयस्क शिक्षा कार्यक्रम पर अधिक जोर दिया जायगा। इस कार्यक्रम के अंतर्गत 15 से 35 वर्ष की आयु वाले लोगों को शिक्षित बनाने पर अधिक जोर दिया जायगा। इनकी संख्या योजना के प्रारंभ में 10 करोड़ करोड़ थी जिनमें से योजना के अंत में प्रायः 6.5 करोड़ लोगों को शिक्षित बनाने का आयोजन है।

इसी प्रकार योजना के अंत तक प्राथमिक शिक्षा के अन्तर्गत 6 से 14 वर्ष के बच्चों में से 90 प्रतिशत को लाना है जबकि योजना के प्रारंभ में इनका प्रतिशत केवल 69 ही था।

स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुविधाओं के विस्तार पर भी पर्याप्त मात्रा में जोर देने की व्यवस्था है। इस सम्बन्ध में हरेक 1000 जनसंख्या पर एक स्वास्थ्य कर्मचारी (Community Health Worker) एवं एक प्रशिक्षित दाई प्रदान करने का आयोजन है। योजना काल में 38000 उप-स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किये जायेंगे। इस संबंध में अंतिम उद्देश्य 1988 तक प्रति 5000 ग्रामीण जनसंख्या पर एक उप-स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित करना है। परिवार कल्याण (Family welfare) पर भी योजनाकाल में अधिक जोर देने की व्यवस्था है। छठी योजना में समाज-सेवा की मद में पाँच वर्षों में 9,355 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है जब कि पाँचवीं योजना में इस मद में 6224 करोड़ रु० व्यय का आयोजन था।

### छठी योजना के लिए वित्तीय साधन (Financial Resources for the Sixth Plan)

छठी योजना में सरकारी क्षेत्र में व्यय की जानेवाली कुल 69,380 करोड़ रुपये की रकम को विभिन्न मदों से निम्नांकित प्रकार से प्राप्त करने का आयोजन है :—

### छठी योजना के वित्तीय साधन (करोड़ रुपये में 1977-78 के मूल्य-तल पर)

| साधन                                                                        | रकम    |
|-----------------------------------------------------------------------------|--------|
| 1. 1977-78 के करों की दर पर केन्द्र एवं राज्य सरकारों के राजस्व खाते से बचत | 12,889 |
| 2. 1977-78 के किराये एवं भाडों की दरों पर सरकारी प्रतिष्ठानों का अंशदान     | 10,296 |
| 3. अतिरिक्त संसाधनों को जुटाना                                              | 13,000 |
| 4. सरकार द्वारा बाजारों से लिया गया ऋण                                      | 15,986 |
| 5. लघु बचत                                                                  | 3,150  |



| साधन                                      | रकम    |
|-------------------------------------------|--------|
| 6. राज्य भविष्य निधि                      | 2,953  |
| 7. वित्तीय संस्थाओं से शुद्ध सावधि ऋण     | 1,296  |
| 8. विविध पूँजीगत प्राप्तियाँ              | 450    |
| 9. विदेशी सहायता                          | 5,954  |
| 10. विदेशी मुद्रा जमा में से प्रयोग       | 1,180  |
| योग                                       | 67,154 |
| 11. अपूरित अन्तर (घाटे की वित्त-व्यवस्था) | 2,226  |
| कुल योग                                   | 69,380 |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि छठी योजना में विभिन्न साधनों से 67,154 करोड़ रुपये प्राप्त करने का आयोजन है। फिर भी, 2,226 करोड़ रुपये का अपूरित अन्तर (un-covered gap) रह जाता है जिसे घाटे की अर्थ-व्यवस्था (deficit financing) के द्वारा पूरा किया जा सकता है। छठी योजना की एक प्रधान विशेषता इसमें विदेशी सहायता पर कम निर्भरता है। इस योजना-अवधि में विदेशी सहायता की कुल राशि 5,954 करोड़ रुपये है जो कुल व्यय का केवल 8.5 प्रतिशत भाग है। इसके पूर्व की योजनाओं में घाटे की वित्त-व्यवस्था पर पूरा-पूरा जोर दिया जाता था।

अब इन विभिन्न साधनों का निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :

प्रचलित आय से बचत (Balance From Current Revenue) :—1977-78 में प्रचलित करों की दरों पर पाँच वर्ष (1978-83) में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को 83,976 करोड़ रुपये की आय प्राप्त होने की आशा है। इसके अतिरिक्त ब्याज तथा अकर आगम (non-tax revenue) के रूप में 18,374 करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा है।

इस प्रकार प्राप्त कुल 1,02,350 करोड़ रुपये की रकम में से 89,461 करोड़ रुपये गैर-योजना सम्बन्धी व्यय (non-plan expenditure) निकालने के बाद विकास कार्यों के लिए शेष 12,889 करोड़ रुपये की रकम बच जाती है।

राजकीय उपक्रमों से प्राप्त रकम (Contribution of Public Enterprises) :—वर्तमान मूल्य-नीति के आधार पर राजकीय उपक्रमों से पाँच वर्षों में 10,296 करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा है। इसका विस्तृत विवरण निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है—

| राजकीय उपक्रमों की बचत<br>(1977-78 के मूल्य-तल पर करोड़ रुपये में) |         |       |       |
|--------------------------------------------------------------------|---------|-------|-------|
| उपक्रम                                                             | केन्द्र | राज्य | कुल   |
| 1. रेलवे                                                           | 1,231   | ...   | 1,231 |
| 2. डाक एवं तार                                                     | 1,765   | ...   | 1,765 |
| 3. राज्य विद्युत् बोर्ड                                            | ...     | 2,018 | 2,018 |



## छठी पंचवर्षीय योजना (1978-83)

139

|                      |       |       |        |
|----------------------|-------|-------|--------|
| 4. सड़क यातायात निगम | ...   | 372   | 372    |
| 5. अन्य              | 4,885 | 25    | 4,910  |
| कुल                  | 7,881 | 2,415 | 10,296 |

अतिरिक्त साधन प्राप्त करना (Additional Resource Mobilisation) :—पाँचवीं योजना की अवधि में केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों तथा राजकीय उपक्रमों ने अतिरिक्त रकम प्राप्त करने के लिए बहुत अधिक प्रयास किया जिसके फलस्वरूप पाँच वर्षों 1974-79 में इस मद में 13,407 करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा है। छठी योजना की अवधि में केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों तथा इनके उपक्रमों के द्वारा पाँच वर्षों में 13,000 करोड़ रुपये अतिरिक्त रकम प्राप्त करने का आयोजन है। इसमें केन्द्रीय सरकार तथा इसके उपक्रमों का हिस्सा 9,000 करोड़ रुपये तथा राज्य सरकारों तथा इनके उपक्रमों द्वारा 4000 करोड़ रुपये की रकम प्राप्त होने की आशा है। इस उद्देश्य से छठी योजना काल में वस्तु कर (Commodity Taxation) पर अधिक जोर दिया जायगा। प्रत्यक्ष करों के क्षेत्र में मुख्य उद्देश्य कर-वंचना (tax avoidance and evasion) को रोकना है। इसी प्रकार योजना काल में खाद्यान्न तथा उर्वरक आदि के क्षेत्र में आर्थिक सहायता को घटाने पर भी पूरा जोर दिया जायगा। साथ ही, राजकीय उपक्रमों की मूल्य-सम्बन्धी नीति में भी इस प्रकार से संशोधन किया जायगा जिससे कि ये अतिरिक्त साधन जुटाने में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान कर सकें।

करों के द्वारा अतिरिक्त साधन जुटाने के सम्बन्ध में प्रधान उद्देश्य करों से प्राप्त आय तथा कुल राष्ट्रीय आय के अनुपात को 1977-78 में 18:4 प्रतिशत से बढ़ाकर 1982-83 में 23 प्रतिशत करने का आयोजन है।

बाजार से ऋण (Market Borrowings) :—छठी

योजना काल में केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों, इनके उपक्रमों तथा स्थानीय संस्थाओं द्वारा पाँच वर्षों में बाजार ऋण के रूप में 15,986 करोड़ रुपये प्राप्त करने का आयोजन है। दूसरे शब्दों में, छठी योजना की अवधि में वार्षिक 3200 करोड़ रुपये बाजार ऋण प्राप्त करने की व्यवस्था है जबकि पाँचवीं योजना में इनसे वार्षिक प्रायः 1600 करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई थी।

इसी प्रकार लघु बचत (Small Savings) के रूप में पाँच वर्षों में 3150 करोड़ रुपये की रकम प्राप्त करने का आयोजन है। इतनी अधिक रकम प्राप्त करने के लिए लघु बचत पर अधिक जोर देने की आवश्यकता है।

बाह्य सहायता (External Assistance) :—छठी योजनाकाल में बाह्य सहायता के रूप में 5,954 करोड़ रुपये की शुद्ध रकम प्राप्त करने का आयोजन है। 1978-83 के बीच पाँच वर्षों में 7134 करोड़ रुपये विदेशी साधन प्राप्त होने का अनुमान है। इसमें से 1180 करोड़ रुपये विदेशी विनिमय कोष (Foreign Exchange Reserve) से प्राप्त किया जायगा तथा शेष 5954 करोड़ रुपये की शुद्ध रकम प्राप्त करने का आयोजन है।

अपूरित अन्तर (Uncovered gap) :—इन सबके पश्चात् भी 2226 करोड़ रुपये का अपूरित अन्तर रह जाता है। यह रकम या तो उपरोक्त मदों में वृद्धि के द्वारा या घाटे की वित्त-व्यवस्था के द्वारा प्राप्त की जायगी। (This gap will have to be covered either by real resources becoming available at levels higher than assumed or by deficit.)

छठी पंचवर्षीय योजना के लक्ष्य  
(Targets of the Sixth Five Year Plan).

छठी पंचवर्षीय योजना अनवरत योजना की पहली कड़ी के रूप में अपनायी गयी है। इसमें विकास के अग्र-कित लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं :—



**विकास की दर (Growth rate) :**—छठी पंचवर्षीय योजना में, 4.7 प्रतिशत वार्षिक विकास की दर प्राप्त करने का आयोजन है (पाँचवीं योजना में विकास की दर के 3.77 प्रतिशत वार्षिक होने की आशा है।) साथ ही, यह

आशा की जाती है कि इस योजना के अन्त तक अर्थ-व्यवस्था में 5.5 प्रतिशत वार्षिक विकास दर प्राप्त करने की क्षमता का सृजन हो जायगा।

योजनाकाल में विभिन्न क्षेत्रों के लिए वार्षिक विकास की दरें निम्न प्रकार से निश्चित की गयी हैं :

| क्षेत्र            | वार्षिक विकास दर (प्रतिशत में) |
|--------------------|--------------------------------|
| 1. कृषि            | 3.98                           |
| 2. खनिज एवं उद्योग | 6.92                           |
| 3. विद्युत्        | 10.80                          |
| 4. निर्माण         | 10.55                          |
| 5. परिवहन          | 6.24                           |
| 6. सेवाएँ          | 6.01                           |

छठी योजना के प्रारूप के अनुसार प्रति-व्यक्ति उपभोग के स्तर में 1978-83 की अवधि में 2.21 प्रतिशत तथा

1983-88 की अवधि में 3.18 प्रतिशत की दर से वृद्धि होगी। इसी प्रकार राष्ट्रीय बचत की दर 1977-78 में 19.8 प्रतिशत से बढ़कर योजना के अन्त यानी 1982-83 में 23.4 प्रतिशत हो जायगी।

**कृषि एवं ग्रामीण विकास (Agriculture and Rural Development) :** छठी योजना में कृषि एवं ग्रामीण विकास को उच्च प्राथमिकता प्राप्त है। योजना-काल में छोटे, सीमांत किसानों एवं भूमिहीन श्रमिकों की स्थिति में सुधार के लिए विशेष प्रयत्न किये जायेंगे। कृषि एवं ग्रामीण विकास पर छठी योजना में सम्मिलित रूप से 30,000 करोड़ रुपये जो कुल व्यय का प्रायः 43 प्रतिशत भाग है, के व्यय का आयोजन है। योजना का प्रधान उद्देश्य 10 वर्षों में भूमि-सुधार के कार्य को पूरा करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। साथ ही, कृषि के उत्पादन में वृद्धि के लिए सिंचाई के क्षेत्र में वृद्धि, कृषि-साख की उपलब्धि, उत्तम बीज तथा खाद का प्रयोग आदि पर पूरा-पूरा जोर देने का आयोजन है।

छठी योजना में कुछ प्रमुख कृषि-पदार्थों के उत्पादन-लक्ष्य की निम्नलिखित तालिका में दिखलाया गया है :

| फसलें                     | 1977-78 में उत्पादन | 1982-83 में उत्पादन-लक्ष्य |
|---------------------------|---------------------|----------------------------|
| 1. खाद्यान्न (लाख टन में) | 1210.0              | 1405 से 1445               |
| 2. गन्ना (लाख टन में)     | 1569.0              | 1880                       |
| 3. कपास (लाख गाँठ में)    | 64.0                | 81.50 से 92.50             |
| 4. तेलहन (लाख टन में)     | 92.0                | 112.00 से 115.00           |

इस प्रकार छठी योजना के अन्त तक खाद्यान्नों का उत्पादन 1210 लाख टन से बढ़कर 1405 लाख से 1445 लाख टन, गन्ने का उत्पादन 1569 लाख टन से बढ़कर 1880 लाख टन, कपास का उत्पादन 64.0 लाख गाँठ से

बढ़कर 81.50 लाख गाँठ तथा तेलहन का उत्पादन 92 लाख टन से 112 बढ़कर 115 लाख टन हो जाने की आशा की जाती है।



**सिंचाई (Irrigation)** : छठी योजना में सिंचाई की सुविधाओं के विस्तार पर भी विशेष ध्यान दिया गया है। योजनाकाल में सिंचाई एवं बाढ़-नियन्त्रण पर 9650 करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन है जो कुल व्यय का प्रायः 14 प्रतिशत भाग है। पाँचवीं योजना के चार वर्षों में 86 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्रदान की गयी। छठी योजना के अन्त अक 170 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि की सिंचाई के योग्य बनाने का लक्ष्य रखा गया है जिसमें बृहत् एवं मध्यम सिंचाई-योजनाओं द्वारा 80 लाख हेक्टर तथा लघु सिंचाई योजनाओं द्वारा 90 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्रदान करने का आयोजन है।

**शक्ति (Power)** : छठी योजना के पाँच वर्षों में 18500 मेगावाट अतिरिक्त विद्युत्-उत्पादन की क्षमता के निर्माण का लक्ष्य रखा गया है। इसमें ताप-विद्युत् का योगदान 13,000 मेगावाट, जल-विद्युत् का योगदान

4550 मेगावाट तथा अणु-शक्ति का योगदान 925 मेगावाट होगा। इससे योजना के अन्त तक देश में विद्युत्-उत्पादन का कुल संस्थापित क्षमता के बढ़कर 44,500 मेगावाट हो जाने की आशा है।

योजनाकाल में ग्रामीण विद्युतीकरण (Rural electrification) पर अतिरिक्त जोर दिया जायगा। योजना के पाँच वर्षों में 1 लाख गाँवों को बिजली प्रदान की जायगी।

**उद्योग (Industry)** : छठी योजना में उद्योग एवं खनिज पर 10,350 करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन है। यह योजना कुल व्यय का 15 प्रतिशत भाग है। इसमें से 8940 करोड़ रुपये बृहत् एवं मध्यम उद्योगों (Large and medium Industries) तथा शेष ग्रामीण एवं लघु उद्योगों (Village and Small Industries) पर खर्च किये जायेंगे।

छठी योजना में कुछ महत्त्वपूर्ण उद्योगों के उत्पादन का लक्ष्य निम्नलिखित तालिका<sup>1</sup> में दिखलाया गया है :

| उद्योग                                 | 1977-78 में<br>उत्पादन | 1982-83 में<br>उत्पादन-लक्ष्य |
|----------------------------------------|------------------------|-------------------------------|
| 1. इस्पात (Mild steel) (लाख टन में)    | 77.3                   | 118.0                         |
| 2. कोयला (लाख टन में)                  | 103.2                  | 1490.0                        |
| 3. कच्चा पेट्रोलियम (लाख टन में)       | 107.7                  | 180.0                         |
| 4. वस्त्र मिल-क्षेत्र (करोड़ मीटर में) | 420.0                  | 460.0                         |
| विकेन्द्रित क्षेत्र (,, ,, ,,)         | 540.0                  | 760.0                         |
| 5. नवजन खाद (हजार टन में)              | 2060.0                 | 4100.0                        |

1. Draft Five Year Plan (1978-83).



| उद्योग                            | 1977-78 में<br>उत्पादन | 1982-83 में<br>उत्पादन-लक्ष्य |
|-----------------------------------|------------------------|-------------------------------|
| 6. फास्फेट खाद (हजार टन में)      | 660.0                  | 1125.0                        |
| 7. कागज एवं दफती (हजार टन में)    | 900.0                  | 1250.0                        |
| 8. सीमेंट (लाख टन में)            | 192.0                  | 290 से 300.0                  |
|                                   |                        | 30.0                          |
| 9. अल्युमिनियम (हजार टन में)      | 180.0                  | 300.0                         |
| 10. व्यापारिक गाड़ियाँ (हजार में) | 40.0                   | 65.0                          |

ग्रामीण एवं लघु उद्योग (Village and Small Industries): लेकिन छठी पंचवर्षीय योजना में रोजगार के अधिक अवसरों के सृजन के लिए ग्रामीण एवं लघु उद्योग को बहुत ही उच्च प्राथमिकता प्रदान की गयी है। पाँचवीं योजना में ग्रामीण एवं लघु उद्योगों पर 388 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था, जिसे बढ़ाकर छठी योजना में 1410 करोड़ रुपये किया जा रहा है।

सामाजिक सेवाएँ (Social Services) : छठी योजना में सामाजिक सेवाओं पर 9355 करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे जो कुल व्यय का 13.5 प्रतिशत भाग है। सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में निरक्षरता-निवारण, प्रारंभिक शिक्षा का विस्तार, रोजगार-प्रधान शिक्षा, नये अस्पतालों की स्थापना, वर्तमान अस्पतालों में विस्तरों की संख्या में वृद्धि, समाज कल्याण, पिछड़ी जातियों एवं हरिजनों के कल्याण आदि पर विशेष जोर देने की व्यवस्था है।

रोजगार (Employment) : छठी योजना में बेरोजगारी की समस्या के समाधान को उच्च प्राथमिकता

प्रदान की गयी है। इसके लिए योजना काल में रोजगार के अवसरों में अधिकाधिक वृद्धि करने का आयोजन है। योजना के 5 वर्षों में 490 लाख रोजगार के अवसर जुटाने का तथा 10 वर्षों में बेरोजगारी की समस्या के पूर्ण समाधान का लक्ष्य रखा गया है।

योजना के प्रारूप में रोजगार के सम्बन्ध में निम्नांकित कार्यक्रमों को अपनाने पर जोर देने की व्यवस्था है :

(क) रोजगार प्रधान क्षेत्रीय योजना (Employment intensive sectoral planning) अपनायी जायगी।

(ख) रोजगार के स्तर को बढ़ाने तथा उसके विस्तार के लिए तकनीकी प्रगति को अधिक व्यापक बनाना।

(ग) पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए क्षेत्रीय नियोजन को प्रोत्साहित करना।



साथ ही, योजना काल में रोजगार के अवसरों में विस्तार के लिए आधारभूत एवं सामाजिक सेवाओं जैसे : सड़क-निर्माण, विद्युतीकरण, जल-आपूर्ति, ग्रामीण स्कूल एवं सामुदायिक स्वास्थ्य सेवाओं के विस्तार पर जोर देने की व्यवस्था है। साथ ही, निर्धन लोगों के उपयोग में आनेवाली वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि का भी आयोजन है।

न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम (Minimum Needs Programme) : छठी योजना के प्रारूप में न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम की मद में 4180 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है जबकि पाँचवीं योजना में इस मद में केवल 100 करोड़ रुपये व्यय किया जाने को था। इस योजना में मूल आवश्यकताओं की सूची में सम्मिलित पूर्वगामी मदों—पेय जल की आपूर्ति, बेघर वाले लोगों को वास-स्थान की भूमि प्रदान करना, निर्धन ग्रामीण बच्चों के लिए प्राथमिक शिक्षा, ग्रामीण स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार, ग्रामीण विद्युतीकरण का विस्तार, गन्दी बस्तियों के पर्यावरण का सुधार, अल्पपोषितों के लिए पोषिक आहार की व्यवस्था के साथ-साथ वयस्क शिक्षा (Adult education) को भी सम्मिलित किया गया है।

इस प्रकार छठी पंचवर्षीय योजना के लक्ष्य निश्चय ही अत्यंत आकर्षक जान पड़ते हैं तथा इनके सफल संपादन के बाद देश की आर्थिक स्थिति में निश्चित रूप से सुधार की आशा की जाती है।

### छठी योजना की आलोचनात्मक समीक्षा (A Critical Appraisal of the Sixth Plan)

छठी पंचवर्षीय योजना का अभी प्रारूप ही हमारे समक्ष आया है। योजना अंतिम रूप से अभी तैयार नहीं की गयी है। फिर भी, इसकी कई आलोचनाएँ दी जाती हैं जिनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :

(1) योजना के अधिकांश लक्ष्य अवास्तविक तथा अव्यावहारिक प्रतीत होते हैं : छठी योजना के अधिकांश लक्ष्य देखने में अत्यन्त आकर्षक लगते हैं, किन्तु इनकी व्यावहारिकता पर अर्थशास्त्रियों ने आशंका व्यक्त की है। उदाहरण के लिए, छठी योजना के पाँच वर्षों में 5 करोड़ व्यक्तियों के लिए रोजगार के साधनों की व्यवस्था करना तथा 10 वर्षों में बेरोजगारी की समस्या का पूर्ण रूप से समाधान करना असंभव-सा प्रतीत होता है। भारत में प्रारंभ से ही आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत बेरोजगारी की समस्या के समाधान पर जोर दिया जाता रहा है, किन्तु बेरोजगारों की संख्या में दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती ही जा रही है। प्रत्येक योजना की समाप्ति के बाद बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या पहले की अपेक्षा अधिक ही हो जाती है। इस प्रकार की बात कुछ अन्य लक्ष्यों के साथ भी कही जा सकती है।

(2) घाटे की वित्त-व्यवस्था की संभावना (Possibility of Deficit Financing) : छठी योजना में अन्य योजनाओं की तरह घाटे की वित्त व्यवस्था की स्पष्ट रूप से चर्चा नहीं की गयी है। इसमें बचत की दर में इतनी अधिक वृद्धि की आशा की गयी है कि इसके घाटे की कोई संभावना नहीं रह जाती है। फिर भी, इसमें 2,226 करोड़ रुपये की रकम अपूरित घाटे (uncovered gap) के रूप में दिखलाई गयी है। अन्य उपायों के अभाव में इस रकम को भी अंततः घाटे की वित्त-व्यवस्था के द्वारा ही पूरा करने के लिए विवश होना पड़ेगा।

(3) निजी क्षेत्र की अवहेलना (Neglect of private sector) : कुछ आलोचकों के अनुसार छठी योजना के विशाल लक्ष्यों की पूर्ति ने निजी क्षेत्र के उद्योगों को कोई महत्त्व नहीं दिया है। किन्तु हम औद्योगिक विकास की किसी भी योजना में निजी क्षेत्र के महत्त्व को बिल्कुल अस्वीकार नहीं कर सकते। अतः इस क्षेत्र से भी विशाल निर्माण के कार्य में



संज्ञेदार की तरह सहायता लेने के लिए कुछ प्रावधान योजना को प्रभावपूर्ण तरीके एवं तत्परता के साथ लागू किया जाय तो इससे देश के आर्थिक ढाँचे में चाहिए था।

इस प्रकार छठी पंचवर्षीय योजना के विरुद्ध बहुत आमूल परिवर्तन की आशा की जा सकती है। सारी आलोचनाएँ दी जाती हैं। किन्तु, यदि छठी

#### विशेष अध्ययन-सूची

1. Planning Commission : Draft Five Year Plan (1978-83).
  2. Planning Commission : Fifth Five Year Plan.
-



## अध्याय : 12

## सार्वजनिक क्षेत्र एवं आर्थिक विकास

## (Public Sector &amp; Economic Development)

**सार्वजनिक क्षेत्रों की कार्यभूमिका (Role of the Public Sector) :**—आजकल विश्व के लगभग सभी देशों में सार्वजनिक क्षेत्र एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। समाजवादी देशों में तो निजी क्षेत्र का कोई अस्तित्व ही नहीं होता तथा सार्वजनिक क्षेत्र ही सम्पूर्ण साधनों का स्वामी होता है। पूँजीवादी देशों में भी जहाँ उत्पादन-साधन के अधिकांश भाग पर निजी क्षेत्र का नियंत्रण होता है, वर्तमान समय में सार्वजनिक क्षेत्र महत्वपूर्ण बनते जा रहा है। अल्पविकसित देशों के विकास के संदर्भ में तो सार्वजनिक क्षेत्र का महत्व और भी बढ़ गया है। इन देशों में सार्वजनिक क्षेत्र के महत्व के निम्नांकित प्रधान कारण हैं :—

(i) विकास का नवीन मार्ग (A new way to Growth) :—सामान्य तौर पर सभी देश दो मार्ग पर चलकर ही विकास तक पहुँच सके हैं। एक के अन्तर्गत उपभोक्ता वस्तु-उद्योग अगुआ रहे हैं और पूँजी का संचय बाद में हुआ है, जैसा कि ब्रिटेन। द्वितीय तरीके के अन्तर्गत पूँजीगत वस्तु-उद्योग पहले विकसित हुए हैं और उपभोक्ता वस्तु-उद्योग बाद में जैसा कि सोवियत रूस। इनमें से प्रथम मार्ग मन्द गति वाला है, अतएव आज के अल्पविकसित देशों के लिए यह उपयुक्त नहीं है क्योंकि 18 वीं तथा 19 वीं शताब्दी में ब्रिटेन की तरह इन देशों के पास विस्तृत बाजार नहीं है और न यहाँ उपभोक्ता वस्तु-उद्योगों के लिए आन्तरिक बाजार ही पर्याप्त हैं। ऐसी स्थिति में दूसरा मार्ग ही निस्सन्देह ऐसा है जिसके अनुसार वर्तमान काल में उपभोक्ता वस्तुओं की उपलब्धि तो कम होती है, लेकिन पूँजी-संचय की प्रक्रिया यदि क्रान्तिक सीमा को एक बार पार कर लेती है, तो फिर सभी प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन में तेजी से वृद्धि होने लगती है। किन्तु यह दूसरा मार्ग ऐसा है जिसमें निजी उद्योगपतियों की कोई अभिरुचि नहीं होती। कारण स्पष्ट है। इन उद्योगों के लिए विशाल परिमाण में पूँजी चाहिए, पूरा होने के लिए लम्बा समय चाहिए और लाभ देना आरम्भ होने में इससे भी लम्बा समय लगता है। अतएव इन उद्योगों की स्थापना का कार्य स्वयं सरकार को ही करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, विकास का नया मार्ग केवल सरकारी अभिकरण द्वारा ही प्रस्तुत किया जा सकता है। इससे सार्वजनिक क्षेत्र की धारणा अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गयी है।

भा० अ० — 10

(ii) आधारभूत संरचना की व्यवस्था (Infrastructure Development) :—अल्प-विकसित देशों के तीव्र गति से औद्योगीकरण के लिए और निजी क्षेत्र द्वारा उद्योगों की स्थापना तथा संचालन करने के लिए देश में आधारीक संरचना-सम्बन्धी सुविधाओं की पर्याप्त मात्रा में व्यवस्था भी आवश्यक है। विकसित देशों में सड़कें, रेलवे, बन्दरगाह, विजली तथा जल-प्रणाली आदि सुविधाएँ सभी उद्यमियों के लिए पहले से ही मौजूद होती हैं। किन्तु अल्पविकसित देशों के साथ यह बात लागू नहीं होती। अब ये उद्योग भी ऐसे होते हैं जिनकी व्यवस्था निजी क्षेत्र के बस की बात नहीं। कारण यह है कि इनकी व्यवस्था के लिए बहुत अधिक मात्रा में पूँजी की व्यवस्था करनी होती है, इनका उद्देश्य लाभ प्राप्त करना नहीं होता, अतएव इनकी व्यवस्था सरकार द्वारा ही करनी होती है। अधिकांश विकसित देशों में भी आधारीक संरचना-सम्बन्धी अधिकांश सुविधाएँ सरकार द्वारा ही उपलब्ध कराई जाती हैं। इन सुविधाओं के यथोचित विकास के लिए यह जरूरी है कि इन उद्योगों का आयोजन राष्ट्रीय या प्रादेशिक स्तर पर किया जाय और साथ ही यह भी कि आरम्भिक क्षमता अत्यधिक विशाल हो जिससे कि भविष्य में बढ़ने वाली माँग को सुगमता से पूरा किया जा सके।

(iii) संसाधनों की व्यवस्था :—पूँजीगत वस्तु-उद्योगों की स्थापना तथा आधारित संरचना-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करने के लिए बहुत बड़े परिमाण में साधनों की जरूरत होती है। ये साधन निजी क्षेत्र के बाहर होते हैं। इन उद्यमियों के पास पर्याप्त पूँजी का अभाव होता है और अल्पविकसित देशों में पूँजी-बाजार भी इतना संगठित नहीं होता कि जनता द्वारा की गई बचतों का संग्रह किया जा सके। अतएव केवल सरकार ही इसके लिए पर्याप्त साधन जमा कर सकती है। जनता से ऋण लेने तथा करों के द्वारा अनिवार्य बचत के साथ-साथ सरकार एक सीमा तक घाटे की वित्त-व्यवस्था का सहारा भी ले सकती है। घरेलू साधनों के अलावा यह बाहर से संसाधनों को प्राप्त भी कर सकती है। अतएव सरकार ही इन कार्यों के लिए आवश्यक मात्रा में वित्त या अन्य संसाधन प्राप्त कर सकती है। अतः, विभिन्न प्रकार की वित्तीय संस्थाओं की स्थापना सरकारी क्षेत्र में करना आवश्यक हो जाता है।



(iv) अर्थ-व्यवस्था का नियन्त्रण—इतना ही नहीं, अल्प-विकसित देशों में अर्थ-व्यवस्था को विकास के नवीन पथ पर अग्रसर कराने के लिए और विकास के लिए आवश्यक संसाधन जुटाने के निमित्त, यह अति आवश्यक हो जाता है कि अर्थ-व्यवस्था पर सरकार का प्रभावशाली नियन्त्रण हो। मौद्रिक तथा राजकोषीय उपायों एवं लाइसेन्स-प्रणाली के द्वारा भी बाजार का विनिमयन किया जा सकता है। लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं है। अधिकांश उद्योगों और लगभग सभी मूल उद्योगों का स्वामित्व ही एक-मात्र साधन है जिससे सरकार अर्थ-व्यवस्था पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर सकती है। यदि सरकार उत्पादन के अधिकांश साधनों और अनिवार्य उपभोक्ता वस्तु-उद्योगों का स्वामित्व अपने हाथ में ले ले, तो वह अर्थ-व्यवस्था की प्रक्रिया को अनेक रूपों में प्रभावित कर सकती है। उदाहरण के लिए, अपने महत्वपूर्ण उत्पादनों जैसे कि इस्पात, सीमेंट, बिजली इत्यादि की कीमतों का निर्धारण करके समस्त अर्थ-व्यवस्था के लागत-आकलनों को प्रभावित किया जा सकता है। साथ ही, सरकारी क्षेत्र निजी क्षेत्र के साथ बड़ी मात्रा में वस्तुओं तथा सेवाओं का क्रय-विक्रय करके उनका अपेक्षित दिशा में वितरण कर सकता है। इस प्रकार यह एक प्रधान उपाय है जिसके द्वारा सरकार अर्थ-व्यवस्था पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रख सकती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं में सरकारी क्षेत्र को एक व्यापक और महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी पड़ती है। यही कारण है कि अधिकांश अर्द्ध-विकसित देशों में सरकारी क्षेत्र का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ते जा रहा है।

### भारत में सार्वजनिक क्षेत्र का विकास

(The Evolution of Public Sector in India)

1947 में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व देश में 'सार्वजनिक क्षेत्र' नामक कोई चीज वास्तव में बिल्कुल ही नहीं थी। उस समय के उल्लेखनीय सार्वजनिक उपक्रमों में डाक-तार, पोर्ट ट्रस्ट, युद्ध सामग्री के कारखाने, कुछ रेलें तथा नमक एवं कुर्न बनाने के कारखाने ही थे; किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश के तीव्र गति से औद्योगीकरण के लिए सरकार ने स्वयं बड़े पैमाने पर उद्योग-धंधों की स्थापना का कार्य प्रारम्भ किया। 1948 ई० की औद्योगिक नीति में देश के उद्योग-धंधों को चार क्षेत्र में विभाजित किया तथा प्रथम क्षेत्र के अन्तर्गत 6 प्रमुख उद्योगों के भविष्य में विकास को सार्वजनिक क्षेत्र पर पूरा छोड़ दिया गया। आगे चलकर 1956 में भारत सरकार ने अपनी दूसरी औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसमें उद्योग-धंधों को नये सिरे से तीन वर्गों में विभाजित किया गया। इसमें से

प्रथम श्रेणी के 17 उद्योगों के विकास के लिए राजकीय क्षेत्र को उत्तरदायी ठहराया गया। दूसरे शब्दों में, 1956 की औद्योगिक नीति के अंतर्गत सार्वजनिक क्षेत्र का अत्यधिक विस्तार किया गया। इससे देश में सार्वजनिक क्षेत्र का अत्यधिक विस्तार हुआ तथा आजकल देश में विनिर्माण उद्यमों (Manufacturing), खनन उद्योग, विद्युत् का उत्पादन तथा वितरण, परिवहन, बैंकिंग, वित्त, बीमा आदि सभी क्षेत्रों में सार्वजनिक उपक्रम या संस्थाएँ पायी जाती हैं।

31 मार्च, 1977 को देश में केन्द्रीय सरकार के 144 उपक्रम थे जिनमें कुल 11097 करोड़ रुपये की पूँजी का विनियोग हुआ था। इन्में से 132 उपक्रमों में वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन हो रहा था तथा शेष अभी निर्माणाधीन थे। इनके अतिरिक्त विभिन्न राज्य सरकारों के अधीन भी कई राजकीय उपक्रम थे जो विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन का कार्य कर रहे थे। केन्द्रीय सरकार के उपक्रमों में विनियोग की गयी कुल पूँजी का प्रायः 24 प्रतिशत भाग इस्पात उद्योग में तथा एक-तिहाई भाग खनिज, पेट्रोलियम एवं अन्य भारी उद्योगों में लगा था। कुल विनियोग का प्रायः 83.4 प्रतिशत भाग निर्माण उद्योग तथा केवल 16.6 प्रतिशत भाग सेवा-सम्बन्धी उद्योग में लगा था।

देश में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय से लेकर अब तक सार्वजनिक उपक्रमों के विकास का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :—

### केन्द्रीय सरकार के उपक्रमों की संख्या तथा विनियोग में वृद्धि<sup>1</sup>

| इकाइयों की संख्या                | कुल विनियोग (करोड़ रुपये) |
|----------------------------------|---------------------------|
| प्रथम योजना के प्रारम्भ के समय   | 5 29                      |
| द्वितीय योजना के प्रारम्भ के समय | 21 81                     |
| तृतीय योजना के प्रारम्भ के समय   | 48 953                    |
| मार्च 31, 1966 को                | 74 2,415                  |
| मार्च 31, 1969 को                | 85 3,902                  |
| मार्च 31, 1971 को                | 97 4,682                  |
| मार्च 31, 1972 को                | 101 5,052                 |
| मार्च 31, 1973 को                | 113 5,571                 |
| मार्च 31, 1974 को                | 122 6,237                 |
| मार्च 31, 1975 को                | 129 7,261                 |
| मार्च 31, 1977 को                | 144 11,097                |

किन्तु ये आँकड़े, केन्द्र सरकार के अविभागीय उद्यमों (Non-departmental undertakings) तक ही सीमित हैं, यानी इनमें केन्द्र सरकार के विभागीय उद्यम जैसे रेलवे और राजकीय सरकारों के विकासात्मक उपक्रम,

2. Statistical Outline of India, 1978. भारत में सार्वजनिक उपक्रमों के सम्बन्ध में सविस्तार विवरण उद्योग-धंधे खंड के अन्तर्गत एक पृथक् अध्याय में किया गया है।



तार विभाग और भारत सरकार के अन्य विभागीय उद्यम शामिल नहीं हैं। उदाहरणार्थ इनमें रेलवे एवं डाक और तार जिनमें 1971-72 में 4,000 करोड़ रुपये का विनियोग हो चुका था, शामिल नहीं हैं। इसके अतिरिक्त, राज्य सरकारों द्वारा अपने उपक्रमों में 3,885 करोड़ रुपये का विनियोग किया गया है। राष्ट्रीयकृत बैंकों को भी इनमें शामिल नहीं किया गया है। इस प्रकार केन्द्र सरकार के 144 अविभागीय उपक्रमों की शुद्ध परिसम्पत्ति मार्च 1977 के अन्त तक 11,097 करोड़ रुपये थी।

केन्द्र सरकार के अविभागीय औद्योगिक एवं वाणिज्यिक उपक्रमों को सामान्यतः निम्नांकित 4 वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—(i) निर्माण की अवस्था में (Under construction), (ii) चालू फर्म (Running Concerns), (iii) प्रोन्नत एवं विकासोन्मुख फर्म (Promotional and Developmental Firms); तथा (iv) वित्तीय संस्थान (Financial Institutions)।

### भारतीय अर्थ-व्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र का कार्यभाग

(Role of the Public Sector in the Indian Economy)

वर्तमान समय में सार्वजनिक क्षेत्र देश की अर्थ-व्यवस्था में बड़ी ही महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। देश की राष्ट्रीय आय में सरकारी उपक्रमों के योगदान में

निरन्तर वृद्धि हो रही है। 1950-51 में देश की शुद्ध राष्ट्रीय आय में सरकारी उद्योगों का भाग 2.8 प्रतिशत था जो बढ़कर 1960-61 में 4.0 प्रतिशत तथा 1968-69 में 6.7 प्रतिशत हो गया। इससे स्पष्ट है कि देश की राष्ट्रीय आय में सरकारी उद्योगों के भाग में निरन्तर वृद्धि हो रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गैर-सरकारी क्षेत्र की तुलना में सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों का योगदान कम है, फिर भी इनके भाग में निरन्तर वृद्धि हो रही है। भारतीय अर्थ-व्यवस्था के कुछ क्षेत्र—जैसे कृषि तथा लघु उद्योग में सरकारी क्षेत्र का अनुपात लगभग शून्य है, किन्तु कुछ क्षेत्र जैसे नागरिक उड्डयन, बीमा, प्रतिरक्षा-उत्पादन में सरकारी क्षेत्र ही शत-प्रतिशत है। वर्तमान समय में भारत सरकार की नीति राष्ट्रीय तथा सामरिक-महत्त्व के उद्योगों को धीरे-धीरे सरकारी स्वामित्व के अन्तर्गत लाने की है।

वास्तव में, भारतीय अर्थ-व्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र कई प्रकार से महत्वपूर्ण कार्य करता है जो निम्नांकित विवरण से स्पष्ट हैं :—

1. पूँजी-निर्माण में राजकीय क्षेत्र का योगदान (Role of Public Sector in Capital formation) :—सरकारी क्षेत्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान पूँजी-निर्माण के क्षेत्र में है। इस क्षेत्र में इसका बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है जो निम्नांकित तालिका से विल्कुल स्पष्ट हो जाता है :—

### भारत में कुल पूँजी-निर्माण ( करोड़ रुपये )

| अवधि की औसत        | सरकारी क्षेत्र | गैर-सरकारी क्षेत्र | कुल पूँजी निर्माण | सकल पूँजी-निर्माण में प्रतिशत भाग |                    |
|--------------------|----------------|--------------------|-------------------|-----------------------------------|--------------------|
|                    |                |                    |                   | सरकारी क्षेत्र                    | गैर-सरकारी क्षेत्र |
| 1952-53 से 1955-56 | 394            | 567                | 861               | 41.0                              | 59.0               |
| 1956-57 से 1960-61 | 848            | 809                | 1657              | 51.2                              | 48.8               |
| 1961-62 से 1965-66 | 8233           | 9117               | 17350             | 47.5                              | 52.5               |
| 1966-67 से 1968-69 | 6447           | 8835               | 15282             | 42.2                              | 57.8               |
| 1969-70 से 1971-72 | 4744           | 7261               | 1205              | 39.3                              | 60.5               |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि पहली योजना के दौरान सरकारी क्षेत्र के कुल पूँजी-निर्माण (Gross Capital Formation) में भाग 41 प्रतिशत था, परन्तु दूसरी योजना में सरकारी क्षेत्र का भाग बढ़कर 51.2 प्रतिशत भाग हो गया। पुनः तीसरी योजना के दौरान (अर्थात् 1961-62 से 1965-66 में) सरकारी क्षेत्र का भाग कम होकर पुनः 47.5 प्रतिशत हो गया। वार्षिक योजनाओं (1966-67 से 1968-69) की अवधि में यह घटकर 42.2 प्रतिशत तथा 1969-70 एवं 1970-71 में सरकारी क्षेत्र का कुल पूँजी-निर्माण में भाग और भी कम होकर 39.5 प्रतिशत रह गया। किन्तु इसके बावजूद यह

स्पष्ट है कि सरकारी क्षेत्र का पूँजी-निर्माण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भाग है।

2. सरकारी क्षेत्र के बिक्री की मात्रा (Volume of Sales of the Public Sector) :—सरकारी उद्यमों (Public Enterprises) की बिक्री की मात्रा उनके द्वारा अर्थ-व्यवस्था में वस्तुओं एवं सेवाओं के प्रवाह के रूप में योगदान का प्रधान सूचक है। 1969-70 और 1972-73 के बीच, केन्द्रीय सरकार के अविभागीय (Non-departmental) उद्यमों की बिक्री की मात्रा 134 करोड़ रुपये से बढ़कर लगभग 5262 करोड़ रुपये हो गई, अर्थात् इसमें लगभग 40 गुना वृद्धि हुई। इस प्रकार औसत वार्षिक



वृद्धि 300 प्रतिशत हुई जो गैर-सरकारी क्षेत्र की कंपनियों की बिक्री की वृद्धि-दर से लगभग दस गुनी अधिक है। अतः इससे भारत में सरकारी क्षेत्र के गत्यात्मक विस्तार का अनुमान लगता है।

3. सरकारी क्षेत्र द्वारा आधारित संरचना का विकास (Infrastructure Development by the Public Sector):—भारत-जैसे विकासशील अर्थ-व्यवस्था का औद्योगीकरण अधः संरचना या सामाजिक ऊपरि-पूँजी (Social Overheads) जैसे परिवहन, संचार, संचालन-शक्ति, आदि मूल तथा आधारभूत उद्योगों के विकास पर निर्भर करता है। जब तक सामाजिक ऊपरि-पूँजी की स्थापना नहीं की जायगी, अन्य उद्योगों का तेजी से विकास सम्भव नहीं है। परन्तु मूल एवं पूँजीगत-वस्तु उद्योगों के विकास और अधः संरचना की स्थापना के लिए भारी परिमाण में प्राप्ति की दर कम होती है और साथ ही परिपाक अवधि (Gestation Period) लम्बी होती है। अतः ये उद्योग गैर-सरकारी क्षेत्र के लिए आकर्षक नहीं बन सकते। परिणामतः इनका विकास सरकार द्वारा ही करना पड़ता है। गैर-सरकारी क्षेत्र ने भी इन उद्योगों के विकास के लिए सरकारी विनियोग का स्वागत किया है क्योंकि इससे इन्हें भी अप्रत्यक्षतः लाभ होता है।

वस्तुतः वर्तमान समय में सरकारी उद्योगों की मूल प्रेरणा का कारण अधः संरचना की स्थापना ही है और इस कार्य में ये बहुत हद तक सफल भी हुए हैं।

4. भारत में सुदृढ़ औद्योगिक आधार की स्थापना के लिए (Securing Strong Industrial base in India):—सरकारी उद्यमों के विरुद्ध बहुत-सी आलोचनाओं के बावजूद इस बात में सन्देह नहीं कि 1951-76 के काल में हुए द्रुत गति से औद्योगीकरण का श्रेय मुख्यतः सरकारी क्षेत्र को ही है। सरकार की औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्तावों में कुछ उद्योग—जैसे अणु-शक्ति, अस्त्र-शस्त्र एवं विस्फोटक, वायुयान आदि राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में सरकार के लिए रिजर्व कर दिये गये हैं। इसी प्रकार सरकार ने आधारभूत उद्योगों अर्थात् कोयला, लोहा एवं इस्पात, वायुयान, पोत-निर्माण आदि के विकास की भी जिम्मेवारी ली। शेष उद्योगों को गैर-सरकारी क्षेत्र के लिए छोड़ दिया गया है। परन्तु चार योजनाओं के अनुभव से स्पष्टतः जाहिर होता है कि गैर-सरकारी क्षेत्र में कुछ अन्तर्निहित कठिनाइयाँ हैं और यह तीव्र औद्योगिक विकास के लिए उचित नहीं है। साथ ही, योजना आयोग ने यह भी अनुभव किया है कि विभिन्न प्रकार के उद्योगों का विकास भारतीय अर्थ-व्यवस्था को स्वयंस्फूर्ति बनाने के लिए भी आवश्यक है। इसी कारण तो सरकार को मूल एवं सामरिक उद्योगों, पूँजीगत उद्योगों और कुछ प्रमुख उपभोक्ता उद्योगों के लिए एक व्यापक कार्यक्रम तैयार करना पड़ा।

5. कुल राष्ट्रीय उत्पादन में महत्वपूर्ण योगदान :— देश के कुल उत्पादन में राजकीय क्षेत्र के योगदान में भी निरन्तर वृद्धि हो रही है। 1970-71 से 1976-77 के बीच प्रायः 7 वर्षों में राजकीय क्षेत्र का उत्पादन 5029 करोड़ रुपये से बढ़कर 12,222 करोड़ रुपये यानी दुगुने से भी अधिक हो गया। पिछले कुछ वर्षों में राष्ट्रीय आय में सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा भी निरन्तर बढ़ रहा है। 1950-51 में राष्ट्रीय आय में राजकीय क्षेत्र का हिस्सा 2.8 प्रतिशत था जो बढ़कर 1960-61 में 4 प्रतिशत तथा 1972-73 में 8.5 प्रतिशत हो गया।

6. निर्यात-प्रोत्साहन (Export Promotion):— कुछ प्रमुख सरकारी उपक्रमों ने भारत के निर्यात को प्रोत्साहित करने में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उदाहरण के लिए, राजकीय व्यापार निगम और खनिज एवं धातु व्यापार निगम (Minerals and Metals Trading Corporation) ने विश्व के सभी भागों में निर्यात-प्रोत्साहन का सहायनीय कार्य किया है। हमारे निर्यात में कच्ची धातुओं को द्वितीय स्थान दिलाने का कारण इन्हीं संस्थाओं द्वारा मार्गदर्शक प्रयास हैं। इन व्यापारिक संस्थाओं के माध्यम से 1972-73 में 301 करोड़ रुपये के सामान का निर्यात किया गया था। भारतीय हस्तशिल्प की वस्तुओं, हल्की इंजीनियरिंग वस्तुओं और निर्यात की कई मर्दों को बढ़ाने में भी काफी सफलता प्राप्त हुई है। हिन्दुस्तान स्टील लि०, भारत इलेक्ट्रोनिक्स लि०, हिन्दुस्तान मशीन टूल लि०, कुछ ऐसे सरकारी उद्यम हैं जो अपने उत्पादन का अधिकाधिक भाग निर्यात कर विदेशी मुद्रा अर्जित करते हैं।

1972-73 में सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों के कुल निर्यात का मूल्य 74 करोड़ रुपये था।

निर्यात के अतिरिक्त अन्य उपायों से सरकारी उद्यमों द्वारा विदेशी मुद्रा-प्राप्ति की राशि, जो 1965-66 में 35 करोड़ रुपये थी, बढ़कर 1972-73 में 125 करोड़ रुपये हो गयी। इसमें सन्देह नहीं कि निर्यात-प्रोत्साहन और विदेशी मुद्रा-प्राप्ति के क्षेत्र में और भी अधिक सफलता प्राप्त की जा सकती थी, किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि हाल ही के वर्षों में सरकारी उद्यमों का निर्यात-निष्पादन (Export Performance) बढ़ा ही सहायनीय रहा है।

7. आयात-प्रतिस्थापन (Import Substitution) एवं विदेशी मुद्रा की बचत (Foreign Exchange Saving):—सरकारी क्षेत्र में कुछ विशेष उपक्रमों के चालू करने का खास उद्देश्य यह था कि कुछ आयात की जाने वाली वस्तुओं का देश में ही उत्पादन किया जाय जिससे कि विदेशी मुद्रा की बचत हो सके। उदाहरणार्थ, हिन्दुस्तान एण्टीबायोटिक्स लि० एवं इंडियन ड्रग्स और फार्मेस्यूटिकल्स लि० के औषध-निर्माण क्षेत्र में प्रवेश के



कारण बहुत-सी विदेशी फर्मों का एकाधिकारी शिकंजा समाप्त हो गया और साथ ही, विदेशी मुद्रा की वचत हुई है। इसी प्रकार तेल और प्राकृतिक गैस आयोग, इण्डियन ऑयल कॉर्पोरेशन कुछ ऐसे सरकारी उपक्रम हैं जो देश की आत्म-निर्भरता बढ़ाने में प्रत्यक्ष रूप से प्रयास करते हैं और हमारी विदेशी आयात पर निर्भरता को भी कम करते हैं।

7. श्रमिकों तथा उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा :— कामगारों के हितों का बचाव करने और उपभोक्ताओं का शोषण रोकने के निमित्त भी भारत सरकार ने अनेक उद्योगों को अपने हाथ में ले लिया है। उदाहरण के लिए, कुछ अव्यवस्थित कारखानों को सरकार द्वारा अपने अधिकार में ले लिया गया है जिससे कि उनको व्यवस्थित किया जा सके और ऐसे अव्यवस्थित कारखानों के बन्द होने के फलस्वरूप सम्भावित बेरोजगारी को रोका जा सके। इसी प्रकार चौदह बड़े-बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण भी इस उद्देश्य से किया गया है कि उद्योगपतियों को एकाधिकारी शक्तियों के हथियाने और उन व्यापारियों को समाज-विरोधी कार्यों से रोका जा सके, जो कि बैंक से धन लेकर अनिवार्य वस्तुओं की जमाखोरी करते हैं। इसी तरह असंख्य पॉलिसी धारकों के हितों की रक्षा के लिए बीमा कम्पनियों का भी राष्ट्रीयकरण किया गया है।

भारत में एक बड़ी कमजोरी यह है कि निजी क्षेत्र में औद्योगिक उद्यमियों की संख्या कम है, लेकिन व्यापारियों और महाजनों की संख्या अधिक है। इन उद्यमियों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे बैंकों और बीमारिशियों को औद्योगिक विकास के कार्य में प्रयोग करेंगे। इसलिए सरकार द्वारा इनके राष्ट्रीयकरण से इन इकाइयों का पुनर्स्थापन हुआ है और औद्योगिक विकास को तीव्र गति प्रदान करने में सहायता मिली है। यद्यपि इनके राष्ट्रीयकरण का तात्कालिक कारण कामगारों एवं उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करना था, किन्तु बड़ी मात्रा में रोजगार-अवसरों का सृजन सार्वजनिक क्षेत्र का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू है। इस क्षेत्र के केवल गैर-विभागीय औद्योगिक प्रतिष्ठानों में 31 मार्च, 1976 को 1505 हजार लोगों को रोजगार मिला था तथा इन लोगों को मजदूरी और वेतन के रूप में 1352 करोड़ रुपये से अधिक धन-राशि दी गई थी। इस प्रकार सार्वजनिक प्रतिष्ठान में एक व्यक्ति की औसत वार्षिक कमाई 6,500 रुपये के लगभग है।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था में सरकारी क्षेत्र के कार्य-सम्पादन के उपरोक्त विवेचन से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह है कि परिणाम की दृष्टि से सरकारी क्षेत्र ने अभी अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण प्रगति हासिल की

है, किन्तु गुणात्मक दृष्टि से यह भारतीय अर्थ-व्यवस्था के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन गया है। द्वितीयतः, इसकी संवर्द्धि-दर इतनी तेज रही है कि आगामी कुछ ही वर्षों में यह निश्चय ही, परिमाणात्मक दृष्टि से भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लेगा।

### सार्वजनिक उपक्रमों की प्रधान समस्याएँ

( Main Problems of Public Enterprises )

इस प्रकार स्पष्ट है कि पिछले कुछ वर्षों में सार्वजनिक क्षेत्र ने निरसन्देह बहुत बड़ी प्रगति की है तथा इस क्षेत्र ने राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में काफी बड़ा योगदान किया है। किन्तु इसके साथ ही, यह भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि सार्वजनिक क्षेत्र अनेक कठिन समस्याओं से घिरा हुआ है। ये समस्याएँ इसकी प्रगति को और इसकी सुगम कार्यप्रणाली को अवरोध कर रही हैं। और इन्हीं बुराइयों के कारण अनेक लोगों द्वारा इसकी कटु आलोचना की जा रही है। संक्षेप में, भारत में सार्वजनिक उपक्रमों की निम्नांकित प्रधान समस्याएँ हैं :—

नियन्त्रण और स्वायत्तता ( Control and Autonomy ) :— सरकारी क्षेत्र के प्रतिष्ठानों को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या इन प्रतिष्ठानों को स्वायत्तता देने और सरकारी अधिकारियों द्वारा इनका नियन्त्रण करने की आवश्यकता के बीच किस प्रकार एक स्वस्थ संतुलन स्थापित किया जा सकता है। ये प्रतिष्ठान अपनी समस्त पूँजी सरकार से प्राप्त करते हैं, जो कर दाताओं का धन होता है। अतः इन उद्यमों के स्वामी के रूप में जनता का यह कानूनी तथा सांविधानिक अधिकार है कि वह उन पर संसद के माध्यम से नियन्त्रण रखे। किन्तु दूसरी ओर यह भी जरूरी है कि इन प्रतिष्ठानों को अपने दिन-प्रति-दिन कार्य-संचालन में स्वतन्त्रता दी जाय जिससे कि ये प्रभावशाली और लाभप्रद रूप से कार्य कर सकें। अब इन दोनों का कितना-कितना अंश हो, इसका निर्णय करना वास्तव में बड़ा ही कठिन है। सरकारी प्रतिष्ठानों के सरकारी नियन्त्रण में उन कारखानों का उत्तरदायित्व भी शामिल है।<sup>1</sup> इसका आशय यह है कि इस उद्यम का अपने कार्य के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। इसके लिए तीन मूलभूत उद्देश्य हैं जो पूरे होने चाहिए :—(i) सरकार, संसद तथा जनता को इस बात से संतुष्ट करना कि सरकारी उद्यमों का संचालन कुशलता से और लाभप्रद ढंग से हो रहा है; (ii) उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करना; और (iii) यह सुनिश्चित करना कि श्रमिक सम्बन्ध तथा कामिक प्रबन्धन पर्याप्त रूप से ठीक चल रहे हैं तथा जिससे हड़तालें तथा तालेबन्दियाँ न हो रही हैं। नियन्त्रण का आशय यह है



कि संसद को सरकारी प्रतिष्ठानों के कार्य पर विचार करने के बाद यह वैधानिक अधिकार होना चाहिए कि वह प्रतिष्ठान की नीतियों और कार्य-संचालन में आवश्यक परिवर्तन करने के लिए आदेश जारी कर सके। उत्तरदायित्व और नियन्त्रण, इन दोनों का क्षेत्र किसी उद्यम के निम्नांकित सात कार्यों-उत्पादन, वितरण, विकास, लेखा तथा वित्त, कानूनी तथा सविवालीय, कार्मिक और औद्योगिक सम्बन्ध विषयक सामान्य नीतियों तथा सिद्धान्तों की रचना करने तथा उनको कार्यान्वित करने तक सीमित होता है।

दूसरी ओर किसी उपक्रम के लिए स्वतन्त्रता (Autonomy) का आशय है उस उपक्रम के दिन-प्रति-दिन के कार्यसंचालन के प्रबन्ध में स्वतन्त्रता। उदाहरण के लिए, उत्पादन साधनों को किराये पर लेने, अच्छे मालों को खरीदने, उत्पादन-साधनों का संगठन तथा प्रबन्ध, निर्मित माल को बेचने आदि जैसे कार्यों में स्वतन्त्रता। उनको अपने प्रबन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। किन्तु, यह स्वतन्त्रता वस्तुतः सीमित होती है और इसका प्रयोग संसद द्वारा निर्धारित सामान्य नीतियों तथा सिद्धान्तों के अंदर रहकर ही किया जाना चाहिए।

नियन्त्रण एवं स्वायत्तता के दूसरे उद्देश्य को पूरा करने के सम्बन्ध में पिछले कुछ समय तक स्थिति संदिग्ध रही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि उपक्रमों के कार्य-संचालन की कुशलता में सदैव रुकावटें बनी रहीं। अब तक होता यह रहा है कि प्रश्नों, नोटिसों और इन उपक्रमों के विवरण का अध्ययन करके संसद इनके विषय में जानकारी प्राप्त कर लेती थी; और मंत्रालय भी इन गैर-विभागीय उद्यमों को ऐसा समझता था कि मानों वे विभागीय उद्यम ही हों। किन्तु मई 1964 से लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee) तथा लोक प्रावकलन समिति (Public Estimates Committee) की तरह ही सरकारी उद्यमों के लिए एक प्रकार की संसदीय समिति की स्थापना से इस स्थिति में पर्याप्त मात्रा में सुधार हुआ है। इस समिति के पास ऐसे अधिकार हैं जिनसे कि वह किसी भी सरकारी उद्यम की स्वायत्तता तथा कुशलता की दृष्टि से यह जाँच-पड़ताल कर सकती है कि क्या उसके कार्यकलापों का संचालन और प्रबन्धन ठोस व्यावसायिक सिद्धान्तों तथा बुद्धिमत्तापूर्ण व्यावसायिक प्रथाओं के अनुसार किया जा रहा है अथवा नहीं। अब इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस संस्थागत व्यवस्था के साथ-साथ निम्नांकित तीन कार्य करना आवश्यक है— एक तो यह कि इन क्षेत्रों की स्पष्ट व्याख्या की जानी चाहिए जहाँ तक कि संसद द्वारा नियन्त्रण किया जा सकता है और जहाँ उसका प्रभाव-क्षेत्र समाप्त होता है तथा उस उपक्रम के लिए स्वतन्त्रता का क्षेत्र आरम्भ होता है। द्वितीयतः एक ऐसी स्वस्थ परम्परा डाली जाये कि लोक सभा के सदस्य अपने सांविधानिक अधिकारों का उल्लंघन

न करें तथा इस प्रकार का प्रयास करें कि नियन्त्रण का मूल उद्देश्य, यानी किसी उद्यम के कुशल संचालन को सुनिश्चित करने का उद्देश्य ही नष्ट न हो जाय। इसके साथ-साथ यह भी जरूरी है कि प्रबन्धकों को चाहिए कि वे भी संसद द्वारा निर्धारित नीतियों तथा सिद्धान्तों का उल्लंघन न करें। तृतीयतः, किसी उद्यम के शीर्षस्थ प्रबन्धकों को भी नीति निर्धारण तथा लक्ष्य-निर्धारण तथा प्रक्रिया में शुरू से आखिर तक शामिल किया जाना चाहिए। इससे स्वायत्तता एवं नियन्त्रण के दो उद्देश्यों के बीच व्यर्थ का टकराव रोका जा सकता है।

**2. लाभकारिता तथा कुशलता (Profitability and Efficiency) :** - सरकारी क्षेत्र के उद्यमों के समक्ष दूसरी प्रधान समस्या उनमें किये गये विनियोग की लाभ प्रदान करने की क्षमता तथा उनकी कार्यकुशलता से सम्बद्ध है। वास्तव में, इन उपक्रमों को सारा धन सरकार से रियायती दर पर मिलता है। इसी प्रकार भूमि, भवन-निर्माण सामग्री इत्यादि भी निजी क्षेत्र की तुलना में उनको बिना किसी भी रुकावट एवं रियायती दरों पर मिल जाती हैं। फिर भी स्थिति यह है कि इन उद्यमों में हानि हो रही है या बहुत ही कम लाभ कमाया जा रहा है जिससे उनकी कुशलता के सम्बन्ध में शंकाएँ उत्पन्न होती हैं।

वास्तव में, लाभ कमाना किसी भी उपक्रम की कुशलता की एक महत्वपूर्ण कसौटी समझी जाती है। यहाँ तक कि रूस में भी सोवियत आयोजनकर्ता यह मानते हैं कि लाभ आर्थिक कुशलता का सर्वोत्तम प्रतीक है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसी बातें भी हैं जिनके आधार पर सरकारी उद्यमों की परख की जा सकती है, जैसे कि वे कीमतें जिन पर उनकी वस्तुएँ बिकती हैं, जिन वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है उनकी किस्में तथा मात्रा, कामगारों के लिए संचालित योजनाएँ इत्यादि किन्तु यह निर्विवाद है कि कुशलता को सिद्ध करना है, तो लाभ दिखाना अत्यन्त जरूरी है।

इस दृष्टि से सरकारी क्षेत्र के भारतीय उपक्रमों ने कोई विशेष प्रगति नहीं की है। किन्तु इसलिए भी उनकी जो इतनी आलोचना की गई है, वह भी उचित नहीं है। इस विषय में एक संतुलित दृष्टिकोण अपनाने के लिए हमें सबसे पहले कुछ सम्बद्ध तथ्यों पर दृष्टिपात कर लेना चाहिए।

मार्च 31, 1973 को देश के 113 सरकारी उपक्रमों में से सात निर्माणाधीन थे। इस वर्ष इन उपक्रमों ने कुल 243 करोड़ रुपये का लाभ कमाया था जिसमें से 162 करोड़ रुपये ब्याज तथा 63 करोड़ रुपये कर देने के बाद शुद्ध लाभ केवल 18 करोड़ रुपये रह गया जो इनमें विनियोजित कुल 5571 करोड़ रुपये की राशि को देखते हुए अत्यन्त अपर्याप्त जान पड़ता है।

सरकारी उपक्रमों की निम्न लाभदेयता के कारणः— इसके पूर्व 1971-72 में इन्हें 19 करोड़ का शुद्ध घाटा



हुआ था। किन्तु इस घाटा तथा कम लाभ के लिए केवल इन उद्यमों की अकुशलता को ही जिम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता। वास्तव में, इसके लिए अन्य कई कारण भी जिम्मेवार हैं। इनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं:—(i) इनकी प्रारम्भिक लागतें ऊँची थीं। सरकारी क्षेत्र के उद्योगों की स्थापना करते समय आरम्भ में भारत के पास उच्च स्तर की आवश्यक क्षमता नहीं थी। इसके परिणामस्वरूप इन परियोजनाओं की लागत बहुत अधिक पड़ गई थी। (ii) इनमें से अनेक उद्योग पूँजी-प्रधान हैं। निदिष्ट धनराशि का एक बड़ा भाग इस्पात, इंजीनियरी, रसायन, उर्वरक तथा पेट्रोलियम उद्योगों में लगाया गया था। इन उद्योगों का परिपक्वण काल लम्बा होता है, इसलिए इनको पूरा करने तथा लाभ कमाने में अधिक समय लगता है। (iii) कुछ उद्योगों में भविष्य के लिए विशाल उत्पादन क्षमता की व्यवस्था रखी गई है। इसका अर्थ यह होता है कि आरम्भ में भारी लागत लगानी पड़ेगी, हालाँकि पूर्ण क्षमता तभी उपलब्ध हो सकेगी जबकि उनमें वाद में और धन राशि का निवेश किया जायगा। किन्तु आरम्भ में लाभों का आकलन करने में लागत शामिल हो जाती है, यद्यपि कि अधिकांश निवेश उद्यमों के भावी विस्तार के लिए किया जाता है। (iv) वस्तियों के निर्माण, रखरखाव तथा प्रशासन पर किया गया भारी खर्च भी एक सामाजिक खर्च के रूप में आरम्भिक लागत की भाँति इन परियोजनाओं पर खर्च करना पड़ा है। इसके साथ श्रमिकों के लिए शिक्षा, कल्याण आदि पर किया गया खर्च भी आरम्भिक लागत को बढ़ा देता है। (v) कुछ सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों के सम्बन्ध में उनकी वस्तुओं की कीमतों को कम रखने की नीति अपनाई जाती है क्योंकि ये उद्यम अन्य सरकारी उद्यमों के लिए विनिर्माण सामग्री का उत्पादन करते हैं। सामान्यतः इस नीति को लाभों का आकलन करते समय ध्यान में रखा जाना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं किया जाता, जब तक इन उद्यमों की लाभदेय क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव ही पड़ेगा। (vi) सरकारी उपक्रमों में श्रम अनुशासनहीनता भी इनकी दोषपूर्ण प्रगति के लिए उत्तरदायी है।

इस प्रकार उपरोक्त सारे कारणों का सरकारी क्षेत्र के उद्योगों की लाभ कमाने की क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसलिए इनके कार्य-सम्पादन में त्रुटियों के लिए केवल उनकी अकुशलता को ही जिम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता। लेकिन यह तो कहना ही पड़ेगा कि अकुशलता मौजूद है ही। इसके लिए मुख्य कारण ये हैं—शीर्षस्थ अधिकारियों का गलत चयन, प्रबन्ध-कार्य को नौकरशाही में ढालना, वित्तीय कार्य प्रणाली की विलम्बित लेखा परीक्षा और कुशलता की लेखा-परीक्षा का अभाव। इन

त्रुटियों के साथ-साथ मजदूर-संघों द्वारा उत्पन्न अव्यवस्थाएँ उत्पादन-प्रक्रिया में विलम्ब, साधनों की कमी, गलत कार्यों तथा प्रक्रियाओं की समय से पहले रोक-थाम का अभाव आदि के कारण भी इन उपक्रमों में अकुशलता को प्रश्रय मिला है।

### सरकारी उपक्रमों के दोष

#### (Shortcomings of the Public Sector)

किन्तु राजकीय उपक्रमों में सभी चीजें उत्तम तरीके से चल रही हों, यह कहना अनुचित ही होगा। अभी भी, इन उपक्रमों की कार्यप्रणाली में सुधार की बहुत अधिक गुंजाइश है। इस संबंध में मुख्य बातें जो हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं निम्नांकित हैं, :—

1. अधिकांश परियोजनाओं की पूर्ति में बहुत अधिक समय का लगना तथा परिणामस्वरूप लागत का बढ़ जाना (Delay in completion and increase in costs of construction) :—राजकीय उपक्रमों की कार्यवाही के संबंध में विभिन्न प्रतिवेदनों में इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है कि अधिकांश परियोजनाओं को पूरा होने में अनुमान की अपेक्षा बहुत अधिक समय लगा है। इस बीच मूल्य में वृद्धि के कारण इनकी लागत में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिए ट्राम्वे फटिलाइजर प्रोजेक्ट के पूरा होने में 3 वर्ष की जगह 6 से 7 वर्षों का समय लगा तथा मूल लागत 27 करोड़ रुपये आँकी गयी थी जबकि वास्तविक खर्च 40 करोड़ रुपये हो गया। इस विलम्ब के अनेक प्रतिकूल परिणाम हुए, यथा—लागत में बहुत अधिक वृद्धि हुई, इनसे प्रस्तावित लाभ समय पर नहीं प्राप्त हो सका इत्यादि।

2. अत्यधिक पूँजीयन (Over-capitalisation):—राजकीय उपक्रमों पर अत्यधिक पूँजीयन का भी आरोप लगाया जाता है। दूसरे शब्दों में अधिकांश उपक्रमों में आदा-प्रदा अनुपात (Input-output Ratio) प्रतिकूल है। भारत सरकार द्वारा समय-समय पर नियुक्त विभिन्न अध्ययन दलों ने बहुत से उपक्रमों में; जैसे—हेवी इंजीनियरिंग कॉरपोरेशन, हिन्दुस्तान एरोनॉटिक, ट्राम्वे फटिलाइजर आदि में अत्यधिक पूँजीयन की ओर संकेत किया है। अध्ययन दल के अनुसार अत्यधिक पूँजीयन के मुख्य कारण हैं दोषपूर्ण आयोजन, विनिर्माण के दौरान विलम्ब एवं अनावश्यक व्यय को कम नहीं करना, अतिरिक्त मशीनी क्षमता, अति उदार ढंग से मकान आदि सुविधाओं को उपलब्ध बनाना इत्यादि। (The causes leading to over-capitalisation are inadequate Planning delays and avoidable expenditure during construction, surplus machine capacity, foreign aid resulting in the compulsory purchase of imported equipments



on a non-competitive basis, bad location of projects and the provision of housing and other amenities on a more liberal scale)

3. कीमत नीति (Price policy) :—अधिकांश राजकीय उपक्रमों में विवेकपूर्ण कीमत नीति का अभाव पाया जाता है। वस्तुतः, इन उपक्रमों में घोषित मूल्य-नीति का अभाव पाया जाता है। इनकी नीति विभिन्न सरकारी विभागों से समय-समय पर प्राप्त निर्देशों पर आधारित होती है। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि राजकीय उपक्रमों को लाभ कमाने की चिन्ता नहीं कर समाज-कल्याण के व्यापक उद्देश्य से ही कार्य करना चाहिए। किन्तु अब धीरे-धीरे यह बात अनुभव की जाने लगी है कि लाभदायकता को वस्तुतः समाजवादी ढंग के समाज के उद्देश्यों का विरोधी नहीं माना जाना चाहिए। किन्तु सभी राजकीय उपक्रमों के लिए कोई एक मूल्य नीति भी निश्चित नहीं की जा सकती। कारण स्पष्ट है। कुछ उपक्रम तो केवल उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए बनाये जाते हैं, कुछ उत्पादन इकाइयाँ अन्य के आधार के रूप में कार्य करती हैं तथा इनका उद्देश्य आर्थिक विकास को गति प्रदान करना होता है। अतएव इन उपक्रमों के लिए अधिक लाभ कमाने की नीति उचित नहीं ठहराई जा सकती। किन्तु फिर भी राजकीय उपक्रमों का एक ऐसा वर्ग है जिससे अधिक लाभ कमाया जा सकता है। वास्तव में, सरकार के लिए यह अनिवार्य भी हो जाता है कि वह राजकीय उपक्रमों को इस प्रकार से विभिन्न वर्गों में विभाजित कर प्रत्येक वर्ग के लिए उचित कीमत नीति के निर्धारण पर बल दे।

4. अत्यधिक ऊपरी व्यय (Large Overhead expenses) :—अधिकांश राजकीय उपक्रमों में ऊपरी-व्यय; जैसे—नगर-निर्माण तथा सामाजिक सुविधाओं की व्यवस्था के सम्बन्ध में बहुत अधिक अपव्यय पाया जाता है। हिन्दुस्तान स्टील्स लिमिटेड-जैसे बड़े-बड़े उपक्रमों में तो ऊपरी-व्यय बहुत ही अधिक था। इन उद्योगों से कम लाभ-प्राप्ति का यह एक प्रधान कारण है। किन्तु सरकार आजकल इस ओर अत्यधिक जागरूक है तथा वर्तमान समय में सामाजिक ऊपरी व्यय जैसे शिक्षा, गृह-निर्माण आदि पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया जा रहा है।

5. आवश्यकता से अधिक व्यक्तियों का उपयोग (Use of manpower resources in excess of actual requirements) :—अधिकांश राजकीय उपक्रमों में आवश्यकता से अधिक श्रमिकों का प्रयोग किया गया है। साथ ही, श्रमिक उचित रूप में प्रशिक्षित भी नहीं रहते हैं। एक ओर तो वेतन तथा मजदूरी कम होने एवं दूसरी ओर उचित प्रोत्साहन के अभाव में बहुत से कर्मचारी राजकीय उपक्रमों को छोड़कर निजी उपक्रमों में जा रहे हैं। अतएव श्रमिकों को उचित प्रोत्साहन देने तथा इनके

व्यावसायिक एवं तकनीकी प्रशिक्षण पर भी अधिक जोर देने का सुझाव दिया जाता है।

6. उत्पादन का लक्ष्य सुनिश्चित नहीं होता (Precise targets of production are not fixed) :—अधिकांश राजकीय उपक्रमों के उत्पादन के सम्बन्ध में कोई निश्चित लक्ष्य नहीं होते। फलस्वरूप इनकी उत्पादन क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग भी नहीं हो पाता। वास्तव में, जब तक कोई राजकीय उपक्रम उत्पादन का एक निश्चित लक्ष्य तैयार कर उसे पूरा करने का हर संभव प्रयास नहीं करता तब तक वह योग्य एवं सफली-भूत नहीं हो सकता।

सरकारी उद्योगों में सुधार के उपाय

(Measures for Improvement in Public Enterprises)

इस प्रकार राजकीय उपक्रमों में कई दोष हैं किन्तु उचित उपायों द्वारा इनमें से अधिकांश दोषों को दूर किया जा सकता है। जैसा कि हम देख चुके हैं सरकारी उद्यमों में घाटे का अधिकांश भाग इस्पात और इंजीनियरिंग उद्यमों में है। इन उद्योगों को अपनी लाभदायकता बढ़ाने के लिए दो मुख्य उपायों का प्रयोग करना चाहिए :—(क) अपनी उत्पादन-क्षमता का अधिक उत्तम उपयोग, और (ख) अपनी प्रबन्धकीय एवं कार्यान्वयन क्षमता को बढ़ाना। इन उद्योगों में घाटे का एक महत्त्वपूर्ण कारण इनकी वर्तमान क्षमता (Capacity) का अल्प प्रयोग है जिसके परिणामस्वरूप लागत बढ़ती है और घाटे की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस दोष को दूर करने के लिए उत्पादन में विविधता (Diversification of Production) लानी होगी, निर्यात को प्रोत्साहन देना होगा और अन्य राजकीय उपक्रमों के साथ समन्वय कायम करना होगा। उनमें से अधिकांश उपक्रमों की वर्तमान क्षमता का पूर्ण प्रयोग करने में तो कई वर्ष लगेंगे और तब तक क्षमता के अल्प प्रयोग (Under-utilisation of capacity) के कारण सरकारी उद्यमों की लाभदायकता प्रभावित होती रहेगी।

राजकीय उपक्रमों की प्रबन्धकीय और श्रम-सम्बन्धी समस्याओं को दूर करने के लिए भारत सरकार ने पिछले कुछ वर्षों में निम्नलिखित निर्णय लिये हैं :—

(क) सरकारी उद्यमों को पर्याप्त मात्रा में अधिकार सौंप दिये जाएँ ताकि वे अधिक स्वायत्तता (Autonomy) के साथ कार्य कर सकें;

(ख) सरकारी उद्यमों के लिए उचित प्रबन्धीय योग्यता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किये जायें;

(ग) प्रबन्धपूर्ण तकनीक (Managerial Technique) को सुधारने के लिए अनिवार्य कदम उठाये जायें; और



(घ) सरकारी उद्यमों की कार्य प्रगति की समय-समय पर जाँच करने के लिए प्रभावी मशीनरी कायम की जाय ताकि विभिन्न सरकारी उद्यमों की समस्याओं-सम्बन्धी जानकारी प्राप्त की जाएँ और इन्हें दूर करने के लिए आवश्यक उपाय किये जाएँ।

आज सभी यह बात स्वीकार करते हैं कि सरकार को राजकीय उद्यमों के दिन-प्रतिदिन के कार्य संचालन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। परन्तु दूसरी ओर जैसा कि कुछ अर्थशास्त्री मानते हैं कि सरकार को राजकीय उद्यमों को कुशल एवं मितव्ययी ढंग से चलाने का दायित्व भी अपने ऊपर लेना चाहिए और इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि लागत में वृद्धि के प्रभाव को दूर करने के लिए कुशलता को बढ़ाया जाय न कि इसे उपभोक्ताओं पर टाल दिया जाय। (The Government must accept a large measure of responsibility for the efficient and economic performance of public enterprises and in particular that increase in costs should whenever be possible absorbed by greater efficiency rather than be passed on to the consumers.) अतः कीमत में वृद्धि का औचित्य जनता को पता लगना चाहिए और तभी ये उद्यम राजकोष (Exchequer) में अपना उचित योगदान कर सकेंगे। इस दिशा में उचित कदम उठाये जा रहे हैं जिससे आशा की जाती है कि निकट भविष्य में परिस्थितियों में उपयुक्त सुधार होगा।

### संयुक्त क्षेत्र

#### (Joint Sector)

पिछले कुछ समय से देश में संयुक्त क्षेत्र बड़ा ही लोकप्रिय होते जा रहा है। सर्वप्रथम औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति समिति (Industrial Licensing Policy Enquiry Committee) या (The Subimal Dutta Committee 1969) ने 1956 की औद्योगिक नीति के आधार पर देश में संयुक्त क्षेत्र की स्थापना का सुझाव प्रस्तुत किया। दत्त समिति ने सर्वप्रथम इस आशय का एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि महत्वपूर्ण निजी क्षेत्र के उपक्रमों को संयुक्त क्षेत्र में परिवर्तित कर दिया जाय। इसके लिए राजकीय क्षेत्र के वित्तीय संस्थानों द्वारा दिये गये ऋणों को हिस्सा पूँजी के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। इसके बाद देश में संयुक्त क्षेत्र की चर्चा बहुत बड़े पैमाने पर की जाने लगी।

**संयुक्त क्षेत्र का अर्थ (Meaning of Joint Sector) :-** किन्तु संयुक्त क्षेत्र कहते किसे हैं? साधारण भाषा में संयुक्त क्षेत्र का तात्पर्य निजी क्षेत्र तथा सरकारी क्षेत्र के बीच एक प्रकार की साझेदारी है। किन्तु इससे इसकी धारणा पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो पाती। भारत के सुविख्यात उद्योगपति श्री जे० आर० डी० टाटा के अनुसार

“संयुक्त क्षेत्र निजी क्षेत्र एवं सरकार के बीच एक प्रकार की साझेदारी है जिसमें सरकार की हिस्सेदारी कम-से-कम 26 प्रतिशत होनी चाहिए तथा जिसकी रोज-ब-रोज की व्यवस्था निजी क्षेत्र के सहयोगी के जिम्मे होगी।” (A Joint sector enterprise is intended to be a form of partnership between the private sector and the Government in which Government participation of the capital will be not less than 26 percent, the day to-day management will normally be in the hands of the private sector partner and control and supervision will be exercised by a board of directors on which Government is adequately represented.) दत्त समिति के प्रतिवेदन में संयुक्त क्षेत्र का प्रयोग तीन अर्थ में किया गया था—प्रथमतः, बड़े-बड़े उद्योगपतियों की संस्थाएँ जिन्होंने राजकीय क्षेत्र की वित्तीय संस्थाओं से बड़े पैमाने पर उधार लिया है। इन ऋणों को हिस्सा पूँजी में बदलकर इन्हें संयुक्त क्षेत्र में परिवर्तित किया जा सकता है। द्वितीयतः, संयुक्त क्षेत्र के अन्तर्गत उन उपक्रमों को भी रखा जा सकता है जिनमें राजकीय तथा निजी विनियोग अत्यधिक मात्रा में हुआ। तृतीयतः, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के अन्तर्गत की वे संस्थाएँ जिनका आकार तकनीकी कारणों से बहुत बड़ा है, को संयुक्त क्षेत्र के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि दत्त समिति का विवरण मुख्यतः राजकीय क्षेत्र के पक्ष में था।

इसके विपरीत टाटा के प्रतिवेदन में भी दो प्रकार के संयुक्त क्षेत्र की चर्चा की गयी है :—(क) बड़ी-बड़ी योजनाएँ जिनमें 5 करोड़ रुपये से अधिक की पूँजी लगी है में केन्द्रीय सरकार तथा निजी कम्पनियों के बीच हिस्सा हो सकता है; तथा (ख) पाँच करोड़ रुपये से कम वाली योजनाओं में राज्य सरकारों तथा निजी कम्पनियों के बीच हिस्सा हो सकता है।

उपरोक्त विवरण के आधार पर चार प्रकार के संयुक्त क्षेत्र की कल्पना की जा सकती है—

(क) वर्तमान निजी उपक्रमों को राजकीय क्षेत्र की वित्तीय संस्थाओं द्वारा दिये गये ऋण को हिस्सा पूँजी में बदलकर संयुक्त क्षेत्र के अंतर्गत लाया जा सकता है। (Existing private enterprises may be brought under the joint sector by public financial institutions converting their loans into equity.);

(ख) भारत सरकार नयी कम्पनियों की स्थापना कर सकती है जिनमें सरकार तथा निजी क्षेत्र का हिस्सा रह सकता है।



(ग) वर्तमान राजकीय क्षेत्र की कम्पनियों की हिस्सा पूँजी का एक क्षेत्र निजी उद्योगपतियों के हाथ वेचकर इन्हें संयुक्त क्षेत्र में परिवर्तित किया जा सकता है।

(घ) राज्य सरकारें या राज्य औद्योगिक विकास निगम निजी उद्योगपतियों की साझेदारी में उद्योगों की स्थापना कर सकती हैं।

संयुक्त क्षेत्र के विकास का उद्देश्य :—अब प्रश्न यह है कि संयुक्त क्षेत्र के विकास का क्या उद्देश्य होना चाहिए? वास्तव में, इस प्रकार की संस्थाओं की स्थापना के विभिन्न उद्देश्य बतलाये जा सकते हैं जिनमें निम्नांकित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं

(क) उद्योगों का सामाजिक नियन्त्रण (Social control over industries) :—दत्त समिति ने संयुक्त क्षेत्र की स्थापना में निम्नांकित बातों को ध्यान में रखा था—

(1) सरकारी क्षेत्र की वित्तीय संस्थाओं द्वारा बड़े पैमाने पर वित्त प्रदान करने के परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर उद्योगों का विकास हो रहा है जिससे बड़े बड़े उद्योग-पतियों के हाथ औद्योगिक शक्ति के केन्द्रीयकरण की संभावना बढ़ जाती है।

(2) बड़े-बड़े औद्योगिक संस्थानों के विल्कुल राष्ट्रीयकरण के लिए अभी समय उपयुक्त नहीं है। अतएव ऐसी परिस्थितियों में राज्य के लिए B एवं C वर्ग की औद्योगिक संस्थाओं में राजकीय सहगामिता ही एक मात्र रास्ता नजर आता है।

(ख) निर्जी एवं सार्वजनिक दोनों ही क्षेत्रों की विफलता (Failure of both Private & Public sectors) :—भारत में जिस मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की कल्पना की गयी थी उसमें निजी तथा सार्वजनिक दोनों ही क्षेत्रों को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया था। निजी क्षेत्र को इसलिए महत्त्व दिया गया था कि इससे उद्यमशीलता को प्रोत्साहन मिलेगा तथा निजीसाधनों को एकत्र करने में सहायता मिलेगी। किन्तु 1950-51 के बाद इस क्षेत्र की कार्यवाही निश्चय ही तिराशाजनक

रही है। इसी प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र को भी कुछ क्षेत्रों में विकास का एकमात्र अधिकार प्राप्त था, किन्तु इससे उद्देश्यों की भी पूर्ति नहीं हो सकी। इसीलिए इनमें से किसी भी एक को प्रथम नहीं देकर दोनों के संयुक्त रूप को प्रथम देने का आयोजन है।

(ग) आर्थिक विकास की गति को तीव्र बनाने के लिए (Accelerating the tempo of Economic Development) :—पिछले कुछ वर्षों से देश के आर्थिक विकास में निजी विनियोग पर्याप्त मात्रा में आगे नहीं आ रहा है। अतएव सार्वजनिक सहयोग प्रदान कर संयुक्त क्षेत्र इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकता है। सरकारी नीति कुछ खास कारणों से बड़े औद्योगिक परिवारों को विस्तार का अवसर नहीं प्रदान कर रही है। किन्तु ये औद्योगिक परिवार संयुक्त क्षेत्र में बड़ी रुचि ले रहे हैं। इस प्रकार संयुक्त क्षेत्र को औद्योगिक अवरोध समाप्त करने के साधन के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

इस प्रकार दत्त समिति ने एकाधिकार, आर्थिक प्रक्रिया का केन्द्रीयकरण तथा व्यावसायिक कुप्रथाओं को रोकने के लिए संयुक्त क्षेत्र की स्थापना का सुझाव दिया था। इसके अतिरिक्त संयुक्त क्षेत्र के द्वारा राज्य के सामाजिक, आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति में भी सहायता मिल सकती है। इन उद्देश्यों के अन्तर्गत उचित मूल्य-नीति, उद्योगों का विभिन्न राज्यों के बीच वितरण, नियांत प्रोत्साहन तथा उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में अनुसंधान आदि को प्रोत्साहन इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि संयुक्त क्षेत्र के द्वारा राज्य के सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति में सहायता की आशा की जा सकती है। वास्तव में, संयुक्त क्षेत्र के द्वारा उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण के बगैर उद्योगों के सामाजिक नियन्त्रण के एक प्रमुख उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है।" (Joint sector could be viewed as a tool for social control over industries without resort to outright nationalisation.)

### विशेष अध्ययन-सूची

1. Ramanadhan : The Structure of Public Enterprises in India.
2. " : The Working of Public Sector, Part I
3. Commerce Year Book of Public Enterprises
4. India 1976.



## अध्याय : 13

## भारतीय निर्धनता एवं आयोजन प्रक्रिया

## (Indian Poverty and the Planning Process)

**निर्धनता की धारणा (The Concept of Poverty):—** निर्धनता का तात्पर्य उस सामाजिक प्रक्रिया से है जिसमें समाज का एक भाग अपने जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं कर पाता। दूसरे शब्दों में, जब समाज का एक बहुत बड़ा भाग न्यूनतम जीवन-स्तर से वंचित रहता है और केवल निर्वाह-स्तर (Subsistence Level) पर गुजारा करता है, तो यह कहा जाता है कि समाज में व्यापक निर्धनता (Mass Poverty) वर्तमान है। एशिया तथा अफ्रीका के अविकसित देशों में व्यापक निर्धनता पायी जाती है। किन्तु निर्धनता को समाजवादी ढाँचे के विकास के अन्तर्गत किसी भी प्रकार से उचित नहीं करार किया जा सकता। (The existence of poverty is incompatible with the vision of an advanced, prosperous, democratic, egalitarian and just society implied in the concept of socialist pattern of development.)

सभी समाजों में निर्धनता की परिभाषा देने के विभिन्न प्रयास किये गये हैं परन्तु इन सभी का आधार न्यूनतम या अच्छे जीवन-स्तर की कल्पना है। अतएव विभिन्न देशों में निर्धनता की धारणा अलग-अलग होती है। उदाहरणार्थ संयुक्त राज्य अमेरिका में निर्धनता की धारणा भारत से बिल्कुल ही भिन्न होगी क्योंकि अमेरिका में आम नागरिक भारत की अपेक्षा अधिक ऊँचे जीवन-स्तर का अभ्यस्त है। निर्धनता की विभिन्न परिभाषाओं में इसे औसत जीवन-स्तर के निकट लाने का प्रयत्न किया गया है। अर्थशास्त्री सामान्यतः दो प्रकार के जीवन-स्तर की चर्चा करते हैं:—परम स्तर (Absolute Standard of Living) तथा सापेक्ष जीवन-स्तर (Relative standard of Living)। परम स्तर में अन्न, दाल, दूध आदि की एक न्यूनतम मात्रा निश्चित की जाती है और इन वस्तुओं के मूल्य के आधार पर प्रति-व्यक्ति उपभोग व्यय (Per-capita consumer expenditure) निश्चित किया जाता है तथा इसे निर्धनता की सीमा (Line of Poverty) माना जाता है। अब देश में जिन लोगों की आय का स्तर (अथवा व्यय का स्तर) इससे नीचे रहता है, उन्हें निर्धनता की रेखा के नीचे माना जाता है। दूसरी ओर, सापेक्ष जीवन-स्तर की माप के लिए देश के विभिन्न वर्गों के बीच आय के वितरण का अनुमान लगाया जाता है और

तब उच्च आयवाले 5 से 10 प्रतिशत व्यक्तियों की आय की तुलना निम्न आय वाले 5 से 10 प्रतिशत व्यक्तियों की आय से करके निर्धनता के सापेक्ष स्तर का पता लगाया जाता है। किन्तु इस तरीके की प्रधान त्रुटि यह है कि इसमें आय के वितरण में समाज के विभिन्न वर्गों की सापेक्ष स्थिति का पता लगता है। समृद्ध देशों में भी निर्धनता के कुछ क्षेत्र वर्तमान हैं, किन्तु आज के अल्प-विकसित देशों में व्यापक निर्धनता की विद्यमानता बड़ी ही चिन्ता की बात हो जाती है। समाज के एक-आध प्रतिशत उच्च आय वाले लोगों की तुलना में एक बहुत बड़े भाग के आधारभूत आवश्यकताओं से वंचित रह जाने से निर्धनता की धारणा और भी प्रखर हो जाती है। उदाहरणार्थ, भारत में निर्धनता की सामान्यतः स्वीकृत परिभाषा उचित जीवन-स्तर (Reasonable level of living) की अपेक्षा न्यूनतम जीवन-स्तर (Minimum level of living) पर बल देती है। यह धारणा इस तथ्य पर आधारित है कि आने वाले कई दशकों तक बुनियादी आवश्यकताओं की न्यूनतम मात्रा उपलब्ध करना भी संभव नहीं, अतएव विकास के इस स्तर पर उचित या उच्च जीवन-स्तर की बात करना केवल कपोल कल्पना है।

## भारत में निर्धनता-सम्बन्धी अध्ययन

## (Studies of Poverty in India)

भारत में भी बहुत-से अर्थशास्त्रियों एवं संस्थाओं ने परम निर्धनता के निर्धारण का प्रयास किया है। किन्तु इन सभी अध्ययनों का आधार 2,250 कैलरी के बराबर खाद्यान्नों को रखा गया है। चूँकि ग्रामों के लोग स्वयं खाद्यान्नों के उत्पादक होते हैं, इसलिए शहरी क्षेत्रों की तुलना में ग्रामीण लोगों का प्रति व्यक्ति खाद्य-व्यय में अन्तर रहन-सहन की लागत में अन्तर होने के बावजूद कम होता है। श्री बी० एस० मिन्हास ही एक-मात्र ऐसे अर्थशास्त्री हैं जिन्होंने 1967-68 के बीच ग्रामों में निर्धनों के प्रतिशत में कमी की ओर संकेत किया है। इसके विपरीत पी० डी० ओझा और पी० के० बर्धन ने ग्रामीण-निर्धनों (Rural poors) के अनुपात में निरंतर वृद्धि का संकेत दिया है। उनके विचार में, परिवर्तन की यह दिशा देश में बढ़ती हुई निर्धनता (Pauperisation) की सूचक है। डांडेकर और रथ (Dandekar and Rath)<sup>1</sup> ने



1960-61 और 1967-68 के दौरान ग्रामीण तथा नगरीय दोनों निर्धन वर्गों में स्थिर अनुपात बताया है। किन्तु इनके अनुमान में इस बीच ग्रामीण निर्धनों की संख्या 13.5 करोड़ से बढ़कर 16.6 करोड़ और नगरीय निर्धनों की संख्या 4.2 करोड़ से बढ़कर 4.9 करोड़ हो गयी।

एक दूसरे विद्वान डा कौस्टा (Da Costa) ने अपने अनुमान में निर्धनता के तीन स्तर की चर्चा की है : अति दीन, दीन और निर्धन। इनके अनुमान के अनुसार

1963-64 में 6.2 करोड़ व्यक्ति अति दीन (Severe Destitution) का जीवन व्यतीत करते थे, 10.4 करोड़ दीन (Destitution) और 16.2 करोड़ व्यक्ति निर्धनता का जीवन व्यतीत करते थे। दूसरे शब्दों में, अति दीनता का जीवन व्यतीत करनेवाले लोगों का अनुपात 13.2 प्रतिशत, दीन लोगों का 22 प्रतिशत और निर्धनता में रहनेवालों का 34.9 प्रतिशत था। निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> से इनके अनुसार निर्धनता के विभिन्न स्तरों का अन्दाजा लगता है :-

### भारतीय निर्धनता के तीन स्तर (1963-64)

| राज्य                 | जनसंख्या<br>(लाख में) | अति दीन<br>प्रतिशत | दीन<br>जनसंख्या<br>(लाख में) | प्रतिशत | निर्धन<br>जनसंख्या<br>(लाख में) | प्रतिशत |
|-----------------------|-----------------------|--------------------|------------------------------|---------|---------------------------------|---------|
| 1. आन्ध्र प्रदेश      | 59                    | 15.5               | 100                          | 66.2    | 158                             | 41.8    |
| 2. असम                | 2                     | 1.5                | 5                            | 3.0     | 11                              | 9.0     |
| 3. बिहार              | 65                    | 13.3               | 115                          | 23.4    | 174                             | 35.4    |
| 4. गुजरात             | 24                    | 11.0               | 39                           | 17.5    | 69                              | 31.2    |
| 5. जम्मू एवं कश्मीर   | 1                     | 2.4                | 3                            | 7.6     | 6                               | 15.4    |
| 6. केरल               | 37                    | 18.8               | 54                           | 30.4    | 80                              | 44.4    |
| 7. मध्य प्रदेश        | 54                    | 15.7               | 87                           | 25.3    | 128                             | 37.1    |
| 8. महाराष्ट्र         | 52                    | 12.3               | 97                           | 22.8    | 152                             | 35.9    |
| 9. कर्नाटक            | 42                    | 16.8               | 74                           | 29.4    | 110                             | 44.0    |
| 10. उड़ीसा            | 33                    | 18.0               | 52                           | 28.0    | 76                              | 40.8    |
| 11. पंजाब एवं हरियाणा | 19                    | 8.8                | 32                           | 14.5    | 48                              | 22.1    |
| 12. राजस्थान          | 29                    | 13.2               | 48                           | 22.3    | 74                              | 34.2    |
| 13. तमिलनाडु          | 44                    | 12.4               | 73                           | 20.8    | 144                             | 34.9    |
| 14. उत्तर प्रदेश      | 133                   | 17.0               | 208                          | 26.8    | 304                             | 39.1    |
| 15. पश्चिमी बंगाल     | 22                    | 5.9                | 49                           | 13.2    | 86                              | 22.9    |
| 16. केन्द्रीय प्रदेश  | 4                     | 4.7                | 8                            | 8.9     | 16                              | 18.7    |
| सम्पूर्ण भारत         | 617                   | 13.2               | 1044                         | 22.4    | 1618                            | 34.6    |

विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा इन अनुमानों के तैयार करने की विधि में मतभेद होने के कारण उनके अनुमानों में भी अन्तर हो सकते हैं। परन्तु दो बातों पर आमतौर पर सहमति है : प्रथम, आयोजन काल में निर्धनता स्तर के नीचे रहनेवाली जनसंख्या का प्रतिशत कम नहीं हुआ है चाहे डांडेकर और रथ जैसे कुछ अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि यह बढ़ा नहीं है। द्वितीयतः, इस काल के दौरान निर्धन लोगों की कुल संख्या में निश्चित रूप से वृद्धि हुई है। किसी भी उचित अनुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निर्धनों की संख्या 20 करोड़ से अधिक ही है—15 करोड़ ग्रामीण क्षेत्रों में और लगभग 5 करोड़ शहरी क्षेत्रों में।

इसी प्रकार वी० एस० मिन्हास (B. S. Minhas) ने ग्रामीण क्षेत्र में निर्धनों की संख्या के सम्बन्ध में अनुमान लगाने का प्रयत्न किया है। इनके अनुसार 240 रु० प्रति व्यक्ति वार्षिक उपभोग व्यय (Per-capita annual Consumption Expenditure) रखने पर 1967-68 ई०

में 50.6 प्रतिशत लोग निर्धनता की सीमा के नीचे थे। इनके अनुसार 1956-57 से 1967-68 के बीच ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनता की सीमा से नीचे के लोगों के अनुपात में कमी हुई है। वास्तव में, यह प्रतिशत 1956-57 में 65 प्रतिशत से घटकर 1967-68 में 50.6 प्रतिशत हो गया है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :-

ग्रामीण भारत में निर्धनता की सीमा के नीचे के व्यक्तियों की संख्या तथा प्रतिशत

| वर्ष    | 240/- वार्षिक प्रति-व्यक्ति उपभोग व्यय से नीचे वाले लोगों का प्रतिशत (करोड़ में) |
|---------|----------------------------------------------------------------------------------|
| 1956-57 | 65.0                                                                             |
| 1960-61 | 59.4                                                                             |
| 1963-64 | 57.8                                                                             |
| 1964-65 | 51.6                                                                             |
| 1967-68 | 50.6                                                                             |



अर्थशास्त्री किसी एक या दूसरे अनुमान के सही होने पर एक अनन्त विवाद कर सकते हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि "किसी भी उचित मानदण्ड से आँकने से यह पता चलता है कि ग्रामीण-भारत में निर्धनता का भयानक स्तर है। यह ठीक-ठीक अनुमान लगाना कि क्या यह कुल ग्रामीण-जनसंख्या का 2/5 वाँ भाग है या आधा भाग है, एक सिद्धान्तवादी विषय है। आज इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण और व्यावहारिक आवश्यकता इस बात की है कि गरीबी के लाभ के लिए और विशेषकर ग्रामीण निर्धनों के लिए जो संख्या में तो कहीं अधिक हैं परन्तु शहरी निर्धनों की भाँति साफ दिखाई नहीं पड़ते, ठोस उपाय ढूँढ़ने की नीति पर ध्यान केन्द्रित किया जाय।" (Judged by any reasonable standard, the extent of the abject poverty in rural India is alarmingly massive. The precise estimate of whether it is two-fifth or one half of rural population who are beset with crushing poverty today, is a terrible academic matter. A far more important and practical need today is to focus policy analysis on concrete measures for the benefit of the poor, particu-

arly the rural poor, who are more numerous but fail to catch as much attention as the urban poor)

### प्रति व्यक्ति निजी उपभोग-व्यय की प्रवृत्ति (Trend of Per-Capita Private Consumption Expenditure)

प्रति व्यक्ति आय को किसी समाज के जीवन-स्तर का सूचक अवश्य माना जाता है, किन्तु लोगों के जीवन एवं आर्थिक कल्याण का इससे अधिक प्रत्यक्ष सूचकांक प्रति व्यक्ति निजी उपभोग व्यय है। निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है कि 1960-61 और 1968-69 के बीच प्रति व्यक्ति आय तो 4.1 प्रतिशत बढ़ी किन्तु प्रति व्यक्ति उपभोग-व्यय 4.8 प्रतिशत बढ़ा। प्रति व्यक्ति उपभोग-व्यय में वार्षिक वृद्धि नगण्य है। स्पष्ट है कि विकास-दर की इस मन्दगति द्वारा जनता की निर्धनता दूर नहीं हो सकती। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उपभोग व्यय में इस थोड़ी-सी वृद्धि का अधिकतर भाग ग्रामीण एवं नगरीय उपभोक्ताओं के उच्चतर, मध्यम एवं समृद्ध उपभोक्ताओं के बीच बँट जाता है।

#### 1960-61 के मूल्य-तल पर प्रति-व्यक्ति निजी उपभोग-व्यय<sup>1</sup>

| वर्ष    | प्रति व्यक्ति आय |         | प्रति व्यक्ति उपभोग |         |
|---------|------------------|---------|---------------------|---------|
|         | रुपये            | सूचकांक | रुपये               | सूचकांक |
| 1960-61 | 306.7            | 100.0   | 276.3               | 100.0   |
| 1961-62 | 310.7            | 101.3   | 276.6               | 100.1   |
| 1962-63 | 308.8            | 100.7   | 277.4               | 100.3   |
| 1963-64 | 319.2            | 104.1   | 278.4               | 100.8   |
| 1964-65 | 333.6            | 108.8   | 279.3               | 101.0   |
| 1965-66 | 307.7            | 100.2   | 279.2               | 101.0   |
| 1966-67 | 302.4            | 98.6    | 277.2               | 101.0   |
| 1967-68 | 321.3            | 104.8   | 287.0               | 103.9   |
| 1968-69 | 319.4            | 104.1   | 289.6               | 104.8   |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1960-61 से 1968-69 के बीच 9 वर्षों में प्रति व्यक्ति आय में प्रायः 4.1 प्रतिशत तथा प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय में 4.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई जिसे प्रायः नगण्य ही कहा जा सकता है। इस वृद्धि के अन्तर्गत भी समाज के सभी वर्ग-समूह उच्चतम वर्ग,

मध्यम वर्ग तथा निर्धन वर्ग सभी वर्ग के लोग सम्मिलित हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रति व्यक्ति उपभोग-व्यय में यह वृद्धि समाज के उच्च वर्ग के उपभोग व्यय में वृद्धि से ही सम्बन्धित है।

1. B. S. Minhas : Rural Poverty, Land Distribution and Development, Indian Economic Review, 1970, p. 102.



## पंचवर्षीय योजनाएँ एवं निर्धनता-निवारण सम्बन्धी कार्यक्रम

(Five year Plans & Anti-poverty Programme)

पंचवर्षीय योजनाओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि जनसाधारण के जीवन-स्तर को उठाना प्रारंभ से ही भारत में योजनाकरण का एक प्रधान उद्देश्य रहा है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर द्वितीय योजना में ऐसे वातावरण के निर्माण की चर्चा की गयी थी जिसमें 'छोटे लोगों' (The small man) की स्थिति में सुधार लाया जा सके। इसी प्रकार चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में रोजगार तथा शिक्षा के माध्यम से जनसाधारण तथा निर्धन वर्ग के लोगों की स्थिति को सुधारने पर जोर दिया गया था। चतुर्थ योजना में निर्देश के तौर पर इस बात पर स्पष्ट रूप से जोर दिया गया था कि योजना-सम्बन्धी कार्यक्रमों का कार्यान्वयन इस प्रकार से आयोजित किया जाना चाहिए कि समाज का सबसे निर्बल वर्ग इससे अधिकाधिक मात्रा में लाभान्वित हो सके। योजना आयोग ने भी इसे स्वीकार किया है जो आयोग के निम्न बयान से स्पष्ट है : "In the implementation of the Programmes, the weakest are looked after first and the benefits of development are made to flow by planned investment in the under developed regions and among the more backward sections of the community."<sup>1</sup>

परन्तु विभिन्न योजनाओं में दुर्बल वर्ग के लिए व्यक्त इन सभी पवित्र भावनाओं के बावजूद देश में निर्धन व्यक्तियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी। पाँचवीं योजना ने 1972-73 के मूल्य तल के आधार पर प्रति-व्यक्ति प्रति माह 40.6 रुपये के उपभोग स्तर को न्यूनतम मानते हुए देश में निर्धनों की संख्या का अनुमान 22 करोड़ लगाया था। वस्तुतः हमारे लिए इससे बढ़कर और दर्दनाक बात क्या हो सकती है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के 25-26 वर्षों के बाद भी देश में 22 करोड़ या कुल जन-संख्या का प्रायः 40 प्रतिशत भाग 40 रुपये प्रति-व्यक्ति प्रति माह उपभोग-व्यय से भी कम व्यय पर अपना जीवन बसर करता है। 40 रुपये प्रति माह में तो भोजन भी मुश्किल से मिल पाता है, वस्त्र एवं आवास की बात तो दूर की है। किन्तु अब प्रश्न यह है कि भारतीय योजनाएँ, निर्धनता को कौन कहे, अति दीनता की स्थिति को भी क्यों दूर नहीं कर पाई? इसका प्रधान कारण हमारे आयोजकों की यह धारणा है कि विकास विधि द्वारा राष्ट्रीय आय में पर्याप्त वृद्धि होगी एवं इस के साथ ही प्रगति-

शील करें तथा बढ़ते हुए राजकीय व्यय के परिणामस्वरूप निर्धनों के जीवन-स्तर में सुधार होगा। किन्तु उत्पादन के तत्संके में परिवर्तन नहीं करने के कारण विकास का पूरा-पूरा लाभ उत्पादन के संसाधनों के स्वामियों द्वारा ही हड़प लिया गया। परिणामस्वरूप देश में निर्धन व्यक्तियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती ही गयी तथा वर्तमान समय में देश के प्रायः 40 प्रतिशत से भी अधिक लोग अतिदीनता की स्थिति में पड़े हुए हैं। पाँचवीं योजना के निर्माण के समय निर्धनता की समस्या पर नये दृष्टिकोण से विचार किया जाने लगा जो आयोग के निम्नांकित बयान से स्पष्ट हो जाता है : "Unemployment, under-employment and low-resource base of a multitude of producers, particularly in agriculture are the principal cause of poverty.... The elimination of abject poverty will not be attained as a corollary to a certain acceleration in the rate of growth of the economy alone. In the Fifth Plan, it will be necessary to launch a direct attack on the problems of unemployment, under-employment and massive low end poverty."<sup>2</sup> किन्तु आगे चलकर पाँचवीं योजना की जो रूप-रेखा (Draft Fifth Five year Plan) तैयार की गयी उसमें निर्धनता के केवल दो कारणों अल्पविकास (under-development) एवं आर्थिक विषमता (Inequality) के निवारण की ही चर्चा की गयी। अतः योजना आयोग के अनुसार निर्धनता को समाप्त करने का कार्यक्रम दो बातों पर आधारित होगा : राष्ट्रीय उत्पादन की दर में वृद्धि एवं साथ-ही-साथ जनसंख्या की वृद्धि की दर में कमी। इससे स्पष्ट है कि अधिकाधिक मात्रा में रोजगार के अवसरों के सृजन के कार्यक्रम पर पुनः बहुत ही कम जोर दिया गया है। परिणामस्वरूप यदि विकास के इसी कार्यक्रम को अपनाया गया तो निश्चित है कि निर्धनता का निवारण पाँचवीं योजना के अन्त तक भी नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में आवश्यकता इस बात की है कि निर्धनता निवारण के मार्ग की सामाजिक बाधाओं को पहले समझ लिया जाय। संक्षेप में, ये बाधाएँ निम्नांकित हैं :—(क) अधिकांश निर्धन ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में भी इनके दो वर्ग हैं—छोटे-छोटे किसान एवं भूमिहीन मजदूर। (ख) ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धन वर्ग की प्रधान समस्या खुली बेरोजगारी नहीं बरन अल्प-रोजगारी तथा निम्न-उत्पादित रोजगारी (Low Productivity employment) है। (ग) शहरी क्षेत्रों में, निर्धनता की समस्या ग्रामीण निर्धनता का ही परिणाम

1. Fourth Five year Plan (1969-74) p. 28.

2. Approach to the Fifth Plan (1974-79) P. 3.



(an overflow of Rural poverty) है। शहरों के अधिकांश निर्धन व्यक्ति या तो अपना कार्य करते हैं या असंगठित क्षेत्र या सेवा-क्षेत्र में बहुत ही कम मजदूरी पर कार्य करते हैं।

### निर्धनता-निवारण-सम्बन्धी कार्यक्रम (Poverty Eradication Programme)

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि निर्धन व्यक्तियों की अधिकांश संख्या ग्रामीण क्षेत्रों में ही पायी जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनता निवारण-सम्बन्धी कार्यक्रम की दो आधारभूत आवश्यकताएँ हैं :—सर्वप्रथम तो कृषि सम्बन्धों में परिवर्तन जिससे कि भूमि का स्वामित्व जन-संख्या के एक बड़े भाग के बीच वितरित किया जा सके। देश की भूमि-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जो काश्तकारी वर्गों को उनके अधिकारों की सुरक्षा प्रदान कर सके। किन्तु पाँचवीं पंचवर्षीय-योजना में निर्धनता निवारण संबंधी कार्यक्रम के अन्तर्गत इन बातों पर कोई जोर नहीं दिया गया है। वास्तव में, निर्धन किसानों की घोर निर्धनता के चंगुल से मुक्त करने के लिए छोटे-छोटे किसानों को अपेक्षाकृत ऊँचा संसाधन आधार प्रदान करना तथा इसे ऋण एवं श्रेष्ठतम आदातों (inputs) द्वारा और सुदृढ़ करना अनिवार्य है।

द्वितीयतः, निर्धनता-निवारण का कोई भी कार्यक्रम घोर स्फीतिक एवं बढ़ती हुई कीमती में जकड़ी हुई अर्थ-व्यवस्था में सफल हो नहीं हो सकता। मुद्रा-स्फीति से धन एवं आय के वितरण की विषमता और बढ़ती है, यह निर्धन वर्गों की वास्तविक आय को और कम कर उनकी निर्धनता को बढ़ाती है। अतएव निर्धनता निवारण कार्यक्रम का एक प्रधान उद्देश्य समाज के उच्च वर्गों जमींदारों, साहूकारों, बड़े-बड़े व्यापारियों तथा पूँजी-पतियों की अतिरिक्त आय को समाप्त करना चाहिए और चूँकि इनकी अधिकांश आय छुपायी गयी मुद्रा (Black money) के रूप में होती है, अतएव ऐसे उपायों को काम में लाना चाहिए जिससे छुपायी गयी मुद्रा को समाप्त किया जा सके जिससे कि ऐसे संसाधनों का विलास-पूर्ण उपभोग में अपनिर्देशन नहीं हो।

इस प्रकार उपरोक्त दोनों उपायों के द्वारा देश में निर्धनता का निवारण किया जा सकता है। किन्तु इसके लिए बड़े पैमाने पर संरचनात्मक परिवर्तनों की आवश्यकता है और ये परिवर्तन तभी किये जा सकते हैं जबकि राष्ट्रीय नेतृत्व का राजनीतिक मनोबल पर्याप्त मात्रा में ऊँचा हो। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में पहले-पहल निर्धनता-निवारण को योजनाकरण के आधारभूत उद्देश्य के रूप

में स्वीकार कर इसे दूर करने के लिए प्रयास पर जोर दिया गया था। निर्धनता-निवारण के लिए रोजगार के अवसरों में वृद्धि पर बहुत अधिक जोर दिया गया था जो वास्तव में बहुत कुछ ठीक है। योजना आयोग ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया था जो योजना सम्बन्धी प्रलेख के निम्नांकित वयान से स्पष्ट है : “रोजगार प्रदान करना सर्वाधिक विश्वसनीय उपाय है जिसके द्वारा निर्धनता के स्तर से नीचे रहनेवाले लाखों व्यक्तियों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाया जा सकता है। आय के वितरण के पारस्परिक तरीकों से इस क्षेत्र में बहुत कम सफलता मिलने की आशा है।” (Employment is the surest way to enable the vast number living below the poverty level to rise above it. Conventional fiscal measures for redistribution of income can not, by themselves, make a significant impact on the problem.)<sup>1</sup>

परन्तु आगे चलकर सरकार तथा योजना आयोग ने अपनी इस नीति में परिवर्तन कर दिया है जो पाँचवीं योजना की रूप-रेखा के इस वयान से स्पष्ट हो जाता है “अधिक रोजगार उपलब्ध कराना योजना का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है। परन्तु इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि रोजगार उपलब्ध कराना अपने आप में लक्ष्य नहीं बन जाता।” (Providing for greater employment is a very important consideration for the plan. But sufficient care should be taken to see that employment provision does not become an end in itself.) इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि विनियोग की एक निश्चित मात्रा को इस प्रकार से बाँटा जा सकता है कि विनियोग-ढाँचे में श्रम-प्रधान परियोजनाओं (Labour Intensive Projects) की ओर अधिक झुकाव हो परन्तु इसके लिए अर्थ-व्यवस्था को अधिक परिभाजित तकनीकी (Sophisticated Technology) की अपेक्षा अन्तरवर्ती तकनीकी (Intermediate Technology) का प्रयोग करना चाहिए। उद्योगों के सुव्यवस्थीकरण (Rationalisation) के आवरण में विवेकशून्य यन्त्रीकरण (Indiscriminate Mechanisation) को बंदाव देने और कृषि-क्षेत्र में हरी क्रांति के नाम पर मशीनीकरण करने से विनियोग की तुलना में रोजगार की कम मात्रा कायम होगी। योजना आयोग ने इस बात को स्वीकार कर लिया है किन्तु इस सम्बन्ध में नीति स्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं की गयी है। वास्तव में, निम्नलिखित तरीकों के द्वारा रोजगार बढ़ाकर निर्धनता दूर की जा सकती है :—



1. 10-12 एकड़ की अधिकतम सीमा (Ceiling) निश्चित करने के पश्चात् प्राप्त अतिरिक्त भूमि का छोटे तथा सीमान्त किसानों के बीच वितरण।

2. ब्रटाईदारों एवं अस्थायी रेंटियों को भू-स्वामित्व की सुरक्षा प्रदान करना। (Provision of security of tenure to share croppers & temporary tenants.)

3. 56.3 लाख परिवारों को अकृषि-योग्य तथा परती भूमियों और कृषि-योग्य बंजर भूमियों पर रोजगार उपलब्ध कराने का कार्यक्रम तैयार करना चाहिए।

किन्तु भू-वितरण और वस्ती-निर्माण कार्यक्रमों को अपने आप में ग्राम-निर्धनता की समस्या के निवारण के लिए पर्याप्त नहीं समझा जा सकता। वास्तव में ग्रामीण क्षेत्रों में श्रम-प्रधान तकनीक द्वारा उद्योगीकरण के साथ-साथ यदि भूमि का समान वितरण (Egalitarian Distribution) हो जाए, तो ग्राम-निर्धनता की समस्या में सुधार हो सकता है।

4. छोटे किसानों के विकास के लिए सीमान्त किसानों और कृषि मजदूरों की एजेन्सियाँ, (Marginal Farmers and Agricultural Labourers Agencies, Small Farmers Development Agencies), ग्राम रोजगार के लिए महाभियान (Crash scheme for Rural Employment) और सूखाग्रस्त क्षेत्र प्रोग्राम (Draught prone Areas programme) आदि जैसे विशेष कार्यक्रमों को विकास के स्थायी कार्यक्रम बना देना चाहिए।

इन कार्यक्रमों का क्षेत्र अभी सीमित है। उदाहरणार्थ ग्राम-रोजगार का महाभियान अभी प्रयोग की अवस्था में है। इसके द्वारा देश भर में किसी एक वर्ष में 5 लाख श्रम-वर्ष (Man years) कार्य उपलब्ध होगा। परन्तु गरीबी हटाओ कार्यक्रम की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए 10 से 150 लाख श्रम-वर्षों को नौकरियों की जरूरत होगी। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि इस कार्यक्रमों को स्थायी बनाया जाए और योजना में इसके लिए

अधिक साधनों की व्यवस्था की जाय। इसी प्रकार इस क्षेत्र में कई अन्य समस्याएँ भी हैं।

5. दस हजार जनसंख्या वाले शहरों को विकास केन्द्रों (Growth Centres) के रूप में स्थानीय श्रम और उपलब्ध कच्चे माल के प्रयोग से विकास करना चाहिए। इसके लिए, जिला-स्तर पर विस्तारपूर्वक विकास की योजनाएँ बनायी जानी चाहिए। इन विकास केन्द्रों में भूमिहीन श्रमिकों या अन्य अकृषि-श्रमिकों को रोजगार उपलब्ध कराया जा सकता है और इस प्रकार इन्हें अपने जीवन के ढंग को बदलने की भी आवश्यकता नहीं।

6. इन नए विकास-केन्द्रों में दुग्धशालाओं और पशु-पालन, मुर्गी पालन, मछली पकड़ने, वन तथा उद्योगों आदि में विनियोग किया जा सकता है।

7. लघु सिंचाई की सुविधाओं में विस्तार के द्वारा शुष्क भूमि में सिंचाई की सुविधा प्रदान की जानी चाहिए।

8. ग्रामीण तथा शहरी दोनों ही क्षेत्रों में निम्न आय-वाले वर्गों को निवास की सुविधा प्रदान कर स्वयं नियो-जन (self-employment) की सुविधाओं में विस्तार करना चाहिए।

इस प्रकार निर्धनता के निवारण की कई योजनाएँ हैं। किन्तु निर्धनता-निवारण की बहुत सी योजनाएँ कार्यान्वयन के दौरान विकृत रूप धारण कर लेती हैं फलस्वरूप या तो उन्हें छोड़ दिया जाता है या इनके बारे में ढुलमुल नीति अपनायी जाती है। अतः यह अनिवार्य है कि ग्राम-विकास सम्बन्धी कार्यक्रम पंचायतों के अधीन रख कर इसके लिए विशेष विकास-परिषदें स्थापित करनी चाहिए जिनमें बहुसंख्यक प्रतिनिधित्व छोटे तथा सीमान्त किसानों, कारीगरों तथा भूमिहीन श्रमिकों को देना चाहिए। जब तक विकास-परिषदों के ढाँचे में आमूल परिवर्तन नहीं किया जाता तब तक गरीबों के हितों के लिए बनायी गयी नीतियों का पालन सम्भव नहीं है। वास्तव में, इन योजनाओं के कार्यान्वयन के लिए जन विकास परिषद् (People's Development Councils) की स्थापना ही श्रेयष्कर होगी। छठी पंचवर्षीय योजना में भी निर्धनता-निवारण संबंधी कार्यक्रम को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. V. M. Dandekar & N. Rath

2. B. S. Minhas

3. Planning Commission

4. Planning Commission

: Poverty in India.

: Rural Poverty, Land Redistribution and Development : Fact and Policy.

: Towards an Approach to the Fifth Five year Plan (Jan. 1973)

: Fifth Five year Plan (1974-79)

1. Planning Commission : Towards an Approach to the Fifth Plan p. 3.



## अध्याय : 14

### आर्थिक विकास के लिए वित्त

#### (Finance for Economic Development)

प्राश्निक्यतः—अर्द्ध-विकसित देशों में आज आर्थिक विकास की एक लहर-सी चल पड़ी है। आज इस वर्ग के प्रायः सभी राष्ट्र आयोजित तरीके से द्रुतगति से अपने आर्थिक विकास के कार्य में लग्न हैं। इन देशों में प्रति-व्यक्ति आय एवं रहन-सहन का स्तर अत्यन्त निम्न रहता है। ये सदियों से निधनता के निमेष जाल में फंसे हुए हैं। इनके समक्ष आज एक ही साथ कई सामाजिक एवं आर्थिक समस्याएँ हैं—निधनता, बराजगारी, ऋण-ग्रस्तता, शिक्षा इत्यादि। आयोजित तरीके से ही इन सारी समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। इन देशों में आर्थिक विकास का प्रधान उद्देश्य जीवन-स्तर, आय का स्तर एवं उत्पादन के स्तर का ऊँचा उठाना है। किन्तु, इस दश-जा शताब्दियाँ से विदशा पर निर्भर रहे हैं, जहाँ वस्त्रात्मक एवं आध्यात्मिक उत्थान अपना निम्नतम सामान्य पर है, जहाँ पूँजी का निमाण, उपभाग-स्तर तथा राष्ट्रीय आय बहुत ही निम्न है, जहाँ के निवासी अपनी सामाजिक श्रुद्धिलाभा को तोड़कर स्वतन्त्र होना नहीं चाहते हैं, बकाया, निधनता एवं शिक्षा जहाँ के राष्ट्रीय जीवन की प्रधान विशेषताएँ हों, उनका आर्थिक विकास करना कोई सरल कार्य नहीं है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इन देशों का द्रुतगति से अपना विकास करना है; क्योंकि यदि वे अपने विकास में और अधिक समय लगायें तो पश्चिम के विकसित देशों की तुलना में और अधिक पिछड़ जायेंगे। साथ ही, इन देशों की जनसंख्या अति तेजी के साथ बढ़ती है। इससे भी आर्थिक विकास का जो भी कार्य आरम्भ किया जाय उसे शीघ्र पूरा कर लेना इनके लिए अनिवार्य हो जाता है।

किन्तु, आर्थिक विकास के लिए बड़े पैमाने पर धन की आवश्यकता होती है। यातायात एवं संचारवाहन के साधनों के विकास, बड़े पैमाने के उद्योगों की स्थापना, कृषि की उत्पत्ति के लिए सिंचाई एवं जल-शक्ति के विकास के लिए नदियों में नये-नये बाँध बनाना, सामाजिक भा० अ०—11

जीवन के विकास के लिए सामुदायिक विकास, शिक्षा एवं स्वास्थ्य आदि की सुविधाओं को उपलब्ध बनाने के लिए बहुत बड़ी मात्रा में धन चाहिए। यह भी सत्य है कि आर्थिक विकास विभिन्न तत्त्वों पर निर्भर करता है। वित्त इनमें से केवल एक तत्त्व है। प्रो० एलीस (Ellis) का इस सम्बन्ध में निम्नांकित कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है : “आर्थिक विकास किसी देश के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, जनसांख्यिक एवं आर्थिक तत्त्वों के शुभ सम्मिश्रण पर निर्भर करता है।” (Economic development depends upon auspicious combination of political, social, cultural, demographic and economic factors.) किन्तु, फिर भी आर्थिक विकास में वित्त अथवा पूँजी का योगदान अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होता है।

#### आर्थिक विकास-सम्बन्धी वित्त-प्राप्ति के साधन (Sources of Finance for Economic Development)

आर्थिक विकास-सम्बन्धी कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए बड़े पैमाने पर वित्त अथवा पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। कोई भी अविकसित अथवा अर्द्ध-विकसित देश छोटे-छोटे तौर पर निम्नांकित साधनों से आवश्यक वित्त अथवा पूँजी प्राप्त कर सकता है :—

##### (अ) आंतरिक साधन (Internal Resources);

तथा

##### (ब) बाह्य साधन (External Resources)।

##### (अ) आंतरिक साधन (Internal Resources) —

विकास-सम्बन्धी कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिए अविकसित अथवा अर्द्ध-विकसित देशों को मुख्यतः आन्तरिक साधनों से पूँजी प्राप्त करनी पड़ती है। किन्तु इन देशों में पूँजी का निर्माण कस होते के कारण पूँजी की कमी रहती है। साथ ही, इनमें पुरानी जमा की हुई जो पूँजी होती है वह केवल थोड़े से व्यक्तियों के पास ही जमा रहती है जो उसे अपने पास से अलग करना नहीं चाहते।



आर्थिक विकास के लिए आन्तरिक साधनों के अन्तर्गत पूँजी निम्नांकित दो तरीकों से प्राप्त की जा सकती है :—

(i) साधनों को अनुत्पादक उपयोगों से उत्पादक उपयोगों में स्थानान्तरित कर (Diverting resources from unproductive to productive employment) :—हम जानते हैं कि अविकसित अथवा अर्द्ध-विकसित देशों में आर्थिक साधनों का उचित उपयोग नहीं होता। इन देशों में साधनों का एक बहुत बड़ा भाग या तो बेकार पड़ा रहता है अथवा अनुत्पादक कार्यों के उपयोग में लगाया जाता है। उदाहरण के लिए, इन देशों में आवश्यकता से बहुत अधिक व्यक्ति कृषि-कार्य में लगे रहते हैं। समाज में बहुत-से व्यक्ति, जैसे—साधु-फकीर, भिखमंगे इत्यादि बेकार पड़े रहते हैं। बहुत-सी भूमि भी इन देशों में बेकार पड़ी रहती है, नदियों का बहुत-सा जल बेकार बह जाता है, खनिज साधनों का उचित उपयोग नहीं होता इत्यादि। इसी प्रकार इन देशों में बहुत-सी पूँजी ऐसे उद्योगों में लगी रहती है जिनके उपयोग से नागरिकों की मानसिक एवं शारीरिक क्षमता का ह्रास होता है। ऐसी वस्तुओं का उत्पादन बन्द कर अधिक उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ किया जा सकता है जिससे इनकी पूँजी की प्रारम्भिक आवश्यकता में बड़ी कमी होगी। दूसरे शब्दों में, यदि ये साधन उत्पादक उपयोगों की ओर स्थानान्तरित कर दिये जायें तो इससे देश के आर्थिक विकास को बहुत अधिक लाभ पहुँचेगा, जैसे—कृषि में लगी अतिरिक्त जनसंख्या को कृषि से हटाकर सिंचाई, जल-विद्युत्, उद्योग तथा सड़क-निर्माण जैसी अधिक उत्पादक योजनाओं में लगाया जा सकता है, खाली तथा बेकार पड़ी भूमि को उपयोग में लगाया जा सकता है, इत्यादि।

(ii) चालू आय के प्रवाह को उपभोग से हटाकर पूँजी-निर्माण की ओर लगाना (Diverting the flow of current income from consumption to capital formation) :—इस प्रक्रिया को बचत अथवा पूँजी का निर्माण (Capital formation) कहा जाता है। इसके अन्तर्गत उपभोग को कम करके बचतों को प्रोत्साहित करना होगा, अर्थात् पूँजी-निर्माण की गति को तीव्र बनाना होगा। यदि किसी देश में एक निश्चित

अवधि में सम्पूर्ण आय को अपने वर्तमान उपभोग अथवा तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति पर खर्च न किया जाय, वरन् इसके एक भाग को भविष्य में और अधिक उत्पादन के लिए बचाया जाय जिससे कि यन्त्र अथवा मशीन इत्यादि खरीदे जायें तो इसे हम बचत कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में, यदि सम्पूर्ण वर्तमान धन को वर्तमान की आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही खर्च नहीं करके उसमें से कुछ बचा लिया जाय जिससे कि भविष्य में इसका प्रयोग अधिक धन के उत्पादन में किया जा सके, तो इससे आर्थिक विकास के लिए देश से ही पूँजी प्राप्त हो सकेगी। किन्तु, अविकसित अथवा अर्द्ध-विकसित देशों में निर्धनता का एक विषैला कुचक्र (vicious circle) चलते रहता है जो इस प्रकार है—आय कम होने से बचत कम होती है, बचत कम होने से पूँजी का निर्माण कम होता है, परिणामस्वरूप उत्पादन-शक्ति कम होती है और उत्पादन-शक्ति कम होने से पुनः आय कम हो जाती है। यह कुचक्र निरन्तर इसी प्रकार से चलते रहता है। दूसरी ओर, एक दूसरा कुचक्र भी आरम्भ हो जाता है—निम्न आय के कारण व्यक्तियों की क्रय-शक्ति कम होती है, क्रय-शक्ति कम होने से वस्तुओं की मांग कम होने लगती है, जिससे विनियोग को प्रोत्साहन नहीं मिलता, मशीनों का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता, जिससे उत्पादन कम होता है और परिणामस्वरूप आय और निम्न होती जाती है। सारांश यह है कि पूँजी-निर्माण की मन्द गति ही सारी मुसीबतों की जड़ है। इस कुचक्र को तोड़ने में सरकार का हाथ प्रमुख हो सकता है। बचत का इसमें महत्वपूर्ण स्थान है। किसी देश अथवा समाज में (1) व्यक्ति या तो स्वयं अपनी इच्छा से बचा सकते हैं, या (2) सरकार इस कार्य के लिए लोगों को विवश कर सकती है। वास्तव में, सरकार पूँजी-संचय में वृद्धि के लिए मुख्यतः दो प्रकार से सहायता दे सकती है—(क) लोगों को बचत के लिए प्रेरित कर, तथा (ख) बचत के लिए वाध्य कर।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक अधिकांश देशों में व्यक्ति स्वयं अपनी इच्छा से बचाया करते थे तथा अपनी बचत पूँजीगत वस्तुओं के निर्माण में लगाया करते थे। इससे ब्रिटेन तथा अमेरिका आदि विकसित



देशों में मशीनों के उपयोग को प्रोत्साहन मिला, व्यापार का विस्तार हुआ तथा आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का विकास हुआ। किन्तु प्रति-व्यक्ति आय की न्यूनता के कारण अविकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों में इस प्रकार की बचत की सम्भावना बहुत ही कम होती है। अतएव आर्थिक विकास के लिए इन देशों में इस सम्बन्ध में सरकार को ही महत्वपूर्ण कार्य करना पड़ता है। सरकार निम्नांकित तरीके से इससे सहयोग प्रदान कर सकती है :—

(क) बचत के लिए प्रेरित करना (Inducement to save) :—सरकार व्यक्तियों को बचत के लिए प्रेरणा दे सकती है। इसे दो प्रकार से सम्पन्न किया जा सकता है : (1) निजी उद्योगों में निवेश करने के लिए प्रेरणा देकर (Inducement to invest in private enterprises) :—सरकार विभिन्न उपायों द्वारा लोगों को निजी उद्योगों में निवेश करने के लिए प्रारत कर सकती है जबकि इस प्रकार के उद्योग अत्यधिक सुरक्षित एवं लाभदायक हों। (2) साथ ही, निवेशों के लिए पर्याप्त मात्रा में संस्थाएँ उपलब्ध बनाकर भी ऐसा किया जा सकता है। सरकार इन दोनों कार्यों का प्रभावपूर्ण तरीके से कर सकती है। उदाहरण के लिए निजी उद्योगों को लाभदायक बनाने के लिए उन्हें संरक्षण प्रदान कर सकती है, तकनीकी परामर्श दे सकती है, वित्तीय सहायता दे सकती है अथवा लाभ के उस भाग का करो से छूट दे सकती है जिस उद्योग-धन्दा में पुनर्निवेशाजित किया जाता है। भारत में भी वर्तमान समय में सरकार द्वारा इनमें से बहुत सारा सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं—जैसे, सरकार आवश्यक उद्योगों को संरक्षण प्रदान करती है, उन्हें तकनीकी परामर्श देती है तथा पुनर्निवेशाजित लाभ को विभिन्न प्रकार के करों से छूट दे सकती है।

इसी प्रकार सरकार देश में विनियोग के लिए नयी-नयी संस्थाओं की स्थापना भी कर सकती है। पिछड़े देशों में इस प्रकार की संस्थाओं का सामान्य रूप से अभाव पाया जाता है। अतएव सरकार इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य कर सकती है—जैसे, बैंकों की स्थापना कर सकती है, जीवन बीमा का राष्ट्रीयकरण कर सकती है, या अन्य प्रकार की विनियोग-सम्बन्धी संस्थाओं की स्थापना कर

सकती है। उदाहरण के लिए, हमलोगों के देश में सरकार द्वारा विनियोग की सुविधाओं के विस्तार के लिए विभिन्न प्रकार की संस्थाएँ स्थापित की जा रही हैं; जैसे, बैंकों में जनता के जमा को सुरक्षित बनाने के लिए Deposit Insurance Corporation की स्थापना की गयी है तथा छोटी-छोटी बचतों को प्रोत्साहित करने के लिए Unit Trust of India नामक एक संस्था की स्थापना की गयी है। इसी प्रकार जीवन बीमा एवं 14 प्रमुख व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया है। बैंकिंग की सुविधा में विस्तार के लिए स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गयी है।

जनता में बचत की आदत को प्रोत्साहित करने के लिए अविकसित देशों में सरकार छोटी-छोटी बचत की विभिन्न योजनाएँ (Small Savings Schemes) को प्रोत्साहित करके भी पुनर्निवेश का रास्ता बना सकती है। छोटी-छोटी बचत की योजनाओं के अन्तर्गत हमलोगों के देश में सरकार द्वारा आकर्षक सौद की दरों पर विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियाँ अथवा सर्टिफिकेट जारी किये गये हैं। समय-समय पर इनामी बाइंड्स भी जारी किये जाते हैं, दशवासियों से विकास कार्यों के लिए स्वर्ण प्राप्त करने के उद्देश्य से स्वर्ण-पत्र जारी किये गये हैं। सरकार इन पत्रों के द्वारा पर्याप्त मात्रा में प्रति वर्ष बचत प्राप्त करती है। किन्तु छोटी-छोटी बचत की योजनाएँ अभी सफल हो सकती हैं जबकि लोगों को यह विश्वास हो कि ऋण की अवधि की समय दश में मुद्रा-स्फीति के दबाव में कोई वृद्धि नहीं होगी। वास्तव में, अधिकांश अविकसित देशों में मुद्रा-स्फीति की आशंका बनी रहती है जिससे बचत प्रोत्साहित हो जाती है। अतः, सरकार को इस सम्बन्ध में पर्याप्त सावधानी से काम लेना पड़ता है।

(ख) अनिवार्य बचत (Compulsory Savings) :—किन्तु सरकार द्वारा बचत को प्रोत्साहित करने के लिए विभिन्न प्रकार की प्रेरणाओं के बावजूद ऐच्छिक बचत पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हो सकती है। इसके कई कारण हो सकते हैं—जैसे, देशवासियों की आय इतनी कम हो सकती है कि वे बचत करने में समर्थ नहीं हों, अथवा उनके पास क्रय-शक्ति बहुत ही कम हो जिससे नयी-नयी योजनाओं में विनियोजन के लिए उचित मात्रा में



प्रोत्साहन नहीं मिले। साथ ही, अधिकांश लोग अपनी बचत को नकद मुद्रा के रूप में नहीं रखकर जमीन में गाड़ कर अथवा सोना, चाँदी या जमीन आदि खरीदने में व्यय करना चाहते हैं, देश में सुव्यवस्थित मुद्रा बाजार का अभाव है, इत्यादि। और, सबसे बड़ी बात तो यह है कि आर्थिक प्रगति के साथ-साथ सामान्य मूल्य-तल में वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अपनी आय को उपभोग पर खर्च करना चाहते हैं तथा अपना जीवन-स्तर विकसित देशों की तरह ऊँचा करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में सरकार देशवासियों को बचत करने के लिए बाध्य भी कर सकती है।

सरकार निम्नांकित तरीकों से अनिवार्य बचत प्राप्त कर सकती है :—

(i) अनिवार्य बचत की व्यवस्था के द्वारा :—सरकार लोगों को कानून के द्वारा उनकी आय का एक निश्चित प्रतिशत भाग अनिवार्य रूप से बचाने तथा उसे इच्छित कार्यों में लगाने के लिए बाध्य भी कर सकती है। उदाहरण के लिए, 1963-64 ई० के बजट में सरकार द्वारा एक अनिवार्य बचत योजना (Compulsory Deposit Scheme) लागू की गयी जिसके अनुसार प्रायः सभी व्यक्तियों को उनकी आय का एक निश्चित भाग सरकार के पास अनिवार्य बचत के रूप में जमा करना पड़ता था। दूसरे वर्ष इस योजना को समाप्त कर एक नयी योजना-वार्षिकी जमा योजना (Annuity Deposit Scheme) प्रारम्भ की गयी जिसके अनुसार केवल 15,000 रुपये से अधिक वार्षिक आय वाले व्यक्तियों को उनकी आय का एक निश्चित प्रतिशत भाग अनिवार्य रूप से जमा करना पड़ता था। 1975 ई० से भी आय-कर चुकाने वाले व्यक्तियों के लिए अनिवार्य बचत की एक योजना लागू की गयी है। किन्तु इस प्रकार के प्रयत्न की भी एक निश्चित सीमा होती है जिसके बाद उसका जनता द्वारा स्वागत नहीं किया जाता।

(ii) करारोपण द्वारा अनिवार्य बचत (Compulsory saving through Taxation) :—करारोपण के द्वारा भी व्यक्तियों को बचत करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। सरकार को नये-नये करों को लगाकर

अथवा पुराने करों की दरों में वृद्धि कर उपभोग में आनेवाले कुछ साधनों को जनता के हाथ से लेकर स्वयं निर्माण के कार्य में प्रयोग कर सकती है। करारोपण से प्राप्त आय को सरकार स्थायी पूँजीगत साधनों पर लगा सकती है। किन्तु करारोपण द्वारा अनिवार्य बचत की विधि भी सरल नहीं होती। वास्तव में, करारोपण की भी एक निश्चित सीमा होती है जिसका उल्लंघन करना देश के लिए हानिकारक सिद्ध होता है। साथ ही, करारोपण का व्यक्तियों के बचाने की इच्छा पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए और देश में धन तथा आय के वितरण की विषमताओं में भी वृद्धि होनी चाहिए। बहुत अधिक करारोपण से व्यक्तियों को अपनी आवश्यक वस्तुओं के उपभोग को भी कम करना पड़ता है जिसका उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। सारांश यह है कि करारोपण की नीति ऐसी होनी चाहिए कि सरकार को अधिक-से-अधिक धन प्राप्त हो और साथ-ही-साथ बचतें भी हतोत्साहित न हों। उपभोग तथा उत्पादन कम न हो और धन के वितरण की विषमता नहीं बढ़े। करारोपण की किसी भी योजना में इन सारी बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

(iii) घाटे की वित्त-व्यवस्था के द्वारा अनिवार्य बचत (Compulsory Savings through Deficit Financing) :—अनिवार्य बचत का एक अन्य महत्वपूर्ण तरीका घाटे की वित्त-व्यवस्था है। जब आन्तरिक ऋण एवं करारोपण से पर्याप्त मात्रा में धन एकत्र न हो पाये तो अर्द्ध-विकसित देशों की सरकारों को घाटे की वित्त-व्यवस्था द्वारा इस कमी को पूरा करना चाहिए। घाटे की वित्त-व्यवस्था यदि उचित सीमाओं के अन्तर्गत रहे तो आर्थिक विकास के लिए वित्त प्राप्त करने का यह सबसे उपयुक्त साधन है। किन्तु घाटे की वित्त-व्यवस्था का अभिप्राय क्या है ?

भारतीय योजना आयोग (Indian Planning Commission) के अनुसार 'घाटे की वित्त-व्यवस्था' वाक्यांश बजट के घाटों के द्वारा कुल राष्ट्रीय व्यय में वृद्धि करने के लिए उपयोग में लाया जाता है। इस प्रकार के घाटे चाहे आय खाते (Revenue Account) से सम्बन्धित हों या पूँजीगत खाते (Capital Account) से। अतः इस प्रकार की नीति को अपनाने का तात्पर्य



यही होता है कि सरकार करों, सरकारी उद्यमों के लाभों, जनता से प्राप्त फजों, जमा तथा निधियों और अन्य फुटकर साधनों के रूप में प्राप्त आय से अधिक मात्रा में व्यय करती है। सरकार अपने घाटों की पूर्ति या तो अपने संचित शेषों (Accumulated Balances) को काम में लाकर या बैंकों से उधार लेकर करती है। (सरकार मुख्यतः देश के केन्द्रीय बैंक से उधार लेकर द्रव्य का निर्माण किया करती है।) [The Term 'Deficit Financing' is used to denote the direct addition to gross national expenditure through budget deficits, whether the deficits are of revenue or of capital account. The essence of such a policy lies, therefore, in Government spending in excess of the revenue it receives in the shape of taxes, earnings of state enterprises, loans from the public deposits and funds and other miscellaneous sources. The Government may cover the deficit either by running down its accumulated balances or by borrowing from the banking system (mainly from the Central Bank of the country and thus 'creating money.')] इस प्रकार स्पष्ट है कि घाटे की वित्त-व्यवस्था की स्थिति उस समय उत्पन्न होती है, जबकि सरकार को कर, ऋण तथा दूसरे साधनों से जितनी आय प्राप्त होती है, उससे अधिक मात्रा में वह व्यय करना चाहती है। इसके अन्तर्गत सरकार ऋण-पत्र (Securities) जारी कर उन्हें केन्द्रीय बैंक को दे देती है तथा वह इन ऋण-पत्रों के आधार पर और अधिक मात्रा में पत्र-मुद्रा जारी कर देता है। सरकार को इस प्रकार से जो मुद्रा प्राप्त होती है, वह उसे पूँजीगत माल के खरीदने के काम में लाती है।

किन्तु, आवश्यकता से अधिक घाटे की वित्त-व्यवस्था देश के लिए हानिकारक सिद्ध होती है। इससे सदा मुद्रा-स्फीति (Inflation) के उत्पन्न होने की आशंका बनी रहती है। किन्तु घाटे की वित्त-व्यवस्था से मुद्रा-स्फीति उत्पन्न होगी अथवा नहीं, यह कई बातों पर निर्भर करता है। जैसे, यदि सरकार इस प्रकार से सृजन की गयी नयी मुद्रा को उत्पादक कार्यों पर व्यय करती है जिससे उत्पादन बढ़ता है और बड़ी हुई आय में से लोग बचाते हैं तो मुद्रा-स्फीति की आशंका नहीं रहती। इससे भी मूल्य में वृद्धि

अवश्य होती है, किन्तु मूल्य में प्रत्येक वृद्धि को बुरा नहीं कहा जा सकता और न मूल्य में प्रत्येक प्रकार की वृद्धि मुद्रा-स्फीति की ही सूचक होती है। केवल वही मूल्य-वृद्धि स्फीतिक होती है जो मूल्यों में निरन्तर वृद्धि का एक क्रम स्थापित कर देती है। साथ ही, घाटे की वित्त-व्यवस्था के साथ-साथ करारोपण और उधार की उपयुक्त नीतियाँ भी अपनानी चाहिए जिससे कि मूल्य-वृद्धि पर पर्याप्त नियन्त्रण रखा जाय तथा मुद्रा-स्फीति विरोधी अन्य उपायों द्वारा जनता के हाथ से अतिरिक्त क्रय-शक्ति बाजार में पहुँचने के पूर्व ही ले ली जाय।

#### (घ) बाह्य साधन (External Resources) :—

जब आन्तरिक साधन विकास कार्यक्रम के लिए पर्याप्त नहीं होते तो सरकार को विदेशों से सहायता लेनी पड़ती है। साधारणतया, अविकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों में आन्तरिक साधन विकास की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए अपर्याप्त सिद्ध होते हैं। साथ ही, इन्हें पूँजी के अतिरिक्त मशीनों एवं यन्त्रों, तकनीकी परामर्श तथा अनुसन्धान एवं खोज के लिए सामग्री की भी आवश्यकता पड़ती है जिसके लिए इन्हें विदेशों पर ही मुख्य रूप से आश्रित रहना पड़ता है। देश में वस्तुओं के निर्यात के द्वारा प्राप्त विदेशी विनिमय से आवश्यक साधनों को प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु अधिकांश अविकसित देशों में विदेशी विनिमय-सम्बन्धी साधनों का अभाव रहता है जिससे इन्हें पूँजीगत मालों तथा तकनीकी सहायता के लिए विदेशों से ऋण अथवा अनुदान की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार अविकसित देशों को आर्थिक तथा तकनीकी दोनों प्रकार की सहायता की आवश्यकता पड़ती है।

कोई भी अविकसित देश निम्नांकित तरीकों से बाह्य साधन प्राप्त कर सकता है :—

1. विदेशी नागरिकों से ऋण के द्वारा (Borrowing from citizens of foreign countries) :—अविकसित अथवा अर्द्ध-विकसित देश विदेशी नागरिकों अथवा विदेशी निजी कम्पनियों से ऋण ले सकते हैं। पिछले वर्षों में अविकसित देशों के विकास में इस तरह के ऋणों ने अत्यधिक सहयोग प्रदान किया है, जैसे—भारत में रेलों तथा सिंचाई की योजनाओं का निर्माण मुख्यतः इसी प्रकार की पूँजी द्वारा हुआ था।



2. विदेशी सरकारों से ऋण (Borrowing from Governments of foreign countries)—अविकसित देश विदेशी सरकारों से भी ऋण ले सकते हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् विश्व के विकसित राष्ट्रों ने अविकसित देशों को आर्थिक विकास के लिए कई तरह से ऋण प्रदान करना प्रारम्भ किया है। उदाहरण के लिए, अमेरिका तथा सोवियत संघ ने तकनीकी सहयोग (Technical co-operation) और दूसरे कार्यक्रमों के अन्तर्गत भारत को बड़ी-बड़ी धनराशियाँ उधार दी हैं।

3. विदेशी सरकारों से प्रत्यक्ष सहायता (Direct assistance from foreign Governments):—विश्व के विकसित राष्ट्र कम विकसित तथा अविकसित देशों को ऋण के अतिरिक्त प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता भी प्रदान कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, अमेरिका ने प्रेसिडेंट ट्रूथैन के प्वाइन्ट फोर प्रोग्राम (Point four Programme) के अन्तर्गत और ब्रिटेन, कनाडा एवं आस्ट्रेलिया इत्यादि देशों ने कोलम्बो योजना (Colombo Plan) के अन्तर्गत विभिन्न देशों को प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक सहायता दी थी। इसी प्रकार रूस द्वारा भी बहुत-से अविकसित राष्ट्रों को प्रत्यक्ष सहायता दी जा रही है। किन्तु, इस प्रकार की सहायता में राजनीतिक स्वार्थों के संलग्न हो जाने का भय रहता है।

4. अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण (Borrowing from International Agencies):—अविकसित राष्ट्रों को आर्थिक एवं तकनीकी सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद कुछ इस प्रकार की विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना की गई है जो इन देशों को पर्याप्त मात्रा में ऋण एवं सहायता प्रदान कर रही हैं। इनमें अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development) एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन संस्थाओं का प्रमुख उद्देश्य आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देशों को आर्थिक विकास के लिए ऋण प्रदान करना है। इन्होंने विश्व के अनेक देशों को सिंचाई, रेल, विद्युत् के विकास, बाढ़-नियन्त्रण इत्यादि अनेक कार्यक्रमों के लिए ऋण प्रदान किया है। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय बैंक भी आखिरकार एक बैंक ही है तथा इसकी भी ऋण देने की क्षमता सीमित ही है। अतएव कम विकसित देशों

की सहायता के लिए एक और अन्तर्राष्ट्रीय संस्था "आर्थिक विकास के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघीय विशिष्ट निधि" (The United Nations Special Fund for Economic Development) की स्थापना की गयी है। इनके अतिरिक्त और भी कई इसी प्रकार की संस्थाएँ यह कार्य करती हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आज के युग में विदेशी ऋण एवं विदेशी आर्थिक सहायता द्वारा विकसित राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देशों के आर्थिक विकास की योजनाओं में महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। वास्तव में, इस प्रकार से अविकसित अथवा अर्द्ध-विकसित देशों को पर्याप्त मात्रा में धन, विनिमय, पूँजीगत माल और तकनीकी सहायता प्राप्त हो जाती है।

किन्तु, बाह्य साधनों को प्राप्त करने की भी कुछ प्रमुख सीमाएँ हैं जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं:— (i) विदेशी ऋण एवं विदेशी सहायता के सम्बन्ध में सदा निश्चितता नहीं रहती कि ये उचित समय पर यथेष्ट मात्रा में मिल सकेंगे। (ii) ऐसी सहायता के साथ बहुधा राजनीतिक अथवा आर्थिक शर्तें जुड़ी रहती हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ ऐसी बात नहीं पायी जाती है, किन्तु फिर भी विदेशी राजनीतिक स्वार्थों का विदेशी सहायता में बन्धन हो सकता है। साधारणतया यह देखा जाता है— कि ऋण देनेवाले देश ऋणी देशों पर, जिनकी वह सहायता करता है, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अपना राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव डालने का प्रयास कर सकता है।

इस प्रकार अविकसित देशों में साधनों के अभाव को दूर करने में विदेशी पूँजी से अधिक सहायता मिलती है। इसके द्वारा देशी पूँजी के निर्माण को प्रोत्साहन देने में भी सहायता मिल सकती है। किन्तु जैसा कि संयुक्त राष्ट्र-संघ द्वारा नियुक्त विशेषज्ञों के दल ने कहा है, "आर्थिक विकास के क्षेत्र में विदेशी वित्त केवल गौण स्थान ही प्राप्त कर सकता है।" (The role of foreign finance in development can only be of a subordinate character.) विदेशी और देशी वित्त एक दूसरे के पूरक हैं, किन्तु "जब तक कि उपयोग एवं वित्त करने की क्रियाओं, धन-संचय करने वाली संस्थाओं और कानूनी ढाँचे एवं उधार देने और विनियोग कार्य को पूँजी के निर्माण के अनुकूल नहीं बनाया जाता तब तक विदेशी सहायता से केवल अल्पकालीन लाभ ही प्राप्त हो सकता है। वास्तव में, रहन-सहन के ऊँचे स्तरों के लिए एक स्थायी आधार का निर्माण देश के आन्तरिक प्रयत्नों से ही किया जा सकता है।" (Unless the habits of



consumption and saving the institution and legal framework for accumulation, lending and investing can be adopted to the building and maintenance of capital, foreign aid can bring only transitory benefits. A permanent basis for higher living standards must be created within the society.)<sup>1</sup>

सारांश यह है कि विदेशी सहायता को केवल मशीन में तेल की तरह काम में लाना चाहिए, मुख्य शक्ति की तरह नहीं। आर्थिक विकास को संचालित करने के लिए मुख्य शक्ति का काम आन्तरिक साधनों से ही लिया जाना चाहिए।

### भारत में विकास-सम्बन्धी वित्त-व्यवस्था (Financing of Economic Development in India)

भारत में अब तक पाँचवीं पंचवर्षीय योजनाएँ समाप्त हुई हैं तथा छठी योजना का कार्य चल रहा है। अब देश की इन विभिन्न योजनाओं की वित्तीय व्यवस्था के सम्बन्ध में निम्नांकित विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

#### प्रथम योजना की वित्तीय व्यवस्था (Financing of the First Five Year Plan)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में 2378 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था, किन्तु पाँच वर्षों में वास्तविक व्यय 1960 करोड़ रुपये ही हुआ। यह रकम विभिन्न साधनों से निम्न प्रकार से प्राप्त की गई थी :—

#### प्रथम योजना के वित्तीय साधन

| साधन                      | रकम<br>(करोड़ रुपये में) | कुल का<br>प्रतिशत |
|---------------------------|--------------------------|-------------------|
| 1. कर तथा रेलवे से बचत    | 752                      | 38                |
| 2. बाजार से उपलब्ध ऋण     | 206                      | 10                |
| 3. लघु बचत एवं असंचित ऋण  | 304                      | 16                |
| 4. अन्य पूँजीगत साधन      | 90                       | 5                 |
| 5. बाहर से प्राप्त सहायता | 188                      | 10                |
| 6. घाटे की वित्त-व्यवस्था | 420                      | 21                |
| <b>कुल</b>                | <b>1960</b>              | <b>100</b>        |

इससे स्पष्ट है कि प्रथम योजनाकाल में पाँच वर्षों में कर तथा रेलवे की बचत द्वारा कुल 752 करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई। योजनाकाल में घाटे की वित्त-व्यवस्था से पाँच वर्षों में 420 करोड़ रुपये, यानी कुल व्यय का

21 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ था। इसी प्रकार विदेशी सहायता का प्रतिशत प्रायः 10 था। लघु बचत एवं असंचित ऋण से पाँच वर्षों में 304 करोड़ रुपये प्राप्त हुआ था। स्पष्ट है कि प्रथम योजना में कर तथा रेलवे से प्राप्त बचतों द्वारा ही अधिक रकम, योजना के कुल व्यय का प्रायः 21 प्रतिशत भाग प्राप्त हुई थी।

#### द्वितीय योजना के वित्तीय साधन

#### (Financial Resources of the Second Five Year Plan)

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में पाँच वर्षों में 4800 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि पाँच वर्षों में वास्तविक व्यय 4600 करोड़ रुपये ही हुआ। यह रकम विभिन्न साधनों से निम्न प्रकार से प्राप्त हुई थी :—

#### द्वितीय योजना के वित्तीय साधन

| साधन                                            | व्यय की रकम<br>(करोड़ रुपये में) | कुल का<br>प्रतिशत |
|-------------------------------------------------|----------------------------------|-------------------|
| 1. चालू आय से बचत (1951-56 ई० के करों की दर पर) | 50                               | 1.2               |
| 2. अतिरिक्त करों के द्वारा                      | 1052                             | 22.4              |
| 3. जनता से ऋण                                   | 780                              | 17.3              |
| 4. अल्प बचत                                     | 400                              | 8.3               |
| 5. रेलवे से अनुदान                              | 150                              | 3.3               |
| 6. निर्वाह निधि तथा अन्य जमाखाते                | 230                              | 6.4               |
| 7. विदेशों से प्राप्त साधन                      | 1090                             | 22.7              |
| 8. घाटे की वित्त-व्यवस्था                       | 948                              | 20.8              |
| <b>कुल</b>                                      | <b>4600</b>                      | <b>100.0</b>      |

इससे स्पष्ट है कि द्वितीय योजनाकाल में अतिरिक्त करों के द्वारा 1052 करोड़ रु०, यानी कुल व्यय का 22.4 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ था। इससे स्पष्ट है कि नये करों के द्वारा द्वितीय योजनाकाल में बहुत अधिक रकम प्राप्त हुई थी। इसके बाद विदेशी सहायता का स्थाव था जिससे पाँच वर्षों में 1090 करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई थी। यह योजना के कुल व्यय का प्रायः 22.7 प्रतिशत भाग था। इसी प्रकार घाटे की वित्त-व्यवस्था से 948 करोड़ रुपये, यानी कुल व्यय का 20.8 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ था। द्वितीय योजना में घाटे की वित्त-व्यवस्था द्वारा बहुत अधिक रकम प्राप्त हुई थी जिससे मूल्य-तल में बहुत अधिक वृद्धि हुई।



### तृतीय योजना के वित्तीय साधन (Financial Resources of the Third Five Year Plan)

तृतीय पंचवर्षीय योजना में पाँच वर्षों में 7500 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। किन्तु योजना के प्रारम्भ

तृतीय पंचवर्षीय योजना के वित्तीय साधन (करोड़ रुपये में)

| साधन                                           |          | आयोजित         |       | वास्तविक       |  |
|------------------------------------------------|----------|----------------|-------|----------------|--|
|                                                |          | कुल का प्रतिशत |       | कुल का प्रतिशत |  |
| 1. वर्तमान करों के आधार पर बचत                 | 550      | 7.3            | - 419 | - 4.9          |  |
| 2. वर्तमान आधार पर रेलों से प्राप्त धन         | 100      | 1.3            | 62    | 0.7            |  |
| 3. सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों से प्राप्त धन | 450      | 6.0            | 373   | 4.4            |  |
| 4. जनता से ऋण                                  | 800      | 10.6           | 823   | 9.6            |  |
| 5. अल्प बचतें                                  | 600      | 8.2            | 565   | 6.6            |  |
| 6. विविध पूँजीगत प्राप्तियाँ                   | 540      | 7.2            | 725   | 8.4            |  |
| 7. विदेशी सहायता                               | 2200     | 29.3           | 2423  | 28.2           |  |
| 8. घाटे की वित्त-व्यवस्था                      | 5.0      | 7.3            | 1133  | 13.2           |  |
| 9. अतिरिक्त कर                                 | 1710     | 22.8           | 2892  | 33.8           |  |
|                                                | कुल 7500 | 100.0          | 8577  | 100.0          |  |

इससे स्पष्ट है कि तृतीय योजना में विदेशी सहायता से 2200 करोड़ रुपये प्राप्त करने का आयोजन था जो कुल व्यय का प्रायः 30 प्रतिशत भाग था जबकि वास्तविक उपलब्धि 2423 करोड़ रुपये थी। विदेशी सहायता से इतनी अधिक रकम प्राप्त करना देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए उचित नहीं जान पड़ता। अतिरिक्त करों के द्वारा 1710 करोड़ रुपये यानी कुल व्यय का प्रायः 23 प्रतिशत भाग प्राप्त करने का आयोजन था जबकि इस मद में कुल 2892 करोड़ रुपये की रकम जो कुल व्यय का लगभग एक-तिहाई भाग थी, प्राप्त हुई। किन्तु तृतीय योजना की अवधि में लगाये गये करों का बहुत बड़ा भाग वेतन तथा भत्ते आदि के रूप में ही व्यय हो गया और योजना के कार्यक्रमों की पूर्ति के अतिरिक्त करों का हिस्सा उतना नहीं हो सका जितना कि इससे आशा की जाती थी। इसी प्रकार घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit financing) द्वारा 550 करोड़ रुपये प्राप्त करने का आयोजन था, किन्तु योजनाकाल में इससे लगभग दुगुनी रकम, यानी 1133 करोड़ रुपये इस साधन से प्राप्त की गयी। इससे स्पष्ट है कि घाटे की वित्त व्यवस्था के द्वारा

से ही आपातकालीन स्थिति को देखते हुए इसके व्यय में बहुत अधिक वृद्धि करनी पड़ी। परिणामस्वरूप तृतीय योजना में वास्तविक व्यय पाँच वर्षों में 8577 करोड़ रुपये हुआ। इस रकम को विभिन्न साधनों से निम्न प्रकार से प्राप्त किया गया था।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के वित्तीय साधन (करोड़ रुपये में)

बहुत अधिक रकम प्राप्त हुई। वास्तव में, तृतीय योजना में इसीलिए मूल्य-तल में बहुत अधिक वृद्धि की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई थी।

विविध पूँजीगत प्राप्तियों (Miscellaneous capital receipts) के अन्तर्गत योजनाकाल में 725 करोड़ रुपये की रकम अनिवार्य जमा तथा वार्षिकी जमा से 117 करोड़ रुपये, इस्पात समीकरण कोष (Steel Equalization Fund) से 34 करोड़ रुपये तथा शेष मदों से 238 करोड़ रुपये की रकम सम्मिलित हैं।

इस प्रकार तृतीय योजना का वित्त-प्रबन्धन अत्यन्त संतोषजनक रहा। अतिरिक्त कर, ऐच्छिक कर, तथा अनिवार्य बचतें, भविष्य निधि-कोष तथा सार्वजनिक ऋणों को बढ़ाने के प्रयास पूर्णरूपेण सफल भूत हुए। किन्तु घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit Financing) से दुगुने से भी अधिक रकम प्राप्त हुई जिससे स्फीतिजनक प्रवृत्तियों को बहुत अधिक बल मिला। वास्तव में, आपातकालीन परिस्थितियों के कारण योजना के आयोजित व्यय में बहुत अधिक वृद्धि करनी पड़ी जिससे अधिक भाग में घाटे की वित्त-व्यवस्था की रकम को अपनाना पड़ा।

### वार्षिक योजनाओं का वित्त-प्रबन्धन (Financing of the Annual Plans)

1966 से मार्च 1969 के बीच तीन एक-वर्षीय योजनाएँ कार्यान्वित की गयीं। वार्षिक योजनाओं, यानी

1966-67, 1967-68 तथा 1968-69 का वित्त-प्रबन्धन निम्नांकित तालिका से स्पष्ट हो जाता है :-



वार्षिक योजनाओं का वित्त-प्रबन्धन (1966-69) निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

| मदें                                                                              | मूल अनुमान | वास्तविक रकम |
|-----------------------------------------------------------------------------------|------------|--------------|
| 1. 1965-66 की दरों पर चालू राजस्व शेष से बचत                                      | 866        | 303          |
| 2. 1965-66 की दरों पर सार्वजनिक उद्योगों के अधिशेष                                | 587        | 409          |
| 3. अतिरिक्त कराधान                                                                | 1060       | 910          |
| 4. जनता से ऋण                                                                     | 571        | 719          |
| 5. अल्प बचत                                                                       | 391        | 355          |
| 6. वार्षिकी जमा, इनामी बाण्ड, राज्य भविष्य निधि कोष तथा विविध पूँजीगत प्राप्तियाँ | 420        | 952          |
| 7. विदेशी सहायता                                                                  | 2435       | 2426         |
| 8. घाटे की वित्त-व्यवस्था                                                         | 335        | 682          |
|                                                                                   | कुल 6665   | 6756         |

1966-67 तथा 1967-68 के दो वर्ष अर्थ-व्यवस्था के लिए बहुत अधिक दबाव के वर्ष रहे। 1965-66 से लगातार दो वर्षों में फसलों के खराब होने, औद्योगिक उत्पादन की मन्द गति तथा कीमत-स्तर में अत्यधिक वृद्धि का साधनों को जमा करने पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ा। चालू राजस्व शेष में बहुत अधिक कमी हुई। महंगाई में वृद्धि, सामग्रियों की बढ़ती हुई कीमतें तथा रेलवे यातायात में अपेक्षित दर से कम ही विकास होने के कारण रेलों का घाटा मूल अनुमान से 48 करोड़ रुपये अधिक रहा।

अतिरिक्त करों से भी मूल अनुमान की तुलना में 150 करोड़ रुपये कम रकम प्राप्त हुई किन्तु जनता से ऋण के द्वारा 148 करोड़ रुपये की अतिरिक्त रकम प्राप्त हुई। अल्प बचत के अनुमान से 36 करोड़ रुपये कम

रकम प्राप्त हुई। किन्तु विविध पूँजीगत प्राप्तियों के अनुमान से 532 करोड़ रुपये की अधिक रकम प्राप्त हुई। दूसरी ओर, घाटे की वित्त-व्यवस्था के द्वारा तीन वर्षों में दुगुनी रकम प्राप्त हुई, यानी 347 करोड़ रुपये की अधिक रकम प्राप्त हुई। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक आश्चर्य की बात यह है कि 1966-67 की योजना में घाटे की वित्त-व्यवस्था का बिल्कुल अभाव था तथा 1967-68 में केवल 28 करोड़ रुपये की राशि की व्यवस्था थी। परन्तु इन दोनों वर्षों में वास्तविक घाटे की मात्रा 189 करोड़ रुपये तथा 220 करोड़ रुपये हुई।

कुल मिलाकर 6665 करोड़ रुपये की रकम को तीन वर्षों में प्राप्त करने का आयोजन था, किन्तु वास्तव में 6756 करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई, यानी आयोजित रकम से 91 करोड़ रुपये अधिक हुई।

#### चतुर्थ पंचवर्षीय योजना की वित्तीय-व्यवस्था (Financing of the Fourth Five Year Plan)

चतुर्थ योजना में सार्वजनिक-क्षेत्र में कुल 15,902 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। किन्तु योजना में वास्तविक व्यय 16,160 करोड़ रुपये था। यह 16,160 करोड़ रुपये की रकम निम्नांकित प्रकार के प्राप्त की गयी थी :—

चतुर्थ योजना के वित्तीय साधन (करोड़ रुपये में)

| मदें                                         | केन्द्र   | राज्य | कुल आयोजित रकम | वास्तविक रकम |
|----------------------------------------------|-----------|-------|----------------|--------------|
| 1. 1968-69 की कराधान दरों पर चालू राजस्व शेष | 1625      | 48    | 1673           | — 236        |
| 2. " में प्रचलित दरों पर रेलवे से बचत        | 265       | —     | 265            | — 265        |
| 3. " अन्य सार्वजनिक संस्थाओं की बचत          | 1269      | 495   | 1764           | 1300         |
| 4. रिजर्व बैंक से लाभ                        | 165       | 37    | 202            | 296          |
| 5. जनता से ऋण                                | 900       | 515   | 1415           | 2135         |
| 6. अल्प बचतें                                | 274       | 495   | 769            | 1162         |
| 7. शुद्ध विविध पूँजीगत प्राप्तियाँ           | 2733      | 418   | 3151           | 3241         |
| 8. विदेशी सहायता                             | 2615      | ....  | 2615           | 2087         |
| 9. अतिरिक्त कर तथा अन्य साधन                 | 2100      | 1098  | 3198           | 4280         |
| 10. घाटे का वित्त-प्रबन्धन                   | 850       | ..... | 850            | 2060         |
|                                              | कुल 12796 | 3106  | 15,902         | 16,160       |



अब इनका निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

1. चालू राजस्व शेष (Balance from Current Revenue) :—1968-69 के प्रचलित करों के आधार पर चतुर्थ योजनाकाल में 1673 करोड़ रुपये प्राप्त होने का अनुमान था। इसमें से केन्द्रीय सरकार से 1625 करोड़ रुपये तथा राज्य सरकारों से 48 करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा थी। यह अनुमान कई प्रकार की मान्यताओं पर आधारित था, जैसे—खाद्यान्न पर कोई आर्थिक सहायता नहीं प्रदान की जायगी तथा कर्मचारियों के वेतन में कोई वृद्धि नहीं होगी। साथ ही, इस बात का भी प्रयत्न किया गया था कि गैर-योजना सम्बन्धी व्ययों में वृद्धि को रोका जायगा। किन्तु ये सारी प्रत्याशाएँ सफल नहीं सिद्ध हुईं तथा इस मद में विशुद्ध प्राप्ति 236 करोड़ रुपये की हुई। इसमें केन्द्रीय सरकार से 111 करोड़ की प्राप्ति हुई जबकि राज्यों के बजट की प्राप्तियाँ ऋणात्मक (—347) करोड़ रुपये थी।

2. रेलवे तथा अन्य सरकारी उपक्रमों से लाभ (Surplus From Railways and other State enterprises) :—इसी प्रकार 1968-69 में प्रचलित दरों पर रेलों से 265 करोड़ रुपये तथा डाक एवं तार से 225 करोड़ रुपये वचत की आशा की जाती थी। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार के अन्य उपक्रमों से 1014 करोड़ रुपये प्राप्ति की आशा थी। इसी प्रकार राज्य सरकार के उपक्रमों से 495 करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा थी। इसमें से 482 करोड़ रुपये राज्य विद्युत परिषद् तथा 14 करोड़ रुपये राज्य सड़क परिवहत तथा अन्य राज्य सरकारों के उपक्रमों से देने थे। इस मद में विशुद्ध प्राप्ति 1135 करोड़ रुपये ही हुई। इसमें रेलों से—265 करोड़ रुपये का घाटा भी सम्मिलित है।

3. रिजर्व बैंक से लाभ (Retained Profit from Reserve Bank) :—इसी प्रकार यह अनुमान किया गया कि रिजर्व बैंक अपने प्रतिभूत लाभों से 202 करोड़ रुपये देगा। इसमें से 37 करोड़ रुपये की राशि उस क्षेत्र से प्राप्त होने की आशा थी जो राज्य सरकारों को सरकारी स्थालों की अंशपूर्जी में लगाने के लिए ऋण के रूप में जाने को थी। रिजर्व बैंक से शुद्ध प्राप्ति 296 करोड़ रुपये की हुई।

4. शुद्ध बाजार उधार ग्रहण (Net Market Borrowings) :—जीवन बीमा निगम, कर्मचारियों के भविष्य-निधि कोषों तथा बैंकों एवं अन्य संस्थात्मक विनियोजकों के इन तीन वर्गों का द्रुत गति से विस्तार होने पर केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को जनता से ऋण के रूप में 1415 करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा थी। किन्तु प्राप्तियाँ 2135 करोड़ रुपये हुईं जिसमें से केन्द्र का हिस्सा 1567 करोड़ रुपये तथा राज्यों का 568 करोड़ रुपये हुआ। इसके अतिरिक्त औद्योगिक वित्त निगम, औद्योगिक विकास बैंक जैसी वित्तीय संस्थाओं द्वारा 250 करोड़ रुपये के उधार-ग्रहण का आयोजन था जबकि वास्तव में 177 करोड़ रुपये इस मद से प्राप्त हुआ और 'फूड कारपोरेशन ऑफ इण्डिया' द्वारा 155 करोड़ रुपये के उधार-ग्रहण की भी आशा थी किन्तु इस मद में कोई रकम प्राप्त नहीं हुई।

5. अल्प बचतें (Small Savings) :—चतुर्थ योजना काल में अल्प बचतों से 767 करोड़ रुपये की उपलब्धि का अनुमान था जिसमें घरेलू संग्रह तथा कर्मचारियों के भविष्य-निधि कोष इत्यादि शामिल थे। इस मद में वास्तविक प्राप्ति 1162 करोड़ रु० थी। वार्षिकी जमा योजना (Annuity deposit scheme) समाप्त करने के परिणामस्वरूप प्रति-भुगतान (repayment) की राशि के रूप में ऋणात्मक 104 करोड़ रु० अनुमानित की गई थी जबकि वास्तविक रकम 98 करोड़ रुपये थी। इसी प्रकार राज्य भविष्य निधि कोष के अन्तर्गत शुद्ध-संग्रह (net collection) की राशि 660 करोड़ रुपये अनुमानित की गई थी जबकि वास्तविक रकम 874 करोड़ रुपये थी।

6. विविध पूँजीगत प्राप्तियाँ (Miscellaneous Capital Receipts) :—केन्द्र को विविध पूँजीगत प्राप्तिओं से 1685 करोड़ रुपये के शुद्ध अन्तर्वाह की आशा थी। इसमें से राज्यों के लिए 405 करोड़ रुपये का शुद्ध बहिर्वाह (outgo) अनुमानित किया गया था। किन्तु योजना अवधि में इस मद में शुद्ध प्राप्ति के रूप में 1455 करोड़ रुपये हुए।

7. वित्तीय संस्थानों द्वारा उधार ग्रहण (Borrowings by Financial Institutions) :—मार्केट उधार-ग्रहण के अतिरिक्त, राज्य सरकारें जल-पूर्ति तथा गृह-



निर्माण स्कीमों के लिए जीवन बीमा निगम (LIC) से 100 करोड़ रुपये उधार लेगी। यह भी आशा की गयी थी कि राज्य उद्योगों के लिए जीवन बीमा निगम (LIC) से 142 करोड़ रुपये का ऋण लेगी। राजकीय उपक्रम 258 करोड़ रुपये सीधे बाजार से भी और उधार लेने वाले का इस मद में वास्तविक उपलब्धि 433 करोड़ रुपये हुई जिसमें LIC का हिस्सा 111 करोड़ रुपये, राजकीय उपक्रमों द्वारा बाजार से 476 करोड़ रुपये तथा राजकीय उपक्रमों द्वारा LIC से 246 करोड़ रुपये का ऋण सम्मिलित है।

8. विदेशी सहायता (External Assistance):— विदेशी सहायता के अनुरूप शुद्ध वषट प्राप्तियाँ 2614 करोड़ रुपये अनुमानित की गई थीं। वास्तव में, चतुर्थ योजना के लिए विदेशी सहायता की सकल राशि का 3,830 रुपये का अनुमान लगाया गया था जिसमें से विदेशी ऋणों के प्रति-भुगतान के रूप में 1216 करोड़ रुपये बटा दिये जाने पर 2614 करोड़ रुपये शेष आता था। इसके विपरीत सहायता की मात्रा 2087 करोड़ रुपये थी।

9. घाटे का वित्त-प्रबन्धन (Deficit Financing):— योजना की अवधि के दौरान घाटे के वित्त प्रबन्धन की मात्रा 850 करोड़ रुपये परिकल्पित की गई थी। किन्तु प्रारम्भ से ही योजना बनाने वालों का कहना था कि घाटे के वित्त-प्रबन्धन की वास्तविक राशि इससे भी अधिक होगी। वास्तव में, चतुर्थ योजना में घाटे की वित्त-व्यवस्था के द्वारा कुल 2060 करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई थी। चौथी योजना के पहले तीन वर्षों में ही 806 करोड़ घाटे की वित्त-व्यवस्था तथा अंतिम दो वर्षों में 1254 करोड़ रुपये प्राप्त हुए।

10. अतिरिक्त साधन जुटाना (Additional Resource Mobilisation):— योजना के लिए 3,198 करोड़ रुपये के बराबर अतिरिक्त साधन जुटाने की आवश्यकता का अनुमान था। इसमें से 2100 करोड़ रुपये केन्द्र तथा 1098 करोड़ रुपये राज्य सरकारों जुटाने की थीं। 2100 करोड़ रुपये की राशि केन्द्र के अतिरिक्त कराधान में से राज्यों को निकाल देने के बाद है।

पाँच वर्षों में कुल अतिरिक्त साधन के रूप में 4280

करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई। इसमें से केन्द्रीय सरकार का हिस्सा 3222 करोड़ रुपये तथा राज्य सरकारों का 1058 करोड़ रुपये था। अतिरिक्त साधन जुटाने के उपाय निम्नांकित थे :—सार्वजनिक उपक्रमों की दक्षता तथा लाभदायकता से संचालन; अल्प वचनों के लिए अधिक प्रभावशाली संगठित भयल; कृषि आय तथा शहरी सम्पत्ति पर अतिरिक्त कराधान।

चुने हुए क्षेत्र में सुझाए गए कुछ विशिष्ट उपाय निम्नांकित थे :—

(क) राज्य बिजली उपक्रमों में लगी हुई पूँजी के प्रतिफलों को बढ़ाकर 11 प्रतिशत पर ले जाना और बिजली प्रशुल्कों (tariffs) का आगे ऐसे ढंग से वर्गीकरण कि धनी उपभोक्ताओं को अधिक दर से भुगतान करना पड़े।

(ख) सिंचाई की दरें कृषकों को सिंचित फसलों से प्राप्त होने वाले शुद्ध अतिरिक्त लाभ के 25 से 40 प्रतिशत तक निश्चित की जायें और जहाँ इस शुद्ध लाभ का हिस्सा लगाना संभव नहीं हो, वहाँ ये दरें सिंचित फसलों से प्राप्त कुल लाभ का 5 से 12% तक हों।

(ग) सार्वजनिक उपयोगिता-सम्बन्धी उपक्रमों को छोड़कर, शेष सार्वजनिक औद्योगिक तथा कॉमर्शियल उपक्रमों में लगी पूँजी पर प्रतिफलों की दर बढ़ाकर 50% पर लाई जाय।

(घ) कृषि-उद्योगों एवं ग्राम विद्युतन (Rural electrification), सिंचाई तथा पीने के पानी की योजनाओं के वित्त-प्रबन्धन द्वारा ग्रामीण जनसंख्या को सीधे लाभ पहुँचाने के लिए, ग्राम्य क्षेत्रों में ग्राम्य ऋण-पत्र (rural debentures) जारी किये जायें।

(च) समाज के सम्पन्न वर्ग (affluent sections) के विशिष्ट उपभोग को रोकने, निर्यात-योग्य अतिरिक्त के प्रजनन तथा उत्पादक साधनों के अधिक न्यायसंगत विभाजन के लिए दस्तु कराघाव बढ़ाया जाय। कुछ क्षेत्रों में यह उत्पादकों के आधिक्य के परिसमापन (mopping up) में सहायक हो सकता है और इस प्रकार, राजस्व में वृद्धि हो सकती है। विक्री-कर की दरों में अन्तरराज्य (Inter state) एकरूपता लाकर और विशिष्ट रूप से उन



राज्यों में जहाँ वे कम हैं, बिक्री-करी को दरें बढ़ाकर, राजस्व में वृद्धि की जा सकती है।

(छ) आय तथा धन पर कराधान के द्वारा राज्य कई तरह से अधिक राजस्व प्राप्त कर सकता है :—(1) कराधान के उद्देश्य से कर-योग्य आय तथा धन फिर से निर्धारित किए जायें, (ii) आय तथा परिसम्पत्ति को ब्यवहार में दिये जाने से रोका जाय और संपदा-शुल्क (state duty) के लिए आजीवन संचयन पूर्ण रूप से निर्धारित किये जायें, (iii) पूँजी लाभों पर अधिक कठोरता से कर लगाए जायें, और (iv) मध्यम-आय वर्ग के लिए करों की दरें बढ़ा दी जायें।

(ज) हाल के वर्षों में शहरी भूमि के मूल्य में वृद्धि के परिणामस्वरूप अनुपाजित आय (unearned income) तथा धन में जो वृद्धि हुई है इन पर कर लगाये जायें ताकि गन्दी वस्तिभों को हटाने, जल-आपूर्ति, जलोत्सारण (drainage), निम्न आय के लिए भवन-निर्माण तथा परिवहन की सुविधाओं के लिए कोषों की व्यवस्था की जा सके।

इस प्रकार चतुर्थ योजना में उपरोक्त उपायों से साधन संग्रह की व्यवस्था की गयी थी। वास्तव में, उपरोक्त उपायों को अपना कर चौथी तथा आने वाली योजनाओं में विकास के लिए वित्त सुगमतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु इसके बावजूद जैसा कि 1970 ई० में विश्व बैंक के दल ने अपने प्रतिवेदन में कहा था, "भारतीय अर्थ-व्यवस्था के दीर्घकालीन विकास के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा साधनों को एकत्र करने की कठिनाई है। सार्वजनिक विनियोजन के प्रत्येक क्षेत्र में वित्तीय उपलब्धि बहुत ही अनिश्चित रहती है तथा निर्धन, साधनों → मन्द वृद्धि तथा मन्द वृद्धि → निर्धन साधनों के विचित्रे चक्र को तोड़ना आज की प्रमुख समस्या है।" (India's resources handicap persists as one of the underlying obstacle to a sustained improvement in the economy on the long term basis. There is the pervasive uncertainty about financial availability all along the line of public investment and social improvement with no clear way out of the

vicious circle of pinched resources → slow growth and slow growth → pinched resources.)

वित्तीय ढाँचा और नीति-सम्बन्धी कुछ सुझाव :— चौथी योजना में सरकारी क्षेत्र के वित्तीय ढाँचे की समीक्षा से हमारी आर्थिक नीतियों पर कड़ी दृष्टि डालने की जरूरत है। चौथी योजना की वित्तीय व्यवस्था को देखने से स्पष्ट है कि कुल वित्तीय आवश्यकताओं का 74.3 प्रतिशत वास्तविक आन्तरिक साधनों से उपलब्ध कराया गया; 12.9 प्रतिशत विदेशी सहायता से और 12.8 प्रतिशत घाटे के वित्त प्रबन्धन द्वारा उपलब्ध किया गया। दूसरे शब्दों में, कुल वित्तीय आवश्यकता का लगभग तीन-चौथाई भाग ही वास्तविक आन्तरिक साधनों से प्राप्त हुआ। इसके फलस्वरूप जनता को कराधान के बढ़ते हुए दबाव से बचाने के लिए और उसकी क्रय-शक्ति के ह्रास को रोकने के लिए कीमतों को स्थिर रखना होगा। दुर्भाग्यवश चौथी योजना की अवधि में कीमतों में तीव्र गति से वृद्धि हुई तथा कीमतों की वृद्धि के कारण योजना के सभी अनुमान बदलने पड़ते हैं और उतने ही भौतिक लक्ष्य प्राप्त करने के लिए अधिक साधन जुटाने पड़ते हैं या योजना का आकार छोटा करना पड़ता है। इस प्रकार की दोनों परिस्थितियाँ अवांछनीय हैं, क्योंकि कीमतों की वृद्धि से मजदूरी-कीमत के दुष्टकुन्तल (Wage-price spiral) का विकास होता है और योजना का आकार छोटा करने से विकास की गति मन्द हो जाती है। परिणामस्वरूप मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों को ऐसे समन्वित रूप में कार्यान्वित करना होगा ताकि पाँचवीं योजना के दौरान कीमल स्थायित्व के उद्देश्य को प्राप्त किया जा सके। जब तक यह प्राप्त न किया जायगा 'स्थिरता के साथ विकास' का उद्देश्य प्राप्त नहीं हो सकता और मजबूर होकर या तो अतिरिक्त कराधान या अधिकाधिक मात्रा में घाटे के वित्त-प्रबन्धन का सहारा लेना पड़ता है।

पाँचवीं योजना की वित्तीय व्यवस्था  
(Financial Resources of the Fifth Five Year Plan)

पाँचवीं योजना के प्रारूप में 1972-73 के मूल्य-तल के आधार पर वित्तीय संसाधनों का अनुमान लगाया गया



था। 1972-73 की कीमतों पर पाँचवीं योजना में 53,411 करोड़ रुपये के व्यय का अनुमान था जिसमें से 5,850 करोड़ रुपये सरकारी क्षेत्र में चालू विकासात्मक परिव्यय (Current development outlay on plan account) है। शेष 45,130 करोड़ रुपये विनियोग के रूप में होने का था। पाँचवीं योजना के अन्तर्गत साधनों का अनुमान निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित था :—

(1) पाँचवीं योजना के दौरान अर्थ-व्यवस्था में वास्तविक रूप में 5.5 प्रतिशत वार्षिक समृद्धि प्राप्त होगी और खनन तथा विनिर्माण क्षेत्रों में 8 से 9 प्रतिशत वार्षिक दर से विकास होगा।

(2) योजना के वित्तीय प्रबन्ध में स्फीतिकारी प्रवृत्ति को दूर करने के लिए घाटे के वित्त-प्रबन्धन (Deficit-Financing) को इतना कम रखा जायगा कि जनता के पास मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं से अधिक न हो सके।

(3) इसी प्रकार आत्म-निर्भरता के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शुद्ध रियायती सहायता (Net Concessional aid) विकास के लिए कुल विनियोग प्रयास का बहुत ही थोड़ा अंश होगा। इस उद्देश्य के लिए यह कल्पना की गई कि पाँचवीं योजना के दौरान निर्यात 7.6 प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ेंगे और इसके अतिरिक्त आयात-प्रतिस्थापन (Import Substitution) के उपाय भी किये जायेंगे।

(4) पाँचवीं योजना के पहले दो वर्षों में पर्याप्त मात्रा में कीमत-स्थिरता प्राप्त कर ली जायगी।

पाँचवीं योजना के वित्तीय साधनों का अनुमान निम्नांकित तालिका में प्रस्तुत किया गया है। इसमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि योजना के प्रारूप में 37,250 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी जो बढ़कर संशोधित योजना में 39,303 करोड़ रुपये कर दी गयी। इसमें से 32,115 करोड़ रुपये आंतरिक स्रोतों से, 1354 करोड़ रुपये घाटे की वित्त-व्यवस्था से, तथा 5,834 करोड़ रुपये बाह्य साधनों से प्राप्त करने का आयोजन था। अतः पाँचवीं योजना में विदेशी सहायता पर थोड़ी-सी ही निर्भरता रहेगी। योजनाकाल के दौरान सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था

को चार खंडों में विभाजित किया गया है :—(क) राज-कीय क्षेत्र, (ख) निजी क्षेत्र, (ग) वित्तीय संस्थाएँ, तथा (घ) सम्पूर्ण विश्व।

पाँचवीं योजना के प्रस्तावित वित्तीय साधन  
(1972-73 की कीमतों पर करोड़ रुपये में)

| साधन                             | (करोड़ रुपये में) |        |
|----------------------------------|-------------------|--------|
| पाँचवीं योजना के प्रारूप संशोधित |                   |        |
| क. आंतरिक बचत के स्रोत           | 33,807            | 32,115 |
| 1. 1973-74 में प्रचलित करें      |                   |        |
| की दर पर शेष                     | 7,348             | 4,901  |
| 2. 1973-74 की दर पर              |                   |        |
| सार्वजनिक उपक्रमों की बचत        | 5,988             | 849    |
| 3. बाजार से ऋण                   | 7,232             | 5,879  |
| 4. लघु बचत                       | 1,850             | 2,022  |
| 5. राज्य-निर्वाह निधि            | 1,280             | 1,987  |
| 6. वित्तीय संस्थानों से उधार     | 895               | 628    |
| 7. बैंकों से साख                 | 1,275             | ...    |
| 8. विविध पूँजीगत प्राप्तियाँ     | 1,089             | 556    |
| 9. अतिरिक्त कराधान               | 6,850             | 14,693 |
| 10. विदेशी विनिमय कोष            |                   |        |
| के आधार पर उधार                  | ...               | 600    |
| ख. बाह्य सहायता                  | 2,443             | 5,834  |
| ग. घाटे का वित्त-प्रबन्धन        | 1,000             | 1,354  |
| कुल                              | 37,250            | 39,303 |

आन्तरिक रूप में जुटाये जानेवाले 94.5 प्रतिशत साधनों में से 38.2 प्रतिशत सरकारी क्षेत्र से प्राप्त होगा, 49.2 प्रतिशत पारिवारिक क्षेत्र से, 7.8 प्रतिशत निगम क्षेत्र (Corporate Sector) से और केवल 0.3 प्रतिशत सहकारी क्षेत्र से प्राप्त होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि पारिवारिक क्षेत्र (Household Sector) अब भी अर्थ-व्यवस्था में सबसे अधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र है और इसके बाद ही सरकारी क्षेत्र का स्थान है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि गैर-सरकारी अवित्तीय निगम क्षेत्र (Private Non-financial Sector) कुल साधनों का केवल 7.8 प्रतिशत उपलब्ध कराता है।

चौथी योजना के दौरान 2,060 करोड़ रुपये के घाटे



की वित्त-व्यवस्था का प्रबन्ध किया गया था। पाँचवीं योजना के प्रारूप में बाटे की वित्त व्यवस्था केवल 1000 करोड़ रुपये की रखी गयी थी। किन्तु संशोधित योजना में इसकी रकम बढ़ाकर 1354 करोड़ रुपये कर दी गयी है। दूसरी ओर, जहाँ कि पहले प्रारूप में 2243 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता की व्यवस्था की गयी थी, वहाँ पाँचवीं योजना के संशोधित रूप में 5,834 करोड़ रुपये की राशि शुद्ध विदेशी सहायता के लिए तय की गयी। योजना प्रलेख में यह कल्पना की गयी थी कि पाँचवीं योजना के पहले दो वर्षों में बहुत हद तक कीमत-स्थिरता प्राप्त कर ली जायगी और इस प्रकार पाँचवीं योजना में स्फीतिकारी वित्त-प्रबन्धन (Inflationary Financing) की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। किन्तु इस प्रकार के विचारों को वास्तविकता प्रदान करने के लिए कठोर राजकोषीय अनुशासन (Fiscal Discipline) की आवश्यकता होगी।

सरकारी क्षेत्र की बचत—सरकारी क्षेत्र की कुल बचत चार बातों पर आधारित है : (i) कराधान की 1973-74 की दरो पर केन्द्रीय एवं राज्यीय सरकारों की बचत, (ii) योजना के दौरान अतिरिक्त कराधान, (iii) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के अवित्तीय विभागों तथा उपक्रमों की बचत, और (iv) वित्तीय संस्थानों की बचत।

केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा जुटाए जाने वाले साधनों में प्रचलित करों से 4,901 करोड़ रुपये केन्द्र एवं राज्य सरकारों के बजट अतिरेक (Budgetary Surplus) से प्राप्त होने की आशा थी। इस प्रकार 1987 करोड़ रुपये राज्य-निर्वाह निधि से तथा 849 करोड़ रुपये राजकीय उपक्रमों से बचत के रूप में प्राप्त करने की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त, 14,693 करोड़ रुपये अतिरिक्त कराधान से प्राप्त होंगे जिसमें केन्द्र का हिस्सा 8,494 करोड़ रुपये तथा राज्य सरकारों का 6,199 करोड़ रुपये होगा।

बचत का एक और महत्वपूर्ण स्रोत केन्द्रीय एवं राजकीय उपक्रमों की बचत है जिससे प्रारूप में 5,988 करोड़ रुपये प्राप्त होने की व्यवस्था थी। इसमें विभिन्न स्रोतों का योगदान इस प्रकार से होगा—रेलवे 649 करोड़ रुपये, डाक और तार 842 करोड़ रुपये, बन्दरगाह न्यास

76 करोड़ रुपये, अन्य केन्द्रीय उद्यम 2,764 करोड़ रुपये, सड़क परिवहन 245 करोड़ रुपये। इसके अतिरिक्त, सरकारी क्षेत्र की बचतों द्वारा 13,340 करोड़ रुपये प्राप्त होंगे। इन बचतों में सरकारी उद्यमों का बाजार से उधार, छोटी बचतें, पूर्वोपायी कोष, जीवन बीमा निगम, रिजर्व बैंक और अन्य वित्तीय संस्थानों से सावधि ऋण तथा जमा और विविध पूँजी प्राप्तियाँ (Miscellaneous Capital Receipts) सम्मिलित हैं।

गैर-सरकारी क्षेत्र की बचतें: गैर-सरकारी क्षेत्र की बचतों के भी तीन अंग हैं : (i) अवित्तीय निगम क्षेत्र (Non-financial Corporate Sector) की बचत; (ii) सहकारी गैर-साख क्षेत्र की बचत और (iii) पारिवारिक क्षेत्र की बचत। निगम क्षेत्र द्वारा 4,139 करोड़ रुपये की बचत होगी। इसी प्रकार सहकारी क्षेत्र की 169 करोड़ रुपये की बचत होगी। पारिवारिक क्षेत्र की बचत के दो अंग हैं : (क) वित्तीय परिसम्पत्ति (Financial Assets) और भौतिक परिसम्पत्ति (Physical Assets)। वित्तीय परिसम्पत्ति से 20,225 करोड़ रुपये प्राप्त होने की प्रत्याशा है। इसमें से व्यावसायिक बैंकों से 9,981 करोड़ रुपये, सहकारी साख समितियों से 996 करोड़ रुपये और अन्य वित्तीय संस्थानों से 301 करोड़ रुपये प्राप्त होंगे। इनके अतिरिक्त, कंरेन्सी के रूप में 950 करोड़ रुपये की बचत होगी। इसमें जीवन बीमा निगम से 2,407 करोड़ रुपये और पूर्वोपायी कोष से 4,165 करोड़ रुपये प्राप्त होने वाली सांस्थानिक बचत (Institutionalised Saving) प्राप्त होगी। छोटी बचतों द्वारा 1,113 करोड़ रुपये के योगदान की संभावना है और विविध जमा जिसमें गैर-सरकारी कम्पनियों, व्यावसायिक इकाइयों तथा सहकारी समितियों के हिस्से तथा ऋण-पत्र शामिल हैं, 1,242 करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा है। वित्तीय संचयन (Financial Accumulation) के अतिरिक्त गैर-सरकारी क्षेत्र द्वारा परिसम्पत् (Physical Assets) के रूप में 10,216 करोड़ रुपये प्राप्त होंगे। यदि इसमें गैर-सरकारी क्षेत्र द्वारा लिए गये उधार (4,724 करोड़ रुपये) को निकाल दिया जाय, तो शुद्ध भौतिक परिसम्पत्ति संचयन 5,492 करोड़ रुपये होगा। वित्तीय एवं भौतिक संचयन को मिलाकर पारिवारिक क्षेत्र का भाग 25,747 करोड़ रुपये हो जायगा। यदि इसमें से निगम क्षेत्र की बचत (4,139 करोड़ रुपये) और सहकारी क्षेत्र की बचत (169 करोड़ रुपये) जमा कर दी जाय, तो गैर-सरकारी क्षेत्र की कुल बचत 30,055 करोड़ रुपये होगी।



पाँचवीं योजना के वित्तीय अनुमान के आधार पर यह प्रत्याशा की जा सकती है कि कुल राष्ट्रीय उत्पादन के प्रतिशत के रूप में बचत-दर जो 1973-74 में 12.2 प्रतिशत थी, बढ़कर 1978-79 में 15.7 प्रतिशत हो जायगी।

पाँचवीं योजना के संसाधनों की आलोचनात्मक समीक्षा (A critical Appraisal of the estimated Financial Resources of the Fifth Five Year Plan) :—उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि पाँचवीं योजना में पहले-पहल साहसपूर्ण वित्तीय ढाँचे के निर्माण का प्रयास किया गया है जिसमें 95.4 प्रतिशत साधन वास्तविक आन्तरिक बचत से प्राप्त होने की आशा है। यह निश्चय ही एक कठिन कार्य है और इसके लिए बड़े कठोर वित्तीय अनुशासन (Financial Discipline) की आवश्यकता पड़ेगी। साथ ही, इसके लिए केन्द्र तथा राज्यों में भी भारी मात्रा में सहयोग की आवश्यकता होगी जिससे कि कीमत-स्थिरता कायम हो सके और मजदूरी में बार-बार वृद्धि की स्वीकृति न देनी पड़े। अनुभव यह बतलाता है कि कीमत-वृद्धि से योजना की लागत भी बढ़ जाती है और इससे साधन गतिमान करने की समस्या और भी जटिल बन जाती है। इन सभी समस्याओं के प्रति आयोजक सजग हैं। इन कठिनाइयों का अन्दाजा लगाते हुए पाँचवीं योजना में यह कहा गया है कि “इसमें निहित बचत-प्रयास अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। साथ ही, ये देश की क्षमता के बाहर नहीं हैं। इसमें कल्पित सरकारी बचत की मात्रा के लिए न केवल बहुत अधिक राजकोषीय अनुशासन (Fiscal Discipline) की आवश्यकता है वरन् इसके लिए योजना के आरम्भ में ही संसाधन को गतिमान करने के लिए भारी प्रयास करना होगा। कर-आधार (Tax-base) का विस्तार करने तथा करों की चोरी आदि को बन्द करने के उपाय शीघ्रता से लागू करने होंगे। भूतकाल में साधन गतिमान करने के लिए किए गए मुख्य प्रयास प्रायः गैर-विकास व्यय (Non-development Outlays) में अप्रत्याशित वृद्धि के कारण अधिकतर निष्फल बन जाते थे। इससे पाँचवीं योजना में बचना होगा। अनावश्यक निजी एवं सरकारी उपभोग पर करोड़ों प्रतिबन्ध लगाने की जरूरत है। इसमें आत्मतुष्टि रखने के कारण एक गम्भीर स्फीतिकारी परिस्थिति (Inflationary Situation) उत्पन्न हो सकती है।

ये सब वास्तव में प्रशंसनीय विचार हैं। किन्तु इन्हें योजना-सम्बन्धी प्रलेखों में बार-बार दोहराया गया है जिससे अब इनमें लोगों का विश्वास नहीं रहा; क्योंकि पिछली योजनाओं में वित्तीय साधनों के मौलिक अनुमानों और संशोधित अनुमानों में बहुत अधिक अन्तर व्यक्त हुए। उदाहरण के लिए, चौथी योजना के दौरान केन्द्र तथा राज्य सरकारों के बजटों में अतिरिक्त (Surpluses)

प्राप्त करने तथा सरकारी उपक्रमों से अतिरिक्त प्राप्त करने में गम्भीर विफलता हुई। दूसरी ओर, तीसरी योजना में इस क्षति को दूर करने के लिए अतिरिक्त कराधान (Additional Taxation) और घाटे के वित्त प्रबन्धन (Deficit financing) की अधिक मात्रा का प्रयोग करना पड़ा।

पाँचवीं योजना में संसाधनों के अनुमान की एक और महत्वपूर्ण कमी अतिरिक्त साधन गतिमान करने के निश्चित अनुमान का होना है। इनमें रखे गए मुख्य उपाय हैं :—(i) सरकारी प्रक्रमों से ऊँची प्रत्याय दर (Rate of Return), (ii) बिजली तथा वाणिज्यिक सिंचाई की दरों में वृद्धि, (iii) किराये तथा भाड़े में वृद्धि और समृद्ध वर्गों का साहाय्य समाप्त करना, (iv) शहरी सम्पत्ति (जिसमें शहरीकरण के लिए भूमि का समाजीकरण भी शामिल है) पर प्रत्यक्ष करों की ऊँची दरें, (v) उत्पादन शुल्क की विभेदक प्रणाली, (vi) कृषि पर प्रत्यक्ष कर लगाकर कर-आधार (Tax-base) का विस्तार करना, आदि। इन सभी उपायों द्वारा 5,850 करोड़ रुपये प्राप्त करने की आशा की गई है किन्तु पाँचवीं योजना में इनमें से प्रत्येक मद द्वारा प्रत्याशित आय के विषय में कोई चर्चा नहीं है। इससे इस सम्बन्ध में संदिग्धता रह ही जाती है।

इन्हीं कारणों से प्रोफेसर बी० एस० मिन्हास ने पाँचवीं योजना को अव्यवहार्य (An Infeasible Plan) बतलाया था। उनका विश्लेषण संसाधन गतिमान करने के प्रयास पर ही आधारित था। पाँचवीं योजना के पहले प्रलेख में कुल उपलब्ध संसाधनों की मात्रा 51,165 करोड़ रुपये आँकी गई थी जबकि आगे योजना के प्रारूप में 53,411 करोड़ रुपये की आवश्यकता का अनुमान लगाया गया—37,250 करोड़ रुपये सरकारी क्षेत्र में और 16,161 करोड़ रुपये गैर-सरकारी क्षेत्र में। इससे यह ज्ञात होता है कि 1972-73 की कीमतों और 1973-74 की कराधान-दरों के आधार पर पहले अनुमान की अपेक्षा 2,246 करोड़ रुपये के अतिरिक्त साधन प्राप्त करने होंगे। यह पूर्णतया गलत है क्योंकि यह कल्पना कि कीमतों की वृद्धि के साथ विनियोज्य संसाधनों (Investible Resources) में आनुपातिक वृद्धि होती है, बिल्कुल आधारहीन है तथा वास्तविक स्थिति ठीक इसके विपरीत है अर्थात् जैसे-जैसे कीमतें बढ़ती जाती हैं, अन्तर्देशीय विनियोज्य संसाधन कम हो जाते हैं और यह बात भारत में आयोजन के अनुभव से प्रमाणित भी हुई है। डा० मिन्हास के अनुसार, “वित्तीय साधनों के अद्यतन अनुमान में 2,593 करोड़ रुपये की राशि या तो भिन्न कल्पनाओं पर आधारित या केवल आँकड़ों के हेरफेर के द्वारा प्राप्त की गई है। योजना के प्रारूप में अब यह कल्पना की गई है कि पूर्वोक्त अनुमान की तुलना में अब 1,008 करोड़ रुपये की अधिक विदेशी सहायता



## भारतीय अर्थशास्त्र

प्राप्त हो सकेगी। इसी प्रकार विदेशों से प्राप्त होनेवाले वार्षिक ऋणों की मात्रा भी 200 करोड़ रुपये बढ़ा दी गई है। जहाँ पर कि योजना प्रलेख में 6015 करोड़ रुपये के अतिरिक्त साधन गतिमान करने की कल्पना की गई थी, वहाँ अब योजना के प्रारूप में नई कल्पनाओं के आधार पर यह राशि 6,590 करोड़ रुपये आँकी गई है अर्थात् पहले अनुमान से भी पर्याप्त मात्रा में अधिक। दूसरे शब्दों में, नय अनुमान में 1,453 करोड़ रुपये के अतिरिक्त साधन मान्यताओं और नए करों द्वारा संसाधन प्राप्त करने का परिणाम है। इसी प्रकार, आयोजकों ने बड़ी सरलता से यह कल्पना की भी है कि पारिवारिक क्षेत्र की बचत 24,096 करोड़ रुपये से बढ़कर 25,579 करोड़ रुपये हो जायगी अर्थात् इसमें 1,510 करोड़ रुपये की वृद्धि होगी। सारांश यह है कि पाँचवीं योजना की वित्तीय व्यवस्था कई अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है जिससे इस सम्बन्ध में संदेह का वातावरण दूर नहीं हो पाता।

### छठी योजना की वित्तीय-व्यवस्था (Financing of the Sixth Five Year Plan)

छठी योजना में 4.7 प्रतिशत वार्षिक विकास की दर के आधार पर पाँच वर्षों में सार्वजनिक क्षेत्र में 69,380 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है। इतने बड़े आकार की योजना के लिए संसाधन प्राप्त करने के उद्देश्य से बड़े पैमाने पर प्रयत्नों की आवश्यकता पड़ेगी। किन्तु देश की आर्थिक एवं वित्तीय स्थिति को देखने से यह पता चलता है कि इतने अधिक मात्रा में साधनों को एकत्र करना कोई बहुत बड़ा कार्य नहीं है। देश में बचत की दर 14 प्रतिशत तक पहुँच गयी है। पिछले कुछ वर्षों में बैंक के जमा विशेषतः स्थायी जमा में तीव्र गति से वृद्धि हो रही है। देश के पास विदेशी विनिमय का भी विशाल भंडार एकत्र हो गया है। ऐसी स्थिति में मूल समस्या संभावित बचत को सार्वजनिक क्षेत्र के विनियोग के लिए उत्प्रेरित करने की है।

छठी योजना में सार्वजनिक तथा निजी दोनों क्षेत्रों में कुल 1,16,240 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। यह रकम विभिन्न स्रोतों से निम्न प्रकार से प्राप्त होगी—

### छठी योजना (1978-83) की वित्तीय व्यवस्था

1977-78 के मूल्य-स्तर पर

| मदें                                         | रकम (करोड़ रुपये में) |
|----------------------------------------------|-----------------------|
| 1. सार्वजनिक क्षेत्र की बचत                  | 27,444                |
| 2. वित्तीय संस्थाओं की बचत                   | 1,973                 |
| 3. निजी निगम क्षेत्र की बचत                  | 9,074                 |
| 4. घरेलू क्षेत्र की बचत                      | 62,364                |
| कुल आंतरिक बचत                               | 1,00,855              |
| 5. विदेशों से प्राप्त कुल रकम                | 3,955                 |
| (क) विदेशी सहायता                            |                       |
| (ख) विदेशी विनिमय कोष से प्राप्त रकम         | 1,180                 |
| 6. प्रचलित विकास व्यय के लिए बजट की व्यवस्था | 10,250                |

कुल 1,16,240

छठी योजना में पाँच वर्षों में सार्वजनिक क्षेत्र में 69,380 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है। इसका तात्पर्य यह है कि निजी क्षेत्र के लिए योजनाकाल में 46,860 करोड़ रुपये की राशि उपलब्ध होगी। सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय की जाने वाली रकम को निम्नांकित तरीके से प्राप्त करने का आयोजन है

सार्वजनिक क्षेत्र की वित्तीय व्यवस्था  
1977-78 के मूल्य-स्तर

मदें रकम पर (करोड़ रुपये में)

|                                                                |        |
|----------------------------------------------------------------|--------|
| 1. 1977-78 की प्रचलित दरों पर केन्द्र एवं राज्य सरकारों की बचत | 12,839 |
| 2. 1977-78 की दर पर राजकीय उपक्रमों की बचत                     | 10,296 |
| 3. अतिरिक्त साधन जुटाना                                        | 13,000 |
| 4. सरकार तथा राजकीय उद्देश्यों द्वारा बाजार में ऋण             | 15,816 |
| 5. वित्तीय संस्थाओं से ऋण                                      | 1,296  |
| 6. लघु बचत                                                     | 3,150  |
| 7. राज्य-निर्वाह निधि                                          | 2,953  |
| 8. विभिन्न पूँजीगत प्राप्तियाँ                                 | 450    |
| 9. विदेशी सहायता (शुद्ध)                                       | 5,954  |
| 10. विदेशी विनिमय कोष से उपयोग                                 | 1,180  |
| कुल                                                            | 67,154 |

11. अंतर जिसकी व्यवस्था नहीं है। 2,226

12. कुल रकम 69,380

छठी योजना की वित्तीय व्यवस्था को देखने से स्पष्ट है कि इसमें 2226 करोड़ रुपये का अंतर रह जाता है जिसकी कोई व्यवस्था नहीं की जा सकी है। यह राशि यदि अतिरिक्त साधनों के द्वारा पूरित नहीं होगी तो उसे घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit Financing) से ही पूरा करना पड़ेगा ऐसा जान पड़ता है। यदि इस रकम के लिए घाटे की वित्त-व्यवस्था का सहारा लिया जायेगा तो मूल्य-स्तल में संभावित वृद्धि को रोकने के लिए तत्पर रहना पड़ेगा।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. Govt. of India : First Five Year Plan.
2. " : Second Five Year Plan.
3. " : Third Five Year Plan.
4. " : Fourth Five Year Plan.
5. " : Fifth Five Year Plan.
6. " : Draft Sixth Five Year Plan.

(1978-83)



“The secret of rapid agricultural progress in under-developed countries is to be found much more in agricultural extension, in fertilisers, in new seeds, in pesticides and in water supplies than in altering the size of the farm, in introducing machinery, or in getting rid of middlemen in the marketing process.”

—W. A. Lewis



० इस खण्ड में ०

- अध्याय 14 : भारतीय कृषि : समस्या तथा विकास  
(Indian Agriculture : Problems and Development)
- अध्याय 15 : सरकार की कृषि-सम्बन्धी नीति एवं नियोजन  
(Government's Agricultural Policy & Planning)
- अध्याय 16 : भारत की खाद्य-समस्या  
(India's Food Problem)
- अध्याय 17 : सिंचाई के साधन  
(Sources of Irrigation)
- अध्याय 18 : उपविभाजन एवं अपखंडन तथा सहकारी कृषि  
(Subdivision & Fragmentation & Co-operative Farming)
- अध्याय 19 : भूमि-व्यवस्था एवं सुधार  
(Land Tenure & Reforms)
- अध्याय 20 : किसान तथा उसके उपकरण  
(The Agriculturist & his Equipments)
- अध्याय 21 : कृषि-वित्त  
(Agricultural Finance)
- अध्याय 22 : भारत में सहकारिता आन्दोलन  
(Co-operative Movement in India)
- अध्याय 23 : सामुदायिक विकास योजना  
(Community Development Project)
- अध्याय 24 : कृषि-बाजार  
(Agricultural Marketing)
- अध्याय 25 : खेतिहर मजदूर  
(Agricultural Labour)
- अध्याय 26 : हरी क्रांति  
(The Green Revolution)
- अध्याय : 27 कृषि का यंत्रीकरण  
(Mechanisation of Agriculture)



## अध्याय : 15

## भारतीय कृषि : समस्या तथा विकास

## ( Problems &amp; Development of Indian Agriculture )

भारत की आर्थिक व्यवस्था में कृषि का महत्त्व (Importance of Agriculture in the Indian Economy) :—अन्य अल्प-विकसित देशों की तरह भारत भी एक कृषि-प्रधान देश है। पिछले प्रायः 30 वर्षों से देश के औद्योगीकरण के सतत् प्रयास के बावजूद कृषि आज भी भारतीय अर्थ-व्यवस्था का आधार है। यहाँ की प्रायः 70 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर ही आश्रित है। कृषि पर आश्रित जनसंख्या का प्रतिशत 1872 ई० में 65 था जो बढ़कर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में 70 प्रतिशत हो गया और इस समय तक यह ज्यों-का-त्यों बना है। ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा तथा न्यूजीलैंड आदि देशों में कृषि पर आश्रित व्यक्तियों का प्रतिशत बहुत ही कम है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि भारत के ठीक विपरीत इन देशों में कृषि पर आश्रित जनसंख्या में निरन्तर कमी की प्रवृत्ति है। निम्नांकित तथ्य देश की अर्थ-व्यवस्था में कृषि के महत्त्व को स्पष्ट करते हैं—

1. राष्ट्रीय आय में कृषि का महत्त्वपूर्ण योगदान (Large Share of agriculture in National Income) :—भारतीय कृषि देश की राष्ट्रीय आय का भी एक प्रधान स्रोत है। यहाँ की राष्ट्रीय आय का सर्वाधिक प्रमुख भाग कृषि से ही प्राप्त होता है। निम्नांकित तालिका से यह बिल्कुल स्पष्ट है :

| राष्ट्रीय आय में कृषि का योगदान |                            |                         |            |
|---------------------------------|----------------------------|-------------------------|------------|
| वर्ष                            | राष्ट्रीय आय               | केवल कृषि से प्राप्त आय | कृषि की आय |
| (1960-61 के मूल्य-तल पर)        | कुल राष्ट्रीय आय के प्रति- |                         |            |
| (करोड़ रुपये में)               | शत के रूप में              |                         |            |
| 1950-51                         | 9,530                      | 4,890                   | 51.3       |
| 1960-61                         | 13,365                     | 6,580                   | 49.1       |
| 1965-66                         | 15,234                     | 6,148                   | 45.5       |
| 1968-69                         | 17,357                     | 7,155                   | 42.0       |
| 1971-72                         | 19,201                     | 7,776                   | 41.0       |
| 1973-74                         | 19,910                     | 7,883                   | 40.0       |

1975-76 ई० के अनुमान के अनुसार देश की कुल राष्ट्रीय आय का प्रायः 43 प्रतिशत भाग कृषि से ही प्राप्त हुआ था जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन में कुल राष्ट्रीय आय का केवल 3 तथा कनाडा में 5 प्रतिशत एवं आस्ट्रेलिया में 7.6 प्रतिशत भाग कृषि ही से प्राप्त होता है। वास्तव में, जो देश जितना ही अधिक विकसित होगा, राष्ट्रीय आय में कृषि का योगदान उतना

ही कम होता है। (The more developed a country is, the smaller is the share of agriculture in its national output and income.)

2. देशवासियों के भोजन की पूर्ति का प्रधान साधन :—इतना ही नहीं, भारतीय कृषि से देश की विशाल जनसंख्या को भोजन भी प्राप्त होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि खाद्यान्न-उत्पादन की अपेक्षा जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि के चलते द्वितीय विश्व युद्ध के बाद खाद्यान्नों का आयात करना पड़ रहा है, किन्तु फिर भी देश में खाद्यान्न की कुल उपलब्धि में आयात का हिस्सा बहुत ही थोड़ा रहता है।

3. कुछ उद्योगों के लिए कच्चे पदार्थ की पूर्ति का साधन :—साथ ही, कृषि से देश के बहुत-से उद्योग-धन्धों के लिए कच्चे पदार्थ भी प्राप्त होते हैं जिनमें सूती-वस्त्र, जूट चीनी, वनस्पति तथा बगान-उद्योग इत्यादि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

4. विदेशी व्यापार में महत्त्वपूर्ण स्थान (Importance of Agriculture in Foreign Trade) :—विदेशी व्यापार की दृष्टि से भी भारतीय कृषि का स्थान अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण है। भारत से निर्यात किये जाने वाले पदार्थों में भी कृषि-पदार्थों, जैसे—चाय, कहवा, तिलहन तथा तम्बाकू आदि की प्रधानता है। भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में 250 प्रतिशत कृषि-पदार्थों तथा 10 प्रतिशत कृषि पर आधारित उद्योगों का हिस्सा है। इस प्रकार यह विदेशी मुद्रा प्राप्त करने का भी प्रधान एक साधन है। मोटे तौर पर देश के निर्यात के कुल मूल्य का 35 से 40 प्रतिशत भाग प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से कृषि से ही प्राप्त होता है।

5. सरकारी आय का महत्त्वपूर्ण साधन :—देश में केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों को भी कृषि से विभिन्न रूप में प्रति वर्ष पर्याप्त मात्रा में आय प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए, केवल मालगुजारी से राज्य सरकारों को प्रति वर्ष 115 करोड़ रुपये की आय प्राप्त होती है। इसी प्रकार कृषि आय कर से भी प्रति वर्ष 15 करोड़ रुपये की आय होती है। इसी प्रकार सरकारी आय का एक बड़ा भाग कृषि तथा इससे सम्बन्धित क्षेत्र में व्यय भी होता है।

भारत में यातायात के साधनों की आय भी कृषि पर ही आधारित है। देश के आन्तरिक व्यापार में कृषि की ही प्रधानता है। इन कारणों से देश के आयोजित आर्थिक विकास में भी कृषि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः,



आर्थिक नियोजन की सफलता कृषि-उत्पादन में आशातीत वृद्धि पर ही आधारित है। इस प्रकार भारत की आर्थिक व्यवस्था में कृषि का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः, भारतीय कृषि की समृद्धि पर ही देश की आर्थिक समृद्धि भी आधारित है।

भारत की आर्थिक व्यवस्था में कृषि का महत्व ब्रिटिश शासन काल के एक गवर्नर जेनरल लार्ड मेयो (Mayo) द्वारा ब्रिटिश सरकार को दिये गये निम्न बयान से लगाया जा सकता है, “आनेवाली अनेक पीढ़ियों तक धन एवं सम्यक् के विकास की दृष्टि से भारत की प्रगति प्रत्यक्ष रूप से उसकी कृषि की प्रगति पर ही निर्भर करेगी। संसार में सम्भवतः कोई भी ऐसा देश नहीं है जिसका कृषि में इतना प्रत्यक्ष, सीधा एवं घनिष्ट स्वार्थ निहित है। भारत सरकार केवल सरकार ही नहीं वरन एक भू-त्वामी भी है।” (For generations to come, the progress of wealth and civilization in India must be dependent on her progress in agriculture. There is perhaps no country in the world in which the state has so immediate and direct interest in agriculture. The Government of India is not only a Government, but also the chief landlord.)

किन्तु भारत के आर्थिक जीवन में इतना महत्वपूर्ण स्थान होते हुए भी भारतीय कृषि आज अत्यन्त पिछड़ी हुई स्थिति में है। भारतीय कृषि की प्रति एकड़ उपज विश्व के अन्य सभी देशों से कम है। इससे देश में प्रतिवर्ष बहुत बड़ी मात्रा में खाद्यान्न का आयात करना पड़ता था। उदाहरण के लिए, 1951 ई० में 47.3 लाख टन, 1957 ई० में 35.8 लाख टन, 1959 ई० में 37.1 लाख टन तथा 1960 ई० में प्रायः 45 लाख टन खाद्यान्न का विदेशों से आयात करना पड़ा था। 1975-76 ई० में 1343 करोड़ रुपये मूल्य के अन्न का विदेशों से आयात किया गया था। डा० क्लाउस्टन ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि “भारत में पिछड़ी हुई जातियाँ तो हैं ही, पिछड़े हुए व्यवसाय भी हैं और दुर्भाग्यवश कृषि उनमें से एक है।”<sup>1</sup> (In India, we have our depressed classes, we too have our depressed industries and agriculture unfortunately is one of them.) भारतीय कृषि की इस कम उपज अथवा पिछड़े होने के कई कारण हैं किन्तु इसका प्रमुख कारण गत 100 वर्षों में भारतीय कृषि का इंग्लैंड की आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित होना ही है।

कृषि का विकास देश के आर्थिक विकास के लिए अनिवार्य (Agricultural Development essential for Economic Growth of the Country) :— भारतीय कृषि का महत्व इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि इसका विकास देश के आर्थिक विकास के लिए विल्कुल अनिवार्य है। प्रो० रैगनर नर्स्क ने आर्थिक विकास के संदर्भ में इस बात का सुझाव दिया था कि कृषि से अतिरिक्त जनसंख्या को हटाकर उद्योग-धन्धों में लगाया जाना चाहिए। किन्तु भारत में प्रो० नर्स्क के सुझाव से इस सम्बन्ध में कई कारणों से घोर आशंका व्यक्त की जाती है। सर्वप्रथम तो औद्योगीकरण के लिए कृषि से मजदूरों को हटाकर उद्योग-धन्धों में लगाना ही पर्याप्त नहीं होगा। वास्तव में, औद्योगीकरण के लिए देशवासियों में एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है जिसका अभी भारत में अभाव है। द्वितीयतः, तीव्र गति से औद्योगीकरण के लिए बढ़ती हुई शहरी जनसंख्या को खिलाने के लिए भी खाद्यान्नों की पूर्ति में बहुत अधिक वृद्धि करनी होगी। इसी प्रकार उद्योग-धन्धों की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक कच्चे पदार्थों के उत्पादन में भी बहुत अधिक वृद्धि करनी होगी। तृतीयतः, भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश में नये-नये उद्योग-धन्धों के अन्तर्गत रोजगार प्रदान करना संभव नहीं है। वास्तव में, उद्योग-धन्धों में रोजगार प्रदान करने की शक्ति की भी एक सीमा होती है। अतएव देश की विशाल जनसंख्या के लिए कृषि अथवा ग्रामीण उद्योगों में ही अतिरिक्त रोजगार की व्यवस्था करनी होगी।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारत जैसे देश के आर्थिक विकास की किसी भी योजना में कृषि के विकास पर पर्याप्त मात्रा में ध्यान देना अनिवार्य है। भारत के योजना निर्माताओं को द्वितीय एवं तृतीय योजनाओं से यह चेतावनी प्राप्त हो गयी थी कि कृषि के क्षेत्र में विकास की शिथिलता से सम्पूर्ण योजनाकरण की प्रक्रिया को ही धक्का लग सकता है।

कृषि की उत्पादकता में वृद्धि (Increase in Agricultural Productivity) :—कृषि के उत्पादन में वृद्धि के लिए इसकी उत्पादकता, यानी प्रति एकड़ उपज (Per acre yield) में वृद्धि अनिवार्य है। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण प्रयास किये गये। बाद की योजनाओं में भी गहन कृषि-विकास के कार्यक्रमों पर अधिक जोर देने के कारण कृषि की उत्पादकता में निश्चित रूप से वृद्धि हुई है जो अगले पृष्ठ की तालिका से स्पष्ट है :—

1. भारत सरकार ने 1972-73 से खाद्यान्नों के आयात को विल्कुल समाप्त करने का निर्णय किया था। किन्तु 1973 में देश के एक बहुत बड़े भाग में भयानक सूखा पड़ने के कारण पुनः सरकार ने 1973-74 में 49 लाख टन खाद्यान्न के आयात का निर्णय किया था। 1973 ई० में 463 करोड़ रुपये मूल्य के 49 लाख टन खाद्यान्न का आयात किया गया था।



## भारतीय कृषि : समस्या तथा विकास

181

| वर्ष    | कृषि की उत्पादकता का सूचनांक ( 1959-60 से 1961-62 तक का औसत = 100 ) <sup>1</sup> | खाद्यान्नों की उत्पादकता का सूचनांक | गैर-खाद्यान्नों की सभी कृषि-वस्तुओं की उत्पादकता का सूचनांक |
|---------|----------------------------------------------------------------------------------|-------------------------------------|-------------------------------------------------------------|
| 1955-56 | 91.4                                                                             | 93.4                                | 91.9                                                        |
| 1960-61 | 102.8                                                                            | 104.2                               | 103.3                                                       |
| 1965-66 | 84.6                                                                             | 96.2                                | 92.2                                                        |
| 1972-73 | 113.1                                                                            | 106.5                               | 110.7                                                       |
| 1973-73 | 116.7                                                                            | 114.7                               | 116.0                                                       |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि पिछले प्रायः 20 वर्षों में कृषि की उत्पादकता में प्रायः 24 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। उत्पादकता में वृद्धि गैर-खाद्य-फसलों की तुलना

में खाद्य-फसलों में ही अधिक हुई है। इसका प्रधान कारण खाद्यान्नों की कमी को दूर करने के लिए पंचवर्षीय योजनाओं में इनके उत्पादन में वृद्धि पर अधिक जोर है।

### भारत में भूमि का उपयोग ( Land Utilization in India )

भारत का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 3263 लाख हेक्टर है। इसमें से 1971-72 ई० में केवल 3056 लाख हेक्टर भूमि, अर्थात् कुल क्षेत्रफल के प्रायः 94 प्रतिशत भाग भूमि के लिए ही आँकड़े उपलब्ध थे। 1971-72 ई० में भारत संघ की कुल भूमि के उपयोग के सम्बन्ध में निम्नलिखित आँकड़े उपलब्ध थे :—

### भारत संघ की भूमि का उपयोग<sup>2</sup> ( लाख हेक्टर में ) 1971-72 ई० में

| वर्गीकरण                                                                        | क्षेत्र | कुल सूचित क्षेत्र का प्रतिशत |
|---------------------------------------------------------------------------------|---------|------------------------------|
| 1. कुल भौगोलिक क्षेत्र                                                          | 3280    | ...                          |
| 2. कुल सूचित क्षेत्रफल (Total Area Reporting)                                   | 3056    | 100                          |
| 3. वन (Forest)                                                                  | 657     | 21                           |
| 4. कृषि के लिए अप्राप्य भूमि (Not available for Cultivation)                    | 458     | 15                           |
| 5. बंजर भूमि (Fallow land)                                                      | 213     | 6.5                          |
| 6. बंजर के अतिरिक्त अन्य अकृष्य-भूमि (Other uncultivated land excluding fallow) | 334     | 10.5                         |
| 7. वास्तविक बोया गया क्षेत्र (Net Area Sown)                                    | 1394    | 46                           |
| 8. एक से अधिक बार बोया गया क्षेत्र (Area Sown more than once)                   | 246     | 8                            |
| 9. कुल बोया गया क्षेत्र (Total cropped area)                                    | 1640    | 54                           |

भारत में भूमि के उपयोग-सम्बन्धी आँकड़ों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि यहाँ कुल सूचित क्षेत्र के प्रायः 46 प्रतिशत भाग भूमि में ही खेती की जाती है। वास्तविक बोये गये क्षेत्र के अन्तर्गत पिछले कुछ वर्षों से निरन्तर वृद्धि हो रही है। 1950-51 ई० में यह 1187 लाख हेक्टर था जबकि 1968-69 ई० में 138 लाख हेक्टर तथा 1971-72 में 1394 लाख हेक्टर हो गया। अतएव यहाँ कृषि-योग्य भूमि का औसत (1971 ई० की जनगणना के अनुसार) प्रायः 0.70 एकड़ ही पड़ता है। कुल सूचित भूमि का प्रायः 6.5 प्रतिशत भाग बंजर है। बंजर के अतिरिक्त अन्य अकृष्य भूमि का क्षेत्र 334 लाख हेक्टर है। इस प्रकार की भूमि का अधिकांश भाग भूमि-उद्धार

के द्वारा कृषि के अन्तर्गत लाया जा सकता है। योजना आयोग का मत है कि भारत में जबकि जनसंख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है तथा भूमि के घरातल की पूर्ति स्थिर है और साथ ही इसका कुछ ही भाग कृषि के लिए उपलब्ध है, सिंचाई तथा कृषि-विकास के अन्य उपायों के द्वारा भूमि की उत्पादकता में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि की जा सकती है तथापि यह आवश्यक है कि इस बात का पता लगाया जाय कि बंजर भूमि में से कितनी भूमि हमें कृषि के लिए उपलब्ध हो सकती है। बढ़ती हुई जनसंख्या का एक प्रभाव यह भी पड़ेगा कि जो भूमि इस समय कृषि के अन्तर्गत है उसका कुछ क्षेत्र मकानों के निर्माण में चला जाय। सड़कों, रेलों, हवाई अड्डों

1. Statistical Outline of India-1976.
2. India-1976.



आदि यातायात के साधनों के विकास होने पर भी भूमि का कुछ भाग इसमें चलाया जायगा। तेजी से होने वाले नागरिकीकरण (Urbanization) तथा बड़े-बड़े शहरों के आकार में वृद्धि होने के फलस्वरूप भूमि की और आवश्यकता पड़ेगी। सिंचाई के वृहत् बाँध भी कुछ उर्वर भूमि को अपने अन्तर्गत जल-प्लावित कर देंगे। साथ ही, औद्योगिक कारखानों एवं अन्य प्रतिष्ठानों के लिए भी पर्याप्त भूमि चाहिये।

देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण देश में भूमि-मानव अनुपात (Land man Ratio) में निरन्तर कमी हो रही है। निम्नांकित तालिका से यह स्पष्ट है :—

| वर्ष | प्रति-व्यक्ति उपलब्ध<br>कृषि-योग्य भूमि का क्षेत्र |
|------|----------------------------------------------------|
| 1901 | 1.03 एकड़                                          |
| 1921 | 1.11 „                                             |
| 1951 | 0.84 „                                             |
| 1961 | 0.79 „                                             |
| 1971 | 0.70 „                                             |

#### भारत में कृषि-योग्य भूमि के क्षेत्र में वृद्धि की संभावना (Scope for Increasing the Area under Cultivation in India)

भारत की वर्तमान खाद्य-समस्या के समाधान का एक प्रधान उपाय कृषि-योग्य भूमि के क्षेत्र में वृद्धि है। किसी देश की कृषि-योग्य भूमि में दो प्रकार से वृद्धि की जा सकती है—(क) विस्तृत कृषि (Extensive cultivation)—जब कृषि के क्षेत्र में अधिकाधिक वृद्धि कर कृषि के क्षेत्र का विस्तार किया जाता है तो इसे विस्तृत कृषि कहते हैं। (ख) गहन कृषि (Intensive cultivation)—जब एक निश्चित भूमि के टुकड़े पर ही अधिक पूँजी, इन्धन तथा अन्य उपकरणों का प्रयोग किया जाता है तो उसे गहन कृषि कहते हैं। अब भारत में इन दोनों उपायों द्वारा कृषि के क्षेत्र में वृद्धि की संभावनाओं पर विचार किया जायगा।

जहाँ तक विस्तृत कृषि का प्रश्न है, इसके लिए देश में कृषि योग्य भूमि के क्षेत्र में वृद्धि की आवश्यकता पड़ेगी। 1971-72 ई० में देश में बंजर-भूमि का क्षेत्र 213 लाख हेक्टर तथा बंजर के अतिरिक्त नव्य अकृष्य भूमि का क्षेत्र 334 लाख हेक्टर था। इसके अतिरिक्त वनों के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्र 657 लाख हेक्टर तथा कृषि के लिए अप्राप्य भूमि का क्षेत्र 458 लाख हेक्टर था। इसमें से वनों के अन्तर्गत भूमि को कृषि के अन्तर्गत लाना सम्भव नहीं है, क्योंकि देश में जंगलों का आज भी अभाव

है। 1952 ई० की सरकारी वन-नीति के अनुसार देश के कुल भौगोलिक क्षेत्र के कम-से-कम एक-तिहाई भाग में वनों का होना अनिवार्य है। इसी प्रकार कृषि के लिए अप्राप्य भूमि को भी कृषि के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता क्योंकि इस प्रकार की भूमि पहाड़, नदी, झील तथा मरुभूमि आदि के रूप में है अथवा मकान, सड़क इत्यादि के रूप में हैं। अतएव कृषि के क्षेत्र में वृद्धि की सारी आशाओं का केन्द्र बंजर तथा अन्य अकृष्य भूमि ही है। इस प्रकार की भूमि को विभिन्न उपायों द्वारा कृषि के अन्तर्गत लाया जा सकता है। किन्तु बंजर भूमि के उद्धार में भी बहुत अधिक कठिनाइयाँ हैं। सर्वप्रथम तो यह कार्य बहुत अधिक खर्चीला पड़ता है। इसके लिए भारी-भारी ट्रैक्टरों की आवश्यकता पड़ती है। द्वितीयतः, बंजर भूमि वाले क्षेत्रों की जलवायु भी अस्वास्थ्यकर होती है तथा इसमें आवागमन के साधनों का पूर्णतया अभाव रहता है। अतः इसमें सुधार के साथ-साथ जीवन की अन्य सुविधाओं की व्यवस्था भी अनिवार्य है। तृतीयतः, सम्पूर्ण बंजर भूमि को कृषि के लिए सुधारा नहीं जा सकता। इसका कारण स्पष्ट है। इस क्षेत्र की भूमि पर और भी कई प्रकार की माँगें हैं। और कुछ भूमि को परती छोड़ना भी आवश्यक है और कुछ की भौतिक संरचना इस प्रकार की है कि इसे अच्छी खेती के योग्य नहीं बनाया जा सकता। फिर भी कुछ भूमि ऐसी अवश्य है जिसे सिंचाई तथा अन्य सुविधाओं की व्यवस्था के द्वारा कृषि-योग्य बनाया जा सकता है। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत इन क्षेत्रों के विकास के प्रयास किये जा रहे हैं तथा इनमें कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है।

किन्तु, यद्यपि देश में विस्तृत कृषि की संभावनाएँ मौजूद हैं, फिर भी देश की बढ़ती हुई जनसंख्या को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि इससे दीर्घकाल में स्थिति में कोई आशाजनक सुधार नहीं हो सकता। अतएव दीर्घ-काल में हमें इसके लिए गहन कृषि पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। भारत में गहन कृषि की बहुत अधिक संभावनाएँ हैं। यहाँ अभी प्रति-एकड़ उपज अन्य देशों की अपेक्षा बहुत ही कम है। अतएव अच्छे बीज, अच्छी एवं पर्याप्त मात्रा में खाद, नये-नये औजारों तथा अन्य उन्नत तरीकों को अपनाकर हम इसमें वृद्धि ला सकते हैं। इस सम्बन्ध में जापान तथा मिस्र का उदाहरण हमारे लिए विशेष शिक्षाप्रद है। भारत में प्रति-व्यक्ति उपलब्ध कृषि-योग्य भूमि का क्षेत्र 0.75 एकड़ है जबकि जापान में यह केवल 0.17 एकड़, ब्रिटेन में 0.42 एकड़, पश्चिमी जर्मनी में, 0.48 एकड़, चीन में 0.56 एकड़, संयुक्त राज्य अमेरिका में 2.68 एकड़, रूस में 2.59 एकड़ तथा कनाडा में 50.75



## भारतीय कृषि : समस्या तथा विकास

एकड़<sup>1</sup> है। किन्तु गहन कृषि को अपनाने के कारण इन देशों में प्रति-एकड़ उपज बहुत अधिक होती है। भारत में भी इन उपायों को अपनाने से कृषि के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि की जा सकती है।

इस प्रकार निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि “भारतीय कृषि का भविष्य गहन कृषि पर ही निर्भर करता है न कि विस्तृत कृषि पर।” (The future of the Indian Agriculture lies in intensification rather than in extension of the cultivated Area.)

किन्तु इसके लिए पूँजी की आवश्यकता होगी और अभी हमारे देश में किसानों के पास पर्याप्त मात्रा में पूँजी का अभाव है। अतएव पर्याप्त मात्रा में पूँजी की व्यवस्था कर हम गहन कृषि के द्वारा भारतीय कृषि का विकास कर सकते हैं।

### भारतीय कृषि की प्रमुख समस्याएँ (Main Problems of the Indian Agriculture)

भारत एक कृषि-प्रधान देश है। किन्तु, कृषि-प्रधान देश होते हुए भी आज यहाँ कृषि की स्थिति अत्यन्त दयनीय है जिसके परिणामस्वरूप हमें विदेशों से लाये गये अन्न पर निर्भर करना पड़ता है। विश्व के कुछ प्रमुख देशों में खाद्यान्न के कुल उत्पादन तथा प्रति-व्यक्ति उपलब्धि को देखने से इस सम्बन्ध में भारत की वास्तविक स्थिति स्पष्ट हो जाती है :—

| देश <sup>2</sup> | जनसंख्या<br>(करोड़ में) | 1967 में<br>खाद्यान्न का<br>कुल उत्पादन<br>(लाख टन में) | प्रतिव्यक्ति<br>प्रतिदिन<br>ग्राम में<br>उपलब्धि |
|------------------|-------------------------|---------------------------------------------------------|--------------------------------------------------|
| सं० रा०          | 1967 में                |                                                         |                                                  |
| अमेरिका          | 19.9                    | 2516                                                    | 3478                                             |
| सं० संघ          | 23.6                    | 1413                                                    | 1640                                             |
| फ्रांस           | 5.0                     | 318                                                     | 1742                                             |
| जापान            | 10.0                    | 210                                                     | 575                                              |
| चीन              | 79.7                    | 1843                                                    | 634                                              |
| भारत             | 51.1                    | 960                                                     | 515                                              |

इसी प्रकार प्रति हेक्टर उत्पादन भी भारत में विकसित देशों की तुलना में बहुत ही कम है :—

### औसत उपज : अन्तर्राष्ट्रीय तुलना, 1974 ( किलोग्राम प्रतिहेक्टर )<sup>3</sup>

| फसल/देश         | उपज  | फसल/देश         | उपज  |
|-----------------|------|-----------------|------|
| चावल (धान)      |      | कपास            |      |
| चीन             | 3270 | सं० रा० अमेरिका | 500  |
| जापान           | 5840 | सोवियत संघ      | 940  |
| सं० रा० अमेरिका | 4980 | मिस्र           | 760  |
| भारत            | 1640 | भारत            | 160  |
| गेहूँ           |      | सूँ गफली        |      |
| ऑस्ट्रेलिया     | 1270 | ब्राजील         | 1370 |
| फ्रांस          | 4590 | चीन             | 1240 |
| सं० रा० अमेरिका | 1840 | सं० रा० अमेरिका | 2790 |
| भारत            | 1160 | भारत            | 760  |

इस प्रकार चाहे हम प्रति श्रमिक उत्पादिता की दृष्टि से देखें या प्रति हेक्टर उपज की दृष्टि से, भारतीय कृषि बहुत ही पिछड़ी नजर आती है। इस पिछड़ेपन के कारण आज देश को विभिन्न क्षेत्रों में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। वस्तुतः देश में अन्नसंकट यहाँ की गरीबी, बेरोजगारी एवं विकास की धीमी गति के साथ गहरे तौर पर जुड़ा हुआ है। इस बात को ध्यान में रखते हुए भारतीय कृषि के पिछड़ेपन के कारणों की जानकारी आवश्यक है ताकि उस आधार पर कृषि-विकास के लिए आवश्यक उपाय ज्ञात किये जा सकें।

वास्तव में, भारतीय कृषि के समक्ष आज अनेक समस्याएँ हैं। इन समस्याओं को निम्नलिखित तीन वर्गों के अन्तर्गत रखा जा सकता है :—

(1) कृषि की परिस्थितियों तथा तरीकों में विभिन्नताएँ (Differences in Agricultural conditions and practices) :—सर्वप्रथम तो भारत संघ के भिन्न-भिन्न भागों में कृषि की परिस्थितियों तथा तरीकों में घोर विभिन्नता पायी जाती है। देश के भिन्न-भिन्न भागों में मिट्टी की बनावट, जलवायु तथा फसलों के तरीकों में विभिन्नता पायी जाती है। भारतीय कृषि में इस प्रकार की विभिन्नता प्रारम्भ से ही पायी जाती है। इससे कृषि-विकास की कोई भी योजना तैयार करने में कठिनाई होती है। ब्रिटिश शासनकाल में इस समस्या के समाधान के लिए देश की कृषि में सामंजस्य उत्पन्न करने का कोई भी प्रयत्न नहीं किया गया था। किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत इस प्रकार के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

(2) प्रति श्रमिक निम्न उत्पादिता (Low Productivity per labourer) :—भारत में विश्व के अन्य

1. Third Five year Plan p. 148.

2. Production Year Book 1968, Food and Agricultural Org. U. N. O.

3. Statistical Outline of India 1978.



देशों की तुलना में प्रति श्रमिक उत्पादिता का स्तर भी बहुत ही निम्न है। उदाहरण के लिए, डॉ० वालजित सिंह के एक अनुमान के अनुसार कृषि-क्षेत्र में प्रति श्रमिक उत्पादिता भारत में कुल 105 डालर है जबकि यह नावें में 973 डालर, इंग्लैंड में 2057 डालर, जापान में 2265 डालर, अमेरिका में 2405 डालर तथा प० जर्मनी में लगभग 3495 डालर है। भारतीय श्रमिक जिन परिस्थितियों तथा जिन औजारों के साथ कार्य करते हैं उनमें अत्यधिक विभिन्नता के कारण इस तुलना से किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। फिर भी इससे भारतीय कृषि के पिछड़ेपन का अन्दाजा अवश्य लगता है।

(3) प्रति हेक्टर कम उपज (Low yield per hectare) :—भारतीय कृषि की तीसरी प्रमुख समस्या अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ प्रति-हेक्टर निम्न उत्पादन तथा फसलों की उपज का कम होना है। (Comparing Indian agriculture with that in other countries, we find that Productivity per hectare and crop yields are distinctly low) भारत में प्रति हेक्टर गेहूँ का उत्पादन मिस्र के एक-तिहाई तथा हालैंड एवं डेनमार्क के एक-चौथाई के बराबर एवं चावल का उत्पादन इटली के लगभग एक-चौथाई भाग के बराबर है। मकई का उत्पादन स्विट्जरलैंड तथा न्यूजीलैंड के एक-तिहाई भाग के बराबर है। गन्ने का उत्पादन क्यूबा के एक-तिहाई से कम, जावा के एक-चौथाई के बराबर तथा हवाई का सातवाँ भाग है। कपास का उत्पादन मिस्र के एक-तिहाई भाग से भी कम है। पिछले पृष्ठ की तालिका से यह अधिक स्पष्ट हो जाता है।

भारतीय कृषि के पिछड़े होने अथवा

कम उपज के कारण

(Causes of the Backwardness or Low Yield of Indian Agriculture)

भारतीय कृषि के पिछड़े होने अथवा प्रति-एकड़ कम उपज के कारणों को मोटे तौर पर निम्नांकित दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(क) तकनीकी कारण, तथा (ख) संस्थागत कारण। तकनीकी कारणों के अन्तर्गत उत्तम बीज, अच्छी खाद, आधुनिक औजारों का अभाव आदि आते हैं जबकि संस्थागत कारणों के अन्तर्गत जोतों का छोटा आकार, दोषपूर्ण भूमि-व्यवस्था आदि आते हैं। इन दोनों में से निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

(क) भूमि पर लगातार कृषि करने से इसकी उर्वरता कम हो गई है। भूमि की उर्वरता में वृद्धि के लिए यहाँ पर किसान कृत्रिम खाद का बहुत कम प्रयोग करते हैं। इससे प्रति-एकड़ उपज का कम होना अति स्वाभाविक है।

(ख) भारतीय कृषि मौसमी हवाओं पर आश्रित है। किन्तु यहाँ मौसमी हवाओं की प्रकृति बहुत ही अनिश्चित है। साथ ही, यहाँ सिंचाई के समुचित साधनों का भी अभाव है। अभी तक देश की कुल कृषि की जाने वाली भूमि के प्रायः 21% भाग में ही सिंचाई की सुविधा उपलब्ध हो पायी है। इस प्रकार सिंचाई के साधनों के अभाव में कृषि की प्रकृति अनिश्चित हो जाती है। नोवेल्स (Knowels) ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि 'भारत में मौसम न आये तो कृषि-उद्योग में ताले-बन्दी हो जाय।' (If monsoon fails, there is a lockout in agricultural industry.)

(ग) भारतीय किसान वर्ष में अधिकांशतः एक ही फसल उत्पन्न करता है। साथ ही, यहाँ फसलों के हेर-फेर की विस्तृत पद्धति (Rotation of crops) का प्रयोग भी नहीं किया जाता है।

(घ) उत्तम पशु एवं अच्छे बीज तथा आधुनिक औजारों का अभाव आदि भी भारतीय कृषि की कम उपज के लिए बहुत हद तक उत्तरदायी हैं।

(च) जोतों का अत्यधिक उपविभाजन (Subdivision) एवं अपखंडन (Fragmentation) भी भारतीय कृषि की कम उपज का एक प्रधान कारण है। भारत में औसत जोत का आकार लगभग 7.5 एकड़ है जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में यह 145 एकड़, डेनमार्क में 80 एकड़, इंग्लैंड में 62 एकड़ तथा जर्मनी में 21 एकड़ है। इससे भारत में जोतों के उपविभाजन का अन्दाजा लगता है। किसान के लिए छोटी-छोटी एवं बिखरी हुई जोतों का अर्थ है कम उपज, बर्बादी एवं ऋण का अधिक बोझ। (Undersized and scattered holdings mean low productivity, waste and debt.)

(छ) ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता एवं महाजनों की शोषण-नीति भी भारतीय कृषि की कम उपज के कारणों में एक प्रधान कारण है। भारतीय किसान ऋण के अतिशय बोझ से दबे रहते हैं। इनकी आय का अधिकांश भाग व्याज आदि के भुगतान में ही समाप्त हो जाता है। इस प्रकार आर्थिक एवं वित्तीय कठिनाइयों के कारण किसान भूमि-सुधार में अपना समय एवं शक्ति नहीं लगा सकते हैं।

(ज) भारत में भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक भार है। देश की कुल जनसंख्या के प्रायः 70 प्रतिशत व्यक्ति कृषि पर ही आश्रित हैं। इतना ही नहीं, कृषि पर आश्रित जनसंख्या का बोझ दिन-प्रति-दिन बढ़ते ही जा रहा है। देश की जनसंख्या में प्रायः 1 करोड़ से भी अधिक की दर से प्रति वर्ष वृद्धि हो रही है जिसमें से अधिकांश का सम्बन्ध कृषि से ही रहता है। प्रो० जॉन ई० रसेल (John E. Russel) ने यह अनुमान लगाया है कि प्रति सौ एकड़ भूमि पर पोलैंड में 31 व्यक्ति, रूमा-



निया में 30 व्यक्ति, बुल्गेरिया में 33 व्यक्ति तथा ब्रिटेन में केवल 6 व्यक्ति काम करते हैं जबकि भारत में प्रायः 148 व्यक्ति काम करते हैं। इससे भारत में भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक दबाव (Excessive Pressure of population on land) स्पष्ट हो जाता है।

(झ) उचित विक्रय-व्यवस्था एवं गोदाम आदि की सुविधाओं का अभाव भी भारतीय कृषि के पिछड़े होने के कारणों में एक प्रधान कारण है। भारतीय किसान की उपजों के वर्गीकरण की भी सुविधा नहीं है, प्रामाणिक माप एवं वजन का अभाव है तथा किसान एवं उनकी उपज के उपभोक्ताओं के बीच मध्यस्थों की एक बहुत बड़ी लड़ी पायी जाती है जो अपनी अनावश्यक सेवाओं के लिए किसानों के लाभ का एक बड़ा भाग स्वयं रख लेते हैं।

(ड) भूमि की समुचित व्यवस्था का अभाव भी भारतीय कृषि के पिछड़े होने के कारणों में एक प्रधान कारण है। भारतीय ग्रामों में अनुपस्थित जमींदारी व्यवस्था तथा किसानों की आर्थिक दासता पायी जाती है जो भारतीय कृषि की कम उपज अथवा पिछड़े होने के कारणों में प्रधान है।

### सुधार के उपाय

#### (Remedial Measures)

भारतीय कृषि एवं किसानों के समक्ष उक्त सारी समस्याएँ हैं जिनके समाधान पर ही कृषि का विकास निर्भर करता है। स्पष्ट है कि भारतीय कृषि की सबसे बड़ी समस्या पूँजी के अभाव की समस्या है। पूँजी के अभाव की समस्या का समाधान किसानों के मध्य सहकारिता के प्रचार द्वारा दूर किया जा सकता है। परन्तु भारतीय कृषि में विकास वस्तुतः इसमें संस्थागत एवं यांत्रिक परिवर्तनों तथा ऐसे उपायों पर निर्भर करता है जिनसे कृषि को मौनसून की अनिश्चितताओं से मुक्त किया जा सके। इन उपायों का वर्णन निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :—

(i) नयी तकनीकी व्यवस्था :—देश की कृषि के विकास के लिए एक आवश्यक उपाय कृषि के सम्बन्ध में नयी तकनीक की जानकारी प्राप्त करने एवं उसे किसानों तक पहुँचाने की व्यवस्था से सम्बन्धित है। जिन परम्परागत विधियों के सहारे साधारणतया हमारे किसान खेती करते हैं, उनमें तथा आधुनिक तौर-तरीकों के बीच भारी अन्तर है। देश में निम्न कृषि-उत्पादितता का यह एक महत्त्वपूर्ण कारण है। अतः नयी तकनीक के अपनाने की दिशा में हमें आगे बढ़ना होगा। इस सम्बन्ध में हम विकसित देशों से बहुत-कुछ सीख सकते हैं। लेकिन यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि केवल नकल करने से काम नहीं चल सकेगा। हमें कृषि के सम्बन्ध में आधुनिक ढंग की ऐसी तकनीक अपनाने की आवश्यकता है जो

हमारी विशेष परिस्थितियों जैसे कि जोतों के आकार, मौसम, भूमि एवं मिट्टी, श्रमिकों की संख्या, पूँजी की मात्रा आदि के लिए उपयुक्त हो।

लेकिन केवल नवीन तकनीक का पता लगाना ही पर्याप्त न होगा। आवश्यकता इस बात की भी है, और निस्सन्देह यह अधिक महत्त्वपूर्ण है कि नयी तकनीक की जानकारी को देश के लाखों-करोड़ों किसानों तक पहुँचाया जाए, तभी नयी तकनीक से व्यावहारिक लाभ उठाना सम्भव हो सकेगा। इस उद्देश्य से अलग-अलग क्षेत्रों में गाँवों के निकट प्रदर्शन-फार्म खोलने की आवश्यकता है, ताकि वहाँ नयी तकनीक के सम्बन्ध में आवश्यक प्रयोग करके उसके परिणामों का किसानों के बीच भली प्रकार प्रदर्शन किया जा सके। अच्छे परिणामों को देखकर अधिकाधिक संख्या में किसान उस नवीन तकनीक को अपनाने के लिए प्रयास करेंगे और इस प्रकार देश में कृषि के विकास का कार्य आगे बढ़ा सकेगा।

इतना ही नहीं, इस कार्यक्रम की सफलता के लिए एक आवश्यक कदम कुशल कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति से सम्बन्धित है। विस्तार-सेवा के अन्तर्गत ऐसे कार्यकर्त्ता नियुक्त किए जाने चाहिए जो भली प्रकार प्रशिक्षित हों और जिनका गाँव एवं खेतों से पर्याप्त लगाव हो। यह भी आवश्यक है कि उनपर तरह-तरह के काम का बोझ बहुत अधिक न हो और साथ ही उनके लिए यथोचित वेतन और तरक्की आदि की व्यवस्था ठीक हो। बेहतर तो यह होगा कि उनके वेतन का एक भाग, कमीशन की तरह, गाँव में नये तकनीक की विस्तार-दर के साथ जोड़े दिया जाए। दूसरे शब्दों में जिस तेजी से किसी गाँव या क्षेत्र में नवीन तकनीक को अपनाया जाए, उसी के अनुसार वहाँ के कार्यकर्त्ता को अधिक पारिश्रमिक दिये जाने की व्यवस्था होनी चाहिए। ऐसा होने पर विस्तार-कार्यकर्त्ताओं को लगन के साथ अधिक कार्य करने के लिए प्रत्यक्ष रूप में प्रेरणा मिलेगी।

इस सम्बन्ध में उत्तम यह होगा कि शुरू-शुरू में विस्तार-कार्यक्रम को एक साथ सब स्थानों पर फैलाने के बजाय कुछ चुने क्षेत्रों में ही, जहाँ कि परिस्थितियाँ इसके लिए अधिक अनुकूल हों, चलाया जाए। इससे सीमित साधनों का भरपूर एवं प्रभावपूर्ण उपयोग सम्भव हो सकेगा और इस उपयोग के फल भी ठोस एवं स्थायी होंगे। इस सन्दर्भ में शिक्षा-प्रशिक्षण का योगदान बहुत महत्त्व रखता है। यदि किसान पढ़े-लिखे हैं, तो वे नवीन तकनीक को कम समय में एवं आसानी से सीख एवं समझ सकेंगे। इसलिए यह आवश्यक है कि गाँवों में शिक्षा एवं प्रशिक्षण की सुविधाओं का प्रसार किया जाय और इस शिक्षा-प्रशिक्षण में कृषि के पक्ष को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए।



(ii) निवेश के लिए तत्परता—किसानों को यदि यह विश्वास दिलाया भी जा सके कि नयी तकनीक के द्वारा उत्पादन की मात्रा में भारी वृद्धि लाना सम्भव है, तो भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे नये तकनीक को अवश्य अपनारेंगे ही। सामान्य तौर से वे नये तकनीक के अपनाने में रुपया लगाने के लिए तभी तैयार होंगे, जबकि उन्हें इससे लाभ मिलने की आशा होगी। लाभ मिल सकने का यह प्रश्न मूल रूप से इन तीन बातों के साथ जुड़ा हुआ है—(क) उचित भू-व्यवस्था, (ख) फसल के लिए बाजार एवं, (ग) कीमत। अतः कृषि-विकास के लिए इन बातों की उचित व्यवस्था पर और विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

(क) भूमि-सुधार—यदि भूमि की व्यवस्था ठीक नहीं है, जैसा कि यदि किसान अपनी भूमि पर नहीं बल्कि जमींदारों से किराए पर ली गयी जमीन पर खेती करते हैं, तथा उन्हें बहुत अधिक लगान देनी पड़ती है अथवा उन्हें सदा वेदखली का भय रहता है, तो सामान्य तौर से किसान कृषि-विकास कार्यक्रम में रुपया लगाने के लिए तैयार नहीं होंगे। कारण स्पष्ट है। ऐसी स्थिति में कृषि-विकास का अधिकांश लाभ किसानों को न मिलकर जमींदारों को ही मिलेगा। इस प्रकार की परिस्थिति में जबकि उन्नति के लिए प्रयास तो कोई करे और उसका लाभ किसी अन्य को मिले, किसानों के लिए कृषि-विकास में दिलचस्पी लेना अथवा निवेश के लिए तत्पर रहना कठिन ही नहीं बरन् असम्भव-सा हो जाता है। अतः कृषि-क्षेत्र में प्रगति के लिए भूमि-सुधार द्वारा वर्तमान भूमि-व्यवस्था के दोषों को दूर करना आवश्यक है। भूमि-सुधार में हम जमींदारी उन्मूलन, राज्य तथा किसानों के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध की स्थापना, आर्थिक आकार के जोतों का निर्माण विखरी जोतों की चकबन्दी, सुरक्षित काश्तकारी, उचित लगान की व्यवस्था, जोत की उच्चतम सीमा निर्धारण आदि कार्यक्रम सम्मिलित करते हैं।

(ख) कृषि-बाजार की सुविधा—भूमि-सुधार की ही तरह विपणन की सुविधाएँ भी किसानों को कृषि-विकास के लिए अभिप्रेरित करने की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखती हैं। यदि बाजार में माल की बिक्री से प्राप्त होने वाली रकम के सम्बन्ध में किसान निश्चित नहीं हैं, तो खेती में अतिरिक्त निवेश के लिए किसानों में तत्परता कम होगी ही फसल की बिक्री से किसानों को कितनी रकम प्राप्त हो सकेगी, यह बहुत-कुछ बाजार-और विपणन की सुविधाओं पर निर्भर करेगा। अतः कृषि-विकास के लिए इस ओर ध्यान देना आवश्यक है। सुविधाजनक स्थानों पर बाजार उपलब्ध होने चाहिए, ताकि उत्पादन में होने वाली वृद्धि तथा कस्बों एवं शहरों के बीच तालमेल बैठ सके। इसके लिए परिवहन-सुविधाओं को बढ़ाना होगा और नियमित बाजारों की स्थापना करनी होगी। बाजार

में क्रय-विक्रय संबंधी बातों को इस प्रकार से नियंत्रित करना होगा जिससे कि धोखेबाजी, शोषण आदि को बढ़ावा नहीं मिल सके। इस संदर्भ में सहकारी विपणन व्यवस्था विशेष रूप से सहायक हो सकती है। इसके माध्यम से विपणन-क्षेत्र में आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त होंगी और अपने माल के लिए सदस्य-किसानों को अच्छी कीमत भी मिल सकेगी। लाभ का अधिक भाग जो पहले बीच के लोगों को चला जाता था, वह अब सहकारी विपणन में किसानों को ही मिलने लगेगा।

(ग) कीमत-स्थिरता की व्यवस्था—कितु कृषि-विपणन सम्बन्धी सुविधाओं की व्यवस्था के साथ-साथ कीमत-स्थिरता की ओर भी विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए। अस्थिर कीमतें निवेश क्रियाओं के लिए घातक सिद्ध होती हैं। यदि किसानों को पहले से यह जानकारी नहीं है कि उनको अपने माल के लिए कितनी कीमत मिल सकेगी, तो सामान्य तौर से वे अपनी बचत या दूसरों से ऋण लेकर, उत्पादन-वृद्धि में रुपया लगाने के लिए तैयार नहीं होंगे। अतः हमें ऐसी व्यवस्था करनी होगी जिससे कि कृषि-पदार्थों की कीमतों में समुचित स्थिरता बनी रहे। ठीक किस्म के गोदामों के निर्माण, सहकारी क्रय-विक्रय, कराधान-नीति आदि से इस दिशा में पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

(घ) ऋणग्रस्तता को दूर करना—कृषि-विकास के लिए किसानों को अभिप्रेरित करने के रास्ते में एक बड़ी कठिनाई उनकी ऋणग्रस्तता सिद्ध होती है। अधिकांश भारतीय किसानों पर ऋण का भारी बोझ लदा हुआ है प्रायः यह ऋणग्रस्तता पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती है। इसके परिणामस्वरूप किसानों की बढ़ी हुई आय का एक बड़ा भाग ऋण एवं व्याज के भुगतान के रूप में महाजनों के पास पहुँच जाता है और ऋणी किसान अपेक्षाकृत बहुत कम लाभ उठा पाते हैं। ऐसी स्थिति में किसान भला किस प्रकार विकास की दिशा में उत्साहपूर्वक प्रयत्नशील हो सकते हैं। अतः उपयुक्त उपायों के सहारे ऋणग्रस्तता को कम व दूर करने के लिए कोशिश की जानी चाहिए और यदि आवश्यक हो, तो इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कानून का सहारा लिया जा सकता है।

(iii) कृषि-आगतों एवं वित्त की आपूर्ति की व्यवस्था—अन्य उद्योगों की तरह कृषि में भी अनेक प्रकार के साज-सामान अथवा आगतों (inputs) की आवश्यकता पड़ती है—जैसे खाद, उत्तम बीज, पानी, एवं उपकरण आदि। कृषि विकास के लिए हमें इन साधनों की मात्रा और गुण तथा को की ओर पूरा ध्यान देना होगा। हमें ऐसी व्यवस्था करनी होगी जिससे कि उन्नत किस्म के बीज, खाद, कृषि-उपकरणों सिंचाई के साधन आदि पर्याप्त मात्रा में ठीक समय पर उपलब्ध हो सकें। यह व्यवस्था जितनी ही कुशल होगी, एक सीमा तक उत्पादन एवं उत्पादित वस्तुओं में वृद्धि



लाना उतना ही अधिक सम्भव हो सकेगा। सच तो यह है कि इस प्रकार की व्यवस्था के वगैर कृषि-विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस आवश्यक कार्य-क्रम के सिलसिले में दो-एक बातों का विशेष ध्यान रखना होगा। एक तो विभिन्न साधनों की पूर्ति में वृद्धि लाते समय उनके बीच तालमेल बनाए रखना आवश्यक है अन्यथा हम कृषि-विकास के क्षेत्र में सफल नहीं हो सकेंगे। उदाहरण के लिए, अधिकांश उर्वरक ऐसे हैं जिनके लिए पानी की अतिरिक्त मात्रा की आवश्यकता पड़ती है। अतः यदि अतिरिक्त पानी की व्यवस्था के वगैर इनको प्रयोग में लाया जायगा, तो यही नहीं कि उत्पादिता में वृद्धि न हो सकेगी बल्कि सम्भवतः उत्पादिता में कमी ही होगी। अतः ऐसे उर्वरकों के सफलतापूर्वक प्रयोग के लिए हमें पानी की अतिरिक्त मात्रा की व्यवस्था करनी होगी ताकि दोनों के बीच उचित तालमेल बना रहे। द्वितीयतः, सिंचाई जैसे वर्तमान सीमित साधनों से अधिकतम लाभ उठाने के लिए चुने हुए क्षेत्रों में ही, जहाँ पर कि परिस्थितियाँ अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल दिखाई पड़ती हैं, उनका केन्द्रित उपयोग लाभकारी जान पड़ता है। थोड़ी-थोड़ी मात्रा में साधनों के चारों ओर छितरा देने से उनके प्रयोग से पूरा लाभ प्राप्त न हो सकेगा।

(iv) वित्त-सम्बन्धी सुविधाओं की व्यवस्था—उन्नत किस्म के बीज, खाद, कृषि-उपकरण आदि से किसान तभी प्रभावपूर्ण ढंग से लाभ उठा सकते हैं जबकि उनकी प्राप्ति के लिए देश में वित्त-सम्बन्धी सुविधाओं की कुशल व्यवस्था हो। गरीबी के कारण हमारे किसान अपनी आय में से कोई विशेष यत्न नहीं कर पाते और महाजनों से जो ऋण प्राप्त होता है, वह अपर्याप्त ही नहीं बल्कि उसमें शोषण के अंश भी मौजूद होते हैं। इस संदर्भ में गाँवों में आधुनिक बैंकों, प्रादेशिक बैंकों और सहकारी ऋण समितियों की स्थापना सहायता प्राप्त की जा सकती है। देश के भिन्न-भिन्न भागों में ग्रामीण बैंकों (Rural Banks) की स्थापना से बहुत अधिक सहायता की आशा की जाती है।

किन्तु ये संस्थाएँ भी ऋण देते समय प्रायः वित्तीय जमानत माँगती हैं। इस कारण छोटे-छोटे किसानों को, जिन्हें अपेक्षाकृत अधिक जरूरत होती है, इन संस्थाओं से उधार पाने में बड़ी कठिनाई होती है। साधारणतया, बड़े-बड़े भू-स्वामी एवं महाजन लोग ही, जिनमें ऋण-पात्रता अधिक होती है, इनसे ऋण लेने में सफल हो पाते हैं। इस प्रकार ऋण प्राप्त करके वे अपनी ओर से छोटे छोटे किसानों को उधार देते हैं और उनसे परम्परानुसार बहुत अधिक ब्याज वसूलते हैं। यही नहीं वरन् गैर-कृषि कार्यों के लिए भी आसानी से उधार दे दिया जाता है। फलस्वरूप कृषि-ऋण कार्यक्रम के उद्देश्य पूरे नहीं हो

पाते। इन त्रुटियों को दूर करने के लिए, विशेष परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक उपाय अपनाये जाने चाहिए।

अन्त में, निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश में कृषि की उन्नति के लिए संस्थागत परिवर्तनों की व्यवस्था आवश्यक है, किन्तु इसके साथ-ही-साथ कृषि पर लगे लोगों को एक बड़ी संख्या के लिए वैकल्पिक रोजगार की व्यवस्था भी करनी होगी। विकास मुख्य रूप से अच्छी खाद, उत्तम बीज, कीड़े-मकोड़ों को मारने की दवा तथा सिंचाई की सुविधा आदि पर निर्भर करती है। प्रो० लिवित (Lewis) का इस सम्बन्ध में यह कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है—“The secret of rapid agricultural progress in the under developed countries is to be found much more in agricultural extension, in fertilisers, in new seeds, in pesticides and in water supplies than in altering the size of the farm, introducing machinery, or in getting rid of middlemen in marketing operations.”<sup>1</sup> वास्तव में, भारतीय कृषि में स्थायी सुधार के लिए एक सुव्यवस्थित योजना की आवश्यकता है। इसके वगैर कृषि तथा किसानों की स्थिति में सुधार प्रायः असंभव है।

### भारतीय कृषि की मुख्य उपजें (Important Indian Crops)

भारतीय कृषि की उपजें दो प्रकार की होती हैं—  
(1) खाद्य-फसलें (Food Crops) :—इनके अन्तर्गत चावल, गेहूँ, चना, जौ तथा अन्य दालें प्रमुख हैं; तथा  
(2) अखाद्य फसलें (Non-food Crops)—इनमें रबर तथा तम्बाकू आदि उल्लेखनीय हैं। भारतीय कृषि में प्रारम्भ से ही खाद्य-फसलों की प्रधानता रही है। 1940 ई० में कुल कृषि की जाने वाली भूमि के प्रायः 80 प्रतिशत भाग में खाद्य-फसलों की तथा केवल 20 प्रतिशत भाग में अखाद्य फसलों की खेती होती थी। 1960-61 में भारत के कुल 3466 लाख एकड़ भूमि में खेती हुई थी, जिसमें से 2796 लाख एकड़, यानी प्रायः 80 प्रतिशत भाग में खाद्य फसलों तथा 640 लाख एकड़ यानी प्रायः 20 प्रतिशत भाग में अखाद्य-फसलों की खेती हुई थी। इस प्रकार आज भी खाद्य एवं अखाद्य फसलों का अनुपात प्रायः यही है।

कृषि-फसलों के क्षेत्र में वृद्धि (Increase in the area under different crops):—1950-51 से 1967-68 के बीच कुल कृषि की जाने वाली भूमि के क्षेत्र में 28 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसमें से गैर-खाद्य फसलों में 39 प्रतिशत तथा खाद्य-फसलों के क्षेत्र में 26 प्रतिशत की



वृद्धि हुई। निम्नांकित तालिका से विभिन्न फसलों के क्षेत्र में 1950-51 से 1967-68 के बीच हुई वृद्धि का अन्दाजा लगता है :—

| विभिन्न फसलों के क्षेत्र में परिवर्तन 1950-51 = 100 |         |         |         |
|-----------------------------------------------------|---------|---------|---------|
| फसलें                                               | 1950-51 | 1960-61 | 1967-68 |
| चावल                                                | 100     | 110     | 119     |
| गेहूँ                                               | 100     | 132     | 153     |
| ज्वार                                               | 100     | 118     | 120     |
| दाल                                                 | 100     | 128     | 124     |
| तेलहन                                               | 100     | 127     | 143     |
| कपास                                                | 100     | 130     | 138     |
| गन्ना                                               | 100     | 141     | 119     |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि पिछले प्रायः 18-19 वर्षों में गेहूँ के क्षेत्र में 53 प्रतिशत, तेलहन के क्षेत्र में 43 प्रतिशत तथा कपास के क्षेत्र में 38 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

### खाद्य-फसलें

(Food Crops)

भारतीय कृषि में खाद्य-फसलों की ही प्रधानता है। ये विभिन्न प्रकार की खाद्य-फसलें देश की विशाल जनसंख्या के भोजन का प्रधान साधन हैं। 1960-61 ई० में खाद्यान्नों का कुल उत्पादन 820 लाख टन था। किन्तु तृतीय योजना के अन्त में खाद्यान्नों का उत्पादन घटकर 1965-66 ई० में 720 लाख टन हो गया जो पुनः बढ़कर 1968-69 में 980 लाख टन हो गया। चतुर्थ योजना के अन्त में यानी 1973-74 ई० में इसे 1290 लाख टन करने का आयोजन था किन्तु इसका उत्पादन 1140 लाख टन ही हुआ। पाँचवीं योजना के अन्त में 1977-78 में इनका उत्पादन 1210 लाख टन हुआ। छठी योजना के अन्त में इसके उत्पादन को बढ़ाकर 1982-83 में 1448 लाख टन करने का आयोजन है।

भारत की खाद्य-फसलों में निम्नलिखित प्रधान हैं :—

**चावल (Rice) :—**चावल भारत की प्रमुख खाद्य-फसल है तथा देश के अधिकांश लोगों के भोजन का एक प्रधान अंग है। विश्व के चावल-उत्पादक देशों में भारत का द्वितीय स्थान है। वर्षा के भारत से अलग होने के पूर्व भारत सम्पूर्ण विश्व का प्रायः 40 प्रतिशत भाग चावल उत्पन्न करता था। साथ ही, यह विश्व में चावल का सबसे बड़ा निर्यातक देश भी था। किन्तु आजकल, विशेषतः देश-विभाजन के पश्चात् तो हमें स्वयं बर्मा, श्याम आदि देशों से बहुत अधिक मात्रा में चावल का आयात करना पड़ता है। चावल की खेती मुख्यतः आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, पश्चिमी बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश,

असम तथा मध्य प्रदेश में होती है। अधिकांश राज्यों में जून-जुलाई में इसकी फसल बो दी जाती है तथा दिसम्बर तक तैयार हो जाती है। भारत में सम्पूर्ण कृषि की जाने वाली भूमि के प्रायः 22 से 24 प्रतिशत भाग में चावल की खेती होती है। निम्नांकित तालिका से गत कुछ वर्षों में देश में चावल की खेती के क्षेत्र तथा उत्पादन का अन्दाजा लगता है :—

| वर्ष    | चावल का क्षेत्र एवं उपज       |                         |                                        |
|---------|-------------------------------|-------------------------|----------------------------------------|
|         | क्षेत्रफल<br>(लाख हेक्टर में) | उत्पादन<br>(लाख टन में) | प्रति हेक्टर<br>उत्पादन<br>(कि० ग्राम) |
| 1950-51 | 308                           | 205                     | 668                                    |
| 1960-61 | 341                           | 346                     | 1013                                   |
| 1965-66 | 355                           | 306                     | 862                                    |
| 1970-71 | 375                           | 424                     | 1123                                   |
| 1972-73 | 366                           | 392                     | 1070                                   |
| 1973-74 | 380                           | 437                     | 1151                                   |

इस प्रकार 1973-74 ई० में भारत में प्रायः 380 लाख हेक्टर भूमि में चावल की खेती हुई थी तथा 1977-78 में 490 लाख टन चावल का उत्पादन हुआ था। उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1950-51 से 1973-74 के बीच चावल की खेती का क्षेत्र 308 लाख हेक्टर से बढ़कर 380 लाख हेक्टर हो गया, यानी इसमें लगभग 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि इसके उत्पादन में प्रायः 110 प्रतिशत की वृद्धि हुई यानी यह 206 लाख टन से बढ़कर 437 लाख टन हो गया। इस अवधि में चावल की प्रति हेक्टर औसत उपज 668 कि० ग्राम से बढ़कर 1973-74 में 1151 किलोग्राम हो गयी। किन्तु, भारत चावल के दृष्टिकोण से आत्मनिर्भर राष्ट्र नहीं है। इसका प्रमुख कारण यहाँ पर चावल की प्रति एकड़ उपज का कम होना है।

**गेहूँ (Wheat) :—**भारत की खाद्य-फसलों में चावल के बाद गेहूँ का ही प्रधान स्थान है। कुल कृषि की जाने वाली भूमि के लगभग 9 प्रतिशत भाग में इसकी खेती होती है। गेहूँ की खेती मुख्यतः उत्तर प्रदेश, पंजाब हरियाणा, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान तथा बिहार में होती है। कुल उत्पादन का तीन-चौथाई भाग केवल उत्तर प्रदेश, पंजाब, मध्य प्रदेश, हरियाणा तथा राजस्थान आदि राज्यों में होता है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व विश्व के गेहूँ-उत्पादक देशों में भारत का प्रमुख स्थान था। उस समय यहाँ से गेहूँ का निर्यात भी होता था। किन्तु, आजकल तो भारत को प्रत्येक वर्ष विदेशों से गेहूँ का बड़े पैमाने पर आयात करना पड़ता है। देश-विभाजन



के फलस्वरूप गेहूँ उत्पन्न करने वाले कुछ प्रमुख क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये जिससे भारत में गेहूँ का अभाव और भी बढ़ गया। निम्नलिखित तालिका<sup>1</sup> से गत कुल वर्षों में गेहूँ के क्षेत्र तथा उत्पादन का अन्दाजा लगता है :—

#### गेहूँ का उत्पादन एवं क्षेत्र

| वर्ष    | क्षेत्रफल<br>(लाख हेक्टर में) | उपज<br>(लाख टन में) | प्रति हेक्टर<br>औसत उपज<br>(कि० ग्राम में) |
|---------|-------------------------------|---------------------|--------------------------------------------|
| 1950-51 | 97                            | 68                  | 663                                        |
| 1960-61 | 129                           | 110                 | 685                                        |
| 1965-66 | 126                           | 104                 | 627                                        |
| 1970-71 | 182                           | 238                 | 1307                                       |
| 1973-74 | 186                           | 218                 | 1172                                       |
| 1976-77 | 209                           | 291                 | 1394                                       |

इस प्रकार 1976-77 ई० में कुल 209 लाख हेक्टर भूमि में गेहूँ की खेती हुई थी तथा इसका उत्पादन 291 लाख टन था। उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1950-51 से 1976-77 के बीच गेहूँ के क्षेत्र में 100 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि इसके उत्पादन में लगभग 350% तथा प्रति हेक्टर औसत उत्पादन में 90% की वृद्धि हुई। गेहूँ की खेती के क्षेत्र में प्रथम योजना में औसत रूप से 10%, द्वितीय योजना में 20%, तृतीय योजना में 6% तथा तृतीय योजना के बाद के तीन वर्षों में 9% की वृद्धि हुई। इसी अवधि में इसके कुछ उत्पादन में औसत क्रमशः 21%, 14% तथा 40% की वृद्धि हुई।

1978-79 के लिए भारत सरकार ने गेहूँ की सरकारी खरीद का मूल्य 112-50 रुपये प्रति क्विंटल निश्चित किया है तथा 1982-83 में इसके उत्पादन का लक्ष्य 370 लाख टन रखा गया है।

**ज्वार-बाजरा (Millets) :**—यह भारत में निर्धन मनुष्यों का प्रधान भोजन है। भारत के कम वर्षा वाले क्षेत्रों में सिंचाई की सहायता के बगैर ही इसकी खेती होती है। ज्वार की खेती मुख्यतः आन्ध्र प्रदेश, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र तथा तमिलनाडु में होती है। 1973-74 में ज्वार की खेती कुल 1169 लाख हेक्टर भूमि में हुई थी तथा कुल उपज 90 लाख टन थी। सम्पूर्ण उपज का दो-तिहाई भाग गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, मध्य प्रदेश तथा आंध्र में होता था। बाजरे की खेती गुजरात, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, आंध्र, तमिलनाडु तथा पंजाब में विस्तृत रूप से होती है। कुल उपज का प्रायः दो-तिहाई भाग बाजरा गुजरात, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश तथा पंजाब आदि राज्यों में होती है। 1973-74 ई० में इसकी खेती 136 लाख हेक्टर भूमि में हुई थी तथा कुल उपज 70 लाख टन थी। ज्वार-बाजरा दोनों में से किसी का कोई

विशेष निर्यात नहीं होता। उपज के स्थानीय प्रदेश में ही इनकी खपत मुख्य रूप से होती है।

इनके अतिरिक्त, खाद्यान्नों में जौ (Barley) एवं मकई (Maize) का प्रमुख स्थान है। 1973-74 ई० में जौ की खेती 56 लाख हेक्टर भूमि में हुई थी तथा कुल उपज 23 लाख टन थी। इसी प्रकार 1973-74 ई० में मकई की खेती प्रायः 60 लाख हेक्टर भूमि में हुई थी तथा कुल उपज 56 लाख टन थी।

**चना (Gram) :**—चना भारत की एक प्रमुख दाल है तथा इसकी उपज मुख्यतः उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब एवं मध्य प्रदेश में होती है। निम्नांकित तालिका से गत कुछ वर्षों में चने की खेती एवं इसकी उपज का अन्दाजा लगाया जा सकता है :—

| वर्ष    | क्षेत्रफल (लाख हेक्टर में) | उपज (लाख टन में) |
|---------|----------------------------|------------------|
| 1950-51 | 75.7                       | 35.5             |
| 1960-61 | 92.8                       | 63.2             |
| 1965-66 | 79.9                       | 44.4             |
| 1970-71 | 78.1                       | 52.5             |
| 1973-74 | 77.0                       | 40.1             |

**अन्य दालें (Other Pulses) :**—दालों की खेती सम्पूर्ण भारत में होती है और ये भारतवासियों के भोजन का मुख्य अंग है। इनमें चना, अरहर, मूँग, मसूर तथा उड़द विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार दालें भारतीय कृषि की मुख्य उपजों में हैं। भारत में चना के अतिरिक्त अन्य दालों की खेती 1973-74 ई० में 151 लाख हेक्टर भूमि में हुई थी तथा इनका उत्पादन 57 लाख टन था। ये मुख्यतः रबी की फसल हैं तथा इनकी खेती विशेषतः अन्य फसलों के साथ मिश्रित तौर पर की जाती है। देश के सभी भागों में प्रायः किसी-न-किसी प्रकार की दाल की खेती अवश्य ही होती है।

#### अखाद्य-फसलें

#### (Non-Food Crops)

भारत की कृषि-व्यवस्था में अखाद्य-फसलों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। किसानों के लिए ये फसलें नकदी (Cash Crops) या व्यावसायिक फसलों (Commercial crops) या कार्य करती हैं। साथ ही, इनका प्रयोग देश के कुछ प्रमुख उद्योग-धन्यों के कच्चे पदार्थ के रूप में भी किया जाता है। अखाद्य फसलों में से कुछ का निर्यात भी किया जाता है। इस प्रकार देश की आर्थिक व्यवस्था में इनका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। कुल कृषि की जानेवाली भूमि के प्रायः 20 प्रतिशत भाग में अखाद्य या व्यावसायिक फसलों की खेती होती है।



भारत की अखाद्य फसलों में निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

1. गन्ना (Sugar cane) :—भारत गन्ने का उद्गम स्थान है। आज भी क्षेत्रफल के दृष्टिकोण से गन्ने के उत्पादन में विश्व में भारत का प्रथम स्थान है। भारत में गन्ने की खेती सबसे अधिक उत्तर प्रदेश, बिहार, आंध्र, तमिलनाडु, गुजरात तथा पंजाब में होती है। भारत में गत कुछ वर्षों में गन्ने की खेती का क्षेत्रफल तथा उत्पादन निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होता है :—

| वर्ष    | क्षेत्रफल<br>(लाख हेक्टर में) | उत्पादन<br>लाख टन<br>(गुड़ के रूप में) | प्रति हेक्टर<br>उपज<br>(कि० ग्राम में) |
|---------|-------------------------------|----------------------------------------|----------------------------------------|
| 1950-51 | 17.1                          | 70.0                                   | 3342                                   |
| 1961-62 | 24.2                          | 114.0                                  | 4613                                   |
| 1965-66 | 27.8                          | 128.0                                  | 4502                                   |
| 1970-71 | 26.6                          | 130.0                                  | 4963                                   |
| 1973-74 | 27.0                          | 140.0                                  | 5159                                   |

भारत में गन्ने की प्रति-एकड़ औसत उपज बहुत ही निम्न है। 1920 ई० की भारतीय चीनी समिति के अनुसार चीनी की मात्रा के दृष्टिकोण से भारत की अपेक्षा क्यूबा में प्रति-एकड़ गन्ने की उपज तिगुनी, जावा की छः गुनी तथा हवाई की सात-गुनी है। इतना ही नहीं, देश के भिन्न-भिन्न भागों में भी इसकी उपज में विभिन्नता पायी जाती है। पंचवर्षीय योजनाओं में गन्ने की उपज में वृद्धि पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में गन्ने की उपज को 1968-69 ई० में 120 लाख टन से बढ़ाकर 1973-74 ई० में 150 लाख टन करने का आयोजन था जबकि इसका उत्पादन 140 लाख टन हुआ था। छठी योजना में इसे बढ़ाकर 1188 लाख टन का आयोजन है।

2. कपास (Cotton) :—कपास भारत की एक प्रमुख रेशेवाली फसल है। भारत में कपास-उत्पादन के प्रमुख क्षेत्र गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, आंध्र प्रदेश, हैदराबाद, मैसूर पंजाब तथा उत्तर प्रदेश हैं। कपास-उत्पादन की दृष्टि से भारत का विश्व में द्वितीय स्थान है। किन्तु भारत में कपास की प्रति एकड़ उपज बहुत ही कम होती है। वर्षा पर आश्रित क्षेत्रों में प्रति एकड़ उपज 60 से 90 पौंड तथा सिंचाई वाले क्षेत्रों में 180 से 200 पौंड तक होती है। इसके विपरीत संयुक्त राज्य अमेरिका में कपास की प्रति-एकड़ औसत उपज 267 पौंड तथा मिश्र में 390 पौंड होती है। साथ ही, भारत में मुख्यतः छोटी रेशेवाली कपास ही उत्पन्न की जाती है। विभाजन के पूर्व भारत कपास का मुख्य रूप से निर्यातक देश था। किन्तु विभाजन के पश्चात् यह कपास, विशेषतः लम्बी रेशेवाली कपास का आयातक बन गया है। अविभाजित भारत के कपास की खेती वाली कुल भूमि का प्रायः 40

प्रतिशत भाग पाकिस्तान में चला गया। साथ ही, लम्बे रेशेवाली कपास उत्पन्न करने का अधिकांश क्षेत्र भी पाकिस्तान को ही मिल गया। पंचवर्षीय योजनाओं में कपास के उत्पादन में वृद्धि पर पूरा-पूरा जोर दिया जा रहा है किन्तु इसमें अभी बहुत कम सफलता प्राप्त हुई है जो निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है :—

| वर्ष    | क्षेत्रफल<br>(लाख हेक्टर में) | उत्पादन<br>(लाख गाँठ में) | प्रति हेक्टर<br>उपज<br>(कि० ग्राम में) |
|---------|-------------------------------|---------------------------|----------------------------------------|
| 1950-51 | 58.8                          | 29.0                      | 88.00                                  |
| 1960-61 | 76.1                          | 52.0                      | 125.0                                  |
| 1965-66 | 79.4                          | 46.0                      | 104.0                                  |
| 1970-71 | 76.1                          | 45.0                      | 106.0                                  |
| 1973-74 | 76.0                          | 63.0                      | 138.0                                  |

पाँचवीं योजनाकाल में कपास के उत्पादन को बढ़ाकर 1978-79 ई० में 90 लाख गाँठ करने का आयोजन था जबकि इसका उत्पादन 64 लाख गाँठ ही हुआ। छठी योजना (Sixth Five Year Plan) के अन्त में इसे बढ़ाकर 1982-83 में 92.5 लाख टन करने का आयोजन है।

जूट (Jute) :—कपास के बाद भारत की रेशेवाली फसलों में जूट का ही स्थान है। भारत में जूट की खेती के प्रमुख क्षेत्र पश्चिमी बंगाल, असम, बिहार तथा उड़ीसा हैं। सम्पूर्ण उत्पादन का आधा से अधिक भाग जूट केवल पश्चिमी बंगाल में ही उत्पन्न होता है। विभाजन के पूर्व भारत को जूट के उत्पादन का विश्व में प्रायः एकाधिकार प्राप्त था, किन्तु विभाजन के पश्चात् जूट-उत्पादन का 81 प्रतिशत भाग पाकिस्तान को मिला तथा केवल 19 प्रतिशत भाग भारत में रहा। इससे भारत में जूट की कमी हो गयी। किन्तु पंचवर्षीय योजनाओं में जूट के उत्पादन में वृद्धि पर पूरा-पूरा जोर दिया जा रहा है। पिछले कुछ वर्षों में जूट के क्षेत्र उत्पादन तथा प्रति हेक्टर उपज में वृद्धि का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

| वर्ष    | क्षेत्रफल<br>(लाख हेक्टर में) | उत्पादन<br>(लाख गाँठ में) | प्रति हेक्टर<br>उपज<br>कि० ग्राम में |
|---------|-------------------------------|---------------------------|--------------------------------------|
| 1950-51 | 5.7                           | 35.1                      | 1043                                 |
| 1960-61 | 6.3                           | 41.3                      | 1183                                 |
| 1965-66 | 8.0                           | 44.8                      | 1062                                 |
| 1970-71 | 7.0                           | 49.0                      | 1186                                 |
| 1973-74 | 8.0                           | 62.0                      | 1403                                 |



इसी प्रकार पाँचवीं योजनाकाल में जूट के उत्पादन को बढ़ाकर 1978-79 ई० में 77 लाख गाँठ करने का आयोजन था जबकि इसका उत्पादन 1977-78 में 68 लाख गाँठ ही हुआ। छठी योजना में इसे बढ़ाकर 1982-83 तक 86 लाख गाँठ करने का आयोजन है। भारत सरकार ने जूट के उत्पादन को प्रोत्साहित करने तथा मूल्य समर्थन के उद्देश्य से राजकीय क्षेत्र में 5 करोड़ रुपये की पूंजी से एक भारतीय जूट निगम (Jute Corporation) की स्थापना की है।

4. चाय (Tea) :—विश्व के चाय-उत्पादक देशों में चीन के बाद भारत का द्वितीय स्थान है। यहाँ चाय की खेती का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। चाय की खेती मुख्यतः पहाड़ी ढालों पर होती है। यहाँ चाय की खेती मुख्यतः यूरोपीय व्यापारिक फर्मों द्वारा की जाती है जिन्होंने इस उद्योग में बहुत अधिक पूंजी का विनियोग किया है। भारत में चाय की खेती मुख्यतः असम, बंगाल, उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु तथा द्रावणकोर की पहाड़ी ढालों पर होती है। सम्पूर्ण उत्पादन का लगभग 50 प्रतिशत भाग असम तथा 25 प्रतिशत भाग चाय बंगाल में उत्पन्न होती है। 1973-74 ई० में कुल 361 हजार हेक्टर भूमि में इसकी खेती हुई थी तथा उत्पादन 472 हजार टन था। भारत प्रतिवर्ष अपनी कुल उपज का प्रायः 75 प्रतिशत भाग चाय इंग्लैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा फ्रांस आदि देशों को भेजता है। यह विश्व में चाय का सबसे बड़ा निर्यातक देश है। इससे पर्याप्त मात्रा में विदेशी मुद्रा भी प्राप्त होती है।

द्वितीय योजना में चाय का उत्पादन 1955-56 ई० के 285 हजार टन से बढ़कर 1960-61 ई० में 321 हजार टन हो गया। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्त में, यानी 1965-66 ई० में यह बढ़कर 335 हजार टन तथा 1968-69 में 418 हजार टन हो गया। इसे बढ़ाकर चतुर्थ योजना के अन्त में 450 हजार टन करने का आयोजन था।

चाय के निर्यात को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से एक Tea Trading Corporation of India की स्थापना की गयी है। चाय निगम ने 1977-78 में कुल 12 करोड़ रुपये की चाय का विक्रय किया था जिसमें 8.5 करोड़ रुपये की चाय का निर्यात किया गया था।

5 कहुवा (Coffee) :—कहुवा की खेती भारत में गत कुछ वर्षों से ही हो रही है। कहुवा के वृक्ष अधिकतर 2000 फीट से लेकर 4000 फीट तक की ऊँचाई पर उच्च तापक्रम तथा साधारण वर्षावाले स्थानों में पाये जाते हैं। भारत में मैसूर, तमिलनाडु, तथा द्रावणकोर कोचीन में कहुवा की खेती मुख्य रूप से होती है। कुल उत्पादन का लगभग 57 प्रतिशत भाग कहुवा मैसूर में उत्पन्न किया जाता है। 1972-73 ई० में इसकी खेती 146 हजार हेक्टर भूमि में हुई थी तथा उत्पादन 91 हजार टन था। भारत से अधिकांश कहुवे का निर्यात किया जाता था।

6. तम्बाकू (Tobacco) :—विश्व के तम्बाकू-उत्पादक देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा चीन के बाद भारत का तृतीय स्थान है। भारत में तम्बाकू की खेती के दो प्रमुख क्षेत्र हैं—उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र जिसके अन्तर्गत बिहार, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल के राज्य हैं और दक्षिणी क्षेत्र जिसमें तमिलनाडु, गुजरात, महाराष्ट्र तथा मैसूर प्रमुख उत्पादक राज्य हैं। 1973-74 ई० में तम्बाकू की खेती 447 हेक्टर भूमि में हुई थी तथा कुल उत्पादन 441 हजार टन था।

आजकल तम्बाकू के निर्यात को बढ़ाने के लिए भी सरकार द्वारा प्रयत्न किये जा रहे हैं। चतुर्थ योजना में तम्बाकू के उत्पादन को 1968-69 में 380 हजार टन से बढ़ाकर 1973-74 में 480 हजार टन करने का आयोजन था।

### भारत में फसलों का ढाँचा (1901-72) (Crop Pattern in India 1901-1972)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व फसलों का ढाँचा (Crop Pattern before the Independence)—भारतीय कृषि में वर्तमान शताब्दी में हुई प्रगति के अध्ययन के लिए विभिन्न प्रकार की फसलों के वितरण के सम्बन्ध में जानकारी अनिवार्य है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व जनसंख्या तथा विभिन्न प्रकार की फसलों के क्षेत्र में हुए परिवर्तनों का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :—



अविभाजित भारत की जनसंख्या एवं फसलों के क्षेत्र में परिवर्तन<sup>1</sup>

| वर्ष      | जनसंख्या का निर्देशांक | खाद्य-फसलें | कुल बोयी गयी भूमि के क्षेत्र का निर्देशांक<br>गैर-खाद्य फसलें | कुल फसलें |
|-----------|------------------------|-------------|---------------------------------------------------------------|-----------|
| 1901-1905 | 100 0                  | 100 0       | 100 0                                                         | 100 0     |
| 1921-1925 | 108 0                  | 108 1       | 108 2                                                         | 108 9     |
| 1931-1935 | 120 5                  | 111 3       | 132 5                                                         | 114 8     |
| 1941-1945 | 137 9                  | 113 8       | 141 3                                                         | 118 4     |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि वर्तमान शताब्दी के प्रथम 45 वर्षों में देश की जनसंख्या में लगभग 38 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि कुल बोये गये क्षेत्र में केवल 18 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। इस काल में खाद्य-पदार्थों के क्षेत्र में वृद्धि बहुत ही कम, प्रायः 13.8 प्रतिशत की थी, किन्तु गैर-खाद्य फसलों के क्षेत्र में 41.6 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस काल में खाद्य-फसलों में सबसे अधिक वृद्धि गेहूँ के क्षेत्र में प्रायः 34.6 प्रतिशत तथा सबसे कम वृद्धि ज्वार में प्रायः 10.8 प्रतिशत हुई। व्यावसायिक फसलों के अन्तर्गत सबसे अधिक वृद्धि गन्ना में प्रायः 59.3 प्रतिशत तथा सबसे कम वृद्धि रेशों वाली फसलों के अन्तर्गत प्रायः 23.9 प्रतिशत की हुई।

कुल बोया गया क्षेत्र 1900-01 ई० में 2772 लाख एकड़ से बढ़कर 1944-45 ई० में 3283 लाख एकड़ हो गया। इस काल में खाद्य-फसलों का अनुपात 3.3 प्रतिशत से घट गया तथा व्यावसायिक फसलों का अनुपात इतनी ही मात्रा में बढ़ गया।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद फसलों का ढाँचा (Crop-pattern after the Independence) :— स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में कृषि के क्षेत्र में कई कारणों से महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। इनमें अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन (Grow More Food Campaign) तथा पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कृषि-पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि पर जोर विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। निम्नांकित तालिका से 1950-51 से 1972-73 ई० के बीच फसलों के क्षेत्र में हुए परिवर्तन का अंदाजा लगता है :—

1950-51 से 1972-73 के बीच फसलों के ढाँचे में परिवर्तन<sup>2</sup>

| वर्ष    | कुल बोये गये क्षेत्र का निर्देशांक<br>खाद्य-फसलें | गैर खाद्य-फसलें | कुल फसलें |
|---------|---------------------------------------------------|-----------------|-----------|
| 1950-51 | 100 0                                             | 100 0           | 100 0     |
| 1955-56 | 113 7                                             | 192 2           | 114 6     |
| 1960-61 | 120 0                                             | 127 0           | 121 1     |
| 1967-68 | 126 0                                             | 139 0           | 128 0     |
| 1972-73 | 121 0                                             | 134 0           | 123 0     |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1950-51 से 1960-61 ई० के बीच कुल फसलों के क्षेत्र में 21 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि इस अवधि में देश की जनसंख्या में प्रायः 21.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। पहले की ही तरह खाद्य-फसलों के क्षेत्र में इस काल में केवल 20 प्रतिशत तथा व्यावसायिक फसलों के क्षेत्र में 27 प्रतिशत की वृद्धि हुई। खाद्य-फसलों में सबसे अधिक वृद्धि गेहूँ में प्रायः 39 प्रतिशत तथा व्यावसायिक फसलों में सबसे अधिक वृद्धि रेशेवाली फसलों में, प्रायः 35.4 प्रतिशत की हुई। पुनः 1960-61 से 1972-73 के बीच कुल फसलों के क्षेत्र में केवल नाम-मात्र की यानी 2 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि खाद्य-फसलों के क्षेत्र में 1 प्रतिशत तथा अखाद्य फसलों में 7 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

इस प्रकार पिछले कुछ वर्षों से देश में खाद्य-फसलों के सापेक्षिक महत्त्व में कमी हो रही है। इसका अनुपात इस शताब्दी के प्रारम्भ में 83 प्रतिशत से घट कर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय 80 प्रतिशत तथा वर्तमान समय में लगभग 75 प्रतिशत हो गया है। इसके विपरीत व्यावसायिक फसलों के क्षेत्र में इसी अनुपात में वृद्धि हो रही है।

फसलों के ढाँचे को प्रभावित करनेवाले तत्त्व (Factors affecting the Crop Pattern) :— फसलों का ढाँचा प्राकृतिक, तकनीकी, आर्थिक,

1. The Studies in Indian Agricultural Economics by J. P. Chatterjee
2. Indian Agriculture in Brief 1974, p. 28-29



सामाजिक, राजनीतिक एवं प्रशासनिक आदि कई तत्त्वों से प्रभावित होता है। अब इनका पृथक्-पृथक् निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :

**प्राकृतिक एवं तकनीकी कारण तथा फसलों का ढाँचा (Physical and Technical Factors and Cropping Pattern) :**—किसी भी क्षेत्र में फसलों का ढाँचा मुख्यतः प्राकृतिक तत्त्वों पर निर्भर करता है। प्राकृतिक तत्त्वों में मिट्टी की बनावट, जलवायु तथा वर्षा उल्लेखनीय हैं। शुष्क क्षेत्र में जहाँ वर्षा की सम्भावना बहुत ही कम है वहाँ किसान ज्वार-बाजरा जैसी—फसलों पर मुख्य रूप से आश्रित रहते हैं क्योंकि ये फसलें बहुत ही कम जल से भी उपजायी जा सकती हैं। दूसरी ओर जहाँ पर पानी के जमाव (Water logging) की संभावना बहुत अधिक है वहाँ पर चावल की खेती की जाती है क्योंकि चावल अधिक दिनों तक पानी में खड़ा रह सकता है। मध्यप्रदेश में जो नयी भूमि कृषि के अंतर्गत लायी जाती है उसमें पहले ज्वार-बाजरा की खेती होती है और बाद में धान की खेती की जाने लगती है।

मिट्टी तथा जलवायु के साथ-साथ फसलों का ढाँचा सिंचाई की सुविधाओं पर भी निर्भर करता है। जहाँ पर सिंचाई की निश्चित सुविधा उपलब्ध रहती है वहाँ पर वर्ष में दो या तीन फसलें भी सुविधापूर्वक उगायी जा सकती हैं। इतना ही नहीं सिंचाई की सुविधा से फसलों का तमाम ढाँचा ही बदल जाता है—कोई अच्छी फसल जैसे—चावल, गेहूँ, गन्ना आदि की खेती की जाने लगती है। वास्तव में, देश के निचले भागों में तम्बाकू तथा गन्ने की खेती की प्रधानता का मुख्य कारण सिंचाई की सुविधाओं में विस्तार ही है। यदि सिंचाई के साथ-ही-साथ उत्तम बीज, अच्छी एवं उपयुक्त खाद, कृषि के सुधरे हुए औजार आदि उपलब्ध हों तो फसलों के ढाँचे में लिखित रूप से परिवर्तन होगा।

**आर्थिक तत्त्व एवं फसलों का ढाँचा (Economic Factors and Cropping Pattern) :**—किसी देश में फसलों के ढाँचे को निर्धारित करने में आर्थिक प्रयोजनों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान होता है। भूत में भारत में इस सम्बन्ध में चाहे जो भी स्थिति हो, वर्तमान में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय किसान आर्थिक तत्त्वों से बहुत अधिक प्रभावित होता है। पिछले कुछ वर्षों में पंजाब तथा हरियाणा में फसलों के ढाँचे में जो परिवर्तन हुए हैं, वे इस बात को बिल्कुल स्पष्ट करते हैं। फसलों के ढाँचे को प्रभावित करने वाले आर्थिक तत्त्वों में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

भा० अ०—13

**मूल्य एवं आय को अधिकाधिक बनाना (Price and Income Maximigation) :**—मूल्य-तल तथा फसलों के ढाँचे में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए कई अध्ययन हुए हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि मूल्य-तल में परिवर्तन तथा फसलों के ढाँचे को निश्चित रूप से प्रभावित करते हैं। इन्हीं अध्ययनों में एक अध्ययन खाद्य एवं कृषि मंत्रालय का है जिसके अनुसार मूल्य-तल में परिवर्तन फसलों के क्षेत्र को निश्चित रूप से प्रभावित करते हैं। अध्ययन के अनुसार, "It seems that prices influence the acreage under the crops in two ways. One is that the variation in the inter-crop price parities led to shifts in acreage as between different crops. Another is that the maintenance of a stable level of prices for a crop provides a better incentive to the producer to increase the out put than when a very high level of prices does. If there is no uncertainty of this level being maintained over a number of years." इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि सरकार द्वारा चावल तथा गेहूँ को कम मूल्य पर प्राप्त करने के फल-स्वरूप बहुत-से क्षेत्रों में किसानों ने इनकी जगह पर गन्ने तथा अन्य अखाद्य फसलों की खेती प्रारम्भ कर दिया।

इसी प्रकार किसान अपनी फसलों के चुनाव में लाभ को अधिकतम बनाने के उद्देश्य से भी प्रभावित होते हैं। वास्तव में, किसान उन्हीं फसलों का चुनाव करते हैं जिनसे उन्हें अधिकाधिक मात्रा में लाभ प्राप्त होता है। किन्तु, इस सम्बन्ध में डॉ० राधाकृष्ण जैसे कुछ विद्वानों का यह अभिमत है कि फसलों के ढाँचे को प्रभावित करने वाले तत्त्वों में प्रति एकड़ सापेक्षिक उत्पादकता ही अधिक महत्वपूर्ण है।

**जोत का आकार (Farm Size) :**—फसलों के ढाँचे का जोतों के आकार से भी निश्चित सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए छोटे-छोटे किसान अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए खाद्य-सामग्रियों के उत्पादन पर ही अधिक जोर देते हैं। इसके बाद ही वे नकद फसलों की ओर आकर्षित होते हैं। इस प्रकार छोटे-छोटे किसान अपनी जोत का एक बहुत ही छोटा भाग नकद फसल में लगाते हैं। किन्तु, हाल के कुछ अध्ययनों ने इस तथ्य को मिथ्या सिद्ध कर दिया है। उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले के एक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि हाल के वर्षों में छोटे-छोटे किसान ही



गन्ने की खेती पर अधिक जोर देते हैं। वास्तव में, आर्थिक विकास की गति जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे छोटे-छोटे किसान नकद फसल की ओर अधिक उन्मुख होंगे, ऐसी आशा की जाती है।

**जोखिम के विरुद्ध बीमा (Insurance against Risk) :**—भारतीय किसान फसलों के मारा पड़ने के भय से भी विभिन्न प्रकार की फसलों की खेती का कार्य करता है। यही कारण है कि आज भी देश के अधिकांश भागों में ज्वार की खेती की जाती है क्योंकि शुष्क जलवायु में बहुत कम या बगैर वर्षा के भी इनकी खेती का कार्य किया जा सकता है।

**आदानों की उपलब्धि (Availability of Inputs) :**—फसलों का ढाँचा बीज, खाद, जल, संचय तथा विक्रय की सुविधा, यातायात की सुविधा जैसे आदानों पर भी आश्रित है। NCAER ने यह अनुमान लगाया है कि यदि पंजाब में अतिरिक्त सिंचाई की सुविधा उपलब्ध हो तो वहाँ पर अभी भी फसलों के ढाँचे में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो सकता है। इसी प्रकार मध्य प्रदेश में बादाम की कृषि इसलिए की जाती है कि इसके बीज सुगमतापूर्वक मिल जाते हैं तथा कपास की तुलना में इसकी फसल बहुत शीघ्र तैयार हो जाती है।

**भू-व्यवस्था (Tenure) :**—अंततः आर्थिक तत्त्वों में भूमि की व्यवस्था भी फसलों के ढाँचे को प्रभावित करती है। जहाँ पर फसलों के विभाजन (Crop sharing system) का प्रचलन है, वहाँ पर फसलों के चुनाव में जमींदारों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

**राजकीय नीति एवं फसलों का ढाँचा (Government Policy & Crop Pattern) :**—राज्य भी विभिन्न उपायों के द्वारा फसलों के ढाँचे को प्रभावित कर सकता है। उदाहरण के लिए, सरकार किसी खास फसल की खेती के लिए आर्थिक सहायता प्रदान कर इसकी खेती को प्रोत्साहित कर सकती है। इसी प्रकार सिंचाई की सुविधा के द्वारा या बीज एवं खाद की आपूर्ति के द्वारा भी सरकार फसलों के ढाँचे को प्रभावित कर सकती है। इसी प्रकार कानूनों के द्वारा भी इसमें महत्वपूर्ण परिवर्तन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, Food Crop Acts, या Land Use Acts बना कर या दलहन एवं तेलहन की खेती पर अत्य-

धिक जोर देकर भी सरकार इनकी खेती को प्रोत्साहित कर सकती है। कहीं-कहीं पर यह देखा जाता है कि किसान लगातार सूखा पड़ने पर जानवरों तथा कीड़े-मकोड़े के भय से अच्छी तथा अधिक लाभदायक फसलों की खेती नहीं कर पाते। ऐसी स्थिति में सिंचाई की व्यवस्था तथा कीड़े-मकोड़े मारने की दवाओं के प्रचार द्वारा उन्हें अधिक लाभदायक फसलों की खेती के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। इसी प्रकार सड़क तथा यातायात के अन्य साधनों की व्यवस्था के द्वारा एवं बाजार-व्यवस्था में सुधार के द्वारा भी सरकार किसानों को फसलों के ढाँचे में सुधार के लिए प्रोत्साहित कर सकती है।

**निष्कर्ष :**—इस प्रकार निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि फसलों का ढाँचा प्राकृतिक, आर्थिक, तकनीकी, सामाजिक, प्रशासनिक एवं राजनीतिक तत्त्वों से प्रभावित होता है। प्राकृतिक तत्त्वों के अन्तर्गत मिट्टी, जलवायु, वर्षा आदि उल्लेखनीय हैं। तकनीकी कारणों के अन्तर्गत सिंचाई की प्रकृति, फसलों की हेर-फेर आदि प्रमुख हैं। किन्तु किसी भी देश में फसलों का ढाँचा मुख्यतः आर्थिक तत्त्वों द्वारा ही प्रभावित होता है। इसमें कृषि-पदार्थों की कीमतें, जोतों का आधार, जोखिम के विरुद्ध बीमा, पूँजी, बीज, खाद आदि की उपलब्धि तथा भूमि की व्यवस्था आदि उल्लेखनीय हैं। सरकार भी फसलों के ढाँचे को प्रभावित कर सकती है। उदाहरण के लिए, किसी खास फसल की खेती को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार कर्ज आदि प्रदान करने की व्यवस्था कर सकती है अथवा कुछ अन्य प्रकार के आर्थिक प्रलोभन भी दे सकती है।

इस प्रकार फसलों के ढाँचे को विभिन्न तत्त्व प्रभावित करते हैं। इनमें परिवर्तन भी किया जा सकता है। अतएव ऐसा सोचना कि फसलों का ढाँचा दिया हुआ है तथा इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जाना उचित नहीं जान पड़ता। भारत में आर्थिक प्रेरणों के द्वारा फसलों के ढाँचे में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है।

इस सम्बन्ध में NCAER ने कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं जिन पर अमल करने से फसलों के ढाँचे में महत्वपूर्ण सुधार किया जा सकता है। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण सुधार अपांक्षित हैं :—



(क) विधान द्वारा विभिन्न प्रकार की फसलों का क्षेत्र निर्धारित किया जा सकता है। बहुत सारे देशों विशेषतः संयुक्त राज्य अमेरिका तथा संयुक्त अरब गणराज्य में इस प्रकार के प्रयास से बहुत अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

(ख) प्रत्येक जिले के लिए जिला कृषि नियोजन पदाधिकारी नियुक्त किये जा सकते हैं जो विभिन्न तथ्यों जैसे—मूल्य, उपज तथा मौसम की स्थिति आदि को ध्यान में रखकर प्रत्येक जिले के लिये फसलों का क्षेत्र निश्चित कर सकते हैं। साथ ही, इनका प्रयास कृषि से सम्बन्धित विभिन्न विभागों—जैसे सिंचाई, लघु सिंचाई,

सहकारिता तथा कृषि-विपणन आदि के मध्य सम्बन्ध स्थापित करना भी होना चाहिए।

(ग) सरकार को कृषि क्षेत्रों में सड़कों के विकास तथा विपणन एवं जोतों की चकबन्दी को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करना चाहिए।

(घ) सरकार द्वारा मध्यप्रदेश जैसे राज्यों, जहाँ पर जोतों का आकार अपेक्षाकृत बहुत बड़ा है, के लिए Agricultural Mechanisation Corporation की स्थापना कर सकती है जो जरूरतमन्द किसानों को यंत्र वगैरह सहायता के तौर पर दे सकते हैं।

#### विशेष अध्ययन-सूची

1. A. N. Agrawal : Indian Agriculture and its Problems.
2. J. P. Bhattacharjee : Studies in Indian Agricultural Economics, Chapters I & II
3. Planning Commission : First, Second, Third, Fourth and Fifth Five Year Plans.
4. Govt. of India : India, 1976.
5. Agricultural Situation in India, Annuals 1974, 1976 and 1977.
6. Planning Commission : Draft Five Year Plan (1978-83).



## अध्याय : 16

## सरकार की कृषि-सम्बन्धी नीति एवं नियोजन

( Government's Agricultural Policy and Planning )

**प्राक्कथन :—**प्रारम्भ से ही राष्ट्र की नीतियों में कृषि-नीति का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वास्तव में, किसी देश की आर्थिक व्यवस्था में कृषि का कई कारणों से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहता है, अतएव दीर्घकाल तक कोई भी राष्ट्र इसकी अवहेलना नहीं कर सकता। भारत की अर्थ-व्यवस्था में तो कृषि का और भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक ब्रिटेन उद्योग, व्यापार आदि में विशिष्टता प्राप्त कर अपने खाद्यान्न तथा कच्चे माल की पूर्ति के लिए दूसरे देशों पर आश्रित रहता था, किन्तु प्रथम एवं द्वितीय महायुद्धों ने यह स्पष्ट कर दिया कि किसी भी अर्थ-व्यवस्था को सुस्थिर बनाने के लिए कृषि के विकास पर जोर देना अनिवार्य है। अतएव देश के आर्थिक विकास की किसी भी योजना में सरकार द्वारा कृषि के विकास के लिए एक सुस्पष्ट नीति के अनुकरण की प्रबल आवश्यकता है।

जहाँ तक भारत का प्रश्न है, यह अति प्राचीन काल से ही एक कृषि-प्रधान देश रहा है। अतएव इसकी अर्थ-व्यवस्था में कृषि को प्रारम्भ से ही विशिष्ट स्थान प्राप्त है। किन्तु ब्रिटिश सरकार भारतीय कृषि के प्रति उदासीन थी। सरकार की इस उपेक्षा का भारतीय कृषि पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। यह सत्य है कि ब्रिटिश शासन ने देश में शांति एवं सुव्यवस्था की स्थापना की, किन्तु इसकी अभिव्यक्ति जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि के रूप में हुई जिससे शीघ्र ही भूख, महामारी, अकाल आदि माल्युसियन अवरोधक प्रबल हो गये। इससे अर्थ-व्यवस्था का संतुलन ही बिगड़ता गया तथा समाज में निर्धनों एवं बेकारों की संख्या में वृद्धि होने लगी। इसके साथ ही ब्रिटिश सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति के परिणामस्वरूप सरकार तथा किसानों के बीच जमींदारों, साहूकारों एवं इसी प्रकार के अन्य मध्यस्थों (middlemen) की एक शृंखला बँध गयी जिन्होंने निर्धन एवं असहाय कृषकों का तरह-तरह से शोषण करना प्रारम्भ किया। इसके साथ ही यातायात एवं संवादवाहन के तीव्र गति से चलनेवाले साधनों ने भारतीय गाँवों की आत्मनिर्भरता को समाप्त कर उनका विश्व-बाजार से सम्बन्ध स्थापित कर दिया।

परिणामस्वरूप, व्यावसायिक फसलों की अधिक मात्रा में खेती की जाने लगी, गाँवों तथा किसानों की आत्मनिर्भरता समाप्त हो गयी एवं भारत विश्व के मूल्य-तल के दायरे में आ गया। (Specialised production of commercial crops has greatly increased, self-sufficiency has declined and India has been brought within the orbit of the world prices.) दूसरे शब्दों में, अब भारतीय कृषि तथा किसानों की समृद्धि विश्व-बाजार पर आश्रित रहने लगी। इसीलिए कहा गया है कि "यदि भूतकाल में भारतीय कृषि मानसून के साथ जुड़ा थी तो वर्तमान में यह विश्व-बाजार में प्रचलित मूल्यों के साथ जुड़ा हो गयी है।" वास्तव में, भारतवासियों की निर्धनता एवं भारतीय कृषि के पिछड़े होने के विभिन्न कारणों में यह भी एक प्रधान कारण है।

### भारतीय कृषि-नीति का उद्बिकास (Evolution of the Indian Agricultural Policy)

भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए, जहाँ के प्रायः 70 प्रतिशत लोग खेती पर ही निर्भर करते हैं तथा जहाँ की राष्ट्रीय आय का प्रायः आधा भाग कृषि से ही प्राप्त होता है, एक सुस्पष्ट कृषि-नीति का महत्व बिल्कुल स्पष्ट है। किन्तु ब्रिटिश सरकार बहुत दिनों तक भारतीय कृषि के प्रति उदासीन थी। फिर भी, गत शताब्दी के छठे दशक से सरकार परिवर्द्धित रूप में सामान्य कृषि-नीति की ओर झुकने लगी तथा कृषि-विकास के लिए प्रयास किये जाने लगे। ब्रिटिश सरकार की नीति में इस परिवर्तन के पीछे इसका निजी स्वार्थ ही निहित था। उस समय में अमरीकी गृह-युद्ध के कारण ब्रिटेन के सूती-वस्त्र के कारखानों को कपास की आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो पाती थी जिससे ब्रिटिश सरकार ने भारत को पूर्ति का साधन बनाया। राजस्व में वृद्धि के उद्देश्य से भी सरकार कृषि को प्रोत्साहित करना चाहती थी। लार्ड मेयो भारतीय कृषि के विकास के प्रति बहुत ही जागरूक थे। अतएव 1869 ई० में एक कृषि-सूचना केन्द्र (Agricultural Bureau of Information) की स्थापना की गयी तथा दूसरे वर्ष ही कृषि, राजस्व



### पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि (Agriculture in the Five Year Plans)

भारत की आर्थिक व्यवस्था में कृषि का महत्वपूर्ण स्थान है। अतएव देश के आर्थिक विकास की किसी भी योजना में कृषि को महत्व देना अत्यन्त अनिवार्य हो जाता है। इसीलिए पंचवर्षीय योजनाओं में भी कृषि को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया जा रहा है।

### प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि की प्रगति (Progress of Agriculture in the First Five Year Plan)

प्रथम पंचवर्षीय योजना खाद्यान्न एवं कच्चे पदार्थों के अभाव की पृष्ठभूमि में तैयार की गयी थी, अतः इसमें कृषि को उच्च प्राथमिकता प्राप्त थी। योजनाकाल में कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रमों पर कुल 241 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। इसके अतिरिक्त योजना में भूमि-सुधार एवं सामुदायिक विकास कार्यक्रमों पर भी पूरा-पूरा जोर दिया गया था। प्रथम योजना में सिंचाई के विस्तार पर कुल 384 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जो योजना के कुल व्यय का प्रायः 16.3 प्रतिशत भाग था। प्रथम योजनाकाल में कई बहुद्देशीय नदी घाटी योजनाओं (Multi-purpose River Valley Projects) पर भी कार्य प्रारम्भ किया गया।

योजनाकाल में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं द्वारा कुल 63 लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई जबकि योजना का लक्ष्य 85 लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि को इन कार्यक्रमों द्वारा

सिंचाई के अन्तर्गत लाना था। अतः वृहत् एवं मध्यम सिंचाई के क्षेत्र में योजना के लक्ष्य पूरे नहीं हो सके। लघु सिंचाई कार्यक्रमों द्वारा प्रथम योजनाकाल में कुल 100 लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई। योजना काल में खाद तथा उर्वरक (Fertilizers and Manures) के उपयोग में भी महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। अमोनियम सल्फेट की कुल खपत 1950-51 ई० में 2,75,000 टन से बढ़कर 1955-56 ई० में 6 लाख टन हो गयी। इसी प्रकार फासफोरस खादों की खपत 42 हजार टन से बढ़कर योजना के अन्तिम वर्ष में 18 हजार टन हो गयी। उत्तम बीज के प्रयोग में भी इसी प्रकार महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। योजनाकाल में केन्द्रीय ट्रैक्टर संघ (Central Tractor Organisation) द्वारा कुल 118 लाख एकड़ भूमि का उद्धार किया गया। बहुत-से राज्यों के भी अपने ट्रैक्टर-संघ हो गये जिनके द्वारा प्रायः 28 लाख भूमि का उद्धार किया गया। भूमि-सुधार के लिए सरकार द्वारा किसानों को ऋण एवं अनुदान भी दिये गये जिनके आधार पर कुल 50 लाख एकड़ भूमि का उद्धार हुआ। प्रथम पंचवर्षीय योजना में जापानी तरीके से धान की खेती पर भी जोर दिया गया तथा 1955-56 ई० तक कुल प्रायः 20 लाख एकड़ भूमि पर इस तरीके से धान की खेती हुई। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप प्रथम योजनाकाल में कृषि-पदार्थों के उत्पादन में 18 प्रतिशत तथा खाद्यान्नों के उत्पादन में प्रायः 120 लाख टन की वृद्धि हुई। प्रथम योजनाकाल में विभिन्न फसलों के उत्पादन में वृद्धि का अन्दाजा निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> से लगाया जा सकता है :—

| फसलें                  | 1950-51<br>में उत्पादन | प्रथम योजना में<br>वृद्धि का लक्ष्य | 1955-56<br>में उत्पादन | वास्तविक<br>वृद्धि |
|------------------------|------------------------|-------------------------------------|------------------------|--------------------|
| खाद्यान्न (लाख टन में) | 549                    | 76                                  | 669                    | 120.0              |
| तिलहन ( " " )          | 52                     | 4.0                                 | 57                     | 5.0                |
| गन्ना (लाख टन गुड़)    | 57                     | 7.0                                 | 61                     | 4.0                |
| कपास (लाख गॉठ)         | 29                     | 13.0                                | 40                     | 11.0               |
| जूट ( " " )            | 33                     | 21.0                                | 42                     | 9.0                |



इसका अध्ययन समग्र रूप से किया जाना चाहिए।" (The problem of improving Indian agriculture is really the problem of improving Indian village life and that it must be studied as a whole.) आयोग ने कृषि-अनुसंधान पर विशेष रूप से बल दिया। आयोग की सिफारिशों के परिणामस्वरूप Imperial Council of Agricultural Research की स्थापना हुई। आयोग ने जोतों के उपविभाजन एवं अपखंडन, सिंचाई, पशु-धन के विकास, कृषि-विपणन, सहकारिता एवं ग्रामीण शिक्षा आदि के सम्बन्ध में भी सुझाव प्रस्तुत किया। साथ ही, इसने यह बात भी स्पष्ट कर दी कि कृषि-सम्बन्धी सुधारों को प्रभावपूर्ण तरीके से लागू करने का दायित्व राज्य सरकार का ही है।

महान आर्थिक मन्दी एवं भारतीय कृषि-नीति (Indian Agricultural Policy during the great Economic Depression) :—कृषि-प्रधान देश होने के कारण 1929 ई० की महान् आर्थिक मन्दी का भारत पर अत्यन्त व्यापक प्रभाव पड़ा। कृषि-पदार्थों के मूल्य में कमी के कारण किसानों की आय में बहुत अधिक कमी हो गयी जिसका किसानों की आर्थिक स्थिति पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ा। इस मन्दी के प्रभावों को दूर करने के लिए भारत सरकार कोई प्रयत्न नहीं कर रही थी, वरन् अपनी परम्परागत अव्यवस्था नीति (Laissez Faire) का अनुकरण करती थी।

1937 ई० में प्रान्तीय स्वराज्य (Provincial Autonomy) की प्राप्ति के बाद अधिकांश प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का निर्माण हुआ तथा कांग्रेसी सरकारों ने सर्वप्रथम कृषि में अभिरुचि लेना प्रारम्भ किया। किन्तु इनके पास कृषि-सम्बन्धी कोई निश्चित योजना नहीं थी। अतएव कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल की अभिरुचि के बावजूद कृषि में कोई स्थायी सुधार नहीं हो पाया। इनका कार्य मुख्यतः रयती सुधार (Tenancy Reforms) एवं ग्रामीण ऋण की मात्रा में कमी तक ही सीमित रहा। द्वितीय महायुद्ध के दौरान खाद्यान्नों का आयात बिल्कुल बन्द हो गया जिससे देश को खाद्य-संकट की भीषण स्थिति का सामना करना पड़ा। 1942-43 ई० के बंगाल के अकाल ने भारतीय कृषि की कमजोरियों की ओर सर्वप्रथम भारत सरकार का ध्यान आकृष्ट किया।

खाद्यान्न की समस्या पर विचार करने के लिए 1943 ई० में भारत सरकार द्वारा एक खाद्यान्न नीति समिति की नियुक्ति की गयी। इसी समिति के सुझावों के आधार पर खाद्यान्न की कमी को दूर करने के लिए 1943 ई० में सरकार द्वारा 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' (Grow more Food Campaign) का श्रीगणेश हुआ। इस आन्दोलन के अन्तर्गत खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि के लिए बहुत-से प्रयास किये गये। किन्तु सरकार के निरन्तर प्रयत्नों के बावजूद यह आन्दोलन आंशिक रूप से ही सफल हो सका। दूसरे शब्दों में, खाद्यान्न की कमी को पूरा करने में 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' प्रायः विफल ही रहा। द्वितीय युद्ध काल में खाद्यान्न के अभाव के कारण खाद्यान्न के मूल्य एवं वितरण पर सरकार द्वारा नियन्त्रण लगाया गया। 1919 ई० में देश-विभाजन ने खाद्यान्न-समस्या की जटिलता को और भी उग्र बना दिया। भारत संघ को अविभाजित भारत की कुल जनसंख्या का 82 प्रतिशत भाग मिला, किन्तु चावल एवं गेहूँ उत्पन्न करने वाले कुल क्षेत्र का केवल क्रमशः 68 प्रतिशत तथा 65 प्रतिशत भाग ही प्राप्त हो सका।

राष्ट्रीय सरकार की कृषि-सम्बन्धी नीति :—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार ने खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता (Self-sufficiency) प्राप्त करने के लिए कृषि-सम्बन्धी एक विस्तृत कार्यक्रम अपनाया है। इसके अन्तर्गत खाद्यान्नों के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के उद्देश्य से खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि पर पूरा पूरा जोर दिया जा रहा है जिससे इनके आयात को बन्द किया जा सके। साथ ही, राष्ट्रीय सरकार की कृषि-सम्बन्धी नीति का एक प्रमुख उद्देश्य कृपास, जूट, गन्ना तथा तिलहन जैसी व्यावसायिक फसलों के उत्पादन में वृद्धि भी है। विभाजन के फलस्वरूप भारत जूट एवं कपास जैसी महत्वपूर्ण फसलों का आयातक बन गया। अतएव इन फसलों के सम्बन्ध में आत्मनिर्भरता भी राष्ट्रीय सरकार की कृषि-सम्बन्धी नीति का प्रधान उद्देश्य हो गया है। उक्त उद्देश्यों को ध्यान में रखकर सरकार द्वारा देश में विस्तृत कृषि-सम्बन्धी नियोजन का कार्यान्वयन किया जा रहा है जिसका श्रीगणेश प्रथम पंचवर्षीय योजना से होता है।



### पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि (Agriculture in the Five Year Plans)

भारत की आर्थिक व्यवस्था में कृषि का महत्वपूर्ण स्थान है। अतएव देश के आर्थिक विकास की किसी भी योजना में कृषि को महत्व देना अत्यन्त अनिवार्य हो जाता है। इसीलिए पंचवर्षीय योजनाओं में भी कृषि को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया जा रहा है।

### प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि की प्रगति (Progress of Agriculture in the First Five Year Plan)

प्रथम पंचवर्षीय योजना खाद्यान्न एवं कच्चे पदार्थों के अभाव की पृष्ठभूमि में तैयार की गयी थी, अतः इसमें कृषि को उच्च प्राथमिकता प्राप्त थी। योजनाकाल में कृषि-सम्बन्धी कार्य-क्रमों पर कुल 241 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। इसके अतिरिक्त योजना में भूमि-सुधार एवं सामुदायिक विकास कार्यक्रमों पर भी पूरा-पूरा जोर दिया गया था। प्रथम योजना में सिंचाई के विस्तार पर कुल 384 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जो योजना के कुल व्यय का प्रायः 16.3 प्रतिशत भाग था। प्रथम योजनाकाल में कई बहुद्देशीय नदी घाटी योजनाओं (Multi-purpose River Valley Projects) पर भी कार्य प्रारम्भ किया गया।

योजनाकाल में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं द्वारा कुल 63 लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई जबकि योजना का लक्ष्य 85 लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि को इन कार्यक्रमों द्वारा

सिंचाई के अन्तर्गत लाना था। अतः वृहत् एवं मध्यम सिंचाई के क्षेत्र में योजना के लक्ष्य पूरे नहीं हो सके। लघु सिंचाई कार्यक्रमों द्वारा प्रथम योजनाकाल में कुल 100 लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई। योजना काल में खाद तथा उर्वरक (Fertilizers and Manures) के उपयोग में भी महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। अमोनियम सल्फेट की कुल खपत 1950-51 ई० में 2,75,000 टन से बढ़कर 1955-56 ई० में 6 लाख टन हो गयी। इसी प्रकार फासफोरस खादों की खपत 42 हजार टन से बढ़कर योजना के अन्तिम वर्ष में 78 हजार टन हो गयी। उत्तम बीज के प्रयोग में भी इसी प्रकार महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। योजनाकाल में केन्द्रीय ट्रैक्टर संघ (Central Tractor Organisation) द्वारा कुल 118 लाख एकड़ भूमि का उद्धार किया गया। बहुत-से राज्यों के भी अपने ट्रैक्टर-संघ हो गये जिनके द्वारा प्रायः 28 लाख भूमि का उद्धार किया गया। भूमि-सुधार के लिए सरकार द्वारा किसानों को ऋण एवं अनुदान भी दिये गये जिनके आधार पर कुल 50 लाख एकड़ भूमि का उद्धार हुआ। प्रथम पंचवर्षीय योजना में जापानी तरीके से धान की खेती पर भी जोर दिया गया तथा 1955-56 ई० तक कुल प्रायः 20 लाख एकड़ भूमि पर इस तरीके से धान की खेती हुई। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप प्रथम योजनाकाल में कृषि-पदार्थों के उत्पादन में 18 प्रतिशत तथा खाद्यान्नों के उत्पादन में प्रायः 120 लाख टन की वृद्धि हुई। प्रथम योजनाकाल में विभिन्न फसलों के उत्पादन में वृद्धि का अन्दाजा निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> से लगाया जा सकता है :—

| फसलें                  | 1950-51<br>में उत्पादन | प्रथम योजना में<br>वृद्धि का लक्ष्य | 1955-56<br>में उत्पादन | वास्तविक<br>वृद्धि |
|------------------------|------------------------|-------------------------------------|------------------------|--------------------|
| खाद्यान्न (लाख टन में) | 549                    | 76                                  | 669                    | 120.0              |
| तिलहन ( „ „ )          | 52                     | 4.0                                 | 57                     | 5.0                |
| गन्ना (लाख टन गुड़)    | 57                     | 7.0                                 | 61                     | 4.0                |
| कपास (लाख गाँठ)        | 29                     | 13.0                                | 40                     | 11.0               |
| जूट ( „ „ )            | 33                     | 21.0                                | 42                     | 9.0                |



पिछले पृष्ठ की तालिका से स्पष्ट होता है कि प्रथम योजना-काल में खाद्यान्नों के उत्पादन में लक्ष्य से भी अधिक वृद्धि हुई। कपास तथा तिलहन के उत्पादन में भी लक्ष्य पूरे हो गये, किन्तु गन्ना तथा जूट का उत्पादन लक्ष्य से कम हुआ।

वास्तव में, प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि के आयोजित विकास का सर्वप्रथम प्रयास किया गया था। किन्तु योजना तैयार करने के समय देश में कृषि-साख की कोई वस्तुतः योजना तैयार नहीं थी जिसके फलस्वरूप योजना काल में भूमि-सम्बन्धी नीति एवं ग्रामीण साख कार्यक्रम में सामंजस्य नहीं स्थापित किया जा सका। यह प्रथम योजना के कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रमों का प्रधान दोष था। साथ ही, प्रथम योजना तैयार करने में सहकारी कृषि पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया था। आयोग ने सहकारी कृषि आन्दोलन को सफलभूत बनाने के लिए सहकारी ग्राम-व्यवस्था (Co-operative Village Management) को कृषि एवं ग्रामीण संगठन के क्षेत्र में अन्तिम आदर्श के रूप में अपनाया था। किन्तु, योजनाकाल में सहकारी कृषि-आन्दोलन को बहुत ही कम सफलता प्राप्त हुई। इसका प्रधान कारण सरकार के समक्ष भूमि-सुधार की एक विस्तृत योजना का अभाव था। साथ ही, योजनाकाल में उपविभाजन एवं अपखण्डन की बुराइयों को दूर करने का भी कोई सक्रिय प्रयास नहीं किया गया। कृषि की औसत इकाई ज्यों-की-त्यों छोटी ही रह गयी। इस प्रकार प्रथम पंचवर्षीय योजना में खाद्यान्नों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि अवश्य हुई, किन्तु योजनाकाल में भारतीय कृषि में कोई संस्थागत परिवर्तन नहीं लाया जा सका जो कृषि के स्थायी विकास के लिए अति अनिवार्य है।

### द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कृषि की प्रगति (Progress of Agriculture in the Second Five Year Plan)

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कृषि की अपेक्षा उद्योगीकरण को उच्च प्राथमिकता प्राप्त थी। यह द्वितीय योजना की सबसे बड़ी कमी थी। वास्तव में, कृषि-प्रधान देशों के आर्थिक विकास की किसी भी

योजना में कृषि की अपेक्षा नहीं की जा सकती। योजना-काल में कृषि-विकास के विभिन्न कार्यक्रमों पर 341 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जो योजना के कुल व्यय का केवल 7.1 प्रतिशत भाग था। (प्रथम योजना में इस मद में 241 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जो कुल व्यय का 10.2 प्रतिशत भाग था।) इस प्रकार द्वितीय योजना में यद्यपि प्रथम योजना की अपेक्षा कृषि को कम महत्त्व प्रदान किया गया था, फिर भी कुल व्यय द्वितीय योजना में सापेक्षिक रूप से अधिक था। द्वितीय योजना के अन्तर्गत कृषि-सम्बन्धी नियोजन के निम्नलिखित प्रधान उद्देश्य थे :—(क) भूमि के उपयोग का नियोजन, (ख) अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन लक्ष्यों का निर्धारण, (ग) विकास कार्यक्रम एवं सरकारी सहायता। आयोग के अनुसार प्रत्येक जिला तथा प्रमुख क्षेत्र के लिए एक पृथक कृषि-सम्बन्धी नीति होनी चाहिए जिसकी पूर्ति के लिए किसान को व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से तैयार करना होगा।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कृषि-पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :—

### द्वितीय योजना में कृषि-पदार्थों का उत्पादन

| फसलें                   | 1955-56<br>में | 1960-61<br>उत्पादन |
|-------------------------|----------------|--------------------|
| खाद्यान्न (लाख टन में)  | 669            | 820                |
| तिलहन ( " " )           | 57             | 70                 |
| गन्ना (लाख टन गुड़ में) | 61             | 112                |
| कपास (लाख टन गाँठ में)  | 40             | 53                 |
| जूट ( " " )             | 42             | 41                 |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि योजना में खाद्यान्न एवं गन्ने के अतिरिक्त और किसी भी कृषि-पदार्थ के उत्पादन का लक्ष्य (संशोधित) पूरा नहीं हो सका। वास्तव में, द्वितीय योजना में इस प्रकार के लक्ष्यों के निर्धारण में आयोग ने अतिशयोक्ति से कार्य लिया था। साथ ही, योजना में इस प्रकार के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक सुनिश्चित कार्यक्रम का भी अभाव था।

### 1. The Third Plan ; Mid-term Appraisal.



## सरकार की कृषि-सम्बन्धी नीति एवं नियोजन

द्वितीय योजना काल में सिंचाई-प्राप्त क्षेत्र में भी पर्याप्त वृद्धि का आयोजन था। 1955-56 ई० में कुल 562 लाख एकड़ भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त थी, इसे बढ़ाकर 1960-61 ई० में 850 लाख एकड़ करने का आयोजन था। किन्तु द्वितीय योजना के अन्त में अनुमानतः 700 लाख एकड़ भूमि में ही सिंचाई की सुविधा प्राप्त हो सकी। इस प्रकार इस क्षेत्र में भी द्वितीय योजना के लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो सकी।

इस प्रकार द्वितीय योजना से कृषि के क्षेत्र में हमारी स्थिति में कोई स्पष्ट सुधार नहीं हो सका। वास्तव में, द्वितीय योजना के कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रमों में सामंजस्य का अभाव था। किन्तु इस योजनाकाल में भारत सरकार ने कृषि-विक्रम के महत्त्व को समझा और इस उद्देश्य से कृषि में संस्थागत परिवर्तनों का प्रयास किया जाने लगा। योजनाकाल में सरकार ने कृषि के पुनर्संगठन के उद्देश्य से एक नयी कृषि-सम्बन्धी नीति अपनायी जिसमें ग्रामीण व्यवस्था का संगठन संयुक्त सहकारी कृषि (Joint Co-operative Farming) के आधार पर करने की व्यवस्था थी।

### तृतीय पंचवर्षीय योजना में कृषि की प्रगति (Progress of Agriculture in the Third Five Year Plan)

तृतीय पंचवर्षीय योजना में कृषि-विकास को पर्याप्त महत्त्व दिया गया था। योजना आयोग ने इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था कि "तृतीय योजना की सफलता मुख्यतः कृषि के क्षेत्र में उसकी सफलता पर ही निर्भर करती है।" (A much larger task in agriculture remains to be accomplished during the Third Plan. More than any other sector, the success of the Third Plan will turn on the fulfilment of its agricultural targets.) आयोग के अनुसार "तृतीय योजना ने इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया था कि कृषि के उत्पादन में कमी आर्थिक विकास के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है जिसे किसी भी तरह से दूर करना अनिवार्य है।" (In a scheme of development during the Third Plan, the first priority nece-

ssarily belongs to agriculture. Experience in the first two plans especially in the second, has shown that the rate of growth in agricultural production is one of the main limiting factor in the progress of the Indian economy. Agricultural production has therefore, to be increased to the largest extent feasible and adequate resources have to be provided under the Third Plan for increasing agricultural production.)

तृतीय योजना काल में कृषि, लघु सिंचाई एवं सामुदायिक विकास कार्यक्रमों पर 1089 करोड़ रुपये व्यय किया गया था। इसके अतिरिक्त वृहत एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं पर तृतीय योजना काल में 650 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि कुल व्यय 663.7 करोड़ रुपये हुआ। इस प्रकार कृषि की मद में कुल 1752.7 करोड़ रुपये का व्यय हुआ जो योजना के कुल व्यय का प्रायः 22 प्रतिशत भाग था। तृतीय योजना में कृषि के विकास के लिए सिंचाई, भूमि-संरक्षण, शुष्क कृषि तथा भूमि-उद्धार (Irrigation, Soil-Conservation, Dry Farming and Land reclamation), खाद एवं उर्वरकों का प्रयोग तथा अच्छे हल एवं सुधरे हुए औजारों के प्रयोग में वृद्धि आदि पर भी विशेष रूप से जोर दिया गया था।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में मुख्य फसलों के उत्पादन के लक्ष्य तथा इनकी उपलब्धि निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> से स्पष्ट है :-

### तृतीय योजना में कृषि-पदार्थों का उत्पादन

| फसलें                  | 1960-61 ई० में उत्पादन | 1965-66 ई० में उत्पादन का लक्ष्य | 1965-66 में उत्पादन |
|------------------------|------------------------|----------------------------------|---------------------|
| खाद्यान्न (लाख टन में) | 820                    | 1000                             | 720                 |
| तिलहन ( " " )          | 70                     | 120                              | 64.0                |
| गन्ना ( गुड़ " " )     | 111                    | 120                              | 120                 |
| कपास ( " " , गॉठ )     | 53                     | 70                               | 48                  |
| जूट ( " " )            | 41                     | 62                               | 45                  |
| तम्बाकू (हजार टन)      | 307                    | 325                              | 291                 |
| चाय ( " " )            | 320                    | 408                              | 373                 |

### 1. Fourth Five Year Plan, 1969-74.



पिछले पृष्ठ की तालिका से तृतीय योजना के कृषि-उत्पादन-सम्बन्धी लक्ष्य तथा इनकी उपलब्धि स्पष्ट हो जाती हैं। योजना के उक्त लक्ष्यों की पूर्ति के बाद खाद्यान्नों की स्थिति में पर्याप्त मात्रा में सुधार की आशा की गयी थी। अन्य फसलों के उत्पादन के लक्ष्य भी इसी प्रकार से संतोष-प्रद थे। कृषि-पदार्थों के उत्पादन में योजनाकाल के इस आयोजित लक्ष्य की पूर्ति के लिए निम्नांकित कार्यक्रमों पर विशेष रूप से जोर दिया जाने को था :—(क) सिंचाई, (ख) भूमि-संरक्षण एवं भूमि-उद्धार, (ग) उर्वरक और खाद का अधिकाधिक प्रयोग, तथा (घ) सुधरे हुए हल एवं अन्य उपकरणों का प्रयोग इत्यादि। किन्तु तृतीय योजना के कृषि-सम्बन्धी लक्ष्य पूरे नहीं हो सके। 1964-65 ई० में कृषि के उत्पादन, विशेषतः खाद्यान्नों के उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि हुई, किन्तु 1965-66 ई० में सूखा पड़ जाने के कारण कृषि के उत्पादन में अत्यधिक कमी हुई, वास्तव में 1965-66 ई० में खाद्यान्नों के उत्पादन में 20 प्रतिशत की कमी हुई। जूट, कपास आदि व्यावसायिक फसलों के साथ भी प्रायः यही बात थी।

योजनाकाल में सिंचाई-प्राप्त भूमि के क्षेत्र में भी पर्याप्त मात्रा में वृद्धि का आयोजन था। देश में कुल सिंचित भूमि का क्षेत्र 1960-61 में 279 लाख हेक्टर से बढ़कर 1965-66 ई० में 350 लाख हेक्टर हो जाने की आशा थी, किन्तु योजना के इस लक्ष्य की भी पूर्ति नहीं हुई। 1965-66 में कुल सिंचित भूमि का क्षेत्र 322 लाख हेक्टर ही हो सका। इसी प्रकार 1963 ई० तक देश की सम्पूर्ण ग्रामीण जनसंख्या को सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय विस्तार-सेवा कार्यक्रम के अन्तर्गत लाने का आयोजन था जो प्रायः पूर्ण हो गया।

तृतीय योजना में गहन जिला कृषि-कार्यक्रम (Intensive Agricultural District Programme) अथवा पैकेज प्रोग्राम तथा गहन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम (Intensive Agricultural Area Programme) नामक नये कार्यक्रम भी प्रारम्भ किये गये।

इस प्रकार कृषि के क्षेत्र में तृतीय योजना की प्रगति संतोषजनक नहीं हुई। यह निश्चय ही खेद की बात है। इसके कई कारण थे जिनमें खराब मौसम, कृषि-

सम्बन्धी कार्यक्रमों की अव्यावहारिकता तथा इन्हें कार्यान्वित करने में उदारता का अभाव आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि तृतीय योजना के कृषि-उत्पादन-सम्बन्धी लक्ष्य पूरे नहीं हो सके। यह तृतीय योजना की एक बहुत बड़ी कमी सिद्ध हुई। इसके परिणामस्वरूप देश में खाद्यान्नों के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि हुई जो सरकार तथा योजना-अधिकारियों के लिए एक चुनौती सिद्ध होने लगी जिसके संतोषजनक समाधान पर ही देश में आयोजित विकास की सफलता निर्भर करती है। केन्द्र में इस उद्देश्य से एक कृषि-उत्पादन परिषद् (Agricultural Production Board) की स्थापना की गयी। परिषद् कृषि में सुधार तथा उत्पादन में वृद्धि के तरीकों पर विचार करेगी एवं राज्य सरकारों को इस सम्बन्ध में उचित परामर्श देगी। किन्तु राज्य सरकारें परिषद् की सिफारिशों को मानने के लिए बाध्य नहीं की जा सकती।

### वार्षिक योजनाओं (1966-69) में कृषि की प्रगति (Progress of Agriculture During the Annual Plans)

1965-66 ई० का सूखा 1966-67 ई० तक चला। अतः, कृषि-उत्पादन की दृष्टि से 1966-67 ई० का वर्ष भी असामान्य वर्ष ही रहा। किन्तु इसके बाद कृषि के उत्पादन में आश्चर्यजनक गति से सुधार हुआ। 1967-68 में खाद्यान्नों का उत्पादन 956 लाख टन था जो 1964-65 से भी अधिक था। 1968-69 ई० में कृषि-पदार्थों के उत्पादन में और भी अधिक वृद्धि हुई।

तीन एक-वर्षीय योजनाओं में कृषि पर कुल व्यय 1624 करोड़ रुपये हुआ जो तीनों योजनाओं के कुल व्यय का प्रायः 24 प्रतिशत भाग था। इन तीन योजनाओं के अन्तर्गत महत्वपूर्ण कृषि-पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :—

वार्षिक योजनाओं में कृषि की उपज<sup>1</sup>

| फसलें                     | 1965-66 | 1967-68 | 1968-69 |
|---------------------------|---------|---------|---------|
| खाद्य-फसलें (लाख टन में)  | 720     | 950     | 940     |
| तिलहन (लाख टन में)        | 64      | 83      | 68      |
| गन्ना (गुड़) (लाख टन में) | 120     | 100     | 128     |
| कपास (लाख गाँठ में)       | 48      | 55      | 51      |
| जूट (लाख गाँठ में)        | 45      | 63      | 29      |



इस प्रकार 1950-51 से 1968-69 के बीच कृषि के उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। प्रथम योजनाकाल में 1951-52 से 1955-56 ई० के बीच कृषि-पदार्थों के उत्पादन में 22.1 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जिसका वार्षिक औसत 4.2 प्रतिशत था। द्वितीय योजनाकाल में (1956-57 से 1960-61) में कृषि-पदार्थों के उत्पादन में 22.7 प्रतिशत, यानी वार्षिक 4.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई। किन्तु तृतीय योजनाकाल में यह प्रवृत्ति मन्द पड़ गयी तथा कृषि-पदार्थों के उत्पादन में 7.4 प्रतिशत, यानी वार्षिक 1.1 प्रतिशत की कमी हुई। खाद्यान्न, जिनकी कृषि पदार्थों के अन्तर्गत प्रधानता है, के उत्पादन में प्रथम पंचवर्षीय योजना में 27.4 प्रतिशत, यानी वार्षिक 5.3 प्रतिशत तथा द्वितीय योजना में 18.9 प्रतिशत, यानी वार्षिक प्रायः 4.0 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई। किन्तु तृतीय योजनाकाल में इनमें 11.5 प्रतिशत, यानी वार्षिक 1.9 प्रतिशत की दर से कमी ही हुई। 1951-52 से 1965-66 के बीच कृषि-पदार्थों के उत्पादन में 38.8 प्रतिशत तथा खाद्यान्नों के उत्पादन में 34.1 प्रतिशत की वृद्धि हुई। दूसरे शब्दों में, इन 15 वर्षों में कुल कृषि-पदार्थों के उत्पादन में वार्षिक 2.5 प्रतिशत तथा खाद्यान्नों के उत्पादन में 2.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

कृषि के क्षेत्र में 1968-69 के बाद खाद्यान्नों के उत्पादन में हुई वृद्धि को कृषि-क्रांति या हरित क्रांति (Green Revolution) की संज्ञा दी जाती है। खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि के परिणामस्वरूप 1972 ई० से खाद्यान्न के आयात को बन्द कर दिया गया था। किन्तु यह हरित क्रांति (Green Revolution) भी खाद्य-समस्या का संतोषजनक हल निकालने में सम्भवतः सफल नहीं हो सकी क्योंकि पिछले 15 वर्षों में कृषि-पदार्थों के उत्पादन में वार्षिक वृद्धि 2.5 प्रतिशत की हुई जो देश की जनसंख्या में वृद्धि के ही बराबर है। अतएव जीवन-स्तर में सुधार के लिए खाद्यान्नों के उत्पादन में और अधिक वृद्धि अनिवार्य है।

### चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि की प्रगति (Progress of Agriculture in the Fourth Five Year Plan)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भी कृषि के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में कृषि,

सामुदायिक विकास एवं सहकारिता की मद में 2728 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। (तृतीय योजना में इस मद में कुल व्यय 1094 करोड़ रुपये था।) इसके अतिरिक्त वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं पर योजनाकाल में 965 करोड़ रुपये का व्यय प्रस्तावित था। (तृतीय योजना में इस पर कुल व्यय 583 करोड़ रुपये था।) किन्तु चतुर्थ योजनाकाल में कृषि एवं सिंचाई की मद में कुल मिलाकर 3466 करोड़ रुपये व्यय हुआ था जो योजना के कुल व्यय का प्रायः 20.7 भाग प्रतिशत था। इस प्रकार चतुर्थ योजनाकाल में कृषि को उच्च प्राथमिकता प्राप्त थी। वास्तव में, ऐसा आवश्यक भी था क्योंकि तृतीय योजना में सूखा एवं खराब मौसम के परिणामस्वरूप खाद्यान्नों के उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं हुई जिससे देश में अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी जिसे दूर करने के लिए विदेशों से अरबों रुपये के अन्न का आयात करना पड़ा।

खाद्यान्न तथा अन्य कृषि-पदार्थों के अभाव की स्थिति को दूर करने के लिए चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में गहन कृषि-कार्यक्रम (Intensive Agricultural Programme) पर अधिक जोर दिया गया था। साथ ही, उचित मूल्य-नीति पर भी पर्याप्त जोर दिया गया था। इस उद्देश्य से 1965 ई० में एक Agricultural Prices Commission की नियुक्ति की गयी जिसका प्रमुख कार्य कृषि-पदार्थों के मूल्य के सम्बन्ध में सरकार को समय-समय पर परामर्श देना है। योजना में सुघरे हुए बीज के वितरण पर भी अधिक जोर दिया गया। राष्ट्रीय बीज निगम (National Seeds Corporation) द्वारा भी इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण कार्य किये जाने की आशा थी। इसके अतिरिक्त योजनाकाल में साख की व्यवस्था, भूमि-सुधार, सिंचाई आदि पर भी पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया था।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में महत्वपूर्ण कृषि-पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि के लक्ष्य तथा इसकी उपलब्धि अंशकित तालिका से स्पष्ट है :—



चतुर्थ योजना में कृषि-पदार्थों का उत्पादन

पदार्थ आधार-वर्ष 1968-69 ई० 1973-74 में

|                         | में उत्पादन | उत्पादन |
|-------------------------|-------------|---------|
| खाद्यान्न (लाख टन में)  | 940         | 1140    |
| गन्ना ( गुड़ , , )      | 128         | 136     |
| तिलहन ( , , )           | 68          | 94      |
| कपास ( लाख गाँठ )       | 51          | 65      |
| जूट ( , , )             | 62          | 56      |
| तम्बाकू ( हजार टन में ) | 361         | 370     |

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाकर 1290 लाख टन करने का आयोजन था। 1950-51 ई० में खाद्यान्न का वास्तविक उत्पादन 549 लाख टन था जो बढ़ कर 1960-61 ई० में प्रायः 820 लाख टन तथा 1968-69 में 940 लाख टन हो गया, यानी 18 वर्षों में इनमें 440 लाख टन की वृद्धि हुई। अतएव केवल 5 वर्षों में 310 लाख टन की वृद्धि को प्राप्त करने के लिए बहुत बड़े पैमाने पर प्रयत्नों की आवश्यकता थी। इसलिए चतुर्थ योजना के लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो सकी तथा योजना के अन्त में खाद्यान्नों का उत्पादन 1140 लाख टन ही हुआ।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में 40 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं तथा 32 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में लघु सिंचाई की योजनाओं द्वारा सिंचाई की व्यवस्था थी। योजना के अन्त तक 32 लाख टन नम्रजनक खाद तथा 14 लाख टन फॉस्फोरिक खाद के प्रयोग का आयोजन था।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में कृषि की प्रगति  
(Agriculture in the Fifth Five Year Plan)

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में भी कृषि के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। पाँचवीं योजना में कृषि पर सार्वजनिक क्षेत्र में 4644 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जो योजना के कुल व्यय का 11.8 प्रतिशत

भाग था। इसके अतिरिक्त सिंचाई की मद में 3434 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी जो योजना के कुल व्यय का 8.3 प्रतिशत भाग था। योजना के प्रथम तीन वर्षों (1974-77) में कृषि की मद में व्यय 2130 करोड़ रुपये हुआ था तथा अन्तिम दो वर्षों (1977-79) में 2513 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। कृषि के क्षेत्र में इतने अधिक व्यय से पाँचवीं योजनाकाल में कृषि के उत्पादन में वार्षिक 3.9 प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य रखा गया था। चौथी योजना में इसकी तुलना में 5.6 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य रखा गया था। इसी प्रकार व्यावसायिक फसलों के उत्पादन में भी महत्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन था। निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है :—

पाँचवीं योजना में फसलों के उत्पादन का लक्ष्य

|                           | 1973-74 में | 1978-79 में             |
|---------------------------|-------------|-------------------------|
| फसलें                     | उत्पादन     | उत्पादन का अंतिम लक्ष्य |
| 1. खाद्यान्न (लाख टन में) | 1140.0      | 1329.0                  |
| 2. गन्ना (लाख टन)         | 1408.0      | 1735.0                  |
| 3. कपास (लाख गाँठ)        | 63.0        | 90.0                    |
| 4. जूट ( , , )            | 77.0        | 77.0                    |
| 5. तिलहन (लाख टन)         | 89.0        | 126.0                   |

पाँचवीं योजना के कृषि-उत्पादन के लक्ष्य के निर्धारण का प्रधान उद्देश्य आत्मनिर्भरता की प्राप्ति था जो योजना के निम्नांकित बयान से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है : "It is envisaged that the fulfilment of these targets will make the country not only self-sufficient in respect of foodgrains, but also leave a cushion for building a buffer stock. The dimensions of growth in commercial crops envisaged in the Plan are such as to take care of export requirement in addition to meeting indigenous needs by way of



## सरकार की कृषि-सम्बन्धी नीति एवं नियोजन

industrial raw materials''<sup>1</sup>

योजनाकाल में कृषि के विकास के कुल 3.9 प्रतिशत लक्ष्य में से 1.0 प्रतिशत कृषि के क्षेत्र में वृद्धि के द्वारा तथा 2.9 प्रतिशत उत्पादकता में वृद्धि के द्वारा प्राप्त करने का आयोजन था। इससे स्पष्ट है कि पाँचवीं योजना में उत्पादन में वृद्धि पर अधिक जोर दिया गया था। उत्पादकता में वृद्धि के अन्तर्गत पाँचवीं योजना में निम्नांकित बातों का आयोजन था : सर्वप्रथम तो उच्च फसल वाले अनाज (high yielding Variety of cereals) के अन्तर्गत के क्षेत्र को 1973-74 में 250 लाख हेक्टर से बढ़ाकर 1978-79 में 400 लाख हेक्टर करने का आयोजन था। इसी प्रकार खाद एवं उर्वरक के उपयोग को 1973-74 में तीस लाख टन से बढ़ाकर 1978-79 में 80 लाख टन करने का आयोजन था। इसके अतिरिक्त पाँचवीं योजना में सिंचाई के अन्तर्गत के क्षेत्र में 112 लाख हेक्टर की वृद्धि करने की व्यवस्था थी—इसमें 52 लाख हेक्टर वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं तथा 60 लाख हेक्टर लघु सिंचाई की योजनाओं के द्वारा सिंचित करने का आयोजन था। द्वितीयतः, पाँचवीं योजना में कृषि के उत्पादन में वृद्धि के लिए चतुर्थ योजनाकाल में Small

Farmers Development Agency, Marginal Farmers and Agricultural Labourers Programme एवं Drought Prone Areas Programme के लिए अपनाये गये शुष्क कृषि तकनीक को अपनाने पर भी जोर देने की व्यवस्था थी।

किन्तु पाँचवीं पंचवर्षीय योजना को 1977-78 में ही यानी इसकी अवधि के एक वर्ष पूर्व ही समाप्त कर दिया गया। कृषि का योजना काल में अपेक्षित गति से विकास नहीं हो सका। 1974-75 तथा 1975-76 कृषि की दृष्टि से उत्तम वर्ष थे, किन्तु 1976-77 में उपज में थोड़ी कमी ही हुई। कृषि की उपज में इस ह्रास के लिए दो कारण मुख्य रूप से उत्तरदायी थे—सर्वप्रथम तो 1976-77 वर्ष में खरीफ का मौसम अत्यंत प्रतिकूल था जिससे खाद्यान्नों के क्षेत्र में 3.2 प्रतिशत का ह्रास हो गया। द्वितीयतः, उत्तरप्रदेश, हरियाणा तथा पंजाब जैसे कुछ राज्यों में सिंचाई की व्यवस्था के विचार के फलस्वरूप भी किसानों का झुकाव नकद फसलों की ओर बढ़ गया जिससे खाद्य-फसलों के क्षेत्र तथा उपज में कमी हो गयी।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में महत्त्वपूर्ण कृषि-पदार्थों की उपज में वृद्धि का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है—

| फसलें                       | 1973-74 में उत्पादन | 1978-79 में लक्ष्य | 1977-78 में उत्पादन |
|-----------------------------|---------------------|--------------------|---------------------|
| 1. खाद्य-फसलें (लाख टन में) | 1140.0              | 1329.0             | 1210.0              |
| 2. गन्ना (लाख टन)           | 1360                | 1735.0             | 1569                |
| 3. कपास (लाख गाँठ)          | 63.0                | 90.0               | 64.3                |
| 4. जूट ( " " )              | 52.0                | 77.0               | 67.6                |
| 5. तिलहन (लाख टन)           | 89.0                | 126.0              | 92.0                |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि पाँचवीं योजना में प्रायः सभी कृषि-पदार्थों का उत्पादन लक्ष्य से बहुत ही कम रहा। खाद्यान्न के उत्पादन में तो चार वर्षों में प्रायः केवल 7 प्रतिशत, कपास के उत्पादन में 2 प्रतिशत तथा तिलहन के उत्पादन में 4 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

जूट का उत्पादन भी लक्ष्य से बहुत ही कम रहा।

छठी पंचवर्षीय योजना (1978-83) में कृषि (Agriculture in Sixth Five Year Plan)

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना को इसकी अवधि के एक वर्ष-पूर्व, यानी मार्च, 1978 में ही समाप्त कर दिया गया



तथा अप्रैल, 1978 में छठी पंचवर्षीय योजना का कार्य प्रारम्भ हुआ। छठी पंचवर्षीय योजना में कृषि एवं ग्रामीण विकास को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। छठी योजना काल में कृषि तथा सम्बन्धित कार्यों में 5,800 करोड़ रुपये एवं सिंचाई तथा बाढ़-नियन्त्रण की मद में 9,650 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। इस प्रकार पाँचवीं योजना की अपेक्षा इस मद में दुगुनी से भी अधिक रकम व्यय की व्यवस्था है। महत्वपूर्ण फसलों के उत्पादन में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि की व्यवस्था है जो नीचे दी गयी तालिका से स्पष्ट है। छठी योजना के काल में कृषि के क्षेत्र में वार्षिक 3.98 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन है।

छठी योजना में छोटे एवं सीमांत किसानों तथा भूमि-हीन मजदूरों, विशेषतः हरिजनों पर विशेष रूप से अधिक ध्यान देने का आयोजन है। योजनाकाल में फसलों के उत्पादन में वृद्धि के उद्देश्य से सिंचाई के अन्तर्गत भूमि के क्षेत्र तथा कुल कृषि की जानेवाली भूमि के क्षेत्र में विस्तार के साथ-साथ गहन कृषि के लिए कृत्रिम

खाद एवं कीटनाशक औषधियों के प्रयोग पर विशेष जोर देने की व्यवस्था है। सारांश यह है कि छठी योजना काल में कृषि-सम्बन्धी नीति का प्रधान उद्देश्य सिंचाई-सम्बन्धी क्षेत्र का यथाशीघ्र विस्तार एवं ऐसी कृषि-प्रणाली तथा फसल-पद्धति का विकास है जो भूमि एवं जल संसाधनों का अधिकतम उपयोग कर सके। साथ ही, वर्षा पर आधारित क्षेत्रों में जल-संरक्षण पर भी जोर दिया जायगा। योजना काल में गाँवों की आधारभूत व्यवस्था में अधिक एवं व्यापक विनियोग की व्यवस्था की जा रही है। इसके अंतर्गत सिंचाई और बीज एवं उर्वरकों की आपूर्ति के साथ-साथ ऋण, भंडारण तथा विपणन के विस्तार पर भी जोर दिया जा रहा है।

इतना ही नहीं, छठी योजना में भूमि पुनर्वितरण कार्यक्रमों तथा चकबंदी कार्यक्रम को भी तेजी से कार्यान्वित किया जायगा। साथ ही, कृषि के लिए यांत्रिकीकरण की वृद्धि को विनियमित करने का प्रयास किया जायगा।

छठी योजना में महत्वपूर्ण फसलों के उत्पादन-सम्बन्धी लक्ष्य का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से स्पष्ट हो जाता है :

| फसलें     | 1977-78 में उत्पादन | 1982-83 में लक्ष्य    |
|-----------|---------------------|-----------------------|
| खाद्यान्न | 1210                | 1405 से 1445 लाख टन   |
| गन्ना     | 1569                | 1880 लाख टन           |
| जूट       | 68                  | 82 लाख से 92 लाख गाँठ |
| कपास      | 64                  | " "                   |
| तिलहन     | 92                  | 112 लाख टन            |

छठी योजना में सिंचाई के साधनों के विस्तार पर भी पर्याप्त जोर है। पाँचवीं योजना के चार वर्षों में 86 लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई की सुविधाओं का सृजन किया गया था। छठी योजना में 170 लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधाओं के विस्तार का आयोजन है। इसमें से 90 लाख हेक्टर भूमि में लघु सिंचाई योजनाओं द्वारा तथा 80 लाख हेक्टर भूमि में बड़ी एवं

मध्यम आकार की योजनाओं द्वारा सिंचाई की क्षमता के सृजन का आयोजन है।

छठी पंचवर्षीय योजना में कृषि तथा ग्रामीण विकास को उच्च प्राथमिकता प्राप्त है। योजनाकाल में इस मद में 8600 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि पाँचवीं योजना में इस मद में प्रस्तावित व्यय 4302 करोड़ रुपये था। विभिन्न मदों में इसका वितरण निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है—



## छठी योजना में कृषि पर व्यय (करोड़ रुपये में)

| मदें                                     | 1974-79 में   | 1978-83 में   |
|------------------------------------------|---------------|---------------|
|                                          | व्यय का आयोजन | व्यय का आयोजन |
| 1. कृषि अनुसंधान एवं प्रशिक्षण           | 210           | 425           |
| 2. कृषि-उत्पादन                          | 575           | 1125          |
| 3. भूमि-सुधार                            | 163           | 350           |
| 4. भूमि-संरक्षण                          | 221           | 450           |
| 5. खाद्य-संचय                            | 123           | 150           |
| 6. पशु-पालन एवं दुग्धशाला                | 438           | 825           |
| 7. मत्स्य-पालन                           | 150           | 400           |
| 8. वन                                    | 206           | 450           |
| 9. कृषि-वित्त संस्थानों में विनियोग      | 520           | 1000          |
| 10. सामुदायिक विकास                      | 127           | 150           |
| 11. सहकारिता                             | 376           | 475           |
| 12. ग्रामीण विकास के लिए विशेष कार्यक्रम | 537           | 1550          |
| 13. Command Area Development             | 206           | 450           |
| 14. पहाड़ी एवं आदिवासी क्षेत्र का विकास  | 450           | 800           |
|                                          | 4302          | 8600          |

इसी प्रकार सिंचाई एवं बाढ़-नियंत्रण पर छठी योजना की अवधि में 9650 करोड़ रुपये का व्यय प्रस्तावित है। इसमें से 7250 करोड़ रुपये वृहत् एवं मध्यम सिंचाई, 1725 करोड़ रुपये लघु सिंचाई तथा 675 करोड़ रुपये बाढ़-नियंत्रण पर व्यय का आयोजन है। पाँचवीं योजना में इस मद में कुल प्रस्तावित 4226 करोड़ रुपये व्यय की तुलना में यह एक निश्चय ही बहुत अधिक है।

इस प्रकार छठी पंचवर्षीय योजना में कृषि-विकास को उच्च प्राथमिकता प्राप्त है। 1977-78 में देश में कुल 1739.2 लाख हेक्टर भूमि में कृषि का कार्य हुआ था। इसमें 1423.2 लाख हेक्टर शुद्ध बोयी गयी भूमि (Net area sown) था तथा 316 लाख हेक्टर भूमि में एक से अधिक बार (area sown more than once) खेती का कार्य हुआ था। इसी प्रकार छठी योजना की अवधि में 170 लाख हेक्टर अतिरिक्त सिंचाई की क्षमता का सृजन है जिसमें 150 लाख हेक्टर का वास्तव में प्रयोग

किया जायगा। इस प्रकार सिंचाई प्राप्त क्षेत्र 1977-78 में 484 लाख हेक्टर से बढ़कर 1982-83 में 634 लाख हेक्टर हो जाने की आशा है। इस प्रकार कुल सिंचाई प्राप्त क्षेत्र (Gross area irrigated) में 1978-79 से 1982-83 के बीच वार्षिक 5.54 प्रतिशत की दर से वृद्धि होगी जबकि 1961-62 से 1973-74 के बीच इसमें औसत वार्षिक वृद्धि 3.18 प्रतिशत थी। इससे यह स्पष्ट है कि छठी योजना में कृषि के क्षेत्र में प्रस्तावित लक्ष्यों की प्राप्ति बहुत कुछ सिंचाई-सम्बन्धी लक्ष्यों की पूर्ति पर ही निर्भर करती है। इसके बाद ही छठी योजना की अवधि में कृषि के अन्तर्गत के क्षेत्र में वृद्धि पर भी जोर दिया जायगा।

समन्वित ग्रामीण-विकास का कार्यक्रम (Integrated Rural Development) :—इस प्रकार छठी पंचवर्षीय योजना में कृषि पर बहुत अधिक जोर दिया गया है। कृषि-विकास सम्बन्धी इन कार्यक्रमों को कुटीर एवं



ग्रामीण उद्योगों के साथ समन्वित कर समन्वित ग्रामीण विकास की एक व्यापक योजना तैयार की गयी है। (The agricultural programmes and the plans for Cottage & Village industries development will be integrated into a comprehensive programmes of integrated Rural development.)

इस उद्देश्य से प्रखंड स्तर पर विकास-सम्बन्धी कार्यक्रम कार्यान्वित किये जायेंगे तथा इन्हें राज्य-स्तर की योजना से समन्वित किया जायगा। देश में अभी कुल 5100 प्रखंड हैं जिनमें से प्रायः 3000 प्रखंड में SFDA, DPAP एवं CAD जैसे कोई-न-कोई कार्यक्रम अवश्य ही प्रचलित हैं। इनमें से दो हजार प्रखंड को समन्वित ग्रामीण विकास के लिए प्राथमिकता के आधार पर चुना जायगा तथा इनमें पूर्ण रोजगार प्रदान करने की व्यवस्था की जायगी। ऐसे प्रखंड जिनमें हरिजनों की जनसंख्या

20 प्रतिशत है उन्हें प्रथम प्राथमिकता के अन्तर्गत चुना जायगा। शेष प्रखंडों को अगली पंचवर्षीय योजना (1983-88) के अंत तक इन कार्यक्रमों के अंतर्गत लाने का आयोजन है।

छठी पंचवर्षीय योजना में ग्रामीण साख एवं सह-कारिता के विकास को भी उच्च प्राथमिकता प्राप्त है। इस योजना में कृषि से सम्बन्धित क्षेत्रों, ग्रामीण विद्युतीकरण तथा ग्रामीण उद्योगों के विकास के लिए अधिकाधिक साख प्रदान करने का आयोजन है, किन्तु इसका उद्देश्य मुख्यतः ग्रामीण क्षेत्रों में विकास करनेवाले निर्धन वर्गों को लाभान्वित करना है।

पंचवर्षीय योजनाओं के कृषि-पदार्थों में उत्पादन में वृद्धि निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> से भारत में पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में कृषि-पदार्थों के उत्पादन में हुई वृद्धि का अन्दाजा लगता है :—

| वर्ष             | खाद्यान्न<br>(लाख टन में) | गन्ना<br>(लाख टन गुड़ में) | तिलहन<br>(लाख टन में) | कपास<br>(लाख गाँठ में) | जूट<br>(लाख गाँठ में) |
|------------------|---------------------------|----------------------------|-----------------------|------------------------|-----------------------|
| 1950-51          | 549                       | 69                         | 52                    | 29                     | 35                    |
| 1955-56          | 669                       | 73                         | 57                    | 40                     | 45                    |
| 1960-61          | 820                       | 112                        | 70                    | 50                     | 41                    |
| 1965-66          | 720                       | 121                        | 63                    | 48                     | 45                    |
| 1966-67          | 750                       | 95                         | 64                    | 50                     | 55                    |
| 1967-68          | 950                       | 110                        | 64                    | 53                     | 54                    |
| 1968-69          | 940                       | 128                        | 68                    | 51                     | 62                    |
| 1973-74          | 1140                      | 136                        | 89                    | 63                     | 52                    |
| 1977-78          | 1210                      | 159                        | 92                    | 64                     | 68                    |
| 1982-83 (आयोजित) | 1405 से 1445              | 188                        | 115                   | 82 से 92               | 86                    |

इस प्रकार कृषि-पदार्थों के उत्पादन में योजनाकाल में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। खाद्यान्नों का उत्पादन 1950-51 में 549 लाख टन से बढ़कर 1977-78 में 1210 लाख टन हो गया, किन्तु इस बीच देश की जनसंख्या भी 35.1 करोड़ से बढ़कर लगभग 60 करोड़ हो गयी। योजनाकाल में खाद के उत्पादन तथा प्रयोग में भी महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। 1950-51 में नत्रजन खाद का प्रयोग 56

हजार टन से बढ़कर 1974-75 में 11.6 लाख टन तथा फॉस्फेट का उपयोग 7 हजार टन से बढ़कर 1968-69 में 3.5 लाख टन हो गया।

राजकीय क्षेत्र में 1951-52 से 1977-78 तक कृषि के विकास पर कुल व्यय तथा छठी योजना में व्यय की व्यवस्था अगले पृष्ठ की तालिका से स्पष्ट है—

#### 1. Draft Five Year Plan, 1978-83.



## सरकार की कृषि-सम्बन्धी नीति एवं नियोजन

| महें                     | पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि के क्षेत्र में व्यय (करोड़ रुपये में) |               |             |                    |              |               |                   |
|--------------------------|------------------------------------------------------------------|---------------|-------------|--------------------|--------------|---------------|-------------------|
|                          | प्रथम योजना                                                      | द्वितीय योजना | तृतीय योजना | 1966-67 से 1968-69 | चतुर्थ योजना | पाँचवीं योजना | छठी योजना (आयोजन) |
| कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रम  | 211                                                              | 323           | 805         | 912                | 3466.0       | 4644          | 9525              |
| सामुदायिक विकास          | 79                                                               | 226           | 289         | 98                 | ...          | ...           | ...               |
| सिंचाई एवं बाढ़-नियंत्रण | 314                                                              | 429           | 665         | 446                | ....         | 3434          | 7925              |
| कुल                      | 604                                                              | 978           | 1759        | 1456               | 3466.0       | 8078          | 17450             |

उपसंहार :—भारत की आर्थिक व्यवस्था में कृषि का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में, देश की आर्थिक प्रगति बहुत हद तक कृषि के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति पर ही आधारित है। किन्तु भारतीय कृषि में आवश्यक सुधार लाने के लिए इसमें संस्थागत परिवर्तनों की आवश्यकता है। कृषि के उत्पादन में वृद्धि के लिए गाँवों के वर्तमान सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन लाना होगा। भूमि के वितरण में व्याप्त विषमता को दूर करना होगा, जोतों की चकबन्दी करनी होगी। इसके लिए संगठित प्रयत्नों की आवश्यकता होगी। किन्तु प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं में इस क्षेत्र में बहुत ही कम प्रगति हुई है। प्रथम योजना में तो इस सम्बन्ध में शुरुआत ही हुई थी। द्वितीय योजना में इस प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता को महसूस किया गया था, किन्तु योजना के कार्यक्रमों में समन्वय का अभाव था जिससे इस क्षेत्र में पर्याप्त सफलता नहीं मिल पायी। तृतीय पंचवर्षीय योजना में इस क्षेत्र में संतोषजनक प्रगति नहीं हो पायी। परन्तु संतोष का विषय है कि अब सरकार ने इनके महत्व को स्वीकार किया है तथा हमारी नयी कृषि-सम्बन्धी नीति में संयुक्त सहकारी कृषि की स्थापना पर अधिक जोर दिया जा रहा है। साथ ही, गाँवों के संगठन में आमूल परिवर्तन लाने का प्रयास किया जा रहा है।

देशवासियों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाकर तथा पर्याप्त मात्रा में भोजन की व्यवस्था के लिए भारतीय कृषि के उत्पादन में तीव्र गति से वृद्धि अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में हरित क्रान्ति (Green Revolution) के परिणाम अत्यन्त उत्साहवर्द्धक सिद्ध हुए हैं जिससे यह आशा की जाने लगी था कि 1972 के बाद खाद्यान्नों के आयात की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। अतएव जैसा कि प्रो० दंतवाला (M. L. Dantwala) ने कहा है : "The Green Revolution has given breathing time Its greatest contribution is that it may help to relieve the tension caused by chronic food shortages and bring back the economists and planners to the more abiding task of the Indian Planning" किन्तु 1973 ई० में देश के एक विशाल भाग में सूखा पड़ने के कारण खाद्यान्न के आयात की आवश्यकता पड़ गयी।

इससे स्पष्ट है कि हरित क्रान्ति का रूप स्थायी नहीं है, अतः हमारे प्रयत्नों में इससे किसी प्रकार की शिथिलता का परिणाम बड़ा ही घातक सिद्ध हो सकता है तथा हरित क्रान्ति लाल क्रान्ति में परिवर्तित हो सकती है।

## विशेष अध्ययन-सूची

1. Planning Commission : First Five Year Plan.
2. " " : Second Five Year Plan.
3. " " : Third Five Year Plan.
4. " " : The Third Plan : Mid-Term Appraisal.
5. " " : Fourth Five Year Plan (1969-74.)
6. " " : Draft Fifth Five Year Plan (1974-79)
7. " " : Fifth Five year Plan.
8. " " : Draft Five year Plan (1978-83)



## अध्याय : 15

## भारत की खाद्य समस्या

## (Food Problem of India)

आर्थिक विकास में खाद्यान्नों की पूर्ति का महत्व (Role of Food supply in the Economic Development) :—किसी देश के आर्थिक विकास में खाद्यान्नों की पूर्ति का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में, भोजन मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता है, अतएव इसकी पूर्ति का देश के आर्थिक विकास के प्रत्येक स्तर से घनिष्ठ सम्बन्ध है। विकासशील देशों में तो देश के आर्थिक विकास के साथ-साथ खाद्यान्नों की पूर्ति में वृद्धि निम्नांकित कारणों से और भी अधिक आवश्यक हो जाती है—

(1) प्रथमतः, आर्थिक विकास की प्रक्रिया में जैसे-जैसे देशवासियों की आय बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे खाद्यान्नों की मांग भी बढ़ती जाती है। यदि ऐसी स्थिति में खाद्यान्नों की पूर्ति नहीं बढ़ती तो इनका मूल्य बढ़ जाता है और इस प्रकार मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्ति और भी प्रबल हो जाती है। अतः विकासशील देशों में खाद्यान्न की पूर्ति में वृद्धि आवश्यक होती है। भारत-जैसे देश में तो जनसंख्या में तीव्रगति से वृद्धि के कारण खाद्यान्नों की मांग में और तेजी के साथ वृद्धि हो रही है। अतः मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्ति को रोकने के लिए इनके उत्पादन में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि अनिवार्य भी है।

(2) द्वितीयतः, अविकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों में जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग भूखमरी के स्तर पर रहता है, अतः इनकी आय में वृद्धि से खाद्यान्न की मांग पर पहले और अधिक मात्रा में प्रभाव पड़ता है।

(3) तृतीयतः, खाद्यान्नों की पूर्ति बढ़ने से इनके आयात को भी कम किया जा सकता है या यदि इनका आधिक्य है तो अतिरिक्त मात्रा का निर्यात किया जा सकता है और इस प्रकार विदेशी विनिमय की वृद्धि अथवा प्राप्ति हो सकती है जिसे विकास के अन्य कार्यों में लगाया जा सकता है। भारत के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से लागू होती है। यहाँ विदेशों से प्रतिवर्ष अरबों रुपये के खाद्यान्न का आयात करना पड़ता है। अतः खाद्यान्नों की पूर्ति बढ़ाने से जो विदेशी मुद्रा बचेगी उसे विकास के अन्य कार्यों में खर्च किया जा सकता है।

भारत की खाद्य-समस्या की प्रकृति (Nature of the Food Problem of India) :—खाद्य-समस्या भारत की अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा गम्भीर समस्या है।<sup>1</sup> गत कुछ वर्षों से यह देश के राजनीतिज्ञों एवं अर्थशास्त्रियों के लिए एक पहली सी बन गयी है। भारत एक कृषि-प्रधान देश है और यद्यपि भारत कुल कृषि-क्षेत्र के प्रायः तीन-चौथाई भाग में खाद्य-फसलों की खेती होती है तथा यहाँ की प्रायः 70 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर आश्रित है, फिर भी आश्चर्य की बात है कि यहाँ खाद्यान्न का अभाव है जिससे हमें जहाजों से लाये हुए अन्न (Ship to mouth) पर आश्रित रहना पड़ता है। इस अभाव के फलस्वरूप आज दश की खाद्य-समस्या बहुत ही जटिल हो गयी है तथा हमारे राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक अंग को प्रभावित कर रही है। यह देश के आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक उत्थान के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न करती है। संक्षेप में, भारत की खाद्य-समस्या केवल खाद्यान्न के अभाव की ही समस्या नहीं है, वरन् हमारे भविष्य के निर्माण की समस्या है। इस समस्या को अच्छी अथवा बुरी, वर्षा या सूखा अथवा बाढ़ के नाम पर नहीं छोड़ा जा सकता है। पर्याप्त एवं पौष्टिक भोजन के अलावा में देश की विशाल जनसंख्या के कल्याण का आदर्श, उनके लिए सामाजिक न्याय प्राप्त करना तथा जनतन्त्रात्मक समाजवाद की स्थापना करना विल्कुल असम्भव है। भूख मनुष्य की एक ऐसी मूल प्रवृत्ति है जिसकी पूर्ति सर्वप्रथम तथा किसी मूल्य पर भी अवश्य होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में फोर्ड फाउन्डेशन के कृषि-उत्पादन दल का निम्नांकित कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है: "Without enough food, India's hope for improving human welfare, achieving social justice and securing democracy will become almost impossible of attainment." वास्तव में देश की खाद्य-समस्या एक या दो वर्षों की समस्या नहीं होकर एक दीर्घकालीन समस्या हो गयी है। प्रो० दंतवाला (Dantwala) का इस सम्बन्ध में निम्नांकित कथन विशेष रूप से सही जान पड़ता है :— "It is my considered view that what we have to cure is not a crisis

1. प्रो० दंतवाला (Dantwala) के ये शब्द इस सम्बन्ध में अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं "What we have to cure is not a crisis but a chronic malady and the remedies for it are of a routine rather than of a spectacular nature"



but a chronic malady and the remedies for it are of a routine rather than of a spectacular nature.”<sup>1</sup> इस प्रकार देश की खाद्य-समस्या का समाधान देशवासियों की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक प्रगति का प्रथम सोपान है।

### भारत की खाद्य-समस्या के विभिन्न पहलू (Different Aspects of India's Food Problem)

भारत में खाद्यान्न के अभाव की समस्या प्रथम महा-युद्ध के समय से ही चली आ रही है। किन्तु 1942-43 ई० में बंगाल के भीषण अकाल ने सर्वप्रथम इस समय की जटिलता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। और, आजकल तो यह देश की सर्वाधिक प्रमुख समस्या हो गयी है जिसके समाधान पर ही देश का आर्थिक एवं राजनीतिक स्थायित्व निर्भर करता है।

भारत की खाद्य-समस्या के विभिन्न पहलू हैं जिनमें निम्नलिखित चार प्रधान हैं :—

(क) खाद्य-समस्या का परिमाणात्मक पहलू (Quantitative aspect of the Food Problem) यानी खाद्यान्न की मात्रा में कमी :—भारत की खाद्य-समस्या का परिमाणात्मक पहलू ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव में, परिमाणात्मक दृष्टि से हमारी खाद्य-समस्या अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक भारत में खाद्यान्न का उत्पादन इसकी मांग की तुलना में अधिक था। किन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से, विशेषतः प्रथम महायुद्ध के समय से देश की जनसंख्या में खाद्यान्न की अपेक्षा अधिक तेजी से वृद्धि होने लगी, जिससे खाद्यान्न की मांग एवं पूर्ति में असंतुलन उत्पन्न होने लगा। खाद्यान्न के इस अभाव को दूर करने के लिए समय-समय पर खाद्यान्नों का आयात करना पड़ता था। 1937 ई० में बर्मा के भारत से पृथक् होने के कारण चावल उत्पन्न करने का एक प्रमुख क्षेत्र भारत से अलग हो गया। इसी प्रकार, 1947 में देश-विभाजन के परिणामस्वरूप खाद्यान्न के अभाव में और भी वृद्धि हो गयी।

भारत में खाद्यान्न की मात्रा में कमी (Extent of the Food Shortage) :—देश में खाद्य-सम्बन्धी आँकड़ों को तैयार करने की दोषपूर्ण प्रणाली के कारण खाद्यान्न की कमी का सही-सही अनुमान लगाना कठिन है। 1939-40 ई० के पहले डॉ० राधा कमल मुखर्जी के अनुसार देश में प्रायः 12 प्रतिशत जनसंख्या के लिए खाद्यान्न का अभाव था। योजना आयोग के अनुसार प्रति व्यक्ति भोजन की मात्रा 13.7 औंस रखने पर 1951-52 ई० में हमारे भोजन की कमी 19.4 लाख टन थी, जो इस गति से जनसंख्या में वृद्धि होने पर 1956 ई० तक बढ़कर 70

लाख टन तक हो जाती। लेकिन ग्रेगरी समिति के अनुसार संतुलित भोजन के अभाव में प्रति-व्यक्ति के लिए प्रतिदिन कम-से-कम 16 औंस अन्न आवश्यक है। साथ ही 1971 ई० की जनगणना के अनुसार देश की जनसंख्या में प्रतिवर्ष प्रायः 2.5 प्रतिशत की दर से वृद्धि हो रही है। इस प्रकार योजना आयोग के अनुमान भी वस्तुतः कम ही हैं। यही कारण है कि वर्तमान समय में भारत को बड़े पैमाने पर खाद्यान्नों का आयात करना पड़ता है। 1966 ई० में 104 लाख टन खाद्यान्न का विदेशों से आयात करना पड़ा था।

कुछ वर्ष पूर्व फोर्ड फाउण्डेशन (Ford Foundation) के विशेषज्ञों के एक दल ने तृतीय योजना के अन्त में देश के खाद्यान्न की कुछ आवश्यकता का अनुमान 1100 लाख टन लगाया था। यह अनुमान इस आधार पर लगाया था कि 1966 ई० तक देश की जनसंख्या 48 करोड़ हो जायगी तथा प्रति-व्यक्ति प्रतिदिन 18 औंस अन्न के उपभोग की आवश्यकता पड़ेगी। किन्तु तृतीय योजना के अन्त में खाद्यान्न का कुल उत्पादन 720 लाख टन ही हुआ। इस प्रकार तृतीय योजना के अन्त में खाद्यान्नों की कुल आन्तरिक पूर्ति एवं मांग में अनुमानतः 380 लाख टन का अंतर था। विशेषज्ञों के अनुसार इस अभाव को दूर करने के लिए अगले सात वर्षों में खाद्यान्नों के उत्पादन में वार्षिक 8.2 प्रतिशत की वृद्धि करनी होगी जबकि 1952-53 ई० से 1964-65 ई० के बीच इसके उत्पादन में औसत वार्षिक वृद्धि 2.3 प्रतिशत ही थी। किन्तु 1968-69 से खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि प्रारम्भ हुई। 1970-71 में खाद्यान्नों का उत्पादन 1078 लाख टन था जो पिछले सभी वर्षों से अधिक था। परिणामस्वरूप 1972-73 ई० में खाद्यान्न का आयात बिल्कुल बन्द हो गया, किन्तु पुनः 1973 ई० में देश के एक बहुत बड़े भाग में सूखा पड़ने के कारण 1973-74 में सरकार ने 45 लाख टन खाद्यान्नों के आयात किया।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्त में भी खाद्य-पदार्थों का उत्पादन बढ़कर 1140 लाख टन हो गया तथा पाँचवीं योजना के अंत में 1977-78 में 1210 लाख टन हो गया। छठी योजना के अन्त में इसे बढ़ाकर 1405 लाख टन से 1445 लाख टन करने की व्यवस्था है।

(ख) गुणात्मक पहलू यानी भोजन में पोषक तत्वों का अभाव (Deficiency of nutrients in our food) :—भारत की खाद्य-समस्या का एक महत्वपूर्ण पहलू हमारे भोजन में पोषक-तत्वों का अभाव है। हमारे यहाँ केवल अन्न की ही कमी नहीं है, वरन् हमारे भोजन में पोषक-तत्वों का भी अभाव है। 1940 ई० में सर जॉन मेगा (Sir John Megaw) ने यह अनुमान लगाया था कि “भारत में केवल 39 प्रतिशत व्यक्तियों को पोषक तत्व-



युक्त भोजन, 41 प्रतिशत को कम पोषक तत्त्व युक्त भोजन तथा 20 प्रतिशत को अत्यधिक कम पोषक तत्त्व-युक्त भोजन मिलता है।" जहाँ तक संतुलित भोजन (Balanced diet) का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि हमारे देश में 95 प्रतिशत व्यक्तियों को संतुलित भोजन नहीं मिलता। डॉक्टर आकरायड (Aykroyd) के अनुसार देश के एक-तिहाई व्यक्तियों को कम पोषिक पदार्थ-युक्त भोजन मिलता है। हाल में ही डंडेकर तथा रय ने यह अनुमान लगाया है कि 40 प्रतिशत व्यक्तियों के भोजन में कैलरीज की बहुत अधिक कमी रहती है। विशेषज्ञों के अनुमान के अनुसार पोषिक भोजन के लिए एक औसत भारतीय के भोजन में कम-से-कम 3000 हजार कैलरिज (Calories) की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु उसे आजकल प्रतिदिन केवल 1890 कैलरीज ही प्राप्त होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में एक औसत निवासी के भोजन में प्रतिदिन मिलने वाले 3300 कैलरीज की तुलना में हम भारतवासियों के भोजन में पोषक-तत्त्वों का अभाव स्पष्ट हो जाता है। भारत में आज केवल अन्न की ही कमी नहीं है वरन् भोजन के लिए आवश्यक प्रायः सभी वस्तुओं की कमी है। देश के प्रत्येक व्यक्ति के संतुलित आहार की व्यवस्था करने के लिए हमें दालों के उत्पादन में 28.5%; तरकारियों में 65.3%, फलों के उत्पादन में 56.9%, दूध में 54.9%, तेलहन में 72.3%, घी में 100%, तथा अण्डों के उत्पादन में 53.1% की वृद्धि करनी होगी।

(ग) प्रशासनिक पहलू, यानी खाद्यान्न के वितरण-व्यवस्था-सम्बन्धी समस्याएँ :—हमारे देश में खाद्य-वितरण की व्यवस्था भी अत्यन्त ही दोषपूर्ण है। यह दोष कई बातों से स्पष्ट हो जाता है। भारत में बहुत से व्यापारी तथा बड़े-बड़े किसान अपनी आवश्यकता से अधिक अन्न छिपाकर (hoarding) रखते हैं। खाद्य-वितरण व्यवस्था सम्बन्धी कर्मचारी भी कुशलतापूर्वक तथा ईमानदारी के साथ अपना कार्य नहीं करते। इनकी इस कुशलतापूर्वक तथा बेईमानी के कारण सरकार के बहुत कार्यक्रम, जैसे—अन्न की वसूली (Procurement of foodgrains), मूल्य-नियन्त्रण (Price-control), खाद्यान्नों के मुक्त गमनागमन पर प्रतिबन्ध (Restriction on free movement of food-grains) आदि सफल नहीं हो पाते हैं। यही कारण है कि जहाँ इंग्लैंड तथा अमेरिका जैसे देशों में अन्न के वितरण पर नियन्त्रण से जनता की सुविधाएँ बढ़ जाती हैं, वहीं भारत में नियन्त्रण नागरिकों के लिए एक बोझ-सा बन जाता है। अतः यह कहा जा सकता कि "भारत में खाद्यान्न की समस्या केवल उत्पादक की ही नहीं, वरन् सुव्यवस्थित वितरण के अभाव की भी है।"

निगम ने प्रायः सभी महत्वपूर्ण राज्यों में अपने कार्यालय स्थापित कर लिया है।

(घ) खाद्य-समस्या का आर्थिक पहलू :—भारत की प्रस्तुत खाद्य-समस्या के विकराल रूप धारण करने का एक प्रमुख कारण देश की जनता में क्रय-शक्ति का सामान्य रूप से अभाव भी है। डॉ० एकराइड ने द्वितीय युद्ध के पूर्व यह अनुमान लगाया था कि भारत में प्रति वयस्क संतुलित भोजन के लिए प्रतिमाह पाँच रुपये तथा संतुलित भोजन के लिए ढाई-तीन रुपये व्यय करना पड़ता था। इसी अनुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आज के मूल्य-स्तर पर प्रति-व्यक्ति संतुलित भोजन के लिए 30-35 रुपये तथा असंतुलित भोजन के लिए 20-25 रुपये खर्च करना होगा। किन्तु वर्तमान स्थिति में हमारे देश के अधिकांश व्यक्तियों के लिए यह प्रायः असम्भव ही जान पड़ता है। 5 व्यक्ति वाले एक औसत भारतीय परिवार की औसत वार्षिक आय 444.4 रुपये है जिसका लगभग 84% भाग खाद्यान्नों पर व्यय किया जाता है। इस प्रकार भारत की वर्तमान खाद्य-समस्या का एक प्रधान कारण सामान्य जनता में क्रय-शक्ति का अभाव है।

### भारत में खाद्यान्नों की कमी के कारण (Causes of Food shortage in India)

भारत में खाद्यान्न की कमी, यानी खाद्य-समस्या के बहुत-से कारण बतलाये जाते हैं जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(1) जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि :—भारत में खाद्यान्न की कमी का सबसे प्रमुख कारण देश की जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि है। 1880 के अकाल आयोग (Famine Commission) के अनुसार उस समय भारत में प्रतिवर्ष 50 लाख टन खाद्यान्न का आधिक्य था लेकिन तब से जनसंख्या में खाद्यान्न के उत्पादन की अपेक्षा अधिक तेजी से वृद्धि होने लगी जिससे धीरे-धीरे खाद्यान्न का अभाव बढ़ता जा रहा है। 1901 ई० से 1950 ई० के बीच देश की जनसंख्या में 51.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। केवल 1951 ई० से 1960 के बीच जनसंख्या में 21.5 प्रतिशत तथा 1961 से 1970 के बीच प्रायः 25 प्रतिशत की वृद्धि हुई। किन्तु, खाद्यान्न के उत्पादन में इससे बहुत ही कम वृद्धि हुई है। अतएव जिस अनुपात में देश की जनसंख्या में वृद्धि हो रही है, उस अनुपात में खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि नहीं हो पाती जिनसे खाद्यान्न का अभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है।

1 जनवरी, 1955 ई० को एक भारतीय खाद्य निगम (Food Corporation of India) की स्थापना की गयी जिसका उद्देश्य खाद्यान्नों का क्रय-विक्रय तथा वितरण है।

(2) देश-विभाजन :—1947 ई० में देश-विभाजन के फलस्वरूप भी खाद्यान्न की मात्रा में बहुत अधिक कमी हो गयी। भारत संघ को अविभाजित-भारत की कुल जनसंख्या का प्रायः 82 प्रतिशत भाग मिला, किन्तु चावल एवं गेहूँ



उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों का क्रमशः 68 तथा 65 प्रतिशत भाग ही प्राप्त हो सका। इस प्रकार विभाजन के फलस्वरूप देश में खाद्यान्न की कमी 750 लाख टन और बढ़ गयी।

(3) उत्पत्ति एवं उपभोग की प्रवृत्ति में परिवर्तन :— डा० राधा कमल मुखर्जी ने अपनी पुस्तक "Food Planning for Four Hundred Millions" में खाद्यान्न की कमी का एक प्रधान कारण देश में उत्पत्ति एवं उपभोग की प्रवृत्ति में परिवर्तन बतलाता है। डा० मुखर्जी के अनुसार देश में कुछ वर्षों से गेहूँ तथा चावल जैसे पौष्टिक पदार्थों के बजाय निम्न कोटि की फसलों के उत्पादन को बढ़ाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। किन्तु उपभोग की स्थिति ठीक इसके विपरीत है। अधिकांश लोग निम्न कोटि के अनाजों की अपेक्षा गेहूँ एवं चावल के उपभोग पर ही अधिक जोर देते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति एवं उपभोग की प्रवृत्ति में एक प्रकार के विरोधाभास के कारण भी चावल एवं गेहूँ का अभाव पाया जाता है। किन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि खाद्य-समस्या का यह कोई महत्वपूर्ण कारण नहीं है क्योंकि देश में प्रायः सभी प्रकार के अनाजों की कमी है।

(4) प्रति एकड़ कम उत्पादन :—भारत में खाद्यान्न की कमी का एक प्रधान कारण कृषि-पदार्थों की प्रति-एकड़ उपज का कम होना है। भारत में कृषि की जानेवाली कुल भूमि के प्रायः 80 प्रतिशत भाग में खाद्य-फसलों की खेती होती है फिर भी खाद्य-फसलों के प्रति-एकड़ कम उत्पादन के कारण देश में पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न का उत्पादन नहीं होता जिससे देश में खाद्य-संकट की स्थिति बनी रहती है।

(5) बाढ़ तथा सूखा जैसी प्राकृतिक आपत्तियाँ :— भारत में खाद्यान्न के अभाव का एक प्रमुख कारण मौसम की प्रतिकूलता भी है। भारतीय कृषि आज भी मुख्य रूप से मौनसून पर, ही आश्रित है और मौनसून की प्रकृति बड़ी अनिश्चित है। किसी वर्ष घोर वृष्टि के कारण बाढ़ आ जाती है तो किसी वर्ष वर्षा के अभाव में सूखा पड़ जाता है जिससे फसलों की अत्यधिक क्षति होती है। 1947 ई० से 1973 ई० तक प्रायः प्रति वर्ष देश के किसी-न-किसी भाग में बाढ़ अथवा सूखा का प्रकोप अवश्य ही होता रहा है जिससे उपज कम होती है तथा देश में खाद्यान्न की कमी बनी रहती है।

(6) योजना काल में आय बढ़ने से खाद्यान्न की मांग में वृद्धि :—भारत में 1951-52 ई० से आर्थिक विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाओं का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। अब तक तीन पंचवर्षीय योजनाएँ पूरी हो गयीं तथा चौथी योजना भी समाप्त-प्राय है। इन योजनाओं में विकास के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में बहुत बड़े पैमाने पर विनियोग किया गया है। इससे लोगों की आय में

बहुत अधिक वृद्धि हुई। भारत जैसे आवकसित देश में लोगों की आय में वृद्धि से खाद्यान्नों की मांग बढ़ती है। खाद्यान्नों के मांग की औसत आय की लोच (income elasticity of demand for food-grains) 0.4 से 0.5 के बीच रहती है जब कि सबसे निर्धन वर्ग। सीमांत आय की लोच 0.7 से 0.8 के बीच रहती है के अतएव आर्थिक विकास के प्रारम्भिक वर्षों में खाद्यान्नों की मांग में बहुत अधिक वृद्धि होती है जिसकी पूर्ति के लिए खाद्यान्नों के उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि करनी पड़ती है।

(7) एक प्रभावपूर्ण खाद्य-नीति का अभाव :—भारत में खाद्यान्न की कमी का एक प्रधान कारण एक सफल राष्ट्रीय खाद्य नीति का अभाव भी बतलाया जाता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सरकार द्वारा खाद्यान्न की समस्या के समाधान के लिए समय-समय पर विभिन्न प्रकार के प्रयत्न किये गये, किन्तु इन सारे प्रयत्नों में मुख्यतः विफलता ही हाथ लगी। 1973 ई० में सरकार ने गेहूँ तथा चावल के थोक व्यापार को अपने हाथ में लेने का निर्णय किया तथा गेहूँ की सरकारी खरीद का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। खाद्यान्नों के थोक व्यापार का सरकारीकरण सिद्धान्ततः ठीक है किन्तु पर्याप्त प्रशासनिक व्यवस्था के अभाव में इससे एक प्रकार की अव्यवस्था-सी उत्पन्न हो गयी है।

किन्तु, उक्त सारे कारणों के साथ-साथ भारत की वर्तमान खाद्य-समस्या का प्रमुख कारण पंचवर्षीय योजनाओं में अधिक विनियोग की नीति के फलस्वरूप मांग में वृद्धि तथा उत्पादकों एवं व्यापारियों में संचय के प्रवृत्ति का आधिक्य है।

### खाद्यान्न एवं जनसंख्या

#### (Food and Population)

किसी देश की जनसंख्या एवं खाद्यान्न के उत्पादन में बढ़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब तक देश में खाद्यान्नों का उत्पादन जनसंख्या के अनुकूल न होगा तबतक खाद्यान्न संकट की कोई सम्भावना नहीं होगी। किन्तु, जहाँ जनसंख्या में खाद्यान्न की अपेक्षा बहुत अधिक तेजी से वृद्धि हुई वहाँ दोनों में असंतुलन हो जायगा। भारत में खाद्यान्न की कमी का एक प्रमुख कारण देश की जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि है। गत शताब्दी तक देश में अन्न के उत्पादन तथा जनसंख्या में प्रायः संतुलन था। किन्तु बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही जनसंख्या खाद्यान्न की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ने लगी। 1914 ई० में मूल्य जाँच-समिति (Prices Enquiry Committee) के विवरण में श्री० के० एल० दत्त ने यह बतलाया था कि 1894 से 1912 ई० के बीच जनसंख्या में वृद्धि की अपेक्षा कृषि की जानेवाली भूमि के क्षेत्र में कम ही वृद्धि



हुई। कृषि-आयोग (Agricultural Commission) के सर जॉन रसेल ने भी इसी आशय का विचार व्यक्त किया था। इनके अनुसार बीसवीं शताब्दी के प्रथम 25 वर्षों में देश की जनसंख्या में 760 लाख की वृद्धि हुई, किन्तु कृषि की जानेवाली भूमि के क्षेत्र में केवल 40 लाख एकड़ की ही वृद्धि हुई। श्री पी० के० वत्सल ने भी खाद्यान्न के अभाव के सम्बन्ध में प्रायः इसी प्रकार का अनुमान लगाया है। इनके अनुसार 1911-14 ई० से 1934-35 ई० के बीच जनसंख्या में प्रायः प्रतिवर्ष 1 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई, किन्तु खाद्यान्नों के उत्पादन में केवल 0.65 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि देश की जनसंख्या तथा खाद्यान्न के उत्पादन में असंतुलन बढ़ता ही जा रहा है। डा० ज्ञानचन्द के अनुसार 1900 ई० से 1924 ई० के बीच जनसंख्या में 21 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी जबकि कृषि की जानेवाली भूमि के क्षेत्र में इस बीच केवल 11 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई।

उक्त सभी अनुमानों में कुछ अन्तर अवश्य है, किन्तु इन सभी का आशय प्रायः एक ही है। अतः यह बात निश्चित रूप से सत्य है कि देश में जनसंख्या की वृद्धि तथा खाद्य-उत्पादन में असंतुलन बढ़ते जा रहा है। 1931 ई० के बाद तो यह असंतुलन और भी उग्र हो गया है। 1931 ई० से 1940 ई० के बीच जनसंख्या में 12.7 प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु इसी बीच कृषि की जाने वाली भूमि के क्षेत्र में केवल 15 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। इसी प्रकार 1941 ई० से 1950 ई० के बीच जनसंख्या में 13.2 प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु इस अवधि में खाद्यान्न का उत्पादन लगभग ज्यों-का-त्यों रह गया। योजना आयोग की राय में भी हमारी खाद्य-समस्या का मुख्य कारण जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि ही है। आयोग के शब्दों में हमारी खाद्य-समस्या का प्रमुख कारण खाद्यान्न की मांग तथा पूर्ति का तत्कालीन असंतुलन नहीं, बरन् देश में खाद्यान्न की तुलना में जनसंख्या की निरन्तर अत्यधिक वृद्धि है। 1951 ई० की जनगणना के निवरण के अनुसार 1961 ई० तक हमारी जनसंख्या बढ़कर 43 करोड़, 1971 तक 46 करोड़ तथा 1981 ई० तक 52 करोड़ हो जाने की थी। इसके फलस्वरूप उपभोग के वर्तमान स्तर पर खाद्यान्न के उत्पादन को 1951 ई० में 540 लाख टन से बढ़ाकर 1961 ई० में 850 लाख टन, 1971 ई० में 960 लाख टन तथा 1981 ई० में 1080 लाख टन करने की आवश्यकता होगी, यानी खाद्यान्न के उत्पादन में क्रमशः 21 प्रतिशत, 37 प्रतिशत तथा 54 प्रतिशत वृद्धि की आवश्यकता होगी। परन्तु ये अनुमान मिथ्या सिद्ध हो गये तथा देश की जनसंख्या 1961 ई० में 41 करोड़ के बजाय 43.9 करोड़ तथा 1971 में 54.8 करोड़ हो गयी। अतएव खाद्यान्नों की आवश्यकता और भी अधिक बढ़ गयी। क्या देश में

इस गति से खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि की आशा की जा सकती है? यदि नहीं तो इसे किस प्रकार से पूरा किया जा सकता है? अतः जब तक भारत में जनसंख्या की वृद्धि को रोकने का प्रयास नहीं, किया जायगा तब तक हमारी खाद्य-समस्या का कोई स्थायी समाधान सम्भव नहीं है।

### सरकार की खाद्य-नीति

(Food Policy of the Government)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व की खाद्य-नीति (Food Policy before the Independence)।—द्वितीय महायुद्ध तथा बंगाल के भीषण अकाल के फलस्वरूप देश की खाद्य-समस्या की ओर सर्वप्रथम सरकार का ध्यान आकर्षित हुआ तथा इस स्थिति को सुधारने के लिए भारत सरकार ने दिसम्बर, 1942 ई० में एक खाद्य-विभाग (Food Department) की स्थापना की। पुनः जुलाई, 1943 ई० में भारत सरकार द्वारा एक खाद्यान्न-नीति समिति (Food Grain Policy Committee) की नियुक्ति की गयी जिसने इस सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये। खाद्यान्न नीति समिति के सुझावों के आधार पर ही देश में 1943 ई० से 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' (Grow More Food Campaign) का श्रीगणेश हुआ। इस आन्दोलन के अन्तर्गत खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाने के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम अपनाये गये—

(क) कृषि-योग्य भूमि के क्षेत्रफल में वृद्धि—बंजर तथा बेकार भूमि के पुनरुद्धार (Reclamation of waste lands) के द्वारा कृषि-योग्य भूमि के विस्तार का एक विस्तृत कार्यक्रम तैयार किया जाय। साथ ही, खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि के लिए वर्ष में एक से अधिक फसल उपजाने तथा अखाद्य फसलों के स्थान पर खाद्य-फसलों की खेती को बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। (ख) सिंचाई की सुविधाओं में विस्तार—कुएँ, तालाब तथा नल-कूपों के द्वारा सिंचाई के साधनों में वृद्धि का कार्यक्रम अपनाया गया। 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अन्तर्गत सिंचाई की लघु एवं मध्यम दर्जे की योजनाओं पर ही विशेष ध्यान दिया गया। (ग) खाद के उपयोग में वृद्धि—'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अन्तर्गत भी खाद के प्रयोग पर विशेष जोर दिया गया। इसके अन्तर्गत रासायनिक खादों के वितरण की भी विशेष व्यवस्था का गयी। (घ) उत्तम बीज की व्यवस्था—किसानों को उत्तम बीज प्रदान करने की व्यवस्था भी इस आन्दोलन के अन्तर्गत की गयी।

'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अन्तर्गत विभिन्न योजनाओं को कार्यान्वित करने का सारा भार राज्य सरकारों को सौंप दिया, गया लेकिन इन पर व्यय की जानेवाली रकम का आधा भाग केन्द्रीय सरकार द्वारा प्राप्त होता था। किन्तु 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन



कें अन्तर्गत खाद्य-समस्या के समाधान के लिए किये जाने वाले विभिन्न प्रयत्नों से कोई निश्चित लाभ नहीं हुआ। किन्तु देश में खाद्यान्न की समस्या के समाधान में 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन मुख्यतः विफल ही रहा तथा इसका इच्छित परिणाम नहीं हासिल हो सका। वास्तव में, इस आन्दोलन से देश में राष्ट्र-व्यापी उत्साह का संचार नहीं हो सका। परिणामस्वरूप यह आन्दोलन ग्रामीण-जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए एक व्यापक आन्दोलन का रूप नहीं ले सका।

1943 ई० के बंगाल के अकाल के बाद सरकार द्वारा खाद्यान्नों के राशनिंग एवं नियन्त्रण (Rationing and Control) की नीति को अपनाया गया। इसके अन्तर्गत सरकार द्वारा खाद्यान्नों के मूल्य एवं वितरण पर नियन्त्रण, गाँवों से अन्न की अनिवार्य वसूली आदि की नीति अपनायी गयी। इस कार्यक्रमों के अन्तर्गत अगस्त, 1947 में 1.45 करोड़ जनसंख्या को राशनिंग की सुविधा उपलब्ध थी।

### स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश की खाद्य-नीति (Food Policy after the Independence)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार द्वारा समस्या के समाधान पर विशेष रूप से जोर दिया जाने लगा। 1947 ई० में भारत की राष्ट्रीय सरकार ने महात्मा गाँधी के सुझावों के आधार पर खाद्यान्न पर से वियन्त्रण हटा लिया। किन्तु, इसका परिणाम बहुत ही बुरा सिद्ध हुआ, अतएव शीघ्र ही पुनः नियन्त्रण की नीति अपनायी पड़ी। देश की खाद्य-स्थिति पर विचार करने के लिए भारत सरकार द्वारा 1947 ई० में दूसरी खाद्यान्न नीति समिति (Food Grain Policy Committee) की नियुक्ति की गयी। 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के सम्बन्ध में इस समिति का कहना था कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिन उपायों द्वारा खाद्यान्न समस्या को हल करने का प्रयत्न किया जा रहा था, वे उत्तम थे, लेकिन उन्हें कार्यान्वित करने की पद्धति संतोषजनक नहीं थी। खाद्यान्न नीति समिति ने इस सम्बन्ध में बहुत-से सुझाव दिये जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :—  
(क) खाद्यान्नों के आयात पर सरकार का एकाधिपत्य होना चाहिए। भारत सरकार को केन्द्र में 10 लाख टन चावल तथा गेहूँ को एक सुरक्षित कोष में रखना चाहिए। (ख) कृषि-योग्य बेकार भूमि के पुनरुद्धार के लिए समिति ने यह सुझाव दिया कि एक केन्द्रीय भूमि उद्धार परिषद् (Central Land Reclamation Organisation) की स्थापना की जाय जिसकी पूँजी 50 करोड़ रु० की होगी जो सरकार द्वारा प्रदान की जायगी। (ग) राज्य सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार की कृषि-सम्बन्धी नीति में संतुलन स्थापित करने के लिए समिति ने केन्द्र तथा

राज्यों में विशेष परिषदें बनाने का सुझाव दिया। (घ) समिति ने खाद्यान्न-उत्पादन की एक पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने का भी अनुरोध किया।

पंचवर्षीय खाद्य-योजना (1947-48 ई० से 1951-52 ई० तक) :—इस समिति की सिफारिशों के आधार पर 1947 ई० से खाद्यान्न की एक विस्तृत पंचवर्षीय योजना कार्यान्वित की गयी। इस योजना के अनुसार सरकार ने यह घोषित किया कि 31 मार्च, 1952 ई० तक भारत खाद्यान्न के सम्बन्ध में आत्मनिर्भर हो जायगा तथा इसके बाद अन्न के आयात की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी। इस योजना के अन्तर्गत पाँच वर्षों में खाद्यान्न के वार्षिक उत्पादन में लगभग 30 लाख टन की वृद्धि का आयोजन था। इसके लिए कुएँ, तालाब, तथा नलकूप बँठाने की व्यवस्था की गयी और उत्तम बीज एवं खादों के वितरण की भी व्यवस्था की गयी। साथ ही, 62 लाख एकड़ बंजर भूमि को कृषि-योग्य बनाने का एक कार्यक्रम अपनाया गया। इस योजना का कुल व्यय 288 करोड़ रुपये रखा गया। लेकिन, 1950-51 ई० में खराब मौसम के कारण इस योजना के सारे अनुमान विफल हो गये तथा इसके इच्छित परिणाम नहीं हासिल हो सके। इस प्रकार प्राकृतिक सहयोग के अभाव तथा त्रुटियों के कारण पंचवर्षीय खाद्य-योजना के उद्देश्य पूरे नहीं हो सके।

मूल्य-नियन्त्रण तथा राशनिंग (Price control and Rationing) :—अन्न के अभाव एवं मूल्य में अत्यधिक वृद्धि के कारण सरकार द्वारा 1943 ई० में खाद्यान्न के मूल्य पर नियन्त्रण तथा राशनिंग की व्यवस्था की गयी। पहले अधिक जनसंख्या वाले नगरों में ही यह व्यवस्था की गयी थी। सरकार द्वारा अन्न का एक अधिकतम मूल्य निश्चित कर दिया जाता था। लेकिन इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप अन्न छुपाने की प्रवृत्ति बढ़ गयी जिससे उपभोक्ताओं को बाध्य होकर चोर-बाजारी की शरण लेनी पड़ी तथा अधिक मूल्य देकर अन्न खरीदना पड़ा। अतः, 1947 ई० में महात्मा गाँधी के सुझावों के अनुसार अन्न पर नियन्त्रण हटा लिया गया, लेकिन इसके फलस्वरूप अन्न के मूल्य में लगभग 50 प्रतिशत की वृद्धि हो गयी। अतः 1948 ई० में पुनः मूल्य-नियन्त्रण की नीति अपनायी गयी। परन्तु 1956 में पर्याप्त मात्रा में उत्पादन होने के कारण खाद्य-संकट की स्थिति में बहुत अधिक सुधार हुआ जिससे नियन्त्रण धीरे-धीरे कम किया जाने लगा तथा 1954 ई० तक प्रायः सभी स्थानों में खाद्यान्न पर से नियन्त्रण हटा लिया गया। किन्तु पुनः 1966 ई० में खाद्यान्न के अभाव के कारण देश के एक बड़े भाग में राशनिंग तथा मूल्य-नियन्त्रण की व्यवस्था की गयी।



**खाद्यान्नों का आयात (Import of foodgrains) :-** खाद्यान्नों के अभाव को दूर करने के लिए प्रतिवर्ष भारत सरकार को अन्न का आयात करना पड़ता है। भारत सरकार प्रतिवर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, अर्जेन्टाइना एवं रूस से गेहूँ तथा बर्मा, श्याम आदि देशों से चावल का आयात करती है। इसके लिए आर्थिक विकास की अन्य योजनाओं को स्थगित कर करोड़ों रुपये विदेशी विनिमय के रूप में खर्च करने पड़ते हैं। बंगाल अकाल आयोग के अनुसार 1941-42 ई० के पूर्व के पाँच वर्षों में अन्न का औसत वार्षिक आयात 10 लाख टन था। आयात की यह मात्रा प्रतिवर्ष बढ़ती ही गयी। 1949 ई० में 37 लाख टन, 1951 ई० में 47 लाख टन तथा 1952 ई० में 38.6 लाख टन खाद्यान्न का आयात करना पड़ा। इसके बाद 1953-54 ई० में अच्छी उपज के कारण आयात की मात्रा में बहुत कमी हो गयी। किन्तु पुनः द्वितीय योजना के आरम्भ में खाद्य-समस्या ने गम्भीर रूप धारण कर लिया जिससे 1959 ई० में 18 लाख टन तथा 1960 ई० में प्रायः 45 लाख टन खाद्यान्न का आयात करना पड़ा। तृतीय योजना काल में खाद्यान्न के उत्पादन में कमी से इसके आयात में और अधिक वृद्धि हो गयी। 1963 ई० में कुल 45.6 लाख टन, 1964 ई० में 62.7 लाख टन, 1965 ई० में 74.6 लाख टन तथा 1966 ई० में 104 लाख टन खाद्यान्न का आयात करना पड़ा था। इतना ही नहीं, आयात किये हुए खाद्यान्न का मूल्य प्रायः अधिक होता है। इस दर से बेचने पर देश के मूल्य-स्तर में और वृद्धि होने की सम्भावना हो जाती है। अतः सरकार इस अन्न को कम ही मूल्य पर बेचती है। ऐसा करने में सरकार को प्रतिवर्ष बहुत अधिक मात्रा में व्यय करना पड़ता है।

किन्तु हरी क्रांति (Green Revolution) के परिणामस्वरूप 1967-68, 1968-69 तथा 1969-70 में खाद्यान्नों के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि के परिणामस्वरूप भारत सरकार ने 1972-73 ई० में खाद्यान्न के आयात को बन्द कर दिया। किन्तु 1973 में देश के एक बड़े भाग में सूखा पड़ने के कारण सरकार को पुनः खाद्यान्न का आयात करने के लिए विवश होना पड़ा।

1966 ई० में पुनः भारत सरकार ने एक Foodgrains Policy Committee की नियुक्ति की जिसने देश की खाद्य-समस्या पर विचार किया। समिति के अनुसार खाद्यान्नों के आयात पर निर्भरता देश के लिए उचित नहीं करार की जा सकती, अतः इसने एक National Food Budget के निर्माण तथा इसे लागू करने पर जोर दिया। इस प्रकार के बजट में निम्नांकित बातों पर जोर देने की व्यवस्था थी—(क) खाद्यान्न की पूर्ति को बनाये रखने के लिए खाद्यान्न की वसूली, (ख) खाद्यान्न के अन्तरराष्ट्रिय गमनागमन पर प्रतिबन्ध, (ग) वितरण की

राजकीय व्यवस्था, तथा (घ) कठिनाई के समय के लिए बफर स्टॉक का निर्माण।

**भारत सरकार की वर्तमान खाद्य-नीति :-** भारत सरकार की वर्तमान खाद्य-नीति में निम्नांकित बातें उल्लेखनीय हैं :-

- (1) खाद्य-क्षेत्रों (Food zones) का निर्माण;
- (2) "बफर स्टॉक" का निर्माण;
- (3) भारतीय खाद्यान्न निगम (Food Corporation of India) की स्थापना;
- (4) अनाज के उत्पादन-मूल्य एवं उपभोक्ता-मूल्य को निर्धारित करना;
- (5) उचित मूल्यों पर माल बेचने की दूकानें खालना;
- (6) रिजर्व बैंक द्वारा खाद्यान्नों के संग्रह एवं सट्टा रोकने के लिए साख-नियन्त्रण; तथा
- (7) खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाने के लिए गहन कृषि जिला कार्यक्रम एवं सहकारी संयुक्त कृषि कार्यक्रम आदि।

(1) **खाद्य-क्षेत्रों का निर्माण (Food zones) :-** खाद्यान्नों की बढ़ती हुई कीमतों को रोकने के लिए सरकार द्वारा गेहूँ एवं चावल जैसे प्रमुख खाद्यान्नों के लिए देश में कई क्षेत्र बनाये गये हैं। इन क्षेत्रों की संख्या में कभी कभी कर दी जाती है तो कभी वृद्धि। उदाहरण के लिए 1964 ई० में सम्पूर्ण देश को 8 खाद्य-क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया था। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गेहूँ का आना-जाना भारत सरकार की अनुमति के बगैर नहीं किया जा सकता है। एक क्षेत्र के अन्तर्गत घाटे एवं आधिक्य के प्रदेश दोनों होते हैं। जैसे चावल के लिए पूर्वी क्षेत्र में पश्चिमी बंगाल घाटे का प्रदेश है और उड़ीसा चावल के लिए आधिक्य का प्रदेश है। एक क्षेत्र के विविध भागों में भी उस विशेष अनाज का आना-जाना स्वतन्त्र रहता है, लेकिन गल्ले की अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता (interzonal movement of foodgrains) पर प्रतिबन्ध रहता है। इस प्रकार गेहूँ एवं चावल के क्षेत्र बनाकर सरकार ने गल्ले के मूल्य पर नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इन उद्देश्यों से एक-राज्यीय क्षेत्र (Single-state zone) की नीति अपनायी गयी है। खाद्यान्नों के क्षेत्रों को निर्धारित करने से अभाव के क्षेत्र में अनाज के बहुत ऊँचे मूल्य एवं आधिक्य के क्षेत्र में नीचे मूल्य पाये जाते हैं।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने खाद्यान्नों की क्षेत्रीय नीति को समाप्त करने का जोरदार शब्दों में समर्थन किया। इसकी सबसे बड़ी आलोचना यह है कि खाद्य-क्षेत्रों के परिणामस्वरूप एक राष्ट्रीय खाद्यान्न-नीति को कार्यान्वित करने में कठिनाई हो रही है। इसके परिणामस्वरूप सर-



कार ने 1970 ई० में गेहूँ के क्षेत्र को समाप्त करने की घोषणा की।

(2) बफर स्टॉक का निर्माण करना (Creation of Buffer Stock):—बफर स्टॉक (Buffer Stock) का निर्माण सरकार की खाद्य-नीति का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। बफर स्टॉक का अभिप्राय यह है कि सरकार हर समय अपने पास खाद्यान्नों का कुछ कोष बनाये रखना चाहती है जो खाद्यान्नों के अभाव अथवा बढ़ती हुई कीमतों के समय प्रयुक्त किया जा सकता है। बफर स्टॉक का निर्माण सरकार के द्वारा आन्तरिक खरीद तथा वसूली से एवं विदेशों से अनाज का आयात करके किया जाता है। इस सम्बन्ध में सरकार का उद्देश्य एक ऐसी मूल्य-नीति को अपनाना है जिसमें उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं दोनों के हितों का उचित तरीके से समन्वय किया जा सके। उत्पादकों के हितों की रक्षा के लिए सरकार को कृषि-उपज के न्यूनतम मूल्य निर्धारित करने पड़ते हैं और उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए अधिकतम मूल्य निर्धारित करने पड़ते हैं। इन न्यूनतम एवं अधिकतम मूल्यों के आधार पर बफर स्टॉक की क्रियाएँ संचालित की जाती हैं। यदि बाजार में अनाज की कीमत निर्धारित की गयी न्यूनतम कीमतों से नीचे आने लगती है तो सरकार निर्धारित भाव पर अनाज खरीदने लगती है। इससे बफर स्टॉक में अनाज की मात्रा बढ़ जाती है। इसके विपरीत जब सरकार यह देखती है कि कुछ क्षेत्रों में अनाज की कमी है और भाव तेजी से बढ़ रहे हैं तो वह बफर स्टॉक में से अनाज बेचने लगती है जिससे उपभोक्ताओं को उचित मूल्यों पर अनाज मिल पाता है।

भारत सरकार ने 1973-74 तक 70 लाख टन खाद्यान्न के बफर स्टॉक के निर्माण का निर्णय किया जाने को था, किन्तु 1971 के अन्त में ही बफर स्टॉक में 79 लाख टन जमा हो गया।

(3) भारतीय खाद्य-निगम (Food Corporation of India):—खाद्यान्नों के राजकीय व्यापार के लिए संसद् के एक अधिनियम द्वारा 1 जनवरी, 1965 को Food Corporation of India नामक एक संस्था की स्थापना की गयी। इसकी पूँजी 100 करोड़ रुपये है जो सरकार द्वारा प्रदान की गयी है। खाद्य-निगम अनाज की खरीद, संग्रह, परिवहन, लाने-ले जाने, वितरण-बिक्री का कार्य करेगा। वह अनाज में व्यापार के क्षेत्र में प्रमुख स्थान प्राप्त करना चाहता है। यह निर्धारित भावों पर अनाज की खरीद करेगा और अनाज का बफर स्टॉक बनायेगा। निगम ने अबतक प्रायः सभी राज्यों में अपने कार्यालय स्थापित कर लिये हैं। 1970-71 में निगम ने लगभग 1413 करोड़ रुपये के अन्न का क्रय-विक्रय किया था। निगम के पास 78 लाख टन संचय के लिए गोदाम उपलब्ध हैं।

(4) खाद्यान्न के न्यूनतम एवं अधिकतम मूल्यों का निर्धारण:—बफर स्टॉक नीति को लागू करने के लिए गेहूँ, चावल एवं ज्वार जैसे प्रमुख अन्नों के न्यूनतम मूल्य निर्धारित किये जाते हैं। यदि कृषक को अपनी उचित कीमत नहीं मिल पाती है तो वह दूसरी फसलों को बोने लगता है। इसलिए उसे न्यूनतम कीमत की गारण्टी मिलनी ही चाहिए जिससे वह फसलों में अनुचित परिवर्तन न करे।

इस उद्देश्य से सरकार ने एक Agricultural Prices Commission की नियुक्ति की है जो कृषि-पदार्थों के मूल्यों के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देता है।

(5) उचित मूल्यों की दूकान (Fair price Shops):—देश के विभिन्न भागों में उचित मूल्यों की दूकानें खोली गयी हैं जिनके द्वारा अनाज का वितरण किया जाता है। इन दूकानों पर सरकारी गल्ले की व्यवस्था रहती है। गरीब वर्ग के लोगों को इनसे विशेष लाभ हुआ है। 1971 ई० के अन्त में 1.21 लाख उचित मूल्यों की दूकानें थीं।

(6) रिजर्व बैंक ने साख-नियन्त्रण के गुणात्मक उपायों (Selective measures of credit control) को अपना कर समय-समय पर विभिन्न कृषि-पदार्थों के आधार पर मिलनेवाली साख की मात्रा को नियन्त्रित करने की चेष्टा की है। इससे अनाज के संग्रह करने पर रोक लगती है और साथ ही अनावश्यक सट्टेबाजी भी रुकती है। गेहूँ एवं चावल के आधार पर नियन्त्रित साख प्रदान करने के लिए समय-समय पर रिजर्व बैंक अन्य बैंकों को हिदायतें भी देता है।

(7) खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाने के लिए सरकार द्वारा गहन जिला कृषि विकास कार्यक्रम (Intensive Agricultural District Programme) को अपनाया गया है जिसके अन्तर्गत चुने हुए जिलों में कृषि-विकास के लिए प्रयत्न किये जाते हैं। साथ ही, सरकार द्वारा सहकारी संयुक्त-कृषि (Co-operative joint Farming) की स्थापना को भी प्रोत्साहित किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त भूमि-व्यवस्था में भी इसी प्रकार के सुधार किये जा रहे हैं जिससे खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि हो।

खाद्य समस्या के समाधान के लिए सुझाव  
(Some Suggestions for Solving the Food Problem)

उपरोक्त अनुभवों के आधार पर देश की खाद्य-समस्या के निराकरण के लिए विभिन्न सुझाव दिये जा सकते हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए इन सुझावों को निम्नांकित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:—



(क) खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि (Measures to Increase food Production);

(ख) वितरण में सुधार (Changes in the system of Distribution); तथा

(ग) खाद्यान्नों के मूल्य का स्थायित्व (Stabilisation of Foodgrain prices)।

(क) खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि (Increase in Production of Foodgrains) :—खाद्य-समस्या के समाधान के लिए खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि अनिवार्य है और खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि के लिए निम्नांकित तरीकों को अपनाना अनिवार्य है :

(1) वैज्ञानिक तरीकों के प्रयोग के द्वारा कृषि की उपज में वृद्धि :—भारतीय कृषि की प्रति एकड़ उपज में वैज्ञानिक तरीकों के प्रयोग द्वारा वृद्धि की जा सकती है। श्री वर्न्स<sup>1</sup> के अनुसार भारतीय कृषि की उपज में सामान्यतः 20 से 30 प्रतिशत तक की वृद्धि की जा सकती है; 20 प्रतिशत उचित खाद के प्रयोग द्वारा, 5 प्रतिशत उन्नत बीजों के प्रयोग द्वारा तथा 5 प्रतिशत कीड़े-मकोड़े से फसलों की रक्षा के द्वारा। चावल एवं गेहूँ की उपज में तो यह सम्भावना क्रमशः 50 तथा 100 प्रतिशत तक की है। जापानी पद्धति से धान तथा मेक्सिको पद्धति से गेहूँ की खेती द्वारा भी प्रति एकड़ उपज में संतोषजनक वृद्धि हुई है जिससे यह सम्भावना सत्य ही जान पड़ती है।

(2) भूमि-व्यवस्था में सुधार :—भारत की वर्तमान भूमि-व्यवस्था के अन्तर्गत कृषि-कार्य में लगे हुए अधिकांश व्यक्ति भूमिहीन मजदूर हैं जिनमें कृषि में सुधार के लिए उत्साह का अभाव पाया जाता है। साथ ही, हमारे यहाँ जोतें इतनी छोटी-छोटी टुकड़ों में विभाजित हैं कि उनमें सफलतापूर्वक कृषि-कार्य भी सम्पन्न नहीं हो सकता। सहकारी कृषि-व्यवस्था के द्वारा इनके आकार में वृद्धि आवश्यक है जिससे वैज्ञानिक ढंग पर कृषि-कार्य सम्भव हो सके।

(3) कृषि-क्षेत्र का विस्तार :—देश में खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि का एक तरीका कृषि की ज़रनेवाली भूमि के क्षेत्र में विस्तार भी है। इसके लिए बंजर तथा बेकार भूमि के पुनरुद्धार द्वारा इन्हें कृषि-योग्य बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। भूमि के उपयोग-सम्बन्धी उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार देश में 600 लाख एकड़ कृषि-योग्य

भूमि बेकार है जिसका उद्धार कर कृषि-योग्य बनाया जा सकता है। ऐसी भूमि के आबाद होने से देश की खाद्य-समस्या का बहुत कुछ समाधान किया जा सकता है। परन्तु पुनरुद्धार के साथ-साथ इनमें कृषि के लिए अन्य सुविधाओं जैसे सिंचाई, खाद, बीज तथा यातायात वगैरह की भी व्यवस्था करनी होगी।

(4) संस्थागत परिवर्तन (Institutional Changes) :—खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि आवश्यक संस्थागत परिवर्तनों के द्वारा भी की जाती है। इनमें भूमि-सुधार अत्यधिक महत्वपूर्ण है। ऐसा कहा जाता है कि वर्तमान भूमि-प्रणाली इस प्रकार की है कि इससे खाद्यान्न के उत्पादन के लिए आवश्यक प्रोत्साहन नहीं मिलता। संस्थागत परिवर्तनों के द्वारा खाद्यान्नों के उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि की जा सकती है। यद्यपि कुछ विचारकों जैसे प्रो० लीविस (Lewis) ने कृषि-उत्पादन में वृद्धि के सिलसिले में भूमि-सुधार के महत्व को अस्वीकार किया है तथापि यह कहा जा सकता है कि भूमि की चकबन्दी तथा जोतों की अधिकतम सीमा के निर्धारण से इस क्षेत्र में अत्यधिक सहायता मिलेगी।<sup>2</sup>

(ख) खाद्यान्न-वितरण की व्यवस्था में सुधार (Changes in the distribution of foodgrains) :—खाद्य-समस्या के समाधान के लिए खाद्यान्नों के वितरण की व्यवस्था में सुधार भी अनिवार्य है। पिछले कुछ वर्षों से सरकार ने इस सम्बन्ध में विभिन्न उपायों को अपनाया है। किन्तु इन उपायों की सफलता खाद्य-प्रशासन की कुशलता पर निर्भर करती है। वास्तव में, खाद्य-समस्या के निराकरण के लिए देश की खाद्य-प्रशासन व्यवस्था के दोषों को दूर करना भी आवश्यक है। भारत में खाद्य-समस्या की जटिलता का एक प्रमुख कारण खाद्य-प्रशासन के कर्मचारियों की अकुशलता तथा बेईमानी एवं दोषयुक्त खाद्य-व्यवस्था है। अतः इसमें सुधार लाना अनिवार्य है। जब तक देश की खाद्य-व्यवस्था में आवश्यक सुधार नहीं लाया जायगा तब तक खाद्यान्न के उत्पादन की कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती। इनके साथ ही खाद्य-प्रशासन का उद्देश्य प्रचार एवं पुरस्कार द्वारा किसानों को अधिक अन्न उपजाने के लिए प्रोत्साहित करना होना चाहिए। अप्रैल, 1973 ई० में भारत सरकार ने गेहूँ के थोक व्यापार को अपने हाथ में ले लिया था।

1. Burns : Technical Possibilities of Agricultural Development in India.

2. "The secret of rapid agricultural progress in the under-developed countries is to be found much more in agricultural extension or in fertilizers, in new seeds, in pesticides and in water supplies rather than in altering the size of the farm, introducing machinery or in getting rid of middlemen in the marketing process." *Theory of Economic Growth*, W. A. Lewis p. 136.



## भारत की खाद्य-समस्या

(ग) खाद्यान्नों के मूल्य का स्थायित्व (Measures to stabilize foodgrain prices) —वर्तमान समय में किसानों को अधिक अन्न उपजाने लिए प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से सरकार प्रतिवर्ष के प्रारम्भ में ही महत्वपूर्ण खाद्यान्नों के लिए न्यूनतम मूल्य घोषित करती है। यदि बाजार में किसी अन्न की कीमत इस प्रकार के घोषित मूल्य से नीचे आ जाय तो सरकार उक्त मूल्य में इसे खरीदने के लिए तैयार रहती है। सरकार की खाद्यान्न नीति का प्रधान उद्देश्य खाद्यान्नों के मूल्य का स्थायित्व है। इस उद्देश्य से सरकार द्वारा विदेशों में आवश्यकता-नुसार खाद्यान्न का आयात भी किया जाता है एवं उचित मूल्य की दुकानों (Fair Price Shops) द्वारा खाद्यान्नों के वितरण की व्यवस्था भी की जाती है, इत्यादि। भारत सरकार ने गेहूँ तथा चावल के थोक व्यापार को अपने हाथ में ले लिया है जिसके अनुसार इन फसलों की कीमत प्रारम्भ में ही निश्चित की जाती है जिस पर खाद्यान्न निगम अतिरिक्त धनाज खरीदता है। सरकार ने मूल्य-निर्धारण के लिए एक "Agricultural Prices Commission" की नियुक्ति भी की है जो सरकार से मूल्य के सम्बन्ध में सिफारिश करता है।

(घ) अन्य उपज (Other measures) :—उपरोक्त उपायों के साथ-साथ खाद्य-समस्या के समाधान के लिए निम्नांकित उपाय भी अपनाये जा सकते हैं:—

(1) जनसंख्या का नियोजन (Population Planning) :—भारत की खाद्य-समस्या के समाधान के लिए जनसंख्या का नियन्त्रण अति आवश्यक है। 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही हमारे देश की जनसंख्या तथा खाद्यान्न के उत्पादन में असंतुलन बढ़ते जा रहा है। इस देश की जनसंख्या में प्रायः प्रतिवर्ष 1 करोड़ से भी अधिक की वृद्धि होती है जिससे खाद्य-समस्या का कोई स्थायी हल कभी न मिल सकता। "कम बच्चे का उत्पादन करो" आन्दोलन के बगैर इस स्थिति में किसी प्रकार से भी अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन सफल नहीं हो सकता। (Grow More Food Campaign cannot be successful without Grow Less Children Campaign.) अतः जनसंख्या के नियोजन को किसी भी खाद्य-योजना का एक आवश्यक अंग समझना चाहिए। इसके लिए देश में परिवार नियोजन का अधिकाधिक प्रचार अनिवार्य है।

(2) गाय, भैंस तथा मुर्गी आदि की संख्या में वृद्धि :—हमारे भोजन में जो पोषक तत्वों का अभाव है, उसे गाय, भैंस तथा मुर्गी आदि को अधिक संख्या में पाल कर भी दूर किया जा सकता है। ऐसा करने से दूध, घी तथा अण्डे के उत्पादन में वृद्धि होगी। साथ ही, देश के

नागरिकों को अधिक मात्रा में दूध, घी तथा अण्डों के प्रयोग के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

(3) भोजन की वर्तमान आदतों में परिवर्तन :—उपरोक्त सभी उपायों के साथ-साथ भोजन की वर्तमान आदतों में परिवर्तन भी आवश्यक है। अभी तक हमारे देश के भोज्य-पदार्थों में अन्न की ही प्रधानता रही है। लेकिन, अन्न की प्रधानता को साग-सब्जी के अधिक प्रयोग द्वारा कम करना चाहिए। योजना आयोग ने भी इसी आशय का सुझाव दिया है। इस सम्बन्ध में आयोग ने चावल के बदले गेहूँ के उपयोग को बढ़ाने पर जोर दिया है। भारत के भोज्य-पदार्थों में चावल का प्रमुख स्थान है। किन्तु चावल का सम्पूर्ण उत्पादन हमारी आवश्यकताओं से प्रायः 2 या तीन प्रतिशत कम होता है। इससे चावल के आयात करने का व्यय भी अन्नों की अपेक्षा अधिक पड़ता है। अतः चावल के बदले गेहूँ के उपयोग में वृद्धि की प्रबल आवश्यकता है। इसके साथ ही भोजन में फल, साग-सब्जी, मछली आदि के अधिकाधिक प्रयोग द्वारा अन्न की मात्रा को कम किया जा सकता है।

इस प्रकार भारत की खाद्य-समस्या के समाधान के लिए उपरोक्त सारे उपायों को काम में लाने की प्रबल आवश्यकता है। इनके द्वारा हम देश की इस जटिल समस्या का समाधान कर सकते हैं।

## पंचवर्षीय योजनाएँ एवं खाद्य-नीति (Food Policy under Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में खाद्य-नीति (Food Policy in the First Five Year Plan) :—प्रथम पंचवर्षीय योजना खाद्यान्न के अभाव की पृष्ठ-भूमि में तैयार की गयी थी; अतः योजना में खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाने पर पूरा-पूरा जोर दिया गया था। योजना आयोग ने इस सम्बन्ध में "सभी के लिए भोजन" (Food for All) को अपनी नीति का मुख्य आधार माना था। प्रथम योजना के अन्तर्गत खाद्य-नीति में निम्नलिखित बातों पर विशेष जोर दिया गया था :—

(क) खाद्यान्नों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि :—योजनाकाल में खाद्यान्नों के उत्पादन में कुल 76 लाख टन वृद्धि का आयोजन था। 1949-50 ई० में हमारे यहाँ खाद्यान्न का कुल उत्पादन 540 लाख टन था जिसको बढ़ाकर 1955-56 ई० तक 616 लाख टन, यात्री खाद्यान्नों के उत्पादन में 14 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था। किन्तु प्रथम योजनाकाल में खाद्यान्नों के उत्पादन में लक्ष्य से भी अधिक वृद्धि हुई जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

1. जनसंख्या के नियोजन के विभिन्न तरीकों का विस्तारपूर्वक विवेचन 'जनसंख्या-सम्बन्धी नीति' वाले अध्याय में किया गया है।



| वर्ष    | कुल उत्पादन | वृद्धि या कमी |
|---------|-------------|---------------|
| 1949-50 | 540 लाख टन  | .....         |
| 1951-52 | 512 " "     | —28 लाख टन    |
| 1952-53 | 583 " "     | +43 " "       |
| 1953-54 | 687 " "     | +147 " "      |
| 1954-55 | 676 " "     | +136 " "      |
| 1955-56 | 669 " "     | +129 " "      |

(क) खाद्यान्न के वितरण की उचित व्यवस्था :—देश की वर्तमान स्थिति में किसी खाद्य-योजना की सफलता बहुत कुछ खाद्य-वितरण की समुचित व्यवस्था पर निर्भर करती है। अतः मूल्य-नियन्त्रण, अन्न-प्राप्ति, तथा राशनिंग की व्यवस्था के सम्बन्ध में सरकार को जागरूक रहना होगा। खाद्यान्नों के मूल्य में स्थिरता लाने के लिए सरकार को समय-समय पर इनका अधिकतम तथा न्यूनतम मूल्य-निर्धारित करना होगा। नियन्त्रण की इसी नीति की सफलता इसकी स्पष्टता, कर्मचारियों की कुशलता तथा जनता के सहयोग पर आश्रित है।

(ख) खाद्यान्न के आयात को यथासम्भव कम करना :—खाद्यान्नों के आयात में सरकार को प्रतिवर्ष अरबों रुपये का विदेशी विनियम खर्च करना पड़ता है जिससे देश के आर्थिक विकास की अन्य योजनाएँ स्थागित करनी पड़ती हैं। अतः योजना आयोग ने खाद्यान्नों के आयात को यथासम्भव कम करने की नीति को अपनाने पर जोर दिया था।

इस प्रकार प्रथम योजना में खाद्यान्नों के उत्पादन में आयोजित लक्ष्य से भी अधिक वृद्धि हुई जिससे खाद्यान्नों के आयात में बहुत कमी हुई परिणामस्वरूप योजना के अन्त में खाद्य-समस्या की तरह कोई चीज नहीं जान पड़ती थी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में खाद्य-नीति (Food Policy in the Second Five Year Plan) :—द्वितीय योजना में कृषि पर अपेक्षाकृत कम जोर दिया गया था। प्रारम्भ में द्वितीय योजनाकाल में 100 लाख टन अतिरिक्त खाद्यान्न उपजाने का लक्ष्य रखा गया था। किन्तु आगे चलकर योजना के कृषि-सम्बन्धी लक्ष्यों में संशोधन किया गया जिसके अनुसार खाद्यान्नों के अतिरिक्त उत्पादन को 155 लाख टन कर दिया गया, यानी द्वितीय योजनाकाल में खाद्यान्नों के उत्पादन में कुल 23.8 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था। द्वितीय योजना का यह लक्ष्य भी पूर्ण रूप से पूरा हो गया जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

| वर्ष             | उत्पादन    | वृद्धि या कमी |
|------------------|------------|---------------|
| 1955-56 (क्षमता) | 650 लाख टन | .....         |
| 1956-57          | 687 " "    | +37 लाख टन    |
| 1957-58          | 625 " "    | —25 " "       |
| 1958-59          | 755 " "    | +105 " "      |
| 1959-60          | 718 " "    | +68 " "       |
| 1960-61          | 820 " "    | +170 " "      |

द्वितीय योजना में खाद्यान्नों के मूल्य में वृद्धि :—प्रथम योजना में खाद्यान्नों के उत्पादन में आशाजनक वृद्धि हुई थी जिसके फलस्वरूप बढ़ती हुई जनसंख्या को खिलाने की समस्या भी प्रायः हल हो गई। अतः द्वितीय योजना के प्रारम्भ में सर्वत्र एक प्रकार का आशावाद वर्तमान था। 1956-57 ई० में उत्पादन भी 687 लाख टन हो गया। किन्तु 1957-58 ई० में खाद्यान्न का उत्पादन घटकर 625 लाख टन ही हुआ। अतएव 1957 ई० के प्रारम्भ से ही विभिन्न राज्यों से खाद्यान्नों के अभाव के सम्बन्ध में शिकायतें आने लगीं। अप्रैल-मई तक तो सारा देश मानों खाद्य-संकट से परिपूर्ण हो गया। खाद्यान्नों के मूल्य में बहुत अधिक वृद्धि हुई तथा खाद्यान्नों के मूल्य का निर्देशांक. (1952-53 = 100) जो 1955-56 में 76 था बढ़कर 1957-58 में 101 तथा 1958-59 में 107 हो गया।

भारत सरकार ने खाद्यान्नों के मूल्य में इस अतिशय वृद्धि के कारणों की जाँच के लिए 19 जून, 1957 ई० को श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता में एक खाद्यान्न जाँच-समिति (Foodgrains Enquiry Committee) की नियुक्ति की। समिति ने 19 नवम्बर, 1957 ई० को अपना प्रतिवेदन सरकार के सम्मुख रखा जिसमें विगत कुछ वर्षों की खाद्य-स्थिति तथा खाद्यान्नों के उत्पादन, वितरण एवं मूल्य-निर्धारण के संबंध में सरकारी नीति की व्याख्या की गयी थी। खाद्यान्न जाँच समिति के अनुसार खाद्यान्नों के मूल्य में यह अतिशय वृद्धि द्वितीय योजना के प्रारम्भ में निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र में अत्यधिक विनियोग तथा आवश्यकता से अधिक घाटे की वित्त-व्यवस्था के परिणामस्वरूप ही हुई थी। द्वितीय योजनाकाल में खाद्य-पदार्थों के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि के फलस्वरूप सामान्य जनता के लिए खाद्य-संकट की स्थिति उत्पन्न हो गयी।

समिति ने खाद्यान्नों के मूल्य में अतिशय वृद्धि को रोकने के लिए दो स्थायी केन्द्रीय संस्थानों के संगठन की सिफारिश की :—(1) मूल्य-स्थिरीकरण प्रमण्डल (Prices Stabilization Board) जो खाद्यान्नों के मूल्य में स्थिरता प्रदान करने के लिए उपयुक्त नीति तैयार करेगा, तथा (2) खाद्यान्न स्थिति नियामक संगठन (Foodgrains



**Stabilization Organisation)**—यह मूल्य-स्थिरीकरण प्रमण्डल की नीति और निर्देशन के अनुसार खाद्यान्नों के क्रय-विक्रय की व्यवस्था का नियमन करेगा। साथ ही, खाद्यान्न के वितरण तथा गल्ले के व्यापार पर सामाजिक नियन्त्रण (Social control on Food Trade) का सुझाव समिति द्वारा दिया गया। किन्तु अल्पकालीन सुझावों के तौर पर समिति ने गल्ले के वितरण तथा व्यापार में फेयर प्राइस शॉप एवं सरकारी समितियों को प्रधानता देने की सिफारिश की। समिति ने अभाव-ग्रस्त क्षेत्रों (Scarcity areas) की प्रमुख समस्या के समाधान के लिए इनकी आर्थिक व्यवस्था को संतुलित बनाने के उद्देश्य से ग्रामीण एवं लघु उद्योगों के विकास द्वारा रोजगार की सम्भावनाओं में वृद्धि पर जोर देने की सिफारिश की। साथ ही, इन क्षेत्रों में कृषि की उपज में वृद्धि के लिए बाढ़-नियन्त्रण एवं सिंचाई की योजनाओं के कार्यान्वयन पर भी जोर दिया। इस प्रकार खाद्यान्न जांच समिति द्वारा बहुत-से महत्वपूर्ण सुझाव दिये गये थे जिनमें से कुछ सरकार द्वारा स्वीकृत भी कर लिये गये। किन्तु अशोक मेहता समिति ने देश में खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि के लिए कोई ठोस सुझाव नहीं प्रस्तुत किया जो उस समय के खाद्य-संकट की स्थिति को दूर करने के लिए नितान्त आवश्यक था।

**तृतीय पंचवर्षीय योजना एवं खाद्य-नीति (Food Policy in the Third Five Year Plan) :-** तृतीय योजना के अन्त तक 1965-66 ई० में देश की जनसंख्या के 48 करोड़ होने का अनुमान था। इतनी अधिक जनसंख्या के लिए कम-से-कम 25 प्रतिशत खाद्यान्न के अभाव का अनुमान लगाया गया था। इस कमी की पूर्ति के लिए तृतीय योजना में कृषि के उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन था। योजनाकाल में खाद्यान्नों के उत्पादन को 1960-61 ई० में 820 लाख टन से बढ़ाकर 1965-66 ई० तक 1000 लाख टन करने का आयोजन था। इसके परिणामस्वरूप प्रति-व्यक्ति उपलब्ध खाद्यान्न की मात्रा के 1961-62 ई० में 16 औंस से बढ़कर 1965-66 ई० में 17.5 औंस होने की आशा थी।

तृतीय योजनाकाल में खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि के लिए सरकार द्वारा कई प्रकार के प्रयास किये गये। कृषि-पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि को प्रोत्साहित करने के लिए केन्द्र में केन्द्रीय खाद्य एवं कृषि मन्त्री की अध्यक्षता में एक कृषि-उत्पादन परिषद् (Agricultural Production Board) की स्थापना की गयी। 1 जनवरी, 1965 ई० को खाद्य-निगम (Food Corporation of India) की स्थापना की गयी जो खाद्यान्नों के क्रय-विक्रय, संचय तथा वितरण की व्यवस्था करता है। इसके अतिरिक्त जनवरी, 1965 ई० में एक कृषि मूल्य-परिषद् (Agricultural

Prices Commission) की नियुक्ति की गयी जो सरकार को मूल्य-सम्बन्धी नीति के सम्बन्ध में परामर्श देती है। साथ ही, सरकार द्वारा किसानों से अन्न आदि वसूलने का कार्यक्रम भी अपनाया गया। किन्तु, इन सब प्रयत्नों के बावजूद खाद्य-समस्या का कोई स्थायी समाधान नहीं हो सका। वास्तव में, खाद्यान्नों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि के लिए कृषि में संस्थागत परिवर्तनों की आवश्यकता है जिस पर अभी उचित ध्यान नहीं दिया जा सका है। यह हमारे देश में कृषि-सम्बन्धी नियोजन की सबसे बड़ी त्रुटि है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना का खाद्यान्न-सम्बन्धी लक्ष्य पूरा नहीं हो सका जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है<sup>1</sup> :-

| वर्ष    | उत्पादन    | वृद्धि या कमी |
|---------|------------|---------------|
| 1961-62 | 820 लाख टन | ...           |
| 1962-63 | 802 "      | -18 लाख टन    |
| 1963-64 | 806 "      | -14 "         |
| 1964-65 | 890 "      | +70 "         |
| 1965-66 | 720 "      | -100 "        |

इस प्रकार 1965-66 ई० में देश के अधिकतर भाग में खाद्यान्नों का बड़े पैमाने पर अभाव हो गया तथा देश के कुछ भाग में अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इससे मूल्य में अतिशय वृद्धि हुई। सरकार के लाख प्रयत्नों के बावजूद खाद्य-पदार्थों के मूल्य में वृद्धि रुक नहीं सकी तथा खाद्यान्नों के मूल्य-तल का सूचकांक (1952-53=100) मार्च, 1964 ई० में 141 से बढ़कर जनवरी, 1956 ई० में 170.8 हो गया। अतः बढ़ते हुए मूल्यों को रोकने के लिए खाद्यान्नों के वितरण पर नियन्त्रण को बढ़ाना आवश्यक हो गया। मई, 1960 ई० में 255 लाख व्यक्तियों को राशनिंग की व्यवस्था उपलब्ध थी तथा 840 लाख व्यक्ति उचित मूल्य की दुकानों से लाभान्वित हो रहे थे।

**तीन एक-वर्षीय योजनाओं में खाद्य-नीति (Food policy in the Three Annual Plans) :-** तृतीय पंचवर्षीय योजना के बाद तीन एकवर्षीय योजनाएँ (Annual Plans) कार्यान्वित की गयीं। इनमें 1966-67 ई० का वर्ष भी खाद्यान्न के उत्पादन के लिए असामान्य वर्ष सिद्ध हुआ तथा खाद्यान्न का उत्पादन 742.3 लाख टन ही हुआ। किन्तु इसके बाद 1967-68 तथा 1968-69 ई० में खाद्यान्नों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई। 1967-68 में खाद्यान्नों का उत्पादन 956 लाख टन हो गया जो पिछले सभी वर्षों से अधिक था। इसी प्रकार 1968-69 ई० में खाद्यान्न का उत्पादन 981 लाख टन हो गया। वास्तव, 1965-66 तथा 1966-67 ई० के अकाल तथा सूखे की स्थिति ने किसान तथा सरकार की मनोवृत्तियों



में महत्वपूर्ण परिवर्तन का समावेश किया। इसने देश में कृषि-क्रांति, जिसे हरित-क्रांति (Green Revolution) की संज्ञा दी जाती है, का सूत्रपात हुआ। इस सम्बन्ध में कृषि-मूल्य आयोग के अध्यक्ष डा० अशोक मिश्र का निम्नांकित कथन<sup>1</sup> विशेष रूप से महत्वपूर्ण जान पड़ता है—“Foodgrains Production in 1967-68 has been excellent. Optimism has accordingly filled the air fostering a widespread impression that the agricultural revolution is more than three-quarters accomplished. Much of this optimism is owing to the increase in the wheat output over last year by almost 54 percent.”

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में खाद्य-नीति (Food Policy in the Fourth Five Year Plan):—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाकर 1973-74 ई० में 1210 लाख टन करने का आयोजन था; किन्तु वास्तविक उत्पादन 1140 लाख टन ही हुआ। चतुर्थ योजना काल में खाद्य-पदार्थों के उत्पादन के वृद्धि के लिए सिंचाई की सुविधाओं में विस्तार, खाद्य तथा उर्वरक एवं सुधरे हुए बीजों का अधिकाधिक मात्रा में उपयोग, कीड़े-मकोड़े मारने की दवाओं के उत्पादन तथा नये-नये यन्त्रों के प्रयोग पर विशेष जोर देने की व्यवस्था थी। साथ ही, विक्रय-व्यवस्था में सुधार पर भी जोर दिया गया था।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में खाद्यान्नों-नीति (Food Policy in the Fifth Five Year Plan):—पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में खाद्यान्नों के उत्पादन को 1973-74 में 1140 लाख टन से बढ़ाकर 1978-79 में 1400 लाख टन करने का आयोजन था जबकि खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़कर 1977-78 में 1210 लाख टन हुआ। योजनाकाल में आत्म-निर्भरता के उद्देश्य की प्राप्ति को ध्यान में रखते हुए खाद्यान्नों के आयात को बिल्कुल समाप्त करने पर जोर दिया गया था। योजनाकाल में खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि के लिए सिंचाई की सुविधाओं के विस्तार, खाद्य तथा उर्वरकों एवं सुधरे हुए बीज के उपयोग आदि पर भी पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया था।

छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan) में भी खाद्यान्नों के उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन है। योजना काल में खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाकर 1982-83 में 1405 लाख टन से 1445 लाख टन के बीच करना है। खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाने के लिए योजना काल में खाद्य तथा उर्वरकों के प्रयोग, सिंचाई की सुविधाओं का विस्तार तथा गहन कृषि के विकास के अन्य तरीकों

पर जोर देने की व्यवस्था है। इस प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत खाद्यान्नों के उत्पादन में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हो रही है। किन्तु देश की जनसंख्या में भी तीव्र गति से वृद्धि के कारण खाद्य समस्या का अभी स्थायी रूप से समाधान नहीं निकल पाया है। निम्नांकित तालिका से यह स्पष्ट है:—

| वर्ष    | जनसंख्या<br>(करोड़ में) | खाद्यान्नों का उत्पादन<br>(लाख टन में) |
|---------|-------------------------|----------------------------------------|
| 1950-51 | 36.1                    | 549                                    |
| 1955-56 | 39.2                    | 692                                    |
| 1960-61 | 43.9                    | 820                                    |
| 1965-66 | 49.5                    | 720                                    |
| 1966-67 | 50.2                    | 750                                    |
| 1967-68 | 51.4                    | 950                                    |
| 1971-72 | 54.8                    | 1120                                   |
| 1973-74 | 58.0                    | 1047                                   |
| 1977-78 | 62.0                    | 1210                                   |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1949-50 से 1977-78 के प्रायः 28 वर्षों में खाद्यान्नों के उत्पादन में प्रायः 125 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि जनसंख्या में लगभग 75 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

#### खाद्यान्नों का राजकीय व्यापार (State Trading in Food-Grains)

किन्तु सरकार के विभिन्न प्रयत्नों के बावजूद खाद्यान्नों के मूल्य में सदा परिवर्तन होते रहते हैं। इसके लिए मध्यस्थ के रूप में व्यापारीगण बहुत अंश तक उत्तरदायी हैं जो अधिकतम लाभ कमाने के उद्देश्य से बाजार में खाद्यान्नों की पूर्ति को मनमाने ढंग से नियंत्रित करने का प्रयास करते हैं। खाद्यान्न जाँच-समिति ने इस समस्या पर विचार किया तथा इस बात की सिफारिश की थी कि मूल्य-स्थिरीकरण प्रमण्डल धीरे-धीरे खाद्यान्नों के थोक व्यापार के एक बड़े भाग को अपने नियन्त्रण में लाये। किन्तु समिति का इस सम्बन्ध में अन्तिम उद्देश्य खाद्यान्नों के थोक व्यापार का समाजीकरण था। वास्तव में, भारत जैसे विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था वाले देश के लिए यह आवश्यक भी जान पड़ता है। खाद्यान्न जैसी आवश्यक वस्तु का वितरण निजी व्यापारियों के हाथ में छोड़ना उचित नहीं जान पड़ता। अतएव भारत सरकार ने 1959 ई० में खाद्यान्नों के राजकीय व्यापार (State Trading in Food-Grains) के सम्बन्ध में निर्णय लिया जिसे 2 अप्रैल, 1959 ई० से लागू किया गया। प्रारम्भ में केवल गेहूँ तथा चावल के व्यापार को ही राजकीय व्यापार के अन्तर्गत लाने का निश्चय किया गया। इस

1. Quoted from The Statesman of Oct, 14-15, 1968.



उद्देश्य से सरकार द्वारा खाद्यान्नों का थोक मूल्य तय किया जाने लगा जिस पर प्रारम्भ में लाइसेंस प्राप्त थोक व्यापारियों से इनकी खरीद की व्यवस्था की गयी। सरकार इन व्यापारियों से इनका सम्पूर्ण या एक हिस्सा ले सकती है और शेष ये, खुदरा की व्यवस्था की इन व्यापारियों को नियन्त्रित मूल्य पर बेच सकते हैं। खाद्यान्नों के राजकीय व्यापार के अन्तिम चरण में सम्पूर्ण अतिरिक्त उपज को सेवा सहकारिता (Service co-operatives) के द्वारा प्राप्त करने तथा वितरण का कार्य खुदरा व्यापारियों अथवा अपभोक्ता समितियों द्वारा करने का आयोजन था। साथ ही, राजकीय व्यापार की व्यवस्था के लिए राज्यों में निगमों की भी स्थापना की जाने को थी। खाद्यान्नों के राजकीय व्यापार की नीति के अन्तर्गत 1 जनवरी, 1969 ई० को भारत सरकार ने एक Food Corporation of India की स्थापना की। इस निगम ने अवतक प्रायः सभी राज्यों में अपने कार्यालय स्थापित कर लिया है तथा खाद्यान्न के क्रय एवं वितरण का कार्य प्रारम्भ कर दिया है।

#### खाद्यान्नों के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Wholesale Trade in Food grains)

इस प्रकार खाद्यान्नों के थोक व्यापार के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में पहले-पहल 1957 ई० में अशोक मेहता समिति ने सिफारिश की थी। समिति के अनुसार जब तक खाद्यान्नों के थोक व्यापार का समाजीकरण नहीं होगा तब तक खाद्यान्नों के मूल्य में स्थायित्व नहीं लाया जा सकता, अतएव हमारी नीति खाद्यान्नों के थोक व्यापार के धीरे-धीरे समाजीकरण की होनी चाहिए। (Until there is social control over the wholesale trade, we shall not be in a position to bring about stabilization of foodgrain prices. Our policy should, therefore, be that of progressive and planned socialization of the wholesale trade in food-grains.) किन्तु उस समय सरकार ने समिति की इन सिफारिशों पर ध्यान नहीं दिया तथा केवल खाद्यान्नों के राजकीय व्यापार के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में ही निर्णय किया गया। आगे चलकर खाद्यान्नों के व्यापार के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में दिसम्बर 1969 में कांग्रेस दल के बम्बई अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित किया गया, किन्तु सरकार ने इस पर भी तत्काल अमल नहीं किया। पुनः दिसम्बर, 1972 में कांग्रेस दल ने अपने कलकत्ता अधिवेशन में इस आशय का एक प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसमें सरकार से गेहूँ तथा चावल के थोक व्यापार को अगले मौसम से अपने हाथ में लेने की सिफारिश की गयी। दिसम्बर, 1972 में राज्यों के खाद्य मंत्रियों के एक सम्मेलन में इस पर विचार किया गया जिसमें यह निर्णय

किया गया कि 1973 के रबी मौसम से गेहूँ तथा खरीफ मौसम से चावल के थोक व्यापार को अपने हाथ में लिया जाय। तदनुसार, अप्रैल, 1973 से गेहूँ के थोक व्यापार का सर्वप्रथम राष्ट्रीयकरण किया गया।

किन्तु गेहूँ के व्यापार को सरकारी हाथों में लेने से गेहूँ-उत्पादक राज्यों में एक प्रकार की अनियमितता उत्पन्न हो गयी तथा रबी की 300 लाख टन की उत्साहजनक उपज के बावजूद व्यापार बिल्कुल ठप्प पड़ गया। परिणामस्वरूप गेहूँ की कीमत बहुत बढ़ गयी। सरकारी वसूली करने वाले अधिकरण पर्याप्त मात्रा में गेहूँ प्राप्त नहीं कर सके। सरकार ने विदेशों से आयात के द्वारा इस कठिनाई को दूर करने का प्रयास किया, किन्तु इसमें भी पर्याप्त सफलता नहीं मिल पायी अतएव सरकार को बाध्य होकर गेहूँ के थोक व्यापार को पुनः निजी व्यापारियों के हाथ में देना पड़ा।

नयी खाद्य-नीति (New Food Policy, 1974) :— अप्रैल, 1974 में गेहूँ के थोक व्यापार के सरकारीकरण के बाद सरकार ने अपनी खाद्य नीति की घोषणा की जिसकी भिन्नांकित प्रधान विशेषताएँ हैं :—

(क) गेहूँ की वसूली कीमत 105 रुपये प्रति क्वि० तथा उचित मूल्य की दुकानों पर इसे जारी करने की कीमत 125 रु० प्रति क्वि० निश्चित की गयी।

(ख) मूल्य-समर्थन की नीति के अन्तर्गत खाद्यान्नों की वसूली केवल खाद्य-निगम तथा राज्य सरकारें कर सकती हैं।

(ग) पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, मध्यप्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के आधिक्य उत्पादन वाले राज्यों के बाजारों में निजी व्यापारियों को प्रवेश करने का अवसर दिया गया।

(च) खाद्य निगम तथा राज्य खाद्य विभाग लाइसेंस प्राप्त व्यापारियों से उनके द्वारा क्रय किये गये गेहूँ का 50 प्रतिशत भाग खरीदेंगे।

(छ) एक-राज्य वाला खाद्य-क्षेत्र ज्यों-का-त्यों बना रहेगा।

(ज) निजी व्यापारी गेहूँ को 50 रुपये प्रति क्वि० की अधिकतम कीमत तक बेच सकते हैं।

इस नयी खाद्य-नीति की सर्वत्र आलोचना की गयी। वामपंथियों ने इसे व्यापारियों के समक्ष घुटना टेकना बतलाया तो दक्षिण पंथियों ने पूर्ण अनियन्त्रण, तथा बाजार को मुक्त नहीं छोड़ने की सरकारी नीति की आलोचना की है। वास्तव में, सरकार की नयी खाद्य-नीति से न तो छोटे-छोटे उत्पादकों को लाभ होगा न उपभोक्ताओं को ही। वास्तव में, इससे बड़े-बड़े व्यापारियों के मुनाफा में बहुत अधिक वृद्धि होगी तथा इससे समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलेगा।



खाद्यान्नों के थोक व्यापार के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में बहुत सारे तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम तो यह कहा जाता है कि इसका प्रमुख उद्देश्य उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर खाद्यान्नों की नियमित रूप से पूर्ति करना है। द्वितीयतः, इसका उद्देश्य खाद्यान्न के मूल्य को उचित स्तर पर स्थायी बनाना है। निर्धारित मूल्य-तल ऐसा होगा जिसमें उत्पादन व्यय पूरा होने के साथ-साथ किसानों को उत्पादन बढ़ाने के लिए उचित मात्रा में प्रोत्साहन भी प्राप्त हो। तृतीयतः, खाद्यान्नों के थोक व्यापार के सामाजीकरण का उद्देश्य माँग एवं पूर्ति में मौसमी एवं अस्थायी परिवर्तनों के फलस्वरूप खाद्यान्नों के मूल्य-तल में होनेवाले अत्यधिक उच्चावचनों को भी रोकना है। चतुर्थतः, इसका उद्देश्य थोक व्यापारियों तथा मध्यस्थों की असामाजिक कार्यवाहियों को रोकना है। ये उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों वर्गों का शोषण कर खाद्यान्न के व्यापार से सदा अनुचित लाभ प्राप्त करने की आशा करते हैं। (The Government wants to put an end to the anti-social activities of hoarders and profiteers.)

इस प्रकार उपरोक्त सारे उद्देश्यों को ध्यान में रखकर खाद्यान्नों के थोक व्यापार को सरकारी हाथों में लिया गया। ध्यानपूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट होगा कि ये उद्देश्य वास्तव में प्रशंसनीय हैं। वास्तव में, कनाडा तथा जापान जैसे विकसित देशों में भी खाद्यान्नों का थोक व्यापार सरकार के हाथों में है।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. Govt. of India
2. M. L. Dantwala
3. N. C. A. E. R.
4. Planning Commission
5. Third Five Year Plan-pp. 302, 320-21.
6. Fourth Five Year Plan ( 1969-74 )
7. Fifth Five Year Plan ( 1974-79 )
8. Draft Five Year Plan ( 1978-83 )

किन्तु सरकार के इस कार्य की कई बातों को लेकर आलोचना भी की जाने लगी है। आलोचकों में व्यापारीगण तथा राजनीतिज्ञ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अनुसार सरकार का यह कदम एकाधिकारी संस्थाओं के विरुद्ध नहीं है क्योंकि खाद्यान्नों का थोक व्यापार एक-आध एकाधिकारियों के हाथ में नहीं है। साथ ही, थोक व्यापारी तथा मध्यस्थ उत्पादक तथा उपभोक्ताओं का अनुचित शोषण नहीं करते तथा मूल्य में भी परिवर्तन हजारों बाजारों में काम करने वाले लाखों की संख्या में थोक तथा मध्यस्थ व्यापारी केवल नहीं कर सकते। साथ ही, आलोचकों का कहना है कि देश के 3500 गल्ला बाजारों तथा लगभग 5 लाख व्यक्ति जो इनके विरुद्ध कार्य करते हैं, के बदले सरकार एक ऐसी व्यवस्था अपना रही है जिसकी सफलता बहुत ही संदिग्ध है। (The Government is displacing an enlightened, experienced and competent agency for foodgrain distribution with one of doubtful integrity and competence.) सरकारी यंत्र को इस सम्बन्ध में अनुभव नहीं है तथा राजकीय क्षेत्र की अकुशलता एवं इसमें व्याप्त व्यभिचार पहले से ही चर्चा के विषय हैं। इतना ही नहीं, खाद्यान्न वसूलने का व्यय भी थोक व्यापारियों द्वारा वसूल किये गये लाभों की तुलना में बहुत अधिक पड़ने की आशा है।

- : Report of the Foodgrains Enquiry Committee ( 1959 )
- : India's Food Problem (Pamphlet)
- : Food Policy and Economic Growth
- : Second Five Year Plan pp. 256-69
- : 259-632, 72-73.



## अध्याय : 18

## सिंचाई के साधन

## (Sources of Irrigation)

भारत में सिंचाई का महत्त्व (Importance of Irrigation in India) :—भारत एक कृषि-प्रधान देश है। कृषि की उन्नति के लिए जल की समुचित व्यवस्था नितांत आवश्यक है। पानी ही घरती का जीवन है। अच्छी भूमि, सबल पशु तथा उत्तम बीज, खाद एवं औजारों के रहने पर भी जल के अभाव में कृषि का कार्य अनिश्चित ही रह जाता है। श्री जर्न्स के मतानुसार सिंचाई की समुचित व्यवस्था द्वारा भारतीय कृषि की उपज में 50 से 100 प्रतिशत तक की वृद्धि की जा सकती है। वर्षों पूर्व भारत में सिंचाई के महत्त्व के सम्बन्ध में सर चार्ल्स ट्रेवेलियन (Sir Charles Trevelyan) ने कहा था "भारत में सिंचाई ही सब कुछ है, जल भूमि से अधिक मूल्यवान है क्योंकि जब जल भूमि में दिया जाता है तो यह उसकी उपजाऊ-शक्ति में कम-से-कम 6 गुनी वृद्धि करता है। इतना ही नहीं, यह ऐसी बहुत अधिक भूमि को उत्पादक बना देता है जो जल के बगैर कुछ भी नहीं उत्पन्न कर सकती थी।" (Irrigation is everything in India. Water is more valuable than land because when water is applied to land, it increases its productivity atleast six times and, generally a great deal more, and it renders great extent of land productive which otherwise would produce nothing.) इससे भारत में सिंचाई का महत्त्व बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

वास्तव में, भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में सिंचाई के महत्त्व के निम्नलिखित प्रधान कारण हैं :—

1. वर्षा की अपर्याप्तता—भारत में प्रतिवर्ष औसत 45" वर्षा होती है, पर देश के भिन्न-भिन्न भागों में इसका वितरण एक समान नहीं है जिससे सिंचाई के कृत्रिम साधनों के बगैर कृषि कार्य प्रायः असंभव हो जाता है। अतः कम वर्षा वाले स्थानों के लिए सिंचाई की व्यवस्था नितांत अनिवार्य हो जाती है।

2. वर्षा की अनिश्चितता तथा अनियमितता :—भारत में वर्षा मौनसून से होती है। मौनसून की प्रकृति अत्यन्त अनिश्चित है। किसी वर्ष वर्षा बहुत अधिक होती है तो किसी वर्ष सूखा भी पड़ जाता है। वर्षा की अनिश्चितता से कृषि को मुक्त कराने के लिए भी सिंचाई के कृत्रिम साधनों की व्यवस्था आवश्यक है।

3. अधिक जल चाहनेवाली फसलों के लिए :—कुछ फसलें ऐसी होती हैं जिन्हें नियमित रूप से अधिक

जल की आवश्यकता पड़ती है; जैसे-चावल, गन्ना आदि। अतः इन फसलों की खेती के लिए भी अधिकांश क्षेत्रों में कृत्रिम सिंचाई के साधनों की व्यवस्था करनी पड़ती है।

4. गहन कृषि एवं हरित क्रांति में सिंचाई का केन्द्रीय स्थान :—भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या की खाद्यान्न-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए गहन खेती आवश्यक है और गहन कृषि के लिए सिंचाई, उत्तम खाद, बीज एवं औजारों आदि की आवश्यकता पड़ती है। इनमें सिंचाई का स्थान ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। हरित क्रांति को संभव बनाने के लिए भी सिंचाई का बहुत अधिक महत्त्व है।

5. वर्ष में एक से अधिक फसल उपजाने के लिए :—देश की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। इस बढ़ती हुई जनसंख्या के भरण-पोषण के लिए गहन कृषि, यानी वर्ष दो या तीन फसलों की आवश्यकता होती है। इसके लिए भी सिंचाई के कृत्रिम साधनों की आवश्यकता पड़ती है।

6. उपज की किस्म में सुधार के लिए—सिंचाई से उपज की मात्रा के बढ़ने के साथ-साथ किस्म में भी सुधार होता है जिससे किसानों की आय बढ़ती है और उनका रहन-सहन का स्तर ठीक होता है।

7. नयी भूमि पर कृषि संभव—भारत में कुछ कृषि-योग्य बेकार भूमि है। सिंचाई के साधनों का विस्तार करके यह अतिरिक्त भूमि कृषि के अन्तर्गत लायी जा सकती है। ऐसी भूमि को सिंचाई के बगैर खेती के लिए कभी भी प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, राजस्थान में राजस्थान नहर के बन जाने से नयी भूमि पर पहली बार कृषि प्रारम्भ की गयी। इस प्रकार सिंचाई के विस्तार से विस्तृत खेती (extensive cultivation) भी संभव है।

8. सरकारी आय में वृद्धि—सिंचाई की व्यवस्था में वृद्धि से सरकार की आय में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों ही तरह से वृद्धि से होती है। प्रत्यक्ष रूप से सिंचाई कर के अतिरिक्त परोक्ष रूप में अधिक उत्पत्ति होने से रेलों की आय तथा अन्य करों से प्राप्त आय बढ़ती है जिससे सरकारी खजाने में अधिक धन आता है।

9. यातायात की सुविधा—बड़ी-बड़ी नहरों से सिंचाई के साथ-साथ यातायात की सुविधा भी बढ़ती है। इस प्रकार रेलों से केवल यातायात ही नहीं हो पाता है, जब



कि नहरों से सिंचाई एवं यातायात दोनों संभव बन पाते हैं।

इस प्रकार भारतीय अर्थ-व्यवस्था में सिंचाई का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु कभी-कभी नहरों की सिंचाई से प्रायः हानियाँ भी हो जाती हैं। अव्यवस्थित सिंचाई से तो कई बार अत्यधिक क्षति होती है। इनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—(क) भूमि की ऊपरी सतह पर नमक जमा हो जाता है जिससे रेह वाली मिट्टी (alkaline soils) की समस्या उत्पन्न हो जाती है। इससे बहुत-सी भूमि खेती के योग्य नहीं रह जाती। (ख) मले-रिया एवं अन्य रोग उत्पन्न होने लगते हैं। (ग) बाढ़ का भय बढ़ जाता है। किन्तु सिंचाई की ये हानियाँ पानी के उचित बहाव की व्यवस्था (proper drainage) तथा पक्की नहरों के निर्माण द्वारा कम की जा सकती है।

### भारत में सिंचाई की संभावनाएँ (Irrigation Potentialities in India)

देश में कुल कृषि की जाने वाली भूमि का क्षेत्र 1750 लाख हेक्टर है जिसमें से चतुर्थ योजना के अंत तक 1420 लाख हेक्टर में खेती होने लगी थी। चतुर्थ योजना<sup>1</sup> के अन्त तक कुल कृषि की जाने वाली भूमि (gross cropped area) 1670 लाख हेक्टर थी। वर्तमान अनुमान के आधार पर योजना आयोग के अनुसार ऊपर तथा नीचे प्राप्त जल (Surface and ground water) के द्वारा कुल 1070 लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधा प्रदान की जा सकती है। इसमें से ऊपर के जल (Surface water) के द्वारा 720 लाख हेक्टर तथा नीचे के जल (ground water) के द्वारा 350 हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधा की जा सकेगी।

इस प्रकार कुल सिंचाई की संभावित क्षमता 1070 लाख हेक्टर है जिसमें से प्रथम योजना के पूर्व, यानी 1951 में 226 लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधा उपलब्ध थी। यह बढ़ कर 1968-69 में 360 लाख हेक्टर

हो गयी तथा चौथी योजना के अन्त तक, यानी 1973-74 में इसके बढ़ कर 431 लाख हेक्टर होने की आशा है। इसमें से 196 लाख हेक्टर भूमि में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई कार्यक्रमों, 75 लाख हेक्टर में लघु सिंचाई कार्यक्रमों तथा 160 लाख हेक्टर में नीचे के जल (ground water) के द्वारा सिंचाई की सुविधा मिलने की आशा है।

भारत में सिंचाई-प्राप्त क्षेत्र (Area under Irrigation) :—इस प्रकार प्रथम योजना प्रारम्भ होने के समय 1950-51 ई० में देश की कुल 226 लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई होती थी। इसमें से 97 लाख हेक्टर भूमि में वृहत् तथा मध्यम एवं 64 लाख हेक्टर भूमि में लघु सिंचाई के साधनों से तथा 65 लाख हेक्टर में नीचे के जल से सिंचाई होती थी। प्रथम योजनाकाल में सिंचाई की सुविधाओं में वृद्धि के लिए बहुत अधिक प्रयत्न किये गये जिनके फलस्वरूप सिंचाई-प्राप्त क्षेत्र में 20 लाख हेक्टर की वृद्धि हुई। द्वितीय योजनाकाल में विभिन्न साधनों द्वारा कुल 53 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई। इस प्रकार प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओं के फलस्वरूप कुल सिंचाई-प्राप्त भूमि का क्षेत्र 1950-51 ई० के 226 लाख हेक्टर से बढ़कर 1960-61 ई० में लगभग 299 लाख हेक्टर हो गयी। तृतीय योजना तथा तीन एक-वर्षीय योजनाओं में सिंचित भूमि के क्षेत्र में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि का आयोजन था। सिंचाई-प्राप्त क्षेत्र वास्तव में 1968-69 में 360 लाख हेक्टर हो गया। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में कुल सिंचित क्षेत्र को 1968-69 ई० में 350 लाख हेक्टर से बढ़ाकर 1973-74 ई० में 434 लाख हेक्टर करने का आयोजन था जब कि 1973-74 में कुल सिंचित भूमि का वास्तविक क्षेत्र 431 लाख हेक्टर हुआ। इसमें से 196 लाख वृहत् एवं मध्यम कार्यक्रमों द्वारा 75 लाख हेक्टर में लघु सिंचाई कार्यों एवं 160 लाख हेक्टर में भूमि के नीचे के जल से सिंचाई होती थी।

निम्नांकित तालिका<sup>2</sup> से 1950-51 से 1975-76 के बीच सिंचाई के क्षेत्र में वृद्धि का अन्दाजा लगता है :—

पंचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई के क्षेत्र में वृद्धि (लाख हेक्टर)

| साधन                | अंतिम संभावना | 1950-51 | 1968-69 | 1973-74 | 1975-76 |
|---------------------|---------------|---------|---------|---------|---------|
| 1. ऊपर का जल        |               |         |         |         |         |
| (क) वृहत् एवं मध्यम | 570           | 97      | 170     | 206     | 224     |
| (ख) लघु             | 150           | 64      | 70      | 75      | 80      |
| 2. नीचे का जल       | 350           | 65      | 120     | 160     | 172     |
| कुल                 | 1070          | 226     | 360     | 441     | 476     |

1. Fourth Plan-A Draft 1969-74

2. Draft Five Year Plan vol-II, P. 105



## सिंचाई के साधन

इस प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई के क्षेत्र में पर्याप्त वृद्धि हुई। वास्तव में, 1950-51 से 1975-76 के बीच के प्रायः 25-26 वर्षों में देश में सिंचाई-प्राप्त क्षेत्र 226 लाख हेक्टर से बढ़कर 476 लाख हेक्टर हो गया यानी इसमें प्रायः 110 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

### भारत में सिंचाई के मुख्य साधन (Main Sources of Irrigation in India)

भारत में सिंचाई के तीन मुख्य साधन हैं :—(1) कुएँ, (2) तालाब, और (3) नहरें। इनके अतिरिक्त आहर, खाई, चौर आदि के द्वारा भी सिंचाई का कार्य होता है। 1973-74 ई० में विभिन्न साधनों द्वारा कुल प्रायः 326 लाख हेक्टर भूमि, यानी कुल कृषि की जाने-वाली भूमि के प्रायः 23 प्रतिशत भाग में सिंचाई की सुविधा प्राप्त थी।<sup>1</sup> यह क्षेत्र सिंचाई के विभिन्न साधनों में निम्न प्रकार से बँटा हुआ था :—

1973-74 में

|           | सिंचाई-प्राप्त क्षेत्र<br>(लाख हेक्टर में) | कुल सिंचित भूमि<br>का प्रतिशत |
|-----------|--------------------------------------------|-------------------------------|
| नहरें     | 131.0                                      | 40.0                          |
| तालाब     | 39.0                                       | 12.0                          |
| कुएँ      | 133.0                                      | 40.8                          |
| अन्य साधन | 23.0                                       | 7.2                           |
| कुल       | 326.0                                      | 100.0                         |

अब सिंचाई के इन विभिन्न साधनों का निम्न विवरण प्रस्तुत किया जाता है :—

(1) कुएँ (Wells) :—कुएँ भारत में सिंचाई के सबसे महत्वपूर्ण तथा प्राचीनतम साधन हैं। आज भी भारत के अधिकतर भागों में कुओं से ही सिंचाई होती है। उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार, बंगाल तथा तमिलनाडु आदि राज्यों में मुख्य रूप से सिंचाई के इस साधन का प्रयोग किया जाता है। 1893 में कुओं से सिंचाई के सम्बन्ध में डॉ० वीयलकर के निम्नांकित कथन उल्लेखनीय हैं :—“Nothing in agriculture of India impressed me so much as the excellence of cultivation carried on by irrigation from well.” 1973-74 ई० में कुओं द्वारा कुल 133 लाख हेक्टर भूमि, यानी कुल सिंचाई-प्राप्त भूमि के लगभग 40.8 प्रतिशत भाग में सिंचाई होती थी। भारत में कुएँ अधिकांशतः व्यक्तिगत सम्पत्ति हैं। इनका सबसे बड़ा लाभ यह है कि किसान कुएँ बनवाकर सिंचाई के लिए प्रायः स्वतन्त्र हो जाते हैं। ‘अधिक अन्न उपजाओ’ आन्दोलन के अन्तर्गत तो

सरकार कुएँ बनाने के लिए किसानों को सहायता के रूप में आधा व्यय एवं आवश्यक सामग्री भी प्रदान करती है। किन्तु योजना आयोग ने कुओं के निर्माण में आर्थिक सहायता को धीरे-धीरे कम करने का सुझाव दिया है। कुओं के निर्माण में सहकारिता के आधार पर भी कार्य किया जा सकता है। देश में लगभग 25 लाख कुएँ हैं जिनमें से लगभग आधा उत्तर प्रदेश में स्थित हैं। एक कुआँ से औसत रूप में 10 से 15 एकड़ भूमि की सिंचाई होती है।

नल-कूप (Tube-well) :—आजकल देश में नल-कूपों का प्रचार भी धीरे-धीरे बढ़ रहा है। नल-कूपों से विद्युत् के द्वारा सिंचाई का कार्य होता है। एक नल-कूप 60 से लेकर 400 फीट की गहराई तक जातु है। इससे एक घण्टे में 3300 गैलन जल निकलता है। एक नल-कूप से लगभग 200 एकड़ भूमि में सिंचाई का कार्य होता है। किन्तु नल-कूपों से सिंचाई में उचित प्रगति नहीं हो पायी है क्योंकि नलकूप बहुत अधिक महंगे होते हैं। देश में सबसे अधिक नलकूप उत्तर प्रदेश में हैं। इसके बाद बिहार, पंजाब तथा महाराष्ट्र में नलकूप हैं। नल-कूपों को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए यहाँ यह सुझाव के रूप में कहा जा सकता है कि इनके प्रयोग करनेवालों के बीच सहकारिता की स्थापना की जाय।

(2) तालाब (Tanks) :—तालाबों द्वारा सिंचाई की प्रथा भारत में अति प्राचीन काल से ही चली आ रही है। दक्षिणी भारत के पहाड़ी प्रदेशों में नहर तथा कुएँ खुदवाने में कठिनाई होती है, अतः तालाब द्वारा सिंचाई की पद्धति विशेष रूप से इसी भाग में पायी जाती है। ये तालाब कहीं-कहीं पर बड़ी-बड़ी झीलों के आकार से लेकर गाँव की छोटी-छोटी तलैया तक के आकार के होते हैं। मध्य प्रदेश, आंध्र तथा कर्नाटक राज्यों में बड़े-बड़े बाँध बनाकर झीलों तैयार की गयी हैं जिनसे सिंचाई का कार्य होता है। केवल आंध्र एवं तमिलनाडु राज्य में लगभग 65,000 तालाब हैं जिनसे कोई 15 लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई होती है। इनके अतिरिक्त महाराष्ट्र, बिहार तथा उड़ीसा में तालाब पाये जाते हैं। 1973-74 ई० में इनसे कुल 39 लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई होती थी जो कुछ सिंचाई-प्राप्त भूमि का प्रायः 12 प्रतिशत भाग था। इन तालाबों में वर्षा का जल एकत्र किया जाता है और वर्ष के शेष भाग में इनसे सिंचाई का कार्य किया जाता है। तालाब प्रायः सभी जगह राज्य की सम्पत्ति होते हैं। इनके बनवाने में अपेक्षाकृत कम व्यय होता है। लेकिन आजकल अधिकांश तालाब पुराने होने के कारण अत्यधिक अनुपयोगी हो गये हैं जिसके फलस्वरूप इन्हें लगातार सफा कराने की आवश्यकता पड़ती है।

### 1. Statistical Outline of India, 1978



(3) नहरें (Canals) :—भारत में नहरें सिंचाई का सर्वप्रमुख साधन हैं। यहाँ अकाल के प्रकोप को दूर करने के लिए प्राचीन समय में भिन्न-भिन्न राजाओं द्वारा नहरें बनवाई गयी थीं। ब्रिटिश शासन काल में इसी कारण नहरों के निर्माण पर विशेष जोर दिया गया था। 1973-74 ई० में सभी प्रकार की नहरों द्वारा 133 लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई होती थी, जो कुल सिंचित भूमि का प्रायः 40 प्रतिशत भाग था। हमारे देश में अधिकतर नहरें उत्तर के मैदान में ही पायी जाती हैं क्योंकि इस भाग की मिट्टी दोमट होने के कारण इस क्षेत्र में सुगमतापूर्वक नहरें निकाली जा सकती हैं। साथ-ही-साथ, इस भाग की मिट्टी अधिक उपजाऊ भी होती है जिससे नहरें बनवाने का खर्च भी सुगमतापूर्वक निकल जाता है।

नहरें प्रायः तीन प्रकार की होती हैं—(1) स्थायी नहर (Perennial Canals) :—स्थायी नहरें वर्षा की नदियों से निकाली जाती हैं जिनमें जल का बहाव निरन्तर बना रहता है। नदियों का बहाव बाँध (Barrage) बनाकर रोक लिया जाता है एवं जल का रख बदल दिया जाता है। इन नहरों से सालों भर जल मिलने का विश्वास रहता है। पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बिहार में प्रायः इसी प्रकार की नहरें पायी जाती हैं। (2) बरसाती नहरें (Inundation Canals)—इन नहरों से केवल वर्षा के दिनों में ही जल मिलता है। नदी के किनारों को काटकर ये नहरें निकाली जाती हैं। इस प्रकार की नहरें मुख्यतः प्राचीन सिन्ध एवं पंजाब में पायी जाती थीं। किन्तु विभाजन के पश्चात् ऐसी नहरें अधिकांशतः पाकिस्तान में चली गयीं। (3) बाँध की नहरें (Storage canals):—घाटियों को बाँधकर वर्षा का जल जमा किया जाता है तथा सूखा के दिनों में इसे नहरों द्वारा सिंचाई के लिए प्रयोग किया जाता है। बाँध की नहरें भी इसी प्रकार से निकाली जाती हैं। इस प्रकार की नहरें मुख्यतः मध्य प्रदेश तथा दक्षिणी भारत में पायी जाती हैं।

(4) सिंचाई के अन्य साधन (Other sources of Irrigation) :—इन प्रमुख साधनों के अतिरिक्त अन्य साधनों से भी सिंचाई का कार्य होता है। इनमें आहर, रहट, नदी-नालों के छोटे-छोटे बाँध, चौर के बाँध बिजली के पम्पों द्वारा सिंचाई विशेष तौर से उल्लेखनीय हैं। छोटे-छोटे नदी-नालों पर बाँध बनाकर तथा बिजली के पम्पों द्वारा इनका जल निकाल कर सिंचाई का कार्य होता है। प्रथम योजना में इस प्रकार के पम्पों की व्यवस्था पर अधिक जोर दिया गया था। 1970-71 ई० में सिंचाई के अन्य साधनों द्वारा प्रायः 24 लाख हेक्टर भूमि, यानी कुल सिंचाई-प्राप्त भूमि के प्रायः 7.5 प्रतिशत भाग में सिंचाई होती थी।

## भारत सरकार की सिंचाई-सम्बन्धी नीति (Irrigation Policy of the Govt. of India)

ब्रिटिश सरकार की सिंचाई-सम्बन्धी नीति (Irrigation Policy of the British Government) :—

भारत में अति प्राचीन काल से ही राज्य द्वारा सिंचाई की व्यवस्था होती आ रही है। अकाल के प्रकोप को दूर करने के लिए हिन्दू तथा मुगल राजाओं द्वारा नहर एवं तालाब बनाये जाते थे। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार को सिंचाई के बहुत से साधन, जैसे उत्तर भारत की कुछ बरसाती नहरें तथा तमिलनाडु के तालाब आदि अपने पूर्वाधिकारियों से ही प्राप्त हुए थे। प्रारम्भ में ब्रिटिश सरकार द्वारा इन साधनों की उपेक्षा की गयी जिसके फलस्वरूप इनमें बहुत से नष्ट हो गये। 1901 ई० में लार्ड कर्जन द्वारा एक सिंचाई आयोग (Irrigation Commission) की नियुक्ति की गयी जिसने अकाल के निवारण के लिए रक्षात्मक उपायों की सिफारिश की। सिंचाई आयोग ने भारत में सिंचाई के साधनों के विकास के लिए एक निश्चित योजना तैयार की तथा उसे कार्यान्वित करने के लिए सरकार से अनुरोध किया। सिंचाई आयोग की सिफारिशों के आधार पर ही पंजाब, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, तमिलनाडु आदि राज्यों में उसी समय से नहरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। 1919 ई० के सांविधानिक सुधार के अनुसार सिंचाई एक प्रांतीय विषय बन गयी जिसके फलस्वरूप सिंचाई के साधनों की पूरी जिम्मेवारी प्रांतीय सरकारों की हो गयी। 1921 ई० के बाद सिंचाई के साधनों का द्रुतगति से विकास प्रारम्भ हुआ तथा 50 करोड़ रुपये की लागत से सिंचाई की कई महत्वपूर्ण योजनाएँ कार्यान्वित की गयीं जिनसे प्रायः 220 लाख एकड़ भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई। 1921 ई० के कृषि-आयोग ने सिंचाई एवं कृषि विभागों में घनिष्ठतर सम्बन्ध स्थापित करने की सिफारिश की। आयोग की सिफारिशों के आधार पर 1931 ई० में केन्द्रीय सिंचाई सूचना आयोग (Central Bureau of Irrigation) की स्थापना की गयी। अप्रैल, 1945 ई० में भारत सरकार ने केन्द्रीय जल, सिंचाई, बिजली एवं नौकाचलन आयोग (Central Water, Power, Irrigation and Navigation Commission) की नियुक्ति की। इस प्रकार ब्रिटिश शासनकाल में सिंचाई के साधनों का विकास अवश्य हुआ, किन्तु सरकार ने सुरक्षात्मक कार्यों की अपेक्षा उत्पादक कार्यों पर ही अधिक ध्यान दिया। उत्पादक कार्यों से शीघ्र पूँजी एवं व्याज की वापसी हो जाती है, अतः सरकार द्वारा इन्हीं योजनाओं को प्राथमिकता दी जाती थी। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि “ब्रिटिश सरकार की सिंचाई नीति एक ऐसी सरकार द्वारा अनियोजित एवं असमन्वित विकास की



गाथा है जो एक ऐसे देश के लिए सिंचाई की सुविधाएँ प्रदान करने की सम्भावनाओं को महसूस करने में विफल रही जहाँ पर जल भूमि से अधिक महत्वपूर्ण है।" (The story of irrigational schemes in India under the British is a story of planless unco-ordinated efforts by a Government which failed to realise the potentialities of offering irrigation facilities to a country where water have been said to be more valuable than land.)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद की सिंचाई नीति (Irrigation Policy of the Government after the Independence)—देश-विभाजन के बाद हमारे समक्ष सबसे बड़ी समस्या खाद्यान्न एवं कुछ आवश्यक कच्चे पदार्थों के अभाव की समस्या थी। इस समस्या के समाधान के लिए सरकार कृषि-विकास पर विशेष रूप से जोर दे रही है और कृषि-विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत सिंचाई के साधनों के विकास को प्राथमिकता दी जाती है। सिंचाई के साधनों के विस्तार के लिए सरकार द्वारा अनेक नदी-घाटी योजनाएँ (River Valley Projects) कार्यान्वित की जा रही हैं। इन योजनाओं का व्यय केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा सम्मिलित रूप से वहन किया जाता है। इन वृहत् सिंचाई योजनाओं के अतिरिक्त सरकारों द्वारा कुछ मध्यम आकार की योजनाएँ भी कार्यान्वित की जा रही हैं। द्वितीय योजना के अन्तर्गत मध्यम आकार की योजनाओं को ही प्रधानता दी गयी थी। इसका कारण यह था कि इन योजनाओं से वृहत् योजनाओं की अपेक्षा शीघ्र लाभ प्राप्त होता है। साथ ही, इनसे प्राप्त लाभ में एक प्रकार की निरंतरता भी बनी रहती है।

इसके अतिरिक्त 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अन्तर्गत लघु सिंचाई योजनाओं (Minor Irrigation) की ही प्रधानता थी। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सरकार किसानों को लघु सिंचाई कार्यों की व्यवस्था के लिए प्रोत्साहित करती थी; जैसे—कुएँ बनवाने के लिए ऋण अथवा अनुदान प्रदान करती है, नल-कूप लगाये जाते हैं, नये-नये तालाबों का निर्माण किया जाता है अथवा प्राचीन तालाबों का जीर्णोद्धार किया जाता है। इनके अतिरिक्त सरकार द्वारा किसानों को रियायती मूल्य पर रहट तथा पम्प वगैरह का भी वितरण किया जाता है।

इस प्रकार सरकार द्वारा सिंचाई के साधनों के विकास के लिए बहुत अधिक प्रयत्न किये जा रहे हैं तथा इन प्रयत्नों में सफलता भी मिली है। किन्तु समस्या की गम्भीरता को देखते हुए कहना पड़ता है कि इस क्षेत्र में और अधिक तत्परता की आवश्यकता है। वास्तव में, आजकल सरकार द्वारा सिंचाई के विकास के लिए किये गये प्रयत्नों

में निम्नलिखित कठिनाइयाँ भी हैं—(1) वित्त के अभाव—सर्वप्रथम कठिनाई तो वित्त के अभाव की है। सरकार आजकल देश के आर्थिक विकास के लिए बहुत ही प्रयत्नशील है। किन्तु, देश में आवश्यक वित्त एवं विदेशी विनिमय का अभाव है। इस कमी को दूर करने के लिए सरकार विदेशों तथा विश्व बैंक से ऋण ले रही है। (2) आवश्यक यन्त्रों एवं सामग्री का अभाव :—दूसरी कठिनाई आवश्यक यन्त्रों एवं सामग्रियों के अभाव-सम्बन्धी कठिनाई है। हमारे देश में सिंचाई की बड़ी-बड़ी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक यन्त्रों एवं सामग्री का भी अभाव है। इस अभाव को दूर करने के लिए विदेशों से इनका आयात किया जाता है। किन्तु, विदेशी विनिमय-सम्बन्धी कठिनाई के फलस्वरूप इनका आयात पर्याप्त मात्रा में नहीं किया जा सकता। (3) आवश्यक विशेषज्ञों का अभाव :—भारत में सिंचाई की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक विशेषज्ञों का भी अभाव है। इस अभाव को दूर करने के लिए सरकार द्वारा प्रशिक्षण के लिए बहुत-से भारतीय विदेशों में भेजे जा रहे हैं। (4) किसानों में अनुत्तरदायित्व की भावना :—भारतीय किसान सिंचाई के क्षेत्र में अपने दायित्व पर भी ध्यान नहीं देते। वे नहर तथा नल-कूपों के जल को सरकारी जल समझ कर उसे योही बर्बाद करते हैं जबकि दूसरे किसानों के खेत जल के बगैर सूखते रहते हैं। उपरोक्त कठिनाइयों के कारण भारत में सिंचाई के क्षेत्र में अपेक्षित प्रगति नहीं हो रही है।

वर्तमान सरकार की सिंचाई-सम्बन्धी नीति के दोष (Defects of the Irrigation Policy of the present Government) :—वर्तमान सरकार की सिंचाई नीति वास्तव में प्रशंसनीय है। फिर भी इस नीति में निम्नलिखित दोष हैं जिनका निराकरण सिंचाई के विकास के लिए अति आवश्यक है—(क) सर्वप्रथम दोष तो यह है कि सरकार द्वारा वृहत् सिंचाई की योजनाओं पर ही अधिक जोर दिया जा रहा है। लघु सिंचाई योजनाओं पर पूरा जोर नहीं दिया जाता है। किन्तु हम जानते हैं कि दोनों प्रकार के कार्यक्रमों के अपने-अपने अलग-अलग लाभ हैं। अतः सिंचाई-सम्बन्धी नीति में दोनों के बीच यथासम्भव संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न अनिवार्य हो जाता है। साथ ही, वृहत् योजनाओं के तैयार होने में बहुत अधिक समय लगता है, इसमें पूँजी की भी बहुत अधिक आवश्यकता पड़ती है तथा इनके लिए यन्त्र एवं सामग्रियों को प्राप्त करने के लिए हमें विदेशों पर मुख्य रूप से आश्रित रहना पड़ता है। लघु कार्यक्रम के साथ ऐसी बात नहीं पायी जाती है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर द्वितीय योजना में मध्यम आकार की योजनाओं को ही प्रदान दी गयी थी। (ख) सरकार की सिंचाई-सम्बन्धी नीति का दूसरा दोष यह है कि सरकार ने सिंचाई की दर को बहुत अधिक रखा



जिससे किसान साधारणतः सिंचाई के साधनों का पूरा-पूरा प्रयोग नहीं कर पाते। नल-कूपों के साथ यह बात मुख्य रूप से पाई जाती है। सिंचाई की दर के निर्धारण में जनता की आर्थिक स्थिति तथा सिंचाई से प्राप्त लाभों को ध्यान में रखना आवश्यक है। (ग) 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' के अन्तर्गत व्यय की जाने वाली कुल रकम का अधिकतर भाग यों ही बेकार हो जाता था। इसके लिए देश में समुचित प्रशासनिक संगठन की आवश्यकता है। अतः, इन कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिए देश में समुचित प्रशासनिक व्यवस्था की आवश्यकता है।

### लघु सिंचाई कार्य

#### (Minor Irrigation Works)

वृहत् सिंचाई योजना के साथ-साथ देश में लघु सिंचाई की भी अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। आजकल हमारे देश में लघु सिंचाई कार्यों पर सरकार द्वारा विशेष रूप से जोर दिया जा रहा है। 1968-69 ई० में कुल 360 लाख हेक्टर सिंचित क्षेत्र में से लघु सिंचाई कार्यों के द्वारा कुल प्रायः 190 लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त थी। यह कुल सिंचित भूमि का प्रायः 53 प्रतिशत भाग था। लघु सिंचाई कार्यों के अंतर्गत कुएँ, नल-कूप, तालाब या छोटी-छोटी नदियों के बाँध आदि सम्मिलित हैं।

देश की सिंचाई-व्यवस्था में लघु एवं वृहत् दोनों ही प्रकार के कार्यों का अलग-अलग महत्त्व है। वास्तव में, सिंचाई के इन दोनों कार्यक्रमों को एक-दूसरे का पूरक समझना चाहिए तथा प्रत्येक क्षेत्र के लिए ऐसी योजना की व्यवस्था होनी चाहिए जो उस क्षेत्र-विशेष के लिए अति उपयुक्त हो।

पंचवर्षीय योजनाओं में लघु सिंचाई कार्य (Minor Irrigation works in Five Year Plans) :—प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) में लघु सिंचाई कार्यों द्वारा कुल 17 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई। 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' के अन्तर्गत इन्हीं योजनाओं को प्रधानता दी गयी थी। इनमें कुओं के मरम्मत एवं निर्माण, नल-कूपों तथा तालाबों के निर्माण पर अधिक जोर दिया जाता था। प्रथम योजना काल में 4422 नल-कूप लगाये गये थे जिनसे कोई 8 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा मिलने की आशा थी।

1. योजना आयोग के अनुसार लघु सिंचाई कार्यक्रम के अन्तर्गत वे कार्यक्रम आते हैं जिनमें 15 लाख रुपये या इससे कम खर्च होता है। इसके अतिरिक्त धरती के नीचे (ground water schemes) के सभी कार्यक्रम इसके अन्तर्गत ही आते हैं। मध्यम सिंचाई कार्यक्रमों में उन कार्यक्रमों को सम्मिलित किया जाता है जिनमें 15 लाख रुपये से 5 करोड़ रुपये तक का व्यय होता है तथा 5 करोड़ रुपये से अधिक व्यय वाले कार्यक्रमों की वृहत् सिंचाई अब लघु सिंचाई कार्यों के अंतर्गत उन्हीं कार्यक्रमों को रखा जाता है जिसमें 2 हजार हेक्टर तक भूमि की सिंचाई की सुविधा वर्तमान रहती है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में लघु सिंचाई कार्यक्रमों पर 250 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। द्वितीय योजना के अन्त में 1960-61 में लघु सिंचाई के साधनों के द्वारा कुल 148 लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधा उपलब्ध थी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) के अन्त में 1965-66 ई० में लघु सिंचाई कार्यक्रमों के द्वारा कुल 170 लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई। इस मद में योजना काल में 270 करोड़ रुपये व्यय हुए।

तीनों वार्षिक योजनाओं (Annual Plans) में लघु सिंचाई कार्यक्रमों पर 1966-69 के बीच 314 करोड़ रुपये व्यय किया गया। 1968-69 में लघु सिंचाई के साधनों द्वारा कुल 190 लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई होती थी।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में इस मद में 519 करोड़ रुपये का व्यय प्रस्तावित था। इससे योजना काल में 32 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त होने का अनुमान था।

अशोक मेहता समिति के अनुसार देश के विभिन्न भागों में लघु सिंचाई के साधनों के विस्तार पर भी पर्याप्त जोर दिया जाना चाहिए। संतोष का विषय है कि सरकार इन कार्यक्रमों पर आजकल विशेष रूप से जोर दे रही है। नये-नये कुएँ, तालाब, नल-कूप आदि बनाये जा रहे हैं। किन्तु समिति के अनुसार पुराने कुओं तथा तालाबों की मरम्मत पर जरा भी ध्यान नहीं दिया जा रहा है जिससे लघु सिंचाई कार्यों से वास्तविक लाभ में कोई वृद्धि नहीं हो रही है। पहले तालाबों की मरम्मत जमींदारों द्वारा की जाती थी, किन्तु जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के बाद सरकार द्वारा इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा है। यह निश्चित रूप से ही खेदजनक बात है।

### पंचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई (Irrigation in Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में सिंचाई कार्यों की प्रगति (Progress of Irrigation in the First Five Year Plan) :—प्रथम योजना में सिंचाई के विकास को उच्च प्राथमिकता प्रदान की गयी थी। योजना काल में वृहत् एवं



मध्यम सिंचाई तथा ब्रिजली की कुल 172 योजनाएँ तैयार की गयी थीं जिनमें से योजनाकाल में 153 पर कार्य प्रारम्भ किया गया। इन योजनाओं में 6 बहुदृष्टीय योजनाएँ थीं। इन योजनाओं से 1955-56 ई० तक 85 लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिंचाई का लक्ष्य था, किन्तु इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो पायी। योजनाकाल में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं से 13 लाख हेक्टर तथा लघु सिंचाई की योजनाओं से 7 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई। इस प्रकार कुल सिंचित भूमि का क्षेत्र 1950-51 ई० में 206 लाख हेक्टर से बढ़कर 1955-56 ई० में 226 लाख हेक्टर हो गया।

**द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सिंचाई कार्यों की प्रगति (Progress of Irrigation in the Second Five Year Plan) :**—द्वितीय योजना काल में सिंचाई के साधनों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में प्रायः 72 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि की सिंचाई का आयोजन था। इसमें से 26 लाख हेक्टर भूमि में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं द्वारा तथा 36 लाख हेक्टर भूमि में लघु-सिंचाई की योजनाओं द्वारा सिंचाई का आयोजन था। योजनाकाल में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं पर कुल 370 करोड़ रुपये व्यय हुआ। द्वितीय योजनाकाल में सिंचाई-कार्य के अन्तर्गत 159 नयी योजनाएँ सम्मिलित की गयी थीं। इनमें से अधिकांश मध्यम श्रेणी की योजनाएँ थीं। योजनाकाल में सिंचित भूमि का क्षेत्रफल 1955-56 ई० में 226 लाख हेक्टर से बढ़कर 1960-61 ई० में 279 लाख हेक्टर हो गया। इस प्रकार द्वितीय योजना के सिंचाई-सम्बन्धी लक्ष्य पूरे नहीं हो सके। प्रथम एवं द्वितीय योजनाकाल में दस वर्षों में सिंचाई-प्राप्त क्षेत्र 1950-51 ई० में 206 लाख हेक्टर से बढ़कर 1960-61 ई० में 279 लाख हेक्टर हो गया।

**तृतीय पंचवर्षीय योजना में सिंचाई कार्यों की प्रगति (Progress of Irrigation in the Third Five Year Plan) :**—तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई के कार्यों पर 583 करोड़ रुपये तथा बाढ़-नियंत्रण पर 81.5 करोड़ रुपये व्यय किया गया। साथ ही, योजनाकाल में लघु-सिंचाई कार्यक्रम पर 270 करोड़ रुपये व्यय हुआ। योजनाकाल में वृहत्, मध्यम एवं लघु-सिंचाई कार्यक्रमों द्वारा कुल 43 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई। इस प्रकार देश में कुल सिंचित भूमि का क्षेत्रफल 1960-61 ई० में 279 लाख हेक्टर से बढ़कर तृतीय योजना के अन्त में, यानी 1965-66 ई० तक 322 लाख हेक्टर हो गया। योजना काल में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं द्वारा प्रायः 21 लाख हेक्टर तथा लघु सिंचाई की योजनाओं द्वारा लगभग 32 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि को सिंचाई के अन्तर्गत लाया गया।

**तीन वार्षिक योजनाओं (Three Annual Plans)** में सिंचाई की मद में 414 करोड़ रुपये तथा बाढ़-नियंत्रण पर 43 करोड़ रुपये व्यय किया गया। इस अवधि (1966-67) में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं से कुल 18 लाख हेक्टर तथा लघु सिंचाई के कार्यक्रमों के द्वारा कुल 20 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई।

**चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan)** में सिंचाई की मद में 1170 करोड़ रुपये का व्यय हुआ। योजना काल में वृहत् सिंचाई कार्यों के द्वारा 26 लाख हेक्टर तथा लघु सिंचाई कार्यों द्वारा 45 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई।

निम्नलिखित तालिका से पंचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई के क्षेत्र की प्रगति का अन्दाजा लगता है :—

#### सिंचाई-प्राप्त क्षेत्र (लाख हेक्टर में)

|                 | 1960-61 | 1965-66 | 1968-69 | 1973-74 |
|-----------------|---------|---------|---------|---------|
| वृहत् एवं मध्यम | 131     | 152     | 170     | 196     |
| लघु सिंचाई      | 148     | 170     | 190     | 235     |
| कुल             | 279     | 322     | 360     | 431     |

**पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan) :**—पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में सिंचाई एवं बाढ़-नियंत्रण की मद में कुल 3440 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। इसके अतिरिक्त लघु सिंचाई के विकास मद में 742 करोड़ रुपये का आयोजन था। पाँचवीं योजना काल में कुल 131 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्रदान करने का आयोजन था। इसमें वृहत् एवं मध्यम सिंचाई द्वारा 58 लाख हेक्टर तथा लघु सिंचाई द्वारा 73 लाख

हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की व्यवस्था करने का आयोजन था।

किन्तु पाँचवीं योजना के चार वर्षों (1974-78) में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई के कार्यक्रमों की मद में वास्तविक व्यय 2460 करोड़ रुपये हुआ तथा 43 लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई। इनके अतिरिक्त लघु सिंचाई के कार्यों पर सरकार द्वारा चार वर्षों में



621 करोड़ रुपये व्यय हुआ तथा 43 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई।

**छठी पंचवर्षीय योजना में सिंचाई (Irrigation in the Sixth Five Year Plan) :—**1978-83 (छठी पंचवर्षीय योजना) में भी सिंचाई के साधनों के विस्तार पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया जा रहा है। वास्तव में कृषि के उत्पादन में वृद्धि के लिए सिंचाई के साधनों का विस्तार बिल्कुल अनिवार्य है। छठी योजना के प्रारम्भ से यानी 1978-79 से सिंचाई के साधनों का वर्गीकरण एक नये आधार पर किया जा रहा है जिसके अंतर्गत (क) 2000 हेक्टर तक सिंचाई वाले कार्य लघु कार्य (Minor Schemes); (ख) 2000 हेक्टर से 10 हजार हेक्टर तक की क्षमता वाले कार्य मध्यम कार्य (Medium Schemes) तथा (ग) 10 हजार हेक्टर से अधिक क्षमता वाले कार्य बृहत् कार्य (Major Schemes) कहे जायेंगे। छठी योजना की अवधि में सिंचाई के कार्यों के विस्तार पर कुल 9650 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। इसमें से 7250 करोड़ रुपये बृहत् एवं मध्यम सिंचाई के कार्यों पर, 1745 करोड़ रुपये लघु सिंचाई के कार्यों पर तथा 675 करोड़ रुपये बाढ़-नियंत्रण पर व्यय किया जायगा। छठी योजना में 170 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि की सिंचाई का आयोजन है। इसमें से 80 लाख हेक्टर बृहत् योजनाओं के द्वारा तथा 90 लाख लघु सिंचाई कार्यों के अंतर्गत लाने का आयोजन है।

**सिंचाई एवं कृषि का स्थायित्व (Irrigation and Agricultural Stability) :—**अब हमें यह देखना है कि सिंचाई के साधनों में विस्तार का कृषि के स्थायित्व पर क्या प्रभाव पड़ा है? उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि देश में सिंचाई के क्षेत्र में धीरे-धीरे वृद्धि हो रही है। आयोजन की अवधि में 1951-52 से 1976-77 के बीच 4600 करोड़ रुपये सिंचाई के कार्यक्रमों पर व्यय किया गया। कुल सिंचित भूमि का क्षेत्र 1950-51 ई० में 206 लाख हेक्टर, यानी कुल कृषि की जानेवाली भूमि का केवल 18 प्रतिशत भाग था। यह बढ़कर 1960-61

ई० में 279 लाख हेक्टर, यानी कुल कृषि की जानेवाली भूमि का प्रायः 19 प्रतिशत भाग तथा 1973-74 में बढ़कर 431 लाख हेक्टर, यानी कुल सिंचित भूमि का 23 प्रतिशत भाग हो गया। यह प्रगति उत्साहजनक नहीं कही जा सकती। इससे यह कहा जा सकता है कि अब भी देश पूर्ण रूप से कृषि के लिए मानसून पर ही आश्रित है। किन्तु फिर भी सिंचाई के क्षेत्र में पिछले कुछ वर्षों में प्रगति अवश्य हुई है। यही कारण है कि प्रतिवर्ष देश के किसी-न-किसी भाग में बाढ़ तथा सूखा के बावजूद खाद्यान्न की कुल उपज पिछले कुछ वर्षों से निरन्तर बढ़ रही है। इससे स्पष्ट है कि सिंचाई के साधनों में विस्तार से कृषि के स्थायित्व में वृद्धि हुई है।

इस सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि सिंचाई के क्षेत्र के विस्तार के सम्बन्ध में भी सहकारिता का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। सहकारिता के आधार पर सिंचाई के विस्तार का प्रयास कुछ क्षेत्रों में किया भी गया है। उदाहरण के लिए, आन्ध्र प्रदेश में मुसी सिंचाई योजना को सहकारिता के आधार पर पूरा करने का प्रयास किया जा रहा है। इसी प्रकार महाराष्ट्र के औरंगाबाद तालुका में कुओं के निर्माण के लिए सहकारी समितियों का निर्माण हुआ है। इसी आधार पर अन्य राज्यों में भी सहकारी समितियों का निर्माण किया जा सकता है। अतएव सिंचाई के क्षेत्र में भी सहकारिता का महत्व कम नहीं है। सिंचाई के साधनों के विस्तार से कृषि के क्षेत्र में स्थायित्व की मात्रा निश्चित रूप से बढ़ेगी।

**सिंचाई आयोग (Irrigation Commission) :—**भारत सरकार ने अप्रैल, 1966 ई० में श्री अजीत प्रसाद जैन की अध्यक्षता में एक सिंचाई आयोग की नियुक्ति की थी। सिंचाई आयोग का प्रतिवेदन अब इस क्षेत्र में सिंचाई की योजना तैयार करने में सहायता प्राप्त करेगा ऐसी आशा की जाती है। सिंचाई आयोग के प्रतिवेदन के आधार पर ही सिंचाई के कार्यों का नये तरीके से वर्गीकरण किया गया है।

#### विशेष अध्ययन-सूची

1. Planning Commission : The First Five Year Plan, Ch. XIV
2. " " : The Second Five Year Plan Ch. XVII
3. " " : The Third Five Year Plan, Ch. XXIV
4. " " : Fourth Five Year Plan (1969-74) Ch. X
5. " " : Fifth Five Year Plan (1974-79)
6. " " : Draft Five Year Plan (1978-83)
7. Wadia and Merchant : Our Economic Problem, Ch. IX
8. India : 1976



## अध्याय : 19

## जोतों का आकार तथा सहकारी कृषि (Size of Holdings and Co-operative Farming)

**प्राक्कथन :—**भारतीय कृषि की पिछड़ी हुई स्थिति और किसानों की निर्धनता के जो अनेक कारण हैं उनमें से जोतों का उपविभाजन एवं अपखण्डन भी एक प्रमुख कारण है। निर्माण उद्योगों की तरह कृषि में भी उत्पादन का एक आदर्श अनुमाप होता है जो उत्पादक के दृष्टिकोण से सर्वोत्तम होता है। एक सीमा के बाद इसमें कमी आने से उत्पादन का खर्च बढ़ने लगता है और धीरे-धीरे आर्थिक जोत समाप्त होने लगती है। कहा भी जाता है कि भारत छोटी-छोटी जोतों का देश है। उप-विभाजन एवं अपखण्डन की समस्या पर विचार करने से इसके दोष स्पष्ट हो जाते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप कृषि-योग्य भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हो जाती है जिससे कृषि-कार्य कठिन और अधिक खर्चीला हो जाता है। साथ ही, इसके फलस्वरूप भारतीय कृषि-व्यवस्था की अन्य आधारभूत दुर्बलताएँ भी उभर आती हैं। डॉ० मन्न के शब्दों में "यह साहस को समाप्त करता है, श्रम की बरबादी करता है, खेतों की चौहद्दी अथवा मेड़ में बहुत-सी भूमि को बेकार बना देता है, गहरी खेती को असंभव बनाता है तथा अधिक घनाद्वय व्यक्तियों को अच्छी कृषि-सम्पत्ति के खरीददार होने में बाधक सिद्ध होता है, इत्यादि।" (It destroys enterprise, results in the enormous wastage of labour, leads to a very large loss of land owing to boundries and makes it impossible to cultivate as intensively as would otherwise be possible) इससे कृषि-व्यवस्था में शिथिलता आ जाती है। इस प्रकार जोतों का उपविभाजन एवं अपखण्डन भारतीय कृषि की एक आधारभूत समस्या है जिसके समाधान द्वारा ही कृषि में स्थायी सुधार लाया जा सकता है। वास्तव में, छोटी एवं अनार्थिक जोतें ही कृषि-विकास के मार्ग की अनेक कठिनाइयों की जड़ हैं। (Small and uneconomic holdings are at the root of many of the difficulties in the way of agricultural development.)

### आर्थिक या अनुकूलतम जोत (Economic or Optimum Holding)

हमारे देश में आर्थिक जोतों के निर्माण पर आजकल बहुत अधिक जोर दिया जा रहा है; किन्तु आर्थिक जोत कहते किसे हैं? इसकी अनेक परिभाषाएँ दी गयी हैं। उदाहरण के लिए, डाक्टर मन्न के अनुसार आर्थिक जोत उस जोत

को कहते हैं जिससे एक औसत परिवार का संतोषजनक तरीके से निर्वाह हो सके। (Economic holding is that which will provide for an average family at the minimum standard of life considered satisfactory.) कीटिंगके अनुसार आर्थिक जोत उस जोत को कहा जाता है जिससे कृषि-कार्यों का आवश्यक व्यय निकाल देने के बाद किसान अपने परिवार के निर्वाह के लिए पर्याप्त मात्रा में उत्पादन कर सके। दूसरे शब्दों में "आर्थिक जोत उस जोत को कहते हैं जिसपर कृषि से एक परिवार का भरण-पोषण किसी बाह्य सहायता के बगैर उचित तरीके से हो सके।" (An economic holding consists of that area of land, the cultivation of which enables a family of farmers to enjoy a reasonable standard of living without the help from outside sources.)

वास्तव में, भारत में आर्थिक जोत के आकार के सम्बन्ध में कोई निश्चित कथन सम्भव नहीं है। विभिन्न प्रदेशों की आर्थिक जोत एक समान नहीं हो सकती। जो क्षेत्र एक प्रदेश के लिए आर्थिक जोत समझा जाता है वह दूसरे प्रदेश के लिए आर्थिक नहीं भी हो सकता है। कीटिंग महोदय के अनुसार सूरत जिले में एक माली 3 एकड़ से ही अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकता है जबकि दक्षिण के शुष्क भागों में खराब मिट्टी वाली 30 एकड़ भूमि भी एक परिवार के लिए अपर्याप्त ही सिद्ध होगी। इस प्रकार आर्थिक जोत एक सापेक्षिक शब्द है तथा विभिन्न परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होती है जिसमें कृषि की प्रणाली, भूमि की उर्वरा-शक्ति, फसलों का स्वभाव, सहकारिता का विकास तथा यातायात एवं संवादवाहन की सुविधाएँ आदि उल्लेखनीय हैं। यदि खेती का तरीका प्राचीन है तो कम भूमि और यदि आधुनिक है तो अधिक भूमि आर्थिक जोत के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार, सहकारी कृषि के लिए आर्थिक जोत का क्षेत्रफल बड़ा होना अनिवार्य है। फसलों के स्वभाव पर भी आर्थिक जोत का आकार निर्भर करता है। अधिक उर्वर भूमि में आर्थिक जोत का आकार छोटा तथा कम उर्वर-भूमि में बड़ा होगा।

कांग्रेस कृषि-सुधार समिति ने कृषि-जोत के आकार को निर्धारित करने के लिए तीन सानदण्ड प्रस्तावित किये थे :—

(1) जीवन-स्तर :—यानी जोतों का आकार इतना होना चाहिए जिससे कि एक कृषक परिवार को यथोचित



जीवन-स्तर बनाये रखने के लिए पर्याप्त मात्रा में उपज प्राप्त हो सके।

(2) रोजगार :—यानी, जोत का आकार इतना होना चाहिए कि इससे एक सामान्य परिवार तथा बलों की एक जोड़ी को पूरे समय के लिए काम उपलब्ध हो सके।

(3) तकनीकी सुविधाएँ :—यानी, आर्थिक जोत के निर्धारण में प्रत्येक क्षेत्र की कृषि-प्रणाली तथा तकनीकी व्यवस्था को भी ध्यान में रखना चाहिए।

अतः आर्थिक जोत का निर्धारण एक विवादग्रस्त विषय है। फिर भी, उक्त बातों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि “आर्थिक जोत वह जोत है जिस पर एक औसत परिवार के श्रम और पूँजी का आदर्श तरीके से अधिकतम उपयोग सम्भव हो तथा परिवार के सदस्यों का भरण-पोषण भी संतोषजनक न्यूनतम जीवन-स्तर के अनुकूल हो सके।”

उपविभाजन एवं अपखण्डन का अर्थ (Meaning of Subdivision and Fragmentation) :—जोतों का उपविभाजन एवं अपखण्डन दोनों दो पृथक् चीजें हैं। उपविभाजन का अर्थ परिवार के विभाजन अथवा अन्य कारणों से एक जोत के कई व्यक्तियों के बीच विभाजित होने से है। हमारे देश में यह एक परिपाटी-सी हो गयी है कि भू-स्वामी की मृत्यु के बाद उसकी जोत उसके सभी उत्तराधिकारियों में बराबर-बराबर बँट जाती है। उपविभाजन की प्रक्रिया हमारे देश में एक लम्बे समय से ही चली आ रही है और आज तक इसका क्रम जारी है। अनेक पीढ़ियों से चली आनेवाली उपविभाजन की प्रक्रिया के बड़ी-बड़ी जोतों को कितने ही छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित कर डाला है।

अपखण्डन (Fragmentation) का अर्थ एक ही व्यक्ति की कुल जोत के अनेक छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होना है जो एक ही स्थान में न होकर यत्र-तत्र बिखरे रहते हैं, यानी एक दूसरे से सर्वथा पृथक् होते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि प्रत्येक उत्तराधिकारी भूमि की उपजाऊ शक्ति एवं स्थिति में विभिन्नता की दृष्टि से प्रत्येक प्रकार की भूमि में अपना हिस्सा लेना चाहता है जिससे जोतों का अपखण्डन बढ़ते ही

जा रहा है। (Fragmentation is due to the subdivision of property among several joint owners each of whom wants a share in each quality of ancestral land.) अतः अपखण्डन, यानी जोतों का अनेक पृथक्-पृथक् टुकड़ों में बँटवारा वस्तुतः उपविभाजन का ही परिणाम है। किन्तु जहाँ उपविभाजन का सम्बन्ध जोतों के क्षेत्रफल से है वहाँ अपखण्डन का सम्बन्ध क्षेत्रफल एवं उसकी स्थिति दोनों से है।

भारत में जोतों के आकार का ढाँचा

(Size of Pattern of Holdings in India)

भारत में जोतों का आकार बहुत ही छोटा एवं अनाधिक है। उपविभाजन एवं अपखण्डन की प्रक्रिया सदियों से चली आ रही है जिससे जोतों का आकार निरन्तर छोटा होते जा रहा है। अखिल भारतीय कृषि-श्रम जाँच समिति ने अपने प्रतिवेदन में यह बतलाया था कि भारत में अधिकांश जोतें 2 एकड़ या इससे भी कम की हैं। निम्नांकित तालिका से विश्व के अन्य देशों की अपेक्षा भारत में औसत जोतों के आकार का अन्दाजा लगता है :—

विश्व के कुछ प्रमुख देशों में जोतों का

औसत आकार

| देश                   | आकार         | देश            | आकार        |
|-----------------------|--------------|----------------|-------------|
| इंग्लैंड              | 40.6 हेक्टर  | नार्वे         | 17.7 हेक्टर |
| न्यूजीलैंड            | 231.6 हेक्टर | जापान          | 1.8 ”       |
| संयुक्त राज्य अमेरिका | 122.5 हेक्टर | भारत (1961-62) | 2.6 ”       |

इनसे भारत में जोतों के उपविभाजन का अन्दाजा लगता है। विश्व खाद्य-संगठन के विश्व कृषि-गणना की योजना के अन्तर्गत नेशनल सैम्पुल सर्वे (N. S. S.) की 17वीं गणना में (सितम्बर 1961 से जुलाई 1962 के बीच कार्यशील जोतें (Operational holding) तथा इनके अन्तर्गत कृषि की जानेवाली भूमि के सम्बन्ध में आँकड़े एकत्र किये गये थे। इस सर्वेक्षण के अनुसार देश में 507.6 लाख कार्यशील जोतें थीं जिनमें कुल 3296 लाख एकड़ भूमि में खेती की जाती थी। इस प्रकार कार्यशील जोत का औसत आकार सम्पूर्ण भारत के लिए 6.5 एकड़ पड़ता है।

पंजाब, राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, तथा मैसूर में जोतों का आकार क्रमशः 13.8 एकड़, 16 एकड़, 16 एकड़, 15.9 एकड़ तथा 12.5 एकड़ था जबकि केरल में यह केवल 1.8 एकड़, बिहार में 4.8 एकड़,



उड़ीसा में 5.1 एकड़, पश्चिमी बंगाल में 4.1 एकड़ तथा तमिलनाडु में 4.6 एकड़ ही था।

1960-61 के नेशनल सैम्पल सर्वे (N. S. S.) द्वारा आयोजित जोतों के सर्वेक्षण के अनुसार 7.25 करोड़ परिवारों के पास कुल कृषि-भूमि का क्षेत्रफल 32.9 करोड़ एकड़ था, यात्री प्रति परिवार औसत क्षेत्र 4.55 एकड़ था। जोतों के स्वामित्व के अनुसार विचार करने पर (Ownership holding) 1960-61 में 6.4 करोड़ परिवारों के पास कुल लगभग 31.79 करोड़ एकड़ स्वयं की भूमि थी, यानी जोत का औसत आकार 4.98 एकड़ था।

भारत में जोतों के उपविभाजन की सीमा का अन्दाजा निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> से भी लगाया जा सकता है :—

भारत में जोतों का वितरण आकार के अनुसार

|                    | जोतों की<br>संख्या<br>लाख में | कुल का<br>प्रतिशत | क्षेत्र<br>लाख<br>हेक्टर में | कुल का<br>प्रतिशत |
|--------------------|-------------------------------|-------------------|------------------------------|-------------------|
| जोतों का क्षेत्र   |                               |                   |                              |                   |
| एक हेक्टर से कम    | 336.7                         | 50.6              | 145.0                        | 9.0               |
| 1 से 2 हेक्टर तक   | 134.3                         | 19.1              | 193.0                        | 12.0              |
| 2 से 4 हेक्टर तक   | 106.8                         | 15.5              | 300.0                        | 18.5              |
| 4 से 5 हेक्टर तक   | 26.8                          | 3.8               | 119.0                        | 7.4               |
| 5 से 10 हेक्टर तक  | 52.5                          | 7.4               | 363.0                        | 22.4              |
| 10 से 50 हेक्टर तक | 27.0                          | 4.0               | 441.0                        | 27.3              |
| 50 हेक्टर से अधिक  | 9.6                           | 0.1               | 60.0                         | 3.7               |

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि भारत में कुल जोतों का प्रायः 50 प्रतिशत भाग एक हेक्टर अथवा इससे भी कम का है। देश की कुल कृषित भूमि का 21 प्रतिशत भाग 2 हेक्टर से कम है। दूसरी ओर 4.1 प्रतिशत जोतों जो 10 हेक्टर से बड़ी हैं, के अन्तर्गत 26 प्रतिशत भाग भूमि का क्षेत्र है। इससे देश में भूमि के वितरण की विषमता स्पष्ट हो जाती है। देश के अधिकांश किसानों के पास कुल भूमि का एक बहुत ही छोटा भाग है जबकि थोड़े से किसानों के पास कुल भूमि का एक बहुत बड़ा क्षेत्र है। कृषि की निचली सीढ़ी पर सर्वाधिक भीड़ है।

अपखंडन की सीमा (Extent of Fragmentation)—भारत में केवल जोतों का आकार ही छोटा नहीं; वरन् एक ही किसान की जोत विभिन्न टुकड़ों में विभाजित है जो गाँव के एक स्थान में नहीं होकर भिन्न-भिन्न भागों में बिखरी होती हैं। दूसरे शब्दों में, यहाँ उप-विभाजन के साथ-साथ अपखंडन की समस्या भी वर्तमान है। वास्तव में, अपखंडन की समस्या उपविभाजन के साथ-ही-साथ उत्पन्न होती है। कृषि-उत्पादन की किसी

भी योजना को कार्यान्वित करने में अपखंडन सबसे बड़ी बाधा है। राष्ट्रीय सैम्पल सर्वे के 17 वें दौर में 1960-61 में एकत्र सूचना के अनुसार देश में जोतों का अपखंडन इस प्रकार से था—2.5 से 5 एकड़ तक की जोतें कुल जोतों का 22.6 प्रतिशत थीं। इनमें 4.06 करोड़ एकड़ भूमि सम्मिलित थी। इसमें प्रति जोत 6 टुकड़ों में विभाजित थे तथा प्रत्येक टुकड़ा आधा एकड़ से थोड़ा अधिक था। इसी प्रकार 5.0 से 7.49 एकड़ की जोतों का अनुपात 12.8 प्रतिशत था, जिसमें 3.87 करोड़ एकड़ भूमि थी। इसमें औसत रूप में 6.8 टुकड़ों से तथा प्रत्येक में 0.87 एकड़ भूमि थी। बड़ी जोतों में भी इसी प्रकार बहुत अधिक टुकड़ों थे। राज्यों के अनुसार स्थिति के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल एवं उड़ीसा में टुकड़ों भी अधिक हैं और उनका औसत आकार भी बहुत छोटा है। 1960-61 में अपखंडन की यही स्थिति थी। अब, 1977 में जब कि 18 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, स्थिति निश्चय ही और अधिक खराब हो गयी होगी। अपखंडन के दोषों की चर्चा करते हुए प्रो० बी० एम० मिन्हास (B. M. Minhas) का कहना है कि “प्रत्येक जोत कई टुकड़ों में तो विभक्त है ही, लेकिन ये टुकड़े इतने अस्त-व्यस्त ढंग से पड़े हैं कि जहाँ सिंचाई सुलभ है वहाँ भी इसका सर्वोत्तम उपयोग नहीं हो पाता और जहाँ पर कृषि वर्षा पर आश्रित है वहाँ मिट्टी और नमी के उत्तम संरक्षण की दशाएँ बिगड़ जाती हैं। इन्हीं कारणों से भूमि एवं जल-निकास का भावी नियोजन एवं पानी का निकास एवं नयी रक्षा के कार्य भी बिगड़ जाते हैं।”

जोतों के उपविभाजन तथा अपखण्डन के कारण (Causes of Sub-division and Fragmentation of Holdings)

भारत में जोतों के उपविभाजन तथा अपखण्डन के बहुत से कारण बतलाये जाते हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

(i) जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि (Excessive Growth of Population) :—जनसंख्या के उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण जोतों का उपविभाजन बढ़ता जा रहा है। जब तक देश में पर्याप्त कृषि-योग्य भूमि उपलब्ध थी, तब तक परिवार के अतिरिक्त सदस्यों का प्रबन्ध भूमि के विभाजन किये बगैर ही सम्भव था। लेकिन आज भारत में जिस गति से जनसंख्या में वृद्धि हो रही है उस गति से कृषि-योग्य भूमि नहीं बढ़ती। पिछले दस वर्षों में भारत की जनसंख्या में प्रायः 25 प्रतिशत की वृद्धि हुई है, लेकिन भूमि की मात्रा तो प्रायः निश्चित ही है। साथ ही, भारत का मुख्य व्यवसाय कृषि ही है। ऐसी स्थिति में भूमि के ऊपर जनसंख्या का दबाव निरंतर बढ़ता जा



रहा है जिसके फलस्वरूप जोतों का उपविभाजन एवं अपखंडन भी बढ़ता ही जा रहा है। वास्तव में, उप-विभाजन एवं अपखंडन का प्रधान कारण देश में जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि तथा इसके अनुरूप उद्योग-धन्धों के विकास का आभाव रहा है। जनसंख्या की वृद्धि के कारण जोतों का आकार निरन्तर छोटा होते जा रहा है।

(ii) उत्तराधिकार तथा पैतृक सम्पत्ति सम्बन्धी कानून (Law of Inheritance) :—भारत में उत्तराधिकार के नियम भी उपविभाजन तथा अपखंडन के लिए बहुत हद तक उत्तरदायी हैं। यहाँ हिन्दू परिवार में प्रत्येक पुत्र का पिता के जीवनकाल में ही परिवार की सम्पत्ति पर समान अधिकार हो जाता है। हिन्दू कोड में परिवर्तन के अनुसार अब तो पिता की सम्पत्ति में पुत्र के साथ-साथ पुत्रियों को भी हिस्सा मिलता है। विभाजन के समय प्रत्येक उत्तराधिकारी हर प्रकार की भूमि का एक-एक अंश चाहता है जिससे उपविभाजन के साथ-साथ अपखंडन भी बढ़ता जाता है। इंग्लैंड में लॉ ऑफ प्रीमोजीनेचर के अनुसार भू-सम्पत्ति में केवल बड़े लड़के को ही हिस्सा मिलता है, पर इस प्रकार की व्यवस्था हमारे देश में नहीं है।

(iii) गृह उद्योग-धन्धों का ह्रास (Decline of Cottage Industries) :—भारत अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक अपने गृह-उद्योगों के लिए विख्यात था, लेकिन इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति के फल-स्वरूप मशीनों द्वारा बनी हुई वस्तुओं की स्पर्धा से इन उद्योगों का ह्रास हो गया जिससे कारीगरों के समक्ष कृषि के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं रह गया। कृषि ही देश की चढ़ती हुई जनसंख्या के जीविकोपार्जन का एक मात्र-साधन रह गयी। इसके फलस्वरूप भूमि पर आश्रितों की संख्या में वृद्धि हो गयी और कृषि तथा उद्योग के बीच संतुलन प्रायः समाप्त हो गया।

(iv) किसानों की ऋणग्रस्तता (Rural Indebtedness) :—किसान बीज, औजार एवं मवेशी आदि खरीदने तथा शादी, श्राद्ध के लिए बहुधा अपनी भूमि को बन्धक रखकर महाजनों से कर्ज लेते हैं। लेकिन कर्ज को निर्धारित समय पर अदा नहीं करने के कारण इन्हें वाध्य होकर अपनी भूमि का एक हिस्सा महाजनों के हाथ बेचना पड़ता है। इससे भी भूमि के उपविभाजन में सहायता मिलती है। अतः किसानों की ऋणग्रस्तता भी जोतों के उपविभाजन तथा अपखंडन का एक प्रमुख कारण है।

(v) संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था का विनाश तथा व्यक्तिवादी भावना का प्रसार (Breakdown of the joint family system and Growth of the spirit of individualism) :—प्राचीन काल में हमारे देश में

संयुक्त परिवार की प्रथा प्रचलित थी जिससे कृषि-कार्य सम्मिलित रूप में होता था। इससे जोतों का उपविभाजन बहुत कम होता था। लेकिन आज व्यक्तिवादी भावना के विकास के फलस्वरूप लोग पृथक्-पृथक् रहना अधिक पसन्द करते हैं। इससे जोतों का उपविभाजन निरन्तर बढ़ते ही जा रहा है। इस प्रकार संयुक्त परिवार की प्रथा के विनाश तथा व्यक्तिवादी भावना के प्रसार के फलस्वरूप भी उपविभाजन तथा अपखंडन अधिकाधिक होने लगा है। वास्तव में, व्यक्तिगत दृष्टिकोण से यह परिवर्तन उप-विभाजन एवं अपखंडन का सर्वाधिक प्रमुख कारण है।

(vi) भू-सम्पत्ति से विशेष प्रेम (Too much attachment to landed property) :—साधारणतः भारतीय भू-सम्पत्ति से विशेष प्रेम दिखलाते हैं। भारत में भूमि को प्रतिष्ठा, सम्मान एवं सम्पन्नता का साधन समझा जाता है। 'उत्तम कृषि मध्यम वाण' की कहावत आज भी किसानों के बीच प्रचलित है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपनी पैतृक भू-सम्पत्ति से चिपका रहता है तथा यथाशक्ति उसे अपने हाथ से निकलने नहीं देता। इस प्रकार परिवार के आकार में वृद्धि के साथ-साथ उप-विभाजन तथा अपखंडन की समस्या और भी उग्र होती जाती है, पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त भू-सम्पत्ति के प्रति किसान की इस अनुरक्ति ने कृषि के वैज्ञानिक संगठन के समस्त प्रयत्नों की सफलता को कम कर दिया है।

इस प्रकार कहा जाता है कि "जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि, इसके अनुरूप उद्योग-धन्धों का विस्तार न होना, संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था का ह्रास, व्यक्तिवादिता का विकास आदि एवं इनको पुष्ट करने के लिए उत्तराधिकार एवं पैतृक सम्पत्ति-सम्बन्धी कानून भारत में जोतों के उपविभाजन तथा अपखंडन के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी हैं।"

उप-विभाजन एवं अपखंडन के दुष्परिणाम  
(Evils of Subdivision and Fragmentation)

जोतों के उपविभाजन एवं अपखंडन का कृषि तथा किसानों की आर्थिक स्थिति पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ा है :—

(i) अलाभकर कृषि (Uneconomic farming) :—अतिशय उपविभाजन के फलस्वरूप जोतों का आकार बहुत ही छोटा होते जा रहा है जिससे कृषक अपने साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाते। कुछ खेत तो इतने छोटे होते हैं कि उनमें हल-बैल भी भली-भाँति नहीं घूम पाते। देश के कुल भागों में ऐसे भी खेत पाये जाते हैं जिनका आकार छोटा होने के कारण वे कृषि के योग्य नहीं रह पाते।



उदाहरण के लिए, पंजाब के दूलीरकला (Durlikalan) नामक गाँव में 424 ऐसे खेत थे जिनका क्षेत्रफल 0 06 एकड़ था। इस प्रकार उपविभाजन के फलस्वरूप कृषि-कार्य अलाभकर एवं अधिक खर्चीला हो जाता है, क्योंकि स्थायी व्यय (Fixed cost) औसतन अधिक पड़ने लगता है। इससे सोधनों का समुचित उपयोग भी नहीं हो पाता।

(ii) वैज्ञानिक कृषि तथा भूमि-सुधार में कठिनाई (Hampers improved agricultural practices) :—जोतों के उपविभाजन तथा अपखण्डन से किसान न तो आधुनिक यन्त्रों का प्रयोग कर पाता है और न अन्य प्रकार के सुधारों को ही लागू कर सकता है, अतः उत्पादन कम होने लगता है। वैज्ञानिक कृषि भी छोटी-छोटी जोतों में बिल्कुल असम्भव हो जाती है। रूस तथा अमेरिका में बड़ी-बड़ी जोतों के फलस्वरूप ही आधुनिक औजारों का अधिकाधिक प्रयोग सम्भव हो पाया है।

(iii) कृषि-योग्य भूमि का ह्रास (Wastage of agricultural land) :—जोतों के छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होने के कारण बहुत-सी भूमि यों ही आर तथा मेड़ आदि के रूप में बेकार चली जाती है। अनुमानतः यह कहा जाता है कि देश की कृषि-योग्य भूमि का लगभग 3 प्रतिशत भाग मेड़ों ने घेर रखा है। इसके फलस्वरूप बीज एवं खाद आदि की भी बर्बादी होती है।

(iv) समय तथा शक्ति का व्यर्थ अपव्यय (Waste of Time and Energy) :—जोतों के उपविभाजन एवं अपखण्डन के कारण एक टुकड़े से दूसरे टुकड़े में आने-जाने, हल-दौल ले जाने, रखवाली करने आदि में भी बहुत-सा समय यों ही बेकार नष्ट हो जाता है। छोटी-छोटी जोतों के फलस्वरूप के समय के साथ-साथ किसानों की शक्ति का भी व्यर्थ अपव्यय होता है।

(v) अधिक मुकदमेबाजी (Leads to Litigation) :—जोतों के छोटे-छोटे टुकड़े में विभाजित होने से, किसानों के बीच मेड़, रास्ता तथा चौहद्दी आदि के लिए प्रायः झगड़े हुआ करते हैं जिससे गाँवों में मुकदमेबाजी को अनावश्यक प्रोत्साहन मिलता है। गाँवों में पारस्परिक वैमनस्य बहुधा भूमि के कारण ही होता है जिससे मुकदमेबाजी को अनुचित प्रश्रय मिलता है।

(vi) सिंचाई की असुविधा :—उपविभाजन तथा अपखण्डन के फलस्वरूप खेतों की सिंचाई में बहुत अधिक कठिनाई होती है। साथ ही, सिंचाई के लिए व्यय भी अधिक करना पड़ता है। किसान के खेत यत्न-तत्न बिखरे होते हैं जिससे वह प्रत्येक स्थान में सिंचाई की व्यवस्था भी नहीं कर पाता।

सारांश यह है कि उपविभाजन एवं अपखण्डन के फलस्वरूप किसान के समय, शक्ति एवं साधनों का व्यर्थ अपव्यय होता है तथा कृषि-कार्य अलाभकर हो जाता है। इसके फलस्वरूप अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि आदि का सामना करने के लिए किसानों के पास आवश्यक शक्ति भी नहीं रह जाती। आर एवं मेड़ में बहुत-सी कृषि-योग्य भूमि यों ही बेकार चली जाती है तथा इससे मुकदमेबाजी को भी अनावश्यक प्रश्रय मिलता है। अपखण्डन के कारण कृषि में स्थायी सुधार के कार्य जैसे कुओं की खुदाई आदि भी असम्भव हो जाते हैं।

डा० राधाकमल मुखर्जी ने अपनी पुस्तक "Rural Economy of India" में जोतों के उपविभाजन और अपखण्डन के दोषों की व्याख्या इस प्रकार से की है—“भारत के अधिकतर भागों में कृषि की अनुत्पादकता के लिए किसानों की अज्ञानता, लापरवाही अथवा काम करने की अनिच्छा आदि की अपेक्षा जोतों के उपविभाजन तथा अपखण्डन अधिक उत्तरदायी हैं। इस प्रकार की जोतों में किसानों को अधिकांश समय में बेकार रहना पड़ता है। इस प्रकार किसानों को पर्याप्त मात्र में काम भी नहीं मिलता जिससे वह वर्ष के अधिकांश समय में बेकार रहता है। इस प्रकार किसानों की ऋणग्रस्तता जोतों के उपविभाजन का कारण तथा परिणाम दोनों ही है और कभी-कभी उदासीनता तथा ऋणग्रस्तता साथ-साथ आती है।”<sup>1</sup>

उपविभाजन एवं अपखण्डन के तथाकथित लाभ :—किन्तु, उपविभाजन तथा अपखण्डन के कुछ आर्थिक एवं सामाजिक लाभ भी बतलाये जाते हैं। इनके फलस्वरूप गाँव के हर भाग में किसान की कुछ-न-कुछ भूमि अवश्य ही रहती है और ऋतु विपर्यय से रक्षा के हेतु किसानों की भूमि का गाँव के हर भाग में होना अनिवार्य भी हो जाता है। गाँव के अनेक भागों में विभिन्न प्रकार की भूमि पर दो या दो से अधिक फसलें अलग-अलग पैदा की जाती हैं जिससे वर्षा का अभाव तथा उनका अनियमित

1. "In many tracts, the inefficiency of agriculture is due more to the small size and scattered nature of the holdings than to ignorance or want of alertness on the part of the peasants. Such holdings do not afford sufficient work to the cultivator and leave him almost unemployed during most part of the year. Agricultural indebtedness is at once the cause and effect of excessive division of the holding and very often enforced idleness and indebtedness go together".—Dr. R. K. Mukherjee; Rural Economy of India, Vol. I, Page 63.



वितरण अगर एक फसल को नष्ट भी कर देता है तो दूसरे खेतों में अनुकूल फसल पैदा हो जाती है। भारतीय कृषि में फसलों के हेर-फेर की विस्तृत पद्धति जो इसे पश्चिमी कृषि से अलग करती है, प्रधानतया बिखरी हुई ज़ोतों के फलस्वरूप ही सम्भव हुई है। साथ ही, ज़ोतों के इस उपविभाजन से गाँव की अधिकांश जनता के पास भूमि हो जाती है। भूमि के इस व्यापक वितरण के फलस्वरूप भूमिहीन वर्ग की वृद्धि रुकती है जिससे समाज में आर्थिक एवं सामाजिक अस्थिरता बढ़ती है।

लेकिन, इन लाभों के कारण हम ज़ोतों के उप-विभाजन तथा अपखंडन को उचित नहीं ठहरा सकते। ध्यानपूर्वक अध्ययन के बाद हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि इनसे सम्भावित लाभ की अपेक्षा हानि ही बहुत अधिक है। फलस्वरूप, इनका निराकरण अनिवार्य हो जाता है।

### उपविभाजन एवं अपखंडन के दोषों को दूर करने के उपाय

#### (Remedial Measures)

ज़ोतों का उपविभाजन एवं अपखण्डन भारतीय कृषि के लिए सचमुच ही एक अभिशाप है, अतः कृषि में स्थायी सुधार के लिए इनका निराकरण नितांत आवश्यक है। उपविभाजन एवं अपखंडन के दोषों को दूर करने के लिए सामान्यतः दो प्रकार के सुझाव दिये जाते हैं :—

(1) आर्थिक ज़ोतों का निर्माण (Creation of Economic holdings) :—वर्तमान परिस्थितियों में भूमि व्यवस्था में सुधार की बहुत अधिक आवश्यकता है। सुधार के इन विभिन्न कार्यक्रमों में उपविभाजन तथा अपखंडन की समस्या का निराकरण तथा आर्थिक ज़ोतों का निर्माण प्रमुख है। आर्थिक ज़ोतों का निर्माण निम्नलिखित तरीकों से किया जाता है—(क) ज़ोतों की चकबन्दी के द्वारा, (ख) सम्पूर्ण भूमि का समाजीकरण कर लिया जाय और तब उसमें सामूहिक कृषि के आधार पर खेती की जाय। रूस में प्रायः इसी प्रकार की कृषि-व्यवस्था पायी जाती है, (ग) किसानों की ज़ोतों को एक में मिलाकर सहकारी कृषि अथवा संयुक्त कृषि-व्यवस्था के आधार पर खेती का कार्य किया जाय।

(2) आर्थिक ज़ोतों को बनाये रखना (Preservation of economic holdings)—जब उपरोक्त तरीकों में से किसी एक के द्वारा आर्थिक ज़ोत का निर्माण हो जाता है तो उसे पुनः उपविभाजन से बचाये रखने के लिए निम्नलिखित प्रयत्नों की आवश्यकता होगी—(क) वर्तमान उत्तराधिकार के नियम में परिवर्तन लाकर

इंग्लैंड के ज्येष्ठाधिकार (Law of Primogeniture) के आधार पर इस प्रकार की व्यवस्था की जाय जिससे कि भू-सम्पत्ति का अधिकार पिता के बाद केवल बड़े लड़के को ही मिले। किन्तु ऐसा करने के लिए परिवार के अन्य सदस्यों के लिए भी रोजगार की व्यवस्था करनी होगी। (ख) एक सीमा के बाद ज़ोतों के उपविभाजन को कानून द्वारा रोक देना चाहिए। मिस्र में इस प्रकार की व्यवस्था है कि ज़ोतों का विभिन्न सदस्यों के बीच उपविभाजन होना आवश्यक है, किन्तु कृषि का कार्य किसी एक ही व्यक्ति के द्वारा सभी सदस्यों के बदले में किया जाता है। (ग) बिखरी हुई ज़ोतों की चकबन्दी के द्वारा। भारत के विभिन्न राज्यों में आजकल चकबन्दी के प्रयत्न किये जा रहे हैं तथा इन प्रयत्नों में कुछ सफलता भी मिल रही है। (घ) सहकारी अथवा संयुक्त कृषि के द्वारा। अन्य देशों में इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। किन्तु इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि आर्थिक ज़ोत के निर्माण एवं पुनः विभाजित होने से बचाये रखने के कार्य में बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं। अतएव, इस कार्य के लिए ज़ोतों की चकबन्दी एवं सहकारी कृषि की स्थापना ही अधिक उपयुक्त जान पड़ती है।

अब उपविभाजन तथा अपखण्डन के दोषों को दूर करने के इन विभिन्न उपायों का निम्नलिखित विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :

### ज़ोतों की चकबन्दी (Consolidation of Holdings)

अपखण्डन के दोषों को दूर करने का एक सामान्य उपचार ज़ोतों की चकबन्दी (Consolidation of holdings) बताया जाता है। कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) के अनुसार उप-विभाजन एवं अपखण्डन की बुराइयों को दूर करने का केवल एक ही उपाय नजर आता है—वह है 'ज़ोतों की चकबन्दी'। चकबन्दी का अर्थ है "विभिन्न बिखरे हुए टुकड़ों को एक चक या एक स्थान में परिणत करना, यानी अलाभ कर ज़ोतों को लाभकर ज़ोतों में परिणत करना।" (By consolidation, we mean the bringing together in one compact block all plots of land of a farmer which are scattered all over the village.) इसके द्वारा किसान की सम्पूर्ण ज़ोत एक स्थान या एक चक में कर दी जायगी। इस प्रकार चकबन्दी के द्वारा किसान को कई बिखरे हुए टुकड़ों के स्थान पर एक ही जगह में सारी भूमि प्राप्त हो जाती है। चकबन्दी के दो तरीके हैं—(1) किसानों में परस्पर स्वेच्छापूर्वक सहयोग की भावना के आधार पर, तथा (2) कानून द्वारा चकबन्दी को अनिवार्य बनाकर। सहयोग



के द्वारा चकबन्दी का कार्य शीघ्रतापूर्वक नहीं हो पाता। किसान चकबन्दी के लाभों को समझ नहीं पाते जिससे वे न तो अपनी भूमि छोड़ने को तैयार होते हैं और न थोड़ा-बहुत आवश्यक व्यय करने को ही तैयार होते हैं। कहीं-कहीं पर तो जमींदार या महाजन भी चकबन्दी के कार्य में रुकोवट पैदा करते हैं। अतः कानून के द्वारा चकबन्दी को अनिवार्य बनाना ही उत्तम तरीका होता है। किसान को अपनी पैतृक भू-सम्पत्ति के प्रति मौलिक मोह रहता है जिससे वह उसे बदलना नहीं चाहता। चकबन्दी के रास्ते की ये जो बाधाएँ हैं उन्हें शिक्षा के प्रचार तथा उचित पथ-प्रदर्शन के द्वारा दूर किया जा सकता है।

**भिन्न-भिन्न राज्यों में चकबन्दी के प्रयत्न :—**भारत में सर्वप्रथम 1920-21 ई० में पंजाब में श्री कोलवर्ट की निगरानी में सहकारी समितियाँ बनाकर प्रचार और प्रेरणा के आधार पर चकबन्दी का कार्य प्रारम्भ किया गया जिसमें पर्याप्त सफलता मिली। इस कार्य को अधिक सफल बनाने के लिए नवम्बर, 1936 ई० में एक चकबन्दी अधिनियम (Consolidation of Holdings Act) बनाया गया जिसने चकबन्दी की गति को और भी तीव्र बना दिया। इस अधिनियम के अनुसार अल्पसंख्यक व्यक्तियों के विरोध के बावजूद चकबन्दी को अनिवार्य बनाया गया। उत्तर प्रदेश में सहकारी समितियों द्वारा चकबन्दी के अतिरिक्त चकबन्दी को अनिवार्य बनाने के लिए 1938 ई० में एक चकबन्दी अधिनियम बनाया गया। इस अधिनियम के अनुसार गाँव के कम-से-कम आधे स्थायी भू-स्वामी जिनके पास गाँव की कम-से-कम दो-तिहाई भाग भूमि है, अगर भूमि की चकबन्दी के लिए तत्पर हों तो शेष आधे भू-स्वामियों को ऐसा करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। उत्तर प्रदेश में भी सहकारी समितियों द्वारा चकबन्दी का कार्य किया जाता है। 1949-50 ई० के अन्त में उत्तर प्रदेश में 428 सहकारी चकबन्दी समितियाँ थीं जिनके द्वारा लगभग दो लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी की गयी थी। इस राज्य में एक नया चकबन्दी अधिनियम, 1953 ई० में पारित हुआ जो 1 अप्रैल, 1954 ई० से लागू है। इनके अतिरिक्त बम्बई, दिल्ली, पेशु, जम्मू तथा कश्मीर, बिहार, उड़ीसा आदि राज्यों में भी चकबन्दी अधिनियम बनाये गये हैं।

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में भी प्रत्येक राज्य में भूमि की चकबन्दी को प्रोत्साहन देने का सुझाव दिया गया था। योजना आयोग ने इस बात की सिफारिश की थी कि सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवा क्षेत्रों में चकबन्दी को कृषि-विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रधानता दी जानी चाहिए। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में

विभिन्न राज्यों में चकबन्दी-सम्बन्धी कानून बनाये गये। राज्यों की योजनाओं के अनुसार द्वितीय योजना में कुल 45 करोड़ रुपये के व्यय से 145 लाख हेक्टर भूमि की चकबन्दी का आयोजन था। किन्तु द्वितीय योजना के अन्त, यानी मार्च, 1961 ई० तक केवल 120.5 लाख हेक्टर भूमि में ही चकबन्दी का कार्य पूरा हो सका था। इसमें से पंजाब में 60 लाख हेक्टर, मध्य प्रदेश में 15.6 लाख हेक्टर, उत्तर प्रदेश में 12 लाख हेक्टर तथा महाराष्ट्र में 6 लाख हेक्टर भूमि की चकबन्दी हुई थी।<sup>1</sup>

तृतीय योजनाकाल में कुल 113 लाख हेक्टर भूमि की चकबन्दी का आयोजन था जबकि योजनाकाल में 120 लाख हेक्टर भूमि में चकबन्दी का कार्य पूरा हुआ। इस समय तक जितनी भूमि की चकबन्दी हुई थी उसमें से अधिकांश भूमि पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, राजस्थान तथा महाराष्ट्र राज्यों में थी। अन्य राज्यों में चकबन्दी की प्रगति संतोषजनक नहीं है। इस मद् में तृतीय योजनाकाल में 19 करोड़ रुपये व्यय किये गये। तीन एक-वर्षीय योजनाओं (One-Year Plan) में भी कुल चकबन्दी पर जोर दिया गया तथा 1968-69 के अन्त देश में कुल 295.7 लाख हेक्टर भूमि की चकबन्दी हो गयी थी।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में 94.2 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में चकबन्दी का आयोजन था। इसके लिए योजनाकाल में कुल व्यय 28.4 करोड़ रुपये रखा गया था। चतुर्थ योजना के लक्ष्यों की पूर्ति के बाद 1973-74 तक देश में कुल मिलाकर 390 लाख हेक्टर भूमि की चकबन्दी करने का आयोजन था। इसमें से 1972 तक 326 लाख हेक्टर भूमि की चकबन्दी की गयी थी।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan) में भूमि की चकबन्दी पर पूरा-पूरा जोर दिया गया था।

छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan) में भी जोतों की चकबन्दी का विशेष रूप से आयोजन है।

इस प्रकार अधिकांश राज्यों में चकबन्दी की प्रगति संतोषजनक नहीं है। पंजाब एवं हरियाणा में यह कार्य पूरा हो गया है। उत्तर प्रदेश में भी इस क्षेत्र में अच्छी प्रगति हुई है तथा महाराष्ट्र एवं हिमाचल प्रदेश में भी अच्छी शुरुआत हुई है। जब समय आ गया है जबकि चकबन्दी को अनिवार्य बनाया जाय; क्योंकि जबतक उपविभाजन एवं अपखण्डन को दूर नहीं किया जायगा तब तक भारतीय कृषि में स्थायी सुधार लाना सम्भव नहीं है। लेकिन राज्यों को इस प्रयत्न में विशेष सावधानी से काम लेना चाहिए। साथ ही, इसके प्रचार का पूरा-पूरा प्रयत्न



## भारतीय अर्थशास्त्र

होना चाहिए तथा चकबन्दी की योजना का प्रारम्भिक व्यय राज्यों को ही वहन करना चाहिए। किन्तु, चकबन्दी इस समस्या का एक स्थायी उपचार नहीं है। जबतक हमारे देश में उपविभाजन के कारण वर्तमान रहेंगे तब तक जातों के उपविभाजन की समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। पंजाब एवं हरियाणा के चकबन्दी-सम्बन्धी अधिनियमों में इस प्रकार की व्यवस्था की गयी है कि न्यूनतम क्षेत्र के बाद जोतों का उपविभाजन नहीं किया जा सकता। इस न्यूनतम क्षेत्र को 'आदर्श जोत' कहा जाता है जिसे प्रत्येक जिले के लिए उसकी परिस्थितियों को ध्यान में रखकर निश्चित किया जाता है।

2. सामूहिक कृषि (Collective Farming) :—जोतों का उपविभाजन तथा अपखण्डन के दोषों को दूर करने का एक उपाय देश की सम्पूर्ण भूमि का राष्ट्रीयकरण भी है। राष्ट्रीयकरण के बाद सभी भूमि को बड़े-बड़े टुकड़ों में बाँट कर उसमें सामूहिक ढंग से कृषि की जायगी। इस प्रकार भूमि पर से व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त हो जायगा और उस पर समाज का स्वामित्व स्थापित हो जायगा। रूस तथा चीन में इसके द्वारा कृषि की उपज में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। किन्तु, यह व्यवस्था निश्चय ही क्रांतिकारी होगी और इसे अपनाने के लिए देश के सामाजिक एवं आर्थिक संगठन में आमूल परिवर्तन लाना होगा जो अभी शायद सम्भव नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि यह प्रथा आज की परिस्थितियों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है।

3. सहकारी कृषि (Co-operative Farming) :—सहकारी कृषि-व्यवस्था की स्थापना द्वारा भी हम उपविभाजन तथा अपखण्डन के दोषों को दूर कर सकते हैं। इसके द्वारा व्यक्तिगत स्वामित्व को रखते हुए भी बड़े पैमाने पर खेती की जा सकती है। इस पद्धति में कृषि का कार्य सहकारी समितियों द्वारा होगा। इस व्यवस्था के द्वारा कृषि में आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रों का प्रयोग किया जा सकता है। हमारे देश के कुछ भागों में इस प्रकार की व्यवस्था कायम करने का प्रयास भी किया गया है। वास्तव में, वह व्यवस्था भारत के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है। इसीलिए पंचवर्षीय योजनाओं में भी सहकारी कृषि-व्यवस्था को भारतीय कृषि-व्यवस्था का अन्तिम उद्देश्य माना गया है।

4. संयुक्त ग्राम-व्यवस्था (Joint Village Management) :—उपविभाजन तथा अपखण्डन की समस्या को सुलझाने के लिए श्री तारलोक सिंह ने एक नया सुझाव दिया है। इनका प्रस्ताव है कि गाँव की सम्पूर्ण भूमि संयुक्त प्रबन्ध तथा कृषि के लिए ले ली जाय। गाँव वाले इस प्रकार अपनी भूमि को मिलाकर स्वयं कृषि की व्यवस्था करें तथा उपज का वितरण भी उन्हीं के हाथ में

रहे। इस प्रकार भूमि के समस्त अधिकार तथा पैतृक सम्पत्ति के मान्य एवं चिरस्थायी नियम पूर्ववत् एवं सुरक्षित रहेंगे। यह योजना जनतन्त्रात्मक है तथा इसके द्वारा शांतिपूर्ण तरीके से परिवर्तन किया जा सकता है। लेकिन इसकी सफलता इनके प्रयोग के बाद ही कही जा सकती है।

5. उत्तराधिकार तथा पैतृक सम्पत्ति के कानून में परिवर्तन :—भूमि के उपविभाजन को रोकने के लिए पैतृक सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार के नियम में इस प्रकार से परिवर्तन लाना आवश्यक है जिससे कि भू-सम्पत्ति का अधिकार पिता के पश्चात् सबसे बड़े लड़के को ही मिले। लेकिन आज की स्थिति में अधिकांश लोगों को यह परिवर्तन मान्य नहीं होगा। साथ ही, दूसरे उत्तराधिकारियों के लिए रोजगार की व्यवस्था भी करनी होगी। देश में उद्योग-धन्धों के अभाव में इस परिवर्तन के कारण बेकारी की समस्या बढ़ती ही जायगी। इससे समाज में भूमिहीन वर्ग की संख्या में भी वृद्धि होगी। किन्तु, फिर भी यह व्यवस्था की जा सकती है कि एक न्यूनतम क्षेत्र से कम जोतों का विभाजन नहीं हो सकता एवं इस प्रकार परिवार के सदस्यों को उस पर संयुक्त रूप से कृषि करने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

6. भूमि की आर्थिक इकाई को निश्चित करना :—कानून द्वारा यह निश्चित कर दिया जाय कि भूमि का उपविभाजन केवल आर्थिक जोतों में ही हो सकता है। कृषि-व्यवस्था में स्थायी सुधार लाने के लिए यह आवश्यक जान पड़ता है। योजना आयोग ने भी सभी राज्यों द्वारा आर्थिक जोत निर्धारित करने का प्रस्ताव दिया है। सरकार द्वारा आर्थिक जोत की सीमा निर्धारित कर दी जाय और किसी भी व्यक्ति को आर्थिक जोत से छोटे टुकड़ों में जोतों को विभाजित करने का अधिकार नहीं दिया जाय। अधिकांश राज्यों में इस प्रकार के अधिनियम तैयार किये गये हैं।

इस प्रकार उपरोक्त उपायों द्वारा जोतों के उपविभाजन तथा अपखण्डन को रोका जा सकता है, किन्तु भारतीय कृषि के इस मौलिक दोष को दूर करने का सबसे अच्छा तरीका सहकारी कृषि है। सहकारी कृषि की विशेषताओं के अध्ययन के पूर्व कृषि-व्यवस्था के विभिन्न रूपों की जानकारी आवश्यक है।

### कृषि-व्यवस्था के विभिन्न रूप (Different Forms of Cultivation)

संसार में आजकल कृषि-व्यवस्था के अनेक रूप पाये जाते हैं, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

1. व्यक्तिगत कृषि-व्यवस्था (Individual Farming);
2. पूँजीवादी कृषि-व्यवस्था (Capitalistic Farming);
3. राजकीय कृषि-व्यवस्था (State Farming);



4. सामूहिक कृषि-व्यवस्था (Collective Farming), तथा
5. सहकारी कृषि-व्यवस्था (Co-operative Farming)।

(1) व्यक्तिगत कृषि-व्यवस्था (Individual Farming):—इस व्यवस्था में किसान अपनी जमीन या किराये की जमीन पर अपने साधनों से कृषि का कार्य करता है। भारत में इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था ही अधिकतर प्रचलित है। इसमें किसान बिना किसी बाह्य हस्तक्षेप के स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करता है। इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि इससे कृषक के व्यक्तित्व का विकास होता है तथा उसमें प्रेरणा, उत्साह, साहस, जिम्मेवारी एवं कठिन परिश्रम आदि गुणों का विकास होता है। इसमें किसान का शोषण नहीं होता। लेकिन यह व्यवस्था बहुत ही दोषपूर्ण है, क्योंकि साधारणतः एक व्यक्ति के साधन सीमित होते हैं जिससे इस व्यवस्था में किसान को पर्याप्त सफलता नहीं मिल पाती। साथ ही, इस व्यवस्था में कृषि के आधुनिक तरीकों का प्रयोग भी नहीं हो सकता तथा बड़े पैमाने की कृषि का लाभ नहीं उठाया जा सकता है। भूमि के विभाजन का अधिकार होने से इसका उपविभाजन एवं अपखण्डन होने लगता है। इससे जोतें गैर आर्थिक हो जाती हैं जिनका कृषि तथा किसान दोनों पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है।

(2) पूँजीवादी कृषि-व्यवस्था (Capitalistic Farming):—इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था इंग्लैंड तथा अमेरिका में अधिक प्रचलित है। भारत में भी चाय, कहवा तथा रबर के बगानों में इसी प्रकार की कृषि-व्यवस्था पायी जाती है। दक्षिणी भारत में गन्ने की खेती में भी बड़े-बड़े फार्म पाये जाते हैं। इस अवस्था में भूमि पर व्यक्तियों, सिन्डीकेटों अथवा सम्मिलित पूँजी की कम्पनियों का अधिकार रहता है तथा वे ही इसके प्रबन्धकर्ता भी होते हैं। इनमें उत्पादन के आधुनिक तरीकों—उत्तम बीज, अच्छी खाद तथा बड़े-बड़े यन्त्रों का उपयोग किया जाता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत पूँजीपति भूमि पर वैज्ञानिक ढंग से बड़े पैमाने पर कृषि-कार्य करते हैं। अतः इस प्रकार की कृषि में अधिक उत्पादन तथा भूमि का सदुपयोग सम्भव होता है। लेकिन, भारत की वर्तमान स्थिति में इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था हितकर नहीं सिद्ध होगी, क्योंकि इस व्यवस्था में भूमि पर थोड़े ही व्यक्तियों का अधिकार हो जायगा तथा देश में भूमिहीन वर्ग की संख्या में वृद्धि हो जायगी। साथ ही, यन्त्रों के अधिकाधिक उपयोग से बेकारी के बढ़ने का भय बना रहेगा। अतः आज की स्थिति में भारत के लिए यह व्यवस्था उपयुक्त नहीं होगी।

(3) राजकीय कृषि-व्यवस्था (State farming):—इस व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य का अधिकार फार्म पर रहता है तथा कृषि की व्यवस्था वेतनभोगी कर्मचारियों के द्वारा की जाती है। अतः इस व्यवस्था में कृषि की सफलता मुख्यतः सरकारी कर्मचारियों की योग्यता पर निर्भर करती है। प्रारम्भ में रूस में इस प्रकार के फार्म स्थापित किये गये थे, लेकिन कर्मचारियों की अयोग्यता तथा मजदूरों में उत्साह के अभाव के कारण इन्हें वहाँ पर्याप्त सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। भारत में भी कुछ स्थानों में राजकीय फार्म हैं जहाँ कृषि-सम्बन्धी अनुसंधान का कार्य होता है। जहाँ नयी भूमि कृषि-योग्य बनायी गयी है वहाँ भी कुछ स्थानों में राजकीय फार्म स्थापित किये गये हैं। इन फार्मों में आधुनिक तरीके से कृषि-कार्य किया जाता है। किन्तु भारत में भी इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था के सफल होने की बहुत कम आशा है। साथ ही, राजकीय फार्मों में सरकारी कर्मचारियों के अतिरिक्त और सभी लोग मजदूर की ही गिनती में रहते हैं। अतः राजकीय कृषि-व्यवस्था हमारे देश के लिए उपयुक्त नहीं कही जा सकती।

(4) सामूहिक कृषि-व्यवस्था (Collective farming):—सामूहिक कृषि-व्यवस्था में भूमि पर व्यक्तिगत या निजी स्वामित्व नहीं रहता वरन् भूमि, पूँजी तथा पशु—सभी पर समाज का अधिकार रहता है। राज्य द्वारा समस्त भूमि का समाजीकरण हो जाता है। गाँव की सभी जोतों को एक में मिला दिया जाता है तथा आधुनिक तरीकों से खेती की जाती है। रूस तथा फिलिस्तीन (Palestine) में यह व्यवस्था अधिक प्रचलित है, तथा उन देशों में इसे पर्याप्त सफलता भी मिली है। इसमें खेती एक निर्वाचित समिति या कॉरपोरेशन की देख-देख में होती है। यह समिति हरेक आवश्यक कार्यों का प्रबन्ध भी करती है।

किन्तु, भारत के लिए वर्तमान स्थिति में सामूहिक कृषि-व्यवस्था भी उपयुक्त नहीं जान पड़ती है। इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें किसान की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पूर्ण लोप हो जाता है और वे समाज-रूपी विशाल यंत्र के निष्प्राण पुर्जों की तरह हो जाते हैं। अतएव, यह एक क्रांतिकारी प्रणाली है तथा इसके लिए देश की सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन लाने होंगे। देश में कृषक अपनी भूमि से अपना अधिकार नहीं छोड़ना चाहते हैं। लेकिन हमारे समाज-वाद में ऐसी कृषि-व्यवस्था की प्रधानता होनी चाहिए जिसमें किसानों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बनी रहे अतः भारत की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए कहा जा सकता है कि सामूहिक कृषि यहाँ सम्भव नहीं है।



### सहकारी-कृषि-व्यवस्था (Co-operative Farming)

सहकारी कृषि-व्यवस्था सामूहिक तथा व्यक्तिगत कृषि के बीच का समझौता है। डॉ० ओटो शिलर (Otto Schiller) के अनुसार "सहकारी कृषि कृषि-व्यवस्था का वह रूप है जिसमें भूमि का प्रयोग संयुक्त रूप में किया जाता है।" (Co-operative Farming is understood as a form of farm management in which the land is used jointly.) इसी प्रकार 1959 ई० में निर्जालिगप्पा समिति ने अपने प्रतिवेदन में सहकारी कृषि की परिभाषा इस प्रकार से दी थी, "सहकारी कृषि-समिति कृषकों का ऐच्छिक संगठन है जिसमें मानव-शक्ति एवं भूमि जैसे साधन एकत्र किये जाते हैं जिससे उनका अच्छा प्रयोग हो सके। इसमें अधिकांश सदस्य कृषि में भाग लेते हैं जिससे उत्पादन, रोजगार तथा आय बढ़ती है। इस प्रकार की व्यवस्था में किसान आपस में मिलकर खेती करते हैं। इसमें व्यक्ति का अपनी भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार बना रहता है, लेकिन खेती संयुक्त रूप से की जाती है।" प्रजातांत्रिक तरीके की सहकारी कृषि-व्यवस्था की निम्नलिखित प्रधान विशेषताएँ हैं—

(क) सभी सदस्यों की भूमि को मिलाकर एक इकाई का रूप दिया जाता है।

(ख) प्रत्येक सदस्य को अपनी भूमि पर पूरा-पूरा अधिकार रहता है। दूसरे शब्दों में, इसमें व्यक्तिगत स्वामित्व (ownership) का अन्त नहीं होता।

(ग) खेती का प्रबन्ध संयुक्त रूप से किया जाता है।

(घ) सदस्यों को उनके कार्य के बदले में पारिश्रमिक दिया जाता है।

(च) पारिश्रमिक देने के बाद कुल लाभांश में से सुरक्षित कोष का अंश निकाल कर शेष सदस्यों के बीच विभाजित किया जाता है।

सहकारी कृषि-व्यवस्था के द्वारा छोटे-छोटे किसान भी अपनी भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व को रखते हुए बड़े पैमाने की कृषि के लाभों को प्राप्त कर सकते हैं। साथ ही, इसके द्वारा खेती, पूँजी और श्रम के सभी साधनों को एकत्र कर उनका समुचित उपयोग किया जा सकता है। महात्मा गांधी का इस सम्बन्ध में यह कहना था कि "सहकारी कृषि के बिना किसान कृषि के लाभ का पूरा-पूरा उपयोग नहीं कर सकते।" (I firmly believe that we shall not derive the full benefits of agriculture until we take to co-operative farming.)

सहकारी कृषि-व्यवस्था सामान्यतः निम्नलिखित चार प्रकार की होती है :—

(क) सहकारी संयुक्त-कृषि-व्यवस्था (Co-operative joint Farming) :—इस प्रकार की समितियाँ सदस्यों की छोटी-छोटी ज़ोतों को मिलाकर एक इकाई में परिणत करती हैं। लेकिन प्रत्येक सदस्य का अपनी भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार ज्यों-का-त्यों बना रहता है। ये समितियाँ स्वयं अपने फार्मों में खेती की व्यवस्था करती हैं। इस प्रकार इस व्यवस्था के अन्तर्गत बड़े पैमाने पर कृषि के प्रायः सभी लाभ प्राप्त होते हैं। यह व्यक्तिगत स्वामित्व और सामूहिक कृषि की प्रणाली है।

(ख) उच्चतर सहकारी कृषि-व्यवस्था (Co-operative Barter Farming) :—इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था के अन्तर्गत किसान अपनी खेती का प्रबन्ध स्वयं करते हैं। समिति केवल इन्हें खेती के तरीकों में सुधार के उद्देश्य से अच्छे बीज, अच्छी खाद, आधुनिक औजार तथा सिंचाई आदि की व्यवस्था करती है। साथ ही, सदस्यों के उत्पादित मालों को एकत्र कर उनके विक्रय की व्यवस्था भी ये समितियाँ स्वयं करती हैं। इस प्रथा को सेवा-सहकारिता (Service Co-operatives) भी कहा जाता है।

(ग) सहकारी काश्तकारी कृषि-व्यवस्था (Co-operative Tenant Farming) :—इस व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि को कई टुकड़ों में विभाजित किया जाता है और प्रत्येक टुकड़ा एक किसान को दे दिया जाता है। प्रत्येक किसान समिति द्वारा निर्धारित योजना के अनुसार खेती करता है। ये समितियाँ उन्हीं स्थानों के लिए अधिक उपयुक्त होती हैं जहाँ नयी भूमि को कृषि-योग्य बनाया गया हो। इस प्रणाली में कृषि की योजना तो सामूहिक रूप से बनती है, किन्तु उसका कार्यान्वयन व्यक्तिगत रूप से होता है।

(घ) सहकारी सामूहिक कृषि-व्यवस्था (Co-operative Collective Farming) :—इस व्यवस्था में सामूहिक स्वामित्व और सामूहिक कार्य-संचालन दोनों का समावेश रहता है। इनके अन्तर्गत समिति स्वयं भूमि का मालिक होती है तथा कृषि की व्यवस्था करती है। सदस्यों को उनकी मजदूरी दी जाती है तथा उसी अनुपात में लाभांश का भी वितरण किया जाता है। प्रत्येक सदस्य को समिति से सम्बन्ध विच्छेद करने की स्वतन्त्रता रहती है तथा उनकी पूँजी भी वापस की जा सकती है। इस प्रकार की समितियों का निर्माण अभी तक हमारे देश में नहीं हो पाया है।

सहकारी कृषि-व्यवस्था हमारे देश की वर्तमान परिस्थितियों के लिए अति उपयुक्त है। इनके द्वारा उप-



विभाजन एवं अपखण्डन की सारी बुराइयों को दूर कर देश की कृषि-व्यवस्था को सुदृढ़ आधार पर संगठित किया जा सकता है। देश की भूमि, श्रम एवं पूँजी को एकत्र कर उनका समुचित विकास किया जा सकता है। इससे छोटे-छोटे किसान भी वृहत् पैमाने की कृषि के लाभों को प्राप्त कर सकते हैं।

भारत में सहकारी कृषि के बहुत-से उद्देश्य हैं। हमारे भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में सहकारी कृषि-व्यवस्था के निम्नलिखित प्रधान लाभ हैं—

1. सहकारिता के आधार पर कृषि के उत्पादन में वृद्धि होगी;

2. ग्रामीण जनता की गरीबी दूर होगी, ग्रामवासियों में इससे एक नया जीवन एवं एक नयी आशा का संचार होगा;

3. सहकारी कृषि से एक वर्ग-हीन समाज (Classless society) की रचना में सुविधा होगी;

4. खाद्यान्नों के राजकीय व्यापार (State trading in Foodgrains) को बल मिलेगा एवं जोतों की अधिकतम सीमा के निर्धारण में भी सहायता मिलेगी; तथा

5. इससे उपविभाजन एवं अपखण्डन की बुराइयाँ भी दूर होंगी एवं वैज्ञानिक कृषि के लिए मार्ग को प्रशस्त बनाया जा सकता है।

### भारत में सहकारी कृषि की प्रगति (Progress of the Co-operative Farming in India)

भारत में सहकारी कृषि-व्यवस्था को अपनाने के लिए सरकार द्वारा पूरा प्रयास किया जा रहा है। पंच-वर्षीय योजनाओं में भूमि-सुधार का अन्तिम उद्देश्य सहकारी ग्राम-व्यवस्था की स्थापना माना गया है। इस उद्देश्य से योजनाकाल में विशेष रूप से प्रचार भी किया जा रहा है। देश के विभिन्न राज्यों में सरकारी कृषि-व्यवस्था की स्थापना का प्रयास भी किया जा रहा है। महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में बहुत अधिक सहकारी फार्म स्थापित किये गये हैं। बिहार में सहकारी गन्ना समितियाँ कई वर्षों से यह कार्य कर रही हैं। सरकार द्वारा भी इन समितियों की स्थापना के लिए बहुत अधिक सहायता दी जा रही है। जून, 1970 ई० के अन्त तक देश में कुल 8819 सहकारी कृषि समितियाँ थीं जिनकी सदस्य-संख्या 2.41 लाख थी तथा जिनके द्वारा कुल 4.75 लाख हेक्टर भूमि में खेती की जाती थी।

प्रथम अखिल भारतीय सहकारी कांग्रेस ने फरवरी, 1952 ई० में यह प्रस्ताव स्वीकार किया कि राज्य एवं सहकारिता आन्दोलन द्वारा सहकारी कृषि के संगठन का यथासंभव प्रयास करना चाहिए। योजना आयोग भी सहकारी कृषि को यथासम्भव विकसित करने के पक्ष में था। इन उद्देश्यों से योजना आयोग द्वारा प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल में निम्नलिखित सुझाव दिये गये थे :—

1. प्रत्येक सहकारी कृषि-फार्म के लिए परिस्थितियों के अनुसार न्यूनतम भूमि की मात्रा निर्धारित करनी चाहिए।

2. सरकार द्वारा वित्त तथा तकनीकी सहायता प्रदान करने में सहकारी कृषि-समितियों को प्राथमिकता प्रदान करनी चाहिए।

3. नयी भूमि पर कृषि-व्यवस्था करते समय सहकारी कृषि-समितियों को ही प्राथमिकता दी जानी चाहिए। साथ ही, बंजर-भूमि को कृषि-योग्य बनाने के लिए भी उचित सहायता देनी चाहिए।

4. यदि किसी गाँव के अधिकांश किसान जिनके पास कुल कृषि-योग्य भूमि का कम-से-कम आधा भाग हो, सहकारी कृषि-फार्म स्थापित करना चाहें तो उन्हें ऐसी कानूनी सुविधा होनी चाहिये जिससे कि सम्पूर्ण गाँव के लिए सहकारी कृषि-व्यवस्था की स्थापना की जा सके।

जुलाई, 1965 ई० में भारत सरकार ने चीन की सहकारी कृषि-व्यवस्था के अध्ययन के लिए श्री एस० के० पाटिल के नेतृत्व में एक भारतीय प्रतिनिधि-मंडल को चीन भेजा था। मण्डल के सुझाव देश में सहकारी कृषि व्यवस्था के निर्माण के लिए निश्चय ही महत्त्वपूर्ण हैं। चीन में आर्थिक विकास के लिए योजना तैयार करने में सामान्यतः रूस का ही अनुकरण किया गया है, किन्तु कृषि के क्षेत्र में रूस की तरह सामूहिक कृषि को नहीं अपना कर चीन में सहकारी कृषि-व्यवस्था पर अधिक जोर दिया गया है। फिर भी, चीन में सामूहिक कृषि की भावना का पूर्णतः अभाव नहीं है; क्योंकि अन्ततः सहकारी कृषि-समितियाँ वहाँ भी सामूहिक कृषि-व्यवस्था में ही परिणत कर दी जायेगी। चीन में सहकारी कृषि की स्थापना में वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी का महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा है। प्रारम्भ में चीन में केवल 19 उत्पादक सहकारी समितियों द्वारा सहकारिता आन्दोलन का कार्य प्रारम्भ हुआ। किन्तु मई, 1956 ई० तक सम्पूर्ण चीन में एक करोड़ से भी अधिक सहकारी कृषि-समितियाँ संगठित की जा चुकी थीं जिनके सदस्य ग्रामीण क्षेत्र के प्रायः 91



प्रतिशत परिवार थे। हमारे देश में राजनीतिक दल इस आंदोलन की प्रगति में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान कर सकते हैं। चीन की ही तरह हमारे देश में भी सहकारी कृषि-व्यवस्था से कृषि की उपज में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है।

नागपुर प्रस्ताव एवं भूमि-सुधार की नयी रूप-रेखा :— जनवरी, 1959 ई० में नागपुर कांग्रेस अधिवेशन में कांग्रेस दल ने संयुक्त सहकारी कृषि (Joint Co-operative Farming) को कृषि-सुधार के अन्तिम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया। भारतीय संसद् ने भी मार्च, 1959 ई० में एक प्रस्ताव द्वारा नागपुर प्रस्ताव को स्वीकृति प्रदान की। संसद् ने इस आशय का प्रस्ताव स्वीकार किया कि आगामी तीन वर्षों में संयुक्त सहकारी कृषि के प्रथम चरण के रूप में सेवा सहकारिता (Service Co-operatives) की स्थापना पर जोर दिया जाय। किन्तु सेवा सहकारिता से हमारा तात्पर्य क्या है? सेवा सहकारिता किसानों के उस संगठन को कहते हैं जो किसानों के लिए बीज, अच्छी खाद तथा कृषि-सम्बन्धी औजारों की व्यवस्था करेगी। किन्तु इस प्रकार की समितियों की स्थापना में निस्सन्देह कठिनाई होगी। सेवा सहकारिता के संगठन के लिए पर्याप्त मात्रा में सुयोग्य व्यक्तियों को प्राप्त करने में भी कठिनाई होगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन कठिनाइयों को दूर किया जा सकता है; किन्तु इसमें बहुत अधिक सावधानी की आवश्यकता होगी। साथ ही, इसमें समय भी बहुत अधिक लगेगा।

भारतीय कांग्रेस का उद्देश्य सहकारी कृषि के अन्तर्गत कृषि के सम्पूर्ण अंगों को लाना है। इस प्रस्ताव में इस बात पर भी जोर दिया गया है कि 1966 के अन्त तक प्रत्येक राज्य में जोतों की सीमा-निर्धारण का कार्य पूरा हो जाना चाहिए और इस प्रकार सीमा-निर्धारण के फलस्वरूप जो अतिरिक्त भूमि बचेगी उसकी व्यवस्था पंचायत के जिम्मे रहेगी और उस पर भूमिहीन व्यक्तियों की सहकारी समितियों द्वारा कृषि की जायगी। इस प्रस्ताव के अनुसार किसानों की भूमि को एक जगह एकत्र करके सहकारिता के अन्तर्गत लाया जायगा। भूमि पर उसका व्यक्तिगत स्वामित्व ज्यों-का-त्यों बना रहेगा तथा इसके लिए किसानों को Share Certificates दिये जायेंगे। भूमि पर सहकारी समितियों द्वारा संयुक्त रूप से वैज्ञानिक ढंग से कृषि की जायगी। उपज का एक हिस्सा प्रत्येक किसान को उसकी भूमि के आधार पर दिया जायगा तथा शेष उपज का वितरण उनके द्वारा किये गये श्रम के आधार पर किया जायगा। इससे बहुत अधिक लाभ की आशा की जाती है। सहकारी कृषि से उपज में वृद्धि होगी जिससे बाजार में आनेवाली अतिरिक्त उपज

(Marketable Surplus) की मात्रा बढ़ेगी। इससे औद्योगीकरण को बल मिलेगा तथा विदेशी मुद्रा की प्राप्ति होगी। इस प्रकार जो अतिरिक्त पूँजी का निर्माण होगा उनसे गाँव के विकास की योजनाएँ कार्यान्वित की जा सकती हैं।

जून, 1959 में भारत सरकार ने सहकारी कृषि-व्यवस्था के विस्तार के सम्बन्ध में एक कार्यक्रम तैयार करने के लिए एक समिति नियुक्त की थी जिसने अपना सुझाव फरवरी, 1960 में दिया। समिति ने सहकारी कृषि-व्यवस्था की स्थापना के पूर्व की जाने वाली प्रारम्भिक कार्रवाइयों के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से सुझाव दिया है। साथ ही, सुझाव के रूप में कहा गया था कि अगले चार वर्षों में प्रत्येक मिले के एक-एक खण्ड में सहकारी कृषि-व्यवस्था की स्थापना की जाय।

डॉ० ओटो शिलर के सुझाव—सहकारी कृषि के सम्बन्ध में डॉ० ओटो शिलर (Otto Schiller) के सुझावों की व्याख्या यहाँ अनिवार्य है। इन्होंने छोटी-छोटी जोतों के आधार पर व्यक्तिगत कृषि (Individual farming with small holdings) का सुझाव दिया है जिसमें नियोजन, विनियोग एवं विप्लव आदि सहकारिता के आधार पर किये जायेंगे। इस प्रकार की व्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें छोटी-छोटी जोतों को एकत्र किये वगैर ही बड़े पैमाने की कृषि के लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं। इसमें कृषि का कार्य छोटी-छोटी जोतों में व्यक्तिगत आधार पर किया जायगा। अतएव व्यक्तिगत स्वामित्व एवं प्रयोजन (Initiative) ज्यों-का-त्यों बना रहेगा, किन्तु कृषि-कार्य के लिए आवश्यक सभी सेवाओं का आयोजन सहकारिता के आधार पर किया जायगा। डॉ० शिलर का यह प्रस्ताव भारत की वर्तमान परिस्थितियों के लिए अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। शिक्षा एवं सामूहिक भावना के अभाव में हमारे देश के कृषक सहकारी संयुक्ता कृषि-व्यवस्था को अपनाने में संकोच कर रहे हैं। अतः, अभी इसी प्रकार की व्यवस्था को अपनाया जा सकता है और आगे जब देश में समुचित मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक वातावरण तैयार हो जायगा तब डॉ० शिलर के प्रस्ताव में कुछ संशोधन लाकर मध्यम आकार की जोतों पर कृषि-कार्य प्रारम्भ किया जा सकता है और इस प्रकार धीरे-धीरे सहकारी संयुक्त कृषि के अन्तिम आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) में देश के 318 जिलों में से प्रत्येक जिले के एक-एक सामुदायिक विकास प्रखण्ड में सहकारी कृषि का एक प्रयोग केन्द्र (Pilot Project) स्थापित करने का



आयोजन था। प्रत्येक केन्द्र में 10 सहकारी कृषि समितियाँ होंगी। इस प्रकार तृतीय योजनाकाल में कुल 3180 सहकारी समितियों की स्थापना की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त देश के अन्य भागों में और 4 हजार सहकारी कृषि समितियों की स्थापना की व्यवस्था थी। इन समितियों की स्थापना में सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करने पर जोर दिया गया था। इन समितियों को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए एक National Co-operative Farming Advisory Board की स्थापना भी की गयी। जनवरी, 1968 में इस परिषद् ने यह प्रस्ताव किया कि (क) हरेक समिति को पुनर्वास कार्यक्रम पर ही जोर देना चाहिए; (ख) प्रत्येक समिति में भूमि प्राप्त करने का एक निश्चित कार्यक्रम होना चाहिए, तथा (ग) उन्हीं समितियों को आर्थिक सहायता देनी चाहिए जो सरकार द्वारा निर्धारित नीतियों का अनुकरण कर सकें। राज्य सरकारों द्वारा भी राज्य-स्तर पर इस प्रकार की संस्थाएँ स्थापित की गयी हैं। इस प्रकार तृतीय योजनाकाल में सहकारी कृषि को अधिक लोकप्रिय बनाने के बहुत-सारे प्रयास किये गये।

जून 1970 तक देश में 8819 सहकारी कृषि समितियाँ थीं, जिनके अन्तर्गत लगभग 475 लाख हेक्टर भूमि थी। इससे स्पष्ट है कि देश में कुल कृषि की जाने वाली भूमि के केवल 0.4 प्रतिशत भाग में ही अभी तक सहकारी कृषि समितियों का निर्माण हो सका है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में सहकारी कृषि के विकास पर 18 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था।

### सहकारी कृषि-व्यवस्था की आलोचनात्मक समीक्षा

#### (A. Critical Appraisal of Co-operative Farming in India)

भारत में दो प्रकार की सहकारी कृषि समितियों की स्थापना का प्रयास किया गया है—सेवा सहकारिता (Service Co-operatives) तथा सहकारी संयुक्त कृषि समितियाँ (Co-operative Joint Farming Societies)। सेवा सहकारी समितियों का उद्देश्य खाद, बीज आदि किसानों के लिए उपलब्ध बनाना तथा इनकी उपज के विक्रय की व्यवस्था करना है। दूसरी ओर सहकारी संयुक्त कृषि के अन्तर्गत सदस्यों की सम्पूर्ण भूमि को मिलाकर एक इकाई का रूप दिया जाता है तथा बड़े पैमाने पर कृषि कार्य किया जाता है। भारत में सेवा सहकारी समितियों की स्थापना के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं उठायी जाती है, किन्तु जहाँ तक सहकारी

संयुक्त कृषि-व्यवस्था का प्रश्न है, इसके विरुद्ध अर्थशास्त्रियों तथा राजनीतिज्ञों द्वारा विभिन्न प्रकार की आलोचनाएँ की जाती हैं। वास्तव में, भारत में इस प्रकार की सहकारी कृषि-व्यवस्था की स्थापना में बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं। सर्वप्रथम यहाँ गाँवों में आज भी व्यक्तिगत भावना की प्रधानता है। अतः किसान शीघ्र इस प्रकार के सामूहिक कार्य के लिए तत्पर नहीं होते। साथ ही इससे अप्रजातान्त्रिक (Anti-democratic) शक्तियों को बल मिलेगा। इन्हीं कारणों से सर्वश्री मसानी, के० एम० मुन्शी तथा राजाजी जैसे विद्वानों ने सहकारी कृषि व्यवस्था के विरुद्ध आशंका प्रकट की है। कांग्रेस दल के कुछ प्रमुख व्यक्तियों ने भी सहकारी कृषि के विरुद्ध आवाज उठायी है। इन लोगों के अनुसार इससे भारतीय परम्परा समाप्त हो जायगी। राजाजी की राय में इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था से व्यक्ति, जोत तथा परिवार तीनों की स्वतन्त्रता (Freedom of man, freedom of the farm and family) समाप्त हो जायगी। किन्तु हमारे भूतपूर्व प्रधान मन्त्री पं० नेहरू इनकी आलोचना से सहमत नहीं थे। इनके अनुसार यह सोचना कि सहकारी कृषि आगे चलकर सामूहिक कृषि के रूप में परिणत हो जायगी, बिल्कुल तथ्यहीन जान पड़ता है। साथ ही, सहकारी कृषि को रूस आदि देशों की कृषि की बुराईयों के आधार पर नहीं देखना चाहिए; क्योंकि हमारी राजनीतिक व्यवस्था उन देशों से सर्वथा भिन्न है। सरकार ने सहकारी कृषि की उपलब्धियों तथा कठिनाइयों की जाँच के लिए प्रो० डी० आर० गैडगिल की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की थी जिसने अक्टूबर, 1965 में अपना प्रतिवेदन सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किया। समिति के अनुसार कुछ क्षेत्रों में सहकारिता के आधार पर कृषि के संगठन को पर्याप्त सफलता मिली है, किन्तु अधिकांश क्षेत्रों में ये मुख्यतः असफल ही रही है। इनका प्रधान कारण सरकारी सहायता का अभाव कहा जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से समितियों को स्वावलम्बी बनाने के लिए समिति के अनुसार उन्हें लघु उद्योग स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। समिति के अनुसार कृषि की समस्या के समाधान के लिए कोई सुगम रास्ता नहीं है, अतः ऋण-व्यवस्था तथा पुनर्संगठन के बावजूद शीघ्र परिणामों की आशा नहीं की जानी चाहिए।

अन्त में यह कहा जा सकता है सहकारी कृषि के अपने लाभ-अवश्य हैं, किन्तु अर्द्ध-विकसित एवं प्रजातान्त्रिक व्यवस्था वाले देशों में इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था को कार्य रूप में परिणत करने में निस्संदेह कठिनाई होगी। इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था को संचालित करने के लिए सुयोग्य नेतृत्व की आवश्यकता होगी



जिसका हमारे गांवों में अभी अभाव है। साथ ही, हमारे देश में किसानों में व्यक्तिवादी भावना इतनी कट-कूट कर भरी है कि वे शीघ्र इस प्रकार के सामूहिक कार्य के लिए शीघ्र तैयार नहीं होंगे। सुयोग्य नेतृत्व एवं सामूहिक भावना के अभाव में सहकारी कृषि का कोई भी प्रयत्न देश में सफल नहीं हो सकता। अतएव, सहकारी संयुक्त कृषि-प्रणाली को अपनाने के लिए देशवासियों के बीच समुचित सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक वातावरण तैयार करना होगा। शिक्षा एवं सामाजिक भावना के प्रचार द्वारा इस प्रकार का वातावरण तैयार किया जा सकता है, किन्तु इसमें भी समय लगेगा। अतः देश में सहकारी कृषि-प्रणाली की योजना को कार्यान्वित करने में धैर्यपूर्वक काम लेने की आवश्यकता है।

किन्तु देश में सहकारी कृषि की प्रगति संतोषजनक नहीं कही जा सकती। वास्तव में, भारत जैसे देश में शिक्षा एवं सामूहिक भावना के अभाव में इस प्रकार की कृषि व्यवस्था को अपनाने के लिए किसान शीघ्र तैयार

नहीं होते। अतः सरकार अब अपनी इस नीति में परिवर्तन कर रही है तथा ऐसा जान पड़ रहा है कि सहकारी कृषि के उद्देश्य का धीरे-धीरे परित्याग किया जा रहा है। साथ ही, जैसा कि प्रो० मिर्डल (G. Myrdal) ने कहा है "भारत में सहकारी कृषि-व्यवस्था से कृषि के क्षेत्र में किसी प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती।" इसके अनुसार "Co-operative farming in the Indian sense is far less radical than it seems on the surface. Indeed, its major weakness is that it produces virtually no change in the status quo. Traditional status and distinctions between land-owners and landless labourers and share croppers are maintained and under the cover of respectability provided by the label co-operation may even become more deeply entrenched."<sup>1</sup>

#### विशेष अध्ययन-सूची

1. Baljit Singh : Next step in Village India.
2. Khusro and Agrawal : Problems of Co-operative Farming in India.
3. G. Myrdal : Asian Drama.
4. National Sample Survey, Report No. 17
5. Congress Agrarian Reforms Committee Report (1949).
6. Third, Fourth and Fifth Five Year Plans.
7. Draft Five Year Plan (1978-83).

1: Asian Drama. श्री मिर्डल ने आगे इस सम्बन्ध में कहा है कि "It is not enough to maintain that the remedy for the ills of co-operation is more co-operation. Genuine co-operation can emerge only when the long standing changes in status and power that divide the agricultural community have been repaired. It is futile to hope that experiments with co-operation can mend them."



## अध्याय : 20

## भूमि-व्यवस्था एवं सुधार

### (Land Tenures and Reform)

**परिचय :—**भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश में उचित भूमि-व्यवस्था का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। भूमि-व्यवस्था के अध्ययन से भूमि के प्रति किसानों की वैधानिक स्थिति का अन्दाजा लगता है। किसान जिस भूमि को जोतता है उसके प्रति उसका क्या अधिकार है? इसका अध्ययन भूमि-व्यवस्था के अन्तर्गत ही किया जाता है। दूसरे शब्दों में, “भूमि-व्यवस्था का तात्पर्य भूमि के स्वामी तथा उसके जोतने वाले का भूमि के प्रति अधिकार एवं दायित्व तथा मालगुजारी देने के सम्बन्ध में राज्य से सम्बन्धों की व्याख्या से है।” (Land tenures may be defined as the system of rights and responsibilities of the owners and the cultivators of land vis-a-vis the state regarding the payment of revenue.) अर्थात् भूमि-व्यवस्था से हमारा अभिप्राय उन शर्तों से है जिन पर भूमि का स्वामित्व एवं उसे जोतने का अधिकार निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में, भूमि-व्यवस्था का अर्थ उस प्रथा से है जिसके अन्तर्गत किसी व्यक्ति की भूमि पर उनके अधिकार एवं दायित्व का विचार होता है।

भूमि-व्यवस्था का अध्ययन कई कारणों से अत्याधिक महत्वपूर्ण है। सर्वप्रथम तो राज्य के दृष्टिकोण से इस बात का पता लगाना आवश्यक है कि भूमि का वास्तविक मालिक कौन है? भूमि-व्यवस्था के अध्ययन से ही इसका पता लगता है। साथ ही, भूमि-व्यवस्था का भूमि की उपज पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। किसान जिस भूमि को जोतता है यदि वह उसका स्वयं मालिक होता है तो वह बहुत ही मन लगाकर कार्य करता है जिससे उपज अधिक होती है। भूमि-व्यवस्था के अध्ययन से देश के सामाजिक संगठन, यानी देश में किस प्रकार की व्यवस्था—सामन्तवादी, पूँजीवादी या साम्यवादी व्यवस्था है, इसका भी अन्दाजा लगता है। इस प्रकार भूमि-व्यवस्था का देश की सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था से भी घनिष्ठ रूप में सम्बन्ध है। कृषि के विकास तथा किसानों के हितसाधन के लिए देश में समुचित भूमि-व्यवस्था का होना अति अनिवार्य है। वास्तव में, किसी भी देश के लिए सर्वाधिक उत्तम भूमि-व्यवस्था वही है जिसमें उत्पादन भी अधिकतम हो और साथ-ही-साथ किसान भी सन्तुष्ट हों। यदि किसी देश में भूमि-व्यवस्था कृषि के उत्पादन में वृद्धि तथा किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार में बाधक हो तो इसमें सुधार

(Land Reforms) अनिवार्य है। अधिकांश अविकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों में स्थिति इसी प्रकार की है, अतः इनमें भूमि-सुधार की प्रबल आवश्यकता होती है।

विकासशील अर्थ-व्यवस्था के लिए भूमि-सुधार का महत्व (Importance of Land Reforms for a Developing Economy):—भारत-जैसे आर्थिक दृष्टि से अर्द्ध-विकसित देश के लिए तो भूमि-सुधार का सामाजिक परिवर्तन एवं आर्थिक विकास से अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसा कि स्पष्ट है, अविकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों के आर्थिक विकास का आधार कृषि का विकास है। कृषि से खाद्यान्न तथा उद्योग-धन्य के लिए महत्वपूर्ण कच्चे पदार्थ प्राप्त होते हैं और इनके उत्पादन में वृद्धि से औद्योगिक विकास की नींव सुदृढ़ होती है। साथ ही, कृषि के उत्पादन में वृद्धि से जो आधिक्य (Surplus) प्राप्त होता है उसे औद्योगिक विकास के कार्य में प्रयोग किया जा सकता है। कृषि-उत्पादन में वृद्धि मुख्यतः दो तत्वों पर निर्भर करती है—तकनीकी तथा संस्थागत। तकनीकी तत्वों के अन्तर्गत अच्छे बीज, अच्छी खाद आदि तथा संस्थागत सुधारों के अन्तर्गत कृषि के हित में भूमि-स्वामित्व का पुनर्वितरण, रैयती कानूनों में सुधार, मध्यस्थ वर्ग का उन्मूलन व, कृषि-पुनर्गठन आदि आते हैं। भूमि-सुधार इसी प्रकार के संस्थापक सुधारों का प्रतीक है।

इतना ही नहीं, भूमि-सुधारों का एक प्रमुख उद्देश्य सामाजिक न्याय की प्राप्ति भी है। आजकल आर्थिक विकास का एक प्रमुख उद्देश्य सामाजिक विषमता का निवारण भी हो गया है। देश में भूमि का वितरण बड़ा ही विषम है जिससे ग्रामीण क्षेत्र में सामाजिक असमानता बहुत अधिक पायी जाती है। इससे ग्रामीण जनता में असन्तोष की भावना व्याप्त रहती है जो आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हो रही है। अतएव आर्थिक विकास के लिए भूमि के वितरण की विषमता को दूर करना अनिवार्य है और भूमि-सुधार से ही यह संभव है।

अन्य तत्वों के अतिरिक्त आर्थिक विकास पूँजी पर भी निर्भर करता है और अविकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों में भूमि-सुधार के द्वारा कृषि के उत्पादन में जो वृद्धि होती है उससे अतिरिक्त पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है।



इस प्रकार आर्थिक विकास के लिए भूमि-सुधार का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। कृषि का उत्पादन अधिकतम तभी होता है जबकि भूमि की व्यवस्था इसके लिए अनुकूल हो। यदि भूमि-व्यवस्था से कृषक वर्ग का शोषण होता है तो इससे किसानों को उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा नहीं मिलती। अतः भूमि-सुधार का अभिप्रायः कृषि-विकास के मार्ग की सारी बाधाओं को दूर करना होना चाहिए जिससे कृषि का विकास निरन्तर जारी रहे। आर्थिक दृष्टि से विकसित देशों में प्रगतिशील भूमि-व्यवस्था पायी जाती है जिससे किसानों को उत्पत्ति बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

किसान का भूमि से सम्बन्ध :—किसान का भूमि से सम्बन्ध निम्नलिखित तीन प्रकार का हो सकता है :—

(क) भूमि का स्वामित्व राज्य के हाथ में हो और किसान राज्य रयत के रूप में राज्य को एक निश्चित लगान चुकाता हो। इस प्रकार की व्यवस्था को State Landlordism की प्रथा कहते हैं। समाजवादी राष्ट्रों में साधारणतः यही व्यवस्था पायी जाती है।

(ख) भूमि का स्वामित्व स्वयं किसानों के हाथ में रहता हो। भूमि पर स्वामित्व तभी पूर्ण समझा जाता है जब किसानों को अपनी भूमि को बेचने अथवा हस्तांतरित करने का पूरा-पूरा अधिकार हो। जब किसान स्वयं अपनी भूमि को जोतता है तो इस प्रथा को कृषक स्वामित्व (Peasant Proprietorship) की प्रथा कहते हैं। कुछ व्यक्तियों के अनुसार भूमि-व्यवस्था की यही पद्धति सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। 1935 ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (Indian National Congress) ने अपने प्रस्ताव में इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया था।

(ग) भूमि का स्वामित्व जमींदारों के हाथ में रहता है और किसान इनके रयत के रूप में कार्य करते हैं। किसानों का रयती अधिकार जमींदारों के साथ के समझौते पर निर्भर करता है। किसान दखली कान्तकार (Occupancy tenant) हो सकता है। ऐसी स्थिति में जब तक वह लगान चुकाते जाता है तब तक उसकी भूमि से उसे कोई बेदखल नहीं कर सकता। किसान Tenant at will भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में जमींदार रयतों को अपनी मर्जी के अनुसार बेदखल कर सकता है अथवा इसके लगान में वृद्धि कर सकता है।

1. There is only one fundametnal method of improving village life.....namely the introduction of the system of peasant proprietorship under which the tiller of the soil is himelf the owner of it, and pays revenue direct to the Government without the intervention of any zamindar and taluqdar.

इस प्रकार भूमि व्यवस्था के विभिन्न रूप हो सकें। किन्तु, सर्वोत्तम भूमि-व्यवस्था वही है जिसमें राज्य एवं किसानों के बीच किसी भी प्रकार के बिचवैये नहीं।

## भारत में वर्तमान भूमि-व्यवस्था

### के विभिन्न रूप

#### (Different Systems of Land

#### Tenures Prevailing in India)

भारत में भूमि-व्यवस्था के विभिन्न रूप पाये जाते हैं—हजारों असामियोंवाली अत्यधिक बृहत् भू-सम्पदा से लेकर एक एकड़ से कम तक का भू-स्वामित्व। (The system of land tenures in India exhibits almost every conceivable variation from big estates containing thousands to minute holbing of land under an acre size.) फिर भी, इसे कुछ निश्चित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। वर्तमान समय में हमारे देश में भू-व्यवस्था निम्नलिखित तीन रूप में पाये जाते हैं :—

(1) जमींदारी व्यवस्था (Zamindari Sestem) या स्थायी प्रबन्ध (Permanent Settlement) :—स्थायी प्रबन्ध बिहार, पश्चिमी बंगाल तथा उत्तर प्रदेश एवं आन्ध्र के कुछ हिस्सों में पाया जाता था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि पर जमींदारों का पूरा-पूरा अधिकार होता था जो प्रतिवर्ष सरकार को एक निश्चित रकम लगान के रूप में देते थे। किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद इस प्रथा को बिल्कुल समाप्त कर दिया गया है।

(2) महालवारी व्यवस्था (Mahalwari System) :—इस व्यवस्था में भूमि की बन्दोबस्ती सम्पूर्ण गाँव या महाल के साथ सम्मिलित रूप में की जाती है। गाँव के सभी किसान इसमें हिस्सेदार की तरह होते हैं। भूमि-कर अदा करने के लिए संयुक्त रूप से सारा महाल उत्तरदायी होता है। यह व्यवस्था उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश के अधिकतर भागों में पायी जाती है।

(3) रयतवारी व्यवस्था (Ryotwari System) :—इस व्यवस्था में भूमि का प्रबन्ध रयतों के साथ व्यक्तिगत रूप में किया जाता है। प्रत्येक भूमिवाला स्वामी होता है तथा जब तक वह सरकार को निश्चित समय पूर नियत मालगुजारी चुकाते जाता है तब तक उसे उसकी भूमि से



वेदखल नहीं किया जा सकता। यह प्रथा तमिलनाडु, गुजरात तथा मध्य प्रदेश में प्रचलित है।

1937-38 ई० में भारत में कुल खेती की जानेवाली भूमि के 25 प्रतिशत भाग में स्थायी जमींदारी-व्यवस्था, 39 प्रतिशत भाग में अस्थायी जमींदारी अथवा महाल-वारी व्यवस्था और 36 प्रतिशत भाग में रयतवारी व्यवस्था पायी जाती थी। समय के साथ-साथ इन तीनों प्रथाओं में इतना अधिक परिवर्तन हो गया है कि यदि लांडे कानवालिस तथा सर टॉमस मुनरो जो क्रमशः जमींदारी तथा रयतवारी प्रथा के संस्थापक थे, इन प्रथाओं को देखते तो शायद ही इन्हें पहचान पाते। धीरे-धीरे इन प्रथाओं की विशेषताएँ एक-दूसरे से मिलती-जुलती गयीं तथा तीनों प्रणालियों का झुकाव जमींदारी प्रथा की ओर होता गया। किन्तु अब प्रायः सभी राष्ट्रों से जमींदारी प्रथा समाप्त हो गयी है तथा किसानों का सरकार के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

### जमींदारी उन्मूलन

#### (Abolition of the Zamindari System)

अंग्रेजों ने स्वहित से प्रेरित होकर भारत के कुछ भागों में जमींदारों के साथ भूमि की व्यवस्था की थी। किन्तु, धीरे-धीरे यह प्रथा दोषपूर्ण सिद्ध होने लगी तथा इसके विरुद्ध आवाज उठायी जाने लगी। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा (Autobiography) में जमींदारों की तुलना गाड़ी के पाँचवें पहिये से, जो अनावश्यक होती है, की है। अतएव स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इस प्रथा को समाप्त करना आवश्यक समझा गया।

जमींदारी प्रथा के दोष (Defects of the Zamindari System):—जमींदारी व्यवस्था जिस युग और परिस्थिति में अपनायी गयी थी उसके लिए वह सर्वथा उपयुक्त समझी गयी थी। लेकिन बाद में इस व्यवस्था में अनेक दोष स्पष्ट होने लगे जिनमें निम्न-लिखित प्रमुख हैं:—

(1) सरकारी आय में कमी:—जमींदारों की मालगुजारी सदा के लिए निश्चित कर दी गयी थी। लेकिन मूल्य में वृद्धि, भूमि की उन्नति तथा विकास एवं जनसंख्या में वृद्धि आदि के फलस्वरूप जमींदारों ने किसानों की मालगुजारी को बढ़ा दिया। लगान की इस वृद्धि से सरकार को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। फ्लाउड कमीशन (Floud Commission) ने इस सम्बन्ध में यह अनुमान लगाया था कि स्थायी प्रबन्ध के कारण सरकार की प्रतिवर्ष 2 से 7 करोड़ रुपये की क्षति होती थी। साथ ही, इससे समाज में आर्थिक विषमता भी बढ़ती है।

(2) जमींदारों का कार्य केवल मालगुजारी वसूलने तक ही सीमित था:—कृषि तथा किसानों की स्थिति में सुधार से इनका प्रायः कोई सम्बन्ध नहीं था।

(3) मध्यस्थ वर्ग का अस्त्युदय:—जमींदारी प्रथा के कारण सरकार तथा किसानों के बीच सीधा सम्पर्क नहीं रहा जिससे सरकार कृषि तथा किसानों से वित्कुल उदासीन हो गयी। सरकार को किसानों के विषय में विशेष जानकारी नहीं होने के कारण दोनों के बीच अज्ञानता की एक बड़ी दीवार खड़ी हो गयी। बाढ़, अकाल तथा अन्य प्रकार के संकट में भी किसानों को मालगुजारी से छट नहीं मिल पाती थी। जमींदार किसानों से तरह-तरह के बेगार वसूल करते थे। बेगार की प्रथा इतनी अधिक हो गयी थी कि इसके भार से गरीब किसानों की कमर ही झुकती गयी। इस प्रकार जमींदारी प्रथा के फलस्वरूप किसानों का आर्थिक शोषण बढ़ गया।

(4) अनुपस्थित जमींदारी व्यवस्था की बुराइयाँ:—अधिकतर जमींदार गाँव छोड़कर शहरों में रहने लगे जिससे अनुपस्थित जमींदारी-व्यवस्था (Absentee Landlordism) का चलन हो गया। इसके फलस्वरूप किसानों एवं जमींदारों के बीच भी एक भू-उपस्वत्वधारी वर्ग का निर्माण हो गया। कृषि एवं कृषकों के प्रति इस वर्ग की कोई सहानुभूति नहीं थी जिससे कृषि-विकास की प्रेरणा नष्टप्राय-सी हो गयी।

(5) किसानों के साथ अन्याय:—जमींदारों के साथ स्थायी प्रबन्ध भूमि की पैसाइश किये बगैर ही हुआ था। मालगुजारी की रकम भूमि का सर्वेक्षण किये बगैर भूमिगत अधिकारों एवं लेखों को देखे बगैर तथा विभिन्न प्रकार की मिट्टियों की उत्पादन क्षमता पर विचार किये बगैर ही निश्चित की गयी थी। अधिकार तथा दखल-सम्बन्धी आवश्यक कागजात भी नहीं तैयार किये गये थे। फलस्वरूप किसानों के अधिकारों को निश्चित रूप नहीं दिया जा सका था। इस व्यवस्था के फलस्वरूप रयतों पर दो प्रकार के अन्याय हुए। एक तो इनसे भू-स्वामित्व का अधिकार छीन लिया गया और द्वितीयतः उन्हें पूर्णरूप से केवल जमींदारों की दया पर ही छोड़ दिया गया जिन्होंने इन पर नाना प्रकार से लगान बढ़ाना प्रारम्भ किया। किसान परिश्रम करके खेतों की उपज बढ़ाते थे, किन्तु उसका वास्तविक लाभ जमींदारों को ही मिलता था। परिणाम यह हुआ कि जिस अनुपात में किसान गरीब होने लगे उसी अनुपात में जमींदारों की दौलत भी बढ़ने लगी। इसे रोकने के लिए 1895 ई० में बंगाल टेनेन्सी ऐक्ट द्वारा किसानों को उनके अधिकारों की सुरक्षा के लिए कुछ कानूनी अधिकार भी दिये गये, किन्तु इनसे किसानों की स्थिति में कोई मौलिक सुधार नहीं हो पाया।

इस प्रकार जमींदारी प्रथा के फलस्वरूप सरकार की आय में क्षति हुई, भूमि की उर्वरा शक्ति में ह्रास हुआ,



जमींदार दिन-प्रतिदिन धनी होते गये, मध्यस्थों की संख्या बढ़ती गयी, आय के वितरण में अधिक विषमता हुई तथा किसानों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति और कृषि पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ा। फ्लाउड कमीशन (Floud Commission) के अनुसार स्थायी प्रबन्ध से किसानों के सभी अधिकार छिन गये, मालगुजारी वेलोचदार हो गयी, कर-निर्धारण में असमानता आ गयी तथा सरकार को कृषि के सम्बन्ध में उचित ज्ञान नहीं रहा। वास्तव में, यह प्रथा एक लोहे का शिकंजा बन गयी जिससे सभी सम्बन्धित वर्गों का साहस तथा कार्यारम्भ की शक्ति विनष्ट हो गयी। सरकार भी धीरे-धीरे इन दोषों से अवगत होने लगी जिसका अन्दाजा भारत सरकार द्वारा 1902 ई० में भूमि-सम्बन्धी आय की नीति पर तैयार किये गये स्मृति-पत्र के निम्न वचनों से लगता है “स्थायी बन्दोबस्ती भूमि-व्यवस्था की एक ऐसी प्रथा है जिसका अनुमोदन किसी भी सभ्य देश के आधार पर नहीं किया जा सकता। भारत में जो भी प्रयोग किये गये हैं उनमें एक भी प्रयोग ऐसा नहीं है जिसके आधार पर इस प्रथा को न्यायसंगत सिद्ध किया जा सके। इस प्रथा ने अन्याय के साथ-साथ किसानों को जमींदारों की मर्जी पर छोड़ रखा है जिन्होंने किसानों पर तरह-तरह के अत्याचार किये हैं। अतः, जमींदारों से किसानों की रक्षा के लिए ऐसे कड़-कड़े कानून बनाने पड़े हैं जिनकी आवश्यकता अस्थायी बन्दोबस्ती वाले क्षेत्रों में कभी नहीं पड़ी है।”

भारत में जमींदारी उन्मूलन के प्रयत्न :- जमींदारी-व्यवस्था के उपरोक्त दोषों के फलस्वरूप आधुनिक युग के लिए यह बिल्कुल अनुपयुक्त सिद्ध हो गयी थी। अतः इसे समाप्त करना अनिवार्य-सा हो गया। इस सम्बन्ध में धीरे-धीरे प्रयास भी किये जाने लगे।

सर्वप्रथम बंगाल सरकार ने 1938 ई० में सर फ्लाउड की अध्यक्षता में स्थायी प्रबन्ध पर विचार करने के लिए एक बंगाल लैंड रेवेन्यू कमीशन (Bengal Land Revenue Commission) की नियुक्ति की। फ्लाउड कमीशन ने बहुमत द्वारा जमींदारी-उन्मूलन के पक्ष में अपनी राय दी। कमीशन के अनुसार वर्तमान परिस्थितियों में स्थायी प्रबन्ध असामयिक हो गया था। अतः, यह आधुनिक समय के लिए न्याय-संगत तथा उपयुक्त नहीं रह गया था। इसमें बहुत-से दोष आ गये थे। भूमि के मूल्य में वृद्धि के फलस्वरूप होने वाले लाभ से सरकार पूर्णतया वंचित रह गयी, किसान तथा राज्य के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहने के कारण किसानों की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति दिन-प्रति-दिन खराब होने लगी, इत्यादि। इन दोषों के फल-स्वरूप किसानों का उत्साह समाप्त हो गया जिससे आर्थिक विकास एकदम रुक-सा गया। इस प्रकार

आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक, प्रत्येक दृष्टिकोण से, जमींदारी-व्यवस्था असामयिक तथा हानिकारक सिद्ध हुई। अतः आयोग ने बहुमत से जमींदारी व्यवस्था को समाप्त करने की सिफारिश की। 1945 ई० में बंगाल दुर्भिक्ष जांच आयोग (The Bengal Famine Enquiry Commission) ने भी अपना विचार इसी प्रकार से व्यक्त किया था कि जब तक देश की भूमि-व्यवस्था में मौलिक सुधार नहीं किया जाता एवं जमींदारी व्यवस्था को समाप्त नहीं किया जाता तब तक कृषि के विकास तथा अकाल से स्थायी सुरक्षा सम्भव नहीं है। नेशनल प्लानिंग समिति ने भी जमींदारी उन्मूलन के प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए अपने प्रति-वेदन में बतलाया था कि सम्पूर्ण प्राकृतिक सम्पत्ति पर जनता का सामूहिक रूप से अधिकार होना चाहिए। अतः राज्य तथा किसानों के बीच किसी भी प्रकार के मध्यस्थ, जैसे—जमींदार, तालुकेदार तथा मालगुजारी आदि को स्वीकार करना युक्ति-संगत नहीं होगा। इस समिति ने स्पष्ट शब्दों में जमींदारी व्यवस्था को आर्थिक दृष्टिकोण से हानिकारक, असामयिक तथा अन्यायपूर्ण बतलाया। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जमींदारी व्यवस्था ऐतिहासिक दृष्टि से किसानों को जालसाजी और कपट के पाश में उलझाने वाली रही है, आर्थिक दृष्टिकोण से यह व्यवस्था पातकी तथा राजनीतिक दृष्टि से मध्यकालीन की प्रतीक जान पड़ती है। अतएव इसका उन्मूलन बिल्कुल आवश्यक हो गया है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इस प्रथा को समाप्त करने की शुरुआत हुई तथा अबतक सभी राज्यों में जमींदारी अथवा जागीरदारी व्यवस्था, जिसके अन्तर्गत देश की कुल प्रायः 40 प्रतिशत से भी अधिक भूमि थी; के उन्मूलन का कार्य समाप्त हो गया है। इससे करीब दो करोड़ किसानों का राज्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हुआ है तथा उनकी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में सुधार हुआ है। मध्यस्थों के उन्मूलन का कार्य इनको मुआवजा देकर किया गया है। सम्पूर्ण देश के मध्यस्थों के लिए प्रायः 570 करोड़ ₹० की रकम मुआवजे के रूप में चुकानी पड़ेगी जिसमें अभी तक 320 करोड़ रुपये का भुगतान नकद तथा ऋण-पत्र के रूप में किया जा चुका है।

### बिहार में जमींदारी उन्मूलन (Zamindari Abolition in Bihar)

भारत में जमींदारी उन्मूलन का सर्वप्रथम प्रयत्न बिहार में ही प्रारम्भ हुआ। 1946 ई० में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल संगठित होने पर यह बात सर्वप्रथम सरकार के समक्ष आयी तथा 1947 ई० में सरकार ने ‘बिहार’



स्टेट ऐक्टिविशन ऑफ जमींदारी बिल नामक एक विधेयक व्यवस्थापिका सभा के समक्ष रखा जिसका उद्देश्य राज्य तथा किसानों के बीच पड़नेवाले सभी मध्यस्थों को समाप्त करना था। इसका नाम आगे चलकर बिहार जमींदारी उन्मूलन विधेयक (Bihar Abolition of Zamindari Bill) दिया गया। 1948 ई० में यह विधेयक बिहार व्यवस्थापिका की दोनों सभाओं द्वारा स्वीकृत किये जाने पर भारत के गवर्नर जनरल के यहाँ स्वीकृति के लिए भेजा गया। किन्तु भारत सरकार ने कुछ आवश्यक संशोधन के लिए इसे लौटा दिया। 1949 ई० में पुनः कुछ संशोधन के बाद यह विधेयक गवर्नर जनरल की स्वीकृति पाकर विधान बन गया। किन्तु इसकी वैधानिकता पर कुछ जमींदारों ने आपत्ति की और न्यायालय ने कानून में भूमि-सुधार की आवश्यक व्यवस्था नहीं होने के कारण इसे रद्द कर दिया। अतः इसकी जगह पर पुनः 1950 ई० में 'बिहार भूमि-सुधार अधिनियम, (Bihar Land Reforms Act) बनाया गया। इसकी वैधानिकता पर भी आपत्ति की गयी, परन्तु भारतीय संविधान के 31 वें अनुच्छेद के संशोधन ने सारी कठिनाइयाँ दूर कर दीं और भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने इस कानून को पूर्णतः वैध ठहराया।

बिहार में जमींदारी उन्मूलन का कार्य इसी कानून के आधार पर किया गया है। उन्मूलन कार्यक्रम के प्रथम चरण में सुविधा के लिए 50,000 रुपये कुल वार्षिक आय से अधिक की जमींदारियों को लेने का कार्य प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार की जमींदारियों की संख्या 155 थी। 1953-54 ई० तक दस हजार से 50 हजार के बीच की सारी जमींदारियों को ले लिया गया। गया, हजारीबाग, मुर्गेर, दरभंगा, पूर्णिया, पलामू, सहरसा और चम्पारण जिलों की सभी जमींदारियाँ 26 जनवरी, 1955 ई० में ले ली गयीं तथा शेष 9 जिलों में भी जमींदारी उन्मूलन का कार्य 1 जनवरी, 1956 ई० को समाप्त हो गया। इस प्रकार लगभग 150 वर्षों के बाद बिहार में जमींदारी प्रथा समाप्त हुई।

बिहार भूमि-सुधार कानून का मुख्य उद्देश्य राज्य एवं किसानों के बीच पड़नेवाले सभी विचर्वयों को समाप्त कर, किसान, जो भूमि को जोतते हैं, को भूमि का वास्तविक मालिक बनाना है। इससे किसान तथा सरकार के बीच सीधा सम्पर्क स्थापित हो गया जो कृषि में स्थायी सुधार के लिए परम आवश्यक है। इस नियम के अनुसार जमींदारी के साथ-साथ उनसे सम्बन्धित पेड़, घाट, खान एवं खनिज, जंगल, हाट-बाजार, मछलीगाह तथा कचहरी आदि पर भी सरकार

का अधिकार हो गया। इससे राज्य सरकार की आय में वृद्धि के साथ-साथ राष्ट्रीय हित के उद्देश्य से इनका समुचित उपयोग भी हो सकेगा। बिहार भूमि-सुधार कानून के अनुसार जमींदारों को लेने के लिए मुआवजा देना पड़ा है। जमींदारों की कुल आमदनी में से कुछ खास-खास खर्चों को काटकर जो शुद्ध आमदनी (net income) थी उसके 3 से 20 गुना तक मुआवजा दिया गया है। 1 लाख रुपये से अधिक शुद्ध आय वाली जमींदारियों के लिए 3 गुना तथा 500 रुपये से कम शुद्ध आयवाली जमींदारियों के लिए 20 गुना मुआवजा दिया गया है। मुआवजे की कुल रकम एक ही साथ नगद रूप्यों में न देकर सरकारी ऋण-पत्रों (Govt. Bonds) के रूप में दी गयी जिसकी अदायगी 40 वर्षों में किस्त के अनुसार होगी। बिहार में कुल जमींदारियों के लिए प्रायः 160 करोड़ रुपये मुआवजे के रूप में देने पड़े। जमींदारी उन्मूलन योजना से राज्य सरकार को कोई विशेष आर्थिक कठिनाई नहीं हुई। वास्तव में, जमींदारी-उन्मूलन के फलस्वरूप जो अतिरिक्त वार्षिक आय हुई है उसी से मुआवजे की रकम तथा सूद के भी चुकता हो जाने की आशा है। फिर भी, उन्मूलन कार्यक्रम के प्रारम्भिक वर्षों में सरकार की आर्थिक कठिनाइयाँ कुछ अवश्य बढ़ गयी हैं।

### उत्तर प्रदेश में जमींदारी उन्मूलन (Abolition of Zamindari in U.P.)

उत्तर प्रदेश में भी जमींदारी उन्मूलन का कार्य समाप्त हो गया है। 10 जनवरी, 1951 ई० को उत्तर प्रदेश की सरकार ने एक जमींदारी-उन्मूलन अधिनियम पारित किया जिसके अनुसार जमींदारों को उनकी सीर या खुदकाशत, बगीचे, निजी कुएँ एवं तालाबों को छोड़कर शेष सभी भूमि के स्वामित्व से पृथक् कर दिया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश की सरकार ने भी जमींदारों को उनकी सम्पत्ति की आठगुनी क्षति-पूर्ति देने की व्यवस्था की है। इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे जमींदारों को क्षति-पूर्ति के अतिरिक्त उनकी वास्तविक सम्पत्ति के मूल्य के लगभग 2 से 20 गुना तक पुनर्स्थापन सहायता देने की व्यवस्था की गयी है। क्षति-पूर्ति के लिए उत्तर प्रदेश सरकार ने एक जमींदारी उन्मूलन कोष (Zamindari Abolition Fund) की स्थापना की है। उत्तर प्रदेश में क्षतिपूर्ति के रूप में जमींदारों को दी जानेवाली कुल अनुमानित रकम 198.34 करोड़ रु० है।

इस अधिनियम के अनुसार उत्तर प्रदेश में अब निम्नलिखित 4 प्रकार के कृषक होंगे—(1) भूमि-धर :— हर एक कृषक अपनी भूमि का 10 गुना लगान देने के



पश्चात् अपनी भूमि का मालिक बन सकता है। उसे अपनी भूमि के उपयोग करने, बेचने, रेहन रखने, दान में देने अथवा भूमि के किसी भी भाग पर मकान, कुआँ, आदि बनवाने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। इस श्रेणी के अन्तर्गत लगभग 20 लाख जमींदार भी आ गये हैं जो जमींदारी उन्मूलन से पूर्व अपनी बिना लगान पर उठाई हुई भूमि पर स्वयं खेती करते थे। इस अधिनियम के अनुसार जो कृषक अपनी भूमि का 10 गुना लगान देकर "भूमि-धर" बन जाता है उसके लगान में आगामी 40 वर्षों के लिए 50% की कमी की दर दी जाती है। (2) सीरदार—सीरदार वे कृषक हैं जिन्हें जमींदारी उन्मूलन के पूर्व भूमि पर स्थायी मोरूसी अधिकार था। अब इस नयी व्यवस्था के अन्तर्गत सीरदार को स्थायी और पंतुक अधिकार प्रदान कर दिये गये हैं। इस अधिनियम में यह उल्लेख किया गया है कि किसी भी सीरदार को अपनी भूमि बेचने अथवा कृषि के अतिरिक्त दूसरे उपयोगों में लाने से पूर्व भूमि-धर बनाना अनिवार्य है। (3) असामी :— जो कृषक 1947 ई० के पूर्व गैर-मोरूसी थे अथवा जिनका अपनी भूमि पर अस्थायी अधिकार था उनको 'असामी' वर्ग में रखा गया। (4) अधिवासी :— ऐसे कृषक, जो छोटे-छोटे जमींदारों की भूमि पर खेती करते थे और जिनका उस भूमि पर कोई स्थायी स्वामित्व नहीं था इस नये अधिनियम के अन्तर्गत उनको 'अधिवासी' वर्ग में रखा गया है। बाद में, एक संशोधन के अनुसार अधिवासी वर्ग को समाप्त कर दिया गया तथा असामी वर्ग के कृषकों को यह अधिकार दिया गया कि यदि वे "जमींदारी उन्मूलन अधिनियम" के लागू होने के 5 वर्ष बाद तक अपनी भूमि के वार्षिक लगान का 15 गुना राज्य सरकार को दे दें तब उन्हें भूमि पर स्थायी स्वामित्व का अधिकार दे दिया जायगा। इस अधिनियम के अन्तर्गत व्यक्तिगत भूमि की न्यूनतम सीमा 6½ एकड़ तथा अधिकतम सीमा 50 से 80 एकड़ तक निर्धारित कर दी गयी है।

### जमींदारी उन्मूलन के आर्थिक एवं सामाजिक परिणाम

(Economic and Social effects of the Zamindari Abolition)

ब्रिटिश शासन काल में देश के प्रायः प्रत्येक भाग में किसानों तथा राज्य के बीच विभिन्न प्रकार के मध्यस्थ वर्ग के लोग आ गये थे जिनके जिम्मे देश की कुल प्रायः 1734 लाख एकड़ भूमि थी। जमींदारी उन्मूलन के परिणामस्वरूप अब सरकार द्वारा इसकी व्यवस्था की जाने लगी है। इसका कृषि तथा किसानों के आर्थिक जीवन पर बहुत ही महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। किसान इससे विशेष

रूप में लाभान्वित हुए हैं। वे जमींदारों के शोषण से सदा के लिए मुक्त हो गये। जमींदारी उन्मूलन के फलस्वरूप उप-अधिकृत भूमि की व्यवस्था सरकार स्वयं किसानों के साथ कर रही है जिससे किसानों का राज्य के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित हो गया है। इन सुधारों से लगभग 2 करोड़ काश्तकारों का किसानों से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित हो गया है। मध्यस्थ वर्ग की समाप्ति से सरकार के प्रबन्ध में बहुत-सी कृषि-योग्य बजर भूमि तथा निजी वन आ गया है जिससे भूमिहीन किसानों में 57.7 लाख हेक्टर भूमि का वितरण संभव हुआ है।<sup>1</sup>

इतना ही नहीं, किसानों का भूमि पर स्वामित्व हो जाने से उन्हें कृषि-कार्य में प्रोत्साहन मिलेगा; फलस्वरूप उत्पादन अधिक होने की आशा है तथा किसानों की आर्थिक स्थिति में भी कुछ सुधार होगा। सरकार नयी भूमि की व्यवस्था करते समय किसानों को सहकारी कृषि के लिए बाध्य कर सकती है। इससे भी उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि होगी। जमींदारी उन्मूलन के साथ-साथ विभिन्न राज्यों में जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारित करने की भी व्यवस्था की गयी है। इससे ग्रामीण जीवन में आर्थिक असमानता दूर होगी।

इतना ही नहीं, किसान पहले जो लगान चुकाते थे, उसका एक बहुत बड़ा भाग जमींदार अपने व्यक्तिगत हित के लिए रख लिया करते थे। इससे जनसाधारण को कोई लाभ नहीं होता था। किन्तु, अब सरकार इस रकम को जन-कल्याण के कार्यों में ही व्यय करेगी। साथ ही, जमींदार किसान से जो तरह-तरह की गैर-कानूनी वसूली करते थे अथवा बेगार वगैरह भी लेते थे, वह भी समाप्त हो जायेगी। कुछ राज्यों, जैसे उत्तर प्रदेश में तो किसानों की मालगुजारी कम करने की व्यवस्था भी की गयी है। अतः जमींदारी उन्मूलन से सरकारी आय में वृद्धि हुई है, समाज से एक शोषक तथा निष्क्रिय वर्ग का अन्त हो गया, आर्थिक विषमता बहुत कुछ अंशों में कम हुई है तथा कृषि की उपज में वृद्धि के लिए प्रोत्साहन मिला है।

लेकिन, जमींदारी-उन्मूलन के फलस्वरूप प्रारम्भ में सरकार की आर्थिक कठिनाइयाँ और भी बढ़ जायेंगी। जमींदारी उन्मूलन कानून के अनुसार जमींदारों को उनकी जमींदारी के बदले में 604 करोड़ रुपये मुआवजा तथा पुनर्वास सहायता (Compensation and Rehabilitation Grant) के रूप में चुकाना पड़ा है। मुआवजे की रकम बिहार में 151 करोड़ रुपये, उत्तर प्रदेश में 198 करोड़ रुपये, पश्चिमी बंगाल में 93 करोड़ रुपये तथा राजस्थान में 67 करोड़ रुपये आँकी गयी है। इस प्रकार सदियों से शोषण के पश्चात् भी जमींदारों को क्षतिपूर्ति दी जाती है। यह किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

1. India, 1958.



## भूमि-व्यवस्था एवं सुधार

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय संविधान के कारण ही ऐसा करना पड़ रहा है, किन्तु संविधान में इस आशय के संशोधन द्वारा यह कठिनाई दूर की जा सकती थी। क्षति-पूर्ति से भूमि-सुधार का उद्देश्य तो पूरा अवश्य हो जाता है, किन्तु समाज में आर्थिक विषमता ज्यों-की-त्यों बनी रह जाती है। दूसरी ओर मुआवजा नहीं देने से सरकार को कोई आर्थिक कठिनाई नहीं उठानी पड़ती तथा इस रकम को विकास के अन्य कार्यों में लगाया जा सकता था। इस प्रकार विभिन्न राज्यों के जमींदारी-उन्मूलन कानूनों का यह एक बहुत बड़ा दोष है।

जमींदारी उन्मूलन के साथ-साथ भूमि की पैमाइश तथा भू-धारियों के अधिकारों का लेखा पुनः तैयार करना होगा। उत्तर प्रदेश के स्थायी बन्दोबस्ती वाले क्षेत्रों में यह कठिनाई उतनी प्रबल नहीं है क्योंकि इन राज्यों में शासन-सम्बन्धी व्यवस्था तथा व्यक्तिगत आधारों का लेखा मौजूद है। किन्तु स्थायी व्यवस्था वाले क्षेत्रों में शासन-व्यवस्था तथा अधिकार-सम्बन्धी कागजात का प्रायः अभाव है। फिर भी, यह कठिनाई कोई बहुत बड़ी नहीं है और कुछ ही समय में इसे दूर किया जा सकता है।

### भूमि—इसकी समस्या एवं नीति (Land—Its Problems and Policy)

भूमि-व्यवस्था का कृषि की कार्य-क्षमता एवं भूमि के उत्पादन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अतएव आर्थिक विकास की किसी भी योजना में भूमि-व्यवस्था का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश की आर्थिक जीवन में तो भूमि का और भी महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु यहाँ की भूमि-व्यवस्था बड़ी ही दोषपूर्ण है। अतएव देश के आर्थिक विकास एवं कृषि की उन्नति के लिए उचित भूमि-सम्बन्धी नीति का अनुकरण आवश्यक हो जाता है। वास्तव में, कृषि की विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए सम्पूर्ण भूमि-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन अनिवार्य है। 1948 ई० में एक कृषि-सुधार समिति (Agrarian Reforms Committee) की नियुक्ति की गयी थी। समिति ने भूमि-सुधार के सम्बन्ध में कुछ मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिन्हें योजना आयोग ने स्वीकार कर लिया है। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

- (1) कृषि-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जो कृषि के विकास में सहायक हो;
- (2) भूमि-व्यवस्था शोषणमुक्त होनी चाहिए;
- (3) उत्पादन की कुशलता अधिकतम होनी चाहिए; तथा

(4) सुधार की योजना व्यावहारिक होनी चाहिए।

इन सिद्धान्तों को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए कुछ परिवर्तनों की आवश्यकता होगी; जैसे—जमींदारी-उन्मूलन; कानून द्वारा रैयतों की स्थिति में सुधार, जोतों की इकाई का निर्धारण, जोतों की चकबन्दी तथा कृषि के क्षेत्र में यथासम्भव यन्त्रों का प्रयोग। उक्त सिद्धान्तों के आधार पर देश की कृषि-नीति को आधारित होना चाहिए। इस प्रकार की नीति के निम्नलिखित दो उद्देश्य होंगे :—(1) आर्थिक दृष्टिकोण से इसका उद्देश्य अधिकतम कृषि-उत्पादन होना चाहिए। (2) सामाजिक दृष्टिकोण से इसका उद्देश्य धन एवं आय के वितरण की विषमता को दूर करना, शोषण को समाप्त करना, रैयतों एवं मजदूरों के अधिकारों की सुरक्षा तथा ग्रामीण जन-संख्या के विभिन्न वर्गों को विकास का अवसर प्रदान होना चाहिए।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद काश्तकारों, उपकाश्तकारों तथा भूमिहीन मजदूरों की स्थिति में सुधार के लिये सरकार द्वारा एक प्रगतिशील भूमि-सम्बन्धी नीति अपनायी गयी है। पंचवर्षीय-योजनाओं में इसी नीति के आधार पर भूमि-सुधारों का एक व्यापक कार्यक्रम अपनाया गया है।

सर्वप्रथम तो प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) में इस बात को स्वीकार किया गया कि राष्ट्रीय विकास में भूमि के स्वामित्व का प्रश्न सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसका देश के आर्थिक एवं सामाजिक संगठन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। साथ ही, भूमि के स्वामित्व का कृषि की उपज से भी बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः प्रथम योजना में देश की वर्तमान भूमि-व्यवस्था में सुधार लाने के लिए निम्नलिखित बातों पर जोर दिया गया था<sup>1</sup> :—

(1) राज्य तथा किसानों के बीच के सभी प्रकार के मध्यस्थों को समाप्त करना (Abolition of Intermediaries);

(2) काश्तकारी कानूनों में सुधार (Tenancy Reforms) जिसके अन्तर्गत लगान में कमी की जा सके; रैयतों के अधिकारों को अधिकाधिक सुरक्षा प्रदान की जा सके;

(3) जोतों की अधिकतम सीमा निश्चित की जाय;

(4) खेतिहर मजदूरों की स्थिति में सुधार किया जाय; तथा

(5) सहकारिता के आधार पर कृषि के संगठन को प्रोत्साहित किया जाय।



इस क्षेत्र में अन्तिम उद्देश्य सहकारी ग्राम-व्यवस्था (Co-operative Village management) की स्थापना होना चाहिए।

अधिकांश राज्यों में मध्यस्थों को समाप्त करने का प्रयास योजना के पूर्व से ही आरम्भ हो गया था तथा प्रथम योजनाकाल में प्रायः सभी राज्यों से मध्यस्थों को समाप्त कर दिया गया। देश की कुल प्रायः 40 प्रतिशत भाग भूमि मध्यस्थों के अधीन थी जो अब राज्य के प्रत्यक्ष अधिकार में आ गयी है। प्रथम योजनाकाल में रैयतों के अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करने तथा जोतों की अधिक सीमा के निर्धारण का भी प्रयत्न किया गया था। कुछ राज्यों में व्यक्तिगत कृषि के लिए वापस ली जाने वाली भूमि (Resumption of land for personal cultivation) की भी सीमा निश्चित की गयी थी। अधिकांश राज्यों में इस आधार पर लगान कम करने के प्रयास भी किये गये। इस प्रकार प्रथम योजनाकाल में जोतों की चकबन्दी तथा सहकारी कृषि व्यवस्था पर भी जोर दिया गया भूमि-हीन मजदूरों के पुनर्वास की योजनाएँ भी कार्यान्वित की गयीं।<sup>1</sup>

किन्तु वास्तव में, प्रथम योजनाकाल में मध्यस्थों के उन्मूलन के अतिरिक्त भूमि-सुधार के अन्य क्षेत्रों में प्रगति संतोषजनक नहीं कही जा सकती।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में भूमि-सुधार कार्यक्रम को विशेष महत्त्व दिया गया था। द्वितीय योजना के अन्तर्गत भूमि सुधार के दो प्रमुख उद्देश्य थे—(क) कृषि-उत्पादन की वृद्धि में वर्तमान व्यवस्था के फलस्वरूप उपस्थित बाधाओं को दूर करना तथा (ख) उच्च स्तर की कुशल उत्पादकता वाली कृषि-व्यवस्था के शीघ्रातिशीघ्र निर्माण के लिए परिस्थितियाँ तैयार करना। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए द्वितीय योजना के अन्तर्गत भूमि-सुधार के कार्यक्रम के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों पर जोर दिया गया था :—(1) काश्तकारी व्यवस्था में सुधार; (2) जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारित करना; तथा (3) कृषि का पुनर्संगठन जिसमें जोतों की चकबन्दी तथा सहकारी कृषि-व्यवस्था के विकास पर पूरा-पूरा जोर दिया गया। इस क्षेत्र में योजना का अन्तिम उद्देश्य सहकारी ग्राम व्यवस्था का निर्माण बतलाया गया था। 1963 ई० में केन्द्रीय गृह-मन्त्री की अध्यक्षता में एक उच्च स्तरीय समिति का निर्माण किया गया था जिसका उद्देश्य विभिन्न राज्यों में भूमि-सुधार के कार्यक्रमों को तेजी से कार्यान्वित करने में सहायता प्रदान करना था।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) में भूमि-सुधार का प्रधान उद्देश्य दूसरी योजना

में निर्धारित नीति को पूर्ण रूप से कार्यान्वित करना था। योजना में इस बात पर जोर दिया गया था कि भूमि-सुधार-सम्बन्धी कार्यक्रमों को यथाशीघ्र पूरा करना चाहिए जिससे देर होने के कारण अनिश्चितता का भय नहीं आने पाये।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में भी भूमि-सुधार को कृषि विकास की योजना का एक आवश्यक अंग माना गया था। योजनाकाल में जोतों की अधिकतम सीमा को निर्धारित करने, जोतों की चकबन्दी तथा सहकारी कृषि आदि कार्यक्रमों में तीव्रता लाने पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में भूमि के अधिकारों का अभिलेख तैयार करने की व्यवस्था भी की गयी थी।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan) में भी भूमि-सुधार कार्यक्रमों को केन्द्रीय स्थान दिया गया था।<sup>2</sup>

छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan) में भी भूमि-सुधार को अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। योजनाकाल में भूमि-सुधार तथा चकबन्दी की मद में पाँच वर्षों में 350 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है जब कि पाँचवीं योजनाकाल में इस मद में कुल 163 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था।

देश में भूमि-सुधारों सम्बन्धी कार्यक्रमों का वर्णन निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जायगा :—

(1) मध्यस्थ वर्ग की समाप्ति :—इसमें जमींदारों, जागीरदारों तथा अन्य प्रकार के मध्यस्थों की समाप्ति आता है।

(2) काश्तकारी सुधार :—इसके अन्तर्गत (क) लगान में कमी करना, (ख) रैयतों के अधिकारों की सुरक्षा, (ग) खुदकाश्त के लिए भूमि की पुनर्प्राप्ति, तथा (घ) रैयतों को भूमि पर दखली अधिकार दिलवाना।

(3) जोतों के स्वामित्व की सीमा का निर्धारण। इसके अन्तर्गत, (क) वर्तमान की जोतों पर, तथा (ख) भविष्य की जोतों पर सीमा-निर्धारण आता है।

(4) कृषि का पुनर्संगठन—इसके अन्तर्गत (क) चकबन्दी, (ख) सहकारी कृषि, (ग) सहकारी ग्राम-व्यवस्था, तथा (घ) भूमिहीन मजदूरों की स्थिति में सुधार आते हैं।

अब इनमें से प्रत्येक की प्रगति का निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

### मध्यस्थ वर्ग की समाप्ति (Abolition of Intermediaries)

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सरकार तथा भूमि के वास्तविक जोतने वाले के बीच पड़ने वाले सभी

1. Review of the First Five Year Plan, pp. 318—20.

2. Draft Fifth Five Year Plan, p. 42.



## भूमि-व्यवस्था एवं सुधार

मध्यस्थों को समाप्त करने पर विशेष जोर दिया जाने लगा तथा अब तक देश के प्रायः सभी राज्यों में जमींदारों, जागीरदारों तथा अन्य सभी प्रकार के मध्यस्थों के उन्मूलन का कार्य समाप्त हो गया है। इसके परिणामस्वरूप देश के लगभग दो करोड़ किसानों का सरकार के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो गया है। साथ ही, मध्यस्थों की समाप्ति के परिणामस्वरूप बहुत अधिक मात्रा में निजी स्वामित्व के अन्तर्गत के वनों की भूमि, चरागाह वाली भूमि तथा कृषि-योग्य बेकार भूमि सरकार के अधिकार में आ गयी है। जमींदारों तथा अन्य मध्यस्थों को मुआवजे के रूप में कुल 670 करोड़ रुपये देना पड़ रहा है जिसमें से अबतक 320 करोड़ रुपये दिया जा चुका है।

### काश्तकारी सुधार (Tenancy Reforms)

देश के भिन्न-भिन्न भागों में जो विभिन्न तरीकों से भूमि की व्यवस्था की गयी थी, उसका सबसे बड़ा दोष यह था कि सरकार ने केवल लगान की वसूली तथा इसके परिणाम पर ही अधिकतर ध्यान दिया था। किसान तथा रैयतों के हितों की रक्षा की कोई व्यवस्था नहीं की गयी थी। इनके फलस्वरूप जमींदारी व्यवस्था में जमींदार किसानों पर मनमाने ढंग से कर लगाने तथा इन्हें अकारण ही भूमि से बेदखल करने लगे। लगान के अतिरिक्त किसानों से नाना प्रकार की सलामी आदि भी वसूल किये जाते थे जो कभी-कभी लगान से भी बढ़ जाते थे। रैयतवारी व्यवस्था में भी इस प्रकार के बहुत-से दोष आने लगे। राज्य के कर्मचारी रैयत पर मनमाने ढंग से अत्याचार करते थे। साथ ही, इस व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि को किराये पर देने की प्रथा प्रचलित हो गयी जिससे इस व्यवस्था में और भी दोष आ गये। इन क्षेत्रों में भी बड़े पैमाने पर भूमि दूसरों को जोतने के लिए दी जाने लगी। इस प्रकार काश्तकारी प्रथा की शुरुआत हो गयी। देश में तीन प्रकार के काश्तकार पाये जाने लगे।

(I) दखली काश्तकार (Occupancy or Permanent tenants):—भूमि पर इनका स्थायी हक होता है। इन्हें पट्टे की स्थिरता तथा सुरक्षा प्राप्त होती है।

(II) इच्छाधीन काश्तकार (Tenants at Will or Temporary Tenants):—इनकी स्थिति बहुत ही निर्बल होती है। इन्हें जमींदार अपने इच्छानुसार बेदखल कर सकते हैं।

(III) उपकाश्तकार (Sub-Tenants):—ये बिल्कुल भूमिधरों की मर्जी पर निर्भर करते हैं। लगान में बार-बार वृद्धि, छोटी-छोटी बातों पर बेदखली, बेगार तथा अन्य तरह से इनका शोषण किया जाता है।

इस प्रकार जमींदारी क्षेत्रों के साथ-साथ रैयतवारी क्षेत्रों में भी किसानों को नाना प्रकार की कठिनाइयों से मुक्त कराने के लिए काश्तकारी कानून की आवश्यकता जान पड़ने लगी। भिन्न-भिन्न राज्यों में सुधार लाने के लिए समय-समय पर विभिन्न नियम भी बनाये गये। किन्तु स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद काश्तकारी कानूनों में सुधार की गति में कुछ तीव्रता आयी। काश्तकारी व्यवस्था में सुधार के लिए पंचवर्षीय योजनाओं में तीन निर्देश दिये गये थे—(क) सर्वप्रथम तो लगान भूमि की कुल उपज के पाँचवें भाग से लेकर चौथे भाग के अन्दर (Rent should not exceed  $\frac{1}{5}$  to  $\frac{1}{4}$  of the gross produce) होनी चाहिए। (ख) कुछ खास परिस्थितियों के अतिरिक्त काश्तकारों से भूमि पुनः प्राप्त नहीं की जा सकती, तथा (ग) जहाँ भूमि की पुनः प्राप्ति नहीं हो सकती वहाँ रैयतों को दखली अधिकार होना चाहिए।

इस आधार पर अधिकांश राज्यों में काश्तकारी व्यवस्था में सुधार के लिए कानून पारित किये गये हैं। भिन्न-भिन्न राज्यों में पारित किये गये काश्तकारी कानूनों से रैयतों को जो लाभ हुए हैं इनमें निम्न-लिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—(क) रैयतों की मनमानी बेदखली (ejectment) बन्द हो गयी है तथा काश्तकारों को अपनी भूमि पर दखली अधिकार (occupancy right) मिल गया है। (ख) लगान में मनमानी वृद्धि रुक गयी है। साथ ही, बकाया लगान की वसूली के लिए व्याज की दर घटाकर सभी राज्यों में 6 प्रतिशत कर दी गयी है। बकाया लगान के लिए अधिक भूमि नीलाम के विरुद्ध भी कानून बनाये गये हैं। जमींदारी रैयतों से जो नजराना या सलामी लेते थे, उसे भी बन्द कर दिया है। (ग) रैयतों से बेगार लेने की प्रथा भी समाप्त हो गयी। (घ) रैयतों को अपनी दखली भूमि बेचने अथवा हस्तान्तरित करने का अधिकार भी दिया गया है।

लेकिन, इन काश्तकारी कानूनों से रैयतों को वास्तविक लाभ कम हुआ। अज्ञानता तथा गरीबी के कारण रैयत इन कानूनों से पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा सके। फलस्वरूप आज भी बहुत-से किसान, जो बटाईदार आदि के रूप में कृषि कार्य करते हैं, भूमि के अधिकार से वंचित रह जाते हैं। भूमि-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। कांग्रेस द्वारा नियुक्त कृषि-सुधार समिति (Agrarian Reforms Committee) ने इस सम्बन्ध में यह नारा बुलन्द किया कि “भूमि उसके जोतनेवाले की होनी चाहिए” (Land must belong to the actual tillers of the soil). योजना आयोग ने भी भूमि-सुधार के विषय में अपना सुझाव देते हुए कहा है कि कृषि-उत्पादन में वृद्धि के लिए रैयतों को



भूमि पर दखली अधिकार देना तथा भूमि के विषय वितरण को समाप्त करना अनिवार्य है। आज इसी उद्देश्य से भिन्न-भिन्न राज्यों में भूमि-सुधार सम्बन्धी नये-नये कदम उठाये जाते हैं।

मध्यस्थों की समाप्ति के बाद अब भूमि-सुधार के क्षेत्र में राज्य द्वारा काश्तकारी व्यवस्था में सुधार के अधिकाधिक प्रयत्न किये जा रहे हैं। योजना आयोग ने काश्तकारी व्यवस्था में सुधार के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों पर जोर दिया है :—

- (क) लगान में कमी (Reduction of Rent),
- (ख) रैयतों के अधिकारों की सुरक्षा (Security of tenures),
- (ग) काश्तकारी के लिए भूमि की पुनर्प्राप्ति (Resumption of land for personal cultivation) पर रोक, तथा
- (घ) रैयतों को उनके द्वारा जोती जानेवाली भूमि के स्वामित्व का अधिकार (Ownership for tenants)।

अधिकांश राज्यों में काश्तकारी कानूनों में इन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर आवश्यकतानुसार जो संशोधन किये जा रहे हैं उनकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

(क) लगान में कमी करना (Reduction of Rent) :—आज से लगभग 10-12 वर्ष पूर्व अधिकांश राज्यों में वेदखली रैयत (Non-occupancy tenants) तथा बटाईदार (Share croppers) से उपज का आधा अथवा इससे भी अधिक भाग लगान के रूप में ले लिया जाता था। लगान के अतिरिक्त रैयतों को अन्य कई प्रकार की देन भी चुकानी पड़ती थी। लगान की यह दर निश्चय ही अत्यधिक अन्यायपूर्ण है। अतएव योजना आयोग द्वारा यह सुझाव दिया गया कि लगान भूमि की कुल उपज के  $\frac{1}{2}$  भाग से लेकर  $\frac{2}{3}$  भाग से किसी भी प्रकार अधिक नहीं होनी चाहिए। अधिकांश राज्यों में इस प्रकार के नियम बनाये गये हैं जिनके अनुसार लगान की अधिकतम दर एक-चौथाई अथवा इससे भी कम कर दी गयी है। किन्तु पंजाब, हरियाणा तथा तमिलनाडु राज्यों में लगान की उचित दर (Fair Rate)  $33\frac{1}{3}$  प्रतिशत तय की गयी है। योजना आयोग की राय में लगान की दर में इस प्रकार की विभिन्नता अनुचित है, अतएव इसमें कमी लाने का यथाशीघ्र प्रयास करना चाहिए। साथ ही, लगान-सम्बन्धी अधिनियम को लागू करने के लिए उपज के रूप में लगान चुकाने की व्यवस्था नहीं होकर

नगद मुद्रा के रूप में चुकाने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

जहाँ पर भूमि पर जनसंख्या का बोझ बहुत अधिक है तथा रैयतों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति कमजोर है, वहाँ उनके लिए कानून का संरक्षण प्राप्त करना बड़ा ही कठिन हो जाता है। साथ ही, यहाँ पर कानूनी प्रक्रिया बहुत ही महँगी है जिसमें रैयतों के लिए न्याय प्राप्त करना सम्भव नहीं है। (When there is pressure on land and the social and economic position of tenants in the village is weak, it becomes difficult for them to seek the protection of law. Moreover, resort to legal processes is costly and generally beyond the means of tenants. Thus, in many ways, despite the legislation, the scales are weighed in favour of the continuance of existing terms and conditions.)

इस प्रकार भिन्न-भिन्न राज्यों में लगान के कम करने के प्रयास किये गये हैं तथा इसमें सफलता मिली है। किन्तु योजना आयोग के अनुसार इससे छोटे-मोटे किसान बहुत ही कम लाभान्वित हुए हैं।

(ख) रैयतों के अधिकारों की सुरक्षा (Security of Tenures) :—कृषि की उपज में वृद्धि के लिए रैयतों के अधिकारों की सुरक्षा अनिवार्य है। अब प्रायः सभी राज्यों में रैयतों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए नियम बनाये जा चुके हैं। रैयतों के अधिकारों की सुरक्षा के सम्बन्ध में तैयार किये गये नियमों की तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं—सर्वप्रथम, रैयतों की वेदखली गैरकानूनी तरीके से नहीं होनी चाहिए, द्वितीयतः कोई भू-स्वामी केवल व्यक्तिगत कृषि के लिए ही भूमि की पुनर्प्राप्ति कर सकता है तथा तृतीयतः यह कि भूमि की पुनर्प्राप्ति के समय रैयतों को कम-से-कम एक न्यूनतम मात्रा में भूमि छोड़ दी जानी चाहिए।

(ग) व्यक्तिगत कृषि के लिए भूमि की पुनर्प्राप्ति (Resumption of land for personal cultivation) :—किन्तु, इस सम्बन्ध में खुदकाश्त के लिए भूमि की पुनर्प्राप्ति को लेकर कठिनाई उपस्थित हो रही है। कठिनाई यह है कि भूमि की पुनर्प्राप्ति किस सीमा तक होनी चाहिए। योजना आयोग ने इस सम्बन्ध में इस आशय की सिफारिश की है कि व्यक्तिगत कृषि के लिए अविवाहित महिलाओं, विधवाओं, नाबालिगों, सेना में काम करनेवालों एवं मानसिक अथवा शारीरिक रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को भूमि की पुनर्प्राप्ति की छूट दी जा सकती है। अन्य व्यक्तियों को भी एक सीमा



के अंदर भूमि की पुनर्प्राप्ति का अधिकार दिया जा सकता है। आयोग ने इस सीमा के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिफारिश की है—(1) जब किसी व्यक्ति के पास न्यूनतम जोत (Basic holding) से कम भूमि हो तो वह अपनी सम्पूर्ण भूमि व्यक्तिगत कृषि के लिए ले सकता है। (2) यदि किसी व्यक्ति के पास न्यूनतम जोत (Basic holding) से अधिक, किन्तु पारिवारिक जोत (Family holding)<sup>1</sup> से कम भूमि हो तो वह अपने काश्तकार से अपनी आधी भूमि व्यक्तिगत कृषि के लिए ले सकता है, किन्तु इस प्रकार से ली जानेवाली भूमि न्यूनतम जोत से किसी भी हालत में कम नहीं होनी चाहिए।

अधिकांश राज्यों में इस सम्बन्ध में कानून बनाये जा चुके हैं। किन्तु कुछ राज्यों में कानून के निर्माण की अवधि (Pendency of legislation) में बड़े पैमाने पर रैयतों की वेदखली की जाने लगी। अतएव इस प्रकार की वेदखली को रोकना आवश्यक हो गया है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इस सम्बन्ध में आयोग द्वारा निम्नलिखित सुझाव दिये गये थे—(i) पिछले कुछ वर्षों में हुई वेदखलियों की पुनः जाँच की जाय और जहाँ उचित हो वहाँ रैयतों को पुनः अधिकार दिलाने की व्यवस्था की जाय, (ii) भूमि अधिकार के स्वैच्छिक त्याग (Voluntary surrender) को हतोत्साहित करने के लिए वेदखलीकरण के पंजीकरण की व्यवस्था की जानी चाहिए, तथा (iii) भूमि के मालिक को भूमि की पुनर्प्राप्ति की सीमा के अन्तर्गत ही भूमि लेने का अधिकार होना चाहिए। अधिकांश राज्यों ने आयोग के सुझावों को अपने राज्यों के अधिनियमों में स्थान दिया है।

(घ) रैयतों को भूमि पर दखली का अधिकार (Right of ownership for tenants):—भारत में भूमि-सुधार का प्रधान उद्देश्य भूमि उसके जोतनेवाले की हो (Land to the tillers of the soil) होनी चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रथम योजना में इस बात की व्यवस्था की गयी थी कि पुनर्प्राप्ति न होने योग्य भूमि का स्वामित्व रैयतों को दे देना चाहिए। इसके लिए भूमि के मालिक को मुआवजा दिया जायगा। प्रथम योजनाकाल में कुछ राज्यों में इस प्रकार की व्यवस्था की गयी थी, किन्तु योजनाकाल में इस क्षेत्र में संतोषजनक प्रगति नहीं हो सकी। अतएव द्वितीय योजनाकाल में इस प्रकार की व्यवस्था की गयी थी कि रैयतों को भूमि के स्वामित्व दिलाने की व्यवस्था होनी चाहिए। मुआवजा की रकम उचित किशतों में दिलाने की व्यवस्था होनी चाहिए।

मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल तथा जम्मू एवं कश्मीर में जोतों के स्वामित्व की अधिकतम सीमा निर्धारित की गयी है तथा इस सीमा से अधिक भूमि पर उसके जोतने वाले रैयतों का अपने-आप अधिकार हो जाने की व्यवस्था है। बिहार में रैयतों को 20 वर्षों के बाद भूमि का स्वामित्व खरीदने का अधिकार दिया गया है।

### जोतों के स्वामित्व का सीमा-निर्धारण (Fixation of Ceilings on Agricultural Holdings)

भारत में भूमि-सुधार का एक प्रधान उद्देश्य एक निश्चित सीमा से अधिक भूमि को भूमि के मालिक से लेकर उसे भूमि की भूख मिटाने के लिए छोटे-छोटे अथवा भूमि-हीन व्यक्तियों को प्रदान करना है। प्रो० गैडगिल (D R. Gadgil) का इस सम्बन्ध में निम्नांकित कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है : “सभी साधनों में भूमि एक ऐसा साधन है जिसकी मात्रा सर्वाधिक सीमित है तथा इसके स्वामित्व के दावेदार बहुत अधिक हैं। अतएव कोई महत्त्वपूर्ण कारण नहीं होने पर किसी एक व्यक्ति को बहुत बड़े भूमि क्षेत्र पर अधिकार बनाए रखने देना अन्यायपूर्ण होगा। साथ ही, देश की सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए भी भूमि का पुनर्वितरण अनिवार्य है।” (Among all resources the supply of land is most limited, and the claimants for its possession are extremely numerous. It is therefore, obviously unjust to allow the exploitation of any large surface of land by a single individual unless other overwhelming reasons make this highly desirable. Moreover in the context of the current socio-political climate, redistribution of land would rather appear to be imperative.)”<sup>2</sup>

प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया था कि कोई व्यक्ति अधिक-से-अधिक कितनी भूमि का मालिक हो सकता है, इसकी एक निश्चित सीमा निर्धारित कर दी जानी चाहिए। योजना आयोग ने यह सुझाव दिया था कि प्रत्येक राज्य अपनी वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार अधिकतम जोत की सीमा निर्धारित कर दे। अधिकतम जोत के निर्धारण में सुगमता

1. योजना आयोग के अनुसार प्रत्येक राज्य अपनी विशेष परिस्थितियों के अनुसार अपने राज्य के लिए न्यूनतम एवं पारिवारिक जोत की सीमा निश्चित करेंगे। किन्तु एक पारिवारिक जोत साधारणतया तीन न्यूनतम जोत के बराबर होनी चाहिए।

2. Report of the Committee of the Panel on Land Reforms, p. 99.



के उद्देश्य से प्रथम योजनाकाल में प्रायः सभी राज्यों में भूमि की गणना की गयी थी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना<sup>1</sup> में योजना आयोग ने इस आशय की सिफारिश की थी कि योजनाकाल में प्रत्येक राज्य में अधिकतम जोत की सीमा का निर्धारण कर उसका शीघ्रतापूर्वक कार्यान्वयन होना चाहिए। अधिकतम सीमा-निर्धारण के प्रायः दो उद्देश्य हैं :

- (1) सर्वप्रथम, भविष्य में नयी भूमि लेने की सीमा का निर्धारण (Ceiling on future acquisition of land), तथा
- (2) द्वितीयतः, वर्तमान भूमि की सीमा का निर्धारण (Ceiling on existing holding)।

अब तक प्रायः सभी राज्यों में कोई व्यक्ति या परिवार अधिक-से-अधिक कितनी भूमि रख सकता है या भविष्य में ले सकता है इस सम्बन्ध में एक सीमा तय कर दी गयी है। इन अधिनियमों को कुछ राज्यों में पूर्ण रूप से लागू कर दिया गया है तो कुछ में ये लागू होने की स्थिति में हैं। भिन्न-भिन्न राज्यों में इस सम्बन्ध में विभिन्नता पायी जाती है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

#### कृषि जोतों की अधिकतम सीमा

| राज्य               | जोतों की अधिकतम सीमा<br>(हेक्टर में) |
|---------------------|--------------------------------------|
| 1. आन्ध्र प्रदेश    | 4.05 से 21.85 हेक्टर                 |
| 2. असम              | 6.75 हेक्टर                          |
| 3. बिहार            | 6.07 से 18.2 हेक्टर                  |
| 4. गुजरात           | 4.05 से 21.85 हेक्टर                 |
| 5. हरियाणा          | 7.12 से 21.85 हेक्टर                 |
| 6. जम्मू तथा कश्मीर | 36.8 से 7.77 हेक्टर                  |
| 7. केरल             | 4.86 से 6.17 हेक्टर                  |
| 8. मध्य प्रदेश      | 4.05 से 21.85 हेक्टर                 |
| 9. तमिलनाडु         | 4.86 से 24.20 हेक्टर                 |
| 10. महाराष्ट्र      | 7.25 से 21.85 हेक्टर                 |
| 11. कर्नाटक         | 4.86 से 21.85 हेक्टर                 |
| 12. उड़ीसा          | 4.05 से 78.21 हेक्टर                 |
| 13. पंजाब           | 7.00 से 21.80 हेक्टर                 |
| 14. राजस्थान        | 7.25 से 21.85 हेक्टर                 |
| 15. उत्तर प्रदेश    | 7.25 से 18.21 हेक्टर                 |
| 16. प० बंगाल        | 5.00 से 7.00 हेक्टर                  |

कई राज्यों में सीमा-निर्धारण का कार्य प्रायः पूर्ण हो गया है तथा कुछ में अभी चल ही रहा है। सम्पूर्ण देश के

लिए लगभग 1075 लाख हेक्टर भूमि अतिरिक्त घोषित की गयी है। इसमें से 5.3 लाख हेक्टर भूमि का भूमिहीन मजदूरों तथा छोटे-छोटे किसानों के बीच अबतक वितरण किया जा चुका है।

भूमि की हदबन्दी से सम्बन्धित सम्पूर्ण प्रश्नों को सितम्बर, 1970 ई० में एक Central Land Reforms Committee के जिम्मे सुपुर्द किया गया। समिति ने विभिन्न राज्यों से इस सम्बन्ध में आँकड़ों को एकत्रित किया तथा सभी बातों पर विचार करते हुए कुछ राज्यों के अधिनियमों में समानता लाने के लिए अगस्त, 1971 ई० में कुछ सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो विभिन्न राज्यों के लिए इस सम्बन्ध में कानून बनाने के निर्देश का कार्य करेंगे। इस प्रतिवेदन पर अप्रैल, 1972 में मुख्य मन्त्रियों के सम्मेलन में विचार किया गया तथा अंतिम रूप से निम्नांकित निर्देश निश्चित किये गये :—

(क) सीमा का निर्धारण एक परिवार (Family) के लिए किया जाना चाहिए। परिवार के अन्तर्गत पति-पत्नी तथा नाबालिग बच्चे सम्मिलित होंगे।

(ख) जब परिवार के सदस्यों की संख्या 5 से अधिक हो, तो 5 से अधिक प्रति अतिरिक्त सदस्य के लिए अधिक भूमि की व्यवस्था की जा सकती है, किन्तु इस प्रकार से प्राप्त भूमि अधिकतम जोत के दुगुने से अधिक नहीं हो सकती।

(ग) निश्चित रूप से सिंचित तथा वर्ष में दो फसल देनेवाली भूमि के लिए अधिकतम सीमा 10 से 18 एकड़ के बीच निश्चित की जा सकती है। भूमि की उपजाऊ शक्ति, सिंचाई की सुविधा तथा फसलों की प्रकृति के अनुसार अधिकतम सीमा में परिवर्तन किया जा सकता है, असिंचित भूमि के लिए भी अधिकतम सीमा प्रति परिवार 54 एकड़ होनी चाहिए।

(घ) राज्यों के वर्तमान अधिनियमों में यंत्रीकृत कृषि, सुव्यवस्थित फार्म इत्यादि के सम्बन्ध में जो छूट की व्यवस्था की गयी है उसे समाप्त कर देना चाहिए।

(च) चाय, कहवा तथा रबर के बगानों के सम्बन्ध में जो छूट की व्यवस्था वर्तमान अधिनियमों में है उस प्रश्न पर सम्बद्ध मन्त्रालयों तथा राज्य सरकारों द्वारा सम्मिलित रूप से विचार करना चाहिए। तब इस तरह अन्य छूटों पर मुख्य मंत्रियों द्वारा विचार कर इस सम्बन्ध में एक राष्ट्रीय नीति का निर्धारण होना चाहिए।

1. Second Five Year Plan, pp. 196-97.

2. India, 1975 & Draft Fifth Plan.



1972 ई० में कांग्रेस के चुनाव घोषणा-पत्र में इस सम्बन्ध में निम्नांकित बातों की स्पष्ट रूप से चर्चा की गयी—“Land Reforms hold the key to greater efficiency in agricultural production and the evolution of a more egalitarian social order in rural areas. A ceiling for a family of five members may be fixed within the range of 10 to 18 acres of perennial irrigated land, or irrigated land capable of growing two crops.”

किन्तु जोतों के स्वामित्व की सीमा-निर्धारण के कार्य की प्रगति सन्तोषजनक नहीं रही है यद्यपि इस सम्बन्ध में नियम सभी राज्यों में बनाये जा चुके हैं तथापि अब तक केवल कुछ ही राज्यों में इसे पूर्णरूप से लागू किया जा सका है। योजना आयोग के अनुसार 20 लाख हेक्टर भूमि अतिरिक्त (Surplus) घोषित की गयी है जिसमें अब तक केवल 25 प्रतिशत भाग भूमि का ही वितरण किया जा सका है। इसमें भी कठिनाई से एक-तिहाई भाग भूमि भूमिहीन हरिजनों तथा आदिवासियों को प्राप्त हो पायी है।

बिहार में जोतों के स्वामित्व का सीमा-निर्धारण (Fixation of Ceilings on Land Holdings in Bihar) :—बिहार में अधिकतम जोत की सीमा निश्चित करने के उद्देश्य से बिहार कृषि-भूमि (हृदबन्दी एवं व्यवस्था) विधेयक 1955 ई० में तैयार किया गया था, किन्तु यह विधेयक चन्द कारणों से उस समय स्थगित कर दिया गया। पुनः इस आशय का एक नया विधेयक 1960 ई० में प्रस्तुत किया गया जो 1961 ई० में पारित हुआ। इस अधिनियम में पुनः 1972 तथा 1973 ई० में संशोधन किये गये। संशोधित अधिनियम के अनुसार एक परिवार, जिसमें अधिक-से-अधिक पाँच व्यक्ति, यानी पति एवं पत्नी तथा तीन नाबालिग बच्चे होंगे के लिए 9 सितम्बर, 1970 से भूमि की निम्नांकित अधिकतम सीमा निश्चित की गयी है—

- (i) सरकार द्वारा निर्मित तथा नियंत्रित नहर एवं नलकूप से सिंचित भूमि के लिए 15 एकड़। इसे प्रथम श्रेणी की भूमि कहा जाता है। प्रथम श्रेणी की भूमि वह भूमि है जिसमें कम-से-कम दो फसलें उपजायी जा सकें।
- (ii) द्वितीय श्रेणी में निजी नलकूपों द्वारा सिंचित भूमि आती है जिनके लिए भूमि की अधिकतम सीमा 18 एकड़ निश्चित की गयी है।
- (iii) तृतीय श्रेणी की भूमि जिसमें केवल एक मौसम में ही सिंचाई की सुविधा उपलब्ध हो। इस श्रेणी की भूमि की अधिकतम सीमा 25 एकड़ निश्चित की गयी है।

- (iv) उपरोक्त प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी में नहीं आनेवाली भूमि या वह भूमि जो बाग-बगीचे आदि के लिए प्रयुक्त की जाती है। इसको चतुर्थ श्रेणी में रखा गया तथा इस श्रेणी की भूमि के लिए 30 एकड़ की सीमा निश्चित की गयी है।
- (v) दियारा की भूमि के लिए 37.5 एकड़; तथा
- (vi) छठी श्रेणी के अन्तर्गत पहाड़ी, बलुआही एवं अन्य प्रकार की भूमि जिसमें घान, रबी अथवा किसी नकदी फसल की खेती नहीं होती है, को रखा गया है तथा इसके लिए अधिकतम सीमा 45 एकड़ निश्चित की गयी है।

जिन किसान परिवारों के पास इससे अधिक भूमि होगी, उसे सरकार ले लेगी। साथ ही, कानून में इस बात की भी स्पष्ट रूप से व्याख्या की गयी है कि जिसके पास उपरोक्त हृदबन्दी के अनुसार पूरी भूमि होगी, उसे विरासत के रूप में और भूमि नहीं मिल सकती। इसके साथ ही नये कानून के अनुसार चंद वर्ग के लोगों को छोड़कर कोई भी किसान अपनी भूमि बँटाई पर नहीं दे सकता है।

अब इस प्रकार के कानून की व्यावहारिक उपयोगिता के सम्बन्ध में विचार करना अनिवार्य है। सामाजिक न्याय की दृष्टि से भूमि की हृदबन्दी उचित अवश्य है, किन्तु इसकी व्यावहारिक उपयोगिता पर सन्देह प्रकट किया जा सकता है। बिहार में इस हृदबन्दी कानून से कुल प्रायः दो-ढाई लाख एकड़ से अधिक भूमि प्राप्त नहीं की जा सकती। इतनी भूमि राज्य के 17 लाख भूमिहीन परिवारों के लिए निश्चय ही अपर्याप्त है। इसको यदि राज्य के प्रायः 17 लाख भूमिहीन परिवारों में वितरित किया जाय तो प्रति परिवार को 1 एकड़ से भी कम भूमि प्राप्त होगी। क्या इससे भूमिहीन व्यक्तियों की समस्या का समाधान किया जा सकता है? क्या इससे समाजवादी ढाँचे की सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में सहायता मिलेगी?

इस प्रकार स्पष्ट है कि यह कानून योजना आयोग के विशुद्ध सिद्धांतवादी विचारकों की मस्तिष्क की उपज है। इसकी व्यावहारिक उपयोगिता बहुत ही कम है। इस प्रकार के प्रयास से समाजवादी ढाँचे की सामाजिक व्यवस्था का निर्माण तो दूर की बात है, इससे आम जनता के जीवन-स्तर में निश्चित रूप से कमी होगी। भूमि की हृदबन्दी से विशेषतः मध्यम वर्ग के किसानों की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ जायेंगी। साथ ही, इससे भूमिहीन व्यक्तियों को भी कोई विशेष लाभ नहीं हो पायगा। प्रति परिवार को यदि एक एकड़ भूमि भी दे दी जाय तो क्या वे इतनी भूमि के आधार पर सफल कृषि कर सकते



है ? ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की जानकारी रखने वालों से यह बात छुपी नहीं है कि छोटे-छोटे किसानों को कृषि कार्य में इतनी अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसके प्रत्युत्तर में सरकार ने सहकारी खेती की स्थापना की सिफारिश की है। किन्तु, अबतक जहाँ भी इस देश में सहकारी-कृषि की स्थापना का प्रयास किया गया है उसमें बहुत ही कम सफलता मिल पायी है। इससे यह जान पड़ता है कि अफसरशाही के बल पर साम्यवादी प्रकार की सामूहिक कृषि-व्यवस्था भले ही सम्भव हो जाय, सहकारी कृषि की स्थापना के क्षेत्र में भी बहुत-सी कठिनाइयाँ होंगी।

इतना ही नहीं, बटाई पर भूमि देने के सम्बन्ध में इस कानून में जो निषेध लगाया गया है, उसका परिणाम क्या होगा, इसका भी सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। वर्तमान परिस्थितियों में इस प्रकार के कानून की व्यवस्था का परिपालन होना असम्भव ही जान पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि नया अधिनियम योजना आयोग द्वारा घोषित उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर सकता। संभवतः इसलिए राज्य सरकार इस योजना को कार्यान्वित करने में विलम्ब कर रही है। किन्तु, अब राज्य सरकार दृढ़ संकल्प है तथा आशा है कि शीघ्र ही इस अधिनियम को पूर्णतया लागू किया जायगा।

कृषि का पुनर्संगठन (Re-organisation of Agriculture) :—कृषि के पुनर्गठन के अन्तर्गत निम्नांकित कार्यक्रमाँ की प्रधानता है :—

#### (क) जोतों की चकबन्दी (Consolidation of Holdings)

भारत में केवल जोतों का आकार ही छोटा नहीं है, वरन् ये भिन्न-भिन्न स्थानों में छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखरी भी होती हैं। अतएव भारतीय कृषि में स्थायी सुधार लाने के लिए जोतों की चकबन्दी अति आवश्यक है। यही कारण है कि विभिन्न राज्यों में चकबन्दी के सम्बन्ध में राज्य सरकारें बहुत दिलचस्पी ले रही हैं। प्रथम योजना के अन्तर्गत भी योजना आयोग ने प्रत्येक राज्य में चकबन्दी के कार्यक्रम को तत्परता के साथ आगे बढ़ाने पर जोर दिया था। हमारे देश में चकबन्दी का कार्य राज्य के विभिन्न भागों में एक पीढ़ी से ही होता आ रहा है, किन्तु अभी तक इसमें बहुत ही कम सफलता मिली है। प्रथम योजना के अन्त तक इस सम्बन्ध में अधिकांश राज्यों के अपने-अपने कानून बन गये थे। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में योजना आयोग ने इसे शीघ्रताशीघ्र कार्यान्वित करने पर जोर दिया था। आयोग ने राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक विकास खण्डों में चकबन्दी के कार्य पर अत्यधिक जोर देने की सिफारिश की थी। किन्तु द्वितीय

योजनाकाल में चकबन्दी के क्षेत्र में अधिकांश राज्यों में बहुत ही कम प्रगति हुई। तृतीय योजना में कुल 120 लाख हेक्टर भूमि में चकबन्दी हुई, यानी 1965-66 तक कुल 240 लाख हेक्टर भूमि में चकबन्दी की गयी। चतुर्थ योजना में प्रायः 94 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में चकबन्दी का आयोजन था। 1972 ई० तक देश में कुल आठ लाख हेक्टर भूमि की चकबन्दी की गयी थी। पंजाब, हरियाणा तथा उत्तरप्रदेश में चकबन्दी का कार्य प्रायः पूरा हो गया है, तथा महाराष्ट्र के उस क्षेत्र में अच्छी प्रगति हुई है। शेष राज्यों में इस क्षेत्र में बहुत ही कम प्रगति हो पायी है।

(ख) भूमि के प्रबन्ध में सुधार—भूमि के प्रबन्ध में सुधार के अन्तर्गत वंजर भूमि को कृषि के अन्तर्गत लाना, अच्छे-अच्छे बीजों, उत्तम खाद तथा कीटनाशक दवाओं का प्रयोग आदि आते हैं। प्रथम योजना काल में भूमि के कुशल उपयोग पर जोर दिया गया था। द्वितीय योजना में भी इस सम्बन्ध में यह सुझाव दिया गया था कि सर्वप्रथम भूमि का कुशल प्रबन्ध व प्रयोग क्षेत्रों में होना चाहिए जहाँ इसके लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ विद्यमान हैं।

(ग) सहकारी खेती (Co-operative Farming):—भूमि के विभिन्न टुकड़ों को एक में मिलाकर संयुक्त खेती करना भारत के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। अतएव, देश में सहकारी-कृषि को विभिन्न प्रकार से प्रोत्साहित किया जा रहा है। सरकार ने ऐच्छिक सहकारी खेती को बढ़ावा देने के लिए वित्तीय सहायता, लगान व आय कर में रियायत आदि दी है। एक राष्ट्रीय कृषि-सहाकार बोर्ड बना दिया गया है। तृतीय योजनाकाल में 318 मार्गदर्शी परियोजनाओं में से प्रत्येक में 10 सहकारी कृषि-समितियाँ स्थापित करने की योजना बनायी गयी थी। इन्हें चुने हुए सामुदायिक विकास-खण्डों में स्थापित करने का लक्ष्य था।

कांग्रेस ने अपने नागपुर अधिवेशन में 'उत्तम कृषि-सहकारी समितियाँ' अथवा 'सहकारी सेवा समितियाँ' चालू करने पर जोर दिया जिससे किसानों को खाद, बीज एवं औजार खरीद व बिक्री आदि में मदद मिलेगी। इनमें भूमि को मिलाने की आवश्यकता नहीं होगी। इसलिए इनको 'सहकारी सेवा-समितियाँ' (Co-operative service societies) कहा गया है। नागपुर अधिवेशन में एक प्रस्ताव में प्रथम तीन वर्षों तक अर्थात् सन् 1961 के अन्त तक ऐसी समितियाँ स्थापित करने पर जोर दिया गया था। साथ में, यह कहा गया था कि उसके बाद सहकारी संयुक्त खेती का प्रचार किया जायगा, जिसमें किसान भूमि के टुकड़ों को मिलाकर खेती करेंगे। नागपुर प्रस्ताव में सहकारी खेती को पहली बार सम्पूर्ण कृषिगत



क्षेत्र के लिए वांछनीय संगठन घोषित किया गया। इसे वस्तुतः देश में समस्त खेती की पद्धति के रूप में अपनाने की बात कही गयी। प्रस्ताव में सहकारी संयुक्त खेती के क्षेत्र को सीमित करने का कोई सुझाव नहीं रखा गया। यही कारण है कि नागपुर प्रस्ताव से काफी विवाद छिड़ गया।

30. जुन, 1973 को देश में 9732 सहकारी कृषि-समितियाँ थीं जिनकी सदस्य-संख्या 2.68 लाख और भूमि की मात्रा 4.881 लाख हेक्टर थी।<sup>1</sup>

देश में सहकारी कृषि के विकास को प्रोत्साहित करने के लिए राष्ट्रीय सहकारी कृषि परामर्शदातृ परिषद् स्थापित किया गया है और इसी के ढंग पर राज्यों में सहकारी परिषद् बनाये गये हैं। किन्तु, देश में सहकारी कृषि की प्रगति बहुत ही मन्द है। जो सहकारी समितियाँ बनायी गयी हैं उनमें से भी अधिकांश नाम मात्र के लिए ही सहकारी समितियाँ हैं तथा केवल सरकारी योजनाओं से लाभ उठाने के लिए ही स्थापित की गयी हैं। डॉ० के० एन० राज (K. N. Raj) का इस सम्बन्ध में निम्नांकित कथन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है: "Co-operatives in general have now become largely a means for the well-to-do to appropriate to themselves all the facilities provided by the development programmes at subsidised rates, and this has brought into disrepute a form of organisation which in a more favourable political setting, could have played a very useful role."

(घ) भूमिहीन मजदूरों को बसाना (Settlement of landless labourer):—पंचवर्षीय योजनाओं में भूमिहीन मजदूरों को नयी भूमि पर बसाने के कार्यक्रम को भी अपनाया गया है। द्वितीय योजना में इनके लाभ के लिए कुटीर उद्योग स्थापित करने का सुझाव दिया गया था। साथ ही, नयी भूमि, भूदान की भूमि एवं अतिरिक्त भूमि पर इनको सहकारी ढंग पर बसाने के कार्यक्रम को प्राथमिकता देने की व्यवस्था थी।

नागपुर का भूमि-सुधार प्रस्ताव (Nagpur Resolution on Land Reforms):—द्वितीय योजना में प्रसारित कृषि-सम्बन्धी नीति का प्रधान दोष यह था कि यह छिट-फुट (Piecemeal) तरीके से तैयार की गयी थी तथा इसमें ग्रामीण जीवन के विकास के लिए समुचित सुविधाओं की व्यवस्था नहीं थी। कांग्रेस दल ने शीघ्र ही इस कमी को महसूस किया। वास्तव में, भारत-जैसे अधिकसिद्ध देश में जो उद्योगीकरण की ओर उन्मुख हो,

एक सुनिश्चित कृषि-नीति की बहुत प्रबल आवश्यकता है। अतएव जनवरी, 1959 ई० में कांग्रेस के नागपुर वार्षिक अधिवेशन में देश की कृषि-नीति के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पारित हुआ।

इस प्रस्ताव की निम्नलिखित प्रधान विशेषताएँ हैं—

(1) गाँवों का संगठन ग्राम पंचायत एवं सहकारी समितियों के आधार पर होगा। इन दोनों संस्थानों को अपने कार्यों के सम्पादन के लिए पूरा-पूरा अधिकार होना चाहिए। गाँव के सभी स्थायी निवासी इन समितियों के सदस्य होंगे। कई गाँवों की सहकारी समितियाँ मिलकर एक संघ का निर्माण करेंगी। इन समितियों का प्रधान उद्देश्य कृषि एवं गाँवों के आर्थिक विकास के लिए चतुर्दिक प्रयास करना होगा। ये समितियाँ गाँवों को साख एवं सुधरे हुए औजार प्रदान करेंगी, खेती के तरीकों में सुधार एवं उपज के विक्रय की व्यवस्था करेंगी।

(2) भविष्य में कृषि का संगठन सहकारी (Co-operative Joint Farming) के आधार पर होगा। इस प्रकार की व्यवस्था में भूमि का स्वामित्व किसानों के हाथ में रहेगा तथा इन्हें उनकी भूमि के अनुपात में उपज में से हिस्सा मिलेगा।

(3) सहकारी संयुक्त-कृषि समितियों की स्थापना के पूर्व प्रथम चरण के रूप में सम्पूर्ण देश में सेवा सहकारी समितियों की स्थापना की जानी चाहिए। सहकारी-सेवा समितियों की स्थापना का कार्य तीन वर्षों के अन्तर्गत पूरा हो जाना चाहिए।

(4) सभी राज्यों से वर्तमान तथा भविष्य में ली जानेवाली जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारित (Fixation of ceilings on existing and future holdings) कर दी जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में कानून तथा मध्यस्थों के उन्मूलन का कार्य 1959 ई० के अन्त तक पूरा हो जाना चाहिए।

(5) खेती प्रारम्भ होने के पूर्व ही प्रत्येक फसल का एक न्यूनतम मूल्य निश्चित कर देना चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर उस मूल्य पर सरकार को उस फसल को खरीदने के लिए तैयार रहना चाहिए।

(6) बाद्यान्तों के थोक व्यापार को राजकीय व्यापार (State trading) के अन्तर्गत लाना चाहिए।

(7) कृषि-योग्य बेकार भूमि को यथाशीघ्र खेती के अन्तर्गत लाने का प्रयास होना चाहिए।

भारत सरकार की वर्तमान कृषि-नीति इसी प्रस्ताव पर आधारित है। सरकार की यह कृषि-नीति निश्चय ही



सराहनीय है। किन्तु निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की नीति के निम्नलिखित तीन प्रमुख आधार होने चाहिए :- सर्वप्रथम तो कृषि-नीति का उद्देश्य किसानों की आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक स्थिति में सुधार होना चाहिए। दूसरा, यह कि कृषि-नीति का प्रधान उद्देश्य गाँवों के संगठन को इस प्रकार से प्रगतिशील बनाना होना चाहिए, जिससे कि खाद्यान्न तथा कच्चे पदार्थों की अतिरिक्त उपज पर्याप्त मात्रा में बाजार के लिए उपलब्ध हो सके। साथ ही, कृषि-नीति में गाँवों के जनतांत्रिक संगठन तथा इसमें निहित स्वतंत्रता की भावना को बनाये रखने पर जोर देना चाहिए। इन तीनों उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सहकारी कृषि का संगठन ही एकमात्र उपाय नजर आता है।

### भूमि-सुधार कार्यों की प्रगति

(Progress of Land Reform Measures in India)

भारत में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भूमि-सुधार कार्य-क्रम बड़े ही उत्साह के साथ प्रारम्भ किये गये। इस सम्बन्ध में पहले पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई। उदाहरण के लिए, विभिन्न राज्यों से जमींदारों तथा अन्य मध्यस्थों का उन्मूलन इस क्षेत्र में बड़ा ही क्रान्तिकारी कदम रहा है। किन्तु, इसे भूमि-सुधार का अन्तिम उद्देश्य नहीं कहा जा सकता। वास्तव में, यह इस क्षेत्र में पहला ही कदम था। अभी भूमि-सुधार के क्षेत्र में बहुत बड़े-बड़े कार्यों को करना है; जैसे—जोतों की चकबन्दी, जोतों की सीमा का निर्धारण तथा काश्तकारी सुधार इत्यादि। इस सम्बन्ध में भी विभिन्न राज्यों द्वारा प्रयास किये जा रहे हैं, किन्तु राज्य अब इस दिशा में अत्यधिक शिथिलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं। प्रो० वालर्जंत सिंह का इस सम्बन्ध में निम्नांकित कथन बड़ा ही महत्वपूर्ण है : "Not only have the recent land reforms not touched the issue of land distribution but they have also failed in preventing sub-letting and rackrenting. Quite many of them who till the soil have no land rights where as many of those who do not cultivate still own and possess land." वास्तव में, भारतीय कृषि की सफलता के लिए भूमि-सुधार की गति को और तीव्र बनाना अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में हमारा नारा 'भूमि उसके जोतने वाले की हो' (Land of the tillers of the soil.) होना चाहिए। इसी व्यापक संदर्भ में सरकार तथा योजना अधिकारी को कार्य करना चाहिए, तभी कृषि एवं किसानों की स्थिति में सुधार किया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा भूमि-सुधार के सम्बन्ध में प्रकाशित एक विज्ञप्ति में यह कहा गया है कि भारत में भूमि-सुधार के लिए बनाये गये कानून सख्यात्मक दृष्टि से सबसे अधिक है। इनसे अधिक नियम विश्व के अन्य किसी भी देश में नहीं बनाये गये हैं। ये कानून देश के

लाखों-करोड़ों किसानों पर प्रभाव डालते हैं तथा भूमि के विशाल क्षेत्र को अपने दायरे में लाते हैं। किन्तु, वास्तव में, इनमें से अधिकांश कानून लागू नहीं किये जा सके हैं। अतएव इनसे वास्तविक लाभ बहुत ही कम प्राप्त हो पाया है। प्रो० गुन्नार मिडल ने भी अपनी पुस्तक 'Asian Drama' में कहा है कि भूमि-सम्बन्धी कानूनों के पास हो जाने से काश्तकारों में वेदखली की एक लहर-सी दौड़ गयी है और तथाकथित खुदकाश्त के लिए भूमि का पुनर्ग्रहण किया जाने लगा है। खुदकाश्त के लिये ली गयी भूमि पर बटाईदार अथवा कृषि मजदूरों द्वारा कृषि का कार्य किया जाता है। इसी प्रकार जोतों की सीमा-निर्धारण से बचने के लिए भूमि का बड़े पैमाने पर अवैधानिक अंतरण (malafide transfers) किये गये जिससे कि अतिरिक्त भूमि प्रायः नगण्य मात्रा में ही मिल पायी है।

प्रो० दन्तवाला का भी इस सम्बन्ध में यह कथन विशेष रूप से उपयुक्त जान पड़ता है कि भूमि सुधार के लिये उठाये गये अब तक के कदम निश्चय ही संतोषजनक हैं, किन्तु इन्हें उचित रूप में लागू करने के अभाव में इनका परिणाम संतोषजनक नहीं हो पाया है।" (By and large, land reforms in India enacted so far and those contemplated in the near future are in the right direction, and yet due to lack of implementation the actual results are far from satisfactory.)

इस प्रकार भारत में भूमि सुधार सम्बन्धी कार्यक्रमों के अपेक्षित परिणाम नहीं हो सके जिसके परिणामस्वरूप भूमि का वास्तविक जोतने वाला (actual tillers of the soil) अपने-आपको निर्धन, असहाय तथा शोषित ही समझ रहा है। डेनियल थोर्नर (Daniel Thorner) के अनुसार भी भूमि-सुधार अपने प्रमुख एवं उद्घोषित उद्देश्यों की पूर्ति में सफल नहीं हो सका है जिससे देश में भूमि की समस्या आज भी आधारभूत गहन तथा गंभीर बनी हुई है। वास्तव में देश में, भूमि-सुधार कार्यक्रमों के कार्यान्वयन की गति आवश्यकता से अधिक मंद रही है जिससे जमींदारों, जागीरदारों तथा अन्य प्रभावित दलों ने इन अधिनियमों को उल्लंघन करने के तरीकों को सुगमतापूर्वक ढूँढ़ निकाला। नेशनल सैम्पुल सर्वे के विभिन्न विवरणों के अध्ययन के पश्चात् इस सम्बन्ध में महालनोबिस कमिटी ने यह निष्कर्ष निकाला था कि "In general, our finding is that both ownership and operational holdings are very highly concentrated, Also there was no appreciable reduction in inequality between 1953-54 and 1959-60, inspite of the fact that a good deal



of land reform measures had been enacted during this Period.”<sup>1</sup>

जोतों की अधिकतम सीमा-निर्धारण का कार्य भी अब तक पूरा नहीं हो पाया है। सीमा-निर्धारण सम्बन्धी नियमों के कार्यान्वयन में अत्यधिक विलम्ब हो रहा है। साथ ही, इस सम्बन्ध में जो अधिनियम पारित किये गये हैं वे अत्यधिक दोषपूर्ण हैं। इन अधिनियमों में सीमा से अधिक भूमि के हस्तांतरण पर प्रतिबंध के सम्बन्ध में जो अधिनियम बनाये गये हैं उनमें बहुत अधिक कमी रह गई है। योजना आयोग के अनुसार भी अधिकतम सीमा-निर्धारण का मुख्य उद्देश्य यानी आयोजित तरीके से अतिरिक्त भूमि का भूमिहीनों के बीच वितरण बिल्कुल पूरा नहीं हो सका है। (The main object of ceiling which is to re-distribute land to the landless at a reasonable price and on a planned basis has thus been largely defeated.)

इसी प्रकार रेंटों को कानूनी संरक्षण प्रदान (Legal Protection to Tenants) करने के उद्देश्य की भी पूर्ति नहीं हो सकी है। भूमि-सुधार कानूनों के अन्तर्गत रेंटों को भूमि पर रेंटी अधिकार दिलाना, उचित लगान तथा भूस्वामित्व की शर्तों को निर्धारित करना आदि की व्यवस्था है। किन्तु इन उद्देश्यों की पूर्ति भी नहीं हो सकी है तथा आज भी लगान कानून द्वारा निर्धारित सीमा से बहुत ऊँचे हैं। प्रो० मिड्ल के अनुसार, “In the absence of limits on rents, all rules about security of tenures can be nullified and the landlord can simply raise the rents beyond the tenants capacity to pay and they legally evict him for non-payment.” वास्तव में, भूमि सम्बन्धी कानूनों ने अनेक राज्यों में काश्तकारी प्रथा को कुछ प्रचलित विधियों

को समाप्त कर दिया है, किन्तु इनके स्थान पर अभी अनौपचारिक वटाईदारी की प्रथा को लागू किया है जिसमें भूमिहीन किसानों को अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है तथा ग्रामीण क्षेत्रों की सामाजिक व्यवस्था एवं राजनीतिक शक्तियों के संतुलन के कारण भूमिहीन किसानों के लिए कानून द्वारा प्रदत्त अधिकारों को प्राप्त करना संभव नहीं रह गया है।

अंततः, यह कहा जा सकता है कि हमने भूमि-सुधार जैसे क्रान्तिकारी कार्यक्रम को प्रजातांत्रिक तथा शान्तिपूर्ण तरीके से पूरा करने का संकल्प किया है। यही कारण है कि सदियों के शोषण के बावजूद जमीन्दारों तथा अन्य मध्यस्थों को मुआवजे के रूप में बड़ी-बड़ी रकमें चुकायी गयी हैं। इससे सरकार की आर्थिक कठिनाइयाँ बहुत बढ़ जाती हैं। इतना ही नहीं, सरकार पहले भूमि-सुधार के किसी खास कार्यक्रम के सम्बन्ध में अपना इरादा घोषित करती है और तब अत्यधिक विलम्ब के बाद इस सम्बन्ध में अधिनियम तैयार किये जाते हैं। इसी बीच निहित स्वार्थवाला वर्ग होशियार हो जाता है तथा उस कानून से बचने का यथासंभव प्रयास करने लगता है। गाँवों में बड़े-बड़े किसानों, जमीन्दारों तथा महाजनों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में कोई कमी नहीं आयी है जिससे वर्षों का शोषित तथा कर्ज के बोझ से दबा हुआ रेंट भूमि-सुधार सम्बन्ध कानूनों को समझता ही नहीं अथवा समझने पर भी अपनी निर्धनता के कारण अपने न्यायपूर्ण एवं उचित अधिकार की माँग करने में भी असमर्थ होता है और इस प्रकार भूमि-सुधार के लाभों से वंचित रह जाता है। इतना ही नहीं, विभिन्न राज्यों में भूमि-सुधार सम्बन्धी अधिनियम में बहुत सारी खामियाँ होती हैं और इन्हें अपंग करने वाले विधेयक तो इन्हें बिल्कुल अशक्त एवं अर्थहीन बना देते हैं।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. Baljit Singh : Next Step in Village India.
2. Congress Agrarian Reforms Committee Report.
3. Report of the Bengal Land Revenue Commission.
4. First, Second, Third, Fourth and Five Year Plans of India.
5. Draft Five Year Plan (1978-83).

- 
1. Report of the Committee on Distribution of income and Levels of Living Part 1 (p. 20-21).
  2. The Fourth Five Year Plan—A Draft outline, p. 197.



## अध्याय : 21

## किसान तथा उसके उपकरण

## (The Agriculturist and his Equipments)

**प्राक्कथन :—**कृषि की उन्नति किसानों की आर्थिक एवं वैधानिक स्थिति के साथ-साथ उनके उपकरणों पर भी निर्भर करती है। किसान की भूमि किस प्रकार की है, उसकी जोतों का आकार क्या है, वह किस प्रकार के मवेशी एवं औजारों का प्रयोग करता है, इत्यादि का भी कृषि की सफलता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भूमि के प्रति किसानों की वैधानिक स्थिति, जोतों का आकार तथा सिंचाई के विभिन्न साधन आदि का विवरण पिछले कुछ अध्यायों में किया जा चुका है। अतएव अब इस अध्याय में हम किसानों एवं उसके उपकरणों का अध्ययन करेंगे।

**किसान (The Agriculturist) :—**सर्वप्रथम हम किसान, यानी हल के पीछे के वास्तविक व्यक्ति (Man behind the Plough) की स्थिति का अध्ययन करेंगे। भारतीय किसान के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा विभिन्न प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं। उदाहरण के लिए, डॉ० वोयेलकर (Voelker) ने कृषि-सम्बन्धी अपने विवरण में भारतीय किसान की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। कृषि आयोग ने इस बात को स्वीकार किया है कि जिन परिस्थितियों में भारतीय किसान कार्य करता है उनमें कृषि में सुधार के सम्बन्ध में कोई भी सुझाव देना आसान नहीं है। इन विचारों से स्पष्ट है कि भारतीय कृषि के पिछड़े होने के लिए यहाँ की परिस्थितियाँ ही बहुत हद तक उत्तरदायी हैं, इसमें किसानों का कोई दोष नहीं है। किन्तु इन विचारों के विपरीत कालवर्ट (Calvert) का यह कथन कि किसी देश की समृद्धि उसके प्राकृतिक साधनों पर ही नहीं, बल्कि उसके निवासियों की शक्ति एवं साहस पर निर्भर करती है, इस बात की ओर संकेत करता है कि भारतीय किसान इसलिए निर्धन हैं कि इनमें ये सारे गुण नहीं पाये जाते हैं। अतएव इन विभिन्न विचारों से इस सम्बन्ध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना कुछ कठिन हो जाता है।

किन्तु वास्तविकता यह है कि जहाँ परिस्थितियाँ अनुकूल होती हैं, भारतीय किसान सफलतापूर्वक कार्य कर लेता है। परन्तु जहाँ वर्षा कम होती है या भूमि की व्यवस्था दोषपूर्ण है, वहाँ किसानों की स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक हो जाती है। इंग्लैंड, जापान तथा अमेरिका आदि देशों की तुलना में शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से भारतीय किसान निम्न अवस्था में हैं, किन्तु इसके लिए यहाँ की

सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक एवं भौगोलिक परिस्थितियाँ ही बहुत हद तक उत्तरदायी हैं। भारतीय किसान बहुधा बहुत सारी बीमारियों का शिकार हो जाता है जिससे वह यदि जीवित भी रहता है तो काम करने में असमर्थ हो जाता है।

इतना ही नहीं, 1971 ई० की जनगणना के अनुसार कुल केवल 29 प्रतिशत भारतीय ही शिक्षित हैं। शेष लोग अशिक्षा के घोर अन्धकार में फँसे हुए हैं। देश की वर्तमान शिक्षा प्रणाली भी दोषपूर्ण है। इस प्रणाली में व्यावहारिकता का अभाव है। कृषि-विद्यालयों में भी जहाँ कृषि-सम्बन्धी शिक्षा दी जाती है व्यावहारिकता का अभाव पाया जाता है। किसानों की यह निर्धनता, अशिक्षा एवं दुर्बलता भारतीय कृषि के विकास के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा सिद्ध हो रही है।

किन्तु इन सब अवगुणों के बावजूद उचित उपायों द्वारा भारतीय किसानों को शिक्षित, सुयोग्य, परिश्रमी एवं उत्साही बनाया जा सकता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय किसानों को जागरूक बनाने के लिए सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं। इससे भारतीय किसान के जीवन में चतुर्दिक विकास की आशा की जाती है।

भारत की मिट्टी  
(Soil)

मिट्टी का भी हमारे आर्थिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए तो मिट्टी का अच्छा या बुरा होना बहुत अधिक महत्त्व रखता है। वास्तव में, कृषि की सफलता बहुत अंशों में मिट्टी पर ही निर्भर करती है। भारत में अनेक प्रकार की मिट्टियाँ पायी जाती हैं, लेकिन कृषि के दृष्टिकोण से शाही कृषि आयोग ने भारतीय मिट्टी को निम्नलिखित 4 वर्गों में विभाजित किया है :—

(1) गंगवार मिट्टी (Alluvial Soil) :—नदियाँ अपने प्रवाह के साथ इस प्रकार की मिट्टी लाती हैं और दोनों किनारों पर जमा कर देती हैं। इस प्रकार की मिट्टी भारत में गंगा के मैदान, पूर्व तथा पश्चिम समुद्री तट, कृष्णा-कावेरी तथा गोदावरी के डेल्टा एवं असम की सुर्मा घाटी में पायी जाती है। यह मिट्टी नयी तथा बहुत ही



उपजाऊ होती है। साधारणतः इसकी गहराई 1000 फीट तक होती है, परन्तु कहीं-कहीं पर 3000 फीट की गहराई तक भी यह मिट्टी पायी जाती है। गेहूँ, चावल, ईख, जौ, चना आदि की खेती के लिए यह विशेष रूप से उपयुक्त होती है।

(2) लाल मिट्टी (Red Soil):—इस प्रकार की मिट्टी में लोहे का अंश अधिक होने के कारण इसका रंग लाल या पीला होता है। यह मुख्यतः तमिलनाडु, मैसूर, महाराष्ट्र के दक्षिणी भाग तथा उड़ीसा के प्रायः 8 लाख वर्गमील क्षेत्र में विस्तृत है। इसकी उर्वरा-शक्ति तथा गहराई सर्वत्र एक समान है। रासायनिक तत्वों के अभाव में प्रायः यह कम उपजाऊ होती है। यह ज्वार, मूंगफली तथा तिलहन की खेती के लिए विशेष उपयुक्त होती है।

(3) काली मिट्टी (Black Soil):—यह मिट्टी दक्षिणी पठार के प्रायः दो लाख वर्गमील क्षेत्र में पायी जाती है। इसमें आन्ध्र का कुछ भाग, महाराष्ट्र का अधिकतर भाग, पश्चिमी हैदराबाद, मध्य प्रदेश का पश्चिमी भाग तथा बरार आदि सम्मिलित हैं। यह ज्वालामुखी पर्वतों के लावा से बनी हुई है, अतः यह अति प्राचीन मिट्टी है। जहाँ वर्षा अधिक होती है वहाँ यह अधिक उपजाऊ होती है। कपास तथा ज्वार की कृषि के लिए यह विशेष रूप से उपयुक्त होती है। इसे कपास की मिट्टी (Cotton Soil) भी कहते हैं।

(4) रेतीली मिट्टी (Laterite Soil):—इस प्रकार की मिट्टी पहाड़ियों तथा पठारों पर पायी जाती है। छोटानागपुर, उड़ीसा के पहाड़ी प्रदेश, असम तथा मध्य प्रदेश के पूर्वी भाग में यह मिट्टी पायी जाती है। मोटी तथा पथरीली होने के कारण यह बहुत कम उपजाऊ होती है। यह कृषि के लिए उपयुक्त नहीं होती, फिर भी सिंचाई के द्वारा कहीं-कहीं पर इसमें कृषि-कार्य किया जाता है।

#### मिट्टी-सम्बन्धी समस्याएँ

कृषि-प्रधान देशों के लिए मिट्टी की उर्वरा-शक्ति को बनाये रखना अत्यंत आवश्यक है। भारत के समक्ष आज-कल मिट्टी-सम्बन्धी दो प्रमुख समस्याएँ हैं—(1) भूमि-क्षरण (Soil Erosion), तथा (2) भूमि की उर्वरा-शक्ति का निरन्तर ह्रास।

भूमि-क्षरण की समस्या (Problem of Soil-erosion)—कृषि-प्रधान देशों के लिए भूमि की उर्वरा-शक्ति को बनाये रखना एक प्रमुख समस्या है। भूमि की उर्वरा-शक्ति उसकी ऊपरी सतह में ही कुछ इंचों की गहराई तक पायी जाती है। पृथ्वी की इस ऊपरी सतह में पोषक तत्व, शक्तिशाली रसयन तथा अन्य प्राकृतिक उपादान सन्निहित रहते हैं जिनके नष्ट होने से उत्पादन में कमी होने लगती है। इस पृथ्वी पर कितनी ही विरोधी

शक्तियाँ सदा कार्य करती रही हैं जिनके फलस्वरूप भूमि की ऊपरी सतह कटकर वह जाती है तथा इसकी उर्वरता कम होने लगती है। हवा, पानी तथा अन्य प्रकृति विरोधी शक्तियों से पृथ्वी को होने वाली इस क्षति को ही भूमि-क्षरण कहते हैं। इस प्रकार भूमि-क्षरण के दो प्रमुख कारण हैं :—(1) प्राकृतिक शक्तियाँ जिनमें हवा और पानी की क्रियाएँ सम्मिलित हैं, तथा मानवीय शक्तियाँ, जो प्राकृतिक शक्तियों के लिए मार्ग तैयार करती हैं। प्राकृतिक शक्तियों के अन्तर्गत हवा एवं पानी दो महत्वपूर्ण शक्तियाँ हैं जिनके फलस्वरूप भूमि-क्षरण होता है। मुसलाधार वृष्टि से पृथ्वी की ऊपरी सतह की मिट्टी कटकर वह जाती है। बाढ़ के फलस्वरूप भूमि-क्षरण बहुत अधिक होता है। भूमि-क्षरण का प्रमुख कारण हवा भी है। सूखे क्षेत्रों में तीव्रगति से बहनेवाली हवा पृथ्वी के मूल तत्व को उड़ा ले जाती है।

प्राकृतिक शक्तियों के साथ-साथ मानवीय शक्तियाँ भी भूमि-क्षरण के लिए बहुत हद तक उत्तरदायी हैं। मानवीय शक्तियों में निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

(1) वनों का विनाश—वन भूमि-क्षरण रोकते हैं। वनों के वृक्षों एवं झाड़ियों की जड़ें पृथ्वी में बहुत नीचे तक रहती हैं जिनसे मुसलाधार वृष्टि के फलस्वरूप पृथ्वी की ऊपरी सतह बहने नहीं पाती। किन्तु ईंधन तथा कृषि कार्य के लिए भूमि की अधिकाधिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप मनुष्य ने वनों का विनाशोन्मुखी विनाश प्रारम्भ कर दिया जिससे भूमि-क्षरण अधिक होने लगा है। (2) पशुओं द्वारा भूमि की अत्यधिक चराई—भूमि की अत्यधिक चराई का भी इसकी उपजाऊ शक्ति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। पशु, मुख्यतः भेड़ एवं बकरियाँ घास को इस प्रकार से चरते हैं कि पुनः उसका पनपना असम्भव हो जाता है। इससे भूमि-क्षरण की प्राकृतिक शक्तियों को अत्यधिक बल मिलता है। (3) जुताई का दोषपूर्ण तरीका—भारत में, भूमि की जुताई के दोषपूर्ण तरीके का प्रभाव भी भूमि-क्षरण पर पड़ती है। इससे भूमि-क्षरण के कार्य को अत्यधिक बल मिलता है।

भूमि-क्षरण का नियन्त्रण (Control of Soil-Erosion):—भूमि की उर्वरा-शक्ति की रक्षा (Fertility Conservation) के लिए भूमि-क्षरण का नियन्त्रण अनिवार्य है। इसके लिए अधिकाधिक वृक्षारोपण आवश्यक है। वृक्षों की सहायता बढ़ने से भूमि-क्षरण कम हो जायगा। साथ ही, जिस क्षेत्र में भूमि-क्षरण का भय अधिक हो वहाँ पशुओं की चराई पर भी नियन्त्रण अनिवार्य है। वनों का संरक्षण मिट्टी के कटाव को रोकने के उद्देश्य से आवश्यक है।

इस उद्देश्य से 1952 ई० में एक केन्द्रीय भूमि-संरक्षण बोर्ड (Central Soil Conservation Board) स्थापित



किया गया है। प्रथम योजनाकाल में इस कार्य के लिए 18 करोड़ रुपये व्यय किये गये जिससे प्रायः 7 लाख एकड़ भूमि लाभान्वित हुई। द्वितीय योजनाकाल में इस कार्यक्रम पर 18 करोड़ रुपये व्यय किये गये जिससे 80 लाख एकड़ भूमि लाभान्वित हुई। द्वितीय योजना में इस कार्य को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए योजना आयोग ने प्रत्येक राज्य में भूमि-संरक्षण अधिनियम बनाने की सिफारिश की थी। इस प्रकार के अधिनियम महाराष्ट्र, गुजरात एवं उत्तर प्रदेश में बन भी चुके हैं। तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में 62 करोड़ रुपये के व्यय से 110 लाख हेक्टर भूमि के संरक्षण का आयोजन था। किन्तु योजनाकाल में इस कार्यक्रम से केवल 98 लाख हेक्टर भूमि ही लाभान्वित हुई तथा इसका वास्तविक व्यय 77 करोड़ रुपये हुआ।

वार्षिक योजनाओं (1966-69) में इस मद में 88 करोड़ रुपये व्यय हुआ।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) के अंतर्गत भूमि-संरक्षण की मद में 121 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जिससे कुल 56 लाख हेक्टर भूमि के लाभान्वित होने की आशा थी।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan) में भूमि संरक्षण की मद में 121 करोड़ रुपये तथा क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम में 206 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था।

छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan) में भी भूमि-संरक्षण कार्यक्रम पर 450 करोड़ रुपये तथा क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम (Command Area Development) पर भी 450 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है।

**भूमि की उर्वरा-शक्ति का निरंतर ह्रास :—** एक ही भूमि पर लगातार कृषि करते रहने के कारण उसकी उर्वरा-शक्ति घटती है जिससे उपज में निरन्तर ह्रास होता है। भूमि की उर्वरा शक्ति में ह्रास को रोकने के लिए खाद का प्रयोग अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में किसानों में कम्पोस्ट बनाने के तरीकों का प्रचार करना चाहिए। साथ ही, रासायनिक खादों के प्रयोग को भी प्रोत्साहित करना चाहिए।

### भारत का पशु-धन

#### (Cattle Wealth of India)

भारत की कृषि-व्यवस्था में यहाँ के पशु-धन का महत्वपूर्ण स्थान है। कृषि-प्रधान देश होने के कारण भारत का पशु-धन भारत की आर्थिक व्यवस्था का एक आवश्यक अंग है। यहाँ सर्वत्र खेतों की जुताई पशुओं

द्वारा ही होती है। इनके द्वारा ही पानी खींचने एवं दैवनी का काम भी होता है तथा भारतीय ग्रामों में यातायात के साधन के रूप में भी पशुओं का ही प्रयोग किया जाता है। पशु-धन से ही गोबर तथा हड्डी-जैसी बहुमूल्य खाद जिनका खेतों में प्रयोग किया जाता है, प्राप्त होती है। साथ ही, भारत-जैसे शाकाहारी देश में जहाँ दूध ही ऐसा साधन है, जो लोगों के भोजन को स्वास्थ्यप्रद बनाता है, पशु-धन से ही प्राप्त होता है। इस प्रकार कृषि के आवश्यक साधन के रूप में पशु-धन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्री डालिंग के अनुसार, “भारत में पशु-धन के वगैर किसान के खेत बिना जोते रह जायँ, गोदाम तथा खलिहान खाली पड़े रह जायँ और खान-पान का स्वाद भी अधूरा रह जाय क्योंकि भारत-जैसे शाकाहारी देश में दूध, घी आदि नहीं मिलने से अधिक दुर्भाग्यपूर्ण बात और क्या हो सकती है।”

**पशुओं की संख्या :—** भारत में विश्व के कुल प्रायः 19% गाय तथा बैल, 18 प्रतिशत बकरे-बकरियाँ एवं 50 प्रतिशत भैंसें पायी जाती हैं। निम्नलिखित तालिका से 1956, 1961 एवं 1966 ई० की पशु-गणनाओं (Live-stock Census) के अनुसार देश में पशुओं की संख्या का अन्दाजा लगता है :—

#### भारत में पशुओं की संख्या (लाख में)<sup>1</sup>

| पशु                 | 1956 | 1961 | 1966 |
|---------------------|------|------|------|
| गाय एवं बैल         | 1587 | 1755 | 1761 |
| भैंस                | 449  | 512  | 529  |
| भेड़                | 392  | 402  | 420  |
| बकरे और बकरियाँ     | 554  | 609  | 646  |
| अन्य                | 83   | 86   | 83   |
| कुल पशुओं की संख्या | 3065 | 3364 | 3439 |

इस प्रकार भारत में पशुओं की संख्या विश्व के प्रायः सभी देशों से अधिक है। F. A. O. के एक नवीनतम प्रकाशन के अनुसार विश्व में पशुओं की कुल संख्या प्रायः 17,38 लाख है जिनमें से प्रायः 3400 लाख पशु भारत में ही हैं। मोटे तौर पर यह अनुमान लगाया जाता है कि हमारे यहाँ प्रति 100 एकड़ बोयी गयी भूमि के लिए 100 गाय-भैंस हैं जबकि हॉलैंड में इनकी संख्या प्रति एकड़ पर 38 तथा मिन्न में केवल 25 है। इतना होने पर भी 1950-51 ई० में भारत के पशु-धन से केवल 664 करोड़ रुपये की शुद्ध आय हुई थी जो कुल कृषि की आय का केवल 16 प्रतिशत भाग थी।



देश में पाये जाने वाले पशुओं की संख्या सबसे अधिक उत्तर प्रदेश में है। इस राज्य में देश के कुल पशुओं के प्रायः 15.5 प्रतिशत भाग पशु हैं। इसके बाद तामिलनाडु का स्थान है जहाँ इनका प्रतिशत 11.1 है। इसके बाद क्रमशः मध्यप्रदेश, बिहार तथा राजस्थान का स्थान है। परन्तु प्रति वर्गमील में रहने वाले पशुओं की संख्या की दृष्टि से पश्चिमी बंगाल में इनका घनत्व सबसे अधिक है। वहाँ इनकी आबादी का प्रति वर्गमील औसत घनत्व 288 है। कश्मीर में इनकी आबादी का औसत घनत्व केवल 25 है जो सभी राज्यों से कम है। भारत में पशुओं की औसत आबादी का घनत्व 115 है। हमारे देश में प्रति सौ व्यक्तियों के पीछे पशुओं की संख्या 44 है, जबकि आस्ट्रेलिया में प्रति एक सौ व्यक्तियों के पीछे पशुओं की संख्या 199, अर्जेंटीना में 241 तथा न्यूजीलैंड में 268 है।

### भारत में पशु-धन की समस्याएँ (Problems of Cattle Wealth in India)

हमारे देश में पशुओं की स्थिति बड़ी ही असन्तोषजनक है। ये विल्कुल अशक्त तथा कमजोर हैं। देखने में ये केवल हड्डियों के ढाँचे मात्र जान पड़ते हैं। कमजोरी के फलस्वरूप ये कृषि-कार्य में यथोचित सहयोग नहीं प्रदान कर पाते। यहाँ बैलों की एक जोड़ी से औसतन 9 करोड़ एकड़ भूमि जोती जाती है, जबकि मिस्र में यह औसत प्रायः 33 एकड़ है। दूध देने वाली गाय तथा भैंसों की भी यही स्थिति है। इनसे बहुत कम मात्रा में दूध प्राप्त होता है। वास्तव में, हमारे देश में पशु आवश्यकता से बहुत अधिक है जिससे इनकी उपयोगिता निरन्तर घटती जाती है।

देश की पशु-संख्या में वृद्धि के साथ-साथ पशुओं की शारीरिक क्षमता और शक्ति भी घटती जाती है। हमारे यहाँ दूध देनेवाली गायों तथा भैंसों से भी बहुत कम उत्पादन होता है। फलस्वरूप देश में प्रतिव्यक्ति उपलब्ध दूध की मात्रा बहुत ही कम है। यहाँ 1954 ई० में प्रति व्यक्ति औसतन केवल 65 औंस दूध मिलता था। (संतुलित भोजन के लिए प्रति-व्यक्ति 15 औंस दूध आवश्यक है), जबकि आस्ट्रेलिया में 44.7 औंस, कनाडा में 56.8 औंस, डेनमार्क में 40.3 औंस, इंग्लैंड में 40.7 औंस, तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में 35.6 औंस दूध मिलता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि भारत में प्रत्येक गाय तथा भैंस अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम दूध देती है। इस प्रकार भारत में औसत रूप से प्रति गाय प्रतिवर्ष 413 पौंड तथा प्रति भैंस 11.1 पौंड दूध देती है, जबकि इन दोनों का औसत आस्ट्रेलिया में 48.2 पौंड, अमेरिका में 3218 पौंड तथा न्यूजीलैंड में 5660 पौंड है।

हमारे देश में पशुओं की इस असन्तोषजनक स्थिति के निम्नांकित प्रमुख कारण हैं :—

(1) भारत में पशुओं की संख्या विश्व के प्रायः सभी देशों से अधिक है—इनमें बहुत-से आर्थिक दृष्टि से बेकार हैं। पशु उपयोगिता जाँच समिति (Cattle Utilisation Committee) के अनुसार भारत में प्रायः 19 प्रतिशत पशु अनुत्पादक हैं<sup>1</sup> जिनका कृषि-कार्य में उपयोग नहीं हो सकता। डा० बर्न्स ने बैलों की संख्या के सम्बन्ध में भी यह अनुमान लगाया था कि उत्तर प्रदेश एवं बिहार में 40 लाख बैल आवश्यकता से अधिक हैं। उनके अनुसार बैलों की कुशलता में 60 प्रतिशत तक की वृद्धि की जा सकती है। इतना ही, नहीं इनकी संख्या में वृद्धि भी हो रही है।

(2) चारे का अभाव (Lack of Fodder) :— भारत में पशु-धन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह संख्या में संसार के सभी देशों से आगे तथा क्षमता में सभी से पीछे है। यहाँ पशुओं की संख्या आवश्यकता से अधिक है पर इनके लिए पर्याप्त चारे का अभाव है। सूखे चारे की उपलब्ध मात्रा का देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारत की एक-तिहाई पशु-संख्या आवश्यकता से अधिक है। हरे चारे का तो देश में और भी अभाव है। फलस्वरूप पशुओं को भर पेट भोजन भी नहीं मिलता। मार्च से जून के बीच तो इनकी स्थिति और भी बुरी हो जाती है। वर्षा प्रारम्भ होते ही हरी घास अंकुरित होने लगती है और ये खव खाना प्रारम्भ कर देते हैं जिससे ये तरह-तरह की बीमारियों के शिकार बन जाते हैं। यूरोप में पशुओं के लिए चारे की खेती की जाती है, किन्तु हमारे देश में इस प्रकार की बात नहीं पायी जाती है। जनसंख्या की वृद्धि तथा खाद्यान्न के अभाव में चारागाह वाली भूमि भी खेती के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है। फलस्वरूप जहाँ चारे का नितान्त अभाव है जिससे देश का पशु-धन निरन्तर कमजोर होते जा रहा है एवं पशुओं के दूध देने की शक्ति भी घटती जा रही है।

(3) भारत में पशुओं की नस्ल खराब है :—हमारे देश में पशुओं की नस्ल बहुत ही खराब है। यहाँ प्रजनन के लिए चुने हुए पशुओं का प्रयोग नहीं किया जाता। अच्छी नस्ल के सौंदर्य के प्रभाव में यह समस्या और भी विकराल होती जा रही है। इससे इनकी कार्य-क्षमता घट रही है तथा ये कृषि में आवश्यक सहयोग नहीं प्रदान कर पाते।

(4) पशुओं के रोगों के फलस्वरूप भी इनकी उपयोगिता कम होती है—भारत के पशु यदा-कदा तरह-तरह की बीमारियों के शिकार हो जाते हैं। समय-समय पर उन्हें मुख तथा पैरों की बीमारियों के अतिरिक्त रिडरपेस्ट (Rinderpest) जैसी अन्य महामारियों का भी शिकार



होना पड़ता है। इससे इनकी जीवन-शक्ति क्षीण होने लगती है तथा कार्य-क्षमता भी घटने लगती है। भारत में पशुओं के रहने का स्थान भी बहुधा अस्वास्थ्यकर तथा पीने का पानी गन्दा होता है। साथ ही, देश में पशु-चिकित्सा की भी अभी समुचित व्यवस्था नहीं हो पायी है।

**पशु-धन की समस्या का समाधान**  
देश के पशु-धन को आर्थिक दृष्टि से अधिक उपयोगी बनाने के लिए निम्नलिखित प्रयत्न आवश्यक हैं :—

(1) उत्तम चारे की व्यवस्था :—पशु-धन को अधिक उपयोगी बनाने के लिए उत्तम चारे की व्यवस्था अनिवार्य है। प्राचीन समय में प्रत्येक गाँव में चारागाह होते थे जहाँ जानवर अपना पेट भरते थे। किन्तु आजकल हमारे देश में चारागाह वाली भूमि की मात्रा का निरन्तर ह्रास होते जा रहा है। अतः इसके लिए अनुपयोगी तथा अयोग्य जानवरों की मात्रा को घटाना आवश्यक है परन्तु यह प्रस्ताव भारतीय संस्कृति के विरुद्ध जान पड़ता है और शायद किसान इसे मानने के लिए तत्पर भी नहीं होंगे। इस प्रकार चारे के उत्पादन को बढ़ाकर ही इस समस्या का वास्तविक रूप में समाधान किया जा सकता है। इसके लिए बरसीन, गिनी, सडान आदि घासों की खेती को प्रोत्साहित करना होगा। गाँव की परती भूमि तथा जिस भूमि में वर्ष में केवल एक ही फसल उगायी जाती है, उसमें भी फसल काटने के बाद घास उगायी जा सकती है। साथ ही, चारे को खिलाने तथा संग्रह करने की प्रणाली में सुधार लाना होगा जिससे इसके प्रयोग में मित-व्ययिता से काम लिया जा सके।

(2) नस्ल-सुधारने की व्यवस्था :—पशुओं को अधिक उपयोगी बनाने के लिए इनकी नस्ल में सुधार भी आवश्यक है। यह भली-भाँति सिद्ध हो चुका है कि पशुओं के डील-डौल, हल खींचने की शक्ति, दूध उत्पादन की मात्रा आदि पराम्परागत तौर पर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में समान रूप से पाये जाते हैं। अतः प्रजनन-व्यवस्था में गाय की अपेक्षा साँड़ का ही अधिक महत्व है। कहा भी जाता है कि साँड़ अकेले आधे पशु-समूह के बराबर होता है। (Bull is half the herd) बुरी नस्ल के कारण बछड़े भी नाटे और कमजोर होते हैं। अतः पशुओं की नस्ल सुधारने के लिए अच्छी किस्म के साँड़ों की व्यवस्था करनी चाहिए। नस्ल-सुधार के कार्य के अन्तर्गत घटियाँ किस्म के साँड़ों को अयोग्य बना देना चाहिए तथा गाँवों में अच्छी नस्ल के साँड़ों की व्यवस्था की जानी चाहिए। कृषि-आयोग ने यह अनुमान लगाया था कि इसके लिए देश भर में इस प्रकार के 10 लाख साँड़ों की आवश्यकता होगी। पंजाब के हिसार फार्म में इस सम्बन्ध में अत्यन्त उपयोगी कार्य किये जा रहे हैं। इन फार्मों से अच्छे-अच्छे साँड़ पैदा कर गाँवों में वितरित किये जा रहे हैं। कुछ चुने हुए स्थानों में कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र (Artificial

Insemination Centres) स्थापित किये गये हैं। इन प्रयोगों के द्वारा इस क्षेत्र में निश्चय ही महत्त्वपूर्ण सुधार हुए हैं। फिर भी, अभी इसमें बहुत सुधार की आवश्यकता है।

(3) पशु-चिकित्सा की उचित व्यवस्था :—बीमारी से पशुओं की मृत्यु होने पर किसानों को बहुत बड़ी आर्थिक क्षति होती है। साथ ही, उत्तम चारा तथा नस्ल-सुधार की व्यवस्था की सफलता भी बहुत कुछ उत्तम पशु-चिकित्सा की सुविधा पर निर्भर करती है। अतः पशु-चिकित्सा की समुचित व्यवस्था पशु-धन के विकास के लिए नितान्त आवश्यक है। आजकल इस क्षेत्र में भारतीय पशु-चिकित्सा संस्थान (Indian Veterinary Research Institute) द्वारा महत्त्वपूर्ण खोजें की जा रही हैं। राज्य का चिकित्सा विभाग भी इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। चिकित्सा की समस्या के समाधान के लिए गाँवों में जा-जाकर प्रचार करने की व्यवस्था पर जोर दिया जा रहा है। किन्तु इस प्रकार के चिकित्सालयों की संख्या अभी देश में बहुत कम है। अतः गाँवों में पशु-चिकित्सा के लिए अस्पतालों की स्थापना आवश्यक है। देश में अभी पशु-चिकित्सा सम्बन्धी सुविधा का अभाव है; अतः इनकी संख्या में वृद्धि नितान्त आवश्यक है। साथ ही, किसान रुढ़ि-वादिता के कारण बीमारी से पशुओं की चिकित्सा के लिए शीघ्रतापूर्वक तत्पर नहीं होते। अतः इस क्षेत्र में विशेष प्रचार की आवश्यकता है। संतोष का विषय है कि सरकार द्वारा इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं।

### पशु-धन के विकास के लिये किये गए सरकारी प्रयत्न

इस प्रकार भारत में पशु-धन के समक्ष आज अनेक समस्याएँ हैं। इनकी नस्ल खराब होती जा रही है। साथ ही, इन्हें भर पेट भोजन भी नहीं मिलता जिससे इनकी उत्पादन-शक्ति क्षीण होती जा रही है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 48 में यह निर्देश दिया गया है कि राज्य कृषि और पशुपालन को आधुनिक तथा वैज्ञानिक प्रणालियों से संगठित करने का प्रयास करेगा तथा विशेषतः गायों और बछड़ों एवं अन्य दूधारू ढोरों की नस्ल के परीक्षण और सुधार के लिए अग्रसर होगा। अतः सरकार द्वारा विगत कुछ वर्षों से देश के पशु-धन के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किये जा रहे हैं। सरकार सर्वप्रथम पशुओं की नस्ल सुधारने के कार्य पर अधिक जोर दे रही है। इसके लिए सरकार द्वारा प्रमुख ग्राम-केन्द्र योजना (Key Village Scheme) का कार्यक्रम कार्यान्वित किया जा रहा है। प्रथम योजना के अन्तर्गत इस प्रकार के कुल 574 ग्राम-केन्द्रों की स्थापना की गयी। प्रत्येक प्रमुख ग्राम-केन्द्र 3-4 गाँवों के बीच होता है जिसमें 3 वर्ष से अधिक उम्र की लगभग 500 गायें तथा 3 या 4 अच्छी नस्ल के



साँढ़ होते हैं। प्रत्येक केन्द्र से सभी घूमने वाले अतिरिक्त साँढ़ों को हटा दिया जाता है या उन्हें अयोग्य बना दिया जाता है। प्रत्येक प्रमुख ग्राम-केन्द्र में पशुओं की संख्या नस्ल, दुग्धोत्पादन आदि का विस्तृत लेखा-जोखा रखता जाता है और उनके भोजन तथा चिकित्सा की भी उचित व्यवस्था की जाती है। इन केन्द्रों के अतिरिक्त प्रथम योजनाकाल में 146 कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों तथा 26 गोसदनों की भी स्थापना की गयी थीं। इन केन्द्रों की स्थापना इस ढंग की से जा रही है कि प्रत्येक चार प्रमुख ग्राम-केन्द्र पर एक कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र पड़े। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इस प्रकार के 1258 प्रमुख केन्द्र, 54 मुख्य ग्राम-विस्तार केन्द्र (Key Village extension Centres) तथा 245 कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों की स्थापना का आयोजन था।

सरकार द्वारा पशु-धन के सम्बन्ध में किये गये कार्यों के अन्तर्गत गोसदनों की स्थापना का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इन गोसदनों में अनुपयोगी पशुओं को रखने की व्यवस्था की जाती है। इनमें रहने वाले मर्दे पशुओं को अयोग्य बना दिया जाता है। प्रथम योजना की अवधि में 47 लाख रुपये के व्यय से 160 गोसदान स्थापित करने की व्यवस्था थी जिनमें निर्बल तथा अनुपयोगी पशुओं को रखने का आयोजन था, किन्तु योजनाकाल में केवल 25 गोसदनों की स्थापना ही की गयी। गोसदनों की स्थापना ऐसे स्थानों पर की जाती है जहाँ पर चारागाह वगैरह की उचित सुविधा हो। इन गोसदनों में आर्थिक दृष्टि से अनुपयोगी पशुओं के लिए चारा मिलने में कुछ सुगमता होगी। द्वितीय योजना में 3000 पशुओं के लिए कुल 60 गोसदनों की स्थापना का आयोजन था, किन्तु योजना काल में केवल 34 गोसदनों की ही स्थापना की गयी। तृतीय पंचवर्षीय योजना में 23 और गोसदनों की स्थापना का आयोजन था। सरकार ने पशु-धन के विकास के लिए एक केन्द्रीय गोसम्बद्ध न समिति की स्थापना की है जो देश में पशु-धन के विकास के लिए महत्वपूर्ण कार्य कर रही है।

चारे के अभाव को दूर करने के लिए भी सरकार द्वारा महत्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं। इसके लिए नेपियर, गिनी, सूडान आदि घासों की उत्पादन को यथा-संभव बढ़ाने का प्रयास किया जा रहा है। पंचवर्षीय योजनाओं में Fodder Banks की स्थापना भी की जा रही है जिससे इस समस्या के समाधान की आशा की जाती है। चारे को खिलाने तथा काटने की प्रणाली में भी आवश्यक सुधार किये जा रहे हैं। तृतीय योजना काल में गाँवों के बारे में प्रदर्शन के लिए क्षेत्र स्थापित करने की व्यवस्था थी।

पशु-सम्बन्धी चिकित्सा के विकास पर भी सरकार द्वारा जोर दिया जा रहा है। इसके लिए पशु-अस्पतालों की संख्या बढ़ाई जा रही है। प्रथम योजना काल में पशु-अस्पतालों की संख्या 2000 से बढ़कर 2650 हो गयी। चतुर्थ योजना के अन्त में 1973-74 ई० में सभी प्रकार के 7495 पशु अस्पताल तथा औषधालय हो गये थे। इनके अतिरिक्त 178 गतिशील चिकित्सालय (mobile veterinary units) भी थे। इनके साथ ही प्रत्येक राज्य में राज्य सरकारों द्वारा प्रतिवर्ष पशुप्रदर्शनी का भी आयोजन किया जाता है तथा प्रदर्शन में लाये गये अच्छे पशुओं के लिए सरकार द्वारा पुरस्कार प्रदान किये जाते हैं। इस प्रकार सरकार द्वारा पशु-धन के विकास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं।

### पंचवर्षीय योजनाओं में पशु-धन का विकास (Development of Cattle Wealth in Five Year Plans)

पंचवर्षीय योजनाओं में पशु-धन के विकास के लिए बहुत सारे प्रयास किये जा रहे हैं।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में पशु-धन का विकास<sup>1</sup> :— प्रथम पंचवर्षीय योजना में पशु-धन के विकास के लिए सरकार द्वारा बहुत-से प्रयत्न किये गये। प्रथम योजना-काल में पशु-धन के विकास पर कुल 8 करोड़ रुपये व्यय हुए। पशु-धन के लिए योजना काल में मुख्य ग्राम-केन्द्रों की स्थापना के विकास पर पूरा-पूरा जोर दिया गया था। योजना काल में 146 मुख्य ग्राम प्रखण्ड (Key village block) जिनमें गर्भाधान की सुविधा थी, स्थापित किये गये। इन ग्राम-केन्द्रों में अच्छी नस्ल के साँढ़ दिये जाते हैं तथा सभी पुराने साँढ़ों को हटा दिया जात है या निःशक्त बना दिया जाता है। प्रथम योजना काल में अनुपयोगी पशुओं को रखने के लिए 25 गोसदनों की स्थापना की गयी। साथ ही, प्रथम योजना काल में 650 पशु-अस्पताल खोले गये। इनमें से 13 गतिशील चिकित्सालय भी सम्मिलित थे। योजना काल में पशु-चिकित्सकों की संख्या को बढ़ाने पर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया गया। प्रथम योजना काल में रिंडरपैस्ट को दूर करने पर भी विशेष जोर दिया गया था। भारत में प्रायः 60 प्रतिशत पशुओं की मृत्यु इसी बीमारी से होती है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में पशु-धन का विकास :— द्वितीय पंचवर्षीय योजना में पशु-धन के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। द्वितीय योजना में कुल 34 गोसदनों की स्थापना की गयी तथा 246 गोशालाओं को विकास के लिए चुना गया। द्वितीय योजना काल में 196 नये मुख्य ग्राम प्रखण्ड (Key Village Blocks) स्थापित किये तथा प्रथम योजनाकाल में स्थापित केन्द्रों का विस्तार



किया गया। द्वितीय योजना के अन्त तक कुल 2000 मुख्य ग्राम इकाइयों (Key Village units) तथा 670 कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र (Artificial insemination centres) स्थापित किये गये। योजनाकाल में 22 हजार अच्छी नस्ल के प्रजनक पशु, 9,50,000 अच्छे बैल तथा लगभग 10 लाख अच्छी नस्ल की गायों के उत्पादन की व्यवस्था थी। द्वितीय योजना के अन्तर्गत पशु-धन के विकास के लिए चारे की समस्या पर भी ध्यान दिया गया था। योजनाकाल में दूध की पूर्ति को बढ़ाने के लिए अधिक दूध देनेवाली गायों तथा भैंसों की संख्या में वृद्धि की व्यवस्था थी।

देश भर में द्वितीय योजना के अन्त तक सभी प्रकार के 4000 पशु अस्पताल अथवा औषधालय हो गये थे। पशु चिकित्सा की अधिकाधिक सुविधा प्रदान करने के लिए द्वितीय योजनाकाल में 1900 पशु-चिकित्सालयों की स्थापना की गयी। द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में पशु-धन के विकास पर कुल 21 करोड़ रुपये व्यय किये गये।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में पशु-धन का विकास :— तृतीय पंचवर्षीय योजना में पशु धन के विकास की मद में 43.6 करोड़ रुपये व्यय हुआ। तृतीय योजनाकाल में पशु-अस्पतालों की संख्या को बढ़ाकर 8000 करने का आयोजन था जिससे प्रत्येक विकास प्रखण्ड में कम से कम एक पशु-अस्पताल हो जाने की आशा थी। तृतीय योजना में 23 और गोसदनो की स्थापना की तथा 168 गोशालाओं के विकास का आयोजन था। तृतीय योजनाकाल में 91 मुख्य प्रखण्ड (Key Village Blocks) स्थापित किये गये थे। इसके अतिरिक्त योजना काल में 19 गहन पशु-विकास कार्यक्रम (Intensive Cattle Development Projects) स्थापित किये गये। योजनाकाल में दो Fodder Banks भी स्थापित किये गये। पशुओं की नस्ल-सुधार पर भी तृतीय काल में पर्याप्त ध्यान दिया गया था। इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप देश में दूध का उत्पादन बढ़कर 1965-66 में 2 करोड़ टन हो गया।

तीनों वार्षिक योजनाओं (1969-69) में पशु-पालन तथा दुग्ध आपूर्ति की मद में 59.7 करोड़ रुपये व्यय किये गये।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में पशु-धन का विकास :— चतुर्थ योजना में पशु धन के विकास तथा दुग्ध आपूर्ति (Animal husbandary & Dairying and Milk supply) कार्यक्रम पर 233 करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन था जबकि वास्तविक व्यय 154 करोड़ रुपये हुआ। योजनाकाल में 33 गहन पशु विकास कार्यक्रम (Intensive Cattle Development Projects) स्थापित किये गये। इनके अतिरिक्त 93 मुख्य ग्राम केन्द्रों (Key Village Blocks) स्थापित किये जाने को थे। चारा की समस्या के समाधान के लिए योजनाकाल में 5 चारा बैंक (Fodder Banks) स्थापित करने की व्यवस्था थी। योजना के अन्त, यानी 1973-74 तक दूध की आपूर्ति 1968-69 में 212 लाख टन से बढ़कर 252 लाख टन हो गयी। चतुर्थ योजना के अन्त में पशु अस्पतालों तथा चिकित्सालयों की संख्या 1968-69 में 7044 से बढ़कर 1973-74 में 7495 हो गयी।

पांचवीं योजना में पशु-धन का विकास (Development of Cattle Wealth & Dairy Farming in the Fifth Plan) :—पांचवीं पंचवर्षीय योजना में पशु धन तथा दुग्ध आपूर्ति के विकास के मद में 438 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। पांचवीं योजना काल में 51 और गहन पशु-विकास कार्यक्रम केन्द्रों, 92 मुख्य ग्राम प्रखण्डों (Key Village Blocks) 80 ग्रामीण दुग्ध आपूर्ति केन्द्रों तथा 1700 पशु-अस्पतालों तथा चिकित्सालयों तथा 284 चल चिकित्सालयों की स्थापना की व्यवस्था थी।

छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan) में भी पशु-धन के विकास पर पर्याप्त मात्रा में ध्यान देने की व्यवस्था है। योजनाकाल में इस मद में 825 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। योजनाकाल में दुग्ध आपूर्ति को बढ़ाने पर विशेष रूप जोर दिया गया है। 1973-74 में देश में दूध का उत्पादन 232 लाख टन था जो बढ़कर 1977-78 तक 275 लाख टन हो गया तथा 1982-83 तक इसे बढ़ाकर 355 लाख टन करने का आयोजन है।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. Wadia and Merchant : Our Economic Problem, Chap. IX.
2. Planing Commission : The First Five Year Plan.
3. " : The Third Five Year Plan, Ch. XIV.
4. " : The Fourth & Fifth Five Year Plans.



## अध्याय : 22

## कृषि-वित्त

(Agricultural Finance)

आधुनिक कृषि-व्यवस्था में वित्त का महत्त्व :— आधुनिक युग में वित्त का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वित्त के बगैर इतने बड़े पैमाने पर उद्योग-धन्धों का विकास असम्भव है और अन्य उद्योगों की तरह वित्त अथवा साख कृषि का भी एक आवश्यक तत्त्व है। भारतीय गाँवों में प्रचलित एक कहावत के अनुसार “वही गाँव बसने योग्य है जहाँ पर आवश्यकता पड़ने पर कर्ज देने के लिए महाजन हों, दवा-दार के लिए बंध हों, पूजा-पाठ के लिए पंडित हों तथा एक ऐसे जल का साधन हो जो कभी सूखता नहीं हो।” इससे भारत के आर्थिक जीवन में साख का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण (Rural Credit Survey) के विवरण में भी यह कहा गया है कि “साख कृषक को उसी प्रकार से सहायता करता है जैसे फाँसी पर लटके हुए व्यक्ति को जल्लाद की रस्सी।” (Credit supports the farmer as the hangman's rope supports the hanged.)

किन्तु भारत में कृषि-साख का प्रायः कोई संस्थागत रूप नहीं है। इसका कारण यह है कि किसान बहुधा गाँवों में निवास करते हैं जहाँ संगठित साख की कोई व्यवस्था नहीं पायी जाती है। भारत में कृषि-साख की इसी विशेषता की व्याख्या करते हुए प्रो० मिल्टन ने ठीक ही कहा था कि ‘यहाँ गाँवों में बहुत-से बैंकर हैं किन्तु बैंक एक भी नहीं।’ (People have many bankers but no bank.) किन्तु भारतीय कृषि-व्यवस्था में साख के अत्यधिक महत्त्व का सर्वप्रमुख कारण किसानों की निर्धनता के निर्मम जाल में उलझा होना है। कृषि से इन्हें इतनी आय नहीं होती कि ये अपना खर्च चला सकें। साथ ही, हमारे गाँवों में आय के अन्य साधनों का भी अभाव है। फलस्वरूप कृषि तथा अन्य आवश्यक खर्च के लिए किसानों को बाध्य होकर महाजनों से कर्ज लेना पड़ता है। ये महाजन (Money lenders) लेन-देन के सिलसिले में तरह-तरह के अत्याचार करते हैं जिससे कर्ज का बोझ सदा बढ़ता ही जाता है। एक बार महाजनों के चंगुल में फँस जाने पर भारतीय किसान के लिए इनसे छुटकारा पाना प्रायः असम्भव हो जाता है। इस प्रकार भारतीय कृषि के पिछड़े होने का एक प्रमुख कारण ऋण का अति-शय बोझ है जैसा कि श्री वोल्फा ने कहा है, ‘देश महाजनों के चंगुल में है। ऋण के बन्धन ही कृषि को जकड़े हुए हैं।’ (The country is in the grips of mahajans. It is the bonds of debts that shackle Indian agriculture) ऋण की मात्रा निरन्तर बढ़ती ही जाती है तथा किसान उससे जीवनपर्यन्त छुटकारा नहीं पाता। इसीलिए कहा जाता है कि “भारतीय किसान

ऋण में जन्म लेता है, ऋण ही में पलता है तथा ऋण को विरासत के रूप में छोड़कर मर जाता है।” (The Indian peasant is born in debt, lives in debt, dies in debt and bequeaths debt.)

भारतीय किसान की साख के लिए आवश्यकता (Need for Credit)

भारतीय किसानों को विभिन्न अवधियों तथा विभिन्न उद्देश्यों से साख की आवश्यकता होती है। सर्वप्रथम तो उद्देश्य के अनुसार भारतीय किसान को अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन तीन प्रकार के साख की आवश्यकता पड़ती है।

(1) अल्पकालीन साख (15 महीने से कम की अवधि के लिए) :—किसान को कृषि-कार्य में बीज, मजदूरी तथा भोजन आदि की व्यवस्था के लिए अल्पकालीन साख की आवश्यकता पड़ती है। इस अल्पकालीन साख को वह फसल तैयार होने पर चुका देता है। इस प्रकार के साख के लेने एवं भुगतान करने में 9 से 15 महीने तक के समय का अन्तर होता है, किन्तु यह बहुधा 12 महीने तक के लिए ही लिया जाता है। इस प्रकार की सभी साख की मात्रा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों तथा एक ही क्षेत्र के विभिन्न वर्गों के लिए भिन्न-भिन्न होती हैं। इसे मौसमी साख भी कहा जाता है। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने यह अनुमान लगाया था कि किसानों की अल्पकालीन साख की वार्षिक आवश्यकता कम-से-कम 3 से 4 अरब रुपये तक है। किन्तु डा० बलजीत सिंह के अनुसार इसकी न्यूनतम सीमा 6 अरब रुपये है। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण-समिति (1965) ने 1969 से 1973-74 ई० के लिए अल्पकालीन साख का अनुमान लगभग 200 करोड़ रुपये लगाया है।

(2) मध्यकालीन साख (15 महीने से लेकर 5 वर्ष की अवधि के लिए) :—किसानों को महुँगे कृषि के औजारों एवं पशु आदि के खरीदने के लिए अथवा उत्पादन-सम्बन्धी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी मध्यकालीन साख की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के कर्ज की अवधि 15 महीने से लेकर 5 वर्ष तक की होती है। मध्यकालीन साख की मात्रा में भी प्रादेशिक विभिन्नता पायी जाती है।

(3) दीर्घकालीन साख (5 वर्षों की अवधि के लिए) :—किसानों को कुएँ, तालाब, बाँध आदि बनवाने तथा भूमि में स्थायी सुधार, जैसे—जल निकासी, भूमि की घेराबन्दी एवं भूमि के पुनरुद्धार आदि के लिए दीर्घकालीन साख की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के कर्ज के भुगतान की अवधि 5 वर्षों से अधिक होती है। केन्द्रीय बैंकिंग



जाँच-समिति के अनुसार इस प्रकार के कर्ज की वार्षिक आवश्यकता कम-से-कम 5 अरब रुपये की है।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (19.9) ने चतुर्थ योजना काल में 500 करोड़ रुपये मध्यकालीन तथा 1500 करोड़ रुपये दीर्घकालीन साख की आवश्यकता का अनुमान लगाया था।

किसान प्रायः दो प्रकार के कार्यों अथवा उद्देश्यों — उत्पादक तथा अनुत्पादक (Productive and unproductive) के लिए कर्ज लेता है। उत्पादक कर्ज कृषि-सम्बन्धी कार्यों; जैसे बीज, खाद, बैल आदि कार्यों के लिए लिये जाते हैं तथा अनुत्पादक कर्ज बहुधा उपभोग अथवा शादी-ब्याह या श्राद्ध आदि कार्यों के लिए लिया जाता है। इससे स्पष्ट है कि किसानों को उत्पादक कार्यों के साथ-साथ उपभोग के लिए भी कर्ज की आवश्यकता पड़ती है। उपभोग के लिए लिये जानेवाले कर्ज की मात्रा को कम किया जा सकता है, किन्तु इन्हें विलकुल समाप्त नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त गैर-उत्पादक सम्बन्धी कार्यों जैसे—शादी, श्राद्ध आदि के उद्देश्य से भी किसान कर्ज लेता है।

ग्रामीण साख सर्वेक्षण (Rural Credit Survey) के प्रतिवेदन के अनुसार 1950-51 ई० में विभिन्न उद्देश्यों के लिए लिये जाने वाला ऋण का प्रतिशत निम्न प्रकार<sup>1</sup> से था :

| ऋण लेने के उद्देश्य                 | कुल ऋण का प्रतिशत |
|-------------------------------------|-------------------|
| कृषि-कार्य में पूँजीगत व्यय         | 27.8              |
| कृषि-कार्य में चालू व्यय            | 9.3               |
| गैर-कृषि व्यवसाय-सम्बन्धी व्यय      | 6.6               |
| पारिवारिक व्यय (Family Expenditure) | 50.2              |
| अन्य प्रकार के व्यय                 | 6.1               |
|                                     | कुल 100.0         |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत में कृषि-साख का एक बहुत बड़ा भाग गैर-कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए ही लिया जाता है। कुल ऋण का प्रायः 56.8 प्रतिशत भाग गैर-कृषि कार्यों अथवा अनुत्पादक कार्यों (Unproductive purposes) के लिए तथा केवल 43.2 प्रतिशत भाग कृषि-कार्यों अथवा उत्पादक कार्यों (Productive purposes) के लिए लिया जाता है। इससे देश की कृषि-साख व्यवस्था का स्वरूप ही बदल जाता है।

## कृषि-वित्त प्राप्ति के साधन (Sources of Agricultural Finance)

भारतीय किसान बहुधा निम्नलिखित साधनों से साख प्राप्त करता है—

- (1) गाँव का महाजन या देशी साहूकार;
- (2) जमींदार;
- (3) व्यावसायिक बैंक;
- (4) सहकारी समितियाँ;
- (5) भूमि-बन्धक बैंक (Land Mortgage Banks); तथा
- (6) सरकार।

निम्नांकित तालिका से किसानों की साख-सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति में इन विभिन्न साधनों के सहयोग का अन्दाजा लगता है :—

साख-प्राप्ति के साधन 1950-51 में कुल 1961-62 में कुल  
साख का प्रतिशत<sup>2</sup> साख का प्रतिशत<sup>3</sup>

|                    |       |       |
|--------------------|-------|-------|
| 1. सरकार           | 3.3   | 2.6   |
| 2. सहकारी समितियाँ | 3.1   | 15.5  |
| 3. सम्बन्धी        | 14.2  | 8.8   |
| 4. जमींदार         | 1.5   | 0.6   |
| 5. कृषक-साहूकार    | 24.9  | 36.0  |
| 6. पेशेवर साहूकार  | 44.8  | 13.2  |
| 7. व्यापारी वर्ग   | 5.5   | 8.8   |
| 8. व्यावसायिक बैंक | 0.9   | 0.6   |
| 9. अन्य साधन       | 1.8   | 13.9  |
| कुल                | 100.0 | 100.0 |

ग्रामीण साख सर्वेक्षण (1950-51) के अनुसार भारतीय किसान सभी प्रकार के कार्यों तथा सभी साधनों से प्रतिवर्ष अनुमानतः 750 करोड़ रुपये ऋण लेता है। महाजन तथा साहूकार से वह अपनी कुल आवश्यकता का प्रायः 70 प्रतिशत भाग कर्ज लेता है। इससे स्पष्ट है कि भारत में कृषि-साख की समस्या की प्रमुख विशेषता इन महाजन तथा साहूकारों की प्रधानता है जो किसानों की निरन्तर गरीबी को ही अपनी जीविका का प्रधान साधन मानते हैं।

ऋण-प्राप्ति के इन स्रोतों पर अब संक्षेप में पृथक्-पृथक् रूप से विचार किया जायगा।

1. All India Rural Credit Survey Report, p. 247.

2. All India Rural Credit Survey, p. 867.

3. Reserve Bank of India Bulletin Sept. 1965. चतुर्थ योजना की रूपरेखा में योजना आयोग ने यह अनुमान लगाया था कि वर्तमान समय में कुल साख का प्रायः 30 प्रतिशत भाग सांस्थानिक साधनों से प्राप्त होता है।



1. सरकार—सरकार की ओर से कृषि तथा किसानों को वित्तीय सहायता प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष, दोनों तरह से प्राप्त होती है। अप्रत्यक्ष रूप से यह सहायता सहकारी साख समितियों के माध्यम से दी जाती है। इन समितियों को शुरू में अपने षाँव पर खड़ा करने के लिए सरकार इनके शेयर खरीदती है जिन्हें बाद में रिजर्व बैंक अपनी दीर्घकालिक कार्यकारी निधि स्कीम के अन्तर्गत ले लेता है। इसी प्रकार सरकार सहकारी समितियों के कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए व्यवस्था करती है और कमजोर समितियों को समय-समय पर सहायता देती है। इस प्रकार सरकार अप्रत्यक्ष रूप से किसानों की सहायता करती है।

सरकार प्रत्यक्ष रूप से भी किसानों को ऋण देती है जिसे 'तंकावी ऋण' कहते हैं। ऋण की यह सुविधा बहुत पुराने समय से ही दी जा रही है। तंकावी ऋण की व्यवस्था दीर्घकाल के लिए भी है और अल्पकाल के लिए भी।

1883 के भूमि-सुधार ऋण अधिनियम के अन्तर्गत दीर्घकालिक ऋण की व्यवस्था है। यह ऋण भूमि में सुधार करने, सिंचाई तथा बाढ़ और भू-रक्षण से बचाव सम्बन्धी प्रबन्ध करने के लिए दिया जाता है। साधारणतया यह ऋण भूमि की जमानत पर 25 वर्ष या इससे भी अधिक समय के लिए दिया जाता है और इस पर 6% से 10% तक व्याज वसूल किया जाता है। 1884 के कृषि ऋण अधिनियम के अन्तर्गत अल्पकालिक और मध्यकालिक ऋणों का प्रबन्ध है। यह ऋण खाद, बीज, पशु, औजार खरीदने तथा बाढ़ से गिरे मकानों के बनाने के लिए दिया जाता है।

सरकार द्वारा प्रदत्त यह ऋण सामुदायिक विकास कार्यक्रम और राज्यों के राजस्व एवं कृषि-विभाग द्वारा दिया जाता है। अब तंकावी ऋण सहकारी समितियों द्वारा उपलब्ध कराये जाने लगे हैं। कम व्याज, वापसी की उदार शर्तों आदि की दृष्टि से ये ऋण उत्तम सिद्ध होते हैं लेकिन विभिन्न कारणों से बहुत किसानों, विशेष रूप से छोटे किसानों को इनसे अधिक लाभ नहीं मिल सका है। एक तो वितरण के लिए तंकावी ऋण की रकम बहुत थोड़ी रही है। दूसरे, सन्तोषजनक जमानत न दे सकने के कारण छोटे-छोटे किसान इस प्रकार के ऋण पाने में बहुधा असमर्थ सिद्ध होते हैं। तृतीयतः ऋण मिलने में अनावश्यक विलम्ब आदि के कारण भी किसान इन ऋणों के लिए प्रयास नहीं करते।

2. सहकारी समितियाँ—देश में दो प्रकार की सहकारी समितियाँ किसानों को ऋण देने का कार्य करती हैं। एक तो प्राथमिक कृषि-ऋण समितियाँ जो अल्पकालिक एवं मध्यकालिक ऋण देती हैं और दूसरे, भूमि

वन्धक बैंक या भूमि-विकास बैंक जो लम्बी अवधि के लिए ऋण देते हैं। प्राथमिक कृषि साख समितियों की संख्या 1970-71 में 162 हजार तथा इनके सदस्यों की संख्या 325.5 लाख थी, जो कुल कृषि-जनसंख्या का लगभग 43% थी। उस वर्ष इनके द्वारा दी गयी अल्प एवं मध्यकालिक ऋण की राशि 564.4 करोड़ रुपये के लगभग थी। देश में 1970-71 में भूमि-विकास बैंकों की संख्या 855 थी और इनके द्वारा दिया गया दीर्घकालिक ऋण उस वर्ष 174 करोड़ रुपये के लगभग था।

संस्थागत ऋण की दृष्टि से सहकारी समितियों द्वारा ऋण प्रदान करना एक ठीक रास्ता है। लेकिन दुर्भाग्य से सन्तोषजनक सीमा तक सहकारी समितियाँ इस क्षेत्र में सफल नहीं हो सकी हैं। किन्तु पिछले कुछ वर्षों से इनकी कार्यवाही में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। 1951-52 में कुल ऋण में सहकारी ऋण समितियों का भाग 3.1 प्रतिशत था जो बढ़कर 1961-62 में 15.5 प्रतिशत और 1969-70 में 33 प्रतिशत के लगभग हो गया। फिर भी, आवश्यकता के हिसाब से एवं महाजनों की तुलना में यह योगदान बहुत कम है। परिणामस्वरूप अभी भी किसान ऋण प्राप्ति के लिए बहुत बड़ी सीमा तक महाजनों पर ही निर्भर हैं।

इसी प्रकार सहकारी भूमि विकास बैंकों (Land Mortgage Banks) का रिकार्ड भी सन्तोषजनक रहा है। इनकी संख्या कम है और इने-गिने स्थानों पर ही ये मुख्य रूप से केन्द्रित हैं। लगभग 65% भूमि-विकास बैंक तमिलनाडु, कर्नाटक एवं आन्ध्र प्रदेश में स्थित हैं। इनके पास संसाधनों का प्रायः अभाव रहता है और इनकी कार्य-प्रणाली में भी अनेक दोष पाये जाते हैं। ऋण की स्वीकृति में प्रायः काफी देर लगती है और सामान्य तौर पर सम्पन्न किसानों की आवश्यकताओं की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। चूँकि ये बैंक भूमि की जमानत पर उधार देते हैं, इसलिए साधारणतया बड़े-बड़े भूमिधर ही इन बैंकों से लाभ उठा पाते हैं। सम्पन्न किसानों के लिए ऐसा इसलिए भी सम्भव रहता है कि इन्हें इन बैंकों के सम्बन्ध में अधिक जानकारी रहती है और बैंक के कर्मचारियों के साथ प्रायः इसका निकट का सम्बन्ध होता है।

इस प्रकार कृषि-ऋण की उपलब्धि में सहकारी साख समितियों और भूमि विकास बैंकों का अभी तक अधिक योगदान नहीं रहा है। यही नहीं कि इनका योगदान अपर्याप्त रहा है, बल्कि इनकी सुविधाओं का लाभ अधिकतर बड़े किसान ही उठाते हैं। छोटे किसान, जिनकी ऋण की आवश्यकताएं अपेक्षाकृत अधिक होती हैं, सहकारी ऋण की सुविधा से कोई विशेष लाभ नहीं उठा सके हैं।



### 3. व्यावसायिक बैंक (Commercial Bank) :—

इन बैंकों का कृषि-वित्त के क्षेत्र में योगदान प्रारम्भ से ही बहुत कम रहा है। कुल कृषि-ऋण में इन बैंकों का योगदान 1950-51 में 0.9 प्रतिशत, 1961-62 में 0.6 प्रतिशत और 1969-70 में 5.3 प्रतिशत था। अभी तक ये बैंक अधिकतर शहरी लोगों की आवश्यकताएँ पूरी करते रहे हैं। किसान और खेती की ओर ये बहुत ही कम ध्यान दे पाते हैं। इसके अनेक कारण हैं—अनिश्चित खेती कृषि-क्षेत्र में छोटी-छोटी रकमों का लेन-देन, खेती के सम्बन्ध में पूरा एवं ठीक ढंग के हिसाब का न रखा जाना, किसानों के पास अच्छी जमानत का अभाव, ऋण की वापसी की गारंटी का न होना आदि।

किन्तु 1969 में 14 बड़े-बड़े व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद कृषि के लिए ऋण देने में इन बैंकों का योगदान बढ़ने लगा है। ग्रामीण क्षेत्रों में इन बैंकों की शाखाएँ खोलने तथा किसानों को अधिक मात्रा में ऋण देने के सिलसिले में देश में तेजी से कार्य चल रहा है। इस दिशा में देश ने प्रगति भी की है। उदाहरण के लिए 1969 और 1972 के तीन वर्षों में सार्वजनिक क्षेत्र के व्यावसायिक बैंकों की 4848 शाखाएँ खुलीं, जिनमें से कोई 60 प्रतिशत शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में खोली गयीं। इसी प्रकार इन बैंकों द्वारा कृषि के लिए मिली ऋण की रकम 1969 में 160 करोड़ रुपये थी, जो बढ़कर 1972 में 380 करोड़ रुपये के स्तर पर पहुँच चुकी थी। अतः कृषि वित्त का यह स्रोत अब धीरे-धीरे महत्वपूर्ण बनने लगा है।

**प्रादेशिक ग्रामीण बैंक :—(Regional Rural Bank):**—2 अक्टूबर, 1975 से देश के चुने हुए जिलों में प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों की स्थापना की गयी। आजकल इनकी संख्या 45 हो गयी है। ये छोटे-छोटे किसानों तथा कारीगरों को कर्ज प्रदान करते हैं।

**4. महाजन (Money lenders) :—**किसानों को ऋण प्रदान करने के निजी स्रोतों में सबसे महत्वपूर्ण स्थान महाजनों का है। संस्थागत स्रोतों की दृष्टि से भी इनका स्थान बहुत ऊँचा ठहरता है। ये महाजन दो प्रकार के होते हैं। पहले प्रकार के महाजन कुछ बड़े-बड़े किसान होते हैं जो कृषि के अतिरिक्त महाजनी का कार्य करते हैं। दूसरे प्रकार के महाजन पेशेवर महाजन (Professional Money-lenders) होते हैं। किसानों को दिये गए कुल ऋण में इनका भाग 1961-62 में 49.2 प्रतिशत था। इनके इस भाग में इधर कुछ कमी हुई है। फिर भी इनका स्थान काफी महत्वपूर्ण बना हुआ है। कृषकों की ऋण-सम्बन्धी

आवश्यकताएँ काफी बड़ी सीमा तक महाजनों द्वारा पूरी की जाती हैं।

इनकी इस प्रधानता का मुख्य कारण यह है कि गाँवों में ऋण देने वाली वैकल्पिक संस्थाओं या एजेंसियों का अभाव है। सहकारी साख समितियाँ और आधुनिक बैंक जैसी संस्थाएँ सस्ता ऋण देने का कार्य भली प्रकार कर सकती हैं। किन्तु अभी हाल तक सरकार की उपेक्षा की नीति, किसानों की अज्ञानता, खेती का अनिश्चित होना, किसानों के पास अच्छी जमानत का अभाव आदि बातों ने भी महाजनों के स्थान को महत्वपूर्ण बनाये रखा है और फिर इनकी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं जिनके फलस्वरूप ये अन्य एजेंसियों की तुलना में अधिक अनुकूल स्थिति में होते हैं और ऋण लेने वालों को भी कुछ विशेष सुविधाएँ मिलती हैं। उदाहरण के लिए, ये गाँवों के ही रहनेवाले होते हैं और ऋण लेने वालों के निकट सम्पर्क में होने के कारण इन्हें स्थानीय स्थिति और लोगों के विषय में हर प्रकार की पूरी जानकारी होती है। इनके कार्य करने के ढंग में पर्याप्त मात्रा में लोच होती है जिससे परिस्थितियों के अनुसार वे अपने को बदलते रहते हैं। इनके नियम सरल एवं परिवर्तनशील होते हैं और इनके काम का कोई निश्चित समय नहीं होता। लोग जब चाहे इनके पास आ-जा सकते हैं। ये किसी विशेष प्रकार की जमानत पर जोर नहीं देते और प्रायः हर बात के लिए उधार देने को तैयार रहते हैं। इन अनेक बातों के कारण कृषि-वित्त के क्षेत्र में महाजनों का स्थान महत्वपूर्ण बना रहा है, और काफी बड़ी सीमा तक अभी भी बना हुआ है।

लेकिन इनके कार्य और व्यवहार में अनेक गम्भीर दोष पाये जाते हैं। ये ऋण के उद्देश्य की ओर कोई ध्यान नहीं देते और बिना किसी विशेष जाँच-पड़ताल के सुगमता से ऋण दे देते हैं। इससे एक तो किसान आवश्यकता से अधिक उधार लेने में सफल हो जाते हैं और दूसरे उधार का बहुत बड़ा भाग उपभोग-सम्बन्धी कार्यों में लग जाता है। ऋण-ग्रस्तता के बढ़ाने में इनका विशेष हाथ रहा है। इसके अतिरिक्त महाजन अपेक्षाकृत बहुत अधिक व्याज लेते हैं। सामान्यतः व्याज की दर 15% से 50% तक होती है, और कभी-कभी तो इससे भी अधिक होती है। अधिक व्याज वसूलने के साथ-साथ किसानों की अज्ञानता का लाभ उठाकर प्रायः ऋण के हिसाब-किताब में भी गड़बड़ी की जाती है। प्रायः उधार की शर्तें ऐसी होती हैं कि ऋणी किसान को अपनी उपज सस्ते दामों में महाजनों के हाथ बेचनी पड़ती है और उनसे उपभोग व उत्पादन के लिए आवश्यक वस्तुएँ खरीदते समय उसे ऊँची कीमत



चुकानी होती है। कई अन्य ढंग से भी महाजन किसानों को गरीबी और लाचारी का अनुचित लाभ उठाने का प्रयास करते हैं।

### कृषि-साख का पुनर्संगठन (Re-organisation of Agricultural Credit)

इस प्रकार भारतीय कृषि के लिए साख का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु कृषि-साख की वर्तमान व्यवस्था दोषों से परिपूर्ण है; अतएव इसका पुनर्संगठन अनिवार्य है। ग्रामीण साख-सर्वेक्षण (All India Rural Credit Survey) के अनुसार ग्रामीण साख का प्रधान उद्देश्य कृषि की उपज में वृद्धि होना चाहिए। इसे किसानों की दीर्घ, मध्यम तथा अल्पकालीन सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए। (Rural credit must be directed principally towards improved production, it must meet long, medium as well as short term needs. It must be supervised, it must be available to all who are creditworthy and at a moderate rate of interest obviously, in the village itself no form of credit organisation will be suitable except the co-operative society. Co-operation has failed, but co-operation must succeed.) ग्रामीण साख सर्वेक्षण के इस वयान से भारतीय ग्रामीण साख के पुनर्संगठन का उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

सरकार आज कृषि-साख के पुनर्संगठन के लिए बहुत अधिक प्रयत्नशील है। इस उद्देश्य से समय-समय पर बहुत-सी समितियों की नियुक्ति की गयी जिन्होंने इस सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये। उदाहरण के लिए, गाडगिल समिति ने इस समस्या के समाधान के लिए प्रत्येक राज्य में एक कृषि-साख निगम (Agricultural Credit Corporation) की स्थापना की सिफारिश की थी। कृषि-सुधार समिति ने इस सम्बन्ध में यह बतलाया था कि सहकारी समितियों तथा भूमि बन्धक बैंकों द्वारा अल्प एवं दीर्घकालीन कर्ज की व्यवस्था की जानी चाहिए। इसी उद्देश्य से कृषि साख समितियों को सुसंगठित करने पर भी जोर दिया जा रहा है।

भारत में कृषि-साख के पुनर्संगठन के उद्देश्य से 1950 ई० में "ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति" (Rural Banking Enquiry Committee) ने कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये थे जिनमें निम्नलिखित विशेष महत्त्व के हैं:—

(क) समिति के अनुसार ग्रामीण ऋण को कम करना निस्सन्देह आवश्यक है, परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में कृषि-साख संस्थाओं का निर्माण ही अधिक

महत्वपूर्ण है। अतः इन्हें प्राथमिकता प्रदान करना नितान्त आवश्यक है। किन्तु देश के विभिन्न भागों में कृषि-साख की समस्या का स्वरूप एक समान नहीं है, अतः भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अल्पकालीन ऋण देनेवाली संस्थाओं में भी विभिन्नता पायी जाती है। फिर भी, इनका संगठन यथासंभव सहकारिता के आधार पर ही होना चाहिए।

(ख) समिति ने व्यावसायिक बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी शाखाएँ खोलने के लिए प्रोत्साहन करने की सिफारिश की थी। ऐसा करने से वे ग्रामीण जनता तक पहुँच सकते हैं। इस कार्य के लिए रिजर्व बैंक को सस्ती दर पर इन्हें सहायता देने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(ग) समिति के अनुसार ग्रामीण साख प्रदान करने के क्षेत्र में सहकारी समितियों को ही अधिकाधिक प्रोत्साहन प्रदान करना चाहिए।

(घ) किसानों को दीर्घ-कालीन साख प्रदान करने के उद्देश्य से समिति के अनुसार ऐसे क्षेत्रों में जहाँ इनका अभाव है, इनकी संख्या में वृद्धि नितान्त आवश्यक है।

इस प्रकार ग्रामीण बैंकिंग समिति ने कृषि-साख के पुनर्संगठन के लिए बहुत-से महत्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किया था।

### रिजर्व बैंक एवं ग्रामीण-साख का पुनर्संगठन (Reserve Bank and the Re-organisation of Rural Credit)

रिजर्व बैंक प्रारम्भ से ही कृषि-साख के पुनर्संगठन पर जोर देता रहा है। इस उद्देश्य से रिजर्व बैंक के अन्तर्गत एक पृथक् कृषि विभाग (Agricultural Credit Department) की स्थापना की गयी है जिसके प्रधान कार्य इस प्रकार से हैं:—(1) कृषि-साख-सम्बन्धी विभिन्न प्रश्नों की जाँच के लिए विशेषज्ञों की व्यवस्था; (2) सहकारी साख एवं सहकारी समितियों के प्रबन्ध में केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों को परामर्श देना; (3) कृषि-पदार्थों के उत्पादन एवं अन्य कृषि-सम्बन्धी क्रियाओं के लिए प्रान्तीय सहकारी बैंकों के माध्यम से कर्ज प्रदान करना। रिजर्व बैंक ने प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओं में नियमन, नियन्त्रण एवं सहायता द्वारा सहकारिता आन्दोलन के विकास को बहुत अधिक प्रोत्साहित किया है। सहकारी बैंकों को रिजर्व बैंक द्वारा दिया गया ऋण 1955-56 ई० में 14 करोड़ रुपये से बढ़कर 1961-62 ई० में 107 करोड़ रुपये हो गया।

ग्रामीण-साख सर्वेक्षण समिति (Rural Credit Survey Committee):—ग्रामीण-साख की समुचित व्यवस्था के लिए रिजर्व बैंक ने 1951 ई० में श्री वी० डी० गोरवाला की अध्यक्षता में एक ग्रामीण साख



सर्वेक्षण समिति की नियुक्ति की जिसकी सिफारिशें सन् 1954 ई० के सितम्बर माह में प्रकाशित हुईं। समिति ने इस सम्बन्ध में बहुत-से महत्वपूर्ण सुझाव सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किये थे। देश में ग्रामीण साख की समुचित व्यवस्था करने के लिए सहकारी समितियों को महत्वपूर्ण बतलाया गया। साथ ही, समिति ने सहकारी साख एवं विक्रय समितियों के समायोजन पर भी जोर दिया था। कृषि-साख के पुनर्संगठन के लिए समिति की सिफारिशें निम्नांकित तीन सिद्धान्तों पर आधारित हैं :—

(1) कृषि-साख संगठन के प्रत्येक स्तर पर सहकारी सहयोग आवश्यक है;

(2) साख तथा अन्य ग्रामीण आर्थिक क्रियाओं में पूर्ण समन्वय हो; तथा

(3) ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं के प्रति जागरूक, प्रशिक्षित एवं कुशल कार्यकर्ताओं द्वारा इन योजनाओं का प्रशासन हो।

इनके अतिरिक्त समिति ने निम्नांकित संस्थाओं की स्थापना के लिए सरकार से सिफारिश की थी :—रिजर्व बैंक के अन्तर्गत :—

दीर्घकालीन साख प्रदान करने के लिए—(क) राष्ट्रीय कृषि-साख (दीर्घकालीन) कोष [National Agricultural Credit (Long Term Operation) Fund] स्थापित किया जाय, जिसकी प्रारम्भिक पूँजी 5 करोड़ रुपये होगी तथा जिसमें प्रतिवर्ष 5 करोड़ रुपये और रहे जायें; तथा

(ख) राष्ट्रीय कृषि-साख सुस्थिरीकरण कोष [National Agricultural Credit (stabilization) Fund] जिसमें प्रतिवर्ष 1 करोड़ रुपया रखा जाय।

कृषि एवं खाद्य मन्त्रालय (Ministry of Food and Agriculture) के अधीन राष्ट्रीय कृषि-साख (सहायता एवं गारण्टी) कोष (National Agricultural (Credit Relief and Guarantee) Fund] जिसमें 1 करोड़ रुपया प्रतिवर्ष रखा जाय।

ये तीनों कोष नयी कृषि-साख व्यवस्था के आधार स्तम्भ का कार्य करेंगे। साथ ही, ये संकटकाल में सहायता एवं सहयोग द्वारा ग्रामीण साख-व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करेंगे।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (State Bank of India) :—ग्रामीण क्षेत्रों में साख की समुचित व्यवस्था के लिए समिति ने इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया तथा अन्य 12 बैंकों को मिलाकर एक स्टेट बैंक की स्थापना का सुझाव दिया था, जिसकी स्थापना 1 जुलाई, 1955 ई० को हुई। इसके तत्त्वावधान में समिति ने एक एकी-

करण एवं विकास कोष की स्थापना का सुझाव दिया था।

प्रत्येक राज्य सरकार के अधीन—

(क) राज्य कृषि-साख (सहायता और गारण्टी) कोष, तथा

(ख) राज्य सहकारिता विकास कोष।

प्रत्येक राज्य सहकारी बैंक तथा केन्द्रीय सहकारी बैंक के अधीन

कृषि-साख (सुस्थिरीकरण) कोष।

ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने अपने प्रतिवेदन में कृषि-साख के क्षेत्र में रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक, राज्य सरकारों, सहकारी संस्थाओं तथा अन्य संस्थाओं का क्या भाग होना चाहिए, आदि के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है तथा आवश्यकतानुसार सुझाव भी प्रस्तुत किया है। समिति की अधिकांश सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार कर लिया तथा इस कार्य के लिए विभिन्न संस्थाओं की स्थापना भी की जा चुकी है।

पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि-साख

(Agricultural Credit in Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में सरकार तथा सहकारी संस्थाओं द्वारा 1955-56 ई० तक 126 करोड़ रुपये कृषि-साख प्रदान करने का आयोजन था, किन्तु योजना के इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकी तथा केवल 43 करोड़ रुपये की कृषि-साख ही प्रदान की जा सकी। इसमें से 30 करोड़ रुपये अल्पकालीन, 10 करोड़ रुपये मध्यकालीन तथा 3 करोड़ रुपये दीर्घकालीन ऋण के रूप में दिया गया था।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सरकार तथा सहकारी समितियों द्वारा कुल 215 करोड़ रुपये कृषि-साख प्रदान की गयी जिसमें अल्पकालीन एवं मध्यकालीन साख की मात्रा 203 करोड़ रुपये तथा दीर्घकालीन साख की मात्रा केवल 12 करोड़ रुपये थी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में सरकार तथा सहकारी समितियों द्वारा कुल 675 करोड़ रुपये कृषि-साख के रूप में देने की व्यवस्था थी जबकि वास्तव में 565 करोड़ रुपये प्रदान किये गये। इसमें से दीर्घ एवं मध्यकालीन साख की मात्रा 450 करोड़ रुपये तथा अल्पकालीन साख की मात्रा 115 करोड़ रुपये थी।

इसी प्रकार चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) के अन्तिम वर्ष में सरकार तथा सहकारी समितियों द्वारा कुल 1450 करोड़ रुपये कृषि-साख प्रदान करने का आयोजन था। इसमें से 750 रुपये अल्प एवं मध्यकालीन साख तथा 700 करोड़ रुपये दीर्घकालीन साख की मात्रा थी।



पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत दी गयी कृषि साख की मात्रा का अन्दाजा निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है :—

पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि-साख (करोड़ रुपये में)

| साख की प्रकृति                 | प्रथम योजना<br>(अन्तिम वर्ष) | द्वितीय योजना<br>(अन्तिम वर्ष) | तृतीय योजना<br>(अन्तिम वर्ष) | चतुर्थ योजना<br>(अन्तिम वर्ष) | पाँचवीं योजना<br>(प्रस्तावित) |
|--------------------------------|------------------------------|--------------------------------|------------------------------|-------------------------------|-------------------------------|
| अल्पकालीन एवं<br>मध्यकालीन साख | 40                           | 203                            | 450                          | 750                           | 1625                          |
| दीर्घकालीन साख                 | 3                            | 12                             | 115                          | 700                           | 1500                          |
| कुल                            | 43                           | 215                            | 565                          | 1450                          | 3125                          |

इससे स्पष्ट है कि चतुर्थ योजना के अन्त में सहकारी संस्थाओं द्वारा देश की ग्रामीण साख की कुल आवश्यकताओं का एक बहुत बड़ा भाग पूरा किया जाने लगा था जबकि 1951-52 ई० में इनके द्वारा कुल साख की आवश्यकताओं का केवल 31 प्रतिशत भाग ही पूरा किया गया था।

कृषि पुनर्वित्त निगम

(Agricultural Re-Finance Corporation)

भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि एवं सिंचाई पर सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोग निरंतर बढ़ रहा है किन्तु जबतक साथ-ही-साथ निजी विनियोग में भी वृद्धि नहीं होगी तबतक सार्वजनिक विनियोग द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता। भारत में अबतक भूमि-बन्धक बैंक ही किसानों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करते रहे हैं लेकिन उनके साधनों की कमी से इस क्षेत्र में बहुत अधिक सहायता नहीं मिल पाती है। साथ ही, इस प्रकार के बैंक मुख्यतः पुराने कर्जों को चुकाने तथा भूमि खरीदने या इसमें सुधार के लिए ही कर्ज प्रदान करते हैं। अतएव बदलती हुई परिस्थितियों में बड़े पैमाने पर कृषि की व्यवस्था आवश्यक प्रतीत हुई। इसलिए भारत में किसानों को दीर्घकालीन वित्त प्रदान करने के उद्देश्य से भारत सरकार द्वारा 1 जुलाई, 1963 ई० को कृषि पुनर्वित्त-निगम नामक एक निगम का निर्माण हुआ। इसकी अधिकतम पूँजी में 25 करोड़ रुपये की है जो 10,000 रुपये के 25 हजार हिस्सों में विभाजित है। इसमें प्रारम्भ में केवल पाँच करोड़ रुपये के 5000 हिस्से जारी किये गये थे जिनमें से 2500 हिस्से रिजर्व बैंक, द्वारा, 1500 हिस्से केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों द्वारा एवं शेष जीवन बीमा निगमों, अनुसूचित बैंकों तथा अन्य बीमा एवं विनियोग संस्थाओं द्वारा खरीदे गये हैं। निगम की व्यवस्था 9 सदस्यों के एक संचालक मण्डल के द्वारा की जाती है जिसमें अध्यक्ष रिजर्व बैंक के कृषि-साख-विभाग के डिप्टी गवर्नर है। निगम भूमि-बन्धक बैंक जैसी किसानों को दीर्घकालीन साख प्रदान करनेवाली संस्थाओं के केन्द्रीय बैंक की तरह

कार्य करता है। यह इस प्रकार की संस्थाओं को सुविधाजनक दरों पर ऋण प्रदान करता है। यह उन्हीं बड़े-बड़े कार्यों के लिए ऋण प्रदान करता है जिन्हें केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक अथवा सहकारी बैंक अपने साधनों से पूरा नहीं कर सकते, जैसे भूमि का पुनरुद्धार, बगानों तथा विशेष प्रकार की फसलों की खेती के लिए, ट्यूबवेल, पम्पिंग सेट क्रय करने के लिए तथा पशु-धन एवं दुग्धशाला आदि का विकास। यह इन संस्थाओं को ऋण भी प्रदान कर सकता है अथवा इनके ऋण-पत्र आदि खरीदता है। यह रिजर्व बैंक के सहयोग में कार्य करता है।

उद्देश्य एवं कार्य प्रणाली—कृषि पुनर्वित्त निगम का प्रमुख कार्य कृषि के विकास से सम्बन्धित बड़े कार्यक्रमों के लिए पुनर्वित्त की सुविधा प्रदान करना है क्योंकि भूमि-बन्धक बैंक अथवा राज्य सहकारी बैंक वित्त की मात्रा अथवा अदायगी की शर्तों के कारण इन कार्यक्रमों में पूँजी नहीं लगा सकते हैं। निगम का कार्य सघन (Compact), आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद एवं गहन रूप से देखभाल के लायक होने वाली योजनाओं पर विचार करना है। यह निम्न कार्यों के लिए सहायता देता है—

(क) भूमि को कृषि-योग्य बनाने (Reclamation) एवं तैयार करने के लिए वित्त प्रदान करना जिससे सिंचाई की सुविधाओं का पूर्ण रूप से प्रयोग किया जा सके।

(ख) विशेष प्रकार की फसलों जैसे सुपारी (arecanut), नारियल, काजू, इलायची, फलों के बाग, अंगूर के उद्यान आदि के विकास के लिए वित्तीय सुविधा देना।

(ग) यन्त्रीकृत खेती के लिए विकास, ट्यूब-वेल एवं पम्प सेट आदि द्वारा बिजली का प्रयोग करना। निगम मान्यता-प्राप्त संस्थाओं (eligible institutions) के द्वारा विदेशों से खरीदे जाने वाले पूँजी गत मालों के सम्बन्ध में स्थगित भुगतान पर गारण्टी देने का कार्य भी करेगा।



(घ) पशु-पालन, दुग्ध आपूर्ति, मत्स्य पालन तथा मुर्गीपालन के लिए भी सहायता दे सकता है।

इस अधिनियम के अन्तर्गत निगम से निर्मांकित संस्थाओं की सुविधाएँ मिल सकेगी जिससे कृषि, पशुपालन, दुग्ध-व्यवसाय, मछली उद्योग व मुर्गी-पालन के विकास के लिए मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन साख की सुविधा बढ़ जायगी : (क) केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक, (ख) राज्य सहकारी बैंक, (ग) अनुसूचित बैंक, और (घ) सहकारी समितियाँ। उपरोक्त संस्थाओं को यह निगम पूनवित्त के रूप में ऋण एवं अग्रिम (loans and advances) देगा तथा इनके ऋण-पत्र खरीदेगा। ऋण एवं ऋण-पत्रों का भुगतान अधिक-से-अधिक 25 वर्षों की अवधि में करना होगा। इनके मूलधन व व्याज पर सरकार की गारण्टी आवश्यक होगी लेकिन साथ में पर्याप्त जमानत (adequate collateral security) के होने पर निगम इस शर्त को टाल भी सकता है। निगम रिजर्व बैंक के निकट सहयोग में काम करेगा। इसका प्रधान कार्यालय बम्बई में होगा। यह आवश्यकता पड़ने पर अन्य स्थानों पर अपनी शाखाएँ भी खोल सकेगा।

निगम को 12 महीने से अधिक की अवधि के लिए जमा (deposits) स्वीकार करने का अधिकार दिया गया है। इसे वॉण्ड या ऋणपत्र बेचने का भी अधिकार प्राप्त है। निगम अपनी प्रदत्त पूँजी एवं रिजर्व कोष के 20 गुने तक की राशि उधार ले सकेगा। निगम की कार्यशील पूँजी में वृद्धि करने के लिए यह व्यवस्था की गयी है कि रिजर्व बैंक अपने शेयरों के लाभांश को 15 वर्ष तक बिना व्याज के विशेष जमा के रूप में निगम के पास रखेगा।

मार्च, 1974 तक निगम ने 716.8 करोड़ रुपये के 1242 विकास-सम्बन्धी कार्यक्रमों को स्वीकार किया था। इनमें से लघु सिंचाई के विकास के लिए 622 करोड़ रुपये, भूमि-सुधार के लिए 87 करोड़ रुपये तथा अल्प कार्यक्रमों के लिए 103 करोड़ रुपये की रकम स्वीकार की गयी थी।

**कृषि-वित्त निगम लिमिटेड (Agricultural Finance Corporation Ltd) :**—कृषि-वित्त निगम लिमिटेड नामक एक निगम अप्रैल, 1963 में स्थापित किया गया। इसकी अधिकृत पूँजी 100 करोड़ रुपये और परिदत्त पूँजी 5 करोड़ रुपये है। इसका रजिस्ट्रेशन सार्वजनिक लिमिटेड कम्पनी के रूप में किया गया है। यह व्यावसायिक बैंकों को कृषि-साख बढ़ाने में सहयोग प्रदान करता है। राज्य सरकारों या सदस्य बैंकों से प्राप्त कृषि-कार्यक्रमों या स्वयं कम्पनी द्वारा निर्मित कार्यक्रमों की तकनीकी जाँच व मूल्यांकन किया जाता है। फिर ऋण के पुनर्भुगतान के आधार पर वितरित किये जाते हैं। इस प्रकार कम्पनी का मुख्य कार्य कृषि-साख को प्रोत्साहित करना है जिसमें

इसकी भूमिका सहायनीय रही है। यह ऋणों के उचित उपयोग की भी देखभाल करता है। निगम प्रत्यक्ष रूप से वित्तीय व्यवस्था केवल उन कृषि-कार्यों के लिए करेगा जो तकनीकी दृष्टि से ऊँची श्रेणी में आते हों यह नयी दिशा एवं साख के नये प्रतिमान (Pattern) स्थापित करेगा।

कृषि-वित्त निगम लिमिटेड ने राज्य बिजली बोर्डों, केरल वगान निगम लिमिटेड आदि को भी ऋण प्रदान किये हैं। इसने सदस्य बैंकों को पिछड़े हुए प्रदेशों में जाने के लिए प्रेरित किया है। निगम की सहायता से पम्प-सेटों की खरीद हुई है। अच्छी किस्म के पम्प-सेटों का प्रचार बढ़ रहा है। निगम ने इनकी अच्छी किस्म, उचित मूल्य एवं विक्री के बाद की सेवाओं पर समुचित ध्यान दिया है।

निगम ने विभिन्न साख प्रदान करने वाली संस्थाओं में समन्वय स्थापित कर एक समन्वयात्मक एजेंसी का कार्य किया है।

इसकी अधिकांश परिदत्त पूँजी राज्य विद्युत बोर्डों में लगी हुई है। अतः भविष्य में स्वीकृत ऋणों की सम्पूर्ण राशि सदस्य बैंकों के द्वारा ही प्रदान की जायगी।

14 राष्ट्रीयकृत बैंक इस निगम की 86 प्रतिशत शेयर पूँजी में हिस्सेदार हैं। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद इस निगम का सार्वजनिक स्वरूप और भी उभर कर सामने आया है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि कृषि-साख के क्षेत्र में विकास एजेंसी की भूमिका निभाने की दृष्टि से कृषि-वित्त निगम लिमिटेड का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। कृषि-विकास की नयी नीति के लागू हो जाने से बड़े-बड़े कृषकों के द्वारा पम्प-सेट आदि की माँग तेजी से बढ़ रही है। इन परिस्थितियों में व्यावसायिक बैंकों के द्वारा कृषि-साख को बढ़ावा देने के कार्य में इस निगम ने पर्याप्त सहायता पहुँचाई है। आशा है, भविष्य में इसका कार्य और भी प्रगति करेगा। बैंकिंग आयोग (Banking Commission) ने अपने प्रतिवेदन में कृषि-पुनर्वित्त निगम एवं कृषि-वित्त निगम को परस्पर मिला देने का सुझाव दिया है।

**निष्कर्ष :**—भारत गाँवों का देश है। कृषि यहाँ का मुख्य व्यवसाय है। कृषि-प्रधान देश होने के कारण भूमि एक बहुमूल्य सम्पत्ति है। ऐसी स्थिति में एक कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य इसे अधिकतम उत्पादन के लिए प्रयोग करना होना चाहिए जिससे जनसाधारण के जीवन-स्तर में सुधार हो सके। इससे भारतीय गाँवों का विकास होगा तथा देश की आर्थिक व्यवस्था अधिक सुदृढ़ होगी। इस उद्देश्य की पूर्ति में कृषि-साख के साधनों का



बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। हर्ष का विषय है कि सरकार कृषि-साख की व्यवस्था को एक संगठित आधार प्रदान करने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील है। रिजर्व बैंक द्वारा बड़े पैमाने पर साख-सर्वेक्षण के लिए पुनः निकट भविष्य में एक समिति की नियुक्ति की आशा की जाती है। इस बीच कृषि-साख के संगठन के लिए निम्नांकित सुझाव दिये जा सकते हैं :—

- (1) किसानों को दीर्घकालीन कर्ज प्रदान करने के लिए प्रत्येक राज्य में एक राज्य कृषि-साख निगम (State Agricultural Credit Corporation) की स्थापना की जाय।
- (2) सहकारी साख समितियों तथा भूमि-बन्धक बैंकों को पुनः संगठित किया जाय।
- (3) सरकार द्वारा दिये जानेवाले ऋणों को अधिक सुलभ बनाया जाय।
- (4) प्रचार के द्वारा किसानों को अनुत्पादक कार्यों के लिए कर्ज लेने की प्रवृत्ति को कम किया जाय तथा उन्हें साख के उचित उपयोग की शिक्षा भी दी जाय।

उपरोक्त उपायों द्वारा ग्रामीण कर्ज का उचित प्रबन्ध हो सकता है।

### ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या (Problem of Rural Indebtedness)

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय कृषि एवं किसानों के समक्ष आज जितनी भी समस्याएँ हैं उनमें ग्रामीण ऋणग्रस्तता एक प्रमुख समस्या है।

ग्रामीण ऋण की मात्रा का अनुमान (Magnitude of Rural Debts)—भारतीय ग्रामीण ऋणग्रस्तता के सम्बन्ध में समय-समय पर विभिन्न अनुमान लगाये गये हैं। ग्रामीण ऋण का अनुमान लगाने का सर्वप्रथम प्रयास Deccan Riots Commission ने 1875 ई० में किया था। इस आयोग के अनुसार देश के प्रायः एक-तिहाई किसान ऋणग्रस्त थे तथा प्रति किसान ऋण का औसत 371 रुपये था। 1880 ई० में दक्षिण आयोग (Famine Commission) ने सम्पूर्ण देश से प्रमाण जमा करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला था कि भारत में कृषक वर्ग के लगभग एक-तिहाई व्यक्ति कर्ज में डूबे हुए हैं और कम-से-कम इतने ही लोग और हैं जो ऋण-ग्रस्त तो हैं पर ऐसे नहीं कि पुनः अपनी स्थिति नहीं सुधार सकते। 1895 ई० में निकोलसन (Nicholson) ने मद्रास के ग्रामीण ऋण की मात्रा का अनुमान 45 करोड़ रुपये लगाया था। इसी आधार पर 1911 ई० में मैकलैगन (MacLagan) ने सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत के ग्रामीण कर्ज का अनुमान 300 करोड़ रुपये लगाया था। 1925 ई० में श्री एम० एल० डालिंग ने पंजाब के ग्रामीण

ऋण के आधार पर सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत के ग्रामीण ऋण का अनुमान 600 करोड़ रुपये लगाया था। 1929 ई० में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने प्रांतीय बैंकिंग जाँच समितियों द्वारा एकत्र आँकड़ों के आधार पर सम्पूर्ण भारत के ग्रामीण ऋण को 900 करोड़ रुपये बतलाया था। विभिन्न प्रांतीय बैंकिंग जाँच समितियों ने भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लिए ग्रामीण ऋण-सम्बन्धी निम्नलिखित व्योरा दिया था—बम्बई एवं सिन्ध 81 करोड़ रुपये, मद्रास—1450 करोड़ रुपये, बंगाल—100 करोड़ रुपये, उत्तर प्रदेश—123 करोड़ रुपये, पंजाब—135 करोड़ रुपये, मध्य प्रदेश तथा बरार—36.15 करोड़ रुपये; बिहार तथा उड़ीसा—115 करोड़ रुपये, असम—22 करोड़ रुपये तथा केन्द्रीय प्रदेश—18 करोड़ रुपये। ये आँकड़े अधिक व्यापक अवश्य हैं लेकिन इनकी सत्यता के सम्बन्ध में अनुमान लगाना कठिन है। 1935 में डॉक्टर राधा कमल मुखर्जी के अनुसार भारत का ग्रामीण कर्ज 1200 करोड़ रुपये था। इसी प्रकार 1937 ई० में रिजर्व बैंक के कृषि-साख विभाग ने ग्रामीण ऋण का अनुमान 1000 करोड़ रुपये लगाया था।

किन्तु 1939-40 ई० के बाद द्वितीय महायुद्ध काल में कृषि-पदार्थों के मूल्य में बहुत अधिक वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप किसानों की आय में भी वृद्धि हुई। आय में वृद्धि का प्रभाव ऋणग्रस्तता पर क्या पड़ा यह कहना विश्वसनीय आँकड़ों के अभाव में कठिन है। लेकिन जीवन की आवश्यक वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि के कारण किसान इस बढ़ी हुई आय का प्रयोग ऋण-भुगतान के लिए विशेष रूप में नहीं कर सके। 1945 ई० के बंगाल अकाल आयोग के अनुसार छोटे-छोटे किसानों को इस मूल्य-वृद्धि से कोई विशेष भौतिक लाभ नहीं हुआ। लेकिन रिजर्व बैंक ने 1942 ई० में यह बतलाया कि ऋणी किसानों ने या तो अपनी बढ़ी हुई आय से या अपनी भूमि के एक भाग को बेचकर अपने अधिकांश पुराने ऋणों का भुगतान कर दिया था। जो भी हो, इतना अवश्य है कि मूल्य वृद्धि का प्रस्ताव ऋणग्रस्तता पर बहुत व्यापक रूप में नहीं पड़ा। इस सम्बन्ध में 1950 ई० में ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति ने यह बतलाया कि "मूल्य-वृद्धि से देश के केवल मुट्ठी भर जमींदारों को ही लाभ हुआ। गाँवों की विशाल बहुसंख्या को तो इससे बिल्कुल ही कोई लाभ नहीं हुआ।"<sup>1</sup>

ग्रामीण साख सर्वेक्षण (All India Rural Credit Survey) के प्रतिवेदन में 1951-52 ई० में ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य दिये गये हैं। सर्वेक्षण के अनुसार देश के कुल 63.3 प्रतिशत ग्रामीण परिवार ऋणग्रस्त थे। यद्यपि ऋण की मात्रा में प्रत्येक जिले में बहुत बड़ी विषमता पायी जाती थी, फिर भी प्रति परिवार औसत ऋण की मात्रा 283 रुपये थी। छोटे-छोटे किसानों पर ऋण की मात्रा



कम तथा बड़े-बड़े किसानों पर अधिक थी। ऋण की अवधि में भी अन्तर था। कुल ऋण का 82.4 प्रतिशत भाग 3 साल तथा इससे कम के लिए था। इसी प्रकार कुल ऋण का 7.3 प्रतिशत भाग 3 से 5 वर्ष तक के लिए, 5.3 प्रतिशत 5 से 10 वर्ष के लिए, 3.9 प्रतिशत भाग 10 वर्ष से अधिक के लिए तथा केवल 1.1 प्रतिशत ऋण के सम्बन्ध में कोई अवधि निश्चित नहीं की गयी थी। इससे स्पष्ट है कि कुल ऋण का लगभग 4/5 भाग तीन वर्ष अथवा इससे कम के लिए था।

भारत में ग्रामीण ऋणग्रस्तता भारतीय किसानों की दीर्घ एवं अनवरत (Chronic) निर्धनता एवं कृषि की अविकसित स्थिति के परिणामस्वरूप ही पायी जाती है। निर्धनता एवं कृषि की अविकसित स्थिति के कारण भारतीय कृषक अपने पेशे की आकस्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी कुछ नहीं बचा पाता जिससे उसे कर्ज लेना पड़ता है।

#### ग्रामीण ऋणग्रस्तता के कारण (Causes of Rural Indebtedness)

भारतीय ग्रामीण ऋणग्रस्तता के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं :—

(1) भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक बोझ—भारत में अधिकांश व्यक्ति कृषि पर ही आश्रित हैं। जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि तथा उद्योग-धन्धे के अभाव के फलस्वरूप कृषि पर जनसंख्या का दबाव निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। अतः किसानों की औसत आय घटती जाती है। चूंकि अपनी आय से किसानों का काम नहीं चलता, अतः विवश होकर उन्हें कर्ज लेना पड़ता है। कर्ज के साथ-साथ इनकी निर्धनता और भी बढ़ती जाती है जिससे ये कर्ज चुकाने में बहुधा असमर्थ सिद्ध होते हैं।

(2) जोतों का अत्यधिक उपविभाजन एवं अपखण्डन (Excessive Subdivision and Fragmentation of Holdings)—जनसंख्या की वृद्धि तथा पैतृक सम्पत्ति सम्बन्धी नियमों के कारण किसानों की जोतों का उप-विभाजन निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। इससे किसानों की जोत एक आर्थिक इकाई नहीं रह जाती जिससे कृषि-पूर्वी और श्रम की बड़ी बर्बादी होती है तथा उपज भी पर्याप्त नहीं होती। अतः किसानों को कर्ज लेने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

(3) कुटीर उद्योगों का पतन तथा सहायक उद्योग-धन्धों का अभाव—भारतीय किसानों को कृषि-कार्य में वर्ष भर कार्य नहीं मिलता। वर्ष के कुल तीन-चार महीनों के अतिरिक्त वे प्रायः बेकार ही रहते हैं। इस समय में अगर उन्हें कोई पूरक धन्धा रहता तो इनकी आय में वृद्धि होती। लेकिन ब्रिटिश शासन-काल में देश के कुटीर उद्योगों के पतन के फलस्वरूप पूरक आय का कोई साधन नहीं

रह गया। अतः किसानों को बाध्य होकर ऋण लेना पड़ता है। श्री एम० एल० डार्लिंग (M. L. Darling) ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है “बिना ऋण लिए कुछ एकड़ भूमि पर किसी परिवार का पालन-पोषण करने के लिए बुद्धि, परिश्रम तथा मितव्ययिता की आवश्यकता होती है जो प्रायः गमं देशों में नहीं पायी जाती।”

(4) किसान तथा उसके पशु-धन की अस्वस्थता—भारतीय किसान सर्वदा तरह-तरह की बीमारियों का शिकार बना रहता है। कृषि के मौसम में विशेषकर मलेरिया आदि रोग उसे काम करने से असमर्थ बना देते हैं। इन रोगों के कारण किसानों की कार्यक्षमता कम हो जाती है। साथ ही दवा-दारू आदि के लिए भी उन्हें कर्ज लेना पड़ता है। पशुओं की अस्वस्थता भी इसके लिए कम उत्तरदायी नहीं है। किसान के मवेशी पर्याप्त चारे के अभाव में केवल खाल और हड्डी के थैले मात्र ही रह जाते हैं। अधिकांश तो मवेशी रोग आदि के फल-स्वरूप मर भी जाते हैं। किसानों को अन्य साधनों के अभाव में इन्हें खरीदने के लिए ऋण लेना पड़ता है। इस प्रकार ग्रामीण ऋणग्रस्तता का यह भी एक प्रमुख कारण है।

(5) फसलों की अनिश्चितता (Insecurity of harvests)—भारतीय कृषि मौनसून के साथ जुबाजी की तरह है। इससे फसलों का होना अनिश्चित रहता है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि पंचवर्षीय कृषि-चक्र में एक अच्छा, एक बुरा और तीन साधारण वर्ष होते हैं। जिस वर्ष फसल नष्ट हो जाती है उस वर्ष किसानों को कर्ज लेना पड़ता है। केवल अच्छे वर्ष में ही वह अपने को ऋण-मुक्त रख सकता है। इस प्रकार ऋण की मात्रा को बढ़ाने में फसलों की अनिश्चितता का भी बड़ा हाथ है।

(6) सामाजिक एवं धार्मिक रीति-रिवाज :—यद्यपि एक औसत भारतीय किसान साधारणतया मितव्ययिता एवं संयम का जीवन व्यतीत करता है, फिर भी सामाजिक एवं धार्मिक रीति-रिवाजों में अटूट श्रद्धा रखने के कारण वह विशेष अवसरों पर दिल खोल कर खर्च करता है जिससे ऋणग्रस्तता की मात्रा बढ़ती जाती है। लेकिन इन खर्चों को उसके ऋण का मूल कारण समझना उचित नहीं जान पड़ता। प्रायः यह देखा जाता है कि शादी तथा श्राद्ध की तुलना में भोजन एवं अन्य आवश्यक वस्तुओं—जैसे—बीज, मवेशी, खाद तथा औजार आदि के लिए किये जाने वाले ऋण ही किसानों के ऋण को बढ़ाने में अधिक सहायक होते हैं। फिर भी, इस प्रकार के अप-व्यय का प्रभाव ग्रामीण ऋणग्रस्तता पर कम नहीं पड़ता।

(7) मुकदमेबाजी से अत्यधिक प्रेम—अत्यधिक मुकदमेबाजी भी ग्रामीण ऋणग्रस्तता का एक प्रमुख कारण in India, 1939-46, p. 49.



है। भारतीय किसान मुकदमेबाजी से विशेष प्रेम रखते हैं। इसलिए मुकदमेबाजी को भारतवासियों का राष्ट्रीय खेल कहना कोई अत्युक्ति नहीं होगी। हमारे देश की न्याय पद्धति एवं भूमि की प्रथा भी इसे बढ़ाने के लिए बहुत हद तक उत्तरदायी है। मुकदमेबाजी में अधिक खर्च के लिए किसानों को ऋण लेना पड़ता है। लेकिन इसे ग्रामीण ऋण का एक छोटा कारण ही समझना चाहिए।

(8) कृषि का आत्मपूर्ण पेशा नहीं होना :—भारतीय किसान कृषि को जीवन-यापन का एक ढंग-मात्र (way of life) समझता है। वह उसे व्यापार या लाभकारी पेशा (Profitable occupation) समझ कर कार्य नहीं करता। भारतीय किसान निराशावादी होता है और कृषि कार्य में उसका अन्तिम उद्देश्य लाभ का उपार्जन करना नहीं होता। अतः वह अत्यधिक परिश्रम नहीं करता, जिससे कृषि-कार्य आत्मपूर्ण पेशा नहीं रह पाता है। फलस्वरूप किसानों को बाध्य होकर कर्ज लेना पड़ता है।

(9) पैतृक ऋण :—ग्रामीण ऋणग्रस्तता का एक प्रमुख कारण पैतृक ऋण भी है जो उचित प्रतिबन्ध के अभाव में बाप से बेटे को हस्तांतरित होता रहा है। भारतीय किसान पर पैतृक ऋण का असह्य बोझ है। इसीलिए कहा जाता है कि 'एक औसत भारतीय किसान ऋण में जन्म लेता है; ऋण में ही पलता है और ऋण का बोझ विरासत के रूप में अपने उत्तराधिकारियों पर छोड़कर मर जाता है।' अज्ञानता के फलस्वरूप किसान पैतृक ऋण का सम्मान करता है तथा उसे चुकाना अपना नैतिक एवं पवित्र कर्तव्य समझता है। वह इस सम्बन्ध में यह नहीं जानता कि उत्तराधिकारियों को तभी ऋण चुकाना पड़ता है जब वह मृतक व्यक्तियों की सम्पत्ति प्राप्त करता हो। इस हालत में भी उसकी देनदारी प्राप्त सम्पत्ति के मूल्य तक ही सीमित रहती है। इस प्रकार अज्ञानता तथा परम्परा के कारण ऋण का बोझ पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ते जाता है। भारतीय ग्रामीण ऋण का अधिकतर भाग पैतृक ऋण ही है।

(10) महाजन तथा अत्यधिक व्याज :—ग्रामीण ऋण का एक प्रमुख कारण महाजनों की शोषण की नीति भी है। महाजन ऋणी किसानों पर तरह-तरह के अत्याचार करते हैं तथा ऋण की मात्रा को बढ़ाते जाते हैं। इनके कार्यों पर कोई विशेष प्रतिबन्ध भी नहीं रहता। महाजनों की नीति इस प्रकार की होती है कि एक बार इनके चंगुल में फँस जाने पर किसानों के लिए छुटकारा पाना प्रायः असम्भव-सा हो जाता है। ये बहुत अधिक व्याज भी लेते हैं। कभी-कभी ये किसानों से चक्रवृद्धि दर से व्याज वसूल करते हैं। डॉलिङ्ग ने महाजनों द्वारा किसानों के इस शोषण का वर्णन करते हुए कहा है कि "किसान अपने लाभ से उसी प्रकार से वंचित कर दिये जाते हैं।

जिस प्रकार भेड़ अपने ऊन से वंचित कर दिये जाते हैं।" (The raiyat was as easily shorn of his gains as the sheep of its fleece.) इस प्रकार अत्यधिक सूद को दर तथा महाजनों की शोषक नीति का भी ऋण के बोझ बढ़ाने में कम हाथ नहीं है।

(11) लगान की दोषपूर्ण नीति :—भारतीय किसानों को बहुधा अधिक लगान देना पड़ता है। साथ ही, लगान वसूल करने का तरीका भी कठिन है। अकाल पड़ने, फसल के मर जाने या कम होने के बावजूद लगान की मात्रा में किसी प्रकार की कमी नहीं होती। अतः लगान के अत्यधिक होने तथा इसके वसूलने की कठोरता ग्रामीण कर्ज का एक प्रमुख कारण है। किसान कर्ज लेकर लगान चुकाता है और इस प्रकार कर्ज का बोझ निरन्तर बढ़ते जाता है। जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् मालगुजारी वसूलने की रीति में कुछ परिवर्तन की आशा की जाती थी। किन्तु समय ने इन सारी आशाओं को मिथ्या सिद्ध कर दिया है।

### ऋणग्रस्तता के परिणाम

#### (Effects of Rural Indebtness)

ऋणग्रस्तता का प्रभाव केवल किसानों के आर्थिक जीवन पर ही नहीं, वरन् सामाजिक तथा नैतिक जीवन पर भी पड़ता है। उत्पादक उद्देश्यों से लिया गया कर्ज किसानों की समृद्धि को बढ़ाता है, लेकिन अनुपादक उद्देश्यों से लिया गया कर्ज किसानों के लिए अभिशाप सिद्ध हो जाता है। इसका बोझ निरन्तर बढ़ते जाता है। भारत के कुल ग्रामीण ऋण का प्रायः 56-7 प्रतिशत भाग पारिवारिक व्यय तथा अन्य गैर-कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए ही लिया जाता है। अतः इससे किसानों की उत्पादन क्षमता तथा आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं होता। दूसरे शब्दों में, इससे किसानों के ऋण चुकाने की क्षमता में वृद्धि नहीं होती, वरन् उसके शोषण की सम्भावना बढ़ जाती है जिससे उनकी कार्य-क्षमता घट जाती है। इस प्रकार भारत में ग्रामीण ऋणग्रस्तता के निम्नलिखित प्रधान परिणाम हैं :—

(1) आर्थिक परिणाम :—कर्ज के बोझ से निरन्तर दबे रहने के कारण किसान अच्छी तरह से खेती नहीं कर पाता। उसके पास पर्याप्त साधनों का अभाव रहता है जिससे उपज कम होती है और फलस्वरूप आय भी कम होती है। फसल तैयार होते ही महाजन घावा बोलने लगते हैं। इस प्रकार जब किसान सोचता है कि अतिरिक्त परिश्रम का फल उसे न मिलकर उसके महाजन को मिलता है तो कृषि-कार्य के प्रति उसकी अभिरुचि समाप्त हो जाती है। साथ ही, कर्ज नहीं चुकाने



के कारण बंधक रखी गयी भूमि महाजनों के हाथ चली जाती है जिससे भूमिहीन वर्ग की संख्या में वृद्धि होती है। इन भूमिहीन मजदूरों को दासत्व का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इस प्रकार ऋणग्रस्तता के परिणामस्वरूप बहुत-से किसान अपनी आर्थिक स्वतन्त्रता को खो देते हैं तथा महाजन उनका तरह-तरह से आर्थिक शोषण करते हैं।

(2) सामाजिक परिणाम :—ऋणग्रस्तता का प्रभाव किसानों के सामाजिक जीवन पर भी पड़ता है। ऋण के परिणामस्वरूप महाजन तथा ऋणी के बीच आपसी संघर्ष बढ़ते जाता है। किसानों की भूमि महाजनों के हाथ में चली जाने के कारण भूमिहीन मजदूरों की संख्या बढ़ती है जिनके पास जीवन-यापन का कोई दूसरा साधन नहीं रह जाता। इस प्रकार ऋणग्रस्तता के फलस्वरूप सामाजिक असन्तोष भी बढ़ता है।

(3) नैतिक परिणाम :—ऋण लेने से किसानों की आर्थिक स्वतन्त्रता भी समाप्त हो जाती है और उन्हें दासत्व का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इससे ग्रामीण जनता का सर्वांगीण पतन होने लगता है। यह प्रथा किसानों को केवल उदासीन ही नहीं बनाती, वरन् झूठ एवं फरेब की ओर भी ले जाती है जिससे इनको नैतिकता का ह्रास होने लगता है।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता को कम करने के  
सरकारी प्रयत्न

(Government Measures for tackling the  
Problem of Rural Indebtedness)

इस प्रकार ग्रामीण ऋणग्रस्तता का भारतीय कृषि एवं किसानों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। अतएव कृषि में स्थायी विकास के लिए इस समस्या का समाधान अति आवश्यक है। ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या के समाधान के लिए दो प्रकार के प्रयत्नों की आवश्यकता है :—

(क) उत्पादन-शक्ति में वृद्धि कर किसानों की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाना, तथा

(ख) साख-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करना।

(क) उत्पादन-शक्ति में वृद्धि के द्वारा आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाना :—उत्पादन में वृद्धि कर किसानों की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाया जा सकता है जिससे उन्हें कर्ज लेने की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। इस उद्देश्य से कृषि में स्थायी सुधार के लिए अन्य उपायों को अमल में लाना होगा। साथ ही, इस उद्देश्य से ग्रामीण क्षेत्रों में सहायक उद्योग-धन्धों का विकास भी अनिवार्य है क्योंकि इससे ग्रामवासियों की आय में वृद्धि होगी। इस प्रकार ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या का वास्तविक समाधान साख की व्यवस्था द्वारा नहीं, वरन् किसानों

की आय में वृद्धि द्वारा ही किया जा सकता है। किन्तु अभी तक सरकार द्वारा किये गये प्रयत्न मुख्यतः साख-सम्बन्धी सुविधाओं तक ही सीमित रहे हैं।

(ख) साख-सम्बन्धी सुविधाओं की व्यवस्था :—ऋणग्रस्तता की ओर सरकार का ध्यान सर्वप्रथम गत शताब्दी के अन्तिम वर्षों में आकर्षित हुआ और इस समस्या का सुलझाने के लिए सरकारी प्रयास किये जाने लगे। इस सम्बन्ध में किये गये सरकारी प्रयत्नों को निम्न प्रकार से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(i) पुराने ऋणों को कम करने के प्रयत्न,

(ii) नये ऋणों पर नियन्त्रण, तथा

(iii) नये ऋणों की व्यवस्था।

(i) पुराने ऋणों को कम करने का प्रयत्न :—यह सर्वविदित है कि जबतक किसानों को पुराने ऋण के बोझ से मुक्त नहीं किया जायगा, तबतक कृषि के विकास की कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती। किसानों की आय तो पहले से ही अपर्याप्त है, फिर भी अगर पुराने कर्ज के बोझ को कम नहीं किया जाय, तो उन पर अतिरिक्त भुगतान का बोझ भी बढ़ता ही जायगा। फलस्वरूप इनका जीवन-स्तर निम्न होते जायगा और कृषि-विकास के लिए उनकी प्रेरणा भी समाप्त हो जायगी। देश में नयी कृषि-साख व्यवस्था के निर्माण के लिए पुराने कर्ज का निवटारा भी अनिवार्य है, जैसा कि गाडगिल ने बतलाया कि जबतक अतीत के कर्ज के भार स्वरूप तथा बाधाजनक प्रभावों को निर्मूल नहीं कर दिया जायगा तब तक नवीन कृषि-साख व्यवस्था को निर्मित तथा कार्यान्वित करना सर्वथा असम्भव होगा।

भिन्न-भिन्न राज्यों में पुराने कर्ज की स्थिति या कम करने के लिए कानून बनाये गये हैं। जहाँ कर्जदार की सम्पत्ति उनके कर्ज को अदा करने के लिए पर्याप्त नहीं है, वहाँ कर्जदार को दिवालिया स्वीकार करने की व्यवस्था भी कुछ राज्यों में की गयी है। भिन्न-भिन्न राज्यों में पुराने कर्जों को स्थगित या कम करने के लिए निम्नांकित प्रयत्न किये गये हैं—

(1) ऋणों के भुगतान को स्थगित करने की व्यवस्था :—1929 ई० की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के फलस्वरूप किसानों पर कर्ज का वास्तविक भार निरन्तर बढ़ने लगा जिससे वे मूलधन तथा व्याज चुकाने में असमर्थ हो गये। अतः किसानों को मन्दी से बचाने के लिए भिन्न भिन्न प्रान्तों में कर्ज के भुगतान की कार्यवाही को स्थगित करने की व्यवस्था की गयी। इस प्रकार के कानून उत्तर प्रदेश में 1932 ई० में एवं मध्य प्रदेश तथा बम्बई में 1934 ई० में बनाये गये थे। इन कानूनों का अभिप्राय कर्जदार पर डिग्री के इजराय तथा उनकी बेदखली को रोकना है। इस प्रकार कानून द्वारा इन राज्यों



में कर्जों के भुगतान को अस्थायी तौर से स्थगित करने की व्यवस्था की गयी है।

**ऋण समझौता विधान (Debt Conciliation Act):**—केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति की सिफारिशों के आधार पर महाजन तथा कर्जदार दोनों के पारस्परिक समझौते के अनुसार कर्ज को कम करने की व्यवस्था की गयी है। 1929 ई० तथा बाद की भयानक आर्थिक मन्दी के समय किसान कर्जों के भुगतान में प्रायः असमर्थ होने लगे जिसके फलस्वरूप यह व्यवस्था करनी पड़ी। इस प्रकार का कानून सर्वप्रथम मध्य प्रदेश में 1933 ई० की फरवरी माह में पारित हुआ जिसके अनुसार कर्ज को कम करने के लिए ऋण-समझौता बोर्ड का प्रयोग किया जाने लगा। इसके बाद 1934 ई० में 'पंजाब कर्ज मुक्त अधिनियम (Punjab Relief of Indebtedness Act), 1935 ई० में 'बंगाल कृषक ऋण अधिनियम' (Bengal Agriculturist Debt Act), 1935 ई० में असम में 'कर्ज-समझौता अधिनियम' (Debt Conciliation Act), तथा 1936 ई० में मद्रास में 'कर्ज समझौता अधिनियम' (Madras Debt Conciliation Act) बनाकर कर्ज के समझौता की व्यवस्था की गयी। यद्यपि विभिन्न प्रान्तों के कर्ज-समझौता विधानों की विस्तारपूर्ण कार्यवाही में कुछ अंतर है, फिर भी साधारणतः इनमें बहुत कुछ समानता पायी जाती है। इनमें 3 से 9 सदस्यों का एक समझौता बोर्ड बनाने की व्यवस्था है जिसका अध्यक्ष एक सरकारी पदाधिकारी होता है। इनमें कर्जदार तथा कर्जदाता दोनों के प्रतिनिधि रहते हैं। कर्जदाता या महाजन अपने कर्ज के समझौता के लिए बोर्ड से आवेदन कर सकता है। बोर्ड के समक्ष दोनों पक्ष अपना-अपना मामला पेश करते हैं। तब कर्जदार की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए ऋण की मात्रा कम की जाती है तथा ऋण वसूली के लिए 15 या 20 वर्षों की किस्त कर दी जाती है।

ऋण के भुगतान का उचित प्रबन्ध करना ही ऋण समझौता विधानों का मुख्य उद्देश्य है। अतः इस विधान को सफल बनाने के साथ-साथ भुगतान का उचित ढंग निकालना भी आवश्यक है। यह कार्य भूमि-बन्धक बैंकों द्वारा अधिक सफलतापूर्वक किया जा सकता है। इस प्रकार इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए समझौता विधानों एवं भूमि-बन्धक बैंक में समन्वय स्थापित करना अनिवार्य हो जाता है।

**ऋण को अनिवार्य रूप से कम या समाप्त करने की व्यवस्था:**—कर्ज समझौता विधानों को कार्यान्वयन करने में धीरे-धीरे स्वेच्छा के सिद्धांत के स्थात पर अनिवार्य बनाने की प्रवृत्ति प्रारम्भ है। स्वेच्छापूर्वक कर्ज समझौता में शीघ्रता नहीं हो पाती थी। अतः इसे सुचारु रूप से कार्यान्वित करने के लिए मद्रास, उत्तर

प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा बम्बई में कानून द्वारा कर्ज को अनिवार्य रूप से कम करने की व्यवस्था की गयी। इस उद्देश्य से मद्रास में 1938 ई० में मद्रास कृषक कर्ज मुक्ति अधिनियम (Madras Agriculturist Debt Relief Act), 1938 में मध्य प्रदेश तथा बरार ऋणग्रस्तता मुक्ति अधिनियम (C. P. and Berar Relief of Indebtedness Act), 1938 ई० में बम्बई में कृषक कर्जदार मुक्त अधिनियम (Bombay Agricultural Debtors Relief Act) तथा 1934 ई० में उत्तर प्रदेश कृषक कर्ज मुक्ति अधिनियम (U. P. Agricultural Debt Redemption Act) आदि बनाये गये।

इन अधिनियमों के निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य थे :—

- (अ) आगामी वर्षों के लिए व्याज की दर को निश्चित करना,
- (ब) व्याज की बकाया रकम को कम करना,
- (स) बकाया ऋणों की रकम को इस प्रकार से कम करना कि महाजन द्वारा वसूल की गयी कुल रकम मूलधन के दुगुने से अधिक न होने पाये।

मद्रास के विधान के अनुसार। अक्टूबर, 1937 तक जमा हुए कर्ज के व्याज से ऋणियों को मुक्त कर दिया गया तथा आगे के लिए 6 प्रतिशत वार्षिक अधिकतम व्याज की दर निश्चित कर दी गयी। साथ ही यह व्यवस्था भी की गयी कि भविष्य में कर्ज की रकम मूलधन के दुगुने से अधिक नहीं हो सकती। मध्य प्रदेश तथा बरार के अधिनियमों के अनुसार कर्ज समझौता परिषदों के स्थान पर कर्ज मुक्ति अदालतों (Debt Relief Courts) की व्यवस्था की गयी। इन अदालतों के द्वारा ऋणों के मूलधन के सम्बन्ध में भूमि के मूल्य में अनुमानित कमी के आधार पर किस्त द्वारा चुकाने की सुविधा प्रदान करने की व्यवस्था की गयी है। उत्तर प्रदेश के अधिनियम द्वारा कानूनी अदालतों को यह अधिकार दिया गया कि वे बकाया मूलधन की अदायगी में इतनी रकम दिला दें जो मूलधन की रकम के दुगुने से अधिक नहीं हो। बम्बई के अधिनियम के अनुसार कर्ज तसफीहा बोर्डों के द्वारा किसानों के कर्ज को आंशिक रूप में कम करने तथा उन्हें छोटी-छोटी किस्तों में अदा करने की सुविधा दी गयी है। मैसूर तथा ट्रावनकोर में भी इसी प्रकार की व्यवस्था की गयी है।

(2) नये ऋणों पर नियन्त्रण :—ग्रामीण कर्ज की समस्या को सुलझाने का दूसरा उपाय नये कर्ज पर नियंत्रण है। किसानों के बीच इस प्रकार का वातावरण तैयार किया जाय जिससे कि साधारणतया उन्हें उत्पादक कार्यों के लिए कर्ज लेने का प्रोत्साहन मिले। इनके लिए किसानों में अनुत्पादक कार्यों के लिए कर्ज लेने की विरोधी विचारधारा का प्रचार किया गया। यह कार्य प्रचार तथा



शिक्षा के प्रसार द्वारा ही सम्भव है। इससे किसान अपना उत्तरदायित्व समझे तथा दूरदर्शिता से काम लेंगे। ग्राम-पंचायतों द्वारा इस कार्य में बहुत अधिक सहायता मिल सकती है।

लेकिन अगर प्रचार लाभदायक सिद्ध नहीं हुआ तो साख की सुविधा को सीमित बनाकर इस दिशा में सफलता प्राप्त की जा सकती है। आजकल भूमि के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि के फलस्वरूप किसानों के कर्ज लेने की शक्ति भी बहुत अधिक बढ़ गयी है। अतः भूमि के हस्तान्तरण के अधिकारों को सीमित बनाकर भी कर्ज लेने की शक्ति को कम किया जा सकता है। साथ ही, महाजनों के लेन-देन के कार्य को भी नियमित बनाना इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनिवार्य हो जाता है। महाजनों को नियमित रूप से हिसाब रखने, एक निश्चित दर से अधिक व्याज नहीं लेने तथा रुपया कर्ज देने के लिए लाइसेंस लेने के लिए बाध्य किया जा सकता है। इस प्रकार के विधान बहुतसे राज्यों में पाये जाते हैं। इन्हें यदि उचित रूप से कार्यान्वित किया जाय तो पर्याप्त सफलता मिल सकेगी और ऋणग्रस्तता की मात्रा भी कम हो जायगी।

**भूमि के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध :—**भूमि के मुक्त हस्तान्तरण के कारण फिजूल खर्च किसान भूमि की जमानत के आधार पर मनमाना कर्ज लेते हैं। इससे ऋण के लेन-देन को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिलता है जिससे किसानों की भूमि धीरे-धीरे महाजनों के हाथ जाने लगती है। अतः ऋण की मात्रा में कमी लाने के लिए भूमि के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम पंजाब में भूमि-हस्तान्तरण अधिनियम (Punjab Land Alienation Act) बनाया गया। इसके अनुसार किसान की भूमि खेती न करनेवाला कोई व्यक्ति नहीं खरीद सकता तथा 20 वर्षों से अधिक रेहन के रूप में नहीं रख सकता। इस कानून की बहुत अधिक आलोचना हुई। समय-समय पर इसमें आवश्यक संशोधन भी किये गये। लेकिन भारत में जनतन्त्र के निर्माण के बाद इसे संविधान के विपरीत समझ कर राष्ट्रपति ने इसका खंडन कर दिया। भूमि के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध के साथ-साथ किसानों के औजारों, मवेशी तथा मकान के भी कुर्क और नीलाम एवं किसानों की गिरफ्तारी पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया है तथा किस्तों में ऋणों के भुगतान करने की व्यवस्था की गयी है।

**महाजनों पर प्रतिबन्ध :—**किसान आज भी कर्ज का अधिकतर भाग महाजनों से ही प्राप्त करता है। वास्तव में, भारतीय गाँवों में आज भी "अदूरदर्शिता एवं अपव्यय की मरुभूमि में महाजन ही पूँजी-संचय की एकमात्र हरी-तिमा है।" (The money lender is the only basis of thrift in a desert of improvidence and extravagance.) किन्तु महाजन ऋणी किसानों

का तरह-तरह से शोषण करते हैं। अतएव ऋणग्रस्तता के बोझ तथा महाजन के अत्याचारों को कम करने के लिए भिन्न-भिन्न राज्यों में महाजनों पर निम्नलिखित प्रतिबन्ध लगाये गये हैं :—

(क) महाजनों की रजिस्ट्री तथा लाइसेंस :—ऋण के लेन-देन का व्यवसाय आरम्भ करने के पूर्व महाजनों को रजिस्ट्री कराकर लाइसेंस लेना अनिवार्य बना दिया गया है। इस कार्य में किसी प्रकार की गड़बड़ी करने पर इनका लाइसेंस रद्द कर दिया जाता है। बिहार, बंगाल, मध्य-प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में इस प्रकार की व्यवस्था पायी जाती है।

(ख) नियमित रूप से हिसाब रखना :—कानून द्वारा महाजनों को लेन-देन का हिसाब नियमित रूप से रखना तथा समय-समय पर अपने कर्जदारों को कर्ज का व्योरा देना अनिवार्य बना दिया गया है। साथ ही, ऋण-वसूली की रकम के लिए महाजनों को रसीद भी देनी पड़ती है। पर किसानों की अशिक्षा तथा अज्ञानता के कारण यह कानून व्यावहारिक रूप में बहुत अधिक लाभदायक नहीं हो पाता है।

(ग) व्याज की दर पर नियन्त्रण :—कर्ज के लिए व्याज की अधिकतम दर निश्चित कर दी गयी है। असुरक्षित कर्ज (Unsecured Loan) के लिए व्याज की दर अधिक तथा सुरक्षित कर्ज (Secured Loan) के लिए कम तय की गयी है। उदाहरण के लिए बिहार में असुरक्षित कर्ज पर वार्षिक व्याज की अधिकतम दर पर 12 प्रतिशत तथा सुरक्षित कर्ज पर 9 प्रतिशत तय की गयी है। बिहार तथा असम में चक्रवृद्धि व्याज लेना भी गैर-कानूनी घोषित किया गया है। साथ ही, प्रायः सभी राज्यों में ऐसी व्यवस्था की गयी है कि व्याज की सम्पूर्ण रकम मूलधन से अधिक नहीं हो सकती। लेकिन व्याज दर-सम्बन्धी नियम को प्रयोग में लाना कठिन ज्ञान पड़ता है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर किसान अधिक व्याज देकर भी कर्ज लेने को तैयार हो जाते हैं।

(घ) विविध :—इनके अतिरिक्त किसानों को महाजनों के अन्य प्रकार के शोषण से बचाने की भी व्यवस्था की गयी है। महाजन किसान के औजार, मवेशी तथा मकान को कुर्क नहीं करा सकते। साथ ही, एक न्यूनतम मात्रा से कम भूमि को नीलाम भी नहीं कराया जा सकता है। इसी प्रकार किसानों की गिरफ्तारी पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया है।

(iii) नये कर्ज की व्यवस्था :—इन सब प्रश्नों के द्वारा तो ऋणग्रस्तता की मात्रा कम हो जायगी लेकिन इसके साथ-साथ किसानों के लिए नये कर्ज की व्यवस्था भी आवश्यक है। इस उद्देश्य से किसानों तथा कारीगरों को अतिरिक्त साख प्रदान करने के अन्य साधनों को अधिक



प्रोत्साहन देना चाहिए। कर्ज प्राप्त के भिन्न-भिन्न साधनों के अध्ययन में हम देख चुके हैं कि सहकारी समितियाँ इस सम्बन्ध में बहुत अधिक सहायक हो सकती हैं, किन्तु भारत में सहकारिता आन्दोलन का विकास अभी बहुत ही कम हो पाया है। साथ ही, भारत में ऋणप्रस्तुता की मात्रा इतनी अधिक है कि इसके लिए हम केवल सहकारिता पर ही निर्भर नहीं रह सकते। अतः सरकार द्वारा किसानों को अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अत्यधिक मात्रा में साख प्रदान करना कठिन हो जाता है। पर्याप्त साख की व्यवस्था होने पर ही किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार तथा कृषि-विकास सम्भव हो सकता है। अभी तक

सरकार द्वारा दिया जाने वाला कर्ज भी लोकप्रिय नहीं हो पाया है। अतः इन्हें लोकप्रिय बनाना भी सरकार का उद्देश्य होना चाहिए। इस उद्देश्य से प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों से भी अत्यधिक सहायता की आशा की जाती है।

1975 ई० में श्रीमती इंदिरा गाँधी ने एक 20-सूत्री कार्यक्रम की घोषणा की जिसके अन्तर्गत एक निश्चित मात्रा से कम भूमि वाले किसानों से कर्ज की अदायगी तथा डिग्री के लागू करने को कुछ समय के लिए स्थगित करने की व्यवस्था थी। बिहार सरकार द्वारा इस कार्यक्रम के अन्तर्गत हरिजनों तथा आदिवासियों के साथ 2 हेक्टर भूमिवाले किसानों से ऋण की अदायगी को स्थगित करने की व्यवस्था की गयी थी।

### विशेष अध्ययन सूची

1. R. B. I. : All India Rural Credit Survey, Vol. II.
2. " " : Report on Currency and Finance.
3. J. P. Bhattacharjee : Studies in Indian Agricultural Economics: Ch. II
4. Rural Credit Follow up Surveys.
5. Report of the Committee on Co-operative Credit, Chapters III, VI & XVII.
6. Planning Commission : First to Sixth Five Year Plans.



## अध्याय : 23

## भारत में सहकारिता आन्दोलन

## (Co-operative Movement in India)

सहकारिता का अर्थ एवं महत्त्व (Meaning & Importance of Co-operation) :—सहकारिता आर्थिक दृष्टि से कमजोर व्यक्तियों के उस संगठन का नाम है जो स्वेच्छा से आर्थिक हितों की पूर्ति के लिए बनाया जाता है। इससे पारस्परिक सहायता, त्याग, आत्मनिर्भरता एवं भित्तव्ययिता आदि गुणों का विकास होता है। मैक-लगन समिति के अनुसार संक्षेप में "सहकारिता का सिद्धांत यह है कि एक अकेला एवं शक्तिहीन व्यक्ति दूसरों के सहयोग एवं नैतिक विकास तथा पारस्परिक सहायता से अपनी सामर्थ्य के अनुसार उन सब भौतिक लाभों को प्राप्त कर सकता है जो धनी व शक्तिशाली व्यक्तियों को मिले हुए होते हैं और इस प्रकार वह अपने सहज गुणों का पूर्ण रूप से विकास कर सकता है।" व्यक्तियों के सहयोग से इनकी भौतिक समृद्धि में वृद्धि होती है एवं संगठित कार्य से आत्मनिर्भरता बढ़ती है तथा इन प्रभावों की पारस्परिक क्रिया से यह आशा की जाती है कि एक ऊँचे एवं अधिक समृद्ध जीवन-स्तर की प्राप्ति होगी, जिसे 'उत्तम व्यवसाय, उत्तम कृषि व उत्तम जीवन' (Better business, better farming and Better living) कहा गया है। सुप्रसिद्ध विद्वान चार्ल्स जीड के अनुसार 'सहकारिता में 'स्वयं की सहायता' (self-help) और 'प्रत्येक सब के लिए' (each for all) नामक दो उद्देश्य अपनाये जाते हैं। 'स्वयं की सहायता' (self-help) का आशय यह है कि अपने ही साधनों से स्वयं की आवश्यकता की पूर्ति करने में गर्व प्राप्त करना अर्थात् अपना व्यापारी, बैंकर, महाजन और मालिक स्वयं ही बनना। इस प्रकार प्रत्येक सब के लिए (Each for all) का तात्पर्य है कि केवल स्वयं के लिए ही स्वतन्त्रता व मुक्ति पाने की इच्छा नहीं रखना, वरन दूसरों के लिए एवं दूसरों के जरिए भी स्वतन्त्रता व मुक्ति पाने की इच्छा रखना।"

वास्तव में, सहकारिता का अपना एक निश्चित जीवन-दर्शन होता है। सहकारिता का जीवन-दर्शन पूँजीवादी एवं समाजवादी दोनों ही व्यवस्थाओं से उत्तम माना गया है। इसमें व्यक्तिगत लाभ की भावना का स्थान सार्वजनिक सेवा ले लेती है। प्रतियोगिता की जगह सहयोग की प्रधानता होती है और व्यक्ति स्वयं अपने संगठन एवं मेल द्वारा आर्थिक क्रियाओं का संचालन करने लगते हैं। इससे नोकरशाही का खतरा समाप्त हो जाता है जो समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में उत्पन्न हो जाता है। इस

प्रकार सहकारिता एक व्यापक विचारधारा है जो आधुनिक युग की समस्याओं को हल करने के रामबाण का कार्य करती है। इसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए आर्थिक समृद्धि एवं सार्वजनिक कल्याण के लक्ष्य प्राप्त किये जा सकते हैं। ध्यानपूर्वक विचार करने से स्पष्ट होगा कि सहकारिता, लोकतान्त्रिक समाजवाद एवं आर्थिक नियोजन तीनों में परस्पर गहरा सम्बन्ध रहता है। समाजवाद में आर्थिक क्रियाओं का लोकतन्त्रीकरण (democratisation of economic activities) किया जाता है लेकिन आर्थिक क्रियाओं का लोकतन्त्रीकरण इन क्रियाओं के सहकारीकरण से ही सम्भव हो पाता है। इस प्रकार समाजवाद की प्राप्ति के लिए भी सच्ची सहकारिता की भावना का विकास आवश्यक है।

भारत में सहकारिता आन्दोलन का विकास (Growth of the Co-operative Movement in India)- उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय किसानों की ऋणग्रस्तता ने विकराल रूप धारण कर लिया था। ऋणग्रस्तता से किसानों तथा श्रमजीवियों को मुक्त करने के लिये भारत में सहकारिता आन्दोलन का विकास हुआ। जर्मनी के छोटे-छोटे ग्राम-बैंकों की सफलता ने भारतीय समाज-सुधारकों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। इसी बीच 1901 ई० के अकाल आयोग (Famine Commission) ने बड़े जोरदार शब्दों में सहकारी समितियों के संगठन का समर्थन किया। अतएव 1904 ई० में एक सहकारिता साख-समिति विधान (Co-operative Credit Societies Act, 1904) पारित हुआ। इसके अनुसार गाँव या नगर में कोई भी दस व्यक्ति मिलकर सहकारी साख-समितियों की स्थापना कर सकते थे। किन्तु यह विधान केवल साख-समितियों की स्वीकृति देता था। इसमें गैर-साख समितियों की स्थापना की कोई व्यवस्था नहीं थी। अतएव 1912 ई० में एक दूसरा विधान बनाया गया। इसके अनुसार गैर-साख सहकारी समितियों की स्थापना की जाने लगी। अब क्रय-विक्रय, उत्पादन, बीमा, गृह-निर्माण आदि कार्यों के लिए भी सहकारी समितियों की स्थापना की जाने लगी। साथ ही, ग्राम तथा नगर-समितियों के वर्गीकरण में असीमित दायित्व के सिद्धांत को अपनाया गया। देख-भाल, हिसाब, निरीक्षण तथा पूँजी की सुविधा के लिए नई संस्थाएँ—जिला संघ (District Unions), केन्द्रीय सहकारी बैंक



## भारत में सहकारिता आन्दोलन

आदि की भी व्यवस्था की गयी। इसी बीच सहकारिता आन्दोलन की प्रगति की जाँच के लिए 1914 ई० में सरकार ने श्री मैकलगन की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की जिसकी विज्ञप्ति 1915 ई० में प्रकाशित हुई। 1919 ई० के राजनीतिक सुधारों के अनुसार सहकारिता प्रान्तीय सरकारों का हस्तांतरित विषय (Provincial Transferred Subject) बन गयी तथा इसके संचालन का भार अब प्रान्तीय सरकारों के हाथ में आ गया। इससे सहकारिता आन्दोलन की तीव्र गति प्राप्त हुई।

1929 ई० की महान् आर्थिक मन्दी से इस आन्दोलन को बहुत बड़ा धक्का लगा। अतएव समितियों की संख्या में वृद्धि की अपेक्षा उनके पुनर्निर्माण पर ही अधिक जोर दिया जाने लगा। 1935 ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India) की स्थापना हुई। इसके अन्तर्गत एक पृथक् कृषि-साख विभाग (Agricultural Credit Department) का निर्माण किया गया जिसका कार्य कृषि के विकास के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करना था। इसकी सहायता से रिजर्व बैंक ने सहकारिता आन्दोलन में सुधार लाने के प्रश्न का अध्ययन किया और साथ ही उसके पुनर्निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव भी प्रस्तुत किया। द्वितीय युद्ध काल में नियन्त्रित वस्तुओं को प्राप्त करने में भी अनेक कठिनाइयाँ होने लगीं जिससे जनता ने उपभोक्ता भण्डारों (Consumer's Stores) का आश्रय लेना प्रारम्भ किया। इस प्रकार उपभोक्ता भण्डारों की संख्या में वृद्धि होने लगी। सरकार ने भी इन्हें प्रोत्साहित करने के लिए नियन्त्रित वस्तुओं का वितरण इनके हाथ में सौंप दिया। उपभोक्ता भण्डारों के साथ-साथ उत्पादक समितियों की संख्या तथा आकार में भी बहुत वृद्धि हुई। इस प्रकार सहकारिता आन्दोलन को द्वितीय महायुद्ध से बहुत अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

### भारत में सहकारिता आन्दोलन की वर्तमान स्थिति

#### (Present Position of the Co-operative Movement in India)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सहकारिता आन्दोलन का विकास पूर्ववत् जारी रहा। इस अवधि में सहकारिता के कार्य-क्षेत्र में बहुत अधिक वृद्धि हुई। साख समितियों की अपेक्षा गैर-साख समितियों के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। इसके परिणामस्वरूप तरह-तरह की समितियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ जिनमें सहकारी गृह-निर्माण समितियाँ, सहकारी कृषि समितियाँ तथा लिफ्ट इरिगेशन समितियाँ आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। साथ ही बहुधन्वी सहकारी समितियों (Multi-purpose Co-operative Societies) की प्रधानता भी बढ़ने लगी। इनका उद्देश्य किसानों को कर्ज देने के अतिरिक्त बीज

खाद आदि की व्यवस्था करना है। आजकल सहकारिता आन्दोलन का उद्देश्य किसानों के जीवन की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होना समझा जाता है। इसी दृष्टिकोण से बहुधन्वी समितियों के विकास पर जोर दिया जाता है। लेकिन, सहकारिता आन्दोलन के विकास के इस स्तर पर भी साख-समितियों की ही प्रधानता है। 1951-52 ई० में देश की सम्पूर्ण सहकारी समितियों का 68.7 प्रतिशत भाग कृषि-साख तथा गैर-कृषि-साख समितियों का ही था।

पंचवर्षीय योजनाओं में सहकारिता के विकास को प्रधान स्थान दिया गया है। वास्तव में किसानों की आर्थिक, स्थिति में सुधार लाने के लिए सहकारिता आन्दोलन को प्रोत्साहन देना आवश्यक हो गया है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सहकारिता आन्दोलन के क्षेत्र में सब से महत्त्वपूर्ण घटना रिजर्व बैंक द्वारा 1951 ई० में ग्रामीण साख-सर्वेक्षण समिति की नियुक्ति है। समिति ने अपना प्रतिवेदन दिसम्बर, 1954 ई० में प्रस्तुत किया। इस सर्वेक्षण के अनुसार 50 वर्षों के प्रयत्नों के बावजूद कृषकों की साख-सम्बन्धी कुल आवश्यकता का केवल 3 प्रतिशत भाग ही सहकारी समितियों द्वारा पूरा किया जा सकता था। अतः सहकारिता आन्दोलन को अधिक प्रगतिशील बनाने के उद्देश्य से समिति द्वारा बहुत से सुझाव दिये गये तथा विभिन्न संस्थाओं के निर्माण की भी सिफारिश की गयी। समिति ने ग्रामीण साख-व्यवस्था के समुचित संगठन के लिए निम्नांकित सुझाव दिये थे :—(क) सहकारी संस्थाओं के विभिन्न स्तरों पर राज्यभारिता : (ख) साख एवं अन्य आर्थिक क्रियाओं में पूर्ण समन्वय, (ग) किसानों को विक्रय की सुविधा प्रदान करने के उद्देश्य से गोदामों की स्थापना, तथा (घ) सभी कर्मचारियों के समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था। समिति ने इम्पिरियल बैंक तथा अन्य 12 बैंकों को मिलाकर स्टेट बैंक स्थापित करने की सिफारिश की। 1 जुलाई, 1955 ई० को इस बैंक की स्थापना की गयी। इस प्रकार समिति के सुझाव सहकारिता संगठन के लिए विशेष महत्त्व के हैं।

जून, 1959 ई० में नागपुर कांग्रेस अधिवेशन एवं सरकार की नयी कृषि-सम्बन्धी नीति की घोषणा के समय से तो सहकारिता आन्दोलन का महत्त्व और भी बढ़ गया। तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी सहकारिता आन्दोलन को प्रमुख स्थान प्राप्त था। वास्तव में, सहकारिता हमारी पंचवर्षीय योजनाओं का आधार स्तम्भ थी। (Co-operatives had become the keystone of the main structure of our Third Five Year Plan.)

इस प्रकार भारत में सहकारिता आन्दोलन के प्रायः 75 वर्ष समाप्त हो चुके हैं। इस अवधि में इस आन्दोलन में विशेष प्रगति हुई है जो अगले पृष्ठ की तालिका से स्पष्ट है—



| वर्ष    | समितियों की संख्या<br>(हजार में) | सदस्यों की संख्या<br>(लाख में) | कार्यशील पूँजी<br>(करोड़ रु० में) |
|---------|----------------------------------|--------------------------------|-----------------------------------|
| 1906-10 | 1.9                              | 1.6                            | 0.7                               |
| 1931-35 | 105.7                            | 43.3                           | 94.6                              |
| 1951-52 | 185.6                            | 137.9                          | 306.3                             |
| 1955-56 | 240.4                            | 176.2                          | 479.0                             |
| 1960-61 | 332.0                            | 350.0                          | 1312.1                            |
| 1965-66 | 342.3                            | 500.9                          | 2792.9                            |
| 1969-70 | 317.0                            | 588.1                          | 5154.4                            |
| 1971-72 | 324.0                            | 614.1                          | 7965.5                            |

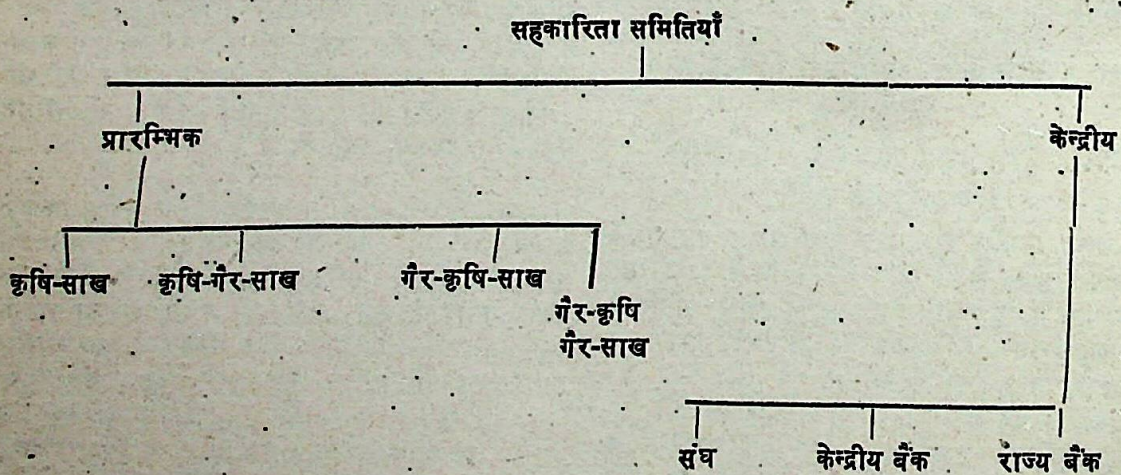
एक औसत परिवार की संख्या पाँच मानने पर यह कहा जा सकता है कि जून, 1972 ई० में लगभग 33 करोड़ या सम्पूर्ण जनसंख्या का प्रायः 62 प्रतिशत भाग सहकारिता आन्दोलन के अन्तर्गत लाया जा चुका था।<sup>1</sup>

भारत में सहकारिता आन्दोलन का ढाँचा  
(Structure of the Co-operative Movement in India)

भारत में सहकारी समितियों का संगठन रेफाइजन (Raiffisien) तथा सुल्ज डेलिज (Schulze Delitsch)

समितियों के आधार पर हुआ है। सर्वप्रथम भारत में सहकारी समितियों का संगठन रेफाइजन समितियों के आधार पर प्रारम्भ हुआ था, किन्तु बाद में इन दोनों प्रकार की समितियों की विशेषताओं को अपनाया गया। भारत की सहकारिता संस्थाओं में तीन प्रकार की समितियों की प्रधानता है—ग्रामीण क्षेत्रों में प्रारम्भिक समितियाँ हैं जिला अथवा तालुक में केन्द्रीय सहकारी बैंक (Central Co-operative Bank) हैं तथा राज्य स्तर पर राज्य सहकारी बैंक हैं।

भारत में सहकारी समितियों का संगठन निम्नलिखित तालिका से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है :—



इस प्रकार सहकारी समितियाँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। किन्तु किसानों के दृष्टिकोण से इनमें कृषि-साख समितियों की ही प्रधानता है।

1. India 1976.



1960 ई० में सभी प्रकार की सहकारी समितियों की संख्या निम्नलिखित प्रकार से थी :—

सहकारी समितियाँ (1960-61)

| वर्गीकरण         | संख्या (हजार में) | सदस्यता (लाख में) | कार्यशील पूँजी (लाख रु० में) | ऋण दी गयी रकम (लाख रु० में) |
|------------------|-------------------|-------------------|------------------------------|-----------------------------|
| साख समितियाँ—    | 212               | 170               | 27390                        | 20280                       |
| कृषि-साख         | 12                | 50                | 15010                        | 13040                       |
| गैर-कृषि-साख     | 10                | 20                | 60570                        | 270                         |
| अन्य             | 13                | 20                | 4760                         | 1330                        |
| गैर-साख-समितियाँ |                   |                   |                              |                             |
| विक्रय           | 95                | 90                | 23480                        | 3060                        |
| अन्य             |                   |                   |                              |                             |
| कुल              | 332               | 350               | 131210                       | 37983                       |

अब इनका निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

**प्रारम्भिक कृषि-साख समितियाँ (Primary Agricultural Credit Societies) :—** प्रारम्भिक कृषि-साख समितियाँ कृषि-कार्यों के लिए साख की व्यवस्था करती हैं। देश की सहकारी संस्थाओं में कृषि-साख समितियों का आज भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। जून, 1972 ई० में कुल 224 हजार सहकारी समितियों में से 158 सहकारी कृषि-साख समितियाँ थीं जो कुल समितियों का प्रायः 45 प्रतिशत भाग था। उसी वर्ष इन समितियों के सदस्यों की संख्या 344 लाख तथा इनकी कार्यशील पूँजी 1237 करोड़ रुपये थी।

निम्नलिखित तालिका से प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ योजनाओं में प्रारम्भिक कृषि-साख सहकारी समितियों की प्रगति का अन्दाजा लगता है :—

| काल     | समितियों की संख्या (लाख में) | सदस्यों की संख्या लाख में | हिस्सा पूँजी (करोड़ रुपये में) | प्रदत्त ऋण (करोड़ में) |
|---------|------------------------------|---------------------------|--------------------------------|------------------------|
| 1950-51 | 1.05                         | 44                        | 7.61                           | 22.9                   |
| 1960-61 | 2.12                         | 170                       | 57.75                          | 202.8                  |
| 1971-72 | 1.58                         | 343                       | 237.0                          | 685.6                  |
| 1973-74 | 1.20                         | 400                       | ...                            | 750.0                  |

**प्रारम्भिक कृषि-साख समितियों की विशेषताएँ :—** इस प्रकार की समितियों की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं :—कृषि-साख समितियों के सदस्यों की संख्या कम-से-कम दस होती है। साधारणतः, इस प्रकार की समितियाँ प्रत्येक गाँव में रहती हैं। अतः इनके सदस्य वे ही हो सकते हैं जो एक ही गाँव में रहते हों जिससे कि एक दूसरे की आर्थिक स्थिति से पूर्ण परिचित रहें। इनका दायित्व अपरिमित होता है। इससे समिति की साख बढ़ जाती है और कम ही सूद पर रुपया उधार मिल जाता है। इन समितियों का कार्य-क्षेत्र विस्तृत नहीं होता। साधारणतया एक गाँव में एक ही समिति रहती है। इन समितियों का प्रबन्ध तथा संचालन पूर्ण रूप से प्रजातन्त्रीय तथा अवैतनिक होता है। सदस्यों की वार्षिक बैठक में एक संचालन-मण्डल का चुनाव होता है जिसके जिम्मे समिति की दैनिक कार्यवाही रहती है।

भा० अ०—19

प्रारम्भिक कृषि-साख समितियों की कार्यशील पूँजी सदस्यों के प्रवेश शुल्क (entry fee) से, हिस्सों की बिक्री से, रक्षित कोष (Reserve Fund) की रकम से तथा सदस्यों एवं अन्य व्यक्तियों द्वारा जमा की हुई रकम से प्राप्त होती है। लेकिन इनके अतिरिक्त ये समितियाँ केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सहकारी बैंकों एवं सरकार से कर्ज भी लेती हैं। सदस्यों को साधारणतः उत्पादक कार्यों (Productive Purposes) के लिए ही कर्ज दिये जाते हैं। किन्तु कभी-कभी पुराने ऋणों से मुक्त कराने तथा उत्पादक कार्यों (Unproductive purposes) के लिए भी कर्ज दिये जाते हैं। उत्पादक कार्यों के लिए दिये गये कर्ज के सूद की दर भी महाजनों की तुलना में बहुत कम होती है। साथ ही, कर्ज देने के लिए इनकी व्यक्तिगत जमानत ही पर्याप्त होती है। कर्ज की वसूली किस्तों में होती है जो साधारणतया फसल कटने के बाद का समय होता है,



क्योंकि फसल तैयार होने पर किसान सुगमतापूर्वक अपनी रकम चुका सकते हैं। लेकिन किसान कर्ज चुकाने में तत्परता नहीं दिखलाते। अतएव समितियों की बहुत-सी पूँजी जकड़ जाती है और उनके कार्यक्रम में बाधा पड़ने लगती है।

साधारणतया समिति का कुल लाभ एक रक्षित-कोष (Reserve Fund) में जमा कर दिया जाता है। लेकिन जिन समितियों के हिस्से होते हैं, उन हिस्सों पर लाभ का कुछ प्रतिशत विभाजित भी कर दिया जाता है। समितियों के आय-व्यय की जाँच तथा देख-भाल के लिए सरकार द्वारा ऑडिटर्स एवं इन्स्पेक्टरों की नियुक्ति होती है। साथ ही, देख-भाल के लिए सहकारी-संघ (Co-operative Unions) भी होते हैं, जो इन समितियों की उचित रूप से हिसाब रखने, उनकी जाँच करने तथा रुपया वसूल करने में सहायता प्रदान करते हैं।

भारत में प्रारम्भ से ही कृषि-साख समितियों पर अधिक ध्यान दिया जाता रहा है। लेकिन आज भी इन समितियों का वितरण प्रत्येक राज्य में एक समान नहीं है। 1941-42 ई० में कुल 1,17,010 कृषि-साख समितियों में से 54,169 समितियाँ या सम्पूर्ण का प्रायः 46 प्रतिशत भाग केवल तीन राज्यों—बम्बई, मद्रास तथा उत्तर प्रदेश में थीं। सहकारिता नियोजन समिति (Co-operative Planning Committee) ने 1945 ई० में इस बात की सिफारिश की थी कि 10 वर्षों के अन्दर देश के 50 प्रतिशत ग्रामों तथा 30 प्रतिशत ग्रामीण जनता के बीच प्रारम्भिक समितियाँ अपने कार्य का विस्तार कर लें।<sup>1</sup> किन्तु जून, 1968 ई० तक कुल ग्रामीण जनसंख्या का प्रायः 55 प्रतिशत भाग इन समितियों के अन्तर्गत लाया गया था।

कृषि-साख समितियों की असफलता के कारण (Causes of the failure of Agricultural Credit Societies in India) :—भारत में कृषि-साख समितियों की असफलता के निम्नलिखित प्रधान कारण हैं :—(1) इन समितियों द्वारा अपने सदस्यों को दिया गया अधिकांश कर्ज वसूल नहीं हो पाता है। रिजर्व बैंक द्वारा एकत्र आँकड़ों के अनुसार 1962-63 ई० में इन समितियों के बकाया कर्ज की रकम 77-18 करोड़ रुपये थी। इसका कारण यह है कि किसान कर्ज का अधिकतर भाग अनुत्पादक कार्यों में लगा देते हैं जिससे कर्ज की अदायगी समय पर नहीं हो पाती (2) कृषि-साख समितियों के पास सदस्यों की साख सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त पूँजी की

कमी है। 1963-64 ई० में औसत रूप से प्रत्येक समिति की प्रत्येक सदस्य औसत हिस्सा पूँजी केवल 37 रु० तथा प्रति समिति औसत कार्यशील पूँजी 17,526 रु० थी।<sup>2</sup> पूँजी की अपर्याप्तता के कारण कृषकों को विवश होकर महाजनों से कर्ज लेना पड़ता है। यही कारण है कि आज भी हमारे गाँव में महाजनों का प्रभुत्व कम नहीं हो पाया है। (3) इनकी सूद की दर भी अधिक होती है। 1957-58 में सूद की दर उत्तरप्रदेश में 8.4 प्रतिशत, मध्य प्रदेश में 10 प्रतिशत तथा बंगाल में 8 प्रतिशत थी<sup>3</sup> जो निश्चय ही बहुत अधिक है। इनके अतिरिक्त समितियों के संचालन, निरीक्षण तथा हिसाब आदि में भी अनेक दोष पाये जाते हैं जिनके फलस्वरूप ये सफलतापूर्वक कार्य करने में असमर्थ सिद्ध होती हैं।

प्रारम्भिक गैर-कृषि-साख समितियाँ (Primary Non Agricultural Credit Societies) :—गैर-कृषि-साख समितियाँ कृषि के अतिरिक्त अन्य कार्यों में लगे हुए लोगों को साख प्रदान कर उनकी सहायता करती हैं। ये अधिकांशतः नगरों में स्थापित की जाती हैं जहाँ शिल्पी तथा श्रमिक इनके सदस्य होते हैं। ये समितियाँ शुल्ज डेलीज (Schulze-Delitsch) सिद्धांत के आधार पर स्थापित की जाती हैं तथा इनका दायित्व सीमित होता है। जिस प्रकार कृषि-साख समितियों का उद्देश्य किसानों को साख प्रदान कर महाजनों के चंगुल से बचाना होता है, उसी प्रकार इन समितियों का उद्देश्य शिल्पी तथा श्रमिकों को सस्ती दर पर साख प्रदान कर उन्हें महाजनों व साहूकारों के चंगुल से बचाना होता है। जून, 1963 ई० के अन्त में इस प्रकार की समितियों की संख्या 12,850, इनके सदस्यों की संख्या 55.03 लाख तथा इनकी कार्यशील पूँजी 185.4 करोड़ रुपये थी। 1962-63 ई० में इन समितियों ने 166.21 करोड़ रुपये ऋण के रूप में दिया था। अन्य राज्यों की अपेक्षा महाराष्ट्र तथा गुजरात में इनका अधिक विकास हुआ है। इन समितियों को नगर साख-समितियाँ (Urban Credit Societies) भी कहा जाता है।

नगर-साख समितियाँ दो वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं—(क) नगर बैंक (Urban Bank), तथा (ख) अन्य नगर-साख समितियाँ। नगर बैंक साधारण बैंक के प्रायः प्रत्येक कार्य करते हैं। लेकिन अन्य नगर समितियाँ केवल सदस्यों के जमा लेने से उन्हें साख प्रदान करने का ही कार्य करती हैं। 1957-58 ई० में नगर बैंकों की संख्या 82, इनके सदस्यों की संख्या 1.18 लाख तथा इनकी कार्यशील पूँजी 56.96 करोड़ रुपये थी। नगर साख समितियाँ कारखानों में काम करने वाले मजदूरों तथा अन्य कर्मचा-

1. Review of the Co-oprative Movement P.8.

2. India 1967, P. 245

3. Review of the Co-operative Movement in India, P. 16.



रियों द्वारा संगठित की जाती हैं। इनमें सहकारी संचय (Co-operative Thrift Societies) तथा शिल्पी समितियों का प्रमुख स्थान है। सहकारिता नियोजन समिति (Co-operative Planning Committee) ने देश में गैर कृषि-साख समितियों के विकास के लिए सिफारिश की थी। देश के औद्योगिक मजदूरों की संख्या में वृद्धि हो रही है जिससे नगर साख-समितियों का भविष्य आशाजनक जान पड़ता है।

### प्रारम्भिक कृषि-गैर-साख समितियाँ (Primary Agricultural Non-Credit Societies)

गैर-साख-कृषि समितियों के मुख्य कार्य किसानों की उपजों के विक्रय की व्यवस्था करना, भूमि की चकबन्दी का प्रयत्न करना, सहकारी कृषि का प्रचार करना, अच्छी खेती की व्यवस्था करना, गृह-निर्माण करना तथा स्वास्थ्य और समाज सेवा द्वारा किसानों को उन्नतशील बनाना है। दूसरे शब्दों में, कृषि-साख के अतिरिक्त ग्रामीण-जीवन के अन्य सभी पहलू इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। 1956-57 ई० में कृषि गैर-साख समितियों की संख्या 31,905 थी, इनके सदस्यों की संख्या 27.6 लाख थी। इस प्रकार इन समितियों का इतना महत्व होते हुए भी इनका विकास अभी बहुत ही कम हुआ है। इसके अनेक कारण हैं—उदाहरण के लिए 1912 ई० के अधिनियम के पूर्व इस प्रकार की समितियाँ स्थापित नहीं की जाती थीं, इसके लिए योग्य एवं शिक्षित कर्मचारियों का अभाव है, आदि। किन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद इनका विकास बहुत अधिक हुआ है। युद्ध के समय सरकार नियंत्रित वस्तुओं के वितरण में सहकारी समितियों को प्रधानता देती थी। अतः उस समय इस प्रकार की बहुत-सी समितियाँ कपड़ा, चीनी तथा तेल आदि आवश्यक वस्तुओं के वितरण के लिए स्थापित की गयीं। 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन ने भी इन समितियों को बहुत अधिक प्रोत्साहित किया। भिन्न-भिन्न राज्यों में सहकारी कृषि तथा अतिरिक्त भूमि को कृषि योग्य बनाने की व्यवस्था एवं खाद, बीज तथा खेती के औजारों के वितरण के लिए बहुत-सी समितियों का निर्माण हुआ है। किन्तु पुनः इन समितियों की संख्या कम होने लगी है। इसका प्रमुख कारण ग्रामीण क्षेत्रों में बहुधंधी समितियों का प्रचलन है।

कृषि-गैर-साख समितियों में सहकारी विक्रय समितियाँ (Co-operative Marketing Societies), उत्तम कृषि समितियों (Better Farming Societies), सहकारी कृषि समितियाँ (Co-operative Farming Societies), फसल रक्षा समितियाँ (Crop Protection Societies), सिंचाई समितियाँ (Irrigation Societies), भूमि-सुधार समितियाँ (Land Improvement Societies), उत्तम जीवन एवं ग्राम-सुधार समितियाँ (Better Living and

1. India 1959.

Village Uplift Societies) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इनमें सहकारी विक्रय समितियों का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। ये समितियाँ किसानों की उपज के विक्रय की व्यवस्था करती हैं। महाराष्ट्र, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश तथा बिहार में इस प्रकार की समितियाँ पायी जाती हैं। महाराष्ट्र में कपास बेचने वाली समितियों की प्रधानता है। तमिलनाडु में धान, मशाला एवं ईख तथा उत्तर प्रदेश एवं बिहार में ईख समितियाँ पायी जाती हैं। ये समितियाँ किसानों से उनकी उपज लेकर उन्हें उचित मूल्य पर विक्रय की व्यवस्था करती हैं। बिहार में 1963-64 ई० के अन्त तक गन्ना उत्पादक सहकारी समितियों (Cane Growers Co-operative Societies) की संख्या 1967 थी। उसी समय सहकारी गन्ना-संघों की संख्या 70 तथा इनके सदस्यों की संख्या 4,70,779 थी। 1954-55 ई० में इन समितियों एवं संघों ने 231 लाख रुपये का गन्ना मिलों को प्रदान किया था जिससे उन्हें 75 लाख रुपये कमीशन के रूप में प्राप्त हुए थे।<sup>1</sup> आजकल विक्रय समितियों की संख्या दिनोदिन बढ़ रही है।

प्रारम्भिक गैर-कृषि-गैर-साख समितियाँ (Primary Non-Agricultural Non-credit Societies) :— ये समितियाँ शिल्पियों तथा श्रमिकों को साख के अतिरिक्त अन्य आर्थिक कार्यों में सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से स्थापित की जाती हैं। 1955-56 ई० में इनकी संख्या 27,635 थी जो सम्पूर्ण समितियों का 12 प्रतिशत भाग था तथा इनके सदस्यों की संख्या 33.2 लाख थी। इस समय ये समितियाँ विविध प्रकार की होती हैं जिनमें उपभोक्ता सहकारी समितियाँ (Consumers' Co-operatives), औद्योगिक समितियाँ (Industrial Co-operatives) तथा सहकारी गृह-समितियाँ (Co-operative Housing Societies) आदि प्रमुख हैं।

### केन्द्रीय सहकारी संस्थाएँ

#### (Central Co-operative Societies)

प्रारम्भिक समितियों पर विचार कर लेने के बाद अब हम केन्द्रीय सहकारी संस्थाओं पर विचार करेंगे। इन समितियों का कार्य प्रारम्भिक समितियों का संगठन तथा उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करना है। इस समय इनके तीन रूप पाये जाते हैं—(1) संघ (Union), (2) केन्द्रीय सहकारी बैंक (Central Co-operative Bank), तथा (3) राज्य सहकारी बैंक (State Co-operative Bank)।

(1) संघ (Union) :—संघ तीन प्रकार के होते हैं:—

(क) संरक्षित (Guaranteeing) संघ :—इस प्रकार के संघ महाराष्ट्र में हैं। ये संघ सदस्य समितियों को केन्द्रीय बैंक द्वारा दिये जानेवाले कर्ज का संरक्षण (Guarantee) प्रदान करते हैं।



(ख) निरीक्षक संघ :—इस प्रकार के संघ महाराष्ट्र एवं तमिलनाडु में हैं।

(ग) साहकारा (Banking) संघ :—इस प्रकार के संघ पंजाब में हैं। इस प्रकार के संघ का निर्माण किसी निश्चित क्षेत्र में विभिन्न समितियों के सम्मिलन से होता है। संघ प्रारम्भिक समितियों की देख-रेख का कार्य करते हैं। कभी-कभी ये प्रारम्भिक समितियाँ एवं केन्द्रीय सहकारी बैंकों के बीच सहयोग का कार्य भी करते हैं।

राज्य सहकारी बैंक (State Co-operative Bank) :—राज्य सहकारी बैंक उच्चतम बैंक (Appex Bank) होते हैं जो प्रत्येक राज्य में केन्द्रीय सहकारी बैंक के समा-शोधन गृह (Clearing House) के रूप में कार्य करते हैं। इस प्रकार ये केन्द्रीय बैंकों के जरिये प्रारम्भिक समितियों के कार्यों की प्रगति को प्रभावित करते हैं, अतः देश के सहकारिता आन्दोलन का विकास बहुत कुछ इन बैंकों पर ही निर्भर करता है। इसलिए सर्वप्रथम मंकलगन समिति ने 1915 ई० में इस प्रकार के उच्चतम बैंकों के निर्माण पर जोर दिया था।

1971-72 ई० में इस प्रकार के बैंकों की संख्या 26 थी तथा इनके सदस्यों की संख्या 19,133 थी। इनकी कार्यशील पूँजी 457 करोड़ रुपये थी तथा उस वर्ष इन्होंने 732 करोड़ रुपये ऋण के रूप में प्रदान किये थे। सभी राज्यों में इन बैंकों के विधान एक समान नहीं हैं। पंजाब तथा बंगाल में केवल सहकारी संस्थाएँ ही इसका सदस्य बन सकती हैं; लेकिन अन्य राज्यों में अन्य व्यक्ति भी इनके सदस्य बन जाते हैं। किन्तु ऐसी हालत में बैंक के अन्तर्निर्णय को इस प्रकार बनाया जाता है कि सहकारी संस्थाओं का कोई अहित न हो।

केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा सहकारी समितियों को साख देने के अतिरिक्त इन बैंकों ने अन्य सहकारिता-सम्बन्धी कार्यवाहियों को भी अपनाया है। ये विभिन्न सहकारी संस्थाओं को श्रृंखलाबद्ध करते हैं। साथ ही ये चीनी, कपड़ा, तथा खाद्यान्नों के वितरण का भी कार्य करते हैं। बिहार राज्य सहकारी बैंक तो खली, खाद, नमक, बीज एवं पुस्तक आदि का भी विक्रय करता है। इस प्रकार सहकारी बैंक विभिन्न प्रकार के कार्य करते हैं।

केन्द्रीय सहकारी बैंक (Central Co-operative Bank) :—इसी प्रकार देश में केन्द्रीय सहकारी बैंक (Central Co-operative Banks) की संख्या 1971-72 में 341 थी। इनकी हिस्सा पूँजी 157.6 करोड़ रुपये थी तथा उस वर्ष उन्होंने 1109.7 करोड़ रुपये ऋण के रूप में दिया था।

भूमि-बंधक या भूमि-विकास बैंक (Land mortgage or Land Development Bank) :—इस प्रकार के बैंक किसानों को भूमि में सुधार के लिए दीर्घकालीन ऋण

प्रदान करते हैं। सहकारी साख समितियाँ किसानों को केवल अल्पकालीन तथा मध्यकालीन कर्ज प्रदान करती हैं। किन्तु समय-समय पर इन्हें दीर्घकालीन साख की भी आवश्यकता पड़ती है। दीर्घकालीन साख से वह अपने पुराने ऋणों को चुका सकता है, भूमि में स्थायी सुधार कर सकता है तथा कृषि-कार्य के लिए आवश्यक यन्त्र आदि खरीद सकता है। वास्तव में, भूमि-बंधक बैंक किसानों को उत्पादक तथा अनुत्पादक दोनों ही प्रकार के कार्यों के लिए कर्ज देते हैं। 1971-72 में इस प्रकार के केन्द्रीय भूमि-बंधक-बैंकों (Central Land Development Banks) की संख्या 19 तथा प्रारम्भिक बैंकों की संख्या 868 थी तथा उस वर्ष इन्होंने 177.8 करोड़ रुपये ऋण के रूप में प्रदान किया था।

बहुधन्वी सहकारी समितियाँ (Multipurpose Co-operative Societies) :—बहुधन्वी सहकारी समितियाँ उन समितियों को कहते हैं जो केवल किसी एक कार्य को न करके अनेक कार्यों को करती हैं। इनका उद्देश्य अपने सदस्यों को केवल साख प्रदान करना ही नहीं होता, वरन् अनेक प्रकार से उनकी सहायता करना भी होता है। इसका उद्देश्य किसानों के आर्थिक जीवन का सर्वांगीण विकास (Co-operative should embrace all aspects of economic life of the village) करना है रिजर्व बैंक के अनुसार सहकारिता किसानों के लिए तभी लाभप्रद सिद्ध हो सकती है जब वह उनके जीवन में हर ओर से सहायता दे। इसी बात का लेकर रिजर्व बैंक ने बहुधन्वी सहकारी समितियों का जोरदार समर्थन किया है। 'रॉयल कमीशन ऑन एग्री-कल्चर' ने तो एक-धन्वी समितियों की ही सिफारिश की थी, लेकिन पिछले कुछ समय से जवमत बहुधन्वी समितियों की स्थापना के पक्ष में है। योजना आयोग का भी यह कहना है कि भारत के आर्थिक ढाँचे में बहुधन्वी समितियों का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है।

इस प्रकार बहुधन्वी समितियों का भारतीय किसानों के आर्थिक जीवन में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। आजकल किसान आवश्यकता पड़ने पर साख समितियों से कर्ज तो लेता है, पर कर्ज देने के बाद समिति से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। जब कर्ज चुकाने का समय आता है, तो वह समिति से दूर भागने का प्रयत्न करता है। लेकिन, बहुधन्वी समितियों के सदस्यों का इनके साथ स्थायी सम्बन्ध हो जाता है, क्योंकि समिति उनके जीवन के हरेक पहलू में सहायक होती है। साख-विभाग कर्ज देता है, विक्रय विभाग उसकी उपज की विक्री में सहायता देता है, उपभोक्ता विभाग उसे उपभोग की वस्तुएँ देता है, उत्तम कृषि-विभाग उसकी कृषि सम्बन्धी आवश्यकताओं; जैसे—खाद, उत्तम बीज, नये-नये वैज्ञानिक औजार आदि की पूर्ति करता है, भूमि की चकबन्दी की व्यवस्था की जाती है,



## भारत में सहकारिता आन्दोलन

सहायक उद्योग-धन्धों के विकास तथा गाँव के स्वास्थ्य एवं सफाई इत्यादि पर ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार बहुधन्धी समितियाँ गाँव की सभी मुख्य समस्याओं को हल कर गाँव के सार्वजनिक कार्यों के केन्द्र के रूप में कार्य करती हैं।

अतः आजकल बहुधन्धी समितियों की स्थापना पर बहुत अधिक जोर दिया जा रहा है। साथ ही, बहुत-सी समितियों को बहुधन्धी समितियों के रूप में बदला जा रहा है। 1957-58 ई० में बहुधन्धी समितियों की संख्या प्रायः 75 हजार, इनके सदस्यों की संख्या 43 लाख तथा इनकी कार्यशील पूँजी 561 करोड़ रुपये थी। अन्य राज्यों की अपेक्षा उत्तर प्रदेश में सबसे अधिक बहुधन्धी समितियाँ हैं। 1957-58 ई० में देश में कुल 75 हजार बहुधन्धी समितियों में से 42 622 समितियाँ केवल उत्तर प्रदेश में थीं। बहुधन्धी समितियों के विकास के लिए इस राज्य में एक योजना बनायी गयी थी जिससे इनकी संख्या में इतनी वृद्धि हुई है। वहाँ रजिस्ट्रेशन में एकधन्धी समितियों की अपेक्षा बहुधन्धी समितियों को प्राथमिकता दी जाती है। बिहार में बहुधन्धी समितियों की संख्या 1951-52 के अन्त में 5890; इनके सदस्यों की संख्या 2.41 लाख तथा इनकी कार्यशील पूँजी 52.23 लाख रुपये थी। उसी वर्ष इव समितियों द्वारा 1836.7 लाख रुपये के सामान की विक्री की गयी थी।

बहुधन्धी समितियों की सफलता का प्रमुख कारण युद्धकाल में वस्तुओं का अभाव तथा वितरण पर नियन्त्रण था। सरकार नियन्त्रित वस्तुओं के वितरण में इन्हीं समितियों को प्रधानता देती थी। अतः नियन्त्रण के समय में इन समितियों की विक्री बहुत अधिक बढ़ गयी थी। किन्तु नियन्त्रण समाप्त हो जाने के बाद पुनः इनकी आय में कमी होने लगी है जिसे बढ़ाने के लिए इन्हें अपने कार्यों को अधिक विस्तृत करना होगा।

### भारत में सहकारिता आन्दोलन की प्रगति का मूल्यांकन

#### (Review of the Progress of Co-operative Movement in India)

भारत में सहकारिता आन्दोलन के प्रायः 75 वर्ष बीत चुके हैं, लेकिन अभी तक इस आन्दोलन से देश की अधिकांश जनता को कोई लाभ नहीं पहुँच सका है। 1971-72 ई० में कुल 324 हजार समितियाँ थीं, जिनके सदस्यों की संख्या 614 लाख तथा कार्यशील पूँजी प्रायः 7965 करोड़ रु० थी। एक औसत परिवार की संख्या 5 रखने पर भी यह कहा जा सकता है कि सहकारिता आन्दोलन के अन्तर्गत जून 1972 ई० तक केवल 33 करोड़ या कुल जनसंख्या के केवल प्रायः 62 प्रतिशत व्यक्ति ही

लाये गये थे। 1971-72 ई० में 1.59 लाख प्रारम्भिक कृषि-साख समितियाँ थीं जिनके सदस्यों की संख्या 450 लाख थी तथा कुल दिया गया कर्ज 601 करोड़ रुपये था। ये समितियाँ प्रायः 90 प्रतिशत गाँवों में पायी जाती थीं तथा इनके अन्तर्गत कुल ग्रामीण जनसंख्या का प्रायः 45 प्रतिशत भाग लाया गया था। चतुर्थ योजना के अन्त तक 100 प्रतिशत गाँवों तथा 75 प्रतिशत ग्रामीण जनता को इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत लाने का आयोजन था।

फिर भी सहकारिता आन्दोलन से किसानों को बहुत-से लाभ हुए हैं। इनकी ऋणग्रस्तता कम हुई है। साथ ही, इससे नैतिक लाभ भी प्राप्त हुए हैं। वे ही व्यक्ति इन समितियों के सदस्य बन सकते हैं जो जुबारी, गरीब, मुकदमेबाज तथा झगड़ालू आदि नहीं हैं और अपनी ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार सहकारिता के प्रभाव से इन दृष्टिकोणों को त्यागने की प्रवृत्ति बढ़ रही है तथा लोग स्वावलम्बन, सहयोग, एकता एवं मितव्ययिता आदि गुणों को अपना रहे हैं। इससे सदस्यों का चारित्रिक एवं नैतिक विकास भी हो रहा है।

### भारत में सहकारिता आन्दोलन की त्रुटियाँ (Shortcomings of the Co-operative Movement in India)

इस समय भारत में सहकारिता आन्दोलन में अनेक त्रुटियाँ पायी जाती हैं। इनकी प्रगति में बहुत-सारी बाधाएँ हैं जिनके फलस्वरूप इसे संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। सहकारिता आन्दोलन के विकास के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए समय-समय पर सरकार द्वारा विभिन्न समितियाँ नियुक्त की गयी थीं जिन्होंने इस आन्दोलन में निम्नलिखित त्रुटियाँ अनुभव की हैं:—

(i) साख एवं विक्रय में संयोजन का अभाव (Lack of Co-ordination between credit and marketing):—ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की सिफारिशों के अनुसार भारत में सहकारिता आन्दोलन के विफल होने का प्रधान कारण साख एवं विक्रय-व्यवस्था में संयोजन का अभाव है। सहकारिता आन्दोलन को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए साख एवं विक्रय के अन्तर्गत आनेवाली सारी क्रियाओं में संयोजन अनिवार्य है, किन्तु भारतीय ग्रामों में इस प्रकार की बात नहीं पायी जाती है। वास्तव में, भारत में सहकारिता आन्दोलन का विकास अव्यवस्थित ढंग से हुआ है जिससे ग्रामीण क्षेत्रों की विभिन्न क्रियाओं में संयोजन का अभाव पाया जाता है।

(2) सदस्यों का सहकारिता के सिद्धांत से पूर्णरूप से अवगत न होना (Lack of wider understanding of the principles of Co-operation):—सहकारी समितियों के अधिकांश सदस्य अशिक्षित एवं सहकारिता के सिद्धांतों से बिल्कुल अवभिज्ञ रहते हैं। उन्हें सहकारिता



के सिद्धांतों का पूरा-पूरा ज्ञान भी नहीं रहता है जिससे वे समितियों के कार्यवाही में बहुधा भाग नहीं लेते। वे समितियों को केवल महाजन एवं साहूकार की ही तरह साख-व्यवस्था का ही एक रूप मानते हैं। अतः अधिकांश सदस्य इनमें कोई दिलचस्पी नहीं लेते। कभी-कभी आपसी झगड़ों के कारण समिति के टूट जाने की आशंका भी बनी रहती है।

(3) ऋण मिलने में विलम्ब का होना (Delay in obtaining loans):—सहकारी समितियों से किसानों को कर्ज मिलने में प्रायः देर हो जाती है। ऐसा कहा जाता है कि कर्ज के लिए आवेदन पत्र देने के कई महीने बाद कर्ज प्राप्त होता है। इस विलम्ब के कारण आर्थिक सहायता प्रायः बेकार हो जाती है। फलस्वरूप किसानों को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए महाजनों की शरण लेनी पड़ती है। इस प्रकार सहकारिता का मुख्य उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता और इसके विरुद्ध असन्तोष की भावना फैलने लगती है।

(4) गैर-साख समितियों की ओर कम ध्यान दिया जाता है (Neglect of Non-Credit Societies):—सहकारी समितियों के संगठन में गैर-साख समितियों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। हमारे देश में साख समिति का ही बाहुल्य है। फलस्वरूप सहकारिता का प्रवेश जीवन के केवल एक अंश में ही हो पाया है। 1951-52 में कुल सहकारी समितियाँ में से केवल 31 प्रतिशत समितियाँ ही गैर-साख समितियाँ थीं। लेकिन किसान तथा मजदूरों की समस्याओं का वास्तविक समाधान केवल उन्हें साख देकर ही नहीं किया जा सकता, वरन् उनके सर्वांगीण विकास के लिए गैर-साख समितियों का विकास भी आवश्यक है।

(5) सूद की ऊँची दर (High Rate of Interest):—साधारणतः यह देखा जाता है कि प्रारम्भिक समितियाँ प्रायः ऊँची दर से ब्याज वसूल करती हैं। मध्य प्रदेश में सूद की दर 10 प्रतिशत, उत्तर प्रदेश में 9 प्रतिशत, बिहार में 10 से 15 प्रतिशत, मद्रास में  $7\frac{1}{2}$  प्रतिशत, महाराष्ट्र में 9 प्रतिशत और बंगाल में 8 प्रतिशत है। राज्य सहकारी बैंकों के केन्द्रीय बैंक कर्ज लेते हैं तथा ये प्राथमिक समितियों को कर्ज देते हैं। हर एक संस्था कुछ-कुछ सूद लेती है और इस प्रकार सदस्यों तक पहुँचते-पहुँचते सूद की दर बहुत अधिक हो जाती है। अतः किसान महाजन से ही अपेक्षाकृत कम ब्याज की दर पर कर्ज प्राप्त कर लेता है। साथ ही, उनके लेन-देन का कार्य भी गुप्त रहता है जिससे समाज में इनकी मर्यादा कायम रहती है।

(6) व्यवस्था की खराबी :—सुयोग्य कार्यकर्त्ताओं के अभाव में समितियों के संचालन में भी अनेक त्रुटियाँ

पायी जाती हैं। समितियों के संचालकों का उचित रूप से चुनाव नहीं होता। ये लोग कर्ज देने में विवेक से काम नहीं लेते। इससे कर्ज के भुगतान में बहुत अधिक कठिनाइयाँ होती हैं। कृषि आयोग के शब्दों में; “समिति के सदस्य शक्ति होने पर भी समय पर कर्ज का भुगतान नहीं करते, सहकारिता के सिद्धांत तथा ग्रामीण कर्ज की आवश्यक बातों का उन्हें ज्ञान भी नहीं होता, पदाधिकारी, रुपया न चुकाने वालों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं करते तथा इनमें सहकारिता की भावना का सर्वथा अभाव रहता है। नियम भंग करने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जाती।”<sup>1</sup> अतः सहकारी समितियों की व्यवस्था सुचारु रूप से नहीं होती।

(7) सरकारी नियन्त्रण का आधिक्य :—भारत में सहकारिता आन्दोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके विकास में सरकार का बहुत बड़ा हाथ रहा है। आम जनता समितियों की कार्यवाही में बहुत कम रुचि लेती है। बहुत से लोग तो इन समितियों को सरकारी संस्थाएँ भी समझते हैं। इस प्रकार की भावना सहकारिता के सिद्धांत के प्रतिकूल है। साथ ही, सरकारी कर्मचारियों में समाज सेवा का अभाव पाया जाता है। अतएव समितियों की कार्यवाही में सहकारी हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए, तभी ये सफलतापूर्वक अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर सकती हैं।

इन सभी त्रुटियों के अतिरिक्त और भी बहुत-सी त्रुटियाँ हैं; जैसे सदस्यों का अनुचित चुनाव, सदस्यता के क्षेत्र का विस्तृत होना, समितियों का दोषपूर्ण विधान, सदस्यों के अन्दर स्वार्थ की भावना की प्रबलता, पूँजी की कमी तथा आपसी मतभेद आदि। इससे स्पष्ट है कि भारत में सहकारिता आन्दोलन की त्रुटियों का सम्बन्ध आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सभी क्षेत्रों से है। इन्हीं सब कारणों से भारत में सहकारिता आन्दोलन की संतोषजनक प्रगति नहीं हुई है। जब तक इन त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न नहीं किया जायगा, सहकारिता आन्दोलन के विकास में कठिनाई होती ही रहेगी।

### पंचवर्षीय योजनाएँ एवं सहकारिता आन्दोलन (Co-operation under Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में सहकारिता आन्दोलन का विकास (Development of Co-operative Movement in the First Five Year Plan):—प्रथम पंचवर्षीय योजना में सहकारिता के विकास की विशेष महत्त्व दिया गया था। योजना आयोग की राय में सहकारिता का विकास प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के लिए अत्यन्त आवश्यक है, अतः योजना के अन्तर्गत सहकारिता के प्रचार की विशेष व्यवस्था की गयी थी। प्रथम योजना

#### 1. Review of the First Five Year Plan.



के पाँच वर्षों में देश में सहकारी समितियों की संख्या, 1,80,000 से बढ़कर प्रायः 2,40,000, इनके सदस्यों की संख्या 137.2 लाख से बढ़कर 176.2 लाख तथा इनकी कार्यशील पूँजी 376 करोड़ रुपये से बढ़कर 469 करोड़ रुपये हो गयी। प्रथम योजना के अन्त में 1,98,679 कृषि समितियाँ थीं जिनमें से 1,59,931 अथवा प्रायः 8 प्रतिशत साख समितियाँ थीं। इसी प्रकार 37,743 गैर-कृषि समितियाँ थीं जिनमें से 73 प्रतिशत गैर-साख समितियाँ थीं। प्रथम योजना में इस बात की व्यवस्था की गयी थी कि सहकारी समितियाँ तथा सरकार द्वारा कृषि को दिया जानेवाला कर्ज 1955-56 ई० तक 135 करोड़ रुपये हो जाना चाहिए था, किन्तु इस क्षेत्र में लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकी तथा सहकारी समितियों द्वारा दिया जानेवाला कर्ज प्रथम योजना के अन्त तक केवल 43 करोड़ रुपये ही हो सका। योजनाकाल में औद्योगिक सहकारी समितियों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। इस प्रकार प्रथम योजना के अन्तर्गत सहकारिता के विकास को उच्च प्राथमिकता प्राप्त थी। योजनाकाल में सहकारिता के विकास पर कुल 7 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था।

**द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सहकारिता आन्दोलन की प्रगति (Progress of the Co-operative Movement in the Second Five Year Plan) :—** द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी सहकारिता आन्दोलन के चतुर्दिक विकास पर जोर दिया गया था। योजना के अन्तर्गत भारतीय ग्रामीण जीवन के चतुर्दिक विकास के लिए सहकारिता का संगठन आवश्यक बतलाया गया था। इस उद्देश्य से निम्न बातों पर जोर दिया गया था—(1) सर्वप्रथम तो सहकारी समितियों का सम्बन्ध गाँव के विभिन्न कार्यों से होना चाहिए। इनके क्षेत्र को केवल ग्रामीण साख तक ही सीमित रखना उचित नहीं होगा। (2) गाँव के प्रत्येक परिवार का एक व्यक्ति किसी सहकारी समिति का सदस्य अवश्य रहे। इन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर कार्य करने से सहकारिता के विकास में निस्संदेह सुविधा होगी। योजनाकाल में इस मद में 47 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की सिफारिशों के आधार पर योजना काल में सहकारिता के विकास के लिए एक विस्तृत कार्यक्रम तैयार किया गया था। योजना

के अन्तर्गत 1960-61 ई० तक सहकारी समितियों द्वारा कृषि को प्रदान किये जानेवाले अल्पकालीन साख का लक्ष्य 150 करोड़ रुपये, मध्यकालीन साख का 50 करोड़ रुपये तथा दीर्घकालीन साख का लक्ष्य 25 करोड़ रुपये रखा गया था। योजनाकाल में 10,400 बड़े आकार की समितियाँ, 1800 प्रारम्भिक विक्रय-समितियाँ, 35 सहकारिता के आधार पर चीन्ही के कारखाने, 48 सहकारी रुई जीन के कारखाने तथा 118 अन्य प्रकार की सहकारी समितियों के संगठन का आयोजन था। योजना में केन्द्रीय तथा राज्य गोदाम निगमों द्वारा 350 गोदाम, विक्रय-समितियों के लिए 1500 गोदाम तथा बड़े आकार की प्राथमिक कृषि-साख समितियों के लिए 4 हजार गोदाम बनाने की व्यवस्था थी।

ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के अनुसार 1951-52 ई० में कृषकों के कुल ऋण की आवश्यकताओं का 3.1 प्रतिशत सहकारी समितियों द्वारा पूरा किया जाता था जबकि 1961-62 ई० में सहकारी समितियों तथा भूमि-बन्धक बैंकों द्वारा किसानों की कुल आवश्यकता का 25.8 प्रतिशत भाग पूरा किया जाने लगा।

**तृतीय पंचवर्षीय योजना में सहकारिता (Co-operation in the Third Five Year Plan) :—** तृतीय पंचवर्षीय योजना में सहकारिता के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। जुलाई, 1959 ई० में श्री जी० एल० मेहता की अध्यक्षता में कृषि-साख के विस्तार के अध्ययन के लिए एक समिति की नियुक्ति की गयी थी जिसने मई, 1960 ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था। समिति के प्रतिवेदन पर जून, 1960 ई० में विभिन्न राज्यों के सहकारिता मन्त्रियों की एक बैठक में विचार किया गया। इस आधार पर भारत सरकार ने राज्यों की सहकारिता सम्बन्धी नीति के सम्बन्ध में नये निर्देश दिये जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

(1) ग्रामीण समितियों के संगठन में कम-से-कम गाँवों को रखना चाहिए जिससे सहकारिता की मूलभूत विशेषताएँ; जैसे—घनिष्ठ सम्पर्क, पारस्परिक सहयोग आदि की पूर्ति की जा सके।

(ii) राज्य इस प्रकार की प्रारम्भिक समितियों की हिस्सा पूँजी में प्रारम्भ में 5 से 8 वर्षों तक सम्मिलित हो सकता है। इन समितियों के उचित विकास के बाद



राज्य धीरे-धीरे इनसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है ।

(iii) राज्य प्रत्येक समिति द्वारा दिये गये अतिरिक्त ऋण के 3 प्रतिशत तथा सहकारी बैंक के ऋण के 50 प्रतिशत तक अनुदान के रूप में दे सकता है ।

|                                                             | द्वितीय योजना<br>की उपलब्धियाँ<br>(1960-61) | तृतीय योजना<br>की उपलब्धियाँ<br>(1965-66) | चतुर्थ योजना<br>की उपलब्धियाँ<br>(1973-74) |
|-------------------------------------------------------------|---------------------------------------------|-------------------------------------------|--------------------------------------------|
| प्रारम्भिक साख समितियों की संख्या (लाख में),                | 2.1                                         | 1.97                                      | 1.20                                       |
| सदस्यों की संख्या (करोड़ में)                               | 1.7                                         | 2.7                                       | 4.2                                        |
| गाँव का प्रतिशत                                             | 75                                          | 90                                        | 100                                        |
| कृषि पर आश्रित जनसंख्या जो इसके अन्तर्गत लायी गयी (प्रतिशत) | 30                                          | 45                                        | 60                                         |
| सहकारिता के माध्यम से दिये जाने वाले ऋण                     |                                             |                                           |                                            |
| अल्प एवं मध्यकालीन (करोड़ रु० में)                          | 203                                         | 346                                       | 750                                        |
| दीर्घकालीन , , , ,                                          | 38                                          | 165                                       | 700                                        |

तृतीय पंचवर्षीय योजना में सहकारिता आन्दोलन के क्षेत्र में निम्नांकित प्रगति हुई : योजना के अन्त में कुल गाँवों के प्रायः 90 प्रतिशत भाग में सहकारी साख समितियों की स्थापना की जा चुकी थी जबकि जून, 1961 ई० तक इसका प्रतिशत केवल 75 था । इनकी सदस्य-संख्या 170 लाख से बढ़कर 270 लाख हो गयी थी तथा 45 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या में सहकारी समितियों की स्थापना हो चुकी थी जबकि जून 1961 तक इसका प्रतिशत केवल 30 था । तृतीय योजना में सहकारिता के विकास पर अनुमानतः 75.6 करोड़ रुपये व्यय किये गये । साथ ही, योजना के अन्त में इनके द्वारा 346 करोड़ रुपये अल्प एवं मध्यकालीन ऋण के रूप में तथा 165 करोड़ रुपये दीर्घकालीन ऋण के रूप में दिया गया था । इनका तीन-चौथाई भाग केवल 6 राज्यों—महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु, गुजरात, आंध्र प्रदेश तथा पंजाब में दिया गया था । शेष राज्यों में सहकारिता की प्रगति अभी संतोषजनक नहीं हो पायी थी ।

तीन वार्षिक योजनाओं (Three Annual Plan) के अन्तर्गत सहकारिता आन्दोलन के विकास पर 63.9 करोड़ रुपये व्यय किये गये । 1968-69 तक 48 प्रतिशत ग्रामीण कृषक परिवारों को सहकारिता

उपरोक्त निर्देशों के आधार पर राष्ट्रीय विकास परिषद् (National Development Council) ने इस सम्बन्ध में यह लक्ष्य रखा था कि तृतीय योजना के अन्त तक, यानी 1965-66 ई० तक सभी गाँवों को तथा कुल कृषक परिवार के प्रायः 60 प्रतिशत भाग को सहकारिता आन्दोलन के अन्तर्गत लाया जाय ।

के अन्तर्गत लाया गया था तथा उस वर्ष 120 करोड़ रुपये दीर्घकालीन एवं 490 करोड़ रुपये अल्पकालीन ऋण सहकारिता के माध्यम से प्रदान किया गया था । 1968-69 में सहकारी उत्पादन इकाइयों की संख्या बढ़कर 1600 हो गयी । सहकारिता के माध्यम से 200 करोड़ रुपये की खाद का वितरण किया गया था । इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में इनके माध्यम से 275 करोड़ रुपये तथा शहरी क्षेत्रों में 270 करोड़ रुपये की उपभोक्ता वस्तुओं का वितरण हुआ था ।

चतुर्थ योजना में सहकारिता (Co-operation in the Fourth Five Year Plan) :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सहकारिता के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हुई । चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्त तक प्रारम्भिक कृषि-साख समितियों की संख्या बढ़कर 1.5 लाख हो गयी जिससे इसके अन्तर्गत 60 प्रतिशत कृषक परिवारों तथा देश के प्रायः 90 प्रतिशत गाँवों को इस व्यवस्था के अंतर्गत थी । चतुर्थ योजना के अन्त, यानी 1973-74 तक दीर्घकालीन ऋण के रूप में 900 करोड़ रुपये तथा अल्प एवं मध्यकालीन ऋण के रूप में 900 करोड़ रुपये का वितरण किया गया । साथ ही, 1973-74 तक सहकारी समितियों के द्वारा 1100 करोड़ रुपये के कृषि-पदार्थों का विक्रय किया गया ।



चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सहकारिता आन्दोलन के विकास पर 258 करोड़ रुपये व्यय किया गया। योजनाकाल में विक्रय समितियों के लिए 1400 गोदाम, 20 हजार ग्रामीण गोदाम तथा 32 सहकारिता के आधार पर चीनी कारखानों की स्थापना की व्यवस्था थी। इस क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई।

पाँचवीं योजना में सहकारिता (Co-operation in the Fifth Five Year Plan) :—पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में भी सहकारिता के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया था। योजना काल में सहकारिता आन्दोलन के विकास पर 376 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। पाँचवीं योजना काल में सहकारिता के माध्यम से अल्पकालीन ऋण के रूप में 1300 करोड़ रुपये तथा मध्यकालीन ऋण के रूप में 325 करोड़ रु० देने का आयोजन था। इसी प्रकार भूमि विकास बैंकों (Land Development Banks) के द्वारा दीर्घकालीन ऋण के रूप में 1500 करोड़ रुपये देने का आयोजन था। 1977-78 तक अल्पकालीन साख का स्तर 1650 करोड़ रुपये, 238 करोड़ रुपये तथा मध्यकालीन साख दीर्घकालीन साख 410 करोड़ रुपये का हो गया था। इसी प्रकार योजना के अन्त तक सहकारी समितियों द्वारा 1900 करोड़ रुपये के कृषि-पदार्थों के विक्रय का आयोजन था। सहकारी गोदाम

की क्षमता को 1973-74 में 33 लाख टन से बढ़ाकर पाँचवीं योजना के अन्त में 68 लाख टन करने का आयोजन था। पाँचवीं योजना में सहकारी साख नीति का प्रधान उद्देश्य छोटे-छोटे किसानों तथा बटाइदारों तक आवश्यक साख को पहुँचाना रखा गया।

छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan) में सहकारिता आन्दोलन के विकास पर 475 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। योजनाकाल में किसानों को इनके निकट के स्थान से ही अल्प, मध्यम तथा दीर्घकालीन-कर्ज प्रदान करने की व्यवस्था का प्रयास किया जायगा। इस उद्देश्य से बहुउद्देशीय प्राथमिक सहकारी समितियों को ग्रामीण ढाँचे में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इस प्रकार की इकाइयों की स्थापना विकसित क्षेत्रों में कृषक सेवा समितियों (Farmers Service Societies) तथा अविकसित क्षेत्रों में LAMPS यानी (Large Sized Multipurpose societies) के रूप में किया जायगा। व्यावसायिक बैंकों की ग्रामों में स्थित शाखाएँ या ग्रामीण बैंक इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य करेंगे। छठी योजना की अवधि में सार्वजनिक वितरण व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने का आयोजन है। इसके साधन के रूप में उपभोक्ता सहकारी समितियों को महत्व प्रदान करने का आयोजन है।

### विशेष अध्ययन-सूची

- |                          |                                                         |
|--------------------------|---------------------------------------------------------|
| 1. Reserve Bank of India | : Review of the Co-operative Movement in India          |
| 2. Govt. of India        | : Report of the Committee on Co-operative Credit (1960) |
| 3. Reserve Bank of India | : All India Rural Credit Survey Report II.              |
| 4. Planning Commission   | : First, Second, Third, Fourth & Fifth Five Year Plans. |
| 5. Planning Commission   | : Draft Five Year Plan (1978-83).                       |

—:०:—



## अध्याय : 24

## सामुदायिक विकास योजना

## (Community Development Project)

प्राक्कथन—भारत गाँवों का देश है। महात्मा गाँधी के शब्दों में भारत की आत्मा इसके गाँवों में निवास करती है। 1971 ई० की जनगणना के अनुसार भारत के लगभग 80 प्रतिशत व्यक्ति यहाँ के प्रायः 6 लाख गाँवों में निवास करते हैं। चिरकाल से भारत के समस्त राष्ट्रीय जीवन की इकाई इसके ग्रामों में ही केन्द्रीभूत रही है। किन्तु आज भारतीय ग्रामों की स्थिति अत्यन्त ही शोचनीय है। वे अपना भूतपूर्व महत्त्व खो बैठे हैं। अंग्रेजों ने इनकी समृद्धि का अपहरण कर सात समुद्र पार अपने महलों में घी के दिये जलाये एवं गाँवों के शिक्षित तथा उर्वर मस्तिष्कों ने इनसे घृणा कर इनका परित्याग कर दिया। फलस्वरूप हमारे गाँव आज शोषितों, अशिक्षितों, दरिद्रों तथा परित्यक्तों के शमशान बन गये हैं। मानव-जीवन से सम्बद्ध समस्त दोष इनमें केन्द्रीभूत हो गये हैं। समाज के शिक्षित, विद्वान, कुशल तथा साहसी व्यक्ति गाँवों में रहने में आज अपने आप को असमर्थ पाते हैं। अतः यदि गाँवों को हम राष्ट्र की व्यवस्था में सहयोगी इकाई के रूप में परिणत करना चाहते हैं तो हमारा कर्तव्य है कि इनके सभी दोषों का परिष्कार कर उन्हें ऐसा विकसित एवं मनोरंजक स्थल बना दें कि वे पुनः हमारी सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था के केन्द्र बन जाएँ। ऐसा किये बगैर देश का आर्थिक तथा सामाजिक विकास संभव नहीं है।

इस प्रकार भारत के आर्थिक विकास के लिए यहाँ के प्रायः 6 लाख ग्रामों के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना अनिवार्य है। हमारे ग्राम के प्रत्येक अंग विकृत हो चुके हैं; अतः सुधार के लिए हमें इनके सर्वांगीण विकास, यानी इनके सभी अंगों के विकास का एक ही साथ प्रयत्न करना होगा। स्फट प्रयत्नों से इनका विकास सम्भव नहीं। अतः हमें एक ही साथ ग्रामों का आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक पुनर्निर्माण करना है। इसके लिए कृषि की उन्नति, मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था, शिक्षा, सफाई तथा चिकित्सा का प्रबन्ध, आपस के विद्वेष, संघर्ष तथा मुकदमेबाजी का अन्त, बेकारी, ऋणग्रस्तता तथा पशु-धन की समस्या का समाधान, यातायात एवं संवादवाहन के साधनों का विकास, ग्रामीण जनता में नवीन आज्ञा का संचार आदि अनेक कार्यों की आवश्यकता है।

भारत में ग्राम-सुधार के प्रयास :—अंग्रेजी शासन-काल में गाँवों के विकास के लिए सरकार द्वारा प्रायः कोई भी प्रयत्न नहीं किया गया। ग्रामीण आतावरण के

प्रति सरकार का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही प्रायः विद्वेषपूर्ण था। किन्तु हमारे देश के राजनीतिज्ञों तथा समाज-सुधारकों ने ग्रामीण पुनर्निर्माण में ही राष्ट्रोद्धार का स्वप्न देखा था। महात्मा गाँधी ने राष्ट्रीय संग्राम के साथ-साथ ग्रामीण विकास को भी अपना परम कर्तव्य समझा तथा ग्रामीण जीवन के उत्थान के लिए उनके नेतृत्व में अखिल भारतीय चर्खा संघ एवं अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ ने ग्रामीण भारत में एक नयी जान फूँक दी। इसी प्रकार रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी इस दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

1935 ई० के सांविधानिक संशोधन के पश्चात् सरकार का भी ध्यान धीरे-धीरे इस ओर आकर्षित होने लगा और केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तों को इस कार्य के लिए 1 करोड़ रुपये अनुदान के रूप में दिया। सन् 1937 ई० में विभिन्न प्रान्तों में काँग्रेसी सरकारों की स्थापना के बाद ग्राम-सुधार का कार्य तीव्र गति से प्रारम्भ हुआ। प्रायः प्रत्येक प्रान्त में ग्राम-सुधार के लिए एक पृथक् विभाग की स्थापना की गयी और ग्रामीण जीवन के सर्व-तोमुखी विकास की योजनाएँ कार्यान्वित की जाने लगीं। किन्तु इन प्रयत्नों की सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि सरकार के विभिन्न विभागों के प्रतिनिधि अपने विभागीय उद्देश्यों को लेकर पृथक्-पृथक् रूप से ग्रामीणों के पास पहुँचते थे जिससे बेचारा ग्रामीण क्लिप्त-व्यविमूढ़ हो जाता था और इनके सारे प्रयत्न प्रभावहीन हो जाते थे। वास्तव में ग्रामीण जीवन पृथक्-पृथक् इकाइयों में विभाजित नहीं है, प्रत्युत् एक अविच्छिन्न सम्पूर्ण इकाई है। अतः ग्रामीण विकास के कार्यों का भी परस्पर सम्बद्ध होना अनिवार्य है, यानी इसके लिए एक सम्मिलित प्रयास आवश्यक है। इन प्रयत्नों की दूसरी त्रुटि यह थी कि इनसे ग्रामीण जनता में कोई उत्साह का संचार नहीं होता था क्योंकि ग्रामीण विकास की प्रेरणा ऊपर से आती थी। अतः ग्रामीण प्रायः इनका स्वागत नहीं करते थे। ग्रामीण विकास के लिए ग्रामवासियों में उत्साह का संचार आवश्यक है, अन्यथा ग्रामीण विकास की कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती।

## सामुदायिक विकास योजना

## (Community Development Project)

इस प्रकार देश में आयोजित विकास की सफलता के लिए ग्रामवासियों को उसमें सक्रिय रूप से सम्मिलित करना



अनिवार्य है। Grow More Food Enquiry Committee के निम्न विवरण से यह अधिक स्पष्ट होता है : "No plan has any chance of success unless the million of small farmers in the country accept its objectives, share in the making, regard it as their own and are prepared to make the sacrifices necessary for implementing it." अतएव ग्रामीण विकास के उपरोक्त अनुभवों के आधार पर योजना आयोग ने ग्रामीण विकास के लिए सामुदायिक विकास योजना नामक एक विस्तृत कार्यक्रम तैयार किया। संयुक्त राष्ट्र-संघ (United Nations) के एक विवरण के अनुसार "सामुदायिक विकास का तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा जनता के प्रयत्नों को सरकारी अधिकारियों द्वारा समाज के आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों में सुधार के प्रयत्नों के साथ-साथ समन्वित किया जाता है तथा इस प्रकार इन्हें राष्ट्र के जीवन के अंग के रूप में बना दिया जाता है जिससे राष्ट्रीय विकास में ये अपना पूरा-पूरा सहयोग प्रदान कर सकें।" (The term Community Development has come to connote the process by which efforts of the people themselves are united with those of governmental authorities to improve the economic, social and cultural conditions of communities, to integrate these communities into the life of the nation and to enable them to contribute fully to the national progress. "इसे 2 अक्टूबर, 1952 ई० से प्रारम्भ किया गया। इस कार्यक्रम के अनुसार सम्पूर्ण देश को अनेक योजना क्षेत्रों में विभाजित किया गया। प्रत्येक योजना क्षेत्र में प्रायः 300 ग्राम होते हैं जिनका क्षेत्र लगभग 500 वर्गमील तथा जनसंख्या प्रायः 2 लाख होती है एवं कृषि योग्य भूमि का क्षेत्रफल  $1\frac{1}{2}$  लाख एकड़ होता है। पुनः प्रत्येक योजना क्षेत्र को तीन विकास खण्डों (Development Blocks) में विभाजित करने की व्यवस्था है। प्रत्येक विकास खंड में प्रायः एक सौ ग्राम होते हैं जिनकी जनसंख्या 50 से 70 हजार होती है। प्रत्येक खंड को पाँच-पाँच ग्रामों के समूहों में विभाजित किया गया है और प्रत्येक ग्राम समूह एक ग्राम-स्तर कर्मचारी (Village Level Worker) का कार्यक्षेत्र रहता है। अप्रैल, 1958 ई० तक यह कार्यक्रम तीन स्तरों में कार्यान्वित होता था। किन्तु संशोधित तरीके के अनुसार पाँच वर्षों के विस्तृत कार्यक्रम के बाद यह पुनः पाँच वर्षों के लिए चलता है। पर व्यय की रकम कम कर दी जाती है। प्रथम स्तर प्रारम्भ होने के पूर्व 1 वर्ष का एक पूर्व विकास स्तर का कार्य (Pre-extension phase) भी चलता है।

**राष्ट्रीय विस्तार सेवा (National Extension Services) :**—सामुदायिक विकास कार्यक्रम प्रारम्भ होने से लोगों में व्यापक उत्साह का संचार होने लगा तथा ऐसे कार्यक्रम प्रारम्भ करने की माँग चारों ओर से होने लगी। किन्तु साधनों तथा प्रशिक्षित कर्मचारी मण्डल के अभाव में एक ही साथ सर्वत्र ऐसे केन्द्र प्रारम्भ करना सम्भव नहीं था। अतः, एक दूसरा कार्यक्रम राष्ट्रीय विस्तार सेवा (National Extension Services), जो अपेक्षाकृत कम विस्तृत था, प्रारम्भ करने की योजना तैयार की गयी। इसे 2 अक्टूबर, 1953 ई० से प्रारम्भ किया गया। साथ ही, यह निर्दिष्ट किया गया कि राष्ट्रीय-विस्तार सेवा-खण्डों में से ही कुछ क्षेत्र प्रति वर्ष सामुदायिक विकास कार्यक्रम के लिए चुने जायेंगे। प्रत्येक खण्ड में 1 वर्ष तक कार्य करने के पश्चात् 3 वर्ष तक वह सामुदायिक विकास कार्यक्रम का कोटि में आ जायगा और 3 वर्ष के व्यापक कार्यक्रम के बाद पुनः राष्ट्रीय विस्तार सेवा की कोटि में चला जायगा। इस प्रकार राष्ट्रीय विस्तार-सेवा का रूप स्थायी होगा।

सामुदायिक विकास योजनाओं एवं राष्ट्रीय विस्तार-सेवा का एक-मात्र उद्देश्य गाँवों में केवल पर्याप्त भोजन, वस्त्र, मकान, स्वास्थ्य एवं मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था करना ही नहीं है। ये बातें तो ग्रामीण जीवन के विकास के लिए आवश्यक हैं ही, किन्तु सबसे बड़ी बात ग्रामीण जनता के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना है। इनमें उच्चतम जीवन-मान की आकांक्षा पैदा करनी है तथा उनमें जीवन के प्रति एक नवीन आशा एवं नये तौर-तरीकों का संचार करना है। यह हमारी सब बड़ी समस्या है। योजना आयोग के अनुसार राष्ट्रीय विस्तार सेवाएँ तथा सामुदायिक संस्थाएँ लोकतांत्रिक योजना की जान हैं। इनके माध्यम से ही पंचवर्षीय योजनाओं को भारत की करोड़ों ग्रामीण जनता तक पहुँचाया जा सकता है। ये ही वे साधन हैं जिनके द्वारा स्थानीय तौर से, आपस में मिल-जुलकर सहयोग के आधार पर कार्य करते हुए ग्रामीण जनता एवं ग्रामों की सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन लाया जा सकता है।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम के महत्त्व का अन्दाजा निम्नलिखित कथन से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है : "प्रत्येक सामुदायिक खण्ड केन्द्रीय प्रयत्न का क्षेत्र है जिसमें सरकार के सभी विकास-सम्बन्धी अभिकरण स्थानीय संस्थाओं, जैसे पंचायत एवं सरकारी समितियों के साथ मिलकर कार्य करेंगे। इनमें जो कार्य किये जाते हैं उन्हें ग्रामीण जीवन के सर्वांगीण विकास का अभिन्न अंग समझा जाता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि कृषि के विकास की गति को तेज कर ये योजनाएँ सबल आर्थिक



आधार की सृष्टि करना चाहती हैं। इस आन्दोलन का उद्देश्य प्रत्येक परिवार तक विकास के मन्त्र को पहुँचाना है और ऐसी स्थिति की सृष्टि करना है जिसमें सम्पूर्ण समाज अधिक-से-अधिक प्रयत्न कर सके, स्थानीय श्रम-शक्ति एवं अन्य साधनों का पूरा-पूरा उपयोग करे और पारस्परिक कल्याण और उत्तरदायित्व के आधार पर प्रगति करे। इस प्रकार समाज में सामाजिक एकता की प्राप्ति होगी।”

### विकास कार्यक्रम (Development Projects)

भारत में सामुदायिक विकास योजनाओं का प्रारम्भ 2 अक्टूबर, 1952 ई० से हुआ जबकि देश भर में 55 विकास क्षेत्रों में विकास का कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। सामुदायिक विकास योजना का उद्देश्य ग्रामीण जीवन का सर्वतोमुखी विकास है, अतः इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत ग्रामासम्भव ग्रामीण जीवन के सभी पहलुओं को स्पर्श करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें कृषि एवं तत्सम्बन्धी कार्य-यातायात, शिक्षा, स्वास्थ्य, पुरक उद्योग-धन्धों का विकास, आवास (Housing), प्रशिक्षण (Training) तथा सामाजिक कल्याण के सम्बन्ध में विकास के कार्य किये जाते हैं।

अब इन विभिन्न कार्यक्रमों का निम्नांकित विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

(1) कृषि एवं तत्सम्बन्धी कार्यक्रम (Agriculture and Related matters) :—यह कार्यक्रम प्रथम योजनाकाल में तैयार किया गया था, अतः इसके अन्तर्गत कृषि तथा अधिक अन्न उपजाने पर विशेष ध्यान दिया गया था। कृषि को अधिक महत्त्व देने का कारण यह भी था कि भारत के ग्रामीण जीवन में कृषि की प्रधानता है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यक्रमों का आयोजन है— नयी एवं परती भूमि को कृषि-योग्य बनाना, उत्तम बीज एवं खाद की व्यवस्था करना, कृषि के उत्तम तरीकों का प्रचार, फल एवं तरकारी के उत्पादन में वृद्धि, कृषि बाजार एवं साख की समुचित व्यवस्था, पशु प्रजनन एवं चिकित्सा की सुविधा, भूमि के कटाव को रोकना, सहकारिता का विकास तथा कम्पोस्ट खाद का प्रयोग आदि। कृषि के क्षेत्र में सिंचाई की भी समुचित व्यवस्था की जायगी। प्रत्येक गाँव में ग्रामासम्भव एक बहुधन्वी सहकारी समिति की स्थापना की जायगी जिसका सदस्य प्रत्येक परिवार का एक व्यक्ति अवश्य होगा।

(2) यातायात :—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत गाँवों में सड़कों के विकास पर जोर दिया गया है। प्रत्येक क्षेत्र में सड़कों का विकास इस प्रकार से करने का आयोजन है जिससे कि कोई भी गाँव मुख्य सड़क से  $\frac{1}{2}$  मील से अधिक की दूरी पर न हो। सड़कों का निर्माण ग्रामासम्भव ग्रामवासियों के ऐच्छिक श्रम द्वारा ही किया जायगा।

(3) शिक्षा :—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत शिक्षा की समुचित व्यवस्था को भी अनिवार्य समझा गया है। अतः इसके अन्तर्गत सामाजिक, प्रारम्भिक तथा बुनियादी शिक्षा के प्रचार की व्यवस्था की गयी है। वयस्कों की शिक्षा के लिए वाचनालयों की भी स्थापना की जाती है। स्त्री-शिक्षा के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जाता है। साथ ही, प्रत्येक योजना-क्षेत्र में कारीगरों के प्रशिक्षण की व्यवस्था के लिए प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित करने का आयोजन है।

(4) स्वास्थ्य :—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत जन-स्वास्थ्य एवं सफाई पर विशेष ध्यान दिया जाता है। स्वास्थ्य संगठन का उद्देश्य गाँवों में अधिकाधिक स्वच्छता तथा पीने के लिए उत्तम पेय जल एवं मातृ-सेवा की व्यवस्था करना तथा स्वच्छ रहन-सहन एवं अच्छे भोजन के विषय में शिक्षा देना है। प्रत्येक योजना-क्षेत्र में एक प्रारम्भिक चिकित्सा केन्द्र, एक अस्पताल तथा एक गतिशील चिकित्सालय की व्यवस्था है। संक्रामक रोगों को रोकने का व्यवस्था की जाती है। तीनों पंचवर्षीय योजनाओं में स्वास्थ्य एवं ग्रामीण सफाई कार्यक्रम की मद में सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत 4377 लाख रुपये व्यय किया था।

(5) ग्रामीण उद्योग-धन्धों का विकास :—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत गाँवों में पुरक उद्योग-धन्धों के विकास का ग्रामासम्भव प्रयत्न किया जाता है जिससे गाँवों के बेकार तथा अर्द्ध-बेकार लोगों को काम मिल सके। इससे किसानों की आय में पर्याप्त वृद्धि होगी।

(6) भवन-निर्माण :—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामों में आवास की समस्या के समाधान का भी प्रयत्न किया जा रहा है। गाँवों में उत्तम प्रकार के भवन-निर्माण के विषय में प्रदर्शनी तथा शिक्षा की व्यवस्था की जाती है तथा घने बसे हुए गाँवों में लोगों को नये स्थानों में भवन-निर्माण के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। इसके अन्तर्गत गाँवों में पाकों तथा मैदानों की भी व्यवस्था की जा रही है। सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रथम तीनों पंचवर्षीय योजनाओं में इस मद में कुल 2292 लाख रुपये व्यय किया गया।

(7) सामाजिक कल्याण :—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सामाजिक कल्याण के लिए खेल-कूद, मेले एवं प्रदर्शन तथा सामूहिक मनोरंजन की व्यवस्था पर भी जोर दिया गया है। इस प्रकार इस कार्यक्रमों के द्वारा ग्रामीण-जीवन को हर प्रकार से सुखी एवं सम्पन्न बनाने की व्यवस्था की जाती है। इसके साथ ही लोगों में एकता तथा आत्म-निर्भरता की भावना को प्रबल बनाने पर भी जोर दिया जाता है।



## सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार-सेवा कार्यक्रमों की प्रगति

सामुदायिक विकास कार्यक्रम को प्रारम्भ किये प्रायः 26 वर्ष समाप्त हो चुका है। इस अवधि में इस कार्यक्रम की प्रगति का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :-

### सामुदायिक विकास कार्यक्रम की प्रगति

|                                               | 1955-56 | 1960-61 | अप्रैल, 1971 |
|-----------------------------------------------|---------|---------|--------------|
| खंड (संख्या)                                  | 1068    | 3100    | 4893         |
| इसके अन्तर्गत आये गाँवों की संख्या (हजार में) | 150     | 370     | 567          |
| इसके अन्तर्गत लायी हुई जनसंख्या (लाख में)     | 780     | 2000    | 4046         |

आजकल प्रत्येक सामुदायिक विकास प्रखण्ड दो सक्रिय स्तरों से होकर गुजरता है : प्रथम स्तर पाँच वर्ष का तथा द्वितीय स्तर भी पाँच वर्ष का होता है। इस प्रकार दस वर्षों के बाद प्रखण्ड Post-stage II में प्रवेश करता है। चौथी योजना के प्रारम्भ में देश में कुल 5265 प्रखंड थे किन्तु बाद में अधिकांश राज्यों में इस सम्बन्ध में कुछ समायोजन हुआ जिससे मार्च, 1973 में प्रखंडों की संख्या घट कर 5103 हो गयी। मार्च, 1973 में इनमें से 199 प्रखंड प्रथम स्तर में, 1417 प्रखण्ड द्वितीय स्तर में, तथा 2354 प्रखंड द्वितीय स्तर के बाद की स्थिति (Post stage II) में थे।

**प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan)** के अन्तर्गत कुल ग्रामीण जनसंख्या के एक-चौथाई भाग को इस कार्यक्रम के अन्तर्गत लाने का आयोजन था। योजना-काल में यह कार्यक्रम कुल 1068 खण्डों में आरम्भ हुआ। इसके अन्तर्गत 150 हजार गाँव थे जिनकी जनसंख्या 7.8 करोड़ थी। इस प्रकार प्रथम योजना का लक्ष्य प्रायः पूर्ण रूप से पूरा हो गया।

**द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan)** में भी इन कार्यक्रमों को विशेष महत्त्व दिया गया था। द्वितीय योजना के अन्त तक इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सम्पूर्ण ग्रामीण जनसंख्या को लाने का आयोजन था। किन्तु वित्तीय कठिनाइयों के कारण यह सम्भव नहीं हो सका। फिर भी, द्वितीय योजना के अन्त तक इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 3100 खण्ड आ गये जिनमें लगभग 3.7 लाख गाँव तथा 20 करोड़ लोग सम्मिलित थे। इनमें से 880 खण्ड पाँच वर्ष पूरा करके अपने द्वितीय सोपान में पहुँच गये थे। इसके अतिरिक्त योजना के अन्त में 500 विकास-खण्डों में पूर्व विस्तार कार्यक्रम प्रारम्भ हो गया था। संशोधित कार्यक्रम के अनुसार अक्टूबर, 1963 ई० तक सम्पूर्ण ग्रामीण जनसंख्या को इस कार्यक्रम के अन्तर्गत लाने का आयोजन था।

**तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan)** में सामुदायिक विकास तथा पंचायत कार्यक्रम पर 321.9 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि वास्तविक व्यय सामुदायिक विकास योजनाओं पर 276.8 करोड़ रुपये तथा पंचायत राज्य पर 11.7 करोड़ रुपये हुआ। इस प्रकार अप्रैल, 1971 ई० तक देश के कुल प्रायः 4893 खण्डों में कार्य प्रारम्भ हो गया था। इसके अन्तर्गत 5.67 लाख गाँव थे जिनकी जनसंख्या 40.46 करोड़ थी। इस प्रकार देश के सम्पूर्ण क्षेत्र में इस कार्यक्रम का विस्तार हो गया है।

इसी प्रकार तीन एक-वर्षीय योजनाओं (Three One Year Plans) में सामुदायिक विकास तथा पंचायत कार्यक्रम पर 99.4 करोड़ रुपये व्यय किया गया।

**चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan)** में सामुदायिक विकास तथा पंचायत कार्यक्रम की मद में 115.5 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। चतुर्थ योजना प्रारम्भ होने के समय तक देश के सभी गाँवों को सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत लाया जा चुका था।

**पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan)** में सामुदायिक विकास तथा पंचायती राज्य कार्यक्रम की मद में 127 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था।

**छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan)** में सामुदायिक विकास एवं पंचायती राज्य के विकास की मद में 150 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा-खण्डों की मद में कुल 501 करोड़ रुपये व्यय किया गया। इसी प्रकार 1967-68 से 1973-74 तक इस मद में 172 करोड़ रुपये व्यय किया गया।

इस कार्यक्रम का वित्तीय दायित्व केन्द्र तथा राज्य सरकार दोनों पर है। अनावर्तक (non-recurring) व्यय का 75 प्रतिशत भाग केन्द्र पर तथा 25 प्रतिशत राज्य सरकारों पर रहता है। आवर्तक (recurring) व्यय का भार दोनों पर बराबर-बराबर रहता है। साथ ही, इनमें जनता भी श्रम, भूमि तथा रुपये आदि के रूप में कुछ सहयोग प्रदान करती है।

**जन-सहयोग :-** राष्ट्रीय विस्तार-सेवा एवं सामुदायिक विकास कार्यक्रम वस्तुतः जनता के कार्यक्रम हैं, अतः इनकी सफलता जनता के सहयोग पर ही आश्रित है। इसलिए इनके कार्य-सम्पादन में स्थानीय लोगों, उनके प्रतिनिधियों एवं लोक संगठनों के सहयोग की भी व्यवस्था



है। ग्राम स्तर पर ग्राम-पंचायत एवं सहकारी समितियाँ, खण्ड स्तर पर खण्ड-परामर्शदातृ समितियाँ एवं जिला-स्तर पर जिला विकास समितियाँ, जन सहयोग प्राप्त करने में सहायक होंगी। इस प्रकार इन कार्यक्रमों की सफलता मुख्यतः जन-सहयोग पर ही आधारित है। 31 मार्च, 1968 ई० तक इन कार्यक्रमों में जन-सहयोग से विभिन्न रूप में 158.4 करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई थी जबकि सरकार द्वारा उस समय तक कुल 560 करोड़ रुपये खर्च किये गये थे। इस प्रकार जन-सहयोग से प्राप्त कुल रकम सरकारी खर्च का प्रायः 29 प्रतिशत भाग थी।

### सामुदायिक विकास कार्यक्रम की आलोचना- त्मक समीक्षा

(A Critical Appraisal of the Community Development Programme)

सामुदायिक विकास कार्यक्रम आज से प्रायः 26 वर्ष पूर्व आरम्भ किया गया था। अपने जीवनकाल के इन 26 वर्षों में इन कार्यक्रमों ने अच्छी प्रगति हासिल की है। किन्तु इस कार्यक्रम की प्रगति बिल्कुल संतोषजनक नहीं कही जा सकती। सामुदायिक विकास कार्यक्रम की कार्य-वाहियों के मूल्यांकन के लिए योजना आयोग ने एक पृथक् संस्था की स्थापना की है जिसे Programmes Evaluation Organisation कहते हैं। Programmes Evaluation Organisation के द्वारा समय-समय पर प्रकाशित विवरण से इस कार्यक्रम में निम्नलिखित त्रुटियाँ स्पष्ट होती हैं :—

(क) कृषि के क्षेत्र में असफलता (Agricultural Extension effort has been inadequate) :—इन कार्यक्रमों में कृषि को विशेष महत्त्व दिया गया है। किन्तु कृषि के क्षेत्र में जो सफलता प्राप्त हुई है वह लक्ष्य से बहुत ही कम है। यद्यपि कृषि के सुधरे हुए तरीकों का प्रचार हुआ है, फिर भी, अधिकांश गाँवों में सिंचाई, जोतों की चकवन्दी तथा भूमि-संरक्षण आदि कार्यों के सम्बन्ध में विशेष प्रयास नहीं किये गये हैं। वास्तव में, कृषि के उत्पादन में वृद्धि के लिए यह कार्यक्रम बिल्कुल अनिवार्य है। सहकारी कृषि के क्षेत्र में भी अभी बहुत ही कम प्रगति हो पायी है।

(ख) ग्रामीण उद्योगों एवं सहकारिता के क्षेत्र में असंतोषजनक प्रगति :—ग्रामीण एवं कुटीर उद्योगों के

विकास तथा सहकारिता के प्रसार के क्षेत्र में भी प्रगति प्रायः असंतोषजनक रही है।

(ग) बहुधन्वी सहकारी समितियों तथा ग्राम पंचायतों की असंतोषजनक प्रगति—सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत बहुधन्वी सहकारी समितियों तथा ग्राम-पंचायतों के निर्माण पर भी विशेष रूप से जोर दिया जाता है, किन्तु इनकी प्रगति भी संतोषजनक नहीं रही है। ग्राम-पंचायतों को ही बहुत सारे सामुदायिक विकास-सम्बन्धी कार्यक्रमों का सम्पादन करना होता है। किन्तु, अभी देश में ग्राम पंचायतों का इस ढंग से विकास नहीं हो पाया है जिससे कि ये अपने इस दायित्व को वहन कर सकें।

(घ) स्वावलम्बन की भावना का अभाव :—सामुदायिक विकास कार्यक्रम के द्वारा लोगों में अभी तक स्वावलम्बन की भावना का विकास नहीं हो पाया है। इन क्षेत्रों में भी ग्रामीण जनता अपने विकास के लिए सरकार पर ही मुख्य रूप से आश्रित रही है। यह इन कार्यक्रमों की सबसे बड़ी असफलता है।

(च) निधन व्यक्तियों को अपेक्षाकृत कम लाभ (Distribution of benefits of the Programmes in favour of the privileged classes) :—सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा-कार्यक्रमों से प्राप्त लाभ का भी गाँवों में समान रूप में वितरण नहीं हो पाया है। गाँवों में जिन लोगों के पास पहले से अधिक भूमि है, वे ही इससे अधिक लाभान्वित हुए हैं।

(छ) आर्थिक विकास की अपेक्षा कल्याण-सम्बन्धी कार्यक्रमों पर अधिक जोर दिया गया (More emphasis on welfare activities than on Economic Development) है। इन कार्यक्रमों में वस्तुतः अस्पताल, विद्यालय, गलियों तथा नालियों के निर्माण में अधिक जोर दिया जाता है क्योंकि योजना अधिकारी इसके द्वारा आगंतुकों को अपने कार्यक्रमों की उपलब्धियों को सुगमतापूर्वक देख सकें। आर्थिक विकास सम्बन्धी वास्तविक कार्यों—जैसे ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार में वृद्धि, कृषि के उत्पादन में वृद्धि आदि की वास्तव में अवहेलना की जाती है।

(ज) पूँजीवादी कृषि के विकास को प्रोत्साहन (Community Development programme encouraged the growth of capitalistic agriculture) :—सामुदा-



शिक विकास कार्यक्रमों की शुरुआत भूमि-सुधार कार्यक्रमों से पहले ही हुई थी। अतएव सरकार द्वारा इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत दी जानेवाली सहायता से बड़े-बड़े किसान ही अधिक लाभान्वित हुए। इससे वास्तव में भूमि-सुधार के प्रतिरोध को बल मिला। इस सम्बन्ध में प्रो० मिड्रल (Mydral) का निम्नांकित कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है; "Although Indian leaders profess to want to see agriculture assume a more socialist pattern, their own Community Development programme has the effect of making agricultural practices more capitalistic."

इस प्रकार इन कार्यक्रमों में बहुत-सारी त्रुटियाँ हैं। इन त्रुटियों से यह स्पष्ट है कि इन कार्यक्रमों के सम्पादन में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। भारत सरकार के निमंत्रण पर U. N. Technical Assistance Administration की एक समिति ने भारत में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की प्रगति का मूल्यांकन किया था। समिति ने इनमें सुधार के लिए बहुत-से सुझाव प्रस्तुत किये। इस समिति के सुझाव इन कार्यक्रमों के पुनर्संगठन के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

किन्तु, इन त्रुटियों के बावजूद इन कार्यक्रमों ने देश के करोड़ों ग्रामवासियों में एक नवीन आशा का संचार किया है, एक नयी भावना की सृष्टि की है। फिर भी, इन कार्यक्रमों की प्रगति बहुत ही धीमी रही है। इन कार्यक्रमों ने ग्रामवासियों में उस व्यापक उत्साह का संचार नहीं किया जो किसी भी योजना के तीव्र गति से सम्पादन के लिए महत्त्वपूर्ण है। आज भी अधिकांश व्यक्ति इन कार्यक्रमों के प्रति उदासीन हैं। ग्रामीण जनता की इस उदासीनता एवं अकर्मण्यता ने इन कार्यक्रमों की प्रगति के मार्ग में रुकावट उत्पन्न कर दिया है। साथ ही, प्रशिक्षित कर्मचारियों एवं धन के अभाव के कारण भी इनकी प्रगति धीमी पड़ जाती है। देश में ग्राम पंचायत का संगठन भी बहुत ही दोषपूर्ण है। एक तो अधिकांश क्षेत्रों में अभी पंचायतों की स्थापना ही नहीं हुई है और जहाँ इनकी स्थापना हुई भी है वहाँ आपसी द्वेष आदि के कारण इनका कार्य सुचारु रूप से नहीं चल पाता है।

1. Mydral : Asian Drama, P. 1345.

बलवंत राय मेहता समिति के सुझाव :—योजना आयोग ने 1955 ई० में श्री बलवंत राय मेहता की अध्यक्षता में एक अध्ययन दल की नियुक्ति की थी जिसने इन कार्यक्रमों के संचालन में सुधार लाने के लिए बहुत-से सुझाव प्रस्तुत किये थे। इनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(1) प्रजातन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण (Democratic decentralization) :—समिति ने विकास-सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन के लिए प्रजातन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण के आधार पर एक संगठन की स्थापना का सुझाव दिया था। समिति के अनुसार प्रत्येक विकास खण्ड, जिसकी जनसंख्या 1 लाख से अधिक नहीं होनी चाहिए, के लिए ग्राम-पंचायतों द्वारा अप्रत्यक्ष चुनाव पर आधारित एक पंचायत समिति का निर्माण होना चाहिए। इसी आधार पर सम्पूर्ण जिले में विकास-सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन के लिए एक जिला पंचायत परिषद् होनी चाहिए। समिति का यह सुझाव वास्तव में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण एवं क्रान्तिकारी है। हमारे राज्य में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के सम्पादन की प्रणाली को इसी आधार पर संगठित किया जा रहा है। किन्तु पंचायत समिति तथा जिला परिषद् आपसी द्वेष एवं गुटबन्दी का अखाड़ा बन जायेंगे। अतएव यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि केवल प्रजातन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण से ही समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। इसके लिए जनता में बड़े पैमाने पर नैतिक परिवर्तन लाने की आवश्यकता होगी।

(2) बहुधन्वी सहकारी समितियों की स्थापना—समिति के अनुसार प्रत्येक पाँच या छः गाँवों को मिलाकर एक बहुधन्वी सहकारी समिति (Multipurpose Co-operative Society) की स्थापना की जानी चाहिए जो पंचायत के साथ मिलकर कार्य करेगी। समिति की राय में सहकारिता का उद्देश्य केवल किसानों को कम सूद पर पूँजी प्रदान करना ही नहीं होना चाहिए, वरन् इसका उद्देश्य सामुदायिक विकास के माध्यम के रूप में कार्य करना होना चाहिए।

बलवंत राय मेहता समिति के सुझावों के आधार पर 1958 ई० से सामुदायिक विकास कार्यक्रम का प्रजातन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण किया गया जिसके अनुसार



गाँवों के विकास की जिम्मेदारी तीन निर्वाचित संस्थाओं के जिम्मे सुपुर्द कर दी गयी है : (i) गाँव-स्तर पर ग्रामवासियों द्वारा निर्वाचित ग्राम-पंचायत, (ii) खंड-स्तर पर प्रत्येक खंड में एक पंचायत समिति जिसके सदस्य उस खंड के प्रत्येक पंचायत के निर्वाचित प्रधान होंगे, तथा (iii) जिला-स्तर पर जिला-परिषद् जिसके सदस्य प्रत्येक प्रखण्ड समिति के निर्वाचित प्रधान होंगे। इसे पंचायत राज्य कहते हैं। अधिकांश राज्यों ने इस नयी व्यवस्था को अपना लिया है। पंचायत राज्य की स्थापना से गाँवों के विकास में बहुत अधिक सहायता मिलने की आशा की जाती है।

सम्पूर्ण ग्राम विकास कार्यक्रम (Whole Village Development Programme)<sup>1</sup>—पंचवीं पंचवर्षीय

विशेष अध्ययन-सची

1. Planning Commission : Second, Third, Fourth and Fifth Five Year Plans.
2. Govt. of India : India 1977.
3. G. Myrdal : Asian Drama.

—:०:—

योजना काल में गाँवों के विकास की संभावनाओं के पूरा-पूरा विकास के लिए कृषि आयोग (National Commission on Agriculture) की सिफारिशों के आधार पर एक नया कार्यक्रम (Whole Village Development Programme) अपनाया गया है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत निम्नांकित बातों पर ध्यान देने की व्यवस्था है; (क) जोतों की चकबन्दी, (ख) सम्पूर्ण भूमि के विकास की योजना तैयार करना, (ग) सिंचाई-सम्बन्धी सुविधाओं की अधिकाधिक व्यवस्था, तथा (घ) सिंचाई की सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए सम्पूर्ण ग्राम के लिए फसल की योजना तैयार करना। प्रारम्भ में यह कार्यक्रम चार राज्यों के 38 चुने हुए गाँवों—बिहार (23), उड़ीसा (6), तमिलनाडू, (4), तथा उत्तरप्रदेश (5) में लागू होगा।

1. Draft Fifth Five Year Plan.



## अध्याय : 25

## कृषि-बाजार

## (Agricultural Marketing)

**प्राक्कथन :—**किसानों की आर्थिक समृद्धि कृषि-उपज की समुचित विक्रय-व्यवस्था पर भी निर्भर करती है। किन्तु दुर्भाग्यवश अपनी उपज का उचित मूल्य प्राप्त करने में भारतीय किसान बहुधा असमर्थ सिद्ध होते हैं। हमारे देश में किसान तथा उनकी उपज के अन्तिम उपभोक्ताओं के बीच विचरवैयों की लम्बी लड़ी लगी हुई है जो इनके लाभ का एक बड़ा भाग अपनी अनावश्यक सेवाओं के लिए ले लेते हैं। कृषि आयोग के अनुसार, “किसानों के हितों को आर्थिक परिस्थितियों के मुक्त प्रवाह में विना किसी सहारे छोड़ दिया जाता है जिससे उन्हें काफी क्षति उठानी पड़ती है। इसका कारण यह है कि उपज के वितरणकर्ता, जो अधिकांश संगठित होते जा रहे हैं तथा उपभोक्ताओं के अनुपात में वह एक छोटी-सी इकाई है।” प्राचीन काल में जब भारतीय किसान स्वयं अपने जीवन-निर्वाह के लिए कृषि करते थे तब उन्हें बाजार की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। लेकिन आजकल ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में ‘कृषि के वाणिज्यीकरण’ (Commercialisation of Agriculture) तथा व्यापक प्रतियोगिता के फलस्वरूप कृषि-बाजार का स्थान महत्त्वपूर्ण हो गया है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद जो कुछ भी अतिरिक्त उपज बचती है उसे किसान लगान चुकाने, महाजन को ऋण देने तथा अन्य आवश्यक कार्यों के लिए बेच देता है। कृषि एवं किसानों के आर्थिक जीवन में कृषि-बाजार का महत्त्व प्रथम पंचवर्षीय योजना में योजना आयोग के निम्न बयान से अधिक स्पष्ट हो जाता है—“The purchase of the agriculturist's requirements and the sale of his produce are key activities in the business of farming and their importance is likely to be even more crucial in a socially regulated economy. But due to his inability to secure a fair deal at these two stages the average agriculturist is denied the full fruits of his industry.”

**वर्तमान विक्रय-व्यवस्था—**आजकल हमारे देश में कृषि-बाजार की निम्नलिखित व्यवस्था पायी जाती है :—

(1) गाँवों में बिक्री :—भारतीय किसान अपनी अतिरिक्त उपज का अधिकांश भाग गाँवों में ही बेचता है;

गाँवों में बिक्री की जानेवाली उपज के सम्बन्ध में विभिन्न अनुमान लगाये गये हैं जो इस प्रकार हैं<sup>1</sup> : पंजाब के गाँवों में ही 90 प्रतिशत गेहूँ, 35 प्रतिशत कपास तथा 75 प्रतिशत भाग तिलहन बेच दिया जाता है। उत्तर प्रदेश में 80 प्रतिशत गेहूँ, 40 प्रतिशत कपास और 75 प्रतिशत तिलहन तथा बिहार, उड़ीसा एवं बंगाल में 85 प्रतिशत तिलहन एवं 90 प्रतिशत जूट गाँवों में ही बेच दिया जाता है। जहाँ किसानों पर ऋण का बोझ अधिक होता है वहाँ उन्हें अपनी उपज का अधिकांश भाग गाँवों में बेचने के लिए ही बाध्य होना पड़ता है। किसान जब अपनी उपज बाजार में ले जाकर गाँवों में ही बेचता है तो उसे बहुत ही कम मूल्य मिल पाता है।

(2) बाजार और मंडियाँ :—किसानों की अतिरिक्त उपज बाजार में भी बिक्री के लिए आती है। खाद्यान्नों की अपेक्षा व्यावसायिक फसलों का अधिक भाग बाजार एवं मंडियों में बिक्री के लिए आता है। मंडियाँ प्रायः दो प्रकार की होती हैं :—संगठित तथा असंगठित। भारत में बहुत कम बाजार एवं मंडियाँ अभी संगठित हैं, अधिकांश असंगठित एवं पुराने ढंग की ही मंडियाँ पायी जाती हैं। इनमें आदतियों तथा व्यापारियों की संख्या अधिक रहती है। इस प्रकार असंगठित मंडियों में किसानों को उनकी उपज का वास्तविक मूल्य नहीं मिल पाता।

## कृषि-बाजार की प्रधान समस्याएँ

## (Main Problems of Agricultural Marketing in India)

भारत में कृषि-उपज की वर्तमान विक्रय-व्यवस्था के समक्ष निम्नलिखित प्रधान समस्याएँ हैं :—

(1) उपज के लिए कम मूल्य—उपज का अधिकांश भाग गाँवों में ही कम मूल्य पर बेच दिया जाता है। इससे किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य नहीं प्राप्त हो पाता। ऐसा बहुत कारणों से होता है। गाँवों में मध्यस्थों की प्रधानता रहती है जो गाँव-गाँव में घूमकर किसान की अतिरिक्त उपज का क्रय करते हैं। साथ ही, ग्रामीण किसान बहुधा कर्ज के बोझ से लदा रहता है जिससे बाध्य होकर उसे अपनी रकम साहूकार-सह-व्यापारी के हाथ-कम ही मूल्य पर ही बेचनी पड़ती है।

1. Hussain : Marketing of Agricultural Produce in Northern India, p. 95.



(2) यातायात एवं संवादवाहन के साधनों का अभाव :—भारत में यातायात तथा संवादवाहन के साधनों का अभाव है। यहाँ प्रति 100 वर्ग मील में कुल 2.8 मील रेल लाइनें हैं जबकि इंग्लैंड के प्रति एक सौ वर्गमील में 22.7 मील तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में 2.8 मील रेल लाइनें हैं। सड़कों का तो हमारे देश में और भी अभाव है। यहाँ प्रति सौ वर्गमील में केवल 23.08 मील ही सड़कें हैं जबकि ब्रिटेन में 207 मील, जापान में 399 मील तथा अमेरिका में 101 मील सड़कें प्रति एक सौ वर्गमील में हैं।

(3) वर्गीकरण तथा नमूने की सुविधा का अभाव (Lack of grading and sampling) :—भारत में कृषि-उपजों के वर्गीकरण तथा नमूने की सुविधा का अभाव पाया जाता है। सन् 1937 ई० में कृषि-उपजों के वर्गीकरण तथा विक्रय-सम्बन्धी कानून [Agricultural Produce (Grading and Sampling) Act] के फलस्वरूप वर्गीकरण की दिशा में कुछ खास कार्य हुए हैं। इसके अनुसार सरकारी कर्मचारियों के निरीक्षण में खास-खास वस्तुओं का वर्गीकरण किया जाता तथा उस पर 'आग मार्क' (Agmark) का लेबल लगाकर बाजार में बेचने के लिए भेज दिया जाता है। किन्तु इस प्रकार की सुविधा अधिकांशतः नियमित की जाने वाली कुछ वस्तुओं के साथ ही पायी जाती है।

(4) दोषपूर्ण किस्म (Defective quality) :—भारतीय कृषि की उपजें संसार के अन्य बाजारों में अधिक मात्रा में नहीं विकती क्योंकि इनकी किस्म बहुधा अच्छी नहीं होती है। इसके अनेक कारण हैं, जैसे उत्तम बीज का अभाव, पौधों के रोगों तथा कीड़-मकोड़ से फसलों की बर्बादी, फसल काटने का प्राचीन एवं अवैज्ञानिक तरीका, गोदाम में वस्तुओं के संचय की सुविधा का अभाव, संतोषजनक एवं वैज्ञानिक वर्गीकरण का अभाव इत्यादि।

(5) अत्यधिक बिचवैयों का रहना (Large number of middlemen) :—हमारे देश में किसान तथा उनकी उपज के अन्तिम उपभोक्ताओं के बीच बिचवैयों की एक लम्बी लड़ी के रूप में व्यापारियों एवं दलालों का एक बहुत बड़ा समूह पाया जाता है। उदाहरण के लिए व्यापारी, कच्चा आढ़तिया, दलाल, पक्का आढ़तिया, थोक व्यापारी एवं खुदरा व्यापारी इत्यादि। इनमें से प्रत्येक अपनी-अपनी सेवाओं के लिए कुछ लेते हैं जिससे इन वस्तुओं के मूल्य में अनावश्यक रूप से वृद्धि हो जाती है। साथ ही, किसानों को भी उचित मूल्य नहीं मिल पाता।

(6) गोदाम तथा संचय-गृहों की सुविधा का अभाव :—भारत में कृषि-उपज के संचय के लिए गाँवों में गोदामों की भी व्यवस्था नहीं है। संचय की सुविधा के अभाव में बहुत-सा अनाज भूमि के नीचे अथवा मिट्टी के बर्तनों में पड़े तथा चींटियों की मर्जी पर छोड़ दिया जाता है।

पानी पड़ने से इनके सड़ने का भी भय रहता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि वर्तमान व्यवस्था में गाँवों में जो अन्न संचय की व्यवस्था उपलब्ध है इसमें 10 से 20 प्रतिशत तक अन्न चूहे अथवा चींटियों द्वारा खा लिया जाता है।

(7) बाजार में धोखेबाजी का अधिक होना :—नेशनल प्लानिंग कमिटी की ग्रामीण विक्री एवं वित्त-सम्बन्धी उपसमिति के अनुसार कृषि-बाजार में प्रायः निम्नलिखित प्रकार की धोखेबाजियाँ प्रचलित हैं—

(क) दोषपूर्ण वजन तथा तौल (Defective weights and measures) :—हमारे देश में विभिन्न प्रकार के वजन तथा तौल प्रचलित हैं। आढ़तिया तथा व्यापारी तौल एवं वजन के द्वारा किसानों को सदा ठगने का प्रयास करते हैं।

(ख) मण्डी तथा बाजार के शुल्क :—कृषि-बाजार में किसानों से अनेक प्रकार के कर अथवा शुल्क भी वसूल किये जाते हैं। आढ़तिया किसान की उपज से अनेक प्रकार की कटौती जैसे—पल्लेदारी, तौलाई, धर्मदा आदि लेते हैं। उपज का एक अंश तो लोग नमूने के रूप में ही उठा लेते हैं। इस प्रकार, किसानों को अपनी उपज का प्रायः 4 या 5 प्रतिशत भाग इन्हीं को देना पड़ता है जिससे इन्हें अत्यधिक हानि होती है।

(ग) बाजार में बहुत-से दलाल पाये जाते हैं जो बहुधा आढ़तियों का ही पक्ष लेते हैं। इससे किसान नाहक धोखेबाजी में फँसते हैं।

(घ) कृषि-बाजार में गुप्त रीति से वस्तुओं का मूल्य निश्चित किया जाता है। इससे किसान मूल्य के सम्बन्ध में प्रायः अनभिज्ञ रहता है। इस प्रकार कृषि-बाजार में उक्त धोखेबाजियाँ प्रचलित हैं।

(च) नमूने के रूप में बाजार में अत्यधिक मात्रा में सामान उठा लेने का रिवाज-सा हो गया है।

(छ) झगड़ा हो जाने की स्थिति में किसान के लिए अपने हितों की रक्षा की सुविधाओं का अभाव पाया जाता है।

(8) विज्ञापन का अभाव :—भारतीय कृषि-बाजार में विज्ञापन की व्यवस्था का पूर्णतया अभाव है जिससे किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य नहीं मिल पाता।

वर्तमान विक्रय-व्यवस्था की समस्याओं का उपचार

इस प्रकार कृषि-बाजार की वर्तमान व्यवस्था विभिन्न दोषों से परिपूर्ण है जिसके परिणामस्वरूप कृषि तथा किसानों को बहुत अधिक क्षति उठानी पड़ती है। अतः कृषि में स्थायी सुधार लाने के लिए विक्रय-व्यवस्था में



सुधार लाना आवश्यक है। निम्नलिखित उपायों द्वारा इस व्यवस्था में सुधार लाया जा सकता है :—

(1) नियमित बाजारों (Regulated Markets) की स्थापना :—वर्तमान विक्रय प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए सर्वप्रथम तो नियमित बाजारों एवं मण्डियों की स्थापना आवश्यक है। भारत में नियमित बाजारों की स्थापना सर्वप्रथम 1917 ई० के बरार कपास एवं अन्न बाजार अधिनियम के अनुसार बरार में हुई थी। नियमित बाजारों में एक समिति रहती है जो बाजार में सम्पूर्ण कार्यों एवं शुल्कों को निश्चित करती है, प्रामाणिक वजन एवं तौल की व्यवस्था करती है तथा कटौतियों पर कड़ी दृष्टि रखती है। किन्तु देश में ऐसे बाजारों का प्रचार बहुत धीरे-धीरे हो रहा है। वास्तव में, इसके पीछे व्यापारियों का स्वार्थ, किसानों की अज्ञानता तथा सरकार की उदासीनता छुपी हुई है। खाद्यान्न जाँच समिति के अनुसार इस प्रकार के बाजार केवल आंध्रप्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु, तथा पंजाब आदि राज्यों में ही पाये जाते हैं। अन्य राज्यों में नियमित मण्डियाँ नहीं हैं। फिर भी, कुछ राज्यों में इनकी स्थापना की जा रही है। समिति ने सम्पूर्ण देश में ऐसे बाजारों की स्थापना की सिफारिश बड़े जोरदार शब्दों में की थी।

1950-51 ई० में नियमित बाजारों की कुल संख्या देश में 265 थी। प्रथम योजना के अन्त में यह बढ़कर 450 तथा द्वितीय योजना के अन्त में, यानी 1960-61 ई० में 725 हो गयी। अभी देश में कुल प्रायः 3000 से भी अधिक बाजार हैं। चतुर्थ योजना के अन्त तक देश के इन सम्पूर्ण बाजारों को नियमित बाजार के अन्तर्गत लाने का आयोजन था। किन्तु दिसम्बर 1974 तक नियमित बाजारों की संख्या बढ़कर 3016 हो गयी।

(2) सहकारी विक्रय व्यवस्था (Co-operative Marketing) :—कृषि-बाजार सम्बन्धी कुछ कठिनाइयों को सहकारी विक्रय-व्यवस्था (Co-operative Marketing) द्वारा भी दूर किया जा सकता है। सहकारी विक्रय समितियाँ किसानों की उपज को एकत्र करती हैं, उन्हें गोदामों में ले जाती हैं, किसानों को पूँजी, खाद तथा उत्तम बीज आदि प्रदान करती हैं, उनके माल का बीमा करती हैं, तथा उनकी उपजों के वर्गीकरण एवं विक्रय की व्यवस्था करती हैं। 1953-54 में भारत में, 143 सहकारी विक्रय संघ तथा फेडरेशन (Co-operative Marketing unions and Federations) थे जिनकी कार्यशील पूँजी 15 करोड़ रुपये थी तथा जिनके सदस्य 16.2 लाख व्यक्ति एवं 44,000 समितियाँ थीं। उस वर्ष इन संघों ने कुल 11.2 करोड़ रुपये का माल खरीदा तथा 11 करोड़ रुपये का माल बेचा था। एजेन्ट के रूप में इन्होंने इससे प्रायः दुगुना का कार्य किया था। सहकारी विक्रय-व्यवस्था के सम्बन्ध में ग्रामीण साख सर्वेक्षण

(Rural Credit Survey) के प्रतिवेदन में बहुत-से सुझाव दिये गये थे जिनके आधार पर सरकार द्वारा सहकारी विक्रय व्यवस्था के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। समिति के सुझावों के आधार पर ही एक National Co-operative Development and Warehousing Board की स्थापना की गयी है। यह परिषद् सहकारिता के विभिन्न पहलुओं के विकास के साथ-साथ गोदामों तथा संचय गृहों का निर्माण भी करती है।

(3) वजन तथा तौल का प्रमाणीकरण (Standardization of weights and measures) :—कृषि-बाजार की समुचित व्यवस्था के लिए वजन तथा तौल का ग्रामीणीकरण भी आवश्यक है। भारत सरकार ने हाल में ही तौल तथा वजन की मेट्रिक पद्धति को अपनाया है। देश के विभिन्न भागों में यह पद्धति अक्टूबर, 1954 ई० से लागू की गयी है। इससे इस क्षेत्र में बहुत अधिक सुधार की आशा की जाती है।

(4) उपज का वर्गीकरण :—कृषि उपज के वर्गीकरण के लिए सरकार द्वारा 1937 ई० में कृषि उत्पादन (वर्गीकरण तथा विक्रय) अधिनियम [Agricultural Produce (grading and marketing) Act] बनाया गया। इनके अनुसार कृषि विभाग के अधिकारियों द्वारा उपज का वर्गीकरण किया जाता है तथा अच्छी किस्म की वस्तुओं पर आगमार्क (AGMARK) की छाप दी जाती है, किन्तु यह व्यवस्था अभी कुछ ही वस्तुओं के साथ, विशेषतः निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के साथ ही पायी जाती है।

(5) गोदाम तथा संचय-गृहों का निर्माण :—कृषि-उपज के संचय के लिए गोदामों तथा संचय गृहों का निर्माण भी आवश्यक है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने एक अखिल भारतीय गोदाम (All India Warehousing Corporation) तथा इसके आधार पर प्रत्येक राज्य में एक-एक राज्य गोदाम निगम स्थापित करने का सुझाव दिया था। सन्तोष का विषय यह है कि भारत सरकार द्वारा केन्द्रीय गोदाम निगम की स्थापना की गयी है। इसके अतिरिक्त बिहार, महाराष्ट्र, मैसूर, राजस्थान तमिलनाडु, पश्चिमी बंगाल तथा उड़ीसा सात राज्यों में राज्य गोदाम निगम भी स्थापित किये गये हैं। इन निगमों द्वारा देश के विभिन्न भागों में गोदामों की स्थापना की जा रही है। तृतीय योजना के अन्त तक देश में गोदामों की क्षमता को 25 लाख टन से बढ़ाकर 50 लाख टन करने का आयोजन था जिसमें 35 लाख टन की क्षमता सहकारी गोदामों की होने को थी। चतुर्थ योजना में दस लाख टन अतिरिक्त क्षमता के गोदाम बनाने का आयोजन था।

(6) मूल्य की स्थिरता (Stability of Prices) :—कृषि में स्थायी सुधार लाने तथा किसानों की आर्थिक



समृद्धि में वृद्धि के लिए कृषि पदार्थों के मूल्य में अत्यधिक उतार-चढ़ाव को रोकना आवश्यक है। मूल्य की स्थिरता (Stability) से किसानों को अधिक अन्न उपजाने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। सरकार द्वारा इस सम्बन्ध में बहुत-सारे प्रयत्न किये जा रहे हैं। किसी खास कृषि-पदार्थ के मूल्य में एक निश्चित मात्रा से अधिक कमी होने पर सरकार उस वस्तु का स्वयं क्रय करने लगती है। इससे मूल्य में अधिक गिरावट का भय नहीं रहता। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आयात-निर्यात सम्बन्धी नीति में भी आवश्यक परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। खाद्यान्न जाँच समिति ने खाद्यान्नों के मूल्य में स्थिरता लाने के उद्देश्य से एक मूल्य-स्थिरीकरण प्रमण्डल (Price Stabilization Board) की स्थापना की सिफारिश की थी। इसकी सहायता के लिए एक केन्द्रीय खाद्यान्न सलाहकार समिति (Central Food Advisory Council) तथा मूल्य-सम्बन्धी आँकड़े एकत्र करने के लिए एक विशेष प्रकार की सेवा Price Intelligence Service की स्थापना की भी सिफारिश की गयी थी। इनकी स्थापना से मूल्य के स्थिरीकरण में निस्सन्देह बहुत अधिक सहायता मिलेगी। खाद्य-पदार्थों के मूल्य में स्थिरता लाने के लिए भारत सरकार ने खाद्यान्नों के थोक व्यापार को राजकीय नियन्त्रण के अन्तर्गत (State Trading in Foodgrains) लाने का निश्चय किया है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम चावल तथा गेहूँ के थोक व्यापार को राजकीय नियन्त्रण के अन्तर्गत लाया गया है। कृषि-पदार्थों के मूल्यों में स्थायित्व के लिए जनवरी, 1965 में भारत सरकार द्वारा एक Agricultural Price Commission की नियुक्ति की गयी जो सरकार को मूल्य-नीति के सम्बन्ध में परामर्श देता है।

### पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि-बाजार

#### (Agricultural Marketing in Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) में कृषि-बाजार की समुचित व्यवस्था के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में कृषि-बाजारों को नियमित बाजार के अन्तर्गत लाने की व्यवस्था की गयी थी। किन्तु योजना के अन्त तक केवल सात राज्यों में ही इस सम्बन्ध में अधिनियम लागू किया जा सका। योजना प्रारम्भ होने के पूर्व 1950-51 ई० में देश में कुल 265 नियमित मंडियाँ थीं, 1955-56 ई० तक इनकी संख्या बढ़कर 450 हो गयी। योजना के अन्तर्गत निर्यात की जानेवाली वस्तुओं के वर्गीकरण की व्यवस्था का भी आयोजन था। प्रथम योजनाकाल में 1952 ई० में सरकार द्वारा अग्रिम अनुबंध (नियन्त्रण) अधिनियम [Forward Contracts (Regulation) Act] पारित किया गया तथा 1951 ई० में एक अग्रिम बाजार आयोग (Forward Market Commission) की नियुक्ति की गयी। इस

आयोग के फलस्वरूप बाजार में वस्तुओं के कृत्रिम अभाव तथा उनकी कीमत में अत्यधिक चढ़ाव-उतार में कमी की आशा की जाती है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) :—ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के प्रस्तावों के आधार पर केन्द्र में मार्च, 1957 ई० में एक अखिल भारतीय गोदाम निगम (All India Warehousing Corporation) का संगठन हुआ। इसी आधार पर अधिकांश राज्यों में एक-एक राज्य गोदाम निगम की भी स्थापना की गयी। केन्द्रीय गोदाम निगम की अधिकतम पूँजी 20 करोड़ रुपये है जो 10000 रुपये के 2 लाख हिस्सों में विभाजित है। प्रारम्भ में इसमें से 10 करोड़ रुपये के हिस्से जारी किये गये थे जिनमें से 4 करोड़ रुपये के हिस्से राष्ट्रीय सहकारिता विकास एवं गोदाम परिषद् द्वारा, शेष स्टेट बैंक, अनुसूचित बैंकों, सहकारी बैंकों तथा बीमा एवं सहकारी संस्थाओं द्वारा क्रय किये गये। योजनाकाल में केन्द्रीय गोदाम निगम एवं राज्य गोदाम निगमों द्वारा विभिन्न राज्यों में कुल 1670 गोदाम बनाये गये। साथ ही, सहकारी विक्रय-व्यवस्था के विस्तार पर भी जोर दिया गया था। किन्तु, फिर भी सहकारी विक्रय समितियाँ द्वितीय योजना के अन्त तक कुल अतिरिक्त उपज का केवल 10 प्रतिशत भाग ही बेच सकी थीं, शेष 90 प्रतिशत भाग के विक्रय के लिए अन्य तरीकों पर ही रहना पड़ता था। द्वितीय योजना के अन्तर्गत नियमित बाजारों की संख्या 1955-56 ई० में 450 से बढ़कर 1960-61 ई० में 725 हो गयी। उपज के वर्गीकरण तथा नमूना बनाने की सुविधाओं के विस्तार पर द्वितीय योजनाकाल में पर्याप्त जोर दिया गया था। द्वितीय योजनाकाल में 1800 प्राथमिक सहकारी विक्रय समितियों की स्थापना की गयी थी। साथ ही, योजनाकाल में एक National Co-operative Marketing Federation की भी स्थापना की गयी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) के अन्तर्गत देश के प्रायः सभी बाजारों को नियमित बाजार के अन्तर्गत लाने का आयोजन था, किन्तु योजना के अन्त तक 1600 बाजारों को ही इनके अन्तर्गत लाया जा सका। तृतीय पंचवर्षीय योजना में गोदामों (Warehouses) के निर्माण पर 23 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि वास्तविक व्यय इस मद में 27.4 करोड़ रुपये हुआ। योजना में बाजार क्षेत्रों में 660 तथा ग्रामीण क्षेत्रों में 9000 गोदाम बनाने की व्यवस्था थी। सहकारी विक्रय-व्यवस्था के प्रचार पर भी योजनाकाल में विशेष जोर दिया गया था। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि द्वितीय योजनाकाल में सहकारी विक्रय समितियों ने 200 करोड़ रुपये के कृषि-पदार्थों का विक्रय किया था। तृतीय योजना के अन्त में सहकारी विक्रय समितियों द्वारा 400



करोड़ रुपये के कृषि-पदार्थों के विक्रय का आयोजन था। विक्रय समितियों की स्थापना के लिए तृतीय योजनाकाल में सरकार द्वारा केन्द्रीय सहकारिता विकास कोष (Central Co-operative Development Fund) को 6 करोड़ रुपये देने की व्यवस्था थी।

तीन वार्षिक योजनाओं (Annual Plans) में भी कृषि-बाजार की सुविधाओं के विस्तार पर पर्याप्त जोर दिया गया था। इन योजनाओं में 1966-69 के बीच इस मद में 15.0 करोड़ रुपये का व्यय किया गया। मार्च, 1968 तक 1855 बाजारों को नियमित बाजारों के अन्तर्गत लाया गया था। 1968-69 तक कुल 573 करोड़ रुपये के कृषि-पदार्थों का सहकारी समितियों द्वारा विक्रय किया गया था।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में भी कृषि-बाजार व्यवस्था के विकास पर पर्याप्त जोर देने का आयोजन था। मार्च, 1968 तक देश के कुल 1855 बाजारों को नियमित बाजारों के अन्तर्गत लाया गया था। शेष अभी लगभग 1500 बाजार थे जिन्हें चतुर्थ योजना के अन्त तक नियमित बाजार के अन्तर्गत लाने का आयोजन था। किन्तु दिसम्बर, 1974 तक कुल 3016 बाजारों को नियमित बाजार के अन्तर्गत लाया जा

सका था। योजना काल में गोदामों तथा संचय-गृहों के निर्माण पर भी पर्याप्त जोर दिया जाने को था। इस उद्देश्य से योजना-काल में 12 करोड़ रुपये केन्द्रीय गोदाम निगम द्वारा तथा 6 करोड़ रुपये राज्य गोदामों द्वारा व्यय किये जाने का आयोजन था। योजनाकाल में 20 लाख टन अतिरिक्त संचय क्षमता के निर्माण का आयोजन था। चतुर्थ योजना में बाजार में संचय-गृहों के निर्माण की मद में 40 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। चतुर्थ योजना के अन्त में, 1973-74 में सहकारी समितियों द्वारा कुल प्रायः 1100 करोड़ रुपये के कृषि-पदार्थों का विक्रय किया गया था।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan) में भी कृषि-बाजार व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने पर पर्याप्त मात्रा में जोर देने की व्यवस्था थी। योजना काल में इस मद में 344 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त गोदाम तथा संचय गृहों की मद में 104 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। साथ ही, पाँचवीं योजना के अन्त तक सभी बाजारों को नियमित बाजार के अन्तर्गत लाने का आयोजन था। योजना के अन्त तक, यानी 1978-79 में सहकारी समितियों के माध्यम से 1900 करोड़ रुपये के कृषि-पदार्थों के विक्रय का आयोजन था।

#### विशेष अध्ययन-सूची

- |                                    |                                                   |
|------------------------------------|---------------------------------------------------|
| 1. Bhattacharjee                   | : Studies in Indian Agricultural Economics.       |
| 2. Nanavati and Anjaria            | : The Indian Rural Problem.                       |
| 3. All India Rural Credit Survey.  | : General Report (Vol. 2), Chapters-7, 17 and 35. |
| 4. Reserve Bank of India Bulletin. | : July, 1962, & Feb. 1965.                        |



## अध्याय : 26

## खेतिहर मजदूर

(Agricultural Labour)

समस्या का महत्त्व :—पुरातन विद्वान् क्वेसने (Que-snay) ने एक बार कहा था, 'निर्धन किसान, निर्धन राजा तथा निर्धन देश।' (Poor peasant, poor king and poor country) सभी देशों के सम्बन्ध में यह बात भले ही सत्य न हो, किन्तु भारत के सम्बन्ध में आज भी यह निश्चित रूप से सत्य है। यहाँ की 70 प्रतिशत जनता कृषि पर आश्रित है, फिर भी हम अपनी आवश्यकता-नुसार अन्न नहीं उत्पन्न कर पाते। भारत एक कृषि-प्रधान देश है अतः इसकी आर्थिक व्यवस्था में खेतिहर मजदूरों का विशेष रूप से महत्वपूर्ण स्थान है। खेतिहर मजदूरों से उन ग्रामीण मजदूरों का बोध होता है जो कृषि-कार्य में मजदूरी पर लगे हुए हों। किसानों के मजदूरों के रूप में भी खेतिहर मजदूर शब्द की परिभाषा दी जाती है। किन्तु इस रूप में छोटे-छोटे किसान, रयत तथा कारीगर भी कुछ समय के लिए मजदूरी कर लेते हैं। अतः खेतिहर मजदूर वर्ग तथा अन्य ग्रामीण मजदूर वर्गों में निश्चित रूप से अन्तर करना कठिन हो जाता है। कृषि-ग्राम-जाँच समिति (Agricultural Labour Enquiry Committee) ने खेतिहर मजदूरों की श्रेणी में कृषि-कार्य में लगे हुए उन सभी लोगों को रखा था जो वर्ष में जितने दिन काम करते हैं उसका आधा या आधा से अधिक भाग मजदूरी पर करते हों। इस परिभाषा के आधार पर उक्त समिति ने यह अनुमान लगाया था कि भारत में कुल ग्रामीण परिवार के प्रायः आधा भूमिहीन मजदूरों का परिवार है।

आज से कुछ वर्ष पूर्व तक भारत की आर्थिक व्यवस्था में मजदूर शब्द का अर्थ सदा संगठित उद्योग में काम करनेवाले मजदूरों से ही समझा जाता था। भारत सरकार भी औद्योगिक मजदूरों की समस्याओं पर विशेष ध्यान देती थी तथा खेतिहर मजदूरों की समस्याओं की प्रायः उपेक्षा की जाती थी। इसके फलस्वरूप देश में खेतिहर मजदूरों की स्थिति बड़ी ही दयनीय हो गयी। यह निश्चय ही बहुत बड़ी कमी थी। कृषि-सुधार समिति (Agrarian Reforms Committee) के अनुसार 'कृषि-विकास की किसी भी योजना में खेतिहर मजदूरों की समस्याओं पर समुचित ध्यान नहीं देना, देश की कृषि-व्यवस्था की एक दर्दनाक समस्या की उपेक्षा करना होगा।' (To leave out the problem of agricultural labour in any scheme of agrarian reforms,

as has been done so far, is to leave unattended a weeping wound in the agrarian system of our country.) किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार खेतिहर मजदूरों की स्थिति को सुधारने में विशेष रूप से प्रयत्नशील रही है।

खेतिहर मजदूरों की स्थिति की जाँच के लिए भारत सरकार ने एक समिति की नियुक्ति की थी जिसने 1950-51 ई० से 800 गाँवों में 11 हजार खेतिहर मजदूर परिवारों की जाँच की। इस जाँच का विवरण 1954-55 ई० में प्रकाशित हुआ। पुनः प्रथम पंचवर्षीय योजना में खेतिहर मजदूरों की स्थिति में सुधार लाने के लिए किये गये प्रयत्नों के अध्ययन के लिए 1955-56 ई० में खेतिहर मजदूरों की स्थिति की दूसरी जाँच की गयी। इस बार 3600 गाँव के कुल 28560 खेतिहर मजदूर परिवारों की जाँच की गयी। इसका विवरण 1960 ई० में प्रकाशित हुआ।

खेतिहर मजदूरों के भेद :—खेतिहर मजदूरों को मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :— (1) खेतों में काम करनेवाले मजदूर, जैसे—हलवाहे, खेत काटने वाले आदि। इन्हें पूर्णतः खेतिहर मजदूर कहा जा सकता है। (2) कृषि से सम्बन्धित अन्य कार्य करने वाले—गाड़ीवान, कुआँ खोदने वाले आदि। इन्हें अर्द्ध कुशल (Semi-skilled) मजदूर कहा जा सकता है। (3) वे मजदूर जो कृषि के अतिरिक्त अन्य सहायक उद्योगों में लगे हुए हैं, जैसे—बढ़ई, लोहार आदि। इन्हें ग्रामीण कलाकार भी कहा जा सकता है। काम करने की दशाओं के अनुसार खेतिहर मजदूरों को निम्नलिखित दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(1) आकस्मिक मजदूर (Casual labourer), तथा (2) आसंजित मजदूर (Attached labourers)। आकस्मिक मजदूर वे मजदूर हैं जो यदा-कदा विभिन्न मालिकों के साथ कार्य करते हैं, तथा आसंजित मजदूर वे हैं जो किसी खास किसान के साथ स्थायी रूप से कोई कार्य करते हैं। कृषि-ग्राम जाँच समिति के अनुसार 1950-51 ई० में आकस्मिक एवं आसंजित मजदूरों का अनुपात 10 : 90 था जबकि 1956-57 ई० में देश के कुल खेतिहर मजदूरों के 77 प्रतिशत आकस्मिक तथा 27 प्रतिशत आसंजित मजदूर थे। स्पष्ट है कि पिछले कुछ वर्षों में आसंजित मजदूरों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। खेतिहर मजदूरों में से कुछ के पास बिल्कुल भूमि नहीं होती। इन्हें भूमिहीन मजदूर (Landless labour-



ters) कहा जाता है। कृषि-श्रम जाँच समिति के अनुसार भारत के कुल ग्रामीण परिवार का 30.4 प्रतिशत भाग खेतिहर मजदूरों का था जिनमें 15.2 प्रतिशत के पास भूमि थी तथा 15.2 प्रतिशत बिल्कुल भूमिहीन मजदूर थे।

खेतिहर मजदूरों की संख्या:—भारत में खेतिहर मजदूरों की संख्या का अनुमान समय-समय पर लगाया गया है। नेशनल प्लानिंग कमिटी के विवरण में प्रो० रंगा ने भारत के खेतिहर मजदूरों की संख्या 10 करोड़ बतायी थी। यह तत्कालीन जनसंख्या के अनुसार देश की सम्पूर्ण जनसंख्या का 25 प्रतिशत भाग था। 1951 ई० की जनगणना के अनुसार भारत की कुल 2490 लाख कृषिकार आबादी में से खेतिहर मजदूरों की संख्या 490 लाख, यानी प्रायः 20 प्रतिशत भाग थी। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि देश की कुल आबादी के प्रायः 13 प्रतिशत भाग खेतिहर मजदूर थे।<sup>1</sup> किन्तु यह प्रतिशत निश्चय ही बहुत कम जान पड़ता है।

किन्तु खेतिहर मजदूरों के सम्बन्ध में विश्वसनीय आँकड़े कृषि-श्रम जाँच समिति के विवरण के प्राप्ति होने पर ही उपलब्ध हुए हैं। उक्त समिति के अनुसार 1950-51 ई० में भारत की सम्पूर्ण ग्रामीण जनसंख्या के प्रायः 30.4 प्रतिशत भाग खेतिहर मजदूरों का था। समिति ने 1951 ई० की जनगणना के आधार पर यह निश्चित किया था कि भारत में कुल 58 करोड़ ग्रामीण परिवार हैं जिनमें 1.8 करोड़ परिवार खेतिहर मजदूरों का है। किन्तु 1956-57 ई० में हुई जाँच के विवरण के अनुसार भारत में खेतिहर मजदूर परिवारों की संख्या 1.63 करोड़ ही थी। खेतिहर मजदूर परिवारों की संख्या में इस कमी का प्रधान कारण खेतिहर मजदूरों के पेशे में परिवर्तन हो सकता है।

1956-57 ई० की कृषि-श्रम जाँच समिति के अनुसार खेतिहर मजदूरों की कुल संख्या 3.3 करोड़ थी जिनमें 1.8 करोड़ पुरुष, 1.2 करोड़ औरतें तथा 0.3 लाख बच्चे थे। इनमें 57 प्रतिशत भूमि-हीन मजदूर थे जबकि 1950-

51 ई० की जाँच के अनुसार मजदूरों की संख्या 50 प्रतिशत थी।

### भारत में खेतिहर मजदूरों की समस्याएँ

हमारे देश में खेतिहर मजदूरों के समक्ष अनेक कठिनाइयाँ हैं। खेतिहर मजदूरों को बहुत ही कम मजदूरी मिलती है। अतएव बड़ी ही दयनीय स्थिति में ये अपना जीवन गुजारते हैं। कृषि-श्रम जाँच समिति के द्वारा संकलित आँकड़ों के अनुसार 1950 ई० में बिहार के मर्द खेतिहर मजदूरों की औसत दैनिक मजदूरी 1 रुपया 19 पैसे से लेकर 1 रुपया 31 पैसे तक तथा औरतों की दैनिक मजदूरी 69 पैसे से लेकर 1 रु० तक थी। साथ ही, इन्हें मजदूरी चुकाने का कोई प्रामाणिक तरीका ही नहीं है। इन्हें मजदूरी या तो नकद रुपये में या अन्न के रूप में या दोनों के रूप में दी जाती है। कम मजदूरी मिलने के फलस्वरूप इनकी औसत आय भी बहुत ही कम होती है। कृषि-श्रम जाँच समिति के अनुसार 1950-51 ई० में प्रति खेतिहर मजदूर परिवार की औसत वार्षिक आय 447 रुपये थी। 1956-57 ई० की जाँच के विवरण के अनुसार एक औसत कृषक-मजदूर परिवार की वार्षिक आय 437 रुपये थी। इस आय का 6.85 प्रतिशत भाग वे अपनी भूमि से; 63.04 कृषि-श्रम से 7.04 प्रतिशत गैर-कृषि-श्रम से तथा 13.12 प्रतिशत अन्य तरीके से प्राप्त करते थे। कृषि-श्रम जाँच समिति के अनुसार एक औसत खेतिहर मजदूर परिवार में 4.4 व्यक्ति रहते हैं, अतएव प्रति व्यक्ति औसत वार्षिक आय 95.3 रुपये हुई। इससे स्पष्ट है कि इनकी आय बहुत ही कम है। आय कम होने से इसका जीवन-स्तर भी निम्न है। 1956-57 ई० की जाँच के अनुसार एक खेतिहर मजदूर परिवार अपनी आय का 77.3 प्रतिशत भाग भोजन, 6.1 प्रतिशत भाग वस्त्र तथा जूता पर 7.9 प्रतिशत भाग ईंधन तथा 8.7 प्रतिशत अन्य आवश्यक मदों में व्यय करता था। निम्नांकित तालिका से खेतिहर तथा औद्योगिक मजदूरों की प्रति-व्यक्ति औसत आय का तुलनात्मक ढंग से अन्दाजा लगाया जा सकता है:—

### प्रति व्यक्ति वार्षिक आय (रुपये में)

| राज्य         | खेतिहर मजदूर<br>(1950-51) | औद्योगिक मजदूर<br>(1950-51) | खेतिहर मजदूरों की आय<br>औद्योगिक मजदूरों के प्रतिशत में |
|---------------|---------------------------|-----------------------------|---------------------------------------------------------|
| पश्चिमी बंगाल | 160                       | 268                         | 59                                                      |
| बिहार         | 119                       | 332                         | 36                                                      |
| मध्य प्रदेश   | 87                        | 262                         | 33                                                      |
| उड़ीसा        | 79                        | 145                         | 54                                                      |
| पंजाब         | 121                       | 216                         | 56                                                      |
| बम्बई         | 88                        | 368                         | 24                                                      |

1. Wadia and Merchant—Our Economic Problems, P. 365.



खेतिहर मजदूरों के कार्य करने का समय भी निश्चित नहीं रहता है। उन्हें खेतों में बहुधा प्रातः काल से लेकर 8-9 बजे संध्या समय तक कार्य करना पड़ता है। खेती के विशेष अवसरों जैसे—कटनी, रोपनी आदि पर तो इन्हें और भी अधिक समय तक कार्य करना पड़ता है। फिर भी इनकी मजदूरी में कोई वृद्धि नहीं होती।

खेतिहर मजदूरों को सर्वदा काम नहीं मिलता। वर्ष के अधिकांश भागों में वे बेकार ही रहते हैं। द्वितीय कृषि-श्रम जाँच समिति के अनुसार 1956-57 ई० में भारत के आकस्मिक वयस्क मर्द खेतिहर मजदूरों (Casual adult male workers) को वर्ष में औसतन 197 दिन तक कार्य मिला था। समिति ने यह अनुमान लगाया था कि ये वर्ष में प्रायः 168 दिन तक पूर्णतः बेकार थे या अपना काम (self-employed) करते थे। समिति के अनुसार प्रायः 16 प्रतिशत व्यक्तियों को साल भर तक कोई कार्य नहीं मिलता था। इस प्रकार भारत में खेतिहर मजदूरों के समक्ष बेकारी तथा अर्द्ध-बेकारी की बड़ी ही भीषण समस्या है।

खेतिहर मजदूरों पर कर्ज का बोझ भी बढ़ते जा रहा है। पर्याप्त मजदूरी तथा लगातार कार्य न मिलने के कारण इन्हें अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी कर्ज का संहारा लेना पड़ता है जिससे ये महाजनों के चंगुल में फँस जाते हैं और एक बार इनके चंगुल में फँस जाने पर पुनः निकलना इनके लिए कठिन हो जाता है। खेतिहर मजदूर अधिकांशतः 'अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को गिरवी रखकर ही कर्ज लेते हैं'। कृषि श्रम जाँच समिति के अनुसार 1955-56 ई० से 64 प्रतिशत खेतिहर कर्ज के बोझ से ग्रसित थे तथा औसत कर्ज की मात्रा प्रति परिवार 138 रुपये थी। इस प्रकार जाँच के अनुसार 1956-57 ई० में खेतिहर मजदूरों पर कुल 143 करोड़ रुपये के लगभग कर्ज था जबकि 1950-51 ई० में कर्ज की अनुमानित रकम केवल 80 करोड़ रुपये ही थी। किन्तु, उक्त समिति के इस अनुमान से खेतिहर मजदूरों की वास्तविक स्थिति का अन्दाजा नहीं लगता क्योंकि वास्तविकता तो यह है कि शायद ही कोई ऐसा खेतिहर मजदूर परिवार होगा जो कर्ज के बोझ से मुक्त हो।

इस प्रकार भारत में खेतिहर मजदूरों के समक्ष आज अनेक समस्याएँ हैं। इन पर मूल्य वृद्धि का भी बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। मूल्य के अनुपात में मजदूरी नहीं बढ़ने के कारण इनकी आर्थिक कठिनाइयाँ और भी उग्र हो गयी हैं। इनके बीच संगठन का अभाव है। इनकी कोई संगठित संस्था नहीं है जो इनके लिए सुविधाएँ दिलाने का प्रयत्न कर सके। इन्हें आवास की भी उचित सुविधा नहीं प्राप्त है। रहने के लिए उचित स्थान के अभाव में इन्हें बड़ी कठिन परिस्थितियों में अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इनकी झोपड़ी के नीचे की भूमि पर भी इनका अधिकार नहीं है। बीमारी, बुढ़ापा तथा अन्य परिस्थितियों

से इन्हें बचाने के लिए सामाजिक सुरक्षा (Social Security) की भी कोई व्यवस्था नहीं हो पायी है। बहुत-से राज्यों में तो इनकी स्थिति दासों के समान है। इस प्रकार अर्द्ध-बेकारी तथा सामाजिक कठिनाइयों से ग्रस्त खेतिहर मजदूरों की इतनी बड़ी संख्या निस्सन्देह हमारी कृषि-व्यवस्था के अस्थायित्व तथा गम्भीर शक्ति-हीनता का सूचक है। इस वर्ग की कठिनाइयों को दूर किये वगैर भारत की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की नींव सुदृढ़ नहीं हो सकती।

खेतिहर मजदूरों की हीनावस्था के कारण

भारत में वर्षों से खेतिहर मजदूरों की स्थिति दयनीय है। ब्रिटिश शासन काल में इनकी स्थिति को सुधारने के प्रायः कोई प्रयत्न नहीं किया गया। फलतः इनकी कठिनाइयाँ और भी उग्र होती गयीं। भारतीय खेतिहर मजदूरों की हीनावस्था के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं :—

(1) जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि के परिणामस्वरूप कृषि-भूमि का निरन्तर उपविभाजन (Sub-division of land due to excessive growth of population) :— भारत, की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है जिसके फलस्वरूप किसानों की भू-सम्पत्ति का उपविभाजन बढ़ता ही जा रहा है तथा जोते छोटी होती जा रही हैं। जोतों का आकार छोटा होने के कारण कृषि-कार्य अलाभकर हो जाता है। फलस्वरूप किसानों का निर्वाह केवल अपनी भूमि से ही नहीं हो पाता और वे कम ही मजदूरी पर कार्य करने के लिए विवश होते हैं। इस प्रकार देश की बढ़ती हुई जनसंख्या तथा इसके फलस्वरूप भू-सम्पत्ति के निरन्तर उपविभाजन के कारण खेतिहर मजदूरों की निर्धनता तथा विवशता बढ़ती जा रही है।

(2) कुटीर उद्योग-धन्धों का ह्रास (Decline of Cottage Industries) :— भारत में ब्रिटिश शासन काल के प्रारम्भ से ही अनेक कारणों से कुटीर उद्योगों का विनाश होने लगा जिससे देश में सहायक उद्योग-धन्धों का सर्वथा अभाव हो गया। कुटीर उद्योगों के विनाश से बहुत-से कारीगर बेकार हो गये तथा उन्हें बाध्य होकर कृषि का कार्य करना पड़ा। इससे खेतिहर मजदूरों की संख्या में वृद्धि हो गयी और इन्हें कम मजदूरी पर ही कार्य करने के लिए विवश होना पड़ा।

(3) कर्ज का बोझ (Burden of indebtedness) : हमारे देश के खेतिहर मजदूरों की आय इतनी कम है कि उन्हें अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी कर्ज लेना पड़ता है। इसके अतिरिक्त विवाह एवं श्राद्ध आदि विशेष अवसरों पर भी वे कर्ज लेते हैं। मजदूरी कम होने के कारण ये कर्ज चुकाने में बहुधा असमर्थ रहते हैं तथा लाचार होकर इन्हें अपनी सम्पत्ति बेचनी पड़ती है। कभी-कभी तो कर्ज लेने के लिए इन्हें अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तक को भी गिरवी रखना पड़ा है जिससे ये महाजनों के दास की तरह हो जाते हैं। इस प्रकार कर्ज के



बोझ से खेतिहर मजदूरों की आर्थिक विवशता बढ़ती जा रही है।

(4) निरन्तर कार्य का नहीं मिलना (Seasonal Character of Employment) :—भारत में खेतिहर मजदूरों को कम मजदूरी पर भी निरन्तर कार्य नहीं मिलता। ये बहुधा वर्ष के अधिकतर भाग में बेकार ही रहते हैं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि ये वर्ष में 4-5 महीनों तक बेकार ही रह जाते हैं। किसी-किसी भाग में तो ये 6 महीनों तक बेकार रह जाते हैं। द्वितीय कृषि श्रम जांच समिति के अनुसार 1956-57 ई० में खेतिहर मजदूरों को वर्ष में औसतन 197 दिनों तक कार्य मिलता है तथा 40 दिनों तक ये अपना कार्य करते हैं। इस प्रकार समिति के अनुसार 1956-57 ई० में ये 128 दिन तक बेकार थे। आसजित मजदूरों को वर्ष में औसत 326 दिन ही काम मिलता है। इनके लिए बेकारी का यह समय बड़ा ही दुःखद हो जाता है और फलस्वरूप भोजन, वस्त्र आदि के लिए भी कर्ज लेना पड़ता है। अतः निरन्तर काम न मिलने के कारण भी आर्थिक स्थिति खराब होती जा रही है।

(5) मजदूरी चुकाने की दोषपूर्ण पद्धति (Defective system of Wage Payments) :—हमारे देश में खेतिहर मजदूरों को मजदूरी चुकाने की पद्धति भी दोषपूर्ण है। कहीं तो मजदूरी नकद रुपयों में चुकायी जाती है, कहीं अन्न के रूप में और कहीं दोनों के रूप में। परन्तु आजकल मजदूरी प्रायः द्रव्य के रूप में ही दी जाती है। इससे मजदूरों को वास्तव में क्षति होती है; क्योंकि वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि के फलस्वरूप मजदूरी में उस अनुपात में वृद्धि नहीं हुई है। अतः इन्हें कम वास्तविक मजदूरी ही मिलती है। इस प्रकार मजदूरी चुकाने की विभिन्नता पूर्ण एवं दोष युक्त पद्धति के कारण भी मजदूरों की स्थिति दयनीय होती जा रही है।

(6) दोषपूर्ण रयती कानून तथा अनुपस्थित जमींदारी व्यवस्था (Defective Tenancy Legislation and absentee Landlordism) :—हमारे देश के वर्तमान रयती कानून भी खेतिहर मजदूरों की संख्या में वृद्धि के लिए बहुत हद तक उत्तरदायी हैं। ये मजदूर दूसरों की भूमि पर कार्य करते और केवल अपनी मजदूरी के भागी होते हैं। जमीन का मालिक बहुधा खेती से बहुत दूर रहता है, फिर भी वह सम्पूर्ण उपज का हकदार होता है। अनुपस्थित जमींदारी व्यवस्था के कारण भी इनकी आर्थिक विवशता में वृद्धि हुई है। बड़े-बड़े जमींदार गाँवों में न रहकर नगरों में रहना अधिक पसन्द करते हैं। इनकी अनुपस्थिति में जमींदारी की व्यवस्था इनके कर्मचारियों द्वारा ही की जाती है जो किसानों पर-तरह-तरह के अत्याचार करते हैं। बहुत-से किसान इस प्रकार भूमि से बेदखल कर दिये जाते हैं और उन्हें बाध्य होकर खेतिहर मजदूरों की श्रेणी में आना पड़ता है।

(7) खेतिहर मजदूरों में संगठन का अभाव (Lack of Organisation among the Agricultural Labourers) :—हमारे देश में खेतिहर मजदूरों के बीच अभी संगठन का पूर्णतया अभाव पाया जाता है। विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रयास के फलस्वरूप देश के औद्योगिक मजदूर दिन-प्रति-दिन संगठित होते जा रहे हैं जिससे उनकी स्थिति में सुधार होता जा रहा है, किन्तु खेतिहर मजदूरों में अभी संगठन का अभाव है जिससे इनकी कठिनाइयों को दूर करने के लिए इनके द्वारा संगठित प्रयत्न नहीं किया जाता। वास्तव में, दूर-दूर तक बिखरे गाँवों की बिखरी बस्तियों में निर्धन जीवन व्यतीत करने वाले खेतिहर मजदूरों के बीच संगठन की प्रवृत्ति का अभाव अति स्वाभाविक है। इस प्रकार संगठन के अभाव के कारण भी इनकी आर्थिक विवशता अधिक हो गयी है।

(8) खेतिहर मजदूरों के प्रति सरकार और समाज की उदासीनता (Indifferent attitude of the Govt. and Society towards Agricultural Labourers) :—हमारे देश में खेतिहर मजदूरों के प्रति सरकार तथा समाज प्रारम्भ से ही उदासीन रहे हैं। ब्रिटिश शासनकाल में तो इनकी स्थिति में सुधार लाने के लिए कोई भी प्रयास नहीं किया गया जिससे इनकी आर्थिक विवशता बहुत बढ़ गयी थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद इस ओर सरकार का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ है, फिर भी इस दिशा में अभी कोई महत्वपूर्ण सुधार नहीं हो पाया है।

इस प्रकार जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि तथा जोतों के उप-विभाजन, कुटीर उद्योग के ह्रास, अत्यधिक कर्ज का बोझ, निरन्तर कार्य का नहीं मिलना, मजदूरी चुकाने की दोषपूर्ण पद्धति, अनुपस्थित जमींदारी व्यवस्था, संगठन का अभाव तथा समाज एवं सरकार की उदासीनता आदि कारणों से खेतिहर मजदूरों की आर्थिक विवशता बढ़ती ही जा रही है। इनका जीवन घोर निराशा में व्यतीत होता है। भूखे-नंगे पैदा होकर तथा आश्रयहीन सर जाने तक ही इनके जीवन का सारा इतिहास सीमित है। अतः इनकी स्थिति में सुधार लाने के लिए बहुत अधिक प्रयत्नों की आवश्यकता है।

खेतिहर मजदूरों की स्थिति में सुधार के प्रयत्न

(Attempts to improve the Condition of Agricultural Labourers)

आज से कुछ वर्ष पूर्व खेतिहर मजदूरों की समस्याओं पर सरकार एवं समाज द्वारा कोई ध्यान नहीं दिया जाता था, परन्तु आजकल केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा इनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करके तथा इनकी समस्याओं का समाधान का प्रयत्न किया जा रहा



है। इनकी स्थिति में सुधार के लिए निम्नलिखित प्रयत्न आवश्यक हैं :—

(1) न्यूनतम मजदूरी की दर निश्चित तय करना (Fixation of Minimum Wages) :—हमारे देश में खेतिहर मजदूरों की मजदूरी सबसे कम है। अतएव, इन्हें उचित मजदूरी दिलाने की व्यवस्था होनी चाहिए। इसके लिए विधान द्वारा इनकी न्यूनतम मजदूरी की दर को निश्चित करने का प्रयास किया गया है। न्यूनतम मजदूरी वह मजदूरी है जिससे कम किसी को भी मजदूरी नहीं मिलनी चाहिए। 1948 ई० में भारत सरकार ने एक न्यूनतम मजदूरी विधान (Minimum Wages Act) न्यायित किया जिसके आधार पर राज्य सरकारों को तीन वर्षों की अवधि में खेतिहर मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी निश्चित करनी थी। किन्तु, इस अवधि के अन्तर्गत प्रत्येक राज्यों में यह कार्य सम्पन्न नहीं किया जा सका। अतः 1951 ई० में इस अवधि को बढ़ाकर 1955 ई० तक कर दिया गया। आन्ध्र, बिहार, मध्य प्रदेश, कर्नाटक, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, पूर्वी पंजाब, राजस्थान, केरल, उड़ीसा, अजमेर, कुर्ग, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, कच्छ एवं त्रिपुरा में सर्वत्र तथा असम, गुजरात एवं महाराष्ट्र के कुछ भागों में न्यूनतम मजदूरी की दर तय कर दी गयी है तथा कुछ राज्यों में ऐसा किया भी जा रहा है। किन्तु खेतिहर मजदूरों में संगठन के अभाव से इसका प्रभाव प्रायः नगण्य ही रहा है। बहुत-से मजदूर तथा किसान तो इस सम्बन्ध में अभी तक कुछ नहीं जान पाये हैं। अतः न्यूनतम मजदूरी को मान्य बनाने के लिए इस क्षेत्र में सरकार को अधिक तत्पर होना चाहिए अन्यथा इससे कोई लाभ की आशा नहीं की जा सकती। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इस बात की सिफारिश की गयी थी कि अन्य क्षेत्रों में भी न्यूनतम मजदूरी शीघ्र ही निश्चित कर दी जाय।

(2) कार्य के घण्टे को निश्चित करना :—अन्य सभी उद्योगों के मजदूरों की तरह खेतिहर मजदूरों के कार्य करने का समय भी निश्चित होना चाहिए। हमारे देश में खेतिहर मजदूरों से बहुत अधिक समय तक कार्य लिया जाता है और उन्हें उचित अवकाश भी नहीं मिलता। अतः इसे विधान के द्वारा निश्चित करना चाहिए। इस सम्बन्ध में भूमि-सुधार समिति (Agrarian Reforms Committee) का प्रस्ताव था कि एक दिन मनुष्य के लिए 12 घण्टे तथा औरतों के लिए 10 घण्टे का होना चाहिए और 8 घण्टे से अधिक काम के लिए अतिरिक्त मजदूरी दी जानी चाहिए। कार्य के समय-सम्बन्धी विधान को कार्यान्वित करने में कठिनाइयाँ अवश्य होंगी, किन्तु असम्भव जानकर छोड़ देना भी उचित नहीं होगा।

(3) खेतिहर मजदूरों के दासत्व को दूर करना :—यद्यपि भारतीय संविधान के अनुसार दास रखना एक दण्डनीय अपराध है, फिर भी देश में ऐसे भी खेतिहर

मजदूर पाये जाते हैं जिनकी स्थिति दासों से अच्छी नहीं है। इन के मालिक इन्हें व्यावहारिक रूप से मोल लेते हैं। बम्बई में कोली, मद्रास में पुलेपान, उड़ीसा में चाकर, मध्य प्रदेश में सरकार तथा बिहार में कामों इसी प्रकार के होते हैं। बहुत राज्यों में तो आज भी वेगार की प्रथा प्रचलित है। इन सबको समाप्त कर खेतिहर मजदूरों को जमींदारों के शोषण से बचाना आवश्यक है। ऐसा नहीं होने से हमारा ग्रामीण समाज कभी सुखमय नहीं हो सकता। गाँवों में वेगार की प्रथा को भी समाप्त कर देना चाहिए। इन सभी कार्यों के लिए खेतिहर मजदूरों के बीच संगठन कायम करना अनिवार्य है जिससे देश की विशाल जनराशि को अर्द्ध-मानव के स्तर से ऊपर उठाया जा सके। इस सम्बन्ध में 1976-77 में कुछ ठोस कार्य किये गये थे।

(4) कुटीर उद्योग-धन्धे का विकास :—हमारे देश में खेतिहर मजदूरों को वर्ष में प्रायः 4-5 महीने तक बेकार ही रहना पड़ता है। इस बेकारी के समय में अगर इनके लिए पूरक धन्धों की व्यवस्था होती तो बेकारी का समय अच्छे ढंग से व्यतीत होती तथा इनकी आय में भी कुछ वृद्धि होती। इस प्रकार कुटीर उद्योगों की व्यवस्था से खेतिहर मजदूरों की आर्थिक विवशता को बहुत अंश तक कम किया जा सकता है।

(5) शिक्षा तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुधार :—हमारे देश में खेतिहर मजदूरों के लिए शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए। शिक्षा के अभाव में ये तथा इनके लड़के अपने अधिकारों से पूर्णतया अनभिज्ञ रह जाते हैं। इनके लिए साधारण शिक्षा से अधिक महत्त्व विशेष शिक्षा का है जिससे वे सुगमतापूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सकें। शिक्षा के साथ-साथ स्वास्थ्य में सुधार की उचित व्यवस्था भी होनी चाहिए।

(6) आवास की समुचित व्यवस्था :—खेतिहर मजदूरों को रहने के लिए उचित वासस्थान भी उपलब्ध नहीं हैं; ये प्रायः गन्दी झोपड़ियों के गन्दे वातावरण में रहते हैं। झोपड़ी के नीचे की भूमि भी बहुधा इनकी अपनी नहीं होती। अतः, इनकी आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिए यह आवश्यक है कि इनके लिए उचित वास-स्थान की सुविधा प्रदान की जाय। वास-स्थान की भूमि पर इनका अधिकार होना चाहिए। इस सम्बन्ध में 'बिहार सुविधा-प्राप्त व्यक्ति वास-स्थान काश्तकारी विधान 1958 ई०' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस विधान के द्वारा ग्रामीण भूमिहीन मजदूरों को उनके वास-स्थान की सुरक्षा प्रदान की जाती है। इस प्रकार के विधान अन्य राज्यों में भी होने चाहिए।

(7) ऋण के बोझ को कम करना :—हमारे देश में खेतिहर मजदूर कर्ज के बोझ से दबे हुए हैं। अतः इनकी आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिए आवश्यक है कि इनके कर्ज के बोझ को समाप्त किया जाय। इसके लिए



## खेतिहर मजदूर

विधान द्वारा पुराने ऋणों को समाप्त कर देना चाहिए तथा भविष्य में उचित दर पर कर्ज प्रदान करने के लिए इनके बीच सहकारी साख समितियों की स्थापना करनी चाहिए। पंचवर्षीय योजना में भी इस प्रकार के सुझाव दिये गये हैं।

(8) इनके बीच संगठन कायम करना :—खेतिहर मजदूरों की स्थिति में सुधार लाने के लिए यह आवश्यक है कि इनका एक देश-व्यापी संगठन बनाया जाय। कृषि-सुधार समिति ने इनके बीच एक देशव्यापी संगठन की स्थापना की सिफारिश की थी। संगठन के द्वारा इनकी अधिकांश कठिनाइयों को दूर करने का सम्यक् प्रयास सम्भव है। इसके द्वारा देश के इस बड़े जन-समूह को अर्द्ध-मानव के इस स्तर से ऊपर उठाया जा सकता है जिसमें वह कुछ स्थानों पर इतना नीचे गिर गया है कि गोबर से चुने हुए अन्न के दाने खाकर अपना जीवन व्यतीत करता है अतः इनकी स्थिति में सुधार के उद्देश्य से औद्योगिक मजदूरों की तरह कृषि-मजदूरों के बीच भी एक देश-व्यापी संगठन अनिवार्य है।

(9) भूमि-हीन मजदूरों के लिए भूमि की व्यवस्था :—भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की समस्या का उचित समाधान इन्हें भूमि देकर ही किया जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि देश में कृषि-योग्य भूमि का अभाव है, अतः प्रत्येक भूमि-हीन परिवार के लिए भूमि की व्यवस्था करना कठिन होगा। फिर भी, सरकार द्वारा जिस बंजर भूमि को कृषि-योग्य बनाया जाता है, या अधिकतम सीमा-निर्धारण के पश्चात् जो भूमि सरकार के पास आती है उसकी व्यवस्था में भूमि-हीन कृषक मजदूरों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। किन्तु, इन्हें भूमि इसी शर्त पर दी जानी चाहिए कि ये उसमें सहकारिता (Co-operative Farming) के आधार पर खेती का कार्य करें। इससे इनकी स्थिति में पर्याप्त सुधार लाया जा सकता है। भारत सरकार द्वारा हाल में ही पंरती भूमि के उद्धार के सम्बन्ध में सुझाव देने लिए एक समिति नियुक्ति की गयी थी। समिति ने 12 राज्यों में 10.8 करोड़ रुपये के व्यय से 10.8 लाख एकड़ भूमि के उद्धार की सिफारिश की थी।

उपरोक्त सभी उपायों द्वारा भारत के खेतिहर मजदूरों की आर्थिक विवशता को कम किया जा सकता है।

पंचवर्षीय योजनाओं में खेतिहर मजदूर  
(Agricultural Labourers in Five Year Plans)  
योजना आयोग ने खेतिहर मजदूरों की स्थिति एवं समस्याओं पर विशेष प्रकाश डाला है तथा इनकी स्थिति में सुधार के लिए पंचवर्षीय योजनाओं में बहुत-से सुझाव प्रस्तुत किये हैं। आयोग के अनुसार खेतिहर मजदूर ग्रामीण व्यवस्था के एक प्रमुख अंग हैं, अतः इनकी उन्नति एवं समृद्धि पर ही समस्त ग्रामीण व्यवस्था की उन्नति एवं

समृद्धि आश्रित है। इस प्रकार खेतिहर मजदूरों की स्थिति में सुधार को पंचवर्षीय योजना का एक प्रधान उद्देश्य माना गया है। योजना आयोग के निम्नांकित वयान से यह स्पष्ट है : "It is one of the primary objects of the Five Year Plans to ensure fuller opportunities for work and a better living to all sections of the rural community and, in particular, to assist agricultural labourers and in the backward classes to come up to the level of the rest. Their problems undoubtedly constitute a challenge and the obligation rests upon the community as a whole to find satisfactory solutions for them."

प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) में खेतिहर मजदूरों की स्थिति में सुधार लाने के उद्देश्य के बहुत-से सुझाव दिये गये थे जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—(1) अपेक्षाकृत कम मजदूरी वाले क्षेत्रों में बड़े-बड़े फार्मों तथा गहन कृषि के लिए चुने गये इलाकों में न्यूनतम मजदूरी विधान को यथाशीघ्र लागू करने का प्रयत्न आवश्यक है। देश के अन्य भागों में भी राज्य सरकार द्वारा इस नियम को कार्यान्वित करने की व्यवस्था की जानी चाहिए। (2) कृषि-योग्य बनायी गयी बंजर भूमि की व्यवस्था में भूमि-हीन मजदूरों को यथा-सम्भव प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इस प्रकार की भूमि पर-वे सहकारी समितियों का निर्माण कर कृषि का कार्य करेंगी। (3) प्रथम योजना में खेतिहर मजदूरों को वास-स्थान की भूमि प्रदान करने पर भी जोर दिया गया था। आयोग के अनुसार खेतिहर मजदूर अपनी झोपड़ी की नीचे वाली भूमि के भी मालिक नहीं होते जिससे इनकी स्थिति बहुत ही दयनीय हो जाती है। ऐसी स्थिति में ऐसे भूमि-हीन किसानों को जिन्हें अपने मकान वाला भूमि पर अस्थायी अधिकार प्राप्त हो उस पर मौखिकी अधिकार दिये जायें।

प्रथम योजनाकाल में भूमि-हीन मजदूरों के पुनर्वास के लिए 2 करोड़ रुपये व्यय का एक कार्यक्रम तैयार किया गया था जिसे आगे घटाकर केवल 1.5 करोड़ रुपये ही रखा गया, किन्तु योजनाकाल में इस मद में 1 करोड़ से भी कम रकम खर्च हुई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में भी खेतिहर मजदूरों की स्थिति में सुधार के प्रयत्न किये गये थे। योजना में इस बात पर विशेष रूप से जोर दिया गया था कि जिन क्षेत्रों में अभी तक न्यूनतम मजदूरी नहीं निश्चित की जा सकी है, उन क्षेत्रों में इसे यथाशीघ्र निश्चित करने की आवश्यकता है। साथ ही, बंजर भूमि उद्धार एवं जोतों की अधिकतम सीमा-निर्धारण के फलस्वरूप जो अतिरिक्त भूमि बच जाती है



उसकी व्यवस्था भूमि-हीन मजदूरों के साथ सहकारी कृषि के आधार पर यथासम्भव की जानी चाहिए। योजना के अन्तर्गत इनकी स्थिति में सुधार के लिए ग्रामीण उद्योगों के विकास का भी आयोजन किया गया था। साथ ही, मजदूरों के वास-स्थान की भूमि; श्रम सहयोग समितियों की स्थापना तथा भूमि-हीन मजदूरों के पुनर्वास पर भी योजना में विशेष जोर दिया गया था। योजनाकाल में 1 लाख एकड़ भूमि पर 10,000 भूमि-हीन मजदूर परिवारों को बसाने के लिए 5 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था की गयी थी। इसके अतिरिक्त द्वितीय योजना में पिछड़े वर्गों के उद्धार के लिए प्रायः 90 करोड़ रुपये व्यय किये गये।

**तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan)**  
:—तृतीय पंचवर्षीय योजना में खेतिहर मजदूरों की स्थिति को सुधारने पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में कृषि एवं ग्रामीण विकास पर बहुत अधिक रकम व्यय की व्यवस्था थी। तृतीय योजना में इन कार्यक्रमों के माध्यम से ही खेतिहर मजदूरों की स्थिति में सुधार पर जोर दिया गया था। योजनाकाल में राज्यों की योजनाओं के अनुसार खेतिहर मजदूरों को बसाने के लिए 4 करोड़ रुपये तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा 8 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। तृतीय योजनाकाल में 50 लाख एकड़ भूमि पर 7 लाख खेतिहर मजदूर परिवारों को बसाने की व्यवस्था थी। साथ ही, योजनाकाल में खेतिहर मजदूरों की अर्द्ध-बेरोजगारी की स्थिति को दूर करने के लिए गाँव में विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम अपनाये गये थे जिसके परिणामस्वरूप योजना के अन्त में प्रायः 25 लाख खेतिहर मजदूरों

को 100 दिन की अतिरिक्त मजदूरी प्राप्त होने की आशा थी।

**चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan)** में छोटे-छोटे किसानों तथा खेतिहर मजदूरों की समस्याओं पर विशेष रूप से जोर दिया गया था। इनकी स्थिति में सुधार के लिए दो प्रकार के कार्य करने की व्यवस्था थी :—सर्वप्रथम तो चतुर्थ योजना काल में कृषि के विकास के लिए बहुत-से सामान्य कार्यक्रम अपनाये जाने को थे जिससे सम्पूर्ण कृषक समाज के साथ-साथ छोटे-छोटे किसानों को भी लाभ होने की आशा थी। देश के चुने हुए जिलों में छोटे-छोटे किसानों तथा खेतिहर मजदूरों की स्थिति में सुधार के लिए विशेष रूप से प्रयत्न किये जाने को थे। इस योजनाकाल में कुछ चुने हुए जिलों में Small Farmers Development Agency नामक एक विशेष संस्था स्थापित करने का प्रयास किया जाने को था। इस मद में चतुर्थ योजनाकाल में 115 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था।

**पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan)** में भी इस मद में विशेष जोर देने का आयोजन था। पाँचवीं पंचवर्षीय योजनाकाल में खेतिहर मजदूरों को वास-स्थान के लिए भूमि दिलाने के लिए 25 करोड़ रुपये की व्यय-व्यवस्था थी।

**छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan)** में भी कृषि-मजदूरों की स्थिति में सुधार के लिए पर्याप्त मात्रा में प्रयत्न किये जा रहे हैं।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. Dr. V. K. R. V. Rao : Agricultural Labour in India.
2. Reports of the Agricultural Labour Enquiry Committees.
3. First, Second, Third, Fourth & Fifth Five Year Plans of India.
4. The Indian Labour Year Book.



अध्याय : 27

## हरी-क्रान्ति

(The Green Revolution)

प्राक्कथन—भारत में तीव्र गति से बढ़ती हुई जन-संख्या के लिए खाद्यान्न एवं विस्तारशील उद्योग-धन्धों के लिए कच्चे पदार्थ की पूर्ति को बढ़ाने के लिए कृषि के सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही एक प्रगतिशील-नीति की आवश्यकता रही है। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कृषि-उत्पादन में वृद्धि के लिए आयोग द्वारा संस्थागत तथा तकनीकी परिवर्तन पर जोर दिया गया था। संस्थागत परिवर्तनों में देश की भूमि-व्यवस्था में विभिन्न प्रकार के सुधार-जैसे जमींदारी उन्मूलन, काश्तकारों को भू-स्वामित्व का अधिकार दिलवाना, लगान नियन्त्रित करना तथा जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारित करना आदि आते हैं। इन भूमि-सुधारों का प्रधान उद्देश्य किसानों में उत्पादन की प्रेरणा को बढ़ाना तथा सामाजिक न्याय की अधिकाधिक व्यवस्था करना है। दूसरी ओर, कृषि के क्षेत्र में तकनीकी सुधारों के अन्तर्गत कृषि-सम्बन्धी औजारों तथा खाद, सुधरे हुए बीज आदि की अधिकाधिक मात्रा में व्यवस्था करना आदि। इसके साथ ही, उचित मूल्य नीति एवं साख, विक्री, संचय एवं परिवहन आदि की सुविधाओं के विस्तार पर भी जोर दिया जा रहा है। द्वितीय योजना तक आयोग ने कृषि के क्षेत्र में इन विभिन्न उपायों द्वारा कृषि के उत्पादन को बढ़ाने का प्रयत्न जारी रखा। इन विभिन्न प्रकार के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप कृषि के उत्पादन में वृद्धि अवश्य हुई, किन्तु एक सुनिश्चित कृषि-सम्बन्धी नीति के अभाव में ये कृषि के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन (agricultural break through) की स्थिति नहीं उत्पन्न की जा सकी। वास्तव में, कृषि-क्रान्ति के लिए एक सुनिश्चित कृषि-सम्बन्धी नीति की सबसे प्रबल आवश्यकता है।

भारतीय कृषि विकास की नयी नीति (New Strategy in Indian agriculture) :—1961-62 में तृतीय योजना के प्रारम्भ के साथ देश में एक नयी कृषि-नीति का सूत्रपात हुआ जिसने कृषि के उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि को संभव बनाया। पहले-पहल 1960-61 में गहन जिला विकास कार्यक्रम (Intensive Agricultural District Programme) या पैकेज प्रोग्राम देश के चुने हुए सात जिलों में, जिनमें विकास के लिए सभी साधन मौजूद थे, लागू किया गया। इन चुने हुए जिलों में कृषि की सुधरी हुई विधियाँ तथा विभिन्न कृषिगत साधन जैसे उत्तम खाद, सुधरे हुए बीज, औजार, सिंचाई आदि एक साथ प्रयुक्त किये गये। इसके परिणामस्वरूप, इसमें उत्पादन में आश्चर्यजनक गति से वृद्धि हुई। इस कार्यक्रम की सफलता से प्रभावित

होकर एक अन्य अपेक्षाकृत कम विस्तृत कार्यक्रम Intensive Agricultural Area Development Programme लागू किया गया जिसमें विशिष्ट फसलों की खेती पर विशेष रूप में ध्यान दिया गया। इसी तरह गेहूँ, धान तथा अन्य प्रमुख उपजों के लिए नये-नये सुधरे हुए बीजों का भी ईजाद हुआ। उदाहरण के लिए, गेहूँ में मेक्सिकन छोटी किस्में 1963-64 से तथा धान की T. N. I. किस्म 1965 से प्रयुक्त की जाने लगी। इनके प्रयोग से कृषि के उत्पादन में आवश्यक गति से वृद्धि हुई। परिणाम-स्वरूप, भारतीय कृषि जो सदियों से निष्क्रिय अवस्था में पड़ी थी, अब विकास की ओर उन्मुख हुई है। नये-नये एवं सुधरे हुए खेती के तरीके, अधिक उपज देनेवाले बीजों, उत्तम खाद तथा गहन कृषि कार्यक्रमों से कृषि के क्षेत्र में एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न हो गयी जिसे हमें हरी क्रान्ति (Green Revolution) की संज्ञा दी जाती है। तृतीय योजना के अन्तिम वर्ष में खाद्यान्न का उत्पादन बहुत ही कम हुआ जिससे देश के एक बहुत बड़े भाग में भूख-खाद्य-संकट की स्थिति उत्पन्न हो गयी। अतएव खाद्य-समस्या के स्थायी समाधान के लिए 1966-67 में कृषि विकास की एक नयी नीति (New Strategy of Agricultural Development) की शुरुआत हुई। इस नयी नीति के अन्तर्गत निर्नांकित पंच-सूत्री विकास कार्यक्रम को अपनाया गया—

- (1) सर्वप्रथम, ऊँची उपज देनेवाले बीजों का उत्पादन बढ़ाया जाय तथा इनके वितरण की प्रणाली को अधिक संगठित किया जाय।
- (2) द्वितीयतः, कृषि-साख एवं अन्य साधनों की पूर्ति में सुधार किया जाय।
- (3) तृतीयतः, कृषि के क्षेत्र में तकनीकी जानकारी किसानों तक पहुँचायी जाय।
- (4) चतुर्थतः, अधिक उपज से उत्पन्न समस्या-कटाई, संग्रह, विक्रय आदि के समाधान का प्रयत्न।
- (5) अन्ततः, छोटे-छोटे किसानों को कृषि-यंत्र प्रदान करनेवाली संस्थाओं को अधिक सुदृढ़ बनाया जाय।

1960-61 से 1973-74 ई० के बीच खाद्यान्नों के उत्पादन में वार्षिक 2.72 प्रतिशत (annual compound



rate) की दर से वृद्धि हुई। किन्तु गेहूँ के उत्पादन में यह वृद्धि वार्षिक 8.85 प्रतिशत की दर से हुई।

### नई कृषि-विकास विधि की उपलब्धियाँ

पिछले कुछ वर्षों के उत्पादन-सम्बन्धी आँकड़ों से पता चलता है कि गेहूँ का उत्पादन जो 1964-65 में 123 लाख टन था, 1971-72 में बढ़कर 265 लाख टन हो गया अर्थात् इसमें 115.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1975-76 में तो यह 283 लाख टन हो गया। उत्पादन में इस वृद्धि का कुछ भाग तो क्षेत्रफल के विस्तार के कारण हुआ परन्तु इस बीच प्रति हेक्टर उपज भी 913 किलोग्राम से बढ़कर 1,382 किलोग्राम हो गई अर्थात् इसमें 42 प्रतिशत वृद्धि हुई। इसी प्रकार 1964-65 और 1970-71 के दौरान मकई की प्रति हेक्टर उपज में 25.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई किन्तु ज्वार और बाजरा की प्रति हेक्टर उपज में वृद्धि

महत्वहीन रही। 1969-70 और 1970-71 में तो मक्का, ज्वार और बाजरा की प्रति हेक्टर उपज में गिरावट ही आई। पर वर्तमान स्थिति का सबसे असंतोषजनक पहलू यह है कि चावल की कुल उपज, जो 1960-61 में 340 लाख टन थी, 1965-66 में कम होकर 305 लाख टन रह गयी। 1973-74 के दौरान चावल के उत्पादन का 440 लाख टन तथा 1975-76 में 495 लाख टन तक पहुँच जाना इस बात का संकेत है कि हरित क्रान्ति का प्रभाव भारत की प्रधान फसल पर भी थोड़ा व्यक्त हुआ है। 1973-74 में प्रति एकड़ उपज भी बढ़कर 115 किलोग्राम हो गयी है। अतः इस तथ्य को स्वीकार करना ही होगा कि जहाँ कृषि विकास-स्थिति का प्रभाव गेहूँ की फसल में व्यक्त हुआ वहाँ भारत की सबसे बड़ी तथा महत्वपूर्ण फसल अर्थात् चावल पर इसका कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं हुआ।

मुख्य फसलों के प्रति हेक्टर उत्पादन की प्रवृत्ति : प्रति हेक्टर उपज (किलोग्राम में)

|         | चावल | ज्वार | बाजरा | मक्का | गेहूँ |
|---------|------|-------|-------|-------|-------|
| 1960-61 | 1013 | 533   | 286   | 926   | 851   |
| 1964-65 | 1073 | 503   | 380   | 1009  | 913   |
| 1970-71 | 1134 | 470   | 620   | 1270  | 1299  |
| 1971-72 | 1145 | 461   | 455   | 892   | 1382  |
| 1973-74 | 1151 | 544   | 540   | 365   | 1171  |
| 1974-75 | 1061 | 645   | 287   | 966   | 1382  |

नई विकास-विधि के परिणामस्वरूप, उन्नत बीजों के अधीन क्षेत्रफल, जो 1966-67 में 18.9 लाख हेक्टर था बढ़कर 1971-72 में 180 लाख हेक्टर हो गया। इसके अतिरिक्त वई किस्में जिनके पकने में अपेक्षाकृत थोड़ा समय लगता है, को अधिक महत्व दिया जाने लगा और बहुत-से सिचाई के अधीन क्षेत्रों में एक फसल उगाने की अपेक्षा दो-दो फसलें बोई जाने लगी। पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान और पश्चिम उत्तरप्रदेश में नए मैक्सिकन किस्म के बीजों अर्थात् लरमारोज, सोनारा 64 कल्याण और पी० बी०-18 के लिए अभूतपूर्व उत्साह पाया गया। परन्तु चावल के सम्बन्ध में बीजों की किस्मों अर्थात् टी० एन-1, आई० आर०—8, टेनिन—3 और ए० डी० टी०—27 के सम्बन्ध में प्रयोगशालाओं में तो सफलता प्राप्त हुई किन्तु खेती में इन्हें स्पष्टतया श्रेष्ठ प्रमाणित नहीं किया जा सका है। चावल के क्षेत्रों में किसानों ने, जो कुल कृषि-परिवारों का बड़ा भाग है, नई किस्म के बीजों को उत्साह के साथ ग्रहण नहीं किया। जहाँ पारस्परिक किस्म के बीजों द्वारा केवल 4 से 5 टन उत्पादन प्रति हेक्टर सम्भव है, वहाँ नई और उन्नत किस्मों के बीजों द्वारा 8 से 10 टन प्रति हेक्टर उत्पादन किया जा सकता है।

अधिक उपजाऊ बीजों के अधीन क्षेत्रफल और इसका खाद्योत्पादन की वृद्धि में योगदान :—अगले पृष्ठ की तालिका में अधिक उपजाऊ बीजों के अधीन क्षेत्रफल दिया गया है। तालिका से स्पष्ट है कि गेहूँ को छोड़ अन्य फसलों में प्राप्ति लक्ष्य से कम ही रही है। जाहिर है कि या तो लक्ष्यनिर्धारित करते समय व्यवहार्यता को दृष्टि में नहीं रखा जाता या आवश्यक प्रसार सेवा (Extension service) या आदान-संचरण (Input supplies) पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं कराया जाता था, या ये दोनों लक्ष्य और वास्तविक प्राप्ति में अन्तर के लिए जिम्मेदार हैं। सरकारी संस्थाओं के कार्य-भाग का विवेचन करते हुए पी० एन० राधाकृष्णन लिखते हैं, 'मद्रास ही एकमात्र उदाहरण है जहाँ राजकीय योजना को सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया गया। दूसरे राज्यों में जो भी सफलता प्राप्त हुई है उसका श्रेय सरकारी मशीनरी की अपेक्षा किसानों के अपने उपक्रम और उत्साह को दिया जाता है। पंजाब में सरकारी अधिकारियों का कहना है कि चूँकि किसान काफी शिक्षित हैं इसलिए उन्हें अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों को स्वीकार करवाने के लिए विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ा।'



अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों के अधीन क्षेत्रफल लाख हेक्टरों में

| फसल   | 1968-69 | चौथी योजना का लक्ष्य | 1973-74 में प्राप्ति |
|-------|---------|----------------------|----------------------|
| चावल  | 26      | 101                  | 95                   |
| गेहूँ | 48      | 77                   | 108                  |
| मकई   | 4       | 12                   | 6                    |
| ज्वार | 7       | 32                   | 11                   |
| बाजरा | 7       | 28                   | 30                   |
| कुल   | 92      | 250                  | 250                  |

उर्वरकों (Fertilizers) का प्रयोग :—नई कृषि-विकास विधि में प्रत्येक फसल के लिए उर्वरकों की विशेष मात्रा के प्रयोग की सिफारिश की गई है। परिणामतः यह अनिवार्य हो जाता है कि उर्वरकों के उत्पादन को बढ़ाने का प्रयास किया जाए। किन्तु उर्वरकों की नई उत्पादक इकाइयों को स्थापित करने में समय लगेगा। इस बीच में उर्वरकों के आयात की मात्रा बढ़ानी अनिवार्य है। इस अवधि में खाद एवं उर्वरकों के उत्पादन में भी वृद्धि हुई। निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है कि 1964-65 और 1971-72 के दौरान नत्तजनक उर्वरक का उपभोग (अन्तर्देशीय एवं आयातित) 340 प्रतिशत बढ़ा, फासफोरस उर्वरक का 377 प्रतिशत और पोटाश उर्वरक का 428 प्रतिशत बढ़ा। 1950-51 की तुलना में तो उर्वरक के प्रयोग में वर्तमान वृद्धि अत्यंत आश्चर्यजनक जान पड़ती है। 1960-61 और 1971-72 के दौरान प्रति हेक्टर उपयोग उर्वरक 1.9 किलोग्राम से बढ़कर 16.1 किलोग्राम हो गया। निम्नांकित तालिका से यह स्पष्ट है :—

छोटी सिंचाई की योजनाएँ (Minor Irrigation Schemes) :—1965-66 और 1966-67 के सूखे के कारण बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में जो स्थिति पैदा हुई, उसके कारण छोटी सिंचाई को कृषि-आयोजन में उच्च प्राथमिकता प्रदान करनी पड़ी और परिणामतः छोटी सिंचाई के विकास को नई कृषि-विकास विधि के अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकार करना पड़ा। यह बात काफी संतोषजनक है कि पिछले तीन वर्षों (अर्थात् 1966-67 से 1968-69) के दौरान 100 लाख एकड़ भूमि में अतिरिक्त कृषि-सामर्थ्य कायम किया गया। नई विकास-विधि की सफलता बहुत हद तक कृषि-सुविधाओं के विस्तार पर निर्भर करेगी। अतः सबसे पहले नई विकास-विधि में उन क्षेत्रों के विकास पर बल दिया जायगा जिसमें निश्चित सिंचाई अथवा वर्षा उपलब्ध है। किन्तु कृषि-क्रांति समग्र भारत में तब तक व्यापक रूप धारण नहीं कर सकती, जब तक कि सिंचाई की सुविधाओं का विकास नहीं हो जाए।

उर्वरकों का उपयोग : हजार मेट्रिक टन

|         | नत्तजनक | फासफोरस | पोटाश | कुल प्रति हेक्टर उपयोग | किलोग्राम में |
|---------|---------|---------|-------|------------------------|---------------|
| 1950-51 | 56      | 7       | 6     | 69                     | 0.5           |
| 1960-61 | 212     | 53      | 24    | 289                    | 1.9           |
| 1964-65 | 434     | 148     | 70    | 652                    | 4.2           |
| 1965-66 | 575     | 132     | 78    | 785                    | 5.1           |
| 1970-71 | 1479    | 541     | 236   | 2256                   | 13.7          |
| 1971-72 | 1798    | 558     | 300   | 2656                   | 16.7          |
| 1973-74 | 1830    | 550     | 360   | 2840                   | —             |
| 1976-77 | 2460    | 630     | 320   | 3410                   | —             |

हरी क्रांति के लिए उत्तरदायी कारण  
(Contributory Factors)

इस हरी क्रांति के लिए बहुत-से कारण उत्तरदायी हैं। परन्तु इनमें सर्वाधिक गौरवपूर्ण स्थान कृषि-अनुसन्धान परिषद् (Indian Council of Agricultural Research) तथा लुधियाना (पंजाब) एवं पन्तनगर (उत्तर प्रदेश) के कृषि-विश्वविद्यालयों को है। ध्यानपूर्वक

देखने से स्पष्ट होगा कि यह हरी क्रांति मुख्यतः अधिक उपज देनेवाले बीजों का ही परिणाम थी जिन्हें पता लगाने में इन संस्थाओं ने महत्वपूर्ण योग प्रदान किया है।

संक्षेप में, इस हरी क्रांति के लिए निम्नांकित कारण मुख्य रूप से उत्तरदायी रहे हैं—

(1) भारी उपजदायी बीजों का उपयोग (Use of Wonder Seeds)—कृषि के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन



मुख्यता नये एवं आश्चर्यजनक बीजों की देन है। इन बीजों के परिणामस्वरूप महत्त्वपूर्ण खाद्यान्नों के प्रति एकड़ उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हुई है। इनमें धान के ताईचुंग, आई० आर०—8 एवं गेहूँ के कल्याण सोना तथा सोनालिका आदि उल्लेखनीय हैं। 1968-69 में लगभग 92 लाख हेक्टर, 1970-71 में 140 लाख हेक्टर तथा 1973-74 में 258 लाख हेक्टर भूमि में उन्नत बीजों का प्रयोग किया गया था तथा 1976-77 तक 330 लाख हेक्टर भूमि को इन बीजों के अन्तर्गत लाने का आयोजन था। इस प्रकार चतुर्थ योजना के अन्त में उन्नत बीजों के अन्तर्गत 250 लाख हेक्टर भूमि आ गयी थी।<sup>1</sup> इन उन्नत किस्म के बीजों की उपज देशी किस्म की तुलना में बहुत अधिक होती है। गेहूँ के क्षेत्र में उपज में इससे बहुत अधिक वृद्धि हुई है। इस कार्य के लिए विभिन्न राज्यों में बीज निगम स्थापित किये गये हैं जिनसे बीजों के उत्पादन, प्रमाणीकरण और वितरण में सुविधा हो सके। विभिन्न राज्यों में बीजों के लिए बहुगुणन फर्म स्थापित किये गये हैं। एक राष्ट्रीय बीज निगम (National Seeds Corporation) की भी स्थापना की गयी है जिससे इस कार्य में बहुत अधिक सहायता मिल रही है।

(2) उर्वरकों के प्रयोग पर अधिक जोर (Emphasis on utilisation of Fertilizers) :—कृषि की उपज में वृद्धि लाने में उर्वरकों का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। नयी कृषि-नीति-सम्बन्धी कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रत्येक फसल के लिए उर्वरक की मात्रा निश्चित की गयी है। परिमाण-स्वरूप इसके उपयोग में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। सम्पूर्ण भारत में फास्फोरिक उर्वरकों का प्रयोग जो 1950-51 में 7 हजार मेट्रिक टन था, द्वितीय योजना के अन्तिम वर्ष 1960-61 में बढ़कर 53 हजार मेट्रिक टन तथा 1976-77 में 650 हजार मेट्रिक टन हो गया। इसी प्रकार नवजनक उर्वरक का प्रयोग 1950-51 में 56 हजार मेट्रिक टन से बढ़कर 1973-74 में 1830 हजार मेट्रिक टन तथा 1976-77 में 24.6 लाख टन हो गया तथा पोटास के किस्म के रासायनिक उर्वरक का उपयोग जो 1950-51 में लगभग 6 हजार मेट्रिक टन था बढ़कर 1976-77 में 360 हजार टन हो गया।

उर्वरकों के वितरण और उर्वरक खरीदने के लिए किसानों को क्रमशः लघु अवधि के ऋण और तकावी दी जाती है। पाँचवीं योजना के तीसरे वर्ष (1976-77) में खाद तथा उर्वरकों के प्रयोग को बढ़ाकर 24.8 लाख मेट्रिक टन नवजनक, 6.7 लाख मेट्रिक टन फास्फेट और 3.4 लाख मेट्रिक टन पोटाश का आयोजन था। इस गति से 1980-81 में उर्वरकों की माँग बढ़कर 150 लाख टन होने का अनुमान है।

(3) आधुनिक उपकरण एवं संयंत्र (Modern Equipments and Machineries) :—कृषि-उत्पादन को बढ़ाने में तथा प्रति-हेक्टर उत्पादन लागत को कम करने में आधुनिक कृषि-यन्त्रों, जैसे—ट्रैक्टर, बुलडोजर, ट्र्यूब वेल्स, डीजल ईंजन, शक्ति-चालित पम्प आदि का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में, कृषि के आधुनिक यन्त्रों के उपयोग से कृषि के उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। पिछले कुछ वर्षों में इनके प्रयोग में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। चतुर्थ योजना में 250 चुने गये जिलों में से प्रत्येक में जिला-स्तर पर एक कृषि-औजार केन्द्र खोलने का प्रस्ताव था जहाँ उन्नत कृषि औजारों के उत्पादन, सर्विसिंग, मरम्मत एवं प्रचार का कार्य किया जाने को था चतुर्थ योजना के अन्त में कम-से-कम 20 प्रति-शत कृषकों को उन्नत कृषि-उपकरण एवं संयंत्र प्रदान करने का आयोजन था। कृषि के यन्त्रीकरण (Mechanisation of Agriculture) से वर्ष में दो-तीन फसलों की खेती सम्भव हुई है।

(4) कीटनाशक औषधियों का उपयोग (Use of pesticides) :—भारत में पिछले कुछ वर्षों में कीटाणुनाशक एवं विभिन्न पौधों के रोगों के नियन्त्रण की दिशा में भारतीय कृषि-अनुसंधान परिषद् ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। नयी कृषि नीति में सरकार कीटनाशक औषधियों और पौधों की रक्षा के लिए उपकरण तैयार करने के लिए तेजी से कदम उठा रही है। देश के पौधा संरक्षण निदेशालय के अन्तर्गत 17 केन्द्रीय पौधा संरक्षण केन्द्रों द्वारा फसलों के कीड़ों व रोग आदि के नियन्त्रण करने के लिए प्राविधिक परामर्श दिया जाता है। राज्य के कृषि-विभागों द्वारा कीटनाशक औषधि और पौधा संरक्षण यन्त्र दिये जाते हैं। सन् 1968-69 में पौधा-संरक्षण कार्यक्रमों के अन्तर्गत 5 करोड़ 46 लाख हेक्टर भूमि को लाभ पहुँचा तथा चतुर्थ योजना का इस सम्बन्ध में लक्ष्य 8 करोड़ हेक्टर का था।

(5) सिंचाई की सुविधाओं में वृद्धि (Extension of Irrigation) :—हरी क्रान्ति के लिए उत्तरदायी तत्त्वों में सिंचाई की सुविधाओं में विस्तार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। पानी ही धरती का जीवन है। अतएव, सिंचाई की सुविधाओं में विस्तार पर पंचवर्षीय योजनाओं में पूरा-पूरा जोर दिया जा रहा है। नयी कृषि-विधि का प्रचार भी पहले उन्हीं क्षेत्रों में किया गया जहाँ निश्चित सिंचाई की सुविधा प्राप्त है। 1965-66 तथा 1966-67 के सूखे के कारण पूर्वी उत्तर-प्रदेश और बिहार में जो स्थिति उत्पन्न हुई उसके कारण कृषि-कार्यक्रमों में छोटी सिंचाई परियोजनाओं को उच्च प्राथ-

1. The Fourth Plan : Mid-term Appraisal, Dec. 1967.

2. The Fifth Five Year Plan (1974-79), 1976, P. 5.



मिकता प्रदान करनी पड़ी और अब इस प्रकार बहुदशीय नदी घाटी योजनाओं तथा बड़ी-बड़ी नहरों के निर्माण के साथ-साथ लघु-सिंचाई कार्यक्रमों (Minor Irrigation Schemes) पर भी पूरा-पूरा जोर दिया जा रहा है। चतुर्थ योजना-काल में बड़ी एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं द्वारा कुल 57 लाख हेक्टर तथा लघु सिंचाई की योजनाओं द्वारा 32 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि को सिंचाई के अन्तर्गत लाने का आयोजन था।

(6) मूल्य-सम्बन्धी प्रोत्साहन (Price Incentives) :—कृषि तथा किसानों की उन्नति के लिए कृषि-पदार्थों का उचित मूल्य मिलना भी आवश्यक है। सरकार इस सम्बन्ध में भी अत्यधिक जागरूक है। किसानों के हितों की रक्षा के लिए भारत सरकार द्वारा प्रतिवर्ष सभी प्रमुख फसलों की एक न्यूनतम कीमत (Support price) घोषित की जाती है जिस पर सरकार किसानों से उनकी फसल को खरीदने के लिए तत्पर रहती है। इससे किसानों को उनके श्रम का उचित मूल्य मिल जाता है।

(7) साख की सुविधाओं में विस्तार (Improved credit facilities)—कृषि-साख की सुविधाओं पर भी वर्तमान समय में बहुत अधिक जोर दिया जा रहा है। इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक तथा 14 अन्य राष्ट्रीयकृत बैंक और सहकारी बैंक एवं अन्य साख संस्थाओं से महत्वपूर्ण सहायता मिल रही है। परिणाम-स्वरूप, इन विभिन्न संस्थाओं द्वारा कृषि तथा किसानों को दिये जानेवाले ऋण की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि हुई है। इससे भी कृषि-क्रांति को बहुत अधिक बल मिला है।

(8) भूमि-सुधार (Land Reforms) :—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भूमि-सुधार के उद्देश्य से बहुत सारे कदम उठाये गये हैं। इनमें (क) विभिन्न प्रकार के जमींदारों तथा मध्यस्थों का उन्मूलन, (ख) कास्तकारी सुधार (Tenancy Reforms), (ग) जोतों की अधिकतम सीमा का निर्धारण, तथा (घ) जोतों की चकबन्दी (Consolidation of Holdings) आदि उल्लेखनीय हैं।

भूमि-सुधार के इन सब उपायों का भी कृषि तथा किसानों की स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। इससे भी उपज की वृद्धि में बहुत अधिक सहायता प्राप्त हुई है।

(9) वर्ष में दो या दो से अधिक फसलों की खेती :—नये-नये तथा शीघ्र तैयार होने वाले बीजों के कारण देश के अधिकांश भागों में वर्ष में अब दो या दो से अधिक फसलों की खेती सम्भव हो गयी है। सिंचाई वाले क्षेत्रों में इस प्रकार की फसलों का उगाना तो और भी आसान हो गया है। 1968-69 में 60 लाख हेक्टर से भी अधिक भूमि में एक से अधिक फसलों की खेती हुई थी। इससे उपज में अप्रत्याशित रूप से वृद्धि हुई है।

(10) गहन-कृषि जिला विकास कार्यक्रम (Intensive District Programme) :—फार्ड, फाउण्डेशन दल की सिफारिशों के आधार पर भारत सरकार ने देश के कुछ चुने हुए तथा निश्चित सिंचाई वाले क्षेत्रों में गहन जिला कृषि-विकास कार्यक्रम या पैकेज प्रोग्राम लागू किया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत इन जिलों में कृषि-विकास के गहन तरीकों को अपनाया जाता है जिससे इन योजना क्षेत्रों की उपज में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

हरी क्रांति या गेहूँ क्रांति ? (Green Revolution or Wheat Revolution) ? :—इस प्रकार हरी क्रांति कृषि के क्षेत्र में कई प्रकार के सुधारों के कारण ही सम्भव हो पायी है। इनमें से कुछ सुधार तो प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से ही अपनाये गये हैं, किन्तु 1965-66 में खाद्य-संकट की स्थिति गम्भीर होने के बाद इस पर जोर अधिक बढ़ गया। इसके परिणाम-स्वरूप कृषि के उत्पादन में महत्वपूर्ण रूप में वृद्धि प्रारम्भ हुई। किन्तु वास्तव में खाद्यान्नों के उत्पादन के अन्तर्गत सभी फसलों के उत्पादन में समान रूप से वृद्धि नहीं हुई है। निम्नांकित तालिका से 1950-51 से 1976-77 के बीच प्रमुख खाद्यान्नों के उत्पादन का अन्दाजा लगता है :

खाद्यान्नों का उत्पादन 1950-51 से 1976-77 (लाख मेट्रिक टन में)

| फसल वर्ष | चावल | गेहूँ | ज्वार | बाजरा | अन्य अन्न | चना एवं दालें | कुल खाद्यान्न |
|----------|------|-------|-------|-------|-----------|---------------|---------------|
| 1950-51  | 221  | 68    | 62    | 27    | 79        | 92            | 549           |
| 1955-56  | 287  | 89    | 67    | 34    | 101       | 114           | 690           |
| 1960-61  | 316  | 110   | 98    | 33    | 106       | 127           | 820           |
| 1964-65  | 390  | 123   | 98    | 44    | 110       | 124           | 890           |
| 1965-66  | 307  | 104   | 75    | 37    | 100       | 97            | 720           |
| 1968-69  | 398  | 186   | 98    | 36    | 116       | 104           | 940           |
| 1973-74  | 440  | 418   | 91    | 75    | 112       | 100           | 1046          |
| 1976-77  | 450  | 275   | 100   | 60    | 130       | 95            | 1110          |



पिछले पृष्ठ की तालिका से स्पष्ट है कि खाद्य-पदार्थों के अन्तर्गत सबसे अधिक वृद्धि गेहूँ की उपज में ही हुई। वास्तव में, गेहूँ की उपज 1950-51 में 68 लाख मेट्रिक टन से बढ़कर 1976-77 में 275 लाख मेट्रिक टन हो गयी, यानी 25-26 वर्षों में इसमें लगभग पाँच गुनी वृद्धि हो गयी, जबकि चावल की उपज 1950-51 में 221 लाख मेट्रिक टन से बढ़ कर 1976-77 में 450 लाख मेट्रिक टन, यानी दुगुनी ही हो सकी। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के अंतिम विवरण के अनुसार 1961-62 से 1973-74 के बीच गेहूँ के उत्पादन में वार्षिक 8.85 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई जबकि चावल के उत्पादन में 2.08 प्रतिशत वार्षिक की ही वृद्धि हुई है। इससे स्पष्ट है कि कृषि-क्रान्ति में गेहूँ का ही अधिक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। गेहूँ की उपज को बढ़ाने में मेक्सिको से प्राप्त नये प्रकार के गेहूँ, जिनमें सोनारा 64 तथा लर्मा 64 A उल्लेखनीय हैं, से बहुत अधिक सहायता प्राप्त हुई है। इन नये बीजों ने ही वस्तुतः भारत में गेहूँ क्रान्ति और इसी के माध्यम से कृषि क्रान्ति का सूत्रपात किया है। चावल इस दौड़ में निश्चय ही पीछे पड़ गया है। इसलिए कहा जाता है कि "India's wheat and rice programmes have been like two powerful jet planes at the airport. Wheat rolled down the runway first and is now aloft" इसीलिए कुछ लोग तो इसे हरी क्रान्ति अथवा कृषि-क्रान्ति नहीं कहकर गेहूँ क्रान्ति (Wheat Revolution) के नाम से ही पुकारते हैं।

क्या हरी क्रान्ति स्थायी है ?

(Is the Green Revolution Permanent ?)

इस प्रकार 1967-68 ई० से देश में कृषि के क्षेत्र में अत्यंत आशाजनक प्रगति का एक क्रम प्रारम्भ हुआ जिसे हरी क्रान्ति की संज्ञा दी जाती है। इसने किसानों में एक नयी आशा का संचार किया है। इस हरी क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप उत्तम तथा सुधरे हुए एवं अधिक पैदावार वाले बीजों का उत्पादन बढ़ रहा है, किसानों को साख-प्राप्ति की अधिक सुविधाएँ उपलब्ध हो रही हैं, फसल संग्रह एवं कृषि-उपज के विक्रय की व्यवस्था में सुधार हो रहा है तथा कृषि के क्षेत्र में नये तकनीक का प्रयोग किया जा रहा है। इन सबके सम्मिलित परिणामस्वरूप कृषि के उत्पादन में आशाजनक वृद्धि हुई है। किन्तु, हरी क्रान्ति का यह क्रम स्थायी नहीं कहा जा सकता। इसके निम्नांकित कारण हैं :-

(1) ध्यानपूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृषि के क्षेत्र में यह नयी क्रान्ति केवल गेहूँ, मकई, ज्वार तथा बाजरा जैसी फसलों तक ही सीमित है; धान-जैसी महत्वपूर्ण फसल अभी तक मुख्यतः अप्रभावित

ही रही है। साथ ही, दालों तथा जूट, कपास, तम्बाकू एवं तिलहन जैसी व्यावसायिक फसलों में भी इससे बहुत कम सुधार हुआ है। परिणामस्वरूप इनकी उपज पिछले दस वर्षों में लगभग स्थायी ही रही है। अतएव जबतक कृषि-क्रान्ति का प्रसार सभी फसलों तक नहीं होगा, तबतक हरी क्रान्ति को स्थायी नहीं कहा जा सकता।

(2) द्वितीयतः, इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप, खाद्यान्नों के उत्पादन में जो वृद्धि हुई है, वह मुख्यतः पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा आन्ध्र, महाराष्ट्र एवं तमिलनाडु के कुछ भागों तक सीमित है। इस प्रकार देश का एक बहुत बड़ा भाग इस आन्दोलन से अभी तक लाभान्वित नहीं हुआ है। इसलिए कहा जाता है कि हरी क्रान्ति से देश के पूर्व विकसित क्षेत्र ही और अधिक विकसित हुए हैं जिससे क्षेत्रीय विषमता बढ़ी है। अतएव, जबतक अन्य राज्यों में भी यह आन्दोलन नहीं पहुँचता तबतक कृषि क्रान्ति को स्थायी नहीं कहा जा सकता।

(3) तृतीयतः, हरी क्रान्ति से देश के कुछ मुठ्ठी भर बड़े-बड़े किसान ही लाभान्वित हो पाये हैं। कारण यह है कि सरकारी मशीनरी—सहकारी बैंक, विकास प्रखण्ड आदि तथा बैंकों एवं बीमा संस्थाओं से निर्धन या छोटे-छोटे किसानों के लिए किसी प्रकार के लाभ की आशा करना उचित नहीं है। अतएव, इससे पहले यह कहा जा सकता है कि हरी क्रान्ति से देश में पूँजीवादी कृषि को प्रोत्साहन मिला है।

अतः जबतक छोटे-छोटे किसानों को आवश्यक कृषि-साधन जैसे—सिंचाई की व्यवस्था, रासायनिक खाद, कीटनाशक, दवाइयाँ, अधिक उपज देनेवाले बीज, साख की सुविधाएँ आदि शीघ्र पर्याप्त और सस्ती दर पर उपलब्ध नहीं कराये जाते तबतक कृषि-क्रान्ति देश के लाखों भूमिहीन किसानों के लिए अर्थहीन ही रहेगी।

इस प्रकार कृषि-विकास का यह नया कार्यक्रम अभी तक स्थायी हरी क्रान्ति लाने में सफल नहीं हुआ है जिसकी हमें आशा थी। वस्तुतः अधिक पैदावार वाले कार्यक्रम उतने सफल नहीं हो सके जितनी कि प्रत्याशा थी; क्योंकि (अ) सभी आदानों (Inputs) की एक साथ प्राप्ति नहीं हो सकी है; (ब) अच्छे गुण वाले बीजों की पूर्ति में विलम्ब हुआ है; (स) किसानों में खेती के आधुनिक तरीकों के प्रति अज्ञानता रही है, और (द) मानवीय कारण जिसके अन्तर्गत दिये गये फार्मुले के अनुसार प्रगति नहीं हो सकती।

हरी क्रान्ति को स्थायी रूप कैसे दिया जाय ?—किन्तु

अब प्रश्न यह है कि हरी क्रान्ति को किस प्रकार सफल बनाया जाय ? वास्तव में, हरी क्रान्ति की सफलता उपयुक्त सरकारी कृषि-नीति पर ही निर्भर करती है और सरकार की कृषि-सम्बन्धी नीति के प्रभावपूर्ण कार्यान्वयन के द्वारा ही इसे स्थायी रूप प्रदान किया जा सकता है। संक्षेप में,



इसे स्थायी रूप देने के लिए निम्नांकित सुझाव प्रस्तुत किये दिये जा सकते हैं—

(i) कृषि-उत्पादन से सम्बन्धित सरकारी विभागों—पंचायतों, सहकारी समितियों एवं इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं में समुचित समन्वय कृषि-नीति की सफलता के लिए अति आवश्यक है।

(ii) अधिक उपज वाले बीजों की खेती के लिए उर्वरक एवं अच्छी सिंचाई-व्यवस्था का होना सबसे अधिक महत्त्व रखता है। अतएव, उर्वरकों के वितरण की यथोचित व्यवस्था तथा इनके प्रयोग के सम्बन्ध में कृषकों को समुचित प्रशिक्षण प्रदान करने पर जोर देना आवश्यक है। इनके साथ ही सिंचाई की व्यवस्था का समुचित विस्तार भी होना चाहिए।

(iii) भारत की मिट्टी में बहुत अधिक विषमता पायी जाती है। इसीलिए कृषि वैज्ञानिकों द्वारा सम्पूर्ण देश की मिट्टी का पर्यवेक्षण किया जाना चाहिए और उपयुक्त क्षेत्र के लिए उपयुक्त बीजों के विकास को प्रोत्साहित करना चाहिए।

(iv) कृषकों के लिए फसल बीमा (Crop insurance) की योजना शीघ्रता एवं व्यापकता के साथ लागू की जानी चाहिए।

(v) उचित व्याज की दर पर पर्याप्त मात्रा में तथा उचित समय पर कृषि-साख की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(vi) खाद्यान्नों के मूल्यों को एक उचित सीमा तक बढ़ने देना चाहिए, क्योंकि इससे जो अतिरिक्त आय होगी

वह आगे चलकर अधिक उत्पादन के लिए प्रयुक्त हो सकती है।

(vii) फसलों को कीड़ों-मकोड़ों से बचाने के लिए प्रभावशाली कदम उठाये जाने चाहिए।

(viii) भूमि-सुधार कार्यक्रमों को शीघ्रता के साथ लागू किया जाना चाहिए तथा इनमें जो कृषियाँ हैं उन्हें भी दूर करने का प्रयत्न होना चाहिए। इस सम्बन्ध में अवतक प्राप्त अनुभव से लाभ उठाने का प्रयास करना चाहिए।

(ix) चावल तथा जूट, कपास एवं गन्ना जैसी व्यावसायिक फसलों के लिए भी उत्तम बीजों का ईजाद अनिवार्य है। इनके वगैर कृषि के क्षेत्र में प्रगति अधूरी ही रह जायगी।

इस प्रकार उपरोक्त उपायों द्वारा कृषि-क्रांति को स्थायी रूप दिया जा सकता है। कुछ लोग तो इसे कृषि-क्रांति मानने को तैयार ही नहीं हैं : इनके अनुसार न तो यह हरी है और न क्रांति ही है।<sup>1</sup> किन्तु इस प्रकार की आलोचना वास्तव में तथ्ययुक्त नहीं है। कृषि के क्षेत्र में ये नये परिवर्तन वास्तविक हैं तथा इनका देश के आर्थिक विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इससे किसानों में एक नयी जागृति आयी है, एक नयी आशा का संचार हुआ है। साथ ही, किसानों ने पहले-पहल इस बात को समझा है कि कृषि केवल जीवन-यापन का ही एक साधन नहीं है, वरन् एक व्यवसाय है। (For the first time in the history of Indian Agriculture; the farmer has realised that farming is a business and not merely a way of life to which he must resign for himself.)

### विशेष अध्ययन-सूची

1. Minhas & Srinivasan : Agricultural Strategy Analysed.
2. The Fourth Plan : Mid-term Appraisal.
3. Commerce Annual 1976.
4. India, 1976.
5. Fifth Five Year Plan (1974-79), 1976.
6. Draft Five Year Plan. (1978-83).

—:—

1. उदाहरण के लिए देखें S. C. Tiwary : 'Green Revolution is a misnomer' in Yojna, 26 Jan. 1970.



## भारतीय कृषि का यंत्रीकरण (Mechanisation of Indian Agriculture)

**प्राक्कथन :—**अन्य उद्योग-धन्धों की तरह कृषि-कार्य के सम्पादन के लिए भी विभिन्न प्रकार के उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु भारतीय किसान द्वारा प्रयुक्त उपकरण अत्यन्त प्राचीन तथा रूढ़िवादी तरीके के होते हैं। आज भी, यहाँ पर कृषि-कार्य में मनुष्य तथा पशु-शक्ति की ही प्रधानता है जबकि पश्चिमी देशों तथा सोवियत संघ के किसान अत्यन्त उन्नत प्रकार के यन्त्रों का उपयोग करते हैं। कृषि के यंत्रीकरण के परिणाम-स्वरूप इन देशों में कृषि के क्षेत्र में इतने अधिक क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं जिनकी तुलना 18वीं तथा 19वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति से की जा सकती है। कृषि के क्षेत्र में बड़े पैमाने पर यन्त्रों के प्रयोग के परिणामस्वरूप उत्पादन की लागत में कमी हुई है। दूसरे शब्दों में, इससे कृषि का आधुनिकीकरण हुआ है जिससे इन देशों के किसानों की समृद्धि में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई है। यन्त्रीकरण के परिणामस्वरूप इन देशों में बीरान भूमि को लहलहाते हुए उपवन के रूप में परिणत किया गया है। इससे सामान्यतः, इस विश्वास को बल मिलता है कि प्रगतिशील कृषि के लिए कृषि का यन्त्रीकरण अत्यंत आवश्यक है।

**यंत्रीकरण का तात्पर्य (Meaning of Mechanisation) :—**कृषि के यन्त्रीकरण का तात्पर्य कृषि के क्षेत्र में यथासंभव पशु तथा मानव-शक्ति के बदले यन्त्रों का प्रयोग है। उदाहरण के लिए, जानवरों द्वारा लकड़ी के हल से खेत जोतने का कार्य आज ट्रैक्टर द्वारा संपन्न किया जाता है। संयुक्त ड्रिल (Combined drill) एक ही साथ बीज की बोआई तथा खाद देने का कार्य करता है। इसी प्रकार फसल काटने तथा दबानी का कार्य Combined harvester and thrasher के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार कृषि के यन्त्रीकरण का तात्पर्य खेती की सभी क्रियाओं—खेती की जुताई से लेकर फसल की बिक्री तक के लिए मशीनों का प्रयोग है। (Mechanisation of agriculture means employment of machineries in one way or the other in almost all farming operations, ranging from the

breaking of the soil to the marketing and sale of the produce of the firm.) दूसरे शब्दों में, कृषि के क्षेत्र में यन्त्रीकरण का आशय कृषि-सम्बन्धी कार्यों, जिन्हें बैलों, घोड़ों एवं अन्य पशुओं अथवा मानवीय श्रम द्वारा किया जाता है, में यांत्रिक शक्ति के प्रयोग से है।<sup>1</sup>

कृषि का यन्त्रीकरण दो प्रकार का हो सकता है—  
(क) पूर्ण यन्त्रीकरण (Complete Mechanisation), तथा (ख) आंशिक यन्त्रीकरण (Partial mechanisation), पूर्ण यन्त्रीकरण के अन्तर्गत कृषि के सारे कार्य मशीनों के द्वारा ही सम्पन्न किए जाते हैं, किन्तु आंशिक यन्त्रीकरण के अन्तर्गत कृषि के केवल एक भाग के सम्पादन में ही यन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा तथा ब्रिटेन आदि देशों में श्रम की कमी के कारण कृषि का पूरा-पूरा यन्त्रीकरण हो गया है। सोवियत संघ ने भी भूमि की उर्वरा-शक्ति के अधिकतम शोषण तथा उत्पादन में वृद्धि के लिए अपनी कृषि का पूर्ण यन्त्रीकरण कर लिया है।

**कृषि के यन्त्रीकरण के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of Mechanisation of Agriculture) :—** भारतीय कृषि के यन्त्रीकरण जैसे महत्वपूर्ण प्रश्न पर अभी तक अर्थशास्त्रियों तथा राजनीतिज्ञों में एकमत नहीं हो पाया है। एक ओर तो कुछ लोग कृषि के यन्त्रीकरण के पक्ष के समर्थक हैं जिनके अनुसार भारतीय कृषि में विकास के लिए कृषि के प्राचीन औजारों तथा आदिकांलीन ढंगों का तिरस्कार अनिवार्य है। इन लोगों के अनुसार विज्ञान के इस युग में प्राचीन तरीकों के उपकरण सर्वथा अनुचित हैं तथा कृषि के पिछड़े होने के प्रधान कारण हैं। दूसरी ओर, कृषि के यन्त्रीकरण के प्रबल विरोधी हैं जो भारत की वर्तमान आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में यन्त्रों के प्रयोग को बिल्कुल अनुचित करार करते हैं। इनके अनुसार पश्चिमी देशों तथा सोवियत संघ की अपेक्षा भारत की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति बिल्कुल भिन्न है। अतः कृषि के क्षेत्र में हमें इन देशों की तरह यन्त्रीकरण को प्रधानता नहीं देनी चाहिए।

1. "Mechanisation of agriculture and farming process connotes application of machine power to work on land usually performed by bullocks, horses and other draught animals or by human labour." —J. P. Bhattacharjee : Mechanisation of Agriculture in India.



फिर भी, कृषि के यंत्रीकरण के पक्ष में बहुत-सारे तर्क दिये जा सकते हैं जिनमें निम्नांकित उल्लेखनीय है—

(1) बड़े पैमाने की कृषि की मितव्ययिताएँ (Economies of Large scale production) :—कृषि के यंत्रीकरण का मुख्य आधार मशीनों के प्रयोग से सम्भव होनेवाली बड़े पैमाने की मितव्ययिताएँ हैं। मशीनें तेजी से तथा सही कार्य करती हैं। मानव स्वयं तो बहुत ही थोड़ा उत्पादन कर सकता है; परन्तु यन्त्रों की सहायता से वह बहुत अधिक उत्पादन कर सकता है। उदाहरण के लिए, जितनी भूमि पर एक हल तथा एक जोड़ी बैलों के द्वारा 10 दिन में जुताई का कार्य किया जा सकता है उतनी भूमि की जुताई एक ट्रैक्टर एक दिन में ही कर सकता है।

(2) उत्पादन-व्यय में कमी :—कृषि के क्षेत्र में यन्त्रों के प्रयोग से उत्पादन-व्यय में भी कमी होती है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि 40 अश्व शक्ति के एक ट्रैक्टर से खेती का कार्य करने का व्यय प्रति एकड़ 100 रुपये है जबकि 40 अश्व शक्ति के बराबर बैलों के प्रयोग करने पर कृषि कार्य का प्रति एकड़ व्यय 160 रुपये है। इस प्रकार यांत्रिक कृषि का उत्पादन व्यय भी कम होता है।

(3) बड़े पैमाने पर कृषि सम्भव :—मशीनों के प्रयोग से बड़े पैमाने पर कृषि सम्भव होती है। वास्तव में, मशीनें बड़े पैमाने की कृषि के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। मशीनों से बड़े-बड़े खेत जोते जा सकते हैं, भारी मात्रा में फसलें काटी जाती हैं, उपज को मण्डी तक पहुँचाया जा सकता है। मशीनों के अभाव में इन सारे कार्यों के सम्पादन में बहुत अधिक असुविधा होती है।

(4) पशु-सम्बन्धी व्यय में बचत :—कृषि यन्त्रों के प्रयोग से कृषि-कार्य में पशुओं की आवश्यकता नहीं पड़ती या बहुत कम पड़ती है। उदाहरण के लिए, यन्त्रों से खेतों की जुताई होती है, सिचाई के लिए पानी निकालने का कार्य किया जाता है, यातायात का कार्य किया जाता है, आदि। अतः इन सब कार्यों के लिए पशुओं की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती जिससे इन्हें रखने के खर्च में बचत होती है।

(5) व्यापारिक कृषि सम्भव :—कृषि के यंत्रीकरण का एक लाभ यह भी है कि इससे व्यापारिक फसलों (Commercial crops) की बड़े पैमाने पर कृषि सम्भव होती है। साथ ही, खाद्य-फसलों को भी बड़े पैमाने पर कृषि सम्भव होती है जिससे कृषि का मूल उद्देश्य ही बदल जाता है। अब किसान केवल जीवन-निर्वाह के लिए ही कृषि नहीं करता वरन् अपनी अतिरिक्त उपज को बाजार में बेचने के उद्देश्य से भी कृषि-कार्य प्रारम्भ करता है।

(6) सामाजिक-सुधार :—कृषि के यंत्रीकरण से किसानों के सामाजिक जीवन में भी सुधार होने लगता है। यंत्रीकरण के परिणामस्वरूप किसान भारी तथा नीरस कार्यों के बोझ से मुक्त हो जाता है, उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार होता है उसका जीवन-स्तर भी ऊँचा होने लगता है। इससे सामाजिक जीवन की कुरीतियों को दूर करने में भी सहायता मिलती है।

(7) खास-खास कार्य :—जैसे वंजर भूमि को तोड़ कर कृषि-योग्य बनाने; सड़कों, नालियों तथा नहरों आदि के निर्माण में भी मशीनों का प्रयोग आवश्यक होता है।

इनके अतिरिक्त मशीनों के प्रयोग के अन्य कई लाभ भी बतलाये जाते हैं जैसे यंत्रीकरण से देश में ट्रैक्टर, पम्प आदि के निर्माण तथा मरम्मत एवं इनके लिए छोटे-छोटे पुर्जों के निर्माण के लिए सहायक धन्धों का विकास भी होता है। इनमें यंत्रीकरण के परिणामस्वरूप जिन लोगों का रोजगार छिन जाता है उन्हें रोजगार मिलता है। इस प्रकार कृषि के यंत्रीकरण से बेरोजगारी बढ़ने की कोई सम्भावना नहीं रहती। कृषि के यंत्रीकरण से ग्रामीण क्षेत्रों में संवादवाहन की सुविधाएँ बढ़ती हैं जिनसे अतिरिक्त उपजों को शीघ्रता से बाजार तक पहुँचाया जा सकता है। इस प्रकार, यंत्रीकरण से आधुनिक तरीकों की कृषि सम्भव होती है। इससे प्रति व्यक्ति तथा प्रति एकड़ उपज दोनों में वृद्धि होती है, उत्पादन की लागत घटती है तथा उपभोक्ता लाभान्वित होते हैं।

### यंत्रीकरण के विपक्ष में तर्क

#### (Objections to Mechanisation of Agriculture)

किन्तु भारत में कृषि के यंत्रीकरण के विरुद्ध भी बहुत सारे तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं जिनमें निम्नांकित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(1) जोतों का छोटा तथा बिखरा होना (Holdings too small and scattered) :—सर्वप्रथम तो यह कहा जाता है कि भारत में जोतों का आकार बहुत ही छोटा है। छोटी-छोटी जोतों भी एक स्थान में नहीं होकर गाँव के कई भागों में बिखरी होती हैं। अतः जहाँ सोवियत संघ में जोतों का औसत आकार 1600 एकड़, संयुक्त राज्य अमेरिका में 145 एकड़ तथा कनाडा में 244 एकड़ है वहाँ भारत में केवल 7.5 एकड़ ही है। इतना ही नहीं, भारत में छोटी तथा बिखरी जोतों के कारण कृषि के क्षेत्र में यन्त्रों का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। वास्तव में, भारी ट्रैक्टर के लिए कम-से-कम 100 एकड़ तथा हल्के ट्रैक्टर के लिए 50 एकड़ के फार्म की आवश्यकता पड़ती है। अतएव भारतीय जोतों के छोटा तथा बिखरा हुआ होने के कारण यहाँ पर यंत्रीकरण की सम्भावना बहुत ही कम है।



(2) बेरोजगारी की आशंका (Danger of Unemployment) :—द्वितीयतः, भारतीय कृषि के यन्त्रीकरण से बहुत सारे श्रमिकों के बेरोजगार होने की आशंका रहती है। एक-एक मशीन कई मजदूरों के बराबर कार्य करती है, अतएव यन्त्रीकरण से लाखों की संख्या में खेतिहर मजदूर बेकार हो जायेंगे और इतनी बड़ी संख्या में खेतिहर मजदूरों को कृषि के अतिरिक्त अन्य उद्योगों (non-agricultural occupations) में रोजगार प्रदान करने में कठिनाई होगी। भारत में कृषि के यन्त्रीकरण के विरुद्ध उठायी जानेवाली यह सबसे गम्भीर आपत्ति है। अमेरिका, रूस तथा कनाडा में वास्तविक समस्या श्रम की कमी है, किन्तु भारत में कृषि के क्षेत्र में श्रमिकों का प्राच्यार्य है। साथ ही, यहाँ पर इन देशों की अपेक्षा श्रम बहुत ही सस्ता है। अतएव यन्त्रीकरण के विरोधियों के अनुसार भारतीय कृषि में अमेरिका तथा रूस की कृषि की तरह यन्त्रीकरण सम्भव नहीं है।

(3) बड़े पैमाने पर विनियोग (Big Investment) :—कृषि के यन्त्रों को खरीदने के लिए अधिक मात्रा में पूँजी की आवश्यकता भी पड़ती है। उदाहरण के लिए, एक साधारण ट्रैक्टर की कीमत आजकल हमारे देश में 40,000 से 50,000 रुपये तक है। एक औसत भारतीय किसान के लिए इतना अधिक विनियोग सम्भव नहीं है। अतएव केवल 50 एकड़ या अधिक जोतवाले किसान ही ट्रैक्टर आदि खरीद सकते हैं तथा इससे लागत में मितव्ययिता का लाभ उठा सकते हैं।

(4) उत्पादकता में वृद्धि नहीं (No Increase in Productivity) :—कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार मशीनों से उत्पादकता में भी वृद्धि नहीं होती। इन लोगों के अनुसार कृषि के यन्त्रीकरण से केवल प्रति-श्रमिक उत्पाद में वृद्धि होती है, प्रति एकड़ उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं होती। इस प्रकार मशीनों की श्रेष्ठता केवल परिमाणात्मक है, गुणात्मक नहीं।

(5) अतिरिक्त पशुओं की व्यवस्था में कठिनाई :—कृषि के यन्त्रीकरण से बहुत अधिक संख्या में पशु बेकार हो जायेंगे। इन अतिरिक्त पशुओं की व्यवस्था में भी कठिनाई होगी। वास्तव में एक-ब-एक इनकी संख्या को घटाना भी सम्भव नहीं है।

(6) अशिक्षा एवं अज्ञानता (Literacy and Ignorance) :—भारतीय कृषकों की अशिक्षा एवं अज्ञानता भी यन्त्रीकरण के क्षेत्र में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित करती है। भारतीय कृषक अज्ञानता के कारण यन्त्रों की क्रियाशीलता के सम्बन्ध में सुगमतापूर्वक जानकारी नहीं प्राप्त कर पाते।

(7) ईंधन-तेल, डिजल आदि की कमी (Shortages of fuel oils) :—भारत में अभी भी पेट्रोल तथा

डिजेल आदि का अभाव है। ऐसी परिस्थिति में यदि ट्रैक्टर तथा अन्य यन्त्रों का प्रयोग बढ़ाया जाय तो पेट्रोल तथा डिजल आदि की माँग बढ़ जायगी और इनका बड़े पैमाने पर आयात करना पड़ेगा। साथ ही, पेट्रोल तथा डिजल के अत्यधिक महँगा होने के कारण साधारण किसानों के लिए खरीदना बहुत कठिन हो जाता है।

(8) मरम्मत की असुविधा (Lack of Repairing Facilities) :—भारत में आज भी कृषि के अधिकांश यन्त्रों का विदेशों से आयात करना पड़ता है। इनकी कीमत बहुत अधिक होती है। साथ ही, इनके लिए अतिरिक्त पूँजी को प्राप्त करने में भी बहुत अधिक कठिनाई होती है। मरम्मत की सुविधा अपर्याप्त होने के कारण, थोड़ी बहुत खराबी में पूरा यन्त्र ही बेकार हो जाता है। इन कठिनाइयों से अधिकांश यन्त्रों का पूरा-पूरा उपयोग नहीं हो पाता है। उदाहरण के लिए, 1958 के जर्मन शिष्ट-मंडल के अनुसार जर्मनी के 30,000 में से अधिकांश ट्रैक्टर अतिरिक्त पूँजी के अभाव में बेकार पड़े हुए थे।

इस प्रकार भारत में यन्त्रीकरण के विरुद्ध बहुत सारी आपत्तियाँ उठायी जाती हैं। इन आपत्तियों को मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) तकनीकी कठिनाइयाँ—जैसे छोटी-छोटी तथा बिखरी हुई जोतें।

(ख) आर्थिक कठिनाइयाँ—जैसे किसानों की निर्धनता तथा पूँजी की कमी इत्यादि।

यन्त्रीकरण-सम्बन्धी विवाद का सूर्यांकन :—इस प्रकार भारत में कृषि के यन्त्रीकरण के विरुद्ध बहुत सारे तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। किन्तु इनमें से अधिकांश तर्क तथ्यहीन जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए, छोटी तथा बिखरी हुई जोतें यन्त्रीकरण के क्षेत्र में कोई बहुत बड़ी बाधा नहीं उपस्थित कर सकती क्योंकि भविष्य में सरकार की कृषि-नीति का आधार सहकारी संयुक्त कृषि (co-operative joint farming) की है जिसके अन्तर्गत जोतों का आकार स्वयं बड़ा हो जायगा। साथ ही, भिन्न-भिन्न राज्यों में जोतों की चकबन्दी के लिए भी प्रयास किये जा रहे हैं जिससे बिखरी हुई जोतें एक चक्र में स्वतः हो जायेंगी। साथ ही, छोटी-छोटी जोतों के लिए भी जापान की तरह एक विशेष प्रकार के औजारों का निर्माण किया जा सकता है।

इसी प्रकार यह तर्क कि कृषि के यन्त्रीकरण से बेरोजगारी को प्रश्रय मिलता है, भी बिल्कुल तथ्यहीन है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अल्पकाल में कृषि के यन्त्रीकरण से बेरोजगारी बढ़ेगी, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इसका समाधान नहीं हो सकता। कृषि के यन्त्रीकरण से देश में यन्त्रों के निर्माण-सम्बन्धी उद्योगों का विकास होगा। इसमें बहुत अधिक व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त होगा। इतना



ही नहीं, यंत्रीकरण से बहुत अधिक कोयले, लोहे, इस्पात तथा परिवहन आदि की माँग भी बढ़ जायगी जिससे रोजगार के बहुत अधिक अवसर प्राप्त होंगे। और, सबसे बड़ी बात तो यह है कि यंत्रीकरण पूर्ण नहीं होने के कारण बेरोजगारी में बहुत अधिक वृद्धि की आशा नहीं की जा सकती है।

इसी तरह यह आपत्ति कि यंत्रीकरण के लिए विदेशों से अधिक मात्रा में मशीनों तथा पेट्रोल आदि का आयात करना पड़ेगा, भी सत्य नहीं है। सत्य तो यह है कि इन यंत्रों के निर्माण के लिए देश में भी उद्योग-धर्मों का विकास किया जा रहा है। साथ ही, यंत्रीकरण से कृषि-पदार्थों की उपज बढ़ेगी जिससे इनके आयात की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी और इस प्रकार जो विदेशी मुद्रा की बचत होगी उसका प्रयोग इन मशीनों के आयात के में किया जा सकता है। इसी प्रकार देश के पेट्रोल के उत्पादन में भी क्रमशः वृद्धि हो रही है जिससे इस सम्बन्ध में भी विशेष कठिनाई की आशा नहीं है।

इसी प्रकार यह कहना कि कृषि के क्षेत्र में यंत्रों के प्रयोग से प्रति-एकड़ उत्पादन में वृद्धि नहीं होती है, भी बिल्कुल तथ्यहीन है। वास्तव में, रूस, अमेरिका, कनाडा आदि देशों में बड़े पैमाने पर मशीनों के प्रयोग से उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। अतः भारत में इनके प्रयोग से उत्पादकता में वृद्धि नहीं होगी इसका कोई कारण नहीं जान पड़ता।

**निष्कर्ष :—**इस प्रकार यंत्रीकरण के पक्ष तथा विपक्ष के तर्कों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि यंत्रीकरण एक अच्छी नीति है क्योंकि इससे कृषि की उत्पादकता में वृद्धि होती है। साथ ही, भारी-भारी कार्यों के संपादन में भी सुगमता होती है, बेकार तथा बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाया जा सकता है तथा वर्ष में एक से अधिक फसलों की खेती की जा सकती है। अतः भारत में कृषि का बढ़ता हुआ यंत्रीकरण अयुक्तिसंगत नहीं है। वास्तव में, मशीनों के प्रयोग का उद्देश्य हमारे देश में श्रम का प्रतिस्थापन नहीं, बरन् उसकी सहायता करना होना चाहिए किन्तु भारत में यंत्रीकरण की नीति एक ही बार बहुत बड़े पैमाने पर नहीं अपनानी चाहिए, बरन् इसे काफ़ी समय में फैलाकर अपनाना चाहिए। इस बीच अतिरिक्त श्रमिकों को गैर कृषि पेशों (non-agricultural occupations) में प्रयुक्त रहना चाहिए।

### कृषि के यंत्रीकरण के आर्थिक परिणाम (Economic Consequences of the Mechanisation of Agriculture)

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारत में यंत्रीकरण के लिए आज भी व्यापक क्षेत्र उपलब्ध है। कृषि

के तकनीक तथा संगठन पर इसका महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा और इस प्रकार सम्पूर्ण देश की अर्थ-व्यवस्था इससे प्रभावित होगी। संक्षेप में, भारत में यंत्रीकरण के निम्नांकित आर्थिक परिणामों की आशा की जा सकती है :—

(i) लागत-संरचना में अन्तर (Changes in the cost structure)—यंत्रों के प्रयोग से कृषि-कार्य की लागत-संरचना में परिवर्तन होता है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि 15 अश्व शक्ति के एक ट्रैक्टर से एक एकड़ भूमि जोतने का खर्च दो रुपये आता है जबकि हल एवं बैलों की सहायता से इसका व्यय 4 से 5 रुपये पड़ता है। इसी प्रकार लुधियाना विश्वविद्यालय के एक अध्ययन के अनुसार बैलों की जगह मशीनों के प्रयोग से बीज डालने के खर्च में 31 प्रतिशत तथा बुआई में 49 प्रतिशत की बचत होती है। Power thrasher से तो व्यय में 57 प्रतिशत की कमी होती है।

(ii) कृषि आय में वृद्धि (Rise in farm Income)—यांत्रिक शक्ति तथा श्रम बचाने के उपायों के प्रयोग से कृषि के साधनों का समुचित उपयोग सम्भव होता है। इससे किसानों की आय बढ़ती है। उदाहरण के लिए, लुधियाना विश्वविद्यालय के उपरोक्त अध्ययन के अनुसार ट्रैक्टर के प्रयोग से कृषि की आय में 103.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

(iii) मूल्य स्थिरिकरण (Price-stability)—कृषि के यंत्रीकरण से उपज में वृद्धि होगी तथा उपज बढ़ने से मूल्य के स्थिरिकरण में सहायता प्राप्त होगी।

(iv) ग्रामीण बेरोजगारी में वृद्धि (Increase in Rural unemployment)—यंत्रीकरण से ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी में वृद्धि होगी। इस सम्बन्ध में तार-लोक सिंह का यह अनुमान है कि यंत्रीकरण से ग्रामीण जनसंख्या का 28 प्रतिशत भाग बेकार हो जायगा। इनके अतिरिक्त अर्द्ध-बेरोजगारों की संख्या में भी वृद्धि होगी। किन्तु गैर-कृषि क्षेत्र के विस्तार के द्वारा ही ग्रामीण बेरोजगारों को रोजी प्रदान की जा सकती है।

(v) आर्थिक संरचना में परिवर्तन (Changes in the economic structure)—यंत्रीकरण से कृषि का स्वरूप ही बदल जायगा—जीवन-निर्वाह की जगह कृषि का कार्य व्यावसायिक आधार पर (A shift from subsistence farming to commercial farming) किया जाने लगेगा। इसके दो परिणाम होंगे—सर्वप्रथम तो कृषि का स्वरूप घरेलू से बदलकर पूँजीवादी हो सकता है, तथा द्वितीयतः कृषि के क्षेत्र में कार्यकुशलता में वृद्धि कर कृषि तथा उद्योग इन दोनों क्षेत्रों में संतुलन स्थापित करने में सहायता होगी।

(vi) सामाजिक संरचना में परिवर्तन (Changes in the Social Structure)—यंत्रीकरण से सामा-



जिक संरचना में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन किया जा सकता है। यन्त्रीकरण से भारी-भारी कार्यों के सम्पादन में सुविधा होगी तथा श्रमिकों का कार्य सुविधाजनक हो जायगा। साथ ही, उन्हें अधिक अवकाश भी मिलेगा। इससे किसानों की स्थिति में सुधार होगा। साथ ही, इससे भारत में पेशों की संरचना में परिवर्तन होगा तथा ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापार, यातायात एवं विद्युतीकरण आदि क्षेत्रों में महत्वपूर्ण परिवर्तन होंगे।

इस प्रकार यन्त्रीकरण से सामान्य तथा विशिष्ट दोनों प्रकार के लाभों को देखते हुए सारांश के तौर पर यह कहा जा सकता है कि भारत में कृषि के यन्त्रीकरण का कार्य एक शृंखलाबद्ध तरीके से होना चाहिए। इसके

लिए निम्नांकित बातों पर ध्यान देने की आवश्यक होगी-

- (1) जलरतमन्द किसानों को रियायती दर पर यन्त्रों के क्रय के लिए साख की सुविधा प्रदान की जानी चाहिए।
- (2) निर्धन किसानों को भाड़े पर यन्त्र देने की व्यवस्था की जानी चाहिये।
- (3) देश भर में ट्रैक्टर तथा अन्य यन्त्रों की मरम्मत की सुविधा के लिए कारखानों तथा वर्कशॉप की व्यवस्था होनी चाहिये।
- (4) किसानों के बीच ट्रैक्टर एवं अन्य यन्त्रों के प्रचार के लिए समय-समय पर प्रदर्शनियों का आयोजन किया जाना चाहिये।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. B. M. Desai & M. D. Desai : New Strategy of Agricultural Development operation
2. A. M. Khusro : Readings in Agricultural Development.
3. R. G. Kulkarni : People and Agriculture, 1970
4. G. Rajgopalan and Jaspal Singh : Adoption of Agricultural Innovations, 1970.



"Ere, yet the pyramids looked down upon the valley of the Nile; when Greece and Italy, those of European civilization, nursed only tenants of wilderness, India was seat of wealth and grandeur."

भारतीय उद्योग एवं औद्योगिक समस्याएँ  
(INDIAN INDUSTRIES AND INDUSTRIAL PROBLEMS)



❖ इस खंड में ❖

- अध्याय 29 : भारतीय उद्योगों का सामान्य सर्वेक्षण  
(A General Survey of Indian Industries)
- अध्याय 30 : पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगीकरण  
(Industrial Development in Five Year Plans)
- अध्याय 31 : भारत का औद्योगिक पिछड़ापन  
(Industrial Backwardness of India)
- अध्याय 32 : कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धे  
(Cottage and Small Scale Industries)
- अध्याय 33 : भारत के प्रमुख संगठित उद्योग-धन्धे  
(Some Important Organised Industries of India)
- अध्याय 34 : सरकारी क्षेत्र की औद्योगिक संस्थाएँ  
(State-Owned Industrial Undertakings)
- अध्याय 35 : भारत सरकार की औद्योगिक नीति  
(Industrial Policy of the Govt. of India)
- अध्याय 36 : उद्योग-संरक्षण नीति  
(India's Fiscal Policy)
- अध्याय 37 : औद्योगिक वित्त एवं प्रबन्ध अभिकर्ता-प्रणाली  
(Industrial Finance & Managing Agency System)
- अध्याय 38 : औद्योगिक वित्त निगम एवं अन्य वित्तीय संस्थाएँ  
(Industrial Finance Corporation & other Financial Institutions)
- अध्याय 39 : विदेशी पूँजी एवं आर्थिक विकास  
(Foreign Capital & Economic Development)
- अध्याय 40 : औद्योगिक श्रम  
(Industrial Labour)
- अध्याय 41 : श्रमिक-संघ एवं औद्योगिक सम्बन्ध  
(Trade Unions & Industrial Relation)
- अध्याय 42 : श्रमिक-कल्याण एवं सामाजिक सुरक्षा  
(Labour Welfare and Social Security Measures)



## अध्याय : 29

### भारतीय उद्योगों का सामान्य सर्वेक्षण

(A General Survey of the Indian Industries).

**औद्योगीकरण एवं आर्थिक विकास (The Role of Industrialization in Economic Development) :**—अल्प-विकसित देशों के आर्थिक विकास में उद्योग-धन्धों के विकास का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में, आज के आर्थिक दृष्टि से विकसित राष्ट्र औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप ही इतना अधिक विकसित हो पाये हैं। विश्व के विभिन्न देशों में प्रति-व्यक्ति आय में व्याप्त विषमता को औद्योगिक विकास के स्तर में विषमता के द्वारा बिल्कुल स्पष्ट किया जा सकता है। विश्व में अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा आदि अत्यधिक प्रति-व्यक्ति आय वाले देश उद्योग-प्रधान देश हैं जबकि भारत, पाकिस्तान तथा मिस्र जैसे निम्न प्रति व्यक्ति आय वाले देश कृषि-प्रधान देश हैं। विश्व में वे जुएला, कुवैत आदि कुछ ऐसे भी देश हैं जिन्होंने अपने तेल जैसे खनिज-पदार्थ के अधिकाधिक उपयोग के द्वारा तथा डेनमार्क एवं न्यूजीलैंड जैसे कुछ देशों ने अपनी कृषि तथा कृषि-सम्बन्धी उद्योगों के विकास के द्वारा अपनी आय को बढ़ाने में अत्यधिक सफलता प्राप्त की है, किन्तु इन्हें बिल्कुल अपवादस्वरूप ही समझना होगा। वास्तव में, इन देशों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विशेष रूप से योग्यता प्राप्त है। निम्नांकित तालिका से कुछ प्रमुख देशों की प्रति व्यक्ति आय तथा राष्ट्रीय आय का विभिन्न स्रोतों के अनुसार वितरण स्पष्ट हो जाता है :—

प्रति-व्यक्ति आय तथा राष्ट्रीय आय में विभिन्न

स्रोतों का योगदान

| देश                   | प्रति-व्यक्ति आय | कुल राष्ट्रीय आय में विभिन्न स्रोतों का योगदान प्रतिशत में | (यु० एस० डॉलर में) | कृषि | उद्योग | निर्माण | सेवाएँ |
|-----------------------|------------------|------------------------------------------------------------|--------------------|------|--------|---------|--------|
| संयुक्त राज्य अमेरिका | 3578             | 3                                                          | 32                 | 5    | 60     |         |        |
| कनाडा                 | 2247             | 6                                                          | 32                 | 6    | 56     |         |        |
| फ्रांस                | 1927             | 7                                                          | 38                 | 7    | 48     |         |        |
| आस्ट्रेलिया           | 1807             | 11                                                         | 35                 | 8    | 46     |         |        |
| ब्रिटेन               | 1451             | 3                                                          | 39                 | 7    | 51     |         |        |
| जापान                 | 1123             | 12                                                         | 29                 | 7    | 52     |         |        |
| मिस्र                 | 156              | 28                                                         | 23                 | 4    | 45     |         |        |
| पाकिस्तान             | 121              | 47                                                         | 12                 | 4    | 37     |         |        |
| भारत                  | 73               | 52                                                         | 15                 | 4    | 29     |         |        |

उन्नीसवीं शताब्दी में प्राथमिक उपज में विदेशी व्यापार का क्षेत्र बहुत व्यापक था। अतएव उस समय व्यापार द्वारा विकास (Growth through trade) की प्रणाली विकसित हुई जिसमें औद्योगीकरण को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित कर दिया गया। किन्तु वर्तमान समय में अत्यन्त विकसित देशों में भी यह धारणा कार्य कर रही है कि “औद्योगीकरण द्वारा विकास ही उनके आर्थिक विकास का एक-मात्र उपाय है।” अतएव अब आर्थिक विकास के लिए राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर नहीं निर्भर कर अपनी अर्थ-व्यवस्था में ही विभिन्न गतिशील तत्त्वों को अधिक स्फूर्तिदायक बनाना पड़ता है।

इतना ही नहीं, आज अधिकांश अल्प-विकसित देशों में तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण कृषि में उत्पात्ति ह्रास नियम क्रियाशील होने लगता है जिससे कि इन देशों में निर्धनता का कुचक्र और भी प्रबल होते जा रहा है। अतएव आर्थिक विकास या निर्धनता के कुचक्र को तोड़ने के लिए एक अनिवार्य शर्त यह है कि या तो इन देशों में उत्पादकता में सर्वांगीण रूप से वृद्धि की जाय या श्रम-शक्ति को कम उत्पादकता वाले देशों से अधिक उत्पादकता वाले देशों में व्यवसायान्तरण (Shift of occupation) किया जाय।

भारतीय उद्योगों का सामान्य सर्वेक्षण

अतीत काल में भारतीय उद्योग (Indian Industries in the Past) : अतीत काल में भारत अपने उद्योग-धन्धों के लिए विख्यात था। इसका इतिहास साक्षी है कि “उस समय जबकि आधुनिक सभ्यता का जन्म स्थान पश्चिम यूरोप, जंगली कबीलों का निवास-स्थान था, भारत अपने शासकों की सम्पत्ति तथा अपने कारीगरों के कला-कौशल के लिए प्रसिद्ध था।” (At a time, when the west of Europe, the birthplace of the modern industrial system was inhabited by uncivilised tribes, India was famous for the wealth of her rulers and for the artistic skill of her crafts men.) बर्नियर (Bernier) तथा टेवर्नियर (Tavernier), जो मुगल शासनकाल में भारत आये थे, के वृत्तान्त से यह पता चलता है कि भारत में उस समय सूती एवं रेशमी वस्त्रों के अतिरिक्त सोना, चांदी तथा



लकड़ी आदि के घन्घे पूर्ण रूप से विकसित स्थिति में थे। ढाँके की विश्वविख्यात मलमल इतनी सुन्दर एवं बारीक था कि सैनचैस्टर के एक उद्योगपति ने उसे वस्तु की छाया (Shadow of a Commodity) कहा था जो मनुष्य का नहीं वरन् अप्सराओं अथवा कीड़े-मकोड़ों का कार्य (Work of fairies or insects rather than of men) था।

ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी (East India Company) जिसकी स्थापना 1600 ई० में हुई थी, भारतीय सूती-वस्त्र की वस्तुओं को इंग्लैंड तथा यूरोप के अन्य देशों में ले जाती थी। किन्तु इससे इंग्लैंड के ऊनी तथा रेशमी वस्त्र-उद्योग को बहुत बड़ा धक्का लगा। फलस्वरूप, 1700 ई० तथा 1720 ई० में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने दो विधान पारित किये जिनके अनुसार इंग्लैंड में भारतीय रंगीन कैंलिको तथा छोट का उपयोग पूर्णतः गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया।

इसी बीच 1760 ई० एवं 1820 ई० के बीच इंग्लैंड में महान् आर्थिक परिवर्तन हो रहे थे जिसे औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) की संज्ञा दी जाती है। विज्ञान के क्षेत्र में नित्य नये-नये आविष्कार हो रहे थे—कोयले के द्वारा लोहा गलाने की पद्धति, हरग्रीव्स की स्पिनिंग जेनी, आर्कराइट की स्पिनिंग मशीन तथा जेम्स वॉट द्वारा वाष्प प्रचालित इंजन आदि। बाद में भारतीय पूँजी बहुत बड़ी मात्रा में इंग्लैंड जाने लगी जिसने इन आविष्कारों को मूर्त रूप देने में अकथनीय सहयोग प्रदान किया। ब्रूक्स आदम (Brooks Adam) के शब्दों में, “अत्यधिक मात्रा में भारतीय पूँजी के पदार्पण तथा इसके फलस्वरूप साख की अभिवृद्धि के पूर्व इस प्रकार की शक्ति का इंग्लैंड में प्रायः अभाव था और यदि जेम्स वॉट 40 वर्ष पूर्व हुआ होता तो वह तथा उसके आविष्कार निश्चय ही समाप्त हो गये होते।” (Before the influx of the Indian treasure and the expansion of credit which followed, no force sufficient for this existed and had Watt lived forty years ago, he and his invention must have perished together.) फलस्वरूप, इंग्लैंड में बड़े-बड़े कारखाने स्थापित किये जाने लगे जिनमें उत्पादन का कार्य बहुत बड़े पैमाने पर बड़ी-बड़ी मशीनों द्वारा एवं विस्तृत श्रम-विभाजन के आधार पर किया जाता था। ब्रिटिश सरकार एवं कम्पनी का उद्देश्य भारत को इंग्लैंड के कारखानों की आवश्यकता के लिए कच्चे माल के उत्पादक तथा इनकी बनी हुई वस्तुओं के बाजार के रूप में विकसित करना था। कम्पनी तथा ब्रिटिश सरकार की इस नीति के कारण उन्नीसवीं शताब्दी तक भारत मुख्य रूप से कच्चे पदार्थों का उत्पादक देश हो गया।

भारत की प्राचीन औद्योगिक व्यवस्था के विनाश के कारण (Causes of the decline of the old Indian Industrial Structure) :—इस प्रकार अंग्रेजों के भारत आगमन के समय भारतीय उद्योग अत्यन्त विकसित स्थिति में थे। ये स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए माल उत्पन्न करके साथ-साथ निर्यात के लिए भी प्रचुर मात्रा में माल उत्पन्न करते थे। किन्तु कम्पनी की स्वार्थी औद्योगिक नीति के कारण उद्योगों का विनाश होने लगा। भारत की इस प्राचीन औद्योगिक व्यवस्था के विनाश के बहुत-से कारण थे जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं :—

(1) प्राचीन राज-दरबारों का अंत :—ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में पहले व्यापारिक उद्देश्य से आयी थी। किन्तु धीरे-धीरे इसके उद्देश्य में परिवर्तन होने लगा और कम्पनी एक राजनीतिक सत्ता बन गयी। भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना के फलस्वरूप सभी राजाओं तथा नवाबों का अंत हो गया। ये प्राचीन राजे तथा नवाब कुटीरे उद्योगों की वस्तुओं की मांग के प्रधान साधन थे, अतः इनके समाप्त होने से उद्योग-धन्धों को बहुत गहरा धक्का लगा। ये राजे तथा नवाब अपने दरबार में अच्छे-अच्छे कारीगरों को अच्छी रकम देकर रखते थे जिससे देश की कला को प्रोत्साहन मिलता था। अब देशी राजे एवं नवाबों की समाप्ति से देश के प्राचीन उद्योगों की मांग का एक प्रधान साधन ही समाप्त हो गया।

(2) नये सामन्तवादी वर्ग का उदय एवं पाश्चात्य सम्प्रदाय की नकल :—देश में अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद सभी लोगों की रूचि में भी परिवर्तन होने लगा। शिक्षित तथा धनी वर्ग यूरोपीय रीति-रिवाज एवं रूचियों का अनुकरण करने लगा। फलतः एक नये सामन्तवादी वर्ग का उदय हुआ। इस वर्ग के लोग भारतीय वस्तुओं को घृणा की दृष्टि से देखने लगे तथा यूरोपीय वस्तुओं को अपनाने में ही अपनी प्रतिष्ठा समझते थे। अतएव इस वर्ग ने यूरोपीय फैशन को अपनाया। ये अंग्रेजों की नकल में ही अपना गौरव समझते थे। (The adoption of European fashion was considered to be the hallmark of enlightenment) इसका प्रभाव भी देश के उद्योग-धन्धों पर बहुत बुरा पड़ा। इसके फलस्वरूप विदेशी वस्तुओं की मांग बढ़ने लगी। ये वस्तुएँ प्रायः सस्ती होती थीं, अतः इस देश के कुटीर उद्योग-धन्धों को बहुत गहरा आघात पहुँचा।

(3) विदेशी वस्तुओं की प्रतियोगिता :—अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) हुई जिससे उत्पादन बड़े



पैमाने पर यन्त्रों के प्रयोग द्वारा किया जाने लगा। मशीनों की बनी हुई वस्तुएँ बहुधा सस्ती होती थीं। किन्तु भारतीय हस्तशिल्प की वस्तुएँ इनकी अपेक्षा महँगी पड़ती थीं। अतः भारतीय उद्योग-धन्धों के लिए उनकी प्रतियोगिता करना बहुत कठिन हो गया। देश में रेलवे यातायात के अन्य साधनों के विकास ने विदेशी सस्ती वस्तुओं को देश के कोने-कोने तक पहुँचा दिया जिससे भारतीय उद्योगों के लिए इनकी प्रतियोगिता करना प्रायः असम्भव-सा हो गया। परिणाम यह हुआ कि जो कुटीर उद्योग इस नयी स्थिति से अपने-को समायोजित नहीं कर सके, उनका अन्त हो गया तथा कुछ उद्योग अपना अस्तित्व किसी प्रकार बनाये रख सके।

(4) ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा ब्रिटिश पार्लियामेंट की घातक औद्योगिक नीति :— भारतीय कुटीर उद्योग-धन्धों के ह्रास का एक प्रमुख कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा ब्रिटिश पार्लियामेंट की घातक नीति थी। प्रारम्भ में कम्पनी का प्रधान उद्देश्य भारतीय उद्योगों की बनी हुई वस्तुओं को इंग्लैंड तथा यूरोप के बाजारों में बेचने के लिए ले जाना था। अतएव प्रारम्भ में कम्पनी इन उद्योगों को प्रोत्साहन देती थी। किन्तु बाद में ब्रिटेन के स्वार्थी हितों ने कम्पनी को अपनी नीति में परिवर्तन के लिए विवश किया। अब कम्पनी का प्रधान उद्देश्य भारत को इंग्लैंड के कारखानों के लिए कच्चे माल का उत्पादक तथा इनकी बनी हुई वस्तुओं के बाजार के रूप में विकसित करना था। कम्पनी ने अपनी इस नीति का बड़ी दृढ़ता के साथ अनुकरण किया जिससे शीघ्र ही सम्पूर्ण देश इंग्लैंड की बनी वस्तुओं से आच्छादित हो गया। ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भी इस महान कार्य में अपना योगदान दिया। भारतीय कपड़ों के आयात से इंग्लैंड के वस्त्र उद्योग की रक्षा के लिए पार्लियामेंट ने 1700 तथा 1720 ई० में दो विधान पारित किये जिनके अनुसार इंग्लैंड में रंगीन भारतीय कैंलिको तथा छोट का प्रयोग गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। सादे कैंलिको तथा मलमल के आयात पर भी अत्यधिक मात्रा में आयात कर लगा दिये गये। इसके विपरीत ब्रिटेन के बने हुए साधनों का भारत में बगैर आयात कर के मामूली आयात कर पर ही आयात किया जाता था। इस प्रकार कम्पनी तथा ब्रिटिश पार्लियामेंट की घातक नीति भी बहुत कुछ भारत की प्राचीन औद्योगिक परम्परा के विनाश के लिए उत्तरदायी थी। इस नीति के परिणामस्वरूप भारत ब्रिटेन का एक कृषि-उपनिवेश (a colonial agricultural appendage) बन गया। इस प्रकार भारत, जो पहले प्रधानतः निर्यातक देश था, 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही एक आयातक देश बन गया। देश की अधिक व्यवस्था में इस परिवर्तन ने कृषि एवं उद्योग के बीच के संतुलन को भंग कर दिया। मार्क्स (Marx) का इस सम्बन्ध में

यह कथन बड़ा ही महत्वपूर्ण है - "Apart from inundating the very mother country of cotton with cottons, the British imports into India uprooted over the whole surface of Hindustan the union between agricultural and manufacturing industry."

(5) यातायात एवं संवादवाहन के साधनों का विकास :— यातायात के क्षेत्र में क्रान्ति का भी भारतीय उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। वाष्प-शक्ति के अनुसंधान से तीव्र गति से चलने-वाले यातायात के साधनों का विकास हुआ जिससे सम्पूर्ण विश्व एक छोटे नगर के समान हो गया। इसके साथ-ही-साथ स्वेज नहर के निर्माण के परिणामस्वरूप ब्रिटेन की सस्ती वस्तुएँ भारत में सुगमतापूर्वक तथा थोड़े ही समय में आने लगीं। भारत में लाड डलहौजी के समय में रेलों तथा सड़कों की प्रगति बड़ी तेजी से हुई। रेलों के विकास ने भारतीय उद्योगों के लिए द्विधारी तलवार की तरह कार्य किया। एक ओर तो इन्होंने देश के कोने-कोने में यूरोपीय वस्तुओं के वितरण को सुगम बनाया तो दूसरी ओर देश के कच्चे माल के निर्यात को प्रोत्साहित किया। रेलों की भाड़े की दरें भी इसी प्रकार रखी गयी थीं जिससे भारत से कच्चा माल भेजने तथा भारत में तैयार माल मँगाने वालों को प्रोत्साहन मिले। इस प्रकार रेल तथा सड़कों के विकास एवं स्वेज नहर के निर्माण ने इंग्लैंड के कारखानों की बनी हुई वस्तुओं को देश के कोने-कोने तक पहुँचा कर उद्योगों के विनाश की प्रक्रिया को और भी तीव्र बना दिया।

(6) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियों के अत्याचार :— भारतीय उद्योगों के विनाश का एक प्रधान कारण कम्पनी के कर्मचारियों की अत्याचारपूर्ण नीति भी थी। कम्पनी के कर्मचारी तथा गोमास्ता अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर कारीगरों पर तरह-तरह के अत्याचार करते थे। ये कारीगरों को बहुत कम मूल्य देकर कम्पनी के लिए काम करने को बाध्य करते थे। जो कारीगर कम्पनी के लिए काम करने को तैयार नहीं होते थे, कम्पनी के गोमास्ता उनके दाहिने हाथ का अँगूठा काट लेते थे। कम्पनी के कर्मचारियों के इस अत्याचार से तंग आकर बहुत-से कारीगर अपना पेशा छोड़ने लगे।

इनके अतिरिक्त भारत के प्राचीन उद्योगों के पतन के और भी कई कारण थे। भारतीय उद्योगों का पतन इतनी शीघ्रतापूर्वक हुआ कि भारतीय कारीगर अपने को इन नई परिस्थितियों से समायोजित नहीं कर सके, फलतः उन्हें विवश होकर अपना पेशा छोड़ना पड़ा और इस प्रकार भारत की प्राचीन औद्योगिक परम्परा ही नष्ट हो गयी।



## भारत में आधुनिक उद्योगों का विकास (Development of Modern Industries in India)

देश में 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आधुनिक तरीके की नये-नये उद्योग-धन्धों की स्थापना प्रारम्भ हुई। 1850 ई० से 1855 ई० के बीच प्रथम सूती-वस्त्र एवं जूट के कारखाने स्थापित किये गये। इसी समय कोयला उद्योग एवं रेलों का निर्माण भी प्रारम्भ हुआ तथा सर्वप्रथम 1853 ई० में बम्बई से लेकर याता तक 20 मील लम्बी पहली रेल लाइन का निर्माण हुआ। 1865 ई० तक देश में 13 सूती-वस्त्र की मिलें तथा 2 हजार मील लम्बी रेल लाइनें थीं। इस प्रकार बीसवीं सदी के आरम्भ तक भारत में आधुनिक उद्योग-धन्धों का विकास प्रारम्भ हो गया था। 1908 ई० में बिहार के सिन्धुभूम जिले के साकची नामक स्थान में 'टाटा लोहे और इस्पात के कारखाने' की स्थापना हुई जिसमें 1913 ई० में सर्वप्रथम इस्पात का उत्पादन हुआ। चाय तथा कहवा के बगानों की संख्या भी दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही थी। 1905 ई० के स्वदेशी आन्दोलन ने देश के औद्योगिक विकास को बहुत अधिक प्रोत्साहन प्रदान किया। स्वदेशी आन्दोलन ने भारतीय जनता के हृदय में एक नयी जागृति उत्पन्न कर दी जिससे देशी वस्तुओं के प्रयोग पर अधिक जोर दिया जाने लगा। 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आधुनिक उद्योगों के विकास में बहुत-से तत्त्वों ने योगदान दिया जिनमें निम्नलिखित प्रधान थे—(क) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का अन्त, (ख) रेलवे सड़क एवं यातायात तथा संचारवाहन के अन्य साधनों का विकास, (ग) नगरों का विकास, (घ) मशीन एवं यन्त्रादि के आयात की छूट, (ङ) मध्यम वर्ग का उदय, (च) राजनीतिक चेतना का विकास, (छ) भारतीय हस्त-शिल्प का ह्रास, (ज) अमेरिकी गूड़-युद्ध, (झ) जापान की तीव्र औद्योगिक प्रगति, एवं (ट) देश में एक खास वर्ग के व्यक्तियों का अभ्युदय इत्यादि।

परन्तु इन सबके बावजूद 1900 तक भारत पूर्णरूप से खाद्यान्न एवं कच्चे पदार्थों का निर्यातक तथा निमित्त वस्तुओं का आयातक देश बना रहा। यहाँ से चावल, गेहूँ, कपास, तिलहन तथा चाय आदि वस्तुओं का विदेशों में निर्यात किया जाता था और ब्रिटेन की बनी हुई वस्तुओं का मुख्य रूप से आयात किया जाता था।

प्रथम महायुद्ध एवं बाद की औद्योगिक प्रगति (Development of Industries during the First World War and After):—प्रथम महायुद्ध (1914-18) ने भारत को औद्योगिक विकास का एक सुनहरा अवसर प्रदान किया। युद्ध-काल में शत्रु-राष्ट्रों से तो आयात बन्द ही हो गया, साथ ही मित्र-राष्ट्रों के भी युद्ध में लीन होने के

फलस्वरूप इनका आयात बहुत कम हो गया। मित्र-राष्ट्रों की सैनिक आवश्यकताओं में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई। फलस्वरूप, देशी वस्तुओं की माँग में आशातीत वृद्धि हुई। युद्ध-काल में जूट एवं सूती-वस्त्र उद्योगों को बहुत ही लाभ हुआ, किन्तु इसे विकास एवं पुनरावृत्ति के लिए नहीं रखकर इन उद्योगों ने सम्पूर्ण लाभ अपने हिस्सेदारों के बीच विभाजित कर दिया। देश में इस्पात का उत्पादन भी युद्ध-काल में बहुत बढ़ गया। युद्ध की विभीषिकाओं ने लोगों की आँख खोल दी और सभी इस बात का अनुभव करने लगे कि जीवन की परमावश्यक वस्तुओं के लिए बाह्य साधनों पर निर्भर रहना खतरे से खाली नहीं था। साथ ही, सैनिक महत्त्व के कारण भी देश के औद्योगिक विकास की आवश्यकता प्रबल जान पड़ने लगी। सभी प्रांतों में युद्धकाल में उद्योग विभाग की स्थापना की गयी एवं भारतीय पूँजीपतियों को युद्ध सामग्रियों के उत्पादन में पूँजी लगाने के लिए प्रोत्साहित किया जाने लगा।

देश के औद्योगिक सर्वेक्षण के लिए 1916 ई० में भारत सरकार ने एक औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) की नियुक्ति की। आयोग का उद्देश्य इस बात की जाँच करना था कि भारतीय पूँजी का किस प्रकार उद्योग एवं वाणिज्य में लाभपूर्ण तरीके से प्रयोग किया जा सकता है तथा इस कार्य में सरकार कितना सहयोग प्रदान कर सकती है। आयोग ने 1918 ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि देश में आत्म-निर्भरता की स्थिति उत्पन्न करने के लिए उद्योग-धन्धों के विकास में सरकार को सक्रिय सहयोग प्रदान करना अनिवार्य है। इसके लिये सरकार के पास समुचित प्रशासकीय यन्त्र एवं वैज्ञानिक तथा प्राविधिक विषयों पर परामर्श देने के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता पर जोर दिया गया। आयोग की सिफारिशों के परिणामस्वरूप प्रान्तों में प्रान्तीय उद्योग-परिषदों (Provincial Board of Industries) की स्थापना की गयी।

युद्ध समाप्त होने के कुछ समय बाद तक देश में विशेष रूप से औद्योगिक क्रियाशीलता दिखायी पड़ी। युद्ध-काल में भारतीय उद्योगों ने बहुत अधिक मुनाफा कमाया था। प्रमुख सूती-वस्त्र के कारखानों ने तो 100 प्रतिशत तक मुनाफे का वितरण किया था। इस अत्यधिक लाभ से प्रभावित हो युद्धोत्तर काल में कम्पनियों का निर्माण बड़ी तीव्रता से प्रारम्भ हुआ। 1918-19 ई० में देश में कुल 2713 रजिस्टर्ड कम्पनियाँ थीं जिनकी परिदत्त पूँजी 106 करोड़ रुपये थी। 1921-22 ई० में कम्पनियों की संख्या बढ़कर 4781 तथा इनकी परिदत्त पूँजी 223 करोड़ रुपये हो गयी।<sup>1</sup> परन्तु यह औद्योगिक अभिवृद्धि

1. Gadgil—Industrial Evolution of India.



बहुत ही अल्पकालीन थी तथा 1920 ई० से व्यावसायिक मंदी की दीर्घकालीन अवधि प्रारम्भ हुई जिसके फलस्वरूप भारतीय उद्योगों को बहुत-सारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस व्यावसायिक मंदी के कारण थे— युद्धकाल की बचत प्रायः समाप्त हो गयी थी। 1920-21 ई० में रुपये की विनिमय दर में कमी आने से आयात करने वालों को बहुत क्षति हुई। मजदूर-संघों की स्थापना के फलस्वरूप मजदूर अपने अधिकारों से पूर्णरूपेण परिचित हो गये थे जिससे मजदूरी तथा अन्य सुविधाओं में इच्छा-नुसार वृद्धि नहीं होने के कारण हड़तालों की संख्या बढ़ गयी। व्यावसायिक मंदी का सबसे प्रमुख कारण कृषि-पदार्थों के मूल्य में ह्रास था जिसके फलस्वरूप किसानों की क्रय-शक्ति बहुत कम हो गयी थी।

महान् आर्थिक मंदी के बाद पुनः 1936 ई० में उद्योगों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ तथा कोयले के अतिरिक्त अन्य सभी उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि होने लगी। 1929-30 ई० की तुलना में चीनी उत्पादन 1936-37 ई० में तिगुना हो गया। इसी प्रकार की वृद्धि कपड़ा, जूट, लोहा एवं इस्पात तथा कागज आदि उद्योगों में भी हुई। इस उत्पादन में वृद्धि का प्रमुख कारण चीनी, कपड़ा, लोहा आदि उद्योग को संरक्षण तथा सस्ते यन्त्रों के आयात से मिला हुआ प्रोत्साहन था। साथ ही, कांग्रेस के नेतृत्व में आयोजन स्वदेशी आन्दोलन से भी इन उद्योगों को बहुत बल मिला। परन्तु 1937-38 ई० के उत्तरार्द्ध में अचानक व्यावसायिक मंदी की प्रवृत्ति पुनः दिखाई पड़ने लगी। 1933 ई० के बाद कृषि-पदार्थों के मूल्यों में वृद्धि होने लगी थी जिससे उद्योगों की वस्तुओं की मांग भी बढ़ने लगी थी। फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन से भी पर्याप्त वृद्धि हुई। किन्तु पुनः अक्टूबर 1937 ई० से मूल्य में कमी प्रारम्भ हो गयी। प्राथमिक वस्तुओं तथा श्रेय के मूल्य शीघ्रतापूर्वक घटने लगे। इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के पूर्व देश के उद्योगों में सर्वत्र एक प्रकार की निराशा व्याप्त थी। परन्तु स्थिति अभी उतनी चिन्ताजनक नहीं हो पायी थी कि इस बीच 1939 ई० में द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने से पुनः व्यावसायिक अभिवृद्धि की दीर्घकालीन अवधि प्रारम्भ हो गयी।

विवेचनात्मक संरक्षण की नीति (Policy of Discriminating Protection) :— प्रथम महायुद्ध काल में भारतीय उद्योगों को जो प्रोत्साहन मिला था वह निश्चय ही अस्थायी था। अतएव युद्ध के उपरान्त वह धीरे-धीरे समाप्त होने लगा। अतः संरक्षण के अभाव में पुनः भारतीय उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता का धक्का लगा। इन परिस्थितियों में सरकारी प्रशुल्क नीति में परिवर्तन की मांग देश भर में जोर पकड़ने लगी, किन्तु जन-साधारण की प्रबल इच्छा के बावजूद औद्योगिक

आयोग के विचाराधीन विषयों में प्रशुल्क नीति को नहीं रखा गया था। परन्तु जब मांटैग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में इस बात पर जोर दिया गया कि भारतीयों को अपनी प्रशुल्क नीति-निर्धारण की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए तब देश के संरक्षणवादियों को इससे पर्याप्त बल मिला। फलस्वरूप, संरक्षण की मांग जोर पकड़ने लगी, अतः 1921 ई० में एक फिस्कल आयोग (Fiscal Commission) की नियुक्ति की गयी जिसने बहुमत से भारत के लिए विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminating Protection) के सम्बन्ध में सिफारिश की। 1923 ई० में भारत सरकार ने विवेकात्मक संरक्षण की नीति को स्वीकार कर लिया तथा इसके कार्यान्वयन का भार एक प्रशुल्क मंडल (Tariff Board) को सौंपा गया। इस नीति के अन्तर्गत विभिन्न उद्योगों जैसे—लोहा एवं इस्पात उद्योग, कागज, सूती-वस्त्र एवं द्रव्यासलाई उद्योग आदि को संरक्षण प्रदान किया गया। इस नीति के अन्तर्गत परमानुगृहीत कंडिका (Most Favoured Nations clause) भी सम्मिलित था, फिर भी इसके फलस्वरूप कुछ उद्योगों ने इस अवधि में आशाजनक प्रगति की।

इस प्रकार उद्योग-धन्यों के प्रति सरकारी उदासीनता की नीति धीरे-धीरे समाप्त हो रही थी तथा सरकार ने अब राज्य-निर्बाधता के सिद्धान्त का परित्याग कर उद्योग-धन्यों के विकास के लिए सक्रिय रूप से सहयोग प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया था। 1939 ई० में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने के साथ सरकारी सहयोग की नीति का महत्त्व और भी बढ़ गया। परन्तु इस काल की एक प्रमुख विशेषता साम्राज्य-अधिमान (Imperial Preference) की नीति का अनुसरण है जो 1932 ई० के ओटावा समझौते के अनुसार देश की इच्छाओं के विरुद्ध भी भारत पर लाद दी गयी थी। इस नीति के अनुसार भारत को इंग्लैंड तथा साम्राज्य के अन्य देशों की वस्तुओं को दूसरे देशों की अपेक्षा रियायत देने के लिए बाध होना पड़ा। इससे भारतीय उद्योगों को बहुत हानि हुई।

किन्तु आर्थिक मंदी तथा अन्य कठिनाइयों के बावजूद दोनों महायुद्धों के बीच वाले समय में देश के उद्योग-धन्यों की प्रगति सतोषजनक रही। किन्तु इस समय तक भारत के औद्योगिक विकास की सबसे बड़ी विशेषता देश में आधारभूत उद्योगों का अभाव था। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक देश में केवल उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन पर ही जोर दिया जाता था। मशीनों तथा पूँजीगत वस्तुओं के लिए उस समय तक भी हमें पूर्णरूप से विदेशों पर ही आश्रित रहना पड़ता था।



## द्वितीय युद्ध-काल में भारत का औद्योगिक विकास (Industrial Development during the Second World War)

1939 ई० में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो जाने से भारत को औद्योगिक विकास का एक सुनहरा अवसर मिला। सरकार द्वारा भी इस समय में औद्योगिक विकास के बहुत मारे प्रयास किये जाने लगे। 1949 ई० में सरकार ने एक वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान-परिषद् (Scientific and Industrial Research Board) की स्थापना की। कुशल श्रमिकों एवं विशेषज्ञों के अभाव को दूर करने लिए सरकार द्वारा इनके प्रशिक्षण की व्यवस्था की गयी। युद्धकाल भारत को पूर्वी एशियाई तथा सुदूर-पूर्व के युद्ध स्थलों में सामान भेजने के लिए केन्द्र समझा जाने लगा। इससे भारत का वैनिक महत्त्व स्पष्ट ही जाता है। युद्ध के प्रथम दो वर्षों में मित्र राष्ट्रों से 160 करोड़ रुपये के सामान की माँग हुई। सरकार द्वारा भी युद्ध के प्रथम दो वर्षों में क्रमशः 56 तथा 76 करोड़ रुपये के सामान का आर्डर दिया गया।

इस प्रकार द्वितीय युद्ध काल में भारतीय उद्योग-धन्धों को विकास का अच्छा अवसर मिला। कच्चे लोहे एवं इस्पात के उत्पादन में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। युद्ध की सामग्रियों एवं छोटे-छोटे अस्त्रों के कारखानों के विस्तार के लिए 1941 ई० में 4 करोड़ रुपये के व्यय से एक कार्यक्रम कार्यान्वित किया गया। मशीन-टूल, लाठे, फरनसेज तथा ट्रिलिंग मशीन के उत्पादन के लिए 54 कम्पनियों को लाइसेंस दिया गया। 1941 ई० से देश में भारी रासायनिक उद्योग का विकास भी प्रारम्भ हुआ जिससे देश में सल्फ्यूरिक एसिड, सिनथेटिक अमोनिया, कास्टिक सोडा तथा क्लोरीन पाउडर आदि का निर्माण प्रारम्भ हुआ। 1941 ई० में हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट कम्पनी, बंगलोर ने आयात किये गये पुर्जों से पहला जहाज तैयार किया। अन्य उद्योगों में भी इसी प्रकार का विस्तार हुआ। अनुमान लगाया जाता है कि युद्ध से सम्बन्धित प्रायः 29 हजार वस्तुओं का देश में उत्पादन होने लगा। युद्धकाल में भारतीय उद्योगों में विकास का आभास निम्नलिखित में हुई।

आश्चर्य की वृद्धि से लगता है। 1937-38 ई० में यहाँ से 48.6 करोड़ रुपये की निर्मित वस्तुओं का निर्यात किया गया था जो 1940-41 ई० में बढ़कर 81.2 करोड़ रुपये हो गया।

युद्ध काल में सरकार द्वारा अनेक विशेषज्ञ समितियों तथा प्राविधिक मिशनों की नियुक्ति ने भी देश के औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित किया। 1940 ई० में नई दिल्ली में पूर्वी समूह सम्मेलन (Easterd Group Conference) का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य पूर्व में मित्र-राष्ट्रों को यथासम्भव युद्ध की आवश्यकताओं के लिए आत्म-निर्भर बनाना था। भारत में 'पूर्वी-समूह परिषद्' (Eastern Group Conference) की स्थापना हुई। अप्रैल, 1942 ई० में 'ग्रेडी मिशन' हिन्दुस्तान आया जिसने देश की औद्योगिक सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए बहुत-से नये-नये उद्योगों की स्थापना का प्रस्ताव रखा। मिशन ने देश के औद्योगिक विकास के लिए एक विस्तृत कार्यक्रम तैयार किया। किन्तु, भारतीय उद्योगपति तथा जनता इस मिशन से लाभान्वित नहीं हो सके। इस प्रकार युद्धकाल में भी सरकार द्वारा देश के औद्योगिक विकास की उपेक्षा की गयी। ब्रिटिश सरकार उद्योग-धन्धों के विकास में भारत की तुलना में कनाडा तथा आस्ट्रेलिया को ही प्राथमिकता देती थी। दो वर्षों में ही आस्ट्रेलिया ने सरकारी सहायता से इस्पात, हवाई जहाज एवं वायरलेस आदि का निर्माण प्रारम्भ कर दिया। युद्धकाल में आवश्यकता सामग्रियों के उत्पादन के लिए कनाडा में 7 सरकारी निगम संगठित किये गये। 1940 ई० में व्यवस्थापिका सभा में श्री सन्तानम ने कहा था कि भारतीय उद्योगपतियों ने सरकार से हवाई जहाज निर्माण का कारखाना प्रारम्भ करने की सिफारिश की थी, पर सरकार की उदासीनता के फलस्वरूप इसमें बहुत अधिक विलम्ब हुआ। इसी प्रकार भारत में मोटर उद्योग प्रारंभ करने की माँग की गयी थी, किन्तु सरकार द्वारा इस प्रस्ताव की भी स्वीकृति नहीं मिल पायी।

द्वितीय युद्धकाल में भारतीय उद्योगों की प्रगति का अन्दाजा निम्नलिखित<sup>1</sup> तालिका से लगाया जा सकता है :—  
1937 = 100

| वर्ष | सूती-वस्त्र | जूट  | इस्पात | चीनी  | सीमेंट | कागज  | रासायनिक | सामान्य |
|------|-------------|------|--------|-------|--------|-------|----------|---------|
| 1938 | 109.0       | 98.3 | 108.0  | 88.7  | 124.8  | 121.6 | 84.5     | 105.4   |
| 1939 | 104.3       | 92.4 | 125.0  | 62.5  | 152.9  | 135.1 | 102.9    | 102.7   |
| 1940 | 103.3       | 96.6 | 125.5  | 106.6 | 152.1  | 169.7 | 133.3    | 106.9   |
| 1941 | 114.8       | 92.4 | 131.1  | 108.2 | 185.8  | 181.4 | 153.3    | 117.8   |
| 1942 | 102.0       | 99.0 | 136.7  | 78.4  | 194.5  | 180.9 | 138.7    | 111.2   |
| 1943 | 117.0       | 84.5 | 141.4  | 95.3  | 188.4  | 179.3 | 138.6    | 117.0   |
| 1944 | 122.9       | 86.7 | 139.6  | 97.1  | 182.1  | 192.7 | 126.3    | 117.0   |
| 1945 | 120.0       | 84.4 | 142.9  | 85.5  | 196.5  | 196.5 | 134.1    | 120.4   |



## भारतीय उद्योगों का सामान्य सर्वेक्षण

युद्धकाल में मजदूरों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। कारखानों में प्रतिदिन कार्य करनेवाले मजदूरों की औसत संख्या में 1939 एवं 1942 ई० के बीच प्रायः 31 प्रतिशत की वृद्धि हुई। संयुक्त पूँजी की कम्पनियों की परिदत्त पूँजी 1939-40 में 290 करोड़ रुपये से बढ़कर 1945-46 ई० में 524 करोड़ रु० हो गयी। युद्ध काल में वर्तमान उद्योगों ने अपनी सम्पूर्ण उत्पादन क्षमता के अनुसार कार्य करना प्रारम्भ किया।

यद्यपि युद्धकाल में नये-नये उद्योगों की स्थापना के लिए समुचित वातावरण नहीं था, फिर भी बहुत-से नये उद्योग, जिनमें फेरो-एलोआज (Ferro Alloys), अल्युमिनियम, डिजल इंजन, पम्प, साईकिल, सोडा ऐस कास्टिक सोडा, सुपरफॉस्फेट तथा मशीन टुल्स आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, प्रारम्भ किये गये। किन्तु देश में कच्चे पदार्थों की प्रचुरता, श्रम के बाहुल्य तथा व्यापक माँग को ध्यान में रखते हुए इस प्रगति को संतोषजनक नहीं कहा जा सकता।

### युद्धोत्तरकाल में औद्योगिक विकास

#### (Industrial Development in the Post-War Period)

1945 ई० में द्वितीय महायुद्ध समाप्त हुआ। द्वितीय महायुद्ध के बाद का समय भारतीय उद्योगों के लिए कठिनाइयों का समय था। युद्ध काल में निरन्तर कार्य करते रहने के फलस्वरूप अधिकांश कारखानों की मशीनें जीर्ण एवं बेकार हो गयी थीं। अतः इनके प्रति स्थापना की समस्या बड़ी उग्र हो गयी। युद्धकाल में बहुत-से उद्योगों की स्थापना उद्योग-सम्बन्धी स्थायी तथ्यों को ध्यान में रखे बिना ही की गयी थी। अतः युद्ध के बाद इनकी कठिनाइयाँ और भी बढ़ गयीं। युद्ध के दौरान में मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाने से मुद्रा-स्फीति का दबाव निरन्तर बढ़ता जा रहा था। इन सब कारणों के अतिरिक्त युद्धोत्तरकाल में राजनीतिक एवं साम्प्रदायिक उत्क्रांति नियन्त्रण एवं काले बाजार की बुराईयाँ, विदेशों से आवश्यक सामान मिलने की कठिनाई तथा विदेशी प्रतियोगिता आदि के कारण भी भारतीय उद्योगों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। बहुत-से उद्योगों के क्षेत्र में युद्ध समाप्त होने के पूर्व ही उत्पादन घटने की प्रवृत्ति दिखायी पड़ने लगी। युद्धोत्तर काल में तो इनके उत्पादन में बहुत अधिक ह्रास हुआ। अतएव युद्धोत्तर काल में संभावित मन्दी को रोकने के लिए युद्धोत्तर कालीन विकास की अनेक योजनाएँ तैयार की गयीं। किन्तु वास्तव में मन्दी की सम्भावना के मिथ्या सिद्ध होने से मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्ति को और भी बल मिल गया। युद्धकाल में

उद्योगों के लाभ से भारतीय उद्योपतियों ने विदेशी कम्पनियों से उनके उद्योगों को बहुत अधिक मूल्य देकर खरीदना प्रारम्भ किया। इसके फलस्वरूप, मुद्रा-स्फीति का दबाव निरन्तर बढ़ने लगा। इसी बीच 1947 ई० में लियाकत अली बजट ने भारतीय उद्योगों की कठिनाइयों को और भी उग्र बना दिया।

युद्ध समाप्त होने के कुछ ही समय बाद भारतीय उद्योगों को मन्दी का सामना करना पड़ा। इसके कई कारण थे—कच्चे पदार्थों के मूल्य में अप्रत्याशित वृद्धि हुई, विदेशों से आवश्यक यन्त्रों के मिलने में भी कठिनाइयाँ होने लगीं तथा हड़तालों के फलस्वरूप औद्योगिक सम्बन्ध दिन-प्रतिदिन खराब होने लगे। 1947 ई० के देश विभाजन तथा साम्प्रदायिक उथल-पुथल से भी उद्योगों की स्थिति चिन्ताजनक हो गयी। देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना से स्थिति में आशाजनक सुधार नहीं हो सका। लोग निजी उद्योगों के भविष्य के सम्बन्ध में अशंकित हो गये। राष्ट्रीय सरकार की स्थापना से औद्योगिक क्षेत्र में एक अजीब अनिश्चितता व्याप्त हो गयी। राष्ट्रीयकरण की आशंका, नये-नये कर, नियन्त्रण की अनिश्चित नीति एवं विदेशी विनिमय की कठिनाइयाँ आदि के फलस्वरूप उद्योग-धन्धों को विशेष कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। देश-विभाजन ने कुछ समय उद्योगों के समझ, जिनमें जूट एवं सूती-वस्त्र उद्योग प्रमुख थे, कच्चे पदार्थों के अभाव की एक नयी समस्या उत्पन्न कर दी। 1949 ई० में भारतीय मुद्रा के अवमूल्यन से निर्यात को प्रोत्साहन अवश्य मिला, किन्तु आयात और भी महँगे हो गये। पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया जिससे जूट एवं सूती वस्त्र उद्योग की कठिनाइयाँ और भी बढ़ गयीं।

फिर भी, 1946-51 ई० के बीच उद्योगों का विकास पूर्ववत् जारी रहा। इस काल में अनेक नये-नये कारखानों की स्थापना हुई। 1946 से 1951 ई० के बीच प्रायः पाँच वर्षों में नये कारखानों पर देश में कुल 290 करोड़ रुपये का विनियोग किया गया। इसके अतिरिक्त वर्तमान कारखानों के यन्त्रों के प्रतिस्थापन आदि के लिए 125 करोड़ रुपये के यन्त्रों का विदेशों से आयात किया गया। इन पाँच वर्षों में इंजीनियरिंग तथा रसायन के क्षेत्र में भी नये-नये उद्योगों का विकास हुआ। इनमें मोटर उद्योग का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस उद्योग में कुल 10 करोड़ रुपये विनियोग किये गये तथा पाँच फर्मों की स्थापना की गयी। पाँच करोड़ रुपये विनियोग से सूती-वस्त्र के लिए यन्त्र तैयार करने के एक उद्योग की स्थापना हुई। रेडियो का विकास भी उत्साहजनक रहा। 1947 ई० में देश में रेडियो तैयार करने के

1. Wadia and Merchant : Our Economic Problems, P. 431,



केवल दो कारखाने थे। इनकी संख्या बढ़कर 1950 ई० में 11 हो गयी जो 45000 सेट प्रति वर्ष तैयार करते थे। बिजली के पंखों के उत्पादन में भी देश पूर्णतः आत्म-निर्भर बन गया। इसके अतिरिक्त स्टेनलेस स्टील, ब्लेड, घड़ी, बाल-ब्रियरिंग, रिंग आदि के विनिर्माण में भी बहुत प्रगति हुई। रासायनिक उद्योगों के क्षेत्र में सोडा ऐस, कास्टिक सोडा आदि का उत्पादन प्रारम्भ किया गया।

### देश-विभाजन एवं भारतीय उद्योग (The Partition and the Indian Industries)

15 अगस्त, 1947 ई० को भारत स्वतन्त्र हुआ। विन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ-साथ देश हिन्दुस्तान एवं पाकिस्तान दो राष्ट्रों में विभाजित हो गया। देश-विभाजन का भारतीय उद्योगों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इनमें से कुछ प्रमुख प्रभाव निम्नलिखित थे :—

(1) देश-विभाजन के परिणामस्वरूप अविभाजित भारत के कुछ औद्योगिक संस्थानों के 91 प्रतिशत और औद्योगिक श्रमिकों के 93 प्रतिशत भाग भारत में रहे जबकि उसे अविभाजित भारत के कुल क्षेत्रफल का केवल 77.2 प्रतिशत भाग एवं कुल जनसंख्या का 80.8 प्रतिशत भाग ही प्राप्त हुआ था। इस प्रकार विभाजन के परिणामस्वरूप भारत पाकिस्तान की अपेक्षा अधिक उद्योगीकृत राष्ट्र हो गया। लोहा और इस्पात, कागज तथा जूट जैसे कुछ महत्वपूर्ण उद्योगों का तो पाकिस्तानी क्षेत्र में बिल्कुल अस्तित्व ही नहीं रहा।

(2) अविभाजित भारत के अधिकांश खनिज-पदार्थ भी भारत में ही पड़े गये। कोयला, लोहा, मैंगनीज, अबरख आदि खनिज अधिकांशतः भारत में ही पड़े गये जबकि जिप्सम एवं सेंधा नमक जैसे कुछ खनिज पाकिस्तान में पड़े गये। किन्तु, पाकिस्तान के क्षेत्र के खनिज-पदार्थों के उत्पादन का कुल मूल्य (total value) अविभाजित भारत के खनिज पदार्थों के कुल मूल्य का केवल 3 प्रतिशत भाग ही था। इसी प्रकार बिजली की प्रस्थापित क्षमता (installed capacity) के दृष्टिकोण से भी भारत की स्थिति पाकिस्तान की अपेक्षा अधिक अच्छी थी।

(3) प्रबन्धक एवं साहसी (Managerial and entrepreneurial) वर्गों के दृष्टिकोण से भारत को अधिक लाभ हुआ। विभाजन के परिणामस्वरूप भारत से जो मुसलमान पाकिस्तान में गये वे अधिकांशतः ग्रामीण शिल्पकार एवं श्रमिक थे, जबकि पाकिस्तान से भारत आनेवाले हिन्दुओं में अधिकांशतः प्रबन्धक एवं साहसी वर्ग के ही लोग थे।

(4) किन्तु विभाजन के परिणामस्वरूप जूट एवं कपास उत्पन्न करने वाले क्षेत्र का एक बहुत बड़ा भाग पाकिस्तान में चला गया जिससे देश में इन प्रमुख राष्ट्रीय उद्योगों के लिये कच्चे पदार्थों का अभाव होने लगा। अविभाजित भारत के कुल जूट उत्पादन का प्रायः 81 प्रतिशत भाग पाकिस्तान को तथा केवल 19 प्रतिशत भाग हिन्दुस्तान को मिला जबकि जूट के प्रायः सभी कारखाने भारत में ही रह गये। इसी प्रकार कपास के कुल उत्पादन का प्रायः 40 प्रतिशत भाग पाकिस्तान को तथा केवल 60 प्रतिशत भाग हिन्दुस्तान को मिला जबकि अविभाजित भारत की कुल 394 सूती वस्त्र की मिलों में से 382 मिल हिन्दुस्तान में ही रह गयीं। साथ ही, लम्बी रेशेवाली कपास के अधिक उत्पादन-क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये। इस प्रकार विभाजन के कारण भारत के इन दोनों प्रमुख उद्योगों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

(5) विभाजन के कारण भारत को अपने उद्योगों के लिए एक बहुत बड़ा बाजार भी हाथ से निकल गया।

इस प्रकार विभाजन ने देश के औद्योगीकरण को विभिन्न प्रकार से प्रभावित किया। इनके अतिरिक्त विभाजन का प्रभाव यातायात एवं बन्दरगाह सम्बन्धी सुविधाओं पर भी पड़ा। साथ ही, देश-विभाजन के परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक दंगे प्रारम्भ हुए जिनसे बहुत समय तक देश में एक प्रकार की अनिश्चितता का वातावरण बना रहा जिससे पूँजी-निर्माण के कार्य में कुछ बाधा उत्पन्न हुई।

1948 ई० की औद्योगिक नीति<sup>1</sup> :— स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद 6 अप्रैल, 1948-ई० को भारत सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि देश के औद्योगीकरण में सरकार के सक्रिय सहयोग की आवश्यकता है। उक्त नीति के अनुसार उद्योग-धन्धों को चार वर्गों में विभाजित किया गया। पहले वर्ग के अन्तर्गत अस्त-शस्त्र का निर्माण, अणु-शक्ति का विकास तथा रेलवे उद्योग थे जिनपर राज्य का पूर्ण स्वामित्व रहेगा। दूसरी श्रेणी में लोहा एवं इस्पात, कोयला, वायु-यान एवं जलयानों का निर्माण आदि थे जिनके भावी विकास के लिए राज्य पूर्णरूपेण जिम्मेदार होगा। किन्तु सरकार इन उद्योगों के विकास में आवश्यकतानुसार निजी उद्योगपतियों से भी सहयोग की माँग कर सकती है। तीसरे एवं चौथे वर्ग के अन्तर्गत शेष सभी उद्योगों को रखा गया जिन्हें निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दिया गया। यद्यपि इन वर्गों में भी राज्य का अधिकार है कि वह जनहित की दृष्टि से किसी भी उद्योग का स्वामित्व अपने हान में ले

1. औद्योगिक नीति का विस्तारपूर्वक विवेचन अगले अध्याय में किया गया है।



सकता है या यदि किसी उद्योग की प्रगति असन्तोषजनक रही हो उसका नियन्त्रण कर सकता है। इस प्रकार 1948 ई० की औद्योगिक नीति का मुख्य उद्देश्य देश में एक मिश्रित अर्थ-व्यवस्था (Mixed Economy) की स्थापना था। इस उद्देश्य से उक्त नीति के अनुसार भारतीय उद्योगों की सार्वजनिक तथा निजी दो प्रमुख क्षेत्रों (Public and Private Sectors) में विभाजित कर दिया गया।

उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 (Industries (Development and Regulation) Act) :—उपरोक्त औद्योगिक नीति को सुचारु रूप से कार्यान्वित करने के लिए 1951 ई० में एक उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम बनाया गया जिसे 8 मई, 1952 ई० से लागू किया गया। यह नियम 37 प्रकार के उद्योगों पर लागू है। इसके अनुसार सभी अनुसूचित उद्योगों में कोई भी नया कारखाना या औद्योगिक संस्थान खोलने के लिए सरकार की अनुमति आवश्यक होती है। यदि कोई उद्योग राज्य के आदेशों एवं नियमों का पालन न करे अथवा किसी उद्योग का उत्पादन अकारण ही कम हो जाय, किस्म खराब हो जाय या मूल्य में वृद्धि हो जाय तो राज्य उचित जाँच-पड़ताल के बाद उसकी व्यवस्था अपने हाथ में ले सकता है। अनुसूचित उद्योगों के विकास एवं नियमन-सम्बन्धी विषयों

पर सरकार को परामर्श देने के लिए एक केन्द्रीय सलाहकार परिषद् बनायी गयी जिसमें विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि सदस्य के रूप में हैं। साथ ही, विभिन्न उद्योगों के लिए अलग-अलग विकास परिषदों की स्थापना की गयी। ये परिषदें विभिन्न उद्योगों के उत्पादन-सम्बन्धी लक्ष्य के निर्धारण की सिफारिश सरकार से कर सकती है।

### योजनाकरण के पूर्व देश का औद्योगिक ढाँचा

(Industrial Pattern on the eve of Planning)

अप्रैल, 1951 ई० से प्रथम पंचवर्षीय योजना का कार्य प्रारम्भ हुआ। प्रथम योजना की शुरुआत के पूर्व भारत की औद्योगिक संरचना की निम्नांकित प्रधान विशेषताएँ थीं :—

(1) उद्योगों का एक-तरफा ढाँचा (Lop-sided pattern of industries) :— 19 6 ई० तक भारत का औद्योगिक ढाँचा एक तरफा था। इसमें बड़े पैमाने के उद्योगों का महत्व संख्या की दृष्टि से कम था। विनिर्माण (manufacturing) उद्योगों में 1956 ई० में कुल 150 लाख व्यक्ति कार्य करते थे जिनमें से कारखाना उद्योगों में केवल 39 लाख व्यक्ति कार्य करते थे, शेष 111 लाख व्यक्ति घरेलू उद्योगों तथा छोटे-छोटे कार्यों में लगे हुए थे। औद्योगिक इकाइयों के अनुसार रोजगार का वितरण निम्नांकित तालिका से स्पष्ट हो जाता है :—

### औद्योगिक रोजगार का अकारानुसार ढाँचा (1956)

| उद्योगों का प्रकार      | रोजगार-प्राप्त व्यक्तियों की संख्या | औसत प्रतिदिन लगे व्यक्तियों की संख्या (लाख में) | उत्पादन इकाइयों की संख्या (हजार में) |
|-------------------------|-------------------------------------|-------------------------------------------------|--------------------------------------|
| 1. घरेलू उद्योग         | 10 से कम व्यक्ति                    | 111                                             | 5130                                 |
| 2. लघु उद्योग           | 10 से 49 व्यक्ति                    | 12                                              | 61                                   |
| 3. मध्यम उद्योग         | 50 से 499 व्यक्ति                   | 10                                              | 8                                    |
| 4. बड़ पैमाने के उद्योग | 500 से अधिक                         | 17                                              | 1                                    |
| कुल                     |                                     | 150                                             | 5200                                 |

भारतीय उद्योग-धन्धों का यह एक-तरफा विकास मुख्यतः सदियों के विदेशी शासन का ही परिणाम था। वास्तव में, ब्रिटिश शासन काल में विदेशी फर्म तथा उद्योग पिरामिड की नोक की तरह संख्या में बहुत ही कम थे जबकि पिरामिड के आधार पर देश की विभिन्न छोटी-छोटी व्यावसायिक इकाइयाँ थीं। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य दूसरी बात यह है कि 1956 ई० में देश में कुल व्यावसायिक इकाइयों की संख्या 52 लाख थी जिनमें से 50 लाख में प्रत्येक में 5 अथवा इससे भी कम मजदूर कार्य करते थे।

2. निम्न पूँजी की मात्रा (Low-capital intensity) :—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय भारतीय औद्योगिक

ढाँचे की दूसरी प्रधान विशेषता उद्योग-धन्धों में पूँजी की मात्रा की कमी थी। इसके लिए मुख्यतः दो कारण उत्तरदायी थे—सर्वप्रथम तो मजदूरी तथा पारिश्रमिक के निम्न स्तर के कारण पूँजी की अपेक्षा मजदूरों को अधिक संख्या में लगाना ही अधिक लाभदायक सिद्ध होता है। द्वितीयतः, प्रति-व्यक्ति आय की न्यूनता के कारण देश में औद्योगिक वस्तुओं की खपत कम होती है जिससे उद्योग-धन्धों में पूँजी-प्रधान उपायों की जगह अम-प्रधान उपायों को ही प्रधानता दी जाती है। निम्नांकित तालिका से भारत तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रयुक्त प्रति-व्यक्ति विनियोग पूँजी का अन्दाजा विभिन्न उद्योगों के लिए लगता है—



कुछ उद्योगों में प्रयुक्त प्रति-व्यक्ति पूँजी की मात्रा  
उद्योग 1950 के मूल्य पर हजार डॉलर में  
संयुक्त राज्य अमेरिका भारत

|                             |      |     |
|-----------------------------|------|-----|
| 1. अल्कोहल                  | 16.0 | 6.1 |
| 2. बेकरी                    | 5.0  | 3.5 |
| 3. सूती-वस्त्र तथा धागा     | 8.7  | 1.8 |
| 4. लोहा तथा इस्पात          | 32.1 | 5.7 |
| 5. चीनी                     | 26.8 | 2.6 |
| 6. कागज तथा कागज की वस्तुएँ | 10.2 | 0.6 |

3. विनिर्माण उद्योगों में उपभोक्ता उद्योगों की प्रधानता (Preponderance of consumer's goods industries) :—प्रथम योजना प्रारम्भ होने के समय देश की औद्योगिक संरचना में उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन करने वाले उद्योगों की प्रधानता थी। पूँजीगत उद्योगों का महत्त्व अपेक्षाकृत बहुत ही कम था। 1953 ई०

में भारत में उपभोक्ता तथा उत्पादक वस्तुओं के उद्योगों का अनुपात 62:38 था। वास्तव में, देश में उपभोक्तों वस्तुओं की पूर्ति इनकी आंतरिक मांग की तुलना में अधिक थी जबकि पूँजीगत वस्तुओं की आंतरिक मांग इनकी पूर्ति की अपेक्षा बहुत अधिक थी जिससे इन वस्तुओं के लिए हमें मुख्य रूप से विदेशों पर ही आश्रित रहना पड़ता था। भारतीय अर्थ-व्यवस्था के तीव्र विकास तथा विकास को स्वयं संचालित बनाने के लिए पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों का विकास अनिवार्य है। इस प्रकार नियोजन के पूर्व देश की औद्योगिक व्यवस्था में एक प्रकार का असंतुलन पाया जाता था।

इस प्रकार आयोजनकाल के प्रारम्भ में भारतीय औद्योगिक व्यवस्था की निम्नांकित प्रमुख विशेषताएँ थीं :—(i) उद्योगों का एक-तरफा ढाँचा; (ii) पूँजी की निम्न मात्रा, तथा (iii) विनिर्माण उद्योगों में उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों की प्रधानता।

### विशेष अध्ययन-सूची

- |                        |                                                    |
|------------------------|----------------------------------------------------|
| 1. Gadgil C.R.         | : Industrial Evolution of India.                   |
| 2. Mehta, M.M.         | : Structure of the Indian industries.              |
| 3. Planning Commission | : Programmes of Industrial Development (1956-61).  |
| 4. " "                 | : Programmes of Industrial Development (1961-66).  |
| 5. Planning Commission | : First, Second, Third and Fourth Five Year Plans. |



## अध्याय : 30

### पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगिक विकास

#### (Industrial Development in Five Year Plans)

#### औद्योगीकरण का ढाँचा

##### (The Pattern of Industrialization)

किसी देश के आर्थिक विकास में औद्योगीकरण का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान रहता है। किन्तु औद्योगिक विकास एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम होता है जिसमें तीन अवस्थाएँ स्पष्ट देखने को मिलती हैं। इसमें प्रथम अवस्था का सम्बन्ध प्राथमिक वस्तुओं से माल तैयार करना होता है जैसे अनाज को पीसना, तेल निकालना, चमड़ा रंगना, सूत काटना, टिम्बर तैयार करना और धातु अपस्क (Metallic Ores) को पिघलाना आदि आते हैं। द्वितीय अवस्था में कच्चे माल के रूप में परिवर्तन कर उपभोग की वस्तुएँ तैयार करने की प्रधानता हावी है जैसे धातु-सम्बन्धी वस्तुएँ, कपड़ा, फर्नीचर और कागज आदि तैयार करना। तृतीय अवस्था में उन मशीनों तथा पूँजीगत यन्त्रों का निर्माण होता है जो प्रत्यक्ष रूप में किसी आवश्यकता की संतुष्टि वरन् भविष्य की उत्पादन प्रक्रिया को सुविधाजनक बनाती है। हॉफमैन (Hoffman) के अनुसार, “औद्योगीकरण की प्रथम अवस्था में उपभोग वस्तु-उद्योग का महत्त्व प्रधान होता है और उनका शुद्ध उत्पादन पूँजीगत वस्तु उद्योगों के उत्पादन से पाँच गुना होता है। द्वितीय अवस्था में यह अनुपात 2.5 : 1 हो जाता है और तृतीय अवस्था में यह केवल 1 : 1 रह जाता है।”

विभिन्न देशों में औद्योगिक विकास की प्रक्रिया में भी विभिन्नता रही है। उदाहरण के लिए, औद्योगिक विकास के रूसी ढाँचे में सीधे ही प्रथम अवस्था से द्वितीय अवस्था में प्रवेश किया गया परन्तु ब्रिटिश ढाँचे में धीरे-धीरे विकास किया गया। इसी प्रकार के अल्पविकसित देश अपनी-अपनी आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार औद्योगीकरण के विभिन्न ढाँचे विकसित कर सकते हैं। परन्तु सुझाव के तौर पर कहा जा सकता है कि अल्पविकसित देशों में औद्योगीकरण के ढाँचे के निर्माण में पूँजी के सापेक्षिक अभाव को सबसे अधिक महत्त्व देना चाहिए। चूँकि श्रम सापेक्षिक दृष्टि से प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है और पूँजी न्यून रहती है, इसलिए श्रम-प्रधान उपभोग-वस्तु-उद्योगों (Labour intensive consumer goods industries) का विकास उचित प्रतीत होता है। किन्तु इस विचारधारा की मूल धारणा अनुचित है। वास्तविक समस्या न्यून साधन (पूँजी) को बचाने की नहीं वरन् इस साधन की पूर्ति को बढ़ाने की है। अतः

औद्योगीकरण को ठीक ढंग से एक गत्यात्मक प्रक्रिया (Dynamic process) के रूप में कल्पित करना चाहिए, जिसमें बाह्य मितव्ययिताओं (External economies) और तकनीकी कौशल का विकास हो। इस कारण पूँजीगत उद्योगों के क्षेत्र के विकास की आवश्यकता होती है ताकि बाह्य मितव्ययिताएँ विकसित हो सकें और पूँजी की पूर्ति को बराया जा सके। चूँकि अधिकांश अल्पविकसित देश स्वयं इन वस्तुओं को उत्पन्न नहीं करते, अतएव उनकी पूर्ति को केवल आयात द्वारा ही बढ़ाया जा सकता है। किन्तु यह भी यह इस बात पर निर्भर करता है कि प्राथमिक वस्तुओं तथा निमित्त वस्तुओं के निर्यात को किस सीमा तक बढ़ाया जा सकता है। चूँकि प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादन को विकासमान अर्थ-व्यवस्था की निर्यात आवश्यकताओं के अनुरूप बढ़ाया नहीं जा सकता, इसलिए प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात को पूँजी-आयात के लिए विदेशी मुद्रा प्राप्त करने का विश्वनीय स्रोत नहीं समझा जा सकता।

अतएव अल्प विकसित देशों से प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात बढ़ाने की अपेक्षा निर्यात प्रोत्तन करने वाले विनिर्माण-उद्योगों (Manufacturing industries) का विकास भी किया जा सकता है। सरन्तु इस सम्बन्ध में मुख्य कठिनाई यह है कि इस प्रकार की वस्तुओं (जैसे सूती-वस्त्र) में विकसित औद्योगिक देशों को बहुत भारी तुलनात्मक लाभ (Comparative advantage) प्राप्त रहता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि निर्यात बढ़ाने वाले उद्योगों का विकास न किया जाय बल्कि इसका केवल इतना ही अर्थ है कि निर्यात के लिए कुछ उद्योगों में विशिष्टीकरण को औद्योगिक व्यवस्था के विकास का प्रतिस्थापक नहीं समझा जा सकता। अतएव यदि निर्यात-उद्योगों के विकास द्वारा पर्याप्त मात्रा में विदेशी मुद्रा (Foreign exchange) प्राप्त नहीं की जा सकती, तो आयात-प्रतिस्थापन उपभोग वस्तु-उद्योगों (Import substituting consumer goods industries) द्वारा विदेशी मुद्रा को पूँजीगत वस्तुओं के आयात के लिए बचाया जा सकता है। अब आयात-प्रतिस्थापन (Import substitution) दो प्रकार का होता है :—(क) आयातित वस्तुओं के लिए देश में उत्पन्न वस्तुओं का प्रतिस्थापन, और (ख) पूँजीगत वस्तु आयात के लिए उपभोग वस्तु आयात का प्रतिस्थापन। यदि कोई देश निर्यात से प्राप्त विदेशी मुद्रा को पर्याप्त मात्रा में बचा नहीं सकता, तो भी वह उपभोग-वस्तुओं के



आयात को कम करके पूँजीगत वस्तुओं के आयात को बढ़ा सकता है। परन्तु भारत में कुल उपभोग की तुलना में आयातित वस्तुओं का उपभोग बहुत ही थोड़ा है, परिणामतः इसे और कम करना सम्भव नहीं जान पड़ता। अतएव यहाँ पर प्रथम प्रकार के आयात-प्रतिस्थापन का ही बहुत अधिक महत्त्व है। इसका उद्देश्य ऐसे उद्योगों का विकास करना है जो आयातित वस्तुओं से प्रतिस्पर्धा करे और इस प्रकार विदेशी मुद्रा के बचाने में सहायता दें जिससे अधिक मात्रा में पूँजीगत वस्तुओं का आयात किया जा सके। चूँकि आयात-प्रतिस्थापक उद्योग देश की आर्थिक आत्मनिर्भरता को सबल बनाते हैं, इसलिए इन्हें बढ़ाना अधिक उचित समझा जाता है। इसके विरुद्ध, निर्यात बढ़ाने वाले उद्योग देश को विदेशी बाजारों की परिस्थितियों पर अधिक निर्भर बना देते हैं। अतएव दीर्घकाल तक इन उद्योगों पर निर्भर नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि औद्योगिक विकास पूँजी-निर्माण (Capital formation) की दर पर निर्भर करता है। पूँजीगत वस्तुओं की पूर्ति या तो आयात द्वारा बढ़ायी जा सकती है या राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि द्वारा। अब पूँजीगत वस्तुओं का आयात निर्यात की वृद्धि पर निर्भर करता है। चूँकि प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि की सम्भावना सोमिंत है, इसलिए या तो निर्यात बढ़ाने वाले विनिर्माण उद्योगों को विकास किया जा सकता है या आयात-प्रतिस्थापन उद्योगों का विकास किया जा सकता है ताकि पूँजीगत वस्तुओं के आयात के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा उपलब्ध हो सके। इसके अतिरिक्त आयात की वर्तमान मात्रा की सीमा में, उपभोग वस्तुओं की अपेक्षा पूँजीगत वस्तुओं का आयात किया जा सकता है। अतः निर्यात बढ़ाने वाले उद्योग, विकल्प उद्योग नहीं, वरन् पूरक उद्योग हैं। इन तीनों प्रकार के उद्योगों का विकास औद्योगीकरण की सबसे प्रभावपूर्ण युक्ति कही जा सकती है। इन तीनों का सापेक्ष महत्त्व तो प्रत्येक देश की आर्थिक परिस्थितियों और उसमें वर्तमान औद्योगीकरण की अवस्था पर निर्भर है किन्तु प्रत्येक देश के लिए मार्गदर्शक सिद्धान्त तो एक ही है—अर्थात् देश के न्यून साधनों का प्रयोग उन उद्योगों के विकास के लिए किया जाय जो भविष्य में पूँजीगत वस्तुओं की पूर्ति को बढ़ाने में सहायक हों।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में उद्योग-धंधे (Industries in the First Five Year Plan) :—सुनिर्धारित ढंग से देश के आर्थिक विकास के लिए 1950 ई० में भारत सरकार द्वारा प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक योजना आयोग (Planning)

(Commission) की नियुक्ति की गयी। आयोग ने देश के लिए एक पंचवर्षीय योजना तैयार की जो अप्रैल, 1951 ई० से मार्च, 1956 ई० तक के लिए थी। प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल में उद्योग-धंधों के विकास पर जोर नहीं दिया गया था। इस योजना में कृषि, सिंचाई विद्युत तथा संचार जैसी मूल सेवाओं के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया जिससे कि भविष्य में देश के औद्योगीकरण में पर्याप्त सुविधा प्राप्त होने के साथ ही योजना में इस बात पर जोर दिया गया था कि निजी तथा सार्वजनिक दोनों क्षेत्र एक-दूसरे के पूरक हैं। वास्तव में, इनके बीच किसी प्रकार की प्रतियोगिता नहीं है। अतः सार्वजनिक क्षेत्र में केवल उन्हीं उद्योगों का विकास किया जाय जो निजी क्षेत्र की सामर्थ्य के बाहर हों। योजना में दोनों क्षेत्रों के विकास तथा उत्पादन के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् लक्ष्य निश्चित किये गये थे।

प्रथम योजना में सरकारी क्षेत्र में संगठित उद्योग-धंधों के विकास की मद में 139 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जो योजना के कुल व्यय का 58 प्रतिशत भाग था। निजी क्षेत्र में इस मद में योजनाकाल में 233 करोड़ रुपये की पूँजी विनियोग का अनुमान था जिसका प्रायः 26 प्रतिशत भाग घातु शोधन उद्योग में, 20 प्रतिशत भाग पेट्रोल साफ करने के कारखानों में तथा 16 प्रतिशत भाग रसायनिक उद्योगों में विनियोग की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त योजनाकाल में यन्त्रों के प्रतिस्थापन तथा आधुनिकीकरण पर 150 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था।

प्रथम योजनाकाल में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों में कुल 293 करोड़ रुपये उद्योग-धंधों की मद में विनियोग किया गया जिसमें से गैर-सरकारी क्षेत्र का विनियोग 233 करोड़ रुपये था। इस प्रकार गैर-सरकारी क्षेत्र का विनियोग आयोजित रकम के बराबर हुआ, किन्तु सरकारी क्षेत्र में आयोजित रकम से बहुत ही कम विनियोग हो सका। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अनुसार प्रथम योजनाकाल में औद्योगिक उत्पादन की प्रगति संतोषजनक रही। प्रथम योजनाकाल में औद्योगिक उत्पादन में 38 प्रतिशत की वृद्धि हुई जिसमें विभिन्न वर्ग के उद्योगों का द्विस्वा निम्न प्रकार से था :—पूँजीगत मालों (capital goods) के उत्पादन में 70 प्रतिशत, मध्यवर्ती मालों (intermediate goods), विशेषतः औद्योगिक पदार्थों के उत्पादन में 34 प्रतिशत तथा उपभोक्ता वस्तुओं (consumer's goods) के उत्पादन में 34 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

1. "The distinction between the public and private sectors relates more to the mode of operation than the ultimate objective. It is best for the public sector to develop industries for which private enterprise was unable to put up the resources required and run the risk involved leaving the rest of the field free for private enterprise."

2. Review of the First Five Year Plan—P.182.



### द्वितीय पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास (Progress of Industrialisation in the Second Five Year Plan)

द्वितीय योजना के अन्तर्गत औद्योगिक विकास को अधिक महत्त्व दिया गया था। योजनाकाल में उद्योग-धंधों के क्षेत्र में सरकारी क्षेत्र में निम्नांकित प्राथमिकता निश्चित की गयी थी—

(i) लोहा एवं इस्पात, भारी रसायन, भारी इंजीनियरिंग तथा मशीन-निर्माण सम्बन्धी उद्योगों को प्राथमिकता;

(ii) अन्य विकासमूलक वस्तुओं-जैसे सीमेंट, अलुमिनियम, अनिवार्य औषधियाँ, रासायनिक खाद आदि के उत्पादन-सामर्थ्य का विस्तार; तथा

(iii) महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय उद्योगों जैसे सूती-वस्त्र, जूट तथा चीनी उद्योगों का आधुनिकीकरण।

द्वितीय योजना काल<sup>1</sup> में संगठित उद्योग-धन्धों की मद में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल 870 करोड़ रुपये का विनियोग किया गया। इसी प्रकार निजी क्षेत्र में भी योजनाकाल में कुल 875 करोड़ रुपये विनियोग हुआ जबकि योजनाकाल में इस मद में केवल 685 करोड़ रुपये विनियोग की व्यवस्था थी। इस प्रकार द्वितीय योजनाकाल में उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में आयोजित रकम से भी अधिक विनियोग हुआ। किन्तु इस अधिक विनियोग का प्रधान कारण मूल्य-तल में वृद्धि के कारण अधिकांश कार्यक्रमों के व्यय में अप्रत्याशित वृद्धि था। द्वितीय योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में भारी एवं आधारभूत उद्योगों के विकास पर अधिक जोर दिया गया था। योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में लोहा एवं इस्पात के तीन नये कारखाने स्थापित किये गये। प्रारम्भ में इनकी सम्मिलित उत्पादन क्षमता 30 लाख टन इस्पात की थी। साथ ही, 115 करोड़ रुपये के व्यय से टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी तथा इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी का भी विस्तार किया गया। योजनाकाल में हिन्दुस्तान जलयान के कारखाने तथा चितरंजन रेलवे इंजन के कारखाने का भी विस्तार किया गया। सरकारी क्षेत्र में द्वितीय योजनाकाल में केरल में एक डी० डी० टी० का कारखाना स्थापित किया गया। अखवारी कागज की पूर्ति को बढ़ाने के लिए अखवारी कागज तैयार करनेवाले एक कारखाने की भी स्थापना की गयी। द्वितीय योजनाकाल में निजी क्षेत्र में संगठित उद्योग-धन्धों के विकास पर भी पर्याप्त जोर दिया गया था। निजी क्षेत्र में सीमेंट तथा भारी मशीन उद्योगों, सूती-वस्त्र, चीनी तथा जूट-उद्योग के आधुनिकीकरण के क्षेत्र में भी विशेष प्रगति हुई।

द्वितीय योजनाकाल में किये गये प्रयत्नों के फलस्वरूप सम्पूर्ण औद्योगिक उत्पादन में 64 प्रतिशत वृद्धि की

व्यवस्था थी। निम्नांकित तालिका<sup>2</sup> से द्वितीय योजनाकाल में कुछ प्रमुख उद्योगों के उत्पादन का अन्दाजा लगता है—

| उद्योग                    | 1955-56 में उत्पादन | 1960-61 ई० में उत्पादन |
|---------------------------|---------------------|------------------------|
| तैयार इस्पात (लाख टन में) | 13                  | 24                     |
| नरजनक खाद (हजार टन में)   | 80                  | 111.0                  |
| फॉस्फोरिक खाद ( " " )     | 12                  | 53.0                   |
| अलुमिनियम ( " " )         | 7.4                 | 18.2                   |
| अखवारी कागज ( " " )       | 4.2                 | 5.5                    |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि अधिकांश क्षेत्रों में योजनाकाल में वास्तविक उत्पादन लक्ष्य से बहुत ही कम था। योजना काल में इस्पात का उत्पादन दोनों-सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में लक्ष्य से बहुत ही कम था। इसी प्रकार खाद, अलुमिनियम, अखवारी कागज तथा सीमेंट के क्षेत्र में भी उत्पादन लक्ष्य से बहुत ही कम रहा। किन्तु, कुछ क्षेत्रों जैसे चीनी, इलेक्ट्रीक मोटर, पंखे, रेडियो आदि के क्षेत्र में उत्पादन लक्ष्य से भी अधिक हुआ।

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के दस वर्षों में औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक 1950-51 ई० में 100 से बढ़कर 1960-61 ई० में 194 हो गया।<sup>3</sup>

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में लघु एवं कुटीर उद्योगों के क्षेत्र में भी संतोषजनक प्रगति हुई। योजनाकाल में इस मद में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल 180 करोड़ रुपये तथा निजी क्षेत्र में 175 करोड़ रुपये विनियोग हुआ।

### तृतीय पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास की प्रगति

(Progress of Industrial Development in the Third Five Year Plan)

तृतीय पंचवर्षीय योजना में उद्योग-धन्धों के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया था। योजना काल में संगठित उद्योग एवं खनिज के विकास पर सार्वजनिक क्षेत्र में कुल 1808 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था, किन्तु इस मद में वास्तविक व्यय 1726 करोड़ रुपये हुआ। इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्र में उद्योग-धन्धों के विकास पर 1050 करोड़ रुपये का विनियोग हुआ। इस प्रकार तृतीय योजनाकाल में उद्योग-धन्धों के विकास दोनों, निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्रों में कुल मिलाकर 2776 करोड़ रुपये व्यय हुआ। योजनाकाल में भारी उद्योगों के विकास पर पूरा-पूरा जोर दिया गया था जिससे देश की आर्थिक व्यवस्था भविष्य में स्वतः प्रचालित हो सके।

1. Third Five Year Plan—p. 455.

2. Third Five Year Plan, p. 455.

3. Third Five Year Plan, p. 454.



तृतीय योजनाकाल में कुछ प्रमुख उद्योगों से विकास के लक्ष्य तथा 1965-66 ई० में इनका उत्पादन निम्नांकित तालिका से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है :-

|                                        | वार्षिक उत्पादन     |                     | तृतीय योजना के लक्ष्य | 1965-66 में उत्पादन |
|----------------------------------------|---------------------|---------------------|-----------------------|---------------------|
|                                        | 1950-51 में उत्पादन | 1960-61 में उत्पादन |                       |                     |
| 1. तैयार इस्पात (लाख टन में)           | 9.8                 | 24                  | 69                    | 45                  |
| 2. अल्युमिनियम (हजार टन में)           | 3.7                 | 18.2                | 81                    | 62                  |
| 3. सीमेंट (लाख टन में)                 | 27                  | 80                  | 132                   | 108                 |
| 4. कागज एवं दफ्ती (हजार टन में)        | 114                 | 350                 | 711                   | 558                 |
| 5. सल्फ्यूरिक एसिड (हजार टन में)       | 96                  | 368                 | 1524                  | 662                 |
| 6. चीनी (लाख टन में)                   | 11.2                | 30.8                | 53.0                  | 35.0                |
| 7. सूती-वस्त्र मिल का (करोड़ मीटर में) | 372.0               | 465                 | 530                   | 440                 |
| 8. कोयला (लाख टन में)                  | 323                 | 557                 | 970                   | 677                 |
| 9. खनिज लोहा (लाख टन में)              | 32                  | 100                 | 300                   | 245                 |

इस प्रकार तृतीय योजना में उद्योग-धन्धों के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया था। बाद में 1962 ई० के चीनी आक्रमण तथा 1965 ई० के पाकिस्तानी आक्रमण के कारण देश के औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि पर और अधिक जोर देने की आवश्यकता पड़ी। तृतीय योजना के औद्योगिक विकास का लक्ष्य उत्पादक वस्तु उद्योगों जैसे इस्पात, यन्त्र-निर्माण आदि के सम्बन्ध में देश को आत्म-निर्भर बनाना था जिससे विदेशी सहायता की मात्रा में कमी की जा सके। उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन का कार्य निजी क्षेत्र को सुपुर्द किया गया था। योजनाकाल में कुल मिलाकर औद्योगिक उत्पादन में 70 प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य रखा गया था। किन्तु योजना में औद्योगिक विकास की प्रगति बहुत ही धीमी रही। तृतीय योजनाकाल में औद्योगिक उत्पादन में 1960-61 ई० में 8.2 प्रतिशत, 1962-63 ई० में 9.6 प्रतिशत, 1963-64 ई० में 9.2 प्रतिशत, 1964-65 ई० में 8.3 प्रतिशत तथा 1965-66 ई० में 4.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि योजना के अनुसार इसमें 11 प्रतिशत प्रतिवर्ष औसत वृद्धि का आयोजन था।<sup>1</sup> किन्तु आधारभूत उद्योगों के क्षेत्र में वृद्धि अधिक थी। उदाहरण के लिए, 1961-65 ई० के बीच विद्युत यन्त्र उद्योगों के उत्पादन में 71 प्रतिशत, गैर विद्युत यन्त्रों में 82 प्रतिशत तथा धातुओं के उत्पादन में 57 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि चीनी तथा वस्त्र-उद्योगों में वृद्धि क्रमशः 13 तथा 20 प्रतिशत थी।

औद्योगिक उत्पादन में इस कमी का प्रधान कारण 1962 में चीनी तथा 1965 ई० में पाकिस्तानी आक्रमण के कारण उत्पन्न अव्यवस्था तथा योजना के अन्तिम वर्ष में भयानक सूखे की स्थिति थी। इन दोनों कारणों से

बहुत-से उद्योगों को कच्चे पदार्थों के अभाव की कठिनाई का सामना करना पड़ा अतः औद्योगिक उत्पादन में कमी बिल्कुल स्वाभाविक थी।

फिर भी, प्रथम तीनों पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगिक उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई। औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक 1956 ई० में 100 के आधार पर 1951 ई० में 74 से बढ़कर 1960 ई० में 130.2 तथा 1966 ई० में 192 हो गया, यानी इसमें द्वितीय एवं तृतीय योजना के 10 वर्षों में 92 प्रतिशत की वृद्धि हुई।<sup>2</sup> किन्तु वर्ष के आधार पर इसका औसत 11 प्रतिशत से कम ही होता है।

वार्षिक योजनाओं (1966-69) (Annual plans) में उद्योग तथा खनिज की मद में 1966-69 में 1675 करोड़ रुपये व्यय किया गया। इस अवधि में उद्योग-धन्धों के उत्पादन में बहुत ही कम वृद्धि हुई। 1966-67 में औद्योगिक उत्पादन में 0.2 प्रतिशत तथा 1967-68 ई० में केवल 0.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस प्रकार इस अवधि में उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में एक प्रकार की सुस्ती (Recession) आ गयी थी जिससे बहुत-से उद्योगों के उत्पादन में बहुत ही कम वृद्धि हुई। वस्त्र, घातविक तथा यन्त्र उद्योग में यह कमी सर्वाधिक थी। किन्तु 1968-69 में औद्योगिक उत्पादन में पुनः 6.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था समुत्थान की ओर अग्रसर हो रही थी।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में उद्योग-धन्धों के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया था। योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योगों में लगभग 3298 करोड़ रुपये विनियोग का आयोजन था। सार्वजनिक क्षेत्र की कुल रकम में से 250 करोड़ रुपये

1. Fourth Five Year Plan, 1969-74—A Draft outline.

2. India—1969.



वित्तीय संस्थाओं द्वारा निजी क्षेत्र को स्थानांतरित करने की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त निजी तथा सहकारी क्षेत्र में 2000 करोड़ रुपये वित्तियोग की व्यवस्था थी। साथ ही, ग्रामीण उद्योग-धन्धों की मद में राजकीय क्षेत्र में 241 करोड़ तथा निजी क्षेत्र में 560 करोड़ रुपये व्यय का

आयोजन था।

निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> से चतुर्थ योजना में कुछ प्रमुख औद्योगिक पदार्थों के उत्पादन का लक्ष्य तथा इनकी उपलब्धि स्पष्ट हो जाती है :—

### चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक प्रगति

(Industrial Development in the Fourth Five Year Plan)

| उद्योग                                     | 1960-61 ई०<br>में उत्पादन | 1965-66 ई०<br>में उत्पादन | 1968-69<br>में उत्पादन | 1973-74 ई०<br>में उत्पादन का लक्ष्य | 1973-74 में<br>उत्पादन |
|--------------------------------------------|---------------------------|---------------------------|------------------------|-------------------------------------|------------------------|
| 1. तैयार इस्पात (लाख टन)                   | 24                        | 45                        | 47                     | 81                                  | 49.8                   |
| 2. आल्मुनियम (हज़ार टन)                    | 18.3                      | 62.1                      | 125                    | 220                                 | 147.9                  |
| 3. सल्फ्युरिक एसिड (,, ,,)                 | 369                       | 662                       | 1038                   | 2500                                | 1343                   |
| 4. नम्रजनक खाद (,, ,,)                     | 104                       | 232                       | 541                    | 2500                                | 1058                   |
| 5. कागज तथा दफती (,, ,,)                   | 350                       | 558                       | 647                    | 850                                 | 776                    |
| 6. सीमेंट (लाख टन)                         | 80                        | 108                       | 122                    | 180                                 | 146.7                  |
| 7. चीनी (,, ,,)                            | 30.3                      | 35.0                      | 35.6                   | 47                                  | 39.5                   |
| 8. कच्चा लोहा (,, ,,)                      | 110                       | 245                       | 281                    | 514                                 | 357                    |
| 9. कोयला (;, ,,)                           | 557                       | 677                       | 695                    | 935                                 | 790                    |
| 10. सूती वस्त्र मिल का<br>(करोड़ मीटर में) | 465                       | 440                       | 459.7                  | 510                                 | 408.0                  |

चतुर्थ योजनाकाल में पांच वर्षों में औद्योगिक उत्पादन में 9 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का आयोजन था। योजनाकाल में इस्पात की पिड़ों के उत्पादन में 80.5 प्रतिशत, आल्मुनियम के उत्पादन में 70 प्रतिशत, सल्फ्युरिक एसिड के उत्पादन में 240 प्रतिशत, सूती-वस्त्र के उत्पादन में 20 प्रतिशत, खनिज लोहा के उत्पादन में 105 प्रतिशत तथा कोयले के उत्पादन में 24 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था। किन्तु चतुर्थ योजना के इन लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो सकी तथा चतुर्थ योजनाकाल में औद्योगिक उत्पादन में औसत रूप से वार्षिक 5 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। 1969-70 में औद्योगिक उत्पादन में 6.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई। किन्तु 1970-71 में यह दर घट कर 3.7 प्रतिशत; 1971-72 में 4.5 प्रतिशत तथा 1972-73 में 5.4 प्रतिशत हो गयी। योजना के अन्तिम वर्ष या 1973-74 में तो औद्योगिक उत्पादन में केवल नाम-मात्र की ही वृद्धि हुई। चतुर्थ योजना में औद्योगिक उत्पादन में आयोजित लक्ष्य से कम वृद्धि के लिए कई कारण उत्तरदायी थे। जैसे इस्पात तथा खाद जैसे आधारभूत उद्योगों के क्षेत्र में उचित नियोजन तथा डिजाइन-सम्बन्धी त्रुटियाँ, अत्यधिक हड़ताल तथा तालेबन्दियों आदि के कारण उत्पादन इनकी क्षमता से बहुत ही कम रहा। योजनाकाल में निवेश की कमी के कारण पूँजीगत वस्तुओं की माँग में बहुत कमी हुई जिससे पूँजीगत उद्योगों में उत्पादन बहुत ही कम रहा। इसी प्रकार चीनी, सूती-वस्त्र तथा

जूट उद्योगों में इनके कच्चे पदार्थों के उत्पादन में कमी के कारण उत्पादन बहुत ही कम रहा और इसके लिए सर्वाधिक प्रमुख कारण शक्ति का अभाव था। चौथी योजना में औद्योगिक विकास के क्षेत्र में निजी क्षेत्र से अपेक्षाकृत कम सहयोग की व्यवस्था थी। इसके लिए मुख्यतः सार्वजनिक क्षेत्र पर ही निर्भर करने की व्यवस्था थी, किन्तु योजना में कई कारणों, विशेषतः अफसरशाही, योजनाओं को अन्तिम रूप देने में विलम्ब आदि के परिणामस्वरूप राजकीय क्षेत्र में अपेक्षित गति से प्रगति नहीं हो पायी। सरकार ने भी इनकी सीमाओं को महसूस करते हुए संयुक्त क्षेत्र (Joint Sector) की धारणा को प्रोत्साहन प्रदान करना प्रारम्भ किया जिसके अन्तर्गत बड़े-बड़े उद्योगपतियों तथा विदेशी कम्पनियों को कुछ चुने हुए क्षेत्रों में सार्वजनिक क्षेत्र के साथ सहयोग करने को आमंत्रित किया जाय। किन्तु इसके परिणाम अभी तक उत्साहवर्द्धक नहीं सिद्ध हो पाये हैं।

### पाँचवीं योजना में उद्योग-धन्धे

(Industries in the Fifth Five Year Plan)

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में आत्म-निर्भरता तथा सामाजिक न्याय के साथ-साथ विकास के व्यापक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर औद्योगिक विकास के भी लक्ष्य निर्धारित किये गये थे। संक्षेप में, उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में

### 1. Fifth Five Year Plan (1974-1979.)



विकास के लक्ष्य-निर्धारण में पाँचवीं योजना में निम्नांकित बातों पर जोर देने की व्यवस्था थी :—

(क) आधारभूत उद्योगों का तीव्रगति से विकास :— इसके अन्तर्गत इस्पात, खाद, खनिज तेल तथा यन्त्र-निर्माण आदि उद्योगों को उच्च प्राथमिकता दी गयी थी।

(ख) निर्यात की संभावनाओं वाले उद्योगों का विकास।

(ग) वस्त्र, खाने वाले तेल, वनस्पति, चीनी, दवाइयों तथा साइकिल जैसे सामान्य उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन पर अधिक जोर।

(घ) अनावश्यक उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन पर प्रतिबन्ध; तथा

(च) औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों के विकास पर पर्याप्त जोर।

निम्नांकित तालिका से चतुर्थ तथा पाँचवीं पंचवर्षीय योजनाओं में कुछ प्रमुख खनिज तथा उद्योगों का उत्पादन तथा छठी योजना में इनके उत्पादन के लक्ष्य का अन्दाजा लगता है :

|                          | 1960-61     | 1968-69     | 1973-74     | 1977-78     | 1982-83               |
|--------------------------|-------------|-------------|-------------|-------------|-----------------------|
|                          | में उत्पादन | में उत्पादन | में उत्पादन | में उत्पादन | में उत्पादन का लक्ष्य |
| कोयला (लाख टन)           | 555.0       | 695         | 790         | 1032.0      | 1490.0                |
| खनिज लोहा (,, ,, )       | 110.0       | 281         | 357         | 430.0       | 6500                  |
| तैयार इस्पात (,, ,, )    | 24.0        | 47          | 49          | 77.0        | 118.0                 |
| सीमेंट (,, ,, )          | 80.0        | 122         | 147         | 192.0       | 300.0                 |
| चीनी (,, ,, )            | 30.0        | 35.6        | 395         | 52.0        | 62.0                  |
| सूती-वस्त्र (करोड़ मीटर) | 464.0       | 460         | 408         | 420.0       | 460.0                 |
| अल्युमिनियम (हजार टन)    | 83.3        | 125         | 148         | 180.0       | 300.0                 |
| कागज एवं दफती (,, )      | 350.0       | 647         | 776         | 900.0       | 1250.0                |
| सल्फ्यूरिक एसिड (,, ,, ) | 36.0        | 1038        | 1343        | 1900        | 2910.0                |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि पंचवर्षीय योजनाओं में देश में उद्योग-धन्धों की प्रगति पर्याप्त मात्रा में हुई है।

किन्तु पाँचवीं योजना के प्रथम दो वर्षों में औद्योगिक उत्पादन में लक्ष्य से बहुत ही कम वृद्धि हुई। 1974-75 में औद्योगिक उत्पादन में 2.6 प्रतिशत तथा 1975-76 में 6.1 प्रतिशत की वृद्धि हुई। किन्तु 1976-77 में इसमें 10.4 प्रतिशत तथा 1977-78 में 5 से 6 प्रतिशत वृद्धि हुई। योजना काल में इस्पात, कोयला तथा सीमेंट उद्योग के उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई, किन्तु उपभोक्ता उद्योगों के उत्पादन में महत्वपूर्ण रूप में कमी हुई।

छठी पंचवर्षीय योजना में उद्योग-धन्धे

(Industries in the Sixth Five Year Plan)

छठी योजना के पूर्व औद्योगिक विकास 1956 की औद्योगिक नीति को आधार मानकर कार्यान्वित किया जाता था। आयोजित विकास के प्रथम दस वर्षों (1951-60) के बीच औद्योगिक उत्पादन में औसत वार्षिक 7 प्रतिशत तथा अगले चार वर्षों में 9 प्रतिशत की वार्षिक

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में संगठित उद्योग-धन्धों के विकास पर कुल 16,660 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। इसमें से सार्वजनिक क्षेत्र में 9,660 करोड़ रुपये तथा निजी एवं सहकारी क्षेत्र में 7,000 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। इस प्रकार पाँचवीं योजना में उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में राजकीय तथा निजी क्षेत्र के व्यय का अनुपात 62:38 था।

इसके अतिरिक्त पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धों की मद में सार्वजनिक क्षेत्र में 510 करोड़ रुपये तथा निजी क्षेत्र में 1660 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी।

पाँचवीं योजना में औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में 8.1 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि की आशा थी। इस योजना में कुछ प्रमुख उद्योगों के उत्पादन का लक्ष्य नीचे की तालिका से स्पष्ट है।

इस प्रकार 1965 से 1975 के दस वर्षों में औसत रूप से 4 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई जबकि 1975-76 से 1977-78 के बीच 6 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

औद्योगिक उत्पादन में अनियमित रूप से वृद्धि के कई कारण हैं। इनके विनियोग की दर में परिवर्तन सर्वाधिक प्रधान कारण है। अन्य कारणों में कुछ प्रमुख उद्योगों



जैसे सीमेंट, कागज तथा खाद की क्षमता में कमी, बिजली, यातायात के साधन, ईंधन तथा अन्य आवश्यक आयातित मालों का अभाव, औद्योगिक सम्बन्ध में गतिरोध तथा दोषपूर्ण व्यवस्था आदि उल्लेखनीय हैं।

किन्तु इसके बावजूद देश में आयोजित विकास की अवधि में पर्याप्त मात्रा में औद्योगिक उन्नति हुई तथा आज भारत-विश्व के प्रमुख औद्योगिक राष्ट्रों में प्रमुख है। बहुत सारे उद्योगों की वस्तुओं का तो निर्यात किया जाने लगा है जिनमें इंजीनियरिंग उद्योग उल्लेखनीय है। इस सम्बन्ध में दूसरी उल्लेखनीय बात सार्वजनिक विशेषतः केन्द्रीय क्षेत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। मार्च 1977 में केन्द्रीय क्षेत्र में कुल विनियोग 11,097 करोड़ रुपये हो गया। फलस्वरूप संगठित उद्योगों तथा खनिज के कुल उत्पादन में इसका हिस्सा 1960-61 में 8 प्रतिशत से बढ़कर 1975-76 में 30 प्रतिशत हो गया।

छठी योजना में औद्योगिक उत्पादन में वार्षिक 7 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन है। छठी योजना के पांच वर्षों में औद्योगिक विकास की मद में 3,340 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। इसमें से 12,464 करोड़ रुपये केन्द्रीय क्षेत्र में तथा 876 करोड़ रुपये राज्य क्षेत्र में व्यय का आयोजन है। उद्योग-धन्धों पर व्यय की जाने वाली कुल रकम में से इस्पात उद्योग पर 2491 करोड़ रुपये, कोयला पर 1850 करोड़ रुपये, पेट्रोलियम पर 2550 करोड़ रुपये तथा खाद पर 1649 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। इस प्रकार इन कार्यक्रमों पर अत्यधिक रकम के व्यय के आयोजन से छठी योजनाकाल में उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में प्राथमिकता का अन्दाज़ा लगता है। योजनाकाल में कोयले के उत्पादन को 1977-78 में 1032 लाख टन से बढ़ाकर 1982-83 में 1490 लाख टन, खनिज लोहे को 1977-78 में 430 लाख टन से बढ़ाकर 1982-83 में 650 लाख टन, इस्पात की पिंडों के उत्पादन को 97 लाख टन से बढ़ाकर 150 लाख टन तथा सीमेंट के उत्पादन को 192 लाख टन से बढ़ाकर 300 लाख टन करने का आयोजन है। पिछले पृष्ठ की तालिका से छठी योजना में उद्योग-धन्धों के विकास के लक्ष्य स्पष्ट हो जाते हैं।

योजनाकाल में भारतीय उद्योगों की औद्योगिक संरचना में परिवर्तन

| उद्योग               | 1960-61 के मूल्य पर<br>कुल आय (करोड़ रु० में) |         | प्रतिशत |         |
|----------------------|-----------------------------------------------|---------|---------|---------|
|                      | 1950-51                                       | 1965-66 | 1950-51 | 1965-66 |
| 1. उपभोक्ता उद्योग   | 260.7                                         | 487.6   | 67.9    | 34.0    |
| 2. मध्यवर्ती माल     | 89.5                                          | 620.2   | 23.3    | 43.3    |
| 3. यन्त्रवाले उद्योग | 30.9                                          | 315.9   | 8.0     | 22.0    |
| 4. अन्य              | 3.1                                           | 10.3    | 0.8     | 0.7     |
| कुल                  | 384.2                                         | 1434.0  | 100.0   | 100.0   |

1. Commerce Annual, 1968, P. 281.

### पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगिक विकास : एक पुनरावलोकन

(Industrial Development During the Plan Period—A Resume)

अब पंचवर्षीय योजनाओं के प्रायः 27-28 वर्षों में हुई औद्योगिक प्रगति का पुनरावलोकन आवश्यक है। इससे इन कार्यक्रमों की वृद्धियों का भी अन्दाज़ा लग जायगा। संक्षेप में, पंचवर्षीय योजनाओं में देश के औद्योगिक विकास की निम्नांकित विशेषताएँ रही हैं :—

सर्वप्रथम तो 1951 से 1974 के बीच औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक में 195 प्रतिशत की वृद्धि हुई। दूसरे शब्दों में, 1951 से 74 के बीच औद्योगिक उत्पादन में 6 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई। देश के औद्योगिक इतिहास में 25 वर्षों में इतनी वृद्धि कभी भी नहीं हुई थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास पर बहुत ही कम ध्यान दिया गया था, फिर भी वर्तमान सामर्थ्य के पूरा-पूरा उपयोग के द्वारा प्रथम योजना काल में औद्योगिक उत्पादन में 41 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसके बाद औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि नयी क्षमता के सृजन के कारण ही हुई। इस अवधि में 1965-66 तथा 1966-67 में सुस्ती के कारण उत्पादन की गति धीमी रही। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के दौरान भी औद्योगिक उत्पादन में संतोषप्रद ढंग से वृद्धि नहीं हुई।

द्वितीयतः, योजनाकाल के दौरान देश में उद्योगों की संरचना में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। इस अवधि में देश की औद्योगिक संरचना में पूँजीगत उद्योगों के अनुपात में वृद्धि तथा उपभोक्ता उद्योगों के अनुपात में कमी स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। 1950-51 से 1965-66 के बीच यन्त्र-निर्माण वाले उद्योगों का अनुपात 8 प्रतिशत से बढ़कर 22 प्रतिशत हो गया जबकि उपभोक्ता उद्योगों का अनुपात 68 प्रतिशत से घटकर 34 प्रतिशत हो गया। निम्नांकित तालिका से योजनाकाल में देश की औद्योगिक संरचना में परिवर्तन और अधिक स्पष्ट हो जाता है<sup>1</sup> :—



तृतीयतः इस अवधि में कई नये उद्योगों, रासायनिक खाद, रेलवे इंजन, इंजीनियरिंग उद्योग तथा विभिन्न प्रकार के यन्त्र-निर्माण वाले उद्योगों का तीव्र गति से विकास हुआ, किन्तु सूती-वस्त्र, जूट, चीनी तथा कागज जैसे परम्परागत तथा उपभोक्ता उद्योगों में विकास की गति निश्चित रूप से मन्द रही।

चतुर्थतः, इस अवधि में औद्योगिक क्षेत्र में बड़े पैमाने पर आधुनिक तकनीक का भी प्रयोग किया जाने लगा। आधुनिकीकरण के परिणामस्वरूप तकनीकी परिवर्तन का माप पूँजी-गहनता (Capital intensity) में परिवर्तन के द्वारा भी जाना जा सकता है। किन्तु भारत में इस सम्बन्ध में उपलब्ध आँकड़े सही एवं विश्वसनीय नहीं होने के कारण बहुत अधिक उपयोगी नहीं है। फिर भी, प्रति श्रमिक बिजली का उपयोग 1950-51 में 1477 इकाई से बढ़कर 1966-67 में 4941 इकाई हो गया जिससे इस अवधि में तकनीकी परिवर्तन का अन्दाजा लगता है।

पंचमतः, योजनाकाल में देश में तकनीकी लोगों का एक ऐसा प्रशिक्षित वर्ग (Cadre of technical

manpower) तैयार हो गया है जो देश के सभी प्रमुख उद्योगों-इस्पात संयन्त्रों, इंजीनियरिंग उद्योगों, बिजली घरों, तेलशोधन कारखानों आदि की सकुशल देखभाल कर सकता है। देश में इस प्रकार के प्रशिक्षित वर्ग का पहले अभाव पाया जाता था। किन्तु आजकल देश के तकनीकी संस्थानों से 1.6 लाख डिप्लोमाधारी प्रतिवर्ष शिक्षा ग्रहण करते हैं। इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े कारखानों में भी प्रशिक्षण प्रदान करने की व्यवस्था है तथा योग्य व्यक्तियों को विदेशों में भी प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता है। इस प्रकार योजनाकाल में, प्रशिक्षित वर्ग के निर्माण के परिणामस्वरूप विदेशी तकनीशियनों पर हमारी निर्भरता में बहुत अधिक कमी हो गयी है।

अन्ततः, योजनाकाल में देश में भारी तथा आधार-भूत उद्योगों के क्षेत्र में राजकीय क्षेत्र ने बड़े पैमाने पर प्रवेश किया है। आयोजन के प्रथम 28 वर्षों में राजकीय क्षेत्र के उद्योगों में केवल केन्द्रीय सरकार ने 10,500 करोड़ रुपये का विनियोग किया है। इस प्रकार इससे अर्थ-व्यवस्था के औद्योगीकरण में सरकार के योगदान का अन्दाजा लगता है।

### विशेष अध्ययन-सूची

- |                        |                                                   |
|------------------------|---------------------------------------------------|
| 1. G. Myrdal           | : Asian Drama, Vol. II.                           |
| 2. G. Rooen            | : Industrial Change in India.                     |
| 3. Planning Commission | : Fifth Five Year Plan.                           |
| 4. Planning Commission | : First, Second, Third and Fourth Five Year Plan. |
| 5. Planning Commission | : Fifth & Sixth Five Year Plans.                  |



## अध्याय : 31

## भारत का औद्योगिक पिछड़ापन (Industrial Backwardness of India)

भारत औद्योगिक दृष्टि से एक पिछड़ा राष्ट्र :— हमारे देश में आधुनिक उद्योगों का प्रारम्भ आज से लगभग एक शताब्दी से कुछ वर्ष पहले हुआ था किन्तु हम उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में विश्व के अन्य विकसित देशों की तुलना में बहुत ही पिछड़े हैं। हमारा यह पिछड़ापन औद्योगिक साधनों की प्रचुरता के बावजूद है। भारत में औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक प्रायः सभी खनिज-पदार्थों तथा कच्चे मालों की प्रचुरता है। विश्व के कतिपय प्रमुख देशों की तुलना में भारत में मुख्य औद्योगिक साधनों की प्रति-व्यक्ति उपलब्धि का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :—

| देश                   | प्रति व्यक्ति उपलब्ध औद्योगिक साधन सम्भावित <sup>1</sup> | कोयले का कच्चे लोहे का जल-शक्ति |
|-----------------------|----------------------------------------------------------|---------------------------------|
|                       | भण्डार भण्डार (टन में) ( कि०- (टन में) वाट में)          |                                 |
| संयुक्त-राज्य अमेरिका | 10,245                                                   | 41.0 0.65                       |
| ब्रिटेन               | 3,396                                                    | 73.4 0.02                       |
| भारत                  | 175                                                      | 54.2 0.09                       |
| जापान                 | 233                                                      | 0.7 0.025                       |
| बर्मा                 | 13                                                       | 0.1 10.1                        |
| इंडोनिशिया            | 30                                                       | 0.1 0.03                        |
| पाकिस्तान             | 2                                                        | 0.7 0.12                        |

इस प्रकार भारत में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ की अपेक्षा औद्योगिक साधनों का अभाव अवश्य है, किन्तु अधिकांश देशों की अपेक्षा यहाँ पर इनकी प्रचुरता ही है। अतएव स्पष्ट है कि औद्योगिक साधनों की प्रचुरता के बावजूद भारत औद्योगिक दृष्टि से एक पिछड़ा राष्ट्र है। विश्व के प्रमुख देशों की तुलना में सभी प्रमुख औद्योगिक पदार्थों का उत्पादन यहाँ पर बहुत ही कम है। यह हमारे देश के लिए निश्चय ही चिन्ता की बात है। नीचे दी गयी तालिका से विश्व के कुछ प्रमुख देशों में

महत्त्वपूर्ण औद्योगिक पदार्थों के उत्पादन का अन्दाजा लगता है।

### भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन के कारण (Causes of the Industrial Backwardness of India)

इस प्रकार भारत औद्योगिक दृष्टि से एक पिछड़ा राष्ट्र है। भारत के इस औद्योगिक पिछड़ेपन के निम्नलिखित प्रधान कारण हैं :—

(1) औद्योगिक पूँजी का अभाव (Lack of Industrial Capital) : आधुनिक युग में औद्योगिक विकास के लिए बहुत बड़े पैमाने पर पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु भारत में प्रारम्भ से ही पूँजी का अभाव रहा है। साथ ही, भारतीय पूँजी लज्जाशील (Shy) भी रही है। देश में प्रति-व्यक्ति अत्यन्त कम होने से यहाँ पर बचाने की शक्ति बहुत ही कम है। जिन लोगों के पास पूँजी है वे भी इसे उद्योग-धन्धों में नहीं लगाकर अन्य अधिक लाभपूर्ण कार्यों में लगाना या संचय करना ही अधिक उचित समझते हैं। दरअसल में अधिकांश पूँजी सट्टेबाजी या व्यापार में ही लगायी जाती है अथवा जमीन के नीचे गाड़कर रखी जाती है। अतः, उद्योगों को आवश्यक मात्रा में पूँजी उपलब्ध नहीं हो पाती।

(2) निपुण एवं दक्षश्रमिकों का अभाव (Lack of skilled and technical Workers) : भारत में साधारण श्रम का तो बाहुल्य है, लेकिन निपुण एवं दक्ष श्रमिकों की प्रारम्भ से ही कमी रही है। प्रशिक्षण की समुचित सुविधाओं के अभाव में यहाँ पर्याप्त मात्रा में कुशल श्रमिक नहीं मिल पाते। भारतीय श्रमिकों का गाँवों से सम्बन्ध स्थायी तौर पर बना रहता है जिससे अभी तक देश में कुशल एवं स्थायी श्रमिक वर्ग का प्रादुर्भाव नहीं हो पाया है। इससे भी औद्योगिक विकास में बाधा पहुँचती है।

#### 1968 में कुल उत्पादन<sup>2</sup>

| देश             | जनसंख्या (करोड़ में) | इस्पात की ढोके (लाख टन में) | अलुमिनियम (लाख टन में) | कोयला (लाख टन में) | सीमेंट (लाख टन में) |
|-----------------|----------------------|-----------------------------|------------------------|--------------------|---------------------|
| सं० रा० अमेरिका | 19.9                 | 1270                        | 32.69                  | 5300               | 710                 |
| सोवियत संघ      | 23.6                 | 1130                        | 10.64                  | 4560               | 930                 |
| ब्रिटेन         | 5.5                  | 270                         | .43                    | 1930               | 200                 |
| पश्चिमी जर्मनी  | 5.7                  | 410                         | 2.79                   | 1240               | 350                 |
| जापान           | 10.0                 | 690                         | 14.21                  | 520                | 470                 |
| चीन             | 79.7                 | 120                         | 1.00                   | 4630               | 120                 |
| भारत            | 51.1                 | 65                          | .96                    | 750                | 220                 |

1. "United Nations Economic Development and Planning Industrialisation"—Economic Bulletins of Asia and Far-East. Dec. 1958, p. 50, Table-13.

2. Statistical Abstract 1969. U. S. A 1969 & Commodity Year Book 1969,



(3) योग्य व्यवस्थापकों का अभाव (Lack of competent industrial organisers) :—भारत में सदा से ही कुशल प्रबन्धकों की कमी रही है। प्रारम्भ में भारत में उद्योग-धन्धों की स्थापना में प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी, किन्तु धीरे-धीरे इसके दावों ने जनता में उद्योग-धन्धों के प्रति एक प्रकार का अविश्वास उत्पन्न कर दिया। अतएव आगे चलकर यह प्रणाली अकुशल एवं निन्दनीय प्रमाणित हुई तथा इसने देश के औद्योगिक विकास के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित कर दी।

(4) प्रतिकूल सामाजिक वातावरण (Adverse social atmosphere) :—भारत में औद्योगिक विकास के लिए समुचित वातावरण का भी अभाव पाया जाता है। सदियों के विदेशी शासन ने हमारे समाज को अकर्मण्य बना दिया था। इसने भारतवासियों को भाग्यवादी एवं निराशावादी बना दिया जिससे वे अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार के प्रति पूर्णतया उदासीन हो गये। जाति-प्रथा एवं संयुक्त-परिवार प्रणाली ने श्रम की गतिशीलता में बाधाएँ डालीं, संयुक्त परिवार प्रणाली ने प्रेरणा एवं साहस को समाप्त कर दिया और उद्यमकर्ताओं को आगे आने से रोका। इसका पूँजी-संचय पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। उत्तराधिकार के नियम ने पूँजी के विघटन का द्वार खोल दिया। इस प्रकार भारत के पिछड़े हुए सामाजिक वातावरण ने औद्योगिक विकास में भी बाधा उत्पन्न की।

(5) शक्ति के साधनों के विकास की कमी :—उद्योग-धन्धों को चलाने के लिए शक्ति के साधनों की पर्याप्त मात्रा में आवश्यकता होती है। किन्तु भारत में शक्ति के साधनों का अभी बहुत कम विकास हो पाया है। यहाँ शक्ति के तीन प्रधान साधन हैं—कोयला, जल एवं पेट्रोल। पेट्रोलियम का यहाँ बहुत अधिक अभाव है। कोयले की भी देश में कमी है। जल-विद्युत के साधनों का भी पर्याप्त मात्रा में विकास नहीं हो पाया है। इससे औद्योगिक विकास में कठिनाई उत्पन्न होती है। भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन का यह भी एक प्रधान कारण है।

(6) यातायात के साधनों का अभाव :—औद्योगिक विकास के लिए यातायात एवं संवादवाहन के साधनों का विकास भी अनिवार्य है; किन्तु भारत के सभी भागों में यातायात एवं संवादवाहन के साधनों का पर्याप्त मात्रा में विकास नहीं होने से उद्योग-धन्धों के विकास में रुकावट उत्पन्न हुई है। यद्यपि अंग्रेजों ने बहुत पहले देश में रेलों का विकास प्रारम्भ किया था, फिर भी रेलों की व्यवस्था इस प्रकार से की गयी थी कि ये भारतीय उद्योगों की प्रगति में सहयोग प्रदान नहीं करती थीं।

(7) विदेशी शासन (Alien Government) :—भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन का एक प्रधान कारण सदियों का विदेशी शासन है। भारत में ब्रिटिश सरकार

की नीति प्रारम्भ से ही कुछ ऐसी रही कि यहाँ के घरेलू उद्योग-धन्धे तो लुप्त हुए हीं, साथ-ही-साथ आधुनिक उद्योग-धन्धे भी पनप नहीं सके। प्रारम्भ से ही विदेशी सरकार का उद्देश्य भारत के निर्माणकारी उद्योगों को नष्ट करना, इसे कच्चा माल निर्यात करने वाला एक कृषि-प्रधान उपनिवेश (Agricultural colony) बनाना तथा अपनी तैयार वस्तुओं के खरीदने वाला एक स्वतंत्र बाजार के रूप में विकसित करना था। शायद इसीलिए कहा जाता है कि 'आधुनिक इंग्लैंड भारत को लूट कर बनाया गया है।' इस प्रकार ब्रिटिश सरकार की दोषपूर्ण नीति सम्भवतः देश के औद्योगिक पिछड़ेपन के महान्तम कारणों में से एक है।

(8) कुछ प्रमुख उद्योगों के लिए कच्चे माल का अभाव :—भारत में कुछ प्रमुख उद्योगों के लिए कच्चे पदार्थों का अभाव भी है। इनमें जूट, कपास आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कपास में भी लम्बी रेशेवाली कपास का विशेष रूप से अभाव है। यद्यपि पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कच्चे पदार्थों के अभाव को दूर करने का प्रयास किया जा रहा है, फिर भी इसमें बहुत कम सफलता मिल पायी है।

(9) आधुनिकीकरण के कार्य-क्रमों की धीमी प्रगति—भारत में नये कारखाने स्थापित करने की समस्या के साथ-साथ कुछ प्रमुख उद्योग—जैसे सूती वस्त्र-उद्योग, जूट-उद्योग, चीनी उद्योग आदि के आधुनिकीकरण की भी प्रबल आवश्यकता है। औद्योगिकीकरण की धीमी प्रगति के कारण इनका उत्पादन बहुत कम होता है। साथ ही, आधुनिकीकरण के लिए बहुत अधिक साधनों का उपयोग करना पड़ता है जिससे औद्योगिक विकास के लिए साधन भी कम रह जाते हैं।

(10) भौगोलिक तत्त्वों का विपक्ष में होना—भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन के लिए यहाँ की भौगोलिक स्थिति भी बहुत हद तक उत्तरदायी है। यहाँ की जलवायु उष्ण है जिससे लोग अधिक परिश्रमी नहीं होते। यहाँ का समुद्री किनारा भी कटा-छूटा नहीं है जिससे यहाँ अच्छे-बन्दरगाहों की कमी है। इसी प्रकार देश के विशाल आकार, भाषा, जाति, रहन-सहन आदि की विभिन्नता ने भी औद्योगिक विकास के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न की हैं।

औद्योगिक पिछड़ेपन को दूर करने के उपाय  
(Remedial Measures)

इस प्रकार भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन के उपरोक्त सारे कारण हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि देश का औद्योगिक विकास ही नहीं किया जा सकता। द्रुतगति से औद्योगिकीकरण ही देश के आर्थिक विकास की कुंजी है। वास्तव में, द्रुतगति से औद्योगिक विकास के लिए निम्नलिखित प्रयत्नों को काम में लाने की आवश्यकता है :—



(1) प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग :—औद्योगिक विकास के लिए प्राकृतिक साधनों का विकास अनिवार्य है। प्रकृति ने भारत को प्राकृतिक साधन प्रदान करने में अति उदारतापूर्वक काम लिया है। यहाँ प्राकृतिक साधनों का विशाल भंडार भरा पड़ा है। इनके समुचित उपयोग के द्वारा हम देश का औद्योगिक विकास कर सकते हैं। जिस प्रकार पिछले कुछ वर्षों से देश में शक्ति का विकास हुआ है उसी प्रकार हमारी विशाल खनिज और वनसम्पत्ति के समुचित विकास द्वारा यथेष्ट मात्रा में देश का औद्योगिक विकास भी किया जा सकता है।

(2) श्रमिकों की कार्य-क्षमता में वृद्धि—उद्योग-धंधों के विकास में श्रमिकों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहता है। अतएव श्रमिकों के रहन-सहन में सुधार के साथ-साथ इनकी उत्पादकता बढ़ाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। श्रम को प्रबन्ध में साझेदार बनाना चाहिए ताकि वह उत्पादन बढ़ाने में पूर्ण रुचि ले सके। साथ ही, औद्योगिक सम्बन्धों में सुधार पर जोर देना चाहिए। दूसरी ओर श्रमिक-संघों को अपने-अपने सदस्यों की कुशलता बढ़ाने की ओर ध्यान देना चाहिए।

(3) पूँजी-निर्माण में वृद्धि :—औद्योगिक विकास के साथ-साथ निजी एवं सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में पूँजी की मांग बढ़ेगी। अतः पूँजी-निर्माण में वृद्धि के उपायों को काम में लाना चाहिए। बचत को प्रोत्साहन देना चाहिए। इधर कुछ वर्षों से सरकार ने पूँजी की पूर्ति को बढ़ाने के लिए कई प्रकार की वित्तीय संस्थाएँ स्थापित की हैं। इस क्षेत्र में बहुत अधिक सुधार की आशा भी की जाती है। व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण से भी इनमें सहायता की आशा है।

(4) सरकारी क्षेत्र में उद्योगों का विकास :—भारत के भावी औद्योगिक ढाँचे में सार्वजनिक क्षेत्र का भी महत्वपूर्ण स्थान है। अतः सरकारी उद्योगों में कार्यकुशलता का स्तर सुधारा जाना चाहिए। इनकी सफलता पर ही भारत का औद्योगिक भविष्य निर्भर करेगा।

(5) विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन :—औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक स्थिति में किसी भी देश के लिए

विदेशी पूँजी बहुत अधिक लाभदायक सिद्ध होती है, किन्तु अभी हमारे देश में निजी विदेशी पूँजी बहुत कम मात्रा में आ रही है। इसे आकर्षित करने के लिए भारत में अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न की जानी चाहिए। साथ ही, विदेशी पूँजी का अधिकतम उपयोग किया जाना चाहिए। जून, 1966 ई० में रुपये के अवमूल्यन के बाद विदेशी पूँजी के अधिक मात्रा में भारत आने की आशा थी, किन्तु ऐसा वास्तव में नहीं हो सका।

(6) निजी क्षेत्र के दृष्टिकोण में परिवर्तन की आवश्यकता :—वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत देश के औद्योगिक विकास में निजी क्षेत्र का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। किन्तु पिछले कुछ वर्षों में निजी क्षेत्र ने सरकारी नीति आदि की बहुत अधिक निन्दा की और साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र को नीचा दिखलाने का भी प्रयास किया गया है। यह निश्चय ही खेद का विषय है। लेकिन भविष्य में निजी क्षेत्र को भी सार्वजनिक हित को सर्वोपरि मानकर चलाना चाहिए। सरकार को भी निजी क्षेत्र को समुचित प्रोत्साहन प्रदान करना चाहिए। वास्तव में, दोनों क्षेत्रों को एक-दूसरे के साथ मिलजुल कर एक-दूसरे के पूरक के रूप में कार्य करना चाहिए। इसी से भारत का औद्योगीकरण हो सकेगा।

(7) औद्योगिक नियोजन (Industrial Planning)—एक अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देश के लिए औद्योगिक नियोजन का बहुत अधिक महत्व है। भारत में भी औद्योगीकरण की एक दीर्घकालीन योजना सरकार द्वारा तैयार की जानी चाहिए, किन्तु केवल औद्योगिक नियोजन से ही स्थिति में सुधार की आशा नहीं की जा सकती। नियोजन को कार्यान्वित करने में सरकार को तत्परता के साथ कार्य करना चाहिए। औद्योगिक नियोजन के कार्यान्वयन में निम्नलिखित तीन बातों पर विशेष रूप से जोर देना चाहिए—(क) आर्थिक व्यवस्था के विभिन्न अंगों का संतुलित विकास, (ख) उद्योग-धंधों के विकास को प्राथमिकता, तथा (ग) औद्योगीकरण की आवश्यक सीमा का निर्धारण।



(8) कृषि का विकास :—औद्योगिक विकास के लिए कृषि का विकास भी अनिवार्य है। कुछ लोग कृषि को उद्योग-धन्धों का प्रतिद्वन्द्वी समझते हैं, किन्तु वास्तव में कृषि-उद्योगों का प्रतिद्वन्द्वी नहीं बरन् पूरक है। कृषि से कुछ प्रमुख उद्योग-धन्धों को कच्चे पदार्थ, जैसे—गन्ना, जूट, कपास, तिलहन, तुम्बाकू इत्यादि प्राप्त होते हैं। साथ ही, कृषि के विकास से किसानों की क्रय-शक्ति में भी वृद्धि होती है जिससे उद्योग-धन्धों की वस्तुओं की

मांग में वृद्धि होती है। इस प्रकार देश के औद्योगीकरण के लिए कृषि का विकास भी नितांत अनिवार्य है।

उपरोक्त सुझावों को काम में लाकर ही भारत तेजी से अपना औद्योगीकरण कर सकेगा। संतोष का विषय है कि पंचवर्षीय योजनाओं में इस क्षेत्र में बहुत अधिक कार्य किये जा रहे हैं तथा इसमें पर्याप्त सफलता भी मिल रही है। इस प्रकार अब देश धीरे-धीरे औद्योगिक प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा है।

#### विशेष-अध्ययन-सूची

1. Kuchchal, S. C. : The Industrial Economy of India.
2. Mehta, M. M. : Structure of the Indian Industries.



अध्याय : 32

## कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धे

(Cottage and Small Scale Industries)

**कुटीर एवं लघु उद्योगों की परिभाषा (Definition of Cottage and Small Scale Industries) :**— उद्योग-धन्धों को प्रायः निम्नांकित तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है :

(1) अधिक मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योग अथवा बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धे (Large scale industries);

(2) कम मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योग अथवा लघु पैमाने के उद्योग-धन्धे (small-scale industries); तथा

(3) कुटीर उद्योग-धन्धे (Cottage industries) ।

कुटीर एवं लघु उद्योगों पर विचार करने के पूर्व इनमें पारस्परिक सम्बंध तथा अन्तर पर विचार करना अनिवार्य है। कुटीर उद्योग-धन्धे वे धन्धे हैं जिनका संगठन एक स्वतंत्र कारीगर अपनी पूँजी एवं श्रम से साधारण औजारों की सहायता के द्वारा करता है।<sup>1</sup> इस प्रकार के उद्योगों में पूँजी की अपेक्षा श्रम की ही प्रधानता रहती है। कारीगर अपने तथा अपने परिवारवालों के श्रम से साधारण औजारों के प्रयोग द्वारा अपना कार्य करता है। कहीं-कहीं तो इनमें शक्ति का भी प्रयोग किया जाता है, किन्तु अधिकांशतः छोटे पैमाने पर। स्विट्जरलैंड तथा जापान में कुटीर उद्योग मुख्यतः शक्ति के द्वारा ही चलाये जाते हैं। भारत में भी बिजली के प्रचार के बाद कुटीर उद्योगों के अधिकाधिक विकास की आशा की जाती है।

1949-50 ई० के फिस्कल कमीशन (Fiscal Commission) के अनुसार "कुटीर उद्योग-धन्धे वे धन्धे हैं जो अंशतः परिवार के सदस्यों की ही सहायता द्वारा आंशिक अथवा पूर्णकालिक कार्य के रूप में किये जाते हैं"।<sup>1</sup> आयोग के अनुसार लघु-प्रमाण उद्योग वे उद्योग हैं

जो मुख्यतः भाड़े के मजदूरों, साधारणतया 10 से लेकर 50 तक के द्वारा चलाये जाते हैं तथा जो श्रमिकों के घर में नहीं चलाये जाते हैं। इनमें वे सब औद्योगिक इकाइयाँ (Units) सम्मिलित की जाती हैं जिनमें 7.5 लाख रुपये से कम की पूँजी लगी होती है। इसके अनुसार कुटीर उद्योग कृषि से सम्बन्धित होने हैं तथा केवल शहरी क्षेत्रों में ही इनमें पूरे समय तक कार्य मिलता है, जबकि लघु उद्योगों में कारीगरों को बहुधा पूरे समय तक कार्य मिलता है तथा इस प्रकार के उद्योग शहरी एवं अर्द्ध-शहरी क्षेत्रों में पाये जाते हैं।<sup>2</sup>

एक दूसरे प्रकार से भी लघु एवं कुटीर उद्योगों में अन्तर बतलाया जाता है। इस प्रकार जबकि कुटीर उद्योग अधिकतर कारीगरों के घरों तथा उनके परिवार वालों के श्रम द्वारा साधारण औजारों की सहायता से, जो बिना शक्ति या कम शक्ति द्वारा प्रचालित होते हैं, चलाये जाते हैं, लघु पैमाने के उद्योगों में शक्ति द्वारा प्रचालित आधुनिक यन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। लघु उद्योगों में श्रम तथा यन्त्रों दोनों की प्रधानता रहती है। इनमें अधिक-से-अधिक 50 व्यक्ति कार्य करते हैं जबकि कुटीर उद्योगों में अधिक-से-अधिक 8-10 व्यक्ति, जो साधारणतः एक ही परिवार के सदस्य होते हैं कार्य करते हैं। लघु उद्योगों की परिभाषा में हाल में ही भारत सरकार द्वारा एक संशोधन किया गया है। इसके अनुसार 7.5 लाख रु० से कम पूँजीवाली सभी औद्योगिक संस्थानों को, चाहे उनमें श्रमिकों की संख्या कितनी भी कम क्यों न हो, लघु उद्योगों की श्रेणी में रखा गया है।

"किन्तु, इतना अन्तर होने पर भी इन दोनों प्रकार के उद्योगों की प्रकृति साधारणतः एक ही समान है और जैसा कि योजना आयोग ने कहा है "कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धों में अन्तर प्रकट करने के लिए कोई निश्चित एवं सर्वमान्य रेखा नहीं है।"

1. "A Cottage industry has been defined as one which is carried on wholly or primarily with the help of members of the family either as a whole or as a part time occupation."

A small scale industry, on the other hand, is one which is operated mainly with hired labour usually with 10 to 15 hands and is not carried on in the cottage of the worker. It includes all units or establishments having a capital investment of less than Rs. 7.5 lakhs.

2, "Cottage industries are associated with agriculture and provide wholetime occupation only in urban areas; Small scale industries generally provide wholetime occupation to their workers and are located in urban or sub-urban areas.



कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास का इतिहास (History of the Development of Cottage & Small Scale Industries) :—प्राचीन काल में भारत अपने उद्योग-धन्धों के लिए प्रख्यात था। ईसा से सदियों पूर्व भारतीय वस्त्र उद्योग अपनी कला-कौशल के लिए सुदूर मिस्र, यूनान और बेबीलोन आदि देशों में विख्यात था। ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व के मिस्र में मसाला लगाकर रखे हुए शव आज भी अच्छे प्रकार की भारतीय मलमल में लपेटे हुए मिलते हैं। हमारे कुटीर उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में भारतीय औद्योगिक आयोग ने अपने वृत्तान्त में लिखा है कि—“उस समय जबकि आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के जन्म-स्थान पश्चिमी यूरोप में असभ्य लोग निवास करते थे, भारत अपने शासकों की सम्पत्ति तथा कारीगरों की कलापूर्ण चातुरी के लिए विख्यात था।” (At a time, when the western Europe, the birthplace of the modern industrial system, was inhabited by uncivilised people, India was famous for the wealth of her rulers and for the high artistic skill of her craftsmen.) एडवर्ड थॉर्न<sup>1</sup> ने भी अपना विचार इसी प्रकार से प्रकट किया है—“जब मिस्र के पिरामिड नील नदी की घाटी की ओर नीचे झुक रहे थे; जब इटली एवं यूनान जो पश्चिमी सभ्यता के जन्म-स्थान हैं, जंगली कबीलों के निवास-स्थान थे, भारत धन्य-धान्य तथा वैभव का उद्गम स्थान था।” विदेशी व्यापारियों एवं भ्रमण-कारियों ने भी हमारे प्राचीन कुटीर उद्योगों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यहाँ की बनी हुई वस्तुओं की विदेशों में बहुत अधिक मांग होती थी। इसमें ढाके के कैलिको तथा मलमल, बनारस के रेशमी वस्त्र तथा कश्मीर के ऊनी शाल आदि प्रमुख थे।

किन्तु देश में अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद धीरे-धीरे इन उद्योगों का ह्रास प्रारम्भ हुआ तथा आज ये सारी बातें केवल स्मृति-स्वरूप ही रह गयी हैं। ब्रिटिश सरकार ने इस प्रकार की स्वायत्तपूर्ण नीति का अनुकरण किया जिससे कि भारतीय कुटीर-उद्योगों का ह्रास होने लगा तथा इनकी प्राचीन औद्योगिक ख्याति समाप्त हो गयी। आज भी कुटीर-उद्योग किसी-न-किसी रूप में वर्तमान हैं तथा देश की वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अर्द्ध-पूर्वकाल तक भारत के उद्योग-धन्धे अति विकसित स्थिति में थे तथा यहाँ की बनी हुई वस्तुएँ सम्पूर्ण विश्व में भेजी जाती थीं, किन्तु अंग्रेजों के भारत आगमन के पश्चात् भारतीय

कुटीर-उद्योगों के भाग्य ने पलटा खाया और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इनकी अवनति प्रारम्भ हो गयी।

भारतीय कुटीर तथा लघु उद्योगों की इस अवनति के कई कारण थे जिनमें प्राचीन राजाओं तथा नवाबों का अन्त, मशीनों की प्रतियोगिता, मुक्त व्यापार की नीति संरक्षण का अभाव, भारतीय उद्योग-धन्धों के प्रति ब्रिटिश सरकार की उदासीनता आदि के फलस्वरूप भारत के कुटीर उद्योग-धन्धों का ह्रास प्रारम्भ हो गया। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में देश में यातायात एवं रेल-व्यवस्था विकास ने ह्रास की इस प्रतिक्रिया में और शीघ्रता ला दी। फलतः, भारत मुख्य रूप से एक कृषि-प्रधान देश बन गया। यहाँ से कच्चे पदार्थ तथा खाद्यान्न इंग्लैंड में निर्यात किये जाने लगे तथा इंग्लैंड की बनी हुई वस्तुएँ भारत में आयात की जाने लगीं।

भारतवर्ष में कुटीर एवं लघु उद्योगों के बने रहने के कारण

(Causes of the Survival of the Cottage and Small Scale Industries in India)

किन्तु, आश्चर्य की बात यह है कि इतनी विषम परिस्थितियों के बावजूद भारत की प्राचीन औद्योगिक परम्परा पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो पायी है तथा गाँवों के पिछड़े वातावरण में भारत की हस्तकला किसी-न-किसी प्रकार से जीवित रही है। वास्तव में, केवल हमारे देश में ही नहीं बरन् विश्व के आधुनिक औद्योगिक राष्ट्रों में भी कुटीर एवं लघु-उद्योग पूर्णरूपेण समाप्त नहीं हो पाये हैं। आधुनिक औद्योगिक प्रगति, सामान्यतः बृहत् पैमाने के उद्योगों की प्रधानता से सम्बद्ध है, किन्तु आधुनिक औद्योगिक संरचना में कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धों का सर्वथा लोप नहीं हो पाया है। जो देश आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था के अग्रगण्य माने जाते हैं उनमें भी छोटे उद्योगों का एक निश्चित एवं महत्वपूर्ण स्थान है। उदाहरण के लिए, फ्रांस में 99 प्रतिशत से भी अधिक व्यवसायों में से प्रत्येक में 100 से कम व्यक्ति लगे हुए हैं। जर्मनी में भी सम्पूर्ण जनसंख्या का प्रायः 12.6 प्रतिशत भाग अपनी आजीविका इसी प्रकार की दस्त-कारियों से चलाता है। जापान की कुल औद्योगिक जनसंख्या के प्रायः 53 प्रतिशत तथा स्विट्जरलैंड में 33 प्रतिशत लोग अपनी आजीविका ऐसे ही व्यवसायों से चलाते हैं। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक देश में कुटीर उद्योग जीवित हैं, आगे बढ़ रहे हैं तथा समाज में अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

इसका कारण यह है कि बृहत् उद्योगों की तुलना



में इनके कुछ अपने विशेष लाभ होते हैं। सर्वप्रथम तो विद्युत् के बढ़ते हुए उपयोग ने उत्पादन की इकाइयों के छोटी होने की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। इससे उद्योग की बाह्य तथा आन्तरिक मितव्ययिताएँ भी ज्यों-की-त्यों बनी रहती हैं। साथ ही, बड़े पैमाने के उद्योगों के फलस्वरूप केन्द्रीयकरण की बुराइयों ने भी उद्योगों के विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया है। इससे भी उद्योगों के सामान्यतः छोटी होने की प्रवृत्ति पायी जाती है। वर्तमान सदी के प्रारम्भ से प्रत्येक देश में सहकारिता आन्दोलन के विकास ने भी लघु एवं कुटीर उद्योगों में एक नयी जान ला दी है। साथ ही, प्रत्येक समाज में कुछ ऐसी कलात्मक वस्तुएँ होती हैं जिनका उत्पादन बड़े पैमाने पर प्रायः सम्भव नहीं। कुछ ऐसी भी वस्तुएँ हैं जिनकी मांग स्थानीय एवं अल्प तथा बहुत सीमित होती है। अतः इनका उत्पादन बड़े पैमाने पर नहीं किया जा सकता। इन्हीं सब कारणों से आज के इस विशालकाय औद्योगिक युग में भी कुटीर एवं लघु उद्योगों का महत्त्व कम नहीं हो पाया है।

### भारत की आर्थिक व्यवस्था में कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धों का महत्त्व

(Importance of Cottage and Small Scale Industries in the Indian Economy)

भारत की आर्थिक व्यवस्था में वर्तमान परिस्थितियों के अन्तर्गत, कुटीर एवं लघु उद्योगों का कई कारणों से अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः देश के औद्योगीकरण की किसी भी योजना में कुटीर उद्योगों को समुचित स्थान देना अति अनिवार्य हो जाता है। देश की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के निर्माण में तो इनका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। योजना आयोग (Planning Commission) के अनुसार "ग्रामीण उद्योगों को विकसित करने का प्रमुख उद्देश्य रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना, आय एवं रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना तथा एक अधिक संतुलित एवं समन्वित अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना है।" (The primary object of developing small industries in rural areas is to extend work opportunities, raise income and standard of living and to bring about a more balanced and integrated rural economy.)

भारत की आर्थिक व्यवस्था में कुटीर एवं लघु-उद्योगों के महत्त्व के निम्नलिखित प्रधान कारण हैं :—

(1) अधिकाधिक रोजगार की व्यवस्था (Providing more employment) :—भारत में बेकारी की समस्या दिन-प्रति-दिन उग्र होती जा रही है। देश की जनसंख्या

का एक बहुत बड़ा भाग रोजगार के साधनों से पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से वंचित है। बेकारी किसी भी देश के लिए बड़ी ही विषम समस्या है। लांड वेवरीज के शब्दों में "बेकारी का सबसे बड़ा दोष भौतिक नहीं वरन् नैतिक है। इससे केवल अभाव ही नहीं, वरन् घृणा तथा द्वेष भी उत्पन्न होता है।" भारत की वर्तमान परिस्थितियों में बेकारी की समस्या राजनीतिक कठिनाइयों का भी कारण बन सकती है। देश में बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धों के विकास द्वारा बेकारी की समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता। साथ ही, संगठित उद्योगों के विकास से औद्योगिक केन्द्रों में श्रमिकों का केन्द्रीयकरण होगा जिससे औद्योगिक एवं श्रम-सम्बन्धी अनेक समस्याएँ उत्पन्न होंगी तथा सामाजिक सुरक्षा एवं सामाजिक बीमा पर बहुत अधिक खर्च करना पड़ेगा। इसके विपरीत कुटीर उद्योगों से शीघ्र तथा बड़े पैमाने पर रोजगार की व्यवस्था की जा सकती है। देश के कुटीर-उद्योगों में अनुमानतः 2 करोड़ व्यक्ति लगे हुए हैं। केवल हस्तकरघा उद्योग में 50 लाख, अर्थात् सभी संगठित उद्योगों (वृहत् प्रमाण उद्योगों, खनिज तथा बगान उद्योगों को सम्मिलित करते हुए) के बराबर व्यक्ति लगे हुए हैं।<sup>1</sup> इसमें कोई सन्देह नहीं कि अधिकतम उत्पादन के लिए बड़े पैमाने के उद्योगों का विकास आवश्यक है, परन्तु इनके विकास की गति कितनी भी तीव्र क्यों न हो, इनसे भारत के विशाल जनसमूह को रोजगार नहीं दिया जा सकता। अतः देश में बेकारी की स्थिति को दूर करने में कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धों का विशेष महत्त्व है।

(2) कुटीर उद्योगों के विकास में कम पूँजी की आवश्यकता पड़ती है :—कुटीर उद्योगों में मूल्यवान मशीनों एवं बड़ी-बड़ी इमारतों की आवश्यकता नहीं पड़ती। कुटीर उद्योग-धन्धे पूँजी-प्रधान (Capital-intensive) नहीं होकर श्रम-प्रधान (Labour-intensive) होते हैं। अतः इनके लिए बड़े पैमाने के उद्योगों की तुलना में बहुत कम पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। भारत एक निर्धन देश है।<sup>2</sup> इसके पास पूँजी का अभाव है जिससे वृहत् प्रमाण उद्योगों की स्थापना में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। साथ ही, कुटीर-उद्योगों में अधिक तकनीकी ज्ञान की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार वर्तमान परिस्थितियों में द्रुतगति से औद्योगिक विकास के लिए कुटीर उद्योग-धन्धों का अत्यधिक महत्त्व है।

(3) कुटीर उद्योगों के विकास द्वारा कृषि पर से जनसंख्या के अधिक बोझ को कम किया जा सकता है :—भारत एक कृषि-प्रधान देश है। यहाँ की प्रायः 70 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर ही आश्रित है, किन्तु कृषि-



कार्य में किसानों को निरन्तर कार्य नहीं मिलता। वे वर्ष के प्रायः 4-5 महीने तक बेकार ही रहते हैं। इससे किसानों की बेकारी का समय कट जायगा तथा उनकी आय में वृद्धि होगी। इस प्रकार देश में कुटीर उद्योगों के विकास द्वारा कृषि पर से जनसंख्या की अत्यधिक निर्भरता को कम किया जा सकता है।

(4) आर्थिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण:—पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में बड़े पैमाने के उद्योगों की प्रधानता रहती है जिससे आर्थिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण होता है। बड़े पैमाने के उद्योगों द्वारा राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा भाग कुछ व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है जिसके फलस्वरूप आय के वितरण में विषमता बढ़ती है। किन्तु कुटीर-उद्योगों को प्रोत्साहन देने से यह असमानता बहुत हद तक दूर की जा सकती है। इस प्रकार, कुटीर एवं लघु-उद्योग समाज में धन तथा आय के वितरण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। साथ ही, बड़े-बड़े उद्योगों का कुछ ही नगरों में केन्द्रीयकरण होता है जिससे देश का समान रूप से औद्योगिक विकास सम्भव नहीं होता तथा केन्द्रीकरण की बहुत सारी बुराइयाँ उत्पन्न होने लगती हैं। कुटीर एवं लघु-उद्योग देश के कोने-कोने में बिखरे होते हैं। अतः इनसे केन्द्रीयकरण की बुराइयाँ उत्पन्न नहीं होतीं।

(5) युद्ध से सुरक्षा:—औद्योगिक केन्द्रीकरण का सबसे बड़ा दोष यह है कि यदि किसी एक स्थान पर सैनिक आक्रमण हो जाय तो उस स्थान के समस्त उद्योग नष्ट हो जाएँगे। अतः आधुनिक युग में सुरक्षा के लिए भी उद्योग-धन्धों का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। विकेन्द्रीकरण के इस कार्य में कुटीर-उद्योगों द्वारा ही सबसे अधिक सहायता मिल सकती है। इस प्रकार कुटीर एवं लघु-उद्योगों प्रधानता रहने पर लड़ाई के समय भी देश की आर्थिक व्यवस्था सुरक्षित रहती है।

(6) पूँजी एवं कुशलता की गतिशीलता में वृद्धि:—कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास से देश में पूँजी एवं कुशलता की गतिशीलता में वृद्धि होती है, अन्यथा भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश में बहुत-सी पूँजी तथा कुशलता योंही बेकार रह जाती है। इस प्रकार कुटीर एवं लघु-उद्योगों की स्थापना में देश की पूँजी तथा कुशलता का पूर्ण रूप में उपयोग सम्भव हो सकेगा।

(7) श्रम एवं पूँजी में उत्तम सम्बन्ध—वर्तमान औद्योगिक अशांति का प्रमुख कारण बड़े-बड़े आधुनिक उद्योग हैं जिनमें हजारों-हजार की संख्या में मजदूर कार्य करते हैं। इनमें मजदूरों एवं पूँजीपतियों के बीच सीधा सम्पर्क नहीं रह जाता। फलस्वरूप हड़ताल तथा तालेबन्दी की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। कुटीर-एवं लघु-उद्योगों के साथ ऐसी बात नहीं पायी जाती है। इनमें

श्रम एवं पूँजी में अधिक अन्तर नहीं रह जाता। प्रत्येक सेवार्थी ही सेवार्थी होता है अतः 'स्वामी एवं नौकर' की भावना समाप्त हो जाती है। साथ ही, आर्थिक उथल-पुथल भी कम हो जाते हैं। इस प्रकार कुटीर एवं लघु-उद्योगों की स्थापना से देश में औद्योगिक शान्ति की आशा की जा सकती है।

(8) कुटीर उद्योग-धन्धों का नैतिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से भी अधिक महत्त्व है:—बड़े पैमाने के उद्योगों में आधुनिक मशीनों द्वारा कार्य करनेवाले श्रमिकों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है, वे प्रायः यन्त्रबद्ध हो जाते हैं, काम करने में उन्हें आनन्द तथा गौरव का अनुभव नहीं होता। किन्तु कुटीर-उद्योगों में काम करनेवाले श्रमिक बहुधा अपने उद्योगों के स्वयं मालिक होते हैं जिससे वे आत्मगौरव का अनुभव करते हैं। साथ ही, इस प्रकार के उद्योगों में किसी प्रकार के शोषण का भय नहीं रहता। इस प्रकार कुटीर-उद्योगों के विकास द्वारा एक शोषण-रहित समाज की रचना की जा सकती है जिसमें मानव-जीवन का बहुमुखी विकास सम्भव हो सकता है।

इससे स्पष्ट है कि देश की आर्थिक-व्यवस्था में कुटीर उद्योग-धन्धों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 1956 ई० की औद्योगिक-नीति सम्बन्धी प्रस्ताव में ठीक ही कहा गया है कि "कुटीर एवं लघु उद्योग बड़े पैमाने पर एवं तात्कालिक रोजगार उत्पन्न करते हैं, राष्ट्रीय आय के अधिक न्यायोचित वितरण को संभव बनाते हैं, तथा पूँजी एवं योग्यता-सम्बन्धी साधनों के अधिक प्रभवपूर्ण विवहान में सहायक होते हैं। यदि देश भर में औद्योगिक उत्पादन के छोटे-छोटे केन्द्र स्थापित कर दिये जायें तो अनियोजित नागरिकीकरण की समस्या का भी बहुत हद तक समाधान हो सकता है।" (They provide immediate large scale employment, they offer a method of ensuring a more equitable distribution of the national income and facilitate effective mobilisation of resources of capital and skill which otherwise remain unutilised. Some of the problems that unplanned urbanisation tends to create will be avoided by the establishment of small centres of industrial production all over the country.) अतः भारत के आर्थिक विकास की किसी भी योजना में इनका एक विशिष्ट स्थान होगा। हमारा देश अभी आर्थिक विकास के प्रथम सोपान पर है। देश के समस्त पूँजी एवं तकनीकी ज्ञान का अभाव विशेष रूप से है। ऐसी परिस्थिति में देश के औद्योगिकीकरण में पश्चिमी राष्ट्रों का अनुकरण करना हमारे लिए उचित नहीं है। निस्संदेह भारत में बड़े



पैमाने के उद्योगों के विकास के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र है जिसका उपयोग अवश्य होना चाहिए, किन्तु इसके लिए हमें देश की विचित्र परिस्थितियों से आँख बन्द कर लेना भी खतरे से खाली नहीं होगा।

### कुटीर एवं लघु उद्योगों की समस्याएँ (Problems of Cottage and Small Scale Industries)

इस प्रकार भारत की आर्थिक व्यवस्था में कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धों का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है फिर भी इनके समक्ष अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनके फलस्वरूप इनकी स्थिति बहुत ही दयनीय है। कुटीर एवं लघु-उद्योगों की निम्नांकित प्रमुख कठिनाइयाँ अथवा समस्याएँ हैं :—

(1) कच्चे पदार्थ-सम्बन्धी कठिनाई (Problem of Raw materials) :—कच्चे पदार्थ के सम्बन्ध में कुटीर एवं लघु-उद्योगों को प्रायः उन वस्तुओं की आवश्यकता होती है जिनका उत्पादन बड़े पैमाने के उद्योगों में किया जाता है। उदाहरण के लिए, सूती हस्त-करघा उद्योग मिल के सूत पर पूर्ण रूप से निर्भर रहता है। द्वितीय महायुद्ध के समय में हस्त-करघा उद्योग को सूत की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। इस प्रकार कुटीर एवं लघु-उद्योगों को कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता है या कठिनाई से मिलता है। साथ ही, छोटे पैमाने पर खरीद होने तथा दलालों के कारण इन्हें बहुधा अधिक मूल्य भी चुकाना पड़ता है। इस कठिनाई को औद्योगिक सहकारी समितियों की स्थापना के द्वारा दूर किया जा सकता है। अधिकांश राज्यों में औद्योगिक सहकारिता के विकास पर भी जोर दिया जा रहा है, किन्तु समस्या की गम्भीरता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में और अधिक तत्परता की आवश्यकता है।

(2) उत्पादन की प्रविधि-सम्बन्धी कठिनाई (Technique of Production) :—कुटीर एवं लघु-उद्योग में बहुधा उत्पादन के प्राचीन एवं परम्परागत तरीकों का ही प्रयोग किया जाता है। ये तरीके बहुत प्राचीन हो चुके हैं जिससे इनकी उपयोगिता प्रायः समाप्त हो चुकी है। कारीगर अधिकांशतः अशिक्षित होते हैं जिससे इन्हें अपने व्यवसाय के सम्बन्ध में उचित ज्ञान नहीं रहता है। इन कारणों से उत्पादन अच्छी किस्म का नहीं हो पाता। उत्पादन की प्रविधि में सुधार लाने तथा कारीगरों की शिक्षा की व्यवस्था के लिए देश में संस्थाओं का अभाव है। कुछ संस्थाएँ निस्संदेह इस में प्रशंसनीय कार्य कर रही हैं, जिनमें अखिल भारतीय बुनकर संघ, अखिल भारतीय हस्त-करघा परिषद् तथा अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामोद्योग परिषद् विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

प्रथम योजनाकाल में इस उद्देश्य से बहुत-से कार्य किये गये थे। प्रत्येक राज्य सरकार द्वारा अनेक प्रशिक्षण-सम्बन्धी संस्थाओं की स्थापना की गयी थी। फोर्ड फाउण्डेशन द्वारा नियुक्त अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन दल ने 1955 ई० में अपने प्रतिवेदन में लघु एवं कुटीर उद्योगों के सम्बन्ध में चार शिल्पकला ज्ञान-सम्बन्धी केन्द्रीय संस्थानों की स्थापना की सिफारिश की थी। सरकार द्वारा बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली तथा मद्रास में इस प्रकार की चार प्रादेशिक संस्थाएँ स्थापित की गयी हैं। इनके अतिरिक्त उद्योग विस्तार सेवा के तत्वावधान में 16 लघु-उद्योग सेवा संस्थानों की भी स्थापना की गयी है।

कुटीर एवं लघु-उद्योगों की उत्पादन की विधि में सुधार लाने के लिए यह आवश्यक है कि नवीन विधियों को लोकप्रिय बनाकर कारीगरों को उन्हें अपनाने की प्रेरणा दी जाय। स्थान-स्थान पर ऐसे केन्द्र स्थापित किये जायें, जहाँ नये-नये आधुनिक यन्त्रों का प्रदर्शन किया जाय तथा इनके प्रयोग के सम्बन्ध में शिक्षा दी जाय। सरकार द्वारा कारीगरों को ऐसे यन्त्र किस्त पर दिये जायें जिससे वे सुगमतापूर्वक आधुनिक यन्त्रों को अपना सकें। सहकारी समितियों को भी ऐसा करने के लिए प्रोत्साहन दिया जा सकता है। साथ ही, कारीगरों को व्यावसायिक शिक्षा देने के उद्देश्य से स्थान-स्थान पर प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिए। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत स्थापित विभिन्न परिषदें एवं संस्थाएँ इस ओर विशेष ध्यान दे रही हैं। 1955 ई० में सरकार द्वारा एक राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम (National Small Industries Corporation) की स्थापना की गयी जो लघु-उद्योगों को अन्य सहायता प्रदान करने के अतिरिक्त हायर परचेज (Hire purchase) पर यन्त्र आदि प्रदान करती है। अबतक निगम द्वारा इस कार्य के अन्तर्गत 45.8 करोड़ रुपये की मशीनें लघु-उद्योगों को हायर-परचेज पर प्रदान की गयी हैं।<sup>1</sup>

(3) वित्त-सम्बन्धी कठिनाई (Lack of Finance) :—वित्त-सम्बन्धी कठिनाई कुटीर एवं लघु-उद्योगों की एक प्रमुख कठिनाई है। कारीगर बहुधा निर्धन होते हैं जिससे इनके पास आवश्यक मात्रा में पूँजी नहीं रहती। पूँजी के अभाव में इन्हें अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इन्हें मशीन एवं आवश्यक औजार खरीदने के लिए दीर्घकालीन पूँजी तथा कच्चा माल खरीदने एवं पारिश्रमिक आदि चुकाने के लिए अल्पकालीन पूँजी की आवश्यकता पड़ती है किन्तु आवश्यक पूँजी के अभाव में इन चीजों को खरीदने में ये बहुधा असमर्थ होते हैं। निर्धन होने के कारण इन्हें कर्ज लेना पड़ता है। साथ ही, ऋण देनेवाले महाजनों या व्यापारियों के साथ ही



इन्हें अपना माल भी कम ही मूल्य पर बेचना पड़ता है जिससे इनके परिश्रम का उचित फल भी नहीं मिल पाता। पूँजी के अभाव में कारीगर कभी-कभी महाजन के यहाँ ही एक निश्चित वेतन पर काम करने लगते हैं। इस प्रकार भारतीय कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के मार्ग में पूँजी की कठिनाई आज सबसे प्रमुख कठिनाई है।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुटीर एवं लघु-उद्योगों के बीच औद्योगिक सहकारिता का संगठन आवश्यक है। सहकारी समितियों द्वारा इन्हें उचित समय तथा कम सूद की दर पर पूँजी प्राप्त हो सकेगी। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंकिंग जॉइन्ट-समिति ने भी सुझाव दिया था कि कारीगरों को अपनी सहकारी समितियाँ स्थापित करनी चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन दल ने यह सिफारिश की थी कि—(क) सहकारी बैंकों को इन उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए, (ख) व्यावसायिक बैंकों को भी इस दिशा में अधिक सहायता प्रदान करने के लिए तत्पर रहना चाहिए, (ग) प्रत्येक राज्य में एक राज्य वित्त-निगम की स्थापना की जानी चाहिए जो लघु उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करे तथा (घ) वास्तविक सम्पत्ति की प्रतिभूति पर कर्ज देने की प्रथा को प्रोत्साहित करना चाहिए।

आजकल सरकार द्वारा कुटीर एवं लघु-उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने पर विशेष जोर दिया जा रहा है। केन्द्र एवं राज्य सरकारें भी इस ओर अधिक ध्यान दे रही हैं। 1960-61 ई० में भारत सरकार ने लघु उद्योगों के विकास के लिए राज्य सरकारों को 77 करोड़ रुपये ऋण एवं अनुदान के रूप में प्रदान किया था। देश के प्रायः सभी राज्यों में राज्य वित्तीय निगम स्थापित किये गये हैं जो लघु-उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं। जुलाई, 1960 ई० से रिजर्व बैंक ने वित्तीय संस्थाओं को लघु-उद्योगों को ऋण प्रदान करने के लिए एक Guarantee Organisation की स्थापना की है जिसने प्रारम्भ से लेकर दिसम्बर, 1970 ई० के अन्त तक 715 करोड़ रुपये की गारन्टी प्रदान की।<sup>1</sup> दिसम्बर 1970 तक व्यावसायिक बैंकों ने लघु औद्योगिक इकाइयों को कुल 856 करोड़ रुपये का ऋण प्रदान किया था। इस प्रकार आजकल कुटीर एवं लघु-उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए सरकार द्वारा प्रयत्न किये जा रहे हैं; किन्तु इस कठिनाई को दूर करने के लिए कारीगरों के मध्य औद्योगिक सहकारिता (Industrial Co-operatives) की स्थापना पर अधिक ध्यान देना लाभदायक होगा। प्रत्येक राज्य में औद्योगिक सहकारिता संगठन को निस्संदेह प्रोत्साहित किया जा रहा है, किन्तु इनके विकास की गति इतनी मन्द है कि इससे अभी तक बहुत ही कम लाभ हो पाया है।

1. India—1971-72, p. 389.

(4) विक्रय-व्यवस्था-सम्बन्धी कठिनाइयाँ (Problem of Marketing):—कुटीर उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की विक्रय-व्यवस्था भी दोषपूर्ण है। देश में इनकी वस्तुओं के विक्रय के लिए संगठित बाजारों का अभाव है। संगठित बाजार के अभाव में कारीगरों को विक्रय के लिए स्वयं इनके समय एवं शक्ति की हानि होती है तथा उचित मूल्य भी नहीं मिल पाता। बाजारों में तरह-तरह के विचरवैये तथा दलाल भी पाये जाते हैं जो अपनी अनावश्यक सेवाओं के लिए कारीगरों के लाभ का एक हिस्सा कमीशन के रूप में वसूल करते हैं। साथ ही, बाजार में इन उद्योगों की वस्तुओं को कठिन प्रतियोगिता का भी सामना करना पड़ता है। विक्रय-व्यवस्था में सुधार लाने के लिए सहकारी विक्रय समितियों का संगठन अनिवार्य है। ये समितियाँ इनकी वस्तुओं को उचित मूल्य पर बेचने की व्यवस्था करेगी। किन्तु इस समय सबसे बड़ी कठिनाई इनकी वस्तुओं की मांग का अभाव है; अतः मांग बढ़ाने के तरीकों पर जोर देना अनिवार्य है। इस उद्देश्य से सर्व प्रथम तो इनकी वस्तुओं की किस्म में सुधार लाना चाहिए तथा नमूना बनाने की पद्धति पर जोर देना चाहिए। इन उद्योगों की वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाकर भी इनकी मांग में वृद्धि की जा सकती है। आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, कनाडा, अमेरिका तथा मध्य-पूर्वी देशों में प्रचार द्वारा इनके द्वारा इनके उपयोग को बढ़ाने का बहुत बड़ा क्षेत्र है। अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन मंडल ने इस उद्देश्य से उत्तरी अमेरिका तथा यूरोप में एक-एक 'निर्यात-विकास कार्यालय' खोलने की सिफारिश की थी। कुटीर एवं लघु उद्योगों की वस्तुओं के नमूना एवं वर्गीकरण द्वारा भी इनकी निर्यात को प्रोत्साहित किया जा सकता है।

(5) कर-सम्बन्धी कठिनाइयाँ (Problem of Taxation):—केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा कुटीर एवं लघु उद्योगों पर तरह-तरह के कर भी लगाये जाते हैं। वास्तव में, ये उद्योग इन करों के बोझ को वहन करने में असमर्थ हैं, इससे बड़े उद्योगों की वस्तुओं से प्रतियोगिता करने में इनकी शक्ति भी घट जाती है। अतः इन उद्योगों की वस्तुओं को विक्रय-कर, उत्पादन-कर, निर्यात-कर आदि करों से मुक्त कर देना चाहिए जिससे बड़े उद्योगों की वस्तुओं का ये सुगमतापूर्वक प्रतियोगिता कर सकें। आजकल सरकार ने लघु एवं कुटीर उद्योगों की वस्तुओं पर कम कर लगाने की नीति को अपनाया है। इतना ही नहीं, कुछ अनुरूप बड़े पैमाने के उद्योगों पर सरकार द्वारा एक विशेष कर भी लगाया जाता है जिससे कुटीर अथवा लघु-उद्योगों को सहायता दी जाती है। उदाहरणार्थ सरकार ने हस्त-करघा उद्योग के विकास के लिए सूती कारखानों के कपड़े पर तीन पैसे प्रति गज की दर से एक विशेष प्रकार का कर लगाया है।



(6) बड़े पैमाने के उद्योगों से प्रतियोगिता की कठिनाइयाँ (Competition with large scale industries) :- कुटीर एवं लघु उद्योगों के समक्ष उपरोक्त सारी कठिनाइयों के अतिरिक्त मिल की बनी हुई वस्तुओं की प्रतियोगिता-सम्बन्धी कठिनाई भी एक प्रमुख कठिनाई है। मिल की बनी हुई वस्तुएँ कुटीर उद्योगों की वस्तुओं की अपेक्षा सस्ती होती हैं; अतः लोग मिल की बनी वस्तुओं को ही खरीदना चाहते हैं। इस प्रतियोगिता से इन उद्योगों की रक्षा के लिए आवश्यक होगा कि दोनों प्रकार के उद्योगों के उत्पादन-क्षेत्र पृथक्-पृथक् कर दिये जायें तथा बड़े पैमाने के उद्योगों के उत्पादन की मात्रा सीमित कर दी जाय। इससे प्रतियोगिता का भय समाप्त हो जायगा। आजकल भारत सरकार ने इस उद्देश्य से उत्पादन के सामान्य कार्यक्रम (Common Production programme) की नीति को अपनाया है जिसके अनुसार उत्पादन-क्षेत्रों का विभाजन और वर्गीकरण करके उनको सुरक्षित बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

संगठन का अभाव (Lack of Organisation) :- कारीगरों के बीच उचित संगठन के अभाव में भी इन्हें तरह-तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अशिक्षा तथा अज्ञानता के कारण भी कारीगर बहुधा संगठन के महत्त्व को नहीं समझते हैं। अतः इनके बीच संगठन को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार को अभिक-संघों की स्थापना पर जोर देना चाहिए तथा इनके संगठनों को आर्थिक सहायता भी प्रदान करनी चाहिए।

इस प्रकार कुटीर एवं लघु उद्योगों के समक्ष आज अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनका समाधान इनके विकास के लिए अनिवार्य है। इन उद्योगों की समस्याओं तथा इनके उपचारों के अध्ययन से दो बातें स्पष्ट होती हैं—सर्वप्रथम तो कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए सरकारी प्रयत्न आवश्यक हैं। गत कुछ वर्षों से, विशेषतः स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से सरकार निस्सन्देह इस क्षेत्र में अधिक तत्परता से कार्य कर रही है। किन्तु इन उद्योगों की वर्तमान स्थिति इतनी अधिक चिन्ता-जनक है कि सरकारी सहायता के वगैर इनका विकास सम्भव नहीं जान पड़ता। अतः सरकार को इस क्षेत्र में और अधिक तत्परता से कार्य करने की आवश्यकता है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इन उद्योगों की कठिनाइयों के निवारण में औद्योगिक सहकारिता (Industrial Co-operatives) से बहुत अधिक सहायता मिल सकती है। इस प्रकार की समितियाँ उनके लिए पूँजी, औजार कच्चे पदार्थ आदि की व्यवस्था करेंगी तथा इनके द्वारा उत्पादित मालों के विक्रय की जिम्मेदारी भी ले सकती हैं। इस प्रकार इन उद्योगों के लिए औद्योगिक सहकारिता का संगठन अनिवार्य है।

## कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए सरकारी प्रयत्न

(Government Measures for the Development of Cottage and Small Scale Industries)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व किये गये सरकारी प्रयत्न (Government measures in the pre-independence days) :- स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व ब्रिटिश सरकार द्वारा देश के कुटीर एवं लघु-उद्योगों के लिए प्रायः कोई कार्य नहीं किया गया था। प्रारम्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इन उद्योगों को कुछ प्रोत्साहन अवश्य दिया, किन्तु बाद में ग्रेट ब्रिटन के उद्योगपतियों के दबाव में आकर उसने ऐसी नीति का अनुकरण किया जिसका परिणाम भारतीय उद्योगों के लिए बड़ा ही घातक सिद्ध हुआ। धीरे-धीरे ब्रिटिश उद्योग के बने माल भारतीय बाजार में छा गये तथा घरेलू वस्तुओं की माँग समाप्त हो गयी। बाद में भी सरकार इन उद्योगों के विकास के प्रति उदासीन रहने लगी। अतः ये अवनति की दशा में ही पड़े रहे। 1930 ई० के बाद देश के विभिन्न प्रान्तों में कुटीर उद्योग-धन्धों को पुनर्जीवित करने के लिए कुछ प्रयत्न अवश्य किये गये तथा 1935 ई० में इनके निरीक्षण के लिए प्रत्येक प्रान्तों में एक उद्योग विभाग की स्थापना भी की गयी, किन्तु इन विभागों ने जितनी तत्परता से काम करना चाहिए था, नहीं किया। अतः इनसे पर्याप्त मात्रा में लाभ प्राप्त नहीं हो सका। 1937 ई० में अधिकांश प्रान्तों में काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल की स्थापना हुई जिन्होंने इन उद्योगों के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया। किन्तु काँग्रेसी सरकारें बहुत दिनों तक नहीं ठहर सकीं, अतः सरकारी सहायता का यह क्रम स्थायी रूप नहीं ले सका।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद किये गये प्रयत्न  
(Government Measures after the Independence)

किन्तु संतोष का विषय है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त सरकार द्वारा लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास के लिए सराहनीय प्रयत्न किये जा रहे हैं। सर्वप्रथम तो 1948 ई० के औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव में कुटीर उद्योगों के महत्त्व पर पूरा जोर दिया गया था। इस नीति में यह स्पष्ट रूप से कहा गया था कि सरकार कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए आवश्यक प्रोत्साहन प्रदान करेगी। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत तो ग्रामीण विकास पर पर्याप्त जोर होने के कारण कुटीर एवं ग्रामीण उद्योगों के विकास पर भी पूरा-पूरा जोर दिया गया था। योजना आयोग के अनुसार सावजनिक सेवाओं तथा वृहत् प्रमाण उद्योगों में नियुक्तियों की संख्या सीमित होने के कारण रोजगार में वृद्धि के उद्देश्य से देश में



कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास की बड़ी आवश्यकता है। द्वितीय योजनाकाल में भी कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। 1956 ई० की औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में भी देश की औद्योगिक व्यवस्था में कुटीर एवं लघु-उद्योगों के महत्त्व को स्वीकार किया गया था। 1970 ई० में सरकार द्वारा घोषित नयी औद्योगिक लाइसेंस नीति में भी कुटीर एवं लघु-उद्योगों के महत्त्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। दिसम्बर, 1977 में घोषित सरकारी औद्योगिक नीति में तो इन उद्योगों के विकास को और भी महत्त्व दिया गया है।

सर्वप्रथम तो स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास के लिए सरकार द्वारा कई आवश्यक मंडल एवं संस्थानों की स्थापना की गई जिनमें निम्न-लिखित प्रधान हैं :—

(1) कुटीर उद्योग प्रमण्डल (Cottage Industries Board), 1948;

(2) केन्द्रीय सिल्क परिषद् (Central Silk Board), 1949;

(3) अखिल भारतीय हस्त-कला प्रमण्डल (All India Handicrafts Board), 1952;

(4) अखिल भारतीय हस्त-करघा प्रमण्डल (All India Handloom Board), 1952;

(5) अखिल भारतीय खादी तथा ग्रामोद्योग आयोग (All India Khadi and Village Industries Commission), 1955;

(6) लघु उद्योग प्रमण्डल (Small Scale Industries Board), 1955; तथा

(7) नारियल जटा परिषद् (Cair Board)।

इन्हे सरकार द्वारा आवश्यकतानुसार बहुत-से अधिकार तथा सुचारु रूप से कार्य करने के लिए आवश्यक धन-राशि भी दी गयी है। इनमें से प्रत्येक के पृथक्-पृथक् कार्य हैं।

सरकार द्वारा लघु एवं कुटीर-उद्योगों के विकास के लिए और भी बहुत-से महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं। इन उद्योगों के सहायताार्थ अनुरूप बड़े-पैमाने के उद्योगों पर कर लगाने, उत्पादन-क्षेत्र के निग्रह करने तथा आर्थिक सहायता द्वारा इन्हें अल्पकालीन सुरक्षा प्रदान करने के सिद्धांत को भी सरकार ने स्वीकार किया है। इसके फलस्वरूप मिल द्वारा बुने हुए कपड़े पर 3 पैसे प्रति गज का एक कर लगाया जाता है जिससे प्रायः 6 करोड़ रुपये की वार्षिक आय होती है। इस रकम से हस्त-करघा उद्योग को सहायता प्रदान की जाती है। उत्पादन-क्षेत्र के निग्रह के अन्तर्गत सूती-वस्त्र के

कारखानों को उनके पूर्व उत्पादन के केवल 60 प्रतिशत धोती एवं साड़ियाँ उत्पन्न करने की अनुमति दी गयी। सरकार ने अपनी भंडार खरीद-नीति (Stores Purchase Policy) में भी आवश्यक संशोधन किया है जिसके अनुसार खरीद के समय कुटीर एवं लघु-उद्योगों की वस्तुओं को प्राथमिकता दी जाती है। इस खरीद नीति के अन्तर्गत 1962-63 ई० में केवल केन्द्रीय सरकार ने कुटीर एवं लघु-उद्योगों से 30.2 करोड़ रुपये की वस्तुएँ खरीद की थीं। लघु उद्योगों के विकास के लिए सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत कुछ चुने हुए सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार खण्डों में औद्योगिक प्रदाधिकारियों की नियुक्ति भी की गयी है। इन उद्योगों को पूँजी एवं कच्चे माल के क्रय तथा विक्रय-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करने के लिए इनके बीच औद्योगिक सहकारिता के संगठन पर भी जोर दिया जा रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन मण्डल (International Planning Team) :— 1959 ई० में भारत सरकार ने फोर्ड फाउण्डेशन की सहायता से लघु-उद्योगों की उत्पादन-सम्बन्धी समस्याओं तथा उनके रोजगार प्रदान करने की सामर्थ्य के अध्ययन के लिए विदेशी विशेषज्ञों के एक दल को आमन्त्रित किया था। इस अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन-मण्डल ने देश के लघु-उद्योगों का सर्वेक्षण किया। इस मण्डल का प्रतिवेदन 1954 ई० में प्रकाशित हुआ जिसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि लघु-उद्योगों की त्रुटियों का एक प्रमुख कारण त्रुटिपूर्ण उत्पादन और प्रबन्ध है। मण्डल के अनुसार इन उद्योगों के विकास की शिथिलता का मुख्य कारण निजी क्षेत्र में आवश्यक प्रेरणा का अभाव है। साथ ही, सरकारी सहायता एवं सरकारी खरीद पर अत्यधिक निर्भरता, उत्पादन तथा विपणन के प्राचीन (Out dated) तरीके, साख की समुचित सुविधा तथा व्यवस्थित सुधार का अभाव आदि भी इनके लिए कम उत्तरदायी नहीं हैं। मण्डल के अनुसार इन उद्योगों की अवनति का मुख्य कारण उत्पादन एवं प्रबन्ध के सम्बन्ध में उचित तरीकों का अभाव तथा उत्पादन के सुधरे हुए तरीकों को नहीं अपनाना है। मण्डल के अनुसार, "युक्तिकरण एवं अभिनवीकरण की प्रक्रिया को रोकना केवल तर्कहीन ही नहीं है, बल्कि इसका तात्पर्य भारतीय लघु-उद्योगों में गतिहीनता तथा प्रतिगमिता को प्रथम देना होगा।" (To prevent rationalization and to stop the process of modernization is not only illogical, but it will force stagnation and retrogression of Indian small industries.) आयोजन मण्डल की राय में स्थायी औद्योगिक विकास के लिए निजी प्रेरणा एवं पूँजी को अत्यधिक प्रोत्साहित करना अनिवार्य है।

### 1. The Third Plan : Mid-Term Appraisal.



अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन मण्डल ने भारत में लघु-उद्योगों के विकास के लिए बहुत सारे सुझाव दिये थे जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से प्रमुख हैं :—

(1) देश के विभिन्न भागों में चार बहुद्देशीय प्राद्योगिक संस्थान (Multipurpose Institutes of Technology) की स्थापना की जाय। ये संस्थाएँ छोटे-छोटे उद्योगों को व्यावसायिक प्रबन्ध, वित्त तथा विक्रय-सम्बन्धी सलाह प्रदान करेंगी।

(2) नमूना-सम्बन्धी एक राष्ट्रीय विद्यालय (A national school of design) की स्थापना की जाय। इस संस्था में कुटीर तथा लघु-उद्योगों के लिए नये-नये नमूने तथा डिजाइन आदि के सम्बन्ध में शिक्षा प्रदान की जायगी।

(3) लघु-उद्योगों की वस्तुओं की समुचित विक्रय-व्यवस्था के लिए एक विक्रय सेवा निगम (A Marketing Service Corporation) की स्थापना की जाय जो लघु-उद्योगों की वस्तुओं की विक्रय-व्यवस्था करेगी।

(4) एक लघु-उद्योग निगम (Small Industries Corporation) की स्थापना की जाय। साथ ही, उत्पादन, प्रशिक्षण एवं प्राविधिक विकास के लिए प्रदर्शनार्थ छोटे-छोटे केन्द्रों की स्थापना भी की जाय।

(5) दो निर्यात-विकास कार्यालये (Export Promotion Offices) स्थापित किये जायें जिनमें से एक उत्तरी अमेरिका में तथा दूसरा यूरोप में हो।

सरकार ने उक्त सिफारिशों में से चार-बहुद्देशीय प्राद्योगिक संस्थान, एक विक्रय सेवा निगम, एक लघु उद्योग-निगम तथा निर्यात विकास कार्यालय-सम्बन्धी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया है। उक्त सभी संस्थाओं की स्थापना भी की जा चुकी है।

### पंचवर्षीय योजनाओं में कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धे (Cottage and Small Scale Industries in Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कुटीर एवं लघु-उद्योगों की प्रगति (Development of Cottage and Small scale industries in the First Five year Plan) :— पंचवर्षीय योजनाओं में कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास पर पर्याप्त मात्ता में जोर दिया जा रहा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के क्षेत्र में निस्सन्देह ही प्रथम सक्रिय प्रयास थी। प्रथम

योजनाकाल में इन उद्योगों के विकास के लिए कई अखिल भारतीय एवं राजकीय संस्थानों की स्थापना की गयी। इन संस्थाओं द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में कुटीर एवं लघु उद्योगों को आवश्यक सहायता प्रदान की जाती है। प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल में केन्द्रीय सरकार ने कुटीर उद्योगों के विकास के लिए इन प्रमण्डलों के माध्यम से 33.9 करोड़ रुपये व्यय किया था। इसके अतिरिक्त, प्रथम योजनाकाल में राज्य सरकार द्वारा इन उद्योगों के विकास के लिए 10.1 करोड़ रुपये व्यय किया गया था। साथ ही, 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम' में ग्रामीण दस्तकारी तथा उद्योग की मद में 1.8 करोड़ रुपये व्यय किया गया।<sup>1</sup>

प्रथम योजनाकाल में हस्त-करघा उद्योग को विशेष प्रोत्साहन प्रदान किया गया जिससे इसका उत्पादन 1950-51 में 7,420 लाख गज से बढ़कर 1955-56 ई० में 14,710 लाख गज हो गया। खादी के उत्पादन एवं प्रचार में भी विशेष प्रगति हुई। योजनाकाल में खादी उत्पादन का वार्षिक मूल्य 1950-51 ई० में 1.3 करोड़ रुपये से बढ़कर 1955-56 ई० में 4.5 करोड़ रुपये के लगभग हो गया। योजनाकाल में खादी तथा ग्रामोद्योग प्रमण्डल ने बहुत-से ग्रामोद्योगों को तरह-तरह की सहायता प्रदान की। लघु उद्योगों के विकास के लिए फरवरी, 1955 ई० में एक राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम की स्थापना की गयी। प्रथम योजना के अन्त तक निगम ने लघु उद्योगों को 8 लाख रुपये के ऋण हायर परचेज के आधार पर प्रदान किया था। निगम का मुख्य कार्य लघु उद्योगों के वाणिज्यिक तथा विपणन-सम्बन्धी विकास को प्रोत्साहन प्रदान करना है। योजनाकाल में चार प्रादेशिक लघु-उद्योग-सेवा-संस्थान (Small Industries Service Institutes) दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में खोले गये।<sup>2</sup>

योजनाकाल में सरकार ने अपनी भंडार खरीद नीति (Stores Purchase Policy) में भी आवश्यक सुधार किया जिसके अनुसार सरकारी खरीद के समय कुटीर एवं लघु उद्योगों की वस्तुओं को प्राथमिकता प्रदान की जाने लगी। इसके फलस्वरूप भारत सरकार ने जबकि 1952-53 ई० में इन उद्योगों से केवल 66 लाख रुपये का सामान खरीदा था, 1962-63 ई० में यह रकम बढ़कर लगभग 30 करोड़ रुपये हो गयी। साथ ही, योजनाकाल में इन उद्योगों के विकास के लिए उत्पादन के सामान्य कार्यक्रम (Common Production Programmes) की नीति अपनायी गयी जिसके अनुसार कुटीर एवं लघु उद्योगों के सहायतार्थ इनके अनुरूप बड़े

1. India 1961, p. 33.

2. Review of the First Five Year Plan, p. 213.



पैमाने के उद्योगों पर कर लगाने एवं उत्पादन-क्षेत्र के निग्रह करने का प्रयत्न किया जाता है। लघु एवं कुटीर उद्योगों को अल्पकालीन सुरक्षा प्रदान करने के लिए सहकारिता के संगठन पर भी पर्याप्त मात्रा में जोर दिया जा रहा है। सामुदायिक विकास योजना क्षेत्रों तथा राष्ट्रीय विस्तार-सेवा खण्डों में भी इन उद्योगों के लिए सरकार द्वारा अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं।

लघु उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए योजनाकाल में प्रायः सभी राज्यों में एक-एक राज्य वित्तीय निगम की स्थापना की गयी। स्टेट बैंक तथा इसके सहायक बैंकों द्वारा भी वित्तीय सहायता प्रदान करने की व्यवस्था की गयी है।

ग्रामीण एवं लघु उद्योग समिति या कर्वे समिति, 1955 (Village and Small Industries Committee, or Karve Committee, 1955): द्वितीय योजना तैयार करने के पूर्व कुटीर एवं ग्रामीण उद्योगों की समस्याओं पर विचार करने तथा इनके विकास के लिए एक कार्यक्रम प्रस्तुत करने के उद्देश्य से योजना आयोग ने 1955 ई० में प्रो० डी० जी० कर्वे की अध्यक्षता में एक कमिटी जिसे 'ग्रामीण एवं लघु-उद्योग (द्वितीय पंचवर्षीय योजना) समिति' कहते हैं, की नियुक्ति की। समिति ने अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करते हुए निम्नलिखित उद्देश्यों को अपने समक्ष रखा था: (क) द्वितीय योजनाकाल में प्राद्योगिक बेकारी (Technological unemployment), विशेषतः परम्परागत ग्रामोद्योगों में होने वाली बेकारी को रोकने का यथासम्भव प्रयास करना, (ख) द्वितीय योजनाकाल में विभिन्न लघु एवं ग्रामोद्योगों द्वारा अधिक-से-अधिक रोजगार प्रदान करने की व्यवस्था करना, तथा (ग) विकेंद्रित ढाँचे पर तीव्र गति से प्रगतिशील आर्थिक विकास के निर्माण के लिए आधार तैयार करना।

समिति के अनुसार भारत में ग्रामीण एवं लघु उद्योगों की बहुत दिनों से उपेक्षा होती आ रही है। अतएव कर्वे समिति ने लघु एवं ग्रामोद्योगों के विकास के लिए बहुत-से सुझाव योजना आयोग के सम्मुख रखा जिनमें निम्नलिखित विशेष महत्त्व के हैं:—

(1) राज्य सरकारों को चाहिए कि सहकारी समितियों को अधिकाधिक मात्रा में वित्त प्रदान करने की व्यवस्था करें जिससे ये ग्रामीण एवं लघु-उद्योगों की अधिक-से-अधिक सहायता कर सकें। कमिटी के अनुसार रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक भी इन उद्योगों को अग्रगण्य रूप से सहायता प्रदान करते हैं। कमिटी ने 'इम' आशय की भी सिफारिश की थी कि जब तक इन उद्योगों के सहायतार्थ संस्थागत रूप में ऋण की व्यवस्था न हो

जाय, तबतक अखिल भारतीय प्रमण्डलों, राज्य विभागों तथा राज्य वित्त निगमों को इन्हें आवश्यक सहायता प्रदान करती रहनी चाहिए।

(2) ग्रामीण एवं लघु उद्योगों को विस्तार का अवसर प्रदान करने के लिए कमिटी ने यह सुझाव दिया था कि अनुरूप बड़े पैमाने के उद्योगों के उत्पादन की अधिकतम सीमा निश्चित कर दी जाय जिससे अधिक होनेवाली मांग की पूर्ति लघु-उद्योगों की वस्तुओं से ही की जानी चाहिए।

(3) सहकारिता के आधार पर संगठित लघु एवं ग्रामोद्योगों की वस्तुओं का न्यूनतम मूल्य सरकार द्वारा निश्चित कर लेना चाहिए। इस मूल्य से कम मूल्य पर बेचने में जो घाटा हो उसे राज्य द्वारा पूरा करना चाहिए।

(4) समिति ने यह सुझाव दिया कि बड़े उद्योगों पर एक विशेष प्रकार का उत्पादन शुल्क लगाया जाय जिससे प्राप्त आय लघु एवं कुटीर उद्योगों के सहायतार्थ व्यय की जाय। इस प्रकार के शुल्कों के निम्नलिखित तीन उद्देश्य होने चाहिए: (क) छोटे पैमाने के उद्योगों के पुनरुत्थान के लिए धन एकत्र करना, (ख) मूल्य-वृद्धि के फलस्वरूप बड़े उद्योगों को प्राप्त अधिक लाभ को लेना तथा (ग) छोटी मात्रा में उत्पादन करने वालों के हित में मूल्य में अन्तर करना।

(5) समिति ने केन्द्र में ग्रामीण एवं लघु-उद्योगों के लिए एक पृथक् मन्त्रालय की स्थापना का सुझाव दिया था।

उपरोक्त सिफारिशों के आधार पर कर्वे समिति ने द्वितीय योजनाकाल में कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए एक विस्तृत कार्यक्रम तैयार किया तथा योजनाकाल में इस मद में 60 करोड़ रुपये व्यय की सिफारिश की, किन्तु योजना आयोग ने द्वितीय योजनाकाल में कुटीर एवं लघु-उद्योगों के लिए केवल 200 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन किया था। द्वितीय योजनाकाल में इस मद में वास्तविक व्यय 180 करोड़ रुपये ही हुआ।

### द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कुटीर एवं लघु उद्योगों की प्रगति

(Progress of Cottage and Small Scale Industries in the Second Five Year Plan)

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। 30 अप्रैल, 1956 ई० को भारत सरकार ने अपनी नयी औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसमें इस बात पर जोर दिया



गया कि भारत सरकार कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास के लिए उचित प्रोत्साहन प्रदान करेगी। साथ ही, योजनाकाल में अतिरिक्त रोजगार प्रदान करने के लिए भी कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास पर अधिक जोर देना अनिवार्य बतलाया गया। उपरोक्त बातों को ध्यान में रखते हुए द्वितीय योजनाकाल में कुटीर एवं लघु-उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के निम्नलिखित तीन तरीके अपनाये गये :

(1) बड़े पैमाने के उद्योगों के उत्पादन की मात्रा पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और उससे अधिक होनेवाली माँग की पूर्ति लघु तथा कुटीर उद्योगों से की जाने लगी। इस प्रकार की सिफारिश कर्वे समिति द्वारा ही की गयी थी।

(2) बड़े पैमाने के उद्योगों की वस्तुओं पर विशेष उत्पादन कर लगाये गए तथा इन करों से प्राप्त आय से ग्रामीण एवं लघु-उद्योगों को सहायता देने की व्यवस्था की गयी।

(3) द्वितीय योजनाकाल में कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास के लिए सरकार ने इन्हें प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता भी प्रदान की। लघु-उद्योगों को विभिन्न प्रकार की सहायता प्रदान करने के लिए औद्योगिक संस्थानों (Industrial Estates) की स्थापना का कार्यक्रम अपनाया गया। योजनाकाल में 11.6 करोड़ के व्यय से इस प्रकार के 60 औद्योगिक संस्थान स्थापित किये गये। साथ ही, द्वितीय योजनाकाल में अतिरिक्त श्रम-शक्ति का सृजन होगा उसके लिए अधिक मात्रा में आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं की माँग की पूर्ति कुटीर एवं लघु-उद्योगों को बढ़ाकर ही करने की व्यवस्था थी।

द्वितीय योजनाकाल में कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास पर 200 करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन था, किन्तु योजनाकाल में इस मद में वास्तविक व्यय 180 करोड़ रुपये ही हुआ जिसका विभिन्न मदों में वितरण पृष्ठ 365 की तालिका से स्पष्ट है।

इसके अतिरिक्त विस्थापितों के पुनर्वास कार्यक्रम के अन्तर्गत 11 करोड़ रुपये कुटीर एवं लघु-उद्योगों तथा औद्योगिक कर्ज के लिए और 7 करोड़ रुपये प्रशिक्षण के लिए खर्च की व्यवस्था थी। सामुदायिक विकास कार्यक्रम में भी द्वितीय योजनाकाल में अम्बर चर्खे के प्रचार पर पूरा-पूरा जोर दिया गया था। कर्वे समिति ने देश में अम्बर चर्खे के प्रचार पर पूरा जोर दिया था। भारत सरकार द्वारा मार्च, 1946 ई० में नियुक्त अम्बर चर्खा कमिटी ने भी इस आशय का सुझाव दिया था कि देश में सूत कातने के लिए अम्बर चर्खे के प्रयोग को प्रोत्साहित

किया जाय। अम्बर चर्खे के प्रचार द्वारा हस्त-कर्षा उद्योग की मिलों पर सूत के लिए निर्भरता कम हो जायगी। साथ ही, इससे बहुत-से लोगों को रोजी भी मिलेगी। फलतः सरकार ने 1956-57 ई० में 4 करोड़ रुपये ऋण एवं अनुदान से 75 हजार अम्बर चर्खों के वितरण का एक कार्यक्रम स्वीकृत किया। जून 1961 ई० तक देश में कुल प्रायः 38 लाख अम्बर चर्खे वितरित किये। तृतीय योजनाकाल में 3 लाख अतिरिक्त अम्बर चर्खे के वितरण तथा 2.5 लाख पुराने अम्बर चर्खे को अधिक प्रभावपूर्ण तरीके से काम में लाने की व्यवस्था थी।

कुटीर एवं लघु उद्योगों के सहायतार्थ 1955 ई० में एक राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम (National Small Industries Corporation) की स्थापना की गयी। यह लघु-उद्योगों को विभिन्न प्रकार से सहायता प्रदान करता है। 1961 ई० तक निगम ने सरकार से 8 करोड़ रुपये के लघु-उद्योगों की वस्तुओं का आर्डर प्राप्त किया था। यह निगम लघु-उद्योगों को किस्त पर यन्त्र भी प्रदान करता है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत निगम ने 1962-63 ई० के प्रथम 8 माह में 10.6 करोड़ रुपये की मशीनें किस्त पर दी थीं। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा कानपुर में चार सहायक निगम भी स्थापित किये गये हैं।

### तृतीय पंचवर्षीय योजना में कुटीर एवं लघु-उद्योग-धन्धों की प्रगति

(Progress of Cottage and Small Scale Industries in the Third Five Year Plan)

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया था। इन उद्योगों ने रोजगार बढ़ाने, उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करने तथा आय के वितरण को अधिक न्यायोचित बनाने में यथोचित सहयोग प्रदान किया। तृतीय पंचवर्षीय योजना में इन बातों का और भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। अतएव तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास पर पूरा-पूरा जोर दिया गया था। इन उद्योगों के द्वारा रोजगार की अधिकाधिक मात्रा में व्यवस्था होगी तथा उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में भी वृद्धि होगी।

योजना आयोग के अनुसार तृतीय योजनाकाल में ग्रामीण एवं लघु-उद्योग सम्बन्धी कार्यक्रम के निम्नलिखित प्रधान उद्देश्य थे :

(i) इन उद्योगों में लगे हुए कारीगरों की उत्पादन क्षमता में वृद्धि करना और उन्हें अधिक कार्यकुशल बनाने, यांत्रिक परामर्श देने एवं अच्छे-अच्छे औजार तथा ऋण आदि की सहायता देकर उत्पादन व्यय को कम करना;



(ii) ग्रामीण क्षेत्रों एवं छोटे-छोटे शहरों में इन उद्योगों को प्रोत्साहित करना; -

(iii) आर्थिक सहायता, विक्रय में छूट तथा आश्रय प्राप्त-बाजार (Sheltered markets) में धीरे-धीरे कमी लाना;

(iv) बड़े पैमाने के उद्योगों के सहायक के रूप में लघु-उद्योगों को विकसित करना; तथा

(v) कारीगरों के मध्य सहकारी समितियों का संगठन।

**नीति एवं उपाय (Policy and Measure) :—** ग्रामीण एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए तृतीय पंचवर्षीय योजना में बहुत सारे प्रयास किये गये जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं :—योजनाकाल में कारीगरों के प्रशिक्षण के लिए विशेष सुविधा प्रदान करने की व्यवस्था थी। वित्तीय कठिनाइयों को दूर करने के लिए योजनाकाल में लघु एवं कुटीर उद्योगों को ऋण देने की सुविधाओं में और अधिक विस्तार किया गया। तृतीय योजनाकाल में गांवों एवं छोटे-छोटे शहरों में विशेषतः अविकसित क्षेत्रों में कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास को विशेष रूप से प्रोत्साहित करने का आयोजन था। योजनाकाल में इन उद्योगों को दी जानेवाली सरकारी सहायता, विक्रय कर में छूट आदि में क्रमशः कमी करने पर भी जोर दिया गया था। तृतीय योजना काल में कारीगरों के मध्य औद्योगिक सहकारी समितियों (Industrial Co-operative Societies) की स्थापना पर भी विशेष रूप से जोर दिया गया था।

तृतीय योजनाकाल में ग्रामीण तथा लघु-उद्योगों के विकास पर कुल 264 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि वास्तविक व्यय 240.7 करोड़ रुपये हुआ। इसका विभिन्न मर्दों में वितरण अगले पृष्ठ की तालिका से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त सामुदायिक विकास कार्यक्रम, विस्थापित लोगों के पुनर्वास तथा पिछड़े वर्गों के कल्याण आदि कार्यक्रम के अन्तर्गत भी ग्रामीण-उद्योगों के लिए अतिरिक्त रकम उपलब्ध होने की आशा थी। साथ ही, तृतीय योजनाकाल में कुटीर एवं लघु उद्योगों पर निजी क्षेत्र (Private sector) में लगभग 275 करोड़ रुपये विनियोग किया गया था।

**विकास के कार्यक्रम (Programmes for Development) :—** तृतीय योजनाकाल में कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। इसके परिणामस्वरूप विकेन्द्रित क्षेत्र में कपड़े का उत्पादन 1960-61 में 207 करोड़ मीटर से बढ़कर 1965-66 ई० में 305 करोड़ मीटर हो गया। 1965-66 ई० में 12 करोड़ रुपये के हस्त-

करघा के कपड़ों का विदेशों में निर्यात भी किया गया था। 1966-67 ई० में 173 करोड़ रुपये की हस्तकला (Handicrafts) की वस्तुओं का उत्पादन हुआ था तथा 1968-69 ई० में 76.5 करोड़ रुपये की हस्तकला की वस्तुओं का निर्यात किया गया था।

1960-61 ई० तक 66 औद्योगिक संस्थान (Industrial estates) स्थापित किये गये थे। तृतीय योजनाकाल में 300 और औद्योगिक संस्थान स्थापित करने का आयोजन था। मार्च 1969 ई० तक देश में कुल 346 औद्योगिक संस्थान हो गये।<sup>1</sup>

लघु उद्योगों के विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत कुछ चुने हुए छोटे-छोटे शहरों एवं ग्रामीण क्षेत्रों में इनके विकास को प्रोत्साहन देने पर विशेष जोर दिया गया था। तृतीय योजनाकाल में खादी ग्रामोद्योग आयोग (Khadi and Village Industries Commission) द्वारा इस प्रकार के 3 हजार चुने हुए क्षेत्र, यानी ग्राम इकाइयों की स्थापना की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त साख, विपणन आदि की सुविधाओं में भी योजनाकाल में विस्तार किया गया था। सरकार ने 1962-63 में 30.2 करोड़ रुपये के लघु उद्योगों की बनी वस्तुओं का क्रय किया था। राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम द्वारा भी उद्योगों को किस्त पर विभिन्न प्रकार के यन्त्र आदि दिये जा रहे हैं। तृतीय योजनाकाल में नारियल जटा उद्योग तथा रेशम उद्योग के विकास पर विशेष जोर दिया गया था।

तृतीय योजनाकाल में कुटीर एवं लघु-उद्योगों के क्षेत्र में किये गये प्रयत्नों के फलस्वरूप कुल प्रायः 80 लाख अतिरिक्त व्यक्तियों को आंशिक रूप से (Part time) तथा 10 लाख व्यक्तियों को पूर्ण रूप से (Whole time) रोजगार प्राप्त होने की आशा थी।

**तीन वार्षिक योजनाओं (Annual Plans)—1966-69 के अन्तर्गत कुटीर तथा लघु उद्योगों के विकास की मद में कुल 132 करोड़ रुपये व्यय किया गया था। इस अवधि में इनके उत्पादन में भी आशातीत वृद्धि हुई।**

**चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में लघु एवं कुटीर उद्योग-धन्धों की प्रगति**

(Progress of Cottage and Small Scale Industries in the Fourth Five Year Plan)

चतुर्थ योजना में भी कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया था। योजनाकाल में कुछ प्रमुख उपभोक्ता उद्योगों को ग्रांथासम्भव विकेन्द्रित करने का प्रयास किया जाने को था। इस उद्देश्य से कुछ



उद्योगों के सम्पूर्ण अथवा एक महत्वपूर्ण भाग को कुटीर एवं लघु-उद्योगों के लिए सुरक्षित कर दिया गया।

चतुर्थ योजनाकाल में कुटीर एवं लघु उद्योगों के

पंचवर्षीय योजनाओं में कुटीर एवं लघु उद्योगों पर व्यय (करोड़ रुपये) <sup>1</sup>

| मद                                          | द्वितीय योजना का व्यय | तृतीय योजना का व्यय | 1966-69 में व्यय | चतुर्थ योजना में व्यय | पाँचवीं योजना में व्यय | छठी योजना में आयोजन |
|---------------------------------------------|-----------------------|---------------------|------------------|-----------------------|------------------------|---------------------|
| 1. हस्त-करघा एवं शक्ति द्वारा प्रचालित करघा | 31.7                  | 26.9                | 18.6             | 32.5                  | 82.1                   | 286.0               |
| 2. खादी, अम्बर खादी एवं ग्रामोद्योग         | 82.4                  | 89.3                | 55.4             | 102.7                 | 126.4                  | 290.0               |
| 3. रेशम के कीड़े पालने का उद्योग            | 3.1                   | 4.4                 | 3.8              | 8.4                   | 19.2                   | 70.0                |
| 4. नारियल जटा उद्योग                        | 2.0                   | 1.8                 | 1.2              | 4.5                   | 5.6                    | 17.0                |
| 5. हस्त-शिल्प (Handicrafts)                 | 4.8                   | 5.3                 | 4.5              | 6.2                   | 14.9                   | 57.0                |
| 6. लघु उद्योग                               | 44.4                  | 86.1                | 39.4             | 70.3                  | 121.9                  | 545.0               |
| 7. औद्योगिक संस्थान                         | 11.6                  | 22.1                | 7.6              | 15.7                  | 17.6                   | 45.0                |
| 8. ग्रामीण उद्योग-सम्बन्धी अन्य कार्यक्रम   | ....                  | 3.8                 | 6.6              | 10.1                  | ....                   | ....                |
| अन्य                                        | ....                  | ....                | ....             | 0.7                   | ....                   | ....                |
| कुल                                         | 180.0                 | 240.7               | 132.1            | 251.00                | 387.7                  | 1410.0              |

इनके अतिरिक्त इस मद में निजी क्षेत्र में 500 करोड़ रुपये विनियोग की आशा थी। साथ ही, योजनाकाल में सामुदायिक विकास कार्यक्रम, विस्थापित लोगों के पुनर्वास तथा विशेष क्षेत्रों के विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत भी इस मद में कुछ रकम व्यय की जाने को थी।

चतुर्थ योजनाकाल में कुटीर एवं लघु उद्योगों को बड़े पैमाने पर वित्तीय सहायता प्रदान करने का आयोजन था। उत्पादन के तकनीक में सुधार पर भी पर्याप्त जोर देने की व्यवस्था थी। इसी प्रकार कच्चे पदार्थों की पूर्ति, नये यंत्र आदि पर जोर दिया गया था। औद्योगिक सहकारी समितियों के निर्माण पर भी पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया। योजनाकाल में विकेन्द्रित क्षेत्र के कपड़े के उत्पादन को 1960-61 में 360 करोड़ मीटर से बढ़ाकर 1973-74 में 425 करोड़ मीटर करने का आयोजन था। किंतु योजना के अन्त में इसका उत्पादन 365 करोड़ मीटर ही हुआ। साथ ही, 17 करोड़ रुपये के मूल्य के वस्त्र का निर्यात भी हुआ। चतुर्थ योजनाकाल में नये औद्योगिक संस्थानों की स्थापना नहीं कर वर्तमान संस्थानों को ही अधिक सुदृढ़ बनाने पर जोर दिया गया।

चतुर्थ योजनाकाल में विनियोग की उपरोक्त रकम के आधार पर ऐसा अनुमान लगाया गया था कि इन कार्यों से पर्याप्त व्यक्तियों को अधिक समय के लिए अथवा आंशिक रूप से तथा कुछ व्यक्तियों को पूर्ण काल के लिए रोजगार मिलेगा।

विकास पर सार्वजनिक क्षेत्र में 293 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। किन्तु वास्तविक व्यय लगभग 250 करोड़ रुपये हुआ। विभिन्न मदों में इसका वितरण निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

### पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धे

(Cottage and Small Scale Industries in the Fifth Five Year Plan)

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धों को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। योजना में यह कहा गया था कि देश में आज भी बहुत बड़ी संख्या में लोग हस्तकरघा एवं खादी आदि परम्परागत उद्योगों पर आश्रित हैं तथा ये निर्धनता की सीमा से नीचे रह रहे हैं। ...अतएव योजनाकाल में इन उद्योगों के विकास का प्रधान उद्देश्य रोजगार के अवसरों तथा इनकी कुशलता में वृद्धि के द्वारा इनकी स्थिति में सुधार लाना था। (A significantly large number of person already dependent upon traditional industries like handloom, sericulture, coir, Khadi and village industries are living below the poverty line.... Therefore, the principal objectives of the programme for development of different small industries in the Fifth plan are to facilitate the attainment of some of the major tasks for the removal of poverty and inequality in consumption standards of these persons through creation of large scale employment and addi-



tional productive employment and improvement of their skills so as to improve their level of earning.)

इस उद्देश्य से पाँचवीं योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में लघु एवं ग्राम उद्योगों के विकास के लिए 610 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था लेकिन वास्तविक व्यय चार

वर्षों (1974-78) में प्रायः 387.7 करोड़ रुपये हो गया। इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्र में भी इस मद में पर्याप्त रकम के व्यय की आशा है। पाँचवीं योजना में ग्रामीण तथा लघु उद्योगों के कुछ लक्ष्य निर्मांकित तालिका से स्पष्ट हैं :—

पाँचवीं एवं छठी योजना में ग्रामीण एवं लघु-उद्योगों के लक्ष्य

| मदें                                              | 1973-74     | 1977-78     | 1982-83  |
|---------------------------------------------------|-------------|-------------|----------|
| 1. सूती-वस्त्र (हस्त-कर्षा, शक्ति-कर्षा तथा खादी) | में उत्पादन | में उत्पादन | (आयोजित) |
| करोड़ मीटर में :                                  | 365.0       | 520.0       | 760.0    |
| 2. कच्चा रेशम (लाख किलो ग्राम)                    | 31.0        | 35.4        | 62.5     |
| 3. रेशमी वस्त्र निर्यात (करोड़ रुपये में)         | 12.5        | 27.0        | 51.0     |
| 4. खान एवं ग्रामोद्योग                            | ....        | 270.0       | 2561.0   |
| 5. हस्त-शिल्प एवं लघु उद्योग                      | 125.0       | 670.0       | 2670.0   |

निष्कर्ष :—इस प्रकार कुटीर एवं लघु उद्योगों को सरकार द्वारा बहुत सारी सुविधाएँ प्रदान की जा रही हैं। इनमें तकनीकी एवं आर्थिक परामर्श की सुविधा, प्रशिक्षण की सुविधा, आवश्यक कच्चे पदार्थों की पूर्ति की समस्या तथा

निर्यात-विकास सम्बन्धी सुविधाएँ आदि उल्लेखनीय हैं। इससे इन उद्योगों को बहुत अधिक विकास हुआ तथा आजकल कुल औद्योगिक उत्पादन का 38 प्रतिशत भाग लघु उद्योगों से ही प्राप्त होता है।

छठी पंचवर्षीय योजना में कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्दे

(Cottage & Small Scale Industries in the Sixth Five Year Plan)

रोजगार में वृद्धि के उद्देश्य से छठी पंचवर्षीय योजना में कुटीर एवं लघु उद्योगों को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। योजनाकाल में इन उद्योगों के विकास के लिए विविध प्रयत्नों की व्यवस्था है। इस उद्देश्य से सर्व-प्रथम तो इन क्षेत्रों के उद्योगों के लिए औद्योगिक उत्पादन के कुछ क्षेत्रों को सुरक्षित (reservation) कर दिया जायगा। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक जोर हस्तकर्षा पर दिया गया है। इस उद्योग को सबल बनाने के लिए मिल उद्योग के विकास को विशेष रूप से सीमित करने पर जोर है। दिसम्बर, 1977 की औद्योगिक नीति में कुटीर एवं लघु उद्योगों को विशेष रूप से महत्व दिया गया है।

छठी योजना में देश के प्रत्येक जिला में एक District Industries Centre की स्थापना की जायगी जहाँ पर कुटीर उद्योगों के विकास के लिए सभी आवश्यक सहायता जैसे—तकनीकी एवं विपणन सहायता, साख, कच्चे पदार्थ इत्यादि सुगमतापूर्वक उपलब्ध हो सकती है।

इन उद्योगों की वस्तुओं को विभिन्न प्रकार के करों से भी छूट देने की व्यवस्था है। छठी पंचवर्षीय योजना की रूप-रेखा के अनुसार योजनाकाल में (1978-83) में इन उद्योगों के विकास के लिए 1410 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है जिसका विभिन्न मदों में वितरण पिछले पृष्ठ की तालिका से स्पष्ट है। पाँचवीं योजना में इस मद में वास्तविक व्यय चार वर्षों में 388 करोड़ रुपये ही था। दूसरे शब्दों में, पाँचवीं योजना की तुलना में छठी योजना में प्रायः चार गुनी अधिक रकम के व्यय का आयोजन है। इसके अतिरिक्त इन उद्योगों को सहायता प्रदान करने के लिए राज्य स्तर की वित्तीय संस्थाओं को विषम रूप से सबल बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इन उद्योगों के वस्तुओं की विपणन व्यवस्था के लिए सहकारी समितियों को आयोजित महत्व देने का आयोजन है। इसी प्रकार योजना काल में महत्वपूर्ण मदों में उत्पादन के लक्ष्य का अन्दाजा भी निर्मांकित तालिका से स्पष्ट हो जाता है:



## लघु एवं ग्रामीण उद्योगों के उत्पादन का लक्ष्य

| सर्वे                              | इकाई            | 1977-78 में<br>उत्पादन | 1982-83 में<br>उत्पादन |
|------------------------------------|-----------------|------------------------|------------------------|
| 1. हस्त कर्षा उद्योग               | करोड़ मीटर      | 230.0                  | 370.0                  |
| 2. शक्ति कर्षा                     | " "             | 290.0                  | 390.0                  |
| 3. खादी एवं ग्रामोद्योग            | करोड़ रुपये में | 270.0                  | 2561.0                 |
| 4. लघु उद्योग एवं औद्योगिक संस्थान | " "             | 6700.0                 | 26,700.0               |
| 5. हस्तकला                         | " "             | 550.0                  | 800.0                  |
| 6. रेशम के धागे का उद्योग          | लाख किलो ग्राम  | 35.0                   | 62.5                   |

इस प्रकार छठी योजना में कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास को विशेष महत्त्व दिया गया है।

## विशेष अध्ययन-सूची

1. Kuchchal, S. C. : The Industrial Economy of India.
2. Dhar, P. N. : Small Scale Industries.
3. First, Second, Third, Fourth & Fifth Year Plans of India.
4. Report of the Village and Small Scale Industries Committee.
5. Report of the International Perspective Planning Team.



## अध्याय : 33

### भारत के कुछ प्रमुख संगठित उद्योग-धन्धे (Some Important Organised Industries of India)

**प्राक्कथन**—भारत औद्योगिक दृष्टि से एक पिछड़ा देश है। यहाँ संगठित उद्योगों का विकास वास्तव में प्रथम महायुद्ध के बाद से ही प्रारम्भ हुआ है। 1975-76 ई० के भारतीय उद्योगों के सर्वेक्षण (Survey of Industries) के अनुसार 1975 के अंत में भारत में कुल 71,705 कारखाने थे जिनमें शक्ति वाले कारखानों में 10 से अधिक व्यक्ति तथा बगैर शक्तिवाले कारखानों में 20 से अधिक व्यक्ति कार्य करते थे। इनमें 14,029 करोड़ रुपये का स्थायी विनियोग हुआ था तथा प्रायः 64 लाख व्यक्तियों को रोजी मिली थी। इन्होंने 1517 करोड़ रु० मजदूरी तथा तनखाह के रूप में वितरित किया था। उस वर्ष इन कारखानों द्वारा कुल 29,867 करोड़ रुपये की वस्तुओं (ex-factory price) का निर्माण हुआ था तथा इन्होंने राष्ट्रीय आंग में कुल 6,387 करोड़ रुपये का योगदान किया था। इन कारखानों में से जिन 91 कारखानों में 5 हजार या इससे अधिक लोग कार्य करते थे, का कुल पूँजी में 43 प्रतिशत भाग हिस्सा था तथा निर्माण के कुल मूल्य का 17 प्रतिशत भाग इन कारखानों का था। कुल विनियोग की गयी पूँजी का ३१ भाग सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में लगा था जबकि इनका उत्पादन केवल 26.3 प्रतिशत भाग था जब कि निजी क्षेत्र के उद्योगों, जिनसे केवल 40 प्रतिशत पूँजी लगी थी, द्वारा 73.7 प्रतिशत भाग वस्तुओं का उत्पादन हुआ था। उस वर्ष इनमें 8521 करोड़ रुपये की कच्ची सामग्री आदि (Input) का प्रयोग हुआ था।

देश के प्रमुख संगठित उद्योगों में सूती-वस्त्र उद्योग, जूट उद्योग, लोहा एवं इस्पात उद्योग, चीनी उद्योग, सीमेंट उद्योग तथा रासायनिक उद्योगों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।<sup>1</sup> पाँच प्रमुख उद्योगों—रसायन, आधारभूत धातु, सूती-वस्त्र, बिजली तथा खाद्य-पदार्थ मिलकर कुल उत्पादन का प्रायः आधा भाग उत्पन्न करते हैं। आयोजन की अवधि के पूर्व सूती-वस्त्र का संगठित उद्योगों में प्रथम स्थान था, किन्तु अब सूती-वस्त्र उद्योग का इस दृष्टि से स्थान अब रसायन-तथा आधारभूत धातु के बाद तीसरा हो गया। देश के विभिन्न राज्यों में महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल, तमिलनाडु, गुजरात, उत्तर प्रदेश, बिहार, आन्ध्र प्रदेश, मध्यप्रदेश तथा कर्नाटक सबसे अधिक औद्योगिक राज्य हैं।

अब भारत के कुछ प्रमुख संगठित उद्योगों का निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

#### 1. लोहा एवं इस्पात-उद्योग (Iron and Steel Industry)

**प्राक्कथन** :—लोहा एवं इस्पात-उद्योग एक आधारभूत उद्योग (Basic Industry) है। अतः किसी देश के आर्थिक विकास में इस उद्योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत में अति प्राचीन काल से ही लोहे एवं इस्पात का निर्माण होते चला आ रहा है। भारत के इस प्राचीन धन्धे ने विश्व में उस समय बड़ी ख्याति प्राप्त कर ली थी। किन्तु कालान्तर से हमारा यह प्राचीन उद्योग आधुनिक प्रगति के समक्ष नहीं ठहर सका। फलस्वरूप आज हम इस उद्योग के क्षेत्र में अत्यन्त पिछड़े हैं तथा 1976 ई० में भारत विश्व के कुल इस्पात के उत्पादन का केवल 1.2 प्रतिशत भाग इस्पात ही उत्पन्न करता था। अमेरिका, ब्रिटेन तथा रूस आदि देशों की तुलना में हमारे देश में इस्पात का उत्पादन प्रायः नगण्य है। इस्पात की प्रति-व्यक्ति खपत, जो आज के युग में लोगों के भौतिक रहन-सहन के स्तर का द्योतक और राष्ट्र के औद्योगिक विकास का मापदण्ड है, 1976 ई० में भारत में केवल 14 कि० ग्राम था, जबकि जापान, संयुक्त-राज्य अमेरिका तथा रूस में इसकी प्रति व्यक्ति औसत खपत क्रमशः 691 कि० ग्राम, 680 कि० ग्राम तथा 546 कि० ग्राम थी। सोवियत रूस के बराबर भी इस्पात की प्रति-व्यक्ति खपत हासिल करने के लिए हमें देश की वर्तमान जनसंख्या के आधार पर 10 करोड़ टन इस्पात की प्रतिवर्ष आवश्यकता पड़ेगी जबकि हमारा वर्तमान उत्पादन 50 लाख टन के लगभग ही है।

**लोहा एवं इस्पात उद्योग का विकास (Development of the Iron and Steel Industry)** :— भारत के आधुनिक लोहा एवं इस्पात-उद्योग का वास्तविक इतिहास 1907 ई० से प्रारम्भ होता है जबकि बिहार के सिंहभूमि जिले के साकची नामक स्थान में स्वर्गीय जमशेदजी नौसेरवानजी टाटा द्वारा “टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी” की स्थापना हुई। 1911 ई० में इस कम्पनी ने सर्वप्रथम कच्चा लोहा तथा 1913 ई० में इस्पात उत्पन्न किया। तब से इस कारखाने का उत्तरोत्तर विकास होता रहा है और आज यह केवल भारत का सबसे बड़ा लोहे तथा इस्पात का कारखाना

1. India, 1976.



है। टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (TISCO) की सफलता ने भारत में लोहा उद्योग के विस्तार का द्वार खोल दिया। इसकी सफलता से प्रभावित हो 1918 ई० में आसनसोल के समीप हीरापुर में 'इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' की स्थापना हुई जो दक्षिणी भारत में लोहे एवं इस्पात का अभी तक एकमात्र कारखाना है। 1937 ई० में बर्नपुर के समीप 'स्टील कॉर्पोरेशन ऑफ बंगाल' की स्थापना हुई जिसे 1939 ई० में 'इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' (IISCO) में मिला दिया गया।

1914 ई० में प्रथम महायुद्ध (First World War) छिड़ जाने के कारण लोहा तथा इस्पात उद्योग को विकास का बड़ा अच्छा मौका मिला। युद्ध के कारण लोहे एवं इस्पात का आयात घट गया। दूसरी ओर देश में सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस्पात की मांग में वृद्धि के फलस्वरूप टाटा का इस्पात कारखाना 1916 ई० तक अपनी पूरी क्षमता भर काम करने लगा। युद्धकाल में टिस्को (TISCO) ने मेसोपोटामिया, फिलिस्तीन, पूर्वी अफ्रीका एवं अन्य युद्धस्थलों में सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बहुत बड़ी मात्रा में रेल की लाइनें एवं स्लीपर प्रदान किया। युद्धकाल में इसके उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। कच्चे लोहे का उत्पादन, जो 1900 ई० में 35 हजार टन था, 1914 ई० में 192 हजार टन तथा 1916 ई० में 222 हजार टन हो गया। 1916 ई० में इस्पात का उत्पादन 99 हजार टन था।

लोहा एवं इस्पात उद्योग को संरक्षण (Protection to the Iron and Steel Industry): युद्ध के उपरान्त अन्य उद्योगों की तरह लोहा एवं इस्पात-उद्योग को भी कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा जिससे 1923 ई० में इससे सरकार से संरक्षण की मांग की। भारत सरकार द्वारा नियुक्त प्रशुल्क मण्डल (Tariff Board) से इस उद्योग की स्थिति की जाँच की तथा सरकार से इस उद्योग को संरक्षण प्रदान करने की सिफारिश की। सरकार ने प्रशुल्क-मण्डल की सिफारिशों के आधार पर 1924 ई० में एक इस्पात-उद्योग संरक्षण विधेयक पारित किया जिसके अनुसार इस्पात से तैयार कुछ वस्तुओं पर आयात कर में वृद्धि की गयी। साथ ही, भारत में निर्मित भारी इस्पात की बनी रेलें, फिशप्लेटों एवं रेल के डब्बों पर आर्थिक सहायता (Bounty) प्रदान की गयी। 1924 से 1925 ई० के बीच इस प्रकार आर्थिक सहायता के रूप में कुल 242 लाख रुपये दिये गये। उस संरक्षण की अवधि 1927 ई० में समाप्त होने की थी, अतः 1926 ई० से पुनः प्रशुल्क-मण्डल द्वारा इस उद्योग की स्थिति की जाँच की गयी जिसने कुछ दिशाओं में सात वर्षों के लिए संरक्षण प्रदान करने की सिफारिश की। इन सिफारिशों के आधार पर 1927 ई० में एक भा० अ०—24

नया इस्पात-उद्योग संरक्षण विधेयक स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार सात वर्षों के लिए उद्योग को पुनः संरक्षण प्रदान किया गया। 1927 ई० के संरक्षण अधिनियम के द्वारा लगाये गये करों की कार्यविधि 31 अक्टूबर, 1933 ई० तक थी। इसी बीच 1933 ई० में प्रशुल्क मण्डल के द्वारा पुनः इस उद्योग की स्थिति की जाँच की गयी। मण्डल की सिफारिशों के आधार पर पुनः 1934 ई० में एक नया इस्पात-उद्योग संरक्षण अधिनियम पारित हुआ जिसे 1 नवम्बर, 1934 ई० से सात वर्षों के लिए लागू किया गया। इस संरक्षण की अवधि समाप्त होने के पूर्व ही 1939 ई० में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। अतः संरक्षण की अवधि को बढ़ाकर 1947 ई० तक कर दिया गया। उक्त अवधि के समाप्त होने पर प्रशुल्क-मण्डल द्वारा पुनः इस उद्योग की स्थिति की जाँच की गयी। मण्डल के अनुसार देश में इस्पात की पूर्ति की तुलना में माँग अधिक थी और कभी-कभी तो आयात किये गये इस्पात का मूल्य भारतीय इस्पात के मूल्य से अधिक होते थे। अतः मण्डल ने संरक्षण हटा लेने की सिफारिश की और 1 अप्रैल, 1947 ई० से लोहा एवं इस्पात उद्योग पर से संरक्षण हटा लिया गया।

इस प्रकार देश के इस्पात-उद्योग को प्रायः 23 वर्षों तक संरक्षण मिलता रहा। संरक्षण की यह नीति पूर्णतया निर्दोष एवं त्रुटिहीन नहीं कही जा सकती। वास्तव में, इंग्लैंड के प्रति अनुचित पक्षपात करने से संरक्षण द्वारा उद्योग को उतना लाभ नहीं हो सका जितना कि इससे लाभ होना चाहिए था। फिर भी, संरक्षण के फलस्वरूप इस उद्योग ने महत्वपूर्ण उन्नति की तथा इस्पात के उत्पादन में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। इस्पात का उत्पादन जो 1916 ई० में 99 हजार टन था, 1921 ई० में 126 हजार टन, 1929 ई० में 400 हजार टन तथा 1940 ई० में 848 हजार टन हो गया।

द्वितीय महायुद्ध एवं बाद की प्रगति (Progress of Steel Industry during and after the Second World War): द्वितीय महायुद्ध ने इस उद्योग की उन्नति एवं विकास में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया। युद्ध काल में विदेशों से इस्पात का आयात बन्द हो गया। साथ ही, रेल कम्पनियों तथा सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी इस्पात की माँग में पर्याप्त वृद्धि हुई। युद्धकाल में कई प्रकार की नयी-नयी वस्तुओं का उत्पादन भी प्रारम्भ हुआ। 1940 ई० में एक ह्वील टायर तथा एक्सेल की मशीन लगायी गयी; 1945 ई० में टाटा लोकोमोटिव एवं इंजीनियरिंग कम्पनी ने देश में ही रेल के इंजन तथा बायलर आदि बनाना प्रारम्भ किया। युद्धकाल में यह उद्योग अपनी माँग को पूरा करने में प्रायः असमर्थ रहा जिससे लोहा एवं इस्पात के मूल्य में वृद्धि होने लगी। अतः बाध्य होकर सरकार को 1944 ई०



में इसके उत्पादन एवं वितरण पर नियन्त्रण लगाना पड़ा। लोहे एवं इस्पात के उत्पादन में 1943 ई० तक तीव्र गति से वृद्धि हुई, किन्तु इसके बाद वृद्धि की गति मन्द पड़ गयी। अतः यह कहा जा सकता है कि यदि संरक्षण ने इस उद्योग में शक्ति का संचार किया तो द्वितीय महायुद्ध ने इसे विकास की गतिशीलता प्रदान की। किन्तु युद्ध की समाप्ति के बाद अनेक कारणों से इस उद्योग को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस संकटमय स्थिति के कारणों में से कुछ तो तत्कालीन परिस्थितियों से सम्बद्ध थे तथा कुछ उद्योग की आंतरिक दशाओं से। बाह्य कारणों में से मुद्रास्फीति का अत्यधिक दबाव, युद्धकालीन सामरिक आवश्यकता-सम्बन्धी माँग का समाप्त होना, देश-विभाजन तथा सरकार की असन्तोषजनक आर्थिक नीति प्रमुख आदि हैं। उद्योग की आंतरिक कठिनाइयों में मशीनों का पुराना एवं जर्जर होना, पूँजी का अभाव, कच्चे माल की कठिनाई, श्रम की उत्पादन-क्षमता में ह्रास तथा वेतन में वृद्धि आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

किन्तु, 1948 ई० के बाद पुनः उत्पादन में वृद्धि होने लगी और तब से यह प्रवृत्ति बराबर बनी रही है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

| उत्पादन (लाख टन में) |                                     |                                  |
|----------------------|-------------------------------------|----------------------------------|
|                      | इस्पात की पिण्डें<br>(Steel Ingots) | तैयार इस्पात<br>(Finished Steel) |
| 1950-51              | 15.0                                | 10.0                             |
| 1960-61              | 34.0                                | 24.0                             |
| 1965-66              | 65.0                                | 45.0                             |
| 1973-74              | 63.2                                | 48.9                             |
| 1977-78              | 97.0                                | 77.0                             |
| 1982-83 (आयोजित)     | 50.0                                | 118.0                            |

### लोहा तथा इस्पात उद्योग की वर्तमान स्थिति (Present Position of the Iron and Steel Industry)

इस प्रकार लोहा तथा इस्पात उद्योग भारत का एक प्रधान उद्योग है। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत इस उद्योग के विकास के बहुत सारे प्रयास किये जा रहे हैं जिससे इसके उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हो रही है।

इस समय देश में लोहा एवं इस्पात के निम्नलिखित प्रमुख उत्पादक हैं—

(1) टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (Tata Iron and Steel Company)—यह देश में लोहा एवं इस्पात

का सबसे बड़ा कारखाना है। टाटा कम्पनी को अपनी लोहा, कोयला, चूना-पत्थर तथा मैंगनीज आदि की खानें भी हैं। 1974-75 में इस कारखाने की वार्षिक उत्पादन-क्षमता 20 लाख टन इस्पात पिण्डों की थी। 160 करोड़ रुपये के अनुमानित व्यय से इसके विस्तारीकरण का एक कार्यक्रम चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कार्यान्वित किया गया जिससे इसकी उत्पादन-क्षमता अब 30 लाख टन इस्पात पिण्डों की हो गयी है।

(2) दूसरा कारखाना इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (Indian Iron and Steel Company) है जो 1918 ई० में स्थापित की गयी थी। इसके कारखाने हीरापुर एवं कुल्टी में हैं। 1974-75 में इसकी उत्पादन-क्षमता 10 लाख टन इस्पात पिण्डों की थी। लगातार पिछले कई वर्षों से उत्पादन-क्षमता से बहुत कम उत्पादन होने के कारण 1972 ई० में भारत सरकार ने इसकी व्यवस्था को अपने हाथों में ले लिया। अब सरकार ने इसका सरकारीकरण कर लिया है। इस प्रकार यह भी अब सरकारी क्षेत्र में आ गया है।

इनके अतिरिक्त सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) में लोहा एवं इस्पात के निम्नलिखित चार कारखाने स्थापित किये गये हैं—

(3) रूरकेला (Rourkela)—सार्वजनिक क्षेत्र में पहला कारखाना उड़ीसा के रूरकेला नामक स्थान में जर्मनी की क्रुप डीमाग (Krupp Demag) नामक कम्पनी के सहयोग से 117 करोड़ रुपये के अनुमानित व्यय से स्थापित किया गया है। यह ब्राह्मणी नदी पर स्थित है। इस कारखाने में इस्पात की चादरें तैयार की जाती हैं जिनका प्रयोग जलपोत एवं रेल के डिब्बों के निर्माण में किया जाता है। 1974-75 में इसकी उत्पादन-क्षमता 18 लाख टन इस्पात की पिण्डों की थी।

(4) भिलाई—दूसरा कारखाना रूस के सरकार के सहयोग से मध्य प्रदेश के भिलाई (Bhilai) नामक स्थान में 131 करोड़ रुपये के अनुमानित व्यय से स्थापित किया गया है। इस कारखाने को इस्पात के उत्पादन के लिए प्रायः सभी प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं; 1974-75 में इसकी उत्पादन-क्षमता 25 लाख टन इस्पात की पिण्डों की थी। पाँचवीं योजना में इस कारखाने की उत्पादन-क्षमता को बढ़ाकर 40 लाख टन इस्पात की पिण्डें करने का कार्यक्रम कार्यान्वित किया गया जो छठी योजना में पूरा होगा।

(5) दुर्गापुरी — रा कारखाना पश्चिमी बंगाल के दुर्गापुर नामक स्थान में 138 करोड़ रुपये के अनुमानित व्यय से एक ब्रिटिश कम्पनी के सहयोग से स्थापित किया गया है। 1973-74 ई० में इसमें 7.2 लाख टन इस्पात



की पिण्डों का उत्पादन हुआ था। इस कारखाने का भी विस्तारीकरण किया गया है जिसके अनुसार 1974-75 में इसकी क्षमता बढ़कर 16 लाख इस्पात की पिण्डों की हो गयी।

राजकीय क्षेत्र के इन तीन कारखानों की व्यवस्था हिन्दुस्तान स्टील लि० (Hindustan Steel Limited) नामक एक कम्पनी के द्वारा की जाती है जिसकी अधिकृत पूँजी (authorised capital) 600 करोड़ रुपये है जो पूर्ण रूप से भारत सरकार द्वारा प्रदान की गयी है। अब यह Steel Authority of India Limited (SAIL) की एक सहायक संस्था हो गयी है। सेल का प्रधान कार्य निजी तथा सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों के विकास की समन्वित करना है। सेल इस्पात के उत्पादन से सम्बन्धित अन्य सहायक कार्यों जैसे कच्चे पदार्थ—कोयला, मैंगनीज तथा खनिज लोहा के विकास का भी कार्य करता है।

(6) बोकारो इस्पात—सार्वजनिक क्षेत्र में चौथा लोहे एवं इस्पात का कारखाना बिहार के बोकारो में स्थापित किया गया है जिसकी संस्थापित उत्पादन-क्षमता 40 लाख टन स्टील इनगोट की है। रूस की सरकार के सहयोग से यह कारखाना स्थापित किया गया है। इसे दो स्तरों में कार्यान्वित किया जा रहा है—प्रथम स्तर का कार्य चतुर्थ योजना काल में पूरा गया जिसकी उत्पादन-क्षमता 17 लाख टन इस्पात की पिण्डें तथा 8.8 लाख टन फाउण्ड्री के लिए कच्चा लोहा की थी। 1974-75 तक इस मद में अनुमानित व्यय 1037 करोड़ रुपये था। पाँचवीं योजना में द्वितीय चरण का कार्य कार्यान्वित किया गया। इसकी व्यवस्था Bokaro Steel Ltd. नामक एक सरकारी कम्पनी द्वारा की जाती है जिसकी अधिकृत पूँजी 500 करोड़ रुपये है। यह कम्पनी भी SAIL की एक सहायक संस्था के रूप में कार्य करती है।

इसके अतिरिक्त मैसूर के भद्रावती नामक स्थान में Mysore Iron and Steel Works है जिसकी उत्पादन-क्षमता 85 हजार टन तैयार इस्पात की है।

इस्पात के नये कारखाने (New Steel Plants)—इनके अतिरिक्त चतुर्थ योजनाकाल (Fourth Five Year Plan) में दक्षिणी भारत में इस्पात के तीन नये कारखानों की स्थापना पर कार्य प्रारम्भ किया जाने को था। सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित किये जाने वाले इन तीन इस्पात के कारखानों में पहला आन्ध्र प्रदेश के विशाखापत्तनम (Visakhapatnam) तथा दूसरा कर्नाटक के विजयनगर नामक स्थान में स्थापित किये जायेंगे और इनमें नर्म इस्पात का उत्पादन होगा जबकि तीसरा कारखाना तमिलनाडु के सलेम (Salem) में होगा तथा यह विशेष प्रकार के इस्पात का उत्पादन करेगा। विशाखापत्तनम

तथा विजयनगर के कारखानों की क्षमता 30 लाख टन नर्म इस्पात तथा सलेम कारखाने की 19.5 लाख टन विशेष प्रकार के इस्पात के उत्पादन की होगी। इसके लिए Salem Steel Ltd. नामक एक कम्पनी की स्थापना की गयी है जो SAIL के सहायक के रूप में कार्य करती है। सलेम के कारखाने के प्रथम स्तर में छठी योजना के प्रारम्भ तथा अन्य दो कारखानों में छठी योजना के अंत में निर्माण-कार्य प्रारम्भ होने की आशा है।

वर्तमान समय में कुल इस्पात-उत्पादन में राजकीय क्षेत्र के कारखानों का हिस्सा 77 प्रतिशत तथा निजी क्षेत्र का 23 प्रतिशत भाग है। निजी क्षेत्र में अब केवल एक ही कारखाना टिस्को है जो कुल उत्पादन का प्रायः 23 प्रतिशत भाग इस्पात उत्पादन करता है।

सेल (Steel Authority of India Ltd.-SAIL):—राजकीय तथा निजी क्षेत्र के इस्पात के कारखानों के समन्वित विकास के लिए 1973 ई० में भारत सरकार ने स्टील ऑथरिटी ऑफ इण्डिया लि० नामक एक संस्था की स्थापना की जिसे सेल भी कहते हैं। अब सेल के जिम्मे राजकीय क्षेत्र के सभी इस्पात कारखानों तथा उनसे सम्बन्धित उद्योगों जैसे कोकिंग कोल, खनिज-लोहा, खनिज मैंगनीज तथा निजी क्षेत्र के कारखानों में भारत सरकार के हिस्से हैं। सेल निजी क्षेत्र के कारखानों में राजकीय क्षेत्र की वित्तीय संस्थाओं के प्रतिनिधि के रूप में भी कार्य करता है।

अब हिन्दुस्तान स्टील लि० तथा बोकारो स्टील लि० सेल की सहायक संस्था (subsidiary) के रूप में कार्य करते हैं।

इस प्रकार जून, 1974 में एक पृथक् संस्था SAIL International Limited की स्थापना की गयी जिसका प्रधान कार्य लोहा तथा इस्पात के सामानों के निर्यात को प्रोत्साहित करना है।

### इस्पात उद्योग की वर्तमान समस्याएँ

(Present Problems of the Steel Industry)

लोहा एवं इस्पात उद्योग के विकास के लिए भारत में प्रायः सभी प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं। देश की खानों में पर्याप्त मात्रा में अच्छे प्रकार के लोहे का भंडार है। लोहे की खानों के समीप ही कोयला, मैंगनी, चूना पत्थर तथा डोलोमाइट आदि आवश्यक पदार्थ प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। साथ ही, देश में लोहे एवं इस्पात का विस्तृत बाजार भी है जिसमें निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। फिर भी इस उद्योग की प्रगति में बहुत-सी समस्याएँ हैं<sup>1</sup> जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(1) मूल्य-सम्बन्धी कठिनाई—भारत में इस्पात का उत्पादन आवश्यकता से कम होता है, अतः विदेशों से इसका आयात करना पड़ता है। अब देश में उत्पन्न इस्पात का मूल्य आयात किए गये इस्पात की तुलना में कम होता है।



अतः दोनों प्रकार के इस्पात के मूल्यों को बराबर करने के लिए सरकार इस्पात के मूल्यों पर नियन्त्रण रखती थी तथा इस्पात का एक Retention Price तय करती थी। इसी मूल्य पर देश में इस्पात का विक्रय किया जाता था। किन्तु जिस मूल्य पर उपभोक्ता इस्पात खरीदते थे, वह मूल्य retention मूल्य से अधिक होता था। इन दोनों के अन्तर को एक Steel Equalisation Fund में रखा जाता था जिसका उपयोग इस्पात के उत्पादकों को उनके विकास एवं आधुनिकीकरण में सहायता देने में किया जाता था। सरकार की इस नीति के फलस्वरूप देश में इस्पात का मूल्य 1954 ई० से निरन्तर बढ़ते जा रहा था। वर्तमान समय में तो इस्पात की कीमत में बहुत अधिक वृद्धि हो गयी है।

(2) मेटालर्जिकल कोयले का अभाव (Lack of Metallurgical Coal)—भारत में मेटालर्जिकल कोयले का अभाव है। इस्पात के कारखानों में मुख्यतः मेटालर्जिक कोयले का ही उपयोग किया जाता है जिसकी हमारे देश में भारी कमी है। यह इस उद्योग के विकास में एक बहुत बड़ी कठिनाई है। अनुमान लगाया जाता है कि हमारे देश में मेटालर्जिकल कोयले का जो भंडार है, वह देश के लोहे के कुल भंडार के केवल  $\frac{1}{10}$  भाग को ही गला सकता है। वर्तमान समय में इस प्रकार के कोयले का कुल उत्पादन प्रायः 100 से 110 लाख टन है जबकि इस्पात के वर्तमान कारखानों की वार्षिक खपत लगभग 50 लाख टन है। शेष कोयला यों ही वर्बाद हो जाता है। अतएव हमें शीघ्रातिशीघ्र इस प्रकार के कोयले के संरक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए। किन्तु धुले हुए कोयले के प्रचार करने एवं अन्य साधनों से लोहा गलाने की पद्धति के फलस्वरूप यह कठिनाई कोई बहुत बड़ी नहीं जान पड़ती।

(3) विशेषज्ञों एवं आवश्यक यन्त्रों का अभाव (Lack of Technical Personal and Machinery)—लोहा एवं इस्पात उद्योग के लिए पर्याप्त मात्रा में विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ती है जिसका हमारे देश में अभाव है। साथ ही, इस उद्योग के लिए आवश्यक यन्त्रों का भी देश में बहुत बड़ा अभाव है। अतः इसके लिए हमें विदेशों पर आश्रित रहना पड़ता है। विदेशी-विनिमय सम्बन्धी वर्तमान कठिनाइयों के फलस्वरूप यह समस्या और भी जटिल हो गयी है।

(4) पूँजी की कमी (Lack of Capital)—लोहा एवं इस्पात उद्योग एक भारी उद्योग है, अतएव इसके लिए बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु भारत में पूँजी का अभाव है। प्राचीन कारखानों की औद्योगिक कुशलता को बनाये रखने के लिए इनका अभिनवीकरण (rationalisation) आवश्यक है। अभिनवीकरण कार्यक्रम के अन्तर्गत भी नयी-नयी मशीनों का प्रयोग अनिवार्य है जिसके लिए पूँजी की आवश्यकता

होगी। लोहा एवं इस्पात उद्योग के समक्ष यह एक प्रधान कठिनाई है। किन्तु आजकल नये कारखानों की स्थापना केवल सार्वजनिक क्षेत्र में ही हो रही है। साथ ही, निजी क्षेत्र के कारखानों को भी सरकार द्वारा विस्तार के लिए आवश्यक कर्ज आदि प्रदान किया जा रहा है।

(5) पूर्ण संस्थापित क्षमता का उपयोग नहीं होता (Steel Industry is operating below the installed capacity)—1969-70 में इस्पात के कुल कारखानों की उत्पादन क्षमता का केवल 67 प्रतिशत तथा 1977-78 में 73 प्रतिशत भाग का ही प्रयोग होता था। टाटा के कारखाने को छोड़कर, जो अपनी कुल संस्थापित क्षमता का 96 प्रतिशत भाग प्रयोग करता है, इस्पात के सभी उत्पादकों में पूर्ण क्षमता के बराबर उत्पादन नहीं किया जाता। दुर्गापुर के कारखानों में तो पूर्ण क्षमता के केवल 35 प्रतिशत भाग का ही उपयोग किया जाता है। अतएव इस्पात के नये कारखानों की स्थापना के पूर्व पुराने कारखानों की क्षमता के पूर्ण उपयोग की ही व्यवस्था की जानी चाहिए।

इनके अतिरिक्त मजदूरों की अधिकता तथा श्रम एवं पूँजी का असन्तोषजनक सम्बन्ध आदि भी इस उद्योग की कुछ प्रधान कठिनाइयाँ हैं। भविष्य में देश के औद्योगिक विकास के लिए लोहा एवं इस्पात उद्योग का विकास अनिवार्य है। अतः इस उद्योग की प्रमुख कठिनाइयों को दूर करना परमावश्यक है।

### पंचवर्षीय योजनाओं में लोहा एवं इस्पात उद्योग (Iron and Steel Industry in Five Year Plans)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद 1948 ई० में भारत सरकार ने अपनी प्रथम औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसके अनुसार लोहा एवं इस्पात उद्योग के विकास में सरकार का महत्वपूर्ण दायित्व है। 1956 ई० की औद्योगिक नीति में भी इस बात पर जोर दिया गया था कि इस उद्योग के विकास की जिम्मेवारी भविष्य में भारत सरकार की ही होगी। आधारभूत उद्योग होने के कारण भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में लोहा एवं इस्पात उद्योग के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया जा रहा है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में लोहा एवं इस्पात उद्योग की प्रगति (Progress of Iron and Steel Industry in the First Five Year Plan)—प्रथम योजनाकाल में देश में तैयार इस्पात (Finished steel) की वार्षिक प्रस्थापित उत्पादन क्षमता 1950-51 ई० में 10.5 लाख टन से बढ़कर 1955-56 ई० में 13 लाख टन हो गयी तथा इस्पात का उत्पादन 1950-51 ई० में 9.7 लाख टन से बढ़कर 1955-56 ई० में 12.7 लाख टन हो गया। इस प्रकार प्रथम योजनाकाल में इस्पात उद्योग की



संस्थापित क्षमता में 18 प्रतिशत तथा उत्पादन में 30.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई।<sup>1</sup> 15 जून, 1955 ई० को केन्द्र में एक पृथक् लोहा एवं इस्पात मंत्रालय की स्थापना की गयी।

**द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इस्पात उद्योग की प्रगति (Progress of Steel Industry in the Second Five Year Plan) :**—द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत दस-दस लाख टन इस्पात की पिढों की उत्पादन-क्षमता के तीन कारखाने राउरकेला, भिलाई तथा दुर्गापुर में स्थापित किये गये। राउरकेला तथा भिलाई के कारखानों को लौह-धातु प्रदान करने के उद्देश्य से तालदीह (Taldih) तथा ढलाई राजरा (Dhalai Rajhara) क्षेत्र की खानों का तथा दुर्गापुर के लिए गुआ क्षेत्र की खानों का विकास किया गया। इन कारखानों को कोयला प्रदान करने के उद्देश्य से दुर्गापुर एवं बोकारो में दो कोयला धुलने के कारखाने (coal washeries) भी स्थापित किये गये। सार्वजनिक क्षेत्र के तीनों कारखानों के सम्मिलित उत्पादन का लक्ष्य 1960-61 ई० में 30 लाख टन इस्पात था जबकि इनका वास्तविक उत्पादन 6 लाख टन ही हुआ।

निजी क्षेत्र में भी योजनाकाल में टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी तथा इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी दोनों का विस्तारीकरण किया गया जिसके फलस्वरूप इनकी सम्मिलित उत्पादन-क्षमता 13.5 लाख टन इस्पात से बढ़कर योजना के अन्त में 23 लाख टन (टाटा की उत्पादन क्षमता 15 लाख टन तथा इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी की 8 लाख टन) इस्पात हो गयी।

**तृतीय पंचवर्षीय योजना में लोहा एवं इस्पात उद्योग की प्रगति (Progress of Iron and Steel Industry in the Third Five Year Plan)**—तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में तैयार इस्पात के उत्पादन को 1960-61 ई० में 24 लाख टन से बढ़ाकर 1965-66 ई० में 68 लाख टन करने का आयोजन था। इसका अधिकतर भाग सरकारी क्षेत्र के कारखानों से प्राप्त करने का आयोजन था। योजनाकाल में सरकारी क्षेत्र में बिहार के बोकारो नामक स्थान में लोहा एवं इस्पात का चौथा कारखाना स्थापित करने की व्यवस्था थी, किन्तु इस कारखाने में चौथी योजना की अवधि में ही उत्पादन प्रारम्भ हुआ। योजनाकाल में भिलाई, राउरकेला तथा दुर्गापुर के कारखानों की उत्पादन-क्षमता में भी विस्तार का आयोजन था। साथ ही, टाटा कम्पनी तथा इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी की उत्पादन-क्षमता में भी विस्तार किया गया। किन्तु योजनाकाल में सरकारी क्षेत्र के तीनों कार-

खानों के विस्तार में विलम्ब हो गया। साथ ही, बोकारो के कारखाने की स्थापना में भी देर हुई जिससे तृतीय योजना का लक्ष्य पूरा नहीं हो सका तथा तैयार इस्पात का अनुमानित उत्पादन 1965-66 ई० में केवल 45 लाख टन ही हुआ।

तीनों वार्षिक योजनाओं (Annual Plans) में भी लोहा तथा इस्पात उद्योग के उत्पादन को बढ़ाने पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया था जिसके परिणामस्वरूप 1968-69 ई० में तैयार इस्पात का उत्पादन बढ़कर 47 लाख टन हो गया।

**चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में इस्पात उद्योग की प्रगति (Progress of Iron and Steel Industry in the Fourth Five Year Plan) :**—चतुर्थ योजना में तैयार इस्पात के उत्पादन को 1968-69 ई० में 47 लाख टन से बढ़ाकर 1973-74 ई० में 81 लाख टन करने का आयोजन था। इतने बड़े पैमाने पर इस्पात के लक्ष्य की पूर्ति के लिए वर्तमान कारखानों की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि की व्यवस्था थी। चौथी योजना में बोकारो कारखाने के प्रथम स्तर 17 लाख टन इस्पात के उत्पादन को पूरा करने का आयोजन था। चतुर्थ योजनाकाल में इस्पात के कारखानों के विस्तार के लिए 1034 करोड़ रुपये का व्यय प्रस्तावित था। इसमें से 680 करोड़ रुपये बोकारो के कारखाने पर व्यय करने की व्यवस्था थी। साथ ही, इस्पात के अन्य कारखानों के उत्पादन को बढ़ाने के लिए इनकी कुशलता में वृद्धि का आयोजन था। गैर-सरकारी क्षेत्र के कारखानों के विस्तार पर भी योजनाकाल में जोर दिया जाने को था। योजना के अन्तिम वर्ष में 10 लाख टन तैयार इस्पात तथा 15 लाख टन लोहा के निर्यात का आयोजन था। किन्तु चतुर्थ योजना के अन्त में इस्पात का उत्पादन 1973-74 में केवल 49 लाख टन ही हुआ।

चतुर्थ योजनाकाल में इस्पात के तीन नये कारखाने दक्षिणी भारत में स्थापित करने की व्यवस्था थी। किन्तु इस सम्बन्ध में योजनाकाल में कार्य प्रारम्भ नहीं हो सका।

**पाँचवीं योजना में लोहा तथा इस्पात उद्योग की प्रगति (Progress of Iron and Steel Industry in the Fifth Five Year Plan) :**—पाँचवीं योजना में लोहा तथा इस्पात उद्योग के विकास पर 1622 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। योजना के अन्त में 1978-79 तक 94 लाख टन तैयार इस्पात की माँग का अनुमान था। अतएव पाँचवीं योजना के कार्यक्रम इसी बात को ध्यान में रखकर तैयार किये गये थे। पाँचवीं योजनाकाल में भिलाई के कारखाने की क्षमता को बढ़ाकर 40 लाख टन तथा बोकारो की क्षमता को 47.5 लाख टन



करने की व्यवस्था थी। साथ ही, विशाखापत्तनम तथा विजयनगर के कारखानों की स्थापना में भी महत्वपूर्ण प्रगति का आयोजन था। योजनाकाल में टिस्को के विस्तार का भी आयोजन था। किन्तु इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति नहीं हो पायी।

छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan) में भी इस्पात उद्योग को विकास की उच्च प्राथमिकता प्राप्त है। योजनाकाल में इस्पात उद्योग के

विकास पर 2491 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है जिसके फलस्वरूप इस्पात की पिंडों का उत्पादन 1977-78 में 97 लाख टन से बढ़कर 1982-83 में 150 लाख टन हो जाने को है। योजनाकाल में इस्पात के कारखानों की क्षमता में पर्याप्त वृद्धि का आयोजन है।

निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> से पंचवर्षीय योजना में लोहा एवं इस्पात उद्योग की प्रगति का अन्दाजा लगता है—

|                  | 1960-61 | 1965-66 | 1968-69 | 1973-74 | 1977-78 | 1982-83 (लक्ष्य) |
|------------------|---------|---------|---------|---------|---------|------------------|
| तैयार इस्पात     | 24      | 45      | 47.0    | 49      | 77.0    | 118.0            |
| इस्पात की पिंडें | 34.2    | 65      | 65.0    | 63.2    | 97.0    | 150.0            |

निर्यात :—1976-77 में भारत से 238 करोड़ रुपये मूल्य का 240 लाख टन कच्चा लोहा तथा 283 करोड़ रुपये मूल्य के टन इस्पात का निर्यात हुआ था। स्पष्ट है कि पंचवर्षीय योजनाओं में इस्पात के उत्पादन में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हो रही है।

निष्कर्ष :—इस प्रकार इस्पात उद्योग देश का आधार-भूत उद्योग है तथा द्रुतगति से औद्योगीकरण इस्पात उद्योग के विकास पर ही निर्भर करता है। पिछले प्रायः 50 वर्षों में इस्पात के उत्पादन में पर्याप्त मात्रा में प्रगति हुई है, फिर भी यह प्रगति विश्व के प्रमुख देशों की तुलना में बहुत ही कम है जो निम्नांकित तालिका<sup>2</sup> से स्पष्ट है :—

| देश                   | इस्पात के उत्पादन में वृद्धि (लाख टन में) |                  | वृद्धि |
|-----------------------|-------------------------------------------|------------------|--------|
|                       | 1950 में उत्पादन                          | 1974 में उत्पादन |        |
| भारत                  | 16                                        | 55               | 39     |
| जापान                 | 53                                        | 1171             | 1118   |
| सोवियत संघ            | 298                                       | 1416             | 1118   |
| पश्चिमी जर्मनी        | 155                                       | 520              | 375    |
| ब्रिटेन               | 182                                       | 224              | 42     |
| संयुक्त राज्य अमेरिका | 968                                       | 1320             | 352    |
| कुल विश्व             | 2000                                      | 7100             | 5100   |

तालिका से स्पष्ट है कि भारत में इस्पात के उत्पादन में पिछले पच्चीस वर्षों में 3½ गुनी वृद्धि हुई है जबकि जापान के उत्पादन में इसी अवधि में 22 गुनी वृद्धि हुई है। इस शताब्दी के अन्त तक, यानी 2000 ई० तक देश में इस्पात के उत्पादन को बढ़ाकर 750 लाख टन करने का आयोजन है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के बाद इस शताब्दी के अन्त में इस्पात की प्रति व्यक्ति खपत के बढ़कर 94 कि० ग्राम० होने की आशा है।

## 2. सूती-वस्त्र उद्योग (Cotton Industry)

देश के संगठित उद्योगों में सूती-वस्त्र उद्योग का स्थान 1975-76 में उत्पादन के मूल्य की दृष्टि से तृतीय है, यद्यपि यह देश का सबसे बड़ा नियोजक है। 1974 ई० में भारत में कुल 691 सूती-वस्त्र के कारखाने (403 केवल बुनाई वाले तथा शेष 288 मिले-जुले) थे जिनमें कुल प्रायः 400 करोड़ रुपये से अधिक की पूंजी लगी हुई थी तथा लगभग 10 लाख मजदूर कार्य करते थे। इन कारखानों में 188.6 लाख तक्के तथा 2.08 लाख करघे थे। 1974 में सूत का उत्पादन 100 करोड़ कि० ग्रा० तथा सूती-वस्त्र का 408 करोड़ मीटर था। उस वर्ष विकेंद्रित क्षेत्र का उत्पादन 336 करोड़ मीटर था। पिछले कुछ वर्षों से सहकारी क्षेत्र में भी सूती-वस्त्र के कारखानों की संख्या बढ़ती जा रही है। इस प्रकार बुचानन के शब्दों में, “भारत का सूती-वस्त्र उद्योग देश के अतीत का गौरव, वर्तमान और भविष्य का संदेश, किन्तु सदैव आशा की वस्तु रही है।”<sup>3</sup>

भारत में आधुनिक सूती-वस्त्र उद्योग का विकास—आधुनिक भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग का आरम्भ 1854 ई० में हुआ जब एक पारसी उद्योगपति श्री कावस जी डाबर ने बम्बई में ‘बॉम्बे स्पिनिंग कम्पनी’ नामक एक कारखाना स्थापित किया। आरम्भ में इस उद्योग की प्रगति बहुत ही शिथिल थी तथा 1861 ई० तक देश में सूती-वस्त्र के वारह कारखाने थे। 1879 ई० में देश में कुल 56 सूती-वस्त्र की मिलें हो गयीं जिनमें 93 हजार करघे तथा 145 लाख तक्के काम करते थे। इन मिलों में उस वर्ष 43 हजार मजदूर कार्य करते थे। परन्तु ब्रिटिश शासन काल के आरम्भ में सरकार की नीति इस उद्योग को आर्थिक सहायता प्रदान करने के बजाय हतोत्साहित करने की ही थी। लंकाशायर के सूती-वस्त्र उद्योग की रक्षा के

1. Fifth Five Year Plan, 1974-79. 2. Eastern Economist : Annual Number, 1976-77.

3. As Buchanan observes, “For India cotton manufacture is ancient glory, past and present tribulation, but always a hope.”



लिए भारत में इंग्लैंड से आयात किये जानेवाले कपड़े एवं सूत पर से आयात कर हटा दिया गया। इतना ही नहीं, सरकार ने देश में निर्मित कपड़े पर 3 प्रतिशत का एक उत्पादन कर भी लगा दिया। इससे सूती-वस्त्र उद्योग को बहुत आघात पहुँचा।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में देश में स्वदेशी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ एवं लोगों ने विदेशी माल का बहिष्कार करना शुरू किया। इस आन्दोलन ने देश के सूती-वस्त्र उद्योग को बहुत अधिक प्रोत्साहित किया तथा 1913-14 ई० में देश में कुल 264 सूती-वस्त्र के कारखाने हो गये जिनमें 186 करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई थी तथा प्रायः 26 लाख श्रमिक कार्य करते थे। इन कारखानों में करघों तथा तकुओं की संख्या क्रमशः 99.7 हजार तथा 66.2 लाख थी। भारत का सूती-वस्त्र उद्योग अपने प्रारम्भिक काल में विशेष रूप से बम्बई में ही केन्द्रित था। आज भी सूती-वस्त्र उद्योग के क्षेत्र में इसका स्थान अद्वितीय है।

**प्रथम महायुद्ध एवं बाद की प्रगति :—**अन्य उद्योगों की तरह सूती-वस्त्र उद्योग को भी प्रथम विश्वयुद्ध ने बहुत अधिक प्रोत्साहन प्रदान किया। युद्ध के कारण विदेशी कपड़ों का आयात प्रायः समाप्त हो गया। साथ ही, देश में सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कपड़ों की माँग में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। युद्ध-जनित कारणों के फलस्वरूप 1917 ई० में इस उद्योग के लिए व्यापक एवं स्मरणीय अभिवृद्धि का काल प्रारम्भ हुआ तथा युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी 1922-23 ई० तक देश में इसका अबाध-गति से विकास होता रहा।<sup>1</sup> फलस्वरूप जहाँ 1899-1900 ई० में कपड़ों की कुल आवश्यकता का केवल 9% भाग भारतीय सूती-वस्त्र के कारखानों द्वारा पूरा किया जाता था, वहाँ 1921-22 ई० में इनके द्वारा कुल आवश्यकता का प्रायः 42 प्रतिशत भाग पूरा किया जाने लगा। इस काल में सूती-वस्त्र उद्योग को विशेष मुनाफा भी हुआ। किन्तु यह अभिवृद्धि बहुत समय तक नहीं ठहर सकी और 1922-23 ई० से इस उद्योग के लिए अवसाद एवं संकट का दीर्घकाल प्रारम्भ हुआ। बम्बई में इसका प्रभाव बहुत ही बुरा पड़ा। भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग अभी इसी अवसाद का सामना कर ही रहा था कि इसी बीच 1929 ई० की भयानक आर्थिक मन्दी ने इसकी कठिनाइयों को और भी बढ़ा दिया।

**सूती-वस्त्र उद्योग को संरक्षण :—**भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग को इन कठिनाइयों से मुक्त करने के लिए संरक्षण की माँग की जाने लगी। 1923 ई० में भारत सरकार ने विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminating Protection) की नीति को स्वीकार किया तथा 1927 ई० से सूती-वस्त्र उद्योग को संरक्षण प्रदान किया गया।

1939 में द्वितीय युद्ध के प्रारम्भ होने के समय तक संरक्षण चलता रहा। द्वितीय युद्धकाल में संरक्षण की अवधि को बढ़ा दिया गया। युद्ध-समाप्ति के बाद पुनः 1946 ई० में प्रशुल्क मंडल द्वारा सूती-वस्त्र उद्योग की स्थिति की जाँच की गयी। इस समय प्रमण्डल ने इस बात की सिफारिश की कि सूती-वस्त्र उद्योग को पुनः संरक्षण नहीं दिया जाय। प्रशुल्क-मण्डल की सिफारिशों के आधार पर 1947 ई० में सूती-वस्त्र उद्योग से संरक्षण हटा लिया गया। इस प्रकार भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग को कुल मिलाकर प्रायः 20 वर्षों तक संरक्षण मिला।

संरक्षण से भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला तथा इसके फलस्वरूप इस उद्योग की विशेष प्रगति हुई जो निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

|                                | 1926 | 1939  | प्रतिशत वृद्धि |
|--------------------------------|------|-------|----------------|
| कारखानों की संख्या             | 334  | 389   | 16.5           |
| तकुओं की संख्या<br>(लाख में)   | 87.1 | 100.6 | 15.4           |
| करघों की संख्या<br>(लाख में)   | 1.6  | 2.0   | 25.4           |
| मजदूरों की संख्या<br>(लाख में) | 3.7  | 4.3   | 15.2           |

**द्वितीय महायुद्ध में सूती-वस्त्र उद्योग (Cotton Mill Industry in the Second World War) :—**द्वितीय विश्व-युद्ध ने भारत के सूती-वस्त्र उद्योग को सुधार का एक सुनहरा अवसर प्रदान किया। युद्धकाल में जापान एवं इंग्लैंड से कपड़ों का आयात प्रायः समाप्त हो गया।

1941 ई० में जापान के युद्ध में प्रवेश करने के बाद भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग का पूर्व में प्रायः एकछत्र साम्राज्य हो गया। सरकार एवं पूर्वी दल द्वारा कपड़ों की माँग में बहुत वृद्धि हुई तथा आस्ट्रेलिया, मलाया, पश्चिमी एवं दक्षिणी अफ्रिका और अन्य एशियाई देशों में कपड़ों का निर्यात किया जाने लगा। इसके फलस्वरूप

1. प्रथम महायुद्ध काल में सूती-वस्त्र को विकास का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। इस अवसर से उद्योग ने लाभ भी उठाया जिसका अन्दाजा निम्नोक्त तालिका से लगाया जा सकता है :—

| वर्ष      | सूती-वस्त्र के कारखानों द्वारा | हस्त करघे द्वारा | आयात द्वारा |
|-----------|--------------------------------|------------------|-------------|
| 1899-1900 | 9%                             | 64%              | 27%         |
| 1921-1922 | 42%                            | 26%              | 32%         |

2. Report of the Fiscal Commission—1949-50



देश में कपड़े का अभाव हो गया एवं मूल्य-तल में भी अधिक वृद्धि हुई। 1943 ई० में मूल्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया और देश में सर्वत्र वस्त्र संकट व्याप्त हो गया। इसे दूर करने के लिए सरकार को नियन्त्रण की नीति अपनानी पड़ी। मूल्य-वृद्धि को रोकने तथा उत्पादन में वृद्धि के लिए 1943 ई० में केन्द्र में एक 'उद्योग एवं सिविल सप्लाई विभाग' की स्थापना की गयी और जून, 1943 ई० में 'टेक्सटाइल क्लाय एण्ड यार्न आर्डर' लागू किया गया। सरकार के सहयोग से कारखानों में जनता के लिए एक सस्ते वस्त्र (स्टैंडर्ड क्लाय) का निर्माण प्रारम्भ किया गया, किन्तु शीघ्र ही इस योजना को छोड़ देना पड़ा। मूल्य में अप्रत्याशित वृद्धि तथा उत्पादन बढ़ाने के विभिन्न प्रयत्नों को काम में लाने के फलस्वरूप कपड़े के उत्पादन में विशेष वृद्धि हुई और 1943-44 ई० में कपड़े का उत्पादन 487 करोड़ गज तथा सूत का उत्पादन 168 करोड़ पौण्ड हुआ, जो पिछले सभी वर्षों से अधिक था। किन्तु कपड़े की मांग भी निरन्तर बढ़ती जा रही थी। अतः कपड़े के अभाव को दूर करने के लिए 1944 ई० में कपड़ा तथा 1945 ई० में सूत के वितरण पर नियन्त्रण लगाया गया। कई कारणों से इस नियन्त्रण को जनवरी, 1948 ई० में हटा दिया गया, किन्तु इसके फलस्वरूप मूल्य में और अधिक वृद्धि हुई। अतएव पुनः जुलाई, 1948 ई० में कपड़े के उत्पादन एवं वितरण दोनों को नियन्त्रण के अन्तर्गत लाना पड़ा। 1952 ई० में कपड़े के उत्पादन में पुनः पर्याप्त वृद्धि हुई जिससे अप्रैल, 1952 ई० में फाइन तथा सुपरफाइन कपड़े पर पूर्ण रूप से तथा साधारण कपड़े के 80 प्रतिशत पर से नियन्त्रण हटा दिया गया। 1953 ई० में नियन्त्रण की नीति में और ढिलाई की गयी।

देश-विभाजन का सूती-वस्त्र उद्योग पर प्रभाव (Effects of Partition on the Cotton Mill Industry): देश-विभाजन का सूती-वस्त्र-उद्योग पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। विभाजन के फलस्वरूप 80-90 करोड़ गज कपड़े का बाजार, जो इसके पूर्व देशी बाजार का ही एक अंग था, भारत के हाथ से निकल गया। साथ ही, कपास उत्पन्न करने वाले क्षेत्र का अधिकतर भाग (लगभग 40 प्रतिशत भाग) पाकिस्तान में चला गया जबकि सूती-वस्त्र के कुल प्रायः 394 कारखानों में से 380 कारखाने भारत में ही रह गये। अतः भारतीय कारखानों को कपास की कमी का सामना करना पड़ा। इसके फलस्वरूप, जबकि अविभाजित भारत कपास का निर्यातक था, विभाजन के पश्चात् भारत मुख्य रूप से कपास का आयातक देश बन गया। देश में लम्बी रेशेवाली कपास का मुख्य तौर से अभाव हो गया। इस प्रकार विभाजन के बाद देश के सूती-वस्त्र उद्योग के समक्ष कपास, विशेषतः लम्बी रेशे-

वाली कपास प्राप्त करने की समस्या बहुत ही गम्भीर हो गयी। प्रारम्भ में पाकिस्तान के साथ राजनीतिक मन-मुटाव के कारण भी कपास प्राप्त करने में बहुत अधिक कठिनाई होने लगी। सितम्बर, 1949-ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन (पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन 1955 ई० में किया) ने इस कठिनाई को और भी उग्र बना दिया। इस समस्या के समाधान के लिए पाकिस्तान से कई व्यापारिक समझौते भी किये गये; किन्तु दुर्भाग्यवश वे सफल नहीं हो सके। किन्तु आजकल पंचवर्षीय योजनाओं में सरकार द्वारा देश में कपास के उत्पादन को बढ़ाने पर पूरा जोर दिया जा रहा है तथा इसमें कुछ सफलता भी मिली है। साथ ही, इस समस्या के तत्कालीन समाधान के लिए मिस्र आदि देशों से कपास का आयात भी किया जाता है।

### सूती-वस्त्र उद्योग की वर्तमान स्थिति

(Present Position of the Cotton Mill Industry)

भारत के सूती-वस्त्र उद्योग का देश के संगठित उद्योगों में सर्वप्रथम स्थान है। 1974 ई० में कुल 691 सूती-वस्त्र के कारखाने थे जिनमें 400 करोड़ रुपये से भी अधिक की पूँजी लगी थी तथा प्रायः 10 लाख मजदूर कार्य करते थे। इन कारखानों में 189 लाख तकुए तथा 2.08 लाख करघे थे। देश के सूती-वस्त्र के कारखानों द्वारा 1977-78 ई० में कुल 420 करोड़ मीटर कपड़े तथा 96 करोड़ कि० ग्राम सूत का उत्पादन हुआ था। इस प्रकार सूती-वस्त्र उद्योग के उत्पादन में निरन्तर वृद्धि हो रही है। निम्नांकित तालिका से गत कुछ वर्षों में इनके उत्पादन का अन्दाजा लगता है :-

| वर्ष             | सूत (करोड़ किलो) | सूती-वस्त्र<br>(करोड़ मीटर) |
|------------------|------------------|-----------------------------|
| 1950-51          | 63.4             | 340.1                       |
| 1955-56          | 74.4             | 466.5                       |
| 1960-61          | 80.1             | 464.6                       |
| 1965-66          | 90.7             | 440.1                       |
| 1968-69          | 95.9             | 459.7                       |
| 1973-74          | 100.0            | 408.0                       |
| 1977-78          | 96.0             | 420.0                       |
| 1982-83 (लक्ष्य) | 122.0            | 460.0                       |

उद्योग का विभिन्न राज्यों के बीच वितरण :- भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग का विभिन्न राज्यों के बीच वितरण बड़ा ही विषम एवं विचित्र है। कई कारणों से प्रायः आधे से अधिक कारखाने केवल गुजरात एवं महाराष्ट्र राज्यों में ही केन्द्रित हैं। इन राज्यों में भी अधिकांश कारखाने बम्बई एवं अहमदाबाद दो नगरों में ही मुख्यतः

### 1. India, 1976 & Fifth Five Year Plan.



केन्द्रित हैं। इसके बाद तमिलानाडु का स्थान है। इन राज्यों में सूती-वस्त्र के 98 कारखाने हैं। इनके अतिरिक्त पश्चिमी बंगाल में 50, उत्तर प्रदेश में 21, पंजाब एवं दिल्ली तथा करनाटक में 11, केरल में 20, आन्ध्र में 2 कारखाने तथा बिहार में दो कारखाने हैं। इस प्रकार अब सूती-वस्त्र उद्योग में महाराष्ट्र-गुजरात राज्य का एकाधिकार धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है तथा इसके कारखाने अन्य राज्यों में भी स्थापित किये जा रहे थे।

**आयात एवं निर्यात :—**प्रथम महायुद्ध के पूर्व भारत मुख्य रूप से कपड़े का आयातक था तथा प्रतिवर्ष ब्रिटेन एवं जापान से बहुत बड़ी मात्रा में कपड़े का आयात करता था। किन्तु प्रथम युद्ध के बाद धीरे-धीरे ब्रिटेन के आयात में कमी आने लगी और जापान ने उसके स्थान को ग्रहण करना आरम्भ किया। द्वितीय युद्धकाल में ब्रिटेन एवं जापान दोनों देशों से आयात प्रायः समाप्त हो गया। किन्तु युद्ध समाप्त होने के बाद पुनः आयात में वृद्धि होने लगी और 1945 ई० में देश में 11 करोड़ गज कपड़े का आयात हुआ था। तब से प्रतिवर्ष भारत में सूती-वस्त्र का आयात 10 करोड़ मीटर के लगभग होता आ रहा है। इस प्रकार आजकल सूती-वस्त्र का आयात प्रायः नगण्य है।

दूसरी ओर द्वितीय युद्ध ने भारत के कपड़े के निर्यात को प्रोत्साहित किया। 1938-39 ई० में यहाँ से कुल 17.7 करोड़ गज कपड़े का निर्यात हुआ था जो बढ़कर 1942 ई० में 106.1 करोड़ गज हो गया। यहाँ से कपड़े का निर्यात आस्ट्रेलिया, मलाया, पश्चिमी एवं दक्षिणी अफ्रीका तथा अन्य एशियाई राष्ट्रों को किया जाता था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी सूती-वस्त्र के निर्यात में वृद्धि के प्रयत्न किये जा रहे हैं। 1976-77 में 200 करोड़ रु० मूल्य का 56 करोड़ मीटर सूती-वस्त्र का निर्यात हुआ था।

पाँचवीं योजना के अन्त में, यानी 1978-79 ई० में सूती-वस्त्र के निर्यात का वार्षिक लक्ष्य 135 करोड़ मीटर रखा गया था। इस उद्देश्य से सूती-वस्त्र के कारखानों के आधुनिकीकरण पर पर्याप्त मात्रा में जोर देने की व्यवस्था थी। छठी योजना में भी निर्यात-संवर्द्धन की नीति को बढ़ाना आवश्यक है।

### भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग की प्रधान समस्याएँ (Main Problems of the Indian Cotton Mill Industry)

हमारे देश में सूती वस्त्र-उद्योग का भविष्य निश्चय ही आशाजनक है। देश की जनसंख्या द्रुतगति से बढ़ रही है। साथ ही, देश में योजनाकरण के द्वारा लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास भी किया जा रहा है। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप भविष्य में कपड़े की माँग में महत्वपूर्ण वृद्धि की आशा की जाती है। किन्तु इस

उद्योग के समक्ष आज अनेक कठिनाइयाँ हैं। सूती-वस्त्र-उद्योग को भविष्य में एक सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए इन समस्याओं का समाधान नितान्त आवश्यक है। वास्तव में, सूती-वस्त्र उद्योग के समक्ष आज निम्नांकित प्रमुख समस्याएँ हैं :—

(1) कच्चे माल यानी कपास का अभाव (Lack of Raw material-Cotton) :—कपास के सम्बन्ध में आज भी हमारा देश स्वावलम्बी नहीं हो पाया है। 1947 ई० में देश-विभाजन के फलस्वरूप भारत में कपास का, विशेषतः लम्बी रेशेवली कपास का अभाव हो गया। इस संबंध में सर्वाधिक दुःख की बात यह है कि विश्व की कुल कपास की खेती के क्षेत्र का 26 प्रतिशत भाग भारत में है किन्तु इसका उत्पादन विश्व के कुल उत्पादन का केवल 10 प्रतिशत भाग है। सूती-वस्त्र उद्योग को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए कपास की दृष्टि से स्वावलम्बन अनिवार्य है। इसी उद्देश्य से पंचवर्षीय योजनाओं में कपास के उत्पादन में वृद्धि पर विशेष जोर दिया जा रहा है। 1950-51 ई० में भारत के कपास के उत्पादन में केवल 29 लाख गाँठ तथा जो प्रथम योजना के अन्त में, 1955-56 ई० में बढ़कर 40 लाख गाँठ, 1960-61 ई० में 53 लाख गाँठ तथा 1965-66 में 48 लाख गाँठ ही हुआ। 1968-69 में यह 60 लाख गाँठ तथा 1973-74 में 65 लाख गाँठ हुआ। पाँचवीं योजना के अन्त में इसे बढ़ाकर 1978-79 तक 80 लाख गाँठ करने का आयोजन था।

(2) यन्त्रों एवं मशीनों के अभिनवीकरण की समस्या (Problem of modernisation of plants and machinery) :—द्वितीय युद्धकाल में सूती-वस्त्र के कारखानों में दो-दो अथवा तीन-तीन पालियों तक काम हुआ जिससे अधिकांश मशीनें प्रायः जीर्ण एवं वेकार हो गयीं, अतः एव इनका प्रतिस्थापन अनिवार्य है। किन्तु इसके लिए पर्याप्त साधन नहीं हैं। साथ ही, विदेशी प्रतियोगिता का प्रभावपूर्ण ढंग से सामना करने के लिए आधुनिक यंत्रों का प्रयोग भी अनिवार्य है। रूस, चीन तथा ब्रिटेन की मिलों में क्रमशः 72:3, 47 तथा 39 प्रतिशत कर्घे स्वचालित (automatic looms) हैं जबकि भारत में इस प्रकार के कर्घों की संख्या केवल 16.6 प्रतिशत ही है। पुरानी मशीनों के अभिनवीकरण के मार्ग में दो प्रधान कठिनाइयाँ हैं—सर्वप्रथम कठिनाई तो इन मशीनों की उपलब्धि तथा द्वितीयतः इनके लिए पूँजी की व्यवस्था करना है। ऐसे अनुमान लगाया जाता है कि सूती-वस्त्र के यंत्रों के अभिनवीकरण में कम-से-कम 800 करोड़ रुपये व्यय करना पड़ेगा। उद्योगपति स्वयं इतनी मात्रा में पूँजी की व्यवस्था नहीं कर सकते। अतः इस कार्य के लिए सरकारी सहायता अनिवार्य है। राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (NIDC)

1. एक मशीन द्वारा साधारणतः 30 वर्ष तक काम किया जा सकता है।



सूती-वस्त्र उद्योग को इस कार्य में सहायता दे रहा है। किन्तु, इस समस्या के समाधान के लिए देश में इस प्रकार की मशीनों के निर्माण की भी व्यवस्था की जानी चाहिए अभी तक इस क्षेत्र में बहुत ही कम काम हुआ है। सरकार द्वारा स्थापित National Textile Corporation जिसके जिम्मे प्रायः 100 कारखानों की व्यवस्था है, से भी इस क्षेत्र में अत्यधिक सहायता की आशा की जाती है। पाँचवीं योजना में निगम को इस कार्य के लिए 5.5 करोड़ रुपये ऋण प्रदान करने की व्यवस्था की गयी थी।

(3) युक्तिसंगत पुनर्संगठन (Rationalisation) : हमारे देश में सूती-वस्त्र के कारखानों का संगठन वैज्ञानिक तरीके से नहीं हुआ है। अधिकांश कारखानों का आकार इतना छोटा है कि इनमें उत्पादन प्रायः अलाभकर होता है। श्रमिकों की कार्यक्षमता भी बहुत ही कम है। संगठन-सम्बन्धी इन दोषों को दूर करने के लिए इस उद्योग का युक्तिसंगत पुनर्संगठन आवश्यक है। युक्तिसंगत पुनर्संगठन (Rationalisation) का अर्थ यह है कि कारखानों का संगठन इस प्रकार से हो-एवं उत्पादन-इस तरीके से किया जाय कि कच्चे पदार्थ एवं श्रम का कम-से-कम अपव्यय हो। इसके अन्तर्गत श्रमिकों को शिक्षित बनाया जायगा, कच्चे माल तथा तैयार की गयी वस्तुओं का प्रमाणीकरण होगा, काम करने के तरीकों में आवश्यक सुधार होगा तथा यातायात एवं विक्रय की व्यवस्था को अधिक सुदृढ़ बनाने की आवश्यकता होगी। किन्तु भारत में युक्तिसंगत पुनर्संगठन को इस आधार पर भी विरोध किया जाता है कि इससे बेरोजगारी बढ़ती है। सूती-वस्त्र उद्योग के युक्तिसंगत पुनर्संगठन का हस्त-करघा उद्योग पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। अतः यह सुझाव दिया जा सकता है कि भारत-जैसे देश में जहाँ जन-शक्ति की अत्यधिक प्रचुरता है, बेरोजगारी के अप्रत्याशित भय को दूर करने के लिए युक्तिसंगत पुनर्संगठन को धीरे-धीरे अपनाया चाहिए।

(4) चौथी समस्या माँग में परिवर्तन के अनुसार उत्पादन में समायोजन की है (Adjustment of the pattern of production to the change in the consumer's preferences) :—वर्तमान समय में विभिन्न प्रकार के मानव-निर्मित सूत से तैयार मिश्रित प्रकार के कपड़ों (mixed fabrics) की माँग दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है। अतः भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग को इस परिवर्तित माँग की पूर्ति के लिए अपने को समायोजित करना होगा। इसके लिए मानव निर्मित सूतों के साथ-साथ मिश्रित तौर पर वस्त्र के निर्माण को प्राथमिकता देनी होगी।

(5) विश्व बाजार में बढ़ती हुई प्रतियोगिता की समस्या (Problem of increasing competition in the world market) :—भारत सरकार ने देशी बाजार

का एक बहुत बड़ा भाग हस्त-करघा उद्योग के लिए सुरक्षित कर दिया है, अतएव सूती-वस्त्र उद्योग की सफलता बहुत कुछ निर्यात पर ही निर्भर करती है। पंचवर्षीय योजनाओं में इस पर अत्यधिक जोर दिया जा रहा है तथा पाँचवीं योजना के अन्त में 1978-79 में 133 करोड़ मीटर सूती-वस्त्र के निर्यात का आयोजन था। सरकार इस उद्देश्य से सूती-वस्त्र के निर्यात को बहुत अधिक प्रोत्साहित कर रही है। किन्तु पिछले कुछ वर्षों से विश्व बाजार में भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा है। ब्राजिल, मेक्सिको, मिस्र तथा अर्जेंटीना आदि कपास-उत्पादक देशों में सूती वस्त्र-उद्योग की स्थापना के प्रयत्न किये जा रहे हैं। जापान पुनः इस क्षेत्र में अत्यधिक तेजी के साथ अग्रसर हो रहा है और 1954-55 ई० के बाद विश्व के सूती-वस्त्र निर्यातक राष्ट्रों में पुनः इसका स्थान प्रथम हो गया है। देश के अन्दर भी जापानी प्रतियोगिता का भय है।

(6) हस्त-करघा एवं मिल-उद्योग के समन्वय की समस्या (Problem of Co-ordination between Handloom and Mill Industry) :—भारत के कुल सूती-वस्त्र के उत्पादन का आजकल प्रायः 50 प्रतिशत भाग विकेंद्रित क्षेत्र, विशेषतः हस्त-करघा उद्योग द्वारा उत्पन्न किया जाता है। हस्त-करघा उद्योग में पूर्ण या आंशिक रूप से कोई 50 लाख व्यक्तियों को रोजी प्राप्त होती है। अतः मिल उद्योग के विकास की किसी भी योजना में हस्त-करघा के साथ समन्वय पर पूरा-पूरा जोर देना चाहिए। प्रायः ऐसा कहा जाता है कि सूती-वस्त्र उद्योग का विकास इस प्रकार से होना चाहिए कि मिल एवं हस्त-करघा की बनी वस्तुओं में कोई प्रतियोगिता न रहे। इस उद्देश्य से भारत सरकार ने उत्पादन के सामान्य कार्यक्रम (Common Production Programme) की नीति को अपनाया है जिसके अनुसार उत्पादन-क्षेत्र का विभाजन कर उन्हें सुरक्षित बनाने का प्रयास किया जाता है। किन्तु हस्त-करघा-उद्योग को प्रोत्साहन प्रदान करने के उद्देश्य से मिल के क्षेत्र को अनावश्यक रूप से सीमित करना बुद्धिमानी का कार्य नहीं होगा। कानूनगो तथा कर्वे समितियों की सिफारिशों के आधार पर सरकार ने पंचवर्षीय योजनाओं में मिल उद्योग के उत्पादन को 500 करोड़ मीटर तक ही सीमित रखने का निश्चय किया है तथा इसके अतिरिक्त कपड़े की माँग की पूर्ति को विकेंद्रित क्षेत्र से पूरा करने पर जोर दिया है। पाँचवीं योजना में भी 1978-79 में कुल 1000 करोड़ मीटर कपड़े में से 520 करोड़ मीटर मिलों से तथा 480 मीटर विकेंद्रित क्षेत्र के उत्पन्न करने की व्यवस्था थी। किन्तु, इस प्रकार विकेंद्रित क्षेत्र को अनावश्यक महत्व दिया जा रहा है। देश की आर्थिक व्यवस्था में हस्त-करघा उद्योग का निस्सन्देह विशिष्ट स्थान है, अतः इसको प्रोत्साहन देना अनिवार्य है। परन्तु



यह प्रोत्साहन मिल उद्योग की उत्पादन-शक्ति को स्थायी बनाकर नहीं होना चाहिए। अतः उद्योग के दोनों पहलुओं में सामंजस्य स्थापित करना चाहिए जिससे उद्योग के विकास में कोई कठिनाई नहीं हो सके और वह गतिशील बना रहे।

(7) सरकारी नियन्त्रण का आधिक्य एवं कर का अधिक बोझ (Excessive Government control and burden of taxation) :—सूती-वस्त्र उद्योग की एक प्रमुख समस्या अत्यधिक सरकारी नियन्त्रण एवं कर के अधिक बोझ से उत्पन्न होती है। सरकार सूती कपड़े पर उत्पादन शुल्क (excise duty) में निरन्तर वृद्धि करते जा रही है जिससे इसके मूल्य में अनावश्यक रूप से वृद्धि हो रही है। सरकार द्वारा समय-समय पर आय में वृद्धि के उद्देश्य से कपड़े पर उत्पादन शुल्क की दर में भी वृद्धि की जा रही है। इससे उद्योग की कठिनाइयाँ निश्चय ही बढ़ जाती हैं। वास्तव में सूती वस्त्र उद्योग के स्वस्थ विकास के लिए कर के बोझ को उचित स्तर पर रखना अनिवार्य है। इससे इस उद्योग के विकास में कोई कठिनाई नहीं होगी।

(8) अकुशल तथा अलाभप्रद मिलें (Inefficient and uneconomic Mills) :—भारत में सूती-वस्त्र के कारखानों की संख्या बहुत अधिक है। इनमें से अधिकांश कारखानों का आकार बहुत छोटा होने के कारण उत्पादन व्यय बहुत अधिक पड़ता है। साथ ही, कुछ कारखाने अकुशल भी हैं। अतएव ऐसी मिलों को या तो बन्द कर देना चाहिए या उनमें सुधार तथा विकास के द्वारा इन्हें लाभप्रद तथा आर्थिक आधार प्रदान करना चाहिए। संतोष का विषय है कि इस क्षेत्र में कुछ कार्य प्रारम्भ हुआ है। National Textile Corporation को बन्द तथा अयोग्य मिलों का दायित्व सौंपा गया है।

### पंचवर्षीय योजनाओं में सूती-वस्त्र उद्योग (Cotton Mill Industry in Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) में कपड़े एवं सूत के उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन था। 1950-51 ई० में सूत का उत्पादन 53.4 करोड़ कि० ग्राम तथा कपड़े का उत्पादन 340 करोड़ मीटर था। योजना के अन्त में यह बढ़कर 1955-56 ई० में 74.4 कि० ग्राम सूत तथा 466.5 करोड़ मीटर कपड़ा हो गया। इस प्रकार योजनाकाल में सूत के उत्पादन में 38.5 प्रतिशत तथा कपड़े के उत्पादन में 37.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) के अन्त तक 1960-61 ई० में प्रति-व्यक्ति औसत

खपत 17 मीटर के आधार पर यह अनुमान लगाया गया था कि आंतरिक खपत के लिए कुल 734 करोड़ मीटर कपड़े की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त योजना में 95 करोड़ मीटर कपड़ा विदेशों में निर्यात करने का लक्ष्य था। इस प्रकार 1960-61 ई० तक प्रायः 825 करोड़ मीटर कपड़े की आवश्यकता का अनुमान था जिसकी पूर्ति उत्पादन की तीनों इकाइयों—मिल, हस्त-करघा तथा शक्ति द्वारा प्रचालित करघा द्वारा करनी थी। इसमें से द्वितीय योजना के अन्त में मिल के कपड़े का उत्पादन 465 करोड़ मीटर तथा सूत का उत्पादन 80 करोड़ कि० ग्राम हुआ। इस प्रकार द्वितीय योजना में भी महत्वपूर्ण वृद्धि हुई।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) काल में सूती-वस्त्र के उत्पादन को 1965-66 ई० में 550 करोड़ मीटर करने का आयोजन था। अनुमान लगाया गया था कि 1965-66 ई० में आंतरिक उपयोग के लिए 805 करोड़ मीटर तथा निर्यात के लिए 80 करोड़ मीटर कपड़े की आवश्यकता पड़ेगी, यानी 1965-66 ई० में कुल 885 करोड़ मीटर कपड़े की आवश्यकता होगी। इसमें से मिल उद्योग का हिस्सा 550 करोड़ मीटर तथा विकेंद्रित क्षेत्र का 335 करोड़ मीटर निश्चित किया गया था। किन्तु, योजना का यह लक्ष्य पूरा नहीं हो सका तथा 1965-66 ई० में सूती वस्त्र का उत्पादन 440 करोड़ मीटर तथा सूत का उत्पादन 90.8 करोड़ कि० ग्राम ही हुआ।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) के अन्त में, यानी 1973-74 ई० तक मिल के सूती-वस्त्र के उत्पादन को बढ़ाकर 510 करोड़ मीटर तथा सूत के उत्पादन को 115 करोड़ कि० ग्राम करने का आयोजन था। किन्तु 1973-74 में सूत का उत्पादन 100 करोड़ कि० ग्राम तथा कपड़े का उत्पादन 420 करोड़ मीटर ही हुआ। चतुर्थ योजनाकाल में पुनर्स्थापन तथा आधुनिकीकरण पर 132.5 करोड़ रुपये तथा विस्तारीकरण पर 134 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी।

पाँचवी पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan) में भी 1978-79 तक सूत के उत्पादन को बढ़ा कर 115 करोड़ कि० ग्राम तथा सूती-वस्त्र के उत्पादन को बढ़ाकर 480 करोड़ मीटर का आयोजन था। यह लक्ष्य पूरा नहीं हो सका तथा 1977-78 में सूत का उत्पादन 96 करोड़ कि० ग्राम तथा कपड़े का उत्पादन केवल 420 करोड़ मीटर हुआ। जोशी कमिटी ने इस उद्योग की प्रमुख समस्याओं की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया था और इनके समाधान के लिए समुचित



उपाय भी बतलाये थे। किन्तु, इन सिफारिशों के बावजूद सरकार कपड़े के उत्पादन-शुल्क में वृद्धि ही करती है। उत्पादन-शुल्क में इस वृद्धि से मुख्यतः फाइन तथा सुपर-फाइन कपड़ों की प्रभावित हुए हैं। किन्तु इस उद्योग के संकट स्पष्टतः यह बतलाते हैं कि यदि सरकार अपनी कर-नीति को कठोर बनायगी तो इस उद्योग में उत्पादन ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) अवश्य ही लागू होने लगेगा।

छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan) में भी सूती-वस्त्र उद्योग के विकास पर पर्याप्त मात्रा में

वृद्धि का आयोजन है। योजना काल में सूत के उत्पादन को बढ़ाकर 1982-83 में 122 करोड़ कि० ग्राम तथा सूती-वस्त्र के उत्पादन को बढ़ाकर 460 करोड़ मीटर करने का आयोजन है। छठी योजना का इस सम्बन्ध में लक्ष्य-जनसाधारण की आवश्यकताओं की पूर्ति में हस्त-करघा क्षेत्र को प्रधानता देना है। इस उद्योग के मिलों तथा शक्ति के कर्षों की वर्तमान क्षमता में छठी योजना में वृद्धि का कोई आयोजन नहीं है।

पंचवर्षीय योजनाओं में सूती-वस्त्र उद्योग की प्रगति का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

### पंचवर्षीय योजनाओं में सूत एवं सूती-वस्त्र का उत्पादन

|                        | 1950-51 | 1955-56 | 1960-61 | 1965-66 | 1968-69 | 1973-74 | 1977-78 | 1982-83        |
|------------------------|---------|---------|---------|---------|---------|---------|---------|----------------|
| सूत (करोड़ कि० ग्राम)  | 53.4    | 74.4    | 80.1    | 90.7    | 95.9    | 100.0   | 96.0    | (आयोजित) 122.0 |
| कपड़ा (करोड़ मीटर में) | 340     | 466.5   | 464.9   | 447.1   | 459.7   | 408.0   | 420.0   | 460.0          |

पिछले प्रायः 24-25 वर्षों में सूती-वस्त्र उद्योग की प्रगति का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से भी लगाया जा सकता है :—

|                                                                  | 1951  | 1974-75 |
|------------------------------------------------------------------|-------|---------|
| 1. कारखानों की कुल संख्या                                        | 378   | 691     |
| 2. तकुओं की संख्या (लाख में)                                     | 110   | 188.6   |
| 3. कर्षों की संख्या (लाख में)                                    | 1.2   | 2.07    |
| 4. सूत का उत्पादन (करोड़ किलोग्राम में)                          | 59.1  | 103.1   |
| 5. सूती-वस्त्र करोड़ मीटर (मिल का उत्पादन) (विकेन्द्रित क्षेत्र) | 372.7 | 408.3   |
| 6. कपास की खपत (लाख गॉन्ड में)                                   | 38.5  | 70.0    |

इस प्रकार विभिन्न कठिनाइयों के बावजूद इस उद्योग की वर्तमान प्रकृति निरंतर विस्तार की ओर है। 1976-77 में 603 करोड़ रुपये के सूती वस्त्र का निर्यात हुआ था। अतएव हमारा विचार है कि यदि वैज्ञानिक कर-नीति (Scientific Pattern of Fiscal Measures), उदार आधुनिकीकरण की नीति एवं यथार्थवादी निर्यात विकास की नीति अपनायी जाय तो यह उद्योग निश्चय ही और अधिक विकास की ओर उन्मुख होगा। छठी योजना में हस्त-करघा के विस्तार पर अधिक जोर देने का तात्पर्य मिल उद्योग के विकास को कुंठित करना है। सूती-वस्त्र उद्योग का कम-से-कम निर्यात बढ़ाने के उद्देश्य से ही विस्तार किया जाना चाहिए। यह देश का एक प्रमुख उद्योग है। इसे विकास का अवसर अवश्य ही मिलना चाहिए।

### 3. जूट उद्योग (Jute Industry)

भारत की औद्योगिक व्यवस्था में जूट-उद्योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह विदेशी मुद्रा प्राप्त करने का एक प्रमुख साधन है। जूट की वस्तुओं के निर्यात से 1976-77 ई० में 200 करोड़ रुपये विदेशी विनिमय के रूप में प्राप्त हुआ था। यह देश के कुल निर्यात का प्रायः 4 प्रतिशत भाग था। 1974 में कुल 74 जूट के कारखाने थे जिनमें लगभग 300 करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई थी। इन कारखानों में 43,000 कर्षे थे जिनमें से 45 प्रतिशत हैसियन तथा 55 प्रतिशत बोरा तैयार करते थे। इस उद्योग में 205 लाख मजदूर कार्य करते थे। 1977-78 ई० में जूट की वस्तुओं का उत्पादन 11.8 लाख टन था। इस उद्योग की वार्षिक उत्पादन क्षमता 14 लाख टन की है।

उद्योग का प्रारम्भिक इतिहास (Early History of Development) :—भारत में जूट कातने की पहली मिल 1855 ई० में बंगाल के श्रीरामपुर के समीप रिशरा नामक स्थान में जॉर्ज आकलैंड द्वारा चालू की गयी। 1859 ई० में इस उद्योग में सर्वप्रथम शक्ति द्वारा चालित करघे का प्रयोग किया गया।

प्रथम महायुद्ध ने अन्य उद्योगों की तरह जूट-उद्योग को भी अत्यधिक प्रोत्साहन प्रदान किया। युद्ध-स्थलों में बालू के थैलों एवं त्रिपाल आदि की मांग में वृद्धि के कारण निर्यात में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। विदेशों में यन्त्र बगैरह मँगाने की असुविधा ने नये कारखानों की सम्भावना कम कर दी। साथ ही, युद्ध ने कच्चे जूट के निर्यात की सम्भावना को समाप्त कर उनके मूल्य को बढ़ने से



रोक दिया। युद्धकाल में मित्र-राष्ट्रों की सेना के लिए भारतीय मिलों ने 139 करोड़ पौंड जूट के कपड़े तथा 5 लाख पौंड सुतली तैयार किया। बढ़ी हुई माँग को पूरा करने के लिए जूट के कारखानों ने अपनी पूरी क्षमता के अनुसार कार्य किया।

इसी बीच युद्ध के बाद जूट-उद्योग को बहुत कारणों से कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। युद्ध-सम्बन्धी माँग समाप्त हो जाने से जूट की वस्तुओं की माँग बहुत कम हो गयी। इसी बीच 1929 ई० की भयानक आर्थिक मन्दी ने जूट-उद्योग को बहुत अधिक प्रभावित किया। आर्थिक-मन्दी के कारण जूट की वस्तुओं का निर्यात बहुत घट गया जिससे इस उद्योग को भीषण कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उदाहरण के लिए 1928-29 ई० में जहाँ भारत से 57 करोड़ रुपये की जूट की वस्तुओं का निर्यात हुआ था, वहाँ 1933-34 में केवल 11.4 करोड़ रुपये की जूट की वस्तुओं का निर्यात हो सका। मन्दी के कारण जूट के कारखानों में प्रति सप्ताह काम के घण्टों को घटा दिया गया तथा कुछ करघों को बन्द भी कर दिया गया। 1936 ई० में जूट के उत्पादन में वृद्धि करने तथा खेती-सम्बन्धी अनुसंधान को प्रोत्साहित करने के लिए एक भारतीय केन्द्रीय जूट समिति (Indian Central Jute Committee) की स्थापना हुई जो इस उद्योग के चतुर्दिक विकास का प्रयत्न करती है। फिर भी, स्थिति में अभी संतोषजनक सुधार नहीं हुआ था किन्तु 1939 में द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो जाने के कारण स्थिति में अपने-आप सुधार हो गया और मिलों के उत्पादन तथा मुनाफे दोनों में आशातीत वृद्धि हुई।

द्वितीय महायुद्ध एवं युद्धोत्तरकालीन समस्याएँ (Second World War and the Post-war Problems):—1939 ई० में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने के साथ-साथ सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जूट की वस्तुओं की माँग अत्यधिक बढ़ गयी जिससे जूट और जूट की वस्तुओं के मूल्य में अप्रत्याशित रूप से वृद्धि हुई। अतएव काम करने के घण्टों पर जो रोक लगायी गयी थी उसे पूर्णतया हटा दिया गया और मिलों ने 60 घण्टे प्रति सप्ताह काम करना प्रारम्भ कर दिया। साथ ही, भारत सरकार ने एक विशेष अध्यादेश द्वारा कारखाना अधिनियम की कुछ धाराओं को भी स्थगित कर दिया।

| वर्ष                     | कारखानों की संख्या | अधिकृत पूँजी (करोड़ में) |
|--------------------------|--------------------|--------------------------|
| 1909-10 से 1913-14 (औसत) | 60                 | 12.09                    |
| 1925-26                  | 90                 | 21.35                    |
| 1930-31                  | 100                | 23.64                    |
| 1937-38                  | 105                | 24.89                    |
| 1946-47                  | 106                | .....                    |

फलतः, उत्पादन एवं निर्यात में बहुत अधिक वृद्धि हुई। 1939-40 ई० में जूट की वस्तुओं का उत्पादन 12.8 लाख टन तथा निर्यात 11 लाख टन था।

किन्तु, युद्ध काल में जहाँ मूल्य में वृद्धि से उद्योग को लाभ हुआ वहाँ इसके समक्ष कई नयी समस्याएँ भी आ गयीं। इनमें निर्यात की समस्या सर्वोपरि थी। युद्धकाल में शत्रु-राष्ट्रों को होनेवाला निर्यात तो प्रायः समाप्त हो ही गया, साथ ही, समुद्री यातायात की जोखिम के कारण मित्र-राष्ट्रों को होनेवाला निर्यात भी बहुत घट गया। इसका प्रभाव जूट की मिलों पर बहुत बुरा पड़ा। साथ ही, बहुत-से देशों ने जूट की स्थानापन्न वस्तु निकालने का प्रयत्न भी प्रारम्भ कर दिया तथा कुछ देशों को इसमें सफलता भी मिली। इससे जूट उद्योग को बहुत क्षति की आशंका होने लगी। किन्तु, भारतीय जूट-संघ के प्रयत्नों एवं सुदूर पूर्व के युद्ध-स्थलों से जूट की वस्तुओं की माँग के परिणामस्वरूप भारत का जूट-उद्योग इन कठिनाइयों से बच गया। सितम्बर, 1940 ई० में संघ की सदस्य-मिलों ने प्रति माह में एक सप्ताह काम बन्द करने तथा 45 घंटे प्रति सप्ताह काम करने का निश्चय किया। किन्तु, इस बीच युद्ध के लिए बोरों के भारी आर्डर प्राप्त होने के फलस्वरूप मिलों ने प्रति सप्ताह 60 घण्टे काम करना प्रारम्भ कर दिया। पुनः मई, 1942 ई० में चन्द कठिनाइयों के कारण मिलों ने 54 घण्टे प्रति सप्ताह काम करने तथा 10 प्रतिशत करघों को बन्द करने का निश्चय किया। किन्तु, मार्च, 1943 ई० में अमेरिका से हैसियन कपड़े का एक बहुत बड़ा आर्डर मिलने के कारण मिलों ने 60 घण्टे प्रति सप्ताह कार्य करना प्रारम्भ कर दिया; इस प्रकार द्वितीय युद्ध का समय जूट उद्योग के लिए आशा एवं आशंका का समय रहा। युद्धकाल में 26 मिलें सरकार द्वारा सैनिक भण्डार एवं सामग्री तैयार करने के लिए ले ली गयी थीं। इस भाँति जूट-उद्योग द्वितीय युद्धकाल में अपनी प्रस्थापित क्षमता के प्रायः 25 प्रतिशत भाग से वंचित रहा; फिर भी, युद्ध-सम्बन्धी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में यह पूर्णतया समर्थ था। वास्तव में, जूट-उद्योग की प्रमुख समस्या उत्पादन-क्षमता की अतिरिक्तता है जिससे इसे यदा-कदा उत्पादन को सीमित करने की नीति अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा।

विगत दोनों महायुद्धों के बीच जूट-उद्योग की प्रगति का अन्दाजा निम्न तालिका<sup>1</sup> से स्पष्ट है :

| करघों की संख्या (हजार में) | तकुओं की संख्या (हजार में) |
|----------------------------|----------------------------|
| 33.5                       | 692                        |
| 50.5                       | 1064                       |
| 61.8                       | 1,225                      |
| 52.4                       | 1,108                      |
| 66.0                       | 1,295                      |

1. India 1971-72.



**जूट-उद्योग पर देश-विभाजन का प्रभाव (Effects of Partition on the Jute Industry)**—अगस्त, 1947 ई० में देश-विभाजन हुआ, जिसके फलस्वरूप अविभाजित भारत के कच्चा जूट उत्पन्न करने वाले कुल क्षेत्र का केवल 21 प्रतिशत भाग तथा कच्चे जूट की कुल उपज का केवल 20 प्रतिशत भाग भारत को मिला जबकि जूट की प्रायः सभी मिलें भारत संघ में ही रह गयीं। विभाजन के पश्चात भारत में केवल 17 लाख गाँठ जूट का उत्पादन हुआ था जबकि पाकिस्तान में कच्चे जूट का उत्पादन प्रायः 68 लाख गाँठ था। अतएव देश की मिलों को कच्चे जूट के लिए पाकिस्तान पर आश्रित होना पड़ा। राजनीतिक मनमुटाव के कारण दोनों देशों का व्यापारिक सम्बन्ध ठीक नहीं था जिससे भारत को जूट मिलने में कठिनाई होने लगी।

सितम्बर, 1949 ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन (Devaluation) के कारण पाकिस्तानी जूट का मूल्य (पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन 1955 ई० में किया) भारतीय मुद्रा के रूप में 44 प्रतिशत से बढ़ गया। साथ ही, भारतीय जूट के निर्यात की वस्तुओं का मूल्य डॉलर क्षेत्र में प्रायः 30 प्रतिशत घट गया। अतः जूट उद्योग के समक्ष एक नयी एवं कठिन स्थिति उत्पन्न हो गयी। इस समस्या के समाधान के लिए भारत जूट के उत्पादन को बढ़ाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहा। वास्तव में, भारतीय जूट मिलों की पाकिस्तानी जूट पर निर्भरता समाप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि देश में कच्चे जूट के उत्पादन को बढ़ाया जाय। भारत सरकार द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बहुत अधिक प्रयत्न किये जा रहे हैं। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप देश में जूट की खेती के क्षेत्र एवं उपज दोनों में वृद्धि हो रही है।

**निर्यात (Export) :—** भारत जूट की निम्नित वस्तुओं का महत्वपूर्ण निर्यातक देश है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व कुल भारतीय निर्यात का 16 प्रतिशत भाग जूट की वस्तुओं का ही था, द्वितीय युद्ध के बाद यह बढ़कर 27.9 प्रतिशत तथा विभाजन के बाद बढ़कर 35.3 प्रतिशत हो गया। किन्तु, इसके बाद इसका प्रतिशत घटने लगा। 1951-52 में यह घटकर प्रायः 20 प्रतिशत हो गया। 1976-77 में 200 करोड़ रुपये मूल्य की जूट की वस्तुओं का निर्यात किया गया था जो कुल निर्यात का केवल 4 प्रतिशत भाग था।

जूट की वस्तुओं का पहले मुख्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका को निर्यात किया जाता था किन्तु वर्तमान समय में कई कारणों से वहाँ पर भारतीय जूट की वस्तुओं की मांग घट रही है। किन्तु, पूर्वी यूरोप के देशों तथा

सोवियत संघ में जूट की वस्तुओं की मांग में वृद्धि का पर्याप्त क्षेत्र है। भारत सरकार भी जूट के निर्यात को बढ़ाने पर पर्याप्त जोर दे रही है तथा इस उद्देश्य से जूट की कई किस्मों पर से निर्यात कर में पर्याप्त मात्रा में छूट दी गयी है।

### जूट उद्योग की प्रमुख समस्याएँ (Main Problems of the Jute Industry)

इस प्रकार भारतीय जूट उद्योग का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। जूट उद्योग देश के लिए विदेशी मुद्रा अर्जित करने का एक प्रमुख साधन है तथा भविष्य में भी रहेगा। किन्तु, वर्तमान समय में भारतीय जूट-उद्योग के समक्ष कई समस्याएँ हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख समस्याएँ हैं :—

(क) कच्चे जूट का अभाव (Shortage of Raw Jute) :—देश-विभाजन के बाद भारतीय जूट-उद्योग के समक्ष सर्वाधिक प्रमुख समस्या कच्चे माल के अभाव की समस्या है। देश-विभाजन के फलस्वरूप जूट उत्पन्न करने का प्रायः 80 प्रतिशत भाग पाकिस्तान में चला गया। इस अभाव को दूर करने के लिए सरकार द्वारा देश में जूट के उत्पादन को बढ़ाने पर पूरा-पूरा जोर दिया जा रहा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में कच्चे जूट का उत्पादन 1950-51 ई० में प्रायः 33 लाख गाँठ से बढ़कर 1955-56 ई० में 42 लाख गाँठ तथा द्वितीय योजना के अन्त में 1960-61 ई० में 41 लाख गाँठ हुआ। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्त में जूट का उत्पादन बढ़कर 1965-66 ई० में प्रायः 45 लाख गाँठ तथा 1968-69 में 62 लाख गाँठ हो गया। किन्तु चतुर्थ योजना के अंत में 1973-74 ई० में जूट का उत्पादन 56 लाख गाँठ ही हुआ। पाँचवीं योजना काल में इसका उत्पादन 1977-78 में 67 लाख गाँठ हुआ जबकि छठी पंचवर्षीय योजना के अंत में इसे बढ़ाकर 1982-83 में 85 लाख गाँठ करने का आयोजन है। कच्चे जूट के उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ इसके मूल्य को एक न्यूनतम स्तर पर बनाये रखने का प्रयास भी आवश्यक है। इससे कच्चे जूट के उत्पादकों को उनकी फसल का उचित मूल्य मिलेगा और वे अधिक उत्पादन का प्रयत्न करेंगे। साथ ही, जूट की किस्म पर भी समुचित ध्यान देना चाहिए। इस प्रकार रासायनिक खादों के अधिकाधिक प्रयोग, जूट की खेती के क्षेत्र में वृद्धि, वंजर भूमि के उद्धार, धान एवं जूट की सम्मिलित खेती तथा पश्चिमी बंगाल के अतिरिक्त अन्य राज्यों में जूट की खेती के विस्तार द्वारा कच्चे जूट के उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि की जा सकती है।

(ख) यंत्रों एवं उपकरणों के आधुनिकीकरण की समस्या (Modernisation of Plants and Equipments) :—जूट उद्योगों के अधिकांश यन्त्र अत्यन्त पुराने



हो गये हैं। अतः इनका जीर्णोद्धार अनिवार्य है। भारतीय जूट-उद्योग की समृद्धि मुख्यतया विदेशी बाजार पर ही आधारित है। विश्व के बाजार में अपने एकाधिकार की स्थिति को बनाये रखने के लिए इस उद्योग का आधुनिकीकरण आवश्यक है। आधुनिकीकरण के फलस्वरूप जूट की वस्तुओं के उत्पादन की लागत में कमी की आशा की जाती है जिससे विदेशी बाजार में भारतीय जूट उद्योग दूसरे देशों की प्रतियोगिता का सफलतापूर्वक सामना कर सकेगा। जूट-उद्योग के आधुनिकीकरण के लिए सरकार विशेष रूप से सचेष्ट है। जूट की मिलों को यन्त्र आदि के आयात की विशेष सुविधा दी जा रही है। साथ ही, देश में भी जूट की मशीनों के निर्माण की व्यवस्था की जा रही है। इस कार्य के लिए राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (NIDC) द्वारा मिलों को ऋण देने की व्यवस्था भी की जा रही है। तृतीय योजना-काल में इस उद्योग के यन्त्रों एवं उपकरणों के आधुनिकीकरण के लिए 12 करोड़ रुपये और विनियोग की आवश्यकता का अनुमान लगाया गया था। जूट-उद्योग में आधुनिकीकरण की प्रगति बहुत ही संतोषजनक है। जूट-उद्योग में लगे 5.32 लाख करघों में से 4.3 लाख का आधुनिकीकरण किया जा चुका है।

(ग) व्यवसाय में सट्टेबाजी की अधिकता की समस्या (Problem of excessive speculation in industry)—तीसरी समस्या जूट-उद्योग में अत्यधिक सट्टेबाजी का प्रचलन है। जब कच्चे जूट द्वारा उत्पन्न वस्तुओं का मूल्य गिरने लगता है तो सट्टेबाजी के कारण ये वस्तुएँ और भी सस्ती हो जाती हैं। इसके विपरीत जब इनके मूल्य में वृद्धि होने लगती है तो सट्टेबाजी के कारण इनका मूल्य और भी अधिक बढ़ जाता है। इसका निर्यात व्यापार पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। निर्यात प्रोत्साहन समिति ने भी सरकार का ध्यान इस समस्या की ओर आकषित किया था। इस तरह की सट्टेबाजी उद्योग के हितों के लिए निश्चय ही हानिकारक है। अतः सरकार को इस पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए।

(घ) अत्यधिक मूल्य एवं स्थानापन्न वस्तुओं की समस्या (Problem of high price and the emergence of substitutes)—इस उद्योग के समक्ष चौथी प्रमुख समस्या ऊँचे मूल्य एवं विदेशों में जूट की स्थानापन्न वस्तुओं की प्रतियोगिता की आशंका है। द्वितीय युद्ध के बाद जूट की वस्तुओं के मूल्य में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है जिससे विदेशों में वस्तुएँ महँगी पड़ती हैं। अतः बहुत-से राष्ट्र जूट की सस्ती स्थानापन्न वस्तुओं का पता लगाने का प्रयत्न कर रहे हैं। वेस्ट इण्डियन, फिलिपाइन्स तथा ब्राजिल आदि देशों में अन्य पौधों के रेशों से जूट की तरह अन्य वस्तुओं के निर्माण का प्रयत्न जारी है। विगत महायुद्ध के समय से संयुक्त-

राज्य अमेरिका ने जूट की जगह कागज के बोरों का उत्पादन प्रारम्भ कर दिया है। यह इस उद्योग की आधारभूत समस्या है तथा इसका सम्बन्ध इसके भविष्य से है। जूट मिल-संघ के अध्यक्ष ने फरवरी, 1959 ई० में अपने भाषण में यह बतलाया था कि जिस प्रकार कच्चे माल की कमी के कारण जूट उद्योग की स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गयी है, उसी प्रकार की गम्भीर स्थिति अत्यधिक मूल्य के कारण जूट की जगह पर अन्य वस्तुओं के अधिकाधिक प्रयोग द्वारा उत्पन्न होने की आशंका सदा बनी रहती है। इस समस्या का समाधान जूट की वस्तुओं के मूल्य में कमी है। 1960 ई० के प्रारम्भ से ही जूट की वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि को रोकने का प्रयास किया जा रहा है। वास्तव में, जब तक भारतीय जूट की वस्तुएँ कम मूल्य पर विदेशियों को प्राप्त होती रहेंगी तब तक इस प्रकार के भय की सम्भावना नहीं है। अतः, इस बात का सदा प्रयत्न होना चाहिए कि वस्तुओं का मूल्य कम रहे। साथ ही, इनकी किस्म में भी सुधार होता रहे। निकट भविष्य में पाकिस्तान के बढ़ते हुए जूट-उद्योग से भी प्रतियोगिता का भय है जिसके लिए भी इस उद्योग को सदा तैयार रहना अनिवार्य है।

(ङ) किस्म में सुधार तथा जूट के नये उपयोगों की खोज की समस्या (Problem of improvement in quality and search of new uses for Jute products): भारतीय जूट उद्योग की एक प्रधान समस्या जूट की किस्म का खराब होना है। जूट-उद्योग की प्रगति के लिए यह अनिवार्य है कि इस उद्योग की वस्तुओं की किस्म में सुधार लाया जाय। साथ ही, जूट की वस्तुओं के नये-नये उपयोगों की खोज भी अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में जूट-एसोसिएशन द्वारा बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं। इस क्षेत्र में कुछ प्रगति भी हुई है, किन्तु अभी और प्रयत्नों की आवश्यकता है।

इनके अतिरिक्त जूट-उद्योग में उत्पादन-क्षमता की अधिकता (Surplus Productive Capacity) एवं निम्न उत्पादन-क्षमता (Low Productivity) इत्यादि समस्याएँ भी वर्तमान हैं। इस उद्योग के विकास के लिए इन कठिनाइयों को दूर करना भी अनिवार्य है।

जूट जाँच समिति के सुझाव (Recommendations of the Jute Enquiry Commission):—भारत सरकार ने 1953 ई० में जूट उद्योग एवं कच्चे जूट के उत्पादन के सम्बन्ध में व्यापक जाँच के लिए श्री के० आर० पी० आर्यंगर की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जिसने मई, 1954 ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। समिति की सिफारिशों में निम्नलिखित प्रधान हैं: (1) जूट की मिलों का आधुनिकीकरण किया जाय (Modernising and re-equipping the Jute industry)।



(2) जूट-उद्योग में बेकार उत्पादन-क्षमता (Unused installed capacity) मौजूद है, इसलिए नयी मिलें स्थापित करने की आवश्यकता नहीं है। अतएव इसकी वर्तमान उत्पादन-शक्ति का ही पूरा-पूरा प्रयोग करना वांछनीय होगा। (3) कच्चे जूट के उत्पादन में भारत को निरपेक्ष आत्मनिर्भरता (Absolute self-sufficiency) प्राप्त करने के बजाय सापेक्ष आत्मनिर्भरता (Relative self-sufficiency) प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए। सापेक्ष आत्मनिर्भरता का अर्थ है कि भारत कुछ कच्चा जूट (जो यहाँ उत्पन्न नहीं हो सकता है) पाकिस्तान से मँगायेगा और शेष का उत्पादन देश में ही करने का प्रयत्न करेगा। देश में उत्तम किस्म की जूट की पैदावार भी बढ़ायी जानी चाहिए। (4) भारत को कच्चे जूट का निर्यात किसी भी स्थिति में नहीं करना चाहिए। (5) जूट की विस्तृत खेती के स्थान पर गहनखेती को ही प्रोत्साहित किया जाय। (6) जूट उद्योग के लिए एक विकास समिति (Development council) बनाया जाय। (7) कच्चे जूट का एक न्यूनतम मूल्य निर्धारित किया जाय और क्षेत्रीय वितरण-प्रणाली प्रारम्भ किया जाय।

भारत सरकार ने दिसम्बर, 1954 ई० में जूट-जाँच समिति की कुछ सिफारिशों को स्वीकार किया जिसके अनुसार भारत में जूट की नयी मिलें स्थापित नहीं की जायेंगी, कच्चे जूट की किस्म सुधारी जायगी और उत्पादन बढ़ाने के लिए जूट की गहन-खेती पर भी जोर दिया जायगा। आशा है, भविष्य में कच्चे जूट का उत्पादन इससे और बढ़ सकेगा।

### पंचवर्षीय योजनाओं में जूट उद्योग

#### (Jute Industry in Five Year Plans)

पंचवर्षीय योजनाओं में कच्चे जूट के उत्पादन को बढ़ाने का प्रयास किया जा रहा है। इसमें पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई है। पंचवर्षीय योजनाओं से जूट की वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि भी हो रही है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

#### जूट की वस्तुओं का उत्पादन

| वर्ष                                                                                        | उत्पादन (हजार टन में) |
|---------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------|
| 1948-49                                                                                     | 1105                  |
| 1950-51                                                                                     | 837                   |
| 1955-56                                                                                     | 1071                  |
| 1960-61                                                                                     | 1097                  |
| 1965-66                                                                                     | 1399                  |
| 1968-69                                                                                     | 1089                  |
| 1973-74                                                                                     | 1074                  |
| 1977-78                                                                                     | 1180                  |
| 1982-83 (आयोजित लक्ष्य)                                                                     | 1400                  |
| 1965-66 ई० में जूट उद्योग का उत्पादन 1399 हजार टन था जो पिछले सभी वर्षों तथा तृतीय योजना के |                       |

लक्ष्य से भी अधिक था। चतुर्थ योजना के अन्त में 1973-74 तक इसे बढ़ाकर 1400 हजार टन करने का आयोजन था किन्तु योजना के अन्त में उत्पादन 1220 हजार टन ही हुआ।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan) के अन्त में यह 1977-78 में 1180 हजार टन था।

छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plans) के अन्त में 1982-83 में इसे बढ़ाकर 1400 हजार टन करने का आयोजन है।

भारत सरकार ने 1971 में 5 करोड़ रुपये की हिस्सा पूँजी से सरकारी क्षेत्र में एक जूट निगम (Jute Corporation of India) स्थापित किया है जो जूट की बनी वस्तुओं के आयात, निर्यात तथा कच्चे जूट के मूल्य को स्थायी बनाने का प्रयत्न करता है। जूट निगम वस्तुतः Buffer Stock Agency; जूट परिषद तथा जूट विपणन संस्था के रूप में कार्य करेगा।

### (4) चीनी उद्योग

#### (Sugar Industry)

चीनी उद्योग का प्रारम्भिक इतिहास : भारत के संगठित उद्योगों में चीनी उद्योग का स्थान प्रमुख है। भारत गन्ने की खेती का आदि स्थान है। प्राचीन काल में यहाँ से गन्ने की बनी हुई वस्तुओं का निर्यात भी किया जाता था। 16वीं शताब्दी के मध्य तक इंग्लैंड में उपयोग की जाने वाली कुल चीनी का प्रायः एक-चौथाई भाग भारत से ही प्राप्त होता था। किन्तु इसके बाद आस्ट्रिया, जर्मनी तथा जावा आदि देशों की सरकारी सहायता द्वारा तैयार की जानेवाली चीनी की प्रतियोगिता के फलस्वरूप इस उद्योग को बहुत धक्का पहुँचा। प्रथम महायुद्ध-काल में इस उद्योग को कुछ प्रोत्साहन अवश्य मिला, पर वह बिल्कुल ही अस्थायी था। युद्ध के बाद पुनः इस उद्योग को विदेशों की सस्ती चीनी की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। 1919 ई० में सरकार द्वारा नियुक्त 'चीनी समिति' के विवरण से ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय देश में गन्ने की पैदावार बढ़ रही थी जिसके फलस्वरूप गन्ने एवं गुड़ की कीमत घट रही थी। समिति ने गन्ना व्यवसाय को इस मन्दी के भय से मुक्त करने के लिए देश में आधुनिक ढंग के चीनी के कारखाने स्थापित करने की सम्भावनाओं की जाँच की सिफारिश की थी।

चीनी उद्योग को संरक्षण (Protection to Sugar Industry) :—प्रथम महायुद्ध के पश्चात् विश्व में चीनी के उत्पादन में बहुत वृद्धि हुई जिससे इसका मूल्य क्रमशः घटने लगा। अतः भारतीय बाजार में विदेशी चीनी सस्ती दर पर उपलब्ध हो जाती थी। भारत सरकार ने विदेशों से आनेवाली चीनी के आयात पर आय की दृष्टि से एक कर लगाया था, फिर भी विदेशी चीनी का



मूल्य भारतीय चीनी और खाँड से कम ही पड़ता था। अतः गन्ना उत्पादक प्रान्तों से इस उद्योग को संरक्षण प्रदान करने की माँग की जाने लगी। इसके फलस्वरूप सरकार ने इस उद्योग की स्थिति की जाँच के लिए 1929 ई० में एक प्रशुल्क मण्डल की नियुक्ति की जिसकी सिफारिशों के आधार पर इस उद्योग को 1931 ई० में सात वर्षों के लिए संरक्षण प्रदान किया गया। संरक्षण के फलस्वरूप चीनी उद्योग को विकास का अच्छा अवसर मिला।

भारतीय चीनी उद्योग के विकास का इतिहास वस्तुतः 1931 ई० से ही प्रारम्भ होता है जब इसे सरकार द्वारा संरक्षण प्राप्त हुआ। संरक्षण के फलस्वरूप इस उद्योग का तीव्रता से विकास आरम्भ हुआ। 1931-32 ई० में भारत में चीनी के केवल 32 कारखाने थे जिनका उत्पादन केवल 1.6 लाख टन था। कारखानों की संख्या बढ़कर 1938-39 में 132 तथा उत्पादन 5.7 लाख टन हो गया। इसके फलस्वरूप चीनी के आयात में बहुत अधिक कमी हुई। 1931 ई० के पूर्व भारत औसत रूप से प्रतिवर्ष 10 लाख टन चीनी का आयात करता था। आयात की यह मात्रा 1938-39 ई० में घटकर केवल 22 हजार टन रह गयी। इस प्रकार भारत जो अपनी कुल आवश्यकता के लिए पहले विदेशी चीनी पर आश्रित था, संरक्षण के फलस्वरूप कुछ ही वर्षों में चीनी का विश्व में सबसे बड़ा उत्पादक देश हो गया।

इस प्रकार देश के संरक्षण-प्राप्त उद्योगों में चीनी उद्योग का स्थान अद्वितीय है। चीनी उद्योग को संरक्षण प्रदान करने के लिए सरकार ने सर्वप्रथम 1931 ई० में सात वर्षों के लिए विदेशी चीनी के आयात पर 7 रु० 25 पैसे प्रति हंडरवेट के हिसाब से एक आयात कर लगाया। आगे चलकर आय की दृष्टि से अक्टूबर, 1931 ई० में सभी आयात करों पर 25% का एक अतिरिक्त शुल्क (Surcharge) लगाया गया जिसके फलस्वरूप चीनी पर आयात कर वस्तुतः 9 रु० 6 पैसे प्रति हंडरवेट हो गया। धीरे-धीरे संरक्षण के लाभ स्पष्ट होने लगे और 1944 ई० तक चीनी का आयात बहुत घट गया। आयात घट जाने पर सरकारी आय में कमी होने लगी जिसे पूरा करने के लिए 1934 ई० में देश में चीनी के उत्पादन पर 1 रु० 25 पैसे प्रति हंडरवेट का एक उत्पाद कर (Excise Duty) लगाया गया, जिसे 1937 ई० में बढ़कर 2 रु० प्रति हंडरवेट कर दिया गया। संरक्षण से चीनी उद्योग बहुत ही लाभान्वित हुआ तथा चीनी के बढ़े हुए उत्पादन एवं मूल्य से मिल्-मालिकों ने बड़ा लाभ कमाया। किन्तु इस लाभ से गन्ना उत्पादक प्रायः वंचित रह गये। अतः गन्ने के मूल्य को निर्धारित करने के उद्देश्य से सरकार ने 1937 ई० में एक कानून बनाया। उस समय से उत्पादन की लागत, मिलों

के लाभ तथा अन्य सारी बातों को ध्यान में रखकर प्रति वर्ष सरकार द्वारा गन्ने का एक मूल्य तय किया जाता है। 1937 ई० में चीनी उद्योग की स्थिति की जाँच के लिए एक प्रशुल्क मण्डल की नियुक्ति की गयी। प्रशुल्क मंडल ने इस उद्योग की प्रगति पर बहुत अधिक प्रसन्नता प्रकट की तथा सरकार से इस बात की सिफारिश की कि चीनी के आयात पर 7 रु० 25 पैसे प्रति हंडरवेट के हिसाब से आयात कर लगाया जाय। साथ ही, 2 रु० हंडरवेट के उत्पादन कर को भी इसमें सम्मिलित कर लिया जाय। अतः मण्डल द्वारा कुल मिलाकर 9 रु० 25 पैसे प्रति हंडरवेट संरक्षण कर लगाने की सिफारिश की गयी। साथ ही, प्रशुल्क मण्डल ने इस बात पर भी जोर दिया कि देश में चीनी के उत्पादन पर उत्पाद कर केवल चीनी उद्योग के लिए ही नहीं, बल्कि गन्ने के उत्पादकों के हित के भी विरुद्ध था। अतः, मंडल ने इसे हटा लेने की सिफारिश की। मण्डल ने शीरा तथा अन्य गौण पदार्थों के समुचित उपयोग पर भी जोर दिया। किन्तु सरकार के निर्णय में विलम्ब के कारण 1939 ई० तक पुराने कर ही चलते रहे।

1939 ई० में सरकार ने चीनी उद्योग को दो वर्षों के लिए और संरक्षण प्रदान किया जिसके अनुसार चीनी के आयात पर 8 रु० 75 पैसे प्रति हंडरवेट के हिसाब से आयात कर लगाया गया जो मंडल द्वारा प्रस्तावित कर (9 रु० 25 पैसे प्रति हंडरवेट) से 50 पैसे प्रति हंडरवेट कम था। किन्तु उत्पाद कर को सरकार ने नहीं हराया। युद्धकाल में संरक्षण जारी रखने के सामान्य अधिनियम (Protection Duties Continuance Act) के आधार पर चीनी उद्योग को भी संरक्षण मिलता रहा। 1947 ई० में प्रशुल्क मण्डल ने इस उद्योग की स्थिति की पुनः जाँच की। मण्डल की सिफारिशों के आधार पर संरक्षण की अवधि दो वर्षों के लिए और बढ़ा दी गयी। 1949 ई० में प्रशुल्क मण्डल ने पुनः इस उद्योग की स्थिति की जाँच की और दो वर्षों के लिए संरक्षण की अवधि और बढ़ाने की सिफारिश की। किन्तु, मण्डल की सिफारिशों के विरुद्ध विधान सभा द्वारा केवल एक वर्ष के लिए ही संरक्षण प्रदान किया गया। 1950 ई० में प्रशुल्क मण्डल ने इस उद्योग की स्थिति की विस्तारपूर्वक जाँच के पश्चात् सरकार से चीनी उद्योग पर से संरक्षण हटा लेने की सिफारिश की। सरकार ने मण्डल की सिफारिशों के आधार पर 1950 ई० में चीनी उद्योग पर से संरक्षण हटा लिया। इस प्रकार चीनी उद्योग को कुल मिलाकर लगातार प्रायः 19 वर्षों तक संरक्षण मिला।

संरक्षण से भारतीय चीनी उद्योग को बहुत ही लाभ हुआ और कुछ ही वर्षों में भारत, जो संरक्षण के पूर्व चीनी के लिए विदेशों पर आश्रित था, संरक्षण के फल-स्वरूप विश्व में चीनी का सबसे बड़ा उत्पादक राष्ट्र हो गया। अतः, भारतीय चीनी उद्योग को 'संरक्षण का शिशु'।



(The Indian Sugar Industry is the child of Protection) कहा जाता है।

निम्नांकित तालिका से संरक्षण के बाद देश में चीनी उद्योग के विकास का अन्दाजा लगता है :—

| वर्ष             | चीनी के कारखानों की संख्या | चीनी का उत्पादन (हजार टन में) |
|------------------|----------------------------|-------------------------------|
| 1931-32          | 33                         | 190                           |
| 1938-39          | 122                        | 642                           |
| 1945-46          | 138                        | 923                           |
| 1950-51          | 193                        | 1134                          |
| 1955-56          | 143                        | 1890                          |
| 1960-61          | 174                        | 3421                          |
| 1965-66          | 200                        | 3541                          |
| 1968-69          | 205                        | 3558                          |
| 1973-74          | 229                        | 3860                          |
| 1977-78          | ....                       | 5200                          |
| 1982-83 (लक्ष्य) | ....                       | 6200                          |

किन्तु संरक्षण की नीति की कई कारणों से आलोचना भी की जाती है। सर्वप्रथम तो चीनी के आन्तरिक उत्पादन पर लगाये गये कर से इस उद्योग को बहुत क्षति पहुँची। मई, 1937 ई० में विश्व के 21 प्रमुख चीनी उत्पादक-राष्ट्रों के बीच एक समझौता हुआ जिसमें भारत भी सम्मिलित था। इस समझौते के अनुसार 5 वर्षों तक भारत बर्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी देश में समुद्र के जरिये चीनी का निर्यात नहीं कर सकता था। लेकिन दूसरी ओर अन्य सभी देशों को भारत के बाजार में चीनी बेचने की छूट दे दी गयी। इस प्रकार की नीति ऐसे समय में अपनायी गयी थी जब देश का चीनी उद्योग अपनी आन्तरिक आवश्यकताओं से अधिक उत्पादन कर सकता था। अतः इस समझौते का भारतीय चीनी उद्योग पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। प्रो० अंदारकर ने इस नीति की आलोचना करते हुए कहा है कि इस अन्तर्राष्ट्रीय समझौते से भारतीय उद्योगों के विकास के प्रति तत्कालीन भारत सरकार की वास्तविक अभिरुचि का अन्दाजा लगता है।

**नियन्त्रण :—**प्रारम्भ से ही चीनी उद्योग पर सरकार का थोड़ा-बहुत नियन्त्रण रहा है। सन् 1934 ई० के 'सुगर केन ऐक्ट' द्वारा प्रान्तीय सरकारों को गन्ने का न्यूनतम मूल्य तय करने का अधिकार दिया गया था। 1937 ई० में चीनी के अधिक उत्पादन के फलस्वरूप चीनी बाजार में मन्दी आ जाने के कारण अन्तरिक प्रतियोगिता के भय से उत्तर प्रदेश तथा बिहार की 90 चीनी मिलों ने उत्पादन, मूल्य तथा गन्ने की उपलब्धि आदि तय करने के लिए एक भारतीय चीनी सिण्डिकेट (Indian Sugar Syndicates) की स्थापना की। इन दोनों प्रान्तों की सरकारों द्वारा इस सिण्डिकेट को मान्यता प्रदान की गयी तथा उत्तर प्रदेश एवं बिहार की मिलों को चीनी के विक्रय

एवं गन्ने की खरीद के लिए सिण्डिकेट के माध्यम से काम करने के लिए बाध्य किया गया।

द्वितीय महायुद्ध एवं बाद के समय में चीनी के उत्पादन एवं वितरण पर सरकार का नियन्त्रण रहा। भारत सरकार द्वारा 'सुगर कंट्रोल आर्डर' (1942) के अन्तर्गत चीनी की थोक एवं खुदरा कीमत तय कर दी गयी तथा वितरण की व्यवस्था की गयी। 1943-44 ई० के बाद देश में चीनी का उत्पादन घट गया जिससे द्वितीय महायुद्ध के अन्तिम वर्षों में चीनी का अभाव-सा जान पड़ने लगा। अधिक उत्पादन के उद्देश्य से चीनी मिलों को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए 1947 ई० में चीनी पर से नियन्त्रण हटा लिया गया। किन्तु इसका प्रभाव आशाजनक नहीं हुआ तथा मूल्य में वृद्धि होने लगी। सरकार मूल्य में इस वृद्धि के लिए उद्योगपतियों को दोष देती थी और उद्योगपति इसके लिए गन्ने के अधिक मूल्य, मजदूरों की अशान्तप्रिय नीति, उत्पाद कर एवं सरकार के अनुचित अंकुश को दोष देते थे। फलस्वरूप, सरकार ने 1949 ई० में पुनः नियन्त्रण की नीति को अपनाया तथा 1950 ई० में भारतीय चीनी सिण्डिकेट को तोड़ दिया। पुनः 1950 ई० में चीनी के उत्पादन को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से सरकार ने आंशिक रूप में नियन्त्रण हटाने की घोषणा की। साथ ही, गुड़ तथा खांडसारी के मूल्य भी निश्चित कर दिये गये जिससे चीनी उद्योग को कोई हानि न हो। 1950-51 ई० में उत्तर प्रदेश में गन्ने की फसल अच्छी होने के कारण चीनी का उत्पादन बहुत अधिक हुआ। अतः 1951-52 ई० में नियन्त्रण की नीति को और भी उदार बनाया गया तथा 1952-53 ई० से चीनी पर से अन्तिम रूप से नियन्त्रण हटा दिया गया। किन्तु पुनः 1962-63 में चीनी का उत्पादन कम होने के कारण मूल्य वृद्धि होने लगी। अतएव अप्रैल, 1963 ई० से पुनः चीनी के मूल्य तथा वितरण पर नियन्त्रण लगाया गया। किन्तु 1969 ई० में इसे आंशिक रूप से अनियन्त्रित कर दिया गया जिसके अनुसार आजकल 40 प्रतिशत चीनी मुक्त बाजार में बेची जाती है।

### चीनी उद्योग की वर्तमान स्थिति

(Present Position of the Sugar Mill Industry)

भारत के कृषि से सम्बन्धित उद्योगों (Agro-industries) में चीनी उद्योग का स्थान द्वितीय है। इसमें कुल 500 करोड़ रुपये की पूँजी का विनियोग हुआ है तथा, लगभग 2.5 लाख श्रमिक कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त गुन्ना-उत्पादक तथा वितरक के रूप में बहुत सारे व्यक्तियों को इस उद्योग से रोजी मिली है। इससे देश की आर्थिक व्यवस्था में चीनी उद्योग का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। विश्व के चीनी एवं गन्ना उत्पादक राष्ट्रों में भारत का सर्वप्रथम स्थान है। भारत में गन्ने द्वारा तीन प्रकार से चीनी तैयार की जाती है—(क) आधुनिक ढंग की बड़ी-



बड़ी मिलों द्वारा, (ख) स्वदेशी चीनी या खांडसारी चीनी, तथा (ग) गुड़। मिल की चीनी अधिक साफ होती है। खांडसारी चीनी गुड़ से तैयार की जाती है जो भूरे रंग की होती है और गुड़ गाँवों में किसानों द्वारा तैयार किया जाता है। हमारे देश में कुल गन्ने का अनुमानतः 60 प्रतिशत भाग गुड़ बनाने में ही प्रयोग किया जाता है।<sup>1</sup> इसका प्रमुख कारण चीनी की अपेक्षा गुड़ का अधिक सस्ता होना है जिससे आज भी हमारी ग्रामीण जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग मुख्यतः गुड़ का ही उपयोग करता है।

चीनी का उत्पादन गन्ना पर आधारित होने के कारण बड़ा ही अनिश्चित रहता है। इससे चीनी की उपलब्धि में भी अनिश्चितता पायी जाती है। पिछले कुछ वर्षों में चीनी के उत्पादन, आंतरिक उपयोग तथा निर्यात का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है—

चीनी का उत्पादन, उपभोग तथा निर्यात लाख टन में

| वर्ष    | उत्पादन | आंतरिक उपभोग | निर्यात |
|---------|---------|--------------|---------|
| 1960-61 | 30.13   | 20.52        | 2.52    |
| 1965-66 | 35.55   | 27.97        | 3.98    |
| 1966-67 | 21.60   | 26.26        | 1.85    |
| 1968-69 | 35.59   | 26.05        | 0.84    |
| 1969-70 | 42.60   | 32.64        | 2.21    |
| 1970-71 | 37.40   | 40.25        | 3.90    |
| 1973-74 | 39.49   | 35.2         | 4.39    |
| 1975-76 | 43.00   | 36.00        | 8.70    |

चीनी के उत्पादन की अनियमित प्रवृत्ति (Erratic trend) का प्रधान कारण इसका कृषि-उद्योग पर आधारित होना है जिसकी प्रवृत्ति बहुत ही अनिश्चित होती है। द्वितीयतः इसका उत्पादन बहुत हद तक गन्ने की कीमत पर निर्भर करता है जो इस उद्योग का एक प्रधान कच्चा माल है। गन्ने की कीमत एक ओर प्रतियोगी फसलों की कीमत तथा दूसरी ओर सरकार द्वारा निर्धारित गन्ने के मूल्यों पर निर्भर करती है। इस प्रकार भारत विश्व में चीनी का सबसे बड़ा उत्पादक देश है। किन्तु हमारे देश में चीनी की प्रति-व्यक्ति औसत खपत अन्य देशों की तुलना में बहुत ही कम है। 1966 ई० में चीनी की प्रति-व्यक्ति वार्षिक खपत ग्रेट ब्रिटेन में 135 ग्राम, संयुक्त राज्य अमेरिका में 133 ग्राम तथा आस्ट्रेलिया में 144 ग्राम थी जबकि भारत में यह केवल 50 ग्राम थी।

चीनी उद्योग का विभिन्न राज्यों के बीच वितरण :— प्रारम्भ में भारत का चीनी उद्योग उत्तर प्रदेश, बिहार तथा अन्य उत्तरी राज्यों में ही केन्द्रित था। 1937-38 ई० में देश के कुल चीनी उत्पादन का प्रायः 85 प्रतिशत इन्हीं

दो राज्यों से प्राप्त हुआ था। चीनी उद्योग के इस केन्द्रीयकरण के बहुत-से कारण थे जैसे—उत्तर प्रदेश तथा बिहार में गन्ने की खेती अधिक होती है। साथ ही, इस भाग में चीनी की मिलों को सुगमतापूर्वक कोयला भी प्राप्त हो जाता है। भारत का यह भाग घना आबाद भी है जिससे चीनी की मिलों के लिए श्रमिक भी सुगमतापूर्वक प्राप्त हो जाते हैं तथा चीनी के लिए बाजार भी मिल जाता है। उक्त सभी कारणों से यह उद्योग मुख्यतः उत्तर प्रदेश तथा बिहार में ही केन्द्रित रहा है। 1960-61 तक देश के कुल उत्पादन का प्रायः 60 प्रतिशत भाग इन राज्यों से प्राप्त होता था। किन्तु, पिछले कुछ वर्षों से इस उद्योग के दक्षिण में, विशेषतः गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आन्ध्र तथा कर्नाटक आदि राज्यों में विकसित होने की प्रवृत्ति पायी जाती है। परिणामस्वरूप 1974-75 में चीनी उत्पादन में विभिन्न राज्यों का हिस्सा इस प्रकार हो गया था—उत्तर प्रदेश 29.8 प्रतिशत, बिहार 4.4 प्रतिशत, महाराष्ट्र 31.6 प्रतिशत, आन्ध्र प्रदेश 8.3 प्रतिशत, कर्नाटक 7.3 प्रतिशत तथा तमिलनाडु में 8.6 प्रतिशत। इस प्रकार स्पष्ट है कि दक्षिणी राज्यों में पिछले कुछ वर्षों में चीनी उद्योग का अधिक विकास हुआ है जिससे कुल उत्पादन का अब दो-तिहाई भाग गन्ना उत्पन्न करने लगे हैं। वास्तव में, दक्षिणी भारत की भूमि गन्ने की खेती के लिए अधिक उपयुक्त है। इस भाग में गन्ने की प्रति-एकड़ औसत उपज भी अधिक है तथा गन्ने में रस का अनुपात उत्तरी भाग की अपेक्षा 1 से 2 प्रतिशत अधिक रहता है। अतः, दक्षिणी भारत में गन्ने के कारखाने को अधिक प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं। साथ ही, इस भाग के कारखाने अपने गौण पदार्थों का भी अच्छे ढंग से उपयोग कर लेते हैं।

### चीनी उद्योग की वर्तमान समस्याएँ

(Present Problems of Sugar Industry)

भारतीय चीनी उद्योग के समक्ष आज निम्नलिखित प्रमुख समस्याएँ हैं :

(1) गन्ने की प्रति-एकड़ उपज का कम होना (Low per acre yield of sugarcane) :—भारत विश्व में गन्ने का सबसे बड़ा उत्पादक देश है। किन्तु देश में गन्ने की प्रति-एकड़ औसत उपज विश्व के प्रायः सभी देशों से कम है तथा निरन्तर कम होती जा रही है। 1961-62 ई० में गन्ने की प्रति-एकड़ उपज हमारे देश में 18.1 टन थी। इसकी तुलना में क्यूबा में प्रति-एकड़ उपज 56 टन तथा हवाई में 80 टन थी। साथ ही, भारत के सभी राज्यों में गन्ने की उपज एक समान नहीं होती। उत्तर प्रदेश एवं बिहार में, जहाँ देश के कुल उत्पादन का प्रायः दो-तिहाई से भी अधिक भाग में गन्ना उपजाया जाता है,



गन्ने की प्रति एकड़ उपज 1960-61 ई० क्रमशः 12.0 तथा 11.2 टन थी, तमिलनाडु (आन्ध्र सहित) महाराष्ट्र तथा आन्ध्र में क्रमशः 58.2, 3.10 तथा 21.7 टन थी। अतः तमिलनाडु, आन्ध्र तथा महाराष्ट्र जैसे राज्य में गन्ने की खेती के विस्तार को प्रोत्साहित करना अनिवार्य है।

(2) गन्ने से अपेक्षाकृत कम चीनी का मिलना (Less sugar from cane) :—भारत में केवल गन्ने की प्रति-एकड़ उपज ही कम नहीं है; वरन् यहाँ उत्तम प्रकार के गन्ने की खेती भी नहीं होती जिससे गन्ने से उपलब्ध चीनी का अनुपात अपेक्षाकृत कम होता है। हमारे देश में चीनी की कीमत अधिक होने का एक यह भी प्रमुख कारण है। गन्ने से प्राप्त चीनी का प्रतिशत आस्ट्रेलिया में 14.33, क्यूबा में 12.25, मारिशस में 13.8 तथा जावा में 11.49 है जबकि भारत में यह केवल 9.5 प्रतिशत ही है। गन्ने से अपेक्षाकृत कम चीनी प्राप्त होने का प्रमुख कारण हमारे देश में गन्ने की किस्म का खराब होना है। साथ ही, मिलों में गन्ना पहुँचने में देर होती है जिससे गन्ने का अधिकांश रस रास्ते में ही सूख जाता है और फलतः चीनी का अनुपात भी घट जाता है। अतः गन्ने से उपलब्ध चीनी के प्रतिशत को बढ़ाने के लिए उत्तम कोटि के गन्ने की कृषि को प्रोत्साहित करना अनिवार्य है। साथ ही, मिलों तक गन्ना पहुँचाने में होनेवाली देर को भी यथासम्भव कम करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(3) गन्ने का अभाव (Shortage of cane supply) :—भारत में पिछले कुछ वर्षों से चीनी के कारखानों को पर्याप्त मात्रा में गन्ना नहीं मिल पाता। उत्तरी भारत के कारखानों को बहुत ही कम गन्ना मिल रहा है। इसका प्रधान कारण इस भाग में चीनी के कारखानों का बहुत समीप में स्थित होना है। साथ ही इस भाग में किसान कारखानों को सुविधानुसार गन्ने की प्रति को नियमित बनाने का प्रयास नहीं करते, इससे चीनी के कारखानों को उनकी सुविधानुसार पर्याप्त मात्रा में गन्ना नहीं मिलता। 1960-61 ई० में गन्ने के मूल्य में वृद्धि के कारण इसकी उपज में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हुई है। किन्तु 1962-63 ई० में पुनः गन्ने की उपज में बहुत कमी हो गयी। साथ ही, गुड़ एवं खाँडसारी की कीमत में वृद्धि के परिणामस्वरूप चीनी के कारखानों की कठिनाइयाँ और बढ़ गयीं। इससे चीनी के उत्पादन में पिछले कुछ वर्षों से निरन्तर कमी हो रही है।

(4) गौण-पदार्थों के समुचित-उपयोग की व्यवस्था का अभाव (Lack of proper utilization of by-products) :—भारत में चीनी के कारखानों के गौण-पदार्थों का भी समुचित ढंग से उपयोग नहीं किया जाता

है। इस उद्योग का सबसे महत्त्वपूर्ण गौण-पदार्थ, छोआ (Molasses) है जिसका प्रयोग अल्कोहल तैयार करने में किया जाता है। अल्कोहल के उत्पादन द्वारा देश में पेट्रोल की कमी को दूर किया जा सकता है। आजकल देश की चीनी मिलों में प्रति-वर्ष 300 से 400 हजार टन छोआ निकलता है जिसमें से अधिकांश बेकार हो जाता है। इससे 20 से 25 मिलियन गैलन अल्कोहल तैयार किया जा सकता है। अनुमान लगाया जाता है कि अल्कोहल तैयार करने का खर्च 25 पैसे से 37 पैसे प्रति गैलन तक पड़ता है। (62 पैसे गैलन के हिसाब से उत्पादन कर जोड़ने पर भी पेट्रोल की तुलना में यह सस्ता भी होता है।) चीनी के मूल्य में कमी लाने का यह प्रमुख तरीका है। ग्रेडी मिशन ने भी इसकी चर्चा की थी, किन्तु हमारे देश में इस ओर भी कम ध्यान दिया जाता है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में पावर अल्कोहल के उत्पादन को 1950-51 ई० में 50 लाख गैलन से बढ़ाकर 1955-56 में 180 लाख गैलन करने का आयोजन था; किन्तु प्रथम योजना के अंत तक वास्तविक उत्पादन केवल 100 लाख गैलन ही हुआ। पुनः द्वितीय योजना के अन्त तक पावर अल्कोहल का लक्ष्य 1960-61 ई० में 170 लाख गैलन ही था। इसी प्रकार गन्ने के छिलके से कागज, कार्ड बोर्ड आदि तैयार किये जा सकते हैं। यदि इस उद्योग के गौण-पदार्थों का समुचित रूप से उपयोग किया जाय तो चीनी के कारखानों की आय बढ़ेगी तथा चीनी की कीमत में भी कमी होगी।

(5) आधुनिकीकरण की समस्या (Problem of Modernisation) :—अधिकांश चीनी के कारखानों का आकार अलाभकर है। इससे उत्पादन व्यय अधिक होता है और फलस्वरूप मूल्य भी बढ़ जाता है। अतः उत्पादन व्यय कम करने के लिए इस उद्योग का आधुनिकीकरण आवश्यक है। इसके लिए अनुकूलतम आकार के छोटे कारखानों का बढ़ना अनिवार्य है। साथ ही, कारखाने में अच्छे यन्त्रों एवं उत्पादन के आधुनिक तरीकों के प्रयोग का प्रयत्न करना चाहिए; भारतीय चीनी उद्योग में आधुनिक यन्त्रों के प्रयोग की बड़ी आवश्यकता है। चीनी उद्योग के विकास परिषद् ने यह अनुमान लगाया था कि वर्तमान कारखानों के आधुनिकीकरण का व्यय लगभग 60 करोड़ होगा। अधिकांश कारखाने पूँजी के अभाव में आधुनिकीकरण की स्थिति में नहीं हैं, अतएव अन्य उद्योगों की तरह राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (NIDC) को चीनी के कारखानों को भी आर्थिक सहायता प्रदान करनी चाहिए।

पंचवर्षीय योजनाओं में चीनी उद्योग  
(Sugar Industry in Five Year Plans)

योजना आयोग के अनुसार 1950-51 ई० में चीनी के



कारखानों की उत्पादन-क्षमता 14.4 लाख टन थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) के प्रारम्भ में इसमें किसी प्रकार के विस्तार का आयोजन नहीं था तथा चीनी के उत्पादन का लक्ष्य 18 लाख टन रखा गया था। योजनाकाल में सरकार द्वारा नये-नये कारखानों की स्थापना तथा वर्तमान कारखानों के विस्तार की अनुमति भी दी गयी थी। प्रथम योजना के अन्त में 1955-56 ई० में चीनी का उत्पादन बढ़कर 18.6 लाख टन हो गया, यानि उत्पादन में लक्ष्य से भी अधिक वृद्धि हुई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में चीनी उद्योग के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में चीनी के उत्पादन को बढ़ाकर 22.5 लाख टन करने का आयोजन था। किन्तु योजना के अन्त में यानी 1960-61 ई० में चीनी का उत्पादन लगभग 30 लाख टन हुआ। इस प्रकार द्वितीय योजनाकाल में भी चीनी का उत्पादन लक्ष्य से बहुत अधिक हुआ।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) के अन्तर्गत चीनी के उत्पादन को बढ़ाकर 1965-66 ई० तक 35 लाख टन करने का आयोजन था। साथ ही, गन्ने के उत्पादन को बढ़ाकर 1965-66 ई० तक 10 करोड़ टन करने का आयोजन था। तृतीय योजनाकाल में चीनी उद्योग के विकास पर 100 करोड़ रुपये विनियोग की व्यवस्था थी। तृतीय योजना के अन्त में 1965-66 ई० में चीनी का उत्पादन 36 लाख टन हुआ। योजनाकाल में सहकारिता के आधार पर 54 चीनी के कारखानों की स्थापना की अनुमति दी गयी। किन्तु 1962-63 ई० में चीनी का उत्पादन घटकर 23 लाख टन हो गया था जिससे 1963 ई० के प्रारम्भ में ही देश में चीनी संकट उत्पन्न हो गया; परन्तु यह संकट निश्चय ही अस्थायी था। 4 अगस्त, 1963 ई० को भारत सरकार द्वारा श्री एस० आर० सेन की अध्यक्षता में एक चीनी आयोग (Sugar Commission) की नियुक्ति की जिसने चीनी उद्योग के सम्बन्ध में बहु-मूल्य सुझाव प्रस्तुत किया।

तीनों वार्षिक योजनाओं (Annual Plans) के अंत में 1968-69 में चीनी का उत्पादन घटकर 29 लाख टन हो गया। वास्तव में, इन वार्षिक योजनाओं की अवधि में गन्ने की कम उपज के कारण चीनी के उत्पादन में अत्यधिक कमी हुई।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में चीनी के उत्पादन को बढ़ाकर 1973-74 ई० तक 47 लाख टन करने का आयोजन था। इसमें से अनुमानतः 7.5 लाख टन निर्यात के लिए उपलब्ध होने की आशा थी। किन्तु 1973-74 में चीनी का उत्पादन 39.5 लाख टन हुआ। योजनाकाल में सहकारिता के आधार पर चीनी के कारखानों की क्षमता के विस्तार पर अधिक

जोर दिया गया तथा कई कारखाने स्थापित भी किये गये।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan) में चीनी के उत्पादन को बढ़ाकर 1978-79 में 54 लाख टन करने का आयोजन था। 1977-78 में चीनी का उत्पादन 52 लाख टन था।

छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan) में चीनी के उत्पादन को बढ़ाकर 1982-83 में 62 लाख टन करने का आयोजन है। इसमें से 5 लाख टन निर्यात के लिए रखने की व्यवस्था है। पिछले कुछ समय से mini sugar factories की स्थापना को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है।

चीनी उद्योग की समस्याओं के अध्ययन के लिए भारत सरकार ने एक Sugar Industry Enquiry Commission की नियुक्ति की थी जिसने अपने प्रतिवेदन में निम्नांकित बातों पर जोर दिया :—एक National Sugar Authority का सृजन किया जाय जिसका प्रधान उद्देश्य आंतरिक उपभोग तथा निर्यात के लिए चीनी की आवश्यकता का पता लगाना तथा इसे विभिन्न प्रकार से उत्पन्न करने एवं विक्रय की व्यवस्था करना होगा। देश में उत्पन्न सभी चीनी पर NSA का अधिकार होगा जो इसे विभिन्न प्रकार से बेचने का प्रयत्न करेगा। योजना के अनुसार प्रत्येक वर्ष सरकार कृषि-मूल्य-निगम के परामर्श से गन्ने की कीमत निश्चित कर देगी। उसमें NSA विभिन्न क्षेत्रों की आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकता है। किन्तु राष्ट्रीयकरण की सिफारिश को लेकर बहुत अधिक वाद-विवाद चल रही है।

चीनी का निर्यात (Export of Sugar) :—पिछले कुछ वर्षों से चीनी के निर्यात में बहुत अधिक वृद्धि हुई। 1975-76 में तो कुल 12 लाख टन चीनी का निर्यात हुआ था जिससे 475 करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा प्राप्त हुई थी। यह देश के कुल निर्यात का 14 प्रतिशत भाग था। छठी योजना के अंत में 1982-83 में 5 लाख टन चीनी के निर्यात का आयोजन है।

### 5. सीमेंट उद्योग (Cement Industry)

सीमेंट उद्योग हमारे देश का एक आधारभूत उद्योग है। सीमेंट इमारती सामानों में अद्वितीय है, अतः इसकी माँग बहुत अधिक होती है। आधुनिक ढंग से सीमेंट तैयार करने का पहला कारखाना मद्रास में 1914 ई० में प्रारंभ किया गया था, किन्तु भारतीय सीमेंट उद्योग का वास्तविक इतिहास प्रथम महायुद्ध के साथ प्रारम्भ होता है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक भारत को अपनी कुल आवश्यकता की पूर्ति के लिए विदेशों से सीमेंट का आयात करना पड़ता था। 1914 ई० में हमारे देश में 1,30,000 टन सीमेंट का आयात किया गया था। किन्तु धीरे-धीरे इस



उद्योग के विकास के साथ-साथ सीमेंट का आयात भी कम होने लगा तथा आजकल भारत सीमेंट के क्षेत्र में प्रायः आत्म-निर्भर हो गया है। निम्नलिखित तालिका<sup>1</sup> से भारत में प्रारम्भ से आज तक सीमेंट उद्योग की प्रगति का अन्दाजा लगता है :

| वर्ष    | उत्पादन<br>(लाख टन में) | वर्ष            | उत्पादन<br>(लाख टन में) |
|---------|-------------------------|-----------------|-------------------------|
| 1914    | 0.10                    | 1965-66         | 108.0                   |
| 1940    | 5.8                     | 1968-69         | 136.0                   |
| 1947    | 14.7                    | 1973-74         | 146.7                   |
| 1951-52 | 27.0                    | 1977-78         | 192.0                   |
| 1955-56 | 46.7                    | 1982-83(लक्ष्य) | 300.0                   |
| 1960-61 | 79.0                    |                 |                         |

प्रथम महायुद्ध एवं बाद के समय में इस उद्योग को विकास का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ जिसके फलस्वरूप इस उद्योग में आशाजनक उन्नति हुई है। 1914 ई० में उत्पादन केवल 10 हजार टन था जो बढ़कर 1918 ई० में 85 हजार टन हो गया। किन्तु, 1934-35 ई० में इस उद्योग में कुछ मन्दी के चिह्न दिखाई पड़ने लगे। इसका प्रमुख कारण अत्यधिक उत्पादन तथा आन्तरिक एवं विदेशी प्रतियोगिता का दबाव था। मन्दी से मुक्ति पाने के उद्देश्य से सीमेंट के कारखानों ने एक 'भारतीय सीमेंट संघ' (Indian Cement Manufacturers' Association) बनाया जिसका मुख्य उद्देश्य पूर्ति को नियमित बनाना तथा मूल्य को निश्चित करना था। इस कार्य में संघ को पर्याप्त सफलता भी मिली तथा इनकी आपसी प्रतियोगिता समाप्त हो गयी। सदस्य कम्पनियों के विक्रय-सम्बन्धी कोटा को निश्चित करने के लिए 1930 ई० में एक सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी की स्थापना हुई। सीमेंट उद्योग के इतिहास में दूसरा महत्वपूर्ण कदम 1936 ई० में उठाया गया जब 10 बड़े-बड़े मिलों ने मिलकर 'एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनी लि०' (The Associated Cement Co. Ltd.) नाम की एक कम्पनी बनायी। इस एकीकरण से उद्योग को बहुत लाभ हुआ। किन्तु, 1936-37 ई० की तेजी में सीमेंट की बहुत-सी नयी मिलें प्रारम्भ की गयीं जिनमें डालमिया कम्पनी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 1938 ई० में सीमेंट की कुछ मिलों ने 'डालमिया समूह' का निर्माण किया। इससे पुनः इस उद्योग में आन्तरिक प्रतियोगिता बढ़ गयी। किन्तु 1940 ई० में ए० सी० सी० तथा डालमिया-समूह में आपसी समझौता हो गया जिससे इस उद्योग में आन्तरिक प्रतियोगिता का भय समाप्त हो गया।

द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने से इस उद्योग को बहुत अधिक लाभ हुआ। युद्धकाल में आयात बन्द हो गया

तथा सैनिक आवश्यकताओं के लिए सीमेंट की मांग में बहुत अधिक वृद्धि हुई। फलस्वरूप नये-नये कारखानों की भी स्थापना होने लगी। 1942 ई० में भारत सरकार ने सीमेंट पर नियन्त्रण लगाया तथा सम्पूर्ण भारत के लिए सीमेंट का मूल्य निश्चित कर दिया। देश के कुल उत्पादन का 90 प्रतिशत भाग सीमेंट युद्ध की आवश्यकताओं के लिए ले लिया जाता था तथा केवल 10 प्रतिशत भाग ही नागरिक कार्यों के लिए उपलब्ध था। तब से सीमेंट पर से सरकार का नियन्त्रण किसी-न-किसी रूप में बराबर बना रहा है।

देश-विभाजन के पूर्व 1947 ई० में भारत में कुल 24 सीमेंट के कारखाने थे जिनकी वार्षिक उत्पादन-क्षमता 2,30,000 टन थी। इनमें से 19 कारखाने जिनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता 2,30,000 टन थी, भारत में रह गये तथा शेष पाकिस्तान में चले गये। इसके बाद सीमेंट के और भी नये कारखाने स्थापित किये गये। 1961-62 ई० में देश में सीमेंट के कुल 35 कारखाने थे। सीमेंट के कारखाने असम, पश्चिम बंगाल तथा कश्मीर के अतिरिक्त प्रायः अन्य सभी राज्यों में पाये जाते हैं। अधिकांश कारखाने A. C. C. तथा डालमिया-साहू जैन समूह में हैं।

आजकल देश में सीमेंट के 54 कारखाने हैं। इनमें से 9 राजकीय क्षेत्र में हैं। केन्द्र द्वारा स्थापित सीमेंट निगम (Cement Corporation of India) केन्द्रीय क्षेत्र का एक-मात्र सरकारी उपक्रम है। पिछले कुछ वर्षों से राज्य सरकारों द्वारा भी सीमेंट के कई कारखाने स्थापित किये गये हैं। भारत में सीमेंट की मांग आज भी इसकी पूर्ति से अधिक है। अतएव इस उद्योग के विस्तार का बहुत बड़ा क्षेत्र है। किन्तु प्रधान समस्या सीमेंट उद्योग के लिए आवश्यक यन्त्रों को प्राप्त करना है। आजकल देश में सीमेंट के यन्त्र-निर्माण करने वाले कारखाने भी स्थापित किये जा रहे हैं।

### पंचवर्षीय योजना में सीमेंट उद्योग (Cement Industry in Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) में सीमेंट उद्योग के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में सीमेंट का उत्पादन 1950-51 ई० में 27 लाख टन से बढ़कर 1955-56 ई० में 46.7 लाख टन हो गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में सीमेंट उद्योग को उच्च प्राथमिकता प्राप्त थी। योजना के अन्तर्गत सीमेंट के उत्पादन को बढ़ाकर 1960-61 ई० तक 130 लाख टन करने, यानी प्रायः

1. India, 1976 and Sixth Five Year Plan.



183 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था। किन्तु 1960-61 ई० में सीमेंट का उत्पादन 79.0 लाख टन ही हुआ।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) के अन्तर्गत सीमेंट के उत्पादन को 1960-61 ई० में 79.0 लाख टन से बढ़कर 1965-66 ई० में 132 लाख टन करने का आयोजन था, किन्तु तृतीय योजना का यह लक्ष्य पूरा नहीं हो सका तथा तृतीय योजना के अन्त में सीमेंट का उत्पादन 108 लाख टन ही हुआ। योजनाकाल में सीमेंट के नये कारखानों की स्थापना के लिए सरकारी क्षेत्र में एक सीमेंट कारपोरेशन ऑफ इण्डिया (Cement Corporation of India) की स्थापना की गयी। इस निगम ने अब तक देश के विभिन्न भागों में तीन कारखानों की स्थापना की है।

वार्षिक योजनाओं (Annual Plans) के अन्त में, यानी 1968-69 में सीमेंट का उत्पादन 136 लाख टन था।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में सीमेंट के उत्पादन को 1968-69 ई० में 136 लाख टन से बढ़ाकर 1973-74 ई० तक 180 लाख टन करने का आयोजन था किन्तु उत्पादन 146.7 लाख टन ही हुआ। योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में भी सीमेंट के उत्पादन को बढ़ाने पर जोर दिया गया था। इस उद्देश्य से सीमेंट निगम के अतिरिक्त राज्य सरकारों को भी सीमेंट की कारखानों की स्थापना के लिए प्रोत्साहित किया गया।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan) के अन्त में 1978-79 में सीमेंट के उत्पादन को बढ़ाकर 208 लाख टन करने का आयोजन था। पाँचवीं योजना काल में भारतीय सीमेंट निगम द्वारा 6 नये कारखाने स्थापित किये जाने को थे। राज्यों द्वारा भी सीमेंट के नये कारखाने स्थापित करने पर जोर देने की व्यवस्था थी। 1977-78 में सीमेंट का उत्पादन 192 लाख टन हो गया।

छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan) में सीमेंट के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन

है। 1982-83 तक इसके उत्पादन को बढ़ाकर 300 लाख टन करने का आयोजन है। 1977-78 में सीमेंट का उत्पादन 192 लाख टन हो गया।

पिछले कुछ वर्षों से देश में सीमेंट की मांग में निरन्तर वृद्धि हो रही है। फिर भी, 1966 में भारत में सीमेंट का प्रति व्यक्ति औसत उपयोग 22 कि० ग्रा० था जबकि स्विट्जरलैण्ड में 715 कि० ग्रा०, जापान में 365 कि० ग्रा०, संयुक्त-राज्य अमेरिका में 342 कि० ग्रा० तथा ब्रिटेन में 305 किलोग्राम था।

## 6. इंजीनियरिंग उद्योग (Engineering Industries)

इंजीनियरिंग उद्योग के अन्तर्गत विभिन्न उद्योगों के लिए यन्त्र एवं अन्य उपकरण, बिजली के सामान, रेल तथा मोटर गाड़ियों के इंजन इत्यादि आते हैं। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक हमारे देश में इन उद्योगों का अभाव था। किन्तु युद्ध के दौरान सरकार द्वारा इंजीनियरिंग उद्योग के लिए छिट-पुट प्रयत्न प्रारम्भ किये गये। 1947 ई० से तो इन उद्योगों के विकास के लिए सरकार विशेष रूप से प्रयत्नशील है तथा अबतक भारत इंजीनियरिंग की कई वस्तुओं के उत्पादन में प्रायः आत्म-निर्भर हो गया है। वास्तव में, द्रुतगति से आर्थिक विकास के लिए इंजीनियरिंग उद्योग का विकास अनिवार्य है क्योंकि इस उद्योग के द्वारा विभिन्न उद्योगों के लिए यन्त्र इत्यादि तैयार किये जाते हैं।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत इंजीनियरिंग उद्योग के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में इसके विकास के कई कार्यक्रम कार्यान्वित किये गये। तृतीय पंचवर्षीय योजना तथा चतुर्थ योजनाकाल में भी इंजीनियरिंग उद्योग के विकास के लिए बहुत अधिक प्रयत्न किये गये।

पंचवर्षीय योजनाओं में इस उद्योग की प्रगति का अन्दाजा निम्नलिखित तालिका से लगाया जा सकता है—

### इंजीनियरिंग उद्योग की प्रगति

| उद्योग                                       | 1960-61 | 1965-66 | 1968-69 | 1973-74 | 1977-78 | 1982-83  |
|----------------------------------------------|---------|---------|---------|---------|---------|----------|
| औद्योगिक यन्त्र                              |         |         |         |         |         | (लक्ष्य) |
| (क) सूती-वस्त्र उद्योग के यन्त्र (करोड़ रु०) | 10.4    | 21.6    | 13.8    | 45.8    | 130.0   | 190.0    |
| (ख) सीमेंट, ,, ,,                            | 60      | 4.9     | 8.2     | 8.1     | 18.0    | 34.0     |
| (ग) कागज, ,, ,,                              | ,,      | 1.7     | 2.7     | 5.2     | 13.5    | 30.0     |
| (घ) मशीन टूल्स, ,,                           | 7.0     | 29.4    | 25.0    | 67.3    | 100.0   | 160.0    |
| बिजली का पंखा (लाख)                          | 0.6     | 13.6    | 5.0     | 26.3    | 40.0    | 50.0     |



इस प्रकार पिछली तीन पंचवर्षीय योजनाओं में इंजीनियरिंग उद्योग में विशेष प्रगति हुई है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में भी इंजीनियरिंग उद्योग को उच्च प्राथमिकता दी गयी थी। योजनाकाल में इस उद्योग पर निजी क्षेत्र में 79.7 करोड़ रुपये विनियोग का आयोजन था।

**पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan)** में भी इस उद्योग के विकास को उच्च प्राथमिकता प्राप्त थी। छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan) में तो इस पर और अधिक जोर देने की व्यवस्था है।

### 7. कागज उद्योग (Paper Industry)

**विकास :** हाथ से कागज बनाने का धन्धा भारत में सदियों पूर्व से होता आ रहा है। किन्तु आधुनिक ढंग से कागज बनाने का पहला कारखाना भारत में सर्वप्रथम 1870 ई० में कलकत्ता के निकट हुगली नदी पर स्थित बाली नामक स्थान में स्थापित किया गया। इसके बाद लखनऊ में 'अपर इण्डिया पेपर मिल' (1899), बंगाल में 'टीटागढ़ पेपर मिल' (1882), पूना में 'दक्कन पेपर मिल' (1887) तथा अन्य कारखाने स्थापित किये गये। इस प्रकार 1920 ई० तक देश में कागज बनाने के कुल 7 कारखाने स्थापित हो गये थे जिनमें प्रतिवर्ष 19 हजार टन कागज बनता था। किन्तु प्रारम्भ में भारतीय कागज उद्योग को सस्ते कागज की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। फिर भी, 1924 ई० तक देश में कागज के कुल 9 कारखाने हो गये जिनमें 33,000 टन कागज का उत्पादन होता था। इस उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता से राहत दिलाने के लिए 1925 ई० में सरकार द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया। 1925 ई० के कागज उद्योग संरक्षण अधिनियम के अनुसार विदेशी कागज के आयात पर 9 आना प्रति पौंड की दर से सात वर्षों के लिए एक आयात कर लगाया गया। 1932 ई० में पुनः इस कर की अवधि

सात वर्षों के लिए और बढ़ा दी गयी। 1939 ई० में इन करों में कुछ कमी कर दी गयी। द्वितीय युद्धकाल में भी कागज उद्योग को संरक्षण मिलता रहा। 1947 ई० में फिर से संरक्षण की अवधि बढ़ाने की आवश्यकता नहीं समझ कर इस उद्योग से संरक्षण हटा लिया गया। संरक्षण के फलस्वरूप भारतीय कागज उद्योग का बहुत आशाजनक विकास हुआ।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान कागज के कारखानों की संख्या बढ़कर 15 हो गयी तथा 1944 ई० में इसका उत्पादन 2,30,884 टन हो गया। तब से देश में कागज उद्योग की उत्तरोत्तर प्रगति होती जा रही है। 1950-51 में कागज का उत्पादन 116 हजार टन, 1960-61 में 350 हजार टन तथा 1965-66 में 558 हजार टन हो गया। 1975-76 में कागज एवं दफती गन्ना का उत्पादन 829 हजार टन था।

भारत में कागज उद्योग के लिए आवश्यक प्रायः सभी कच्चे पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। यहाँ के वनों में सर्वाई एवं भाभर घास तथा बाँस आदि पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। भारत में आजकल प्रायः सभी प्रकार के कागज तथा दफ्तियाँ तैयार की जाती हैं। किन्तु, अखबारी कागज के क्षेत्र में हमारा देश अभी बहुत ही पिछड़ा है। भारत में अखबारी कागज (newsprint) का पहला कारखाना नेपालगर मध्यप्रदेश जनवरी, 1955 ई० में स्थापित किया गया। 1974-75 ई० में इसका उत्पादन 55 हजार टन था। पाँचवीं योजना में अखबारी कागज के उत्पादन को बढ़ाकर 1978-79 ई० तक 80 हजार टन करने का आयोजन है।

**पंचवर्षीय योजनाओं में कागज उद्योग (Paper Industry in Five Year Plans):** पंचवर्षीय योजनाओं में कागज उद्योग के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है जिसका अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :

| किस्म                  | पंचवर्षीय योजना में कागज एवं दफती का उत्पादन (हजार टन में) |         |         |         |         |                     |
|------------------------|------------------------------------------------------------|---------|---------|---------|---------|---------------------|
|                        | 1950-51                                                    | 1960-61 | 1965-66 | 1973-74 | 1977-78 | 1982-83<br>(आयोजित) |
| वार्षिक उत्पादन क्षमता | 137                                                        | 418     | 567     | 1925    | 1137    | 1650                |
| कागज एवं दफती          | 132                                                        | 350     | 558     | 776     | 900     | 1250                |
| अखबारी कागज            | —                                                          | 23      | 30.3    | 48.1    | 58      | 120                 |

इस प्रकार प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) के अन्त में कागज एवं दफती का उत्पादन 1955-56 ई० में 190 हजार टन हो गया है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में भी इसके उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। 1960-61 तक कागज एवं दफती का उत्पादन 350 हजार टन तथा अखबारी कागज का उत्पादन 23 हजार टन हो गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) में कागज एवं दफती के उत्पादन को बढ़ाकर 1965-66 में 700 हजार टन तथा अखबारी कागज के उत्पादन को 320 हजार टन करने का आयोजन था। किन्तु योजना का यह लक्ष्य पूर्ण नहीं हो सका तथा 1965-66 में कागज एवं दफती का उत्पादन 558 हजार टन तथा अखबारी कागज का उत्पादन केवल 20 हजार टन हुआ।



1968-69 में कागज का उत्पादन 647 हजार टन था।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में 1968-69 में कागज एवं दफती के उत्पादन को 647 हजार टन तथा अखबारी कागज के उत्पादन को 30 हजार टन से बढ़ाकर 1973-74 ई० में क्रमशः 850 हजार टन तथा 150 हजार टन करने का आयोजन था। किन्तु योजना के इन लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हुई तथा इनका उत्पादन क्रमशः 830 हजार टन तथा 43 हजार टन ही हुआ। योजनाकाल में 1970 में एक Hindustan Paper Corporation Ltd. का निर्माण किया गया। निगम ने तीन कागज तथा एक अखबारी कागज के कारखाने की स्थापना का कार्यक्रम तैयार किया है।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan) में कागज उद्योग के विकास पर पूरा-पूरा जोर दिया गया था। योजना के अन्त में 1978-79 में कागज के उत्पादन को बढ़ाकर 1050 हजार टन तथा अखबारी कागज के उत्पादन को बढ़ाकर 80 हजार टन करने का आयोजन था जबकि 1977-78 में कागज का उत्पादन 900 हजार टन तथा अखबारी कागज का 58 हजार टन हुआ।

छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan) में कागज एवं दफती के उत्पादन को बढ़ाकर 1-82-83

में 1250 हजार टन तथा अखबारी कागज के उत्पादन को 120 हजार टन करने का आयोजन है।

## 8 भारी रसायन उद्योग (Heavy Chemical Industries)

‘भारी-रसायन’ के अन्तर्गत वे रसायन आते हैं जो विभिन्न प्रकार की उपभोक्ता वस्तुओं के निर्माण में कच्चे पदार्थ की तरह प्रयोग किये जाते हैं। इनके अन्तर्गत सल्फ्यूरिक एसिड, कॉस्टिक सोडा, सोडा एस तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुएँ आती हैं। रासायनिक पदार्थों की आवश्यकता कागज, कपड़ा, चीनी, चमड़ा एवं औषधियों के निर्माण में पग-पग पर पड़ती है। हमारे देश में रसायन उद्योग का बहुत कम विकास हुआ है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व रासायनिक उद्योगों के अन्तर्गत केवल सल्फ्यूरिक एसिड तथा इसी प्रकार के कुछ अन्य पदार्थों का ही महत्त्व था। किन्तु आजकल इस उद्योग का विकास उत्तरोत्तर हो रहा है।

पंचवर्षीय योजनाओं में इनके विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया जा रहा है। निम्नांकित तालिका से गत कुछ वर्षों में महत्त्वपूर्ण रासायनिक-पदार्थों के उत्पादन का अन्दाजा लगता है—

### रासायनिक पदार्थों का उत्पादन (हजार टन में)

|                 | 1950-51 | 1960-61 | 1965-66 | 1968-69 | 1973-74 | 1977-78 | 1982-83<br>(आयोजित) |
|-----------------|---------|---------|---------|---------|---------|---------|---------------------|
| नत्रजनक खाद     | 9       | 101     | 232     | 541     | 1058    | 2060    | 4100                |
| फॉस्फोरिक खाद   | 9       | 53      | 23      | 210     | 319     | 660     | 1125                |
| सल्फ्यूरिक एसिड | 101     | 368     | 662     | 1038    | 1343    | 1900    | 2910                |
| सोडा एस         | 15      | 152     | 331     | 495     | 580     | 570     | 800                 |
| कास्टिक सोडा    | 12      | 101     | 218     | 304     | 420     | 530     | 800                 |

इनमें नत्रजनक खाद (Nitrogenous fertiliser) के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के रासायनिक उद्योगों का

विकास निजी क्षेत्र के अन्तर्गत ही हुआ है।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. Mehta, M. M.
2. Roshen, G
3. Planning Commission
4. "
5. "
6. Govt. of India
7. Planning Commission

- : Structure of the Indian Industries.
- : Industrial Changes in India.
- : First, Second, Third, Fourth and Fifth Five Year Plans.
- : Programmes of Industrial Development (1956-61)
- : Programmes of Industrial Development (1961-66)
- : India 1976.
- : Draft Five Year Plan. (1978-83)



## अध्याय : 34

सरकारी क्षेत्र की औद्योगिक संस्थाएँ  
(State-Owned Industrial Undertakings)

**प्राक्कथन :—**भारत की वर्तमान औद्योगिक नीति के अनुसार कुछ विशेष प्रकार के उद्योगों के विकास का पूरा-पूरा दायित्व भारत सरकार ही पर है। (The state will progressively assume predominant and direct responsibility for setting up new industrial undertakings and for developing transport facilities.) 1956 ई० की औद्योगिक नीति (30 अप्रैल, 1956) के अनुसार 'अ' श्रेणी के उद्योगों के विकास का पूर्ण दायित्व भारत सरकार पर है तथा 'ब' श्रेणी के उद्योगों को भी धीरे-धीरे सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत लाने का आयोजन है। उक्त नीति के आधार पर सरकार द्वारा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश में विभिन्न प्रकार के नये-नये उद्योगों की स्थापना को गयी है। इनमें से अधिकांश उद्योग राष्ट्रीय महत्त्व के हैं। साथ ही, इनकी स्थापना निजी क्षेत्र के सामर्थ्य से परे है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि देश के आर्थिक जीवन में राजकीय उपक्रमों का महत्त्व निरंतर बढ़ते जा रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार का उद्देश्य देश के आर्थिक विकास की गति को तीव्र बनाना है। किन्तु यह तो केवल महत्त्वपूर्ण सामाजिक तर्क ही है। वास्तव में, वर्तमान समय में राज्य का एक प्रधान कार्य निजी व्यक्तियों के हाथ में धन एवं आय के अत्यधिक केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को रोकना है। सरकारी क्षेत्र के विस्तार के द्वारा हम अपने निम्नांकित प्रमुख राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति कर सकते हैं : निर्धनता को दूर करना, आत्म-निर्भरता की प्राप्ति, आय की विषमताओं में कमी, क्षेत्रीय असमानताओं का निवारण, रोजगार के अवसरों में वृद्धि तथा कृषि एवं उद्योग-धन्धों का त्वरित विकास।

## राजकीय उपक्रमों के संगठन का स्वरूप

संगठन की दृष्टि से देश के राजकीय उपक्रमों को मुख्यतया निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

(i) विभागीय ढंग पर संगठन (Departmental Organisation) :—इसमें वे उपक्रम आते हैं जिनकी व्यवस्था सरकार के विभागों द्वारा की जाती है। (Undertakings managed by administrative departments of the Govt.)। उदाहरण के लिए चित्तूरंजन का रेलवे इंजन का कारखाना तथा इण्टेग्रल कोच

फैक्टरी इत्यादि। किन्तु, हमारे देश में इस तरीके का सीमित रूप में ही प्रयोग हुआ है।

(ii) निजी सीमित दायित्व वाली कम्पनियों के आधार पर (Private Limited Companies) :—इनमें वे उपक्रम आते हैं जिनकी व्यवस्था संयुक्त पूँजी कम्पनी के आधार पर निमित्त निजी सीमित दायित्व वाली कंपनियों के द्वारा भी की जाती है, जिनमें सरकार या तो इनकी सम्पूर्ण हिस्सा पूँजी अथवा आधे से अधिक भाग स्वयं प्रदान करती है। (Undertakings managed by companies in which the Government holds either the entire or the major part of the capital.) उदाहरण के लिए हिन्दुस्तान एन्टिबायोटिक्स लिमिटेड, नहान फाउण्ड्री लिमिटेड, हिन्दुस्तान स्टील्स लिमिटेड इत्यादि।

(iii) सार्वजनिक निगम (Public Corporations) : इनमें ऐसे उपक्रम आते हैं जिनकी व्यवस्था वैधानिक मण्डलों (Undertakings managed by statutory corporations) के द्वारा की जाती है। उदाहरण के लिए, दामोदर भूली कॉरपोरेशन, एयर इण्डिया कॉरपोरेशन तथा जीवन बीमा निगम इत्यादि।

इस प्रकार राजकीय उपक्रमों की व्यवस्था के तीन तरीके हमारे देश में प्रचलित हैं। किन्तु इनमें से औद्योगिक संस्थानों के लिए सरकारी विभागों द्वारा व्यवस्था उपयुक्त नहीं होती क्योंकि इनमें एक ओर तो सरकारी हस्तक्षेप अधिक होता है तथा निर्णय लेने में अधिक देर होती है तो दूसरी ओर इनकी कुशलता भी बहुत कम होती है। इसलिए श्री ए० डी० गोरवाला<sup>1</sup> ने अपने "Report on the Efficient conduct of State Enterprises" में यह विचार व्यक्त किया है कि 'विभागीय व्यवस्था एक सामान्य नियम नहीं होकर केवल अपवाद होनी चाहिए।' (Departmental management must be rare exception and not the general rule.)

निजी सीमित कम्पनी द्वारा राजकीय उद्योग की व्यवस्था के अन्तर्गत तो सभी हिस्से या आधे से अधिक हिस्से सरकार अपने पास रखती है। इस प्रकार की कम्पनियाँ अन्य कम्पनियों की तरह कार्य करती हैं। अन्तर केवल इतना ही होता है कि इनके संचालक-मण्डलों में सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य होते हैं। इनकी कार्यविधि

1. A. D. Gorwala : Report on the Efficient conduct of State Enterprises, p. 13.



अपेक्षाकृत सरल होती है एवं निर्णय में भी कोई देर नहीं होती। किन्तु इनका सबसे बड़ा दोष यह है कि ये संसद् के नियन्त्रण में नहीं होतीं। भारत में राजकीय उपक्रमों की व्यवस्था में इस तरीके की कम्पनियों की प्रधानता है।

राजकीय उपक्रमों की व्यवस्था में वैधानिक निगमों का विशेष महत्त्व है। वैधानिक निगम अर्द्ध-स्वतन्त्र संस्था होते हैं जो संसद् के विशेष अधिनियमों के द्वारा स्थापित किये जाते हैं। इनमें सरकारी नियन्त्रण एवं हस्तक्षेप बहुत ही कम होता है तथा इनके कर्मचारी, हिसाब-किताब एवं वित्तीय साधन सभी अपने होते हैं। इसलिए प्रेसिडेंट रूजवेल्ट (President Roosevelt) के अनुसार "इन निगमों के पास सरकार जैसी शक्ति तथा निजी उपक्रम जैसी लोच एवं प्रेरणा होती है" ("...Clothed with the power of Government but possessed of the flexibilities and initiative of private enterprises") श्री गोरवाला के अनुसार भी "राजकीय उद्योग की व्यवस्था के सम्बन्ध में उन क्षेत्रों में जो विलकुल व्यावसायिक प्रकृति के होते हैं संयुक्त पूँजी कम्पनी तथा जहाँ सरकार जैसे कार्यों की आवश्यकता होती है, वहाँ पर सार्वजनिक निगमों की प्रधानता होनी चाहिए।" (The company type of organisation is preferred where the nature of the work is substantially commercial, the public corporation is to be preferred where the undertaking is discharging what is in effect an extension of the functions of the Government e. g. irrigation or hydro-electric projects.)<sup>1</sup>

भारत में सरकारी क्षेत्र का विकास (The Evolution of Public Sector in India) : प्रथम योजना के प्रारम्भ में केन्द्रीय सरकार के उपक्रमों (रेलवे को छोड़कर), में कुल लगभग 29 करोड़ रुपये की पूँजी का विनियोग हुआ था जो तृतीय योजना के अन्त में बढ़कर 241.5 करोड़ रुपये तथा चतुर्थ योजना के अन्त में 31 मार्च, 1974 को 6,237 करोड़ रुपये हो गया। 1976-77 के अन्त में केन्द्रीय सरकार के तत्वावधान में 144 कम्पनियाँ (Industrial and Commercial Undertakings of the Central Govt.) थीं, जिनमें से 132 कार्य कर रही थीं तथा 12 अभी निर्माणाधीन थीं। इन कम्पनियों में कुल 11,097 करोड़ रुपये की पूँजी का विनियोग हुआ था। इनमें से बोकारो स्टील में 1341 करोड़ रुपये तथा हिन्दुस्तान स्टील लि० में 1290 करोड़ रुपये की पूँजी लगी थी जो सरकारी उपक्रमों में कुल विनियोग का 23 प्रतिशत भाग था। केन्द्रीय सरकार के उपक्रमों में 1976-77 में कुल 15.75 लाख मजदूर कार्य करते थे। 1972-73 में इन संस्थाओं में कार्य करने वाले श्रमिकों की संख्या 9.2

लाख थी। इस प्रकार 1973-74 में केन्द्रीय सरकार की व्यावसायिक तथा औद्योगिक संस्थाओं की संख्या में 41 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1976-77 में कार्य कर रही कुल संस्थाओं ने कुल 1054 करोड़ रुपये का लाभ अर्जित किया था। इन संस्थाओं ने 1976-77 में कुल 2248 करोड़ रुपये का विनिमय अर्जित किया था। इनके अतिरिक्त राज्य सरकारों के उपक्रमों में भी तृतीय योजना के अन्त में लगभग 2000 करोड़ रुपये विनियोग किया गया था।\*

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश में सरकारी क्षेत्र में स्थापित प्रमुख औद्योगिक एवं व्यावसायिक संस्थाओं में विनियोग की दृष्टि से दस प्रमुख संस्थाएँ निम्नांकित हैं—

| 1976-77 में विनियोग की दृष्टि से 10 प्रमुख संस्थाएँ,<br>उपक्रम का नाम | विनियोग की रकम<br>(करोड़ रु० में) | कुल का<br>प्रतिशत |
|-----------------------------------------------------------------------|-----------------------------------|-------------------|
| 1. बोकारो स्टील्स लि०                                                 | 1341                              | 12.1              |
| 2. हिन्दुस्तान स्टील्स लि०                                            | 1209                              | 10.9              |
| 3. भारत उर्वरक निगम                                                   | 1110                              | 10.0              |
| 4. भारी जहाजरानी निगम                                                 | 503                               | 4.5               |
| 5. फुड कॉर्पोरेशन ऑफ इंडिया                                           | 429                               | 3.9               |
| 6. ऑयल एण्ड नेचुरल गैस                                                | 421                               | 3.8               |
| 7. केन्द्रीय कोयला-क्षेत्र निगम                                       | 403                               | 3.6               |
| 8. भारी इंजीनियरिंग निगम                                              | 307                               | 2.8               |
| 9. भारत हेवी इलेक्ट्रिकल लि०                                          | 297                               | 2.7               |
| 10. भारत कोकिंग कोल लि०                                               | 244                               | 2.2               |

इन दस उपक्रमों का कुल विनियोग 6264 56.5

सभी राजकीय उपक्रमों का विनियोग 11097 100.0

अब इनमें से कुछ प्रमुख औद्योगिक एवं व्यावसायिक संस्थाओं का निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :

### भारतीय उर्वरक निगम

(Fertilizer Corporation of India)

देश में उर्वरक की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति के लिए खाद के जो विभिन्न कारखाने स्थापित किये गये हैं उनकी व्यवस्था के लिए 'भारतीय उर्वरक निगम' (Fertilizer Corporation of India) नामक एक संस्था स्थापित की गयी जिसके जन्मे 31 मार्च, 1972 को 6 कारखानों—सिन्धी (विहार), नांगल (पंजाब), टोम्बे (महाराष्ट्र), नामरूप (असम) में उत्पादन का कार्य हो रहा था तथा ग्यारह कारखाने—बरोनी, तालचर आदि अभी निर्माणाधीन थे। 1976-77 ई० में भारतीय उर्वरक निगम का कुल विनियोग 1110 करोड़ रुपये था तथा उस वर्ष इसमें

1. Ibid p. 81.

2. Administrative Reforms Commission Report on Public Sector Undertakings, Oct. 1967.



कुल 28,205 श्रमिक कार्य कर रहे थे। 1973-74 में इस निगम में 124 लाख रुपये की हानि हुई थी।

निगम के अन्तर्गत निम्नांकित कारखाने उल्लेखनीय हैं:

(1) सिन्द्री का खाद कारखाना (Sindri Fertilizer Factory):—सिन्द्री का खाद कारखाना भारत सरकार के औद्योगिक साहस का प्रथम उदाहरण है। 1951 ई० के पूर्व भारत को बहुत बड़ी मात्रा में विदेशों से कृत्रिम खाद का आयात करना पड़ता था। द्वितीय युद्ध के दौरान जब देश में खाद्यान्न का अभाव एक विकट समस्या का रूप धारण करने लगा तब देश में कृत्रिम खाद के उत्पादन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इस उद्देश्य से 1946-47 ई० में बिहार में दामोदर नदी पर बसे सिन्द्री नामक ग्राम में खाद का एक कारखाना स्थापित करने का कार्य प्रारम्भ हुआ। इस कारखाने में खाद के उत्पादन का कार्य 31 अक्टूबर, 1951 ई० से प्रारम्भ हुआ। इसको स्थापित करने में कुल प्रायः 28 करोड़ रुपये व्यय हुआ। इसकी व्यवस्था फर्टिलाइजर कॉरपोरेशन ऑफ इण्डिया लिमिटेड नामक एक कम्पनी द्वारा की जाती है। इसकी वार्षिक उत्पादन-क्षमता 3,30,000 टन अमोनियम सल्फेट तैयार करने की है। 15 करोड़ रुपये के व्यय से सिन्द्री के विस्तारीकरण की एक योजना कार्यान्वित की गयी है जिसके अन्तर्गत इसमें एक कोक बोथेन प्लांट स्थापित किया गया है जिससे कि इसके उत्पादन में 60 प्रतिशत वृद्धि की आशा की जाती है। इसके विस्तारीकरण का कार्य पूरा हो गया है। इससे प्रतिदिन 70 टन यूरिया तथा 400 टन सल्फेट नाइट्रेट की खाद गौण-पदार्थ के रूप में उत्पन्न की जायगी। 1970-71 ई० में सिन्द्री के खाद कारखाने में 2.5 लाख टन अमोनियम सल्फेट, 15,000 टन यूरिया तथा 42,000 टन नमक की खाद का उत्पादन हुआ था। पिछले वर्ष की अपेक्षा इसका उत्पादन प्रत्येक क्षेत्र में कम था।

खाद के अन्य कारखाने (Other Fertilizer Factories): रासायनिक खाद उद्योग का विकास वस्तुतः द्वितीय महायुद्ध के बाद प्रारम्भ हुआ तथा पिछले प्रायः दस वर्षों में खाद उद्योग ने आशातीत प्रगति कर ली है। विनियोग की दृष्टि से यह इस्पात उद्योग के बाद द्वितीय बन गया है। देश में खाद की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए सरकार द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में खाद के कई नए कारखानों की स्थापना की गयी है। इनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—

नागल में 30 करोड़ रुपये के व्यय से एक कारखाना स्थापित किया गया है जिसमें फरवरी, 1961 ई० से उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हो गया। इसकी उत्पादन-

क्षमता 1.2 लाख टन कैल्सियम नाइट्रेट सल्फेट की है। 1970-71 ई० में 2.2 लाख टन कैल्सियम अमोनियम नाइट्रेट का उत्पादन हुआ था।

नवम्बर, 1965 ई० में ट्रोम्बे का खाद-कारखाना चालू किया गया। इसमें 12 करोड़ रुपये व्यय हुआ है तथा यहाँ प्रतिवर्ष 90 हजार टन नाइट्रोजन एवं 45,000 टन फॉस्फेट की खाद का उत्पादन होगा। 1970-71 ई० में इसमें 64,000 मिश्रित खाद का उत्पादन हुआ था।

फरवरी, 1968 ई० में गोरखपुर में खाद के एक कारखाने में उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हुआ। इसमें 80 हजार टन यूरिया का प्रतिवर्ष उत्पादन होता है। 1972-73 ई० में इसमें 1.5 लाख टन यूरिया का उत्पादन हुआ था।

अगस्त, 1968 में नामरूप में खाद के कारखाने में उत्पादन का कार्य प्रारम्भ किया गया। इसकी वार्षिक क्षमता 55,000 टन यूरिया तथा 1 लाख टन अमोनियम सल्फेट के उत्पादन की है। 1970-71 ई० में इसमें 31 हजार टन यूरिया तथा 61 हजार टन अमोनियम सल्फेट का उत्पादन हुआ था।

रुरकेला इस्पात-कारखाने के सहायक के रूप में रुरकेला में खाद उत्पादन के लिए एक कारखाने को दिसम्बर, 1962 ई० में चालू किया गया। इसकी वार्षिक क्षमता 5.9 लाख टन कैल्सियम अमोनियम नाइट्रेट उत्पन्न करने की है। 1970-71 ई० में इसमें 97 हजार टन कैल्सियम अमोनियम नाइट्रेट का उत्पादन हुआ था।

इनके अतिरिक्त मार्च, 1966 में निवेली के कारखाने में भी खाद-उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हुआ। यह निवेली लिगनाइट कॉरपोरेशन की सहायक संस्था के रूप में कार्य करता है। इसकी वार्षिक क्षमता 70 हजार टन नाइट्रोजन उत्पन्न करने की है। 1970-71 ई० में इसमें 69 हजार टन यूरिया का उत्पादन हुआ था।

दिसम्बर, 1966 ई० में मद्रास में एक खाद के कारखाने की स्थापना के लिए Madras Fertilizer Ltd. की स्थापना की गयी। इसके द्वारा 1.6 लाख टन मिश्रित खाद तथा 2.1 लाख टन यूरिया का उत्पादन होगा। इसके अतिरिक्त फर्टिलाइजर कारपोरेशन द्वारा दुर्गापुर तथा बरोनी में 1.52 लाख टन नाइट्रोजन की वार्षिक उत्पादन-क्षमता के दो कारखानों की स्थापना की गयी है।

जनवरी, 1961 ई० में सार्वजनिक क्षेत्र में खाद के कारखानों की व्यवस्था के लिए 200 करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी से Fertiliser Corporation of India Ltd. नामक एक कम्पनी की स्थापना की गयी। इस

1. Eastern Economist.

2. Ibid P. 18.



कम्पनी के अन्तर्गत आजकल 6 कारखानों में उत्पादन का कार्य होता है—बिहार के सिन्ध्री, पंजाब के नांगल, महाराष्ट्र के ट्रोम्बे, उत्तर प्रदेश के गोरखपुर, पश्चिम बंगाल के दुर्गापुर तथा असम के नामरूप में। इनके अतिरिक्त ग्यारह कारखाने बनाये जा रहे हैं।

भारतीय उर्वरक निगम को चार भागों में विभाजित कर दिया गया है। भारतीय उर्वरक निगम के अंतर्गत सिन्ध्री, गोरखपुर, तालचर, कोरबा तथा प्रदीप के कारखाने हैं। राष्ट्रीय निगम (National Fertilizers) के अंतर्गत माटिंग, पानीपत तथा नांगल के कारखाने हैं। भारत उर्वरक के अंतर्गत बरोनी, नामरूप, हलदिया तथा दुर्गापुर के कारखानों हैं तथा पश्चिमी उर्वरक निगम (West cost Fertilizer Corporation) के अंतर्गत ट्रोम्बे के कारखाने हैं।

(2) चितरंजन का रेलवे इंजन का कारखाना (Chitaranjan Locomotive Works) :—देश में रेलवे इंजन तैयार करने के लिए सरकारी क्षेत्र में पश्चिमी बंगाल के चितरंजन नामक स्थान में एक कारखाना स्थापित किया गया है। कारखाने की व्यवस्था भारत सरकार के रेलवे मन्त्रालय के द्वारा की जाती है। प्रारम्भ में इसकी वार्षिक उत्पादन-क्षमता 120 इंजन तथा 60 वायलर तैयार करने की थी। किन्तु, बाद में इसका विस्तार किया गया जिसके फलस्वरूप आजकल यह कारखाना 200 से अधिक W. G., W. T., W. P. और W. T. प्रकार के इंजन प्रतिवर्ष तैयार करता है। 1961 से इसमें बिजली से भी इंजन उत्पन्न करने का कार्य प्रारम्भ हुआ। 1950 ई० में जबकि उत्पादन प्रारम्भ हुआ से लेकर मार्च, 1972 तक इसने 2151 वाष्प इंजन तैयार किये थे। इसके बाद इस प्रकार के इंजन का उत्पादन बन्द हो गया। मार्च, 1974 तक इस कारखाने ने 419 विद्युत इंजन उत्पन्न किया था। इसके विस्तारीकरण की योजना के अन्तर्गत एक हेवी स्टील फाउण्ड्री (Heavy Steel Foundry) की स्थापना करने की व्यवस्था है जिससे भारतीय रेलों की हेवी कॉस्टिंग की सम्पूर्ण आवश्यकता की पूर्ति आन्तरिक साधनों से ही हो सकेगी।

डिजेल इंजन का कारखाना, वाराणसी (Diesel Locomotive Works, Varanasi) : इसके अतिरिक्त डिजेल इंजन के निर्माण के लिए वाराणसी में 150 डिजेल तथा बिजली इंजन की क्षमता के एक डिजेल लोकोमोटिव वर्क्स की स्थापना की गयी है। इसमें आयात किये गये सामानों से जून, 1964 ई० से डिजेल इंजन का निर्माण किया जाने लगा। इस कारखाने द्वारा मार्च, 1974 तक 697 डिजेल इंजन तैयार किये गये थे।

इन्टीग्रल कोच फैक्ट्री (Integral Coach Factory) :—यह कारखाना रेल के डिब्बों के निर्माण के लिए पेराम्बूर में स्थापित किया गया है। इसमें उत्पादन का कार्य अक्टूबर, 1955 ई० से प्रारम्भ हुआ था। प्रारम्भ से लेकर

मार्च 1974 ई० तक इसमें अनुमानतः 10,124 सवारी डिब्बों का निर्माण हुआ था। यह चौड़ी तथा मीटर गेज दोनों प्रकार के डिब्बों का उत्पादन करता है।

(3) हिन्दुस्तान शिपयार्ड (Hindustan Shipyard) :—भारत में जहाज बनाने के लिए 1941 ई० में 'विजगापट्टम' में 'सिधिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी' द्वारा एक कारखाना स्थापित किया गया। मार्च, 1952 में यह कारखाना भारत सरकार द्वारा ले लिया गया। इसकी व्यवस्था 'हिन्दुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड' द्वारा की जाती है जिसकी सम्पूर्ण पूँजी अब भारत सरकार द्वारा प्रदान की गयी है। इस कारखाने की उत्पादन क्षमता को बढ़ाकर 80 हजार टन भार के 6 जहाजों का निर्माण किया जा रहा है। यह शिपयार्ड 4 आधुनिक तरीके के डिजेल-प्रोपेल्ड (Diesel Propelled) जहाजों का प्रतिवर्ष निर्माण कर सकता है। तृतीय योजना में भी इसका विस्तार किया गया। इस कारखाने के द्वारा पहला जहाज मार्च, 1948 में पानी में उतारा गया तथा मार्च 1974 तक इस कारखाने द्वारा 61 जहाजों का निर्माण हुआ था।

एक दूसरा शिपयार्ड कोचीन में बनाया जा रहा है जिस पर 74 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है। इसकी प्रारम्भिक वार्षिक उत्पादन-क्षमता 85,000 G. R. T. के जहाज के निर्माण तथा 100,000 G. R. T. के जहाजों की मरम्मत की है। फरवरी, 1965 ई० में जापान के एक फर्म से इसके निर्माण के लिए अनुबन्ध किया गया।

(4) हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट (Hindustan Aircraft) :—भारत में हवाई जहाज निर्माण करने के लिए एक कारखाना सेठ बालचन्द द्वारा 1940 ई० में बंगलोर में स्थापित किया गया था। युद्धकाल में इस कारखाने में केवल मरम्मत का कार्य होता था। बाद में भारत सरकार ने इसके अधिकांश हिस्सों को खरीद लिया। मार्च, 1951 ई० में हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट लि० की पूँजी 3.8 करोड़ रुपये थी जिसमें सरकार ने 3.2 करोड़ रुपये के हिस्से लिये थे। इसमें आई० ए० एफ० के जहाजों की मरम्मत के साथ-साथ 'सुपरसोनिक एवं सैमपायर जेट' नामक हवाई जहाजों के निर्माण का कार्य भी प्रारम्भ किया गया है। यह एच० टी० 2 (H. T. 2) नामक ट्रेनर हवाई जहाज का निर्माण भी करता है। हाल ही में यहाँ जेट फायटर के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया गया है। इस कारखाने में भारतीय रेलों के डिब्बे तथा राज्य एवं निजी यातायात संस्थानों के लिए बसों का ढाँचा भी तैयार किया जाता है।

1964 ई० में Mig 12 तथा अन्य प्रकार के सामरिक हवाई जहाजों के निर्माण के लिए 25 करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी द्वारा भारत सरकार ने Hindustan Aeronautics Ltd. नामक एक कम्पनी की स्थापना



की। इसमें हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट बंगलोर तथा Aero-nautics India Ltd. दोनों को भी शामिल कर लिया गया है। कम्पनी ने हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट तथा कानपुर में जहाज निर्माण के भण्डार की व्यवस्था को भी अपने हाथ में ले लिया है। इसी प्रकार मिग के निर्माण के लिए नासिक, कोरपट तथा हैदराबाद में कारखानों का निर्माण किया गया है।

(5) डी० डी० टी० फैक्टरी (D.D.T. Factory):— भारत सरकार ने UNICEF तथा WHO की सहायता से दिल्ली में एक डी० डी० टी० का कारखाना प्रारम्भ किया है। कारखाने की व्यवस्था हिन्दुस्तान इन्सेक्टिसाइड प्रा० लिमिटेड द्वारा की जाती है जिसकी अधिकृत पूँजी 1.3 करोड़ रुपये है। इस कारखाने में अप्रैल, 1955 ई० से उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हुआ तथा 1973-74 ई० में इसमें 2112 टन टेक्निकल डी० डी० टी० तैयार हुआ।

डी० डी० टी० का दूसरा कारखाना द्वितीय योजना में केरल के अलवये (Alaway) नामक स्थान में 79 लाख रुपये के व्यय से स्थापित किया गया जिसने अप्रैल, 1958 से काम करना प्रारम्भ कर दिया। इसकी उत्पादन-क्षमता 1400 टन डी० डी० टी० उत्पादन करने की है। 1973-74 ई० में इसका उत्पादन 1331 टन था। इन दोनों कारखानों का विस्तारीकरण किया जा रहा है।

(6) हिन्दुस्तान एण्टिबायोटिक्स (Hindustan Antibiotics):— देश में पेनसिलिन की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए पुना के समीप पिम्परी नामक स्थान में भारत सरकार ने UNICEF तथा WHO की सहायता से एक पेनसिलिन का कारखाना स्थापित किया है। इसकी व्यवस्था हिन्दुस्तान एण्टिबायोटिक्स लि० जिसकी अधिकृत पूँजी 4 करोड़ रुपये है, के द्वारा की जाती है। 1973-74 में इसमें 755 लाख मेगा यूनिट पेनसिलिन तथा 93972 कि० स्ट्रेप्टो माईसिन तैयार किया गया था। इसमें बाईसिलिन (Bicilin) के उत्पादन का भी प्रयास किया जा रहा है। कारखाने की कुल उत्पादन क्षमता का 20 प्रतिशत भाग बाईसिलिन के उत्पादन में लगाने का आयोजन है। इस उद्देश्य से इनकी क्षमता में वृद्धि की गयी है जिसके फलस्वरूप इसकी उत्पादन-क्षमता 800 लाख मेगायूनिट हो गयी है।

पिम्परी में ही 2.75 करोड़ रुपये के व्यय से स्ट्रेप्टोमाइसिन उत्पन्न करने का एक कारखाना स्थापित किया गया है जिसमें फरवरी, 1963 ई० में उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हो गया। इनकी उत्पादन-क्षमता को बढ़ाने के लिए इसका विस्तारीकरण किया गया है जिससे अब यह 80-90 टन प्रतिवर्ष का उत्पादन कर रहा है। इसमें 1973-74 ई० में 53972 कि० ग्रा० स्ट्रेप्टोमाइसिन तैयार किया गया था।

1961 में विभिन्न प्रकार के एण्टिबायोटिक्स के उत्पादन के लिए Indian Drugs and Pharmaceuti-

cals Ltd. की स्थापना की गयी। इसके अन्तर्गत तीन इकाइयाँ कार्य कर रही हैं—(क) रिषिकेस का एण्टिबायोटिक्स कारखाना, (ख) सिनथेटिक ड्रग प्रोडक्ट्स, हैदराबाद, तथा (ग) सर्जिकल इन्स्ट्रुमेंट्स प्लांट, मद्रास।

(7) हिन्दुस्तान केबुल्स (Hindustan Cables):— डाक-तार विभाग के टेलीफोन केबुल्स की मांग की पूर्ति के उद्देश्य से पश्चिमी बंगाल के रूपनारायणपुर में हिन्दुस्तान केबुल्स के कारखाने की स्थापना की गयी है। इस कारखाने में उत्पादन का कार्य 1954 ई० में प्रारम्भ हुआ। इसकी प्रारम्भिक उत्पादन-क्षमता 4.0 मील केबुल्स तैयार करने की थी। इस कारखाने का विस्तार किया जा रहा है जिससे इसकी उत्पादन-क्षमता के 1000 मील केबुल्स प्रतिवर्ष हो जाने का अनुमान है। इसके अतिरिक्त 1960 ई० से इसमें 300 मील एकसीयल केबुल्स का उत्पादन भी होने लगा है। 1969-70 ई० में इसमें लगभग 5.5 लाख घन कि० मी० सूखे केबुल 2,001 ट्यूब कि० मी० कोएक्सियल तथा 24,695 घन कि० मी० प्लास्टिक लम्बे केबुल तारों का निर्माण हुआ था।

(8) हिन्दुस्तान मशीन टूल्स (Hindustan Machine Tools): बंगलोर के समीप स्थित इस कारखाने ने भारत में सर्वप्रथम लाठे का उत्पादन मई, 1956 ई० में प्रारम्भ किया तथा आजकल यहाँ 26 लाठे का प्रतिमाह निर्माण किया जाता है। कारखाने में दूसरे प्रकार के यन्त्रों, जैसे—प्रिंटिंग मशीन, रेडियल ड्रिल्स तथा मिलिंग मशीन आदि के उत्पादन का कार्य भी किया जाता है। 1966-67 ई० में इसमें 1668 मशीनें तैयार की गयी थीं। हिन्दुस्तान मशीन टूल्स के एक दूसरे कारखाने में पंजाब के पिजोर नामक स्थान में अक्टूबर, 1963 ई० में उत्पादन का कार्य प्रारम्भ किया गया। 1966-67 ई० तक इसमें 1.62 करोड़ रुपये के मूल्य के यन्त्रों का उत्पादन हुआ था। इसके दो और कारखानों की स्थापना की गयी है। एक केरल के कलमासरी में तथा दूसरा हैदराबाद के सनतनगर में। इनमें कलमासरी के कारखाने में अक्टूबर, 1964 ई० में उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हुआ तथा 1966-67 में इसने 2.7 करोड़ रु० मूल्य के 673 यन्त्रों का उत्पादन किया। इसी प्रकार सनतनगर में 1965 के अन्त में उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हुआ तथा 1966-67 ई० में इसमें 89 लाख रुपये मूल्य के 37 मशीनों का उत्पादन हुआ। हिन्दुस्तान मशीन टूल्स में घड़ी के कारखाने का उत्पादन 1962 ई० में प्रारम्भ हुआ तथा इसकी वार्षिक उत्पादन-क्षमता प्रतिवर्ष 24 लाख घड़ी तैयार करने की है। चौथी पंचवर्षीय योजना में चेकोस्लाविया के सहयोग से दो और मशीन टूल्स के कारखाने स्थापित करने का आयोजन था।

(9) नहान फाउण्ड्री (Nahan Foundry): अक्टूबर, 1952 ई० में नहान फाउण्ड्री लि० हिमाचल प्रदेश का उद्घाटन हुआ था। जनवरी, 1953 ई० में



सरकार ने इनकी व्यवस्था नहान फाउण्ड्री कम्पनी के नाम से हस्तांतरित कर दिया। सितम्बर, 1964 ई० में इनकी व्यवस्था हिमाचल प्रदेश सरकार को सौंप दी गयी। इस कारखाने में कृषि-सम्बन्धी औजार, जैसे—गन्ना पेरने की मशीन आदि का निर्माण होता है। किन्तु निजी क्षेत्र की प्रतियोगिता के कारण गन्ना की मशीनों का उत्पादन 1952-53 ई० से कम कर दिया गया तथा अन्य पदार्थों का उत्पादन किया जाने लगा है। यह रेलों के लिए स्लिपर तथा टेलीग्राफ विभाग के लिए भी सामान तैयार करता है। 1961-62 ई० में यहाँ 2832 टन सामग्री का उत्पादन हुआ था, जबकि 1959-60 ई० में इसका उत्पादन 3067 टन था।

(10) बिजली के भारी यन्त्र (Heavy Electrical Equipments): बिजली के यन्त्र बनाने के लिए 1956 ई० में हेवो ऐलेक्ट्रिकल लि० नामक एक कम्पनी की स्थापना हुई। यह कारखाना ब्रिटिश कम्पनी के सहयोग से भोपाल में स्थापित किया गया है। इसमें उत्पादन का कार्य जुलाई, 1960 ई० से प्रारम्भ किया गया। 1965-66 में 10.19 करोड़ रुपये के सामान का उत्पादन हुआ था। इसमें पावर ट्रांसफॉर्मर, स्विचगीयर तथा रेलवे के विद्युतीकरण के लिए आवश्यक सामग्रियों का उत्पादन होता है।

इस प्रकार का एक और बिजली के यन्त्र का कारखाना हरद्वार के समीप रानीपुर में स्थापित किया जा रहा है। इसी प्रकार हैदराबाद के समीप रामचन्द्रपुरम् में एक कारखाना स्थापित करने का आयोजन है। इस प्रकार का दूसरा कारखाना त्रिचुनापल्ली में स्थापित किया जा रहा है। इन दोनों कारखानों तथा हरद्वार के कारखाने की व्यवस्था के लिए 1964 ई० में Bharat Heavy Electricals Ltd. नामक एक नयी कम्पनी की स्थापना की गयी। इस प्रकार के और भी कारखानों की स्थापना राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Development Corporation) द्वारा की जायगी। इनके अतिरिक्त सरकारी क्षेत्र में और भी बहुत-से कारखाने केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा स्थापित किये गये हैं। भारी औद्योगिक यन्त्र (Heavy Industrial machinery) बनाने का कारखाना रूस की सरकार के सहयोग से राँची के समीप हटिया में भी स्थापित किया गया है। इसकी वार्षिक उत्पादन-क्षमता 10 हजार टन के यन्त्रों के निर्माण की है।

(11) हिन्दुस्तान इस्पात लि० (Hindustan Steels Ltd.): द्वितीय पंचवर्षिय योजनाकाल में सरकारी क्षेत्र में लोहा एवं इस्पात के तीन कारखाने स्थापित किये गये। इन तीनों कारखानों की व्यवस्था 'हिन्दुस्तान स्टील (प्रा०) लि०', जिसकी अधिकृत पूँजी 600 करोड़ रुपये है, द्वारा की जाती है।

31 मार्च, 1974 को हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड का कुल विनियोग 1009 करोड़ रुपये था जो केन्द्रीय सरकार के उपक्रमों में कुल विनियोग का प्रायः 15 प्रतिशत भाग था। 1973-74 में हिन्दुस्तान स्टील के कारखानों का कुल उत्पादन 685 करोड़ रुपये का था। इसी प्रकार बिहार के बोकारो नामक स्थान में रूस की सरकार के सहयोग से लोहा एवं इस्पात का एक कारखाना सरकारी क्षेत्र में स्थापित किया गया है जिसमें उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हो गया। इसकी व्यवस्था Bokaro Steels (Private) Ltd. नामक एक कम्पनी के द्वारा की जाती है। 31 मार्च, 1974 को इसका कुल विनियोग 905 करोड़ रुपये था। सरकारी क्षेत्र में इस्पात तथा इससे सम्बन्धित वस्तुओं के उत्पादन को नियन्त्रित करने के लिए SAIL (STEEL AUTHORITY OF INDIA LTD) नामक एक धारक कम्पनी की स्थापना की गयी है।

इसके अतिरिक्त देश में राजकीय क्षेत्र में और भी कई औद्योगिक संस्थानों की स्थापना की गयी है। उदाहरण के लिए, पेट्रोल साफ करने के दो कारखानों की राजकीय क्षेत्र में स्थापना की गयी है जिनकी व्यवस्था के लिए Indian Refineries Ltd. नामक एक कम्पनी की स्थापना की गयी है। अब यह Indian Oil Corporation का एक अंग है। सरकार द्वारा पेट्रोल निकालने तथा साफ करने के लिए विदेशी कम्पनियों तथा सरकारों के साथ मिल-जुलकर भी कम्पनियों का निर्माण किया गया है जिनमें Oil India Ltd. (इसमें भारत सरकार एवं Burma Oil Company के बराबर-बराबर हिस्से हैं) मद्रास रिफाइनरीज लिमिटेड (जिसमें भारत सरकार, नेशनल ईरानियन कंपनी तथा पैन अमेरिकन इंटरनेशनल कम्पनी लिमिटेड सम्मिलित है) आदि उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार पिछले कुछ वर्षों से राजकीय उपक्रमों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> से पंचवर्षीय योजनाओं में राजकीय उपक्रमों की प्रगति का अन्दाजा लगता है :

1. Statistical out live of India, 1976.



## केन्द्रीय सरकार के उपक्रमों का विकास

| अवधि                                      | कुल विनियोग<br>(करोड़ रु० में) | राजकीय उपक्रमों<br>की संख्या | श्रमिकों की संख्या<br>(हजार में) |
|-------------------------------------------|--------------------------------|------------------------------|----------------------------------|
| प्रथम योजना के प्रारम्भ में (31-3-1951)   | 29                             | 5                            | ....                             |
| द्वितीय योजना के प्रारम्भ में (31-3-1956) | 81                             | 21                           | ....                             |
| तृतीय योजना के प्रारम्भ में (31-3-1961)   | 953                            | 48                           | 185                              |
| तृतीय योजना के अन्त में (31-3-1966)       | 2,415                          | 74                           | 471                              |
| वार्षिक योजनाओं के अन्त में (31-3-1969)   | 3,902                          | 85                           | 598                              |
| चतुर्थ योजना के अन्त में (31-3-1974)      | 6,237                          | 122                          | 1344                             |
| 31-3-75 को                                | 7,261                          | 129                          | 1408                             |
| 31-1-77 को                                | 11,097                         | 144                          | 1575                             |

स्पष्ट है कि 31 मार्च, 1977 को केन्द्रीय सरकार के सार्वजनिक उपक्रमों की संख्या 144 थी। इनमें से 125 उपक्रम वस्तुओं के उत्पादन, विक्रय एवं सेवाएँ प्रदान करते थे तथा शेष 9 निर्माणाधीन थे। इनमें पूँजी निवेश की मात्रा 1951 में 29 करोड़ रुपये से बढ़कर 1961 में 953 करोड़ रुपये, 1969 में 3902 करोड़ रुपये तथा 31 मार्च, 1977 को 11097 करोड़ रुपये हो गया।

इन सार्वजनिक उपक्रमों ने 1973-74 में कुल 6,779 करोड़ रुपये के सामानों की विक्री की थी। इनमें पेट्रो-लियम उद्योग का हिस्सा 1582 करोड़ रुपये तथा इस्पात का 722 करोड़ रुपये था। इसी प्रकार व्यापार तथा विपणन सेवाओं से 3711 करोड़ रुपये की राशि विक्रय से प्राप्त हुई थी। 1973-74 में इन उपक्रमों ने 75 करोड़ रुपये का निर्यात किया था तथा 1973-74 में इनके शुद्ध लाभ की मात्रा 272.5 करोड़ रुपये थी। 1973-74 में ही इन उद्योगों में कोई 13-14 लाख लोगों को रोजगार प्राप्त हुआ था, जिन्हें वेतन तथा मजदूरी के रूप में 786.4 करोड़ रुपये की रकम दी गयी थी।

छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan) की अवधि में सरकारी संस्थाओं में 1978-83 के बीच पाँच वर्षों में कुल 10,206 करोड़ रुपये लाभ (Gross surplus at existing rate) भी आशा है। इसमें से केन्द्रीय सरकार के उपक्रमों से 7,881 करोड़ रुपये तथा राज्य सरकार के उपक्रमों से 2,415 करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा है।

### राजकीय उपक्रमों की मुख्य समस्याएँ (Main Problems of Public Undertakings)

इस प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राजकीय उपक्रमों की संख्या तथा क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में तो उपभोक्ता उद्योगों के क्षेत्र में भी राजकीय संस्थानों की स्थापना का आयोजन था। किन्तु राजकीय उद्योगों के समक्ष कुछ समस्याएँ हैं। सबसे बड़ी समस्या इनकी कार्यकुशलता में वृद्धि की

है। यह दो दृष्टि से आवश्यक है। सर्वप्रथम तो राष्ट्रीय उद्योग होने के नाते जनता की आँखें इनके कार्य-कलापों पर लगी रहती हैं, अतः इसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि ये अपनी कार्यकुशलता को बढ़ायें, लागत कम करें तथा उत्तम किस्म का माल बना सकें। द्वितीयतः, निजी क्षेत्र की तुलना में इसका कार्य अधिक अच्छा होना चाहिए, वरना निजी उद्योगपतियों को सरकारी क्षेत्र के निंदा का मौका मिल जायगा। अतः सार्वजनिक क्षेत्र को औद्योगिक सम्बन्ध, श्रम-कल्याण-कार्य में प्रबन्ध, श्रमिकों को हिस्सा, उत्पादन की किस्म व लागत आदि में एक आदर्श उपस्थित करना चाहिए जिससे निजी क्षेत्र वाले भी इसका अनुसरण कर सकें।

1975-76 के उद्योग-धन्धों के सर्वेक्षण के अनुसार 1975 के अन्त में देश में कुल 71,705 कारखाने थे जिनमें 14,029 करोड़ रुपये की स्थायी पूँजी का विनियोग हुआ था। इसमें से सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में कुल पूँजी का लगभग 60 प्रतिशत भाग विनियोग किया गया था जबकि इनका उत्पादन कुल उद्योगों के उत्पादन का केवल 26.3 प्रतिशत भाग ही था। दूसरी ओर निजी क्षेत्र जिसमें कुल स्थायी पूँजी का केवल 40 प्रतिशत भाग था कुल उत्पादन का 73.7 प्रतिशत भाग उत्पन्न करता था। स्पष्ट है कि राजकीय क्षेत्र के कारखाने निजी क्षेत्र की अपेक्षा अधिक पूँजी-गहन थे। (The Public sector units are more capital-intensive as indicated by value of fixed-capital per employee, capital output value and capital value added.) इनमें पूँजी निपज अनुपात 1.3 था जो कि निजी क्षेत्र की अपेक्षा 6 गुणा अधिक था।

राजकीय क्षेत्र के उद्योगों की कार्यकुशलता बढ़ाने तथा उत्पादन-स्तर में सुधार लाने के लिए निम्नांकित सुझाव दिये जा सकते हैं :

(1) संसद् का नियन्त्रण : राजकीय क्षेत्र में उद्योग चाहे निगम के रूप में संगठित हों या कम्पनी अथवा सर-



कारी विभाग के अन्तर्गत हों, संसद् के नियन्त्रण में होना चाहिए। इनको संसद् के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। लेकिन संसद् को भी इनके दैनिक कार्यों व साधारण सौदों (ordinary transactions) में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। ऐसे कार्यों में उद्योगों को पर्याप्त आन्तरिक स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। सरकार को महत्वपूर्ण बातों में ही हस्तक्षेप करना चाहिए। संसद् में उद्योगों की वार्षिक रिपोर्ट व खातों पर बहस होनी चाहिये।

(2) संचालक-मण्डल का चुनाव : सार्वजनिक उद्योगों का प्रबन्ध एक संचालक-मण्डल द्वारा किया जाना चाहिए जिसमें उस उद्योग-विशेष का ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों को सदस्य बनाया जाय। ऐसा करने से इनकी कार्य-कुशलता बढ़ सकेगी। निजी क्षेत्र के अनुभवी व्यक्तियों को भी संचालक-मंडल में लिया जाना चाहिए।

(3) कार्य-कुशलता की जाँच (Efficiency of Audit) :—सार्वजनिक उद्योगों में प्रतिवर्ष कार्यकुशलता की जाँच की जानी चाहिए। ऐसा करने से इनकी त्रुटियों

पर ध्यान दिया जा सकेगा और भविष्य में अधिकारी अधिक सावधानी से कार्य कर सकेंगे।

(4) अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति में सावधानी :—अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति में भी पर्याप्त सावधानी से काम लेना चाहिए। सरकारी विभाग के प्रशासकों को उद्योगों की व्यवस्था का अनुभव नहीं होता है, इसलिए विशेषज्ञ कर्मचारियों को औद्योगिक प्रबन्ध-सेवा (Industrial Management Service) के अन्तर्गत चुनना चाहिए और बाद में उनके प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की जानी चाहिए। ऐसा करने से ही सार्वजनिक श्रेणी के उद्योगों को उच्च श्रेणी के कर्मचारी उपलब्ध हो सकेंगे।

(5) एक इकाई कंपनियों की प्रधानता (Single Unit Companies) :—राजकीय क्षेत्र के उद्योगों के संगठन के लिए यथासंभव एक-इकाई से सम्बन्धित कंपनियों का निर्माण करना चाहिए। इससे विभिन्न संस्थाओं की कुशलता, उत्पादन व्यय आदि के सम्बन्ध में स्पष्ट जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

#### विशेष अध्ययन-सूची

1. Govt. of India : India, 1976.
2. Planning Commission : Programmes of Industrial Development (1961-66).



## अध्याय : 35

### भारत सरकार की औद्योगिक नीति

#### (Industrial Policy of the Govt. of India)

**औद्योगिक विकास में सरकार का महत्त्व (The Role of the State in the Industrial Development):—** प्रारम्भ में राज्य का कार्य केवल बाहरी आक्रमण से देश की सुरक्षा तथा देश के अन्दर व्यवस्था एवं शान्ति कायम रखना ही समझा जाता था। उस समय लोगों की आम धारणा थी कि मनुष्य निजी स्वार्थ की भावना से प्रेरित होकर कोई भी कार्य स्वयं उत्तम तरीके से करता है। पुरातन अर्थशास्त्रियों ने भी इस "मुक्त व्यापारवादी अर्थ-नीति" (Laissez Faire of Free Trade Policy) को ही मान्यता प्रदान की। इन लोगों के अनुसार सरकार के हस्तक्षेप से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण होता है। किन्तु मानव सम्यता में विकास के साथ-साथ राज्य के कार्यों में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। राजनीतिक कार्यों के साथ-साथ धीरे-धीरे राज्य का आर्थिक क्षेत्र में भी हस्तक्षेप बढ़ने लगा और आजकल तो हमारे समक्ष विश्व में एक ओर पूँजीवाद तथा दूसरी ओर साम्यवाद के दो निश्चित आर्थिक ढाँचे वर्तमान हैं। आर्थिक व्यवस्था के ये दोनों परस्परविरोधी स्वरूप इस समय भी विश्व में जीते-जागते पाये जाते हैं। एक ओर रूस एवं चीन में साम्यवाद का साम्राज्य है तो दूसरी ओर संयुक्त-राज्य अमेरिका में पूँजीवाद का आधिपत्य। विश्व के अन्य राष्ट्रों में भी इन्हीं दोनों प्रकार की आर्थिक व्यवस्थाओं का स्वरूप पृथक्-पृथक् अथवा सम्मिलित रूप से देखने को मिलता है। भारत में आज हमारा उद्देश्य पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था की जगह जनतन्त्रात्मक समाजवाद (Democratic Socialism) का निर्माण करना है। सरकार इस आदर्श की प्राप्ति के लिए बहुत अधिक प्रयत्नशील है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में राज्य का दायित्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है।

**स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व भारत सरकार की औद्योगिक नीति (Industrial Policy of the Govt. of India in the Pre-independence Period):—** औद्योगिक नीति एक बहुत ही व्यापक धारणा है तथा इसके अन्तर्गत उन सभी तरीकों, विधानों, नीतियों तथा सिद्धान्तों का समावेश रहता है जो किसी देश की औद्योगिक समस्याओं को नियंत्रित करते हैं तथा उसके औद्योगीकरण के स्वरूप को निर्धारित करते हैं। इसमें वित्तीय एवं मौद्रिक नीतियों, प्रशुल्क-नीति, अम-नीति तथा बाह्य-सहायता के साथ-साथ सार्वजनिक एवं निजी सरकार की नीति का भी समावेश

रहता है। ब्रिटिश शासनकाल में देश के औद्योगिक विकास के लिए एक सुनिश्चित नीति का प्रारम्भ से ही अभाव था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल के प्रारम्भ में कम्पनी भारत के उन उद्योगों को प्रोत्साहन प्रदान करती थी जिन पर उनका निर्यात व्यापार आधारित था। किन्तु, इंग्लैंड के उद्योगपतियों द्वारा कम्पनी की इस नीति के विरोध किये जाने पर इस नीति में आमूल परिवर्तन लाया गया तथा भारत को इंग्लैंड के कारखानों के कच्चे माल की पूर्ति का एक साधन समझा जाने लगा। जब भारत का शासन कम्पनी के हाथ से ब्रिटिश क्राउन के हाथ में आया तो भी हमारे देश के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति में कोई आमूल परिवर्तन नहीं हुआ। इंग्लैंड में उस समय स्वतन्त्र व्यापार (Laissez Faire) का युग था। भारत को भी बाध्य होकर इसी नीति का अनुकरण करना पड़ा। किन्तु, स्वतंत्र व्यापार की नीति का भारतीय उद्योगों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा।

प्रथम महायुद्ध के समय इस नीति में थोड़ा परिवर्तन हुआ। युद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देश में कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाना आवश्यक समझा गया। अतः औद्योगिक क्षेत्र में राजकीय प्रोत्साहन की नीति का श्रीगणेश हुआ। 1916 ई० में भारत सरकार ने देश की औद्योगिक सम्भावनाओं की जाँच के लिए एक औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) की नियुक्ति की। आयोग ने देश के औद्योगिक विकास के लिए सरकारी प्रोत्साहन की भी सिफारिश की, किन्तु आयोग की सिफारिशों पर सरकार ने कुछ भी ध्यान नहीं दिया। परिणामस्वरूप युद्ध समाप्त होने पर युद्धकाल में प्रारम्भ किये उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा जिससे उनकी स्थिति बड़ी ही चिन्ताजनक हो गयी। 1919 ई० के संवैधानिक सुधार के अनुसार उद्योग एक प्रान्तीय विषय बन गया तथा प्रान्तीय सरकारों को औद्योगिक विकास के लिए सहायता देने का अधिकार दिया गया। कुछ प्रान्तीय सरकारों द्वारा इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य भी किये गये। उदाहरण के लिए, मद्रास सरकार ने इस क्षेत्र में प्रशासनीय कार्य किया, किन्तु भारत सरकार एवं सेक्रेटरी ऑफ स्टेट्स के प्रोत्साहन के अभाव में राज्य सरकारें इस क्षेत्र में बहुत आगे नहीं बढ़ सकीं।

द्वितीय युद्धकाल (1939-45) में भी युद्ध की सामग्रियों



के निर्माण के लिए सरकार द्वारा प्रयत्न प्रारम्भ किये गये। युद्धकाल में ईस्टर्न ग्रुप कॉन्फ्रेंस, ग्रेडी मिशन तथा अन्य कई समितियाँ उद्योगों के विकास के लिए नियुक्त की गयीं। किन्तु इनका उद्देश्य देश का औद्योगिक विकास नहीं था। युद्ध ने देश के उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन अवश्य प्रदान किया, किन्तु सरकार द्वारा कोई भी ऐसा प्रयत्न नहीं किया गया जिससे युद्धकालीन विकास को स्थायी रूप दिया जा सके। युद्धकाल में ही देश के आर्थिक विकास के लिए युद्धोत्तरकालीन आर्थिक पुनर्निर्माण की योजनाओं की चर्चा हो रही थी। इस उद्देश्य से 1943 ई० में भारत सरकार ने बहुती-सी औद्योगिक समितियों की नियुक्ति भी की तथा केन्द्र में एक योजना एवं विकास विभाग का निर्माण किया। युद्ध समाप्ति (1945 ई०) के बाद सरकार ने औद्योगिक विकास के लिए कुछ प्रयत्न भी आरम्भ किया, किन्तु इन सब प्रयत्नों से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद की औद्योगिक नीति (Industrial Policy after the Independence) :—इस प्रकार ब्रिटिश शासनकाल में भारत के औद्योगिक विकास के लिए कोई सुदृढ़ एवं सुनिश्चित औद्योगिक नीति नहीं अपनायी गयी। फलस्वरूप भारत औद्योगिक दृष्टि से एक पिछड़ा राष्ट्र बन गया। भारत के इस औद्योगिक पिछड़ेपन का एक प्रमुख कारण उद्योग-धन्धों के प्रति सरकार की उदासीनता थी। किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार देश के औद्योगिक विकास के लिए बहुत ही प्रयत्नशील है।

### 1948 ई० की औद्योगिक नीति (Industrial Policy of 1948)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के एक वर्ष से कम ही समय में 6 अप्रैल, 1948 ई० को भारत सरकार के तत्कालीन उद्योग मन्त्री, स्वर्गीय डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने भारतीय संसद् के सम्मुख सरकार की औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव को रखा। 1948 ई० की औद्योगिक नीति की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं :—

(i) उद्योग-धन्धों का चार वर्गों में विभाजन (Division of industries into four broad categories) :— 1948 ई० की औद्योगिक नीति के अनुसार देश के उद्योग-धन्धों को निम्नलिखित चार वर्गों में विभाजित किया गया :—

(क) प्रथम वर्ग में अस्त्र-शस्त्र का निर्माण, अणु-शक्ति का उत्पादन एवं नियन्त्रण तथा रेलवे यातायात जैसे महत्त्व के उद्योग (Defence and strategic industries) थे, जिन पर सरकार का पूर्ण एकाधिकार (Exclusive monopoly of State) होगा।

(ख) द्वितीय वर्ग में कोयला, लोहा एवं इस्पात, वायु-यान एवं जलयान के यन्त्र का निर्माण, टेलीफोन, तार और वेतार आदि का निर्माण जैसे प्रमुख एवं आधारभूत उद्योग (Basic and key industries) थे जो सरकारी नियन्त्रण के क्षेत्र (Government controlled sphere) में रहेंगे। इनके भावी विकास के लिए सरकार स्वयं जिम्मेवार होगी। किन्तु इस वर्ग के उद्योगों के विकास के लिए सरकार निजी क्षेत्र के उद्योगपतियों से भी आवश्यकतानुसार सहयोग की मांग कर सकती है। इस क्षेत्र के वर्तमान उत्पादकों को 10 वर्षों तक स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने दिया जायगा और इसके बाद इनकी स्थिति का निरीक्षण किया जायगा। किन्तु इस वर्ग के सरकारी उद्योगों का प्रबन्ध सार्वजनिक निगमों (Public Corporations) द्वारा किया जायगा।

(ग) तीसरी श्रेणी में बीस अन्य प्रमुख उद्योग-धन्धे रखे गये जो निजी व्यवस्था के अन्तर्गत रहेंगे, परन्तु जिन पर सरकार का सामान्य नियमन एवं नियन्त्रण (Controlled and regulated by the State) रहेगा। इस वर्ग के प्रमुख उद्योग नमक, मोटर, ट्रैक्टर, इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग, भारी रसायन, खाद, औषधियाँ, रसायन-सम्बन्धी उद्योग, पावर अल्कोहल, रबर का निर्माण, सूती एवं ऊनी वस्त्र-उद्योग, सीमेंट, चीनी, कागज और जल यातायात, खनिज व्यवसाय तथा सुरक्षा सम्बन्धी व्यवसाय आदि हैं। इस श्रेणी के उद्योग राष्ट्रीय महत्त्व के हैं।

(घ) चतुर्थ वर्ग में शेष सभी उद्योग थे जो पूर्णतः निजी क्षेत्र द्वारा व्यवस्थित किये जायेंगे। किन्तु इन उद्योगों पर भी सरकार का सामान्य रूप से नियन्त्रण (General control of the State) रहेगा।

(ii) कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धों का महत्त्व (Importance of the Cottage and Small Scale industries)—इस औद्योगिक नीति के अन्तर्गत देश की आर्थिक व्यवस्था में कुटीर एवं लघु उद्योगों को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। अतः सरकार द्वारा इन उद्योगों के विकास के प्रयत्न को आवश्यक बतलाया गया। किन्तु कुटीर एवं लघु उद्योगों का विकास बड़े उद्योगों के प्रतियोगी के रूप में नहीं, बल्कि इनके पूरक के रूप में करने पर जोर दिया गया था। इस उद्देश्य से केन्द्रीय सरकार द्वारा कुटीर एवं लघु उद्योगों तथा वृहत प्रमाण उद्योगों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया जायेगा। साथ ही, इन उद्योगों के विकास में सहकारिता का अधिकाधिक सहारा लेने का निश्चय किया गया तथा इस उद्देश्य से औद्योगिक सहकारी समितियों के निर्माण को प्रोत्साहित करने पर जोर देने की व्यवस्था की गयी।

(iii) कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धों का महत्त्व



(Importance of the Cottage and Small Scale industries)—इस औद्योगिक नीति के अन्तर्गत देश की आर्थिक व्यवस्था में कुटीर एवं लघु उद्योगों को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था। अतः सरकार द्वारा इन उद्योगों के विकास के प्रयत्न को आवश्यक बतलाया गया। किन्तु कुटीर एवं लघु उद्योगों का विकास बड़े उद्योगों के प्रतियोगी के रूप में नहीं, बल्कि इनके पूरक के रूप में करने पर जोर दिया गया था। इस उद्देश्य से केन्द्रीय सरकार द्वारा कुटीर एवं लघु उद्योगों तथा बृहत् प्रमाण उद्योगों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया जायगा। साथ ही, इन उद्योगों के विकास में सहकारिता का अधिकाधिक सहारा लेने का निश्चय किया गया तथा इस उद्देश्य से औद्योगिक सहकारी समितियों के निर्माण को प्रोत्साहित करने पर जोर देने की व्यवस्था की गयी।

(iii) उत्तम औद्योगिक सम्बन्ध (Better Industrial Relations)—औद्योगिक नीति में इस बात पर भी जोर दिया गया था कि अधिकतम औद्योगिक उत्पादन के लिए उत्तम औद्योगिक सम्बन्ध अनिवार्य है। अतः सरकार द्वारा श्रमिकों की स्थिति सुधारने पर भी जोर दिया जायगा। सरकार इस बात पर भी ध्यान देगी कि श्रमिकों को लाभ का एक हिस्सा दिया जाय तथा उन्हें व्यवसाय में भाग लेने का अधिकाधिक मौका प्रदान किया जाय। श्रमिकों के हितार्थ आवास की समुचित व्यवस्था के लिए भी सरकार प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहायता करेगी।

(iv) विदेशी पूँजी का उपयोग (Use of Foreign Capital) :—विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में उक्त नीति में यह कहा गया था कि भारत विदेशी पूँजी तथा विदेशी साहस का उपयोग करने के लिए सहर्ष प्रस्तुत है। किन्तु 1948 ई० की औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में यह स्पष्ट कर दिया गया कि विदेशी कम्पनियों को भारतीय विशेषज्ञ प्रशिक्षित करने पड़ेंगे। साथ ही, विदेशी पूँजी का नियन्त्रण भारतीय हाथों में ही रहेगा। (As a rule, the major interest in ownership and effective control should always be in Indian hands, but power will be taken to deal with exceptional cases in a manner calculated to serve the national interest. In all cases however the training of suitable Indian personnel for the purpose of eventually replacing foreign experts will be insisted upon.) इनका राष्ट्रीयकरण होने पर उन्हें उचित मुआवजा भी दिया जायगा।

(v) कर-नीति (Taxation Policy) :—उक्त नीति में देश की कर-प्रणाली के सम्बन्ध में भी यह घोषणा की गयी कि देश की कर-प्रणाली ऐसी होगी

जिसके द्वारा बचत एवं विनियोग को भी प्रोत्साहन मिलेगा। साथ ही, कर-प्रणाली इस प्रकार की होगी जिससे समाज में धन एवं आय के वितरण की विषमता को भी कम किया जा सके।

(vi) प्रशुल्क-नीति (Tariff Policy).—प्रशुल्क-नीति के सम्बन्ध में इस नीति में यह आश्वासन दिया गया था कि देश की प्रशुल्क-नीति अनुचित विदेशी प्रति-योगिता को रोकेंगी तथा उपभोक्ताओं पर अनुचित बोझ डाले बगैर देश के आर्थिक साधनों के समुचित उपयोग करने में सहायक होगी। (Tariff Policy will be designed to prevent unfair foreign competition and promote the utilisation of India's resources without imposing unjustifiable burdens on the consumers.)

### 1948 ई० की औद्योगिक नीति का मूल्यांकन (An Appraisal of the 1948 Industrial Policy)

भारत सरकार की 1948 ई० की औद्योगिक नीति का मुख्य उद्देश्य देश में एक मिश्रित आर्थिक व्यवस्था (Mixed Economy) का निर्माण था। इस नीति में ऐसी व्यवस्था के निर्माण का आयोजन था जिसमें सार्वजनिक तथा निजी, दोनों क्षेत्र साथ-साथ मिल-जुल कर काम करेंगे। कुछ उद्योग-धन्धों पर केवल राज्य का अधिकार होगा, कुछ उद्योग-धन्धों में राज्य तथा निजी उपक्रमियों दोनों का हाथ रहेगा तथा कुछ उद्योग-धन्धे केवल निजी क्षेत्रों के लिए ही छोड़ दिये गये। इस प्रकार उक्त नीति ने उद्योग-धन्धों को तीन क्षेत्रों में रखा—(क) राज्य-अधिकृत क्षेत्र, (ख) राज्य-नियन्त्रित क्षेत्र, तथा (ग) निजी क्षेत्र। वास्तव में, इस प्रकार का क्षेत्र-विभाजन उस समय की परिस्थितियों के लिए सर्वोत्तम था। कारण यह है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त सरकार के पास पर्याप्त मात्रा में साधन नहीं थे जिससे बड़े पैमाने पर उद्योगों का राष्ट्रीयकरण सम्भव नहीं था। हमारे देश में सरकार के पास पूँजी, कुशल कर्मचारी एवं अनुभवी संचालकों की बड़ी कमी थी। ऐसी स्थिति में सरकार के लिए मध्य मार्ग का अवलम्बन ही लाभप्रद था, अर्थात् आवश्यक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाय तथा अन्य उद्योगों पर सरकार केवल सामान्य नियन्त्रण रखे।

फिर भी, 1948 ई० की औद्योगिक नीति की कई बातों को लेकर आलोचना की जाती है। सर्वप्रथम तो यह नीति ऐसे समय में प्रस्तुत की गयी थी जबकि देश के समक्ष आर्थिक विकास की एक समुचित योजना का अभाव था। यह ऐसे समय में घोषित की गयी थी जबकि देश में उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण की भावना अति



प्रबल थी। अतएव इस नीति में आधारभूत उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की अनावश्यक धमकी वर्तमान थी। दूसरे वर्ग के उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में उक्त नीति में इस बात की घोषणा की गयी थी कि 10 वर्षों के बाद सरकार द्वारा इस क्षेत्र के उद्योगों की स्थिति का निरीक्षण किया जायगा। इस धमकी से निजी क्षेत्र में राष्ट्रीयकरण की आशंका व्याप्त हो गयी जिसका उद्योग-धन्धों पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। पूँजीपति उद्योग-धन्धों से उदासीन हो गये तथा इन्होंने पूँजी का विनियोग बन्द कर दिया। इसके फलस्वरूप निजी क्षेत्र में पूँजी का निर्माण (Capital formation) कम हो गया तथा आधारभूत एवं मुख्य उद्योगों के क्षेत्रों में यन्त्रों एवं उपकरणों के विस्तारीकरण एवं पुनर्स्थापन में भारी रुकावट उत्पन्न हो गयी। (This threat of nationalisation after ten years unnerved the private entrepreneurs, retarded capital formation in the private sector and postponed expansion and replacement of plants and equipments in the sphere of basic and heavy industries.) अतः इस औद्योगिक नीति की घोषणा के दो वर्ष बाद सरकार को यह स्पष्ट रूप से कहने के लिए बाध्य होना पड़ा कि 10 वर्षों के उपरान्त भी आधारभूत एवं मुख्य उद्योगों की सभी इकाइयों का राष्ट्रीयकरण सरकार के लिए शायद सम्भव नहीं होगा। उक्त नीति का यह सबसे बड़ा दोष था। वास्तव में, औद्योगिक नीति की घोषणा के समय सरकार के समक्ष देश के आर्थिक विकास की कोई निश्चित रूप-रेखा नहीं थी। 1948 ई० की औद्योगिक नीति का दूसरा प्रमुख दोष नीति एवं विकास की प्रक्रिया में समायोजन का अभाव था। जिस समय इस औद्योगिक नीति की घोषणा की गयी थी उस समय सरकार के सम्मुख देश के औद्योगिक विकास की कोई निश्चित योजना नहीं थी। अतएव इससे औद्योगिक विकास की निश्चित योजना की शुरुआत में कोई सहायता नहीं मिल सकी।

डा० वी० के० आर० वी० राव ने इस नीति के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि "यह नीति न तो उद्योगों के कप्तान को सन्तुष्ट कर सकी, न इसके विनियोजकों, औद्योगिक श्रमिकों एवं आम जनता को ही। वास्तव में, उत्पादन में किसी भी प्रकार की महत्वपूर्ण वृद्धि के लिए जिस उत्साह एवं प्रगतिशीलता की आवश्यकता थी, उसे प्रदान करने में यह पूर्णतया असफल रही।" (The policy satisfied neither the captains of industries, nor investors, nor the industrial workers, nor the general public....(It) failed to provide the dynamism and the positive

stimulus required for any significant increase in production.)

फिर भी, उक्त नीति का सबसे बड़ा गुण यह था कि इसने देश में मिश्रित आर्थिक व्यवस्था—एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था जिसमें सार्वजनिक तथा निजी दोनों ही वर्गों के उद्योगों के पृथक-पृथक क्षेत्र होंगे—के निर्माण के लिए मार्ग को प्रशस्त बनाया। इसी मिश्रित आर्थिक व्यवस्था को आधार मानकर भारत की पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत औद्योगिक विकास के कार्यक्रम निर्धारित किये गये थे।

**औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951**  
[Industries (Development & Regulation) Act, 1951]

उक्त औद्योगिक नीति पर अमल करने तथा निजी क्षेत्र के नियन्त्रित विकास के उद्देश्य से भारत सरकार ने 1951 ई० में एक औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम तैयार किया जो मई 1952 ई० में लागू किया गया। प्रथम सूची में प्रकाशित 27 उद्योगों पर यह अधिनियम लागू होता है। मई, 1953 ई० में इस अधिनियम में संशोधन किया गया जिसके अनुसार इसे 45 उद्योगों पर लागू किया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत राष्ट्रीय महत्त्व के प्रायः सभी उद्योग आते हैं। इस अधिनियम के अनुसार निजी क्षेत्र के उद्योगों के नियमन एवं नियंत्रण के लिए सरकार को बहुत ही व्यापक अधिकार दिये गये हैं। इसकी निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ<sup>1</sup> हैं:—

(क) अनुसूचित उद्योगों में सभी उद्योगों की वर्तमान इकाइयों को एक निश्चित समय के अन्दर रजिस्ट्री करानी होगी। साथ ही, भारत सरकार से लाइसेंस प्राप्त किये बगैर अनुसूचित उद्योगों के क्षेत्र में कोई भी नया कारखाना नहीं स्थापित किया जा सकता और न वर्तमान कारखानों का विस्तार ही हो सकता है।

(ख) यदि सरकार यह समझती है कि किसी अनुसूचित उद्योग के उत्पादन की नीरसता एवं क्रिया में कोई ऐसी कमी आ गयी है जिसका औचित्य नहीं किया जा सकता तथा किसी उद्योग की वस्तुओं के मूल्य में अनुचित वृद्धि हो रही है तो वह उस उद्योग की स्थिति की जाँच का आदेश दे सकती है। यदि कोई उद्योग जाँच के बाद दिये गये आदेशों का पालन नहीं करता तो सरकार उनका प्रबन्ध अपने हाथ में ले सकती है।

(ग) अनुसूचित उद्योगों के विकास एवं नियमन-सम्बन्धी मामलों पर सरकार को उचित परामर्श देने के लिए एक 'केन्द्रीय सलाहकार परिषद्' (Central Advisory Council) की स्थापना की गयी जिसमें मिला-मालिकों, कर्मचारी, उपभोक्ताओं तथा दूसरे वर्ग के प्रतिनिधि शामिल हैं।



(घ) अधिनियम में इस बात पर जोर दिया गया था कि प्रत्येक प्रमुख वर्ग के उद्योगों के लिए एक विकास परिषद् (Development Council) की स्थापना की जाय जिसमें उद्योग-पतियों, श्रमिकों एवं उपभोक्ताओं के प्रतिनिधियों के साथ-साथ उद्योग विशेष से सम्बन्ध रखने वाले कुछ विशेषज्ञ भी होंगे। ये विकास-परिषदें पंचवर्षीय योजनाओं में निजी क्षेत्र के लक्ष्यों के सम्बन्ध में सिफारिश करेंगी। साथ ही, वस्तुओं की किस्म में सुधार एवं उद्योग की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि, लघु उद्योगों के साथ समन्वय तथा वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान में भी ये सिफारिश करेंगी। बहुत-उद्योगों के लिए इस प्रकार की परिषदों की स्थापना भी की गयी है।

**औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम का देश के औद्योगीकरण पर प्रभाव :—** 8 मई, 1952 ई० से यह अधिनियम लागू है। इस अधिनियम के अनुसार अब तक उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देने के लिए एक केन्द्रीय सलाहकार-परिषद् (Central Advisory Council), एक लाइसेंसिंग समिति तथा बहुत-सी विकास-परिषदों की स्थापना हुई है। इन विभिन्न प्रकार की संस्थाओं ने देश के औद्योगीकरण को निस्सन्देह प्रोत्साहित किया है। केन्द्रीय सलाहकार परिषद् ने कुछ प्रमुख उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में सरकार को समय-समय पर बहुमूल्य सुझाव भी प्रदान किये हैं। विकास-परिषदों का कार्य भी सुचारु रूप से चल रहा है तथा इन्होंने उत्पादन एवं व्यवस्था के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। इन परिषदों की बैठक समय-समय पर होती है जिनमें प्रत्येक उद्योग की विभिन्न समस्याओं पर विचार किया जाता है।

इस प्रकार इस अधिनियम का देश के औद्योगीकरण पर बड़ा ही गुणकारी प्रभाव पड़ा है। भारत-जैसे अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देश में उद्योगों के विकास के लिए एक निश्चित योजना की बड़ी आवश्यकता है। औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम राज्य को ऐसे अधिकार प्रदान करता है जिससे देश संतुलित औद्योगिक विकास की ओर अग्रसर हो सके। लाइसेंसिंग प्रथा के कारण उद्योगपति अब अपनी इच्छानुसार कोई संस्थान ही स्थापित कर सकते। किन्तु इस अधिनियम के विपक्ष में भी बहुत-सी बातें कही जाती हैं। कुछ लोगों का कहना है कि इस अधिनियम के कारण निजी क्षेत्र पर सरकार का नियन्त्रण बहुत बढ़ गया है जिससे पूँजी की प्राप्ति में कठिनाई होती है। किन्तु, देश के आयोजित आर्थिक विकास के लिए थोड़ी-बहुत मात्रा में सरकारी नियन्त्रण अनिवार्य होता है। कुछ आलोचकों का कहना है कि लाइसेंसिंग समिति के अन्तर्गत भी बहुत-से दोष आ गये हैं, इन बुराईयों को दूर करने के लिए सुझाव दिया जा

सकता है कि केन्द्रीय सलाहकार परिषद् द्वारा समय-समय पर इन उद्योगों की स्थिति की जाँच की जानी चाहिए। इस समिति की जगह पर कुछ लोग ब्रिटेन के 'बोर्ड ऑफ ट्रेड' के आधार पर उद्योगों के नियन्त्रण के लिए एक Board of Control for Industries बनाने की राय भी देते हैं। इस प्रकार के बोर्ड बनाने से निजी क्षेत्र को निस्संदेह बहुत अधिक लाभ की आशा की जाती है।

## भारत सरकार की 19५6 ई० की औद्योगिक नीति (Industrial Policy of 1956)

**औद्योगिक नीति में परिवर्तन की आवश्यकता :—** भारत सरकार ने 6 अप्रैल, 1948 ई० को अपनी प्रथम औद्योगिक नीति की घोषणा की थी। 1956 ई० तक औद्योगिक नीति के प्रायः 8 वर्ष समाप्त हो चुके थे। इन आठ वर्षों में भारत की राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था में निम्नांकित महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए थे जिनके फलस्वरूप औद्योगिक नीति में परिवर्तन की आवश्यकता पड़ी :—

(1) सर्वप्रथम तो 26 जनवरी, 1950 को भारत का नया संविधान लागू हुआ जिसमें कुछ मौलिक अधिकारों की गारण्टी प्रदान की गयी तथा राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों (Directive Principles of State Policy) का उल्लेख किया गया था।

(2) देश में आर्थिक नियोजन का कार्य संगठित ढंग से आरम्भ किया गया एवं 31 मार्च, 1956 ई० को प्रथम पंचवर्षीय योजना का कार्य समाप्त हुआ तथा 1 अप्रैल, 1956 ई० से द्वितीय पंचवर्षीय योजना का कार्य प्रारम्भ हुआ।

(3) साथ ही, दिसम्बर 1954 ई० में भारतीय संसद ने देश में 'समाजवादी ढाँचे की सामाजिक व्यवस्था' (Socialist Pattern of Society) का निर्माण अपनी सामाजिक तथा आर्थिक नीति के आदर्श के रूप में स्वीकार किया।

(4) और अन्ततः, द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उद्योग-धन्धों के विकास को उच्च प्राथमिकता प्रदान की गयी थी।

इन परिवर्तनों के फलस्वरूप देश के लिए नयी औद्योगिक नीति की घोषणा अनिवार्य हो गयी। साथ ही, इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक हो गया कि देश में आर्थिक विकास की गति को तीव्रतर बनाया जाय तथा भारी एवं यन्त्र-उत्पादक उद्योगों का विकास किया जाय, सरकारी क्षेत्र का विस्तार किया जाय तथा बड़े एवं वृद्धिशील सहकारी क्षेत्र का निर्माण किया जाय। ये अधिकांश व्यक्तियों के लिए लाभप्रद तरीके से रोजगार के अवसर बढ़ाने एवं रहन-सहन के स्तर तथा कार्य की दशाओं में सुधार के लिए सुदृढ़ आर्थिक आधार प्रदान



करेंगे। साथ ही, आय तथा धन के वितरण में व्याप्त विषमता को कम करना, पूँजीपतियों के एकाधिकार को समाप्त करना तथा विभिन्न क्षेत्रों में कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण को रोकना आदि अति आवश्यक था। अतः राज्य नयी औद्योगिक संस्थाओं की स्थापना तथा यातायात की अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान करने में धीरे-धीरे अधिक भाग लेगा। इनके अतिरिक्त, राज्य अधिकाधिक मात्रा में व्यापार भी अपने हाथ में ले लेने का प्रयत्न करेगा। किन्तु इन सबके साथ ही देश की विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था में निजी क्षेत्र को भी विकास तथा विस्तार का पर्याप्त अवसर प्रदान किया जायगा। 'समाजवादी ढाँचे की सामाजिक व्यवस्था' के आदर्शों की प्राप्ति एवं द्रुत गति से देश के आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि सभी आधारभूत एवं सुरक्षा-सम्बन्धी उद्योगों तथा जनहित-सम्बन्धी सेवाएँ सरकारी क्षेत्र के अधीन रहें। अन्य प्रकार के आवश्यक उद्योगों को भी, जिनके लिए निजी क्षेत्र के पास आवश्यक साधन मौजूद नहीं हैं, सरकारी क्षेत्र में रखा जाना चाहिए। इस प्रकार राज्य को अधिकाधिक मात्रा में उद्योगों के भावी विकास का दायित्व अपने ऊपर लेना पड़ेगा। फिर भी, वर्तमान परिस्थितियों में सरकारी क्षेत्र को निश्चित करना आवश्यक हो जाता है। अतः राज्य के दायित्व को ध्यान में रखते हुए सरकार ने 20 अप्रैल, 1956 ई० को अपनी नयी औद्योगिक नीति की घोषणा की। यह नीति नये संविधान के सिद्धान्तों, समाजवादी व्यवस्था के उद्देश्यों तथा गत कुछ वर्षों में प्राप्त अनुभवों पर आधारित है।

1956 ई० की औद्योगिक नीति की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं :

उद्योग-धन्धों का तीन वर्गों में विभाजन (Division of Industries into three broad categories) :— नयी औद्योगिक नीति के अनुसार उद्योग-धन्धों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया गया है :—

(1) प्रथम श्रेणी में वे उद्योग हैं भविष्य में जिनके विकास का पूरा-पूरा दायित्व सरकार पर है। (Industries whose future development will be the exclusive responsibility of the State.) इस श्रेणी के अन्तर्गत 17 उद्योग हैं जिनमें अस्त्र-शस्त्र (Arms and ammunitions) का निर्माण, परमाणु-शक्ति (Atomic energy) का विकास, लोहा एवं इस्पात, भारी यन्त्र, कोयला, खनिज तेल, वायुयान का निर्माण, वायु एवं रेलवे यातायात, जलयान निर्माण, टेलिफोन निर्माण, जल-विद्युत का वितरण आदि सम्मिलित हैं। इस वर्ग के उद्योगों में सभी नये कारखाने सरकारी क्षेत्र में ही प्रारम्भ किये जायेंगे। किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं कि निजी क्षेत्र की वर्तमान इकाइयों के विकास पर अथवा नये कारखानों की स्थापना

में निजी क्षेत्र से सहयोग प्राप्त करने पर किसी तरह की रुकावट होगी। हाँ, अस्त्र-शस्त्र, अणु-शक्ति के विकास तथा रेलवे एवं हवाई यातायात पर केवल केन्द्रीय सरकार का ही एकाधिकार होगा। साथ ही, आवश्यकता पड़ने पर राज्य या तो अधिकांश पूँजी प्रदान कर अथवा उद्योग-धन्धों के संचालन एवं नीति पर नियन्त्रण रखकर निजी क्षेत्र से सहयोग प्राप्त करेगा।

इस प्रकार नयी नीति के प्रथम वर्ग के अन्तर्गत 1948 ई० की औद्योगिक नीति के प्रथम एवं द्वितीय दो वर्गों को मिलाकर एक कर दिया गया। ऐसा वास्तव में उचित भी जान पड़ता है क्योंकि द्वितीय तथा आगे आनेवाली पंच-वर्षीय योजनाओं में देश के औद्योगिकरण में राज्य का दायित्व बढ़ता ही जायगा। किन्तु, 1948 ई० की नीति की तुलना में नयी औद्योगिक नीति में इस वर्ग के वर्तमान निजी उत्पादकों को भी स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने का अवसर प्राप्त होगा।

(2) द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत 12 उद्योग-धन्धे रहे गये हैं जिन्हें धीरे-धीरे सरकार के स्वामित्व में लाया जायगा। (Industries which will be progressively State-owned.) भविष्य में इन उद्योगों के द्रुत विकास के लिए सरकार इस क्षेत्र में अधिक नये कारखानों की स्थापना करेगी। इस श्रेणी के अन्तर्गत अलुमिनियम, फेरो एलोयाज, एन्टी-बायटिक, खाद, कृत्रिम रबर, रासायनिक पल्प तथा सड़क एवं समुद्री यातायात विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस श्रेणी के उद्योगों में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में सहयोग पर पूरा-पूरा जोर दिया गया है। राज्य स्वयं इस क्षेत्र में अधिक-से-अधिक कारखानों की स्थापना का प्रयास करेगा। किन्तु, साथ ही, निजी क्षेत्र को भी विकास का पूरा-पूरा अवसर प्रदान किया जायगा। इस प्रकार द्वितीय श्रेणी के उद्योगों के विकास में मिश्रित आर्थिक व्यवस्था पर जोर दिया गया। इस क्षेत्र के बहुत-से उद्योग विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत आधारभूत महत्त्व के हैं, अतः निजी क्षेत्र की अनुपस्थिति में नये कारखानों की स्थापना का दायित्व ग्रहण करना सरकार द्वारा अति आवश्यक है।

(4) शेष सभी उद्योग (All the remaining Industries) को तीसरी श्रेणी में रखा गया है जिनका विकास सामान्यतः निजी क्षेत्र के प्रयत्नों के द्वारा किया जायगा। (Industries whose future development will be left to the initiative and enterprise of the private sector.) इस नीति की तीसरी श्रेणी की तुलना 1948 ई० की औद्योगिक नीति की चौथी श्रेणी की साथ की जा सकती है। नयी औद्योगिक नीति में इस बात पर जोर दिया गया है कि सरकार इन उद्योगों के सहायतार्थ, यातायात, शक्ति के साधन एवं अन्य सेवाओं



का विकास करेगी तथा इन्हें वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए वित्तीय संस्थाओं की स्थापना करेगी। किन्तु निजी क्षेत्र से भी यह आशा की जाती है कि वह पंचवर्षीय योजनाओं में निर्धारित कार्यक्रमों के अनुसार कार्य करने का प्रयास करेगा तथा औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम के उपबन्धों को मानने के लिए तैयार होगा। इस क्षेत्र के उद्योगों के सम्बन्ध में भी उक्त नीति में यह घोषणा की गयी है कि सरकार जनहित एवं पंचवर्षीय योजनाओं के सफल संपादन के लिए आवश्यकता-नुसार तीसरी श्रेणी में भी नये कारखाने स्थापित कर सकती है।

इस प्रकार 1956 ई० की औद्योगिक नीति में उद्योग-धन्धों को नये सिरे से उक्त तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है। इस विभाजन से यह स्पष्ट है कि देश के औद्योगिक विकास में राज्य का दायित्व बढ़ता जा रहा है। साथ ही, इस नीति के अनुसार निजी क्षेत्र को भी यथासम्भव विकास का अवसर दिया गया है। किन्तु, निजी क्षेत्र की औद्योगिक संस्थाओं को राज्य की सामाजिक एवं आर्थिक नीति के सामान्य ढाँचे के अनुसार ही कार्य करना होगा। साथ ही, उन पर औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम तथा अन्य सम्बन्धित सन्धियों का नियन्त्रण होगा। पर सरकार भी उन्हें सहायता देने के लिए सदा तत्पर रहेगी। जब किसी उद्योग में निजी तथा सरकारी दोनों प्रकार की संस्थाएँ वर्तमान होगी तो सरकार यह प्रयत्न करेगी कि दोनों के साथ यथासम्भव समानता का बर्ताव किया जाय।

(ii) उद्योगों का विभिन्न श्रेणियों में विभाजन पूर्ण नहीं है (Industrial categories are not like watertight compartment):—परन्तु उद्योगों के इस प्रकार पृथक्-पृथक् तीन श्रेणियों में विभाजन का आशय यह नहीं है कि ये एक-दूसरे से बिल्कुल अलग होंगे। विशेष परिस्थितियों में उपरोक्त निर्धारित विभाजन में परिवर्तन भी किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, कुछ उद्योग दो या दो से अधिक श्रेणियों में रखे जा सकते हैं। सरकार जनहित एवं योजनाकरण की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए तीसरी श्रेणी में भी नये-नये कारखानों की स्थापना कर सकती है। इसी प्रकार विशेष परिस्थितियों में पूँजीपतियों को प्रथम श्रेणी के उद्योगों में भाग लेने की अनुमति दी जा सकती है। 1956 की नीति की यह एक प्रधान विशेषता है।

(iii) निजी क्षेत्र के साथ उचित बर्ताव (Fair and non-discriminatory treatment with the private sector):—1956 ई० की औद्योगिक नीति में इस बात पर भी जोर दिया गया है कि सरकार निजी क्षेत्र के साथ उचित व्यवहार रखेगी जिससे इनके स्वस्थ विकास को

प्रोत्साहन मिले। इस उद्देश्य से आनेवाली पंचवर्षीय योजनाओं में यातायात, शक्ति तथा अन्य सेवाओं के विकास एवं उचित वित्तीय नीति के द्वारा निजी क्षेत्र के विकास को प्रोत्साहित किया जायगा। इन्हें वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए राज्य वित्तीय संस्थाओं की स्थापना में भी सहयोग प्रदान करेगा। साथ ही, सहकारिता के आधार पर निर्मित औद्योगिक संगठनों को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया जायगा। उचित हालातों में राज्य निजी क्षेत्र को आवश्यक वित्तीय सहायता भी प्रदान करेगा, किन्तु यदि इस प्रकार की वित्तीय सहायता की मात्रा अधिक है तो राज्य की सहायता सम्बन्धित संस्थाओं की हिस्सा पूँजी में भाग के रूप में ही होगी। किन्तु निजी क्षेत्र को राज्य द्वारा निर्धारित सामाजिक एवं आर्थिक नीति के अनुरूप अपने को समन्वित करना होगा। यदि एक ही उद्योग में सार्वजनिक एवं निजी दोनों प्रकार की संस्थाएँ हैं, तो राज्य की नीति दोनों को उचित सहायता प्रदान करने की होगी।

(iv) बृहत् तथा कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धों के विकास का समन्वय (Co-ordination of the development of small scale industries with large scale industries):—1956 ई० की औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास पर भी जोर दिया गया है। उक्त नीति के अनुसार देश की आर्थिक व्यवस्था में इन उद्योगों का कई कारणों से महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन उद्योगों द्वारा शीघ्र एवं बड़े पैमाने पर रोजगार प्रदान किया जा सकता है, राष्ट्रीय आय के वितरण को अधिक समान बनाया जा सकता है तथा पूँजी एवं निपुणता का प्रभावपूर्ण तरीके से उपयोग किया जा सकता है। साथ ही, इन उद्योगों के विकास के द्वारा केन्द्रीयकरण की बुराइयाँ भी दूर की जा सकती हैं। अतः, औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव में इस बात पर जोर दिया गया है कि सरकार यथासम्भव लघु उद्योग की प्रतियोगिता की शक्ति में वृद्धि का प्रयत्न करेगी। साथ ही, राज्य द्वारा लघु उद्योगों एवं बृहत् पैमाने के उद्योगों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया जायगा। इनके विकास के लिए सरकार बड़े पैमाने के उद्योगों की उत्पादन-शक्ति को सीमित करेगी तथा इन्हें वित्तीय सहायता प्रदान करेगी। वास्तव में, कुटीर एवं लघु उद्योगों के सम्बन्ध में इस प्रकार की नीति का आधार द्वितीय पंचवर्षीय योजना थी जिसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि देश के आर्थिक विकास के लिए कुटीर उद्योग-धन्धों का विकास भी अति आवश्यक है क्योंकि इनके द्वारा अधिकाधिक मात्रा में उपभोक्ता वस्तुएँ उत्पादन की जा सकती हैं तथा रोजगार का सृजन किया जा सकता है।

(v) विभिन्न क्षेत्र का संतुलित औद्योगिक विकास



(Balanced Industrial development of different regions):—देश के विभिन्न क्षेत्रों के औद्योगिक विकास के स्तर में व्याप्त अन्तर (Disparities in industrial development of different regions) को कम करने पर भी उक्त औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में जोर दिया गया है। देश के कुछ क्षेत्रों में उद्योग-धन्वों का सर्वथा अभाव है। इसके फलस्वरूप इन क्षेत्रों में बेकारी की समस्या बहुत गम्भीर है। औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में इस बात पर जोर दिया गया है कि औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगिक विकास के लिए शक्ति, जल तथा यातायात-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान की जायँगी। इससे देश के संतुलित आर्थिक विकास में सहायता मिलेगी।

(vi) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों का प्रबन्ध (Management of Public sector Enterprises):—1956 ई० की औद्योगिक नीति में इस बात की भी व्याख्या की गयी है कि औद्योगिक विकास के कार्य को पूरा करने में देश के तकनीकी एवं प्रबन्ध के साधनों पर बहुत अधिक जोर पड़ेगा। अतः, सरकारी सेवाओं में एक टेकनिकल एण्ड मैनेजरियल कैडर की स्थापना की जायगी।

(vii) औद्योगिक शांति (Industrial peace):—उक्त नीति के अनुसार औद्योगिक प्रगति के लिए औद्योगिक शांति भी आवश्यक है। एक समाजवादी जनतन्त्र में श्रम भी विकास कार्यक्रम में साझेदार की तरह है, अतः विकास के कार्य में उसे अधिक सक्रिय सहयोग प्रदान करना आवश्यक होता है। देश में श्रम की कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए श्रमिकों के जीवन-स्तर में वृद्धि नितान्त आवश्यक है। इसके लिए इनके कार्य करने की स्थिति में सुधार भी आवश्यक है। औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में इस बात की चर्चा की गयी है कि मजदूरों तथा तकनिशियनों को उद्योग-धन्वों के प्रबन्ध में यथा-सम्भव भाग लेने की व्यवस्था की जानी चाहिए। राजकीय क्षेत्र के उद्योगों को इस दिशा में पथ-प्रदर्शक का कार्य करना चाहिए।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राज्य उद्योग तथा व्यापार में अधिकाधिक भाग ले रहा है। ऐसी स्थिति में यह बड़ा महत्वपूर्ण हो जाता है कि इसकी क्रियाओं का संचालन उचित रूप से हो। औद्योगिक नीति में इस बात पर भी जोर दिया गया है कि इन राजकीय संस्थाओं द्वारा शीघ्र निर्णय तथा दायित्व ग्रहण करने की भावना इसकी प्रगति के लिए नितान्त आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अधिकारों का यथासम्भव विकेन्द्रीकरण होना चाहिए तथा व्यवस्था व्यापारिक सिद्धान्तों के आधार पर की जानी चाहिए। रोज-रोज के कार्यों में इन्हें अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। देश में राजकीय औद्योगिक संस्थाओं से ऐसी आशा की जाती है कि ये

राज्य की आय की वृद्धि में सहायक होंगे तथा नये क्षेत्रों में विकास के लिए धन एकत्र करेंगी। किन्तु इन संस्थाओं को हानी भी हो सकती है। अतः राजकीय औद्योगिक संस्थाओं की प्रगति का अन्दाजा सम्पूर्ण तथ्यों के आधार पर ही लगाना चाहिए।

### 1956 ई० की औद्योगिक नीति का मूल्यांकन

#### (An Appraisal of the Industrial Policy of 1956)

भारत सरकार की 1956 ई० की औद्योगिक नीति देश के आर्थिक विकास के लिए एक महत्वपूर्ण कदम है। देश की पंचवर्षीय योजनाओं में आयोजित आर्थिक विकास के लिए इस नीति का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। भारत जैसे अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देश में द्रुतगति से आर्थिक विकास की किसी भी योजना की सफलता के लिए उद्योग-धन्वों के क्षेत्र में सरकार का अधिकाधिक दायित्व ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता है। द्रुतगति से विकास के लिए विनियोग की मात्रा में निरन्तर वृद्धि आवश्यक है, क्योंकि इससे पूँजी के निर्माण में सहायता मिलती है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसा करने के लिए मिश्रित आर्थिक व्यवस्था (Mixed economy) जिसमें सार्वजनिक तथा निजी दोनों क्षेत्रों का सहयोग प्राप्त हो, ही एक-मात्र उपाय है। अतः 1956 ई० के औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में एक ऐसी मिश्रित अथवा नियन्त्रित आर्थिक व्यवस्था के निर्माण का आयोजन था जिसमें देश के आर्थिक विकास के लिए सरकारी तथा निजी दोनों क्षेत्र हाथ-में-हाथ मिलाकर कार्य करेंगे जिससे कि विकास की योजनाएँ सफल हो सकें। इस दृष्टिकोण से उक्त औद्योगिक नीति प्रशंसनीय है। उक्त नीति की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता सरकार की औद्योगिक नीति एवं पंचवर्षीय योजनाओं के औद्योगिक कार्यक्रमों के बीच समन्वय स्थापित करना था।

किन्तु निजी क्षेत्र के उद्योगपतियों ने उक्त नीति की कटु आलोचना की है। इनका कहना है कि 1956 ई० की औद्योगिक नीति के अनुसार राजकीय उपक्रम के क्षेत्र को अनुचित रूप से विस्तृत तथा निजी क्षेत्र को संकुचित बना दिया गया है। आलोचकों के अनुसार योग्य व्यवस्थापकों, तकनीकी जानकारी तथा आवश्यक पूँजी आदि के अभाव में राज्य के लिए इतने बड़े पैमाने पर उद्योग-धन्वों की व्यवस्था लाभदायक नहीं सिद्ध हो सकती है। आलोचकों के अनुसार जब सरकारी क्षेत्र में प्रगति संतोषप्रद नहीं हो रही है तो इतने उद्योगों को सरकार के अधीन छोड़ना कहाँ तक न्यायपूर्ण होगा। उदाहरण के लिए, विश्व बैंक के तत्कालीन अध्यक्ष श्री ब्लैक के अनुसार इस नीति को उचित रूप में कार्यान्वित करने पर सार्वजनिक क्षेत्र के वित्तीय तथा प्रशासनिक साधनों पर अनावश्यक रूप से भार पड़ेगा जिसके योग्य



यह क्षेत्र अभी शायद नहीं हो पाया है। (The policy if rigidly applied, could only result in imposing heavy additional burdens on already overstrained financial and administrative resources of the public sector and restricting the rate of development in these vitally important fields.) साथ ही, निजी क्षेत्र को भी इसमें अपनी सार्थकता सिद्ध करने का अवसर नहीं मिल पाता। इस नीति के निर्माता भी शायद स्वयं इस कठिनाई से अनभिज्ञ नहीं थे, क्योंकि इस नीति में यह चर्चा है कि उद्योगों के इस प्रकार पृथक्-पृथक् श्रेणियों में विभाजन का आशय यह नहीं है कि ये एक-दूसरे से बिल्कुल पृथक् होंगे। (The division of industries, into separate categories does not imply that they are being placed in watertight compartments. In appropriate cases, privately owned units may be permitted to produce an item falling within schedule A for meeting their own requirements or as by-products.) किन्तु जहाँ सार्वजनिक क्षेत्र असफल हो जायगा वहाँ निजी क्षेत्र क्या आगे आ सकता है? इस प्रकार आलोचकों के अनुसार इस नीति के फलस्वरूप प्रथम श्रेणी के लिए उचित बातावरण का अभाव है।

द्वितीयतः, आलोचकों के अनुसार इस नीति से सरकार की नियंत्रण-शक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जायगी। इनके अनुसार इस नीति में राष्ट्रीयकरण की धमकी भी परोक्ष रूप से वर्तमान है जिससे निजी क्षेत्र को विकास के कार्य में कोई प्रेरणा नहीं मिलेगी तथा पूँजी के निर्माण में भी शिथिलता आ जायगी। इस नीति ने उद्योगपतियों तथा व्यापारियों को एक प्रकार से असमंजस में डाल रखा है। साथ ही, इससे आर्थिक शक्तियों का केन्द्रीयकरण राजनीतिज्ञों के हाथ में हो जाता है जो देश के आर्थिक विकास के लिए निश्चय ही उचित नहीं है। इससे देश का औद्योगिक विकास वास्तव में रुक-सा जाता है। इस प्रकार उक्त नीति की घोषणा से निजी क्षेत्र के उद्योगों में निजी क्षेत्र के आतंकित-सा हो गया है।

परन्तु, इस नीति की अधिकांश आलोचनाएँ तथ्यहीन हैं। वास्तव में, इसमें राष्ट्रीयकरण की कोई भी धमकी नहीं दी गयी है, उल्टे इसमें निजी क्षेत्र के समुचित विकास के लिए उपाय बतलाये गये हैं तथा पर्याप्त अवसर भी प्रदान किया गया है। इस प्रकार उक्त नीति पर लगाये गये बहुत-से आरोप केवल आलोचना की दृष्टि से ही लगाये गये हैं। वास्तव में, यदि हम अपने देश का द्रुत-गति से आर्थिक विकास चाहते हैं, जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना चाहते हैं तथा देश में सही रूप से समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं तो अत्य-

धिक मात्रा में सरकारी नियंत्रण एवं हस्तक्षेप आवश्यक हो जाता है। अतः, निजी क्षेत्र को अपने-आप इन परिस्थितियों से समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस नीति में निजी क्षेत्र के विकास के लिए समुचित सहायता की भी व्यवस्था है। हाँ, इतना अवश्य है कि सरकारी यंत्र अभी अक्षुशल एवं अपूर्ण है। किन्तु सरकार इस ओर जागरूक है तथा इन दोषों को दूर करने का प्रयत्न भी कर रही है।

### औद्योगिक नीति में संशोधन की आवश्यकता (Need for Review of the Industrial Policy)

अब प्रश्न यह है कि क्या वर्तमान औद्योगिक नीति में संशोधन की आवश्यकता है? वास्तव में, पिछले कुछ वर्षों में हुई आर्थिक एवं राजनीतिक घटनाओं के परिणामस्वरूप औद्योगिक नीति पर पुनः विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। पिछले वर्षों में चीनी एवं पाकिस्तानी आक्रमण के परिणामस्वरूप उत्पन्न संकट की परिस्थितियों में आनेवाले कुछ वर्षों में औद्योगिक कार्यक्रमों का प्रधान उद्देश्य सुरक्षा एवं विकास (Defence and development) दोनों की आवश्यकताओं को पूरा करना बन गया है। प्रतिरक्षा की आवश्यकताओं पर आधारित विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत यन्त्रों तथा उपकरणों के निर्माण के लिए मशीनों के निर्माण की क्षमता में वृद्धि आवश्यक है। इस उद्देश्य से मशीन-निर्माण करनेवाले कारखानों की अधिकाधिक संख्या में स्थापना अनिवार्य है। इससे देश की आर्थिक व्यवस्था स्वतः प्रचलित हो सकेगी। साथ ही, इस संकटकालीन स्थिति में निर्यात-सम्बन्धी उद्योगों के अधिकाधिक विस्तार की भी आवश्यकता है। इससे निर्यात में वृद्धि होने के साथ-साथ आयात में कमी होगी और इस प्रकार विदेशी विनिमय की बचत होगी।

अतएव, इस संदर्भ में देश की औद्योगिक नीति पर पुनर्विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। साथ ही, चतुर्थ तथा पंचम पंचवर्षीय योजनाओं में आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन पर भी जोर दिया गया है। इन वस्तुओं की पूर्ति को बढ़ाने के लिए राज्य स्वयं उपभोक्ता उद्योगों के क्षेत्र में प्रवेश करना चाहता है; अतः कुछ आवश्यक उपभोक्ता उद्योगों की स्थापना सार्वजनिक क्षेत्र में करने की बात भी सोची जा रही है। अभी इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, फिर भी यह सत्य है कि सार्वजनिक क्षेत्र में उपभोक्ता उद्योगों की स्थापना का निजी क्षेत्र पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। वास्तव में, सरकार का उद्देश्य मूल्य-तल में अत्यधिक वृद्धि को रोकने के लिए आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं की



पुंति को बढ़ाना है। साथ ही, सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की मूल्य-नीति के सम्बन्ध में भी पुनर्विचार किया है। चतुर्थ योजना के स्मृति-पत्र में इस बात की चर्चा की गयी थी कि सार्वजनिक उद्योगों की मूल्य नीति इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे कि इनमें लगायी गयी पूँजी पर उचित प्रतिफल प्राप्त हो सके। (capital is a scarce resource and the prices of public enterprises must be so set so as to provide an adequate return on the capital employed in them. A return of 12 p. c. on the invested capital would be an appropriate criterion for determining the price policy for most public undertakings.)

इन सब कारणों से देश की औद्योगिक नीति पर पुनर्विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। तृतीय योजना में औद्योगिक विकास को उच्च प्राथमिकता प्रदान की गयी थी, किन्तु अधिकांश क्षेत्रों में योजना के औद्योगिक लक्ष्य पूरे नहीं हो सके जिससे तृतीय योजनाकाल में हम आर्थिक विकास के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ नहीं सके। 6 जून, 1966 ई० से भारतीय रुपये के अवमूल्यन का भी उद्योग-धन्धों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भी उद्योग-धन्धों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। ऐसी स्थिति में औद्योगिक नीति पर नये सिरे से विचार करने की प्रबल आवश्यकता है। योजना आयोग के भूतपूर्व सदस्य श्री तारलोक सिंह ने भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया था। किन्तु चतुर्थ योजना (1969-74) में इस बात को स्पष्ट किया गया था कि इसमें उद्योग-धन्धों का विकास 1956 ई० की औद्योगिक नीति के आधार पर ही होगा। निजी तथा सार्वजनिक दोनों क्षेत्र 1956 ई० की औद्योगिक नीति के अनुसार ही कार्य करेंगे। पाँचवीं योजना (1974-79) में भी इसी बात की व्यवस्था थी।

किन्तु द्रुतगति से आर्थिक विकास के लिए देश की औद्योगिक नीति में अब संशोधन अनिवार्य है। इन संशोधनों का सम्बन्ध सामान्यतः निम्नलिखित बातों से होना चाहिए :—

- (1) कृषि की उत्पादकता को बढ़ाने के लिए कृषि-सम्बन्धी उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि पर जोर अनिवार्य है।
- (2) मूल्य-तल में स्थायित्व की दृष्टि से आवश्यक उपभोक्ता उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि करनी होगी।
- (3) इंजीनियरिंग उद्योगों के उत्पादन में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि करनी होगी।
- (4) सभी प्रमुख उद्योगों में लागत व्यय को कम करने की एक वृहत् योजना कार्यान्वित की जानी चाहिए।

(5) विदेशी सहायता के प्रयोग के पूर्व इसकी पूर्णरूप से जाँच पड़ताल कर लेनी चाहिए।

(6) उद्योगों के प्रशासन, विशेषतः राजकीय क्षेत्र के उद्योगों के प्रशासन को अधिक सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

दिसम्बर, 1977 में जनता सरकार ने अपनी नयी औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसका वर्णन इसी अध्याय के अन्त में किया गया है।

### नयी लाइसेंसिंग नीति (New-Licensing Policy)

भारत सरकार की औद्योगिक नीति का एक प्रधान उद्देश्य निजी एकाधिकारों के अभ्युदय तथा थोड़े-से व्यक्तियों के हाथ आर्थिक शक्तियों के संकेन्द्रण को रोकना है। इस समस्या का अध्ययन आय के वितरण तथा जीवन स्तर-सम्बन्धी महालनोबिस समिति [Mahalanobis Committee on Distribution of Income and level of Living (1960)], एकाधिकार जाँच आयोग [Monopolies Enquiry Commission (1964)] तथा औद्योगिक लाइसेंसिंग जाँच समिति [Industrial Licensing Policy Enquiry Committee (1965)] द्वारा विचार किया गया था। इन सब अध्ययनों के आधार पर 1969 में एक Monopolies and Restrictive Trade Practices Act पारित किया गया तथा 1970 में एक Monopolies and Restrictive Trade Practices Commission की नियुक्ति की गयी। 1973 में इसमें पुनः संशोधन किया गया। इन सब प्रतिवेदनों को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने 1970 में अपनी नयी लाइसेंसिंग नीति की घोषणा की। औद्योगिक विकास की गति को तीव्रतर बनाने तथा प्रशासनिक कुशलता में वृद्धि करने के लिए लाइसेंसिंग नीति में परिवर्तन की आवश्यकता बहुत पहले से ही प्रतीत हो रही थी। इस लाइसेंसिंग नीति का उद्देश्य दुर्लभ साधनों के उचित आवंटन, सीमित विदेशी विनिमय के साधनों का समुचित उपयोग तथा विभिन्न क्षेत्रों के विकास को ध्यान में रखते हुए उद्योग-धन्धों की स्थापना को प्रोत्साहित करना है। अतः इन व्यापक उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए योजना आयोग ने देश के लिए चतुर्थ योजना की रूप-रेखा में एक उचित लाइसेंसिंग नीति की रूप-रेखा प्रस्तुत की थी। प्रशासन सुधार आयोग (Administrative Reforms Commission) ने भी लाइसेंसिंग नीति में संशोधन की आवश्यकता पर जोर दिया था। इस आयोग ने औद्योगिक क्षेत्र में एक 'मुक्त क्षेत्र' (free area) की स्थापना का सुझाव दिया था। इसके अनुसार ऐसे उद्योग जिनमें विदेशी विनिमय तथा राजकीय वित्तीय संस्थानों से सहायता की कोई आवश्यकता नहीं हो, उन्हें प्रारम्भ करने के



लिए किसी प्रकार के लाइसेंस की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।

इसी प्रकार सरकार द्वारा नियुक्त Industrial Licensing Policy Inquiry Committee ने भी अपने प्रतिवेदन में देश के औद्योगिक विकास में लाइसेंसिंग नीति के महत्त्व को आवश्यक बतलाते हुए मध्यम दर्जे के उद्योगों के लिए लाइसेंसिंग को सुगम बनाने का सुझाव प्रस्तुत किया था। किन्तु समिति के अनुसार बड़े-बड़े उद्योग-पतियों तथा विदेशी संस्थाओं को इस क्षेत्र में बिल्कुल लाइसेंस नहीं प्रदान करना चाहिए।

इन सब प्रतिवेदनों तथा सुझावों को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने 1970 तथा 1973 में अपनी नयी औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति की घोषणा की। इस नीति को निम्नांकित प्रधान विशेषताएँ हैं :—

(1) सर्वप्रथम तो प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों की एक सूची (list of core industries) होगी जिसमें आधारभूत (basic, critical and strategic) उद्योगों को सम्मिलित किया जायगा। इस वर्ग के उद्योगों के लिए कच्ची सामग्री आदि प्रदान करने में प्राथमिकता प्रदान की जायगी।

(2) इन प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों के अतिरिक्त शेष ऐसे उद्योगों को जिनमें 5 करोड़ रुपये से अधिक रकम सम्मिलित होगी, को 'heavy investment sector' कहा जायगा। इनमें 1956 ई० की औद्योगिक नीति में वर्णित राजकीय क्षेत्र के अतिरिक्त शेष सभी उद्योगों में बड़े-बड़े उद्योगपति तथा विदेशी कम्पनियाँ भी भाग ले सकती हैं।

(3) 1 करोड़ रुपये से 5 करोड़ रुपये के विनियोग का एक मध्यम क्षेत्र (middle sector) होगा जिसमें बड़ी-बड़ी औद्योगिक कम्पनियों तथा विदेशियों के अतिरिक्त अन्य लोगों को भी विदेशी विनिमय की स्थिति को ध्यान में रखते हुए सुगमता से लाइसेंस दिया जायगा।

(4) 1 करोड़ रुपये के विनियोग तक के नये संस्थानों अथवा पुराने संस्थानों के विस्तार के लिए कोई लाइसेंस की आवश्यकता नहीं होगी। किन्तु इस प्रकार की छूट केवल उन्हीं उद्योगों को दी जायगी जो बड़ी औद्योगिक कम्पनियों तथा विदेशियों से सम्बद्ध नहीं हैं, जिन्हें यन्त्र आदि के आयात के लिए 20 लाख रुपये या कुल विनियोग के 10 प्रतिशत से अधिक के विदेशी विनिमय की आवश्यकता नहीं पड़ती है तथा जो एकाधिकार अधिनियम के अन्तर्गत क्षमताशील उद्योग (dominant undertaking नहीं हैं।)

(5) लघु उद्योगों के क्षेत्र को सुरक्षित रखने की वर्तमान नीति जारी रहेगी। कृषि-सम्बन्धी उद्योगों (Agro-Industries) को प्रारम्भ करने में भी सहकारिता क्षेत्र को प्राथमिकता प्रदान की जायगी।

(6) संयुक्त क्षेत्र (Joint Sector) की स्थापना के लिए हरेक प्रस्ताव पर सरकार की सामाजिक एवं आर्थिक नीति को ध्यान में रखकर विचार किया जायगा।

इस प्रकार भारत सरकार की नयी औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति से देश के औद्योगिक विकास में अत्यधिक तीव्रता आने की आशा की जाती है। 1970 ई० में औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति में परिवर्तन के साथ-साथ भारत सरकार ने राजकीय वित्तीय संस्थाओं (State Financial Institutions) द्वारा दी जानेवाली वित्तीय सहायता एवं सार्वजनिक क्षेत्र के विकास-सम्बन्धी नीति (policy regarding the growth of the public sector) में भी कुछ परिवर्तन किया है। वास्तव में, वर्तमान परिस्थितियों में एक नयी एवं व्यापक औद्योगिक नीति की घोषणा की प्रबल आवश्यकता है।

1975 की औद्योगिक नीति :—25 अक्टूबर, 1975 को सरकार ने औद्योगिक लाइसेंस नीति में पुनः कुछ परिवर्तनों की घोषणा की। इसके अनुसार सरकार ने 21 उद्योगों को लाइसेंस प्राप्त करने से छूट दे दी। इसके अतिरिक्त 30 अन्य महत्त्वपूर्ण उद्योगों में विदेशी फर्मों एवं एकाधिकारी घरानों (Monopoly Houses) को लाइसेंस-प्राप्त क्षमता के ऊपर असीमित विस्तार करने की इजाजत दे दी गयी। लाइसेंस नीति में उदारता भारी-विनियोग उद्योगों के लिए भी उपलब्ध होगी। इस रियायत का लाभ उठाने के लिए एकाधिकारी घरानों और विदेशी फर्मों को या तो अतिरिक्त उत्पादन का निर्यात करना होगा या सरकार के निर्देशानुसार इसे बेचना होगा। यह सुविधा उन औद्योगिक इकाइयों को भी उपलब्ध होगी जो एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम और विदेशी मुद्रा विनियम कानून के अधीन हैं।

5 नवम्बर, 1975 को सरकार ने एकाधिकारी घरानों तथा विदेशी फर्मों द्वारा स्थापित अनधिकृत क्षमता (Un-authorised capacity) को कानूनी बनाने की विधि भी प्रस्तुत की।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली अब अर्थहीन हो गई है। 1972 में 65 औद्योगिक घरानों की अनधिकृत क्षमता को कानूनी घोषित कर दिया गया। 1973 में विशाखन (Diversification) की आड़ में 100 प्रतिशत क्षमता विस्तार की इजाजत दे दी गयी। 1975 में पहले 25 प्रतिशत अतिरिक्त क्षमता को सामान्य विस्तार के अधीन कानूनी घोषित किया गया, बाद में 25 प्रतिशत और अतिरिक्त क्षमता को स्वतः लाइसेंस-प्राप्ति के अंतर्गत (automatic licensing) कानूनी मान लिया।



## 1977 की औद्योगिक नीति (Industrial Policy of 1977)

23 दिसम्बर, 1977 को जनता सरकार के उद्योग मंत्री श्री जार्ज फरनाण्डिस ने भारत सरकार की नयी औद्योगिक नीति की घोषणा की। इस नीति के अंतर्गत ग्रामीण तथा छोटे-छोटे शहरों में स्थित कुटीर एवं लघु उद्योगों को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसका मूल उद्देश्य यह है कि जो वस्तुएँ कुटीर एवं लघु उद्योगों द्वारा तैयार की जा सकती हैं उनको उसी क्षेत्र में रखा जाय। नयी औद्योगिक नीति में लघु-उद्योग क्षेत्र के अन्तर्गत 500 से भी अधिक वस्तुओं को सुरक्षित रखा गया है। इन सुरक्षित वस्तुओं की सूची में भी समय-समय पर परिवर्तन होते रहेगा। इस लघु उद्योग क्षेत्र के अन्तर्गत भी एक छोटे क्षेत्र (Tiny sector) को पृथक् किया गया है जिसके अंतर्गत ग्रामीण तथा छोटे-छोटे शहरों में स्थित उन छोटे-छोटे उद्योगों को रखा गया है जिनमें एक लाख रुपये के यंत्रादि लगाये गये हैं। कुटीर तथा घरेलू उद्योगों तथा खादी एवं ग्रामीण उद्योगों को विशेष महत्त्व दिया जायगा। बुनाई के क्षेत्र में मिल तथा शक्ति द्वारा चालित कर्बों की क्षमता में विस्तार की अनुमति नहीं दी जायगी जब कि हस्तकर्म क्षेत्र को विस्तार के लिए हरेक प्रकार की सुविधा दी जायगी।

नयी औद्योगिक नीति में कुटीर एवं घरेलू उद्योगों की स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए सरकार द्वारा कानून बनाने पर भी विचार किया जायगा। इसी नीति में यह स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया गया है कि अब तक इस क्षेत्र में किये गये प्रयत्नों से लघु एवं ग्रामीण उद्योगपतियों को कोई भी प्रोत्साहन नहीं मिल पाया है। (There has been a tendency to proliferate schemes, agencies and organisations which have tended more to confuse the average small & rural entrepreneur than to encourage & help him.) अतएव नयी औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में विकास बिन्दु की बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों तथा राज्यों की राजधानियों से हटाकर जिला मुख्यालयों में ले जाने का आयोजन है। इन मुख्यालयों में जिला उद्योग केन्द्र (District Industries Centre) स्थापित किये जायेंगे जहाँ पर एक स्थान पर लघु एवं ग्रामीण उद्योगों के लिए आवश्यक सभी प्रकार की सेवाएँ तथा सहायता प्रदान की जायगी। औद्योगिक विकास बैंक तथा उद्योगों को वित्त प्रदान करने वाली अन्य संस्थाएँ इस कार्य के लिए एक पृथक् विभाग की स्थापना करेंगी तथा लघु एवं ग्रामीण उद्योगों के विकास के लिए अपने कोष का एक निश्चित प्रतिशत भाग पृथक् कर देंगी। नयी औद्योगिक नीति में बड़े पैमाने के उद्योगों का विकास लोगों की आधारभूत न्यूनतम आवश्यकताओं

की पूर्ति सम्बन्धी कार्यक्रम को ध्यान में रखकर किया जायगा। अतएव बड़े पैमाने के उद्योगों का क्षेत्र निम्नांकित होगा :—

(क) आधारभूत उद्योग :—जैसे इस्पात, नन-फेरस धातु, सीमेंट तथा तेल साफ करने वाले कारखाने;

(ख) आधारभूत एवं लघु उद्योगों की यंत्र-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों (Capital goods industries);

(ग) उच्च तकनीक वाले उद्योग (high technology industries) जैसे—रासायनिक खाद जिनमें बड़े पैमाने पर उत्पादन की आवश्यकता पड़ती है, तथा

(घ) ऐसे अन्य सभी उद्योग जो सुरक्षित लिस्ट से बाहर हैं तथा जिनका विकास अर्थव्यवस्था के विकास के लिए आवश्यक है।

किन्तु औद्योगिक नीति में इस बात पर जोर दिया गया है कि बड़े पैमाने के उद्योगों का नियंत्रण देश के सामाजिक-आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति को ध्यान में रखकर किया जायगा। अब तक निजी क्षेत्र के इन उद्योगों के विकास के लिए भी कोष मुख्यतः राजकीय क्षेत्र के बैंकों तथा वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त होता रहा है, अतएव अब इस बात पर जोर दिया जायगा कि ये अपने विस्तार के लिए अपने आंतरिक साधनों पर ही निर्भर करें। साथ ही, सरकार का यह स्पष्ट उद्देश्य है कि कोई भी इकाई या व्यावसायिक संस्थान बाजार में एकाधिकार का स्थान नहीं ग्रहण करे। इसे रोकने के लिए तत्परता के साथ कार्य किया जायगा।

इस संदर्भ में राजकीय क्षेत्र का महत्त्व और बढ़ जाता है। अब राजकीय क्षेत्र आधारभूत एवं भारी उद्योगों की वस्तुओं का ही उत्पादन नहीं कर उपभोक्ताओं के लिए आवश्यक सामग्रियों की पूर्ति को स्थायी बनाने के लिए भी उत्पादन करेगा। (Not only will public sector produce important and strategic goods of a basic nature, but it will also be used as a stabilising for maintaining essential supplies to the consumer.) साथ ही, सार्वजनिक क्षेत्र सहायक उद्योगों के विकास को भी प्रोत्साहित करेगा तथा कुटीर एवं लघु उद्योगों की आवश्यक सहायता प्रदान कर देश में उद्योगों-धंधों के विकेंद्रित विकास को प्रोत्साहित करेगा।

किन्तु इस नीति की कई बातों को लेकर आलोचना भी की जा सकती है। उदाहरण के लिए, रोजगार प्रदान करने तथा प्रादेशिक विषमता को दूर करने के लिए लघु एवं ग्रामीण उद्योगों को अधिक महत्त्व देना उचित अवश्य है, किन्तु बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास को संकुचित



कर लघु एवं ग्रामीण उद्योगों के विकास को प्रश्रय देने से लाभदायक नहीं सिद्ध हो सकता। इससे देश में औद्योगिक पिछड़े हुए तकनीक को प्रश्रय मिलेगा जो देश के हित में विकास की गति निश्चय ही मंद पड़ जायगी।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. Kuchchal, S. C. . : The Industrial Economy of India.
2. Venkatsubbiab, H. : Indian Economy Since Independence.
3. Report of the Fiscal Commission, 1949-50, Vol. I, pp. 410-416.
4. Second & Third Five Year Plans of India. .
5. Fourth & Fifth Five Year Plans of India.
6. Draft Five Year Plan (1978-83).



## अध्याय : 36

### भारत की उद्योग-संरक्षण नीति

(India's Fiscal Policy)

औद्योगिक विकास के लिए संरक्षण की आवश्यकता (Need for a sound Fiscal Policy for Industrialisation) :—किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए सुदृढ़ संरक्षण नीति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में उद्योग-धन्धों को संरक्षण प्रदान करना प्रायः सभी देशों में अनिवार्य हो जाता है। जर्मनी, संयुक्तराज्य अमेरिका तथा जापान आदि देशों ने संरक्षण के बल पर ही द्रुतगति से अपना औद्योगिक विकास किया है। संरक्षण के पक्ष में बहुधा बहुत-से तर्क दिये जाते हैं। भारत के साथ इनमें से कुछ तर्क सामान्य रूप से लागू भी होते हैं। संरक्षण के समर्थन का सबसे प्रबल आधार शिशु-उद्योग-सम्बन्धी तर्क है। कहा भी जाता है कि उद्योग-धन्धों को उनकी प्रारम्भिक अवस्था में विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए संरक्षण प्रदान करना अनिवार्य है। भारत में अभी औद्योगिक विकास प्रारम्भिक अवस्था में ही है। अतः समुचित संरक्षण के अभाव में उद्योग-धन्धों के विकास में कठिनाई का होना अति स्वाभाविक है। संरक्षण के पक्ष में प्राकृतिक साधन-सम्बन्धी तर्क भी यदा-कदा प्रस्तुत किया जाता है। भारत में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता है और यदि उन्हें उचित समय तक पर्याप्त मात्रा में संरक्षण प्राप्त हो तो देश के इन प्राकृतिक साधनों का समुचित विकास किया जा सकता है। इससे देश की आर्थिक समृद्धि में वृद्धि होगी तथा जन-साधारण के जीवन स्तर में भी सुधार होगा। भारत में संरक्षण को इस आधार पर भी उचित ठहराया जाता है कि कुछ विशेष महत्त्व के उद्योगों में देश के हित में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना बिल्कुल अनिवार्य है। उदाहरण के लिए, सुरक्षा-सम्बन्धी उद्योग तथा आधारभूत वस्तुओं के उत्पादन के हित में आत्म-निर्भरता की प्रबल आवश्यकता है। अतः इन उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना आवश्यक है। उपरोक्त तथ्यों के विवेचन से स्पष्ट है कि भारतजै-से अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देश में उद्योग-धन्धों के विकास के लिए एक यथोचित संरक्षण-नीति की प्रबल आवश्यकता है।

भारत में प्राशुलिक स्वतन्त्रता (Fiscal Autonomy) का प्रारम्भ :—ब्रिटिश शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में भारत में सामान्यतः स्वतन्त्र व्यापार की नीति का अनुसरण

किया जाता था। देश में आयात-निर्यात कर अवश्य लगाये जाते थे, किन्तु इनका मुख्य उद्देश्य उद्योग-धन्धों का संरक्षण नहीं होकर राजस्व की वृद्धि-मात्र ही होता था। प्रो० बी० पी० अदारकर ने बड़े स्पष्ट शब्दों में इनकी व्याख्या निम्न प्रकार से की है : “1923 ई० तक भारत की प्रशुलक नीति (Fiscal Policy) मुख्य रूप से स्वतन्त्र व्यापार को प्रोत्साहित करनेवाली रही थी और आयात-निर्यात करों के निर्धारण में जनता की समृद्धि पर नहीं बरन् सरकार की राजस्व-सम्बन्धी आवश्यकताओं के आधार पर ही विचार किया जाता था।”<sup>1</sup> प्रथम महा-युद्ध के समय सरकार ने बहुत-सी वस्तुओं पर आयात कर लगाया तथा इनकी दरों में वृद्धि भी की गयी। इससे संयोगवश कुछ उद्योगों को संरक्षण भी प्राप्त हुआ। किन्तु, यह संरक्षण बिल्कुल आकस्मिक था तथा इसका उद्देश्य उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना नहीं, बरन् सरकार की आय में अभिवृद्धि करना था।

प्रथम विश्व-युद्ध ने भारत के औद्योगिक विकास की संभावनाओं की ओर सर्वप्रथम सरकार का ध्यान आकर्षित किया। युद्धकाल में देश में कई नये-नये उद्योगों का विकास हुआ तथा कुछ पुराने उद्योगों ने अच्छी प्रगति हासिल कर ली। इससे भारतवासियों में देश के औद्योगीकरण की भावना धीरे-धीरे जागृत होने लगी। 1916 में भारत सरकार द्वारा नियुक्त औद्योगिक आयोग ने देश की औद्योगिक संभावनाओं की जाँच के पश्चात् देश के द्रुतगति से औद्योगीकरण की सिफारिश की। इस समय मॉटिंग्यू चेम्सफोर्ड सुधार की घोषणा की गयी जिसके अनुसार भारतवासियों को स्वशासन की स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। इसी सम्बन्ध में ब्रिटिश संसद् के दोनों सदनों की प्रवरसमिति (Joint Select Committee of both Houses of Parliament) ने 1919 ई० में भारत के लिए प्राशुलिक स्वतन्त्रता (Fiscal autonomy) की सिफारिश की। समिति की इस सिफारिश के आधार पर ब्रिटिश संसद् ने 1921 ई० में भारत के लिए प्राशुलिक स्वतन्त्रता का प्रस्ताव (Fiscal Autonomy Convention) स्वीकृत किया। इस प्रस्ताव के अनुसार यह निश्चित किया गया कि भारत सरकार द्वारा अपने विधानमण्डल की स्वीकृति से निर्धारित प्रशुलक नीति में कुछ विशेष



परिस्थितियों को छोड़कर, भारत संचिव किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

### 1921 ई० के संरक्षण आयोग एवं विवेचनात्मक संरक्षण की नीति

(Fiscal Commission of 1921 and the Policy of Discriminating Protection)

अतएव, 1921 ई० में भारत सरकार ने उद्योग-धन्धों को संरक्षण तथा साम्राज्यीय अधिमान (Imperial Preference) सिद्धांतों पर विचार करने के लिए सर इब्राहीम रहीमतुल्ला की अध्यक्षता में एक उद्योग संरक्षण आयोग (Fiscal Commission) की नियुक्ति की जिसने 1923 ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। आयोग ने जांच के पश्चात् यह बतलाया कि यद्यपि भारत एक कृषि-प्रधान देश है, फिर भी यहाँ औद्योगिक विकास की असीम संभावनाएँ हैं। आयोग की राय में उद्योग-धन्धों के समुचित विकास द्वारा भूमि पर बढ़ती हुई जनसंख्या के बोझ को कम किया जा सकता है तथा देश की आर्थिक समृद्धि में भी वृद्धि की जा सकती है। औद्योगिक विकास द्वारा देश की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति में सुधार किया जा सकता है तथा इससे देशवासियों के चरित्र को सुदृढ़ बनाया जा सकता है। किन्तु, देश के औद्योगिक विकास के लिए संरक्षण आवश्यक है, अतः आयोग ने बहुमत<sup>1</sup> से भारत में विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminating Protection) के सम्बन्ध में अपनी सिफारिशें दीं।

विवेचनात्मक संरक्षण की नीति के अनुसार केवल उन्हीं उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया जायगा जो आयोग द्वारा निर्धारित निम्नलिखित तीन शर्तों को पूरा करते हों :—

(1) संरक्षण उसी उद्योग को प्रदान किया जायगा जिसके लिए देश में प्रायः सभी प्राकृतिक सुविधाएँ, जैसे—पर्याप्त मात्रा में कच्चे पदार्थ, सस्ती शक्ति, पर्याप्त मात्रा में श्रमिकों की पूर्ति तथा विस्तृत आंतरिक बाजार आदि उपलब्ध हों। (The Industry to be protected should possess natural advantages such as abundant supply of raw materials, cheap power, sufficient supply of labour and a large home market.) जिन उद्योगों को सापेक्षिक ढंग से ये सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न होंगी वे विश्व के विकसित देशों के उद्योगों की प्रतियोगिता में समान स्तर पर खड़ा नहीं हो सकते जिनके फलस्वरूप वह देश तथा समाज पर भार बने जायगा;

(2) उद्योग ऐसी स्थिति में हो कि संरक्षण के बगैर उसका विकास बिल्कुल संभव नहीं हो अथवा संरक्षण के बगैर देश के हित में वांछनीय ढंग से विकसित नहीं हो सकता हो (The industry must be one which, without the help of protective tariff would not be able to develop at all or would not develop rapidly enough to serve the interests of the country); तथा

(3) उसी उद्योग को संरक्षण देना चाहिए जो अन्त में संरक्षण के बगैर ही विश्व-बाजार में प्रतियोगिता का सामना कर सके। (The industry be able to face foreign competition eventually without tariff assistance.) आयोग के अनुसार संरक्षण का तात्पर्य ऐसे उद्योगों को अस्थायी रूप से संरक्षण देने से है जो कुछ समय बाद स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होने की शक्ति रखते हों।

इस प्रकार विवेचनात्मक संरक्षण की नीति के ये तीन प्रधान सूत्र (triple formula) थे। इन सूत्रों के अतिरिक्त आयोग ने संरक्षण प्रदान करने के लिए कुछ अन्य आवश्यक बातों पर भी प्रकाश डाला। आयोग की राय में उस प्रकार के उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने में प्राथमिकता दी जानी चाहिए—(i) जिनके उत्पादन व्यय में भविष्य में कमी होने की सम्भावना हो; (ii) साथ ही, जो कुछ समय में ही देश की समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता रखते हो; (iii) विदेशी वस्तुओं के राशिपातन (Dumping) अथवा आर्थिक सहायता प्राप्त वस्तुओं के आयात को रोकने के लिए भी उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की आवश्यकता को स्वीकार किया गया। (iv) आयोग के अनुसार राष्ट्रीय प्रतिरक्षा एवं सैनिक महत्त्व के उद्योगों तथा आधारभूत उद्योग-धन्धों को संरक्षण प्रदान करने में प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

### विवेचनात्मक संरक्षण-नीति के परिणाम (Working of the Policy of Discriminating Protection)

आयोग की सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार कर लिया तथा विधान-मण्डल के 1923 ई० के एक प्रस्ताव के अनुसार एक प्रशुल्क-मण्डल (Tariff Board) की नियुक्ति की गयी। विवेचनात्मक संरक्षण की नीति के अन्तर्गत देश के बहुत-से उद्योगों को सरकार द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया जिनमें लोहा एवं इस्पात-उद्योग, चीनी उद्योग, कागज उद्योग आदि के नाम विशेष रूप से

1. आयोग के कुछ सदस्य सभी उद्योगों को संरक्षण देने के पक्ष में थे, अतः उन्होंने अपनी विमति टिप्पणी (note of dissent) दी।



उल्लेखनीय हैं। इन उद्योगों पर विवेचनात्मक संरक्षण का प्रभाव निश्चय ही संतोषजनक रहा जैसा कि कुछ प्रमुख उद्योगों के सम्बन्ध में निम्न विवरण से स्पष्ट है—

(1) लोहा और इस्पात उद्योग :—1923 ई० में जब सरकार ने विवेचनात्मक संरक्षण की नीति को स्वीकार किया तो सर्वप्रथम लोहा तथा इस्पात उद्योग ने संरक्षण की मांग की। प्रथम महायुद्ध के बाद इस उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा था। 1924 ई० में प्रशुल्क मण्डल ने इस उद्योग की स्थिति की जाँच के बाद संरक्षण की सिफारिश की। यह उद्योग संरक्षण आयोग द्वारा निश्चित प्रायः सभी शक्तों को पूरा करता था। साथ ही, यह आधारभूत उद्योग भी था। अतः प्रशुल्क-मण्डल की सिफारिशों के आधार पर इस उद्योग को 1924 ई० में संरक्षण प्रदान किया गया। संरक्षण की यह अवधि 1927 ई० में समाप्त होने वाली थी, अतः 1926 ई० में प्रशुल्क-मण्डल ने जाँच के पश्चात् इस उद्योग को पुनः सात वर्षों के लिए और संरक्षण की सिफारिश की। 1927 ई० में प्रशुल्क-मण्डल द्वारा पुनः इस उद्योग की स्थिति की जाँच की गयी तथा 1934 ई० से इसे सात वर्षों के लिए और संरक्षण दिया गया। किन्तु, इसकी अवधि समाप्त होने के पूर्व ही द्वितीय युद्ध छिड़ गया, अतः संरक्षण की अवधि को बढ़ाकर 31 मार्च, 1917 ई० तक कर दिया गया। संरक्षण से इस उद्योग को बहुत लाभ हुआ तथा 1932-33 ई० तक यह उद्योग देश की कुल मांग का प्रायः 72 प्रतिशत भाग पूरा करने लगा। इस्पात का उत्पादन 1923 ई० में 1,31,000 टन से बढ़कर 1940 ई० में 10,70,000 टन हो गया। अतः 1939 ई० से ही संरक्षण अनावश्यक जान पड़ने लगा किन्तु औपचारिक रूप से इसे 1947 ई० से ही हटाया गया।

(2) सूती वस्त्र-उद्योग—प्रथम युद्धकाल में सूती वस्त्र-उद्योग ने बहुत लाभ कमाया था। किन्तु युद्ध के बाद उद्योग को भीषण अवसाद का सामना करना पड़ा। अतः इस उद्योग की स्थिति की जाँच के लिए 1926 ई० में एक प्रशुल्क-मण्डल की नियुक्ति की गयी जिसने 1927 ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। किन्तु भारत सरकार ने इसकी सभी सिफारिशों को स्वीकार नहीं किया तथा 1927 ई० में केवल सूत के आयात पर 1½ आना प्रतिपौंड या मूल्यानुसार 5 प्रतिशत जो भी अधिक हो, का एक संरक्षणात्मक कर 3 वर्षों के लिए लगाया गया। किन्तु इससे स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। अतः 1929 ई० में सूती वस्त्र-उद्योग (संरक्षण) अधिनियम के अनुसार ब्रिटिश कपड़ों के आयात पर 12 प्रतिशत तथा अन्य देशों के कपड़ों के आयात पर

20 प्रतिशत का एक कर लगाया गया। इस कर की अवधि मार्च 1933 ई० तक थी। किन्तु इसी बीच जापानी प्रतियोगिता बढ़ने लगी जिसे रोकने के लिए 1932 ई० में जापानी कपड़ों के आयात पर 50 प्रतिशत तथा 1933 ई० में 75 प्रतिशत का एक आयात कर लगाया गया, पर अन्त में दोनों देशों के बीच 1934 ई० में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार कर की दरों में परिवर्तन किया गया। 1939 ई० में इसी प्रकार का समझौता भारत और ब्रिटिश सरकार के बीच हुआ जिसके अनुसार आयात कर की दरों में परिवर्तन किया गया। युद्ध-समाप्ति के बाद 1947 ई० में प्रशुल्क मण्डल द्वारा सूती वस्त्र-उद्योग की स्थिति की पुनः जाँच की गयी और मण्डल की सिफारिशों के आधार पर 1947 ई० में सूती वस्त्र-उद्योग पर से संरक्षण हटा लिया गया। इस प्रकार सूती वस्त्र उद्योग को कुल मिलाकर प्रायः 20 वर्षों के लिए संरक्षण मिला।

(3) चीनी उद्योग :—भारतीय चीनी उद्योग का विकास मुख्यतः संरक्षण के फलस्वरूप ही हुआ। यही कारण है कि इस उद्योग को “संरक्षण का शिशु” कहा जाता है। सर्वप्रथम इस उद्योग को 1931 ई० में संरक्षण प्राप्त हुआ जब सात वर्षों के लिए 7 रु० 50 पैसे प्रति हंडरवेट का एक आयात कर विदेशी चीनी के आयात पर लगाया गया। 1934 ई० में पुनः इस उद्योग की जाँच के लिए एक प्रशुल्क-मण्डल की नियुक्ति की गयी जिसकी सिफारिशों के अनुसार 1939 ई० से सरकार ने चीनी उद्योग को दो वर्षों के लिए और संरक्षण प्रदान किया तथा विदेशी चीनी के आयात पर लगाये गये कर को बढ़ाकर 8 रु० 75 पैसे प्रति हंडरवेट कर दिया। युद्ध-काल में अन्य उद्योगों की तरह इसे भी संरक्षण मिलता रहा। युद्ध के बाद 1947 ई० में इस उद्योग की स्थिति की जाँच की गयी तथा 2 वर्षों के लिए संरक्षण की अवधि और बढ़ा दी गयी। 1949 ई० में पुनः प्रशुल्क-मण्डल ने 2 वर्षों के लिए संरक्षण की अवधि बढ़ाने की सिफारिश की, किन्तु 1 वर्ष के लिए ही और संरक्षण प्रदान किया गया तथा 1950 ई० में इस उद्योग पर से संरक्षण हटा लिया गया। संरक्षण के फलस्वरूप, इस उद्योग ने विशेष प्रगति कर ली। 1931-32 ई० में भारत में कुल 32 चीनी के कारखाने थे जिनका उत्पादन केवल 120 हजार टन था। 1950-51 ई० में चीनी के कारखानों की संख्या बढ़कर 139 तथा उत्पादन 1100 हजार टन हो गया। इस प्रकार भारत, जो संरक्षण के पूर्व चीनी के लिए विदेशों पर आश्रित था, संरक्षण से कुछ ही समय के बाद विश्व में चीनी का सबसे बड़ा उत्पादक देश हो गया।

### 1. Sugar Industry is the child's Protection.

भा० अ०—27



(4) भारी रासायनिक उद्योग (Heavy Chemical Industries):—भारी रासायनिक उद्योगों के अन्तर्गत सल्फ्यूरिक एसिड, हाइड्रोक्लोरिक एसिड, नाइट्रिक एसिड आदि आते हैं। इन उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के प्रश्न पर 1929 ई० में एक प्रशुल्क-मंडल ने विचार किया तथा मंडल की सिफारिशों के आधार पर 1931 ई० में भारी रासायनिक उद्योग संरक्षण अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार मैग्नेशियम क्लोराइड को 31 मार्च, 1939 ई० तक तथा अन्य रसायनों को 31 मार्च, 1933 ई० तक के लिए संरक्षण देने की बात तय हुई। भारी रासायनिक उद्योग एक नवीन उद्योग था। इसका विकास देश में प्रथम महायुद्ध के बाद से ही प्रारम्भ हुआ। संरक्षण के फलस्वरूप इस उद्योग का विकास भी संतोषजनक ढंग से हुआ तथा द्वितीय महायुद्ध-काल तक इसने पर्याप्त उन्नति कर ली।

(5) कागज उद्योग :—कागज उद्योग को सर्वप्रथम 1925 ई० में सात वर्षों के लिए संरक्षण मिला जबकि

कुछ प्रकार के कागज के आयात पर 6 पैसे प्रति पौंड का संरक्षण कर लगाया गया। पुनः कागज उद्योग संरक्षण अधिनियम 1932 ई० के अनुसार संरक्षण की अवधि को बढ़ाकर 31 मार्च, 1939 ई० तक कर दिया गया। साथ ही, बांस की लुगदी के आयात पर 49 रु० प्रति टन का आयात-कर लगाया गया। 1937-38 ई० में प्रशुल्क-मंडल ने इस उद्योग का संरक्षण जारी रखने का सुझाव दिया जिसके अनुसार मार्च, 1947 ई० तक इस उद्योग को संरक्षण मिलता रहा। संरक्षण से इस उद्योग का भी समुचित रूप में विकास हुआ। 1923 ई० में कागज की केवल 6 मिलें थीं जिसका उत्पादन 26,284 टन था। संरक्षण के फलस्वरूप इस उद्योग की अच्छी प्रगति हुई तथा 1939 ई० में कुल 16 कागज की मिलें हो गयीं जिनका उत्पादन 1,03,195 टन हो गया।

इस प्रकार विवेचनात्मक संरक्षण से देश के उद्योगों को निश्चय ही बहुत अधिक लाभ हुआ जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :

#### संरक्षण-प्राप्त उद्योगों की प्रगति

| वस्तुएँ                         | 1922 | 1939 | प्रतिशत वृद्धि |
|---------------------------------|------|------|----------------|
| इस्पात की वस्तुएँ (हजार टन में) | 131  | 1042 | 635            |
| सूती वस्त्र (हजार लाख गज में)   | 1713 | 4116 | 240            |
| दियासलाई (हजार लाख ग्रास)       | 16   | 22   | 37.5           |
| कागज (हजार टन में)              | 24   | 67   | 276            |
| चीनी (हजार टन में)              | 24   | 935  | 3879           |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि विवेचनात्मक संरक्षण की नीति के फलस्वरूप देश को बहुत अधिक लाभ हुआ। कुछ उद्योगों ने तो इतनी शीघ्रतापूर्वक प्रगति की जिससे कि संरक्षण शीघ्र हटा लिया गया।

संरक्षण का प्रभाव कुछ सहायक उद्योगों पर भी अच्छा पड़ा। संरक्षित उद्योगों के लिए कच्चा माल प्रदान करनेवाले उद्योगों को भी इस नीति से परोक्ष रूप में लाभ हुआ। इस प्रकार देश में कपास एवं गन्ने की खेती, दियासलाई एवं कागज के काम आने वाली लकड़ियों का उद्योग तथा खनिज उद्योग, जैसे—लोहा, कोयला आदि उद्योगों ने भी पर्याप्त प्रगति कर ली। गन्ने एवं कपास की खेती के क्षेत्र एवं उपज में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। इसी प्रकार ऐसे छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों ने, जो कपड़ा, कागज, चीनी तथा लोहा एवं इस्पात उद्योगों पर आश्रित थे, फिर भी पर्याप्त उन्नति कर ली। संरक्षण के फलस्वरूप देश में औद्योगिक मजदूरों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। साधारणतया यह अनुमान लगाया जाता है कि 1923 ई० से 1947 के बीच कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों की संख्या में प्रायः 75 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस प्रकार

विवेचनात्मक संरक्षण का देश के कुछ उद्योग-धन्धों पर निश्चय ही अच्छा प्रभाव पड़ा।

#### विवेचनात्मक संरक्षण की नीति की समालोचना

(Criticisms of the Policy of Discriminating Protection)

किन्तु, यद्यपि विवेचनात्मक संरक्षण की नीति से कुछ उद्योगों को लाभ हुआ तथापि इस नीति को भारत-जैसे अविकसित देश के लिए न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। वास्तव में, इस नीति के विरुद्ध बहुत-सारी आलोचनाएँ दी जाती हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :—

(1) संरक्षण के लिए निर्धारित शर्तों की अस्पष्टता : विवेचनात्मक संरक्षण के विरुद्ध सबसे बड़ी आलोचना आयोग द्वारा संरक्षण के लिए निर्धारित 'तीन मूल शर्तों' से सम्बन्धित है। संरक्षण की ये शर्तें बिल्कुल अस्पष्ट तथा अव्यावहारिक थीं। उदाहरण के लिए, पहली शर्त यह थी कि केवल उन्हीं उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया जाय जिन्हें सभी प्राकृतिक सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध

1. यह तालिका 1949-50 ई० के फिस्कल कमीशन की रिपोर्ट पर आधारित है।



हों, किन्तु यह हास्यास्पद जान पड़ता है। जब किसी उद्योग को पर्याप्त मात्रा में सभी प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध होंगी तो उसके विकास के लिए सम्भवतः संरक्षण की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। दूसरी शर्तें, यानी किसी उद्योग का विकास बिना संरक्षण के न हो, लागू होने के लिए उद्योग के समक्ष कुछ ऐसी असुविधा होनी चाहिए जिसे संरक्षण के बगैर दूर नहीं किया जा सकता हो। किन्तु, प्रथम शर्त पूरी होने के बाद किसी विशेष असुविधा की सम्भावना ही नहीं रह जाती, अतः ये शर्तें परस्पर-विरोधी जान पड़ती हैं। इस प्रकार इन शर्तों को व्यावहारिक रूप में लागू करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(2) इस नीति में नये उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की व्यवस्था नहीं की गयी थी :—विवेचनात्मक संरक्षण की नीति का एक आवश्यक दोष यह भी था कि इसमें केवल वर्तमान उद्योग ही संरक्षण की माँग कर सकते थे। वास्तव में, संरक्षण नीति का प्रधान उद्देश्य सम्भावित उद्योग-धन्धों के विकास को भी प्रोत्साहन प्रदान करना होना चाहिए। इस प्रकार, नये उद्योगों को छोड़ देने से भारत में विवेचनात्मक संरक्षण की नीति का कार्यक्षेत्र बहुत ही संकुचित हो गया।

(3) अस्थायी प्रशुल्क-मण्डल की व्यवस्था :—आयोग ने उद्योगों को संरक्षण देने के उद्देश्य से जाँच करने के लिए अस्थायी तौर पर एक प्रशुल्क-मण्डल की नियुक्ति का सुझाव दिया था। अतः प्रत्येक उद्योग की जाँच के लिए अस्थायी तौर से अलग-अलग प्रशुल्क-मण्डलों की नियुक्ति करना पड़ी। इससे विभिन्न प्रशुल्क-मण्डल इस सम्बन्ध में कोई भी दीर्घकालीन नीति नहीं अपना सके।

(4) संरक्षण-नीति को कार्यान्वित करने में सरकार ने उदारता से काम नहीं लिया :—विवेचनात्मक संरक्षण की नीति के विरुद्ध आम तौर से यह भी कहा जाता है कि सरकार तथा प्रशुल्क अधिकारी इस संरक्षण की नीति को कार्यान्वित करने में उदारता से काम नहीं लेते थे। संरक्षण की शर्तों का संकुचित अर्थ में प्रयोग किया जाता था जिनसे कुछ ऐसे उद्योगों को, जो संरक्षण पाने योग्य थे, संरक्षण नहीं दिया गया। संरक्षण प्रदान करने में अधिकारीगण भी बहुधा विलम्ब करते थे जिससे उचित समय पर संरक्षण नहीं मिल पाता था।

निष्कर्ष :—इस प्रकार जैसा कि प्रो० अदार्कर (Adarkar) ने कहा है “विवेचनात्मक संरक्षण की इस

नीति ने उद्योगों को निरुत्साहित सहायता द्वारा, जो अरुचि एवं अवहेलनापूर्ण तरीकों से दी जाती थी, देश के उद्योगों को उनके भाग्य पर छोड़ने के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से उनकी रक्षा नहीं की।” (It has vouchsafed nothing better than a prefatory assistance, indifferently and grudgingly rendered to industries whose subsequent development has been left to take its own course.) विश्व के किसी भी भारत-जैसे असंतुलित आर्थिक व्यवस्था वाले देश में जहाँ कृषि की प्रधानता तथा औद्योगिक विकास की अपार सम्भावनाएँ हैं, इस तरह अनिच्छापूर्ण ढंग से संरक्षण प्रदान करने का उदाहरण नहीं मिलता।<sup>1</sup> साथ ही, विवेचनात्मक संरक्षण की नीति से केवल उपभोक्ता उद्योगों को ही लाभ हुआ था, पूँजीगत उद्योगों को इससे कोई लाभ नहीं हुआ। इस प्रकार की नीति का सर्वाधिक प्रमुख दोष यह था कि इसने देश में संतुलित औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करने में कोई सहायता नहीं प्रदान की। अतः स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद इस नीति को समाप्त कर संरक्षण की एक साधारण, सीधी एवं लोचदार नीति अपनाने की आवश्यकता पर जोर दिया जाने लगा।

### युद्धोत्तर-काल में संरक्षण की नीति

#### (Fiscal Policy in the Post-war Period)

1939 ई० में जब द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ तो देश से जिन उद्योगों को संरक्षण प्राप्त था, युद्धकाल में भी उन्हें उसी प्रकार संरक्षण मिलता रहा। युद्धकाल में अन्य उद्योगों के संरक्षण का प्रश्न नहीं उठा, क्योंकि विदेशों से आयात कम होने के कारण प्रतियोगिता की कोई भी समस्या नहीं थी। किन्तु, युद्ध समाप्त होने के बाद संरक्षण का प्रश्न पुनः उपस्थित हुआ। युद्धकाल में अनेक नये उद्योगों की स्थापना की गयी। इन्हें संरक्षण प्रदान करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए नवम्बर, 1945 ई० में दो वर्षों के लिए प्रशुल्क-मण्डल की नियुक्ति की गयी तथा उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की सिफारिश करने में प्रशुल्क-मण्डल के सहायतार्थ निम्नलिखित शर्तें निर्धारित कर दी गयीं :—

(1) उद्योग दृढ़ व्यावसायिक आधार पर संगठित अथवा संचालित होता हो,

(2) (क) उद्योग को उपलब्ध प्राकृतिक एवं आर्थिक

1. “Never in the history of any country protection was granted in such a half-hearted, halting and reluctant manner as in India, a country ailing from all the ills of an unbalanced economy, predominantly on agriculture and possessing immense potentialities for industrialisation.”—*Wadia and Merchant, Our Economic Problem*, P. 523.



सुविधाओं तथा इसके उत्पादन को देखते हुए यह संभव जान पड़ता हो कि उचित समय के अन्दर वह पर्याप्त विकास कर लेगा जिससे उसे पुनः संरक्षण की आवश्यकता नहीं रह जायगी; तथा

(ख) उद्योग ऐसा हो जिसे संरक्षण अथवा आर्थिक सहायता प्रदान करना राष्ट्रीय हित में वांछित हो तथा इस प्रकार की सहायता का जनता पर बहुत अधिक भार नहीं पड़ता हो।

उपरोक्त शर्तों के आधार पर इस अस्थायी प्रशुल्क-मण्डल को संरक्षण प्रदान करने के लिए सिफारिश करने का अधिकार दिया गया। इस प्रकार 1945 ई० में सरकार द्वारा निर्धारित शर्तों विवेचनात्मक संरक्षण की नीति से पूर्णतया भिन्न थीं। इस नीति में सर्वप्रथम 'राष्ट्रीय हित' को स्थान दिया गया था। राष्ट्रीय हित का केवल देश की रक्षा से ही नहीं, बल्कि देश के आर्थिक कल्याण से भी था। उक्त नीति के तीन प्रमुख उद्देश्य थे :—(1) देश के प्राकृतिक एवं आर्थिक साधनों के अधिकतम उपयोग द्वारा राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि; (2) सुरक्षा के लिए देश को अधिक सुदृढ़ बनाना, तथा (3) उच्च एवं स्थायी स्तर पर रोजगार की व्यवस्था करना। 1947 ई० तक अस्थायी प्रशुल्क-मण्डल के समक्ष 40 उद्योगों की जाँच के मामले आये जिनमें से मण्डल ने 32 को अपनी सिफारिशों के साथ सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया। इनमें से 28 युद्धकालीन उद्योग थे तथा 4 (सूती-वस्त्र, लोहा एवं इस्पात, चीनी तथा कागज उद्योग) युद्ध के पूर्व के थे। मण्डल ने युद्धकालीन उद्योगों एवं चीनी उद्योग को संरक्षण प्रदान करने तथा सूती वस्त्र, लोहा तथा इस्पात एवं कागज पर से संरक्षण हटा लेने की सिफारिश की।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद प्रशुल्क नीति (Fiscal Policy after Independence) :—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अप्रैल, 1948 ई० में राष्ट्रीय सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसमें इस बात का जिक्र किया गया था कि सरकार की प्रशुल्क नीति का उद्देश्य उपभोक्ताओं पर किसी प्रकार का अनुचित बोझ दिये बिना अनुचित विदेशी प्रतियोगिता को समाप्त करना तथा देश के साधनों के अधिकतम प्रयोग को प्रोत्साहन प्रदान करना होगा। (The tariff policy of the Government will be designed to prevent unfair foreign competition and to promote the utilisation of India's resources without imposing unjustifiable burdens on the consumers.) अगस्त, 1948 ई० में एक विशेष प्रस्ताव द्वारा प्रशुल्क मण्डल के कार्यों का विस्तार किया गया। इस प्रस्ताव के अनुसार मण्डल को और भी निम्नलिखित कार्य

सौंपे गये—(1) देश में उत्पादन की जानेवाली वस्तुओं के उत्पादन व्यय की जाँच करना तथा उनके मूल्य को निश्चित करना; (2) राशिपातन (dumping) के विरुद्ध भारतीय उद्योगों के संरक्षण के लिए सरकार को सुझाव देना; (3) विभिन्न प्रकार के संरक्षण के प्रभावों का अध्ययन करना; तथा (4) संरक्षित उद्योगों की प्रगति पर सदा दृष्टि करना। नवम्बर, 1948 ई० में एक दूसरे प्रस्ताव के द्वारा प्रमुख आधारभूत उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने में युद्धजनित उद्योगों की तरह ही सुविधा प्रदान करने की व्यवस्था की गयी।

### 1949-50 ई० का उद्योग संरक्षण आयोग

(Fiscal Commission of 1949-50)

1948 ई० में राष्ट्रीय सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा की। उक्त नीति के अन्तर्गत सरकार पर जो जिम्मेवारियाँ आयीं उन्हें पूरा करने के लिए 28 अप्रैल, 1949 ई० के एक प्रस्ताव द्वारा भारत सरकार ने श्री वी० टी० कृष्णमाचारी की अध्यक्षता में दूसरे उद्योग संरक्षण आयोग (Second Fiscal Commission) की नियुक्ति की जिसका मुख्य कार्य 1922 ई० से अबतक की भारत सरकार की संरक्षण-नीति की जाँच करना तथा भविष्य की संरक्षण नीति एवं इसे कार्यान्वित करने के लिए उपयुक्त मशीनरी के सम्बन्ध में सिफारिश करना था। आयोग ने 1950 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। द्वितीय संरक्षण आयोग ने संरक्षण के लिए सर्वथा नवीन सिद्धान्तों को अपनाया। (The Second Fiscal Commission of 1949-50 approached their task from a new angle of vision and laid down new principles of protection.)

कृष्णमाचारी आयोग ने संरक्षण की समस्या पर अधिक संतुलित एवं विस्तृत दृष्टिकोण से विचार किया तथा इस बात पर जोर दिया कि संरक्षण को केवल व्यावसायिक नीति का विकल्प मात्र नहीं मान कर राष्ट्र के आर्थिक विकास के उद्देश्य की पूर्ति का साधन-मात्र समझना चाहिए। चूँकि संरक्षण की नीति देश के आर्थिक विकास की योजना का एक अंग है, अतः इस प्रश्न पर पृथक् रूप से विचार नहीं किया जा सकता। उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की नीति का सम्बन्ध देश के आर्थिक विकास के कार्यक्रम से होना चाहिए अन्यथा इससे देश में असंतुलित आर्थिक विकास को अनुचित प्रोत्साहन मिलेगा। किन्तु, इस प्रकार की व्यापक नीति के निर्धारण में कुछ समय लगेगा। अतः आयोग ने संरक्षण की एक सामान्य नीति की सिफारिश की।

कृष्णमाचारी आयोग ने प्रथम आयोग द्वारा निर्धारित शर्तों की कटु आलोचना की तथा यह सुझाव दिया कि



संरक्षण प्रदान करने में राष्ट्रीय हित को प्रधानता दी जानी चाहिए।

इस आधार पर आयोग ने प्रशुल्क-मण्डल के अनुकरण के लिए निम्नलिखित सामान्य सिद्धान्तों को निर्धारित किया—

(i) आयोग के मतानुसार यदि किसी उद्योग के लिए श्रम, बाजार, शक्ति तथा यातायात के साधन आदि सुविधाएँ उपलब्ध हों तो केवल कच्चा माल नहीं होने के कारण उसे संरक्षण की सुविधा प्रदान करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

(ii) किसी उद्योग को संरक्षण प्रदान करते समय उससे यह आशा नहीं करनी चाहिए कि उद्योग सम्पूर्ण माँग को पूरा कर सकता है।

(iii) किसी उद्योग को उपलब्ध बाजार की सुविधाओं पर विचार करते समय देश एवं विदेश में स्थित वर्तमान एवं संभावित निर्यात-बाजार पर भी विचार करना चाहिए।

(iv) उन उद्योगों को जो किसी संरक्षित उद्योगों की वस्तुओं को कच्चे पदार्थ के रूप में उपयोग करते हैं क्षति-पूरक-संरक्षण (Compensatory protection) देना चाहिए।

(v) नये उद्योगों को भी उसी प्रकार संरक्षण की सुविधा देनी चाहिए जो पहले से स्थापित उद्योगों को दी जाती हैं। उन नये उद्योगों को जिनका भविष्य उज्ज्वल है तथा जिनकी स्थापना में बहुत अधिक पूँजी एवं कुशल श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है संरक्षण की आवश्यकता और भी अधिक है।

कृष्णमाचारी आयोग ने एक विकास कोष की सिफारिश की जिसमें संरक्षणात्मक करों से प्राप्त आय के एक अंश को रखा जायगा। इस कोष से उपयुक्त उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान की जानी चाहिए।

यद्यपि कृष्णमाचारी आयोग की नियुक्ति के समय देश में आयोजित विकास का कार्य प्रारम्भ नहीं हुआ था, फिर भी आयोग ने अपनी सिफारिशें इस प्रकार से दीं जिससे आयोजित विकास का कार्य सुचारु रूप से कार्यान्वित किया जा सके। आयोग ने आयोजित क्षेत्र के उद्योगों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया—

(1) प्रतिरक्षा एवं युद्ध-सम्बन्धी उद्योग (Defence and other strategic industries) :— इस वर्ग के उद्योगों को हर हालत में संरक्षण देने की सिफारिश की गयी, चाहे इसका खर्च कितना भी अधिक क्यों न हो।

(2) आधारभूत एवं प्रमुख उद्योग (Basic and

Key industries) :— इस वर्ग के उद्योगों को दिये जानेवाले संरक्षण का प्रकार, उसकी मात्रा एवं शर्तों को निर्धारित करने का पूरा-पूरा अधिकार प्रशुल्क-मण्डल (Tariff Commission) के हाथों में होगा। इसमें मण्डल आवश्यकतानुसार समय-समय पर परिवर्तन की सिफारिश भी कर सकता है।

(3) 'अन्य उद्योग' (Other industries) :— तीसरी श्रेणी के सम्बन्ध में आयोग ने निम्नलिखित दो शर्तों को निश्चित किया :— (क) उद्योग को उपलब्ध आर्थिक सुविधाओं और उसकी वास्तविक अथवा सम्भावित लागत को ध्यान में रखते हुए यह निश्चित हो कि उचित अवधि में उद्योग अपना पूरा-पूरा विकास कर लेगा जिससे बिना संरक्षण एवं सहायता के उसका काम सफलतापूर्वक चल सके अथवा इस श्रेणी के उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना चाहिए अथवा नहीं इसका निर्णय प्रशुल्क आयोग (Tariff Commission) ही करेगा और (ख) उद्योग ऐसा हो जिसे संरक्षण प्रदान करना राष्ट्रीय हित में बांछित हो तथा जनता पर इस प्रकार के कर के अधिक भार पड़ने की सम्भावना न हो।

आयोजित क्षेत्र के बाहर वाले उद्योगों पर तीसरी श्रेणी के "अन्य उद्योगों" पर लागू होनेवाली शर्तें ही लागू होंगी।

प्रशुल्क आयोग (Tariff Commission) :— आयोग ने प्रशुल्क आयोग (Tariff Commission) नाम की एक स्थायी संस्था की स्थापना की सिफारिश की जिसमें अध्यक्ष सहित अधिक-से-अधिक पाँच सदस्य होंगे। सदस्यों की नियुक्ति उनके गुणों के आधार पर होनी चाहिए, न कि किसी अन्य विशेषता के आधार पर। सदस्यों को उनकी नियुक्ति के पूर्व किसी निजी कम्पनी से सम्बन्ध रहने पर उसे व्यक्त करना चाहिए तथा आयोग की सदस्यता छोड़ने के तीन वर्ष बाद तक इन्हें किसी औद्योगिक संस्था में शासन-सम्बन्धी पद भारत सरकार की अनुमति के बगैर नहीं स्वीकार करना चाहिए।

आयोग की सिफारिशों के आधार पर 1952 ई० के प्रशुल्क आयोग अधिनियम (Tariff Commission Act) के अनुसार एक प्रशुल्क आयोग की नियुक्ति की गयी। इसके सदस्यों की नियुक्ति प्रारम्भ में तीन वर्षों के लिए की गयी, किन्तु वे पुनः नियुक्त किये जा सकते हैं। इसके तीन सदस्य हैं। इस आयोग को पहले के प्रशुल्क-मण्डलों की अपेक्षा अधिक व्यापक अधिकार दिये गये हैं। प्रशुल्क आयोग (Tariff Commission) के कुछ प्रमुख कार्य इस प्रकार से हैं— (1) प्रशुल्क आयोग संरक्षण के उद्देश्य से पूर्व स्थापित उद्योगों के साथ-साथ उन उद्योगों के सम्बन्ध में भी जाँच तथा सिफारिश कर सकता है जिनमें उत्पादन प्रारम्भ नहीं हुआ है, किन्तु संरक्षण प्रदान करने पर



उत्पादन प्रारम्भ किया जा सकता है। (2) आयोग किसी भी वस्तु के मूल्य से सम्बन्धित किसी भी प्रश्न का विचार कर सकता है एवं सुझाव दे सकता है, चाहे वह वस्तु संरक्षित हो अथवा नहीं। (3) आयोग प्रत्येक उद्योग की आवश्यकता तथा परिस्थितियों के अनुसार संरक्षण की अवधि निश्चित करने में स्वतन्त्र है। (4) आयोग संरक्षण प्रदान करने के लिए उद्योग की स्थिति की जाँच करेगा तथा समय-समय पर इसकी रिपोर्ट सरकार को देगा। यह संरक्षण करों में कमी या वृद्धि की भी सिफारिश कर सकता है, राशिपातन (dumping) के सम्बन्ध में विचार कर सकता है तथा यदि कोई उद्योग संरक्षण से लाभ उठा रहा हो तो उसके संरक्षण को कम या समाप्त करने की सिफारिश भी कर सकता है।

### नयी संरक्षण-नीति की कार्यशीलता (Working of the New Fiscal Policy)

नयी संरक्षण नीति को कार्यान्वित करने के लिए 1952 ई० में एक प्रशुल्क आयोग की नियुक्ति की गयी जिसे बहुत ही विस्तृत अधिकार दिये गये हैं। आयोग ने बहुत-से नये प्रार्थी उद्योगों की स्थिति की जाँच की तथा कुछ पुराने उद्योगों की अवधि बढ़ाने के सम्बन्ध में भी जाँच के पश्चात् सिफारिश की है। नये उद्योगों के अन्तर्गत मोटर उद्योग, कास्टिक सोडा, ब्लॉचिंग पाउडर, डाईस्टफ, बॉल बियरिंग उद्योग आते हैं। 1953-54 ई० से लेकर 1956-57 ई० तक प्रशुल्क आयोग के कार्यों का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

| वर्ष    | संरक्षण की अवधि बढ़ाने की जाँच | नये रूप से संरक्षण प्रदान करने की जाँच | मूल्य-सम्बन्धी जाँच |
|---------|--------------------------------|----------------------------------------|---------------------|
| 1953-54 | 11                             | 4                                      | 3                   |
| 1954-55 | 17                             | 5                                      | 2                   |
| 1955-56 | 17                             | 3                                      | 9                   |
| 1956-57 | 4                              | 2                                      | 4                   |

इस प्रकार प्रशुल्क आयोग देश के उद्योग-धन्धों के विकास के लिए प्रशंसनीय कार्य कर रहा है। किन्तु आयोग के सदस्यों की संख्या भी कम है और इसे कार्य बहुत अधिक करना पड़ता है। अतः सुझाव के तौर पर यह कहा जा सकता है कि सदस्यों की संख्या में उद्योग-संरक्षण आयोग की सिफारिशों के अनुसार वृद्धि की जानी चाहिए।

### द्वितीय संरक्षण आयोग की सिफारिशों का मूल्यांकन

(An Appraisal of the Recommendations of the Second Fiscal Commission)

द्वितीय उद्योग-संरक्षण आयोग की सिफारिशें बहुत ही व्यापक हैं। सरकार ने आयोग की सारी सिफारिशें मान लीं और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए 21 जनवरी, 1952 ई० को एक स्थायी प्रशुल्क आयोग की स्थापना की गयी। आयोग ने संरक्षण को आर्थिक विकास की सामान्य योजना का एक अंग माना है, अतः संरक्षण की समस्या को पृथक् रूप से नहीं देखा जा सकता। आयोग की सिफारिशों में प्रतिरक्षा-सम्बन्धी एवं आधारभूत उद्योगों को पर्याप्त महत्व दिया गया है। वास्तव में, ये उद्योग देश की सुरक्षा एवं आर्थिक विकास के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं, अतः इन्हें विशेष सुविधाएँ देना अनिवार्य भी है। नवीन उद्योगों को संरक्षण देने के सम्बन्ध में भी आयोग द्वारा निश्चित रूप से सिफारिश की गयी है। नये उद्योगों के लिए इस प्रकार की सुविधा का अभाव विवेचनात्मक संरक्षण की नीति का सबसे बड़ा

दोष था। संरक्षण प्रदान करने की शर्तों को भी अधिक व्यापक कर दिया गया है जिससे प्रशुल्क आयोग को अपना निर्णय देने में सुगमता हो। विवेचनात्मक संरक्षण का सबसे बड़ा दोष यह था कि संरक्षण प्रदान करने के लिए निर्धारित शर्तों का भी बहुत संकीर्ण अर्थ लिया जाता था। संरक्षित उद्योगों के विकास एवं उन्नति के सम्बन्ध में नियमित रूप से जाँच की भी व्यवस्था की गयी है। संरक्षित उद्योगों पर निश्चित रूप से उत्तर-दायित्व भी रखा गया जिससे आर्थिक विकास में अत्यधिक सहायता मिलने की आशा की जाती है।

किन्तु, आयोग द्वारा 'अन्य उद्योगों' के सम्बन्ध में निर्धारित शर्तें बहुत-कुछ 1921 ई० के 'तीन मूल सिद्धांतों' के अनुरूप ही जान पड़ती हैं। 'उद्योगों को प्राप्त आर्थिक सुविधाएँ' की शर्तें 1921 ई० के आयोग द्वारा निर्धारित शर्तों की ही तरह हैं। इसी प्रकार उद्योग से यह आशा की जाती है कि वह उचित समय में पर्याप्त उन्नति कर लेगा तथा उचित समय के बाद इस योग्य हो जायगा कि संरक्षण के बगैर भी चल सके, क्रमशः 1921 ई० की दूसरी तथा तीसरी शर्तों से मिलती-जुलती है। इन सब शर्तों के साथ भी बहुत अंशों में अस्पष्टता वर्तमान है जिससे प्रशुल्क आयोग के लिए इस सम्बन्ध में एक निश्चित निर्णय पर पहुँचना कठिन हो जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रमुख तथा आधारभूत उद्योगों की तरह 'अन्य उद्योगों' को भी संरक्षण प्रदान करने या न करने का अधिकार प्रशुल्क आयोग के हाथ में छोड़ देना इन अनिश्चित शर्तों की अपेक्षा अधिक होता है। इस



प्रकार द्वितीय संरक्षण आयोग द्वारा संरक्षण के लिए निर्धारित नवीन दशाएँ विवेचनात्मक संरक्षण की दशाओं की पुनरावृत्ति मात्र हैं। अतः इनके फलस्वरूप देश की प्राशुलिक नीति में कोई आमूल परिवर्तन नहीं हो पाया है।

**प्रशुल्क-नीति में संशोधन की आवश्यकता (Need for a change in the Fiscal Policy of the Country) :**—इस प्रकार द्वितीय संरक्षण आयोग की सिफारिशों की बहुत-सारी आलोचनाएँ दी जाती हैं। किन्तु, इनके बावजूद यह कहा जा सकता है कि आयोग की सिफारिशें आज से प्रायः 23 वर्ष पहले दी गयी थीं। इस बीच औद्योगिक विकास के क्षेत्र में बहुत अधिक परिवर्तन हुए हैं। चार पंचवर्षीय योजनाओं के परिणामस्वरूप देश में बहुत-से नये-नये उद्योगों की स्थापना हुई है। सार्वजनिक क्षेत्र का भी बहुत अधिक विस्तार हुआ है। सरकार ने समाजवादी ढाँचे की सामाजिक व्यवस्था को अपनी आर्थिक एवं सामाजिक नीति के अन्तिम आदर्श के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार पिछले लगभग 26-27 वर्षों की आंतरिक एवं बाहरी घटनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारत की संरक्षण नीति में ऐसे संशोधनों की आवश्यकता है जिससे द्रुतगति से इसका औद्योगिक विकास हो सके। और, हाल में चीनी एवं पाकिस्तानी आक्रमणों से उत्पन्न संकट की स्थिति ने तो तीव्र गति से औद्योगीकरण की आवश्यकता को और भी प्रबल बना दिया है। वास्तव में, सब उद्योगों को चाहे संरक्षण देना वांछनीय भले ही न हो, किन्तु महत्वपूर्ण उद्योगों को आवश्यक सरकारी सहायता एवं सहयोग अवश्य ही मिलना चाहिए।

गत कुछ वर्षों के विदेशी विनिमय संकट ने एक सुन्य-वस्थित विदेशी व्यापार नीति अपनाने को प्रेरित किया

है। भविष्य में सुरक्षा एवं औद्योगिक विकास (Defence and industrial development) की आवश्यकताओं के लिए भारत को अधिक-से-अधिक विदेशी मुद्रा अर्जित करने का भरसक प्रयास करना चाहिए। इसके लिए एक ओर तो निर्यात उद्योगों के विकास का प्रयास करना होगा और दूसरी ओर अनावश्यक आयात बन्द करने होंगे एवं साथ में आवश्यक आयातों के लिए भी देश में प्रतिस्थापन-योग्य पदार्थ निकालने होंगे। इस प्रकार योजनावद्ध अर्थ-व्यवस्था में हमारी समस्त विदेशी व्यापार नीति इस प्रकार निर्मित करनी होगी ताकि योजना सफल हो सके। अतः हमारा ध्यान अब प्रशुल्क नीति से हटकर उपयुक्त विदेशी व्यापार-नीति पर लगा है जो अति आवश्यक है। शायद यही कारण है कि द्वितीय एवं तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं में संरक्षण के सम्बन्ध में कोई भी चर्चा नहीं की गयी थी। इससे स्पष्ट है कि औद्योगिक विकास के लिए प्रशुल्क के अतिरिक्त अन्य साधन काम में लाने होंगे किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अब प्रशुल्क आयोग या अधिकारी की कोई आवश्यकता ही नहीं है, बरन् यह सुझाव है कि प्रशुल्क उद्योग-धन्धों की उन्नति का केवल एक साधन है, एक-मात्र साधन नहीं। इसलिए उचित विदेशी व्यापार सम्बन्धी नीति, सरकारी क्षेत्र में उद्योगों की स्थापना एवं योजना के लक्ष्यों की पूर्ति आज अधिक अवश्य समझे जाते हैं। अतः प्रशुल्क नीति का स्थान धीरे-धीरे गौण होते जा रहा है; क्योंकि यह नकारात्मक नीति है जिससे आयात किये गये माल की लागत बढ़ जाती है। वास्तव में, रचनात्मक उपायों को अपनाकर देशी उद्योगों की लागत कम करने से संरक्षण के उद्देश्यों की सिद्धि हो सकती है तथा देश का औद्योगिक विकास भी हो सकता है।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. B. P. Adarkar : Indian Fiscal Policy.
2. A. L. Dey : Policy of Protection in India.
3. Report of the Fiscal Commission, 1921-22.
4. Report of the Fiscal Commission, 1949-50.



## अध्याय : 37

### औद्योगिक वित्त एवं प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली

#### (Industrial Finance and the Managing Agency System)

**प्राक्कथन :—**द्रुतगति से औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। पूँजी ही आधुनिक व्यापारिक तथा औद्योगिक संस्थाओं का जीवन है। पूँजी के बगैर कोई भी उद्योग अथवा व्यापार नहीं चल सकता। उद्योग-धन्धों को स्थापित करके इन्हें चलाने एवं समय-समय पर विस्तार करने के लिए पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। प्रत्येक औद्योगिक संस्थाओं को साधारणतया दो प्रकार की पूँजी की आवश्यकता पड़ती है—

(1) स्थायी या अचल पूँजी (Fixed Capital) :— सर्वप्रथम स्थायी सम्पत्ति; जैसे—मकान, भूमि, यन्त्र आदि क्रय करने तथा व्यवसाय के विस्तारीकरण के लिए स्थायी अथवा अचल पूँजी की आवश्यकता पड़ती है।

(2) चल या कार्यशील पूँजी (Working Capital) :— दूसरे अस्थायी सम्पत्ति; जैसे कच्चा माल खरीदने, विज्ञापन तथा विक्रय-सम्बन्धी खर्चों एवं अन्य दैनिक कार्यों के लिए पूँजी की आवश्यकता पड़ती है जिसे चल या कार्यशील पूँजी कहते हैं। इन दोनों प्रकार की पूँजी की आवश्यकता को क्रमशः दीर्घकालीन साख (Long period Credit) तथा अल्पकालीन साख (Short period Credit) भी कहा जाता है। किसी उद्योग को कितनी स्थायी एवं कितनी कार्यशील पूँजी की आवश्यकता पड़ती है, यह उस उद्योग के आकार तथा स्वरूप पर निर्भर करता है।

**स्थायी पूँजी (Fixed Capital) की प्राप्ति के साधन :—**भारत में अधिकांश कम्पनियाँ अपनी स्थायी पूँजी जनता में अपने (क) अंश-पत्रों (Shares), एवं (ख) ऋण-पत्रों (Debentures) को बेचकर प्राप्त करती हैं।

(क) अंश-पत्र (Shares) :—सभी उद्योग जिसका संचालन मिश्रित पूँजी की कम्पनियों (Joint Stock Companies) के द्वारा होता है अपनी स्थायी पूँजी का एक बहुत बड़ा भाग अंश-पत्रों के निर्गमन के द्वारा ही प्राप्त करते हैं। कोई भी कम्पनी कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व अंश-पत्रों का निर्गमन करती है। प्रत्येक अंश-पत्र के खरीददार कम्पनी का एक भागीदार होता है। वह कम्पनी के लाभ का हकदार होता है। अंश साधारणतया दो प्रकार के होते हैं—साधारण अंश (Ordinary Shares)

तथा पूर्वाधिकारी अंश (Preference Shares)। मुताफे के वितरण में पूर्वाधिकारी अंशवालों को प्राथमिकता दी जाती है। इसके बाद साधारण अंशवालों का स्थान आता है।

(ख) ऋण-पत्र (Debentures) :—स्थायी पूँजी प्राप्त करने के लिए कम्पनियाँ समय-समय पर ऋण-पत्र भी जारी करती हैं। ऋण-पत्रों का खरीददार कम्पनी का ऋणदाता होता है। इन ऋण-पत्रों पर एक निर्धारित दर से व्याज भी दिया जाता है। ऋण-पत्र के खरीददार को कम्पनी के अंशधारी की तरह कम्पनी की व्यवस्था में मत देने का अधिकार नहीं होता, किन्तु कम्पनी के भंग होने पर कम्पनी की सम्पत्ति पर पहले ऋण-पत्र वालों का ही अधिकार होता है। पश्चिमी देशों में ऋण-पत्र दीर्घकालीन साख प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण साधन है, किन्तु भारत में इसका अभी बहुत अधिक प्रचलन नहीं हुआ है।

पश्चिमी देशों की तरह भारत में ऋण-पत्रों के लोक-प्रिय नहीं होने के निम्नांकित प्रधान कारण हैं :

(1) सर्वप्रथम तो अन्य देशों की तरह भारत में ऋण-पत्रों के लिए कोई स्वतन्त्र बाजार नहीं है। 1934 ई० के पूर्व इम्पीरियल बैंक को भी ऋण-पत्र को जमानत के रूप में स्वीकार करने का अधिकार नहीं था। इसके अतिरिक्त भारत के विनियोजक अपनी पूँजी उद्योग-धन्धे में लगाने के लिए तैयार नहीं होते थे। साथ ही, भारतीय ऋण-पत्र अधिक ऊँचे अधिमान के होते हैं; अतः उन्हें साधारण विनियोजक खरीद भी नहीं सकते। ऋण-पत्रों के हस्तान्तरण के समय टिकट वगैरह के रूप में अधिक रकम चुकानी पड़ती है जिससे लोग उन्हें खरीदना पसन्द नहीं करते। इन कारणों से भारत में ऋण-पत्र केवल एक विशेष वर्ग के व्यक्ति ही खरीदते हैं।

(2) भारत में ऋण-पत्रों की लोकप्रियता में भारतीय बैंक भी बहुधा बाधक सिद्ध होते हैं। जो कम्पनी ऋण-पत्र का निर्गमन करती है उसकी साख बैंकों की दृष्टि में घट जाती है। साथ ही, भारतीय बैंक इन कम्पनियों के अंश-पत्रों की जमानत पर बहुधा कर्ज नहीं देते।

(3) छोटी-छोटी संस्थाएँ ऋण-पत्रों का निर्गमन नहीं कर सकती हैं; क्योंकि इनके ऋण-पत्रों की जनता में माँग ही कम होती है। अतः ऋण-पत्रों के आधार पर केवल बड़ी-बड़ी संस्थाएँ ही ऋण प्राप्त कर सकती हैं।



(4) सरकार द्वारा भी बहुत प्रकार की प्रतिभूतियाँ जारी की जाती हैं। ये भारतीय बाजार में ऋण-पत्रों के प्रतियोगी की तरह कार्य करती हैं। इन सभी कारणों से भारत में ऋण-पत्रों का निर्गमन अभी उतना लोकप्रिय नहीं हो पाया है।

अतः हमारे देश में स्थायी पूँजी प्राप्त करने में ऋण-पत्रों का महत्त्व अपेक्षाकृत कम रहता है जो निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> से स्पष्ट है :—

| साधन                                         | कलकत्ते की मिश्रित पूँजी कम्पनियाँ | बम्बई की मिश्रित पूँजी कम्पनियाँ |
|----------------------------------------------|------------------------------------|----------------------------------|
| अंशों से प्राप्त पूँजी (करोड़ रुपये में)     | 76.36                              | 52.83                            |
| ऋण-पत्रों से प्राप्त पूँजी (करोड़ रुपये में) | 8.65                               | 17.51                            |

इस प्रकार हमारे देश की औद्योगिक संस्थाएँ अपनी स्थायी पूँजी का अधिकांश भाग अंश-पत्रों के द्वारा ही प्राप्त करती हैं। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के अनुसार प्रत्येक 100 इकाई पूँजी में से 75 प्रतिशत पूँजी साधारण अंशों द्वारा, 16 प्रतिशत पूर्वाधिकारी अंशों द्वारा तथा केवल 9 प्रतिशत ऋण-पत्रों द्वारा प्राप्त की जाती थी। प्रो० वसु<sup>2</sup> के अनुसार आज भी इस अनुपात में वस्तुतः कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इसके विपरीत, ब्रिटिश उद्योगों में 47 प्रतिशत पूँजी साधारण अंशों द्वारा, 33 प्रतिशत पूर्वाधिकारी अंशों द्वारा तथा 20 प्रतिशत ऋण-पत्रों द्वारा प्राप्त की जाती है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के अनुसार निजी क्षेत्र में 1948 ई० से 1956 ई० के बीच 168 करोड़ रुपये की नयी पूँजी का निर्गमन हुआ था जिसमें से 67.7 करोड़ रुपये साधारण अंशों द्वारा तथा 40.4 करोड़ रुपये ऋण-पत्रों द्वारा प्राप्त हुआ था।<sup>3</sup> वाडिया और मर्चेंट के अनुसार भारत में आजकल ऋण पत्र बहुधा कम्पनी के लिए ही नहीं, बरन् प्रबन्ध अभिकर्ताओं (Managing Agents) की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी जारी किये जाते हैं। इस प्रकार 1966 ई० में डालमिया सीमेंट कम्पनी लि० ने अपने प्रबन्ध अभिकर्ता, डालमिया जैन एण्ड कम्पनी लि० के वित्तियोग के लिए पूँजी प्रदान करने के उद्देश्य से ऋण-पत्रों का निर्गमन किया। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हमारे समक्ष हैं। ऋण-पत्रों की लोकप्रियता में इससे भी बाधा उत्पन्न होती है।

इस प्रकार भारत में ऋण-पत्रों के निर्गमन में सबसे प्रमुख कठिनाई बैंकों का व्यवहार है। भारतीय बैंक ऋण-पत्र निर्गमित करने वाली कम्पनियों को साख प्रदान करने में बहुधा आनाकानी भी करते हैं। बैंक के इस व्यवहार में परिवर्तन लाकर ऋण-पत्रों को, जो विदेशों में उद्योगों के लिए स्थायी पूँजी प्राप्त करने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है, भारत में भी अधिक लोकप्रिय बनाया जा सकता है।

### कार्यशील पूँजी (Working Capital)

भारत के विभिन्न भागों में औद्योगिक संस्थाएँ विभिन्न प्रकार से अपनी कार्यशील पूँजी प्राप्त करती हैं। किन्तु, हमारे देश में कार्यशील पूँजी प्राप्त करने के साधारणतः निम्नलिखित चार प्रधान साधन हैं :—

(1) जनता से जमा :—जनता से जमा स्वीकार करने की प्रथा अहमदाबाद तथा बम्बई की सूती मिलों की एक अनोखी विशेषता है। देश में अन्यत्र इसका प्रचलन नहीं है। इस क्षेत्र में जनता द्वारा कम्पनियों में जमा रखने की प्रणाली का प्रचलन प्रारम्भ में लोगों का बैंकों के प्रति अविश्वास के फलस्वरूप ही शुरू हुआ। इससे लोग अपनी रकम को ऐसे व्यक्तियों के पास रखने लगे जिन्हें वे अच्छी तरह से जानते थे तथा जहाँ किसी असुविधा के बगैर वे अपनी रकम प्राप्त कर सकते थे। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के अनुसार बम्बई की सूती-वस्त्र मिलों ने अपनी कुल पूँजी का 11 प्रतिशत भाग तथा अहमदाबाद की मिलों ने 39 प्रतिशत भाग जनता से जमा के रूप में प्राप्त किया था। इस प्रकार अहमदाबाद तथा बम्बई की सूती-वस्त्र मिलों के लिए कार्य-शील पूँजी प्राप्त करने का यह एक प्रधान साधन है। यह साधन अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक सस्ता भी पड़ता है। किन्तु, पिछले 20 वर्षों से जनता के जमा का महत्त्व धीरे-धीरे घट रहा है। इसका प्रमुख कारण जनता में बैंकिंग-सम्बन्धी आदतों का अधिकाधिक प्रचार है।

(2) निजी जमा (Private Deposit) :—निजी जमा की प्रथा की भी हमारे देश में प्रचलन बढ़ते जा रहा है। भारत के प्रायः सभी नये उद्योगों के उद्योग-पतियों, उनके मित्रों तथा प्रबन्ध-अभिकर्ताओं से कार्य-शील पूँजी का एक बड़ा भाग प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार के कर्ज बैंक-दर से बहुधा आधा प्रतिशत अधिक पर दिये जाते हैं। अहमदाबाद एवं बम्बई की बहुत-सी सूती

1. Quoted by Wadia and Merchant : Our Economic Problem, P. 622.

2. Industrial Finance in India—1953, p. 7.

3. Reserve Bank of India Bulletin, August 1955, p. 761.



मिलों को इस प्रकार के जमा द्वारा बन्द होने से बचाया गया था। अचानक माँग का भी कोई प्रश्न नहीं उठता। बहुत-से नये उद्योगों के प्रारम्भिक काल में, जब उन्हें पूँजी मिलने का कोई अन्य साधन नहीं होता, तब इस साधन से पूँजी मिलती है। पुरानी औद्योगिक संस्थाओं को भी कठिनाई के समय इस प्रकार ली गई रकम से बहुत अधिक सहायता मिलती है।

(3) देशी महाजन तथा साहूकार :—आज से कुछ वर्ष पूर्व देश के आर्थिक जीवन में देशी महाजन एवं साहूकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। आज भी यद्यपि बड़ी-बड़ी औद्योगिक संस्थाएँ इनसे उधार नहीं लेतीं फिर भी छोटी-छोटी एवं मध्यम वर्ग की औद्योगिक संस्थाएँ अपनी कार्यशील पूँजी का एक बड़ा भाग इनसे प्राप्त करती हैं। देशी महाजन व्यक्तिगत जमानत पर कर्ज देते हैं जिसके लिए ये बहुधा अधिक सूद लेते हैं; सर्राफ कमिटो ने कार्यशील पूँजी की प्राप्ति के इस साधन को अधिक नियमित बनाने के लिए इस बात की सिफारिश की थी कि इनके बिलों को भी रिजर्व बैंक द्वारा मान्यता प्रदान की जानी चाहिए, किन्तु महाजन उधार देने के कार्यों के साथ-साथ बहुधा अन्य प्रकार के कारोबार भी करते हैं। अतः इन्हें संगठित रूप देने में कठिनाई होगी। आजकल इन देशी महाजनों तथा साहूकारों का महत्त्व धीरे-धीरे घट रहा है।

(4) बैंकों से ऋण :—औद्योगिक संस्थाएँ अपनी कार्यशील पूँजी का एक बहुत बड़ा भाग बैंकों से भी प्राप्त करती हैं। भारतीय बैंकिंग-व्यवस्था के अन्तर्गत रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक, ज्वायंट स्टॉक बैंक तथा विनिमय बैंक प्रमुख हैं। इनमें रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक उद्योगों को 6 महीने से अधिक के लिए कर्ज नहीं दे सकते। साथ ही, वे अचल सम्पत्ति की जमानत पर भी कर्ज नहीं देते। विनिमय बैंकों का औद्योगिक वित्त से प्रायः कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अतः भारत में औद्योगिक वित्त प्रदान करने के प्रमुख साधन ज्वायंट स्टॉक बैंक, यानी व्यावसायिक बैंक ही हैं। ज्वायंट स्टॉक बैंक भी व्यावसायिक बैंक होने के नाते दीर्घकाल के लिए ऋण नहीं देते। ये उद्योगों को बहुधा किसी निश्चित जमानत के आधार पर ही कर्ज देते हैं। किन्तु, इस प्रकार का कर्ज बहुत अधिक खर्चीला होता है; क्योंकि व्यावसायिक बैंक बैंक-दर से बहुधा 1 प्रतिशत अधिक सूद की दर पर कर्ज देते हैं। साथ ही, इस प्रकार का कर्ज अल्पकाल के लिए मिलता है। अतः इसे सदा नया (renew) कराना पड़ता है; फिर भी, गत कुछ वर्षों से बैंकों द्वारा प्राप्त कर्ज में वृद्धि हो रही है। अनुसूचित बैंकों द्वारा भारतीय उद्योगों को दी गयी ऋण की रकम दिसम्बर, 1953 ई० में 167 करोड़ रुपये से बढ़कर दिसम्बर, 1956 ई० में 306 करोड़ रुपये हो गयी। प्रमुख बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद अब तो ये

लघु उद्योगों को ऋण प्रदान करने लगे हैं। फिर भी, फिस्कल कमीशन के शब्दों में, “देश की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के लिए व्यावसायिक बैंकों द्वारा प्रदान की गयी साख-सम्बन्धी सुविधाएँ निश्चय ही अपर्याप्त हैं।”

(5) सरकार तथा सरकारी संस्थाओं से ऋण :—वर्तमान समय में औद्योगिक वित्त प्रदान करने का एक प्रधान साधन भारत सरकार, राज्य सरकारें तथा सरकारी वित्तीय संस्थाएँ, जैसे—औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation), राज्य वित्तीय निगम (State Financial Corporations), औद्योगिक बैंक (Industrial Bank), यूनिट ट्रस्ट (Unit Trust), जीवन बीमा निगम (Life Insurance Corporation) आदि उल्लेखनीय हैं। वर्तमान समय में ये संस्थाएँ औद्योगिक वित्त की कुल आवश्यकता का एक महत्त्वपूर्ण भाग पूरा करती हैं।

### औद्योगिक वित्त-व्यवस्था में सुधार के सुझाव

भारत में औद्योगिक वित्त के साधनों के सर्वेक्षण से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि यहाँ उद्योगों को या तो पर्याप्त मात्रा में वित्तीय सहायता नहीं मिलती है या यदि मिलती भी है तो इसके लिए उन्हें बहुधा अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। व्यावसायिक बैंक उद्योगों को केवल अल्पकालीन साख ही प्रदान करते हैं। पश्चिमी देशों की तरह दीर्घकालीन साख-प्राप्ति के साधनों का हमारे देश में अभी अभाव है। यहाँ उद्योग-धन्धों को दीर्घकालीन साख प्रदान करने के लिए केवल एक ही औद्योगिक बैंक है। पश्चिमी देशों की तरह यहाँ संगठित पूँजी बाजार भी नहीं पाया जाता है। हाल में ही, सरकार द्वारा औद्योगिक वित्त की व्यवस्था के लिए कुछ विशिष्ट संस्थाओं, जैसे—विभिन्न प्रकार के वित्त निगमों एवं एक औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना अवश्य हुई है, किन्तु इनसे देश के उद्योग-धन्धों को अभी पर्याप्त मात्रा में लाभ नहीं हो सका है। साथ ही, ऐसा भी कहा जा सकता है कि देश में पूँजी की पूर्ति बहुत कम है। वास्तविकता तो यह है कि भारत में पूँजी के विनियोग के सम्बन्ध में विश्वस्त तथा विशेषज्ञ सलाह देनेवाली संस्थाओं का अभाव है जिससे एक औसत भारतीय इस कार्य में अपने आपको प्रायः असमर्थ पाता है। आये दिन अनेक कम्पनियों की असफलता सुनकर उनकी असमर्थता और भी बढ़ जाती है। सारांश यह है कि समुचित प्रयत्नों द्वारा देश की औद्योगिक वित्त-व्यवस्था में आवश्यक सुधार लाया जा सकता है।

देश की औद्योगिक वित्त-व्यवस्था में सुधार के लिए सामान्यतः निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(1) व्यावसायिक बैंकों को उद्योग-धन्धों को ऋण प्रदान करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए :—सर्वप्रथम, तो देश के बड़े-बड़े व्यावसायिक बैंकों को उद्योग-



धनों के प्रति अधिक उदार नीति का अनुसरण करना चाहिए। ये कम्पनियों के अंशों का अभिगोपन (under-write) कर सकते हैं तथा उसी आधार पर इन्हें दीर्घकालीन ऋण भी प्रदान कर सकते हैं; व्यावसायिक बैंक वर्तमान कम्पनियों के अभिनवीकरण तथा नयी कम्पनियों की स्थापना में भी सहायता प्रदान कर सकता है। राष्ट्रीयकरण के बाद व्यावसायिक बैंकों से इस क्षेत्र में बहुत अधिक सहायता की आशा की जाती है।

(2) विनियोगी संस्थाओं की स्थापना (Establishment of Investment Trusts):—छोटे-छोटे एवं बिखरे हुए विनियोजकों को सलाह देने के लिए विनियोगी संस्थाओं (Investment Trusts) की स्थापना की जानी चाहिए। इस प्रकार की संस्थाओं को कम्पनियों के हिस्से रखना चाहिए जिन्हें ये छोटे-छोटे विनियोजकों के हाथ बेच सकती हैं। इस प्रकार छोटे-छोटे विनियोजकों से पूंजी प्राप्त की जा सकती है। यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया से इस क्षेत्र में बहुत अधिक सहायता की आशा की जाती है।

(3) औद्योगिक बैंकों की स्थापना:—पश्चिम के औद्योगिक राष्ट्रों की तरह यहाँ भी औद्योगिक बैंकों (Industrial Banks) की स्थापना को प्रोत्साहित करना चाहिए। ये औद्योगिक बैंक उद्योगों को दीर्घकालीन साख प्रदान कर सकते हैं। अप्रैल, 1964 ई० में इस प्रकार का एक औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank of India) भारत सरकार द्वारा स्थापित किया गया। अतः इसकी स्थापना से औद्योगिक वित्त के क्षेत्र में एक बड़े अभाव की पूर्ति की आशा की जाती है। औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation), राज्य वित्त निगम (State Financial Corporations) तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं की स्थापना से भी इस क्षेत्र में बहुत अधिक सहायता प्राप्त हुई है।

### प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली

#### (Managing Agency System)

उत्पत्ति एवं विकास:—प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली भारतीय औद्योगिक व्यवस्था की एक अपूर्व विशेषता है। यह प्रथा विश्व में अपने ढंग की निराली है। कोई भी व्यक्ति, फर्म अथवा कम्पनी जिसे कम्पनी के साथ किये गये समझौते के अनुसार कम्पनी के कार्यों की व्यवस्था का अधिकार प्राप्त है, प्रबन्ध अभिकर्ता (Managing Agents) कहलाता है। (Managing agents are individuals

and group of individuals who, possessing strong financial resources, carry out the preliminary work of investigation precedent to the starting of new concerns, promote joint stock companies, act as their financiers and generally manage their business). ये कम्पनी के संचालकों के नियंत्रण एवं निर्देशों के अनुसार अथवा किसी समझौते के अनुसार ही कार्य करते हैं। इनके हाथ में कम्पनी की सम्पूर्ण व्यवस्था रहती है, फलतः ये कम्पनी पर अपना पूरा नियंत्रण रखते हैं। इन पर संचालकों का नियन्त्रण केवल समझौते की शर्तों के अनुसार ही रहता है। संचालकगण इन्हें समझौते की सीमा के अन्तर्गत ही निर्देश जारी कर सकते हैं। समझौते के अभाव में इनका सम्बन्ध तत्सम्बन्धी कानून के द्वारा निर्धारित होता है।

भारत के औद्योगिक विकास में प्रबन्ध-अभिकर्ताओं का प्रारम्भ से ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। भारतीय प्रशुल्क-मण्डल के अनुसार देश में केवल सरकारी क्षेत्र के संगठित बड़े उद्योगों को छोड़कर अन्य सभी उद्योग प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के साहस से ही पनप पाये हैं। वास्तव में, प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली का उदय भारत के औद्योगिक विकास के साथ-ही-साथ हुआ। हमारे देश में औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक प्रायः सभी प्राकृतिक साधन मौजूद थे, किन्तु पूंजी एवं साहस के अभाव में नये उद्योगों की स्थापना में कठिनाई होती थी।<sup>1</sup> प्रबन्ध-अभिकर्ता किसी फर्म की स्थापना में आवश्यक सभी प्रारम्भिक कार्रवाइयों को करते थे—ये फर्म की स्थापना की योजना तैयार करते थे, उसकी रजिस्ट्री करते थे, उसके हिस्से बेचते थे, आवश्यक पूंजी प्रदान करते थे और जब फर्म चलने लगती तो अपनी अधिकांश पूंजी उससे निकालकर प्रबन्ध तक ही अपने कार्य को सीमित रखते थे। भारत के औद्योगिक विकास के प्रारम्भ में एक ऐसे वर्ग की प्रबल आवश्यकता थी। अतः धीरे-धीरे प्रबन्ध अभिकर्ताओं का महत्त्व बढ़ने लगा। भारतीय बैंक भी कम्पनियों को दीर्घकालीन कर्ज नहीं प्रदान करते थे। अल्पकालीन साख के लिए भी ये बहुधा प्रबन्ध-अभिकर्ताओं द्वारा ऋण की गारण्टी चाहते थे। अच्छी आर्थिक स्थितिवाली कम्पनियाँ भी बैंकों से तबतक ऋण नहीं प्राप्त कर सकतीं जबतक उनके प्रबन्ध-अभिकर्ता उनके ऋणों की गारण्टी नहीं प्रदान करें। देश के औद्योगिक संगठन में प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के महत्त्वपूर्ण स्थान का यह भी एक प्रमुख कारण है। इस प्रकार देश की परिस्थितियों ने प्रबन्ध-अभिकर्ताओं को महत्त्वपूर्ण बनाने में अकथनीय सहयोग प्रदान किया है।<sup>2</sup>

1. Reserve Bank of India Bulletin—May, 1956, p. 53.

2. "Thus history, geography and economics all combined to create and develop a system which in some of its distinctive features still retains its unique character." Company Law Committee, 1952, pp. 82-83.



प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं की फर्म अधिकांशतः साझेदारी अथवा निजी सीमित दायित्व की कम्पनियाँ (Private Limited Companies) के रूप में पायी जाती हैं। इन फर्मों का निर्माण अधिक पैसेवाले कुशल व्यापारियों द्वारा किया जाता है। इनका उद्देश्य अपने अनुभव एवं ज्ञान के बल पर, स्वयं अपने या उधार ली गयी पूँजी द्वारा उद्योग-धन्धों की स्थापना एवं उनका प्रबन्ध करना है। भारत में औद्योगिक विकास के प्रारम्भ में दो वर्गों के व्यक्तियों ने उद्योगों की स्थापना का कार्य प्रारम्भ किया। एक वर्ग तो अँग्रेज व्यापारियों एवं साहसियों का था जो अपनी अथवा अपने देश की पूँजी से भारत में उद्योग-धन्धों की स्थापना करना चाहता था तथा दूसरा वर्ग बम्बई, अहमदाबाद एवं अन्य केन्द्रों के सूती-वस्त्र के व्यापारियों का था। अतः आज के प्रबन्ध अभिकर्त्ता-गृहों में से कुछ संस्थाएँ भारतीय एवं कुछ यूरोपीय हैं।

भारत में प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली की उत्पत्ति देश में संगठित पूँजी बाजार के अभाव के कारण ही हुई। हमारे यहाँ लोग व्यवसाय में पूँजी लगाना नहीं चाहते थे। साथ ही, देश में उद्योग-धन्धों की स्थापना को प्रोत्साहित करने के लिए औद्योगिक बैंकों का भी अभाव था। औद्योगीकरण के प्रारम्भिक काल में, जबकि देश में उद्योग प्रारम्भ करने के लिए साहस तथा पूँजी दोनों ही का अभाव था, प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली ने इन दोनों अभाव को पूरा किया। इसी से इस प्रथा की उन्नति हुई। वास्तव में, प्रबन्ध-अभिकर्त्ता व्यवसाय आरम्भ करते, उनमें पूँजी लगते

हैं, उनका प्रबन्ध करते हैं तथा अन्य पूँजी प्रदान करने वालों का उस व्यवसाय में विश्वास उत्पन्न करते हैं। देश की सैकड़ों कम्पनियों की स्थापना इन प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के द्वारा ही की गयी थी। आज के सुसंगठित तथा सुदृढ़ साधनवाले सूती-वस्त्र तथा इस्पात उद्योग, चाय एवं कढ़वा के बगान आदि को वर्तमान स्थिति तक पहुँचाने में पुराने प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं ने अकथनीय सहयोग प्रदान किया है।

देश में प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली के विस्तार का सही अन्दाजा लगाना कठिन है। एक साधन के अनुसार भारत में कम्पनियों की कुल संख्या प्रायः 28,500 से भी अधिक है जिनमें प्रारम्भिक काल के मूल्य-स्तर के आधार पर प्रायः 1000 या 1700 करोड़ रुपये की पूँजी के विनियोग का अनुमान किया जाता है। भारत की कुल कम्पनियों के उत्पादन में सहायक परि-सम्पत्ति का प्रायः 89 प्रतिशत भाग उन कम्पनियों की परि-सम्पत्ति है जो प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के प्रबन्ध में है। अनुमान लगाया जाता है कि अप्रैल, 1966 ई० में देश में 590 फर्म अथवा कम्पनियाँ प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के रूप में कार्य करती थीं। इनमें से 293 साझेदारी, 70 पब्लिक लिमिटेड कम्पनियाँ तथा 227 निजी कम्पनियों के रूप में कार्य करती थीं।

प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली की कार्यवाही के साम्बन्ध में हाल में ही एक अध्ययन किया गया है जिसके आधार पर इनके द्वारा व्यवस्थित कम्पनियों का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं द्वारा व्यवस्थित कम्पनियों की संख्या

|                                                    | 1954-55                 |                    |        | 1962-63                 |                    |        |
|----------------------------------------------------|-------------------------|--------------------|--------|-------------------------|--------------------|--------|
|                                                    | सार्वजनिक लि० कम्पनियाँ | निजी लि० कम्पनियाँ | कुल    | सार्वजनिक लि० कम्पनियाँ | निजी लि० कम्पनियाँ | कुल    |
| 1. कुल कार्य करने वाली कम्पनियाँ                   | 9,126                   | 19,442             | 28,568 | 5,370                   | 19,218             | 24,588 |
| 2. प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं द्वारा व्यवस्थित कम्पनियाँ | 4091                    | 964                | 5,055  | 1,267                   | 223                | 1440   |
| 3. (2) पहले के % में                               | 44.9                    | 5.0                | 17.7   | 22.6                    | 1.2                | 5.9    |

प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के कार्य  
(Functions of Managing Agents)

प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के निम्नलिखित प्रमुख कार्य हैं :

(1) कम्पनियों का उपक्रमी होना (Promotion of Companies) :— किसी भी नई कम्पनी अथवा फर्म की स्थापना के पूर्व प्रबन्ध-अभिकर्त्ता उसके पञ्च-प्रदर्शक एवं



प्रवर्तक (pioneers and promoters) के रूप में कार्य करते हैं। नयी कम्पनी अथवा फर्म की स्थापना के पूर्व कुछ प्रारम्भिक कार्यवाही करनी होती है। इंग्लैंड तथा अमेरिका में ऐसी बहुत-सी संस्थाएँ हैं जो इन प्रारम्भिक कार्यों को करती हैं जिन्हें कम्पनी-प्रवर्तक कहा जाता है, किन्तु भारत में इस प्रकार के कम्पनी-प्रवर्तक (Company promoters) नहीं पाये जाते हैं। अतः प्रबन्ध-अभिकर्ता ही इन कार्यों को सम्पन्न करते हैं। ये किसी उद्योग को आरम्भ करने के पूर्व उसके लिए उचित स्थान ढूँढते हैं, हिस्से जारी करते हैं तथा इन हिस्सों को बेचने का कार्य करते हैं। इस प्रकार देश के बहुत-से उद्योगों का विकास इन्हीं के साहस एवं उत्साह के फलस्वरूप हुआ है। 1930 ई० तक प्रायः सभी उद्योगों की स्थापना इन्हीं के साहस के परिणामस्वरूप हुई थी। 1941-50 ई० के वित्त आयोग (Finance Commission) के अनुसार सूती-वस्त्र, जूट, लोहा तथा सीमेंट आदि उद्योगों की स्थापना का श्रेय इन्हीं फर्मों को है। गत कुछ वर्षों से इस संस्था में थोड़ी शिथिलता-सी आ गयी है तथा ये अब नये उद्योगों की स्थापना में बहुत कम सहयोग प्रदान करते हैं। इसका मुख्य कारण भारत सरकार की वर्तमान औद्योगिक नीति तथा कम्पनी विधान में संशोधन है जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण निजी क्षेत्र में ही कुछ शिथिलता-सी आ गयी है।

(2) कम्पनी को पूँजी द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान करना (Financing of Companies): प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य कम्पनी के लिए आवश्यक वित्त प्रदान करना है। ये नये उद्योगों के लिए केवल स्थायी पूँजी की ही व्यवस्था नहीं करते वरन् कारखानों के पुनर्संरक्षण, आधुनिकीकरण एवं प्रयास के लिए दीर्घकालीन पूँजी तथा अन्य कार्यों के लिए अल्प-कालीन पूँजी भी प्रदान करते हैं। इनकी ख्याति तथा गारंटी पर बैंकों से भी कर्ज प्राप्त करने में सुविधा होती है। वे अपने सम्बन्धियों एवं मित्रों को भी प्रेरणा द्वारा कम्पनी के हिस्से खरीदने में पूँजी लगाने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। बम्बई एवं अहमदाबाद में जनता से प्राप्त जमा धन का श्रेय भी प्रबन्ध-अभिकर्ताओं की ख्याति को ही है। बम्बई की सूती-वस्त्र किलों के कुल ऋण का एक समय 75 प्रतिशत भाग तक प्रबन्ध-अभिकर्ताओं ने प्रदान किया था।

किन्तु, इन सब के बावजूद प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली द्वारा वित्तीय सहायता प्रदान करने की प्रथा के कुछ दोष भी हैं। सर्वप्रथम, दोष तो यह है कि इस प्रथा के फल-स्वरूप भारतीय उद्योग में वित्त की प्रधानता हो जाती है। डा० लॉकनाथन के शब्दों में, “वित्त उद्योगों का सेवक नहीं रहकर मालिक बन गया है।” (Finance;

instead of being the servant of industry, has become its master) वित्त की प्रधानता के फलस्वरूप उद्योगों का संचालन अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में चला जाता है जिससे अधिकांश कम्पनियाँ सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर पातीं। इस सम्बन्ध में दूसरा दोष यह है कि एक ही प्रबन्ध-अभिकर्ता के हाथ बहुत-सी कम्पनियों की व्यवस्था रहती है जिससे खराब आर्थिक स्थितिवाली कम्पनी का प्रभाव अच्छी आर्थिक स्थितिवाली कम्पनी पर भी पड़ता है। कभी-कभी, प्रबन्ध-अभिकर्ता की खराब आर्थिक स्थिति का प्रभाव भी उनके अधीन की कम्पनियों पर पड़ता है।

(3) कम्पनी की व्यवस्था (Management of Companies)—प्रबन्ध-अभिकर्ताओं का कार्य कम्पनी के संगठन तक ही सीमित नहीं रहता। ये कम्पनी की व्यवस्था अथवा संचालन में भी हाथ बँटाते हैं। हमारे देश की अधिकांश कम्पनियों का संचालन प्रबन्ध-अभिकर्ताओं द्वारा ही होता है। एक-एक प्रबन्ध-अभिकर्ता विभिन्न प्रकार की कई कम्पनियों का संचालन करते हैं। ये अपने अधिकार को स्थायी बनाने के लिए कम्पनियों के अधिकांश हिस्से अपने जिम्मे रखने का प्रयत्न करते हैं।

प्रबन्ध-अभिकर्ता अपने विशेष ज्ञान एवं व्यावसायिक अनुभव द्वारा कम्पनी को बहुत तरह से लाभान्वित करते हैं। ये अपने अधीन की कम्पनियों अथवा फर्मों द्वारा उत्पादित मालों के क्रय-विक्रय की भी व्यवस्था करते हैं, आयात-निर्यात का कार्य करते हैं तथा बड़े पैमाने पर विज्ञापन का भी कार्य करते हैं। इस प्रकार इनके फल-स्वरूप कम्पनियों तथा फर्मों को बड़े पैमाने पर क्रय-विक्रय के लाभ प्राप्त होते हैं। साथ ही, एक से अधिक कम्पनियों की व्यवस्था से सम्बन्धित होने के कारण ये ऐसे विशेषज्ञों की नियुक्ति करते हैं जो सभी कम्पनियों के कार्यों की देख-भाल करते हैं। इस प्रकार भारत में कम्पनियों के व्यवस्थापन एवं प्रबन्ध-कार्य की सफलता का सम्पूर्ण श्रेय प्रबन्ध-अभिकर्ताओं को है।

अतएव, “प्रबन्ध-अभिकर्ताओं को संक्षेप में उद्योगों का प्रवर्तक, आर्थिक सहायता करनेवाला एवं व्यवस्थापक कहा जा सकता है।” (The Managing agent are, in short, promoters, financiers, managers and agents all rolled in one)

### प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली के दोष (Defects of the Managing Agency System)

भारत के औद्योगिक विकास में प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली ने निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है, परन्तु, इधर कुछ वर्षों से इस प्रथा में कुछ दोष आ गये



हैं। नेशनल प्लानिंग कमिटी की औद्योगिक वित्त-व्यवस्था-सम्बन्धी उपसमिति के अनुसार आज यह प्रणाली बिल्कुल प्राचीन एवं बेकार हो गयी है। किन्तु, इस प्रथा पर इस हद तक दोषारोपण करना अन्यायपूर्ण एवं अनुचित होगा। फिर भी, इस प्रणाली में बहुत-सारे दोष आ गये हैं जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से प्रमुख हैं :—

(1) आर्थिक प्रभुत्व (Concentration of Economic Power) :—प्रबन्ध-अधिकर्ता प्रणाली के फलस्वरूप उद्योगों में औद्योगिक प्रतिफल की अपेक्षा आर्थिक प्रभुत्व की प्रधानता हो जाती है। प्रबन्ध-अधिकर्ता बहुधा पूँजीपति ही हुआ करते हैं जिनके पास व्यवस्थापन-सम्बन्धी योग्यता का अभाव रहता है। ये उद्योगों को आर्थिक संकट में केवल आर्थिक सहायता प्रदान कर उनमें पुनर्जीवन का संचार करते हैं, किन्तु कम्पनी की वास्तविक प्रगति के लिए कुछ नहीं कर सकते। इसके फलस्वरूप कम्पनी की व्यवस्था में अनेक दोष आ जाते हैं। इसका कम्पनी की व्यवस्था पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि किसी समय कम्पनी आर्थिक संकट में फँस जाती और इनके पास भी पर्याप्त धन नहीं होता तो ऐसी संकट-पूर्ण स्थिति में प्रबन्ध-अधिकर्ता अपनी कम्पनी की व्यवस्था दूसरे प्रबन्ध-अधिकर्ताओं को सौंप कर स्वयं इससे पृथक् हो जाते हैं। ऐसा करने में कम्पनी के हिस्सेदारों के हितों का जरा भी ख्याल नहीं रखते।

(2) व्यवस्थापन का एकत्रीकरण (Concentration of control) :—प्रबन्ध अधिकर्ता प्रणाली का दूसरा प्रधान दोष यह है कि एक ही अधिकर्ता के अधीन बहुत-से उद्योग-धंधों की व्यवस्था रहती है। इस प्रथा के प्रारम्भ से ही व्यवस्थापन के एकत्रीकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट होने लगी है। इसके फलस्वरूप इनका कार्य-क्षेत्र बहुत व्यापक तथा वित्तीय पैमाना बहुत बड़ा हो जाता है। बिहार एवं उड़ीसा बैंकिंग जाँच समिति के अनुसार कलकत्ते की एक फर्म एण्ड्रयू यूल एण्ड कं० (Andrew Yule & Co.) 54 कम्पनियों का प्रबन्ध करती थी। श्री वसुवदा के अनुसार ब्रिटिश प्रबन्ध अधिकर्ता फर्मों में सबसे अधिक मैकडोल एण्ड कम्पनी द्वारा 60 कम्पनियों तथा सबसे कम बी० ए० इलियास एण्ड कम्पनी द्वारा केवल 10 कम्पनियों की व्यवस्था की जाती थी। भारतीय प्रबन्ध अधिकर्ताओं में बिड़ला ब्रदर्स द्वारा सबसे अधिक, प्रायः 128 तथा सबसे कम सूरजमल नागरमल द्वारा 11 कम्पनियों की व्यवस्था की जाती है। किन्तु, अब भारतीय कम्पनी अधिनियम में संशोधन के अनुसार एक प्रबन्ध अधिकर्ता अधिक-से-अधिक दस फर्मों की ही व्यवस्था कर सकता है। अतः 590 वर्तमान प्रबन्ध अधिकर्ताओं में से अधिकांश के जिम्मे एक दो या दो फर्मों की ही व्यवस्था है। व्यावसायिक योग्यता एवं

सार्वजनिक हित के उद्देश्य से व्यवस्थापन के इस एकत्रीकरण से बहुत लाभ की आशा की जा सकती है। उदाहरणार्थ, चूँकि एक ही अधिकर्ता फर्म द्वारा कई धन्धों की ओर से माल, यन्त्र एवं अन्य वस्तुओं की खरीद बिक्री की जाती है तथा एक ही कार्यालय से इन सबका प्रबन्ध होता है, अतः इससे अनेक आन्तरिक एवं बाह्य मितव्ययिताएँ (internal and external economies) प्राप्त होती हैं। साथ ही, इनसे विभिन्न कम्पनियों में वित्तीय सहयोग सम्भव होता है; क्योंकि एक कम्पनी को अतिरिक्त धन की आवश्यकता पड़ने पर दूसरी कम्पनी से मिल जाता है।

किन्तु, अधिकांश प्रबन्ध-अधिकर्ता फर्म की व्यवस्था अयोग्य अथवा अनैतिक व्यक्तियों द्वारा की जाती है जिससे इस प्रथा में नियंत्रण-सम्बन्धी अनेक बुराइयाँ आ गयी हैं। ऐसी स्थिति में व्यवस्थापन के एकत्रीकरण से व्यवस्थापन-सम्बन्धी अनेक दोष आ जाते हैं।

(3) अन्तर-विनियोग (Inter-locking of funds) :—प्रबन्ध-अधिकर्ता अपने नियंत्रण के अन्तर्गत की कम्पनियों की आधिक्य राशि दूसरी कम्पनियों को ऋण के रूप में देते हैं। इस प्रकार व्यवस्थापन के एकत्रीकरण से अन्तर-विनियोग की प्रथा का प्रचलन हो गया है। बम्बई तथा अहमदाबाद की सूती मिलों में यह प्रथा विशेष रूप से पायी जाती है। एक कम्पनी के विस्तारीकरण के लिए प्राप्त धन बहुधा दूसरी कम्पनी को पुनर्जीवित करने में लगाया जाता है। इस प्रकार अच्छी आर्थिक स्थितिवाली कम्पनी का धन बुरी आर्थिक स्थिति वाली कम्पनियों में लगाया जाता है जिसका अच्छी कम्पनी की स्थिति पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। अन्तर-विनियोग का समाज पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके फलस्वरूप निम्न कम्पनियाँ भी जीवित रहती हैं जो समाज एवं देश के लिए निश्चय ही हानिकारक हैं। विनियोगी वर्ग पर भी इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। 1930 ई० में सोराक स्पिनिंग एण्ड विभिग कं० के तलपट में इसके प्रबन्ध अधिकर्ता मफतलाल चन्दुलाल एण्ड कम्पनी के नाम 16,17,000 रुपये ऋण के रूप में दिखाया गया था। इस प्रकार के बहुत-से उदाहरण हमें देखने को मिलते हैं।

(4) आर्थिक शोषण (Economic exploitation) :—प्रबन्ध अधिकर्ता अपनी व्यवस्था के अन्तर्गत की कम्पनियों का विभिन्न रूप से शोषण भी करते हैं। ये अपने पारिश्रमिक के रूप में कम्पनी के लाभ का एक बहुत बड़ा भाग अपने पास रख लेते हैं। ये कम्पनी से विभिन्न रूप में पारिश्रमिक लेते हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—व्यक्तिगत भत्ता, उत्पादन पर कमीशन, कच्चे माल पर कमीशन तथा कार्यालय का कार्य चलाने के लिए भी उन्हें कुछ धन दिया जाता है। 1956 ई० के कम्पनी



विधान के पूर्व प्रबन्ध-अभिकर्ता कम्पनियों से उनके माल की विक्री के आधार पर अपना पारिश्रमिक लेते थे। कम्पनियों के लिए यह बिल्कुल न्यायसंगत नहीं था। प्रबन्ध-अभिकर्ताओं की आय कम्पनी की सम्पूर्ण आय के प्रतिशत अनुपात में 1946 ई० में 12 प्रतिशत तथा 1952 ई० में 14 प्रतिशत थी। इससे स्पष्ट है कि कम्पनियों के लाभ का एक बहुत बड़ा अंश प्रबन्ध-अभिकर्ता स्वयं ले लेते हैं।

(5) प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली धीरे-धीरे वंशानुगत (hereditary) हो गयी जिसके परिणामस्वरूप अयोग्य व्यक्ति भी प्रबन्ध-अभिकर्ता होने लगे। अतएव, अयोग्य व्यक्तियों के अभिकर्ता होने के कारण इस सम्बन्ध में कठिनाई बहुत बढ़ने लगी। इस प्रकार प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली से व्यापार के संचालन में शिथिलता आ जाती है।

(6) अनुचित परिकल्पना को प्रोत्साहन :—इस प्रणाली के फलस्वरूप अंशों में बहुत अधिक मात्रा में परिकल्पना (Large Scale Speculation) होने लगी है। ये विभिन्न प्रकार के अंशों के मूल्य में अपनी इच्छानुसार परिवर्तन करने की कोशिश करते हैं जिससे विनियोक्ताओं को बहुत ही हानि होती है।

(7) संचालकगण भी इनके हाथ की कठपुतली बन गये :—कम्पनी की दैनिक कार्यवाही के लिए संचालक ही जिम्मेदार होते हैं, किन्तु धीरे-धीरे ये संचालकगण प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के हाथ की कठपुतली की तरह होते हैं, अतः इन्हीं के इशारे पर सारा कार्य करते हैं।

### प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली का भविष्य

#### (Future of the Managing Agency System)

इस प्रकार उपरोक्त सभी दोषों के विवरण से स्पष्ट है कि प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली वर्तमान परिस्थितियों में सर्वथा उपयोगी नहीं रह गयी है। प्रारम्भ में इस प्रथा ने देश के उद्योगीकरण में निस्सन्देह बहुत ही महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया था, किन्तु आज विभिन्न दोषों के फलस्वरूप यह सर्वथा अनुपयोगी हो गयी है; तब क्या इस प्रथा को समाप्त कर देना चाहिए? इस सम्बन्ध में हमारे समक्ष दो भिन्न दृष्टिकोण हैं। उदाहरण के लिए, प्रो० के० टी० शाह के अनुसार, “यह प्रथा बिल्कुल बेकार हो गयी है, अतः इसे यथाशीघ्र समाप्त करना अनिवार्य है।” (The system is rotten root and branch, leaf and bark and blossom and must be abolished at the very first opportunity.) किन्तु 1949-50 ई० का फिस्कल कमीशन इस प्रथा को समाप्त करने के बजाय इसमें सुधार लाने के पक्ष में था। कम्पनी विधान समिति की भी यही राय थी। समिति के अनुसार देश की विभिन्न

परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली पर निर्भर करना आवश्यक जान पड़ता है। समिति की राय में इस प्रथा में निस्सन्देह बहुत से दोष आ गये हैं, फिर भी सुधार द्वारा इससे निजी क्षेत्र में महत्वपूर्ण सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। फलतः समिति ने इसके अवगुणों को दूर करने के लिए कम्पनी अधिनियम की प्रबन्ध अभिकर्ता-सम्बन्धी धाराओं में आवश्यक संशोधन के लिए भी सुझाव दिया था। योजना आयोग भी कम्पनी विधान समिति की राय से सहमत है। कम्पनी विधान समिति ने प्रबन्ध-अभिकर्ताओं की नियुक्ति की शर्तें, उनके पारिश्रमिक तथा उनके उधार लेन-देन सम्बन्धी अनुबन्ध एवं कम्पनी की खरीद-विक्री के आधार के सम्बन्ध में संशोधन की सिफारिश की थी। समिति की सिफारिशों के आधार पर भारतीय कम्पनी अधिनियम में आवश्यक संशोधन किया गया है जिसमें प्रबन्ध अधिकर्ताओं पर तरह-तरह के नियंत्रण की व्यवस्था भी की गयी है।

उक्त तथ्यों के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली अब वर्तमान परिस्थितियों में लाभदायक नहीं रह गयी है। अतः देश के औद्योगिक विकास के हित में इसे समाप्त कर देना ही अधिक उपयुक्त होगा। प्रबन्ध अभिकर्ता निजी क्षेत्र के औद्योगिक गृहों को वित्तीय सहायता अवश्य प्रदान करते हैं, किन्तु देश के औद्योगिक हित में यह आवश्यक है कि निजी क्षेत्र को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए अधिक उचित एवं संगठित व्यवस्था के विकास को प्रोत्साहित किया जाय। इसके लिए देश में औद्योगिक बैंकों के संगठन को प्रोत्साहित करना आवश्यक है। साथ ही, उद्योगों के सहायताार्थ विभिन्न संस्थाओं एवं निगमों की स्थापना के फलस्वरूप अब इस प्रकार की शोषक प्रथा बिल्कुल अनावश्यक तथा अनुपयोगी हो गयी है, अतः इसे समाप्त करना ही अधिक उचित जान पड़ता है।

1956 ई० के पूर्व प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली में सुधार (Reforms in the Managing Agency System prior to 1956 Company Act) :—उपरोक्त कारणों से देश में धीरे-धीरे प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के विरुद्ध प्रतिक्रिया होने लगी जिसके फलस्वरूप भारतीय कम्पनी विधान में 1936 ई० में संशोधन किया गया तथा प्रबन्ध-अभिकर्ताओं पर निम्नलिखित प्रतिबन्ध लगाये गये :—

(1) किसी भी प्रबन्ध अभिकर्ता की नियुक्ति 20 वर्षों से अधिक के लिए नहीं की जा सकती है। पुराने प्रबन्ध-अभिकर्ताओं की नियुक्ति भी इस विधान के प्रारम्भ होने से 20 वर्षों के बाद समाप्त समझी जायगी। (2) इसके अनुसार प्रबन्ध-अभिकर्ताओं का वेतन भी लाभ के एक निश्चित प्रतिशत के रूप में निश्चित कर दिया गया तथा जिस वर्ष लाभ नहीं होता, उस वर्ष इन्हें एक न्यूनतम



रकम कार्यालय के भी भत्ते के रूप में देने की व्यवस्था की गयी है। (3) ऋण के लेन-देन के सम्बन्ध में भी कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। इस संशोधन के अनुसार किसी एक कम्पनी के कोष का एक ही प्रबन्ध अभिकर्ता के अंतर्गत की किसी दूसरी कम्पनी के विकास में उपयोग नहीं किया जा सकता। (4) कोई भी प्रबन्ध-अभिकर्ता कम्पनी के संचालक-मण्डल के एक-तिहाई से अधिक संचालकों को मनोनीत नहीं कर सकता। (5) कम्पनी प्रविवरण में प्रबन्ध-अभिकर्ता के साथ किये गये समझौते की शर्तों को दिखलाना भी अनिवार्य बनाया गया।

इसके अतिरिक्त और भी बहुत-से संशोधन किये गये, किन्तु ये संशोधन ब्रिटिश शासनकाल में उचित रूप से लागू नहीं किये गये। अतएव, इस स्थिति में कोई संतोष-जनक सुधार नहीं हुआ। अतः, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अक्टूबर, 1950 ई० में एक कम्पनी विधान समिति (Company Law Committee) की नियुक्ति की गयी। समिति ने इस सम्बन्ध में बहुत-से महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये जिनके आधार पर संसद में एक भारतीय कम्पनी विधेयक प्रस्तुत किया गया जो संसद द्वारा पारित होने पर 1 अप्रैल, 1956 ई० से लागू किया गया।

1956 ई० का भारतीय कम्पनी विधान तथा प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली (The Indian Companies Act of 1956 and the Managing Agency System) :— 1956 ई० के कम्पनी अधिनियम के निम्नांकित तीन मुख्य उद्देश्य हैं :—(1) समुचित विधान द्वारा कम्पनी व्यवस्था की बुराइयों को दूर करना, (2) अंशधारियों एवं जनसाधारण के हितों की व्यवस्थापकों की कार्यवाहियों के विरुद्ध सुरक्षा, तथा (3) निजी क्षेत्र को समाजवादी ढाँचे की सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के योग्य बनाना।

प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली के सम्बन्ध में इस अधिनियम में निम्नलिखित व्यवस्था की गयी है :—

(i) इसके द्वारा एक विशेष वर्ग के उद्योग तथा व्यापार के अन्तर्गत की सभी कम्पनियों की व्यवस्था में 25 अगस्त, 1960 ई० के बाद प्रबन्ध-अभिकर्ता की नियुक्ति अथवा पुनर्नियुक्ति की स्वीकृति सर्वप्रथम कम्पनी की सर्वसाधारण बैठक द्वारा तथा तत्पश्चात् केन्द्रीय सरकार द्वारा करानी होगी।

(ii) किसी प्रबन्ध-अभिकर्ता की नियुक्ति एक बार में 15 वर्षों से अधिक के लिए नहीं की जा सकती।

(iii) साथ ही, इस अधिनियम के अनुसार 15 अगस्त, 1960 ई० के बाद कोई भी प्रबन्ध-अभिकर्ता एक साथ 10 कम्पनियों से अधिक का प्रबन्ध नहीं कर सकता है। इसके अतिरिक्त दिवाजिया होने अथवा कम-से-कम 6 माह का कारावास मिलने पर प्रबन्ध-अभिकर्ता को स्वतः पदत्याग कर देना पड़ेगा।

(iv) वेतन के सम्बन्ध में इस बात की व्यवस्था की गयी है कि प्रबन्ध-अभिकर्ताओं को सामान्यतः कम्पनी के वार्षिक वास्तविक लाभ (Annual net Profit) के 10 प्रतिशत से अधिक वेतन के रूप में नहीं दिया जा सकता है। इससे अधिक वेतन देने के लिए कम्पनी को एक विशिष्ट प्रस्ताव द्वारा अनुमति प्रदान करनी होगी तथा इस आधार पर केन्द्रीय सरकार की अनुमति भी प्राप्त करनी होगी। प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के अधिकार पर भी इस नियम द्वारा बहुत-से प्रतिबन्ध लगाये गये हैं।

(v) प्रबन्ध-अभिकर्ता ऐसी व्यावसायिक इकाइयों में, जिनमें केवल पाँच तक संचालक हैं, एक संचालक की नियुक्ति तथा पाँच से अधिक संचालकवाली कम्पनियों में दो संचालकों की नियुक्ति कर सकता है। साथ ही, प्रबन्ध अभिकर्ता अपने अधिकारों का प्रयोग समझौते की शर्तों के अनुसार संचालक-मण्डल (Board of Directors) के निरीक्षण एवं निर्देश में ही कर सकते हैं।

(vi) इस नियम द्वारा प्रबन्ध-अभिकर्ता पर और भी बहुत-से प्रतिबन्ध लगाये गये हैं, जैसे—एक ही प्रबन्ध-अभिकर्ता के प्रबंध में एक से अधिक कम्पनियों के बीच अन्तर-विनियोग, कम्पनी द्वारा उसी वर्ग की अन्य कम्पनियों के अंशों को खरीदना तथा प्रबन्ध-अभिकर्ता के अन्तर्गत की कम्पनियों द्वारा प्रबन्ध-अभिकर्ताओं को कर्ज देने आदि पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया है। इन सब नियमों के उल्लंघन करने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था भी की गयी है।

(vii) इस अधिनियम के अनुसार किसी कम्पनी की साधारण सभा के एक साधारण प्रस्ताव द्वारा प्रबन्ध-अभिकर्ताओं को छोड़ा अथवा विश्वासघात करने, कर्तव्यच्युत तथा कुप्रबन्ध के लिए उनके पद से हटाया जा सकता है।

भारतीय कम्पनी (संशोधन) अधिनियम, 1960 और प्रबंध-अभिकर्ता-प्रणाली (Indian Companies Amendment Act, 1960 and the Managing Agency System) :—1956 ई० के कम्पनी विधान की बहुत अधिक आलोचना की जाने लगी। अतएव, सरकार ने इस विधान के संशोधन के सम्बन्ध में राय देने के लिए एक समिति की नियुक्ति की जिसके प्रतिवेदन के आधार पर कम्पनी विधान में पुनः संशोधन हुआ जो दिसम्बर, 1960 ई० से लागू है। इस संशोधन के द्वारा प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली में चले आने वाले बहुत-से दोषों को दूर करने का प्रयास किया गया है। सर्वप्रथम, तो प्रबन्ध-अभिकर्ता किसी कम्पनी के कोष का पुनर्विनियोग नहीं कर सकते। प्रबन्ध-अभिकर्ता के पारितोषिक के सम्बन्ध में भी इसमें कई संशोधन किये गये हैं। साथ ही, इस संशोधन के अनुसार कोई भी व्यक्ति अथवा फर्म किसी कम्पनी का



प्रबन्ध-अभिकर्ता तभी हो सकता है जबकि उसके नाम सार्वजनिक कम्पनी के 10 प्रतिशत तथा निजी कम्पनी के 5 प्रतिशत हिस्से हों।

**प्रबन्ध-अभिकर्ता जांच समिति (Managing Agency Inquiry Committee, 1966) :**—किन्तु इन सब के बावजूद इस स्थिति में कोई सुधार नहीं हो सका। अतएव, भारत सरकार ने डॉ० आइ० जे० पटेल की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की जिसका प्रधान उद्देश्य प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली को समाप्त करने की वांछनीयता पर विचार करना था। समिति ने जीनी, सूती-वस्त्र, सीमेंट, कागज तथा जूट उद्योगों में प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली की कार्यवाही का अध्ययन किया तथा इन उद्योगों से इस प्रथा को समाप्त करने की सिफारिश की। किन्तु इस प्रथा को समाप्त करने में समिति ने धीरे-धीरे तथा सावधानीपूर्वक कार्य करने का सुझाव दिया।

भारत सरकार ने पटेल समिति की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया तथा इन उद्योगों में 2 अप्रैल, 1967 ई० से नये प्रबन्ध-अभिकर्ताओं की नियुक्ति को बिल्कुल बन्द कर दिया तथा अप्रैल, 1970 से इन उद्योगों से प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली को समाप्त करने की घोषणा की। किन्तु 1968 ई० के भारतीय कम्पनीज विधान में संशोधन के अनुसार 1 अप्रैल, 1970 ई० से देश के सभी उद्योगों से प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली को समाप्त करने की व्यवस्था की गयी। साथ ही, सेक्रेटरी तथा ट्रेजरर के द्वारा कम्पनियों की व्यवस्था को भी उसी दिन से समाप्त कर दिया गया।

किन्तु, इस संशोधन का परिणाम यही हुआ कि पहले के जो मैनेजिंग एजेंट थे वही अब इन कम्पनियों के मैनेजिंग डायरेक्टर तथा कुछ हालतों से मैनेजिंग कन्सलटेन्ट्स (Managing Consultants) आदि हो गये तथा तनख्वाह आदि के रूप में बड़ी-बड़ी रकमें लेते हैं।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. R. R. Nigam      \* Managing Agencies in India.
2. N. C. A. E. R.    : The Managing Agency System—A Review of its Working and Prospects.
3. DASS.             : Industrial Enterprises in India.
4. Report of the Managing Agency Inquiry Committee, 1966.



## अध्याय : 38

### औद्योगिक वित्त निगम एवं अन्य वित्तीय संस्थाएँ

(Industrial Finance Corporation and other Financial Institutions)

**परिचय :—**द्रुतगति से औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में स्थायी एवं चल पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। छोटे अथवा बड़े, सभी उद्योगों को इन दोनों प्रकार की पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। अन्य देशों की तरह हमारे देश में भी बड़े-बड़े उद्योगपतियों को अपनी औद्योगिक योजनाएँ कार्यान्वित करने के लिए सुविधापूर्वक पूँजी प्राप्त हो जाती है। आवश्यकता पड़ने पर ये बैंकों से कर्ज ले लेते हैं, अपने मित्रों को विनियोग करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं तथा इनके अंशधारकों की कम्पनियों के ऋण-पत्र भी सुगमतापूर्वक विक्रित होते हैं। वित्त-प्राप्ति के क्षेत्र में वास्तविक कठिनाई का सामना उन व्यापारियों को करना पड़ता है जो इस क्षेत्र के लिए विल्कुल नये होते हैं। इनके पास उचित योजनाएँ तो रहती हैं, किन्तु उन्हें कार्यान्वित करने के लिए पूँजी का अभाव रहता है। इस प्रकार के व्यापारियों की वित्तीय सहायता की सर्वाधिक आवश्यकता होती है।

जर्मनी जैसे पश्चिमी देशों में औद्योगिक बैंक (Industrial Bank) इस कार्य में आवश्यक सहयोग प्रदान करते हैं। किन्तु, भारत में औद्योगिक बैंकों का अभाव है। यहाँ पश्चिमी देशों की तरह विनियोगी संस्थाएँ (Investment Trusts) तथा निर्गम गृह (Issue Houses) भी नहीं पाये जाते हैं। साथ ही, व्यावसायिक बैंक केवल अल्पकाल के लिए ही ऋण प्रदान करते हैं। अतः हमारे देश में दीर्घकालीन वित्त प्रदान करने के साधनों का विल्कुल अभाव है जिसके लिए एक विशेष प्रकार की संस्था की स्थापना की आवश्यकता बहुत दिनों से महसूस होती रही है।

किन्तु, स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् औद्योगिक विकास के लिए संस्थागत वित्त प्रबन्धन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। संस्थागत औद्योगिक वित्त की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए औद्योगिक वित्त निगम जाँच-समिति ने अपने प्रतिवेदन में यह कहा था कि “उद्योगों की दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं की स्थापना भारत में इसलिए आवश्यक है कि एक ओर तो यहाँ पर पर्याप्त रूप से विकसित पूँजी बाजार का अभाव है तो दूसरी ओर व्यावसायिक बैंक औद्योगिक वित्त प्रदान करने में बहुधा असमर्थ सिद्ध होते हैं।”

### औद्योगिक वित्त निगम

(Industrial Finance Corporation)

इस अभाव को दूर करने के लिए औद्योगिक आयोग ने औद्योगिक बैंक की ही तरह एक विशेष प्रकार की संस्था के निर्माण का सुझाव दिया था। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने भी इस कार्य के लिए देश में एक औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना का सुझाव दिया था, किन्तु स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व इस प्रकार के निगम की स्थापना नहीं की जा सकी थी। अन्ततः, संसद् द्वारा स्वीकृत एक अधिनियम के आधार पर 1 जुलाई, 1948 ई० को भारत सरकार द्वारा औद्योगिक वित्त-निगम (Industrial Finance Corporation) की स्थापना की गयी। निगम एक अर्ध-स्वतन्त्र (semi-autonomous) संस्था है जिसके अंशधारी भारत सरकार, रिजर्व बैंक तथा कुछ विशेष प्रकार की संस्थाएँ हैं। औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना के द्वारा सरकार ने इस क्षेत्र की एक बहुत बड़ी कमी को दूर किया है। औद्योगिक वित्त निगम एवं अन्य वित्त तथा विकास निगम देश के औद्योगिक विकास में बहुत अधिक सहायक हो रहे हैं तथा आयोजित आर्थिक विकास के लिए देश में पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहित कर रहे हैं।

**औद्योगिक वित्त निगम का संगठन (Organisation of the I. F. C.)—**औद्योगिक वित्त-निगम की अधिकृत पूँजी (Authorised capital) 10 करोड़ रुपये है जो पाँच-पाँच हजार रुपये के 20 हजार पूर्ण परिदत्त अंशों (fully paidup shares) में विभाजित है। इसमें से अबतक 8.35 करोड़ रुपये के 16,700 हिस्से जारी किये गये हैं जो पूर्णरूप से क्रय कर लिये गये हैं। इसके हिस्सेदार भारत सरकार, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, अनुसूचित बैंक, बीमा कम्पनियाँ, विनियोगी ट्रस्ट एवं सहकारी बैंक आदि हैं। निगम के हिस्सों को केन्द्रीय सरकार द्वारा उनके मूलधन तथा  $2\frac{1}{4}$  प्रतिशत लाभांश की गारंटी मिली हुई है।

निगम का प्रबन्ध 12 व्यक्तियों के एक संचालक-मण्डल द्वारा होता है। इनमें से केन्द्रीय सरकार द्वारा तीन तथा रिजर्व बैंक द्वारा दो संचालक मनोनीत किये जाते हैं। इनके अतिरिक्त दो संचालकों का अनुसूचित बैंकों, दो सहकारी बैंकों तथा दो बीमा कम्पनियों



एवं अन्य हिस्सेदारों द्वारा निर्वाचन होता है। प्रबन्ध-संचालक की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती है। इनमें से पाँच संचालकों की एक प्रबन्ध अथवा शासकीय समिति होती है जिसमें प्रबन्ध-संचालक के अतिरिक्त मनोनीत संचालकों द्वारा निर्वाचित दो तथा निर्वाचित संचालकों द्वारा निर्वाचित दो संचालक रहते हैं।

### औद्योगिक वित्त निगम के कार्य

(Functions of the I. F. C.)

औद्योगिक वित्त निगम के निम्नलिखित प्रमुख कार्य हैं—

(1) निगम भारत की किसी भी ऐसी पब्लिक लिमिटेड कम्पनी अथवा सहकारी संस्था को, जो निर्माण, खनिज या विद्युत् आदि उद्योगों में लगी हो, 25 वर्षों की अवधि तक के लिए ऋण प्रदान कर सकता है तथा उनके ऋण-पत्रों (debentures) को खरीद सकता है। औद्योगिक वित्त निगम के विधान में 1960 ई० के संशोधन के अनुसार अब निगम औद्योगिक संस्थाओं की हिस्सा पूँजी में भी प्रत्यक्ष रूप से भाग ले सकता है।

(2) औद्योगिक संस्थाओं द्वारा लिये जानेवाले ऐसे ऋण अथवा जारी किये गये ऋण-पत्रों की गारण्टी प्रदान करना जो 25 वर्षों के भीतर ही वापस की जानेवाली हों।

(3) औद्योगिक संस्थाओं द्वारा जारी किये गये स्टॉक, शेयर, बॉण्ड तथा ऋण-पत्रों का अभिगोपन (underwriting), यानी उनके भुगतान का उत्तरदायित्व लेना। किन्तु यह आवश्यक है कि इस प्रकार के स्टॉक, शेयर, ऋण-पत्र आदि सात वर्षों के भीतर ही बिक जायें।

ऋण लेनेवाली संस्थाओं के संचालक-मण्डल में निगम अपना प्रतिनिधि मनोनीत कर सकता है तथा ऋण की शर्तों को भंग करनेवाली संस्थाओं को अपने नियन्त्रण के अन्तर्गत भी ले सकता है।

इस प्रकार निगम का प्रमुख उद्देश्य बड़े उद्योग को, जिन्हें पूँजी बाजार में कर्ज नहीं मिलता, दीर्घ एवं मध्यकालीन कर्ज प्रदान करना है। निगम केवल निजी क्षेत्र के उद्योगों को ही ऋण देता है। निजी क्षेत्र में भी केवल पब्लिक लिमिटेड कम्पनियों तथा सहकारी संस्थाओं को, जो वस्तुओं के निर्माण, खनिज अथवा बिजली के उत्पादन में लगे हों, ऋण देता है। यह प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी तथा साझेदारी संस्थाओं को ऋण प्रदान नहीं करता। निगम राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योगों की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान देता है। इस प्रकार निगम का प्रमुख कार्य उद्योगों को दीर्घ एवं मध्यकालीन आर्थिक सहायता प्रदान करना है, किन्तु ऐसा करने में यह व्यावसायिक बैंकों से प्रतियोगिता नहीं करना चाहता। वास्तव में, निगम का प्रमुख उद्देश्य आर्थिक क्षेत्र में व्यावसायिक बैंकों की सहायता देना है जिससे देश में पूँजी

की समस्या के समाधान में ये दोनों समुचित सहयोग प्रदान कर सकें।

निगम किसी एक कम्पनी को अपनी परिदत्त पूँजी के दस प्रतिशत या 50 लाख रुपये जो भी कम हो, से अधिक ऋण नहीं प्रदान करता। किन्तु, 1953 ई० के एक संशोधन के अनुसार अब इस रकम को बढ़ाकर एक करोड़ रुपये कर दिया गया है, यानी अब निगम किसी एक कम्पनी को एक करोड़ रुपये तक का भी कर्ज दे सकता है, किन्तु इस प्रकार के कर्ज की भारत सरकार द्वारा स्वीकृति आवश्यक है।

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निगम अन्य आवश्यक कार्यों को भी सम्पन्न करता है।

इस प्रकार निगम उद्योगों की सहायता के लिए विभिन्न प्रकार के कार्य करता है। इससे देश के औद्योगिक विकास में निश्चय ही बहुत अधिक सहायता की आशा की जाती है। ऋण अथवा सहायता के लिए प्राप्त सभी आवेदन-पत्रों पर विशेषज्ञों द्वारा जाँच की जाती है। ऋण देने के पूर्व निगम द्वारा उद्योगों के राष्ट्रीय महत्त्व, व्यवस्थापकों की योग्यता, कच्चे माल तथा विशेषज्ञों की व्यवस्था, योजन की व्यावहारिकता तथा कुल व्यय, उत्पादन की किस्म एवं जमानत आदि पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है, किन्तु इनकी जानकारी भी आवश्यक है कि निगम द्वारा दी जानेवाली सहायता का उपयुक्त ढंग से उपयोग होता है अथवा नहीं। साथ ही, निगम किसी कम्पनी अथवा फर्म की आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव भी दे सकती है।

निगम के साधन (Resources of the Industrial Finance Corporation)—औद्योगिक संस्थाओं को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए निगम को साधनों की आवश्यकता पड़ती है जिसे वह निम्न प्रकार से प्राप्त करता है :—

(क) शेयर पूँजी (Share capital):—सर्वप्रथम तो निगम की अधिकृत पूँजी 10 करोड़ रुपये है जो 5000 रुपये प्रति शेयर की दर से 20,000 पूर्ण प्रदत्त हिस्सों में विभाजित है। अबतक निगम ने 835 करोड़ रुपये के 16,700 हिस्से जारी किये हैं।

(ख) जमा (Deposit)—निगम जनता का जमा भी स्वीकार कर सकता है, किन्तु इस प्रकार के जमा की रकम 10 करोड़ रुपये से अधिक नहीं हो सकती तथा इसका भुगतान पाँच वर्षों के बाद ही किया जा सकता है।

(ग) बन्धक एवं ऋण-पत्र (Bonds and Debentures)—इसके अतिरिक्त निगम को बाजार में अपने बॉण्ड तथा ऋण-पत्रों की बिक्री का भी अधिकार प्राप्त है, किन्तु इनका मूल्य निगम की परिदत्त पूँजी तथा सुरक्षित कोष के पाँच गुना से अधिक नहीं हो सकता। इस प्रकार



निगम की कुल परिदत्त पूँजी जब 10 करोड़ रुपये हो जायगी और सुरक्षित कोष में 10 करोड़ रुपये संग्रह हो जायेंगे तो अपने पूर्ण विकसित रूप में यह बाजार में बौण्ड अथवा ऋण-पत्र बेचकर 100 करोड़ रुपये तक प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार जनता का जमा, परिदत्त पूँजी, सुरक्षित कोष तथा बौण्ड एवं ऋण-पत्र सभी मिलाकर निगम के पास कुल 130 करोड़ रुपये तक जमा हो जा सकता है। मार्च, 1966 ई० तक निगम ने कुल 41 करोड़ रुपये का ऋण-पत्र जारी किया था तथा सरकार से जून, 1967 तक 67.5 करोड़ रुपये का ऋण लिया था।

इस प्रकार निगम विभिन्न साधनों से पूँजी प्राप्त कर सकता है। किन्तु देश के उद्योगों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए निगम के साधन के वर्तमान स्रोतों को पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। इससे निगम अपने कार्यों का सफलतापूर्वक सम्पादन नहीं कर सकता। अतः इसे और अधिक साधनों की आवश्यकता है। इस उद्देश्य से 1953 ई० के एक संशोधन के अनुसार निगम को 18 माह के लिए रिजर्व बैंक से 3 करोड़ रुपये तक ऋण लेने का अधिकार दिया गया। साथ ही, पुनर्निर्माण अथवा विकास के कार्यों के लिए निगम को विश्व बैंक से भी कर्ज लेने का अधिकार दिया गया है। 1957 ई० के एक दूसरे संशोधन के अनुसार निगम को और भी बहुत-से अधिकार दिये गये हैं जिससे वह अपने साधनों में वृद्धि कर सकता है।

**निगम के कार्यों का व्योरा :—**अबतक निगम की स्थापना के प्रायः 30 वर्ष समाप्त हो चुके हैं जिस बीच निगम ने बहुत-से महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन किया है। निगम द्वारा बहुत-सी औद्योगिक संस्थाओं को दीर्घकालीन कर्ज प्रदान किया गया है। जून, 1977 ई० के अन्त तक निगम<sup>1</sup> द्वारा कुल 547 करोड़ रुपये के ऋण की स्वीकृति दी गयी थी जिसमें से 459 करोड़ रुपये ऋण का वितरण किया गया था। इसमें से अधिकांश ऋण नयी संस्थाओं को दिया गया है जिन्होंने स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद कार्य प्रारम्भ किया था। 1957 ई० के संशोधन के अनुसार राष्ट्रीय महत्त्व की संस्थाएँ केन्द्रीय अथवा राज्य सरकार या किसी बैंक की गारण्टी देकर निगम से ऋण ले सकती हैं। जून 1975 में समाप्त होनेवाले वर्ष में 91 करोड़ रुपये के ऋण की स्वीकृति दी गयी थी तथा 56 करोड़ रुपये ऋण दिया गया था।

### निगम के कार्यों का मूल्यांकन

(An Appraisal of the Working of the Corporation)

इस प्रकार निगम औद्योगिक वित्त प्रदान करने के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य करता है, किन्तु कई-एक बातों को

लेकर निगम के कार्यों की आलोचना भी की गयी है जिसमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

(1) सर्वप्रथम आलोचना यह है कि निगम का कार्य रुढ़िवादी ढंग से चलाया जाता है जिससे इच्छित लाभ नहीं प्राप्त हो पाता। निगम ने अबतक आर्थिक सहायता की मांग करनेवाले अधिकांश आवेदन-पत्रों को अस्वीकृत कर दिया है। साथ ही, आवेदन-पत्रों पर विचार करने में निगम द्वारा अनावश्यक रूप से देर भी की जाती है जिससे उद्योगों को उचित समय पर सहायता नहीं मिल पाती। 1948 ई० से 1962 ई० के बीच 15 वर्षों में प्रायः 222 करोड़ रुपये ऋण की मांग के लिए 822 आवेदन-पत्र दिये गये थे जिनमें से केवल 130.27 करोड़ रुपये की माँगवाले 427 आवेदन-पत्रों को ही स्वीकृत किया गया। निगम के अधिकारियों के अनुसार आवेदन-पत्रों की इस अत्यधिक अस्वीकृति का मुख्य कारण आवेदन-पत्रों के साथ उचित योजना का अभाव बतलाया जाता है। निगम के विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि निगम ने आवेदन-पत्रों की स्वीकृति में पक्षपात दिखलाया है। इस पक्षपात के आरोप की जाँच के लिए भारत सरकार द्वारा निगम के कार्यों की जाँच के लिए एक समिति की नियुक्ति की गयी थी जिसने निगम के इसके विरुद्ध लगाये गये पक्षपात के अभियोग से मुक्त कर दिया है।

(2) निगम के विरुद्ध दूसरी आलोचना यह दी जाती है कि यह ऋण के लिए ब्याज अधिक लेता है। आजकल निगम द्वारा प्रायः 9 प्रतिशत वार्षिक ब्याज लिया जाता है। इसमें से निर्धारित समय पर ऋण चुकानेवालों को  $\frac{1}{2}$  प्रतिशत की छूट दी जाती है। निगम मुख्यतः दीर्घकालीन ऋण प्रदान करता है। दीर्घकालीन ऋण के लिए ब्याज की यह दर निश्चय ही अधिक है। अतः अधिकांश कम्पनियाँ निगम से ऋण लेना नहीं चाहती हैं। निगम के ऋण को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए ब्याज की दर में कमी आवश्यक है।

(3) निगम द्वारा अभी तक बहुत कम रकम ऋण के रूप में दी गयी है। जून 1977 ई० के अन्त तक निगम ने कुल 547 करोड़ रुपये ऋण की स्वीकृति दी थी जिसमें से 459 करोड़ रुपये यानी कुल स्वीकृत ऋण का केवल 82 प्रतिशत भाग ही दिया गया था। इससे स्पष्ट है कि अभी तक निगम ने वास्तव में बहुत ही कम रकम ऋण के रूप में दिया है। इस सम्बन्ध में निगम के अधिकारियों का कहना है कि इसका कारण समुचित आवेदन-पत्रों का अभाव है, किन्तु यह तथ्यहीन जान पड़ता है; क्योंकि निगम के पास आनेवाले अधिकांश आवेदन-पत्रों को अस्वीकृत कर दिया जाता है। साथ ही, उपयुक्त आवेदन-पत्रों के अभाव की जिम्मेवारी भी निगम के अधिकारियों पर ही



है। इनके असहयोग तथा विलम्ब की नीति के फलस्वरूप आवेदन-पत्रों का अभाव बना रहता है।

(4) निगम के विरुद्ध एक आलोचना यह भी दी जाती है कि निगम अभी तक बहुत कम कम्पनियों के अंशों एवं ऋणों-पत्रों का अभिगोपन (Under-writing) किया है। जून, 1967 ई० तक निगम ने केवल 22 करोड़ रुपये के अभिगोपन की स्वीकृति प्रदान की थी। यह निश्चय ही बहुत कम है। इससे स्पष्ट है कि निगम ने अबतक अपने कार्य को मुख्यतः कम्पनी को ऋण प्रदान करने तक ही सीमित रखा है। इस सम्बन्ध में निगम के तत्कालीन अध्यक्ष श्री लाला श्री राम ने निगम की एक सामान्य बैठक में बतलाया था कि 'औद्योगिक वित्त निगम का उद्देश्य पूँजी बाजार के पूरक के रूप में कार्य करना है न कि पूँजी बाजार को विलकुल हटाकर स्वयं उसका स्थान ले लेना है।' किन्तु, अध्यक्ष का यह अभिमत निगम के उद्देश्यों को स्पष्ट नहीं करता। वास्तव में, अधिकारियों द्वारा निगम के उद्देश्यों के सम्बन्ध में उचित दृष्टिकोण नहीं अपनाया जाता है। यदि देश में विकसित पूँजी बाजार होता तो इस प्रकार के निगम की स्थापना की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

(5) निगम के विरुद्ध कुछ आलोचकों का कहना है कि निगम द्वारा पूर्व विकसित राज्य को ही अधिकांश ऋण दिये गये हैं। उदाहरणार्थ जून, 1966 ई० तक निगम द्वारा दिये गये कुल ऋण का 45 प्रतिशत भाग केवल महाराष्ट्र, मद्रास तथा पश्चिमी बंगाल जैसे औद्योगिक राज्यों को ही दिया गया था। इसी प्रकार उद्योगों के चुनाव में भी यही बात पायी जाती है। अधिकांश ऋण उन्हीं उद्योगों के अन्तर्गत की कम्पनियों को दिये जाते हैं, जो पहले से ही विकसित स्थिति में हैं। वास्तव में, निगम को ऋण प्रदान करने में पिछड़े राज्यों तथा अविकसित उद्योगों को प्राथमिकता देनी चाहिए।

(6) निगम द्वारा केवल पब्लिक लिमिटेड कम्पनियों एवं सहकारी संस्थाओं को ही ऋण दिये जाते हैं। अतः प्राइवेट कम्पनियाँ तथा साझेदारी की संस्थाएँ इस लाभ से सर्वथा वंचित रह जाती हैं। यह भी उचित नहीं जान पड़ता।

(7) निगम के अधीन एक 'यांत्रिक-जाँच-सह-आर्थिक अनुसंधान विभाग' (Technical Investigation-cum Economic Research Department) की बड़ी आवश्यकता है। इसके अभाव में आवेदन-पत्रों की समुचित जाँच में निगम की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतः, निगम के तत्वावधान में एक आर्थिक अनुसंधान विभाग की स्थापना अति आवश्यक है।

सूचेता कृपलानी कमिटी की सिफारिशें :—इस प्रकार औद्योगिक वित्त निगम के विरुद्ध अनेक आलोचनाएँ दी

जाती हैं जिनमें से अधिकांश उपयुक्त जान पड़ती हैं। निगम के प्रथम चार वर्षों की कार्यवाही से लोगों में घोर निराशा व्याप्त हो गयी थी तथा संसद् में निगम के विरुद्ध पक्षपात एवं विभेद का आरोप लगाया गया। फलतः भारत सरकार ने निगम के कार्यों की विस्तृत जाँच के लिए श्रीमती सुचेता कृपलानी की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की जिसने अपना प्रतिवेदन 7 मई, 1953 ई० को प्रस्तुत किया। समिति ने निगम को उसके विरुद्ध लगाये गये पक्षपात के अभिवाग से मुक्त कर दिया। किन्तु निगम की कार्यवाही में आवश्यक सुधार के लिए समिति ने बहुत-से सुझाव प्रस्तुत किये जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं :—

(1) अवैतनिक अध्यक्ष की जगह पर निगम के लिए स्थायी वैतनिक अध्यक्ष (Wholtime Paid-Chairman) की नियुक्ति की जानी चाहिए;

(2) संचालक-मंडल के सदस्यों में एक अर्थशास्त्री (Economist), एक व्यवस्थापन विशेषज्ञ (Management Expert) तथा एक चार्टर्ड एकाउन्टेण्ट (Chartered Accountant) का होना आवश्यक है;

(3) निगम के प्रत्येक शाखा-कार्यालय में एक क्षेत्रीय सलाहकार परिषद् (Regional Panel) का होना आवश्यक है;

(4) यदि निगम के किसी संचालक का सम्बन्ध किसी ऐसी संस्था से है जिसने ऋण के लिए आवेदन किया हो तो इस प्रकार की संस्था को ऋण देने के लिए संचालक-मंडल की बैठक में, जिसमें वोट देनेवाले कम-से-कम दो-तिहाई सदस्य उपस्थित हों, सर्वसम्मति से स्वीकृति आवश्यक है;

(5) ऋण की स्वीकृति में अनावश्यक विलम्ब को यथासम्भव कम करने का प्रयास करना चाहिए;

(6) अगले तीन वर्षों के लिए एक फर्म के 50 लाख रुपये से अधिक ऋणवाले सभी आवेदन-पत्रों को केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति के लिए भेज देना चाहिए; तथा

(7) निगम को प्रतिवर्ष अपनी वार्षिक कार्यवाही का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना चाहिए एवं संचालक मण्डल की बैठक दिल्ली के साथ-साथ बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास-जैसे प्रमुख व्यावसायिक केन्द्रों में भी होनी चाहिए।

सरकार द्वारा समिति की अधिकांश सिफारिशें स्वीकार कर ली गयी हैं। 6 अगस्त, 1955 ई० को एक स्थायी वैतनिक अध्यक्ष की नियुक्ति की गयी। सरकार ने निगम को इसके संचालक मण्डल की बैठकें कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में भी करने तथा अपनी कार्यवाही के सम्बन्ध में एक विस्तृत वार्षिक विवरण प्रकाशित करने का निर्देश



दिया। साथ ही, निगम को इस बात का भी निर्देश दिया गया कि ऋण की स्वीकृति देते समय 50% की न्यूनतम सीमा का ध्यान रखना चाहिए तथा कर्ज लेनेवाली कम्पनी की आय की क्षमता का विशेष रूप से अनुमान लगा लेना चाहिए। साथ ही, किसी एक कम्पनी अथवा आवेदक को 20 लाख रुपये के अधिक कर्ज की स्वीकृति देने के पूर्व केन्द्रीय सरकार की अनुमति आवश्यक बना दी गयी है। इस प्रकार समिति के सुझावों के आधार पर निगम के कार्यों में आवश्यक सुधार लाने का प्रयत्न किया गया है। इससे आशा की जाती है कि निगम देश के औद्योगिक विकास में विशेष रूप से सहायक हो सकेगा।

### राज्य वित्तीय निगम

(State Financial Corporation)

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम का कार्य-क्षेत्र सीमित है। यह केवल बड़े पैमाने के उद्योगों के अन्तर्गत की पब्लिक लि० कम्पनियों तथा निर्माण कार्य में लगी सहकारी संस्थाओं को ही कर्ज प्रदान करता है। अतः, मध्यम एवं लघु उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से सितम्बर, 1951 ई० में एक 'राज्य वित्तीय निगम अधिनियम' (The State Financial Corporations Act) पारित हुआ। इस अधिनियम के अनुसार विभिन्न राज्यों में राज्य वित्तीय निगमों की स्थापना की जाने लगी। इस समय देश में 18 राज्य वित्तीय निगम हैं। मार्च, 1974 को इनकी परिदत्त पूँजी 263 करोड़ रुपये थी। राज्य वित्तीय निगमों का संगठन भी मुख्यतः औद्योगिक वित्त निगम के आधार पर ही किया गया है। फिर भी, इनमें कुछ महत्वपूर्ण अन्तर हैं। सर्वप्रथम तो औद्योगिक वित्त निगम केवल पब्लिक लिमिटेड कम्पनियों तथा निर्माण कार्य में लगी सहकारी संस्थाओं को सहायता देता है; किन्तु राज्य वित्तीय निगम प्राइवेट लिमिटेड कम्पनियों, साझेदारों तथा व्यक्तिगत उपक्रमों को भी सहायता प्रदान कर सकते हैं। दूसरा अन्तर यह है कि जबकि औद्योगिक वित्त निगम के हिस्से केवल केन्द्रीय सरकार, रिजर्व बैंक, बीमा कम्पनियाँ, अनुसूचित बैंकों तथा इसी प्रकार की अन्य वित्तीय संस्थाएँ खरीद सकती हैं, राज्य वित्तीय निगम के हिस्से व्यक्ति-विशेष भी उनकी कुल पूँजी के 25 प्रतिशत तक खरीद सकते हैं। तीसरा अन्तर यह है कि औद्योगिक वित्त निगम 25 वर्षों के लिए कर्ज की गारंटी दे सकता है, किन्तु राज्य वित्तीय निगम 20 वर्षों के लिए ही गारंटी दे सकता है।

1951 ई० के अधिनियम के अनुसार किसी राज्य वित्तीय निगम की अधिकृत पूँजी कम-से-कम 50 लाख रुपये तथा अधिक-से-अधिक 5 करोड़ रुपये हो सकती है। महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश तथा आंध्र राज्यों के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यों के वित्त निगमों की अधिकृत पूँजी

2 करोड़ रुपये तथा परिदत्त पूँजी 1 करोड़ रुपये है। उत्तर प्रदेश में अधिकृत पूँजी 3 करोड़ रुपये तथा आन्ध्र एवं महाराष्ट्र में 4 करोड़ रुपये है। इसकी पूँजी के सम्बन्ध में राज्य सरकार द्वारा गारंटी दी जाती है। औद्योगिक वित्त निगम की तरह राज्य वित्तीय निगम भी बाँड तथा ऋण-पत्रों की बिक्री द्वारा साधन जमा कर सकते हैं। किन्तु इस प्रकार जमा की गयी रकम इसकी परिदत्त पूँजी एवं सुरक्षित कोष के पाँच गुने से अधिक नहीं हो सकती। प्रत्येक निगम का संचालन 10 सदस्यों के एक संचालक-मण्डल द्वारा होता है जिनमें राज्य सरकार द्वारा मनोनीत 3, रिजर्व बैंक द्वारा 1, औद्योगिक वित्त-निगम द्वारा 1, राज्य सरकार द्वारा मनोनीत प्रबन्ध संचालक तथा अन्य अंशधारियों के अलग-अलग 4 सदस्य रहते हैं। राज्य वित्तीय निगम अधिनियम के अनुसार ये निगम औद्योगिक संस्थाओं को 20 वर्षों की अवधि तक चुकाये जानेवाले ऋण अथवा अग्रिम दे सकते हैं। साथ ही, उद्योग-धन्धों द्वारा लिए जानेवाले ऐसे ऋणों की गारंटी कर सकते हैं जो 2 वर्षों के अन्दर ही वापस होनेवाली हों। इसके अतिरिक्त ये निगम किसी कम्पनी के हिस्से अथवा ऋण-पत्रों के भुगतान का दायित्व इस शर्त पर ले सकते हैं कि सात वर्षों के अन्दर ही इनकी बिक्री हो जाय। 1956 ई० के एक संशोधन के अनुसार इन निगमों को केन्द्रीय सरकार राज्य सरकार तथा औद्योगिक वित्त-निगम के एजेंट के रूप में कार्य करने का भी अधिकार मिला है। साथ ही, इस संशोधन के द्वारा दो अथवा तीन राज्यों के लिए सम्मिलित रूप से भी एक निगम की स्थापना की जा सकती है। 1962 ई० के राज्य वित्तीय निगम अधिनियम में एक संशोधन के अनुसार इन निगमों को औद्योगिक संस्थाओं द्वारा अनुसूचित बैंकों तथा राज्य सहकारी बैंकों से लिए जानेवाले ऋणों की गारंटी प्रदान करने का अधिकार प्रदान किया गया है। साथ ही, इस संशोधन द्वारा राज्य वित्तीय निगमों को किसी एक औद्योगिक संस्था को दिये गये कर्ज की मात्रा 10 लाख से बढ़ाकर 20 लाख रुपये कर दी गयी।

इन निगमों ने अब तक उद्योग-धन्धों को पर्याप्त मात्रा में कर्ज एवं अग्रिम के रूप में वित्तीय सहायता प्रदान की है। केवल आन्ध्र एवं महाराष्ट्र के निगमों ने अब तक क्रमशः 17 लाख एवं 3.75 लाख रुपये का ऋण-पत्र खरीदा है। साथ ही, इन निगमों ने अबतक न तो औद्योगिक संस्थाओं द्वारा जारी किये गये हिस्सों के भुगतान का दायित्व ग्रहण किया है, न इनके द्वारा लिये जानेवाले कर्जों की गारंटी ही दी है। मार्च, 1977 ई० तक 18 राज्य वित्तीय निगमों द्वारा कुल 928 करोड़ रुपये ऋण की स्वीकृति दी गयी थी तथा 620 करोड़ रुपये ऋण का प्रयोग किया जा चुका था। केवल 1976-77 में इन निगमों ने 168.3 करोड़ रुपये ऋण की स्वीकृति दी थी



• जिसमें से 105 करोड़ रुपये ऋण का वितरण किया गया था।

राज्य-वित्तीय निगमों की कार्यवाही का मूल्यांकन : यहाँ पर राज्य वित्तीय निगमों के कार्यों पर ध्यान देना अनिवार्य है। लघु एवं मध्यम पैमाने के उद्योगों को बहुधा तीन प्रकार की पूँजी की आवश्यकता होती है : (1) प्रारम्भिक विनियोग के लिए पूँजी, (2) विस्तारीकरण तथा विकास की योजनाओं के लिए कर्ज तथा (3) दैनिक कार्यवाही के लिए कार्यशील पूँजी। अधिकांश राज्य वित्तीय निगमों ने अभी तक मुख्यतः विस्तारीकरण के लिए ही कर्ज प्रदान किया है तथा थोड़ी-बहुत कार्यशील पूँजी भी दी है, किन्तु प्रारम्भिक पूँजी बिल्कुल नहीं दी गयी है। परन्तु मध्यम एवं लघु उद्योगों को विस्तारीकरण के लिए कर्ज के अतिरिक्त कार्यशील पूँजी की भी आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार की अधिकांश संस्थाओं के समक्ष कार्यशील पूँजी के अभाव की समस्या ही बहुत उग्र है जिससे इनका दैनिक कार्य ही रुक जाता है। इस प्रकार की संस्थाओं को बैंकों द्वारा भी बहुत ही कम पूँजी मिलता है क्योंकि इनकी वस्तुएँ बहुधा बैंकों द्वारा जमानत के रूप में स्वीकृत नहीं की जाती है। अतः राज्य वित्तीय निगमों द्वारा इन्हें कार्यशील पूँजी की भी व्यवस्था की जानी चाहिए अन्यथा अधिकांश उद्योगों को इससे कोई विशेष लाभ नहीं होता।

इस सम्बन्ध में दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि राज्य वित्तीय निगमों द्वारा मध्यम आकार की संस्थाओं को ही अधिकांशतः सहायता दी जाती है। लघु उद्योग इस लाभ से बहुधा वंचित रह जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि लघु पैमाने की औद्योगिक संस्थाओं को कर्ज देने में जोखिम अधिक रखती है। साथ ही, इस प्रकार की संस्थाएँ न तो अंकेक्षण की मान्य पद्धति (accepted auditing and accounting methods) का ही अनुकरण करती हैं और न इनके पास जमानत के लिए आवश्यक मात्रा में स्थायी सम्पत्ति ही होती है। किन्तु यदि लघु उद्योगों को पंचवर्षीय योजनाओं में निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति के योग्य बनाना है तो राज्य वित्तीय निगमों द्वारा इन्हें अधिकाधिक मात्रा में कर्ज देना आवश्यक है। इस उद्देश्य से राज्य वित्तीय निगमों को अपनी नीति में आवश्यक संशोधन करना चाहिए तथा थोड़ी बहुत-जोखिम उठाने के लिए तैयार रहना चाहिए।

राज्य वित्तीय निगम से कर्ज लेने में खर्च बहुत अधिक पड़ता है। अधिकांश राज्यों में वार्षिक व्याज की दर 6 प्रतिशत है। उसके अतिरिक्त उधार लेने वाली संस्थाओं को रजिस्ट्रेशन फीस, स्टाम्प कर आदि के रूप में भी कुछ व्यय करना पड़ता है। इस प्रकार राज्य वित्तीय निगम से कर्ज लेने का कुल व्यय लगभग 9 से 10 प्रतिशत तक

पड़ता है जो लघु एवं मध्यम उद्योगों के लिए साधारण-तया महंगा होता है। इसका कारण यह है कि निगम द्वारा इसके अंशधारियों को 3½ प्रतिशत लाभ की गारंटी रहती है जिससे ये अधिक व्याज लेने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

कुछ राज्यों में तो वित्तीय निगमों द्वारा प्रदत्त ऋण की मात्रा बहुत ही कम है। मार्च 1977 तक सबसे अधिक महाराष्ट्र वित्त निगम ने 159 करोड़ रुपये, गुजरात ने 116 करोड़ रुपये, तमिलनाडु ने 92 करोड़ रु० तथा उत्तर प्रदेश ने 55 करोड़ रुपये ऋण के रूप में स्वीकृत किया था। विहार राज्य निगम ने केवल 48 करोड़ रुपये के ऋण की स्वीकृति प्रदान की थी।

इस सम्बन्ध में सुझाव के तौर पर यह कहा जा सकता है कि राज्य वित्तीय निगम से लिए जाने वाले कर्जों पर स्टाम्प कर तथा रजिस्ट्रेशन फीस को छूट दी जानी चाहिए। इससे इनका कर्ज कुछ सस्ता पड़ेगा। इस प्रकार की छूट आजकल पंजाब, असम एवं राजस्थान में दी जाती है।

### औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम (Industrial Credit and Investment Corporation)

1954 ई० में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा विश्व बैंक द्वारा आयोजित एक प्रतिनिधि मण्डल भारत आया जिसने भारत सरकार से इंग्लैंड के 'इण्डस्ट्रियल एण्ड कर्मासियल कॉरपोरेशन' की तरह एक निगम बनाने का सुझाव दिया। इस प्रतिनिधि मण्डल के सुझावों के आधार पर 5 जनवरी, 1955 ई० को 'इण्डस्ट्रियल क्रेडिट एण्ड इन्वेस्ट-मेंट कॉरपोरेशन' नामक एक प्राइवेट लि० कम्पनी की स्थापना की गयी। इस निगम की अधिकृत पूँजी 25 करोड़ रुपये तथा परिदत्त पूँजी 5 करोड़ रुपये है। इसके हिस्सेदार भारतीय बैंक, बीमा कम्पनियाँ तथा उद्योगपतियों के अतिरिक्त अमेरिका तथा ब्रिटेन के भी कुछ व्यक्ति एवं संस्थाएँ हैं। इस प्रकार निगम के हिस्सेदार दूर-दूर तक विस्तृत हैं। प्रारम्भिक पूँजी के अतिरिक्त निगम को यु० एस० टेक्निकल कॉरपोरेशन एडमिनिस्ट्रेशन से 7.5 करोड़ रुपये की राशि जमा के रूप में मिली है जिस पर इसे कोई व्याज नहीं देना पड़ता है। साथ ही, इसे विश्व बैंक से 9.5 करोड़ रुपये का एक कर्ज तथा संयुक्त राज्य विकास ऋण-कोष (U. S. Development Loans Fund) से 2.38 करोड़ रुपये ऋण के रूप में मिले हैं जिसकी गारंटी भारत सरकार द्वारा दी गयी है। इस प्रकार प्रारम्भ में ही निगम को पर्याप्त रकम कार्यशील पूँजी के रूप में मिल गयी है। निगम अपनी परिदत्त पूँजी एवं जमा की रकम तीन गुना तक उधार भी ले सकता



है। निगम का प्रबन्ध एक संचालक मण्डल द्वारा होता है जिसमें 11 सदस्य तथा एक जेनरल मैनेजर होते हैं। इन संचालकों में 7 भारतीय, 2 ब्रिटिश, 1 अमेरिकी तथा 1 वाणिज्य एवं उद्योग मंत्रालय के प्रतिनिधि हैं। मार्च, 1971 ई० के अन्त में निगम का कुल साधन 194 करोड़ रुपये था। इसमें से 71 करोड़ रुपये देशी मुद्रा के रूप में तथा 123 करोड़ रुपये विदेशी मुद्रा में था।

इस निगम का प्रमुख कार्य निजी क्षेत्र के औद्योगिक उपक्रमों के निर्माण, विस्तार एवं आधुनिकीकरण में सहायता प्रदान करना है। निगम नये उद्योगों की स्थापना में भी सहायता करता है तथा इन्हें इक्विटी कैपिटल (Equity Capital) प्रदान करता है। (The Corporation aims to stimulate the promotion of new industries, expansion and modernisation of existing one, to encourage the inflow and participation of foreign capital in Indian private enterprises and to furnish technical and managerial aid.) यह इस निगम का प्रमुख एवं नया कार्य होगा जो औद्योगिक वित्त निगम द्वारा नहीं किया जाता है। निगम व्यक्तिगत क्षेत्र के औद्योगिक उपक्रमों में देशी एवं विदेशी व्यक्तिगत पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहन प्रदान करेगा। यह नयी कम्पनियों के अंशों एवं प्रतिभूतियों का अभिगोपन करेगा तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी यांत्रिक एवं प्रशासकीय सलाह भी देगा। औद्योगिक वित्त एवं ऋण निगम ने अब तक कितनी ही कम्पनियों को सलाह तथा आर्थिक सहायता प्रदान की है। इस प्रकार यह महत्वपूर्ण कार्य रहा है। इसका कार्यक्षेत्र भी बहुत अधिक विस्तृत है। किन्तु निगम एक पूर्णतः ऋण देनेवाली संस्था ही नहीं है जिसका सम्बन्ध केवल उस प्रतिभूति से है जो बदले में इसे दी जा रही हो, वरन् इसने कई ऐसे कार्यों को भी सम्पन्न किया है जिन्हें इस प्रकार की अन्य संस्थाओं ने भारत में कभी नहीं किया है। इसने अंशों के अभिगोपन (underwriting) का कार्य किया है तथा नयी कम्पनियों की पूँजी में भी भाग लिया है। मार्च 1978 तक इस निगम ने 782 करोड़ रुपये की वित्तीय सहायता प्रदान करने की स्वीकृति दी थी जिसमें से 571 करोड़ रुपये का ऋण दिया जा चुका था। कुल स्वीकृत ऋण का 37 प्रतिशत महाराष्ट्र, 23 प्रतिशत गुजरात तथा 10 प्रतिशत तमिलनाडु को दिया गया।

### राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (National Small Scale Industries Corporation)

लघु उद्योगों को विपणन एवं यन्त्र-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से फरवरी, 1954 ई० में एक राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम की स्थापना की गयी। इस निगम द्वारा ऐसे लघु उपक्रमों को सहायता प्रदान की

जाती है जिनमें 5 लाख रुपये से कम की पूँजी का विनियोग हुआ हो तथा शक्ति द्वारा प्रचारित उद्योगों में अधिक-से-अधिक 50 एवं बिना शक्ति द्वारा प्रचालित उद्योगों में 100 व्यक्ति कार्य करते हों। निगम एक प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी है जिसकी अधिकृत पूँजी 10 लाख रुपये की है। इसकी सम्पूर्ण पूँजी भारत सरकार द्वारा प्रदान की गयी है। भारत सरकार इस निगम की कार्यशील पूँजी में वृद्धि के लिए आवश्यकता-नुसार अधिक पूँजी भी प्रदान करेगी। यह निगम लघु उद्योग प्रमंडल (Small Scale Industries Board) के निकटतम सम्पर्क में कार्य कर रहा है। यह लघु उद्योगों को 'हायर-परचेज' के आधार पर यन्त्र इत्यादि प्रदान करता है। 'हायर-परचेज' की शर्तें इस प्रकार हैं— साधारण प्रकार के यन्त्रों के लिए प्रारम्भ में मूल्य का 20 प्रतिशत तथा विशेष प्रकार के यन्त्रों के लिए मूल्य का 33 $\frac{1}{3}$  प्रतिशत देना पड़ता है। सूद की दर 5 प्रतिशत निश्चित की गयी है। राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम भविष्य में लघु उद्योगों की वस्तुओं के विक्रय की व्यवस्था करेगा। इस निगम के चार सहायक निगम—बम्बई, मद्रास, कलकत्ता तथा नयी दिल्ली में स्थापित किये गये हैं। विपणन एवं 'हायरपरचेज' सम्बन्धी सुविधाओं के अतिरिक्त यह निगम इन उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे पदार्थों की भी व्यवस्था करता है। इस निगम ने प्रारम्भ से लेकर अबतक लगभग 7600 लघु उपक्रमों की स्थापना में योगदान दिया है।

### यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया (Unit Trust of India)

यूनिट ट्रस्ट एक मध्यस्थ वित्तीय संस्था है जिसका उद्देश्य छोटे-छोटे विनियोजकों की अतिरिक्त रकम को जमा करना और उन्हें विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों में विनियोग करना है। इस प्रकार के विनियोग से प्राप्त आय को खर्च काट देने के बाद यूनिट खरीदने वालों के बीच लाभांश के रूप में वितरित कर दिया जाता है। भारत में यूनिट-ट्रस्ट ऑफ इण्डिया की स्थापना Unit Trust of India Act, 1963 के अनुसार की गयी है तथा 1 जुलाई, 1964 ई० से इसने कार्य करना प्रारम्भ किया। इसकी प्रारम्भिक पूँजी 5 करोड़ रुपये की है जिसमें से 2 $\frac{1}{2}$  करोड़ रुपये रिजर्व बैंक द्वारा, 75 लाख रुपये जीवन बीमा निगम द्वारा, 75 लाख रुपये स्टेट बैंक तथा इसकी सहायक संस्थाओं द्वारा एवं 1 करोड़ रुपया अन्य अनुसूचित बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा प्रदान किया गया है।

इसके प्रत्येक यूनिट की कीमत 10 रुपये है जो समय-समय पर ट्रस्ट द्वारा निर्धारित मूल्य पर जनता को बेचे जाते हैं। कोई एक व्यक्ति कितना यूनिट खरीद सकता है



इसकी कोई निश्चित सीमा नहीं है। इसकी व्यवस्था एक बोर्ड ऑफ ट्रस्टीज के अधीन है जिसके चयरमैन एवं चार सदस्यों की नियुक्ति रिजर्व बैंक द्वारा, एक सदस्य जीवन बीमा निगम द्वारा, एक स्टेट बैंक द्वारा नामजद किये जाते हैं तथा शेष सदस्य-संस्थाओं द्वारा दो सदस्यों का निर्वाचन होता है।

भारत में इस प्रकार के एक बैंक की स्थापना दो कारणों से आवश्यक हो गयी थी। प्रथमतः देश की बढ़ती हुई औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वृहत् साधन वाली एक संस्था की आवश्यकता थी और द्वितीयतः औद्योगिक विकास के लिए वित्त प्रदान करने वाली विभिन्न संस्थाओं में समन्वय स्थापित करने के लिए भी एक शीर्ष संस्था (Apex Institution) की आवश्यकता थी।

इस प्रकार यूनिट ट्रस्ट देश के मध्यम एवं निम्न आयवाले वर्ग के लोगों की अतिरिक्त आय के विनियोग का एक अच्छा साधन प्रदान करता है। साथ ही, यह छोटी-छोटी वक्तों को जमा कर देश के आयोजित आर्थिक विकास में इन्हें प्रभावपूर्ण तरीके से प्रयोग भी करेगा। मार्च, 1974 ई० तक 146 करोड़ रुपये के यूनिट का शुद्ध-विक्रय (Net sale) हुआ था।<sup>1</sup> ट्रस्ट अपनी पूँजी का विनियोग भी करता है। निगम द्वारा 1972-73 में 8.5 प्रतिशत ब्याज दिया गया था। जून, 1971 ई० तक उसने 105 करोड़ रुपये का विनियोग किया था। वर्तमान समय में यह 8 प्रतिशत का लाभ दे रहा है।

### भारत का औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank of India)

30 अप्रैल, 1964 ई० को संसद् ने एक विधेयक स्वीकृत किया जिसके अनुसार 1 जुलाई, 1964 ई० को एक औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना की गयी जो उद्योगों को दीर्घ एवं मध्यकालीन साख प्रदान करता है। जापान, पश्चिमी जर्मनी, कनाडा आदि देशों में औद्योगिक विकास बैंक का पर्याप्त मात्रा में विकास हुआ है तथा इन देशों में संस्थागत वित्त प्रवन्ध के क्षेत्र में इन्होंने अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना भी एक ऐसी मुख्य संस्था के रूप में की गयी है जो उद्योगों को साख प्रदान करने वाली अन्य संस्थाओं की कार्यवाहियों में समन्वय स्थापित करेगा। साथ ही, यह औद्योगिक संस्थाओं की स्थापना, व्यवस्थापन तथा विस्तार (Promotion, management and expansion) के लिए भी ऋण प्रदान कर सकता है। औद्योगिक विकास बैंक की

अधिकृत पूँजी 50 करोड़ रुपये है जिसे बढ़ाकर बाद में 100 करोड़ रुपये तक किया जा सकता है तथा निर्गमित पूँजी अब 30 करोड़ रुपये है। बैंक की सम्पूर्ण पूँजी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा प्रदान की गयी है जो इसकी व्यवस्था के लिए भी पूर्ण रूप से उत्तरदायी है। रिजर्व बैंक का संचालक मंडल इस बैंक का भी संचालक मंडल है। इसे सरकार द्वारा 10 करोड़ रुपये का 30 वर्षों के लिए व्याजमुक्त ऋण दिया गया है। औद्योगिक विकास बैंक के साधनों में आगे चलकर वृद्धि की भी व्यवस्था है। यह केन्द्रीय सरकार से कर्ज प्राप्त कर सकता है, बॉण्ड तथा ऋण-पत्र बेच सकता है, रिजर्व बैंक के राष्ट्रीय औद्योगिक साख कोष [National Industrial Credit (Long term operation) Fund] से ऋण ले सकता है तथा एक वर्ष से अधिक के लिए जनता से जमा भी प्राप्त कर सकता है। 1976-77 में रिजर्व बैंक ने औद्योगिक विकास बैंक को 150 करोड़ रुपये के ऋण की स्वीकृति दी थी। अबतक रिजर्व बैंक ने इस प्रकार से विकास बैंक को 526 करोड़ रुपये ऋण प्रदान किया है। सितम्बर, 1963 ई० में (Refinance Corporation for Industries) को भी औद्योगिक बैंक में मिला दिया गया।

औद्योगिक विकास बैंक के कार्य (Functions of Industrial Development Bank):—औद्योगिक विकास बैंक दश में संस्थागत औद्योगिक वित्त प्रदान करने की शीर्षस्थ संस्था है, अतएव इसका कार्य-क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। बैंक निम्नांकित प्रधान कार्यों का संपादन करता है—

(क) ऋण प्रदान करना :—औद्योगिक विकास बैंक का प्रधान कार्य सभी प्रकार की औद्योगिक संस्थाओं को ऋण प्रदान करना है। राजकीय तथा निजी दोनों ही क्षेत्र की औद्योगिक संस्थाएँ बैंक से कर्ज ले सकती हैं। औद्योगिक विकास बैंक औद्योगिक संस्थाओं को प्रत्यक्ष अथवा विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं के माध्यम से भी कर्ज प्रदान कर सकता है।

(1) प्रत्यक्ष रूप में (Direct Assistance) भी औद्योगिक विकास बैंक औद्योगिक संस्थाओं को ऋण प्रदान कर सकता है। यह औद्योगिक प्रतिष्ठानों के हिस्से एवं ऋण-पत्रों (Shares, bonds and debentures) का क्रय कर सकता है। इतना ही नहीं यह औद्योगिक प्रतिष्ठानों द्वारा पूँजी बाजार से लिए जाने वाले ऋणों का अभिगोपन (under writing) भी कर सकता है। भारत में अभिगोपन करने वाली संस्थाओं के अभाव को देखते हुए बैंक का कार्य विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हो जाता है। बैंक द्वारा औद्योगिक प्रतिष्ठानों को दिये गये ऋण एवं अग्रिम को बैंक की इच्छा



पर इनके अंशों के रूप में भी परिवर्तित किया जा सकता है। इतना ही नहीं, बैंक औद्योगिक प्रतिष्ठानों द्वारा जारी किये गये व्यावसायिक पत्रों को स्वीकृत बट्टा अथवा पुनः बट्टा भी कर सकता है।

(ii) परोक्ष सहायता (Indirect Assistance) :— औद्योगिक विकास बैंक औद्योगिक प्रतिष्ठानों को परोक्ष रूप से वित्तीय सहायता प्रदान करने में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान करता है। ऐसा बैंक मुख्यतः पुनर्वित्त (Refinance) की सुविधा के द्वारा ही कर सकता है। सर्वप्रथम तो यह औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्तीय निगम तथा इसी प्रकार से अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा उसे 25 वर्षों तक दिये जाने वाले ऋण का पुनर्वित्त कर सकता है। द्वितीयतः, विकास बैंक व्यावसायिक तथा सहकारी बैंकों द्वारा औद्योगिक उपक्रमों को लेकर 10 वर्षों तक दिये जाने वाले ऋणों के लिए भी पुनर्वित्त की सुविधा प्रदान करता है। तृतीयतः, यह व्यावसायिक बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा निर्यात के लिए दिये जाने वाले मध्यकालीन ऋणों के लिए भी पुनर्वित्त की सुविधा प्रदान करता है।

(ख) प्रवर्तन तथा तकनीक आदि की सहायता :— औद्योगिक विकास बैंक औद्योगिक प्रतिष्ठानों के प्रवर्तन (Promotion) के कार्य में भी सहायता प्रदान करता है। इस उद्देश्य से यह निवेश तथा विपणन-सम्बन्धी जाँच-पड़ताल के अतिरिक्त तकनीकी जाँच में भी सहायता प्रदान करता है। इतना ही नहीं यह औद्योगिक उपक्रमों को तकनीकी एवं प्रशासनिक सेवाएँ भी उपलब्ध करता है।

इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि अन्य वैधानिक वित्तीय निगमों की तरह औद्योगिक विकास बैंक द्वारा स्वीकार्य प्रतिभूतियों के सम्बन्ध में कोई प्रतिबंध नहीं है। इस सम्बन्ध में बैंक अपनी स्वेच्छा से कार्य कर सकता है।

औद्योगिक विकास बैंक की कार्य-प्रणाली (The operations of the I. D. B. I.) :— इस प्रकार औद्योगिक विकास बैंक औद्योगिक उपक्रमों को ऋण प्रदान करता है, उनके ऋणों की गारंटी प्रदान करता है, इनके द्वारा निर्गमित अंशों एवं ऋण-पत्रों का अभिगोपन करता है, तथा पुनर्वित्त की सुविधा प्रदान करता है। वास्तव में, औद्योगिक विकास बैंक ने 1964 से अपना कार्य प्रारंभ किया तथा जून, 1977 ई० तक बैंक ने 2448 करोड़ रुपये की प्रभावपूर्ण सहायता की स्वीकृति दी जिसमें से 1622 करोड़ रुपये वास्तव में वितरित किये गये थे। इसमें से उद्योगों को प्रत्यक्ष सहायता के रूप में 348 करोड़ रुपये, औद्योगिक ऋणों के पुनः वित्त के रूप में 491 करोड़ रुपये था। सबसे अधिक खाद उद्योग को 17.3 प्रतिशत, यन्त्र

उद्योग को 15.9 प्रतिशत तथा वस्त्र उद्योग को 13 प्रतिशत दिया गया था। 1976-77 में इस बैंक ने 728 करोड़ रुपये के ऋण की स्वीकृति दी थी।

इस प्रकार औद्योगिक विकास बैंक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की सहायक संस्था के रूप में कार्य करता है। 1969 ई० में बैंक ने देश के पिछड़े क्षेत्रों को विशेष रूप से आर्थिक सहायता प्रदान करने का एक कार्यक्रम चलाया है। साथ ही, लघु प्रमाण उद्योगों को भी विशेष रियायती दर पर बैंक द्वारा सहायता प्रदान की जाती है। किन्तु इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में अभी सन्देह प्रकट किया जाता है। आलोचकों के अनुसार देश में विभिन्न प्रकार की विशेषज्ञ वित्तीय संस्थाओं के रहते हुए इस प्रकार की किसी पृथक् संस्था की आवश्यकता नहीं थी वरन् इन्हीं संस्थाओं को अधिक सुदृढ़ बनाना अधिक उत्तम होता। फिर भी यह कहा जा सकता है कि देश में औद्योगिक विकास की आवश्यकताओं को देखते हुए औद्योगिक विकास बैंक की आवश्यकता पर किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं प्रकट किया जा सकता है।

औद्योगिक विकास बैंक के ढाँचे में परिवर्तन (Restructuring of I. D. B. I.) :— अपने जीवन की अल्प अवधि में ही औद्योगिक विकास बैंक ने दीर्घ तथा मध्यम-कालीन ऋण प्रदान के क्षेत्र में अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य किया। किन्तु फिर भी कुछ आलोचकों ने इसकी यह कहकर आलोचना प्रारम्भ किया कि बैंक ने विकास बैंक के कार्यों का प्रभावपूर्ण तरीके से संपादन नहीं किया तथा यह औद्योगिक विकास की शुरुआत करने में भी सफल नहीं रहा। सरकार भी इन आलोचनाओं से तटस्थ नहीं रह सकी। अतएव दिसम्बर 1973 में एक विधेयक "Public Financial Institutions (Laws) Amendment Bill" संसद के समक्ष प्रस्तुत किया गया जिसमें विकास बैंक को रिजर्व बैंक से पृथक् करने की व्यवस्था की गयी। इस विधेयक की बहुत अधिक आलोचना हुई, फिर भी 1975 में विधेयक पारित हो गया। इसके अनुसार औद्योगिक विकास बैंक को रिजर्व बैंक से पृथक् कर फरवरी 1976 में एक स्वशासी निगम बना दिया गया। इस प्रकार औद्योगिक विकास अब एक स्वशासी निगम के रूप में काम करने लगा है। 1977 की औद्योगिक नीति के अंतर्गत औद्योगिक विकास बैंक को लघु तथा ग्रामीण उद्योगों को उनकी आवश्यकता-नुसार वित्त प्रदान करने का दायित्व सौंपा गया है।

निष्कर्ष :— इस प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में उद्योग-धन्धों को वित्तीय तथा अन्य प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करने के लिए विभिन्न प्रकार के वित्तीय निगमों एवं औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना की गयी है। ये निगम तथा बैंक देश के औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण



सहयोग प्रदान कर रहे हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। इन को ऋण, गारंटी तथा प्रारम्भिक पूँजी के रूप में पिछले विभिन्न वित्तीय संस्थाओं द्वारा निजी क्षेत्र की संस्थाओं कुछ वर्षों में दी गयी रकम का अन्दाजा लगता है—

वित्तीय संस्थाओं द्वारा दी गयी सहायता (कुल करोड़ रुपये में)<sup>1</sup>

| संस्थाएँ                      | 1968-69 | 1971-72 | 1972-73 | 1974-75 |
|-------------------------------|---------|---------|---------|---------|
| औद्योगिक विकास बैंक           | 48.6    | 140.4   | 92.4    | 167.4   |
| औद्योगिक वित्त निगम           | 22.7    | 28.7    | 47.5    | 37.0    |
| औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम | 37.0    | 39.7    | 49.5    | 45.4    |
| राज्य वित्तीय निगम            | 19.6    | 64.1    | 78.7    | 80.4    |
| राज्य औद्योगिक विकास निगम     | 4.4     | 23.6    | 33.5    | 26.7    |
| यूनिट ट्रस्ट                  | 10.3    | 15.0    | 10.2    | 7.6     |
| जीवन बीमा निगम                | 17.7    | 23.1    | 18.0    | 55.8    |
| कुछ                           | 160.3   | 334.6   | 329.8   | 420.3   |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि विभिन्न वित्तीय संस्थाओं द्वारा उद्योग-धन्धों को दिये जाने वाली साख की मात्रा में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

#### विशेष अध्ययन-सूची

1. Govt. of India : India, 1976
2. Reserve Bank : Report on Currency and Finance.
3. Reserve Bank of India Bulletins.

1. Reserve Bank of India : Report on Currency and Finance.



## विदेशी पूँजी एवं आर्थिक विकास

## (Foreign Capital and Economic Development)

भारत के आयोजित आर्थिक विकास में विदेशी पूँजी का महत्त्व (The role of Foreign capital in the Planned Economic Development of India) : भारत-जैसे अर्द्ध-विकसित देश के आर्थिक विकास में विदेशी पूँजी का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्रिटिश शासन-काल में विदेशी पूँजी ने भारत के खनिज-उद्योग, जूट, रेलवे तथा नहर आदि के विकास में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया था। किन्तु, उस समय विदेशी पूँजी का देश के आर्थिक पुनरुत्थान तथा सन्तुलित औद्योगिक विकास के लिए कभी भी प्रयोग नहीं किया गया था। इसके परिणामस्वरूप देश का औद्योगीकरण असंतुलित ढंग से हुआ जिसका देश की आर्थिक व्यवस्था पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। अतएव स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व लोग विदेशी पूँजी का भारत आना ठीक नहीं समझते थे। इसका प्रमुख कारण राजनैतिक था क्योंकि विदेशी पूँजी अधिकांशतः देश की प्रगति में बाधक सिद्ध होती थी।

किन्तु, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस समस्या का रूप ही बदल गया है। आज हमारे देश की पंचवर्षीय योजनाओं में बड़ी-बड़ी रकमों के विनियोग का आयोजन है जिन्हें देश के आंतरिक साधनों से प्राप्त करना प्रायः असम्भव है। अतः आज देश के औद्योगिक विकास के लिए विदेशी पूँजी की आवश्यकता एवं महत्त्व में वृद्धि हो गयी है। प्रायः ऐसा कहा जाता है कि अर्द्ध-विकसित देशों का आर्थिक विकास पूँजीगत साधनों के अभाव तथा पूँजी-निर्माण की कमी के फलस्वरूप अवर्ध-सा हो जाता है। अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देशों में जनसंख्या एवं प्राकृतिक साधनों की तुलना में पूँजी का अभाव रहता है। भारत के साथ तो यह बात विशेष रूप से पायी जाती है। हमारे देश की जनसंख्या विशाल है तथा यहाँ प्राकृतिक साधनों की भरमार है, किन्तु इसके समुचित उपयोग के लिए पूँजीगत साधनों एवं पूँजी दोनों का अभाव है। योजना आयोग (Planning Commission) के अनुसार, "भारत के विकास की योजनाएँ आन्तरिक साधनों से उपलब्ध वित्त की तुलना में बड़ी हैं। फलस्वरूप

हमारे अथक प्रयत्नों के बावजूद साधनों का कुछ अभाव रह ही जायगा जिसके लिए हमें विदेशों पर आश्रित रहना पड़ेगा।" अतः योजना आयोग के अनुसार वर्तमान स्थिति में द्रुतगति से औद्योगिक विकास के लिए विदेशी पूँजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है।<sup>1</sup> इससे देश के आर्थिक विकास में विदेशी पूँजी का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। भारत-जैसे अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देश में विदेशी पूँजी केवल आर्थिक विकास की गति को ही प्रभावित नहीं करती, वरन् इससे देश में बचत एवं विनियोग को भी प्रोत्साहन मिलता है।<sup>2</sup> इस प्रकार आर्थिक विकास में विदेशी पूँजी महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान कर सकती है। संसार के प्रायः अधिकांश देशों को अपने आर्थिक विकास के प्रारम्भिक काल में विदेशी पूँजी की सहायता लेनी पड़ी है। विदेशी पूँजी से विकास की गति में तीव्रता के साथ-साथ आंतरिक बचत को भी प्रोत्साहन मिलता है। इसकी सहायता से देश की बचत का आर्थिक साधनों के विकास में उपयोग किया जा सकता है। अतः विदेशी पूँजी की सहायता के बगैर देश में सन्तोषजनक आर्थिक प्रगति नहीं हो सकती। तृतीय एवं चतुर्थ पंचवर्षीय योजनाओं में विनियोग की राशि के अधिक होने तथा औद्योगीकरण पर अत्यधिक जोर देने के फलस्वरूप हमें पहले की अपेक्षा विदेशी पूँजी पर अधिक निर्भर करना पड़ रहा है।

## भारत में विदेशी पूँजी की मात्रा

## (Amount of Foreign Capital in India)

भारत में कुल कितनी विदेशी पूँजी का विनियोग हुआ है, इसका सही-सही अनुमान लगाना कठिन है। ब्रिटिश शासन-काल में विदेशी पूँजी भारत में इतने विभिन्न रूपों में आती थी कि इसे आँकने का कोई भी प्रयत्न केवल अनुमान मात्र ही रह जाता था। फिर भी इस सम्बन्ध में समय-समय पर विभिन्न अनुमान लगाए गए हैं। उदाहरण के लिए, 1911 ई० में सर जार्ज पैस (Sir George Pais) ने यह अनुमान लगाया था कि

1. "In securing rapid industrial development under present conditions, foreign capital has an important part to play."

2. "External finance is necessary not only to increase the rate of development, but to act as stimulant to domestic saving."



ब्रिटेन के कुल विदेशी विनियोग का प्रायः 11 प्रतिशत भाग भारत में विनियोग किया गया था। 1914 में भारत में विदेशी पूँजी का अनुमान 398 करोड़ पाँड तथा 1932-33 ई० में 83 करोड़ पाँड लगाया गया था। ब्रिटिश एशोसियेटेड चैम्बर ऑफ कॉमर्स ने 1933 ई० में भारत विदेशी पूँजी का अनुमान 100 करोड़ पाँड लगाया था जिसका विवरण इस प्रकार से था :—

|                                                                       |                  |
|-----------------------------------------------------------------------|------------------|
|                                                                       | (करोड़ पाँड में) |
| सरकार का स्टॉकिंग कर्ज                                                | 37.9             |
| भारत में कार्य करने वाली कम्पनियाँ जिनकी रजिस्ट्री विदेशों में हुई है | 50.0             |
| भारत में रजिस्टर्ड विदेशी कम्पनियाँ तथा अन्य                          | 12.1             |

कुल 100.0  
किन्तु श्री फिण्डले शिर्राज (Findlay Shirras) ने इन सभी अनुमानों को गलत बतलाया है। इनके अनुसार 1929-30 ई० में भारत में कुल 50 करोड़ पाँड की ब्रिटिश पूँजी लगी हुई थी। 1929-30 ई० के बाद और अधिक मात्रा में ब्रिटिश पूँजी भारत आयी जिससे इस मात्रा में अब तक अवश्य ही बहुत अधिक वृद्धि हो गयी होगी।

रिजर्व बैंक ने भारत में विनियोग की गयी विदेशी पूँजी का सर्वेक्षण कर 1948 ई० में 'भारत के विदेशी दायित्व एवं सम्पत्ति की गणना' (Census of India's Foreign Liabilities and Assets) नामक एक पुस्तिका<sup>1</sup> प्रकाशित की। इस रिपोर्ट के अनुसार 30 जून, 1948 ई० को भारत में कुल 320.4 करोड़ रुपये की विदेशी पूँजी लगी हुई थी जिनमें से 230 करोड़ रुपये अथवा 72 प्रतिशत भाग केवल इंग्लैंड से प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त अमेरिका ने केवल 30 करोड़ रुपये ही लगाया था। इसी प्रकार श्री एम० शाह के अनुसार विभाजन के समय भारत में 430 करोड़ रुपये की विदेशी पूँजी कारखानों, बगानों तथा व्यापार में लगी हुई थी जिसमें भारत संघ में 299 करोड़ रुपये की पूँजी रही। 1960 ई० के अन्त में विदेशी विनियोग (Foreign business Investment) की कुल रकम 630.5 करोड़ रुपये आँकी गयी थी। इसमें से 152.4 करोड़ रुपये पेट्रोलियम उद्योग में, 289.4 करोड़ रुपये निर्माण उद्योग में, 99.5 करोड़ रुपये बगान उद्योग में तथा शेष पूँजी अन्य उद्योगों में लगी थी। रिजर्व बैंक के ही एक अध्ययन के अनुसार मार्च

1965 तक भारत में निजी क्षेत्र में कुल विदेशी विनियोग 935.8 करोड़ रुपये था जिसमें 613.9 करोड़ रुपये प्रत्यक्ष तथा 322.5 करोड़ रुपये पोटेफोलियो विनियोग था।

वास्तव में, देश में प्रयुक्त कुल विदेशी पूँजी का सही-सही अनुमान लगाना कुछ कठिन हो गया है। इसका कारण यह है कि अधिकांश विदेशी कम्पनियों ने भारतवासियों को हिस्सेदार के रूप में भी रख लिया है। इनमें सेन रैले, टाटा आई० सी० आई०, बिरला नाफिल्ड आदि उल्लेखनीय हैं। टीटागढ़ पेपर मिल्स में भी इसी तरह प्रायः 80 प्रतिशत भारतीय हिस्सेदार हो गये हैं। कुछ विदेशी कम्पनियों ने अपने संचालक मण्डल में भारतीय संचालकों को भी नियुक्त किया है। इससे विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में कोई निश्चित अनुमान लगाना बहुत कठिन-सा हो गया है। फिर भी, अभी भारत में कुल विनियोग की गयी पूँजी का एक बड़ा भाग विदेशी पूँजी के रूप में ही है। डा० ज्ञानचन्द के अनुसार 'देश के प्रायः 769 प्रमुख वर्तमान फर्मों में से लगभग 55 प्रतिशत फर्म विदेशी व्यवस्था एवं नियन्त्रण के अन्तर्गत हैं। इनमें ब्रिटिश पूँजी एवं व्यवस्था की प्रधानता है जिसके नियन्त्रण में सूती वस्त्र-उद्योग का 30 प्रतिशत भाग, कोयले का 24 प्रतिशत भाग, इंजीनियरिंग का 48 प्रतिशत भाग, जूट का 80 प्रतिशत भाग और रसायन तथा चीनी उद्योग का प्रायः 47 प्रतिशत भाग है।'<sup>2</sup>

अगले पृष्ठ की तालिका से 1950-51 से 1974-75 के बीच भारत में प्रयुक्त विदेशी सहायता का देशानुसार विवरण स्पष्ट होता है।

1950-51 से 1974-75 के बीच प्राप्त विदेशी सहायता के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि विदेशी सहायता में अमरीका का अंशदान सबसे अधिक है। भारत को मिली कुल विदेशी सहायता में अमेरिका का भाग 41 प्रतिशत था। इस अवधि में भारत को अमरीका से कुल 5,300 करोड़ रुपये विदेशी सहायता प्राप्त हुई। विदेशी सहायता प्रदान करने वालों के क्रम में दूसरा स्थान पुनर्निर्माण और विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank of Reconstruction and Development या I. B. R. D.) और अन्तर्राष्ट्रीय विकास संस्था (International Development Association या I. D. A.) जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को प्राप्त है। इन संस्थाओं ने लगभग 16.2 प्रतिशत सहायता प्रदान की। इसके पश्चात् इंग्लैंड, जर्मनी और रूस का स्थान

1. उक्त सर्वेक्षण के अनुसार भारत में कुल विदेशी व्यावसायिक विनियोग 30 जून, 1948 ई० को 320.42 करोड़ रुपये था जिसमें ब्रिटेन का विनियोग 230 करोड़ रुपये यानी कुल विनियोग का प्रायः 71 प्रतिशत भाग था।  
\*Census of India's Foreign Liabilities and Assets : Reserve Bank of India—P. 84

2. Dr. Gyanchand—"Industrialisation of India and Commonwealth Countries"—India Quarterly, 1947, pp. 326-333.



है। जापान ने 4-6 प्रतिशत के करीब विदेशी सहायता प्रदान की है।

विदेशी सहायता—देशानुसार उपयोग (1950-51 से 1974-75)

|                                              | ऋण             | अनुदान       | पी० एल०<br>480/655 | कुल              | कुल का<br>प्रतिशत |
|----------------------------------------------|----------------|--------------|--------------------|------------------|-------------------|
| I. कन्सोरटियम सदस्य <sup>1</sup>             | 8537           | 686          | 2637               | 11860            | 89.7              |
| II. रूस तथा पूर्वी यूरोप <sup>2</sup> के देश | 1023           | 8            | ....               | 1031             | 7.8               |
| III. अन्य <sup>3</sup>                       | 220            | 112          | ....               | 332              | 2.5               |
| कुल                                          | 9780<br>(74.0) | 806<br>(6.1) | 2637<br>(19.9)     | 13223<br>(100.0) | 100.0             |
| सहायता देने वाले मुख्य देश/स्रोत हैं         |                |              |                    |                  |                   |
| सं० रा० अमेरिका                              | 2566           | 187          | 2637               | 5300             | 40.8              |
| ब्रिटेन                                      | 1135           | 12           | ....               | 1047             | 8.7               |
| प० जर्मनी                                    | 976            | 34           | ....               | 1010             | 7.6               |
| सोवियत रूस                                   | 844            | 8            | ....               | 852              | 6.4               |
| जापान                                        | 634            | 1            | ....               | 635              | 4.8               |
| आई० बी० आर० डी०                              | 670            | ....         | ....               | 670              | 5.1               |
| आई० डी० ए०                                   | 1470           | ....         | ....               | 1170             | 11.1              |

क्या विदेशी पूँजी का देश में प्रयोग किया जाय ?:- अब प्रश्न यह है कि वर्तमान परिस्थितियों में देश में विदेशी पूँजी का उपयोग लाभदायक है अथवा नहीं ? भारत में विदेशी पूँजी के प्रयोग के पक्ष में बहुत-से तर्क दिये जाते हैं जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं :-

(क) भारत में आर्थिक विकास के लिए प्राकृतिक साधनों की भरमार है। यहाँ पर सभी आवश्यक प्राकृतिक पदार्थों की प्रचुरता है, किन्तु पूँजी के अभाव में इनका समुचित विकास नहीं हो पाया है। इस प्रकार विदेशी पूँजी के उपयोग द्वारा हम विशाल एवं विविध प्राकृतिक संपत्ति का विकास कर अपना जीवन समृद्ध बना सकते हैं।

(ख) विदेशी पूँजी के उपयोग से उत्पादन की नवीन पद्धति की जानकारी भी प्राप्त हो सकती है। हमारे देश में उत्पादन के आधुनिक तरीकों का अभी बहुत कम विकास हुआ है। ऐसी स्थिति में विदेशी पूँजी के साथ जो तकनीकी जानकारी (Technical knowledge) देश को प्राप्त होती है, वह भी एक बहुत बड़ा लाभ है।

(ग) विदेशी पूँजी के अभाव में देशी पूँजी भी प्रभावपूर्ण नहीं हो पाती। उदाहरण के लिए, जब कोई उद्योगपति देश में कोई कारखाना स्थापित करना चाहता है जिसके लिए कुछ विदेशी यन्त्र आदि आवश्यक होते हैं तो ऐसी स्थिति में विदेशी पूँजी अथवा सहायता नहीं मिलने पर सम्पूर्ण कार्य ही ठप्प पड़ जायेंगे।

(घ) विदेशी पूँजीपति उद्योग-धन्यों की स्थापना के लिए आवश्यक प्रायः सभी प्रारम्भिक कार्यवाहियों को करते हैं तथा प्रारम्भिक जोखिम भी उठाते हैं। बाद में, इनके द्वारा दिखाये गये मार्ग पर देश के उद्योगपति भी चल सकते हैं। विदेशी पूँजी के उपयोग का एक यह भी लाभ है।

(च) विदेशी पूँजी के उपयोग से देश में आंतरिक बचत एवं विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है जिससे भविष्य में और अधिक आर्थिक विकास के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

(छ) रेल, बन्दरगाह, सिंचाई की योजनाओं तथा विद्युत्-उत्पादन-केन्द्रों आदि आर्थिक विकास के उपादानों की स्थापना में विदेशी पूँजी के अनुभव से लाभ उठाने के लिए भी विदेशी पूँजी का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।

1. कन्सोरटियम सदस्यों (Consortium members) में आस्ट्रिया, बेल्जियम, कनाडा, डेनमार्क, फ्रांस, प० जर्मनी, इटली, जापान, नीदरलैंड्स, स्वीडन, ब्रिटेन, अमेरिका, आई० बी० आर० डी० और आई० डी० ए० शामिल हैं।

2. यू० एस० एस० आर० एवं पूर्वी यूरोप के देशों में बुल्गेरिया, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, पोलैंड, यू० एस० एस० आर० और युगोस्लाविया शामिल हैं।

3. अन्य देशों में आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, स्विट्जरलैंड और यूरोपीय आर्थिक सम्प्रदाय के देश शामिल हैं।



किन्तु विदेशी पूँजी के उपयोग के कतिपय दोष भी हैं जो इस प्रकार से हैं :—

(क) विदेशी पूँजी का सबसे बड़ा दोष राजनीतिक है। जो देश विदेशी पूँजी का अधिक उपयोग करता है, वह धीरे-धीरे राजनीतिक क्षेत्र में पराधीन बन जाता है। प्रायः यह कहा जाता है कि शासनसत्ता व्यापार का अनुगमन करती है। (Flag follows the trade.) मध्य एशिया के अधिकांश देश इसके उदाहरण हैं। देश के अन्तर्गत सुरक्षा एवं आधारभूत उद्योगों में विदेशी पूँजी लगाने से कभी-कभी देश की सुरक्षा भी खतरे में पड़ जाती है।

(ख) विदेशी पूँजी के अधिक प्रयोग करने से स्वतन्त्र आर्थिक नीति को अपनाने में भी कठिनाई होती है। भारत ने समाजवादी समाज की स्थापना को अपने आदर्श के रूप में स्वीकार किया है। हमारी विदेशी नीति भी सक्रिय तटस्थता के आधार पर आधारित है। ऐसी स्थिति में अमेरिका, इंग्लैंड तथा पश्चिमी जर्मनी आदि देशों से सहायता लेने पर विकास के क्रम को बदलने की आवश्यकता पड़ सकती है।

(ग) विदेशी पूँजी के उपयोग का एक अन्य दोष यह है कि इससे बहुत-सा साधन व्याज एवं लाभ के रूप में प्रतिवर्ष विदेशों में चला जाता है। इससे देश को कोई लाभ नहीं होता। साथ-ही-साथ, निर्धनता में भी वृद्धि होती है।

(घ) विदेशी लोग बहुधा देशवासियों को अपने नियन्त्रित उद्योगों में अच्छे-अच्छे पदों पर नहीं रखते हैं। ये व्यावसायिक रहस्य को भी गुप्त रखने की कोशिश करते हैं। इससे देशवासियों को उचित लाभ नहीं होता।

(च) अत्यधिक मात्रा में विदेशी यन्त्र आदि के प्रयोग से विदेशों पर हमारी निर्भरता बढ़ती है। साथ ही, विदेशी यन्त्र आदि उसी देश की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर निर्मित किये जाते हैं; अतः उनसे भारत-जैसे अविकसित देश में विदेशी पूँजी के प्रयोग से अधिक सहायता नहीं मिलती।

इस प्रकार विदेशी पूँजी के उपयोग के उपरोक्त सारे दोष हैं। किन्तु यहाँ यह कहना अनुचित होगा कि भारत में विदेशी पूँजी के उपयोग में कोई आपत्ति है, वास्तव में आपत्ति विदेशी नियन्त्रण के सम्बन्ध में है। अतः विदेशी पूँजी का देश के विकास के लिए इस शर्त पर स्वागत किया जा सकता है कि इसका नियन्त्रण हर हालत में भारतीयों के हाथ में ही रहे। वर्तमान समय में भारत सरकार की भी विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में यही नीति है।

## विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में सरकारी नीति

(Government's Policy towards Foreign Capital)

भारत में गत शताब्दी के मध्य में रेलों तथा नहरों के निर्माण में बहुत अधिक विदेशी पूँजी लगायी गयी। उन दिनों देश में पूँजी का अभाव था जिससे औद्योगिक विकास के मार्ग में बहुधा बाधा पहुँचती थी, अतएव ब्रिटिश पूँजी ने देश में उद्योग-धन्धों की स्थापना में प्रवर्तक तथा पथप्रदर्शक का कार्य किया। भारत में प्राकृतिक साधन एवं श्रमिकों की भरमार थी तथा तैयार वस्तुओं के लिए विस्तृत बाजार भी था। इस मौके से ब्रिटिश व्यवसायियों ने लाभ उठाकर भारत में ब्रिटिश पूँजी की सहायता से कोयला एवं चाय तथा कढ़वा बगानों को प्रारम्भ किया। इस प्रकार गत शताब्दी में अधिकांश उद्योगों का विकास विदेशी पूँजी की सहायता से ही हुआ था। किन्तु वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में विदेशी पूँजी का विरोध कई कारणों से किया जाने लगा। विदेशी उद्योगों में भारतवासियों को रोजी नहीं मिलती थी जिससे भारतवासी औद्योगिक ज्ञान से वंचित रह जाते थे। भारत की तत्कालीन विदेशी सरकार भी विदेशी कम्पनियों को तरह-तरह से प्रोत्साहन प्रदान करती थी जिससे भारतवासियों को भारी लजि उठानी पड़ी।

1923 ई० के फिस्कल कमीशन ने अपने प्रतिवेदन में इस बात का जिक्र किया था कि भारतवासी विदेशी पूँजी को अनियन्त्रित तरीके से भारत आने देने के पक्ष में नहीं थे। फिर भी आयोग ने विदेशी पूँजी की सहायता से देश के औद्योगिक विकास के पक्ष में अपनी सिफारिश दी थी। किन्तु आयोग के अल्प-संख्यकों ने अपनी विमति टिप्पणी (note of dissent) में विदेशी पूँजी के लिए निम्नलिखित तीन शर्तों का सुझाव दिया था—(क) विदेशी पूँजीवाली कम्पनियों की रजिस्ट्री भारत में ही की जाय तथा इनकी पूँजी भारतीय मुद्रा में हो; (ख) इस प्रकार की कम्पनी के संचालक मण्डल में भारतीय व्यक्तियों को एक उचित अनुपात में रखना चाहिए, तथा (ग) इन कम्पनियों द्वारा भारतवासियों के प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए। 1925 ई० में विदेशी पूँजी समिति ने भी इनमें अधिकांश सुझाव को स्वीकार करते हुए यह सुझाव दिया था कि भारत में विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन देना चाहिए। परन्तु समिति ने इस बात पर जोर दिया था कि जब सरकार किसी विदेशी व्यापारी को विशेष रियायत दे तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उस रियायत से मुख्यतः भारत को ही लाभ पहुँचे। साथ ही, इन कम्पनियों द्वारा भारतवासियों के प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था भी की जानी चाहिए। किन्तु भारत सरकार ने समिति की



इस सिफारिशों को स्वीकार नहीं किया और विदेशी पूँजी तटकर संरक्षण की सम्पूर्ण सुविधाओं तथा सरकार द्वारा दी गयी अन्य रियायतों का लाभ उठाती रही। 1930 ई० के संविधान में इस बात की व्यवस्था की गयी कि किसी को ब्रिटेन निवासी ब्रिटिश भारत में सम्पत्ति के अधिकारी होने तथा किसी प्रकार के व्यवसाय अथवा व्यापार करने पर कोई रुकावट नहीं होगी।

नेशनल प्लानिंग कमिटी ने भी औद्योगिक वित्त-सम्बन्धी अपने प्रतिवेदन में भारत में विदेशी पूँजी के उपयोग के सम्बन्ध में निम्नलिखित शर्तों की सिफारिश की थी—(1) भारत में विदेशी पूँजी का विनियोग सरकार की अनुमति के बगैर नहीं किया जाय; (2) विदेशी पूँजी का उपयोग ऊपर की शर्तों के अतिरिक्त किसी भी आधार-भूत उद्योग; खनिज तथा अन्य प्रकार की प्राकृतिक सम्पत्ति सम्बन्धी उद्योगों में नहीं किया जाय; (3) किसी भी उपक्रम में विदेशी पूँजी का उपयोग सरकार द्वारा निर्धारित शर्तों पर ही किया जाना चाहिए; तथा (4) आधारभूत उद्योगों, खनिज एवं प्राकृतिक सम्पत्ति सम्बन्धी उद्योगों में लगायी गयी वर्तमान पूँजी शीघ्रातिशीघ्र सरकार द्वारा ले लेनी चाहिए। इस प्रकार नेशनल प्लानिंग कमिटी ने विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में उपरोक्त सभी सुझाव दिये थे।

### स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद विदेशी पूँजी-सम्बन्धी नीति (Policy towards Foreign Capital since Independence)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने 1948 ई० में अपनी औद्योगिक नीति सम्बन्धी घोषणा में विदेशी पूँजी के महत्त्व को स्वीकार किया, किन्तु यह बात भी स्पष्ट कर दी गयी कि भारतीय उद्योग में इस प्रकार की पूँजी के उपयोग पर सावधानीपूर्वक नियन्त्रण रखा जायगा। साथ ही, यथासम्भव इसका नियन्त्रण एवं स्वामित्व भारतीयों के हाथ में ही रहेगा। इसका ध्यान भी रखा जायगा कि विदेशी पूँजी के उपयोग से विदेशी प्रतियोगिता को अनावश्यक प्रश्रय नहीं मिल रहा है तथा इसका प्रयोग देश के प्राकृतिक साधनों के उपयोग के लिए ही किया जा रहा है। 1949-50 ई० के फिस्कल कमीशन ने भी देश में विदेशी पूँजी के महत्त्व को स्वीकार किया। किन्तु आयोग ने यह बतलाया कि इस प्रकार की पूँजी का उपयोग केवल राजकीय क्षेत्र की उन योजनाओं में किया जाना चाहिए जिनमें पूँजीगत मालों का आयात आवश्यक हो। इस आयोग ने इन योजनाओं के लिए

विदेशी पूँजी को आवश्यक बतलाते हुए इस बात की सिफारिश की कि इस सम्बन्ध में सरकार को इस प्रकार की नीति का अनुकरण करना चाहिए जिससे कि भारत में विदेशी पूँजी के उपयोग के लिए समुचित वातावरण तैयार हो सके।

भारत में विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में सरकार की नीति 5 अप्रैल, 1949 ई० को प्रधान मंत्री द्वारा संविधान सभा में दिये गये भाषण से अधिक स्पष्ट हो जाती है। प्रधान मंत्री ने विदेशी पूँजी के महत्त्व पर जोर देते हुए कहा कि हमारे यहाँ अतीत में जिस प्रकार विदेशी पूँजी को राष्ट्र के विकास में लाया गया है, उसी के परिणाम-स्वरूप आज इस बात पर जोर दिया जा रहा है कि राष्ट्र के हित में विदेशी पूँजी के कार्य-क्षेत्र एवं उसके उपयोग पर नियन्त्रण रखा जाय। किन्तु आज स्थिति पूर्णतः भिन्न है। अतः आज विदेशी पूँजी पर नियन्त्रण का उद्देश्य यह होना चाहिए कि इसका उपयोग भारत के अधिकतम लाभ के लिए किया जा रहा हो। हमारा राष्ट्रीय वचन इतनी अधिक नहीं है कि इससे विकास की नयी योजनाओं का सम्पादन किया जा सके। अतः विकास की योजनाओं के कार्यान्वयन में विदेशी पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। भारत की वर्तमान परिस्थितियों में विदेशी पूँजी का महत्त्व इस कारण से भी अधिक है कि इसके साथ ही विदेशों से हम मशीनें, यन्त्र तथा तकनीकी जानकारी जिनका भारत में अभी अभाव है, प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में भारत सरकार की नीति 1949 ई० में संविधान सभा के समक्ष प्रधान मंत्री के निम्न बयान से अधिक स्पष्ट हो जाती है :—

- (1) भारतीय उद्योगों की तरह विदेशी उद्योगों को भी भारत सरकार की औद्योगिक नीति का अनुकरण करना होगा,
- (2) सरकार विदेशी उद्योगों पर कोई ऐसा प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहती है जो अन्य समान भारतीय उद्योगों पर लागू न हों,
- (3) विदेशी पूँजी वाली कम्पनियाँ भी उन्हीं नियमों के अनुसार लाभ कमाने के लिए स्वतन्त्र होंगी जो यहाँ की कम्पनियों पर लागू हैं,
- (4) सरकार दूसरे देशों में लाभ तथा पूँजी भेजने के लिए अपनी विदेशी विनियम की स्थिति को ध्यान में रखकर समुचित सुविधाएं देंगी; तथा

1. "It should be the duty of the State policy to create and maintain conditions favourable for the inflow of all such foreign capital as desires to come to India."



(5) यदि किसी विदेशी कम्पनी को सरकार अपने अधिकार में लेगी तो उसे उचित मुआवजा दिया जायगा।

प्रधान मंत्री ने यह बतलाया कि साधारणतः विदेशी उपक्रमों का नियन्त्रण भी भारतीयों के हाथ में ही होना चाहिए, किन्तु एक निश्चित समय के लिए विदेशी नियन्त्रण में भी सरकार को कोई आपत्ति नहीं होगी, बशर्त कि वह राष्ट्रीय हित के विपरीत न हो। इसी प्रकार यदि उपयुक्त भारतीय उपलब्ध नहीं हों तो किसी विदेशी की नियुक्ति में भी सरकार को कोई आपत्ति नहीं होगी। इस प्रकार उपरोक्त शर्तों को ध्यान में रखते हुए सरकार विदेशी पूँजी का देश के आर्थिक विकास में सहयोग प्रदान करने के लिए सदा स्वागत करेगी। (Government would gladly welcome their contributions in a constructive and co-operative role in development of India's economy.)

द्वितीय योजनाकाल में उत्पन्न विदेशी विनिमय सम्बन्धी संकट की स्थिति में भारत-सरकार की विदेशी पूँजी-सम्बन्धी नीति में पुनः कुछ आवश्यक संशोधन किया गया। 4 जुलाई, 1957 ई० को भारतीय संसद में पुनः प्रधान मंत्री ने यह घोषणा की कि “हमलोग भूतकाल में सदा विदेशी पूँजी का स्वागत करते रहे हैं और वर्तमान में भी स्वागत करेंगे।” (We have always welcomed foreign capital in the past and we shall welcome it in the future.)

इस प्रकार भारत सरकार की वर्तमान नीति विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन प्रदान करनेवाली रही है। योजना आयोग ने भी भारत सरकार की नीति को स्वीकार करते हुए इस बात पर जोर दिया है कि विदेशी पूँजी का देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण स्थान है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद प्रारम्भ में देश में ब्रिटिश विनियोग कुछ कम हो गया था, किन्तु प्रधान मंत्री के इस आश्वासन के बाद पुनः इसमें पुरानी गति आ गयी। आज संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा तथा रूस आदि देशों का विनियोग भी भारत में बढ़ रहा है। साथ ही, सरकार द्वारा विदेशी पूँजी को विभिन्न प्रकार से प्रोत्साहन भी दिया जा रहा है। सरकार आजकल विदेशी फर्मों, संस्थाओं तथा सरकार से साझेदारियाँ भी स्थापित कर रही हैं—उदाहरण के लिए एक ब्रिटिश फर्म एवं एक जर्मन फर्म के द्वारा लोहे एवं इस्पात के कारखाने स्थापित किये गये हैं। अप्रैल, 1956 ई० में एक जापानी फर्म के साथ मल्टिपुल यूनिट इलेक्ट्रिकल कोचज (Multiple Unit Electrical Coaches) के निर्माण के लिए समझौते की स्वीकृति दी गयी। रूस की सरकार के सहयोग से देश में एक इस्पात

का कारखाना स्थापित किया गया है। इस प्रकार विदेशी एवं भारतीय व्यापारियों के मेल-जोल से संयुक्त उद्योगों का निर्माण किया जा रहा है जिससे विदेशों से इक्विटी कैपिटल (Equity Capital) भी मिलती है। इस दिशा में शुरुआत हो चुकी है; जैसे मोटरकार के निर्माण के लिए विरला नफील्ड, बसों एवं ट्रकों के निर्माण के लिए टाटा बेंज तथा साइकिल बनाने के लिए सेन-रैले का साक्षा आदि।

### पंचवर्षीय योजनाएँ एवं विदेशी पूँजी की आवश्यकता

(Five Year Plans and the need of Foreign Capital)

पंचवर्षीय योजनाओं में बहुत बड़े पैमाने पर विदेशी सहायता की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरण के लिए, प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) में भारत को 381.75 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त हुई थी जिसमें से 293 करोड़ रुपये की राशि प्रथम योजनाकाल में प्रयुक्त हुई।

इसी प्रकार द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल (Second Five Year Plan) में 5 वर्षों में 800 करोड़ रुपये विदेशी साधनों से प्राप्त करने का आयोजन था। किन्तु, द्वितीय योजना के प्रथम 2 वर्षों में ही विदेशी विनिमय संकट (Foreign Exchange Crisis) की स्थिति उत्पन्न हो गयी तथा रिजर्व बैंक के विदेशी विनिमय कोष में तीव्र गति से कमी होने लगी। इससे द्वितीय योजना के इस सम्बन्ध में सम्पूर्ण अनुमान ही अस्त-व्यस्त हो गये। किन्तु, विश्व बैंक तथा अन्य देशों की सहायता से स्थिति में धीरे-धीरे सुधार हुआ। द्वितीय योजना के अन्त तक 2531 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता उपलब्ध हुई थी जिसमें से 1430.2 करोड़ रुपये की राशि प्रयुक्त हुई।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) में भी विदेशी पूँजी के प्रयोग पर जोर दिया गया था; तृतीय योजनाकाल में कुल 2935.9 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त हुई थी; इसमें से लगभग 2200 करोड़ रुपये की राशि प्रयुक्त की गयी थी। इसी प्रकार 1966-67 में 1547 करोड़ रुपये, 1967-68 में 719 करोड़ रुपये, 1968-69 में 947 करोड़ रुपये तथा 1969-70 में 634 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त हुई थी। इसमें से 1966-67 में 1131 करोड़ रुपये, 1967-68 में 1166 करोड़ रुपये, 1968-69 में 90 करोड़ रुपये तथा 1969-70 में 856 करोड़ रुपये का प्रयोग किया गया था।<sup>1</sup>

चतुर्थ योजना (Fourth Five Year Plan) में पाँच वर्षों में 2614 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता का अनु-

1. Economic Survey—1971-72, Govt. of India,



मान लगाया गया था। इसमें से 380 करोड़ रुपये P L 480 के अन्तर्गत तथा 2234 करोड़ रुपये अन्य सहायता के रूप में प्राप्त होने की आशा थी। किन्तु योजना में अंतिम रूप से 2426 करोड़ रु० की रकम प्राप्त हुई<sup>1</sup>।

पंचवर्षीय योजनाओं में राजकीय क्षेत्र में विदेशी पूँजी की मात्रा का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

पंचवर्षीय योजनाओं में विदेशी सहायता (करोड़ रुपये में)  
योजना राजकीय क्षेत्र राजकीय क्षेत्र में कुल व्यय का  
में कुल व्यय विदेशी सहायता प्रतिशत

|                   |        |       |      |
|-------------------|--------|-------|------|
| प्रथम योजना       | 1960   | 188   | 9.6  |
| द्वितीय योजना     | 4,672  | 1,049 | 22.5 |
| तृतीय योजना       | 8,577  | 2,423 | 28.2 |
| एक-वर्षीय योजनाएँ |        |       |      |
| (1966-69)         | 6,766  | 2,426 | 32.8 |
| चतुर्थ योजना      |        |       |      |
| (1969-74)         | 16,487 | 2,523 | 12.9 |
| पाँचवीं योजना     |        |       |      |
| (1974-79)         | 39,303 | 5,834 | 15.0 |

पंचवर्षीय योजनाओं के कार्यान्वयन के लिए भारत सरकार विदेशी सरकारों एवं विभिन्न वित्तीय संस्थाओं से कर्ज ले रही है। सरकारी स्तर पर अमेरिका, रूस, चेकोस्लोवाकिया तथा जापान से भारत को कर्ज के रूप में विदेशी साधन प्राप्त हुए हैं। कोलम्बो प्लान तथा अमेरिका के प्वाइंट फोर प्रोग्राम, PL 480 तथा 665 के अन्तर्गत भी सरकार को सहायता मिलती है। विश्व बैंक तथा इसकी सहायक संस्था के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation) से भी भारत को सार्वजनिक तथा निजी दोनों क्षेत्रों में पर्याप्त सहायता मिल रही है। जून, 1976 ई० तक विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद् जैसी संस्थाओं से देश को 3761 करोड़ रुपये का ऋण स्वीकृत हुआ था। इनके अतिरिक्त गैर-सरकारी संस्थाएँ; जैसे—फोर्ड फाउण्डेशन, अमेरिका का आयात-निर्यात बैंक (Export-import Bank) आदि से भी ऋण मिल रहा है।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79) का आकार बहुत बड़ा होने के कारण इसमें और अधिक मात्रा में विदेशी साधनों की आवश्यकता का अनुमान था। किन्तु यदि हम पाँचवीं पंचवर्षीय योजना की सफलता के लिए विदेशी पूँजी पर्याप्त मात्रा में चाहते हैं तो हमें इसके लिए देश में विश्वास एवं सुरक्षा का समुचित वातावरण तैयार करना

होगा। साथ ही, हमें इस सम्बन्ध में अपनी नीति को और भी अधिक उदार बनाना होगा। इस सम्बन्ध में अमेरिका के राजदूत श्री बंकर के सुझावों का यहाँ उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है। इन्होंने विदेशी पूँजी को आकर्षित करने के लिए निम्नलिखित सुविधाएँ देने का सुझाव दिया था :—

- (क) विदेशी उद्योगों को एकाएक राष्ट्रीयकरण के भय से मुक्त करना,
- (ख) करों में विशेष छूट; तथा
- (ग) दुहरे कर (Double Taxation) से सुरक्षा।

इस प्रकार की सुविधाओं के फलस्वरूप देश में विदेशी पूँजी की मात्रा में निश्चय ही वृद्धि होगी। अधिक मात्रा में विदेशी सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से ही भारत सरकार ने अपनी मुद्रा का 6 जून, 1966 ई० को अवमूल्यन किया। अवमूल्यन से अधिक मात्रा में विदेशी पूँजी के आकर्षित होने की आशा थी, किन्तु ऐसा नहीं हो पाया।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan) में पहले विदेशी सहायता को कम-से-कम रखने का प्रयास किया गया था। योजना के प्रारूप में राजकीय क्षेत्र में कुल 2443 करोड़ रुपये विदेशी सहायता का अनुमान किया गया था। किन्तु तेल के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि तथा खाद्य एवं खाद्य-पदार्थों के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि के परिणाम-स्वरूप विदेशी सहायता की बड़े पैमाने पर आवश्यकता पड़ी। पाँचवीं योजना के प्रथम तीन वर्षों में विदेशी सहायता के रूप में 3434 करोड़ रुपये प्राप्त हुआ तथा अंतिम दो वर्षों में 2400 करोड़ रुपये की सहायता का अनुमान था। इस प्रकार पाँचवीं योजना में राजकीय क्षेत्र में कुल 5834 करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा है पर योजना के कुल व्यय का प्रायः 15 प्रतिशत भाग।

### भारत में पूँजी का निर्माण (Capital Formation in India)

पूँजी-निर्माण का तात्पर्य यह है कि कोई देश अपनी समस्त चालू उत्पादन-क्षमता को अपने वर्तमान उपभोग की आवश्यकताओं में ही नहीं लगाकर इसका एक अंश पूँजीगत वस्तुओं के निर्माण में लगाता है। इससे देश की उत्पादन-क्षमता बढ़ती है जिससे भविष्य में अधिक वस्तुओं का उत्पादन होता है। संयुक्त राष्ट्र-संघ के एक प्रतिवेदन के अनुसार, “पूँजी-निर्माण किसी देश की वर्तमान उत्पत्ति एवं आयात का वह भाग है जो गुणना की अवधि में न तो उपभोग में लगाया जाता है न निर्यात ही किया जाता

1. चतुर्थ योजना में विदेशी ऋणों के लौटाने में लगी रकम को छोड़ दिया गया है। यदि उन्हें भी सम्मिलित किया जाय तो कुल 4000 करोड़ रुपये विदेशी पूँजी की आवश्यकता होगी।



है, वरन् पूँजीगत वस्तुओं के कोष में वृद्धि के लिए प्रयोग किया जाता है।" (Capital formation is that part of a country's current output and imports which is neither consumed nor exported during the accounting period but set aside as additions to its stock of capital good.)

भारत की प्रमुख आर्थिक समस्या जनता की निर्धनता तथा निम्न जीवन-स्तर है। जीवन-स्तर में सुधार के लिए कृषि एवं उद्योग दोनों के उत्पादन में वृद्धि आवश्यक है और उत्पादन में वृद्धि के लिए हमें अत्यधिक मात्रा में पूँजी की आवश्यकता पड़ेगी है। इस प्रकार देश के आर्थिक विकास की गति पूँजी के निर्माण पर ही निर्भर करती है। द्रुतगति से आर्थिक विकास के लिए तो हमें अत्यधिक मात्रा में पूँजी की आवश्यकता पड़ेगी। इससे देश में पूँजी के निर्माण की समस्या अति महत्वपूर्ण हो जाती है। अभी कुछ ही वर्ष पूर्व तक हमारे पूँजी बाजार (capital market) में पूँजी का अभाव था। कहा जाता था कि भारतीय पूँजी विकास के कार्यक्रम में उचित सहयोग नहीं प्रदान कर रही है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व देश की राष्ट्रीय आय अनुमानतः 2,000 करोड़ रुपये यानी कुल राष्ट्रीय आय के प्रायः 6 प्रतिशत भाग का विनियोग होता था। 1948-49 ई० में देश की राष्ट्रीय पूँजी 8000 से 9000 करोड़ रुपये के बीच हो गयी थी जिस पर 6 प्रतिशत की दर से कम-से-कम 480 करोड़ रुपये विनियोग होना चाहिए था, किन्तु जानकारी सूत्रों के अनुसार विनियोग की रकम 350 से 450 करोड़ रुपये के बीच में ही थी। योजना आयोग के अनुसार 1950-51 ई० में राष्ट्रीय आय 9,110 करोड़ रुपये थी जिसमें से 450 करोड़ रुपये, यानी प्रायः 5 प्रतिशत का ही विनियोग हुआ था। प्रथम योजना के अन्त में 1955-56 ई० में राष्ट्रीय आय बढ़कर 10,800 करोड़ रुपये हो गयी तथा विनियोग 790 करोड़ रुपये; यानी प्रायः 7.3 प्रतिशत हो गया। द्वितीय योजना के अन्त तक 1960-61 ई० के मूल्य-तल के आधार पर राष्ट्रीय आय बढ़कर अनुमानतः 14,500 करोड़ रुपये हो गयी। तृतीय योजना के अन्त तक इसी मूल्य-पर राष्ट्रीय आय बढ़कर 19,000 करोड़ रुपये होने का अनुमान था जबकि यह 15,039 करोड़ रुपये ही हुई। चतुर्थ योजना के अनुसार 1967-68 ई० में बचत की दर 8 प्रतिशत थी। यह बढ़कर 1973-74 ई० तक 12.6 प्रतिशत हो गयी। कुल आंतरिक बचत (Gross Domestic Saving) पंचवीं पंचवर्षीय योजना में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हो रही है। 1974-75 में आंतरिक बचत 17.5 प्रतिशत से बढ़कर 1975-76 में 19.5 प्रतिशत हो गयी।

पंचवर्षीय योजनाओं में आंतरिक बचत, विनियोग

एवं विदेशी पूँजी का अन्दाजा निम्नांकित तालिका<sup>2</sup> से लगाया जा सकता है :—

आंतरिक बचत, विदेशी पूँजी एवं कुल पूँजी-निर्माण  
राष्ट्रीय आय के प्रतिशत में

| वर्ष    | शुद्ध आंतरिक बचत | विदेशी पूँजी का आगमन | कुल पूँजी निर्माण |
|---------|------------------|----------------------|-------------------|
| 1950-51 | 5.7%             | 0.1                  | 5.8               |
| 1955-56 | 9.7              | 0.6                  | 10.3              |
| 1960-61 | 9.3              | 3.7                  | 12.7              |
| 1965-66 | 11.2             | 2.6                  | 13.8              |
| 1968-69 | 9.9              | 1.3                  | 11.2              |
| 1973-74 | 12.2             | 0.8                  | 13.0              |
| 1974-75 | 11.8             | 1.0                  | 12.8              |

इस प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं में विनियोग एवं आंतरिक बचत में धीरे-धीरे वृद्धि करने का प्रस्ताव है। स्पष्ट है कि आंतरिक बचत में वृद्धि के साथ-साथ विदेशी पूँजी के विनियोग को भी हतोत्साहित किया जा रहा है जिससे कि अर्थ-व्यवस्था स्वावलम्बन की ओर अग्रसर हो सके। किन्तु विदेशी पूँजी की आवश्यकता में अपेक्षित कमी नहीं हो रही है ?

किन्तु, क्या विनियोग की इस दर से हमारा द्रुतगति से आर्थिक विकास सम्भव है ? इंग्लैंड तथा अमेरिका जैसे देशों में प्रति-व्यक्ति आय को 20-25 वर्षों में दुगुना करने के लिए राष्ट्रीय आय के 12 से 15 प्रतिशत के शुद्ध विनियोग (net investment) की आवश्यकता होती है। किन्तु भारत-जैसे देश में जहाँ जनसंख्या में प्रतिशत 2.5 प्रतिशत की दर-से वृद्धि होती है, केवल प्रति-व्यक्ति आय को समान बनाये रखने के लिए (maintaining Per-capita income constant) राष्ट्रीय आय के 6 से 7 प्रतिशत के विनियोग की आवश्यकता पड़ेगी। इससे यह स्पष्ट है कि हमारे देश में विनियोग की वर्तमान दर निश्चय ही अति असन्तोषजनक है।

किसी भी देश में पूँजी का निर्माण एक बड़ी प्रक्रिया है जिसमें निम्नलिखित तीन स्तर स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है :—

- (1) बचत का होना, जो बचाने की इच्छा एवं योग्यता पर निर्भर करता है;
- (2) बचत को जमा कर उचित दिशा में लगाना जिससे उसे विनियोग करने योग्य बनाया जा सके। यह बैंकिंग व्यवस्था के समुचित विकास पर ही निर्भर करता है, तथा
- (3) पूँजीगत माल (Capital goods) की उपलब्धि जो साहसोद्यम पर निर्भर करता है।

1. Economic Survey, 1976-77.

2. The Economic Times, June 28, 1969 & Economic Survey, 1976-77,

3. At 1968-69 Price.



भारत में पूँजी-निर्माण के क्षेत्र में कुछ प्रधान कठिनाइयाँ हैं। सर्वप्रथम कठिनाई तो बचत को छुपाकर रखने (hoarding) की प्रथा के फलस्वरूप है। हमारे देश में यह प्रथा आज भी प्रचलित है। बचत का कुछ भाग निर्यात भी कर दिया जाता है जिससे देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपलब्ध नहीं होता। पूँजी के निर्माण पर कर का भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कर की मात्रा अधिक होने से विनियोग कम होता है। उदाहरण के लिए, 1947-48 ई० के लियाकत अली के बजट का देश में पूँजी-निर्माण पर बिल्कुल प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था। समाज में धन एवं आय के वितरण का भी पूँजी के निर्माण पर प्रभाव पड़ता है। यदि आय का वितरण इस प्रकार का हो कि इसका अधिकांश भाग मध्यम एवं निम्न आय-वाले वर्गों के व्यक्तियों को प्राप्त हो तो इससे पूँजी-निर्माण में कमी आ जाती है। इसी प्रकार एक विकसित बैंकिंग व्यवस्था का अभाव भी पूँजी-निर्माण के मार्ग में बाधा पहुँचाता है।

भारत में पूँजी-निर्माण की दर निश्चय ही बहुत कम है। एक विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था वाले देश में राष्ट्रीय आय का कम-से-कम 15 से 20 प्रतिशत भाग तक विनियोग के लिए बचाना आवश्यक है। किन्तु भारत में बचत इससे बहुत ही कम होती है। यहाँ पूँजी-निर्माण की दर में कमी के बहुत-से कारण हैं। किन्तु देश में उत्पादन क्षमता की कमी इसके लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी है। प्रति-व्यक्ति उत्पादन कम होने के कारण बचत एवं विनियोग का कम होना स्वाभाविक ही है। भारत में सर्वत्र निर्धनता का निर्मम जाल फैला हुआ है। देश की अधिकांश जनता को पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक भोजन भी नहीं मिल पाता। ऐसी परिस्थिति में अर्द्ध-भूखी एवं अर्द्ध-नंगी जनता से अधिक बचत की आशा करना केवल दुराशा मात्र ही होगी। कुछ लोग, जैसे 1949-50 ई० का फिस्कल

कमीशन, पूँजी के निर्माण की कमी का कारण उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का भय बतलाते हैं। परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। देश में बैंकिंग व्यवस्था के समुचित विकास का अभाव भी इसका एक प्रमुख कारण है।

किन्तु, देश की पंचवर्षीय योजनाओं के सफल सम्पादन के लिए पूँजी-निर्माण की दर में वृद्धि अनिवार्य है। देश के उपभोग-स्तर को नियन्त्रित कर पूँजी के निर्माण में वृद्धि की जा सकती है। किन्तु हमारे देश में उपभोग-स्तर इतना निम्न है कि वर्तमान परिस्थितियों में इसमें किसी प्रकार की कमी का प्रभाव उत्तम नहीं होगा। अतः हमारे सामने केवल एक ही उपाय नजर आता है—वह है उद्योगों का राष्ट्रीयकरण। देश के उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण से इनका लाभ जनहित के उद्देश्य से आर्थिक विकास के कार्यों में लगाया जा सकता है और इस प्रकार पूँजी के निर्माण में वृद्धि की जा सकती है। अतः, सुझाव के तौर पर यह कहा जा सका है कि यथाशीघ्र देश के प्रमुख उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाय जिससे कि इनकी व्यवस्था जनहित के उद्देश्य से की जा सके तथा इनके लाभ को विकास के कार्यों में लगाया जा सके। इस सम्बन्ध में सरकार द्वारा जीवन बीमा, 14 प्रमुख व्यावसायिक बैंकों तथा सामान्य बीमा उद्योग आदि का राष्ट्रीयकरण निश्चय ही एक प्रशंसनीय कदम रहा है। किन्तु इसके लिए सरकारी क्षेत्र के उद्योगों की व्यवस्था में सुधार करने की आवश्यकता होगी। देश में पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहित करने के लिए बैंकिंग एवं विनियोग व्यवस्था के विकास को प्रोत्साहित करना भी आवश्यक है। 14 प्रमुख व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण से इस सम्बन्ध में बहुत अधिक सहायता की आशा की जाती है। साथ ही, छोटी-छोटी बचतों को एकत्र करने पर भी पूरा जोर देना चाहिए। इस सम्बन्ध में यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया जैसी संस्थाएँ भी विशेष रूप से सहायक सिद्ध हो रही हैं।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. Reserve Bank of India : India's Foreign Liabilities and Assets Survey Report (1961).
2. Govt. of India : Report of the Committee on utilization of External Assistance, 1964.
3. Dr. V. K. R. V. Rao : Foreign Aid and India's Economic Growth.
4. NCAER : Development without Aid.
5. Planning Commission : First, Second, Third, Fourth & Fifth Five Year Plans.
6. Planning Commission : Draft, Five Year Plan (1978-83).



## अध्याय : 40

### औद्योगिक श्रम (Industrial Labour)

भारत में औद्योगिक श्रम का बढ़ता हुआ महत्त्व (Growing Importance of Industrial Labour in India) :— भारत में औद्योगिक श्रम के एक पृथक् वर्ग का अभ्युदय गत शताब्दी के मध्य से आरम्भ होता है। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक वंशानुगत परम्परा के आधार पर आधारित कुटीर उद्योग-धन्धों ने अनेक प्रकार की कलापूर्ण एवं सुन्दर वस्तुएँ तैयार कर देश के विदेशी व्यापार को समुन्नत किया था। किन्तु, कुटीर उद्योग-धन्धों के विनाश के फलस्वरूप कारीगरों को बाध्य होकर भूमि पर आश्रित होना पड़ा। इस प्रकार बहुत दिनों तक कृषि ही देश के विशाल जन-समुदाय की जीविका का एकमात्र साधन थी। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में सरकार द्वारा अकाल को दूर करने के लिए बड़े पैमाने पर नहरों एवं सड़कों का निर्माण प्रारम्भ किया गया। इसी समय देश में रेलवे का निर्माण बड़ी तेजी के साथ प्रारम्भ हुआ। इन निर्माण-कार्यों में बहुत बड़ी संख्या में लोगों को कार्य मिलने लगा, अतः धीरे-धीरे जनसंख्या का प्रवाह गाँवों से शहरों की ओर होने लगा। थोड़े ही समय के बाद देश में खनिज उद्योग का विकास प्रारम्भ हुआ तथा धीरे-धीरे बगान एवं कारखाना उद्योगों का महत्त्व भी बढ़ने लगा। संगठित उद्योगों में देश के विभिन्न भागों से मजदूर आकर कार्य करने लगे तथा इस प्रकार देश में औद्योगिक मजदूरों के एक पृथक् वर्ग का अभ्युदय हुआ। बहुत दिनों तक इनकी संख्या बहुत ही कम रही; अतः देश के सामाजिक राष्ट्रीय जीवन में इस वर्ग का कोई महत्त्व नहीं था।

निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> से भारत में औद्योगिक श्रमिकों की संख्या का अन्दाजा लगता है—

| वर्ष | संख्या (लाख में) |
|------|------------------|
| 1900 | 5.0              |
| 1920 | 14.0             |
| 1940 | 22.0             |
| 1950 | 30.0             |
| 1960 | 38.0             |
| 1969 | 48.0             |
| 1972 | 53.3             |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1900 ई० से कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है। 1950 ई० के बाद इनकी संख्या में वृद्धि और अधिक हुई है। किन्तु, फिर भी देश में कुल कार्यशील जनसंख्या का केवल प्रतिशत भाग औद्योगिक मजदूरों का है। यह प्रतिशत कम अवश्य है किन्तु राष्ट्रीय आय में औद्योगिक श्रमिकों का योगदान अधिक होने के कारण इसका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है।

विभिन्न पेशों में लगे श्रमिकों की संख्या :— उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत में गत कुछ वर्षों से औद्योगिक श्रमिकों की संख्या में वृद्धि हो रही है। इस वृद्धि का प्रमुख कारण स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश का द्रुत-गति से औद्योगिक विकास है। देश के विभिन्न उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से स्पष्ट हो जाता है<sup>2</sup> :—

| उद्योग                       | 1968 में औसत प्रतिदिन काम करने वाले मजदूरों की संख्या (लाख में) |
|------------------------------|-----------------------------------------------------------------|
| 1. निर्माण-उद्योग            | 44.4                                                            |
| 2. खनिज उद्योग               | 6.1                                                             |
| 3. बगान, वन तथा मत्स्य       | 11.0                                                            |
| 4. भवन-निर्माण               | 9.0                                                             |
| 5. विद्युत, गैस एवं अन्य     | 3.9                                                             |
| 6. वाणिज्य एवं व्यापार       | 5.3                                                             |
| 7. यातायात, संग्रह एवं संवहन | 22.4                                                            |
| 8. सेवाएँ                    | 61.2                                                            |
| कुल                          | 163.3                                                           |

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत के संगठित उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों में सबसे अधिक कारखानों में ही कार्य करते हैं। 1968 ई० में सभी राज्यों को मिलाकर कारखानों में कुल 4440 हजार मजदूर औसत प्रतिदिन काम करते थे। इसी प्रकार बगानों में 1968 ई० में प्रतिदिन औसत 11 लाख मजदूर यातायात तथा संवहन में 22.4 लाख जिनमें से रेलवे में 13.5 लाख मजदूर, खानों में 1968 ई० में 610 हजार मजदूर तथा प्रमुख

1. The Indian Labour Year Book and India Pocket Book of Economic-Information.

2. Report of the National Labour Commission, P. 27.



बन्दरगाहों में 68 हजार मजदूर प्रतिदिन औसत रूप में काम करते थे। 1968 ई० में कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों में सबसे अधिक महाराष्ट्र (938 हजार), उत्तर प्रदेश (384) तथा पश्चिमी बंगाल (850 हजार) में और सबसे कम उड़ीसा में (75 हजार) मजदूर काम करते थे। 1968 ई० में बिहार राज्य में 258 हजार मजदूर औसत रूप में प्रतिदिन कारखानों में काम करते थे।

कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों में से सबसे अधिक मजदूर सूती-वस्त्र उद्योग में लगे हुए हैं। सूती-वस्त्र उद्योग में 1965 ई० में औसतन प्रतिदिन 8.6 लाख मजदूर काम करते थे। इसी प्रकार खानों में काम करने वाले मजदूर में सबसे अधिक मजदूर कोयले की खानों में काम करते थे। 1969 ई० में कोयले की खानों में 6.4 लाख मजदूर कार्य करते थे।

1965 ई० में बगानों में प्रतिदिन औसत रूप से 11.6 लाख मजदूर काम करते थे। 1911 ई० में बगानों में काम करने वाले श्रमिकों की संख्या 701 हजार 1921 ई० में प्रायः 10 लाख थी। इस प्रकार बगानों में काम करनेवाले श्रमिकों की संख्या में भी धीरे-धीरे वृद्धि हो रही है। बगान उद्योगों में चाय, कहवा तथा रबर उद्योग प्रमुख हैं जिनमें 1965 में क्रमशः 807 हजार तथा 236 हजार तथा 122 हजार मजदूर प्रतिदिन कार्य करते थे। चाय के बगानों में काम करनेवाले अधिकांश मजदूर बगानों में ही बस गये हैं जबकि कहवा बगानों में काम करनेवाले मजदूर अधिकांशतः गाँवों से आते-जाते हैं। रबर के बगानों में भी काम करनेवाले प्रायः आधे मजदूर बाहर से कार्य करने आते हैं।

**औरत और बच्चे<sup>1</sup> :—**1951 ई० में कारखानों में काम करनेवाले कुल वयस्क श्रमिकों में क्रमशः 114 प्रतिशत औरतें थीं। 1949 ई० में बगानों में काम करनेवाले वयस्क मजदूरों में 47.2 प्रतिशत औरतें थीं। गत कुछ वर्षों से खानों तथा कारखानों, दोनों में काम करने वाली औरतों की संख्या में धीरे-धीरे कमी हो रही है। सूती-वस्त्र उद्योग में यह कमी सर्वाधिक है। खानों में औरतें आजकल निचली सतह में काम नहीं करतीं।

1952 ई० में कारखानों में कुल 6,159 बच्चे कार्य करते थे। ये अधिकांशतः रसायन एवं रासायनिक पदार्थों के उत्पादन वाले उद्योगों, अघातक खनिज तथा तम्बाकू उद्योग में काम करते थे। कारखानों में काम करने वाले बच्चों के प्रतिशत में भी धीरे-धीरे कमी हो रही है। 1892 ई० में इनका अनुपात कुल श्रमिकों का प्रायः 3.9 प्रतिशत था जो 1952 ई० में घटकर केवल 0.25 प्रतिशत

रह गया। किन्तु, बगानों में आज भी अधिक संख्या में बच्चों का उपयोग किया जाता है। असम में चाय के बगीचों में 1950-51 ई० में 73,776 अथवा कुल श्रमिकों के प्रायः 14.3 प्रतिशत बच्चों की संख्या थी। इससे स्पष्ट है कि बच्चों का आज भी बगानों में अधिक उपयोग किया जाता है।

### औद्योगिक श्रम की पूर्ति (Supply of Industrial Labour)

पश्चिमी देशों में उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिकों का एक स्थायी वर्ग होता है जिसका कृषि आदि से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उन देशों में अधिकांश मजदूरों का पालन-पोषण कारखानों के वातावरण में ही होता है। कारखानों के वातावरण में इनका यह पालन-पोषण उनकी औद्योगिक श्रेष्ठता के लिए बहुत हद तक उत्तरदायी है। किन्तु, भारत में इस प्रकार के एक स्थायी औद्योगिक श्रमिक वर्ग का बहुत दिनों तक अभाव रहा है। आज भी भारतीय उद्योगों में काम करनेवाले अधिकांश मजदूर गाँवों से ही आते हैं। औद्योगिक केन्द्रों में काम करने वाले अधिकांश श्रमिक वास्तव में ग्रामीण ही होते हैं जिनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा गाँवों में ही होती है तथा जिनकी आस्था ग्रामीण रीति-रिवाजों में रहती है। इससे गाँव के जीवन में ही उन्हें अधिक प्रेम रहता है तथा शहरों के अनोखे वातावरण एवं परिस्थितियों से इनका जी ऊब-सा जाता है। अतः यथाशीघ्र अवसर मिलने पर ये गाँवों को लौट जाने का प्रयत्न करते हैं। इनमें से अधिकांश मजदूरों का कृषि से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में सम्बन्ध रहता है। उदाहरणार्थ, वे अधिकांशतः या तो संयुक्त कृषक परिवार के सदस्य होते हैं या उनका कोई अपना सगा-सम्बन्धी घर पर कृषि-कार्य करता है। इस प्रकार आज भी भारत में पश्चिमी देशों की तरह औद्योगिक श्रमिकों का एक स्थायी वर्ग नहीं हो पाया है।

भारत में कृषि पर आश्रित जनसंख्या की बहुलता, जिनमें बहुतों को कृषि में 6 महीने भी कार्य नहीं मिलता, को देखकर प्रायः इस प्रकार की बात सोची जा सकती है कि भारत में औद्योगिक श्रमिकों की कभी कमी नहीं रही होगी। किन्तु बहुत समय तक भारतीय उद्योग के समक्ष श्रमिकों के अभाव की समस्या रही है जो विशेष अवसरों पर जैसे 1896 ई० के प्लेग तथा 1918 ई० के इन्फ्लुएंजा के समय बहुत गम्भीर रूप धारण कर लेती थी। किन्तु इसके बाद जनसंख्या की तीव्र गति से वृद्धि के फलस्वरूप आज श्रमिकों के अभाव की कोई आशा नहीं की जा सकती। साथ ही, आवागमन के साधनों के विस्तार के

1. यह विवरण मुख्यतः "Recent Developments [in certain aspects of Indian Economy] Part II, pp. 4-5 पर आधारित है।



फलस्वरूप भी उद्योग-धन्धों में श्रमिकों का कभी अभाव नहीं होता। फिर भी, आजकल हमारे देश में विशेषज्ञ श्रमिकों का अभाव है जिसके फलस्वरूप उद्योगों को कभी-कभी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

**भरती का तरीका (Methods of Recruitment)**— औद्योगिक मजदूरों की भरती के तरीकों का प्रभाव मजदूरों की कार्य-क्षमता तथा कल्याण पर भी पड़ता है। भारत के कारखानों में मजदूरों की भरती का ढंग कुछ भिन्न होता है। मिल के व्यवस्थापक सीधे आवश्यक श्रम की भरती नहीं करते। अधिकांश भरती कुछ मध्यस्थों के माध्यम से ही होती है जिन्हें सरदार, जमादार, मिसत्री या जोवर कहा जाता है। ये लोग प्रायः पुराने मजदूर होते हैं जो कारखानों की परिस्थितियों से पूर्णतः परिचित रहते हैं। यूरोपियन फर्मों में तो भरती की यह प्रथा आज भी पायी जाती है क्योंकि मालिकों को मजदूरों के सम्बन्ध में उचित ज्ञान नहीं रहता। अतः इन कारखानों के मालिक एवं मजदूरों के बीच ये मध्यस्थ एक आवश्यक कड़ी के रूप में कार्य करते हैं। पुराने मजदूरों पर भी इनका प्रभाव इतना अधिक रहता है कि काम छूटने के भय से ये इन मध्यस्थों को सदा कुछ-न-कुछ देने के लिए बाध्य होते हैं। इससे मजदूरों की स्वाधीनता घट जाती है तथा उनकी आय का एक भाग इन मध्यस्थों के पास चला जाता है। औरत श्रमिकों की भरती में भी इसा प्रकार की बात पायी जाती है।

भरती की दूसरी प्रथा ठेकेदारों के जरिये मजदूरों की भरती है। मिल-मालिक इस कार्य के लिए कुछ ठेकेदार नियुक्त कर देते हैं जिससे उनकी जवाबदेही समाप्त हो जाती है। कारखाने की ओर से इन ठेकेदारों को कमीशन दिया जाता है। रेलवे तथा कोयले की खानों में भरती की यही पद्धति आज भी प्रचलित है। कारखानों में उन्हीं ठेकेदारों की भरती स्वीकार की जाती है जिनकी दर सबसे कम होती है। किन्तु इस प्रकार की भरती से मजदूरों को उचित मजदूरी नहीं मिलती। यह पद्धति इसलिए भी दोषपूर्ण है कि मालिक इसमें श्रम-कल्याण-सम्बन्धी सुविधाओं की जिम्मेदारी से बच जाते हैं। यह इसका सबसे बड़ा दोष है। साथ ही, इसमें मजदूरों का अत्यधिक शोषण भी होता है।

भारतीय कारखानों में मजदूरों की भरती का एक जरिया श्रम अधिकारियों के द्वारा भरती भी है। बहुत-से कारखानों में श्रम-अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं जिनके जरिये मजदूरों की भरती होती है। भरती का यह तरीका प्रथम दो तरीकों से अवश्य ही अच्छा है। किन्तु प्रायः यह देखा जाता है कि ये श्रम-अधिकारी भी केवल नाम-मात्रा का ही कार्य करते तथा भरती का कार्य वास्तव में सरदारों द्वारा ही किया जाता है। इनके अतिरिक्त भरती

के अन्य तरीके भी प्रचलित हैं। कानपुर में उत्तर भारत नियोक्ता संघ ने इस कार्य के लिए एक श्रम नियोजनालय स्थापित किया है। बहुत-से जूट कारखानों में भी श्रम-नियोजनालय (Employment Bureau) की स्थापना की गयी है जिनका प्रमुख कार्य श्रमिकों की भरती करना होता है। इस प्रकार मजदूरों की भरती के बहुत-से विचित्र तरीके हमारे देश में प्रचलित हैं।

**काम-दिलाऊ संस्थाएँ (Employment Exchanges)**—किन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद भरती के तरीकों में आमूल परिवर्तन हुआ। देश में सरकार द्वारा काम-दिलाऊ संस्थाओं (Employment Exchanges) की स्थापना की गयी है जो सभी प्रकार के लोगों को काम दिलाने का कार्य करती हैं। कारखानों में मजदूरों की भरती का कार्य भी इन संस्थाओं के जरिये ही किया जाता है। इन संस्थाओं ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ किया है। अभी हाल में ही सरकार ने शिवाराम कमिटी के सुझावों के आधार पर काम-दिलाऊ दफ्तरों के पुनर्संरगठन की बात निश्चित की है जिससे इन्हें अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। शिवाराम कमिटी ने इस सम्बन्ध में बहुत-से महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। सर्वप्रथम तो काम-दिलाऊ संस्थाओं को राष्ट्रीय नियोजनालय सेवा (National Employment Service) के नाम से स्थायी रूप देने की सिफारिश की गयी। साथ ही, सरकारी दफ्तरों में मजदूरों की भरती इन्हीं संस्थाओं के द्वारा की जानी चाहिए। सरकारी सहायता मिलने वाले कारखानों या दफ्तरों में भी इन्हीं के द्वारा भरती की जानी चाहिए। समिति ने यह सुझाव दिया है कि सभी बेकार व्यक्तियों की एक सूची रखी जाय जिसे कारखानों या अन्य नियोक्ताओं के पास भेजा जाय। इसी प्रकार बेकार लोगों को भी इस बात की सूचना दी जाय कि किस दफ्तर में जगह रिक्त है। कमिटी के सुझावों के आधारों पर काम करने से काम-दिलाऊ संस्थाओं को वास्तव में बहुत ही उपयोगी बनाया जा सकता है। किन्तु इस सम्बन्ध में हमारा अन्तिम उद्देश्य पश्चिमी देशों की तरह देश में एक स्थायी औद्योगिक श्रमिक वर्ग की स्थापना होना चाहिए। वास्तव में, द्रुतगति से औद्योगीकरण के लिए यह नितांत आवश्यक है।

भारत में काम-दिलाऊ संस्थाओं की स्थापना 1945 ई० में प्रारम्भ हुई। 1973 ई० में देश में कुल 465 काम-दिलाऊ संस्थाएँ (Employment Exchanges) थीं तथा इनमें रजिस्टर्ड व्यक्तियों की संख्या 6145 हजार थी। नवम्बर, 1956 ई० से काम-दिलाऊ संस्थाओं का नियन्त्रण राज्य सरकारों के अधीन आ गया है तथा केन्द्रीय सरकार का कार्य इस सम्बन्ध में केवल नीति-निर्धारण तक ही सीमित रह गया है।



## भारतीय श्रमिकों की कार्य-क्षमता

(Efficiency of Indian Labourers).

प्रायः यह कहा जाता है कि भारतीय श्रमिक अन्य देशों के श्रमिकों की तुलना में अकुशल होते हैं। भारतीय श्रमिकों की यह अकुशलता एक सर्वविदित तथ्य की तरह है। इस प्रकार श्रम-आयोग के सम्मुख श्री एच० पी० मोदी ने अपने बयान में यह बतलाया था कि "जापान का एक मजदूर 6 कर्षों को चलाता है और उसकी कार्य-क्षमता 95 प्रतिशत होती है, चीन का एक मजदूर केवल 4 कर्षों को चलाता है और उसकी कार्य-क्षमता 80 प्रतिशत होती है, किन्तु एक भारतीय मजदूर केवल 2 कर्षों को चलाता है और उसकी कार्य-क्षमता 80 प्रतिशत ही होती है।" इसी प्रकार औद्योगिक आयोग के समक्ष एक बयान में यह बतलाया गया था कि यूरोप का एक मजदूर भारतीय मजदूर की अपेक्षा चौगुना कार्य करता है। सूती-वस्त्र उद्योग की स्थिति की जाँच करने के लिए जो टैरिफ बोर्ड नियुक्त किया गया था, उसने 1926-27 ई० में अपने प्रतिवेदन में कहा था कि जापान में एक औसत मजदूर 240 तकुओं पर, इंग्लैंड में 570 से लेकर 600 तकुओं पर तथा अमेरिका में 1120 तकुओं पर काम करता है किन्तु भारत में एक मजदूर औसत रूप से 180 तकुओं पर ही कार्य करता है। उपरोक्त विवरण से भारतीय श्रमिकों की अकुशलता और भी स्पष्ट हो जाती है।

किन्तु डॉ० गिलबर्ट स्लेटर (Gilbert Slater) के अनुसार इन विवरणों में भारतीय श्रमिकों की अकुशलता अधिक बढ़ा-चढ़ा कर प्रदर्शित की गयी है। भारत एवं लंकाशायर में एक कर्ष को चलाने में लगाये गये श्रमिकों की संख्या से परिस्थिति का यथार्थ मूल्यांकन नहीं होता। भारत में अधिक श्रमिकों को लगाने का एक कारण इनकी कम मजदूरी भी है। लंकाशायर तथा अन्य पश्चिमी देशों में मजदूरी की दर अधिक होने के कारण मजदूरों की संख्या में मितव्ययिता से काम लेना पड़ता है। इन सब बयानों के विपरीत सर थामस हॉलैंड ने भारतीय श्रमिकों की श्रेष्ठता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इनके अनुसार भारतीय श्रमिक देश के किसी भी उद्योग में सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है। द्वितीय-महायुद्धकाल में आये हुए ग्रेडी शिफ्टमण्डल के अनुसार, "65 सेंट प्रतिदिन पाने वाले भारतीय श्रमिक अन्धेरे वातावरण में अच्छी मशीन का उत्पादन कर रहे थे। बम्बई के फायरस्टोन के कारखानों में भारतीय श्रमिक डेट्रियोट स्थित फायरस्टोन के कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों के बराबर कार्य करते थे। टाटा लोहे एवं इस्पात के कारखानों में प्रति-व्यक्ति की उत्पादन-क्षमता पिट्सबर्ग के कारखानों से कम नहीं है।" इससे स्पष्ट है कि यूरोप तथा अमेरिका के श्रमिकों की तुलना में भारतीय श्रमिक अकुशल नहीं हैं।

भारतीय मिलों में कम उत्पादन का दायित्व केवल भारतीय श्रमिकों का ही नहीं है, इसके लिए देश का वातावरण तथा प्रबन्ध की अकुशलता भी आंशिक रूप से उत्तरदायी हैं। भारतीय श्रमिक बहुधा अशिक्षित होते हैं। इन्हें गन्दे वातावरण में अद्यतन मशीनों द्वारा कार्य करना पड़ता है तथा इनकी मजदूरी कम होती है, आदि अनेक कारणों से भी भारतीय श्रमिकों द्वारा उत्पादन कम होता है।

## भारत में श्रम-सन्नियम

(Labour Legislation in India)

भारत में श्रम-सन्नियम इंग्लैंड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे-औद्योगिक देशों की तरह महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। कारण यह है कि यहाँ पश्चिमी देशों की तुलना में यन्त्रों का प्रचार बहुत धीरे-धीरे तथा बाद में हुआ। अतः, यहाँ औद्योगिक श्रम के एक पृथक् वर्ग का उदय भी बहुत बाद में हुआ। किन्तु, देश के औद्योगीकरण के साथ-साथ इन नियमों का महत्त्व भी धीरे-धीरे बढ़ रहा है तथा आशा की जाती है कि अगले कुछ वर्षों में पंचवर्षीय योजनाओं के सफल सम्पादन के फलस्वरूप श्रम-सन्नियमों का महत्त्व और भी बढ़ जायगा।

भारत में श्रम-सन्नियम के इतिहास को निम्नलिखित चार कालों में विभाजित किया जा सकता है :—

1. 1881 ई०, जब देश में पहला श्रम-सन्नियम पारित हुआ, से लेकर 1921 ई० तक जब अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ का प्रभाव स्पष्ट होने लगा;
2. 1922 ई० से 1934 ई० तक;
3. 1935 ई० से 1947 तक; तथा
4. स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद।

प्रथम काल के श्रम-सन्नियम की विशेषता यह थी कि ये नियम किसी विशेष उद्योग के सम्बन्ध में ही बनाये जाते थे; जैसे बगान, कारखाना, खान इत्यादि। कारण यह था कि विभिन्न प्रकार के उद्योगों का विकास देश के विभिन्न भागों में तथा विभिन्न समय में हुआ था। द्वितीय काल, यानी 1922-34 ई० में केन्द्रीय सरकार द्वारा 1922 ई० में कारखाना अधिनियम तथा 1926 ई० में औद्योगिक संघर्ष अधिनियम (Trade Disputes Act) पारित हुए। इनके अतिरिक्त इस अवधि में प्रान्तीय-सरकारों द्वारा भी बहुत-से अधिनियम बनाये गये जिनमें बम्बई एवं अन्य राज्यों के मातृत्व लाभ अधिनियम (Maternity Benefit Acts) विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। 1935 ई० से 1947 ई० के बीच भी देश में अनेक श्रम-सन्नियम बनाये गये। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद तो सरकार द्वारा औद्योगिक मजदूरों की समस्या को विशेष रूप से महत्त्व दिया



जा रहा है तथा इनके समाधान के लिए सरकार बहुत अधिक प्रयत्न भी कर रही है। इस उद्देश्य से प्रत्येक क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के विस्तृत अधिनियम बनाये गये हैं।

### कारखाना अधिनियम (Factories Act)

देश के श्रम-सन्धियों में कारखाना अधिनियमों का विशेष महत्त्व है। सन् 1850 ई० के बाद बम्बई का सूती-वस्त्र उद्योग बड़ी तेजी के साथ विकास कर रहा था जिसे देखकर लंकाशायर के व्यवसायियों को ईर्ष्या होने लगी। इसी ईर्ष्या से उन्होंने भारतीय मजदूरों के लिए श्रमिक किया। इस आन्दोलन का दिखावटी उद्देश्य तो श्रमिकों का कल्याण था, किन्तु इसका वास्तविक उद्देश्य भारतीय उद्योगपतियों के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न करना था। इसके फलस्वरूप 1881 ई० में पहली बार श्रमिकों के हित में एक कारखाना अधिनियम बनाया गया। किन्तु चूँकि यह अधिनियम श्रमिकों की सारी समस्याओं का समाधान नहीं कर पाया, अतएव 1891, 1921, 1922 तथा 1934 में और कारखाना अधिनियम बनाये गये।

### 1948 ई० का कारखाना अधिनियम (Factories Act, 1948)

किन्तु इन अधिनियमों में कई त्रुटियाँ थीं। अतः 1948 में श्री रीगे की अध्यक्षता में एक श्रम-जाँच-समिति की नियुक्ति की गयी जिसने पहले के सभी कारखाना अधिनियमों की कटु आलोचना की। समिति के अनुसार बड़े-बड़े स्थायी कारखानों में तो इन नियमों का पालन अवश्य होता था, किन्तु छोटे-छोटे एवं मौसमी कारखानों में इनका पालन नहीं किया जाता था। निर्धारित समय से अधिक काम करने वाले मजदूरों को विधान द्वारा निश्चित दर से मजदूरी नहीं दी जाती थी। साथ ही, कम आयु वाले बच्चों से भी काम लिया जाता था। इन सब त्रुटियों को दूर करने के लिए 1948 ई० में एक अधिक व्यापक कारखाना अधिनियम पारित हुआ जिसे 1 अप्रैल, 1948 ई० से लागू किया गया है।

1948 ई० का कारखाना अधिनियम दस या दस से अधिक व्यक्तियों द्वारा परिचालित शक्ति का प्रयोग करने वाले तथा बीस या बीस से अधिक व्यक्तियों द्वारा परिचालित परन्तु शक्ति का प्रयोग नहीं करने वाले सभी कारखानों पर लागू होता है। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारों को यह अधिकार दिया गया है कि वे इस अधिनियम की धाराओं को किसी भी अन्य व्यावसायिक तथा औद्योगिक संस्थानों पर भी लागू कर सकती हैं। इस अधिनियम के अन्तर्गत मौसमी तथा स्थायी कारखानों का विभेद समाप्त कर दिया गया है।

इस अधिनियम के अनुसार कारखानों की स्थापना अथवा इनके विस्तार के पूर्व राज्य सरकार की अनुमति आवश्यक बनायी गयी है। कारखानों के लिए रजिस्ट्री कराना तथा लाइसेंस प्राप्त करना भी आवश्यक बना दिया गया है। वयस्क श्रमिकों के लिए कार्य की अधिकतम अवधि प्रति सप्ताह 48 घण्टे तथा प्रतिदिन 9 घण्टे निश्चित कर दी गयी है। लगातार 5 घण्टे तक काम करने पर  $\frac{1}{2}$  घण्टे का विश्राम आवश्यक बनाया गया। निर्धारित समय से अधिक काम करने से मजदूरी साधारण मजदूरी की दूनी होगी। वेतन-सहित वार्षिक छुट्टियाँ वयस्कों के लिए वर्ष में 10 दिनों के बजाय 20 दिन काम के बाद एक दिन तथा अल्प-वयस्कों के लिए 15 दिनों के बाद एक दिन तय कर दी गयी। औरत एवं अल्प-वयस्क मजदूरों से कारखानों में 6 बजे सुबह से 7 बजे संध्या तक ही काम लिया जा सकता है। 14 वर्ष से कम आयु वाले बच्चों से कारखानों में काम नहीं लिया जा सकता। 14 वर्ष से 13 वर्ष तक की आयु वाले अल्प-वयस्कों के काम की अवधि प्रतिदिन 5 घण्टे निश्चित की गयी। साथ ही, इनसे काम लेने के पहले इन्हें शारीरिक समर्थता का प्रमाण देना भी आवश्यक बनाया गया।

1948 ई० के कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत मजदूरों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा पर भी पर्याप्त जोर दिया गया। हवा, रोशनी एवं तापमान के नियन्त्रण के अतिरिक्त पीने के लिए स्वच्छ जल, शौचालय तथा स्नाना-गारों की भी व्यवस्था की गयी। अप्रैल 1949 ई० के बाद स्थापित होने वाले सभी कारखानों में प्रति-श्रमिक 500 घनफीट स्थान का रहना आवश्यक माना गया। मशीनों को चलाने, बन्द करने, उठाने तथा साफ करने में मजदूरों के शारीरिक बचाव की भी व्यवस्था की गयी है। 250 से अधिक श्रमिकों वाले कारखानों में एक कैंटीन की व्यवस्था भी आवश्यक है। साथ ही, 300 से अधिक श्रमिक वाले सभी कारखानों में सरकारी सहायता से एक श्रम-कल्याण पदाधिकारी (Labour Welfare Officer) की नियुक्ति भी अनिवार्य कर दी गयी है। इस प्रकार, 1948 ई० के अधिनियम में श्रमिकों की सुरक्षा के लिए विस्तृत व्यवस्था की गयी है। इस अधिनियम को पालन कराने के लिए पर्याप्त मात्रा में निरीक्षकों की नियुक्ति की व्यवस्था भी की गयी है।

### खान-सम्बन्धी अधिनियम (Mines Act)

खानों में काम करने वाले श्रमिकों के लिए भी समय-समय पर पृथक् अधिनियम बनाये गये हैं। सर्वप्रथम 1931 ई० में इस सम्बन्ध में एक अधिनियम पारित हुआ जिसमें केवल सुधार तथा निरीक्षण की व्यवस्था की गयी थी।



इस अधिनियम में काम करने की अवधि तथा सुविधाओं के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नहीं थी।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन की सिफारिशों तथा देश के खान-उद्योगों में बढ़ती हुई श्रमिकों की संख्या को दृष्टि में रखते हुए सन् 1923 ई० में एक संशोधित खान अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम के अनुसार जमीन के ऊपर काम करने वाले श्रमिकों के लिए काम की अधिकतम अवधि 60 घण्टे प्रति सप्ताह निश्चित की गयी। एक सप्ताह में 6 दिन से अधिक कार्य नहीं होंगे। किन्तु, 1923 ई० के अधिनियम में बहुत-सी त्रुटियाँ रह गयी थीं। अतएव इन्हें दूर करने के लिए 1929 ई० में एक दूसरा अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार औरतों को खानों के अन्दर काम करने से मना कर दिया गया। केवल बंगाल, बिहार और मध्य प्रदेश के कोयले की खानों में यह नियम लागू नहीं किया गया था। अन्ततः 1 जुलाई, 1929 ई० से खानों के अन्दर काम करने से पूर्णतः निषेध कर दिया गया।

इस अधिनियम में 1935 ई० में पूर्णतः संशोधन किया गया जिसके अनुसार निम्नलिखित व्यवस्था की गयी— (क) खानों का कोई भी श्रमिक एक सप्ताह में 6 दिन से अधिक काम नहीं करेगा, (ख) खान के ऊपर काम करने वाला कोई भी व्यक्ति एक सप्ताह में 54 घण्टे तथा एक दिन में 10 घण्टे से अधिक काम नहीं करेगा, कार्य का समायोजन इस प्रकार से किया जायगा कि विथ्याम काल को लेकर इसका काम किसी भी दिन 12 घण्टे से अधिक नहीं होगा, (ग) खानों के अन्दर काम करने वाले मजदूर प्रतिदिन 9 घण्टे से अधिक कार्य नहीं करेंगे, (च) 15 वर्ष से कम आयु वाले बच्चों को खानों में काम की मनाही कर दी गयी। इस अधिनियम में पुनः 1936, 1937, 1940 एवं 1946 ई० में संशोधन किया गया।

1952 ई० का खान अधिनियम :—उक्त खान-संबंधी सन्धियों को एकत्र करने के लिए 1952 ई० में एक व्यापक खान अधिनियम तैयार किया गया जो पहले के सभी अधिनियमों से विस्तृत है। यह 1 जुलाई, 1952 से लागू किया गया। इस अधिनियम के अनुसार खानों के बाहर काम करने वाले वयस्कों के लिए 9 घण्टे प्रतिदिन तथा 54 घण्टे प्रति सप्ताह एवं खानों के भीतर काम करने वाले वयस्क श्रमिकों के लिए 8 घण्टे प्रतिदिन तथा 48 घण्टे प्रति सप्ताह निश्चित किया गया।

खान के अन्दर काम करने वाले श्रमिकों को अतिरिक्त समय के लिए साधारण दर से दुगुनी तथा ऊपर काम करने वाले श्रमिकों को द्योढ़ा वेतन दिया जायगा। 18 वर्ष से कम आयु के बच्चों तथा औरतों को खानों के अन्दर काम करने पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

15 वर्ष से कम आयु वाले बच्चे खानों के ऊपर तथा नीचे कार्य नहीं कर सकते। बच्चों के काम की अवधि प्रतिदिन 4½ घण्टे निश्चित की गयी। मासिक वेतन के आधार पर काम करने वालों के लिए वर्ष में 18 दिन तथा साप्ताहिक वेतन पाने वालों के लिए 7 दिन सदैवनिक छुट्टी की व्यवस्था की गई। इस अधिनियम में खानों में काम करने वाले श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा की व्यवस्था भी की गयी। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार के एक विशेष आदेश के अनुसार 1948 ई० के कारखाना अधिनियम की सुरक्षा एवं स्वास्थ्य-सम्बन्धी धाराएँ हर खानों में लागू की गयीं।

### बगान उद्योग अधिनियम

चाय बगानों की समस्या अपनी तरह की अनोखी है। इन बगानों में मजदूर अधिकांशतः बाहर से काम करने आते हैं। अतः 1932 ई० में इनके सम्बन्ध में एक अधिनियम बनाया गया। यह अधिनियम श्रम आयोग की सिफारिशों पर आधारित था। इसका मुख्य उद्देश्य नियुक्ति पर नियन्त्रण रखना था। इस अधिनियम के अनुसार प्रान्तीय सरकारों को सहायता प्राप्त प्रवासियों के ऊपर नियन्त्रण रखने का अधिकार मिला। इस उद्देश्य से प्रवासी मजदूर नियन्त्रण-कर्ता की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी। इस अधिनियम के अनुसार 16 वर्ष से कम आयु वाले बच्चे केवल अपने सम्बन्धियों अथवा अपने माता-पिता के साथ ही असम जा सकते थे। इसी प्रकार विवाहित स्त्रियाँ केवल अपने पति के साथ ही असम जा सकती थीं। प्रत्येक प्रवासी श्रमिक असम से तीन वर्ष बाद लौटने का अधिकारी था। श्रमिक एवं उनके कुटुम्बियों को प्रत्येक तीन वर्ष के अन्त में आने-जाने का खर्च सेवायोजकों से लेने का अधिकार था। तीन साल के अन्दर प्रवासी श्रमिक केवल स्वास्थ्य खराब होने, काम नहीं मिलने, मजदूरी रोक ली जाने अथवा किसी अन्य पर्याप्त कारण से ही लौट सकते थे।

1951 ई० का बगान श्रम अधिनियम :—1951 ई० में बगानों में काम करने वाले श्रमिकों के सम्बन्ध में एक बगान श्रम-अधिनियम बनाया गया। यह अधिनियम चाय, रबर, कहवा, सिनकोना आदि के उन सभी बगान उद्योगों पर लागू होता है जिनमें कम-से-कम 30 व्यक्ति काम कर रहे हों और 25 एकड़ अथवा अधिक भूमि पर खेती की जा रही हो। इसके अनुसार वयस्क श्रमिकों के लिए काम के घण्टों की अधिकतम सीमा 54 तथा बच्चों के लिए 40 घण्टे निश्चित की गयी। बगानों में 12 वर्ष से कम आयुवाले बच्चों की नियुक्ति नहीं की जा सकती। साथ ही, इसके अनुसार औरतों एवं बच्चों के 7 बजे संध्या से 6 बजे सुबह तक काम करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत श्रमिकों के लिए औषधि,



शिक्षा एवं अन्य सुविधाओं जैसे—पीने के लिए स्वच्छ जल, कैंटीन, बाल-गृह, छुट्टियाँ तथा आराम आदि की भी व्यवस्था की गयी।

**यातायात के लिए श्रम-अधिनियम**—यातायात के साधनों के अन्तर्गत सबसे अधिक मजदूर रेलवे में काम करते हैं। रेलवे के सभी कारखाने 1922 ई० के कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत आते हैं। इन कारखानों में काम करनेवाले श्रमिकों के अतिरिक्त अन्य रेलवे श्रमिकों के लिए 1930 ई० में भारतीय रेल अधिनियम बनाया गया। इसके अनुसार रेलवे कर्मचारी, जिसका काम लगातार न हो, एक सप्ताह में 84 घण्टे तथा जिसका काम लगातार हो, एक सप्ताह में 60 घण्टे से अधिक कार्य नहीं करेगा। साथ ही, प्रति सप्ताह 24 घण्टे का विश्राम आवश्यक बनाया गया। 1951 ई० में रेलवे श्रमिक (काम के घण्टे) अधिनियम पारित हुआ जिसके अनुसार आजकल श्रमिकों के काम के घण्टे आदि नियन्त्रित होते हैं।

बन्दरगाहों पर कार्य करनेवाले श्रमिकों के लिए 1948 ई० में डॉक वर्क्स (रेगुलेशन आफ एम्प्लायमेंट) ऐक्ट बनाया गया जिसमें इनकी मजदूरी, प्रशिक्षण, स्वास्थ्य एवं कल्याण आदि की व्यवस्था की गयी है। इसके अनुसार केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारों को डॉकों में काम करनेवाले मजदूरों की सुविधाओं एवं रोजगार के लिए आवश्यक अधिनियम बनाने का अधिकार मिला है। मोटर वेहिकल्स अधिनियम (Motor Vehicles Act), 1939 ई० द्वारा मोटर चालकों के वेतन नियुक्ति की आयु, काम के घण्टे आदि निश्चित किये जाते हैं।

**दुकान एवं वाणिज्यिक संस्थान अधिनियम (Shops and Commercial Establishments Act.)** :—यह अधिनियम सर्वप्रथम बम्बई में 1939 ई० में और तत्पश्चात् अन्य राज्यों में बनाया गया। इस अधिनियम के अनुसार दुकानों एवं अन्य वाणिज्यिक संस्थानों में काम के घण्टों को निश्चित करने की व्यवस्था भी की गयी है। वयस्कों के लिए काम के घण्टे 8 से 10 तथा बच्चों के लिए 5 से 7 निश्चित किया गया है। वयस्कों को 4 से 6 घण्टा लगातार काम करने पर  $\frac{1}{2}$  से 1 घण्टा तथा बच्चों को 2 से 3 घण्टे के बाद  $\frac{1}{2}$  से 1 घण्टे तक विश्राम की व्यवस्था है।

**मजदूरी-सम्बन्धी अधिनियम** :—1936 ई० का मजदूरी भुगतान अधिनियम (Payment of Wages Act) कारखाना, रेलों, कोयले की खानों तथा असम एवं मद्रास के बगानों में काम करने वाले श्रमिकों पर लागू होता है। इस अधिनियम के अन्तर्गत 200 रुपये या इससे कम मासिक वेतन पानेवाले श्रमिक ही आते हैं। अधिनियम के अनुसार मजदूरी चुकाने की अधिकतम अवधि 1 माह

निश्चित की गयी है। मजदूरी नकद मुद्रा के रूप में दी जानी चाहिए। जिन कारखानों में मजदूरों की संख्या एक हजार से कम है वहाँ मजदूरी अगले माह की 7 तारीख तक तथा जहाँ मजदूरों की संख्या 1 हजार से अधिक है वहाँ 10 ता० तक अवश्य दे दी जानी चाहिए। जुमनि के रूप में मजदूरों की आय में किसी भी माह में 2 पैसे प्रति रुपये से अधिक नहीं काटा जा सकता। साथ ही, जुमनि से प्राप्त रकम को श्रम-कल्याण के कार्यों पर व्यय किया जायगा।

### न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948 (Minimum Wages Act, 1948)

**न्यूनतम मजदूरी का प्रश्न (The question of Wages)** :—विश्व के प्रायः सभी देशों में आज इस बात को स्वीकार कर लिया गया है कि समाज में जीवन का एक न्यूनतम स्तर सभी व्यक्तियों के लिए आवश्यक है। मजदूर और उसके परिवार का स्वास्थ्य तथा कार्यक्षमता एवं आत्म-प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए सभी उद्योगों में मजदूरों को एक न्यूनतम रकम चुकानी चाहिए। इस सिद्धान्त के पीछे यह भावना कार्य करती है कि श्रम केवल बाजार में खरीदी और बेची जाने वाली वस्तु ही नहीं है, वरन् यह उत्पादन का एक-मात्र मानवीय साधन है और उसको मिलनेवाले प्रतिफल पर ही उसकी कार्य-क्षमता के साथ-साथ मानव सम्पत्ता का अस्तित्व भी निर्भर करता है। अतः, यदि माँग एवं पूर्ति की शक्तियाँ एक न्यूनतम रहन-सहन का स्तर कायम करने में असमर्थ हों तो सरकार के लिए इन शक्तियों का नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है। इस सम्बन्ध में कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि यदि मजदूरी बढ़ा दी जाय तो इसका दुरुपयोग शराब पीने अथवा अन्य बुरी आदतों में किया जाने लगेगा। इस प्रकार इससे न तो श्रमिकों की कार्य-क्षमता में वृद्धि होगी, न जीवन-यापन का स्तर ही ऊँचा उठता है। यह भी कहा जा सकता है कि मजदूरी बढ़ाने से उद्योग अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में नहीं ठहर सकते। किन्तु ये सारे तर्क वास्तव में तथ्यहीन हैं।

परन्तु, न्यूनतम रहन-सहन का स्तर क्या है? यह ठीक-ठीक कहना कठिन है। वास्तव में, रहन-सहन का स्तर विभिन्न परिस्थितियों पर निर्भर करता है जिनमें आर्थिक विकास का स्तर प्रमुख है। आर्थिक विकास के स्तर में विभिन्नता के फलस्वरूप विभिन्न देशों के जीवन-स्तर में भी विभिन्नता पायी जाती है। यहाँ इस विवादास्पद विषय की चर्चा करना उचित नहीं है। केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि मजदूरी कम-से-कम इतनी अवश्य होनी चाहिए जिससे कि मजदूर और परिवार के स्वास्थ्य, कार्यक्षमता और आत्मप्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए,



वर्तमान मूल्य-स्तर पर आवश्यकतानुसार वस्तुएँ प्राप्त हो सकें। मजदूरी इस अनिवार्य स्तर से किसी भी हालत में कम नहीं होनी चाहिए। वस्तुतः, इस सम्बन्ध में हमारा वास्तविक लक्ष्य तो यह होना चाहिए कि मजदूरों की मजदूरी केवल उनके अस्तित्व एवं कार्य-क्षमता को बनाये रखने भर ही नहीं हो, वरन् इतनी हो जिससे कि उनके लिए आधुनिक सुसम्पन्न जीवन की अन्य सुविधाएँ, जैसे— शिक्षा, उत्तम आवास, विश्राम एवं मनोरंजन आदि भी प्राप्त हो सकें। इसे आदर्शतम मजदूरी कहा जा सकता है। विभिन्न उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों की मजदूरी इसी न्यूनतम एवं आदर्शतम मजदूरी के बीच तय की जानी चाहिए। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि न्यूनतम मजदूरी वह सीमा है जिससे कम मजदूरी मिलने पर श्रमिकों के लिए आत्मसम्मानपूर्वक जीवन-यापन असंभव हो जाता है तथा आदर्शतम मजदूरी वह है जिस स्तर पर मजदूर अन्य सभ्य नागरिकों की तरह अपना जीवन-यापन भी व्यतीत कर सकते हैं। इन दोनों के बीच उचित मजदूरी (fair wages) का एक स्तर है जो श्रम की माँग एवं पूर्ति, उत्पादकता तथा उद्योग-धन्धे के सामर्थ्य द्वारा निश्चित होता है।

1948 ई० का न्यूनतम मजदूरी-विधान (Minimum Wages Act of 1948) :—भारत में सर्वप्रथम 1921 ई० के शाही श्रम-आयोग ने इस ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया, किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व तक इस क्षेत्र में सरकार ने कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया। 1948 ई० में एक न्यूनतम मजदूरी विधान (Minimum Wages Act) बनाया गया। इसे अधिनियम के द्वारा केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों को कुछ विशेष उद्योगों में, जहाँ श्रमिकों के शोषण अथवा उसकी सम्भावना अधिक है, न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने का अधिकार दिया गया है। इसके अनुसार निम्नलिखित उद्योगों में अब तक न्यूनतम मजदूरी तय की गयी है—ऊनी शाल तथा कालीन बनाने वाले उद्योग, चावल, आटा तथा दाल तैयार करनेवाले उद्योग, तम्बाकू एवं बीड़ी-उद्योग, रबर, चाय तथा कहवा के बगान, पत्थर तोड़ना तथा कूटना, लोहा उद्योग, अबरख की खानें, निजी मोटर परिवहन तथा चमड़ा-सिक्काने के उद्योग। अन्य उद्योगों में भी राज्य सरकारें तीन महीने पूर्व सूचना देकर इसे लागू कर सकती हैं। इसके अन्तर्गत कृषि भी सम्मिलित है जिसमें कुछ राज्य सरकारों द्वारा यह आंशिक रूप में लागू भी किया गया है। इसके द्वारा कृषि में तीन वर्ष तथा अन्य उद्योग-धन्धों में दो वर्षों के बाद न्यूनतम मजदूरी निर्धारित हो जानी चाहिए। किन्तु बाद में एक संशोधन द्वारा इस अवधि में वृद्धि की गयी है। पुनः बाद में 1957 ई० के एक संशोधन के अनुसार 1959 ई० के अन्त तक उल्लिखित उद्योग के सभी श्रमिकों को इस नियम के अन्तर्गत

लाने का आयोजन था। बाद में 1961 ई० के एक संशोधन के अनुसार न्यूनतम-मजदूरी विधान के लागू करने की सीमा को समाप्त कर दिया गया। इस अधिनियम के अनुसार न्यूनतम मजदूरी तय करने के लिए राज्य सरकारें सलाहकार समितियाँ नियुक्त करती हैं, जो राज्य सरकारों को इस विषय की जाँच के बाद सलाह देती हैं। न्यूनतम मजदूरी की दरों में समय-समय पर सरकार द्वारा परिवर्तन भी किया जा सकता है। इस अधिनियम का उद्देश्य ऐसे उद्योगों में श्रमिकों की न्यूनतम मजदूरी निश्चित करना है जिनमें श्रमिक संगठन नहीं हो तथा वे उचित मजदूरी की माँग करने में प्रायः असमर्थ हों।

यह अधिनियम वास्तव में प्रशंसनीय है। फिर भी, इसके विरुद्ध बहुत-सारी आलोचनाएँ दी जाती हैं। सर्वप्रथम, तो इसका क्षेत्र बहुत ही संकीर्ण है। इसमें बड़े पैमाने के उद्योगों की कोई चर्चा नहीं की गयी है। लेकिन, बड़े पैमाने के उद्योगों में भी मजदूरी की दर अनिश्चित रहती है जिससे इनमें भी मजदूरी की समस्या अव्यवस्थित उद्योगों की तरह ही गम्भीर है। अतः इन उद्योगों में भी राजकीय नियन्त्रण की बड़ी आवश्यकता है। साथ ही, इस अधिनियम में न्यूनतम मजदूरी तय करने के लिए जिस मशीनरी की व्यवस्था की गयी है वह भी संतोषजनक नहीं है। वास्तव में, न्यूनतम मजदूरी की दर निश्चित करने के लिए एक स्थायी समिति की आवश्यकता है जिसमें सरकार, मिल-मालिक तथा मजदूर सभी के प्रतिनिधियों के मनोनयन में सतर्कता से काम लेना चाहिए। इस अधिनियम में न्यूनतम मजदूरी क्या है, इसकी व्याख्या भी नहीं की गयी है। वास्तव में, इस अधिनियम में न्यूनतम मजदूरी की स्पष्ट व्याख्या अनिवार्य है। इस अधिनियम का एक दोष यह भी बतलाया जाता है कि सेवा-योजक न्यूनतम मजदूरी को ही अधिकतम मजदूरी समझते हैं, अतः जिन उद्योगों में श्रमिकों को पहले अधिक मजदूरी मिलती थी उनमें मजदूरी घटा भी दी गयी है।

श्रमिक-संघ एवं औद्योगिक संघर्ष अधिनियम (Trade Union and Industrial Disputes Act) :—भारत में पहला श्रमिक संघ-अधिनियम (Trade Union Act), 1926 ई० में पारित हुआ। इस अधिनियम द्वारा श्रमिक संघों को रजिस्टर्ड कराने की सुविधा तथा अन्य बहुत-से कानूनी अधिकार प्रदान किये गये। 1947 ई० तक इस अधिनियम में कोई महत्वपूर्ण संशोधन नहीं हुआ। 1947 ई० में इस अधिनियम की एक बहुत बड़ी कमी को संशोधन के द्वारा दूर किया गया। इस संशोधन के अनुसार मिल-मालिकों को प्रतिनिधि श्रमिक संघों (Representative Trade Unions) को मान्यता प्रदान करने के लिए बाध्य किया गया।

भारत में पहला औद्योगिक संघर्ष अधिनियम (Indus-



trial Disputes Act) 1929 ई० में पारित हुआ जिसके अनुसार मालिक एवं मजदूरों के झगड़ों को समाप्त करने के लिए 'ऐच्छिक समझौते' की व्यवस्था की गयी। यह अधिनियम स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय तक चलता रहा। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद एक नया औद्योगिक संघर्ष अधिनियम बनाया गया जिसके अनुसार औद्योगिक संघर्षों को समाप्त करने के लिए समितियों, समझौता अफसरों, समझौता परिषदों तथा औद्योगिक अदालतों की स्थापना की व्यवस्था की गयी। 1950 ई० के औद्योगिक संघर्ष (अपील अदालत) (Industrial Disputes) (Appellate Tribunal) Act, 1950] के अनुसार औद्योगिक अदालतों के निर्णयों के विरुद्ध सिफारिशों के लिए भारत सरकार द्वारा स्थायी अपील अदालत की नियुक्ति की गयी। किन्तु, 1956 ई० के औद्योगिक संघर्ष कानून के अनुसार इस 'अपील अदालत' को विघटित कर दिया गया तथा तीन प्रकार के नये न्यायालयों की व्यवस्था की गयी :— (1) श्रमिक न्यायालय, (2) औद्योगिक न्यायालय, तथा (3) राष्ट्रीय न्यायालय। श्रमिक संघ एवं औद्योगिक संघर्ष-सम्बन्धी इन अधिनियमों की विस्तारपूर्वक विवेचना अगले अध्याय में की जायगी।

सामाजिक सुरक्षा (Social Security) सम्बन्धी अधिनियम :—मजदूरों को बीमारी, बुढ़ापा, दुर्घटना, अकाल-मृत्यु आदि जोखिमों एवं अनिश्चितताओं से मुक्त करने या बचाने की व्यवस्था को ही सामाजिक सुरक्षा कहा जाता है। इस सम्बन्ध में भी भारत सरकार द्वारा समय-समय पर भिन्न-भिन्न सुविधाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से विभिन्न अधिनियम तैयार किये गये हैं। इनमें सबसे पहले श्रमिक क्षति-पूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act), 1923 ई० में बनाया गया जिसके अनुसार व्यावसायिक रोगों अथवा दुर्घटनाओं के शिकार श्रमिकों को क्षति-

पूर्ति देने की व्यवस्था की गयी। कई प्रान्तों में औरतों को भी मातृत्व की सुविधा प्रदान करने के लिए मातृत्व लाभ अधिनियम (Maternity Benefit Act) बनाये गये जिनके अनुसार औरत श्रमिकों को प्रसव के पहले तथा बाद में छुट्टी एवं अन्य सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। इसके अतिरिक्त खनिज उद्योगों में लगे श्रमिकों के कल्याण के लिए समय-समय पर बहुत-से विधान बनाये गये जिसमें Mica Mines Labour Welfare Fund Act, 1946 तथा Coal Mines Provident Fund and Bonus Schemes Act, 1948 आदि उल्लेखनीय हैं। सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में सबसे प्रमुख अधिनियम 1948 ई० का कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम (Employee's State Insurance Act) है जिनके अनुसार पाँच प्रकार के लाभ या सुविधाएँ देने की व्यवस्था की गयी है—बीमारी के लिए, मातृत्व के लिए, अयोग्यता के लिए, आश्रितों के लिए तथा चिकित्सा के लिए। इस उद्देश्य से एक कोष का निर्माण किया गया है जिसकी देख-रेख के लिए एक निगम की स्थापना की गयी है।

राष्ट्रीय श्रम-आयोग (National Labour Commission) :—भारत सरकार ने 25 दिसम्बर, 1966 को भारत के भूतपूर्व न्यायाधिपति श्री बी० गजेन्द्रगदकर की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय श्रम-आयोग की नियुक्ति की। आयोग के विचाराधीन विषयों में श्रमिकों की वर्तमान स्थिति, इनकी मजदूरी, राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी-निर्धारण, सामाजिक सुरक्षा की वर्तमान व्यवस्था, श्रम-संघों के कार्य एवं महत्त्व तथा श्रम सन्धियम आदि रखा गया था। आयोग ने 28 अगस्त, 1969 को भारत सरकार के समक्ष अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। आयोग के सुझावों का औद्योगिक श्रमिकों के लिए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. V. V. Giri : Labour Problems in the Indian Industry, Ch. I.
2. V. B. Singh : Industrial Labour in India, Chapters XXVIII to XXIX.
3. Indian Labour Year Book, 1968, Chapter 4.
4. Reserve Bank of India Bulletin, April, 1964.
5. India, 1977.
6. Report of the National Labour Commission, 1969.

1. सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विवेचन अगले अध्याय में की गयी है।



## अध्याय : 41

### श्रमिक-संघ एवं औद्योगिक सम्बन्ध (Trade Unions and Industrial Relations)

**श्रमिक संघ का अर्थ (Meaning of Trade Union) :**—श्रमिक-संघ आधुनिक विशालकाय उत्पादन-व्यवस्था की एक प्रमुख देन है। श्री तथा श्रीमती वेब के अनुसार श्रमिक संघ वास्तव में मजदूरी पर निर्वाह करने-वाले व्यक्तियों के काम की दशाओं को और न बिगड़ने देने तथा उनमें सुधार के लिए बनाये गये स्थायी संगठन हैं। इससे स्पष्ट है कि इन लोगों के अनुसार श्रमिक संघों के दो मुख्य उद्देश्य हैं—सर्वप्रथम तो, अभी तक जो कुछ प्राप्त हो सका उसे ज्यों-का-त्यों बनाये रखना और द्वितीयतः काम की दशाओं में और सुधार लाने की व्यवस्था करना। किन्तु, यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि श्रमिक संघों का अन्तिम-उद्देश्य अपने सदस्यों के सौदा करने की शक्ति (Bargaining powers) में वृद्धि करना है जिससे वे आपस में मिलकर स्वयं अपनी समस्याओं का समाधान कर सकें। वे अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न उपायों को अपनाते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्रमिक संघों की शुरुआत हुई तथा आज भी इन संघों का प्रधान उद्देश्य यही है। आज भी संसार के किसी देश के मजदूरों की शक्ति वहाँ के श्रमिकों की जागरूकता पर ही निर्भर करती है। इस प्रकार श्रमिक संघ श्रमजीवियों के संगठन का केन्द्र-बिन्दु है। वास्तव में, ये सामाजिक अशान्ति नहीं वरन् सामाजिक प्रगति के प्रतीक हैं।

**श्रमिक संघों की आवश्यकता (Necessity of Trade Unions) :**—पूँजीवादी उत्पादन-व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता पूँजी एवं श्रम का पार्ष्वक्य है। इस प्रकार की उत्पादन-व्यवस्था में उत्पादन का कार्य बहुत बड़े पैमाने पर दूर-दूर तक विस्तृत बाजारों के लिए किया जाता है। आज कारखानों में हजारों-हजार की संख्या में मजदूर कार्य करते हैं। पूँजीपतियों ने इन कारखानों की स्थापना में अपार धनराशि खर्च की है। इनका उद्देश्य अपनी इस पूँजी की बदौलत अधिक-से-अधिक लाभ कमाना होता है। उत्पादन-व्यय को कम करने के लिए ये मजदूरों को कम-से-कम मजदूरी देना चाहते हैं। निर्धन एवं निस्सहाय मजदूरों को रोजी के अन्य साधनों के अभाव में विवश होकर मालिकों की शक्तों को मंजूर करना पड़ता है। कम मजदूरी के अतिरिक्त कारखानों में औद्योगिक क्रांति के प्रारम्भिक काल में इन्हें 12-14 घण्टे तक प्रतिदिन कार्य करना पड़ता था। इनके लिए उचित विश्राम की व्यवस्था

भी नहीं थी तथा जीवन की अन्य सुविधाओं का नामो-निशान तक नहीं था। मजदूरों की इन विवशताओं से मिलमालिक इनका तरह-तरह से शोषण करते थे। मालिकों की इस स्वार्थ-वृत्ति तथा मजदूरों की विवशता एवं पंगुता के विरुद्ध धीरे-धीरे मजदूरों में स्वाभाविक प्रतिक्रिया होने लगी तथा वे आपस में संगठित होने का प्रयत्न करने लगे। श्रमिक-संघों का निर्माण इसी प्रतिक्रिया का परिणाम है।

श्री सिडनी वेब के अनुसार श्रमिक-संघों के निर्माण में हमें तीन स्पष्ट अवस्थाएँ देखने को मिलती हैं : सबसे पहले मजदूर एक-दूसरे की सहायता करके अपनी स्थिति सुधारने का प्रयत्न करते हैं। किसी मजदूर की बीमारी, बेकारी अथवा अन्य, किसी मुसीबत में वे आपसी चन्दे द्वारा उसकी सहायता करते हैं। श्री वेब ने इसे 'पारस्परिक बीमा' का नाम दिया है। इस प्रकार के संगठन से मजदूरों को लाभ अवश्य होता है, किन्तु इससे मालिकों द्वारा शोषण समाप्त नहीं होता। अतः मजदूरों में वर्ग के आधार पर संगठन होने लगा। इस स्तर पर जब मालिक मजदूरों को विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ देने से इनकार करते हैं तो मजदूर भी काम करने से इनकार करते हैं और इस प्रकार 'हड़ताल' की शुरुआत हुई। हड़तालों से मजदूरों को भी आर्थिक कष्ट होता है, किन्तु मिल-मालिकों को सबसे अधिक हानि होती है; क्योंकि कारखानों में काम बन्द हो जाने से इनकी आय का साधन ही समाप्त हो जाता है। इस स्तर तक आते-आते श्रमिकों में संगठन बहुत बढ़ जाता है तथा उनकी शक्ति में भी बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार के कार्यों में सामूहिक संगठन का महत्त्व है। अतः इसे 'सामूहिक सौदेबाजी' (Collective Bargaining) का नाम दिया जा सकता है। धीरे-धीरे श्रमिकों की माँग से जनता भी इनके प्रति सहानुभूति प्रकट करने लगती है तथा समाज में इनकी स्थिति सुधारने के लिए उत्सुकता बढ़ जाती है। अन्त में, देश की सरकार को भी इस क्षेत्र में हस्तक्षेप करना पड़ता है तथा विधान द्वारा मजदूर-संघों के नेतृत्व और प्रतिनिधित्व को स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार औद्योगिक सम्बन्धों की समस्या के समाधान में राज्य का महत्त्व बढ़ जाता है तथा इनके लिए औद्योगिक संघर्ष अधिनियम बनाये जाते हैं। अतः श्रमिक-संघों के विकास के इस तीसरे स्तर को "वैधानिक स्वीकृति" का नाम दिया जाता है।



इस प्रकार श्रमिक संघों के विकास में ये तीन स्तर स्पष्टतः नजर आते हैं। प्रत्येक पूँजीवादी उत्पादन-व्यवस्थावाले देश में श्रमिक संघों के विकास में ये तीन स्तर देखने को मिलते हैं।

### भारत में श्रमिक-संघ आन्दोलन की शुरुआत (Beginning of the Trade Union Movement in India)

भारत में प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक श्रमिकों में संगठन का आम तौर पर अभाव था। भारत का औद्योगिक इतिहास, वास्तव में, गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ होता है। 1854-55 ई० के बाद देश में बड़े पैमाने के उद्योगों का विकास धीरे-धीरे प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में इन उद्योगों में काम करनेवाले मजदूरों को बहुत-सी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती थीं। भारतीय मजदूरों में बहुत दिन तक सामूहिक सौदेबाजी की शक्ति (Collective bargaining) की भावना का विकास नहीं हुआ था। अतः, ये मालिकों द्वारा विभिन्न प्रकार से शोषित होते रहे। सर्वप्रथम, 1875 ई० में भी सौरभजी शुपुरजी बंगाली ने मजदूरों की इस दयनीय दशा की ओर भारत सरकार का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया। इसी समय श्री नारायण मेवाजी लोखंडे ने श्रमिकों को संगठित करने का प्रयास किया। 1890 ई० में फैक्टरी कमीशन ने भी लोखंडे को मजदूरों की स्थिति सुधारने के सम्बन्ध में अपना सुझाव देने के लिए आमंत्रित किया था। इन्होंने 1890 ई० में 'बम्बई मिल हेण्डस एसोशिएशन' नामक मजदूरों का संगठन स्थापित किया। 1897 ई० में भारत एवं बर्मा की एक अमलगमेटेड सोसाइटी ऑफ रेलवे सर्वेन्ट्स की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य भाईचारे के आधार पर संघ कायम करना था। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में कुछ संघों की स्थापना भी हुई जिनमें बम्बई पोस्टल यूनियन, 1906; प्रिन्टर्स यूनियन कलकत्ता, 1908; सी-मेन यूनियन, कलकत्ता आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। 1910 ई० में कामगार हिसबर्दक सभा नामक एक श्रमिक संघ का निर्माण हुआ, किन्तु इसने भी इस क्षेत्र में कोई प्रशंसनीय कार्य नहीं किया। प्रथम महायुद्धकाल में महर्गाई एवं उपनिवेशों में भारतीय श्रमिकों के प्रति भेद-भाव, स्वदेशी आन्दोलन के विकास तथा रूस की जन-क्रान्ति के फलस्वरूप मजदूरों में एक नयी चेतना का संचार होने लगा। स्वदेशी आन्दोलन से भी देश के श्रमिक-संघ आन्दोलन को बड़ा बल मिला।

भारत में श्रमिक संघ का इतिहास, वास्तव में प्रथम महायुद्ध के बाद से ही प्रारम्भ होता है जबकि 1918 ई० में मद्रास की सूती मिलों के श्रमिकों ने श्री बी० पी० बाडिया के नेतृत्व में एक मजदूर-संघ का निर्माण किया। इसके बाद अन्य स्थानों में भी श्रमिक संघों का निर्माण

होने लगा जिसके फलस्वरूप अगले वर्ष तक संघों की संख्या 4 तथा इनके सदस्यों की संख्या 20 हजार हो गयी। 1920 ई० में महात्मा गाँधी की प्रेरणा से अहमदाबाद में अखिल भारतीय मजदूर संघ (All India Trade Union Congress) की स्थापना हुई जिससे इस आन्दोलन को बहुत बड़ा प्रोत्साहन मिला। सम्पूर्ण देश के श्रमिक वर्ग को संगठित रूप देनेवाली यह पहली संस्था थी। 1922 ई० में केन्द्रीय श्रम समिति की स्थापना हुई तथा उसी वर्ष आल इंडिया रेलवे मेन्स फेडरेशन तथा पोस्ट एण्ड टेलिग्राफ यूनियन की स्थापना भी की गयी, किन्तु 1920 ई० में मालिकों के विरुद्ध में हड़ताल करने पर मद्रास हाइकोर्ट ने हड़ताल को गैर-कानूनी घोषित कर दिया जिससे श्रमिक-संघों को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा। इसके बाद श्रमिक-संघों को वैधानिक मान्यता दिलाने की कोशिश की जाने लगी। इन सारे प्रयत्नों के परिणामस्वरूप 1926 ई० में एक ट्रेड यूनियन ऐक्ट (Trade Union Act, 1926) पारित हुआ जिसके अनुसार श्रमिक-संघों को कानूनी मान्यता प्रदान की गयी। तब से देश में श्रमिक-संघों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है।

सन् 1926 ई० का श्रमिक-संघ अधिनियम (The Trade Union Act of 1926):—भारत में 1926 ई० में पहला ट्रेड यूनियन ऐक्ट पारित हुआ जो जून, 1927 ई० से लागू किया गया। इस अधिनियम के अनुसार श्रमिक-संघों को रजिस्टर्ड कराने की सुविधा प्राप्त हुई। श्रमिक-संघों की रजिस्ट्री ऐन्चिक थी, किन्तु रजिस्टर्ड संघों को बहुत-सारी सुविधाएँ एवं अधिकार प्राप्त थे जिससे प्रायः सभी संघ रजिस्ट्री कराने पर अधिक जोर देते थे। रजिस्टर्ड संघों को अपना नाम और उद्देश्य निश्चित रूप से घोषित करना पड़ता था। साथ ही, उन्हें अपने सदस्यों की एक सूची रखनी पड़ती थी तथा अपने कोष की वार्षिक जाँच विधिवत् रूप से करानी पड़ती थी। श्रमिक संघों का जमा कोष केवल सदस्यों के हित के लिए ही व्यय किया जा सकता था। सामाजिक एवं राजनीतिक हित के लिए भी ये संघ एक पृथक् कोष स्थापित कर सकते थे, किन्तु इसमें चन्दा देना सदस्यों की इच्छा पर निर्भर करता था। रजिस्टर्ड संघों के पदाधिकारियों की कम-से-कम आधी संख्या उस उद्योग में लगे हुए मजदूरों की होनी चाहिए। इस प्रकार उक्त अधिनियम द्वारा रजिस्टर्ड संघों पर बहुत-सी जिम्मेदारियाँ लाद दी गयी थीं। किन्तु, साथ-ही-साथ, उन्हें बहुत-सी सुविधाएँ भी प्राप्त थीं। रजिस्टर्ड श्रमिक संघ द्वारा वैध उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किये गये न्यायोचित कार्यों के लिए अधिकारियों को अपराध के दायित्व से मुक्त कर दिया गया। साथ ही, इन पर षडयन्त्र का आरोप भी नहीं लगाया जा सकता है। रजिस्टर्ड श्रमिक संघ के किसी सदस्य पर किसी औद्योगिक संघर्ष को अग्र-



सारित करने के लिए किसी प्रकार का दीवानी मुकदमा भी नहीं चलाया जायगा। इसी तरह किसी रजिस्टर्ड श्रमिक संघ के किसी सदस्य के विरुद्ध इस आधार पर दीवानी कचहरी में कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता जब तक कि यह भली-भाँति सिद्ध न कर दिया जाय कि वह संघ की कार्यकारिणी को बिना बताये या उनके प्रकट आदेशों के विरुद्ध कार्य किया हो।

1947 ई० में इंडियन ट्रेड यूनियन अधिनियम में संशोधन हुआ जिसके अनुसार प्रतिनिधि श्रम-संघों को मिल-मालिकों द्वारा मान्यता प्रदान करना आवश्यक बना दिया गया। मान्यता प्रदान करने की निम्नलिखित शर्तें निर्धारित की गयीं—

(क) श्रम-संघों का रजिस्टर्ड करना आवश्यक है।

(ख) संघ के सभी सदस्य एक ही उद्योग अथवा सम्बन्धित उद्योगों में काम करनेवाले हों, तथा

(ग) संघ कारखाने में काम करनेवाले श्रमिकों की एक प्रतिनिधि संस्था हो।

इस संशोधन में कुछ ऐसी बातों की चर्चा भी की गयी है जो मालिकों तथा रजिस्टर्ड संघों के लिए अनुचित थी।

1926 ई० के श्रमिक-संघ अधिनियम में पुनः 1960 ई० में संशोधन हुआ जिसके अनुसार प्रत्येक श्रमिक का न्यूनतम चंदा 25 पैसे प्रति माह निश्चित किया गया। इस संशोधन के अनुसार रजिस्ट्रार अथवा उनके द्वारा नियुक्त कोई भी व्यक्ति किसी श्रमिक-संघ के आवश्यक कागजात वगैरह की जाँच कर सकता है।

1926 ई० के ट्रेड यूनियन ऐक्ट ने श्रमिक-संघ के विकास को बहुत ही प्रोत्साहित किया। इसी समय कम्युनिस्टों ने भी श्रम-आन्दोलन में प्रवेश किया तथा इस क्षेत्र में इनका प्रभुत्व दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा। 1924 ई० के कानपुर अधिवेशन के इनका प्रभुत्व ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर प्रारम्भ हो गया तथा 1928-29 ई० तक इन्होंने अपनी स्थिति काफी पर्याप्त मात्रा में सुदृढ़ कर ली। अतः, 1929 ई० के 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' के नागपुर अधिवेशन में नरम दल के अनुयायियों ने श्री एन० एम० जोशी के नेतृत्व में 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन' नामक एक पृथक् संस्था का निर्माण किया। इसका आन्दोलन की प्रगति पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ा। पुनः 1931 ई० में रानाडे एवं देशपांडे नामक वामपक्षी नेताओं ने अखिल भारतीय रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की जिससे इस आन्दोलन की प्रगति को और आघात पहुँचा। किन्तु, 1934 ई० में 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' तथा

'ट्रेड यूनियन कांग्रेस' में एक समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप ये दोनों संस्थाएँ पुनः आपस में मिल गयीं। इस बीच अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन से भी बातचीत चलती रही तथा 1938 ई० में श्री बी० बी० गिरि के प्रयत्नों के फलस्वरूप यह संस्था भी 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' में मिल गयी।

द्वितीय महायुद्ध में श्रमिक-संघ आन्दोलन (Trade Union Movement in the Second World War) :- द्वितीय महायुद्ध का श्रमिक आन्दोलन की प्रगति पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा तथा युद्धकाल में शामिल होने के प्रश्न को लेकर ट्रेड यूनियन कांग्रेस में फूट पड़ने लगी। साम्यवादी लोग रूस का अनुकरण करते हुए ब्रिटिश सरकार की सहायता करना चाहते थे, किन्तु राष्ट्रवादी नेता ब्रिटिश सरकार को सहायता नहीं देना चाहते थे। युद्धकाल में श्री एम० एन० राय और उनके समर्थकों ने, जो युद्ध के प्रयत्नों में पूरा-पूरा सहयोग देने के पक्ष में थे, 'इण्डियन फेडरेशन ऑफ लेबर' नामक एक पृथक् संस्था का निर्माण किया। इसी बीच 1942 ई० में कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी के बाद 'ट्रेड यूनियन कांग्रेस' पर पुनः कम्युनिस्टों का प्रभाव स्थापित हो गया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कम्युनिस्टों के प्रभाव को कम करने के लिए कांग्रेसी नेताओं की प्रेरणा से एक नयी संस्था 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' (All India National Trade Union Congress) की स्थापना हुई। आजकल भारतीय मजदूरों की यह सबसे बड़ी प्रमुख संस्था है। समाजवादी दलवालों ने 1949 ई० में 'हिन्दू मजदूर सभा' नामक एक पृथक् संस्था की स्थापना की। प्रो० शाह के नेतृत्व में 'संयुक्त श्रम सभा' (United Trade Union Congress) का संगठन किया गया। इस प्रकार आजकल भारत में उपरोक्त चार अखिल भारतीय श्रम-संगठन हैं।

### श्रमिक-संघों की वर्तमान स्थिति

#### (Present Position of Trade Unions)

पिछले कुछ वर्षों से भारत में श्रमिक-संघ आन्दोलन की निरन्तर प्रगति हो रही है जिसका अन्दाजा निम्नलिखित तालिका<sup>1</sup> से लगाया जा सकता है—

| वर्ष    | रजिस्टर्ड संघों की संख्या | इनके सदस्यों की संख्या |
|---------|---------------------------|------------------------|
| 1927-28 | 29                        | 1,00,619               |
| 1929-30 | 667                       | 5,11,148               |
| 1944-45 | 865                       | 8,89,389               |
| 1947-48 | 2766                      | 16,62,928              |
| 1949-50 | 3522                      | 18,21,132              |

1. Report of the National Labour Commission,



|         |        |           |
|---------|--------|-----------|
| 1951-52 | 3844   | 18,53,213 |
| 1955-56 | 8095   | 22,74,732 |
| 1958-59 | 10,228 | 36,47,148 |
| 1960-61 | 11,312 | 37,82,000 |
| 1964-65 | 13,023 | 44,66,000 |
| 1970-71 | 19,865 | 42,41,069 |

1951-52 ई० में 3744 रजिस्टर्ड श्रमिक संघों में से 2656 मजदूरों की संस्थाएँ थीं। पश्चिमी बंगाल, बम्बई, उत्तर प्रदेश तथा विहार में इनकी संख्या सबसे अधिक यानी क्रमशः 921; 629; 521 और 506 थीं। 1951-

52 ई० में औरत सदस्यों की संख्या 1,16,061 थी जो कुल सदस्यों की संख्या का प्रायः 6.3 प्रतिशत भाग था। औरत सदस्यों की संख्या का प्रतिशत 1927-28 ई० में केवल 1.2 ही था। उपरोक्त तालिका से यह पता चलता है कि 1947-48 ई० के बाद श्रमिक-संघों की संख्या में तीव्रता के साथ वृद्धि हुई, किन्तु प्रति संघ औसत सदस्यों की संख्या 1948-49 ई० के बाद क्रमशः घट रही है।

आजकल भारत में श्रमिक संघों के चार प्रमुख अखिल भारतीय संगठन हैं जिनकी 1968 ई० में सदस्य संख्या इस प्रकार से थी<sup>1</sup> :—

#### अखिल भारतीय श्रमिक संघों की सदस्यता 1968

| संस्था के नाम                                         | सम्बन्धित श्रमिक-संघों की संख्या | कुल सदस्यों की संख्या (लाख में) | कुल सदस्यों का प्रतिशत |
|-------------------------------------------------------|----------------------------------|---------------------------------|------------------------|
| 1. भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (I.N.T.U.C) | 1,165                            | 13.3                            | 51.0                   |
| 2. अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (A.I.T.U.C)      | 1,008                            | 6.3                             | 25.0                   |
| 3. हिन्द मजदूर सभा (H.M.S)                            | 248                              | 4.6                             | 16.0                   |
| 4. यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (U. T. U. C)        | 216                              | 1.3                             | 8.0                    |
| कुल                                                   | 2,637                            | 25.5                            | 100.0                  |

इन विभिन्न संस्थाओं का विवरण इस प्रकार से है :

- (1) भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (Indian National Trade Union Congress) :—यह संस्था कांग्रेसी विचारधारा के अन्तर्गत है। 1968 ई० में इससे सम्बन्धित श्रम-संघों की संख्या 1165 तथा सदस्यों की संख्या 13.3 लाख थी।
- (2) अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (All India Trade Union Congress) :—यह साम्यवादियों के हाथ में है। 1968 ई० में इससे सम्बन्धित श्रम-संघों की संख्या 1008 तथा सदस्यों की संख्या 6.3 लाख थी।
- (3) हिन्द-मजदूर सभा (Hind Mazdoor Sabha)—यह समाजवादियों द्वारा स्थापित की गयी संस्था है। 1968 ई० में इससे सम्बन्धित संघों की संख्या 248 तथा सदस्यों की संख्या 4.6 लाख थी।
- (4) यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (United Trade Union Congress) :—इस संस्था के अधिकांश सदस्य बंगाल तथा तमिलनाडु में हैं। 1969 ई० में इससे सम्बन्धित संघों की संख्या 216 तथा सदस्यों की संख्या 1.3 लाख थी।

भारत में इन श्रमिक संघों की आय बहुत ही कम

है। 1927-28 ई० में इनकी आय 1.6 लाख रुपये थी जो 1941-42 ई० में बढ़कर 16.5 लाख रुपये तथा 1946 ई० में 42.4 लाख रुपये हो गयी। इसी प्रकार इनकी आय 1951-52 ई० में 75.4 लाख रुपये तथा 1953-54 ई० में 97.4 लाख रुपये थी। इससे स्पष्ट है कि श्रमिक-संघों की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ उनके साधनों में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई है। इसी प्रकार श्रम-संघों की संख्या में गत वर्षों में वृद्धि अवश्य हुई है, किन्तु इनकी सदस्य-संख्या में अपेक्षाकृत कम ही वृद्धि हुई।

इस प्रकार श्रमिक संघ आन्दोलन ने भारत में थोड़े ही समय में असाधारण उन्नति की है। 1927-28 ई० में देश में सिर्फ 29 रजिस्टर्ड संघ थे जिनकी संख्या बढ़कर 1947-48 ई० में 2766 तथा 1966 में 2541 हो गयी। इससे इस आन्दोलन की प्रगति स्पष्ट हो जाती है। अब यह आन्दोलन देश के मजदूरों में विशेष लोकप्रिय हो गया है।

#### भारतीय श्रमिक-संघों की कमियाँ (Weaknesses of the Trade Union Movement in India)

जब हम भारतीय श्रम-संघों के सदस्यों की तुलना देश के संगठित उद्योगों में लगे मजदूरों की संख्या के



साथ करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय श्रम-संघ आन्दोलन अभी बहुत कम प्रगति कर सका है। वास्तव में, भारतीय श्रमिक-संघों की प्रगति के मार्ग में बहुत-सारी कठिनाइयाँ हैं जिनके फलस्वरूप इसे अभी बहुत कम सफलता मिल पायी है। इनमें से कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ इस प्रकार हैं :—

(1) श्रमिकों की प्रवासी प्रवृत्ति (Migratory character of the workers) :—भारतीय श्रमिक संघ के विकास में सबसे पहली बड़ी कठिनाई श्रमिकों की प्रवासी प्रवृत्ति है। भारतीय श्रमिक औद्योगिक केन्द्रों में अधिक दिनों तक नहीं ठहरते हैं। साथ ही, ये एक कारखाने में बहुत दिनों तक कार्य नहीं करते। इस प्रकार के श्रमिक स्थायी श्रमिकों की तुलना में श्रम संगठन में बहुत ही कम दिलचस्पी रखते हैं।

(2) अशिक्षित श्रमिकों में जनतन्त्रात्मक भावना का अभाव (Lack of democratic spirit among the illiterate and ignorant workers) :—भारतीय श्रमिक बहुधा अशिक्षित होते हैं जिससे ये अपने भविष्य के विषय में बहुत कम सोचा करते हैं। साथ ही, ये अनुशासन के महत्व को भी बहुत कम समझ पाते हैं। श्रमिक-संघों की प्रगति में यह बहुत बड़ी बाधा है।

(3) भाषा, धर्म, जाति आदि की विविधता (Difference in language, religion, caste and creed etc.) :—श्रमिक-संघों की सफलता में भाषा, धर्म, जाति आदि की विभिन्नता के फलस्वरूप श्रमिकों में भेद-भाव, संदेह एवं ईर्ष्या आदि को प्रोत्साहन मिलता है। इससे दृढ़ एवं स्थायी संगठन नहीं कायम हो पाता।

(4) श्रमिकों की निर्धनता (Poverty of the workers) :—भारतीय श्रमिकों को बहुत ही कम मजदूरी मिलती है। इससे इनका जीवन-यापन भी कठिनाई से चलता है। अतः वे संघों को अपना चन्दा तथा शुल्क भी समय पर नहीं चुका सकते हैं। साथ ही, मजदूरों के पास इतना कम अवकाश रहता है कि ये संघ आदि के विषय में बहुत ही कम सोच पाते हैं।

(5) मालिकों की दमन नीति तथा सरकार की उदासीनता—भारत में मिल-मालिक अथवा श्रेवायोजकों की दमन-नीति भी श्रमिक संघों के विकास के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा सिद्ध होती है। मालिक श्रमिकों पर तरह-तरह के अत्याचार करते हैं, ये इनकी मजदूरी रोक लेते हैं, इन्हें घरों से निकलवा देते हैं तथा इसी प्रकार के अन्य अत्याचार भी करते हैं। सरकार बहुत समय तक श्रमिक-संघों के प्रति उदासीन थी। इससे भी श्रमिक संघों का समुचित विकास नहीं हो पाता।

(6) मजदूरों को अवकाश की कमी (Lack of leisure among labourers) :—भारतीय श्रमिकों को कारखाने में बहुत ही अधिक समय तक कार्य करना पड़ता

है जिससे इन्हें संघ की समस्याओं की ओर सोचने का समय नहीं मिल पाता। वे साधारणतः कारखानों में 8-10 घंटे तक काम करके आते हैं और खा-पीकर अपने घर सो जाते हैं। इस प्रकार अवकाश का अभाव भी श्रमिक-संघों की प्रगति में बाधक सिद्ध होता है।

(7) दलबन्दी और नेतृत्व का अभाव (Political rivalries and lack of leadership) :—भारतीय श्रम-आन्दोलन प्रारम्भ से ही राजनीतिक नेताओं एवं दलों के हाथों में रहा है। एक ही नेता का बहुत संघों से सम्बन्ध रहता है जिससे ये अपना बहुत कम समय किसी एक संघ को दे पाते हैं। इसका श्रमिक-संघों की प्रगति पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ता है। ये नेता मजदूरों की वास्तविक परिस्थितियों से परिचित नहीं रहते तथा अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही श्रमिक संघों में प्रवेश करते हैं। श्रम-आन्दोलन की सफलता बहुत कुछ उचित नेतृत्व पर आधारित है। उचित नेतृत्व के अभाव में भारतीय श्रमिक-संघों को बहुत-सारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतः यह कहा जा सकता है कि 'भारतीय श्रमिक संघ नेतृत्व एवं वित्त दोनों दृष्टिकोण से आत्म-निर्भर नहीं है।' (The Trade Union Movement in India is neither self-reliant nor financially self-sustaining.)

(8) मजदूर-संघों के सीमित कार्य-क्षेत्र (Limited functions of Trade Unions) :—भारतीय श्रमिक-संघों की प्रगति में एक बहुत बड़ी बाधा इनके कार्य-क्षेत्र का सीमित होना है। ये अपने समय का अधिकतर भाग केवल लड़ाकू कार्यों में ही लगाते हैं तथा रचनात्मक कार्यों जैसे—वेकारी, बुढ़ापा, बीमारी आदि पर बहुत ही कम ध्यान देते हैं। इनका पूरा समय अपनी सुविधाओं में वृद्धि आदि के लिए मालिकों से लड़ने तथा हड़ताल आदि में ही लग जाता है। इससे इन्हें जनसाधारण की सहानुभूति नहीं प्राप्त हो पाती है।

(9) संघों का छोटा आकार (Small size of the unions) :—श्री वी० वी० गिरि के अनुसार भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन के अविकसित होने का एक प्रधान कारण अधिकांश श्रम-संघों के आकार का छोटा होना है। इनके अनुसार लगभग तीन-चौथाई संघ के सदस्यों की संख्या 500 से भी कम है।

निष्कर्ष के रूप में योजना आयोग (Planning Commission) के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "श्रमिक-संघों की अधिकता, राजनीतिक मनमुटाव, साधनों की कमी एवं श्रमिक में एकता का अभाव भारत के श्रमिक-संघ आन्दोलन की प्रधान वृद्धियाँ हैं। (Multiplicity of trade unions, political rivalries, lack of resources and disunity in the ranks of workers are some of the major weaknesses in a number of existing unions.)



### भारतीय श्रमिक-संघों की स्थिति में सुधार के उपाय (Methods to help the growth of Trade Unions)

इस प्रकार भारत में श्रमिक-संघ आन्दोलन की उपरोक्त सारी वृत्तियाँ हैं। अतएव, श्रमिक-संघ आंदोलन के विकास के लिए इन वृत्तियों को दूर करना अनिवार्य है। किन्तु, केवल श्रमिक ही इनका निराकरण नहीं कर सकते। इसके लिए सरकार एवं सेवायोजकों को प्रयत्नशील होना पड़ेगा। श्रमिक-संघ आंदोलन को सुदृढ़ बनाने से देश के आयोजित आर्थिक विकास में बहुत अधिक सहायता मिलेगी। इस सम्बन्ध में श्री वी० वी० गिरि का निम्नांकित कथन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है : "If the Trade Union Movement is not united and strong enough to achieve these objectives, the industrial structure to be built in India on the basis of full-fledged socialist democracy would not have firm foundations and the State, inspite of its best ideals and designs, would find it difficult to assure fundamental rights to the working class."<sup>1</sup> विश्व के अधिकांश देशों में आर्थिक नियोजन की नीति ने प्राचीन तरह के श्रमिक संघों के महत्त्व को विल्कुल समाप्त कर दिया है। आज श्रम-संघों का उद्देश्य केवल मालिकों के शोषण से मजदूरों की रक्षामात्र ही नहीं रह गया है, वरन् इनका वास्तविक उद्देश्य मजदूरों के वर्तमान जीवन-स्तर में सुधार तथा औद्योगिक व्यवस्था में हाथ बँटाना हो गया है। भारत में श्रम-आन्दोलन के सम्बन्ध में आज यही प्रमुख समस्या है। अब हमारे देश में वह स्थिति आ गयी है जबकि श्रमिक-संघों को मालिकों और मजदूरों के सम्बन्ध में हड़ताल द्वारा सुधार का एक साधन-मात्र नहीं समझकर इन्हें पंचवर्षीय योजनाओं की सिद्धि में सहयोग प्रदान करने का एक आवश्यक साधन समझना चाहिए। अतः देश में श्रम-आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य अब हड़ताल आदि न होकर पंचवर्षीय योजनाओं की सिद्धि में सहयोग प्रदान करना होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्रमिक-संघ का स्वस्थ विकास अनिवार्य है।

देश में श्रमिक संघों के विकास की गति को तीव्र बनाने के विभिन्न उपाय हैं जिनमें से कुछ का निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(1) श्रमिकों की शिक्षा तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था (Provision of education and training to workers) :—श्रमिकों में नेतृत्व की कमी को दूर करने तथा इन्हें संगठन के उद्देश्य से परिचित कराने के लिए इनकी निरक्षरता को दूर करना अनिवार्य है। श्रमिक-संघों को बाहरी नेताओं के प्रभाव से मुक्त करना भी आवश्यक है। इसके लिए इन्हें शिक्षित बनाना पड़ेगा।

साथ ही साथ, संगठन कायम करने के लिए प्रशिक्षण देने की भी आवश्यकता है।

(2) श्रमिक-संघों को राजनीति से अलग रहना चाहिए (Trade Unions should be free from politics) :—देश में सभी राजनीतिक दल श्रमिकों के बीच अपना-अपना अधिकार जमाना चाहते हैं। किन्तु, श्रमिकों की भलाई करने के बजाय उनका मुख्य उद्देश्य अपने राजनीतिक आधिपत्य को बढ़ाना ही होता है। वास्तव में, सभी श्रमिकों का स्वार्थ एक है। इनके बीच विभिन्न संस्थाएँ रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि वे सम्मिलित होकर कार्य करें तो श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं श्रमिक आंदोलन को आग बढ़ा सकेंगे। किन्तु, ऐसी स्थिति तभी हो सकती है जब श्रमिक-संघ राजनीतिक दलों से अपना सम्बन्ध तोड़ लें।

(3) इनके कार्य-क्षेत्र को विस्तृत बनाना (Extension of the scope of their activities) :—भारत में श्रमिक-संघों को हड़ताल आदि के अतिरिक्त रचनात्मक कार्यों की ओर भी ध्यान देना चाहिए। इस कार्य में श्रमिक-संघों को सिर्फ श्रमिकों की ही नहीं, वरन् मिल-मालिकों, जनता और सरकार की भी सहानुभूति प्राप्त हो सकेगी।

(4) श्रमिक-संघों के प्रति मिल-मालिकों के बर्ताव में परिवर्तन (Changes in the attitude of mill-owners towards Trade Unions) :—श्रमिक संघों के प्रति मिल-मालिकों को भी सहानुभूति दिखलानी चाहिए। उन्हें यह न भूलना चाहिए कि ऐसे संगठनों से सिर्फ मजदूरों को ही लाभ नहीं होता वरन् मिल-मालिकों, उपभोक्ताओं तथा समाज को भी लाभ होता है। एक शक्तिशाली श्रमिक संगठन के रहने से औद्योगिक संघर्ष में कमी आ सकती है जिससे उत्पादन में वृद्धि होगी। इस प्रकार उपरोक्त उपायों द्वारा श्रमिक-संघों की स्थिति में सुधार किया जा सकता है।

### औद्योगिक सम्बन्ध (Industrial Relation)

औद्योगिक सम्बन्ध की समस्या आधुनिक पूँजीवादी उत्पादन-व्यवस्था के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। आज की पूँजीवादी उत्पादन-व्यवस्था स्पष्ट रूप से दो वर्गों में विभाजित है—एक ओर तो पूँजीपतियों एवं उद्योगपतियों का वर्ग है जो श्रम के अतिरिक्त उत्पादन के अन्य साधनों के स्वामी हैं। इस वर्ग का उद्देश्य उत्पादन से अधिकतम लाभ कमाना रहता है। दूसरी ओर, श्रमिकों का वर्ग है जो अपने श्रम को बेच कर अपनी आजीविका प्राप्त करता है। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पूँजीपति आपस में संगठन कायम करने का प्रयत्न



करते हैं तथा दूसरी ओर अपनी मजदूरी बढ़ाने एवं काम की दशाओं में सुधार लाने के उद्देश्य से श्रमिक आपस में संघ बनाते हैं। इन दोनों संगठनों के बीच ईर्ष्या, सन्देह एवं भय की बहुत बड़ी खाई पायी जाती है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि छोटी-छोटी बातों को लेकर भी इनमें संघर्ष हो जाता है जिससे औद्योगिक सम्बन्ध खराब हो जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप हड़ताल एवं तालेबन्दी (Strikes and lockout) होने लगते हैं जिनका प्रभाव इन दोनों वर्गों के साथ-साथ सम्पूर्ण समाज पर भी पड़ता है। इस प्रकार औद्योगिक सम्बन्ध का महत्त्व केवल श्रम एवं पूँजी के लिए ही नहीं है, वरन् सम्पूर्ण समाज के लिए है। औद्योगिक समृद्धि के लिए श्रम एवं पूँजी के बीच शांतिपूर्ण सम्बन्ध आवश्यक है। वास्तव में, मालिक-मजदूर के सम्बन्ध को समाज की अधिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति के रचनात्मक प्रयास में साझेदारी के रूप में समझना चाहिए। भारत-जैसे विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था वाले देश में औद्योगिक शांति का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

**औद्योगिक संघर्ष के कारण (Causes of Industrial Disputes):**—औद्योगिक संघर्ष के विभिन्न कारण हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(1) **मजदूरी (Wages):**—भारत जैसे निर्धन देश में रहन-सहन का स्तर बहुत कुछ मजदूरों की दर पर ही निर्भर करता है। यहाँ के निर्धन मजदूरों के लिए उनकी मजदूरी ही सब कुछ है। किन्तु, यहाँ इसके निर्धारण का कोई निश्चित एवं वैज्ञानिक आधार नहीं है। सेवा-योजक सदा कम मजदूरी देने का प्रयास करते हैं तथा मजदूर इनमें वृद्धि करना चाहते हैं। अतः दोनों वर्गों के बीच इस बात को लेकर यदा-कदा झगड़ा होता है। भारत में लगभग 30 प्रतिशत औद्योगिक झगड़े मजदूरी एवं बोनस को लेकर ही होते हैं।

(2) **छुट्टियाँ तथा काम के घण्टे (Leisure and hours of work):**—औद्योगिक संघर्ष का एक प्रमुख कारण छुट्टियाँ तथा काम के घण्टे भी हैं। सवैतनिक छुट्टियाँ तथा काम के घण्टों को लेकर बहुत समय तक मजदूरों में बहुत असन्तोष रहा। आजकल इन सभी चीजों के सम्बन्ध में विधान अवश्य है, किन्तु अभी इनका पालन छोटे-छोटे कारखानों में समुचित रूप से नहीं होता। मालिक मजदूरों को बहुत कम छुट्टी देते हैं, इनसे बहुधा अधिक समय तक काम लेते हैं तथा इनकी मजदूरी में से गैर-कानूनी कटौती करते हैं। इन सब बातों से हड़ताल को प्रोत्साहन मिलता है।

(3) **भरती, उन्नति और छँटनी आदि में पक्षपात:**—हमारे देश में भरती, उन्नति एवं छँटनी आदि में भी मालिक पक्षपात करते हैं। उचित व्यक्तियों को तरक्की

न देकर अयोग्य व्यक्तियों को तरक्की दी जाती है। भरती में भी पक्षपात किया जाता है। इससे तंग आकर श्रमिक हड़ताल वगैरह प्रारम्भ कर देते हैं।

(4) **गैर-आर्थिक कारण:**—भारत में कुछ गैर-आर्थिक कारणों से भी हड़ताल को प्रोत्साहन मिलता है। उदाहरण के लिए, मजदूर कभी-कभी किसी राजनीतिक नेता के आगमन पर कारखानों में एक-दो दिन के लिए काम रोक देते हैं, किन्तु इसका प्रभाव आगे नहीं बढ़ता।

1954 ई० में औद्योगिक संघर्ष के विभिन्न कारणों का ब्योरा निम्न प्रकार<sup>1</sup> से था—

|                            |              |
|----------------------------|--------------|
| मजदूरियाँ एवं भत्ते        | 30.0 प्रतिशत |
| बोनस                       | 6.7 "        |
| भरती, तरक्की, छँटनी आदि    | 37.0 "       |
| छुट्टियाँ एवं काम के घण्टे | 10.0 "       |
| अन्य                       | 16.3 "       |
| कुल                        | 100.0 "      |

इससे स्पष्ट है कि औद्योगिक संघर्ष के विभिन्न कारणों में मजदूरी, भत्ते, भरती एवं तरक्की, छँटनी आदि की ही प्रधानता है।

भारत में 1947 ई० में औद्योगिक संघर्ष सबसे अधिक हुए थे। इसके बाद धीरे-धीरे सरकारी प्रयत्नों के फल-स्वरूप औद्योगिक संघर्षों की संख्या घटने लगी। निम्न-लिखित तालिका से गत कुछ वर्षों से देश में औद्योगिक-संघर्ष की संख्या का अन्दाजा लगता है :

| वर्ष | संघर्षों की संख्या | मजदूरों की संख्या (हजार में) | जन-दिनों की हानि (Man-days lost) (लाख में) |
|------|--------------------|------------------------------|--------------------------------------------|
| 1921 | 396                | 600                          | 70                                         |
| 1939 | 404                | 409                          | 40                                         |
| 1945 | 820                | 748                          | 31                                         |
| 1947 | 1811               | 1840                         | 162.6                                      |
| 1951 | 1471               | 691                          | 38.2                                       |
| 1957 | 1630               | 829                          | 64.3                                       |
| 1960 | 1506               | 983                          | 65.2                                       |
| 1964 | 2151               | 1002                         | 77.2                                       |
| 1966 | 2556               | 1410                         | 138.5                                      |
| 1973 | 2924               | 2102                         | 177.9                                      |

1931 ई० के बाद जितनी भी हड़तालें हुई थीं उनमें 1934 ई० में बम्बई में सूती-वस्त्र उद्योग की हड़ताल सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी। इस हड़ताल में 1,60,000 मजदूर सम्मिलित थे तथा 77.5 लाख जन-दिनों की हानि हुई थी। इस हड़ताल का प्रमुख कारण बोनस था। 1928



ई० में 203 हड़तालें हुई थीं जिनमें से 111 बंबई तथा 60 बंगाल में हुई थीं। इनमें से 109 हड़ताल केवल सूती एवं ऊन वस्त्र-उद्योग में हुई थी। 1937 ई० में अधिकांश प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारों की स्थापना के बाद हड़तालों की संख्या में कुछ वृद्धि हो गयी। इस वर्ष 679 हड़तालें हुई थीं जिनमें लगभग 211 सूती-वस्त्र तथा जूट-उद्योग में थीं। 1947 ई० में पुनः हड़तालों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हो गयी। इस वर्ष कुल 1811 औद्योगिक संघर्ष हुए थे जिनमें 18.4 लाख मजदूर सम्मिलित थे तथा प्रायः 162.6 लाख जन-दिनों की हानि हुई थी। इसके बाद सरकारी प्रयत्नों के फलस्वरूप धीरे-धीरे संघर्षों की संख्या भी घटने लगी। साथ ही, सरकारी हस्तक्षेप के कारण श्रमिकों की मजदूरी, बोनस तथा काम करने की दशाओं में भी सुधार होने लगा। मालिकों एवं मजदूरों के झगड़े को शांत करने के लिए औद्योगिक अदालतों ने भी महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। किन्तु 1950 ई० में पुनः बम्बई राज्य के सूती-वस्त्र कारखानों में एक आम हड़ताल हुई जिसमें 018 लाख जन-दिनों की हानि हुई। इसके बाद जन-दिनों की हानि का स्तर प्रायः एक समान रहा है।

### औद्योगिक संघर्षों की रोक-थाम एवं निपटारा (Prevention and Settlement of Industrial Disputes)

औद्योगिक संघर्षों का प्रभाव श्रम एवं पूँजी पर ही नहीं पड़ता, वरन् सम्पूर्ण समाज को क्षति उठानी पड़ती है। अतः, राज्य द्वारा इनकी रोक-थाम एवं निपटारा (Prevention and Settlement) आवश्यक है। समय-समय पर राज्य द्वारा औद्योगिक शांति बनाये रखने के लिए विभिन्न विधान बनाये गये हैं। इन विधानों द्वारा संघर्षों से सम्बन्धित पक्षों के बीच समझौता, मध्यस्थता एवं फौसले की व्यवस्था की जाती है।

औद्योगिक संघर्ष अधिनियम, 1929 ई० (Trade Disputes Act, 1929) :—औद्योगिक संघर्षों के निपटारे के लिए सर्वप्रथम 1929 ई० में एक औद्योगिक संघर्ष अधिनियम बनाया गया। इस अधिनियम के अनुसार एक अथवा दोनों दलों की इच्छा मालूम होने पर जाँच-समिति अथवा समझौता परिषदों की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी। साथ ही, आकस्मिक तथा सहानुभूतिजनक हड़तालों को अवैध करार दिया गया। औद्योगिक संघर्षों के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रश्न पर हड़ताल को दण्डनीय अपराध घोषित किया गया। जनोपयोगी (Public utility) सेवाओं में हड़ताल के लिए 14 दिनों की पूर्व नोटिस देने की व्यवस्था की गयी।

इस प्रकार 1929 ई० के अधिनियम द्वारा ऐच्छिक समझौते की व्यवस्था की गयी। औद्योगिक शांति के लिए

ऐच्छिक समझौते का निस्सन्देह बहुत बड़ा महत्त्व है। किन्तु इस अधिनियम को बहुत कारणों से पर्याप्त सफलता नहीं मिल पायी। 1929-32 ई० के बीच प्रायः 500 संघर्ष हुए। किन्तु, इनमें केवल दो के लिए ही जाँच समिति तथा दो के लिए समझौता बोर्डों का निर्माण किया गया। इससे इस अधिनियम की सफलता का अन्दाजा लगता है। वास्तव में, इस अधिनियम की सबसे बड़ी कमी औद्योगिक संघर्षों की सुनवाई के लिए स्थायी प्रबन्ध का अभाव था। यह अधिनियम ब्रिटिश ट्रेड डिस्प्यूट्स ऐक्ट, 1927 पर आधारित था। श्रम आयोग के अनुसार इस अधिनियम में ब्रिटेन के ऐक्ट की कम महत्त्वपूर्ण बातों को ही प्रधानता देने का प्रयास किया गया था। अधिक महत्त्वपूर्ण बातों के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नहीं की गयी थी।<sup>1</sup>

1934 ई० में बम्बई में एक औद्योगिक संघर्ष समझौता अधिनियम (Bombay Trade Disputes Conciliation Act) पारित हुआ जिसके अनुसार औद्योगिक झगड़ों के समझौते की व्यवस्था की गयी। प्रारम्भ में यह अधिनियम केवल बम्बई शहर तथा आस-पास के सूती वस्त्र के कारखानों में ही लागू किया गया था, किन्तु बाद में प्रांत के अन्य भागों में भी इसे लागू करने की व्यवस्था की गयी। पुनः 1938 ई० में बम्बई में कांग्रेसी शासनकाल में एक औद्योगिक संघर्ष अधिनियम (Industrial Disputes Act, 1938) पारित हुआ। इस अधिनियम के अनुसार श्रमिक संघों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया। इसके अनुसार जबतक समझौते एवं मध्यस्थ निर्णय के सभी उपचार असफल न हो जायें, हड़ताल एवं तालेबन्दी को अवैध करार दिया गया। संघर्ष प्रारम्भ होने के पूर्व ही समझौते की व्यवस्था की जानी चाहिए। इस अधिनियम में एक औद्योगिक न्यायालय की व्यवस्था भी की गयी है।

भारत सरकार द्वारा इस बीच औद्योगिक शांति के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया गया। द्वितीय महायुद्ध-काल से भारत सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत उद्योगों में हड़ताल एवं तालेबंदियों को रोक दिया गया। किन्तु, 1947 ई० में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सरकार ने देश में औद्योगिक शांति बनाये रखने के लिए कुछ नये तरीके निकालने का प्रयत्न आरम्भ किया। युद्ध के बाद औद्योगिक अशान्ति बहुत अधिक बढ़ गयी तथा सर्वत हड़ताल एवं तालेबन्दी की बात सुनने में आने लगी। अतः भारत सरकार द्वारा 1947 ई० में एक औद्योगिक संघर्ष अधिनियम पारित किया गया।

1947 ई० का औद्योगिक संघर्ष अधिनियम :—इस अधिनियम के अनुसार 100 से अधिक श्रमिकवाले औद्योगिक संस्थानों में श्रम-समितियों (Work Committees) की व्यवस्था की गयी। इन समितियों में सेवायोजक तथा श्रमिक दोनों के बराबर प्रतिनिधि रहते हैं। इनका

1. "The Act had tried to copy the less valuable part of the machinery employed in Great Britain while ignoring its more valuable parts."



काम मालिकों तथा मजदूरों के बीच के होनेवाले मतभेदों के कारणों को दूर करने का प्रयास करना है। 1967 ई० के अन्त में केन्द्रीय संस्थानों में 972 श्रम-समितियों का निर्माण हो चुका था। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम के अनुसार सरकारें समझौता अधिकारियों (Conciliation officers), समझौता परिषदों (Board of Conciliations) एवं जाँच अदालतों की भी नियुक्ति करती है। इस अधिनियम के अनुसार राज्यों में श्रम-न्यायालयों की स्थापना का आयोजन है। प्रभावित श्रमिकों की संख्या 100 से कम रहने पर ही झगड़ों को इन न्यायालयों में भेजा जाता है। जब प्रभावित श्रमिकों की संख्या इससे अधिक रहती है तो इन झगड़ों को राज्य सरकार के औद्योगिक अदालत (Industrial Tribunals) तथा भारत सरकार राष्ट्रीय अदालत (National Tribunal) के पास भेजती है। इन अदालतों का निर्णय कम-से-कम एक वर्ष के लिए मान्य होगा। मामलों की सुनवाई तथा मान्यता की अवधि में हड़ताल एवं तालेबन्दियाँ बजित हैं। 1950 ई० के एक संशोधन द्वारा औद्योगिक अदालतों के विरुद्ध अपील के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा एक स्थायी अपील अदालत (Labour Appellate Tribunal) की नियुक्ति की गयी।

इस अधिनियम के अनुसार साधारण एवं जनोपयोगी उद्योगों में भेद किया गया। साधारण उद्योगों में झगड़ों के निपटारा के लिए सरकार तभी हस्तक्षेप करती है जब दोनों दलों से बहुसंख्यक व्यक्ति इस बात के लिए सरकार से सिकांरिश करें। किन्तु जनोपयोगी उद्योगों के लिए सरकार सभी परिस्थितियों में हस्तक्षेप करने के लिए तैयार होगी तथा शान्ति के लिए आवश्यकतानुसार कार्यवाही करेगी। 1947 ई० का यह अधिनियम भारत में औद्योगिक शान्ति के लिए निस्सन्देह पहला प्रमुख प्रयत्न है। इसके द्वारा सरकार ने देश में औद्योगिक शांति कायम रखने के लिए सर्वप्रथम प्रयत्न प्रारम्भ किया।

किन्तु, इस अधिनियम के द्वारा सरकार ने मजदूरों से उनके हड़ताल का अधिकार छीन लिया। मजदूरों के पास यही एक ऐसा अधिकार था जिसे वे पूँजीपतियों के शोषण एवं अत्याचार से अपनी रक्षा करते थे। देश में उत्पादन-वृद्धि के लिए औद्योगिक शान्ति निस्सन्देह आवश्यक है, किन्तु इस उद्देश्य से भूखे एवं नंगे मजदूरों से हड़ताल का अधिकार छीन लेना अच्छा नहीं जँचता। एक राष्ट्रीय सरकार के लिए यह उचित नहीं जान पड़ता।

औद्योगिक संघर्ष केवल भारत के लिए ही नयी चीज नहीं है, यह पूँजीवादी उत्पादन-व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता है। पूँजीवादी उत्पादन-व्यवस्था में मजदूरी एवं काम की दशाओं में सुधार लाने के लिए हड़ताल ही मजदूरों की सबसे बड़ी शक्ति है। इनके ऊपर अनिवार्य समझौता (Compulsory arbitration) को लादना इनके इस जन्म-सिद्ध अधिकार को छीन लेना है। युद्ध-काल या किसी अन्य राष्ट्रीय संकट की स्थिति में इस नीति का अनुकरण किया जा सकता है, किन्तु सामान्यतः अनिवार्य समझौता द्वारा औद्योगिक शान्ति नहीं कायम की जा सकती है।

1956 ई० का औद्योगिक संघर्ष अधिनियम :—1956 ई० में एक औद्योगिक संघर्ष (संशोधन) अधिनियम पारित हुआ जिसके अनुसार समझौता की प्रक्रिया को कुछ सुगम बनाया गया है। इस संशोधन के अनुसार श्रमिकों की श्रेणी में 500 रुपये से कम मासिक वेतन पाने वाले सभी औद्योगिक कार्यकर्त्ताओं को रखा गया है। इसके अनुसार श्रम अपील अदालतों को भंग कर दिया गया तथा तीन प्रकार के न्यायालयों की स्थापना की गयी है—(क) श्रमिक न्यायालय, (ख) औद्योगिक न्यायालय, तथा (ग) राष्ट्रीय न्यायालय। इन सभी न्यायालयों के क्षेत्र निर्धारित कर दिये गये हैं तथा इनके फैसलों के विरुद्ध किसी प्रकार की अपील की व्यवस्था नहीं है। सरकार इन फैसलों में परिवर्तन कर सकती है। परिवर्तन-सम्बन्धी आज्ञाओं का सदन के समक्ष 15 दिनों के अन्दर ही रखना होगा। संसद् इसे अस्वीकार भी कर सकती है। इस प्रकार वास्तविक निर्णय संसद् के हाथ में ही है।

इस प्रकार भारत-जैसे विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्थावाले देश के लिए उत्तम औद्योगिक सम्बन्ध आवश्यक है। द्रुतगति से औद्योगिक विकास के लिए श्रमिक एवं मालिकों के बीच जबतक उत्तम सम्बन्ध न रहेगा तबतक देश में औद्योगिक शांति नहीं रह सकती। औद्योगिक शांति बनाये रखने के लिए आजकल आम तौर पर यह सुझाव दिया जाता है कि मजदूरों को भी कारखानों की व्यवस्था से सम्बन्धित करना चाहिए। 1956 ई० में भारतीय श्रम-परिषद् ने इस पर विचार किया तथा कल-कारखानों में इसे लागू करने की बात भी तय की जा चुकी है। वास्तव में, जबतक विकास के कार्य में श्रमिक अपने को भागीदार नहीं समझेगा तबतक देश के औद्योगिक विकास में निस्सन्देह कठिनाई होगी।

#### विशेष अध्ययन-सूची

1. S. D. Punecker : Trade Unionism in India.
2. V. B. Karnik : Indian Trade Unions : A Survey.
3. V. V. Giri : Labour Problem in Indian Industry, Chaps. VI & VII.
4. Indian Labour Year Book, 1963, Ch. IV.
5. Fourth & Fifth Five Year Plans.
6. Govt. of India : Report of the Labour Commission, 1969.



## अध्याय : 42

### श्रम-कल्याण एवं सामाजिक सुरक्षा

#### (Labour Welfare and Social Security Measures)

**श्रम-कल्याण (Labour Welfare) :**—मजदूरों की सामाजिक एवं मानसिक उन्नति के लिए उन्हें विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करना अनिवार्य है। केवल वेतन तथा काम के घण्टों के निर्धारण से ही इनकी उन्नति नहीं हो सकती। अतः इनके लिए विभिन्न प्रकार की सुविधाओं का आयोजन आवश्यक हो जाता है। श्रमिकों के लिए विभिन्न प्रकार की सुविधाओं के आयोजन को ही श्रम-कल्याण (Labour Welfare) कहा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के अनुसार श्रम-कल्याण कार्यों का उद्देश्य श्रमिकों के लिए उनके वातावरण में ऐसी सेवाओं तथा सुविधाओं की व्यवस्था करना है जिनसे कारखानों में वे उचित ढंग से कार्य कर सकें। इन सुविधाओं से श्रमिकों के स्वास्थ्य में उन्नति होगी तथा उनकी कार्यक्षमता में भी वृद्धि होगी। 1937 ई० में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के एक प्रस्ताव में श्रम-कल्याण के अन्तर्गत जलपान-गृह, आराम तथा खेल-कूद की सुविधाएँ, दवा-दरू की व्यवस्था तथा इनके आने-जाने के लिए सवारी आदि के प्रबन्ध को रखा गया था। श्रम-जाँच समिति ने अपने प्रतिवेदन में श्रम-कल्याण के अन्तर्गत श्रमिकों के बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक एवं आर्थिक विकास के साधनों को रखा था। इसके अनुसार श्रम-कल्याण कार्यों के अन्तर्गत आवास-व्यवस्था, सहकारी समितियाँ, मातृ-सेवा एवं शिशु गृह, शौचालय की व्यवस्था, सामाजिक बीमा तथा प्रोविडेंट फण्ड आदि आ जाते हैं।

इस प्रकार आज श्रम-कल्याण का विस्तृत अर्थ में प्रयोग किया जाता है। इसके अन्तर्गत कारखानों के अंदर तथा बाहर दोनों प्रकार की सुविधाएँ आती हैं। भारतीय कारखानों के अन्दर कल्याण-कार्य के अन्तर्गत वैज्ञानिक तरीके से भर्ती, कारखानों में स्वच्छता, प्रकाश एवं वायु तथा दुर्घटनाओं की रोक-थाम की व्यवस्था की जानी चाहिए। श्रमिकों की नियुक्ति एवं तरक्की के लिए जिस पद्धति का अनुसरण किया जा रहा हो, वह पूर्व निश्चित एवं वैज्ञानिक होनी चाहिए। कारखानों में प्रायः यह देखा जाता है कि श्रमिकों को अपनी नौकरी बनाये रखने के लिए विभिन्न प्रकार के मध्यस्थों की सेवा करनी पड़ती है जिससे उनकी कार्यक्षमता घट जाती है। कारखानों के बाहर श्रमिकों के लिए गृह-व्यवस्था, शिक्षा की समुचित व्यवस्था, चिकित्सा, भोजन, मनोरंजन तथा सहकारी

समितियों का प्रबन्ध आदि कल्याण-कार्यों के अन्तर्गत आते हैं।

भारत में निम्नलिखित कारणों से श्रम-कल्याण कार्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं :—

(1) श्रमिकों की प्रवासी प्रवृत्ति :—भारत में अन्य देशों की तरह औद्योगिक श्रमिकों का एक दृढ़ वर्ग उत्पन्न नहीं हुआ है। यहाँ के मजदूर हृदय से किसान होते हैं और मौका मिलने पर गाँवों में वापस जाना चाहते हैं। उनका गाँवों से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो पाता है। इसलिए औद्योगिक केन्द्रों में उनके लिए भोजन, मकान व मनोरंजन आदि की सुविधाएँ बढ़ाकर आकर्षण उत्पन्न किया जाना आवश्यक है। ऐसा करने से मजदूर अपने आपको औद्योगिक वातावरण के अनुकूल बना सकेंगे।

(2) सुदूर स्थानों में कल्याण-कार्य आवश्यक :—उन बगानों, खानों एवं अन्य छोटे-छोटे उद्योगों में जो एकांत स्थानों में स्थित हैं, विशेष रूप से कल्याण कार्यों की आवश्यकता होती है, वहाँ यातायात एवं दैनिक उपभोग की वस्तुओं की व्यवस्था करनी होती है।

(3) श्रम-संघों की धीमी प्रगति :—भारत के श्रम-संघों ने मजदूरों के कल्याण के लिए विशेष कार्य नहीं किया है, इसलिए कल्याण-कार्य सरकार एवं मालिकों द्वारा ही किया जाना चाहिए।

(4) श्रमिकों का निम्न जीवन-स्तर :—भारतीय मजदूरों का जीवन-स्तर बहुत निम्न होता है; इसलिए कल्याण-कार्यों के द्वारा उनके लिए पौष्टिक भोजन, अच्छा मकान, शिक्षा एवं चिकित्सा आदि की व्यवस्था की जाती है। कल्याण कार्यों के अभाव में उन्हें ये सुविधाएँ नहीं मिल सकेंगी।

इस प्रकार उपरोक्त कारणों से भारत में श्रम-कल्याण कार्यों का महत्त्व बहुत अधिक स्पष्ट हो जाता है।

हमारे देश में श्रम-कल्याण का आयोजन मुख्यतः तीन प्रकार के व्यक्तियों अथवा संस्थाओं द्वारा किया जाता है :—(1) उद्योगपति, (2) सरकार, एवं (3) श्रमिक-संघ।

उद्योगपतियों द्वारा आयोजित श्रम-कल्याण कार्य :—श्रमिकों के कल्याणार्थ कुछ मिल-मालिक प्रारम्भ से ही



थोड़ा बहुत कार्य करते आ रहे हैं। उदाहरण के लिए, बम्बई के अधिकांश सूती-वस्त्र के कारखानों में चिकित्सालय एवं जलपान-गृहों की व्यवस्था है। इनके अतिरिक्त सहकारी समितियाँ, अनाज की सस्ती दूकानें, वयस्क पाठशाला तथा प्रोविडेंट फण्ड आदि की व्यवस्था भी की गई है। कुछ कारखानों में बोर्डिंग हाउस भी स्थापित किये गये हैं जिनमें श्रमिकों को सस्ता खाना मिलता है। अहमदाबाद की सूती मिलों में भी इस प्रकार की व्यवस्था की गयी है। इस दृष्टि से नागपुर के एम्प्रेस मिल, मद्रास का बकिंघम एण्ड कर्नाटक मिल्स, देहली क्लॉथ एण्ड जेनरल मिल्स, बंगलोर वुलियन कॉटन एण्ड सिल्क मिल आदि ने अत्यन्त ही प्रशंसनीय कार्य किया है।

उद्योगपतियों की संस्थाओं में भारतीय जूट मिल संघ (Indian Jute Mill Association) ने श्रमिकों के कल्याणार्थ बहुत-से बहुमूल्य कार्य किये हैं। संघ की ओर से कई श्रम-कल्याण केन्द्र स्थापित किये गये हैं जिनमें श्रमिकों के कल्याणार्थ बहुत-से कार्य किये जाते हैं। संघ की ओर से प्राथमिक पाठशाला, वाचनालय तथा खेल-कूद की व्यवस्था भी की जाती है। औरत श्रमिकों के लिए महिला-कल्याण समिति है। जूट मिलों में व्यक्तिगत रूप से भी श्रम-कल्याण के कार्यों का आयोजन किया गया है। प्रायः सभी जूट की मिलों में चिकित्सालयों की व्यवस्था है। कुछ मिलों में मातृ-केन्द्र की व्यवस्था भी है। जूट की 51 मिलों में शिशु-गृह एवं 45 मिलों में जलपान-गृह का आयोजन किया गया है। इसी प्रकार ऊनी तथा रेशमी वस्त्र की बड़ी-बड़ी मिलों में भी श्रम-कल्याण कार्यों का आयोजन किया गया है।

टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी द्वारा श्रम-कल्याण का बहुत बड़े पैमाने पर आयोजन किया गया है। कम्पनी की ओर से 400 बेड वाला एक बहुत बड़ा अस्पताल है, मातृ-केन्द्रों की भी व्यवस्था है, 3 हाई स्कूल, 10 मिडिल स्कूल तथा अनेक प्राथमिक विद्यालय हैं। कम्पनी की ओर से एक विशाल क्रीड़ा-स्थल, जलपान-गृह तथा मुफ्त सिनेमा की भी व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त श्रमिकों के लिए निवास-स्थान, सहकारी उपभोक्ता भण्डार तथा डाकखाने की व्यवस्था है। इसी प्रकार टाटा कम्पनी द्वारा श्रम-कल्याण की आदर्श व्यवस्था की गयी है।

रेलवे विभाग द्वारा भी कर्मचारियों के कल्याणार्थ चिकित्सालयों, स्कूलों, जलपान-गृहों तथा एक्स-रे आदि का आयोजन किया गया है। रेलवे विभाग द्वारा कर्मचारियों को सस्ती दरों पर अनाज देने की भी व्यवस्था की गयी है। कोयला तथा अभ्रक की खानों में भी श्रम-कल्याण के विभिन्न कार्यों का आयोजन किया गया है। इसमें कानून द्वारा एक श्रमिक-कल्याण कोष का निर्माण

किया गया है जिससे श्रमिकों के कल्याणार्थ बहुत-से कार्य किये जाते हैं। कोलार के सोने की खानों में भी श्रमिकों के लिए बहुत-से कार्य किये जा रहे हैं।

श्रमिक-संघों द्वारा आयोजित कल्याण कार्य :— कुछ श्रमिक-संघों ने भी छोटे पैमाने पर श्रम-कल्याण कार्यों का आयोजन किया है। इन संघों द्वारा किये जाने-वाले कल्याण-कार्यों में 'टेक्स्टाइल लेबर एशोसियन' अहमदाबाद के कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त मजदूर सभा, कानपुर तथा मिल मजदूर संघ, इन्दौर ने भी बहुत-से उल्लेखनीय कार्य किये हैं। संघों द्वारा पुस्तकालय, चिकित्सालय तथा वाचनालय आदि की व्यवस्था की जाती है। किन्तु आवश्यक धन के अभाव में श्रम-संघों का कार्य बहुत ही सीमित हो जाता है।

सरकार द्वारा आयोजित श्रम-कल्याण कार्य :— द्वितीय महायुद्ध के बाद से केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने भी श्रम-कल्याण कार्यों में क्रियात्मक रूप से भाग लेना प्रारम्भ कर दिया है। 1948 ई० के कारखाना अधिनियम, 1952 ई० के कारखाना अधिनियम तथा 1951 ई० के बगान अधिनियम में श्रम-कल्याण के उद्देश्य से विभिन्न प्रकार की सुविधाओं की व्यवस्था को अनिवार्य बनाया गया है। इन अधिनियमों के अन्तर्गत आनेवाली संस्थाओं में चिकित्सालयों, जलपान-गृहों, आराम गृहों तथा काम के घण्टे निश्चित करने की व्यवस्था भी की गयी है। कल्याण कार्यों के लिए एक विशेष कोष की स्थापना का आयोजन है जिसे श्रमिकों के कल्याण पर खर्च किया जायगा। 500 या अधिक श्रमिक वाले सभी कारखानों में श्रम-कल्याणकारी अफसरों की नियुक्ति को भी अनिवार्य बना दिया गया है।

1944 ई० में कोयले की खानों में काम करनेवाले मजदूरों के कल्याण के लिए एक कोयला खान श्रमिक कल्याण कोष (Coal Mines Labour Welfare Fund) स्थापित किया गया, जो श्रमिकों की शिक्षा, चिकित्सा तथा मनोरंजन आदि की सुविधा की व्यवस्था करता है। इस कोष द्वारा 3 केन्द्रीय अस्पतालों, 12 प्रादेशिक अस्पताल-सह-मातृत्व केन्द्रों, 2 गतिशील चिकित्सालयों, 53 मातृत्व-सह-शिशु कल्याण केन्द्रों तथा 4 टी० बी० केन्द्रों की व्यवस्था की गयी है। इसके अतिरिक्त इस कोष द्वारा वयस्क शिक्षा केन्द्र, महिला कल्याणकारी केन्द्र तथा शिशु-क्रीड़ा स्थल आदि की भी व्यवस्था की गयी है। इस कोष से श्रमिकों के लिए औद्योगिक गृहों के निर्माण की भी व्यवस्था की जाती है। खानों से भेजे जानेवाले कोयले पर एक विशेष प्रकार का कर लगाया जाता है जिससे प्रायः दो करोड़ रुपये की वार्षिक आय होती है। कोष की आय का यही प्रधान साधन है। 1963-64 में इस कोष की आय 328.5 लाख रुपये तथा कल्याण कार्यों एवं गृह-निर्माण पर अनुमानित व्यय 298.1 लाख रुपये था।



**अभ्रक खान-उद्योग श्रमिक कल्याण कोष (Mica Mines Labour Welfare Fund) :—**इसी आधार पर अभ्रक की खानों में काम करनेवाले श्रमिकों के लिए भी एक अभ्रक खान-उद्योग श्रमिक-कोष (Mica Mines Labour Welfare Fund) की स्थापना की गयी है। इस कोष द्वारा अभी तक दो अस्पताल प्रारम्भ किये गये हैं तथा बहुत-से चिकित्सालय एवं प्रसूति गृहों का निर्माण किया गया है। इनके अतिरिक्त इस कोष द्वारा अनेक प्राथमिक स्कूलों की व्यवस्था भी की गयी है तथा पुस्तकें एवं छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जाती हैं। 1970-71 ई० में इस कोष द्वारा अभ्रक उत्पादक राज्यों में 12 लाख रुपये आन्ध्र प्रदेश को, 23.9 लाख रुपये बिहार को तथा 11.5 लाख रुपये राजस्थान को दिया गया था।

**मोटर यातायात श्रमिक अधिनियम (Motor Transport Worker's Act) :—**मोटर यातायात में कार्य करनेवाले श्रमिकों के कल्याण तथा इनके कार्य करने की दिशाओं में सुधार के लिए, 1961 ई० में एक मोटर यातायात श्रमिक अधिनियम बनाया गया। इस अधिनियम में श्रमिकों के लिए कैंटीन, आराम-गृह, बंदी, कार्य के घण्टे तथा छुट्टी आदि की व्यवस्था भी की गयी है।

**लोह-खनिज श्रमिक कल्याण अधिनियम (Iron Ore Mine's Labour Welfare Act) :—**लोहे की खानों में कार्य करनेवाले मजदूरों के कल्याण के लिए 1961 ई० में The Iron Ore Mines Labour Welfare Act, 1961 बनाया गया। इसके अनुसार कोयला तथा अभ्रक की ही तरह लोहे की खानों से निकाले गये लोहे पर भी एक प्रकार का कर लगाया जाता है जिससे प्राप्त रकम को इन खानों में कार्य करनेवाले श्रमिकों की भलाई पर खर्च किया जाता है। अक्टूबर-1963 ई० से अधिनियम को लागू किया है तथा प्रारम्भ में 25 पैसे प्रति मेट्रिक टन का एक कर लगाया गया है। 1970-71 में कोष द्वारा कल्याण कार्यों पर 77 लाख रुपये व्यय किया गया।

बगानों में काम करनेवाले श्रमिकों के कल्याण के लिए Plantations Labour Act, 1961 ई० में व्यवस्था की गयी है। इस अधिनियम के अनुसार मिल-मालिकों को बगानों में काम करनेवाले श्रमिकों को आवास की सुविधा प्रदान करनी पड़ती है। साथ ही, श्रमिकों के लिए शिक्षा की व्यवस्था भी करनी पड़ती है। इस प्रकार इस अधिनियम के अनुसार बगानों में काम करनेवाले श्रमिकों को विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

अधिकांश राज्य सरकारों द्वारा श्रम-कल्याण केन्द्र स्थापित किये गये हैं, जिनमें श्रमिकों की शिक्षा, व्यायामशाला, वाचनालय, पुस्तकालय तथा मनोरंजन आदि की व्यवस्था की जाती है। 1954-55 ई० में

इस प्रकार के प्रायः 200 श्रम-कल्याण केन्द्र कार्य करते थे। वम्बई में इस प्रकार के प्रायः 45 केन्द्र कार्य कर रहे हैं। महाराष्ट्र सरकार द्वारा 1953 ई० में श्रमिकों पर लगाये जानेवाले जुर्माने तथा दान वगैरह की रकम जमा की जाती है। अन्य राज्यों में भी इस प्रकार के कल्याण-केन्द्रों की स्थापना की गयी है। हाल में ही 'केन्द्रीय बोर्ड' तथा कुछ राज्यों में 'राज्य कल्याण-बोर्ड' की स्थापना की गयी है।

इस प्रकार केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा श्रम-कल्याण के विभिन्न प्रकार के कार्य किये जाते हैं। किन्तु, इन कार्यों के सफल सम्पादन के लिए सुयोग्य एवं ईमानदार कर्मचारियों की आवश्यकता है। भारत-जैसे देश में, जहाँ अधिकांश श्रमिक अशिक्षित तथा अपने अधिकारों से पूर्णतः अनभिज्ञ हैं, श्रम कल्याण कार्यों की वास्तविक सफलता इन कर्मचारियों की योग्यता एवं ईमानदारी पर ही निर्भर करती है।

### निष्कर्ष

भारत में श्रम-कल्याण कार्यों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि यहाँ श्रम-कल्याण की सुविधाओं में विविधता पायी जाती है। एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में, एक उद्योग से दूसरे उद्योग में एवं एक ही उद्योग की विभिन्न इकाइयों में कल्याण कार्यों में भी अन्तर पाया जाता है। कल्याण कार्यों की सफलता पर्याप्त मात्रा में कोष की उपलब्धि पर निर्भर करती है। भारत में श्रम-कल्याण कार्य को आगे बढ़ाने के लिए मुख्य रूप से निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं—

(1) 1948 ई० के कारखाना अधिनियम की श्रम-कल्याण सम्बन्धी धाराओं का पूरा-पूरा पालन किया जाय।

(2) विभिन्न उद्योग में विभिन्न प्रकार के कल्याण कार्यों को प्राथमिकता दी जाय; जैसे—वगान मजदूरों को विशेषतया मकान की सुविधा, खान मजदूरों को मकान, शिक्षा एवं दवा की सुविधाएँ एवं जहाँ स्त्रियाँ कार्य करती हैं वहाँ मातृत्व एवं शिशु-गृहों की स्थापना पर विशेष जोर दिया जाय। इस सम्बन्ध में विस्तृत जाँच की आवश्यकता है।

(3) मजदूरों को कल्याण समितियों में अधिक-से-अधिक भाग लेने का अवसर दिया जाय ताकि कल्याण-कार्यों में तीव्रगति से प्रगति हो सके।

(4) श्रम-कल्याण पदाधिकारियों (Labour Welfare Officers) के चुनाव में अत्यधिक सावधानी से कार्य लेना चाहिए। इस पद पर वे ही व्यक्ति नियुक्त किये जायें जो मजदूरों का विश्वास प्राप्त कर सकें एवं अच्छे प्रशासक हो सकें। उन्हें मजदूरों के कल्याण में वास्तविक अभिरुचि अथवा उत्साह होना चाहिए।



(5) कोयला एवं अन्न की खानों के कोषों की तरह अन्य खनिजों के लिए भी कोष स्थापित किए जायें।

(6) केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों द्वारा अधिक संख्या में कल्याण केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिए।

(7) मजदूरों की सहकारी समितियाँ बनायी जायें और सहकारिता के आधार पर मकान निर्माण साख एवं उपभोग की वस्तुएँ प्राप्त करने की व्यवस्था की जाय।

(8) मालिकों द्वारा अनिवार्य रूप से प्रदान की जानेवाली सुविधाओं में कल्याण कार्यों को पूर्णतया स्पष्ट किया जाय और उनको अपनी जिम्मेवारी निभाने के लिए प्रेरित किया जाय।

(9) श्रम-संघों को कल्याण कार्यों में अधिक रुचि लेनी चाहिये।

(10) सरकारी उद्योगों में कार्य करने वाले मजदूरों को कल्याण कार्यों की उचित व्यवस्था करके उद्योगपतियों के समक्ष एक उचित आदर्श उपस्थित किया जाना चाहिए।

### औद्योगिक गृह

#### (Industrial Housing)

भारत के प्रायः सभी बड़े-बड़े औद्योगिक नगरों में निवास-स्थान के अभाव की समस्या पायी जाती है। अधिकांश मजदूर गन्दी बस्तियों के गन्दे वातावरण में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। बम्बई के चालों, कानपुर के आहातों तथा कलकत्ता की गन्दी बस्तियों को देखने से मजदूरों की इस दर्दनाक स्थिति का अंदाजा लगाया जा सकता है। एक छोटे-से अंधेरे कमरे में कई मजदूर अपना कार्य चलाते हैं। निवास-स्थान की असुविधा का मजदूरों की कार्य-क्षमता तथा स्वास्थ्य पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ता है। जमशेदपुर तथा डालमियानगर के नये औद्योगिक नगरों में एक हाव मिल, जे० सी० मिल, ग्वालियर तथा कानपुर में ब्रिटिश इण्डिया कारपोरेशन द्वारा श्रमिकों के अच्छे गृहों की व्यवस्था अवश्य की गयी है, किन्तु इन्हें अपवादस्वरूप समझना ही अधिक उचित होगा। अधिकांश केन्द्रों में श्रमिक गन्दी झोपड़ियों के गन्दे वातावरण में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इस प्रकार के गन्दे, अनुपयुक्त एवं सुविधाहीन घरों में श्रमिकों का जीवन नीरस एवं आनन्द रहित हो जाता है। अतः इनके जीवन को सुखमय बनाने तथा इनकी कार्य-क्षमता में वृद्धि के लिए अच्छे प्रकार के सुघरे हुए घरों की व्यवस्था अनिवार्य है।

औद्योगिक श्रमिकों के लिए आवास-स्थान की व्यवस्था उद्योगपतियों, श्रमिक-संघों तथा सरकार द्वारा की जा

सकती है। भारत में श्रमिक-संघों के पास आवश्यक कोष के अभाव में वे इस प्रकार की सुविधा नहीं प्रदान कर सकते हैं। कुछ उद्योगपतियों ने अपने कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों के लिए घर बनाने का आयोजन किया है। किन्तु इस संबंध में आजकल सरकार द्वारा विशेष प्रयत्न किये जा रहे हैं। अप्रैल, 1948 ई० में भारत सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में दो वर्षों के बीच 20 लाख औद्योगिक गृहों के निर्माण के एक कार्यक्रम की घोषणा की थी जिसका व्यय सरकार, मिल-मालिकों द्वारा एक निश्चित प्रतिशत में पूरा किया जाने को था। इस उद्देश्य से एक गृह-परिषद् (Housing Board) बनाने का भी निश्चय किया गया था। किन्तु राज्य सरकारों की अकर्मण्यता के कारण इस कार्यक्रम को कार्यान्वित नहीं किया जा सका। अतः दिसम्बर, 1952 ई० में सरकार ने सहायता प्राप्त औद्योगिक आवास कार्यक्रम (Subsidised Industrial Housing Scheme) को अपनाया जिसके अनुसार कारखाना अधिनियम, 1948 ई० तथा खान अधिनियम, 1952 ई० (कोयला तथा अन्न की खानों को छोड़कर) के अन्तर्गत आनेवाले औद्योगिक मजदूरों के लिए आवास गृह निर्माण का एक व्यापक कार्यक्रम अपनाया गया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारों, उद्योगपतियों तथा सहकारी समितियों को औद्योगिक मजदूरों के लिए घर बनाने के ऋण एवं अनुदान देने का आयोजन है। 1963 ई० के अन्त तक केन्द्रीय सरकार द्वारा इस उद्देश्य से दिये गये ऋण एवं अनुदान का अन्दाजा निम्नलिखित तालिका<sup>1</sup> से लगाया जा सकता है :—

|                           | (करोड़ रुपये में) |        |       | स्वीकृत गृहों की संख्या |
|---------------------------|-------------------|--------|-------|-------------------------|
| साधन                      | ऋण                | अनुदान | कुल   |                         |
| 1. राज्य सरकार            | 25.46             | 24.37  | 49.83 | 1,30,188                |
| 2. उद्योगपति              | 5.15              | 3.00   | 8.15  | 32,957                  |
| 3. श्रमिक सहकारी समितियाँ | 1.48              | 0.59   | 2.07  | 6,315                   |
| 4. केन्द्रीय सरकार        | .....             | .....  | 1.02  | 2,664                   |
| कुल                       | 32.09             | 27.96  | 60.05 | 1,72,124                |

औद्योगिक गृहों के निर्माण के लिए 1952 ई० से योजना आयोग की सिफारिशों के आधार पर सरकार ने सहायता-प्राप्त औद्योगिक गृहों के निर्माण के कार्यक्रम को अपनाया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रथम योजना काल में 13.29 करोड़ रुपये के व्यय से 43,839 गृह बनाये गये। द्वितीय योजना काल में जून, 1961 ई० तक 55,839 औद्योगिक गृहों का निर्माण किया गया। तृतीय



पंचवर्षीय योजना में सहायता-प्राप्त औद्योगिक गृह कार्यक्रम के अन्तर्गत 29.8 करोड़ रुपये के व्यय से 73,000 गृह बनाने का आयोजन था। 1965 ई० के अन्त तक कुल मिलाकर 1,64,933 गृहों के निर्माण का कार्य पूरा हो गया था।

उपरोक्त तथ्यों के विवेचन से स्पष्ट है कि भारत सरकार की तत्परता के बावजूद उद्योगपतियों तथा औद्योगिक सहकारी समितियों ने इस कार्यक्रम से समुचित लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं किया। औद्योगिक गृहों की योजना के सफल सम्पादन के लिए सुझाव के तौर पर यह कहा जा सकता है। निजी क्षेत्र के प्रत्येक उद्योगों में एक संयुक्त आवास समिति होनी चाहिए जिसमें सरकार, उद्योगपतियों तथा श्रमिकों के प्रतिनिधि रहेंगे। इन सभी के सम्मिलित सहयोग से गृह-निर्माण के कार्य में तीव्रता आ जायगी जिससे श्रमिकों के आवास की समस्या का समाधान किया जा सकता है। भारत सरकार द्वारा औद्योगिक गृहों के निर्माण पर विशेष रूप से जोर दिया जा रहा है। 1952 ई० में केन्द्र में एक पृथक् गृह-मंत्रालय (Ministry of Housing) का निर्माण किया गया। अधिकांश राज्यों में भी इस प्रकार का पृथक् मंत्रालय स्थापित किया गया है। इस प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत औद्योगिक गृहों के निर्माण पर विशेष रूप से जोर दिया जा रहा है।

### सामाजिक सुरक्षा (Social Security)

मानव जीवन जोखिम तथा अनिश्चितताओं से परिपूर्ण है। पग-पग पर हमें नाना प्रकार की जोखिम तथा अनिश्चितताओं का सामना करना पड़ता है। बेकारी, बुढ़ापा, दुर्घटना तथा मृत्यु आदि सभी मानव-जीवन के साथ लगे हुए हैं। इन जोखिमों तथा अनिश्चितताओं का व्यक्तिगत रूप से सामना करना मनुष्य के लिए कठिन हो जाता है। निर्धन मजदूरों के जीवन में तो इन जोखिमों एवं अनिश्चितताओं की भयंकरता और भी गम्भीर हो जाती है। अत्यधिक गरीबी के फलस्वरूप ये थोड़े दिनों की बेकारी से भी अपनी रक्षा नहीं कर सकते हैं। साथ ही, कारखानों में काम करने से सदा इन्हें दुर्घटनाओं का भय बना रहता है। इन सभी जोखिमों एवं अनिश्चितताओं से श्रमिकों के जीवन को बचाने के लिए आधुनिक समाज में जो व्यवस्था की जाती है, उसे 'सामाजिक सुरक्षा' (Social Security) कहते हैं। साधारण शब्दों में, "सामाजिक सुरक्षा का आशय उस सुरक्षा से है जिनके द्वारा कोई समाज एक पद्धतियुक्त तरीके से अपने समाज के सदस्यों को बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी, दुर्घटना तथा मृत्यु आदि जोखिमों से बचाता है।" (Social Security refers to the security that the society furnishes thro-

ugh appropriate organisation against certain risks to which its members are exposed.) सामाजिक सुरक्षा का आविर्भाव लोक-कल्याणकारी राज्य (welfare state) के साथ-साथ हुआ। साधारणतया यह समझा जाता है कि एक लोक-कल्याणकारी राज्य में कम-से-कम पाँच परिस्थितियों—आवश्यकता (Want), बीमारी (Disease), अज्ञानता (Ignorance), दरिद्रता (Squalor) तथा बेकारी (Idleness) में राज्य द्वारा व्यक्ति की सहायता की जानी चाहिए। प्रो० कोल के अनुसार सामाजिक सुरक्षा का आशय यह है कि सरकार जो समाज का प्रतीक एवं प्रतिनिधि है, अपने समस्त नागरिकों के लिए एक न्यूनतम जीवन-स्तर कायम रखने के लिए उत्तरदायी है। इस स्तर में जीवन से लेकर मरण तक की सारी सुविधाएँ एवं आवश्यकताएँ सम्मिलित होंगी। (The idea of social security is that the state shall make itself responsible for ensuring a minimum standard of material welfare to all its citizens, on a basis wide enough to cover all the main contingencies of life of an individual from birth to death.) इस प्रकार सामाजिक सुरक्षा का क्षेत्र बहुत ही व्यापक हो जाता है। इसके अन्तर्गत 'गर्भ से मरण' तक (From womb to the tomb) की सुरक्षा आ जाती है।

### भारत में सामाजिक सुरक्षा (Social Security in India)

भारत-जैसे देश में, जहाँ औद्योगीकरण का अभी श्री-गणेश ही हुआ है, सामाजिक सुरक्षा की समुचित व्यवस्था का अभाव कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु, इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए। सामाजिक सुरक्षा भारत के लिए बिल्कुल नयी चीज है। वास्तव में, सामाजिक विकास के प्रत्येक स्तर पर किसी-न-किसी प्रकार की सुरक्षा समाज के सदस्यों को उपलब्ध होती रही है। प्रारम्भिक काल में, संयुक्त परिवार की प्रथा मनुष्य को जीवन की प्रायः सभी जोखिमों से सुरक्षा मिलती थी। किन्तु संयुक्त परिवार की प्रथा के विनाश के बाद आर्थिक दायित्व व्यक्तिगत हो गया जिससे प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में जोखिम एवं अनिश्चितता बढ़ गयी। राज्य द्वारा सुरक्षा न प्रदान की जाय तो इन्हें समय-समय पर बेकारी, भुखमरी आदि का सामना करना पड़ेगा। बहुत समय तक पश्चिमी देशों में भी इस प्रकार की सुविधा उपलब्ध नहीं थी। किन्तु वर्तमान-शताब्दी के प्रारम्भ से ही संसार के प्रायः सभी विकसित राष्ट्रों में सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था पर जोर दिया जाने लगा है। सामाजिक सुरक्षा की सर्वप्रथम वैधानिक व्यवस्था 1951 ई० में आस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैंड में की गयी। वहाँ से धीरे-धीरे यह प्रथा



विश्व के अन्य औद्योगिक देशों में फैली। अब तो सामाजिक सुरक्षा इस युग में राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थायित्व की एक गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण शक्ति बन गयी है और इसकी चुनौती को स्वीकार करना समाज एवं सरकार का प्रधान उत्तरदायित्व हो गया है।

भारत में बहुत दिनों तक श्रमिकों के लिए सामाजिक सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। सरकार श्रमिकों के हितों के प्रति बहुधा उदासीन रहती थी। ब्रिटिश शासनकाल में इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम 1923 ई० में एक श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act, 1923) बना। इस अधिनियम के अनुसार श्रमिकों को कारखाना में कोई दुर्घटना अथवा व्यावसायिक रोगों के शिकार होने पर क्षति-पूर्ति एवं चिकित्सा की सुविधा प्रदान करने की व्यवस्था की गयी। इस अधिनियम में कई बार संशोधन किये गये जिनमें 1946 ई० का संशोधन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है जिसके अनुसार 400 रुपये तक की मासिक मजदूरी पानेवाले मजदूरों को इसके अन्तर्गत लाया गया। 1959 ई० के एक संशोधन ने इस अधिनियम को और भी विस्तृत बना दिया है। ब्रिटिश शासनकाल में ही विभिन्न प्रान्तीय सरकारों द्वारा मातृत्व लाभ अधिनियम (Maternity Benefit Acts) बनाये गये। सर्वप्रथम इस प्रकार का अधिनियम बम्बई में 1929 ई० में बनाया गया। तदुपरान्त अन्य प्रान्तों में भी इस प्रकार के अधिनियम बनाये गये। किन्तु मिल-मालिकों की उदासीनता तथा श्रमिकों की अज्ञानता के फलस्वरूप ये अधिनियम श्रमिकों के लिए अधिक लाभदायक नहीं सिद्ध हो पाये हैं।

इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ तक ब्रिटिश सरकार द्वारा सामाजिक सुरक्षा के अन्य क्षेत्रों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। किन्तु युद्धकाल में असंतोष, उनकी बढ़ती हुई संगठन शक्ति तथा राजनीतिक आन्दोलन आदि ने सरकार को इस क्षेत्र में ध्यान देने के लिए विवश किया। युद्धकाल में राज्यों के श्रम-मंत्रियों की 1940, 1942 तथा 1943 ई० की बैठकों में भारत में स्वास्थ्य तथा बीमारी के सम्बन्ध में सुरक्षा की समस्या पर विचार किया गया। 1942 ई० में इंग्लैंड में सर वेवरीज द्वारा प्रस्तुत 'सामाजिक सुरक्षा-सम्बन्धी प्रतिवेदन' ने भारत सरकार का भी ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकर्षित किया। फलतः, 1943 ई० में भारत सरकार ने प्रो० बी० पी० अदारकर को भारत में श्रमिकों के सम्बन्ध में सामाजिक बीमा की एक व्यापक योजना तैयार करने के लिए आमन्त्रित किया। प्रो० अदारकर द्वारा तैयार की गयी योजना में श्रमिकों तथा मालिकों दोनों द्वारा अनिवार्य रूप से चन्दा देने की व्यवस्था थी। साथ ही, राज्य द्वारा अनुदान की आवश्यकता पर भी जोर दिया गया था। प्रो० अदारकर ने प्रारम्भ में प्रयोगात्मक तौर पर योजना को वस्त्र,

इंजीनियरिंग तथा खनिज-सह-धातु उद्योग में लागू करने की सिफारिश की थी। इस योजना को 12 वर्ष से लेकर 60 वर्ष के बीच की आयुवाले 200 रु० मासिक से कम मजदूरी पाने वाले सभी कर्मचारियों पर लागू करने की सिफारिश की गयी थी। 1954 ई० में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के विशेषज्ञों द्वारा प्रो० अदारकर की इस योजना की जांच की गयी जिन्होंने इसे कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत मातृत्व लाभ तथा श्रमिक-क्षति-पूर्ति के सम्बन्ध में सुविधाओं का भी रखने का सुझाव दिया। प्रो० अदारकर के प्रतिवेदन तथा इन विशेषज्ञों के सुझाव के आधार पर भारत सरकार ने एक विधेयक तैयार किया जो 1948 ई० में 'कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम' (Employees' State Insurance Act) के रूप में पारित हुआ।

### भारत में सामाजिक सुरक्षा-सम्बन्धी अधिनियम (Social Security Act in India)

हमारे देश में अभी तक सामाजिक सुरक्षा-सम्बन्धी निम्नलिखित अधिनियम तैयार किये गये हैं :—

- (1) श्रमिक क्षति-पूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act, 1923),
- (2) मातृत्व लाभ-अधिनियम (Maternity Benefit Act),
- (3) कर्मचारी राज्य-बीमा अधिनियम (Employees' State Insurance Act, 1948),
- (4) कर्मचारी प्रोविडेंट फंड ऐक्ट, 1942 तथा
- (5) कोल माइन्स प्रोविडेंट फंड एवं बोनस स्कीम अधिनियम, 1958 ई०।

अब इनका निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(1) श्रमिक क्षति-पूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act, 1923)—भारत में सामाजिक सुरक्षा की शुरुआत 1923 ई० के श्रमिक-क्षति-पूर्ति अधिनियम से ही होती है। यह अधिनियम जम्मू एवं कश्मीर के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत में लागू होता है। 1962 ई० के संशोधन के अनुसार इस अधिनियम के अन्तर्गत 500 रुपये मासिक वेतन से कम पानेवाले सभी मजदूर आते हैं। किन्तु किरानी अथवा प्रशासकीय विभाग के व्यक्ति इसके अन्तर्गत नहीं आते। यह अधिनियम बिजली द्वारा प्रचालित कारखानों में 10 से अधिक तथा बिना बिजली के 50 से अधिक मजदूरों वाले कारखानों में लागू होता है। इस अधिनियम के अनुसार यदि कोई श्रमिक काम करते समय किसी दुर्घटना या किसी व्यावसायिक रोग का शिकार हो जाय तो उसके मालिक को द्राव्यिक क्षति-पूर्ति एवं चिकित्सा की सुविधा प्रदान करनी होगी। क्षति-पूर्ति की रकम दुर्घटना के प्रकार एवं मासिक मजदूरी पर निर्भर करती है।



यह अधिनियम निश्चय ही श्रमिकों के लिए लाभदायक था, किन्तु इससे श्रमिकों को वास्तविक लाभ बहुत ही कम हो सका। दुर्घटना तथा व्यावसायिक रोगों का किसी प्रकार भी अर्थ निकाला जा सकता था, अतः इसे लेकर अदालतों में बहुत मतभेद रहा। साथ ही, मजदूर बहुधा इस अधिनियम से अनभिज्ञ थे तथा मालिकों की नाराजगी से अपना हक माँगने में हिचकिचाते थे। इस अधिनियम का क्षेत्र भी बहुत ही संकुचित था। इसमें देकारी, वृद्धावस्था आदि अनेक प्रकार की जोखिमों की कोई व्यवस्था नहीं की गयी थी। अतः इस अधिनियम को पर्याप्त सफलता नहीं मिल सकी।

(2) मातृत्व लाभ अधिनियम (Maternity Benefit Act):—हमारे देश में बहुत बड़ी संख्या में स्त्रियाँ भी मजदूरी करती हैं जिन्हें प्रसव-काल से पहले तथा बाद में सुविधा प्रदान करने के लिए बहुत-से प्रान्तों में मातृत्व-लाभ अधिनियम बनाया गया था। इस प्रकार का पहला अधिनियम बम्बई में 1922 ई० में बनाया गया। बाद में इसी आधार पर मध्य प्रदेश (1930), असम (1934), उत्तर प्रदेश (1938), बंगाल एवं पंजाब (1934), मद्रास (1944) तथा बिहार (1945) में भी इस प्रकार के अधिनियम बनाये गये। इनके अतिरिक्त कर्मचारी राज्य बीमा योजना तथा Plantation Labour Act, 1951 के अन्तर्गत भी मातृत्व की सुविधा प्रदान की जाती है। सभी उद्योगों तथा राज्यों में मातृत्व-सम्बन्धी लाभ की सुविधा प्रदान करने के उद्देश्य से The Maternity Benefit Act, 1961 तैयार किया गया। इस अधिनियम के अनुसार एक निश्चित समय तक काम कर चुकनेवाली औरतों को प्रसव के पहले और बाद में छुट्टी एवं वृत्ति दी जाती है। साधारणतः, प्रसव काल के 2-3 सप्ताह पहले तथा 3-4 सप्ताह बाद तक छुट्टी तथा निश्चित दर से वृत्ति देने की व्यवस्था है। वृत्ति की दर में विभिन्न राज्यों के अधिनियमों में अत्यधिक विभिन्नता थी। इसके अतिरिक्त इनकी चिकित्सा की भी व्यवस्था की जाती है।

कुछ कारखानों में काम करते समय शिशुओं को रखने के लिए कुशल दाइयों तथा शिशु-गृहों की व्यवस्था की गयी है। किन्तु इस अधिनियम का उपर्युक्त ढंग से पालन नहीं होता है। इसके अनुसार वृत्ति देने के लिए सारा दायित्व केवल मालिकों पर ही है जिससे वे लोग इसमें अनियमितता बरतते हैं। प्रसव अवस्था के पूर्व ही औरतों को बहुधा काम से निकाल दिया जाता है अथवा औरतों का नाम रजिस्ट्रारों में दर्ज ही नहीं किया जाता। इन सब दोषों के कारण यह नियम वास्तव में लाभदायक नहीं होता है।

### (3) कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम (Employees' State Insurance Act, 1948)

भारत में सामाजिक सुरक्षा के इतिहास में 1948 ई० का कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वास्तव में, इस अधिनियम को देश में सामाजिक सुरक्षा की शुरुआत समझना ही अधिक उचित होगा। इस अधिनियम की निम्नांकित प्रमुख विशेषताएँ हैं :—

क्षेत्र :—यह अधिनियम सम्पूर्ण देश में 20 श्रमिकों से अधिक काम करनेवाले विजली द्वारा प्रचालित सभी स्थायी कारखानों में लागू होता है। इसके अन्तर्गत 500 रु० मासिक वेतन से कम पानेवाले सभी कर्मचारी आते हैं।

वित्तीय व्यवस्था :—इस अधिनियम के अन्तर्गत एक कर्मचारी राज्य बीमा कोष (Employees' State Insurance Fund) स्थापित किया गया है जिसमें मजदूर तथा मालिक दोनों एक निश्चित अनुपात में चन्दा देते हैं। चन्दे की दरें श्रमिकों की आय के अनुसार निश्चित की गयी हैं। इस उद्देश्य से श्रमिकों को उनकी आय के अनुसार 8 वर्षों में विभाजित किया गया है। नीचे दी हुई तालिका से कर्मचारियों तथा मजदूरों से चन्दा वसूलने की दरों का अन्दाजा लगता है :—

| कर्मचारियों के वर्ग (दैनिक वेतन के अनुसार) | साप्ताहिक चन्दा    |              |
|--------------------------------------------|--------------------|--------------|
|                                            | कर्मचारियों द्वारा | मालिक द्वारा |
| 1 रु० से कम दैनिक वाले                     | .....              | 7 आने        |
| 1 रु० से अधिक और 1½ रु० से कम              | 2 आने              | 7 "          |
| 1½ रु० से अधिक और 2 रु० से कम              | 4 "                | 8 "          |
| 2 रु० से अधिक और 3 रु० से कम               | 6 "                | 12 "         |
| 3 रु० से अधिक और 4 रु० से कम               | 8 "                | 1 रु०....    |
| 4 रु० से अधिक और 6 रु० से कम               | 11 "               | 1 " 6 "      |
| 6 रु० से अधिक और 8 रु० से कम               | 15 "               | 1 " 14 "     |
| 8 रु० से अधिक दैनिक वेतन वाले              | 1 रु० 4 "          | 1 " 8 "      |



राज्य द्वारा इस कार्यक्रम के प्रथम पाँच वर्षों में कुल प्रशासकीय व्यय के दो-तिहाई भाग देने की व्यवस्था थी।

**लाभ (Benefits):**—इस अधिनियम के अन्तर्गत मजदूरों को निम्नलिखित पाँच प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करने की व्यवस्था की गयी है :—

(1) बीमारी के लिए (Sickness Benefit):—सर्वप्रथम बीमार पड़ने पर कर्मचारियों को इस कोष से वृत्ति दी जाती है। कोई कर्मचारी बीमारी के पूर्व जितने सप्ताह तक कार्य किया हो, यदि उसके कुछ सप्ताह, जो कम-से-कम 12 बार होना चाहिए, का चन्दा चुका दिया हो तो उसके बीमार पड़ने के दो दिन, 15 दिनों तक औसत मजदूरी की आधी वृत्ति मिलेगी।

(2) मातृत्व-सम्बन्धी लाभ (Maternity Benefit):—औरत मजदूरों को उपरोक्त शर्तों के पूरा करने पर 12 आने प्रतिदिन की दर से 12 सप्ताह की वृत्ति दी जायगी। यह वृत्ति वच्चा-होने के 6 सप्ताह पहले तथा बाद तक दी जायगी।

(3) अयोग्यता-सम्बन्धी लाभ (Disablement Benefit):—कारखानों में काम करते समय होनेवाली दुर्घटनाओं तथा व्यावसायिक रोगों के फलस्वरूप यदि कोई श्रमिक अयोग्य हो जाता है तो उसे सुविधाएँ प्रदान की जायँगी। अस्थायी अयोग्यता के लिए बीमारी की भाँति वृत्ति मिलती है तथा स्थायी रूप से अयोग्य हो जानेवाले कर्मचारियों को साप्ताहिक आय  $\frac{1}{2}$  भाग पेंशन के रूप में जीवन-भर मिलता है।

(4) आश्रितों (Dependents) के लिए :—यदि कारखाने में हुई किसी दुर्घटना के फलस्वरूप किसी कर्मचारी की मृत्यु हो जाती है तो ऐसी स्थिति में उसके आश्रितों को निम्नलिखित प्रकार से वृत्ति दी जाती है—विधवा को जीवन भर या दूसरे विवाह तक आधी औसत मजदूरी का  $\frac{3}{5}$  भाग, हर लड़के को 15 वर्ष की आयु तक आधी औसत मजदूरी का  $\frac{1}{5}$  भाग तथा हर अविवाहित लड़की को विवाह या 15 वर्ष की आयु तक, जो भी पहले हो, आधी औसत मजदूरी का  $\frac{2}{5}$  भाग।

(5) चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधा (Medical Benefit):—प्रत्येक बीमा-प्राप्त कर्मचारी को निःशुल्क चिकित्सा की व्यवस्था भी की गयी है। इस अधिनियम के अन्तर्गत मालिकों तथा राज्य की ओर से चिकित्सालयों एवं डाक्टरों की व्यवस्था की गयी है। यदि राज्य अथवा मालिक चाहें तो ये सुविधाएँ कर्मचारियों के परिवार के व्यक्तियों को भी दी जा सकती हैं।

**व्यवस्था (Administration):**—इस योजना की व्यवस्था के लिए एक निगम की स्थापना की गयी है

जिसका नाम 'कर्मचारी राज्य बीमा निगम' (Employee's State Insurance Corporation) है। इसके 31 सदस्य हैं तथा केन्द्रीय सरकार के श्रम-मन्त्री इसके अध्यक्ष हैं। निगम में राज्य सरकारों के प्रतिनिधि भी हैं। केन्द्रीय सरकार द्वारा मालिकों तथा श्रमिकों के पाँच-पाँच प्रतिनिधि इनके संगठनों की सलाह से रखे गये हैं। इनके अतिरिक्त संसद के दो प्रतिनिधि हैं जिन्हें संसद मनोनीत करती है। निगम की एक कार्यवाहक समिति (Standing Committee) है जिसके 13 सदस्य हैं। इसका एक डायरेक्टर जनरल भी है जो निगम के प्रधान संचालक का कार्य करता है। इसकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती है।

कर्मचारी राज्य-बीमा निगम की स्थापना 6 अक्टूबर, 1948 ई० को हुई थी। सर्वप्रथम फरवरी, 1952 ई० में यह कार्यक्रम दिल्ली तथा कानपुर में और जनवरी, 1953 ई० में बम्बई में आरम्भ किया गया था। धीरे-धीरे अन्य औद्योगिक केन्द्रों में भी यह लागू किया गया तथा फरवरी, 1971 ई० तक इसके अन्तर्गत 323 केन्द्रों में प्रायः 41 लाख मजदूर आ गये थे। चतुर्थ योजना के अन्त तक देश के सभी औद्योगिक मजदूर को इसके अन्तर्गत लाने का आयोजन था। 1969-70 के अन्त तक कर्मचारियों ने कुल 15.2 करोड़ रुपये तथा मालिकों ने 21.2 करोड़ रुपये अंशदान के रूप में दिया था।<sup>1</sup> इसमें 18-13 करोड़ रुपये बीमा-युक्त कर्मचारियों को विभिन्न प्रकार की जोखिमों के लिए दिये गये थे। साथ ही, 1973-74 में 41.6 लाख परिवारों को चिकित्सा की सुविधा प्रदान की गयी थी।

**समीक्षा (A carical appraisal of the Employees' State Insurance Act):**—1948 ई० का कर्मचारी राज्य-बीमा अधिनियम भारत में सामाजिक बीमा के क्षेत्र में पहला महान् कदम है। किन्तु इस अधिनियम के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों एवं सभी प्रकार की जोखिमों की व्यवस्था नहीं की गयी है। अतः इसे सामाजिक बीमा के क्षेत्र में प्रारम्भिक प्रबन्ध ही कहना चाहिए। फिर भी, भविष्य में सामाजिक बीमा योजनाओं की सफलता इसी योजना की सफलता पर निर्भर करती है। आज विश्व के प्रायः सभी औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों में सामाजिक सुरक्षा को राज्य की नीति का एक आवश्यक अंग माना जाता है। सामाजिक सुरक्षा आज के युग में राजनीतिक और आर्थिक स्थायित्व की सबसे महत्वपूर्ण एवं गम्भीरतम शर्तें हो गयी है। अतः, इसका क्षेत्र भी दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। आज सामाजिक सुरक्षा का उद्देश्य देश के प्रत्येक व्यक्ति को जोखिम से रक्षा करना समझा जाता है। इस दृष्टिकोण से 1948 ई० का अधिनियम निश्चय ही बहुत सीमित है। इसमें



बेरोजगारी (Unemployment), वृद्धावस्था (Old Age) आदि के सम्बन्ध में सुरक्षा की व्यवस्था नहीं की गयी है। भारत सरकार ने बेरोजगारी-सम्बन्धी बीमा की सम्भावनाओं की जाँच के लिए 1954 ई० में एक विशेषज्ञ दल की नियुक्ति की थी जिसने भारत में बेरोजगारी बीमा योजना (Unemployment Insurance Scheme) को लागू करने की आवश्यकता पर जोर दिया था। किन्तु, सरकार अभी इस सम्बन्ध में कोई सक्रिय प्रयत्न नहीं कर रही है। साथ ही, मजदूरों की छँटनी पर आज अधिक जोर दिया जा रहा है। यह निश्चय ही खेदजनक है। हमारे देश में यथाशीघ्र बेरोजगारी बीमा की एक व्यापक योजना कार्यान्वित की जानी चाहिए। 1948 ई० के अधिनियम का एक दूसरा प्रधान दोष यह है कि इसके अन्तर्गत केवल स्थायी कारखानों में काम करने वाले श्रमिक ही आते हैं। इसमें मौसमी उद्योगों, छोटे एवं कुटीर उद्योगों तथा कृषि में कार्य करनेवाले मजदूरों के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नहीं है। अतः इस वर्ग के मजदूर सामाजिक सुरक्षा से पूर्णतया वंचित रह जाते हैं। किन्तु देश में सामाजिक सुरक्षा की किसी भी योजना में इतनी बड़ी संख्या में काम करनेवाले मजदूरों की उपेक्षा करना सर्वथा अनुचित है। आशा है कि सरकार भविष्य की योजनाओं में इन वर्गों के कर्मचारियों को भी उचित स्थान देगी।

#### (4) कर्मचारी निर्वाह-निधि अधिनियम, 1952 (Employees' Provident Fund Act, 1952)

श्रमिकों की वृद्धावस्था के लिए कुछ व्यवस्था करना समय-समय पर आवश्यक समझा गया है। संयुक्त परिवार की व्यवस्था में बुढ़ापे में लोगों का भरण-पोषण परिवार द्वारा ही किया जाता था, किन्तु वर्तमान औद्योगिक जीवन प्रचार से धीरे-धीरे संयुक्त परिवार की व्यवस्था समाप्त हो रही है। साथ ही, अधिकांश मजदूरों को इतनी कम मजदूरी मिलती है कि वे अपनी वृद्धावस्था के लिए कुछ भी बचा नहीं सकते जिससे उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वृद्धावस्था के लिए पेन्शन, प्रोविडेंट फण्ड आदि के द्वारा समुचित व्यवस्था की जा सकती है। हमारे देश में सरकार अपने कर्मचारियों को नौकरी से अवकाश प्राप्त करने पर आजन्म पेन्शन प्रदान करती है। कुछ कारखानों, रेलों तथा सरकारी दफ्तरों में निर्वाह-निधि की व्यवस्था भी पायी जाती है।

अतएव 4 मार्च, 1952 ई० को कर्मचारी निर्वाह-निधि अधिनियम (Employees' Provident Fund Act) पारित किया गया जिसे 1 नवम्बर, 1952 ई० से लागू किया गया। प्रारम्भ में यह अधिनियम सीमेंट, सिगरेट, इंजीनियरिंग, लोहा एवं इस्पात, कागज तथा

वस्त्र-उद्योगों में ही लागू किया गया था। सितम्बर, 1970 ई० तक यह 123 उद्योगों में लागू किया गया था। इन उद्योगों में 50 अथवा-इससे अधिक की संख्या में मजदूर वाले कारखानों में ही यह अधिनियम लागू होता था। 1960 ई० के एक संशोधन के अनुसार इसे 20 से अधिक मजदूर वाले कारखानों में लागू किया जा रहा है वशर्त कि उन कारखानों में पाँच वर्ष से अधिक से काम हो रहा हो। इसके अन्तर्गत भी वे सभी मजदूर आते हैं जो कम-से-कम एक वर्ष से काम कर रहे हों तथा जिनकी मजदूरी 1000 रु० मासिक से अधिक न हो। इस अधिनियम के अनुसार प्रत्येक मालिक को अपने कारखानों में काम करनेवाले कर्मचारियों के वेतन और महंगाई भत्ते का  $6\frac{1}{4}$  प्रतिशत निर्वाह-निधि के रूप में देना होगा तथा कर्मचारियों को भी इतनी ही रकम देनी होगी। इसमें प्रशासकीय व्यय केवल मालिकों को ही वहन करना पड़ेगा। सरकार किसी विशेष उद्योग के लिए  $6\frac{1}{4}$  प्रतिशत से अधिक कटौती की भी व्यवस्था कर सकती है। इसके अनुसार 30-9-1969 ई० से 8 उद्योगों में कटौती की दर को बढ़ाकर 8 प्रतिशत कर दिया गया है। इस फण्ड में जमा की रकम को प्रोविडेंट फण्ड एकाउन्ट में जमा कर दिया जाता है जिसकी व्यवस्था केन्द्रीय सरकार द्वारा एक 'केन्द्रीय ट्रस्टीज परिषद्' (Central Board of Trustees) की देख-रेख में की जा रही है।

सितम्बर, 1973 ई० तक कुल मिलाकर 68 लाख कर्मचारी इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आ गये थे तथा प्रोविडेंट फण्ड की रकम लगभग 2597 करोड़ रु० हो गयी थी। उस समय तक नौकरी छोड़नेवाले कर्मचारियों को 1103 करोड़ रुपये प्रोविडेंट फण्ड के रूप में दिया गया था। इस प्रकार इस अधिनियम के द्वारा कर्मचारियों को लाभ अवश्य हुआ है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में इसके और विस्तार की आशा की जाती है। किन्तु, भारत में 'कर्मचारी राज्य-बीमा अधिनियम' की व्यवस्था इस प्रकार से की जानी चाहिए जिससे कि भविष्य में एक विस्तृत सामाजिक सुरक्षा के लिए मार्ग तैयार किया जा सके। भारत जैसे-विकासोन्मुख आर्थिक-व्यवस्था वाले देश में एक विस्तृत सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था ही हमारा अन्तिम उद्देश्य होना चाहिये।

(5) कोयला-खान निर्वाह निधि योजना (Coal Mines Provident Fund Act):—कोयले की खानों में काम करने वाले मजदूरों को Coal Mines Provident Fund and Bonus Scheme Act, 1948 के अनुसार निर्वाह-निधि की व्यवस्था की गयी है। इस अधिनियम के अनुसार मजदूरों की मजदूरी का 8 प्रतिशत मजदूरों तथा 8 प्रतिशत मिल-मालिकों को देना पड़ता है जो एक कोष में जमा किया जाता है। सितम्बर, 1973 ई० के अन्त में इस योजना के अन्तर्गत 1360 कोयले की



खानों में काम करनेवाले 4.2 लाख मजदूर आ गये थे तथा 88.04 करोड़ रुपये की कुल रकम जमा के रूप में प्राप्त हुई थी। इससे कोयले की खानों में काम करनेवाले मजदूरों को बहुत अधिक लाभ की आशा की जाती है।

**बेरोजगारी बीमा की आवश्यकता (Need for Unemployment Insurance) :—**भारतीय जनतन्त्र का प्रधान उद्देश्य जन-कल्याण में वृद्धि करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए देश की विशाल जनसंख्या के लिए रोजगार के साधनों में वृद्धि तथा बेरोजगारी बीमा की व्यवस्था अनिवार्य है। बेरोजगारी बीमा की जाँच के लिए 1954 ई० में भारत सरकार ने एक working group की नियुक्ति की थी। इसने भारत में बेरोजगारी बीमा के सम्बन्ध में अपना सुझाव देते हुए बताया था कि योजना में श्रमिक तथा सेवायोजक दोनों को एक निश्चित अनुपात में अनुदान देना चाहिए। किन्तु भारत सरकार इस सम्बन्ध में कोई सक्रिय प्रयास नहीं कर रही है। सरकार का प्रधान उद्देश्य केवल छंटनी वगैरह के समय मजदूरों को कुछ क्षतिपूर्ति देने की व्यवस्था करनी है। इस उद्देश्य से औद्योगिक संघर्ष अधिनियम में भी कुछ संशोधन किया गया है। वास्तव में, जनहित के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए देश की वर्तमान परिस्थितियों में बेरोजगारी बीमा (Unemployment Insurance) की एक विस्तृत पद्धति को अपनाने की प्रबल आवश्यकता है।

**सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में मेनन समिति के विचार (Menon Committee on Social Security) :—**1958 ई० में सामाजिक सुरक्षा के अध्ययन दल (Study group on Social Security), जिसके अध्यक्ष श्री बी० के० मेनन थे, ने देश में सामाजिक सुरक्षा की सभी योजनाओं के एकीकरण (integration) का प्रस्ताव दिया। समिति ने एक ऐसी केन्द्रीय संस्था की नियुक्ति का सुझाव दिया

जो कर्मचारी राज्य बीमा योजना तथा कर्मचारी निर्वाह-निधि योजना दोनों की व्यवस्था करेगी। समिति का यह सुझाव बहुत ही महत्वपूर्ण है तथा इसके आधार पर सामाजिक सुरक्षा की एक विस्तृत योजना तैयार की जा सकती है।

**चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था (Fourth Five Year Plan and the Social Security Schemes of the Govt.) :—**सरकार औद्योगिक नीति की ही तरह सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में भी एक व्यापक योजना तैयार कर रही है जिसके अनुसार वृद्धावस्था पेंशन तथा बेरोजगारी-संबंधी नीति को लागू करने का प्रस्ताव है। इसके अनुसार चतुर्थ योजना में वृद्धावस्था पेंशन की एक योजना लागू की जायगी जिसके अन्तर्गत 65 वर्ष से अधिक आयुवाले व्यक्तियों को 20 रु० मासिक पेंशन दिया जायगा। अंधे, कोढ़ी, अपाहिज आदि व्यक्तियों को 60 वर्ष की उम्र से ही पेंशन दिया जायगा तथा इनकी पेंशन की मात्रा 40 रुपये प्रति व्यक्ति होगी। वृद्धावस्था-पेंशन के अन्तर्गत सरकार को 66 करोड़ रुपये का व्यय होगा। इसी प्रकार बेरोजगारी बीमा की भी एक योजना तैयार की जा रही है जिसके अन्तर्गत कर्मचारी निर्वाह-निधि में अंशदान देने वाले प्रायः 45 लाख व्यक्ति आयेंगे। चतुर्थ योजना काल में श्रम कल्याण की मद में अनुमानतः 399 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी।

भारत सरकार द्वारा नियुक्त राष्ट्रीय श्रम आयोग (National Commission on Labour) के विचाराधीन विषयों में श्रम-कल्याण एवं सामाजिक सुरक्षा का भी समावेश था। आयोग ने इस सम्बन्ध में एक व्यापक सुरक्षा की व्यवस्था का सुझाव प्रस्तुत किया है जिसे शीघ्र ही लागू करने की आशा की जाती है।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. V. V. Giri : Labour Problems in Indian Industry, Chaps. II, VI & VII.
2. V. B. Singh : Industrial Labour in India, Part V.
3. Indian Labour Year Book, 1963.
4. Third, Fourth & Fifth Five Year Plans.
5. Government of India : Report of the Labour Commission.



## पंचम खण्ड

"The Transport Industries which undertake nothing more than the mere movement of persons and things from one place to another, have constituted one of the most important activities of men in every stage of advanced civilization."

—*Marshall.*

परिवहन एवं विदेशी व्यापार  
( TRANSPORT AND FOREIGN TRADE )



★ इस खण्ड में ★

- अध्याय : 43 यातायात के साधन : रेलवे  
(Means of Transport : Railways)
- अध्याय : 44 यातायात के साधन : सड़कें  
(Means of Transport : Roads)
- अध्याय : 45 यातायात के साधन : जल एवं वायु यातायात  
(Means of Transport : Water & Air Transport)
- अध्याय : 46 भारत का विदेशी व्यापार  
(Foreign Trade of India)



## अध्याय : 43

### यातायात के साधन : रेलवे (Means of Transport : Railways)

आर्थिक विकास में यातायात के साधनों का महत्त्व (Importance of the means of Transport in Economic Development) : किसी भी राष्ट्र के जीवन में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक एवं प्रशासकीय दृष्टिकोण से यातायात के साधनों का विशेष महत्त्व है। किसी देश की समृद्धि कृषि, उद्योग तथा खनिज पर निर्भर अवश्य करती है, किन्तु यातायात एवं संवादवाहन का विकास इनसे भी कम आवश्यक नहीं है। वास्तव में, 'यदि कृषि एवं उद्योग राष्ट्र-रूपी प्राणी के शरीर और हड्डियाँ हैं तो यातायात उसका जीवन-तन्तु है।' (If agriculture and industry are the body and bones of national organism, transport and communication are its nerves) या हम यों कह सकते हैं कि किसी राष्ट्र के आर्थिक जीवन में यातायात का उतना ही महत्त्व है जितना कि शरीर में रक्त-संचालन वाली धमनियों का। वास्तव में, एक आधुनिक अर्थ-व्यवस्था यातायात के साधनों के बगैर बिल्कुल कार्य नहीं कर सकती। आज की आर्थिक व्यवस्था का अन्तिम उद्देश्य उत्पादन ही नहीं है। उत्पादन का उद्देश्य उपभोग है और इसके लिए वस्तुओं एवं सेवाओं के विनिमय एवं वितरण की आवश्यकता पड़ती है।

यातायात के साधनों का वस्तुओं एवं सेवाओं के विनिमय एवं वितरण में बहुत बड़ा महत्त्व है। इनके द्वारा समय एवं स्थान उपयोगिता का सृजन होता है। यातायात के साधनों के समुचित विकास के अभाव का उत्पादन एवं उपभोग दोनों पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ता है। अतएव यातायात के साधनों का मानव-जीवन के विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मार्शल (Marshall) के निम्नांकित कथन से यह स्पष्ट हो जाता है :—“The transport industries which undertake nothing more than the mere movement of persons and things from one place to another, have constituted one of the most important activities of men in every stage of advanced civilization.”<sup>1</sup> भारत जैसे विशाल देश, जिसे एक उपमहाद्वीप कहा जा सकता है, के लिए तो यातायात के साधनों का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। देश के अन्दर

एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाने के लिए विशाल दूरियों एवं कठिन प्राकृतिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में देश के विभिन्न भागों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए यातायात के साधनों की अधिकाधिक सुविधा अनिवार्य हो जाती है। हमारे देश में यातायात के साधनों का समुचित विकास नहीं हो पाया है। हमारे आर्थिक पिछड़ेपन का यह एक प्रमुख कारण है। देश के सम्पूर्ण इतिहास में प्रारम्भ से ही यातायात की कठिनाइयाँ आर्थिक एवं राजनीतिक विकास के मार्ग में बाधक सिद्ध हो रही हैं।

इस प्रकार किसी राष्ट्र के आर्थिक जीवन में यातायात के साधनों का विशेष महत्त्व है। वास्तव में, मानव सभ्यता का इतिहास ही यातायात के विकास का इतिहास रहा है। सभ्यता के इतिहास में सड़क-निर्माण करनेवालों ने पथ-प्रदर्शक का कार्य किया है। वे आगे-आगे बढ़ते गये और सभ्यता उनके पीछे-पीछे चलती गयी; यानी सभ्यता ने यातायात के साधनों का अनुकरण किया है। सड़कों के साथ-साथ गाँव एवं नगरों का निर्माण भी होता गया। साथ ही, वाणिज्य एवं व्यवसाय का विकास होने लगा जिससे सारा विश्व एक सूत्र में बँध गया। इस प्रकार, यातायात के साधनों एवं मानव सभ्यता के विकास में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आज भारत में यातायात के निम्नलिखित प्रमुख साधन हैं :—(1) रेलवे, (2) सड़कें, (3) जल-मार्ग तथा (4) हवाई-मार्ग। अब इन चारों साधनों का हम एक-एक करके वर्णन करेंगे।

#### रेल-परिवहन (Railways)

भारत की यातायात-व्यवस्था में रेलों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यातायात के अन्य साधनों की तुलना में इनसे हमें अनेक प्रकार की सुविधाएँ मिलती हैं। उदाहरण के लिए, इनकी गति बहुत तेज होती है, इनमें वस्तुओं एवं यात्रियों को ढोने की अपूर्व शक्ति होती है तथा यातायात के अन्य साधनों की तुलना में ये सस्ती भी होती हैं। अतः प्रत्येक देश की यातायात प्रणाली में इनका बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

1. Marshall in "Industry and Trade."



**रेलवे का आर्थिक प्रभाव (Economic effects of Railways):**—रेल अथवा यातायात के अन्य तीव्र गति से चलने वाले साधनों का देश के आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन पर बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। भारत में रेलों के निर्माण के पूर्व देश के विभिन्न भाग भिन्न-भिन्न इकाइयों की तरह थे जिनके बीच प्रायः किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था। रेल-व्यवस्था के विकास ने देश के सभी भागों को एक-दूसरे से सम्बन्धित कर इन्हें एक राष्ट्रीय सूत्र में बाँध दिया है। रेल यातायात के विकास के फलस्वरूप कृषि का वाणिज्यीकरण (Commercialisation of Agriculture) हुआ तथा दूर-दूर तक विस्तृत बाजारों के लिए वस्तुओं का उत्पादन किया जाने लगा। रेलों के परिणामस्वरूप ही कुशल प्रशासन, सुरक्षा, दुर्भिक्ष-सहायता, कृषिका विकास आदि सम्भव हुए हैं। बन्दरगाहों एवं नगरों के विकास में भी रेलों ने अकथनीय सहयोग प्रदान किया है। रेलों द्वारा सफाई तथा शिक्षा में वृद्धि हुई है। सरकारी आय में भी रेल-व्यवस्था के फलस्वरूप प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से वृद्धि हुई है। इससे देश में श्रम की गतिशीलता में वृद्धि हुई है तथा बहुत-से व्यक्तियों को रोजगार भी मिले हैं।

किन्तु, इससे यह नहीं सोचना चाहिए कि भारत में रेलों के प्रसार से केवल लाभ-ही-लाभ हुआ है। इससे देश को कुछ हानियाँ भी हुई हैं। उदाहरण के लिए रेल-व्यवस्था के विकास ने देश के प्राचीन उद्योग-धन्धों को नष्ट करने में बहुत अधिक सहायता दी है। विदेशों की सस्ती वस्तुओं को देश के कोने-कोने में फैलाकर इसने कुटीर उद्योग-धन्धों की अवनति में पूर्णाहुति का कार्य किया है। इससे देश की आर्थिक व्यवस्था एकांगी हो गयी है तथा देश कच्चे पदार्थों का निर्यातक एवं निमित्त वस्तुओं का आयातक बन गया है। देश के प्राचीन एवं परम्परागत उद्योगों की अवनति में सहायता कर रेलों ने देश के ग्रामीणीकरण (Ruralization) को भी प्रोत्साहित किया है। साथ ही, देश में विदेशी पूँजी के प्रयोग को प्रोत्साहित कर रेलों ने देश की निर्धनता को भी बढ़ाया है। इसके बावजूद यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ये दोष रेलों के प्रसार के नहीं, बरन् अनियोजित ढंग से रेल-निर्माण के कारण ही हुए हैं।

### भारतीय रेल-व्यवस्था का विकास (Growth of the Indian Railway System)

साधारणतया, भारतीय रेल-व्यवस्था के इतिहास को निम्नलिखित 11 कालों में विभाजित किया जा सकता है:—

- (1) 1844—1869 प्राचीन गारंटी पद्धति,
- (2) 1869—1879 सरकारी निर्माण एवं प्रबंध,

- (3) 1879—1900 नवीन गारंटी पद्धति,
- (4) 1900—1914 तीव्र प्रगति तथा रेलों से लाभ का आरम्भ,
- (5) 1914—1921 रेल-व्यवस्था का विघटन,
- (6) 1921—1924 आकैवर्थ कमिटी तथा सरकारी प्रबंध एवं नियंत्रण,
- (7) 1924—1930 सेपरेशन कन्वेंशन तथा समृद्धि काल,
- (8) 1930—1936 भयानक आर्थिक मन्दी का काल,
- (9) 1936—1939 आंशिक पुनरुत्थान,
- (10) 1939—1951 द्वितीय महायुद्ध एवं देश-विभाजन, तथा
- (11) 1951 से आज तक रेलों का पुनर्संरगठन एवं पंच-वर्षीय योजना काल।

अब भारतीय रेल व्यवस्था के संक्षिप्त इतिहास की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है:—भारत में रेलों का निर्माण 1844 ई० में प्रारम्भ हुआ जब 'ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी', ने इंग्लैंड में स्थापित कम्पनियों को एक निश्चित लाभ के आश्वासन पर रेल-निर्माण का ठेका दिया। प्रारम्भ में कलकत्ता और बम्बई के समीप दो छोटी-छोटी रेल लाइनों के निर्माण के लिए क्रमशः ईस्ट इण्डियन रेलवे कम्पनी तथा ग्रट इण्डियन पेनिनसुला रेलवे कम्पनी को ठेका दिया गया। लार्ड डलहौजी की योजना के अनुसार 1854 से 1860 ई० के बीच 9 कम्पनियों को रेल-निर्माण के लिए ठेका दिया गया। इसी बीच 1853 ई० में देश में पहली 20 मील लम्बी रेल लाइन बम्बई से थाना के बीच प्रारम्भ की गयी। किन्तु कम्पनियों द्वारा रेल निर्माण की बहुत अधिक आलोचना हुई, अतएव, 1869 ई० में सरकार ने स्वयं रेल-निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया। भारत सचिव द्वारा यह निश्चय किया गया कि सरकार स्वयं अपनी साख का पूरा-पूरा लाभ उठाकर रेलों का निर्माण करेगी। सरकार द्वारा प्रतिवर्ष रेलों के निर्माण के लिए 10 लाख पौंड कर्ज लेने तथा मीटरगेज पर लाइनों के निर्माण का निश्चय किया गया। किन्तु, वित्तीय कठिनाइयों के कारण यह व्यवस्था बहुत दिनों तक नहीं चल सकी, अतः सरकार ने पुनः कम्पनियों की सहायता से रेलों का निर्माण प्रारम्भ किया, किन्तु ठेके की शर्तों में कुछ परिवर्तन किये गये। अतः इस प्रथा को नवीन गारंटी की प्रथा कहते हैं। बीसवीं सदी के आरम्भ से रेलों के तीव्र प्रसार का काल प्रारम्भ हुआ। 1900 ई० में देश में कुल लाइनों की लम्बाई 24,752 मील थी जो 1914 ई० में बढ़कर 34,656 मील हो गयी। इस काल में रेलों से लाभ प्रारम्भ हो गया। 1900-ई० तक रेलों से घाटा-ही-घाटा हुआ जिससे इस बीच सरकार को व्याज के रूप में कम्पनियों को प्रायः 58 करोड़ रुपये



चुकाना पड़ा था। किन्तु 1900 ई० से रेलों के लाभ का काल प्रारम्भ हुआ तथा 1924 ई० तक सरकार को कुल 103 करोड़ रुपये का लाभ प्राप्त हुआ। 1905 ई० में एक रेलवे बोर्ड (Railway Board) की नियुक्ति की गयी।

1914 ई० में प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। युद्धकाल में युद्ध-सामग्री एवं सैनिकों को बड़ी मात्रा में ढोने के कारण देश की रेल-व्यवस्था पर बड़ा भार पड़ा। साथ-ही, मेसो-पोटामिया तथा पूर्वी अफ्रिका के अन्य रंगमंचों पर भारत से इंजन, रेल के डब्बे एवं कर्मचारियों आदि को भेजना पड़ा। बाहर से रेलों के सामान को मँगाना भी कठिन हो गया तथा देश में भी इनका बड़ा अभाव हो गया। रेलवे के कारखानों में विभिन्न प्रकार की युद्ध-सामग्रियों तथा हास्पिटल ट्रनों का निर्माण किया जाने लगा। इस प्रकार नयी लाइनों का निर्माण तो पूर्णतया रुक ही गया, वर्तमान लाइनों को भी समुचित मरम्मत के अभाव में अच्छी दशा में रखना कठिन हो गया। युद्ध-काल में रेल-व्यवस्था के विघटन का अन्दाजा आकवर्थ समिति के निम्न बयानों से लगाया जा सकता है—“बीसीयों ऐसी पुल हैं, जिनपर से आधुनिक भारी बोझों से लदी ट्रनें नहीं चल सकतीं, कितनी ही मील रेल, सैकड़ों इंजन तथा हजारों की टाय-दाद में ऐसे डब्बे हैं जिनके बदलने की उचित तिथि को समाप्त हुए कितने दिन हो गये हैं।” रेल-व्यवस्था के विघटन का जनता एवं व्यापारी वर्ग पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा तथा भारतीय जनमत विदेशी कम्पनियों द्वारा रेलवे की व्यवस्था के विरुद्ध होने लगा।

**आकवर्थ कमिटी (Acworth Committee) :**— भारतीय रेलों की इस बिगड़ती हुई स्थिति के लिए भारत सरकार ने 1920 ई० में इंग्लैंड के एक रेलवे विशेषज्ञ सर विलियम आकवर्थ की अध्यक्षता में एक कमिटी की नियुक्ति की। कमिटी से 1921 ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये गये थे। आकवर्थ कमिटी का प्रमुख कार्य देश में रेलों की व्यवस्था तथा रेलवे वित्त के सम्बन्ध में पूर्ण विवेचना करना था। इसके अतिरिक्त कमिटी ने रेलवे बोर्ड के पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में भी सिफारिश की जिसके आधार पर 1922 ई० में रेलवे बोर्ड का पुनर्निर्माण किया गया।

**रेलवे का सरकारी प्रबंध बनाम कम्पनी प्रबंध (Government Vs. Company Management) :**— आकवर्थ कमिटी के समक्ष सर्वप्रमुख प्रश्न भारतीय रेलों की व्यवस्था एवं प्रबंध के सम्बन्ध में था। देश की अधिकांश रेलवे लाइनें सरकारी सम्पत्ति थीं तथा इनकी व्यवस्था के लिए सरकार ने इन्हें निजी कम्पनियों को सौंप दिया था। 1919 ई० में ईस्ट इण्डियन रेलवे कम्पनी का ठेका समाप्त हो रहा था, अतः सरकार ने इस सम्बन्ध में विस्तृत जांच के लिए आकवर्थ कमिटी की नियुक्ति की।

अस्थायी उपचार के रूप में कम्पनी का पुराना ठेका 1925 ई० तक बढ़ा दिया गया। भारत में रेल-व्यवस्था की समस्या प्रारम्भ से ही विवादास्पद बनी हुई थी जिससे इस सम्बन्ध में कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता था। आकवर्थ कमिटी ने इस प्रश्न पर भली-भाँति विचार किया। कमिटी के अनुसार कम्पनियाँ, जो स्वयं अपनी पूँजी लगाती हैं तथा व्यवस्था का कार्य करती हैं, सरकार द्वारा व्यवस्थित उद्योगों की तुलना में अधिक कार्य-कुशल अवश्य होती हैं, किन्तु भारत में रेलों की व्यवस्था करने-वाली अँगरेजी कम्पनियाँ इस अर्थ में कम्पनी नहीं हैं; क्योंकि उनके प्रबन्ध के लिए सौंपी गयी रेलवे लाइनें उनकी निजी सम्पत्ति नहीं होकर सरकारी सम्पत्ति थी। साथ ही, रेल-व्यवस्था में इन कम्पनियों द्वारा विनियोजित पूँजी भी अपेक्षाकृत कम ही थी। इस प्रकार रेलों की व्यवस्था केवल नाम-मात्र के लिए कम्पनियों के हाथ में थी; क्योंकि सरकार स्वयं अपने को वास्तविक स्वामी समझती थी। इससे कम्पनियों के पास रेलों के समुचित विकास के लिए आवश्यक प्रेरणा का भी अभाव था। साथ ही, भारत में जनमत कम्पनी व्यवस्था के विरुद्ध था; क्योंकि कम्पनी व्यवस्था में भी देशी उद्योग-धन्धे को प्रोत्साहन के बजाय आयात एवं निर्यात को प्राथमिकता दी जाती थी। विदेशी कम्पनियाँ जान-बुझकर भारतीय हितों की उपेक्षा करती थीं, इनकी व्यवस्था में भारतीयों को न तो अच्छे पदों पर नियुक्त किया जाता था और न उन्हें आवश्यक प्राविधिक शिक्षा की ही सुविधाएँ दी जाती थीं व्यापारियों एवं यात्रियों की सुविधाओं पर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता था। इस प्रकार कम्पनी का प्रबन्ध भारत में लोकप्रिय नहीं था। आकवर्थ कमिटी की बहुमत रिपोर्ट ने भी भारतीय जनमत का समर्थन किया। पक्ष एवं विपक्ष के प्रायः सभी तर्कों पर विचार करने के पश्चात् कमिटी ने बहुमत से राज्य प्रबन्ध के सम्बन्ध में ही अपना विचार प्रकट किया।

अन्य समितियों ने, जैसे—रेलवे-वित्त समिति तथा भारतीय छँटनी समिति (Indian Retrenchment Committee) ने भी भारतीय रेलों की स्थिति की जांच के पश्चात् सरकारी प्रबन्ध के पक्ष में ही अपना सुझाव दिया था। सरकार ने भी इस सुझाव को स्वीकार कर लिया तथा 1925 ई० में ई० आई० आर० एवं जी० आई० पी० रेलों के प्रबन्ध को अपने हाथों में ले लिया। तब से सरकार की नीति सदा यही रही है। कम्पनियों के अनुबन्ध पूरा होने पर सरकार उनका प्रबन्ध अपने हाथ में ले लेती थी। इस प्रकार आजकल देश की प्रायः सभी रेलें सरकारी व्यवस्था के अन्तर्गत आ गयी हैं।



## रेलवे वित्त का साधारण वित्त से पृथक् होना (Separation of Railway Finance from General Finance)

आकवर्थ समिति के समक्ष दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न रेलवे वित्त के सम्बन्ध में विचार करना था। अबतक रेलवे वित्त साधारण वित्त का एक अभिन्न अंग था। आकवर्थ कमिटी ने बहुत कारणों से रेलवे वित्त को साधारण वित्त से अलग करने की बात पर जोर दिया। कमिटी के अनुसार भारतीय रेल-व्यवस्था के अनेक दोष रेलों के विकास एवं प्रसार के लिए समुचित कोष के अभाव के कारण थे। साधारण वित्त पर आश्रित रहने के कारण रेलों को कभी-कभी अत्यन्त आवश्यक कार्यों के लिए भी धन नहीं मिल पाता था। इस प्रकार सरकारी बजट पर आश्रित रहने के कारण रेलों का कार्य एक निश्चित व्यापारिक पद्धति के आधार पर नहीं चल पाता था। प्रतिवर्ष 31 मार्च को वित्तीय वर्ष की समाप्ति के साथ-साथ-रेलवे विकास का कार्य भी समाप्त हो जाता था और नये सरकारी वर्ष के साथ पुनः आरम्भ होता था। देश की वित्तीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कभी-कभी तो वर्ष के बीच में भी रेलवे के लिए धन राशि में से कटौती की जाती थी जिससे विकास का चालू कार्य भी स्थगित हो जाता था। जब साधारण वित्त की स्थिति में सुधार हो जाता था तो रेलवे को अधिक धन राशि दी जाती थी जिसे उन्हें 31 मार्च के पूर्व व्यय करना आवश्यक होता था। इस प्रकार की व्यवस्था में व्यय अनियोजित ढंग से होता था। इससे रेलों के विकास के कार्य में स्थायित्व का भी अभाव था। साथ ही, रेलों के लाभ पर आश्रित होने से साधारण बजट में भी एक प्रकार की अनिश्चिता बनी रहती थी। रेलों के लाभ मौसम तथा व्यापार की स्थिति के अनुसार सदा घटते-बढ़ते रहता था, अतः इससे साधारण बजट के अनुमान में करोड़ रुपये की कमी बेशी सदा आशंका बनी रहती थी। अतः आकवर्थ कमिटी ने सुझाव दिया कि रेलवे वित्त को साधारण वित्त से पृथक् करना आवश्यक है।

आकवर्थ कमिटी के सुझावों के अनुसार 1924 ई० में विधान सभा द्वारा रेलवे वित्त को सामान्य वित्त से पृथक् करने का एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया जिसे पृथक्करण समझौता (Separation Convention) कहते हैं। इनके अनुसार रेलवे के लाभ में से प्रतिवर्ष एक निश्चित धन-राशि सरकारी बजट को देने की व्यवस्था की गयी। इसे निम्न आधार पर तय किया गया—(1) रेलवे प्रतिवर्ष वाणिज्यिक लाइन (Commercial Lines) पर लगी हुई पूंजी का 1 प्रतिशत भाग तथा इसके अतिरिक्त लाभ का 1 भाग सरकारी बजट को दे दिया करेगी। (2) इसके देने के बाद जो कुछ बचेगा उसे रेलवे सुरक्षित कोष में

हस्तांतरित कर दिया जायगा। किन्तु, यदि इस प्रकार हस्तांतरित की जानेवाली रकम 3 करोड़ रुपये से अधिक होगी तो उस अधिक रकम का एक-तिहाई भाग पुनः सरकारी बजट को दे दिया जायगा। रेलवे सुरक्षित कोष का उपयोग सरकारी बजट का पुराना बकाया, अपकर्ष कोष (Depreciation Fund) का बकाया तथा रेलवे की सामान्य स्थिति को सुदृढ़ बनाने में किया जायगा।

1925 ई० में पहला पृथक् रेलवे बजट विधान सभा के समक्ष प्रस्तुत किया गया। 1926 ई० से ही भारतीय रेलों के लिए अभूतपूर्व समृद्धि का काल प्रारम्भ हुआ जो 1930 ई० तक बना रहा। इस समय में रेलों ने अच्छा मुनाफा कमाया तथा रेल-व्यवस्था में पर्याप्त विस्तार भी हुआ। 1919-20 ई० में देश में रेल-मार्ग की कुल लम्बाई 36,725 मील थी जो 1929-30 में बढ़कर लगभग 40 हजार मील हो गया।

वेजवुड समिति (Wedgewood Committee) :— किन्तु 1929-30 ई० की भयानक आर्थिक मन्दी के प्रभाव से भारतीय रेलें भी वंचित नहीं रह सकीं। 1919 ई० से भयानक मन्दी का काल प्रारम्भ हुआ जिसका भारतीय रेलों के विकास पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। 1930 ई० से 1937 ई० के बीच का समय भारतीय रेल-व्यवस्था के लिए घाटे का समय रहा। अतः, 1936 ई० में भारतीय रेलों की स्थिति की जाँच के लिए राफ वेजवुड की अध्यक्षता में एक भारतीय रेलवे जाँच समिति की नियुक्ति की गयी जिसने अपना प्रतिवेदन जून, 1937 ई० में प्रकाशित किया। समिति ने रेलवे-व्यवस्था से सम्बन्धित प्रायः हर एक पहलू के सम्बन्ध में अपना सुझाव दिया था जिससे रेलवे की मितव्ययिता तथा कुशलता में वृद्धि हो। समिति ने रेलों के लिए पर्याप्त अपकर्ष कोष (Depreciation Fund) की आवश्यकता पर भी विशेष रूप से बल दिया। समिति के विचार में इस प्रकार के कोष में कम-से-कम 30 करोड़ रुपये का होना अतिआवश्यक था। साथ ही, रेलों के लिए सामान्य सुरक्षा कोष (General Reserve Fund) की स्थापना का सुझाव भी दिया गया। इस कोष से व्याज तथा ऋण के भुगतान में सहायता मिलेगी। समिति ने जनता तथा रेलों के बीच अधिक सम्पर्क बढ़ाने पर भी बहुत जोर दिया। इसके लिए समाचार-पत्रों से घनिष्ठता बढ़ाने तथा रेलवे सूचना कार्यालय खोलने की सिफारिश की गयी। समिति ने रेल-सड़क संयोजन (Rail-road Co-ordination) तथा भाड़े की दरों में संशोधन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सुझाव दिया। इस प्रकार वेजवुड कमिटी ने भारतीय रेलों की स्थिति में सुधार के लिए कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये।

1936-37 ई० के बाद भारतीय रेलों की आर्थिक स्थिति में सुधार होने लगा तथा इनकी आय में पुनः वृद्धि



होने लगी। सन् 1939-40 ई० में इनकी आय बढ़कर पुनः 11.5 करोड़ रुपये हो गयी। द्वितीय युद्धकाल में तो रेलों की आय में बहुत अधिक वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप रेलों ने अपना कुल ऋण चुका दिया तथा इन्हें बचत भी होने लगी।

**द्वितीय युद्धकाल में भारतीय रेलवे (Indian Railways during the Second World War) :—**द्वितीय युद्ध-काल भारतीय रेलों के लिए आर्थिक दृष्टि से समृद्धि का समय था क्योंकि युद्धकाल में रेलों की मांग बढ़ जाने से इनकी आय में आशातीत वृद्धि हुई। किन्तु, युद्धकाल में इन्हें अपनी शक्ति से अधिक कार्य करना पड़ा। काम का बोझ अधिक हो जाने से देश की सम्पूर्ण रेल-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी। जापान के युद्ध में प्रवेश करने के फलस्वरूप तो भारतीय रेलों की कठिनाइयाँ और भी बढ़ गयीं। समुद्री यातायात की सुविधा समाप्त हो जाने के कारण यातायात का सम्पूर्ण भार रेलों को ही वहन करना पड़ा। साथ ही, भारतीय रेलों के इंजन, डिब्बे एवं पटरी आदि को मध्य-पूर्वी देशों में भेजना पड़ा। इससे शाखा लाइनें बन्द कर दी गयीं। रेल के कारखानों में विभिन्न प्रकार की सैनिक सामग्री तैयार की जाने लगी। साथ ही, मरम्मत तथा सुधार के लिए विदेशों से आवश्यक सामान का आयात नहीं किया जा सकता था। ऐसी स्थिति में रेलों का ह्रास प्रारम्भ हो गया। जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रेल के डिब्बे तथा पैसेन्जर गाड़ियों का अभाव होने लगा। अतः भीड़ बहुत बढ़ गयी। सामानों को भेजने में प्राथमिकता की प्रथा अपनायी पड़ी। इस प्रकार उक्त कारणों से युद्ध समाप्ति के बाद प्रथम युद्ध की ही तरह भारतीय रेलों की स्थिति अत्यन्त असन्तोषजनक हो गयी, रेल के विभिन्न साधनों की मरम्मत नहीं हो सकी थी तथा आधुनिकीकरण एवं प्रतिस्थापन का कार्य बहुत पिछड़ गया था।

**देश-विभाजन तथा रेल-व्यवस्था (Partition and the Railway System) :—**1947 ई० के देश-विभाजन ने भारतीय रेलों की कठिनाइयों को और भी बढ़ा दिया। विभाजन के पूर्व देश में कुल 40,254 मील लम्बी रेलवे-लाइनें थीं जिनमें 6,598 मील रेल-मार्ग पाकिस्तान को तथा 33,566 मील भारत को मिला। विभाजन के

फलस्वरूप साम्प्रदायिक दंगों के कारण भारतीय रेलों को बहुत बड़ी संख्या में शरणार्थियों को ढोना पड़ा। साथ ही, विभाजन के फलस्वरूप बहुत-से कुशल कर्मचारी पाकिस्तान चले गये जिनके रिक्त स्थानों की पूर्ति वहाँ के कर्मचारियों से नहीं की जा सकी। विभाजन के पश्चात् देश में ड्राइवरों की संख्या पहले की अपेक्षा 18 प्रतिशत घट गयी। (ई० आइ० आर में तो ड्राइवरों की संख्या में प्रायः 45 प्रतिशत की कमी हो गयी थी।) इससे रेल-दुर्घटना की संख्या में वृद्धि हो गयी।

### भारतीय रेलों का पुनर्वर्गीकरण

(Re-Grouping of the Indian Railways)

भारतीय रेलों के इतिहास को देखने से यह पता चलता है कि यहाँ रेलों का विकास अति अनियमित एवं असंगठित तरीके से हुआ। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व रेलों की व्यवस्था पृथक्-पृथक् कम्पनियों द्वारा की जाती थी जिससे इनकी शासन-व्यवस्था में घोर विभिन्नता पायी जाती थी। 1949-50 ई० तक देश की प्रायः सम्पूर्ण रेल व्यवस्था भारत सरकार के हाथ में आ गयी। देशी राज्यों के विलयन (merger) से इनकी रेल-व्यवस्था पर भी भारत सरकार का अधिकार हो गया। ऐसी स्थिति में देश में रेलवे प्रशासन में समानता लाने के उद्देश्य से रेलों के पुनर्वर्गीकरण पर जोर दिया जाने लगा। रेलों के पुनर्वर्गीकरण के पक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। सर्वप्रथम, तो इससे शासन की जटिलता दूर की जा सकती है। पुनर्वर्गीकरण के पूर्व देश में रेलवे प्रशासन की प्रायः 37 छोटी-बड़ी इकाइयाँ थीं जिनके बीच समन्वय स्थापित करना एक कठिन कार्य था। विभिन्न रेलों के भाड़े की दरों में भी विभिन्नता पायी जाती थी जिससे विभिन्न रेलों एक राष्ट्र की रेलों का आभास नहीं होने देती थीं। वर्गीकरण का दूसरा लाभ शासन-सम्बन्धी व्यय में मितव्ययिता थी। रेलों के वर्गीकरण से देश की रेल व्यवस्था की कार्य क्षमता में भी वृद्धि की आशा की गयी थी। इससे रेलों के भावी विकास की एक राष्ट्रीय व्यापी योजना कार्यान्वित करने में सुविधा होगी। इन सभी लाभों के फलस्वरूप देश के रेलों का पुनर्वर्गीकरण आवश्यक समझा गया।



## रेलवे समूह (Railway Zones)

| समूह (Zones)                  | निर्माण की तिथि | सम्मिलित रेलों के नाम                                                          | मुख्य कार्यालय   | 31 मार्च, 1970 को रेल-मार्ग की ल० (कि० मी० में) |
|-------------------------------|-----------------|--------------------------------------------------------------------------------|------------------|-------------------------------------------------|
| 1. दक्षिणी रेलवे              | 14 अप्रैल, 1951 | मद्रास तथा दक्षिणी मराठा रेलवे                                                 | मद्रास           | 7,445                                           |
| 2. केन्द्रीय रेलवे            | 5 नवम्बर, 1951  | दक्षिणी तथा मैसूर रेलवे                                                        | बम्बई            | 5,765                                           |
| 3. पश्चिमी रेलवे              | 5 नवम्बर, 1951  | जी० आई० पी० रेलवे, निजाम-सिंधिया तथा ढोलपुर की रेलें                           | बम्बई            | 10,144                                          |
| 4. दक्षिण-मध्य रेलवे          | 2 अक्टूबर, 1966 | बम्बई-बड़ोदा एवं सेंट्रल इण्डिया, सोराष्ट्र, कच्छ, राजस्थान तथा जयपुर की रेलें | सिकन्दराबाद      | 6,160                                           |
| 5. उत्तरी रेलवे               | 14 अप्रैल, 1952 | दक्षिणी तथा केन्द्रीय रेलवे का भाग                                             | दिल्ली           | 10,618                                          |
| 6. उत्तरी-पूर्वी रेलवे        | 14 अप्रैल, 1952 | पूर्वी पंजाब, जोधपुर, बीकानेर तथा ईस्ट इण्डियन रेलवे के तीन ऊपरी डिविजन        | गोरखपुर          | 4,965                                           |
| 7. उत्तरी-पूर्वी-सीमांत रेलवे | 15 जनवरी, 1958  | अवध-तिरहुत रेलवे तथा बम्बई-बड़ोदा रेलवे का फतेहपुर डिविजन                      | मलिगांव (गौहाटी) | 3,633                                           |
| 8. पूर्वी रेलवे               | 14 अप्रैल, 1952 | कुछ साधारण परिवर्तनों के साथ असम रेलवे                                         | कलकत्ता          | 4,144                                           |
| 9. दक्षिणी-पूर्वी रेलवे       | 1 अगस्त, 1955   | ईस्ट इण्डियन रेलवे (तीन ऊपरी डिविजनों के अतिरिक्त) बंगाल नागपुर रेलवे          | कलकत्ता          | 6,810                                           |

1950 ई० में रेलवे बोर्ड की एक विशेष कमिटी ने रेलों के वर्गीकरण की सिफारिश की तथा उसी वर्ष इस कार्य के लिए एक योजना भी तैयार की गयी। राज्य सरकारों, व्यापारिक संस्थाओं तथा रेल-मजदूर संघों ने भी इस योजना का अनुमोदन किया। फलतः, देश की सम्पूर्ण रेल-व्यवस्था को प्रारम्भ में 6 समूहों में विभाजित कर दिया गया। बाद में, 1955 ई० पूर्वी रेलवे को पुनः दो समूहों में तथा 1958 ई० में उत्तरी-पूर्वी रेलवे को दो समूहों में विभाजित किया गया। पुनः 2 अक्टूबर, 1966 ई० को एक नये रेलवे समूह, मध्य-दक्षिणी रेलवे का निर्माण किया गया। इस प्रकार कुल मिलाकर आजकल 9 रेलवे समूह (Railway Zones) हैं। इसके सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी उपरोक्त तालिका<sup>1</sup> से प्राप्त होती है।

इस प्रकार आजकल भारतीय रेलों को उक्त नौ समूहों में विभाजित किया गया। प्रत्येक क्षेत्र के प्रधान

कार्यालय अलग-अलग स्थानों में स्थित हैं। पुनर्वर्गीकरण की नीति की आलोचना भी की जाती है। पुनर्वर्गीकरण में कुछ प्रमुख रेलों, जैसे—ईस्ट इण्डियन रेलवे तथा बी० बी० सी० आई० रेलवे को तोड़ना पड़ा जिससे बहुत अनावश्यक असुविधा हुई। इससे ईंजन, डिब्बे तथा अन्य आवश्यक सामग्री के क्रय में कोई मितव्ययिता की आशा नहीं की जा सकती है। व्यापार तथा उद्योग के क्षेत्र में भी इससे कठिनाइयाँ बढ़ गयीं। किन्तु, इन सब आलोचनाओं में कोई विशेष तथ्य नहीं दिखायी देता। वास्तव में, देश की रेल-व्यवस्था के पुनर्वर्गीकरण से निश्चय ही लाभ हुआ है।

पुनर्वर्गीकरण के पश्चात् रेलों की कार्यवाही की 1954 ई० में जाँच की गयी जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि पुनर्वर्गीकरण से देश की रेल-व्यवस्था को बहुत अधिक लाभ हुए हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि देश की रेल-व्यवस्था में आवश्यक कुशलता

1. India—1976.



का अभाव है जिससे इसमें और अधिक सुधार की आवश्यकता है।

### भारतीय रेलों की वर्तमान स्थिति (Present Position of the Indian Railways)

भारत की रेल-व्यवस्था 1973-74 में 60,234 किलोमीटर लम्बी थी। इसमें 50 प्रतिशत बड़ी लाइनें, 43 प्रतिशत मीटर गेज की लाइनें तथा 7 प्रतिशत सकरी लाइनें हैं। यह एशिया की सबसे बड़ी तथा विश्व की चौथी लम्बी रेल-व्यवस्था है। इसमें 4791 करोड़ रुपये से भी अधिक की पूँजी लगी है। 1973-74 में इसमें 11,043 इंजन, 36,426 यात्री-डिब्बे तथा 3.88 लाख माल गाड़ियों के डिब्बे थे। 1973-74 ई० में भारतीय रेलों द्वारा औसतन प्रतिदिन 73 लाख से अधिक यात्री तथा 5.5 लाख टन माल ढोये गये थे। यह देश का सबसे बड़ा राष्ट्रीय उद्योग है जिससे 1974-75 ई० के बजट के अनुसार 1433.2 करोड़ रुपये की कुल आय (Gross traffic receipts) प्राप्त हुई थी। भारतीय रेलों में प्रायः 14.1 लाख व्यक्तियों को रोजी मिलती है।

किन्तु, फिर भी भारत में पश्चिम के विकसित राष्ट्रों की तुलना में रेलों का अभी अभाव है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

#### कतिपय देशों में रेलों की लम्बाई

| देश                   | प्रति 1 लाख जनसंख्या पर रेलों की लम्बाई (मील में) | प्रति 100 वर्गमील क्षेत्र पर रेलों की लम्बाई (मील में) |
|-----------------------|---------------------------------------------------|--------------------------------------------------------|
| भारत                  | 9.6                                               | 2.7                                                    |
| संयुक्त राज्य अमेरिका | 224                                               | 6.6                                                    |
| ब्रिटेन               | 46                                                | 20.0                                                   |
| कैनाडा                | 465                                               | 10.0                                                   |

वर्तमान समय में भारतीय रेलों को पुनः सड़क यातायात की बढ़ती हुई प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। Transport Policy and Co-ordination Committee के अनुसार औद्योगिक उत्थान में वृद्धि के परिणामस्वरूप ढोये जानेवाले माल का एक बहुत छोटा भाग ही रेलवे को प्राप्त होता है। मोटर यातायात को ही इसका एक बड़ा भाग प्राप्त होता है। इन्होंने दूर-दूर तक माल ढोना प्रारम्भ कर दिया है। समिति के अनुसार औसत रूप से देश के कुल 19.7 प्रतिशत ट्रक 320 कि० मी० या इससे अधिक तथा 8.6 प्रतिशत ट्रक 480 कि० मी० या इससे भी अधिक दूरी तक चलते हैं। परिणामस्वरूप रेलों द्वारा ले जाये गये उच्च दूरीय मालों का हिस्सा 1956-57 में 36.8 प्रतिशत से घटकर 1968-69 में 25 प्रतिशत हो गया। साधारण मात्रा के सम्बन्ध में भी रेलों का

हिस्सा 1960-61 में 88.8 प्रतिशत से घटकर 1973-74 में 69.3 प्रतिशत तथा यात्रियों के सम्बन्ध में 57.8 प्रतिशत से घटकर 50.9 प्रतिशत हो गया है।

### भारतीय रेलवे की वित्तीय व्यवस्था (Finances of the Indian Railways)

प्रारम्भ से लेकर प्रायः 1900 ई० तक भारतीय रेलों को केवल घाटा-ही-घाटा होता था। इसका प्रमुख कारण रेलों के निर्माण में अपव्यय था। किन्तु, 1900 ई० से भारतीय रेलों के लाभ का समय प्रारम्भ हुआ जो एक-आध वर्ष को छोड़कर लगातार प्रायः 1930 ई० तक चला। 1924 ई० तक भारतीय रेलों के लिए पृथक् बजट की व्यवस्था नहीं थी, किन्तु उसी वर्ष आकवर्थ समिति के सुझावों के आधार पर रेलवे वित्त को सामान्य वित्त से पृथक् कर दिया गया। इसका भारतीय रेलों की कार्यवाही पर बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ा। 1924 ई० में विधान सभा में इस आशय का एक प्रस्ताव रखा गया जो स्वीकृत हुआ जिसे पृथक्करण समझौता (Separation Convention) कहा जाता है। इसके अनुसार भारतीय रेलों को प्रतिवर्ष अपने लाभ का एक निश्चित प्रतिशत सरकारी बजट को देना पड़ता था। साथ ही, रेलों के लिए एक सुरक्षित कोष तथा एक अपकर्ष कोष (Depreciation Fund) का निर्माण किया गया। वित्तीय व्यवस्था के इस पृथक्करण से लाभ यह हुआ कि रेलवे स्वतन्त्र रूप से आयोजित तरीके द्वारा अपना विकास कर सकती थी। अब भारतीय रेल अपनी आवश्यकतानुसार अपने विकास, विस्तार, पुनर्संरजन एवं अपकर्ष कोष बनाने में समर्थ हो गयीं।

किन्तु, दुर्भाग्य से यह पृथक्करण समझौता बहुत दिनों तक सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सका। 1929-30 ई० की विश्व व्यापी आर्थिक मंदी के प्रभावों से भारतीय रेलों भी वंचित नहीं रह सकीं। 1930-31 ई० से इनकी आर्थिक स्थिति बहुत ही खराब होने लगी। भारतीय रेलों को इस अवधि में बहुत घाटा हुआ। 1936 ई० तक इन्हें अपकर्ष कोष से 32.29 करोड़ रुपये ऋण लेना पड़ा तथा सामान्य राजस्व का 30.74 करोड़ रुपये का बकाया इन पर जमा हो गया। किन्तु, 1939 ई० में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने के साथ-साथ भारतीय रेलों की आर्थिक स्थिति में भी पर्याप्त मात्रा में सुधार हो गया तथा 1942-43 ई० तक अपकर्ष कोष एवं सुरक्षित कोष से लिया गया सारा ऋण एवं सामान्य राजस्व का बकाया धन चुका दिया गया।

2 मार्च, 1943 ई० को विधान सभा में एक प्रस्ताव पारित हुआ जिसके अनुसार 1924 ई० के रेलवे पृथक्करण समझौते को पूर्णतः असफल बतलाया गया। अतः इसमें



निम्नलिखित संशोधन किये गये—(1) 1924 ई० के Convention के आंतरिक प्रचलित और बकाया के अतिरिक्त रेलवे 1942-43 में सामान्य राजस्व को 25, 73 000 रुपये दें; (2) 1943-44 ई० से वाणिज्यिक लाइनों से होने वाले लाभ को अपकर्ष कोष से लिये गये ऋण को चुकाने में लगाया जाय। इसके पश्चात् 25 प्रतिशत रेलवे सुरक्षा कोष को मिलेगा और 75 प्रतिशत सामान्य राजस्व को; (3) जबतक कोई नया प्रस्ताव इस सम्बन्ध में स्वीकृत नहीं किया जाय तबतक आनेवाले वर्षों में वाणिज्यिक लाइनों से होने वाली बचत का रेलवे सुरक्षित कोष और सामान्य राजस्व के बीच विभाजन दोनों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किया जायगा।

पृथक्करण समझौता में संविधान-सभा ने 21 दिसम्बर, 1949 ई० को एक संशोधन प्रस्ताव स्वीकार किया जिसे 1 अप्रैल, 1950 ई० से लागू किया गया। इसके अनुसार—(1) रेलवे वित्त-व्यवस्था को सामान्य वित्त-व्यवस्था से पहले की तरह पृथक् रहना आवश्यक समझा गया। (2) भारतीय करदाता को रेलवे का हिस्सेदार समझा जाने लगा तथा रेलवे में विनियोग की गयी पूँजी पर सामान्य राजस्व को एक निश्चित लाभांश देने की व्यवस्था की गयी। (3) 1950-51 ई० से 5 वर्ष तक 4 प्रतिशत की दर से वार्षिक लाभांश दिया जायगा। पाँच वर्षों के बाद पुनः लाभांश की दर के सम्बन्ध में केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा की एक समिति द्वारा जांच की जायगी। 1960 ई० के रेलवे कन्वेंशन समिति ने 1961-66 ई० के बीच 4½ प्रतिशत की दर से वार्षिक लाभांश देने की सिफारिश की। (4) इस समझौते में एक रेलवे विकास कोष स्थापित करने की व्यवस्था की गयी जिसका उद्देश्य निम्नलिखित कार्यों के लिए अर्थ-प्रबन्ध करना होगा—(क) यात्रियों की सुविधा, (ख) श्रम-कल्याण कार्य, एवं (ग) नयी रेल लाइनों जो अलाभकर होते हुए भी आवश्यक हों, का निर्माण। (5) रेलवे अपकर्ष कोष से कम-से-कम प्रथम पाँच वर्षों में 15 करोड़ रुपये का संग्रह आवश्यक समझा गया जिसका प्रयोग आधुनिकीकरण और प्रतिस्थापन के लिए किया

जायगा। समझौते के बाद इसे बढ़ाकर प्रतिवर्ष 39 करोड़ रुपये कर दिया गया।

किन्तु, नये समझौते के अनुसार भारतीय रेलों की सामान्य राजस्व पर से निर्भरता पूर्णरूपेण समाप्त नहीं हो सकी। रेलवे की अपनी कोई पृथक् कार्यशील रकम (working balance) नहीं रह जाती। साथ ही, इसका कोष केन्द्रीय सरकार के साथ जमा रहता है जिसे सरकार आवश्यकता पड़ने पर प्रयोग कर सकती है। अतः अब भी एक निश्चित अर्थ में भारतीय रेलों को केन्द्रीय वित्त-व्यवस्था पर आश्रित रहना पड़ता है जो इनके लिए प्रायः संरक्षण का कार्य करता है।

नया वित्तीय समझौता (New Financial Convention) : उक्त समझौता पर 1954 ई० में एक विशेष समिति द्वारा विचार किया गया। इसी समिति के सुझावों के आधार पर 1954 ई० में एक नया समझौता लागू किया गया जिसमें निम्नलिखित संशोधन के साथ उक्त समझौते की प्रायः सभी शर्तों को अपनाया गया—(क) नयी लाइनों के निर्माण पर व्यय की गयी पूँजी के लिए निर्माण-काल तथा निर्माण के पाँच वर्षों के बाद तक कोई रकम सरकार को नहीं चुकायी जायगी; (ख) रेलवे अपकर्ष कोष (Railway Depreciation Fund) की रकम को बढ़ाकर 35 करोड़ रुपये प्रति वर्ष कर दिया गया। बाद में प्रतिस्थापन व्यय में वृद्धि के फलस्वरूप इस रकम को बढ़ाकर 45 करोड़ रुपये कर दिया गया।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय रेलों की आय में पर्याप्त वृद्धि हुई तथा रेलों ने सामान्य राजस्व को प्रति वर्ष एक अच्छी रकम चुकाना प्रारम्भ कर दिया है। भारतीय रेलों ने सामान्य राजस्व को 1955-56 ई० में 36.12 करोड़ रुपये, 1960-61 ई० में 65.86 करोड़ रुपये 1963-64 ई० में 95.9 करोड़ रुपये; 1965-66 ई० में 116.22 करोड़ रुपये तथा 1968-69 ई० के बजट के अनुसार 152 करोड़ रुपये लाभ के रूप में दिया। निम्न-लिखित तालिका से गत वर्षों में भारतीय रेलवे की आय का अन्दाजा लगता है।

रेलों से प्राप्त कुल आय (करोड़ रुपये में)

|                           | 1955-56<br>(वास्तविक) | 1960-61<br>(वास्तविक) | 1966-67<br>(वास्तविक) | 1974-75<br>(संशोधित) | 1975-76 |
|---------------------------|-----------------------|-----------------------|-----------------------|----------------------|---------|
| यात्रियों से प्राप्त आय   | 197.71                | 131.59                | 229.25                | 474.43               | 355.16  |
| अन्य प्रकार से प्राप्त आय | 20.87                 | 27.21                 | 39.50                 | 38.90                | 297.02  |
| माल ढोने से प्राप्त आय    | 180.28                | 286.73                | 492.00                | 899.82               | 1084.50 |
| अन्य साधनों से प्राप्त आय | 6.81                  | 12.63                 | 24.50                 | .....                | ... ..  |
| कुल आय                    | 315.67                | 457.57                | 785.15                | 1453.15              | 1674.68 |

1975-76 ई० के बजट के अनुसार रेलों से कुल प्रायः 1676.8 करोड़ रुपये की आय का अनुमान किया गया था। इसमें से 1450 करोड़ रुपये व्यय होगा। इस प्रकार इस

वर्ष में रेलों से कुल प्रायः 226 करोड़ रुपए की शुद्ध आय की आशा थी जिसमें से 197-88 करोड़ रुपये सामान्य राजस्व को रेलों प्रदात करने को थी।



### रेलवे दर सम्बन्धी नीति (Railway Rates Policy)

:—रेलों के किराये एवं भाड़े की दरों का देश के उद्योग, कृषि एवं वाणिज्य के विकास तथा स्वयं रेलों की वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ बनाने में बहुत अधिक महत्व है। भाड़े की दर अधिक होने पर इसका वस्तुओं के उत्पादन व्यय पर प्रभाव पड़ता है जिससे वस्तुएँ महँगी हो जाती हैं तथा औद्योगीकरण को प्रोत्साहन नहीं मिलता। इनका प्रभाव उद्योगों के स्थानीयकरण पर भी पड़ता है। इसी प्रकार रेलों का किराया अधिक होने से यातायात के अन्य साधनों को प्रोत्साहन मिलता है जिससे रेलवे को क्षति उठानी पड़ती है। अतः रेलों के भाड़े तथा किराये की दर-सम्बन्धी नीति इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे रेलवे को भी लाभ हो तथा साथ ही देश की कृषि, उद्योग एवं वाणिज्य के विकास को भी पर्याप्त माला में प्रोत्साहन मिले।

रेलवे-निर्माण के प्रारम्भिक काल में भारत सरकार रेलों की दरों के निर्धारण में कोई हस्तक्षेप नहीं करती थी। अतएव विभिन्न रेलों की दरों में घोर विषमता पायी जाती थी। 1887 ई० में सरकार ने दरों के निर्धारण के लिए दो सिद्धान्त निश्चित किये—(क) राज्य द्वारा अधिकतम तथा न्यूनतम दरें निश्चित की जायँगी; तथा (ख) राज्य इस बात को ध्यान में रखेगा कि रेलवे कम्पनियाँ किसी भी व्यक्ति अथवा संस्था को अनुचित रियायत नहीं दे रही हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व भारत में किराये तथा भाड़े की दरें देश के हितों के अनुकूल नहीं थीं। अतः इनकी कड़ी आलोचना की जाती थी। इसके विरुद्ध प्रमुख आलोचना यह थी कि रेलों की दरों का निर्धारण केवल उनकी आय को ध्यान में रखकर ही किया जाता था। किराये की दरें इस प्रकार रखी जाती थीं जिससे कि भारतीय उद्योगों के विरुद्ध विदेशी उद्योगों को विशेष प्रोत्साहन मिलता रहे। उदाहरण के लिए, भारत ने कच्चे माल के निर्यात तथा विदेशी माल के आयात को सस्ता बनाने के लिए रेलों ने देश के भीतर बन्दरगाहों तथा बन्दरगाहों से देश के अन्य उद्योगों के केन्द्रों तक किराया कम रखा था। इसके विरुद्ध दूसरी आलोचना यह दी जाती थी कि दरों के निर्धारण में दूरी को ध्यान में रखा जाता था। इससे लम्बी यात्रा करनेवालों तथा दूर तक सामान भेजनेवालों को अधिक किराया देना था। ब्लॉक दर (Block Rates) पद्धति के कारण भी असन्तोष था। इसके अनुसार छोटे-छोटे स्टेशन से जंक्शन तक पहुँचने के लिए थोड़ी दूर का अधिक भाड़ा देना पड़ता था। इसका उद्देश्य जिस लाइन पर यातायात प्रारम्भ हुआ हो उसी पर उसे रोकना था जिससे वह दूसरी प्रतियोगी लाइन पर न चला जाय। साथ ही, विभिन्न कम्पनियों की दरों में भी विभिन्नता पायी जाती थी। इस प्रकार दरों का निर्धारण बहुत ही दोषपूर्ण था।

आकवर्थ समिति ने दरों के निर्धारण के प्रश्न पर विचार किया तथा एक दर न्यायालय (Rates Tribunal) की स्थापना का सुझाव दिया था। किन्तु, सरकार ने इसकी जगह 1926 ई० में एक दर-परामर्शदातृ समिति (Rates Advisory Committee) की नियुक्ति की जिससे इस सम्बन्ध में कोई विशेष उपयोगी कार्य नहीं हो सका। अन्ततः 1949 ई० में एक दर न्यायालय की स्थापना की गयी।

1948 ई० में भाड़े की दरों की भली-भाँति जाँच करने के पश्चात् भाड़े की नयी व्यवस्था लागू की गयी। इस व्यवस्था में पुरानी शिकायतों को पूर्णतया निमूल करने का प्रयत्न किया गया। इसके पूर्व भाड़े की दरों के निर्धारण में प्लेट प्रणाली का अनुसरण किया जाता था, किन्तु इसके बाद टेलिस्कोपिक प्रणाली का अनुसरण किया जाने लगा जिसके अनुसार दूरी में वृद्धि के साथ-साथ किराये की दरों में भी कमी होने लगती है। कुछ कच्चे पदार्थों तथा खनिजों पर भाड़े की दरों को कम कर दिया गया। देश के उद्योग-धन्धों के तैयार मालों के भाड़े को दरों में भी परिवर्तन किया गया। इन दरों में 1 अप्रैल, 1952 ई० को कुछ परिवर्तन किये गये जिसके अनुसार बहुत-सी दरों का प्रमाणीकरण किया गया जिससे इनमें कुछ वृद्धि भी हुई। कोयले की दरों में प्रायः 30 प्रतिशत की वृद्धि की गयी। इस प्रकार आज-कल रेलवे दर के अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओं के लिए 15 प्रकार की दरें तथा मालगाड़ियों से भेजने के लिए 13 प्रकार की वेंगन की दरें हैं। दर के निर्धारण में टेलिस्कोपिक पद्धति का अनुसरण किया जाता है। इस पद्धति के अनुसार ज्यों-ज्यों दूरी बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों भाड़े की दर में भी कमी होती जाती है। अप्रैल 1955 ई० से भाड़े की टेलिस्कोपिक दरों में और अधिक कमी की गयी जिससे ज्यादा दूर तक माल भेजने की दरों में और अधिक कमी हो गयी।

जनवरी, 1948 ई० से यात्रियों के लिए भी भारतीय रेलों में किराये की समान दर निश्चित कर दी गयी। 1951 ई० में इन दरों में 20 से 25 प्रतिशत की वृद्धि की गयी। किन्तु, अभी तक यात्रियों के भाड़े के निर्धारण में प्लेट रेट का ही अनुकरण किया जाता था। किन्तु, 1 अप्रैल, 1955 ई० से यात्रियों के किराये में भी टेलिस्कोपिक पद्धति का अनुसरण किया जाने लगा। 15 सितम्बर, 1956 ई० से यात्रियों के किराये पर एक प्रकार का विशेष कर (Railway Passengers Fare Tax) लगाया गया जिसके अनुसार 16 से 30 मील की दूरी तक यात्रियों के किराये पर 5 प्रतिशत, 31 से 500 मील तक 15 प्रतिशत तथा 501 मील से अधिक की दूरी के लिए 20 प्रतिशत का एक कर लगाया गया। 15 मील तक की दूरी पर यह कर नहीं लगाया गया। अप्रैल, 1965 ई० से पुनः रेलों के भाड़े की दरों में वृद्धि की गयी। पुनः जून, 1967



तथा 1968 ई० में रेलवे के किराये तथा भाड़े की दरों में वृद्धि की गयी। 1970 में पुनः उच्च श्रेणी के भाड़े की दरों में वृद्धि की गयी। अप्रैल, 1974 से रेलवे में केवल दो ही श्रेणी रह गयी—प्रथम तथा द्वितीय। तृतीय श्रेणी को ही द्वितीय श्रेणी कहा जाता है। 1974 में रेलवे के भाड़े में पर्याप्त वृद्धि की गयी। 1975 में केवल माल ढोने की दरों में वृद्धि की गयी। 1977-78 ई० के प्रथम जवता बजट में भी भाड़े तथा किराये की दरों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया।

भारतीय रेल-व्यवस्था के पुनर्वर्गीकरण से किराये तथा भाड़े के निर्धारण में सुविधा हुई है। पुनर्वर्गीकरण के फलस्वरूप रेल का किराया निर्धारित करने का आधार सरल हो गया है तथा दरों में जो अव्यवस्था पायी जाती थी वह दूर हो गयी है। किन्तु, हमारे देश में रेलों के भाड़े एवं किराये में गत कुछ दिनों से बराबर वृद्धि की जा रही है। यह भारत जैसे निर्धन देश के लिए उचित नहीं जान पड़ता।

### पंचवर्षीय योजनाओं में भारतीय रेलें (Indian Railways in Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में रेलवे (Railways in the First Five Year Plan) :—प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ होने के 10 वर्ष पूर्व से ही भारतीय रेल-व्यवस्था पर युद्ध एवं देश-विभाजन के फलस्वरूप भार बहुत अधिक बढ़ गया था। इससे सम्पूर्ण देश की रेल-व्यवस्था प्रायः अस्त-व्यस्त हो गयी थी, अतः प्रथम योजनाकाल में रेल-व्यवस्था के आधुनिकीकरण तथा प्रतिस्थापन पर बहुत अधिक जोर दिया गया था। प्रथम योजनाकाल में भारतीय रेलों के विकास पर वास्तविक व्यय 523.7 करोड़ रुपये हुआ। योजनाकाल में 1586 ईंजन; 61,254 मालगाड़ियों के डब्बे तथा 4758 यात्री डब्बे खरीदे गये। फिर भी योजना के अन्त में 30.7 प्रतिशत ईंजन, 19.9 प्रतिशत मालगाड़ियों के डब्बे तथा 33.7 प्रतिशत यात्री डब्बे पुराने पड़ गये थे जिनका प्रतिस्थापन आवश्यक था। प्रथम योजनाकाल की सबसे बड़ी विशेषता देश में इन सब चीजों के उत्पादन में वृद्धि थी। देश में प्रथम योजनाकाल में 405 रेल ईंजन, 4351 यात्री डब्बे तथा 41,192 मालगाड़ी के डब्बों का उत्पादन हुआ था।

प्रथम योजनाकाल में 130.4 किलोमीटर लम्बी नयी रेलवे लाइनों का निर्माण किया गया तथा 330 किलोमीटर लम्बी लाइनों को दुहरा बनाया गया। प्रथम योजनाकाल में भारतीय रेलों के ट्रैफिक में 24.7 प्रतिशत की वृद्धि हुई। भारतीय रेलों का ट्रैफिक 1950-51 ई० में 9.1 करोड़ टन से बढ़कर 1955-56 ई० में 11.1 करोड़ टन हो गया। साथ ही ट्रैफिक की प्रकृति में भी धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगा। इसमें औद्योगिक तथा खनिज पदार्थों का महत्त्व दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा। इस

प्रकार प्रथम योजनाकाल में भारतीय रेलों की प्रगति अत्यन्त सन्तोषजनक रही है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में रेलवे की प्रगति (Progress of Railways in the Second Five Year Plan) :—द्वितीय पंचवर्षीय योजना में रेल-व्यवस्था के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। द्वितीय योजना में रेलों द्वारा अनुमानतः 610 लाख टन अतिरिक्त बोझ ढोने के फलस्वरूप रेल-व्यवस्था पर अधिक भार पड़ने की आशा की जाती थी। अतः द्वितीय योजनाकाल में रेलों के विकास पर कुल 900 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। साथ ही, 225 करोड़ रुपये रेलवे अपकर्ष कोष (Railway Depreciation Fund) से व्यय किया जाने को था। किन्तु बाद में इसमें परिवर्तन किया गया तथा व्यय की रकम को बढ़ाकर 1121.5 करोड़ रुपये कर दिया गया। किन्तु द्वितीय योजनाकाल में रेलवे विकास की मद में केवल 878.6 करोड़ रुपये यानी कुल आयोजित व्यय का प्रायः 80 प्रतिशत भाग ही व्यय किया जा सका। योजनाकाल में 2216 ईंजन; 7,718 यात्री डब्बे तथा 97,959 मालगाड़ियों के डब्बे प्राप्त किये गये। द्वितीय योजनाकाल में चित्तूरंजन के कारखाने से 831 ईंजनों तथा टेल्को (Tata Engineering and Locomotive Works Co. Ltd.) द्वारा मीटर गेज के 246 ईंजनों का उत्पादन हुआ। इसी प्रकार यात्री डब्बों तथा मालगाड़ियों के डब्बों के निर्माण में भी वृद्धि का आयोजन था जो प्रायः पूरा हो गया।

द्वितीय योजनाकाल में 1311 किलोमीटर लम्बी नयी लाइनें विछाई गयीं। इनके अतिरिक्त 1512 किलोमीटर लम्बी लाइनों को दुहरा बनाया गया। द्वितीय योजनाकाल में प्रायः 362 किलोमीटर लम्बी रेल लाइनों का विद्युत-करण किया गया। यह देश की रेल व्यवस्था के विकास में एक बिल्कुल नया कदम था। साथ ही, लगभग 1600 किलोमीटर लम्बी लाइनों का डिजिलाइजेशन किया गया। द्वितीय योजनाकाल में यात्रियों एवं रेल कर्मचारियों की सुविधा पर भी विशेष जोर दिया गया। योजना के अन्त में 1960-61 ई० में भारतीय रेलों की माल ढोने की क्षमता अनुमानतः 15.6 करोड़ टन हो गयी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में रेलवे की प्रगति (Development of Railways in the Third Five Year Plan) :—तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी रेलवे के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में रेलों के विकास के कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप रेलों की माल ढोने की क्षमता में 1960-61 ई० के 15.6 करोड़ टन से बढ़कर 1965-66 ई० में 24.5 करोड़ टन, यानी प्रायः 58 प्रतिशत की वृद्धि की आशा थी। किन्तु 1965-66 ई० में रेलों की वास्तविक क्षमता अनुमानतः 20.3 करोड़ टन ही हुई। साथ ही, योजनाकाल में रेलों के यात्रियों को ढोने की



क्षमता में 3% प्रतिवर्ष की वृद्धि की आशा थी। तृतीय योजनाकाल में रेलवे विकास पर कुल 1325.5 करोड़ रुपये व्यय किया गया। इसके अतिरिक्त रेलवे अपकर्ष कोष से 333.7 करोड़ रुपये व्यय हुआ। योजनाकाल में संकट-कालीन परिस्थिति के कारण रेलवे के ऊपर नयी जवाब-देही तथा दायित्व आ गये जिन्हें पूरा नहीं होने से सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था के बुरी तरह से प्रभावित होने की आशंका थी। रेलवे कर्मचारियों को पेंशन देने की व्यवस्था के लिए 1 अप्रैल, 1964 ई० को एक रेलवे पेंशन फंड का सृजन किया गया। तृतीय योजनाकाल में रेलवे विकास के सम्बन्ध में निम्नलिखित कार्यक्रम पूरे किये गये थे—योजना-काल में 1800 किलोमीटर लम्बी रेलवे लाइनों का निर्माण किया गया। इसी प्रकार 3228 किलोमीटर लम्बी रेलवे लाइनों को दुहरा बनाया गया, 1746 किलोमीटर लाइनों का विद्युतीकरण किया गया। योजनाकाल में 4844 रेलवे इंजन, 8329 यात्री डब्बे तथा 1,44,789 माल के डब्बे खरीदे गये।

तीनों वार्षिक योजनाओं (Annual Plans) की अवधि में 1966-69 ई० में रेलों के विकास की मद में 526 करोड़ रुपये व्यय किया गया। इस अवधि में 1061 किलोमीटर लम्बी लाइनों का निर्माण हुआ तथा 904 किलोमीटर लाइनों का विद्युतीकरण किया गया।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में रेलवे (Railways in the Fourth Five Year Plan) :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में रेलों के माल ढोने की क्षमता के 1968-69 में 20.4 करोड़ टन से बढ़कर 1973-74 ई० में 28 से 29 करोड़ टन होने का अनुमान था। किन्तु योजना के अन्त में यह अनुमानतः 21.5 करोड़ टन ही हुआ। चतुर्थ योजना काल में रेलों के विकास पर पांच वर्षों में 1050 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। इसके अतिरिक्त रेलवे अप-

कर्ष से 525 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। किन्तु योजनाकाल में रेलों के विकास पर कुल 1419 करोड़ रुपये व्यय हुआ। 1700 किलोमीटर बिजली से गाड़ी चलाने, 2800 किलोमीटर डिजलाइजेशन, 1500 किलोमीटर मीटर गेज की लाइनों को चौड़ी लाइनों में बदलने तथा 1800 किलोमीटर लाइन को दुहरा करने का आयोजन था। साथ ही, योजनाकाल में 1259 इंजन, 1,01,562 माल गाड़ी के डब्बों तथा 7636 यात्री डब्बों को प्राप्त करने का आयोजन था। योजनाकाल में नयी लाइनों विद्युत पर उतना अधिक जोर नहीं दिया गया था।

पाँचवीं योजना में रेलवे (Railways in the Fifth Five Year Plan) :—पाँचवीं योजना में रेलों के माल ढोने की क्षमता के 1973-74 में 21.5 करोड़ टन से बढ़कर 1978-79 में 30 करोड़ टन होने का अनुमान था। पाँचवीं योजना में रेलों के विकास पर कुल 2202 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। इसमें से 1974-77 में 1149 करोड़ रुपये व्यय हुआ तथा शेष दो वर्षों 1977-79 में 1053 करोड़ रुपये व्यय किये जाने को था। पाँचवीं योजना काल में 1300 इंजन, एक लाख माल गाड़ी के डब्बे, 7500 यात्री डब्बे तक 1050 बिजली के कोचेज प्राप्त करने का आयोजन था। पाँचवीं योजना में 1800 कि० मी० लाइनों के विद्युतीकरण का आयोजन भी था।

छठी योजना में रेलवे (Railways in the Sixth Five Year Plan) :—छठी योजना (1978-83) में रेलों के विकास पर पाँच वर्षों में 3350 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। इसमें से 1551 करोड़ रुपये इंजन तथा डब्बे वगैरह के व्यय करने का आयोजन है। योजनाकाल में 73 हजार माल गाड़ी के डब्बों, 6200 यात्री डब्बों, 780 डिजल इंजन तथा 320 विद्युत संचालित इंजन क्रय करने का आयोजन है।

निम्नांकित तालिका से पंचवर्षीय योजनाओं में रेलों की प्रगति का अन्दाजा लगता है :—

पंचवर्षीय योजनाओं में रेलों की प्रगति

|                                                 | प्रथम<br>योजना | द्वितीय<br>योजना | तृतीय<br>योजना | वार्षिक<br>योजनाएँ<br>1966-69 | चतुर्थ<br>योजना | पाँचवीं<br>योजना<br>(लक्ष्य) |
|-------------------------------------------------|----------------|------------------|----------------|-------------------------------|-----------------|------------------------------|
| नई लाइनें (कि० मी०)                             | 1304           | 1311             | 1801           | 1,061                         | —               | —                            |
| दुहरी की गयी लाइनें<br>(कि० मी०)                | 370            | 1412             | 3218           | 1,268                         | 1800            | —                            |
| लाइनों का विद्युतीकरण<br>(कि० मी०)              | —              | 361.5            | 1747           | 905                           | 1700            | 1800                         |
| डब्बों तथा इंजन का निर्माण<br>एवं प्राप्ति इंजन | 1586           | 2216             | 1864           | 877                           | 1259            | 1300                         |
| यात्री डब्बे                                    | 4758           | 7718             | 8,019          | 3,795                         | 7256            | 7500                         |
| माल-डब्बे (हजार)                                | 61             | 98               | 144            | 46                            | 102             | 100                          |



**निष्कर्ष :—**इस प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं में रेलों के विकास पर पर्याप्त मात्रा में जोर दिया जा रहा है। किन्तु देश में रेलवे विकास के सम्बन्ध में हमारे सामने कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ हैं। सर्वप्रथम तो भारतीय रेलों में आज भीड़ की समस्या एक प्रमुख समस्या है। चौड़ी गेज की लाइनों (broad gauge) में भीड़ की मात्रा अनुमानतः 13 प्रतिशत तथा मीटर गेज की लाइनों में 60 प्रतिशत है। द्वितीय योजनाकाल में 5 वर्ष के अन्तर्गत 15 प्रतिशत अतिरिक्त यात्रियों के ढोने की व्यवस्था की गयी थी, किन्तु योजना में यात्रियों की संख्या में इससे अधिक वृद्धि हो गयी। तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी यात्रियों की संख्या में 3

प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि का ही अन्दाजा लगाया गया था। यह भी पूरा नहीं हो सका। अतएव भीड़ की समस्या का समाधान नहीं हो सका। इस प्रकार भारतीय रेलों में यात्रियों को विशेष सुविधा प्रदान करने के लिए भीड़ की समस्या का समाधान अनिवार्य है। रेलवे विकास के संबंध में दूसरी कठिनाई आवश्यक सामग्रियों के अभाव की है। देश में लोहा तथा इस्पात, सीमेंट एवं स्लीपर आदि आवश्यक मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं जिससे इस सम्बन्ध में बहुत अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। विदेशी विनिमय के अभाव का भी रेलवे के विकास पर प्रभाव पड़ता है।

#### विशेष अध्ययन-सूची

- |                                                                         |                                          |
|-------------------------------------------------------------------------|------------------------------------------|
| 1. S. K. Srivastava                                                     | : Transport Development in India.        |
| 2. Planning Commission                                                  | : Third, Fourth & Fifth Five Year Plans. |
| 3. Final Report of the Committee on Transport Policy and Co-ordination. |                                          |



## अध्याय : 44

### यातायात के साधन : सड़कें

#### (Means of Transport : Roads)

**विकासशील आर्थिक व्यवस्था में सड़कों का महत्त्व** (Importance of Roads in a Developing economy) :—किसी देश की आर्थिक व्यवस्था में सड़कों का विशेष महत्त्व है। नगरों तथा गाँवों के आर्थिक एवं सामाजिक विकास में सड़कों का समान रूप से महत्त्व है। वास्तव में, किसी राष्ट्र की सम्पूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति सड़कों के निर्माण में ही निहित है। सड़कें हमारे देश एवं समाज की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं क्योंकि यातायात के अन्य साधनों—रेलवे, जल-मार्ग तथा वायु-मार्ग आदि की सफलता भी बहुत अंशों में सड़कों पर ही आधारित है। अतः यातायात के विभिन्न साधनों के पूरक के रूप में सड़कें महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि राष्ट्र की सम्पूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति सड़कों के निर्माण में ही निहित है।

भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए सड़कों का महत्त्व और भी अधिक है। देश के प्रायः साढ़े पाँच लाख ग्रामों का आपस में सम्बन्ध जोड़ने तथा नगरों से इनका सम्पर्क स्थापित करने के लिए सड़कें अति आवश्यक हैं। यदि देश के विशाल साधन एवं जनशक्ति का प्रभावपूर्ण तरीके से उपयोग करना है तो देश में सड़कों का विकास अनिवार्य है।

सड़कों से कृषि के क्षेत्र में वृद्धि में विशेष सहायता मिलती है। इनके निर्माण से हमारे देश में कृषि-भूमि की मात्रा में अनुमानतः 20 प्रतिशत तक की वृद्धि की जा सकती है। देश में आज भी बहुत-सी ऐसी भूमि है जिन पर सड़कों के अभाव में कृषि-कार्य प्रायः असम्भव हो जाता है। सड़कों के अभाव में किसान न तो अपनी वस्तुओं को बाजार पहुँचा सकता है और न वह अपनी आवश्यकता के लिए उत्तम बीज, खाद एवं सुधरे हुए औजार ही प्राप्त कर सकता है।

उद्योग-धंधों के क्षेत्र में भी सड़कों का महत्त्व कोई कम नहीं है। किसी भी देश के औद्योगीकरण में सड़कें विशेष रूप से सहायक होती हैं। इनके द्वारा कच्चे माल कारखानों तक तथा कारखानों की बनी हुई वस्तुएँ उनके उपभोक्ताओं तक सुगमतापूर्वक पहुँचाई जा सकती हैं।

भारत में सड़कों की लम्बाई (हजार कि० मी०)

|              | 1947  | 1950-51 | 1961-62 | 1965-66 | 1971-72 | 1976-77 |
|--------------|-------|---------|---------|---------|---------|---------|
| पक्की सड़कें | 155.0 | 157.0   | 263.0   | 343.0   | 472.0   | 529.0   |
| कच्ची सड़कें | 242.0 | 243.0   | 261.0   | 427.0   | 658.0   | 673.0   |
| कुल          | 397.0 | 400.0   | 524.0   | 770.0   | 1130.0  | 1202.0  |

देश में उद्योगों के विकेन्द्रीकरण तथा लघु उद्योगों के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण सड़कों द्वारा ही तैयार किया जा सकता है।

सड़कों का महत्त्व वाणिज्य-व्यापार के क्षेत्र में भी अत्यधिक है। अच्छी सड़कें देश के वाणिज्य-व्यापार को भी प्रोत्साहित करती हैं। इससे श्रमिकों की गतिशीलता में वृद्धि होती है जिससे उद्योग-धन्धों को सुगमतापूर्वक श्रमिक मिल जाते हैं। सड़क-निर्माण तथा मरम्मत के कार्य में देश के बहुत-से व्यक्तियों को रोजी मिलती है जिससे देश में बेकारी की समस्या के समाधान में सहायक होती है। देश के भिन्न-भिन्न भागों में अकाल के प्रकोप को दूर करने में भी सड़कों का विशेष महत्त्व है। सड़कें सामाजिक एकता एवं सांस्कृतिक विकास में भी सहायक सिद्ध होती हैं। देश की सुरक्षा एवं सामरिक दृष्टि से भी भारत में सड़क यातायात का विशेष महत्त्व है। भारत एक विशाल देश है जिसकी तुलना एक उपमहाद्वीप से की जा सकती है। ऐसी स्थिति में इसकी सीमाओं पर सभी जगह फौज रखना सम्भव नहीं है। अतएव देश की सुरक्षा चारों तरफ सीमा पर अच्छी सड़कों के निर्माण पर निर्भर करती है।

इस प्रकार देश की उन्नति, शिक्षा के प्रसार, सुरक्षा, सामाजिक एकता एवं समानता, शान्ति, एवं सांस्कृतिक विकास आदि सड़कों पर निर्भर है।

### भारत में सड़कों की वर्तमान स्थिति

#### (Present Position of Roads in India)

किन्तु देश के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में सड़कों के इतना महत्त्वपूर्ण स्थान होने पर भी हमारे यहाँ सड़कों का बहुत अधिक अभाव है। 1900 ई० में यहाँ कुल 71 हजार कि० मी० लम्बी सड़कें थीं। प्रथम योजना प्रारम्भ होने के पूर्व देश में सड़कों की लम्बाई 1950-51 ई० में 40 हजार कि० मी० हो गयी। प्रथम योजना के अन्त में 31 मार्च, 1956 ई० को सभी प्रकार की सड़कों की लम्बाई बढ़कर 498 हजार कि० मी० तथा 1966 ई० में 963 हजार कि० मी० हो गई। इसमें कच्ची एवं पक्की सड़कों की लम्बाई निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—



भारत जैसे विशाल देश जिसका क्षेत्रफल 32,68-090 वर्ग कि० मी० तथा जनसंख्या प्रायः 60 करोड़ है, सड़कों की यह लम्बाई निश्चय ही अपर्याप्त है। 1972-73 में प्रति एक सौ वर्ग कि० मी० में सड़कों की लम्बाई 36.1 किलोमीटर तथा प्रति एक लाख जनसंख्या पर 201

कि० मी० है। इसमें पक्की सड़कों का प्रतिशत प्रति एक सौ वर्ग कि० मी० पर 14.8 कि० मी० तथा प्रति एक लाख जनसंख्या पर 83 कि० मी० है। अन्य देशों की की तुलना में भारत में सड़कों के अभाव का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :-

#### 1970 में विभिन्न देशों में सड़कों की लम्बाई

| देश                   | प्रति 100 वर्ग कि० मी० में सड़कों की लम्बाई (कि० मी० में) | प्रति एक लाख जनसंख्या पर सड़कों की लम्बाई (कि० मी० में) |
|-----------------------|-----------------------------------------------------------|---------------------------------------------------------|
| जापान                 | 272                                                       | 971                                                     |
| इंग्लैंड              | 146                                                       | 641                                                     |
| संयुक्त राज्य अमेरिका | 64                                                        | 2907                                                    |
| फ्रांस                | 143                                                       | 1545                                                    |
| भारत                  | 36                                                        | 271                                                     |

उपरोक्त तालिका से भारत में सड़कों की अपर्याप्तता स्पष्ट हो जाती है। वास्तव में भारत जैसे विशाल देश में सड़कों का द्रुतगति से विकास हरेक दृष्टिकोण से

आवश्यक है। देश के प्रत्येक राज्यों में सड़कों का विस्तार पर्याप्त मात्रा में नहीं हो पाया है—

#### विभिन्न राज्यों में सड़कों की लम्बाई 1972-73 (कि० मी० में)

| राज्य                 | पक्की सड़कें | कच्ची सड़कें | कुल       |
|-----------------------|--------------|--------------|-----------|
| आंध्र प्रदेश          | 47,866       | 32,943       | 80,809    |
| असम                   | 6,477        | 24,359       | 30,833    |
| बिहार                 | 31,752       | 79,184       | 1,10,936  |
| गुजरात                | 24,283       | 21,247       | 45,530    |
| हरियाणा               | 13,526       | 11,250       | 24,776    |
| हिमालय प्रदेश         | 2,983        | 10,216       | 13,199    |
| जम्मू एवं कश्मीर      | 5,748        | 8,599        | 14,347    |
| कर्णाटक               | 50,999       | 34,434       | 85,433    |
| केरल                  | 27,712       | 96,520       | 1,24,232  |
| मध्य प्रदेश           | 34,544       | 53,027       | 87,571    |
| मणिपुर                | 1,245        | 7,406        | 8,651     |
| मेघालय                | 1065         | 8,241        | 9,306     |
| नागालैंड              | 1065         | 4,275        | 46,326    |
| उड़ीसा                | 11,915       | 34,411       | 46,326    |
| पंजाब                 | 15,106       | 6,409        | 21,515    |
| राजस्थान              | 23,830       | 19,947       | 43,777    |
| तमिलनाडु              | 57,603       | 41,008       | 98,611    |
| त्रिपुरा              | 974          | 2879         | 3,853     |
| उत्तर प्रदेश          | 37,644       | 86,217       | 1,23,861  |
| पश्चिमी बंगाल         | 23,395       | 33,251       | 54,646    |
| केन्द्र शासित क्षेत्र | 9,33         | 8,500        | 17,839    |
| कुल                   | 4,74,007     | 6,79,881     | 11,53,888 |

1. The Eastern Economist Nov. 11, 1977



## सड़कों का विकास (Development of Roads)

प्राचीन काल में भारतवासी सड़कों के महत्त्व पर अधिक जोर देते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक महान् एवं शेरशाह जैसे राजाओं के शासनकाल में सड़कों का बड़े पैमाने पर निर्माण हुआ था, किन्तु ब्रिटिश शासनकाल के प्रारम्भिक वर्षों में सड़कों के विकास पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। कम्पनी एक व्यावसायिक संस्था थी, अतः इसने सड़कों के निर्माण को कोई महत्त्व नहीं दिया। कम्पनी के शासन काल में जो कुछ काम इस दिशा में किये गये उसका श्रेय व्यक्तिगत प्रयत्नों को ही है। लार्ड विलियम बेंटिन्ग ने ग्रेड ट्रंक रोड के निर्माण को पूरा कराया जिससे पेशावर, दिल्ली एवं कलकत्ता को एक-दूसरे से सम्बद्ध किया गया। फिर भी, कम्पनी ने भारत में सड़कों के निर्माण में कोई विशेष अभिरुचि नहीं दिखायी।

भारत में लार्ड डलहौजी के समय से सड़कों के निर्माण का एक नया युग प्रारम्भ हुआ। डलहौजी ने रेल-निर्माण की तरह सड़क-निर्माण की नीति पर पूरा-पूरा ध्यान दिया। इस कार्य के लिए 1855 ई० में प्रत्येक प्रांतों में एक-एक सार्वजनिक कार्य विभाग (Public Works Department) की स्थापना की गयी। इससे दश में सड़क-निर्माण को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला। किन्तु इसके बाद रेलों के प्रसार से सड़क-निर्माण के कार्य में कुछ शिथिलता-सी आने लगी। इसके बाद देश में जो कुछ सड़कों का निर्माण हुआ, वह रेलों के प्रसार के परिणामस्वरूप ही हुआ। रेलों की सामग्री, माल तथा यात्रियों को स्टेशन तक पहुँचाने के लिए यानी रेलों के सहायक रूप में सड़कों की आवश्यकता पड़ने लगी। देश के आन्तरिक भाग से सामान एवं यात्रियों को सालों भर ढोने के लिए पक्की सड़कों की आवश्यकता तीव्र हो गयी। किन्तु रेलों के विस्तार से होने वाले लाभ को ध्यान में रखकर सरकार ने सड़कों के निर्माण की ओर कम ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया।

प्रथम महायुद्ध काल तक देश में सड़कों के निर्माण में केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकारें विशेष अभिरुचि नहीं लेती थीं। किन्तु युद्ध के बाद मोटर गाड़ियों की संख्या में वृद्धि के फलस्वरूप सरकार का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकर्षित होने लगा। सन् 1927 ई० में डॉ० एम० आर० जयकर की अध्यक्षता में एक सड़क-विकास समिति (Road Development Committee) की नियुक्ति हुई जिसका उद्देश्य सड़कों के विकास के लिए वित्तीय व्यवस्था की जाँच करना था। इस समिति के सुझावों के आधार पर 1929 ई० में एक 'केन्द्रीय सड़क विकास कोष' (Central Road Development Fund) का निर्माण

भा० अ०—32

किया गया। पेट्रोल पर लगाये जाने वाले कर में से 2 आने प्रति गैलन काटकर इस कोष में जमा किया जाने लगा। बाद में इसे 2½ आने प्रति गैलन कर दिया गया। इस कोष से प्रान्तीय सरकारों को सड़क-निर्माण कार्य के लिए वित्तीय सहायता दी जाती थी, किन्तु कोष की स्थापना से सड़क विकास में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। प्रान्तीय सरकारों ने अपनी आय से इस कार्य पर खर्च करना बन्द कर दिया। द्वितीय महायुद्ध काल में सड़कों का महत्त्व बहुत बढ़ गया। सेना के आवागमन तथा युद्ध की अन्य आवश्यक सामग्रियों को लाने और ले जाने के लिए मोटरों की आवश्यकता बढ़ गयी जिससे सड़कों के विकास की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित हुआ। अतः, युद्धकाल में पुरानी सड़कों की मरम्मत के साथ-साथ नयी सड़कों के निर्माण पर भी सरकार ने पूरा जोर दिया। देश की पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों सीमाओं पर सड़कों का विस्तार और सुधार हुआ। फिर भी, देश में सड़कों की प्रगति को संतोषजनक नहीं कहा जा सकता है। 1900 से 1945 ई० के बीच हमारे देश में 60,535 मील लम्बी सड़कें बनायी गयीं जिसमें केवल 31,690 मील सड़कें पक्की थीं। इस प्रकार 45 वर्षों में भारत में जितनी सड़कों का निर्माण किया गया, संयुक्त राज्य अमेरिका ने उतनी सड़कें 2 वर्षों से कम की अवधि में ही बना ली थी। इससे देश में सड़क-विकास के कार्य में शिथिलता स्पष्ट हो जाती है। भारत जैसे विशाल जनसंख्या एवं क्षेत्रफल वाले देश के लिए अधिकाधिक मात्रा में सड़कों की सुविधा प्रदान करना देश के आर्थिक विकास के लिए अति आवश्यक हो जाता है।

### नागपुर सड़क योजना

सारांश यह है कि द्वितीय महायुद्ध से पूर्व भारत में सड़कों की स्थिति बड़ी ही असन्तोषजनक थी। इस समय तक सड़क विकास के कार्य का सारा दायित्व प्रान्तीय सरकारों पर था। केन्द्रीय सरकार का कार्य केवल इन्हें कुछ वार्षिक अनुदान देने तक ही सीमित था। किन्तु युद्ध की विशेष परिस्थितियों ने भारत सरकार का ध्यान देश में सड़क-निर्माण की ओर बरबस आकर्षित किया। सड़कों के भावी विकास के प्रश्न पर विचार करने के लिए भारत सरकार ने सन् 1943 ई० में नागपुर में प्रान्तों के मुख्य इंजीनियरों का एक सम्मेलन बुलाया जिसमें सड़कों के भावी विकास पर विचार किया गया। इस सम्मेलन में सड़कों के विकास के लिए दशवर्षीय योजना तैयार की गयी जिसे 'नागपुर सड़क योजना' कहते हैं।

इस सम्मेलन में यह निश्चित किया गया कि भारत में सड़कों की समस्या स्थानीय दृष्टिकोण से ही नहीं, बल्कि राष्ट्रीय संदर्भ में देखी जानी चाहिए। इससे देश में सड़कों का असंतुलित विस्तार रुक जायगा। नागपुर योजना के



## भारतीय अर्थशास्त्र

अन्तर्गत सड़कों का वर्गीकरण भी एक नयी दृष्टिकोण से किया गया। इसका उद्देश्य यह था कि वर्गीकरण इस प्रकार से होना चाहिए कि प्रत्येक वर्ग की सड़क के लिए कोई निश्चित रूप से उत्तरदायी ठहराया जा सके। इस दृष्टिकोण से सड़कों को निम्नलिखित चार वर्गों में विभाजित किया गया :—

(1) राष्ट्रीय सड़कें (National Highways) :—राष्ट्रीय सड़कें वे सड़कें हैं जो राज्यों की राजधानियों, बड़े-बड़े बन्दरगाहों एवं प्रमुख व्यावसायिक केन्द्रों को मिलाती हैं तथा अन्य देशों की सड़कों से सम्बन्ध स्थापित करती हैं। इस वर्ग के अन्तर्गत सैनिक महत्व की सड़कें भी सम्मिलित हैं। वे सड़कें भी मुख्यतः पक्की होगी तथा इनके निर्माण, सुधार एवं मरम्मत के लिए केन्द्रीय सरकार उत्तरदायी होगी। मार्च, 1972 में 28,870 कि० मी० लम्बी राष्ट्रीय सड़कें थी। पाँचवीं योजना में इन सड़कों के विकास पर 501 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था।

(2) राजकीय सड़कें (Provincial Highways) :—राजकीय सड़कों के अन्तर्गत राज्यों की प्रमुख सड़कें आती हैं जो राज्यों में वाणिज्य एवं व्यापार के प्रमुख साधन के रूप में कार्य करती हैं। ये विभिन्न जिलों के प्रमुख शहरों

तथा राज्य के नगरों को राष्ट्रीय सड़कों से मिलाती हैं। राजकीय सड़कों के निर्माण तथा मरम्मत का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों का होगा।

(3) जिले की सड़कें (District Roads) :—जिले की सड़कों के अन्तर्गत वे सारी सड़कें आती हैं जो जिले के उत्पादन-क्षेत्रों को मंडियों से अथवा राजकीय सड़कों या रेल स्टेशनों से मिलाती हैं। इनके अन्तर्गत पक्की और कच्ची दोनों ही प्रकार की सड़कें हैं। इनके निर्माण एवं मरम्मत का उत्तरदायित्व जिला बोर्डों पर होगा।

(4) गाँवों की सड़कें (Village Roads) :—सबसे अन्त में गाँव की सड़कें हैं जो एक गाँव से दूसरे गाँव को मिलाती हैं। इनका सम्बन्ध समीप की जिल्ला-सड़कों एवं राजकीय पथों से भी होता है। इस प्रकार की सड़कें अधिकांशतः कच्ची होती हैं तथा इनका निर्माण एवं मरम्मत गाँववालों के सहयोग से ही होता है। इनकी देख-रेख की जिम्मेवारी ग्राम पंचायतों की है।

नागपुर योजना के अन्तर्गत देश में सड़कों के प्रसार के लिए एक योजना तैयार की गयी जिसमें विभिन्न प्रकार की सड़कों की लम्बाई को बढ़ाकर निम्न प्रकार<sup>1</sup> के करने का आयोजन था :—

## नागपुर सड़क योजना

| सड़कें                                             | सड़कों की लम्बाई<br>(मीलों में) | व्यय<br>(करोड़ रुपये में) |
|----------------------------------------------------|---------------------------------|---------------------------|
| 1. राष्ट्रीय सड़कें (National Highways)            | 16,600                          | 39.0                      |
| राष्ट्रीय अनुमान (National Trails)                 | 4,150                           | 2.5                       |
| 2. राजकीय सड़कें (Provincial Highways)             | 53,950                          | 100.3                     |
| 3. जिला की सड़कें—बड़ी (Major)                     | 49,800                          | 51.4                      |
| जिला की सड़कें—छोटी (Minor)                        | 83,000                          | 66.4                      |
| 4. गाँव की सड़कें (Village Roads)                  | 123,500                         | 24.7                      |
| 5. युद्ध काल में पिछड़े हुए कार्य (Arrears of war) | .....                           | 8.3                       |
| 6. पुलों का निर्माण (Bridging)                     | .....                           | 37.4                      |
| 7. भूमि प्राप्त करना (Land acquisition)            | .....                           | 41.5                      |
| कुल                                                | 3,31,000                        | 371.5                     |

उक्त 3,31,000 मील लम्बी सड़कों में से 1,23,000 मील पक्की तथा 2,08,000 मील लम्बी कच्ची सड़कों के निर्माण का आयोजन था। किन्तु प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त में देश में कुल 3,20,522 मील लम्बी सड़कें थीं

जिनमें से 1,22,170 मील पक्की तथा 1,98,352 मील लम्बी कच्ची सड़कें थीं।<sup>2</sup> इस प्रकार प्रथम योजना के अन्त तक भी नागपुर योजना के अन्तर्गत निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो सकी तथा पक्की सड़कों की लम्बाई

1. नागपुर सड़क योजना के अन्तर्गत अविभाजित भारत में 10 वर्षों की अवधि में 448 करोड़ रुपये के व्यय से सड़कों की लम्बाई को बढ़ाकर 4,00,000 मील करने का आयोजन था। विभाजन के पश्चात् इसे भारतीय संघ के लिए तैयार किया गया जिसके अनुसार 371.5 करोड़ रुपये के व्यय से भारत संघ की सड़कों की लम्बाई को बढ़ाकर 3,31,000 मील करने का आयोजन किया गया।

2. Review of the First Five Year Plan—p. 235.



लक्ष्य से प्रायः 1 हजार मील कम और कच्ची सड़कों की लम्बाई लक्ष्य से प्रायः 10,000 मील कम थी।

नागपुर सम्मेलन में एक केन्द्रीय सड़क परिषद् (Central Road Board) की स्थापना का सुझाव दिया गया था। इस परिषद् को यथेष्ट मात्रा में अधिकार प्रदान करने की सिफारिश भी की गयी थी जिससे यह सड़क-निर्माण की योजना एवं प्रशासकीय नीति के सम्बन्ध में निष्पक्ष होकर कार्य कर सके। नागपुर सड़क योजना का प्रमुख उद्देश्य यह था कि देश का कोई भी विकसित कृषि-क्षेत्र मुख्य सड़क से 5 मील की दूरी तथा साधारण ग्रामीण क्षेत्र से 10 मील से अधिक की दूरी पर नहीं स्थित होना चाहिए।

भारत सरकार ने अप्रैल, 1947 ई० से नागपुर सड़क योजना के आधार पर 13,400 मील लम्बी राष्ट्रीय सड़कों के निर्माण का भार स्वयं ले लिया तथा राष्ट्रीय सड़कों के विकास के लिए 36 करोड़ रुपये के व्यय की एक पंचवर्षीय सड़क-योजना तैयार की गयी। इस योजना के अन्तर्गत 1600 मील लम्बी इस प्रकार की सड़कों के निर्माण की व्यवस्था थी जिससे विभिन्न क्षेत्रों का मुख्य सड़कों से सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। साथ ही, इसमें छोटे-छोटे पुलों के अतिरिक्त 150 बड़े-बड़े पुलों के पुनर्निर्माण का भी आयोजन था। भारत सरकार की तरह राज्य-सरकारों ने भी 1947 ई० में 120 करोड़ रुपये की लागत से एक पंचवर्षीय सड़क योजना का निर्माण किया। इसके अन्तर्गत 80,000 मील लम्बी सड़कों के निर्माण का आयोजन था। किन्तु, केन्द्र एवं राज्य सरकारों की इन योजनाओं के लक्ष्य पूरे नहीं हो सके तथा पाँच वर्षों में केन्द्रीय सरकार ने केवल 9 करोड़ रुपये एवं राज्य सरकारों ने पचास करोड़ रुपये व्यय किया। केन्द्रीय योजना के अन्तर्गत केवल 160 मील लम्बी सड़कों, 17 बड़े-बड़े तथा अनेक छोटे-छोटे पुलों का निर्माण हुआ एवं 1315 मील लम्बी सड़कों का सुधार किया गया। इस प्रकार सड़क-विकास योजना के कार्य में वांछित सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। इसके बहुत-से कारण थे जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—(1) देश-विभाजन एवं इसके फल-स्वरूप उत्पन्न हुई अव्यवस्था, (2) सड़क-निर्माण सम्बन्धी सामग्रियों, जैसे सीमेंट, लोहा आदि का अभाव, (3) वित्तीय कठिनाइयाँ जिनके फलस्वरूप केन्द्र ने सड़क-निर्माण के लिए राज्यों को वित्तीय सहायता देना बन्द कर दिया, (4) भूमि-प्राप्ति (Land acquisition) करने में विलम्ब; तथा (5) सड़कों के विकास के प्रति अधिकांश राज्य सरकारों की उदासीनता। उक्त कारणों से केन्द्र तथा राज्यों की योजनाओं के लक्ष्य पूरे नहीं किये जा सके।

### पंचवर्षीय योजनाओं में सड़कों का विकास (Development of Roads in Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में सड़कों की प्रगति<sup>1</sup> (Development of Roads in the Five Year Plan) :—प्रथम पंचवर्षीय योजना में सड़कों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में सड़क-विकास का कार्यक्रम नागपुर सड़क योजना पर आधारित था। योजना प्रारम्भ होने के पूर्व देश में कुल प्रायः 157 हजार कि० मी० लम्बी पक्की तथा 243 हजार कि० मी० लम्बी कच्ची सड़कें थीं। योजनाकाल में सभी प्रकार की प्रायः 26 हजार कि० मी० पक्की तथा 72 हजार कि० मी० कच्ची सड़कों का निर्माण किया गया। प्रथम योजनाकाल में केन्द्र की सड़क-योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित तीन श्रेणी की सड़कों के निर्माण एवं सुधार की व्यवस्था थी—(1) राष्ट्रीय सड़कें, (2) अन्तर-राज्य (Inter-state) अथवा आर्थिक महत्त्व की सड़कें, तथा (3) अन्य सड़कें। राष्ट्रीय-सड़कों (National highways) के निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रथम योजनाकाल में 1000 कि० मी० लम्बी सड़कों एवं 30 बड़े-बड़े पुलों का निर्माण किया गया तथा 3800 कि० मी० लम्बी सड़कों का सुधार किया गया। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार ने अन्य सड़कों (other roads) के कार्यक्रम के अन्तर्गत 340 कि० मी० लम्बी सड़कों का निर्माण तथा 40 कि० मी० लम्बी सड़कों का सुधार किया गया। 1952-53 ई० में रोजगार के साधनों में वृद्धि के उद्देश्य से भारत सरकार ने अन्तर-राज्य अथवा आर्थिक महत्त्व की सड़कों के निर्माण का एक विशेष कार्यक्रम अपनाया जिसके अन्तर्गत प्रथम योजना के अन्त तक 200 कि० मी० लम्बी नयी सड़कों का निर्माण तथा 800 कि० मी० लम्बी पुरानी सड़कों का सुधार किया गया। साथ ही, सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा-कार्यक्रम के अन्तर्गत बहुत-सी ग्रामीण सड़कों का निर्माण एवं सुधार किया गया। प्रथम योजनाकाल में सड़क-विकास कार्यक्रम पर अनुमानतः 55 करोड़ रुपये व्यय किया गया तथा कुल 36 हजार कि० मी० लम्बी पक्की एवं 72 हजार कि० मी० लम्बी कच्ची सड़कों का निर्माण किया गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सड़कों की प्रगति (Development of Roads in the Second Five Year Plan) :—द्वितीय योजना में सड़कों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में सड़क-विकास कार्यक्रम पर पाँच वर्षों में कुल 242 करोड़ रुपये, यानी योजना के कुल व्यय का प्रायः 5.1 प्रतिशत भाग व्यय किया गया। इसके अतिरिक्त योजनाकाल में केन्द्रीय सड़क कोष (Central Road Fund) से इस कार्य के लिए 25 करोड़



रुपये उपलब्ध होने का अनुमान था।

द्वितीय योजनाकाल में राष्ट्रीय सड़कों के विकास-सम्बन्धी कार्यक्रम के अन्तर्गत 1920 कि० मी० लम्बी नई सड़कें, जिनमें से 975 कि० मी० प्रथम योजनाकाल में शुरू की गई थीं, तथा 6० बड़े-बड़े पुलों के निर्माण, 64 हजार कि० मी० सड़कों के सुधार तथा 2400 किलोमीटर सड़कों को चौड़ा करने का आयोजन था। साथ ही, राष्ट्रीय सड़कों के निर्माण का कार्य जारी रखने का आयोजन था। योजनाकाल में इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 240 कि० मी० लम्बी नयी सड़कों के निर्माण तथा 800 कि० मी० लम्बी सड़कों के सुधार का आयोजन था। अन्तर-राज्य (Inter-state) अथवा आर्थिक महत्त्व की सड़कों के विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत द्वितीय योजनाकाल में 28,800 कि० मी० लम्बी नयी सड़कों के निर्माण की व्यवस्था थी।

द्वितीय योजनाकाल में सभी सड़क-विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत कुल प्रायः 53 हजार कि० मी० लम्बी पक्की तथा 158 हजार कि० मी० लम्बी कच्ची सड़कों का निर्माण किया गया। इसके अतिरिक्त वर्तमान सड़कों में भी सुधार किया गया। द्वितीय योजना के अन्त तक पक्की सड़कों की लम्बाई 235.8 हजार कि० मी० तथा कच्ची सड़कों की लम्बाई 473.3 हजार कि० मी० हो गयी। इस प्रकार योजनाकाल के अन्त में नागपुर सड़क योजना के लक्ष्य से भी अधिक सड़कें हो गयीं।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में सड़क-विकास कार्य की प्रगति (Progress of Road Development in the Third Five Year Plan) :—तृतीय पंचवर्षीय योजना में सड़क-विकास के कार्यक्रम के अन्तर्गत 40 हजार कि० मी० नयी पक्की सड़कों के निर्माण का आयोजन था। तृतीय योजनाकाल में पांच वर्षों में सड़क-विकास कार्यक्रम पर पहले 272 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी जबकि अनुमानित व्यय इस मद में 410 करोड़ रुपये हुआ। 31 मार्च, 1966 ई० को पक्की सड़कों की लम्बाई योजना के प्रारंभ में 236 हजार किलोमीटर से बढ़कर 285 हजार किलोमीटर तथा कच्ची सड़कों की लम्बाई 473 हजार कि० मी० से बढ़कर 678 हजार कि० मी० हो गयी।

भारत में सड़कों की कुल लम्बाई 1951 ई० में 400 हजार कि० मी० से बढ़कर 1965 ई० में 963 हजार कि० मी० हो गयी, यानी 15 वर्षों में प्रायः 89 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस बीच पक्की सड़कों की लम्बाई 1951 ई० में 157 हजार कि० मी० से बढ़कर 1966 ई० में 348 हजार कि० मी० हो गयी। शेष सड़कें कच्ची हैं।

सड़क विकास की 20-वर्षीय योजना (Twenty Years Road Development Plan) :—1961 ई० में ही सड़क विकास की एक 20 वर्षीय (1961-81 ई०) दीर्घकालीन योजना तैयार की गयी जिसका उद्देश्य 20

वर्षों में प्रत्येक गाँव को (क) विकसित क्षेत्र, कृषि-क्षेत्र में पक्की सड़क से 6 कि० मी० तथा कच्ची सड़क से 2.5 कि० मी० की दूरी, (ख) अर्द्ध-विकसित क्षेत्र में पक्की सड़क से 13 कि० मी० तथा कच्ची सड़क से 5 कि० मी० की दूरी, एवं (ग) अविकसित तथा गैर-कृषि क्षेत्र में पक्की सड़क से 13 कि० मी० तथा कच्ची सड़क से 8 कि० मी० की दूरी के अन्तर्गत लाना है। इसके अनुसार 20 वर्षों के बाद, यानी 1981 ई० में पक्की सड़कों की लम्बाई को बढ़ाकर 408 हजार कि० मी० करने का आयोजन था, यानी 20 वर्षों में कुल 172 हजार कि० मी० कच्ची पक्की तथा 248 हजार कि० मी० कच्ची सड़कों के निर्माण का आयोजन था। इस कार्यक्रम की पूर्ति के बाद भारत में प्रति 100 वर्ग कि० मी० पर सड़कों की लम्बाई 52 कि० मी० हो जाने को थी जबकि अभी यह केवल 27 कि० मी० ही था।

तीनों वार्षिक योजनाओं (Annual Plans) :—इसमें सड़क-विकास कार्यक्रम पर 1966-69 के बीच 307 करोड़ रुपये व्यय किया गया। इस अवधि में पक्की सड़कों की लम्बाई में 45 हजार कि० मी० तथा कच्ची सड़कों की लम्बाई में 88 हजार कि० मी० की वृद्धि हुई।

इस प्रकार प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाओं तथा तीन वार्षिक योजनाओं में सड़क विकास की मद में कुल 113० करोड़ रुपये व्यय हुआ।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सड़क विकास की प्रगति (Progress of Road Development in the Fourth Five Year Plan) :—चतुर्थ योजना में आर्थिक विकास के उद्देश्य से सड़कों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में इस मद में अनुमानतः 822 करोड़ रुपये व्यय हुआ। इसमें से 296 करोड़ रुपये केन्द्रीय क्षेत्र में तथा 526 करोड़ रुपया राज्य क्षेत्र में व्यय किया गया। योजनाकाल में पक्की सड़कों की लम्बाई को 31 मार्च, 1969 को 325 हजार कि० मी० से बढ़ाकर योजना के अन्त यानी 31 मार्च, 1974 ई० को 325 हजार किलोमीटर, यानी पांच वर्षों में 60 हजार किलोमीटर पक्की सड़कों के निर्माण का आयोजन था। चतुर्थ योजना के अंत में मार्च, 1974 में सड़कों की लम्बाई बढ़कर 11.38 लाख किलोमीटर हो गयी जिसमें पक्की सड़कों की लम्बाई 4.75 लाख कि० मी० तथा पक्की सड़कों की 6.63 लाख कि० मी० हो गयी। योजनाकाल में प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों, ग्रामीण क्षेत्रों तथा पिछड़े हुए क्षेत्रों में सड़कों के विकास पर पर्याप्त जोर देने की व्यवस्था थी। योजनाकाल में राष्ट्रीय राजपथों पर 17 पुलों के निर्माण का कार्य प्रारम्भ होने को था जिसमें 16 का निर्माण पूरा हो जाने का था। किन्तु उनमें से 8 पुलों का ही कार्य पूरा हो सका।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में सड़क-विकास की प्रगति (Progress of Road Development in the Fifth Five



year Plan)।—पाँचवीं योजना में संशोधित कार्यक्रम के अनुसार सड़क विकास कार्यक्रम के ऊपर कुल 902 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। इसमें से 479 करोड़ रुपये केन्द्रीय क्षेत्र में तथा शेष 423 करोड़ रुपये राजकीय क्षेत्र में व्यय की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त सड़क यातायात पर 403 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। पाँचवीं योजनाकाल में पक्की सड़कों की लम्बाई को 1973-74 में 4,50,000 किलोमीटर से बढ़ाकर योजना के अन्त में 550,000 कि० मी० करने का आयोजन था। इसके अतिरिक्त योजनाकाल में ग्रामीण क्षेत्र की सड़कों के विकास पर 500 करोड़ रुपये अलग से व्यय करने का आयोजन था। इस सम्बन्ध में योजना का लक्ष्य 1500 से अधिक जनसंख्या वाले सभी गाँवों को पक्की सड़कों से मिलाना रखा गया था। किन्तु केवल 12000 गाँव ही इस योजना के अन्तर्गत आ सके। अब शेष 17000 गाँवों को इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 1982-83 तक लाने का आयोजन है।

छठी पंचवर्षीय योजना में सड़कों के विकास का कार्यक्रम (Programme of Road Development in the Sixth Plan) :—छठी पंचवर्षीय योजना में भी सड़कों के विकास को उच्च प्राथमिकता प्रदान की गई थी। इस सम्बन्ध में लक्ष्य 1988 तक 1000 से अधिक जनसंख्या वाले सभी गाँवों को पक्की सड़कों (Link Roads) से मिलाने का है। योजनाकाल में सड़कों के विकास पर 2183 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है जिसमें से केन्द्रीय क्षेत्र के कार्यों पर 683 करोड़ रुपये तथा राज्य क्षेत्र पर 1500 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। इसके अतिरिक्त सड़कें यातायात के विकास पर छठी योजनाकाल में 740 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है।

निष्कर्ष :—भारत सरकार ने यातायात-सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन के श्री बी० डी० पांडेय की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की है जो देश में यातायात के साधनों के विकास के सम्बन्ध में अध्ययन करेगी। वास्तव में, देश में सड़कों की लम्बाई प्रति 100 वर्ग किलो मीटर पर केवल 35 कि० मी० है जबकि जापान में यह 277 कि० मी०, संयुक्त राज्य अमेरिका में 66 कि० मी० ब्रिटेन में 138 कि० मी० तथा फ्रांस में 144 कि० मी० है। यहाँ पर सड़कों के विकास पर कुल राष्ट्रीय आय का 1 प्रतिशत से भी कम व्यय किया जाता है जब कि विकसित राष्ट्रों में 2 से 5 प्रतिशत तक इस मद में व्यय किया जाता है।

### रेल-सड़क प्रतियोगिता (Rail-Road Competition)

प्राक्कथन :—भारत में यात्री तथा माल ढोने के लिए मोटर गाड़ियों का प्रयोग प्रथम महायुद्ध के बाद से प्रारंभ हुआ। युद्ध-काल के बाद फौजी मोटर गाड़ियाँ सस्ते मूल्यों पर मिलने लगीं जिससे देश में मोटर यातायात का महत्त्व बढ़ने लगा। धीरे-धीरे कुछ समय के बाद इस वैयक्तिक

मोटरों में एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा प्रारंभ हुई जिसका रेलों की आय पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। 1929 ई० की मन्दी के बाद तो इनकी प्रतियोगिता और भी बढ़ गयी। मन्दी काल में मोटर तथा बसों के किराये में भी भारी कमी प्रकार 1929 ई० की मन्दी के बाद रेल एवं सड़क-यातायात में प्रतियोगिता बढ़ने लगी।

रेल एवं सड़क-प्रतियोगिता के कारण (Causes of Rail-Road Competition) :—सड़क यातायात का कुछ विशेष कार्यों के लिए सस्ता एवं अधिक उपयुक्त होना ही इस प्रतियोगिता का आधार था। भारी अथवा लम्बी दूरी तय करने में सड़क-यातायात रेल से प्रतियोगिता करने में निश्चय ही असमर्थ है, किन्तु हल्के, महुँगे एवं कम दूरी के लिए यह रेल-यातायात की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक होता है। अतः इसी प्रकार के यातायात के सम्बन्ध में रेल एवं सड़क यातायात के बीच प्रतियोगिता का उदय होता है। विभिन्न कारणों से सड़क यातायात रेल-यातायात की अपेक्षा अधिक सस्ता पड़ता है। उदाहरण के लिए, रेलवे लाइनों के निर्माण करने का व्यय, प्लेटफार्म, डब्बे एवं सिगनल आदि का खर्च इतना अधिक पड़ती है कि रेल की अपेक्षा सड़कों का निर्माण सस्ता होता है। साथ ही, सड़कों के निर्माण में मीटर-यातायात वालों को अपनी पूँजी नहीं लगानी पड़ती है और न सड़कों की रक्षा एवं मरम्मत पर ही खर्च करना पड़ता है। इसके विपरीत रेलवे को अपनी लाइन बनवाने, उन्हें सुरक्षित रखने तथा मरम्मत करने में अधिक खर्च करना पड़ता है। इन कारणों से सड़क-यातायात सस्ता पड़ता है। साथ ही, रेलों के किराये निश्चित रहते हैं, भीड़-भाड़ के समय किराये में कोई वृद्धि नहीं की जा सकती है। किन्तु सड़क यातायात के सम्बन्ध में यह बात नहीं पायी जाती है। जब तक मोटर-यातायात का कार्य निजी कम्पनियों के हाथ में रहता है, तब तक भीड़-भाड़ के समय सुगमतापूर्वक किराया बढ़ाया जा सकता है।

भारत में रेल एवं सड़कों के बीच प्रतियोगिता का प्रमुख कारण रेलों एवं सड़कों का अनियोजित ढंग से विकास है। हमारे देश में रेल एवं सड़कों का निर्माण भी अनियोजित ढंग से नहीं हुआ है। फलतः यातायात के इन दोनों साधनों के बीच समन्वय का अभाव है। यहाँ प्रारंभ में रेलों का निर्माण देश के आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से नहीं हुआ था। इसका मुख्य उद्देश्य विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित करना था। सड़कों के निर्माण के सम्बन्ध में यही बात पायी जाती है। अतः समय की वृद्धि के साथ-साथ इनमें प्रतियोगिता प्रारंभ हो गयी। वेजउड कमिटी ने 1938 ई० में अपने प्रतिवेदन में यह बतलाया था कि भारत में 30 प्रतिशत पक्की सड़कें रेल लाइनों के समानान्तर थीं जबकि 84 प्रतिशत रेलवे लाइनें ऐसी थीं जिनके दस मील की दूरी के भीतर ही सड़कें वर्तमान थीं। इससे रेल एवं सड़कों के बीच प्रतियोगिता का होना अति स्वाभाविक था।



रेल एवं सड़कों में इस प्रकार की प्रतियोगिता का बढ़ा ही घातक परिणाम हुआ। धीरे-धीरे इस प्रतियोगिता का रेलों की आय पर भी प्रभाव पड़ने लगा। 1929-30 ई० की मन्दी के बाद तो इनकी प्रतियोगिता की समस्या ने और भी भयंकर रूप धारण कर लिया। मन्दी के समय मोटरों ने अपना-अपना किराया घटा दिया, किन्तु रेलों किराया नहीं घटा सकीं। फलतः इनकी आय में कमी आने लगी। 1932 ई० में माईकेल-कर्कनेस रिपोर्ट (Mitchell Kirkness Report) के अनुसार मोटर प्रतियोगिता के फलस्वरूप रेलों को 190 लाख रुपये का घाटा हुआ था। 1937 ई० के वेजवुड कमिटी ने इस प्रकार के वार्षिक घाटे का अनुमान 450 लाख रुपये लगाया था। सड़कों की लम्बाई में वृद्धि एवं मोटर-यातायात की सेवाओं में सुधार के फलस्वरूप घाटे की रकम निरन्तर बढ़ती ही जा रही थी।

प्रतियोगिता को कम करने के लिए रेलों द्वारा अपनाये गए उपाय (Measures adopted by the Railways to reduce Rail-Road Competition) :—सड़कों की प्रतियोगिता को कम करने के लिए रेलों ने बहुत-से तरीकों को अपनाया। अधिकांश रेलवे कम्पनियों ने अपनी समय-सारिणी में परिवर्तन किया तथा सस्ते वापसी टिकट, तृतीय श्रेणी के मौसमी टिकट रियायती दरों पर स्पेशल ट्रेनें, सन्तरी कोचेज, तेज चलनेवाली पैसेन्जर गाड़ियाँ तथा तृतीय श्रेणी के यात्रियों के लिए अधिक सुविधाएँ देना प्रारम्भ किया। वेजवुड समिति ने इस सम्बन्ध में बहुत से सुझाव दिये जिनमें तेज मालगाड़ियों की व्यवस्था तथा बुकिंग की व्यवस्था को सरल बनाना आदि प्रमुख हैं। समिति ने कम्पनियों को मोटर-सेवाएँ प्रारम्भ करने का भी सुझाव दिया तथा कुछ रेलवे कम्पनियों ने इस प्रकार की सेवाओं का आयोजन भी कर दिया।

किन्तु इन प्रयत्नों से इनके बीच प्रतियोगिता समाप्त नहीं हो सकी। वास्तव में, रेलों एवं सड़कों अथवा यातायात के अन्य साधनों के बीच प्रतियोगिता को दूर करने लिए इनके बीच समन्वय (Co-ordination) स्थापित करना ही सबसे उत्तम उपाय है। विश्व के बहुत-से देशों में इस प्रकार की प्रतियोगिता को दूर करने लिए यातायात के विभिन्न साधनों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। अतएव हमारे देश में भी आज यातायात के विभिन्न साधनों के केवल विकास की ही आवश्यकता नहीं है, वरन् इनके स्वस्थ विकास के लिए इनमें समन्वय स्थापित करना भी अति आवश्यक है।

रेल एवं सड़क-यातायात के समन्वय के सरकारी प्रयत्न (Government Efforts for Rail-Road Co-ordination)

यद्यपि रेलवे एवं सड़क-यातायात के बीच पूर्णतः समन्वय स्थापित करना कठिन है, फिर भी यातायात के

इन दोनों साधनों के विकास में इस प्रकार की व्यवस्था की जा सकती है कि सड़कें रेलों की प्रतिद्वन्द्वी न होकर उनके सहायक एवं पूरक के रूप में कार्य करें। देश में सड़क-निर्माण की योजना में इस बात को सदा ध्यान में रखना आवश्यक है। अतः सड़कों का निर्माण विशेषतः ऐसे स्थानों में करना चाहिए जहाँ यातायात की अन्य सुविधाओं का अभाव हो। इस प्रकार की व्यवस्था से प्रत्येक यातायात के साधनों को पर्याप्त मात्रा में सेवाएँ प्राप्त होंगी तथा उनके बीच अंतार्थिक प्रतियोगिता भी नहीं रह जायगी। रेलों एवं सड़कों के बीच समन्वय के लिए सरकार द्वारा निम्नालिखित प्रयास किये गये हैं :—

माईकेल-कर्कनेस कमिटी (Mitchell Kirkness Committee) की नियुक्ति :— भारत में सड़क एवं रेल-यातायात की प्रतियोगिता की समस्या के अध्ययन के लिए सर्वप्रथम 1932 ई० में भारत सरकार द्वारा एक माईकेल-कर्कनेस समिति (Mitchell Kirkness Committee) की नियुक्ति की गयी। कमिटी ने रेलों को अनुचित प्रतियोगिता से बचाने के लिए मोटर-यातायात पर अधिक नियन्त्रण रखने का सुझाव दिया। इस सम्बन्ध में कमिटी का यह सुझाव था कि मोटरों पर कर लगाया जाय तथा इन्हें अपने समय एवं दरों की सूची बनाकर सरकार से स्वीकृति करना आवश्यक बनाया जाय। साथ ही, रेलों के समानान्तर व्यापारिक मोटर गाड़ियाँ चलाने की स्वीकृति न दी जाय।

रेल-सड़क सम्मेलन शिमला (Rail Road Conference of Simla) :— 1933 ई० में शिमला में एक रेल-सड़क सम्मेलन हुआ जिसमें अनुचित प्रतियोगिता को दूर करने तथा इनके बीच समन्वय स्थापित करने के लिए बहुत से प्रस्ताव पारित किये गये। सम्मेलन में यह निश्चित हुआ कि रेल कम्पनियों द्वारा बस चलाए जाने पर लगाये गये प्रतिबन्ध हटा लिए जायें। इसके फलस्वरूप 1963 ई० में रेलवे ऐक्ट में संशोधन किया गया जिसके अनुसार रेल कम्पनियों को बस चलाने का अधिकार दिया गया। 1935 ई० में परिवहन मन्त्री की अध्यक्षता में एक केन्द्रीय यातायात सलाहकार परिषद् की स्थापना की गयी। इस परिषद् का उद्देश्य रेल, मोटर एवं यातायात के अन्य साधनों के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए योजना तैयार करना था जिसे यातायात के साधनों के विकास के लिए अपनाया जाय। आगे चलकर 1937 ई० में एक यातायात एवं संवहन-विभाग की स्थापना की गयी जिसके जिम्मे रेलवे, डाक-तार विभाग तथा सड़क आदि का कार्य मिला। इसके समन्वय के कार्य में कुछ सुविधा हुई।

वेजवुड समिति (Wedgewood Committee, 1937 ई०) :— वेजवुड समिति ने भी रेल सड़क प्रतियोगिता के सम्बन्ध में जाँच की। कमिटी का प्रतिवेदन 1937 ई० में प्रकाशित हुआ जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि



प्रान्तीय सरकारों द्वारा सड़क यातायात का समुचित ढंग से नियन्त्रण नहीं होता था। नियन्त्रण के इस अभाव में असंगठित एवं अकुशल सड़क यातायात का विकास हो रहा था। कमिटी ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये :—(1) मोटर यातायात पर कठिन नियन्त्रण रखना चाहिए। इनका टाइम-टेबुल एवं किराया निश्चित रहना चाहिये तथा एक निश्चित संख्या से अधिक सवारियों को ले जाने पर भी रोक लगायी जानी चाहिए। इनकी गति को भी नियन्त्रित करना चाहिये। (2) सभी प्रान्तों की मोटर-गाड़ियों की दर-सम्बन्धी नीति में समता रहनी चाहिये; यदि इसमें किसी प्रकार की विभिन्नता हो तो उसे यथाशीघ्र समाप्त करना चाहिए। (3) आवश्यकता से अधिक मोटर एवं लारियों की संख्या न हो। इस उद्देश्य से आवश्यकतानुसार इन्हें लाइसेन्स देने की व्यवस्था होनी चाहिए। (4) माल ढोने वाली गाड़ियों के लिए प्रादेशिक लाइसेन्स देने की व्यवस्था होनी चाहिए। (5) कमिटी ने सड़क यातायात में रेलवे कम्पनियों के भाग लेने की सिफारिश की।

वेजउड कमिटी की सिफारिशों के आधार पर 1933 ई० में एक मोटर वेहिकिल्स ऐक्ट (Motor Vehicles Act) पारित हुआ। इस ऐक्ट में नियमन एवं समन्वय दोनों की व्यवस्था की गयी थी। इस ऐक्ट के अन्तर्गत मोटर यातायात को नियन्त्रित करने के लिये प्रान्त के विभिन्न यातायात क्षेत्रों में क्षेत्रीय यातायात अधिकारियों (Regional Transport Authorities) तथा यातायात के विभिन्न साधनों के बीच समन्वय को प्रोत्साहित करने के लिए प्रान्तीय यातायात अधिकारियों (Provincial Transport Authorities) की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी। मोटर-गाड़ियों के लिए लाइसेन्स लेना अनिवार्य बना दिया गया। इस अधिनियम के अनुसार तीसरे पक्ष के लिए मोटरों का बीमा कराना भी अनिवार्य बना दिया गया। इस अधिनियम से अनाथिक प्रतियोगिता को बहुत कुछ अन्त हो गया था तथा यातायात के विभिन्न साधनों के बीच समन्वय को भी प्रोत्साहन मिला। 1956 ई० में मोटर वेहिकिल्स ऐक्ट में एक संशोधन हुआ जिसके अनुसार एक अन्तरराज्य-यातायात आयोग (Inter-State Transport Corporation) बनाया गया जो अन्तर-राज्य मार्गों (Inter-State Routes) पर सड़क-यातायात सेवाओं के विकास, नियमन तथा समन्वय का प्रयत्न करता है।

यातायात के विभिन्न साधनों में समन्वय स्थापित करने के लिए भारत सरकार ने एक यातायात विकास परिषद् (Transport Development Council), सड़क एवं अन्तर्देशीय जल यातायात सलाहकार समिति (Road and Inland Water Transport Advisory Committee) तथा एक केन्द्रीय यातायात समन्वय समिति (Central Transport Co-ordination Committee)

की नियुक्ति की है।

पंचवर्षीय योजनाओं में रेल-सड़क संयोजन नीति (Rail-Road Co-ordination policy in Five Year Plans) :—योजना आयोग ने भी यातायात के विभिन्न साधनों के बीच समन्वय स्थापित करने के प्रश्न की जांच करने के लिए एक उच्च-स्तरीय समिति की नियुक्ति की थी जिसकी सिफारिशों के आधार पर पंचवर्षीय योजनाओं में रेल एवं सड़क यातायात के बीच समन्वय की नीति का अनुसरण किया जाता है। तृतीय योजनाकाल में योजना आयोग ने इस बात पर जोर दिया था कि नये क्षेत्रों में रेलों के निर्माण के समय में भविष्य में सड़क यातायात के विकास पर भी ध्यान रखना चाहिए।

यातायात नीति एवं संयोजन समिति की प्रमुख सिफारिशें (Important Recommendations of the Committee on Transport Policy and Co-ordination) :—जुलाई, 1959 ई० में योजना आयोग द्वारा दीर्घकालीन यातायात नीति बनाने में परामर्श देने तथा इसी आधार पर यातायात के विभिन्न साधनों का हिस्सा निश्चित करने के लिए एक Committee on Transport Policy and Co-ordination की नियुक्ति की गयी जिसने अपनी प्रारम्भिक सिफारिशें फरवरी, 1961 ई० में तथा अन्तिम सिफारिशें जून, 1966 ई० में योजना आयोग के सम्मुख प्रस्तुत किया। अपने प्रारम्भिक विवरण में समिति ने इस बात पर जोर दिया था कि रेलों के विकास की योजना तैयार करने में सड़क के विकास पर भी ध्यान देना चाहिए। साथ ही, रेल-सड़क सहयोग के नाम पर रेलों को लाभ पहुँचाने के लिए सड़कों को क्षति नहीं पहुँचानी चाहिए। समिति के अनुसार सड़क यातायात को प्रोत्साहित करने के लिए इन्हें लाइसेन्स प्रदान करने में अधिक उदारता से काम लेना चाहिए तथा इन्हें सम्पूर्ण राज्य के लिए लाइसेन्स प्रदान करना चाहिए।

अपने अन्तिम प्रतिवेदन में समिति ने इस बात पर जोर दिया कि केन्द्र में रेलवे, सड़क यातायात एवं नागरिक उड्डयन तीनों मन्त्रालयों को मिलाकर एक यातायात मन्त्रालय का निर्माण किया जा सकता है जिसके जिम्मे यातायात की सभी व्यवस्था होगी। समिति के अनुसार इससे संयोजन के क्षेत्र में बहुत अधिक सुविधा प्राप्त होगी। साथ ही समिति ने इस उद्देश्य से केन्द्र तथा राज्यों में विशेष संस्थानों की स्थापना का भी सुझाव दिया था।

मोटर यातायात का राष्ट्रीयकरण (Nationalization of Motor Transport) :—हमारे देश में मोटर-यातायात दिन-प्रति-दिन प्रगति कर रहा है। मार्च 1969 ई० में देश में सभी प्रकार की प्रायः 16.7 लाख गाड़ियाँ थीं जिनमें मोटर साइकिल 4.2 लाख, निजी गाड़ियाँ एवं जीप 6.6 लाख, माल ढोने वाली गाड़ियाँ 3.4 लाख तथा अन्य गाड़ियाँ 2.5 लाख थीं।



अधिकांश देशों में सड़क-यातायात के राष्ट्रीयकरण द्वारा ही रेलवों एवं सड़कों के बीच की गैर-आर्थिक प्रतियोगिता को समाप्त किया गया है। अतएव भारत में भी मोटर यातायात के राष्ट्रीयकरण पर जोर दिया जा रहा है। योजना आयोग ने प्रत्येक राज्य को इस कार्य के लिए सड़क यातायात निगम (Road Transport Corporation) बनाने का सुझाव दिया था जिसमें रेलवे भी सम्मिलित हो सकती है। अधिकांश राज्यों में मोटर-यातायात का राष्ट्रीयकरण प्रारम्भ भी हो गया। किन्तु; द्वितीय योजना में इस बात की सिफारिश की गयी थी कि साल ढोने वाली मोटर सेवाओं के यातायात का द्वितीय योजना काल में राष्ट्रीयकरण नहीं करना चाहिए। योजना आयोग की यह नीति निश्चय ही स्वस्थ सड़क-यातायात के विकास के हित में अनुचित है। रेलवे एवं सड़क के बीच प्रतियोगिता को समाप्त करने तथा देश

में सड़क यातायात के आयोजित विकास के लिए मोटर-यातायात का यथाशीघ्र राष्ट्रीयकरण अति आवश्यक है। आशा है, आयोग निकट भविष्य में अपनी इस नीति में संशोधन कर मोटर-यातायात के राष्ट्रीयकरण के लिए मार्ग को प्रशस्त बनाने का प्रयास करेगा।

इस प्रकार निष्कर्ष के तौर-पर यह कहा जा सकता है कि भारत जैसे विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था वाले देश में यातायात के सभी साधनों के विकास पर पर्याप्त रूप से समन्वय होना चाहिए। किन्तु, रेल एवं सड़क यातायात के बीच समन्वय का अर्थ सड़कों के विकास को रोक कर रेलों को एकाधिकार प्रदान करना नहीं होना चाहिए, वरन् इसका उद्देश्य देश के सीमित साधनों को देखते हुए रेलों एवं सड़कों के अनावश्यक दुहराव को रोकना होना चाहिए।

#### विशेष अध्ययन-सूची

1. S. K. Srivastava : Transport Development in India.
2. Planning Commission : Third, Fourth and Fifth Five Year Plans.
3. Report of the Committee on Transport Policy and Co-ordination.
4. Report of the Road Transport Co-ordination Committee.



## अध्याय : 45

### यातायात के साधन : जल एवं वायु-यातायात

(Means of Transport : Water and Air Transport)

#### (क) जल-यातायात (Water-Ways)

जल-यातायात का अध्ययन हम दो भागों में विभाजित कर कर सकते हैं :—

(अ) आन्तरिक जल-यातायात (Inland waterways), एवं

(ब) सामुद्रिक यातायात (Sea Transport) ।

(i) आन्तरिक जल-यातायात (Inland Water-ways) :—भारत में अति प्राचीन काल से ही जल-मार्गों का प्रयोग यात्रा तथा यातायात के लिए होते चला आया है। रेल तथा सड़कों की समुचित व्यवस्था के अभाव में नदियाँ ही प्राचीनकाल में यातायात का मुख्य साधन प्रदान करती थीं। उत्तर भारत की नदियों में सुगमता-पूर्वक बड़ी-बड़ी नावें सालों भर चलायी जाती थीं। यही कारण है कि देश के सभी बड़े-बड़े प्राचीन नगर इन्हीं नदियों के किनारे बसे हैं। मौर्य तथा मुगल शासनकाल में नदियों द्वारा बहुत अधिक यातायात होता था। गंगा नदी व्यवसाय का प्रधान मार्ग थी। इससे रेल-व्यवस्था के विकास के पूर्व देश की यातायात-व्यवस्था में आन्तरिक जल-यातायात का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। किन्तु रेलों के आगमन से अन्तर्वेशीय यातायात को बड़ा धक्का पहुँचा। औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) के शब्दों में, “उचित प्रतिनिधित्व के अभाव में रेलवे के हितों ने भारत के आन्तरिक जल-यातायात की प्रगति को अवरोध कर दिया तथा इस पर विदेशों की तरह ध्यान भी नहीं दिया जा सका। नदियों में बाँध बाँधकर सिंचाई के लिए नहरों के निर्माण ने भी जल यातायात के मार्ग में रुकावट उत्पन्न की है।”

भारत में इंग्लैंड तथा अमेरिका की तरह प्राकृतिक जल-मार्ग प्रदान करनेवाली नदियों का सर्वथा अभाव है। फिर भी, अनुमान लगाया जाता है कि भारत में प्रायः 14000 कि० मी० से अधिक नौकागम्य आन्तरिक जल-मार्ग हैं। इसमें प्रायः 3500 कि० मी० तक आधुनिक तरीके की बड़ी-बड़ी स्टीमरें चलायी जा सकती हैं। इनमें गंगा तथा ब्रह्मपुत्र एवं इसकी सहायक नदियाँ गोदावरी एवं कृष्णा तथा बकिधम नहर एवं पश्चिमी घाट नहर आदि प्रमुख हैं। देश की छिछली नदियों को

भी खोदकर नौकागम्य बनाया जा सकता है, किन्तु यह कार्य अधिक खर्चीला जान पड़ता है। उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में आन्तरिक जल-यातायात का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। कलकत्ता तथा असम के बीच प्रतिवर्ष 10 लाख टन सामान नदियों के द्वारा लाया जाता है।

इन सब प्राकृतिक कठिनाइयों के बावजूद भारत में आन्तरिक जल-यातायात के विकास के लिए पर्याप्त क्षेत्र वर्तमान है। आन्तरिक जल-मार्गों के समुचित विकास द्वारा रेलों की भीड़ को बहुत हद तक कम किया जा सकता है। औद्योगिक आयोग ने भी इस आशय की सिफारिश की थी। राष्ट्रीय नियोजन समिति ने नदियों एवं जल-मार्गों के नियमन, नियन्त्रण एवं विकास के लिए प्रान्तीय एवं अन्तर प्रदेशीय आयोगों की नियुक्ति का प्रस्ताव रखा था। आजकल भारत सरकार द्वारा भी आन्तरिक जल-यातायात के विकास पर विशेष रूप से जोर दिया जा रहा है। देश के संविधान के अनुसार अन्तराजकीय नदियों एवं जल-मार्गों का विकास केन्द्रीय सरकार के अधीन है। भारत सरकार ने इस कार्य के लिए एक ‘केन्द्रीय विद्युत्, सिंचाई एवं नौकागमन आयोग’ (Central Power, Irrigation and Navigation Commission) की नियुक्ति की है जिसको यह दायित्व सौंपा गया है। 1952 ई० में गंगा तथा ब्रह्मपुत्र क्षेत्र में आन्तरिक जल-मार्ग के विकास के लिए एक गंगा-ब्रह्मपुत्र जल-यातायात परिषद् (Ganga-Brahmaputra Water Transport Board) का निर्माण किया गया जो गंगा, ब्रह्मपुत्र एवं इनकी सहायक नदियों में यातायात के विकास का आयोजन करता है। इस परिषद् ने इस सम्बन्ध में बहुत-से महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। मार्च, 1961 ई० में इसे Directorate of Inland Water Transport के साथ मिला दिया गया है।

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में आन्तरिक जल-यातायात के विकास के लिए एक करोड़ रुपया से भी कम रकम व्यय की गयी थी किन्तु तृतीय योजनाकाल में इस मद में कुल 2.52 करोड़ रुपये व्यय किया गया। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में आन्तरिक जल-यातायात की मद में 11 करोड़ रुपये व्यय हुआ था। 1967 ई० में एक Central Inland Water Transport Corporation की स्थापना की गयी जिसने असम तथा कलकत्ता में कार्य करना प्रारम्भ किया है। 1967 ई० में श्री भगवती की



अध्यक्षता में कुछ चुने हुए प्रक्षेत्रों में आन्तरिक जल-यातायात के समन्वित विकास की संभावनाओं की जाँच करने के लिए एक समिति नियुक्त की गयी जिसने 1970 ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया।

### सामुद्रिक यातायात (Sea Transport)

**प्रारम्भिक इतिहास (Earlier History):**—प्राचीन काल में भारत का सामुद्रिक यातायात अति विकसित स्थिति में था। जहाज-निर्माण की कला में यहाँ के निवासी अति चतुर थे। यहाँ के जहाज मिस्र, पूर्वी अफ्रिका, मलाया एवं इण्डोनेशिया आदि देशों को जाया करते थे। मुगल शासनकाल में भी भारतीय जहाजों ने सामुद्रिक योग्यता में विशेष ख्याति प्राप्त की थी, किन्तु कालान्तर में विभिन्न कारणों से हमारे इस गौरवपूर्ण उद्योग का ह्रास होने लगा। इन कारणों में लोहे के बने-वाष्प द्वारा प्रचालित जहाजों के प्रचार से भारतीय जहाज-निर्माण कला का जो ह्रास तथा भारतीय जलयान विरोधी-ब्रिटिश नौ-परिवहन-सम्बन्धी कानूनों का लागू होना आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सब कारणों से हमारे सामुद्रिक यातायात तथा जहाज-निर्माण उद्योग का ह्रास हुआ और इसकी ख्याति धीरे-धीरे समाप्त होने लगी। यद्यपि ब्रिटिश शासनकाल में सामुद्रिक यातायात का विकास अवरुद्ध-सा हो गया तथापि देश के विशाल आकार, इसकी विस्तृत तट-रेखा तथा इसकी वाणिज्यिक आवश्यकताओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आज भी भारत में इसके विकास की विशाल संभावनाएँ हैं।

**भारत में आधुनिक सामुद्रिक यातायात का विकास (Development of Modern Sea Transport in India):**—भारत में आधुनिक तरीके की सबसे महत्त्वपूर्ण कम्पनी 'ब्रिटिश इण्डिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी' थी जो 1854 ई० में स्थापित की गयी थी। भारत के तटीय व्यापार पर कई वर्षों तक इस कम्पनी का प्रायः एकाधिकार रहा। इसके पास बहुत-से सामुद्रिक जहाज थे जो कलकत्ता, चटगाँव, मद्रास, बम्बई और फारस की खाड़ी में चलते थे। वर्षों से इस कम्पनी ने अपने साधन, सम्पत्ति, राजनीतिक प्रभाव एवं भाड़ा-सम्बन्धी द्वन्द्व युद्धों द्वारा एक-एक करके अनेक ब्रिटिश, यूरोपीय तथा भारतीयों प्रतिद्वन्द्वियों को भारत के तटीय व्यापार से निकाल दिया। कुछ भारतीय उद्योगपतियों ने जैसे टाटा बन्धुओं ने, 1893 ई० में तथा तृतीकोरिन की स्वदेशी शिपिंग कम्पनी ने 1906 ई० में काम अवश्य प्रारम्भ किया, किन्तु ब्रिटिश कम्पनियों द्वारा भाड़े में कमी करने के कारण इस क्षेत्र में ये ठहर नहीं सकीं। ब्रिटिश सरकार ने भी विदेशी कम्पनियों को तरह-तरह से प्रोत्साहित किया; उदाहरण के लिए, ब्रिटिश इण्डिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी को भारत

सरकार के डाक और तार विभाग से प्रायः 65 लाख रुपये वार्षिक आर्थिक सहायता (subsidy) प्रदान की जाती थी। इसके अतिरिक्त और भी विभिन्न प्रकार से सरकार विदेशी जहाजी कम्पनियों को सहायता प्रदान करती थी जिससे भारतीय कम्पनियों का विकास नहीं हो सका। इस प्रकार 1860 ई० से 1920 ई० के बीच प्रायः 200 देशी जहाजी कम्पनियाँ, जिनमें लगभग 46 करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई थी, समाप्त हो गयीं। इसका प्रमुख कारण तत्कालीन सरकार की उदासीनता थी। 1894 ई० में इंडियन मर्कैन्टाइल मेरिन कमिटी (Indian Mercantile Marine Committee) ने सरकार के समक्ष इस सम्बन्ध में बहुत सारे सुझाव रखे। कमिटी ने इस बात की सिफारिश की कि भारत का तटीय व्यापार भारतीय कम्पनियों के लिए सुरक्षित रखा जाय तथा सामुद्रिक यातायात में काम करनेवाले अफसरों के लिए प्रशिक्षण जलयान स्थापित किये जायें। 1927 ई० में 'डफरिन' नामक एक प्रशिक्षण जलयान की व्यवस्था अवश्य की गयी, किन्तु कमिटी की अधिकांश सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार नहीं किया। इससे देश में सामुद्रिक यातायात के प्रति तत्कालीन भारत सरकार की उदासीनता स्पष्ट हो जाती है।

इस क्षेत्र में सर्वप्रथम सफल प्रयास 1920 ई० में स्थापित सिन्धिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी नामक भारतीय जहाजी कम्पनी द्वारा किया गया जो श्री बालचन्द हीराचन्द द्वारा स्थापित की गयी थी। इस कम्पनी को भारत के चावल व्यापारियों का सहयोग प्राप्त हुआ जिसके फल-स्वरूप यह भारत, बर्मा तथा यूरोप के बीच कार्य करने लगा। 1924 ई० में इस कम्पनी ने ब्रिटिश इंडिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी के साथ एक समझौता किया जिसके अनुसार इसे भारतीय तट पर 75 हजार टन के जहाज चलाने का अधिकार मिला। 1933 ई० में समझौता की शर्तों में कुछ सुधार किया गया जिसके अनुसार सिन्धिया कम्पनी को भारत एवं बर्मा के बीच सवारियों के ढोने का भी अधिकार मिल गया। द्वितीय महायुद्धकाल में भारतीय कम्पनियों को अपने कार्य-क्षेत्र को विस्तृत करने का अवसर मिला तथा 1946-47 ई० तक भारतीयों ने न्यूयार्क तथा लन्दन तक जहाजी सेवाएँ स्थापित कर लीं।

द्वितीय महायुद्ध के बाद देश में सामुद्रिक यातायात के विकास की आवश्यकता अधिक स्पष्ट होने लगी। फलतः भारत सरकार ने श्री सी० पी० रामास्वामी आयर की अध्यक्षता में एक जल-यातायात नीति-समिति (Shipping Policy Committee) की नियुक्ति की जिसने 1947 ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इस समिति की सिफारिशें स्वतंत्र भारत में सामुद्रिक यातायात के विकास के लिए विशेष महत्त्व की हैं। इसकी महत्त्वपूर्ण सिफारिशें निम्नलिखित थीं—



(1) भारत के तटीय व्यापार का शत-प्रतिशत; बर्मा, लंका एवं दूसरे पड़ोसी देशों से होने वाले व्यापार का 75 प्रतिशत भाग तथा अन्य विदेशी व्यापार का 50 प्रतिशत भाग भारतीय कम्पनियों के लिए सुरक्षित रखना चाहिए।

(2) समिति ने इस सम्बन्ध में एक राष्ट्रीय नीति की सिफारिश की जिसका उद्देश्य 5 वर्षों में 26 लाख टन सामुद्रिक जहाज प्राप्त करना निश्चित किया गया।

(3) बन्दरगाहों की व्यवस्था यातायात विभाग से हटाकर वाणिज्य विभाग के अन्तर्गत कर देनी चाहिए। कमिटी ने इन सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए एक 'जल-यातायात परिषद्' की नियुक्ति का सुझाव दिया।

भारत सरकार ने कमिटी की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया तथा 1950 ई० से देश का तटीय व्यापार पूर्णतः भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित कर दिया गया और बर्मा, सीलोन, मलाया मार्ग का प्रायः 50 प्रतिशत भाग, भारत-आस्ट्रेलिया का 40 प्रतिशत भाग तथा इंग्लैंड एवं अमेरिका से किये जानेवाले व्यापार का एक निश्चित भाग भी भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित करने की नीति अपनायी गयी। 1947 ई० में ही भारत सरकार 10-10 करोड़ रुपये की अधिकृत पूंजी के तीन जल-यातायात निगम (Shipping Corporations) की स्थापना की घोषणा की। ये निगम तीन विभिन्न जल-मार्गों में कार्य करेंगे। इनमें से एक निगम पूर्वी जल-यातायात निगम 1950 ई० में आस्ट्रेलिया, सुदूर पूर्व तथा पश्चिमी एशियाई देशों के साथ व्यापार करने के लिए स्थापित किया गया। 1956 ई० में एक-दूसरा निगम पश्चिमी जल यातायात निगम (Western Shipping Corporation) की स्थापना की गयी जो भारत-फारस की खाड़ी, भारत लाल-सागर, रूस तथा पोलैंड के मार्गों पर व्यापार कार्य करता है। अक्टूबर, 1961 ई० में पूर्वी तथा पश्चिमी निगमों को मिलाकर Shipping Corporation of India का निर्माण किया गया। इसके पास अभी 8,17,606 G. R. T. के विभिन्न प्रकार के 76 जहाज हैं। तीसरे निगम की स्थापना अभी नहीं की जा सकी है। इसके अतिरिक्त लगभग 30 और भारतीय जहाजी कम्पनियाँ हैं जो विभिन्न दिशाओं में कार्य करती हैं। अप्रैल, 1975 ई० में भारत में कुल 38.3 लाख टन भार के 274 सामुद्रिक जहाज थे। इसमें से भारत सरकार के उपक्रमों के पास 20 लाख टन भार के सामुद्रिक जहाज थे तथा शेष निजी क्षेत्र के जिम्मे था। इस समय देश में 37 जहाज रानी कम्पनियाँ हैं। इनमें से दो—भारत का जहाजरानी निगम लि० तथा मुगल लाइन्स लि० सरकारी क्षेत्र में हैं तथा शेष सभी गैर-सरकारी क्षेत्र में हैं।

### पंचवर्षीय योजनाओं में सामुद्रिक जल-यातायात (Sea-Transport in Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल में जल-यातायात का विकास (Development of Sea Transport in the First Five Year Plan) :—प्रथम योजना में देश में जल-यातायात के विकास पर पर्याप्त जोर माला में दिया गया था। योजना प्रारम्भ होने के पूर्व देश में कुल 3.91 लाख (G. R. T.) के सामुद्रिक जहाज थे जिनमें 2.17 लाख टन तटीय व्यापार (Coastal trade) तथा 1.74 लाख टन विदेशी व्यापार (Overseas trade) में लगे हुए थे। प्रथम योजनाकाल में जहाजों के टनेज में पर्याप्त वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप योजना के अन्त में कुल 6.01 लाख टन (GRT) के जहाज हो गये जिनमें 3.12 लाख टन तटीय व्यापार, 2.84 लाख टन विदेशी व्यापार तथा 5 हजार टन के टैंकर जहाज थे। प्रथम योजना में इस मद में कुल 18.7 करोड़ रुपये व्यय हुआ। इसके अतिरिक्त प्रथम योजनाकाल में 5500 रेटिंग्स, 143 मेरिन इंजीनियर तथा 248 नेविगेशन कर्मचारियों के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की गयी। बन्दरगाहों एवं पोताश्रयों के विकास पर प्रथम योजनाकाल में 27.6 करोड़ रुपये व्यय हुआ।

द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में सामुद्रिक यातायात का विकास (Development of Sea Transport in the Second Five Year Plan) :—द्वितीय योजना में जल-यातायात के विकास के सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्देश्य निश्चित किये गये थे—(क) देश के तटीय व्यापार का यथासम्भव विकास किया जाय जिससे इन क्षेत्रों में रेल-यातायात का भार कुछ कम हो सके, (ख) भारतीय विदेशी व्यापार के लिए जहाजों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाय; (ग) निजी जहाजी कम्पनियों को उचित वित्तीय सहायता द्वारा प्रोत्साहन एवं निश्चित प्रशिक्षण केन्द्रों में इनके कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाय; तथा (घ) घी, तेल, एवं पेट्रोल ले जानेवाले जहाजों का भी निर्माण किया जाय। अभी तक दो टैंकर जहाजों को इस कार्य के लिए खरीदा गया था।

द्वितीय योजना के अन्त में देश में कुल 8.57 लाख टन (GRT) के जहाज थे जिनमें 2.92 लाख टन के जहाज तटीय व्यापार (Coastal Trade) तथा 5.66 लाख टन के जहाज विदेशी व्यापार (overseas trade) में लगे हुए थे। द्वितीय योजनाकाल में जहाजरानी के विकास पर 52.7 करोड़ रुपये व्यय किया गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में सामुद्रिक यातायात की प्रगति (Development of Sea Transport in the Third Five Year Plan) :—तृतीय योजना में जल-यातायात (Shipping) के विकास के लिए 57 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि वास्तविक व्यय 40 करोड़



रूपे हुआ। इसके अतिरिक्त Shipping Development Fund से 4 करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा थी। योजनाकाल में कोचीन में एक दूसरा जहाज बनाने का कारखाना प्रारम्भ किया गया जिसमें प्रारम्भ में प्रतिवर्ष 60 हजार टन के जहाज बनाये जाने का आयोजन था। इस उद्देश्य से जून, 1964 ई० में जापान के एक फर्म के साथ समझौता भी किया गया। तृतीय योजना के प्रारम्भ में 3,75,000 टन (GRT) के 75 अतिरिक्त जहाज प्राप्त करने का आयोजन था, किन्तु योजनाकाल में 6.7 लाख टन (GRT) के जहाज प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार सामुद्रिक जहाजों का टनेज 1960-61 ई० में 8.57 लाख टन (GRT) से बढ़कर तृतीय योजना के अन्त में यानी 1965-66 ई० तक 15 लाख टन (GRT) हो गया। बन्दरगाहों के विकास पर तृतीय योजना में 77 करोड़ रुपये व्यय किया गया।

तीन एक-वर्षीय योजनाओं (1966-69) में जहाजरानी के विकास में 25.4 करोड़ रुपये तथा बन्दरगाहों के विकास पर 55.3 करोड़ रुपये व्यय किया गया। 1968-69 में देश में कुल 21.4 लाख टन भार के जहाज हो गये।

#### सामुद्रिक जहाज (लाख टन GRT में)

|                          | 1950-51 | 1955-56 | 1960-61 | 1965-66 | 1968-69 | 1973-74 | 1977-78 | 1982-83<br>(आयोजित) |
|--------------------------|---------|---------|---------|---------|---------|---------|---------|---------------------|
| तटवर्ती व्यापार          | 2.17    | 3.12    | 2.92    | 3.23    | 3.40    | 5.56    | 3.40    | 4.50                |
| विदेशी व्यापार<br>के लिए | 1.74    | 2.89    | 5.65    | 12.17   | 18.00   | 28.34   | 48.10   | 73.20               |
| कुल                      | 3.91    | 6.01    | 8.57    | 15.40   | 21.40   | 30.90   | 51.50   | 77.70               |

पाँचवीं योजना में जहाजरानी का विकास (Shipping Development in the Fifth Five Year Plan) :—पाँचवीं योजना में सामुद्रिक यातायात के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में 450 करोड़ रुपये जहाजरानी तथा 543.6 करोड़ रुपये बन्दरगाहों के विकास पर व्यय करने की व्यवस्था थी। पाँचवीं योजना के अन्त तक सभी प्रकार के जहाज के टन भार को बढ़ाकर 52.3 लाख करने का आयोजन था।

छठी पंचवर्षीय योजना में जहाजरानी का विकास (Development of Shipping in the Sixth Five Year Plan)—छठी पंचवर्षीय योजना में जहाजरानी के विकास पर 637 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। योजनाकाल में 26.5 लाख टन के और सामुद्रिक जहाजों को प्राप्त करने का आयोजन है जिससे 1982-83 तक 77.7 लाख टन के जहाज देश में हो सकें। इसके अतिरिक्त बन्दरगाहों के विकास पर योजनाकाल में 390 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में जहाजरानी के विकास की प्रगति (Development of Shipping in the Fourth Five Year Plan) :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भी सामुद्रिक यातायात के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में 14 लाख टन (GRT) के जहाजों को प्राप्त करने का आयोजन था जिससे 1973-74 ई० तक देश में कुल 35 लाख टन (GRT) के जहाज हो जाने को था। योजनाकाल में तटीय व्यापार में लगे जहाजों के टन भार के बढ़कर 4 लाख टन तथा समुद्र-पार में 31 लाख टन होने की आशा थी। किन्तु योजना का यह लक्ष्य पूरा नहीं हो सका तथा 1973-74 के कुल 31 लाख टन भार के ही जहाज हो सके। चतुर्थ योजना में जहाजरानी की मद में 140 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। इसके अतिरिक्त बन्दरगाहों के विकास पर 195 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। योजना का लक्ष्य देश के कुल विदेशी व्यापार का प्रायः 40 प्रतिशत भाग भारत के जहाजों द्वारा पूरा करने का था।

पंचवर्षीय योजनाओं में सामुद्रिक यातायात की प्रगति निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाती है :—

इस प्रकार भारत का व्यापारिक जहाजी बेड़ा धीरे-धीरे प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा है। सरकार निजी कंपनियों को भी इस कार्य के लिए प्रोत्साहित करती है। साथ-ही-साथ बन्दरगाहों एवं पोताश्रयों का भी विकास किया जा रहा है। तृतीय योजनाकाल में बन्दरगाहों की क्षमता 1960-61 ई० के 236 लाख टन से बढ़कर 1969-70 ई० में 546 लाख टन हो गयी। योजनाकाल में सभी प्रमुख बन्दरगाहों के विकास का आयोजन था जिस पर 77 करोड़ रुपये व्यय हुआ। वार्षिक योजनाओं (1966-69) में इस मद में 55 करोड़ रुपये व्यय किया गया। चतुर्थ योजना में इस मद में 195 करोड़ रुपये तथा पाँचवीं योजना में 543 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था।

किन्तु, इन सब प्रयत्नों के बावजूद आज तक हम जल यातायात नीति समिति (Shipping Policy Committee) द्वारा निर्धारित लक्ष्यों को भी नहीं प्राप्त कर पाये हैं। समिति ने भारत, लंका, बर्मा, एवं अन्य पड़ोसी



## जल एवं वायु-यातायात

राष्ट्रों के व्यापार का 75 प्रतिशत तथा अन्य देशों से भारत के व्यापार का 50 प्रतिशत भाग भारतीय जहाजों द्वारा सम्हाले जाने की सिफारिश की थी। किन्तु, भारत का व्यापारिक जहाजी बेड़ा अभी इस स्तर तक नहीं पहुँच पाया है। साथ ही, समिति ने भारतीय जल-याता-यात के लिए पाँच वर्षों के अन्त तक 20 लाख टनेज करने का सुझाव दिया था जबकि हमारा टनेज 1968-69 ई० में जाकर 21.4 लाख टन हो पाया। यह हमारे लिए निश्चय ही चिन्ता का विषय है। भारत जैसे देश, जिसकी तट-रेखा 3533 मील में विस्तृत है, के लिए सामुद्रिक यातायात के विकास पर अधिक ध्यान देना अति आवश्यक हो जाता है।

### (ख) हवाई-यातायात (Air-Transport)

भारत में हवाई यातायात का विकास (Development of Air Transport in India):—भारत में हवाई यातायात अभी प्रारम्भिक स्थिति में ही है। देश में सर्वप्रथम 1911 ई० में बम्बई तथा कराँची के बीच परीक्षा की दृष्टि से वायुयान की व्यवस्था की गयी थी। प्रथम युद्धकाल में सरकार द्वारा देश में वायुयानों के लिए कुछ लैंडिंग ग्राउन्ड्स बनाये गये जिससे देश में हवाई यातायात के विकास को कुछ प्रोत्साहन मिला। 1927 ई० में हवाई-यातायात बोर्ड की सिफारिशों के आधार पर नागरिक उड्डयन विभाग (Civil Aviation Department) की स्थापना की गयी तथा 1928 ई० में इम्पीरियल एयर-वेज के द्वारा भारत तथा लन्दन के बीच नियमित रूप से हवाई-यातायात प्रारम्भ किया गया। 1936 ई० में टाटा एयरवेज लिमिटेड नामक प्रथम भारतीय कम्पनी की स्थापना हुई जिसने इलाहाबाद, कलकत्ता और कोलम्बो के बीच हवाई यातायात प्रारम्भ किया और बाद में कराँची एवं मद्रास तक इसका प्रसार किया गया। 1933 ई० में एक कम्पनी 'इण्डियन नेशनल एयरवेज' तथा 1936 ई० में 'एयर सर्विसेज ऑफ इण्डिया लिमिटेड' प्रारम्भ की गयी।

द्वितीय महायुद्ध ने भारत में हवाई-यातायात के विकास को बहुत अधिक प्रोत्साहन प्रदान किया। युद्ध-काल में वायु सेनाओं का नागरिक कार्यों के लिए उपयोग किया जाने लगा। युद्ध के दृष्टिकोण से देश में बहुत-से अच्छे-अच्छे लैंडिंग ग्राउन्ड्स भी तैयार किये गये तथा भारत का सम्बन्ध विदेशों के कुछ प्रमुख केन्द्रों से स्थापित किया गया। 1940 ई० में देश में उड्डयन की शिक्षा देने के लिए 10 फ्लाईंग क्लब प्रारम्भ किये गये तथा उच्चतम शिक्षा के लिए लोगों को इंग्लैंड भेजने की भी व्यवस्था की गयी। युद्धकाल में ही वायुयान की मरम्मत एवं निर्माण के उद्देश्य से बंगलोर में हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट

कम्पनी, 1940 ई० में स्थापित की गयी। युद्धकाल में एक अच्छी वायु सेना का भी निर्माण किया गया। इस प्रकार द्वितीय युद्धकाल ने देश में हवाई-यातायात को बहुत अधिक प्रोत्साहन प्रदान किया।

युद्ध के बाद देश में हवाई-यातायात के लिए कई नयी कम्पनियों की स्थापना का आयोजन किया जाने लगा। 1944 ई० में एक हवाई-यातायात लाइसेंसिंग बोर्ड का निर्माण हुआ। बोर्ड को लाइसेंस-प्राप्त कम्पनियों के किराये तथा भाड़े की अधिकतम एवं न्यूनतम सीमा निर्धारित करने का अधिकार भी दिया गया। 1948 ई० में भारत सरकार ने हवाई-यातायात के विकास के लिए एक योजना तैयार की जिसके अनुसार वायु लाइनों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया—(क) अन्तर्राष्ट्रीय लाइनें, (ख) मुख्य लाइनें, (ग) सहायक लाइनें। 1940 ई० में भारत सरकार ने टाटा बन्धुओं के सहयोग से अन्तर्राष्ट्रीय उड्डयन के लिए एक 'एयर इण्डिया इन्टर-नेशनल' की स्थापना की जिसके 49 प्रतिशत शेयर सरकार द्वारा खरीदे गये। 1948-ई० में कलकत्ता-हांगकाँग सेवा का उद्घाटन किया गया।

किन्तु, युद्ध के बाद नागरिक उड्डयन की बहुत-सी कम्पनियाँ हो गयीं जिससे उन्हें हानि उठानी पड़ी। अतः भारतीय हवाई कम्पनियों की स्थिति और उनकी समस्याओं की जाँच के लिए एक हवाई-यातायात जाँच समिति की नियुक्ति की गयी। समिति निजी हवाई कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में नहीं थी। समिति के अनुसार हवाई-यातायात के राष्ट्रीयकरण में सरकार को कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। साथ ही, हवाई-यातायात के विकास के लिए एक समयानुकूल नीति की आवश्यकता थी जिसे साहसपूर्वक कार्यान्वित किया जा सके जो राष्ट्रीयकरण के उपरान्त सम्भव नहीं था। अतः समिति ने वर्तमान निजी हवाई कम्पनियों को मिलाकर प्रादेशिक आधार पर चार बड़ी-बड़ी कम्पनियों की स्थापना की सिफारिश की जिनके मुख्य कार्यालय कलकत्ता, दिल्ली, बम्बई एवं हैदराबाद में होंगे। समिति ने यह सुझाव दिया कि उचित लाभांश एवं वायुयानों के प्रयोग करनेवाले यात्रियों की व्यय-शक्ति पर विचार कर ही किराये निश्चित किये जायें। साथ ही, हवाई कम्पनियों की आय पर सरकार द्वारा नियन्त्रण की सिफारिश की गयी। समिति ने सरकार द्वारा हवाई-यातायात को दी जानेवाली आर्थिक सहायता कम-से-कम 1952 ई० के अन्त तक चलाने की सिफारिश की।

### हवाई यातायात का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Air-Transport)

किन्तु हवाई-यातायात कम्पनियाँ स्वेच्छापूर्वक एकीकरण के लिए तैयार नहीं थीं, अतः कम्पनियों की चिन्ता-



जनक स्थिति को देखते हुए हवाई यातायात जाँच-समिति की सिफारिशों के विरुद्ध भारत सरकार ने इनके राष्ट्रीयकरण का निश्चय किया। इस उद्देश्य से 1953 ई० में एक वायु-यातायात निगम अधिनियम (Air Transport Corporation Act) पारित हुआ जिसके अनुसार 1 अगस्त, 1953 ई० को दो निगमों की स्थापना की गयी—(1) दि एयर इण्डिया इण्टरनेशनल—लम्बी दूरी की सेवाओं को प्रारम्भ करने के लिए, तथा (2) दी इण्डियन एयरलाइन्स कॉरपोरेशन जो आन्तरिक हवाई सेवाओं की व्यवस्था करती है। तब से देश में हवाई-यातायात का विकास उत्तरोत्तर हो रहा है। एयर इंडिया इण्टरनेशनल का विश्व के 24 मुख्य देशों से यातायात का सम्बन्ध है। 1969-70 ई० में इसके विमानों ने कुल 266.2 लाख किलोमीटर लम्बा उड़ान पूरा किया। एयर लाइन्स कॉरपोरेशन के वायुयान आन्तरिक सेवाओं के अतिरिक्त अफगानिस्तान, बर्मा तथा सीलोन भी जाते हैं। इसके विमानों ने 1969-70 ई० में 435.4 लाख किलोमीटर के लगभग उड़ान पूरा किया था। अप्रैल, 1955 ई० में हवाई निगम अधिनियम के अन्तर्गत आयोजित हवाई-यातायात परिषद् (Air Transport Council) की स्थापना भी की गयी।

भारत में हवाई-यातायात की प्रगति का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

|                                   | 1947  | 1956  | 1970  |
|-----------------------------------|-------|-------|-------|
| यात्रियों की संख्या (लाख में)     | 2.5   | 5.6   | 27.5  |
| माल की मात्रा (लाख किलोग्राम में) | 25.6  | 43.6  | 332.9 |
| डाक की मात्रा (लाख किलोग्राम में) | 6.40  | 57.5  | 120.9 |
| यात्रा (लाख किलोमीटर में)         | 150.7 | 377.9 | 676.8 |

प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल (First Five Year Plan) में हवाई-यातायात के विकास की मद में 7.14 करोड़ रुपये तथा द्वितीय योजनाकाल (Second Five Year Plan) में 15.91 करोड़ रुपये व्यय किया गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल (Third Five Year Plan) में इस मद में 49 करोड़ रुपये व्यय हुआ था। तृतीय योजना के प्रथम दो वर्षों में एयर इण्डिया की क्षमता में 61 प्रतिशत तथा इण्डियन एयर लाइन्स कारपोरेशन की क्षमता में 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

वार्षिक योजनाओं (Annual Plans) (1966-69) में इस मद में 67.9 करोड़ रुपये व्यय किया गया।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में इस मद में 202 करोड़ रुपये का व्यय प्रस्तावित था। योजनाकाल में इण्डियन एयर लाइन्स कारपोरेशन की क्षमता को 1968-69 में 224 मिलियन टन किलोमीटर से बढ़ाकर 1973-74 तक 292 मिलियन टन किलोमीटर तथा एयर इण्डिया की क्षमता को 1968-69 में 337 मिलियन टन किलोमीटर से बढ़ाकर 1973-74 तक 990 मिलियन टन किलोमीटर करने का आयोजन था।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan) में हवाई यातायात के विकास पर संशोधित कार्यक्रम के अनुसार 295 करोड़ रुपये का व्यय प्रस्तावित था। इसमें 1974 से 1977 के बीच 156 करोड़ रुपये व्यय हुआ तथा योजना के अन्तिम दो वर्षों में शेष 179 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था।

छठी योजना (Sixth Five Year Plan) (1978-83) में हवाई यातायात के विकास पर 700 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। योजनाकाल में Air India की क्षमता को 1977-78 में 119.6 करोड़ टन से बढ़ाकर 1982-83 में 203.4 करोड़ टन करने का आयोजन है। इसी प्रकार Indian Airlines की क्षमता को 1977-78 में 464.6 करोड़ टन से बढ़ाकर 1982-83 में 824.5 करोड़ टन करने का आयोजन है।

1973 ई० में भारतीय विमानों ने कुल मिलाकर लगभग 6.6 करोड़ किलोमीटर की उड़ान भरी और वे 33.6 लाख यात्रियों तथा लगभग 121.5 लाख किलोग्राम डाक तथा 231.7 लाख किलोग्राम माल लेकर एक दूसरे स्थान को गये।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. S. K. Srivastava : Transport Development in India.
2. Final Report of the Committee on Transport Policy and Co-ordination,
3. India 1976.
4. Fourth & Fifth Five Year Plans.
5. Draft Five Year Plan (1978-83)



## अध्याय : 46

### भारत का विदेशी व्यापार (Foreign Trade of India)

विकासशील अर्थ-व्यवस्था के लिए विदेशी व्यापार का महत्त्व (Importance of Foreign Trade for a Developing Economy)—किसी देश के आर्थिक विकास में विदेशी व्यापार का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। विदेशी व्यापार राष्ट्रीय आय की वृद्धि में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान करता है। विदेशी व्यापार की मात्रा की प्रकृति तथा बनावट का राष्ट्र के आर्थिक विकास की गति को निर्धारित करने में भी प्रभाव पड़ता है। इसीलिए रॉबर्टसन (Robertson) ने इसे 'विकास का अस्त्र' (Engine of growth) कहा है। इसी प्रकार किंडलबर्जर (Kindleberger) के अनुसार "जो देश विदेशी व्यापार में हिस्सा लेता है, वह तुलनात्मक लाभ के आधार पर विशिष्टता प्राप्त कर अपनी वास्तविक आय को अधिकतम बना सकता है।" (If a country is pulled into world trade, it can and should maximise its real income by specialising on lines of comparative advantages)<sup>1</sup> आर्थिक विकास की दृष्टि से आयात तथा निर्यात दोनों ही का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आयात के द्वारा ही कोई राष्ट्र यन्त्र, मशीन, कच्चे पदार्थ तथा तकनीकी जानकारी आदि, जो विदेशी व्यापार के लिए आवश्यक हैं, को विदेशों से प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक विकासशील देश को विकास की प्रारम्भिक स्थिति में निर्धनता के कुचक्र को तोड़ने के लिए विदेशों से बड़े पैमाने पर इन सामग्रियों के आयात की आवश्यकता पड़ती है। आयात द्वारा ही विकासशील राष्ट्र विदेशों से विभिन्न प्रकार के यन्त्र, विदेशी पूँजी तथा विदेशी जानकारी आदि प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार निर्यात का भी आर्थिक विकास में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। विदेशों को अत्यधिक मात्रा में निर्यात करने से बड़े पैमाने पर विदेशी मुद्रा प्राप्त की जा सकती है जिसका प्रयोग विदेशों से अधिकाधिक सामान के आयात करने में किया जाता है। स्वयं प्रो० लुइस (Lewis) ने निर्यात के महत्त्व की चर्चा करते हुए लिखा है कि "Export industries by stealing from home industries, at the same time as they create the more demand for these industries, stimulate the home industries into innovations designed to increase their productivity."

### प्रथम महायुद्ध एवं उसके बाद का विदेशी व्यापार

#### (India's Foreign Trade during and after the First World War)

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चौदह वर्षों में विशेषतः 1905 ई० के उपरान्त भारत के विदेशी व्यापार में आश्चर्यजनक गति से वृद्धि हुई। जैसा कि वेरा ऐन्स्टे (Vera Anste) ने लिखा है—“बीसवीं शताब्दी के प्रथम 14 वर्षों में भारत के विदेशी व्यापार में बड़ी उन्नति हुई। यद्यपि प्रथम महायुद्ध के पूर्व भारत का अधिकांश व्यापार इंग्लैंड के साथ ही होता था, तथापि भारत के विदेशी व्यापार में जापान एवं संयुक्त राज्य अमेरिका का महत्त्व भी बढ़ते जा रहा था।” किन्तु, देश के विदेशी व्यापार पर प्रथम महायुद्ध का बड़ा ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ा तथा आयात एवं निर्यात दोनों की मात्रा में कमी होने लगी। युद्धकाल में विदेशी व्यापार में कमी के विभिन्न कारण थे। इनमें युद्धकालीन व्यावसायिक प्रतिबन्ध, शत्रु-राष्ट्रों के साथ व्यापार की समाप्ति, यातायात-सम्बन्धी कठिनाइयाँ, तटस्थ देशों के साथ व्यापार पर प्रतिबन्ध आदि प्रमुख थे। युद्धकाल में आयात व्यापार में विशेष रूप से कमी हुई और यह कमी निरन्तर बनी रही। निर्यात व्यापार में युद्ध के प्रथम वर्ष में कमी अवश्य हुई, किन्तु पुनः निर्यात अपनी पूर्व स्थिति में आने लगा। युद्धकाल की सबसे बड़ी विशेषता निर्मित वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि थी। भारत से निर्यात की जानेवाली वस्तुओं में निर्मित वस्तुओं का प्रतिशत 1913-14 ई० में 22.4 प्रतिशत से बढ़कर 1918-19 ई० में 36.6 प्रतिशत हो गया।

प्रथम महायुद्ध समाप्त होने के बाद 1919-20 ई० में हमारा व्यापारिक संतुलन अनुकूल (favourable) था। किन्तु यह स्थिति बिल्कुल अस्थायी थी तथा दूसरे वर्ष से ही हमारा व्यापारिक संतुलन प्रतिकूल होने लगा। 1920-21 ई० तथा 1921-22 ई० में भारत का व्यापारिक संतुलन क्रमशः 70.8 करोड़ रुपये तथा 33.8 करोड़ रुपये से प्रतिकूल रहा। यह मंदी 1922-23 ई० में समाप्त हो गयी तथा पुनः पुनरुत्थान दृष्टिगोचर होने लगा। धीरे-धीरे

1, C. P. Kindleberger : Economic Development, p. 238.



## भारतीय अर्थशास्त्र

विदेशी व्यापार की स्थिति सामान्य स्तर पर पहुँचने लगी तथा 1929-30 ई० तक व्यापार की गति सन्तोषजनक रही।

विश्व व्यापी आर्थिक मन्दी एवं भारत

का विदेशी व्यापार  
(India's Foreign Trade during  
the Great Economic Depression)

1929-30 की भयानक आर्थिक मन्दी का भारत के विदेशी व्यापार पर बड़ा ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। कृषि-प्रधान देश होने के कारण इस मन्दी का भारत की आर्थिक स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा तथा निर्यात की मात्रा में बहुत कमी आ गयी। इसका प्रमुख कारण यह था कि निर्यात की प्रधान सामग्री कच्चा माल एवं कृषि-पदार्थ थे जिनके मूल्य में निर्यात वस्तुओं की अपेक्षा बहुत अधिक कमी हुई। मन्दी की यह स्थिति 1932 ई० तक इसी प्रकार से बनी रही। इसी बीच जापानी प्रतियोगिता बढ़ती जा रही थी जिसे रोकने के लिए सरकार ने जापानी वस्तुओं के आयात पर करों में वृद्धि की। साथ ही, 1932 ई० के ओटावा समझौते के अनुसार इंग्लैंड की बनी वस्तुओं को भारतीय बाजार में प्राथमिकता दी जाने लगी। इन सब कारणों से भारत का व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल होता गया। 1933-34 ई० में मूल्य में पुनः वृद्धि की प्रवृत्ति आरम्भ हुई जो 1936-37 ई० तक उत्तरोत्तर बनी रही, किन्तु पुनः अमेरिका में 1937-38 ई० से मन्दी प्रारम्भ हुई जिसका भारत के विदेशी व्यापार पर प्रभाव पड़ने लगा। यह मन्दी अत्यधिक परिकल्पना (Speculation) का परिणाम थी। इसके फलस्वरूप, कृषि-पदार्थों का मूल्य तेजी से घटने लगा। जून, 1938 ई० तक यह प्रवृत्ति बनी रही। इसके बाद पुनः व्यावसायिक क्रियाशीलता बढ़ने लगी। इसका प्रमुख कारण विश्व के अधिकांश देशों में युद्ध की तैयारी पर अत्यधिक व्यय था। 1939 ई० में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ जिसका प्रभाव देश के विदेशी व्यापार पर बहुत अधिक पड़ा।

भारत के विदेशी व्यापार की संरचना (Composition) में दोनों महायुद्धों के बीच स्पष्ट रूप से परिवर्तन दृष्ट पड़ने लगा है। आयात की जानेवाली वस्तुओं में तैयार माल का प्रतिशत धीरे-धीरे कम होने लगा तथा कच्चे पदार्थों एवं खाद्यान्नों का प्रतिशत बढ़ने लगा जो निम्नांकित तालिका से विल्कुल स्पष्ट हो जाता है :—

भारत में आयात की जानेवाली वस्तुएँ

| वस्तुएँ                     | कुल आयात का प्रतिशत में<br>1920-21 | 1938-39 |
|-----------------------------|------------------------------------|---------|
| खाद्यान्न, पेय एवं ताम्बाकू | 11.0                               | 15.7    |
| कच्चा पदार्थ                | 5.0                                | 21.7    |
| तैयार माल                   | 84.0                               | 62.6    |
| कुल                         | 100.0                              | 100.0   |

आयात की संरचना में इस परिवर्तन के प्रमुख कारणों में बर्मा का भारत से पृथक् होना था जिससे बर्मा का चावल भारत में आयात के रूप में आने लगा। साथ ही, देश में उद्योग-धन्धों के विकास के फलस्वरूप कच्चे माल के आयात में भी पर्याप्त वृद्धि हुई।

किन्तु, इस अवधि में देश के निर्यात की संरचना में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसमें निर्मित वस्तुओं की अपेक्षा खाद्यान्न एवं कच्चे पदार्थों की प्रधानता बनी रही। निम्नांकित तालिका से दोनों महायुद्ध के बीचवाले समय में भारत के निर्यात की संरचना का अन्दाजा लगता है :—

भारत से निर्यात की जानेवाली वस्तुएँ

| वस्तुएँ                     | कुल निर्यात के प्रतिशत में<br>1920-21 | 1938-39 |
|-----------------------------|---------------------------------------|---------|
| खाद्यान्न, पेय एवं ताम्बाकू | 28.0                                  | 27.8    |
| कच्चा माल                   | 35.0                                  | 34.1    |
| तैयार माल                   | 37.0                                  | 38.1    |
| कुल                         | 100.0                                 | 100.0   |

दोनों महायुद्धों के बीचवाले समय में भारत के विदेशी व्यापार की दिशा (direction) में धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा था। प्रथम महायुद्ध के पूर्व 1913-14 ई० में भारत के कुल आयात का प्रायः 64.1 प्रतिशत इंग्लैंड, 6.9 प्रतिशत जर्मनी, 5.8 प्रतिशत जापान तथा 2.6 प्रतिशत संयुक्त राज्य से आता था। युद्ध के बाद इंग्लैंड का महत्त्व धीरे-धीरे कम होने लगा तथा इसे भारतीय बाजार में जर्मनी जापान एवं अमेरिका आदि देशों की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। फलस्वरूप, भारत के आयात व्यापार में इंग्लैंड का हिस्सा घटकर 1933-34 में 41.7 प्रतिशत तथा 1938-39 ई० में 25.2 प्रतिशत हो गया। युद्धोत्तर काल में, विशेषतः 1923-24 ई० के बाद जर्मनी के साथ भारत का व्यापार आश्चर्यजनक गति से बढ़ रहा था। इसी प्रकार निर्यात व्यापार में भी इंग्लैंड का हिस्सा धीरे-धीरे घट रहा था।

द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व भारत के विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषताएँ (Main Characteristics of India's Foreign Trade before the World War II) :—द्वितीय विश्व-युद्ध (1939-45) के पूर्व भारत के विदेशी व्यापार की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ थीं :—

(1) निर्यात में कच्चे माल एवं कृषि पदार्थों की प्रधानता (Preponderance of raw materials and agricultural goods in export) :—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत मुख्य रूप से कच्चे पदार्थों एवं खाद्यान्नों का निर्यातक देश था। कच्चे पदार्थों के अन्तर्गत मैंगनीज, अभ्रक, क्रोमाइट आदि की प्रधानता थी तथा कृषि-पदार्थों में गेहूँ, पाट, चाय आदि प्रधान थे। किन्तु प्रथम



महायुद्ध के बाद देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण खाद्य-पदार्थों का निर्यात धीरे-धीरे घटने लगा और द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद तो प्रति वर्ष भारत को अरबों रुपये के खाद्यान्न का विदेशों से आयात करना पड़ता है।

(2) आयात में तैयार वस्तुओं की प्रधानता (Preponderance of manufactured goods in imports) :—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत मुख्य रूप से निम्न वस्तुओं का आयातक था। इनमें मशीन एवं यन्त्रादि, मोटर, साइकिल, रेलवे इंजन, दवा तथा रासायनिक पदार्थ प्रमुख थे।

(3) व्यापारिक संतुलन का अनुकूल होना (Favourable Balance of Trade) :—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत का विदेशी व्यापार साधारणतया इसके अनुकूल रहता था, यानी आयात से अधिक निर्यात होता था। किन्तु जो अनुकूल व्यापाराधिक्य की रकम थी, वह सोने अथवा चांदी के रूप में नहीं प्राप्त होती था, वरन् गृह-प्रभार (Home Charges) तथा विदेशी कर्मचारियों के वेतन एवं पेन्शन आदि के रूप में पुनः बाहर चली जाती थी। अतएव, इस अनुकूल व्यापारिक संतुलन से भारत को कोई विशेष आर्थिक लाभ नहीं होता था।

(4) विदेशी व्यापार में इंग्लैंड की प्रधानता :—द्वितीय युद्ध के पूर्व भारत के विदेशी व्यापार-आयात तथा निर्यात दोनों में इंग्लैंड की प्रधानता थी। कुल विदेशी व्यापार का अधिकांश भाग इंग्लैंड के साथ होता था।

### द्वितीय युद्धकाल (1939-45) में भारत का विदेशी व्यापार (India's Foreign Trade during the Second World War)

सितम्बर, 1939 ई० में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में द्वितीय युद्ध का भारत के विदेशी व्यापार पर बड़ा ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। युद्ध के फलस्वरूप शत्रु-राष्ट्रों से व्यापार बिल्कुल समाप्त हो गया। तटस्थ राष्ट्रों के साथ व्यापार में भी कई तरह की रुकावटें आ गयीं तथा मध्य-पूर्वी एशियाई देशों के साथ ही व्यापारिक सम्बन्ध रह गया। इन देशों के साथ व्यापार करने में भी जहाज की बहुत अधिक असुविधा होती थी। जर्मनी, इटली तथा जापान के युद्ध में प्रवेश के बाद तो विश्व के प्रायः सभी प्रमुख सामुद्रिक मार्ग अरक्षित हो गये जिससे जहाजों के किराये तथा बीमा की दरों में भी पर्याप्त वृद्धि हो गयी। सरकार द्वारा भी आयात-निर्यात पर तरह-तरह के नियन्त्रण लगाये। इन सबके फलस्वरूप देश का व्यापार बिल्कुल विस्थापित एवं विकृत हो उठा।

किन्तु, युद्धकाल में इंग्लैंड तथा मित्र-राष्ट्रों में भारतीय वस्तुओं की मांग धीरे-धीरे बढ़ने लगी। भारत में

बहुत-सा-खाद्यान्न कच्चा पदार्थ तथा कुछ निर्मित वस्तुओं का निर्यात इंग्लैंड एवं अमेरिका में बड़ी मात्रा में किया जाने लगा। संयुक्त राज्य अमेरिका को अपने पूर्वी यौद्धिक मोर्चे के लिए भारत से सामग्री प्राप्त करना बड़ा ही सरल था। मध्य-पूर्वी एशियाई तथा अफ्रीकी देश में भी यूरोपीय पूर्ति घट जाने से भारतीय वस्तुओं की मांग बढ़ गयी और इस प्रकार भारत को एक बहुत अच्छा बाजार मिल गया। इसके विपरीत इंग्लैंड तथा अमेरिका के युद्ध में संलग्न रहने के कारण भारत का इन देशों से आयात घट गया। अतएव, युद्धकाल में आयात की अपेक्षा निर्यात में ही अधिक वृद्धि हुई; इसलिए व्यापारिक संतुलन (Balance of Trade) सदा अनुकूल ही रहा और पौंड पावने (Sterling Balances) की रकम बहुत अधिक जमा हुई।

निम्नांकित तालिका से द्वितीय युद्धकाल में भारत के अनुकूल व्यापाराधिक्य का अन्दाज लगाया जा सकता है :—

### भारत का व्यापारिक शेष (करोड़ रुपये में)

| वर्ष    | व्यापाराधिक्य |
|---------|---------------|
| 1939-40 | + 175         |
| 1940-41 | + 42          |
| 1941-42 | + 80          |
| 1942-43 | + 84          |
| 1943-44 | + 92          |
| 1944-45 | + 42          |

### द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत का विदेशी व्यापार (India's Foreign Trade after the Second World War)

द्वितीय विश्व-युद्ध समाप्त होने के बाद भारत के विदेशी व्यापार की रूप-रेखा में आमूल परिवर्तन हुआ। युद्ध के बाद विदेशी वस्तुओं की मांग बढ़ने लगी जिससे इनके आयात में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। युद्धकाल की असामान्य परिस्थितियों में बाहर से वस्तुएँ मँगाना बहुत कठिन हो गया था, किन्तु युद्ध समाप्त होते ही उपभोक्ता तथा पूँजीगत दोनों प्रकार के मालों की मांग बढ़ने लगी। साथ ही युद्धकाल से ही देश में खाद्यान्न के भीषण अभाव की समस्या उपस्थित हो गयी थी जिसे दूर करने के लिए विदेशों से बहुत अधिक मात्रा में अन्न के आयात की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार युद्ध के बाद आयात में अधिक वृद्धि हुई, किन्तु निर्यात में इस दर से वृद्धि नहीं हो पायी। फलस्वरूप भारत का व्यापारिक संतुलन इसके विपक्ष में होने लगा जो निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है :—



## व्यापारिक सन्तुलन (करोड़ रुपये में)

| वर्ष | आयात | निर्यात | व्यापाराधिक्य |
|------|------|---------|---------------|
| 1945 | 232  | 229     | —3            |
| 1946 | 292  | 269     | —23           |
| 1947 | 334  | 320     | —14           |
| 1948 | 470  | 428     | —42           |

इस प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन के फलस्वरूप देश में युद्धोत्तरकाल में विदेशी विनिमय की कठिनाइयाँ उपस्थित हो गयीं। भुगतान संतुलन को ठीक करने के लिए विदेशी व्यापार पर तरह-तरह के नियन्त्रण लगाये गये। वास्तव में, युद्धोत्तरकाल में आयात-नियन्त्रण तथा निर्यात-प्रोत्साहन भारतीय व्यापार-व्यवस्था के सामान्य अंग हो गये। प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन के कारण विदेशी विनिमय की कठिनाइयाँ भी बहुत बढ़ गयीं जिन्हें दूर करने के लिए भारत को द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते (Bilateral Trade Agreements) तथा विनिमय-नियन्त्रण आदि उपायों को भी अपनाना पड़ा।

देश-विभाजन एवं विदेशी व्यापार (Partition of the Country and Foreign Trade) :—देश-विभाजन ने भारत की विदेशी व्यापार-सम्बन्धी कठिनाइयों को और भी बढ़ा दिया। विभाजन का देश की आर्थिक व्यवस्था पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। देश-विभाजन के परिणामस्वरूप जूट, कपास तथा गेहूँ उपजानेवाले अधिकांश क्षेत्रों के पाकिस्तान में चले जाने से भारत के विदेशी व्यापार के ढाँचे में आमूल परिवर्तन हो गया। विभाजन के पूर्व भारत जूट एवं कपास का मुख्य रूप से निर्यातक देश था, किन्तु विभाजन के बाद यह इनका आयातक बन गया। अविभाजित भारत के कुल जूट उत्पन्न करनेवाले क्षेत्र का केवल 22 प्रतिशत भाग भारत को मिला जबकि जूट के प्रायः सभी कारखाने भारत में ही रह गये। विभाजन के फलस्वरूप भारत को कपास, विशेषतः लम्बी रेशे-वाली कपास के अभाव का भी सामना करना पड़ा। देश में खाद्यान्न की पूर्ति पर विभाजन का स्पष्ट रूप से प्रभाव पड़ा। विभाजन के फलस्वरूप देश में निर्यात की अपेक्षा आयात में बहुत अधिक वृद्धि हुई जिससे व्यापारिक संतुलन अत्यधिक प्रतिकूल हो गया।

1949 ई० का अवमूल्यन एवं भारत का विदेशी व्यापार (Devaluation of 1949 and India's Foreign Trade) :—18 सितम्बर, 1949 ई० को इंग्लैंड ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया। भारत ने भी 19 सितम्बर, 1949 ई० को अपने रुपये का अवमूल्यन किया, किन्तु पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया। अवमूल्यन के फलस्वरूप भारतीय वस्तुओं

का विदेशी बाजार में मूल्य घट गया जिससे भारत के निर्यात व्यापार को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। अवमूल्यन के साथ ही कोरियाई युद्ध ने भी जोर पकड़ा जिससे अमेरिका तथा इंग्लैंड आदि देशों ने संग्रहीकरण (Stock-piling) प्रारम्भ कर दिया। इन सब कारणों से भारतीय वस्तुओं की मांग विदेशों में बढ़ने लगी जिससे देश के निर्यात व्यापार को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला। इससे व्यापाराधिक्य की प्रतिकूलता में भी कमी हुई। फलस्वरूप विदेशी व्यापार की प्रतिकूलता 1949-50 ई० में 85 करोड़ रुपये से घट कर 1950-51 में 50 करोड़ रुपये हो गयी। अतः अवमूल्यन के फलस्वरूप व्यापाराधिक्य की प्रतिकूलता में संतोषजनक कमी हुई।<sup>1</sup>

किन्तु पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया। इसका भारत के विदेशी व्यापार पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। इससे पाकिस्तान की वस्तुओं की कीमत भारतीय बाजारों में बढ़ गयी जिससे भारत को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। साथ ही अवमूल्यन के लाभ स्थायी नहीं सिद्ध हुए तथा कुछ ही समय बाद समाप्त हो गये। कोरियाई युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में भी पर्याप्त मात्रा में सुधार हुआ तथा युद्ध की सामग्री का संग्रहीकरण प्रायः बन्द हो गया। इससे विदेशों में भारतीय वस्तुओं की मांग घट गयी। अतएव, निर्यात में पुनः ह्रास होने लगा। इसी बीच देश में खाद्यान्नों का आयात निरन्तर बढ़ता गया। इन सब कारणों से भारत का व्यापारिक संतुलन पुनः इसके प्रतिकूल होने लगा। साथ ही, पंचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए यन्त्र आदि का अधिक मात्रा में आयात करना पड़ा। इससे व्यापारिक संतुलन की स्थिति बहुत बिगड़ गयी। अतः सरकार को आयात पर कठोर नियन्त्रण लगाना पड़ा। इसी बीच सरकार द्वारा देश में निर्यात को बढ़ाने के लिए भी तरह-तरह के प्रोत्साहन दिये जाने लगे। संयोगवश, देश में खाद्यान्न के उत्पादन में भी आशाजनक वृद्धि हुई जिससे स्थिति में बहुत कुछ सुधार हो गया। फलस्वरूप 1953-54 ई० से व्यापारिक संतुलन की प्रतिकूलता घटने लगी। 1955-56 ई० तक व्यापारिक संतुलन की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। किन्तु, इसके बाद स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण से सम्बन्धित आर्थिक एवं राजनीतिक कठिनाइयों ने हमारी स्थिति को पुनः गम्भीर बना दिया। फलस्वरूप, हमारे आयात के मूल्य में बहुत अधिक वृद्धि हुई। साथ ही, 1956-57 ई० से द्वितीय योजना को कार्यान्वित करने के लिए विदेशों से बहुत अधिक मात्रा में आयात की आवश्यकता पड़ी। 1957-58 ई० से देश में पुनः खाद्य-संकट की स्थिति उत्पन्न हो गयी जिसके फलस्वरूप अधिक मात्रा में खाद्यान्न का आयात

1 पाकिस्तान ने अगस्त, 1955 ई० में अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया जिसके बाद भारत और पाकिस्तान के रुपये का मूल्य पुनः बराबर हो गया।



करना पड़ा। इससे व्यापारिक संतुलन की प्रतिकूलता बहुत बढ़ गयी। अतः, भारत सरकार ने 1957 ई० से आयात पर कठोर नियन्त्रण लगा दिया तथा निर्यात को प्रोत्साहित करने के प्रयत्न किये जाने लगे; किन्तु इससे व्यापारिक संतुलन में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ।

### भारत के वर्तमान विदेशी व्यापार की प्रधान विशेषताएँ

(Main Characteristics of India's Present Day Foreign Trade)

द्वितीय महायुद्ध एवं स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत के विदेशी व्यापार में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इनमें से कुछ परिवर्तन हमारी आर्थिक स्थिति से तथा कुछ राजनीतिक परिस्थितियों से सम्बन्धित हैं। राजनीतिक परिस्थितियों में स्वतन्त्रता-प्राप्ति तथा देश-विभाजन का भारत के विदेशी व्यापार पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इसी प्रकार विदेशी व्यापार को प्रभावित करनेवाले आर्थिक कारणों में भारतीय रुपये का अवमूल्यन, आयात-निर्यात नियन्त्रण की नीति का प्रारम्भ तथा पंचवर्षीय योजनाएँ आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

भारत के वर्तमान विदेशी व्यापार की निम्नलिखित प्रधान विशेषताएँ हैं :—

1. व्यापारिक संतुलन का विपक्ष में होना (Unfavourable Balance of Trade);
2. विदेशी व्यापार की दिशा में परिवर्तन (Changes in the direction of India's Foreign Trade);
3. विदेशी व्यापार की संरचना में परिवर्तन (Changes in the composition of India's Foreign Trade);
4. विदेशी व्यापार पर सरकारी नियन्त्रण का आधिक्य (Increasing Govt. control over Foreign Trade);
5. भारत के विदेशी व्यापार के मूल्य एवं मात्रा में वृद्धि (Increase in the volume and Value of India's Foreign Trade); तथा
6. विश्व-व्यापार में भारत का घटता हुआ भाग (Gradually declining share of India's Foreign Trade in the World Trade)।

अब इन विशेषताओं की सविस्तर व्याख्या नीचे प्रस्तुत की जा रही है।

#### 1. व्यापारिक संतुलन का विपक्ष में होना (Unfavourable Balance of Trade)

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत का व्यापारिक संतुलन

मुख्यतः इसके अनुकूल ही रहता था। किन्तु युद्ध के बाद विभिन्न कारणों से हमारा व्यापारिक संतुलन भारत के प्रतिकूल होने लगा। निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> से यह स्पष्ट है :—

#### भारत का व्यापारिक संतुलन (करोड़ रुपये में)

| वर्ष    | आयात | निर्यात | व्यापाराधिक्य |
|---------|------|---------|---------------|
| 1950-51 | 650  | 600     | —50           |
| 1955-56 | 7741 | 608     | —166          |
| 1960-61 | 1122 | 642     | —480          |
| 1965-66 | 1368 | 785     | —583          |
| 1970-71 | 1634 | 1535    | —99           |
| 1972-73 | 1847 | 1971    | + 104         |
| 1975-76 | 5265 | 4023    | —1222         |
| 1976-77 | 5074 | 5143    | + 69          |

इस प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश का व्यापारिक संतुलन निरन्तर इसके प्रतिकूल रहा है। इस प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन के निम्नांकित प्रधान कारण हैं :—

(क) देश-विभाजन का प्रतिकूल प्रभाव (Adverse Effects of the Partition) :—देश-विभाजन का हमारे व्यापारिक संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। विभाजन के पूर्व भारत से निर्यात की जानेवाली वस्तुओं में जूट एवं कपास का महत्वपूर्ण स्थान था, किन्तु विभाजन के फलस्वरूप हम इनका बहुत बड़ी मात्रा में आयात करने लगे हैं। उदाहरण के लिए, 1952 ई० में भारत को 115.4 करोड़ रुपये मूल्य की कपास तथा 23.5 करोड़ रुपये मूल्य के कच्चे जूट का आयात करना पड़ा था। इससे भारत के विदेशी व्यापार पर विभाजन का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है।

(ख) अत्यधिक मात्रा में खाद्यान्नों का आयात (Excessive import of Foodgrains) :—व्यापारिक संतुलन के विपक्ष में होने का दूसरा महत्वपूर्ण कारण खाद्यान्नों का अत्यधिक मात्रा में आयात है। वर्मा के भारत से पृथक् होने के फलस्वरूप देश में खाद्यान्नों की मात्रा में बहुत कमी आ गयी। देश-विभाजन ने तो हमारे खाद्यान्न के अभाव को और भी बढ़ा दिया है। इसी बीच देश की जनसंख्या में प्रतिवर्ष प्रायः 1 करोड़ से भी अधिक के हिसाब से वृद्धि होने लगी है। इन सब कारणों से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हमें प्रतिवर्ष बहुत बड़ी मात्रा में खाद्यान्न का आयात करना पड़ा। इस प्रकार जबकि 1946 ई० में हमने केवल 15.3 करोड़ रुपये के खाद्यान्न का आयात किया था; 1952 ई० में खाद्य-संकट के फल-स्वरूप हमें 175 करोड़ रुपये के चावल एवं गेहूँ का



आयात करना पड़ा। द्वितीय योजना काल में खाद्यान्न के अभाव की स्थिति प्रायः इसी प्रकार बनी रही। 1965-66 ई० में तो देश में कुल 309 करोड़ रुपये, 1966-67 में 651 करोड़ रुपये तथा 1967-68 ई० में 518 करोड़ रुपये मूल्य के खाद्यान्न का आयात किया गया था। इस प्रकार 1951 से 1968 तक 3700 करोड़ रुपये के खाद्यान्न का विदेशों से आयात किया गया था। 1972-73 ई० खाद्यान्न का आयात घटकर 80.8 करोड़ रुपये हो गया था, किन्तु पुनः उसके बाद खराब फसल के कारण इसमें वृद्धि होने लगी तथा 1973-74 में 473 करोड़ रुपये एवं 1974-75 में 764 करोड़ रु० के खाद्यान्न का देश में आयात करना पड़ा।

(ग) यन्त्र एवं अन्य उपकरणों के आयात में वृद्धि (Increase in the import of Plants and Machinery):—व्यापारिक संतुलन के विपक्ष में होने का तीसरा महत्वपूर्ण कारण द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद यन्त्रों के आयात में अत्यधिक वृद्धि है। युद्धकाल में मशीनों का आयात प्रायः बन्द रहा, अतः युद्ध समाप्त होते ही पुरानी मशीनों के प्रतिस्थापन तथा नये कारखानों की स्थापना के लिए बहुत अधिक मात्रा में मशीनों का आयात किया जाने लगा। आजकल तो पंचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए मशीनों का और भी अधिक मात्रा में आयात करना पड़ता है। इस प्रकार जहाँ 1938 ई० में केवल 20 करोड़ रुपये की मशीनों का आयात हुआ था, वहाँ 1952 ई० में प्रायः 92 करोड़ रुपये, 1955-56 ई० में 164.3 करोड़ रुपये, 1966-67 ई० में 791.2 करोड़ रुपये तथा 1973-74 ई० में 629 करोड़ रुपये तथा 1974-75 में 547 करोड़ रु० की मशीनों एवं अन्य पूंजीगत वस्तुओं का आयात करना पड़ा था।

इन सब कारणों से द्वितीय महायुद्ध के बाद हमारा व्यापारिक संतुलन निरन्तर हमारे प्रतिकूल होने लगा। यद्यपि आयात पर कठोर नियन्त्रण के कारण केवल आवश्यक सामग्रियों का ही आयात किया जाता है, फिर भी आयात का मूल्य निर्यात की अपेक्षा बहुत अधिक रहा है। सितम्बर, 1949 ई० में रुपये के अवमूल्यन से इस स्थिति में निस्सन्देह कुछ सुधार हुआ तथा व्यापारिक संतुलन की प्रतिकूलता में भी कुछ कमी हुई, किन्तु यह कमी यह बिल्कुल अस्थायी थी। द्वितीय योजना के प्रारम्भिक वर्षों से तो हमारा व्यापारिक संतुलन और भी प्रतिकूल होने लगा। जून, 1966 ई० के अवमूल्यन का भी व्यापारिक संतुलन पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा। वास्तव में, भारत का व्यापारिक असंतुलन मूल्य-सम्बन्धी और मात्रा-सम्बन्धी दोनों ही प्रकार का है। मात्रा-सम्बन्धी असंतुलन देश-विभाजन एवं खाद्यान्नों के अभाव के कारण हुआ क्योंकि विभाजन के बाद हमें खाद्यान्न, जूट एवं कपास का बहुत बड़ी मात्रा में आयात करना पड़ा।

सरकार द्वारा व्यापारिक असंतुलन को रोकने के प्रयास (Government efforts to correct the unfavourable Balance of Trade):—भारत सरकार द्वारा व्यापारिक संतुलन की प्रतिकूलता को रोकने के लिए बहुत अधिक प्रयत्न किये गये जिनमें निम्न-लिखित विशेष महत्त्व के हैं:—

(क) आयात पर कठोर नियन्त्रण (Import Control):—सर्वप्रथम तो सरकार द्वारा आयात पर तरह-तरह के नियन्त्रण लगाये गये। आवश्यक वस्तुओं के आयात पर रोक लगा दी गयी तथा किसी भी वस्तु के आयात के लिए सरकार से लाइसेंस लेना अनिवार्य बना दिया गया। आयात-नियन्त्रण की इस नीति के अन्तर्गत केवल आवश्यक वस्तुओं के आयात की ही अनुमति दी जाती है।

(ख) भारतीय रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of the Indian Rupee):—निर्यात की मात्रा को बढ़ाने तथा आयात को कम करने के लिए सितम्बर, 1949 ई० में भारत सरकार द्वारा रुपये का अवमूल्यन किया गया। इससे हमारे निर्यात को विशेषतः डॉलर क्षेत्र में बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला तथा व्यापारिक संतुलन की प्रतिकूलता भी कुछ कम हुई, किन्तु अवमूल्यन का प्रभाव बिल्कुल अस्थायी था। साथ ही, पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया जिससे हमारी कठिनाइयाँ कुछ बढ़ गयीं। पुनः 6 जून, 1966 को सरकार ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया। किन्तु इसका भी इच्छित परिणाम नहीं हो सका। अवमूल्यन की सविस्तार व्याख्या आगे चल कर एक पृथक् अध्याय में की गयी है।

(ग) निर्यात को प्रोत्साहन (Export Promotion):—निर्यात को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से सरकार द्वारा बहुत से प्रयत्न किये जा रहे हैं। उदाहरण के लिए, सरकार ने कुछ प्रमुख वस्तुओं पर से निर्यात-शुल्क को कम कर दिया है। साथ ही, निर्यात बढ़ाने के लिए निर्यात विकास परिषदों (Export Promotion Councils) का संगठन किया गया है। इधर निर्यात बढ़ाने के प्रयत्नों में सरकार को पर्याप्त सफलता भी मिली है। किन्तु जून, 1966 ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के बाद प्रायः अधिकांश निर्यात-प्रोत्साहन को समाप्त कर दिया गया।

(घ) खाद्यान्न, जूट तथा कपास की खेती को प्रोत्साहन प्रदान करना:—देश में खाद्यान्न, जूट तथा कपास की खेती को प्रोत्साहित किया जाने लगा है जिससे इनके उत्पादन में देश आत्म-निर्भर बन सके। कपास तथा जूट के सम्बन्ध में हमारी विदेशों पर निर्भरता कुछ कम अवश्य हुई है, किन्तु खाद्य-संकट की स्थिति में 1967-68 तक कोई संतोषजनक सुधार नहीं हो पाया था। परन्तु अब देश में हरी क्रांति (Green Revolution) का सूत्रपात हुआ जिससे 1972-73 में बहुत कमी आ गयी।



थी, किन्तु उसके बाद खराब फसल के कारण पुनः इसमें वृद्धि होने लगी है।

इस प्रकार व्यापारिक संतुलन की प्रतिकूलता को कम करने के लिए सरकार द्वारा बहुत सारे प्रयत्न किये जा रहे हैं। किन्तु इन प्रयत्नों में अभी कोई विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो पायी है तथा 1966-67 ई० में भारत का विदेशी व्यापारिक संतुलन 892 करोड़ रुपये से प्रतिकूल था। किन्तु पिछले दो वर्षों से निर्यात में धीरे-धीरे वृद्धि हो रही है जिसके फलस्वरूप 1969-70 में व्यापारिक प्रतिकूलता घटकर 178.4 करोड़ रुपये हो गयी। इसी प्रकार 1972-73 में व्यापारिक संतुलन 251 करोड़ रुपये से प्रतिकूल था। इससे जान पड़ता है कि विदेशी व्यापार संतुलन की प्रतिकूलता में कमी हो रही है। 1976-77 में तो निर्यात में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई जिससे व्यापारिक प्रतिकूलता में कमी हुई है।

## 2. विदेशी व्यापार की दिशा में परिवर्तन

(Changes in the Direction of India's Foreign Trade)

युद्धोत्तर काल में भारत के विदेशी व्यापार की दूसरी प्रमुख विशेषता इसकी दिशा में परिवर्तन है। द्वितीय युद्ध के पूर्व भारत के विदेशी व्यापार में ब्रिटेन तथा ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल के देशों (Commonwealth Countries) की प्रधानता थी। किन्तु, युद्धोत्तर काल में ब्रिटेन का महत्त्व धीरे-धीरे घटने लगा तथा भारत का डॉलर-क्षेत्र (Dollar area), विशेषतः संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ व्यापार बढ़ने लगा है। निर्यात की तुलना में ब्रिटेन से आयात में बहुत अधिक कमी हुई।

विदेशी व्यापार की दिशा में परिवर्तन का प्रमुख कारण हमारे आयात-व्यापार में संयुक्त राज्य अमेरिका का बढ़ता हुआ महत्त्व है। युद्धोत्तर काल में देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक वस्तुओं, जैसे—मशीन, औजार ईंजन, परिशोधन यन्त्र आदि का आयात मुख्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका से ही हो रहा है। साथ ही, देश में खाद्यान्न की समस्या के समाधान के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका से बहुत अधिक मात्रा में गेहूँ का आयात भी करना पड़ा। इसके फलस्वरूप हमारे आयात व्यापार में संयुक्त राज्य अमेरिका का महत्त्व बहुत बढ़ गया। संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ-साथ पश्चिमी जर्मनी से आयात में भी वृद्धि हुई है। 1966-67 ई० भारत ने संयुक्त राज्य अमेरिका से कुल 771 करोड़ रुपये, युनाइटेड किंगडम से 164 करोड़ रुपये तथा पश्चिमी जर्मनी से 161 करोड़ रुपये की वस्तुओं का आयात किया गया था। 1943-44 ई० में भारत के कुल आयात का 61.4 प्रतिशत भाग इंग्लैंड से प्राप्त होता था जो 1965-66 ई० में घटकर 10.7 प्रतिशत हो गया। 1965-66 ई० में भारत के आयात-व्यापार में ब्रिटेन एवं अमेरिका का भाग क्रमशः 10.7

प्रतिशत तथा 37.7 प्रतिशत था। इनके अतिरिक्त जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, जापान तथा कनाडा आदि देशों से पूंजीगत मालों तथा बर्मा, आस्ट्रेलिया, पाकिस्तान आदि देशों से भी खाद्यान्न एवं कच्चे पदार्थ का आयात किया जाता है। भारत का आजकल रूस, युगोस्लाविया, पोलैंड, हंगरी आदि साम्यवादी देशों से भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया है। इससे स्पष्ट है कि देश के आयात-व्यापार में आज इंग्लैंड का महत्त्व कम तथा संयुक्त राज्य अमेरिका का स्थान प्रथम हो गया है।

भारत के निर्यात व्यापार के साथ भी यही बात आती है। 1938-39 ई० के निर्यात व्यापार में ब्रिटेन का भाग 34.3 प्रतिशत था जो घटकर 1969-70 ई० में केवल 11.7 प्रतिशत हो गया। द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व भारत से मुख्यतः कामनवेल्थ के देशों को ही निर्यात किया जाता था। किन्तु, युद्धोत्तर काल में कामनवेल्थ देशों में भारत के निर्यात का प्रायः बराबर-बराबर बंटवारा हो गया। इसका प्रमुख कारण डॉलर तथा अल्प-मुद्रा वाले क्षेत्रों (Hard Currency Areas) में निर्यात को बढ़ाने की सरकारी नीति है। 1969-70 ई० में भारत के कुल निर्यात व्यापार का 11.9 प्रतिशत इंग्लैंड के साथ तथा 19.9 प्रतिशत संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ हुआ था। अन्य निर्यातकों में जापान का 12.7 प्रतिशत एवं रूस का 12.5 प्रतिशत महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार युद्धोत्तर काल में भारत के विदेशी व्यापार की दिशा में स्पष्ट रूप से परिवर्तन हुआ है। यद्यपि भारत के विदेशी व्यापार में आज भी ब्रिटेन का महत्त्वपूर्ण स्थान है, फिर भी इसका सापेक्षिक महत्त्व द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बहुत ही कम हो गया है।

निम्नांकित तालिका से भारत के विदेशी व्यापार में विभिन्न देशों का स्थान स्पष्ट हो जाता है :—

भारत के विदेशी व्यापार का विभिन्न क्षेत्र के बीच वितरण (प्रतिशत में)

|                                          | 1968-69 | 1973-74 |              |
|------------------------------------------|---------|---------|--------------|
| देश                                      | आयात    | निर्यात | आयात निर्यात |
| 1. संयुक्त राज्य अमेरिका                 | 30.0    | 17.3    | 16.9 13.8    |
| 2. यूनाइटेड किंगडम                       | 6.7     | 14.8    | 8.4 10.4     |
| 3. पूर्वी-यूरोप के देश                   | 16.2    | 19.6    | 13.4 19.3    |
| जिसमें रूस                               | 10.0    | 10.9    | 8.6 11.4     |
| 4. जापान                                 | 6.0     | 11.7    | 8.8 14.3     |
| 5. (B.C.M. के देश ब्रिटेन को छोड़कर)     | 12.3    | 8.2     | 15.0 13.5    |
| 6. B.C.A.F.E. के देश (जापान के अतिरिक्त) | 11.2    | 13.5    | 14.1 15.1    |
| 7. अन्य देश                              | 17.6    | 14.9    | 23.4 13.6    |
| कुल योग                                  | 100.0   | 100.0   | 100.0 100.0  |



### 3. विदेशी व्यापार की संरचना में परिवर्तन (Changes in the Composition of India's Foreign Trade).

भारत के विदेशी की संरचना में भी द्वितीय युद्ध के पश्चात् महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। प्रथम महायुद्ध के बाद से ही भारत के आयात तथा निर्यात दोनों की संरचना में परिवर्तन स्पष्ट होने लगे थे, किन्तु द्वितीय युद्ध तथा स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद विदेशी व्यापार की संरचना में आमूल परिवर्तन हुआ है। देश में निर्मित वस्तुओं का आयात धीरे-धीरे घटने लगा है तथा कच्चे पदार्थ एवं खाद्यान्नों के आयात में भी वृद्धि होने लगी। इसी प्रकार निर्यात की जानेवाली वस्तुओं में भी खाद्यान्न एवं कच्चे पदार्थों का महत्व घटने लगा निर्मित तथापदार्थों का महत्व बढ़ने लगा।

हमारे देश में निर्मित वस्तुओं का आयात 1920-21 ई० में 84 प्रतिशत से घट कर 1938-39 ई० में 63.6 प्रतिशत तथा 1955-56 ई० में 43.1 प्रतिशत हो गया। इसी प्रकार कच्चे माल का आयात 1920-21 ई० में 5 प्रतिशत से बढ़कर 1938-39 ई० में 21.7 प्रतिशत तथा 1955-56 ई० में 27.8 प्रतिशत हो गया। खाद्यान्नों के आयात में भी इसी प्रकार की वृद्धि की प्रवृत्ति रही है। इसके विपरीत देश के निर्यात व्यापार में निर्मित वस्तुओं का महत्व धीरे-धीरे बढ़ने लगा। यद्यपि युद्धोत्तर काल में भी खनिज एवं कच्चे पदार्थों के निर्यात की ही प्रधानता है; फिर भी, इस अवधि में निर्मित वस्तुओं का निर्यात धीरे-धीरे बढ़ने लगा है।

भारत के विदेशी व्यापार की संरचना में परिवर्तन के निम्नलिखित प्रधान कारण हैं :—

(क) औद्योगिक विकास (Industrial Development) :—इसका सर्वप्रथम कारण तो द्वितीय महायुद्ध तथा युद्धोत्तर काल में देश के औद्योगिक उत्पादन में हुई पर्याप्त वृद्धि है। युद्ध काल में भारत से कपड़ा, जूट की बनी वस्तुओं तथा अन्य इसी प्रकार की निर्मित वस्तुओं का निर्यात विदेशों में किया जाने लगा। इससे निर्मित वस्तुओं के निर्यात में भी वृद्धि होने लगी। साथ ही, विदेशों से निर्मित वस्तुओं की आयात की आवश्यकता भी धीरे-धीरे कम होने लगी।

(ख) खाद्यान्नों का अभाव (Shortages of food-grains) :—युद्धकाल एवं बाद में देश में खाद्यान्न का भी अभाव हो गया जिसकी पूर्ति के लिए प्रतिवर्ष विदेशों से अत्यधिक मात्रा में खाद्यान्न का आयात करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, 1966-67 ई० में 651 करोड़ रुपये के मूल्य के खाद्यान्न का आयात किया गया था। किन्तु 1972 ई० से इसके आयात में पर्याप्त मात्रा में कमी होगी है।

(ग) देश-विभाजन का प्रभाव (Effects of Partition) :—देश-विभाजन का प्रभाव भी देश के विदेशी व्यापार की संरचना पर बहुत अधिक पड़ा है। विभाजन के पूर्व भारत कपास एवं जूट जैसी वस्तुओं का प्रमुख रूप से निर्यातक देश था, किन्तु विभाजन के फलस्वरूप भारत को प्रतिवर्ष बहुत बड़ी मात्रा में जूट एवं कपास का आयात करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, 1952 ई० में भारत को 115.4 करोड़ रुपये मूल्य की कपास तथा 23.5 करोड़ रु० मूल्य के कच्चा जूट का विदेशों से आयात करना पड़ा था।

उक्त सभी कारणों से द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत के विदेशी व्यापार की संरचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। पिछले कुछ वर्षों में भारत के विदेशी व्यापार की संरचना में हुए परिवर्तन का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :—

#### आयातों का वर्गीकरण (प्रतिशत में)

| वर्ग                | प्रथम योजना | द्वितीय योजना | तृतीय योजना |
|---------------------|-------------|---------------|-------------|
| 1. पूँजीगत वस्तुएँ  | 21          | 42            | 35          |
| 2. कच्चा पदार्थ     | 24          | 10            | 21          |
| 3. उपभोक्ता वस्तुएँ | 23          | 20            | 16          |
| 4. खाद्यान्न        | 16          | 15            | 25          |
| 5. अन्य वस्तुएँ     | 16          | 13            | 3           |
| कुल                 | 100         | 100           | 100         |

#### (4) विदेशी व्यापार पर सरकारी नियन्त्रण का आधिक्य

(Increasing Government Control over Foreign Trade)

युद्धोत्तरकाल में देश का विदेशी व्यापार विभिन्न प्रकार के सरकारी नियंत्रणों से बहुत अधिक प्रभावित हुआ है। इससे आयात एवं निर्यात की मात्रा में समय-समय पर बहुत-सारे परिवर्तन हुए हैं। सरकार द्वारा निर्यात को बढ़ाने के लिए विशेष रूप से प्रोत्साहन दिया जा रहा है। डॉलर तथा अन्य अल्प मुद्रावाले देशों में निर्यात बढ़ाने के लिए सरकार विशेष रूप से प्रयत्नशील रही है। इस उद्देश्य से विभिन्न वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाने के लिए 8 निर्यात विकास परिषद् (Export Promotion Councils) स्थापित की गयी हैं। इनमें से सूती-वस्त्र परिषद् ने विभिन्न देशों में अपनी शाखाएँ भी स्थापित कर ली हैं। इस प्रकार युद्ध के बाद निर्यात पर सरकार का विशेष नियन्त्रण रहा है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से ही विदेशी विनिमय की कठिनाइयों के फलस्वरूप आयात पर सरकार



द्वारा कठोर नियन्त्रण रखा जाने लगा है। सरकार केवल आवश्यक पूँजीगत मालों के आयात के लिए ही लाइसेंस प्रदान करती है। वह भी अल्प-मुद्रावाले क्षेत्रों से यथा-सम्भव कम आयात का प्रयत्न किया जा रहा है। 1956-57 तथा 1957-58 ई० में द्वितीय योजना को कार्यान्वित करने के लिए बहुत अधिक आयात की आवश्यकता पड़ी जिससे व्यापारिक संतुलन की प्रतिकूलता बहुत बढ़ गयी तथा पौंड-पावने की रकम में भी बहुत कमी आ गयी। इसके परिणामस्वरूप विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गयीं। इस स्थिति में सुधार के लिए सरकार ने आजकल विदेशी वस्तुओं के लिए विलम्बित भुगतान (Deferred Payment) की नीति को अपनाया है। साथ ही, सरकार विश्व-बैंक तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण लेकर स्थिति में सुधार लाने का प्रयत्न कर रही है। सरकार ने विदेशी व्यापार को समुचित तरीके से नियन्त्रित करने के लिए 1956 ई० में एक (i) राजकीय व्यापार निगम (State Trading Corporation) नामक निगम की स्थापना की। इसका उद्देश्य आयात को नियन्त्रित करना तथा निर्यात को प्रोत्साहित करना है। राजकीय व्यापार निगम भारत के विदेशी व्यापार पर वैज्ञानिक ढंग से नियन्त्रण रखता है। बाद में सरकार ने विदेशी व्यापार से सम्बन्धित दो और निगमों की स्थापना की—(ii) खनिज एवं धातु व्यापार निगम (Minerals and Metals Trading Corporation) जिसने अक्टूबर, 1963 ई० से कार्य करना प्रारम्भ किया; तथा (iii) मेटल स्क्राप ट्रेडिंग कारपोरेशन (Metal Scrap Trading Corporation) जिसकी स्थापना सितम्बर 1964 ई० में हुई। ये संस्थाएँ विभिन्न प्रकार के खनिज पदार्थों एवं धातुओं के आयात निर्यात की व्यवस्था करती हैं।

#### (5) भारत के विदेशी व्यापार के मूल्य

एवं मात्रा में वृद्धि

(Increase in the Value and Volume of Foreign Trade of India)

वर्तमान समय में भारत के विदेशी व्यापार में मूल्य एवं मात्रा दोनों ही दृष्टि से धीरे-धीरे वृद्धि हो रही है। इसका कारण देश के विकास की विभिन्न योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए अत्यधिक मात्रा में मशीनों तथा पूँजीगत मालों के आयात की आवश्यकता है। साथ ही, खाद्य-संकट की स्थिति को दूर करने के लिए विदेशों से बहुत अधिक मात्रा में अन्न के आयात की भी आवश्यकता पड़ी। विभाजन के बाद जूट तथा कपास के आयात में अत्यधिक वृद्धि हुई है जिसके भुगतान के लिए सरकार निर्यात को प्रोत्साहित कर रही। फलस्वरूप आयात एवं निर्यात दोनों में मूल्य एवं मात्रा की दृष्टि से पर्याप्त वृद्धि हुई है जो निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है :—

#### भारतीय आयात एवं निर्यात (करोड़ रुपये में)

| वर्ष    | आयात   | निर्यात |
|---------|--------|---------|
| 1950-51 | 640.4  | 600.7   |
| 1955-56 | 774.4  | 608.9   |
| 1960-61 | 1122.4 | 642.1   |
| 1965-66 | 1367.9 | 785.5   |
| 1969-70 | 7582.3 | 1403.9  |
| 1973-74 | 2955.0 | 2523.0  |
| 1976-77 | 5022.0 | 5089.0  |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि युद्धोत्तर काल में देश के विदेशी व्यापार में मूल्य एवं मात्रा दोनों ही दृष्टि से पर्याप्त वृद्धि हुई है।

#### (6) विश्व व्यापार में भारत का क्रमशः

घटता हुआ भाग

(Gradually declining share of India's Foreign Trade in the World Trade)

पिछले कुछ वर्षों में भारत के कुल व्यापार में मूल्य एवं मात्रा दोनों ही दृष्टि से वृद्धि अवश्य हुई है, किन्तु विश्व के पैमाने पर इसके निर्यात व्यापार का प्रतिशत क्रमशः घटने पर रहा है। 1951 से 1968 के बीच संसार का निर्यात 78 अरब डालर से बढ़कर 212 अरब डालर हो गया, अर्थात् विश्व के निर्यात व्यापार में इस अवधि में लगभग 155 प्रतिशत की वृद्धि हुई किन्तु भारत के निर्यात में इतनी अधिक वृद्धि नहीं हुई। विश्व निर्यात व्यापार में भारत के घटते हुए भाग का अनुमान निम्नलिखित तालिका से लगाया जा सकता है :—

विश्व-निर्यात में भारत का हिस्सा (दस लाख अमरीकी डालर में)

| वर्ष | विश्व निर्यात | भारत का निर्यात | भारत का प्रतिशत भाग |
|------|---------------|-----------------|---------------------|
| 1951 | 7,800         | 1,611           | 2.1                 |
| 1956 | 9,23000       | 1,300           | 1.3                 |
| 1961 | 1,17,4000     | 1,387           | 1.2                 |
| 1967 | 1,99,000      | 1,614           | 0.8                 |
| 1968 | 2,12,600      | 1,743           | 0.8                 |
| 1970 | 2,78,000      | 1,900           | 0.7                 |

विश्व निर्यात में भारत के घटते हुए भाग का प्रमुख कारण भारतीय निर्यातों के मूल्य में घटने की प्रवृत्ति तथा अन्य देशों के निर्यात में अधिक तीव्र गति से वृद्धि की प्रवृत्ति है। आयात के साथ भी प्रायः यही बात है।

निर्यात प्रोत्साहन-सम्बन्धी प्रयत्न  
(Export-Promotion Measures)

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत के आयात में निर्यात की अपेक्षा बहुत अधिक वृद्धि हुई है जिसके फलस्वरूप



भारत का व्यापारिक संतुलन इसके विपक्ष में होते जा रहा है। अतएव इस व्यापारिक संतुलन की प्रतिकूलता को कम करने के लिए भारत सरकार निर्यात में वृद्धि के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील रही है। इस उद्देश्य से विभिन्न समय में विभिन्न प्रकार के प्रयत्न किये गये हैं। नीचे हम इन प्रयत्नों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं :—

1. विभिन्न जाँच समितियों की नियुक्ति :—सर्वप्रथम तो निर्यात-सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन के लिए सरकार द्वारा समय-समय पर विभिन्न समितियों की नियुक्ति की गयी जिनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

(क) गोरवाला समिति, 1949—इस निर्यात-संवर्द्धन समिति की नियुक्ति देश-विभाजन तथा द्वितीय विश्वयुद्ध से उत्पन्न भुगतान संतुलन की कठिनाइयों के अध्ययन तथा उन्हें दूर करने के उपाय और साधनों के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए की गयी थी।

(ख) डी सूजा समिति, 1957 :—1957 में भुगतान संतुलन की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गयीं। अतएव भारत सरकार ने श्री वी० एल० डी-सूजा की अध्यक्षता में एक और समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय व्यापार का मूल्यांकन किया और कुछ विशेष वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाने के लिए विशिष्ट उपाय सुझाये। समिति ने उत्पादन की लागत में कमी करने की आवश्यकता एवं निर्यात-योग्य वस्तुओं को उत्पादन-कर तथा विक्रय-कर से पूर्णतः मुक्त करने पर जोर दिया।

(ग) मुदालियर समिति, 1961—तृतीय योजना के निर्यात-सम्बन्धी लक्ष्यों की पूर्ति के सम्बन्ध में सुझाव देने के हेतु मुदालियर समिति की नियुक्ति की गयी। इस समिति ने समस्त आयात-निर्यात व्यापार नीति और कार्य-विधि तथा निर्यात-संवर्द्धन प्रयत्नों की समीक्षा की। समिति ने कुछ ऐसे सुझाव दिये जिनका सम्बन्ध निर्यात-प्रोत्साहन से था, जैसे (i) निर्यात-सम्बन्धी उद्योगों के लिए कच्चा माल, मशीनरी आदि हेतु आवश्यक विदेशी मुद्रा की व्यवस्था होनी चाहिए। (ii) ऐसे अतिरिक्त आयात के लिए आयात-निर्यात समता कोष (Import-Export Stabilization Fund) स्थापित करना चाहिए। (iii) आय कर में तीन प्रकार से छूट देनी चाहिए—(अ) मूल्य-निर्यात के लाभ पर करों में छूट (ब) ऐसी छूट जिससे निर्यातक एक निर्यात विकास निधि (Export Development Reserve) स्थापित कर सके, और (स) अतिरिक्त निर्यात पर विशेष छूट। (iv) जो उद्योग निर्यात सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना कर रहे हैं उनकी कठिनाइयों को दूर किया जाय। (v) उद्योगपतियों तथा व्यापारियों को चाहिए कि वे आन्तरिक उपभोग (domestic consumption) पर एक उप कर (cess) लगावें तथा इस कर

से प्राप्त आय का उपयोग निर्यात व्यापार में विस्तार के लिए करें।

इसके अतिरिक्त समिति ने अन्तर्राष्ट्रीय मेलों में भाग लेने, विदेशी यात्रियों की संख्या में वृद्धि करने, वस्तु-विनि-मय व्यापार, राजकीय व्यापार, किस्म-नियन्त्रण तथा निर्यात के जोखिमों आदि के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। सरकार ने इनमें से कुछ सुझावों को कार्यान्वित भी किया है।

2. निर्यात संवर्द्धन संगठनों का निर्माण (The setting up of Export promotion Organisation) :—निर्यात संवर्द्धन के कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए निम्नांकित संगठनों का निर्माण भी किया गया है :—

(क) व्यापार मंडल (Board of Trade)—मई, 1962 ई० में इस बोर्ड की स्थापना की गयी। इस बोर्ड का कार्य व्यापार तथा वाणिज्य के सभी पहलुओं पर विचार करना तथा उनके सम्बन्ध में सरकार को उचित परामर्श देना तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि, विशेष-तया निर्यात में वृद्धि के लिए प्रयत्न करना है। बोर्ड ने समय-समय पर निर्यात व्यापार से सम्बन्धित वस्तुओं तथा देशों के विषय में विश्लेषण किया है तथा निर्यात-सम्बन्धी अवसरों के विषय में जानकारी प्राप्त करायी है। उत्पादन व्यय में कमी, साख की सुविधा, जहाज तथा भाड़े की समस्या, विदेशों में व्यापारिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति आदि विषयों पर इसने महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। बोर्ड ने एक Institute of Foreign Trade की भी स्थापना की है। बोर्ड द्वारा कई समितियाँ भी बनायी गयी हैं जो विदेशी व्यापार के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करती हैं।

(ख) निर्यात-संवर्द्धन निदेशालय (Export Promotion Directorate)—इसकी स्थापना अगस्त, 1957 में की गयी। इसका प्रमुख कार्य निर्यातकों को आवश्यक सूचनाएँ तथा सहायता देना तथा व्यापार मण्डल के आदेशों एवं सुझावों को कार्यान्वित करना है। निदेशालय ने चार क्षेत्रीय कार्यालय तथा बम्बई, कलकत्ता एवं मद्रास में Post Office बनाये हैं।

(ग) निर्यात सम्बर्द्धन सलाहकार परिषद् (Export Promotion Advisory Council) :—इसकी स्थापना केन्द्रीय स्तर पर की गयी है। इस समिति में व्यापारियों के प्रतिनिधि रहते हैं। समिति सरकार की निर्यात नीति की समीक्षा करती है तथा सरकार को इस विषय में सलाह देती है।

(घ) क्षेत्रीय निर्यात सम्बर्द्धन सलाहकार समितियाँ (Regional Export Promotion Advisory councils) :—देश के विभिन्न भागों से निर्यात सम्बन्धी सम्भावनाओं तथा समस्याओं पर ये समितियाँ विचार करती



हैं। अपने क्षेत्र की निर्यात सम्बन्धी समस्याओं पर ये समितियाँ सरकार का ध्यान आकर्षित करती हैं। महीने में एक बार इनकी बैठक होती है तथा ये अपने-अपने क्षेत्र में उद्योग तथा व्यापार-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करती हैं और सुझाव देती हैं। समितियों का नेतृत्व स्थानीय व्यापारी एवं उद्योग के अवैतनिक निर्यात-सम्बद्ध न सलाहकार द्वारा किया जाता है। इस समय बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा अर्नाकुलम बन्दरगाहों पर ये समितियाँ कार्य कर रही हैं।

(ङ) निर्यात-संवर्द्धन परिषद् (Export Promotion Councils)—इन परिषदों की स्थापना स्वायत्तशासी निगमों के रूप में की गयी है। इनमें उद्योग एवं व्यापार के प्रतिनिधि तथा सरकार के प्रतिनिधि होते हैं। ये परिषदें अपने उद्योगों की वस्तुओं का निर्यात बढ़ाने के लिए प्रयत्न करती हैं। इस समय देश में इस प्रकार की 19 परिषदें कार्य कर रही हैं जो अलग-अलग सूती वस्त्र, काजू, मसाला, तुम्बाकू, चमड़ा, रेशम, रेयन, रासायनिक पदार्थ, खेल के सामान, फल, इंजीनियरिंग का सामान आदि के निर्यात-संवर्द्धन सम्बन्धी कार्य कर रही हैं।

(च) वस्तु शण्डल (Commodity Board)—निर्यात संवर्द्धन परिषदों के अतिरिक्त बहुत सी वस्तुओं के लिए बोर्ड संगठित किये गये हैं, जैसे टी बोर्ड, कॉफी बोर्ड, सिल्क बोर्ड, ऑल इण्डिया हेण्डलूम बोर्ड आदि। ये बोर्ड संबंधित वस्तुओं के निर्यात के विस्तार के विषय में सूचना एवं सहायता देते हैं। ये बोर्ड निर्यात संवर्द्धन परिषदों के समान कार्य भी करते हैं।

(छ) निर्यात साख एवं गारंटी निगम (The Export Credit and Guarantee Corporation)—इस निगम की स्थापना सितम्बर, 1957 में की गयी। यह निगम निर्यातकों को उन जोखिमों के लिए बीमा-संबन्धी सुविधाएँ प्रदान करता है जो सामान्यतया साधारण बीमा कंपनियों द्वारा प्रदान नहीं की जाती हैं। निर्यातकों को निगम द्वारा बैंकों से इसकी निर्यात साख गारंटी पॉलिसी (Export Credit Guarantee Policies) के आधार पर ऋण भी दिलाया जाता है। निगम सन्तोषजनक ढंग से कार्य कर रहा है तथा इसके द्वारा निर्यात प्रोत्साहन में पर्याप्त सहायता मिलती है।

(ज) राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporation) इस निगम की स्थापना 18 मई, 1956 को निर्यात संवर्द्धन तथा आवश्यक वस्तुओं के आयात करने के उद्देश्य से की गयी थी। इसकी स्थापना एक सरकारी कंपनी के रूप में 1 करोड़ रुपये की प्रदत्त पूँजी के साथ की गयी। इसी आधार पर अक्टूबर, 1963 में एक 'खनिज एवं धातु व्यापार निगम' (Mineral and Metals

Trading Corporation of India) की स्थापना की गयी। इस नये निगम को खनिज व धातुओं का व्यापार सौंप दिया गया। इसी प्रकार सितम्बर, 1964 में मेटल स्कैप ट्रेड कॉर्पोरेशन (Metal Scrap Trading Corporation) की स्थापना की गयी। इन निगमों के निम्नलिखित प्रमुख कार्य हैं :—(i) भारत के निर्यात व्यापार में वृद्धि करना, (ii) परम्परागत निर्यातों के बाजारों को बनाये रखना, (iii) नयी-नयी वस्तुओं के निर्यात के लिए बाजार की तलाश करना तथा (iv) अपने विभाग से सम्बद्ध आवश्यक वस्तुओं का आयात करना।

राज्य व्यापार निगम की सहायक संस्था के रूप में 'हस्त-कला एवं हाथ कर्घा निर्यात निगम' (Handicrafts and Handloom Export Corporation) हस्तकला की वस्तुओं के निर्यात-संवर्द्धन के लिए प्रयत्न करता है।

(झ) निर्यात निरीक्षण परिषद्—निर्यात अधिनियम, 1963 के अन्तर्गत एक भारतीय निर्यात निरीक्षण परिषद् की स्थापना की गई है। इस परिषद् में व्यापार एवं उद्योगों के प्रतिनिधि तथा तकनीकी विशेषज्ञ रहते हैं। परिषद् को सरकार द्वारा ऋण, अनुदान आदि के रूप में आर्थिक सहायता मिलती है। परिषद् ने किस्म नियन्त्रण का कार्य भी प्रारम्भ किया है। इसने माल के लदान के पूर्व निरीक्षण तथा वस्तुओं के परीक्षण के लिए सुविधाएँ प्रदान करने का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया है।

(3) निर्यात-प्रोत्साहन सम्बन्धी सहायता—वर्तमान समय में निर्यात संवर्द्धन के लिए कुछ निर्यात प्रोत्साहन योजनाएँ भी कार्यान्वित की जा रही हैं जिनके अन्तर्गत निर्यातकों को निम्नांकित प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं :—

(क) कच्चे माल एवं पुर्जों का आयात—निर्यात किये गये माल का एक निर्धारित प्रतिशत मूल्य उन कच्चे पदार्थों तथा पुर्जों के आयात के लिए उपयोग करने की अनुमति दी जाती है जिनकी आवश्यकता निर्यात सम्बन्धी वस्तुओं के उत्पादन में पड़ती है। आयात करने का यह अधिकार सामान्यतः निर्यात होने वाले माल में प्रयुक्त हुए आयातित माल के दुगुने परन्तु निर्यातों के जहाज पर पड़ने वाले मूल्य के 75% से कम के आधार पर निर्धारित किया जाता है।

(ख) मशीनों का आयात—इस आयात अधिकार का एक भाग सामान्यतः निर्यात के जहाज पर मूल्य के 10% तक उन मशीनों एवं पुर्जों आदि के आयात करने में उपयोग करने की अनुमति दी जाती है जिनकी आवश्यकता पुर्जे बदलने अथवा आधुनिकीकरण के लिए पड़ती है। कृषि, बगान, खनिज तथा निर्माणकारी उद्योगों के निर्यात करने वाले अंग के आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक मशीनें मँगाने के लिए प्राथमिकता दी जाती है।



(ग) अग्रिम लाइसेंस—कुछ विशेष परिस्थितियों में अग्रिम लाइसेंस देने की अनुमति भी दी जाती है जिससे निर्यातक निर्यात-सम्बन्धी बाधाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक सामान खरीद सकें। ऐसे अग्रिम लाइसेंस Confirmed Letters of Credit खोलने पर ही दिये जाते हैं।

(घ) आयातित माल को बेचना—निर्यात-संबद्ध न योजना के अधीन आयात किये गये मालों को सामान्यतया निर्यातक को अपने कारखानों में प्रयुक्त करने की ही अनुमति मिलती है; परन्तु वह आयातित माल उसी निर्यात संबद्ध न योजना के क्षेत्र में आने वाले किसी अन्य ऐसे निर्यातक को बेचा भी जा सकता है जो सीधे निर्यात करता है या निर्यात के लिए अपना माल दूसरों को बेच देता है।

(च) देशी कच्चे माल की सुविधा—निर्यात संबद्ध न योजना में कुछ देशी कच्चे पदार्थों, जैसे कच्चा लोहा, इस्पात, टीन की चादरें आदि को रियायती दरों पर भी दिया जाता है तथा इनके वितरण में इन्हें प्राथमिकता दी जाती है।

(छ) कर-सम्बन्धी रियायतें—कर-सम्बन्धी रियायतों के अन्तर्गत कुछ वस्तुओं के आयात कर में वापसी की सुविधाएँ भी दी गयी हैं। साथ ही, निर्यात से प्राप्त आय पर लगने वाले आय-कर में भी छूट दी जाती है तथा चाय पर निर्यात-कर में भी कमी की गयी है।

(ज) ऋण-सम्बन्धी सुविधाएँ—सन् 1962 में निर्यातकों को ऋण की सुविधाएँ देने के लिए सरकार ने एक अध्ययन मण्डल नियुक्त किया था। इसके सुझावों के अनुसार निर्यातकों को प्रोत्साहन देने के लिए अनेक प्रकार की ऋण-सम्बन्धी सुविधाएँ दी गयी हैं।

(झ) निर्यात के लिए परिवहन तथा भाड़े-सम्बन्धी रियायतें—निर्यात बढ़ाने के लिए अनेक उपायों में से परिवहन की पर्याप्त सुविधाओं का उपलब्ध होना भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। निर्यातकों को इस सम्बन्ध में भी पर्याप्त मात्रा में सुविधाएँ देने की व्यवस्था की गयी है।

अवमूल्यन के पश्चात् निर्यात-संबद्ध न की नीति-  
(Export Promotion Policy after the Devaluation) :—जून, 1966 में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के पश्चात् निर्यात-प्रोत्साहन योजनाएँ एक प्रकार से स्थगित कर दी गयीं। इससे निर्यातकों में अनिश्चिता का वातावरण व्याप्त हो गया। परन्तु अवमूल्यन से निर्यात में प्रत्याशित वृद्धि नहीं हुई, अतः पूर्व घोषित प्रोत्साहन योजनाएँ बाद में एक-एक कर आवश्यक संशोधन के साथ लागू की गयीं। वाणिज्य मन्त्री ने 16 अगस्त, 1966 को निर्यात-प्रोत्साहन सम्बन्धी नयी नीति की घोषणा की जो वर्तमान समय में भी लागू है। इस नीति के निम्न-लिखित प्रमुख तत्त्व थे :—

(i) रजिस्टर्ड निर्यातकों को निर्यात के बदले आयात करने का अधिकार दिया जायगा। किन्तु आयात का मूल्य निर्यात की गयी वस्तु के निर्माण में लगायी गयी आयातित वस्तुओं के मूल्य तथा निर्माण करते समय हुई छीजन (Wastage) से अधिक नहीं होगा। आयात की जाने वाली वस्तु की मात्रा का निर्णय अधिकार करेंगे।

(ii) जो निर्यातक स्वयं निर्माणकर्ता नहीं हैं वे उस संस्थान के नाम की घोषणा करेंगे जिनसे वे निर्यात करने के लिए माल खरीदते हैं, जिसके आधार पर ऐसे निर्माण-कर्ताओं को आयात के लिए लाइसेंस दिए जा सकें।

(iii) निर्यात उद्योगों को पूँजीगत वस्तुओं तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के आयात के लिए प्राथमिकता दी जायगी।

(iv) कच्चा जूट, कच्चा चमड़ा आदि वस्तुएँ O. G. L. के अन्तर्गत सम्मिलित कर दी गयी हैं।

(v) जहाँ तक देशी कच्चे माल का सम्बन्ध है, निर्यात उद्योगों को आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें 'आवश्यक सामग्री अधिनियम' के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया गया है, जिससे कच्चे माल के वितरण में निर्यात उद्योगों को प्राथमिकता दी जा सके।

(vi) हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड के अन्तर्गत 'Steel Sales Promotion Division' की स्थापना की गयी है, जो स्टील तथा इससे सम्बन्धित वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि का प्रयत्न करेगा।

(vii) जिन वस्तुओं के निर्यात की सम्भावनाएँ अनुकूल हैं, उनके लिए नकद सहायता (Cash assistance) दी जायेगी। जिन वस्तुओं को अवमूल्यन के पूर्व Import Entitlement या अन्य प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सुविधाएँ दी जाती थीं, उन्हें अब नकद सहायता दी जायेगी। सहायता की मात्रा वस्तु के f. o. b. मूल्य के 10 से 20 प्रतिशत होगी। यह सहायता स्क्रैप स्टील, लोहा तथा इस्पात, ऊनी कालीन, चीनी तथा इंजीनियरिंग आदि वस्तुओं को दी जायेगी। स्क्रैप स्टील के लिए निर्यात सहायता 10%, कुछ चुनी हुई लोहा तथा इस्पात की वस्तुओं के लिए 15% तथा ऊनी कालीन के लिए 10% दी जायगी।

(viii) इंजीनियरिंग वस्तुओं को तीन समूहों में विभाजित किया गया है। प्रथम समूह के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं के लिए नकद सहायता की मात्रा 15%, द्वितीय समूह के लिए 15% तथा तृतीय समूह के लिए 20% होगी। चीनी को दी जाने वाली निर्यात सहायता अवमूल्यन के पूर्व दी जाने वाली सहायता से कम होगी। सहायता की मात्रा अवमूल्यन तथा अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों को ध्यान में रख कर दी जायगी।



भारत सरकार की उपरोक्त निर्यात प्रोत्साहन-सम्बन्धी नीति सर्वथा उपयुक्त है। इससे निर्यातकों को प्रोत्साहन मिला है तथा निर्यात-व्यापार में कम मूल्य दिखाने की प्रवृत्ति (under-invoicing) रोकने में भी सहायता मिली है। विपणन विकास कोष (Marketing Development Fund) से 1972-73 में निर्यातकों को 62 करोड़ रुपये की सहायता दी गयी थी। 1973 में व्यापार मन्त्रालय के अंतर्गत एक निर्यात उत्पादन विभाग (Export Production Department) खोला गया था। आशा है भविष्य में यह नीति और अधिक सफल सिद्ध होगी।

### भारत के प्रमुख निर्यात (करोड़ रुपये में)

| वस्तुएँ                  | 1960-61 | 1965-66 | 1970-71 | 1973-74 | 1976-77 |
|--------------------------|---------|---------|---------|---------|---------|
| चाय                      | 295.5   | 241.1   | 148.0   | 146.0   | 292.9   |
| जूट की निर्मित वस्तुएँ   | 283.8   | 383.9   | 190.0   | 227.5   | 200.8   |
| सूती-वस्त्र              | 120.8   | 116.9   | 118.0   | 236.0   | 603.1   |
| खनिज लोहा                | 35.7    | 88.4    | 117.0   | 133.0   | 238.5   |
| चमड़ा तथा चमड़े के सामान | 52.4    | 59.7    | 87.0    | 172.2   | 263.5   |
| कपास-कच्चे तथा व्यर्थ    | 18.3    | 28.4    | 16.0    | 37.0    | 38.7    |
| तम्बाकू-कच्चा            | 33.1    | 44.4    | 31.0    | 68.4    | 96.6    |

अब भारत से निर्यात की जानेवाली कुछ प्रमुख वस्तुओं का निम्न विवरण प्रस्तुत किया जाता है—

(1) जूट का सूत एवं निर्मित वस्तुएँ (Jute yarn and manufactures) :—भारतीय निर्यात-व्यापार में जूट के सूत एवं निर्मित सामान का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। जूट के सामान विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के प्रमुख साधन हैं। देश-विभाजन के फलस्वरूप कच्चा जूट-उत्पादन का अधिकांश क्षेत्र पाकिस्तान में चला गया जिससे भारत आजकल कच्चे जूट का आयातक हो गया। किन्तु जूट के सामान का भारत आज भी विश्व में सबसे बड़ा निर्यातक देश है। विभाजन के पश्चात् भारत के जूट के सामानों के निर्यात में कमी की आशंका हो गयी थी। इसके फलस्वरूप सरकार द्वारा जूट के निर्यात को तरह-तरह से प्रोत्साहन प्रदान किया जा रहा है। 1955 ई० में पाकिस्तानी रुपये के अवमूल्यन के पश्चात् जूट के सामानों के निर्यात पर से कर हटा लिया गया। जूट के निर्यात को संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य अल्प मुद्रावाले देशों में प्रोत्साहित करने के लिए सरकार विशेष रूप से प्रयत्न कर रही है। किन्तु पिछले कुछ वर्षों से जूट-निर्यात के सम्बन्ध में भारत की स्थिति विशेष अच्छी नहीं है क्योंकि देश में जूट का उत्पादन-व्यय बढ़ गया है। साथ ही, विदेशों में जूट की स्थापनापन्न वस्तुओं की खोज की जा रही है तथा पाकिस्तान आदि देशों में भी जूट-उद्योग का विकास हो रहा

### भारत से निर्यात एवं आयात की मुख्य वस्तुएँ (Chief Articles of India's Export and Import)

अब भारत के निर्यात एवं आयात की मुख्य वस्तुओं का विवेचन भी आवश्यक है। हमारे देश से कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओं का निर्यात किया जाता है तथा आवश्यकतानुसार कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओं का आयात भी किया जाता है।

भारत से निर्यात की जानेवाली वस्तुएँ (Chief Articles of India's Export) :—भारत से निर्यात की जानेवाली प्रमुख वस्तुओं का अन्दाजा निम्नलिखित तालिका<sup>1</sup> से लगाया जा सकता है :—

है। इन सब कारणों से आज जूट के विदेशी व्यापार में भारत की स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। फिर भी सरकार द्वारा जूट उद्योग को विशेष सहायता दी जा रही है जिससे इसके उत्पादन व्यय में कमी तथा किस्म में सुधार हो सके। आज भी भारत के निर्यात व्यापार में जूट एवं जूट की बनी वस्तुओं का महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ के कुल निर्यात का पहले 18 से 20 प्रतिशत भाग जूट की वस्तुओं का ही होता था। किन्तु अब यह घट कर 4 प्रतिशत हो गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अर्जेंटीना, ब्रिटेन तथा कनाडा आदि देशों में यहाँ से जूट की वस्तुओं का मुख्य रूप से निर्यात किया जाता है। 1976-77 ई० में यहाँ से प्रायः 201 करोड़ रुपये मूल्य के जूट की निर्मित वस्तुओं का निर्यात हुआ था जो कुल निर्यात का 4 प्रतिशत भाग था।

(2) चाय (Tea) :—भारतीय निर्यात में चाय का भी महत्वपूर्ण स्थान है। पहले यहाँ के कुल निर्यात का प्रायः 15 से 18 प्रतिशत भाग का ही होता था। भारत विश्व में चाय का सबसे बड़ा निर्यातक देश है। किन्तु, पिछले कुछ वर्षों से भारतीय चाय के निर्यात में विशेष कमी हो रही है जो उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है। 1976-77 ई० में प्रायः 293 करोड़ रुपये की चाय का निर्यात हुआ था जो कुल निर्यात का केवल 6 प्रतिशत भाग था। ब्रिटेन भारतीय चाय का सबसे बड़ा ग्राहक है। इसके बाद अमेरिका, कनाडा तथा आयरलैंड आदि देशों का स्थान है।



(3) सूती-वस्त्र (Cotton Manufactures):—भारत के निर्यात व्यापार में सूती-वस्त्र का भी महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय निर्यात में इसका आजकल प्रथम स्थान हो गया है। 1976-77 ई० में प्रायः 603 करोड़ रुपये के सूती-वस्त्र का भारत से निर्यात किया गया था जो कुल निर्यात का 12 प्रतिशत भाग था। इसके अतिरिक्त 55 करोड़ मूल्य के सूती धागे का निर्यात हुआ था। भारतीय कपड़े का निर्यात मुख्य रूप से आस्ट्रेलिया; दक्षिणी अफ्रीका, मध्य-पूर्वी एशियाई देशों, सीलोन; इन्डोनेशिया, नाइजीरिया तथा न्यूजीलैंड आदि देशों में किया जा रहा है। भारत सरकार द्वारा नियुक्त निर्यात विकास परिषद् सूती-वस्त्र के निर्यात विकास में विशेष रूप से प्रयत्नशील है।

निर्यात की अन्य वस्तुएँ :—अन्य वस्तुओं के अन्तर्गत भारत से कच्ची तथा बेकार कपास (Cotton-raw and waste) का भी निर्यात किया जाता है। विभाजन के पूर्व भारत कपास का एक प्रमुख निर्यातक देश था; किन्तु विभाजन के बाद इसकी स्थिति में आमूल परिवर्तन हो गया। अब यहाँ से थोड़ी-बहुत कपास का जापान एवं इटली में निर्यात भी किया जाता है। 1976-77 ई० में यहाँ से 39 करोड़ रुपये की कपास का निर्यात हुआ था। तम्बाकू :—भारत विश्व में तम्बाकू का भी प्रमुख निर्यातक देश है। प्रतिवर्ष यहाँ से बहुत अधिक मात्रा में तम्बाकू का निर्यात किया जाता है। ब्रिटेन भारतीय तम्बाकू का प्रमुख ग्राहक है। 1976-77 ई० में भारत से प्रायः 97 करोड़ रुपये मूल्य की तम्बाकू का निर्यात किया गया था। लाहू :—भारत से लाहू का भी बहुत अधिक मात्रा में निर्यात किया जाता है। विश्व में भारत लाहू (Lac) का सबसे बड़ा उत्पादक एवं निर्यातक देश है। 1966-67 ई० में यहाँ से प्रायः 3.8 करोड़ रुपये की लाहू एवं गोंद आदि का निर्यात किया जाता था। भारत से कुछ खनिज-पदार्थों का भी

निर्यात किया जाता है जिनमें मैंगनीज, लोहा तथा अभ्रक का प्रमुख स्थान है। कच्चा लोहा भी भारत से प्रतिवर्ष जापान आदि देशों में निर्यात किया जाता है। 1976-77 ई० में यहाँ से कुल 239 करोड़ रुपये का कच्चा लोहा (Iron ore) निर्यात किया गया था। पिछले कुछ वर्षों से इसके निर्यात में अत्यधिक वृद्धि हुई। अभ्रक के उत्पादन में भारत का विश्व में सर्वप्रथम स्थान है। यहाँ से बहुत बड़ी मात्रा में अभ्रक (Mica) अमेरिका, जर्मनी तथा ब्रिटेन आदि देशों को निर्यात किया जाता है। 1976-77 ई० में यहाँ से प्रायः 17 करोड़ रुपये मूल्य के अभ्रक तथा अभ्रक की वस्तुओं का निर्यात किया गया था। भारत से कच्चे मैंगनीज (Manganese ore) का भी बहुत बड़ी मात्रा में अमेरिका, जर्मनी तथा ब्रिटेन आदि देशों को निर्यात किया जाता है। विश्व के मैंगनीज उत्पादक देशों में भारत का प्रमुख स्थान है। 1976-77 ई० में यहाँ से कुल 1.9 करोड़ रुपये के मैंगनीज का निर्यात किया गया था। आजकल चीनी का भी निर्यात बढ़ गया है। 1975-76 में 412 करोड़ रुपये मूल्य की चीनी का निर्यात किया गया था।

सरकार की ओर से पहले निर्यात प्रोत्साहन (Export promotion) पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा था। जून, 1966 ई० में रुपये के अवमूल्य के बाद से हर प्रकार के निर्यात प्रोत्साहन को थोड़े समय के लिए स्थगित कर दिया गया था, किन्तु पुनः निर्यात-प्रोत्साहन के लिए विभिन्न प्रकार के प्रयत्न किये जा रहे हैं। इनकी सविस्तार व्याख्या पिछले पृष्ठों में की गयी है।

### भारतीय आयात की मुख्य वस्तुएँ (Chief Articles of India's Import)

भारत प्रतिवर्ष विदेशों से कुछ वस्तुओं का आयात भी करता है। विदेशों से आयात की जानेवाली वस्तुओं में निम्नांकित प्रधान हैं :—

भारत के प्रमुख आयात (करोड़ रुपये में) (अवमूल्यन के बाद की दर से)

| वस्तुएँ                            | 1955-56 | 1960-61 | 1965-66 | 1969-70 | 1973-74 | 1976-77 |
|------------------------------------|---------|---------|---------|---------|---------|---------|
| खाद्यान्न तथा खाद्यान्न की वस्तुएँ | 48.1    | 285.7   | 507.8   | 293.0   | 473.0   | 878.6   |
| मशीन तथा बिजली के सामान            | 164.2   | 510.4   | 660.0   | 396.0   | 629.0   | 831.7   |
| कपास                               | 58.1    | 128.8   | 72.8    | 83.0    | 52.0    | 129.5   |
| खनिज तेल                           | 72.7    | 109.1   | 107.5   | 138.0   | 561.0   | 1412.4  |
| खाद एवं रासायनिक पदार्थ            | 49.2    | 149.9   | 183.7   | 195.0   | 357.0   | 197.7   |

अब इन प्रमुख मदों का निम्न वितरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(1) मशीनें तथा बिजली के सामान :—भारत में मशीन एवं पूँजीगत मालों का उत्पादन प्रारम्भ से ही बहुत कम होता है। अतः, इनकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए हमें मुख्य रूप से विदेशों पर ही आश्रित रहना

पड़ता है। उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि गत कुछ वर्षों से हमें मशीनों के आयात पर बहुत अधिक व्यय करना पड़ रहा है। इसका प्रमुख कारण पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत विकास की विभिन्न योजनाओं का कार्यान्वयन है जिसके लिए विदेशों से हमें बहुत बड़ी मात्रा में मशीनों का आयात करना पड़ रहा है। 1976-



77 ई० में भारत में कुल 832 करोड़ रुपये की मशीनों, जिनमें बिजली के यन्त्र भी शामिल थे, का आयात किया गया था। ब्रिटेन एवं अमेरिका ही मुख्य रूप से हमारी मशीनों की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। पांचवीं पंचवर्षीय योजना में उद्योगों के विकास पर अधिक जोर देने के कारण मशीनों के आयात में अधिक वृद्धि की आशा की जाती है।

(2) खाद्यान्न :—भारत में पिछले कुछ वर्षों से बड़े पैमाने पर खाद्यान्न का भी आयात करना पड़ रहा है। द्वितीय महायुद्ध के बाद देश में खाद्यान्न का सामान्य रूप से अभाव होने लगा। इस खाद्य-संकट के बहुत-से कारण हैं जिनमें बर्मा का भारत से पृथक् होना, देश-विभाजन तथा जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। खाद्यान्न के इस अभाव को दूर करने के लिये हमारे देश में प्रतिवर्ष बहुत बड़ी मात्रा में खद्यान्नों का आयात करना पड़ता है। भारत प्रतिवर्ष बहुत अधिक मात्रा में संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, अर्जेंटीना तथा आस्ट्रेलिया से गेहूँ एवं बर्मा, स्याम तथा चीन आदि देशों से चावल का आयात करता है। देश के विभाजन के बाद 1947 ई० में 30 लाख टन, 1950 ई० में 21 लाख टन तथा 1951 ई० में 30 लाख टन खाद्यान्न का आयात करना पड़ा था। इसके बाद 1953 ई० में देश में खाद्यान्न की उपज में पर्याप्त वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप खाद्यान्न के आयात में कमी हो गयी। किन्तु पुनः 1957 ई० के बाद देश में खाद्य-संकट की स्थिति उत्पन्न हो गयी जिसे दूरी करने के लिए उस वर्ष 35.8 लाख टन खाद्यान्न का आयात करना पड़ता था। आगे चलकर 1965-66 में मोटे तौर पर 309.1 करोड़ रुपये तथा 1967-68 ई० में 518.3 करोड़ रुपये के मूल्य के खाद्यान्न का आयात किया गया था। 1971-72 ई० में खाद्यान्न का आयात घटकर 128 करोड़ रुपये रह गया। किन्तु पुनः 1973 में खाद्यान्न के उत्पादन में कमी के कारण 1973-74 में 529 करोड़ रुपये तथा 1974-75 में 850 करोड़ रुपये तथा 1975-76 में 1399 करोड़ रुपये के खाद्यान्न तथा खाने के तेल का आयात करना पड़ा था।

(3) कपास :—विभाजन के पूर्व भारत कपास का मुख्य रूप से निर्यातक देश था, किन्तु विभाजन के बाद यह इसका आयातक हो गया है। विभाजन के फलस्वरूप कपास-उत्पादन के अधिकांश क्षेत्र, विशेषतः लम्बी रेशे वाली कपास-उत्पादन के क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये जबकि सूती-वस्त्र के प्रायः सभी कारखाने भारत में ही रह गये। फलस्वरूप भारत को प्रतिवर्ष मिस्र तथा पाकिस्तान आदि देशों से कपास का आयात करना पड़ रहा है। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कपास के उत्पादन को बढ़ाने पर भी पूरा-पूरा जोर दिया जा रहा है। फिर भी अभी भारत

पूर्णरूप से इस क्षेत्र में आत्मनिर्भर नहीं बन पाया है। किन्तु अब देश में कपास का उत्पादन धीरे-धीरे बढ़ रहा है जिससे इसके आयात में कमी हो रही है। इस प्रकार 1952 ई० में प्रायः 115 करोड़ रुपये की कपास का आयात किया गया था जबकि 1973-74 ई० में केवल 52 करोड़ रुपये की कपास का ही आयात हुआ।

(4) जूट :—विभाजन के पूर्व भारत को जूट के उत्पादन में विश्व में एकाधिकार प्राप्त था, किन्तु विभाजन के परिणामस्वरूप अब भारत को कच्चे जूट का भी आयात करना पड़ता है। पंचवर्षीय योजनाओं में जूट के उत्पादन में वृद्धि पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। किन्तु अभी तक इस क्षेत्र में पर्याप्त सफलता नहीं मिल पायी है। अतएव भारत को आज भी प्रतिवर्ष पर्याप्त मात्रा में जूट का आयात करना पड़ता है। किन्तु अब जूट का आयात प्रायः समाप्त हो गया है।

(5) पेट्रोलियम :—भारत में पेट्रोलियम का बहुत अधिक अभाव था। इस अभावकी पूर्ति के लिए देश में प्रतिवर्ष अत्यधिक मात्रा में पेट्रोलियम का विदेशों से आयात करना पड़ता है। 1969-70 ई० में भारत में कुल 137.9 करोड़ रुपये के विभिन्न प्रकार के खनिज तेल का आयात किया गया था। भारत प्रतिवर्ष बहुत अधिक मात्रा में पेट्रोलियम का आयात बर्मा, ईरान, ईराक आदि देशों से करता है। इधर खनिज तेल के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि के कारण हमारे आयात के मूल्य में वृद्धि हुई। उदाहरण के लिए 1973-74 में 561 करोड़ रुपये तथा 1974-75 में 1157 करोड़ रुपये तथा 1975-76 में 1226 करोड़ रुपये के खनिज तेल का आयात करना पड़ा था।

अन्य वस्तुएँ :—इनके अतिरिक्त भारत में अन्य वस्तुओं का भी आयात होता है। इनमें इस्पात का प्रमुख स्थान है। भारत में इस्पात का अभी आवश्यकता से कम उत्पादन होता है जिसे पूरा करने के लिए प्रतिवर्ष विदेशों से इस्पात का आयात किया जाता है। 1975-76 में 306 करोड़ रुपये का लोहा तथा इस्पात का आयात हुआ था। भारत में कागज, विशेषतः खबारी कागज (Newsprint) का भी अभाव है जिसे पूरा करने के लिए प्रतिवर्ष कागज का भी आयात करना पड़ता है। 1976-77 ई० में यहाँ 62 करोड़ रुपये के विभिन्न प्रकार के कागज का आयात हुआ था। इनके अतिरिक्त रासायनिक पदार्थ, दवा आदि का भी प्रतिवर्ष बड़ी मात्रा में आयात किया जाता है। 1973-74 में 352 करोड़ रुपये के रासायनिक पदार्थों का आयात हुआ था। 1975-76 में 556 करोड़ रुपये मूल्य की खाद का आयात किया गया था।

भारत का कुछ देशों के साथ व्यापार (India's Trade with some Important Countries)  
अब विश्व के कुछ प्रमुख देशों के साथ भारत के विदेशी व्यापार की व्यवस्था की जायगी।



ब्रिटेन के साथ व्यापार :—आज भी भारत के विदेशी व्यापार में ब्रिटेन की ही प्रधानता है। पिछले कुछ वर्षों से इस स्थिति में कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ है जिससे आयात तथा निर्यात दोनों में ब्रिटेन का महत्त्व धीरे-धीरे घट रहा है। निम्नांकित तालिका से भारत का ब्रिटेन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है—

| वर्ष          | कुल आयात<br>का प्रतिशत | कुल निर्यात<br>का प्रतिशत |
|---------------|------------------------|---------------------------|
| 1909-14 (औसत) | 62.8                   | 25.1                      |
| 1947-48       | 27.5                   | 22.5                      |
| 1960-61       | 19.1                   | 26.1                      |
| 1969-70       | 6.4                    | 11.7                      |
| 1973-74       | 8.4                    | 10.4                      |
| 1976-77       | 6.4                    | 10.2                      |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत का ब्रिटेन से आयात दिन-प्रति-दिन घटता ही जा रहा है जबकि निर्यात में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। ब्रिटेन से प्रतिवर्ष मशीनें, रासायनिक पदार्थ, मोटर गाड़ियाँ, दवा तथा रंग आदि का आयात किया जाता है और बदले में भारत चाय, जूट की बनी वस्तुएँ, तिलहन आदि का निर्यात करता है। 1976-77 ई० में ब्रिटेन से कुल 321 करोड़ रुपये की वस्तुओं का आयात किया गया था तथा 510 करोड़ रुपये की वस्तुओं का निर्यात किया गया था। 1976-77 में भारत के कुल निर्यात व्यापार में ब्रिटेन का हिस्सा 10.2 प्रतिशत तथा आयात में 6.4 प्रतिशत था। इस प्रकार आज भी हमारे विदेशी व्यापार में ब्रिटेन का प्रमुख स्थान है।

संयुक्त राज्य अमेरिका (India's Trade with U. S. A.) :—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत का संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ कम व्यापार होता था किन्तु युद्ध एवं युद्धोत्तर काल में ब्रिटेन की आर्थिक व्यवस्था के अस्त-व्यस्त होने के कारण हमारे विदेशी व्यापार में संयुक्त राज्य अमेरिका का महत्त्व बढ़ने लगा है। निम्नांकित तालिका से भारत के विदेशी व्यापार में संयुक्त राज्य अमेरिका का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है—

| वर्ष    | कुल आयात<br>का प्रतिशत | कुल निर्यात<br>का प्रतिशत |
|---------|------------------------|---------------------------|
| 1951-52 | 33.0                   | 18.5                      |
| 1960-61 | 28.7                   | 15.5                      |
| 1969-70 | 29.3                   | 16.9                      |
| 1973-74 | 16.9                   | 13.8                      |
| 1976-77 | 21.0                   | 11.0                      |

भारत संयुक्त राज्य अमेरिका से मशीनें, औजार, मोटरकार एवं ट्रक, टाइपराइटर, ट्रैक्टर, रासायनिक पदार्थ, दवाएँ एवं गेहूँ आदि का आयात तथा कच्चा जूट के सामान, लोहा, चमड़ा, मशाला, अभ्रक, मैंगनीज एवं

तेलहन आदि का निर्यात करता है। पंचवर्षीय योजनाओं के सम्पादन के लिए अमेरिका से मशीन एवं औजारों का अधिक मात्रा में आयात किया जाता है। साथ ही, खाद्यान्न के अभाव को दूर करने के लिए गेहूँ का भी प्रति वर्ष अमेरिका से पर्याप्त मात्रा में आयात किया जा रहा है। 1976-77 ई० में संयुक्त राज्य अमेरिका से 1056 करोड़ रुपये की वस्तुओं का आयात तथा 550 करोड़ रुपये की वस्तुओं का निर्यात किया गया था। उस वर्ष भारत के आयात व्यापार में संयुक्त राज्य अमेरिका का हिस्सा 21.0 प्रतिशत तथा निर्यात में 11.0 प्रतिशत था।

भारत का पाकिस्तान के साथ व्यापार (India's Trade with Pakistan) :—विभाजन के फलस्वरूप भारत को भारत संघ एवं पाकिस्तान दो पृथक् राष्ट्रों में विभाजित कर दिया गया। देश-विभाजन के फलस्वरूप भारत में कुछ वस्तुओं का अभाव-सा हो गया जिनमें कच्चा जूट एवं कपास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अतः भारत को इन वस्तुओं का आयात करना पड़ता है। भारत को कच्चा जूट के लिए पाकिस्तान पर ही मुख्य रूप से निर्भर करना पड़ता है। विभाजन के फलस्वरूप दोनों देशों का व्यापारिक संबंध प्रारम्भ में अच्छा नहीं रहा। देश-विभाजन के पश्चात् साम्प्रदायिक दंगे तथा बड़े पैमाने पर उथल-पुथल के फलस्वरूप दोनों देशों का व्यापार बन्द-सा हो गया। मई, 1948 ई० भारत एवं पाकिस्तान के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ जिसमें दोनों देशों के आयात एवं निर्यात के परिमाण का उल्लेख (Quantitative description) किया गया। यह तय हुआ कि दोनों देशों के मुद्रा का विनिमय साम्य-दरपर होगा तथा किसी प्रकार का विनिमय-नियन्त्रण नहीं रखा जायगा। भारत पाकिस्तान से जूट, कपास, सेंधा नमक, फल तथा चमड़ा आदि का आयात करता था तथा पाकिस्तान को बदले में कपड़ा, जूट के सामान, कोयला, लोहा, सरसों का तेल इत्यादि निर्यात करता था। किन्तु, पाकिस्तान ने उक्त समझौते का उल्लंघन कर भारत से जानेवाली वस्तुओं पर आयात कर लगा दिया जिससे भारत को भी ऐसा ही करना पड़ा। पुनः जून 1949 ई० में दोनों देश के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ इसके अनुसार दोनों देशों के बीच कोई विशेष व्यापार नहीं हो सका। इसी बीच सितम्बर, 1949 ई० में भारतीय रुपये का अवमूल्यन हुआ किन्तु पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया। इससे भारत को पाकिस्तानी वस्तुओं के लिए अधिक मूल्य चुकाना पड़ने लगा। साथ ही, भारतीय वस्तुएँ पाकिस्तान में सस्ती हो गयीं।

इससे दोनों देशों का व्यापार सुचारु रूप से नहीं चल सका। फलतः अप्रैल, 1950 ई० में दोनों देशों के बीच एक अल्पकालीन व्यापारिक समझौता हुआ जिसके अनुसार पाकिस्तान भारत को 8 लाख गाँठ कच्चा जूट के सामान,



सूती-वस्त्र, कोयला, लोहे का सामान आदि देता है। किंतु, यह व्यापारिक समझौता भी सफलतापूर्वक काम नहीं कर सका। अतः सितम्बर, 1950 ई० में इसका अन्त हो गया। पुनः जनवरी, 1951 ई० तक के लिए एक दूसरा व्यापारिक समझौता हुआ जिसके अनुसार भारत ने पाकिस्तान से कच्चा जूट एवं कपास का आयात किया तथा पाकिस्तान को जूट का सामान, कोयला एवं सूती वस्त्र आदि निर्यात किया। निर्यात एवं आयात की कुछ वस्तु को O. G. L. (Open General Licence) में रख दिया गया। पुनः अगस्त, 1952 ई० में एक समझौता हुआ। इसी प्रकार दोनों देशों के बीच व्यापारिक समझौते होते रहे। 1955 ई० में पाकिस्तान ने भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया जिससे दोनों देशों के व्यापार में विशेष प्रगति हुई। अन्तिम समझौता जनवरी, 1957 ई० में हुआ। इसके अनुसार दोनों देशों ने आपसी व्यापार को बढ़ाने का वादा किया। साथ ही, यह निश्चित किया कि दोनों देशों के बीच सीमा व्यापार पूर्ववत् चलता रहेगा। प्रत्येक 6 महीने के बाद उक्त समझौते के कार्यान्वयन पर विचार करने की बात तय हुई।

भारत एवं पाकिस्तान के बीच गत कुछ वर्षों में व्यापार का अन्दाजा निम्नलिखित तालिका से लगाया जा सकता है :—

#### भारत-पाकिस्तान का व्यापार (करोड़ रुपये में)

| वर्ष    | आयात | निर्यात | व्यापारिक शेष |
|---------|------|---------|---------------|
| 1950-51 | 43.9 | 30.6    | —10.3         |
| 1955-56 | 27.1 | 8.3     | —18.8         |
| 1960-61 | 14.0 | 10.3    | —3.7          |
| 1961-62 | 13.9 | 9.4     | —4.5          |
| 1965-66 | 5.7  | 4.9     | —0.8          |

इसके अतिरिक्त अन्य देशों के साथ भी भारत का व्यापार होता है। भारत के विदेशी व्यापार में आजकल आस्ट्रेलिया का भी प्रमुख स्थान है। 1965-66 ई० में आस्ट्रेलिया से कुल 24.1 करोड़ रुपये की वस्तुओं का आयात तथा 17.7 करोड़ रुपये की वस्तुओं का निर्यात किया गया था। जापान तथा कनाडा का हमारे विदेशी व्यापार में प्रमुख स्थान है। आजकल भारत का मध्य-पूर्वी एशियाई देशों तथा रूस के साथ व्यापार भी दिन-प्रति-दिन बने जा रहा है।

निम्नांकित तालिका से 1955-56 तथा 1976-77 में प्रमुख देशों के साथ भारत के विदेशी व्यापार का अन्दाजा लगाया जा सकता है :—

#### भारत का कुछ देशों के साथ विदेशी व्यापार (करोड़ रुपये में)

| देश     | निर्यात |         | आयात    |         |
|---------|---------|---------|---------|---------|
|         | 1955-56 | 1976-77 | 1955-56 | 1976-77 |
| ब्रिटेन | 166.3   | 510.1   | 172.7   | 321.3   |

| संयुक्त राज्य |      |       |      |        |
|---------------|------|-------|------|--------|
| अमेरिका       | 82.7 | 540.6 | 89.3 | 297.1  |
| जापान         | 30.2 | 549.2 | 33.4 | 1055.5 |
| आस्ट्रेलिया   | 24.8 | 64.7  | 13.5 | 249.6  |
| कनाडा         | 14.0 | 48.7  | 6.8  | 129.4  |
| रूस           | 3.3  | 440.4 | 6.2  | 307.2  |
| बर्मा         | 12.5 | 3.6   | 9.6  | 9.4    |
| पश्चिमी       |      |       |      |        |
| जर्मनी        | 14.9 | 224.7 | 60.1 | 305.6  |
| पाकिस्तान     | 8.4  | 4.9   | 27.1 | 5.7    |

उपरोक्त तालिका से भारत का कुछ प्रमुख देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि अधिकांश देशों से भारत निर्यात की अपेक्षा आयात ही अधिक करता है जिससे इसका व्यापारिक सन्तुलन मुख्यतः इसके विपक्ष में रहता है।

#### भारत की व्यापारिक नीति

( Commercial Policy of India )

भूमिका :—किसी भी देश के विदेशी व्यापार की प्रोत्साहित करने के लिए एक समुचित व्यापारिक नीति को आवश्यकता होती है। वास्तव में, विदेशी व्यापार का स्थिति बहुत कुछ देश की व्यापारिक नीति पर ही निर्भर करती है। प्रथम महायुद्ध के बाद से आयात-निर्यात करों की विस्तृत पद्धति के कारण इस प्रकार की नीति का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व भारत सरकार की व्यापारिक नीति में भारतीय हितों पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता था। ब्रिटिश सरकार की व्यापारिक नीति का मुख्य उद्देश्य भारत का आर्थिक विकास नहीं, बल्कि ब्रिटेन एवं अन्य साम्राज्यीय देशों को हित था। 1922-23 ई० के विवेचनात्मक संरक्षण की नीति के पूर्व भारत सरकार की व्यापारिक नीति मुख्यतः स्वतन्त्र व्यापार के उद्देश्यों पर ही आधारित थी। जो कुछ आयात एवं निर्यात कर लगाये थे उनका उद्देश्य व्यापार में वृद्धि नहीं होकर राजस्व में वृद्धि-मात्र था।

सरकार ने उपरोक्त नीति के आधार पर देश के व्यापार को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए समय-समय पर विदेशों के साथ बहुत-से व्यापारिक समझौते (Trade Agreements) किये थे, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

ओटावा व्यापारिक समझौता, 1932 ई० (Ottawa Trade Agreement, 1932)—जुलाई-अगस्त, 1932 में ब्रिटिश साम्राज्य के देशों का एक आर्थिक सम्मेलन ओटावा में हुआ जिसके अनुसार इनके बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ जिसे ओटावा समझौता कहा जाता है। इस समझौते के अनुसार साम्राज्यीय देशों के बीच व्यापार के प्रसार पर जोर दिया गया। इस उद्देश्य से साम्राज्यीय देशों ने आपस में एक दूसरे के लिए आयात-निर्यात करों को कम कर दिया। इस समझौते के अनुसार ब्रिटेन तथा



ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य देशों के उस माल पर जो भारत में आयात किये जाते थे, आयात कर घटा दिया गया। इसी प्रकार ब्रिटेन तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य देशों पर भारतीय आयात पर कम कर लगाया गया। इस व्यवस्था को साम्राज्यीय अधिमान (Imperial Preference) कहा जाता है। 1932 ई० में भारतीय विधान सभा ने इस समझौते को तीन वर्षों के लिए स्वीकार किया। 1 जनवरी, 1933 ई० से उक्त समझौते को लागू किया गया। अतः, इस समझौते के परिणामस्वरूप भारत सरकार ने आयात-निर्यात करों में आवश्यक परिवर्तन किया जिसके अनुसार इंग्लैंड तथा ब्रिटिश साम्राज्य से आनेवाली वस्तुओं पर आयात करों को कम कर दिया गया। इसके बदले में इंग्लैंड ने भी भारतीय वस्तुओं पर आयात करों में कुछ छूट दी।

ओटावा समझौते का प्रभाव भारत के व्यापार पर अच्छा नहीं पड़ा। भारतीय जनमत प्रारम्भ से ही साम्राज्यीय अधिमान के विपक्ष में रहा है, क्योंकि इस प्रकार की नीति से देश की ब्रिटेन पर निर्भरता में वृद्धि हुई। अतः, इसका भारत के व्यापार पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। इसके विपरीत सरकार का मत था कि साम्राज्यीय अधिमान की नीति से भारत को बहुत लाभ हुआ, किन्तु सरकार का यह मत विलकुल अनुचित था, क्योंकि—(1) उस समय भारत से ब्रिटेन को निर्यात की जानेवाली वस्तुओं में चावल, चाय, जूट के समान, तम्बाकू आदि प्रमुख थे। समझौते से उन वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहन अवश्य मिला, किन्तु बिना समझौते के भी उन वस्तुओं को इतना लाभ ब्रिटिश बाजार में अवश्य मिलता, क्योंकि ब्रिटिश बाजार में इनकी कोई प्रतियोगिता नहीं थी। इसके विपरीत भारत ने इंग्लैंड की प्रायः 162 वस्तुओं को अधिमान प्रदान किया था। (2) चाय एवं जूट के निर्यात में वृद्धि से भारतवासी उतने अधिक लाभान्वित नहीं हुए जितना कि चाय के बगानों एवं जूट के कारखानों के मालिकों को लाभ हुआ जो अधिकांशतः ब्रिटिश निवासी ही थे। (3) साम्राज्यीय अधिमान की नीति से भारत ने धीरे-धीरे अपने अमेरिका एवं जापान के बाजारों को खो दिया। इन देशों के साथ व्यापार बढ़ने की बहुत अधिक सम्भावना भी थी। किन्तु उक्त नीति के फलस्वरूप ऐसा नहीं किया जा सका। (4) ओटावा समझौते से भारत को भी राजस्व की बहुत हानि हुई। इन सब दोषों के कारण भारतीय विधान-सभा ने समझौते को 30 मार्च, 1936 ई० को रद्द कर दिया।

उक्त समझौते के अतिरिक्त भारत और इंग्लैंड के बीच समय-समय पर बहुत से अन्य व्यापारिक समझौते भी किये गये जिनमें 1933 ई० का मोदी-लीज पैक्ट (Modi Leese Pact) प्रमुख है। यह समझौता बम्बई तथा लंकाशायर के सूती-वस्त्र व्यापारिक के बीच 31 दिसम्बर

1935 ई० तक के लिए किया गया था। मोदी लीज समझौता के बदले में 1935 ई० में एक भारत ब्रिटेन पूरक व्यापारिक समझौता (Supplementary Indo-British Trade Agreement) हुआ। मार्च, 1935 ई० में भारत और इंग्लैंड के साथ एक दूसरा व्यापारिक समझौता (Indo-British Trade Agreement) हुआ। इस समझौते के अनुसार भारत ब्रिटेन से आयात की जानेवाली अनेक वस्तुओं पर, जैसे रसायन, रंग एवं कपड़ों के अवशिष्टांश तथा सीने की मशीन पर 10 प्रतिशत एवं मोटर-कार, साईकिल, बस इत्यादि पर  $7\frac{1}{2}$  प्रतिशत का अधिमान दिया गया। किन्तु इस समझौते को भी भारत के व्यापारिक वर्ग का समर्थन प्राप्त नहीं हो सका। यह समझौता केवल 6 महीने तक ही चल पाया था कि इसी बीच द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया।

भारत-जापान व्यापारिक समझौता (Indo-Japanese Trade Agreement):—भारत एवं जापान के बीच व्यापार का नियमन 1904 ई० के भारत-जापान व्यापारिक समझौते के अनुसार होता था। किन्तु, भारत ने 1933 ई० में इसे त्याग दिया। इस समझौते के अन्तर्गत जापान को परम अणुगृहीत राष्ट्र (Most favoured nation) समझा जाता था, अतः जब जापानी प्रतियोगिता से देश का सूती-वस्त्र उद्योग प्रभावित होने लगा तो भारत इस समझौते के अनुसार कुछ नहीं कर सकता था। 1933 ई० में भारत ने विदेशी कपड़ों के आयात पर 75 प्रतिशत का एक कर लगाया, तब एक जापानी शिष्ट-मण्डल भारत आया। पुनः 1934 ई० से भारत एवं जापान के बीच एक नया समझौता हुआ। इस समझौते के दो भाग थे—समझौता (Convention) तथा प्रोटोकॉल। प्रथम भाग में दोनों के व्यापारिक सम्बन्ध की एक रूप-रेखा प्रस्तुत की गयी थी तथा परमाणुगृहीत राष्ट्र के सिद्धान्त का प्रसार किया गया था। दूसरे भाग में, आयात-निर्यात के सम्बन्धों को निर्धारित किया गया था। साथ ही, कोटा की भी व्यवस्था थी। 31 मार्च, 1937 ई० के संशोधन द्वारा समझौते की अवधि को पुनः तीन वर्षों के लिए बढ़ा दिया गया। 31 मार्च, 1940 ई० को इस समझौते की समाप्ति के बाद भारत एवं जापान में 1948 ई० तक कोई व्यापारिक समझौता नहीं हुआ। पुनः 8 नवम्बर, 1948 ई० को जापान के साथ एक व्यापारिक समझौता हुआ जिसके अनुसार 1948 ई० से भारत जापान से 88 करोड़ रुपये का माल आयात करेगा और बदले में 56 करोड़ रुपये का सामग्री का निर्यात करेगा। वर्तमान समय में जापान भारत से बड़े पैमाने पर खनिज लोहा खरीदता है।

भारत की वर्तमान व्यापारिक नीति  
(Present Commercial Policy of India)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश के आर्थिक विकास



तथा पुनर्निर्माण के लिए हमारी राष्ट्रीय-सरकार ने एक स्वतन्त्र आर्थिक तथा व्यापारिक नीति को अपनाया है। भारत की वर्तमान व्यापारिक नीति का मुख्य उद्देश्य देश में आर्थिक नियोजन के कार्यक्रम को सफल बनाना है। इसका मुख्य उद्देश्य पंचवर्षीय योजनाओं के लक्ष्यों की पूर्ति में सहायता प्रदान करना, देश के औद्योगीकरण में सहयोग देना तथा निर्यात के स्तर को ऊँचा बनाना है जिससे भुगतान संतुलन में विपक्षता कम-से-कम हो सके। इसके साथ ही, व्यापारिक नीति का उद्देश्य देश के आयात-निर्यात को पंचवर्षीय योजनाओं के अनुकूल बनाना है। इस उद्देश्य से भिन्न-भिन्न देशों के साथ व्यापारिक समझौते किये गये हैं। 1966 ई० के अन्त में इस प्रकार के 31 समझौते प्रचलन में थे।

### वर्तमान व्यापारिक नीति की प्रधान विशेषताएँ (Main Features of the Present Commercial Policy)

भारत की वर्तमान व्यापारिक नीति की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

(1) द्विपक्षीय समझौता (Bilateral Agreements) :—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सरकार ने विभिन्न देशों के साथ द्विपक्षीय व्यापारिक समझौता किया है। इनमें से कुछ समझौतों का आधार वस्तु विनिमय है, कुछ में कुल आयात एवं निर्यात का विवरण है तथा कुछ का आधार वस्तुओं का परिमाण है। इस प्रकार भारत ने अनेक देशों से व्यापारिक समझौता किया है। द्विपक्षीय समझौतों से देश के विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन भी मिला है। समय-समय पर इनकी अवधि पूरी होने के बाद ये बढ़ायी जा रही है।

(2) व्यापारिक संतुलन की विपक्षता को कम करना :—गत कुछ वर्षों से देश के प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन से भारत सरकार के समक्ष एक विशेष समस्या उपस्थित हो गयी है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में व्यापारिक संतुलन की प्रतिकूलता में बहुत वृद्धि हो गई थी जिससे देश के समक्ष विदेशी विनिमय की बहुत बड़ी कठिनाई उपस्थित हो गयी। इस समस्या के समाधान के लिए बहुत-सारे प्रयत्न किये जा रहे हैं। सर्वप्रथम तो 1949 ई० में सरकार ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया। इससे स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ, किन्तु यह सुधार स्थायी नहीं हो सका। अतएव, इस व्यापारिक असंतुलन को दूर करने के लिए सरकार द्वारा आयात पर कठोर नियन्त्रण रखा जाता है तथा निर्यात को कई प्रकार से प्रोत्साहित किया जाता है। सरकार ने पुनः 6 जून, 1966 को अपनी मुद्रा का 36.5 प्रतिशत से अवमूल्यन किया। सरकारी प्रयत्नों के परिणामस्वरूप 1968-69 तथा 1969-भा० अ०—34

70 में निर्यात में पर्याप्त वृद्धि हुई जो अत्यधिक उत्साह-वर्द्धक जान पड़ती है।

(3) आयात पर नियन्त्रण (Import Control) :— जुलाई, 1950 ई० में आयात-नियन्त्रण प्रशासन को अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए एक समिति की नियुक्ति की गई जिसका प्रतिवेदन अक्टूबर, 1950 ई० में प्रकाशित हुआ। इस समिति के अनुसार आयात-नियन्त्रण के निम्नलिखित मूल उद्देश्य होने चाहिये :—

(क) सरकारी एवं निजी क्षेत्र के आयातों को कुल प्राप्त विदेशी विनिमय तक ही समिति रखना चाहिये,

(ख) कृषि एवं उद्योग दोनों के आयोजित विकास को ध्यान में रखते हुए उपभोग एवं उत्पादन का आवश्यक वस्तुओं के बीच विदेशी विनिमय का समान रूप से वितरण होना चाहिये,

(ग) जिन वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो रही हो उन्हें रोकने का प्रयास करना चाहिये; तथा

(घ) वस्तुओं के आयात के लिए लाइसेंस की प्रथा के विकेन्द्रीकरण की भी सिफारिश की गयी।

इस प्रकार उक्त समिति ने इस सम्बन्ध में बहुत-से सुझाव दिये। जनवरी, 1951 ई० के एक प्रस्ताव द्वारा सरकार ने इनमें से अधिकांश सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। इसी आधार पर प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में वस्तुओं का आयात होता रहा। 1959 ई० में आयात नीति में कुछ सुधार अवश्य किया गया। आयात-निर्यात नीति के सम्बन्ध में रामास्वामी मुदालियर समिति की सिफारिशों 1962 ई० में प्रकाशित हुई। समिति ने कई बातों पर जोर दिया था। समिति के अनुसार आयात-नियन्त्रण का प्रधान उद्देश्य देश का औद्योगिक विकास, विदेशी विनियम का संरक्षण तथा निर्यात को प्रोत्साहन होना चाहिये। साथ ही, उन वस्तुओं के आयात की छूट देनी चाहिये जिनसे निर्यात-सम्बन्धी वस्तुओं के उत्पादन में सुविधा हो।

जून, 1966 ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के बाद सरकार ने अपनी आयात-नीति को कुछ उदार बनाया है। इस नीति के अनुसार आवश्यक आयातों के सम्बन्ध में सरकारी नीति को अधिक उदार बनाया गया है। कुछ औद्योगिक कच्चे पदार्थ, यन्त्रों के पार्ट-पुर्जों तथा उपभोक्ता वस्तुओं से निर्यात पर से सभी प्रतिबन्ध हटा लिए गये हैं। अवमूल्यन से आयात के कम होने की आशा की गयी थी, किन्तु वह पूरी नहीं हुई।

(4) निर्यात को प्रोत्साहन (Export Promotion) :— भारत सरकार की वर्तमान व्यापारिक नीति की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता निर्यात को प्रोत्साहन प्रदान करना



है। सरकार आजकल निर्यात-प्रोत्साहन पर विशेष जोर दे रही है। हमारी निर्यात-सम्बन्धी नीति का प्रधान उद्देश्य देश की आन्तरिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए निर्यात की मात्रा में अधिकतम वृद्धि करनी है। 1949 ई० में इस उद्देश्य से श्री ए० डी० गोरवाला की अध्यक्षता में एक निर्यात विकास परिषद् (Export Promotion Advisory Council) की स्थापना हुई जिसने निर्यात-सम्बन्धी नीति के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिफारिशें कीं :—

- (i) निर्यात में बाधा पहुँचानेवाले करों को कम या समाप्त किया जाय,
- (ii) निर्यात की जानेवाली वस्तुओं की परिकल्पना पर नियन्त्रण किया जाय, तथा
- (iii) निर्यात की जानेवाली वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि की जाय।

भारत सरकार ने इनमें से अधिकांश सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। सरकार द्वारा एक निर्यात-विकास परामर्शदातृ परिषद् (Export Promotion Advisory Council) की नियुक्ति की गयी जो सरकार को निर्यात-नियन्त्रण सम्बन्धी नीति पर सलाह देती है। 1959 ई० में इसका पुनर्गठन किया गया। प्रति छः महीने में एक बार इस परिषद् की बैठक होती है जिसमें निर्यात नीति का पुनर्वीक्षण होता है, एवं परिस्थितियों के अनुसार निर्यात को प्रोत्साहन देने की व्यवस्था की जाती है। जून, 1966 ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के बाद से निर्यात के अधिकांश प्रोत्साहन को समाप्त कर दिया गया किन्तु अवमूल्यन का संतोषप्रद प्रभाव नहीं होने के कारण पुनः निर्यात प्रोत्साहन के उपायों को काम में लाना पड़ा। मई, 1962 ई० में एक Board of Trade की नियुक्ति की गयी जो निर्यात-प्रोत्साहन नीति की जाँच करता है।

इनके अतिरिक्त विदेशी व्यापार के विभिन्न उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सरकार द्वारा बहुत-से द्विपक्षीय (Bilateral) एवं बहुपक्षीय (Multilateral) व्यापारिक समझौते किये जा रहे हैं तथा वर्तमान एवं भविष्य में स्थापित होनेवाले उद्योगों को संरक्षण एवं आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। सरकार की इस नीति के फलस्वरूप एक ओर तो बहुत-से नये-नये उद्योगों की स्थापना हुई है तथा दूसरी ओर आयात एवं निर्यात में

बहुत अधिक वृद्धि हुई है। इस समय भारत से केवल चाय, जूट के सामान, सूती वस्त्र, तम्बाकू आदि वस्तुओं का ही निर्यात नहीं किया जाता, वरन् सीने की मशीनें, साइकिल, रासायनिक पदार्थ, सीमेंट, साबुन आदि का निर्यात भी किया जाने लगा है। आयात के अन्तर्गत खाद्यान्न, यन्त्र एवं अन्य पूँजीगत सामान तथा आवश्यक कच्चे पदार्थ भी आते हैं।

आज कल निर्यात को प्रोत्साहन प्रदान करने के उद्देश्य से सरकार ने बहुत-सी वस्तुओं के निर्यात पर से नियन्त्रण समाप्त कर दिया है।

(5) आर्थिक नियोजन की सफलता (Success of Economic Planning):—इनके अतिरिक्त भारत की वर्तमान व्यापारिक नीति का सर्वाधिक प्रमुख उद्देश्य देश में आर्थिक नियोजन के कार्यक्रम को सफल बनाना है। इन उद्देश्य से पंचवर्षीय योजनाओं की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर केवल आवश्यक सामानों एवं यंत्रों का ही आयात किया जाता है। साथ ही, निर्यात को बढ़ाने की भी हर संभव कोशिश की जाती है जिससे व्यापारिक संतुलन की विपक्षता में कमी हो सके।

#### राजकीय व्यापारिक निगम (Steel Trading Corporation)

मई, 1956 में 1 करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी, जिसे बाद में बढ़ाकर 2 करोड़ रुपये कर दिया गया, से राजकीय व्यापारिक निगम नामक एक संस्था का निर्माण हुआ। निगम का मुख्य उद्देश्य<sup>1</sup> प्रारम्भ में समाजवादी देशों के साथ व्यापार करना था। निगम का प्रधान कार्य निर्यात, आयात, आंतरिक व्यापार, लघु उद्योगों को निर्यात-सम्बन्धी सहायता तथा निर्यात-प्रधान निगमों में सहभागिता आदि निर्धारित किया गया था। इस प्रकार निगम का मुख्य उद्देश्य निर्यात व्यापार को प्रोत्साहित कर देश के विदेशी व्यापार को अधिक संतुलित बनाना है। निगम ने अल्प-मुद्रावाले देशों में निर्यात को प्रोत्साहित करने का कार्यक्रम अपनाया है जिससे उन देशों से इस्पात तथा औद्योगिक मशीनें आदि प्राप्त की जा सकें। निगम खनिज धातु, जूते, हस्त-कला की वस्तुएँ, नमक, चाय, कढ़वा आदि वस्तुओं के निर्यात को भी प्रोत्साहित करता है। साथ ही, निगम ने अब विदेशों से सीमेंट, सोडा, खाद तथा जिप्सम आदि उचित मूल्य पर क्रय किया है। भारत सरकार ने देश में 1959-60 ई० से सीमेंट के वितरण का कार्य भी निगम को सुपुर्द कर दिया। निगम

1. "The object of the Corporation has been set out as follows—"To organise and effect export from and imports into India of all such goods and commodities as the company may from time to time, determine and purchase, sale and transport of and general trade in such goods and commodities in India or any where else in the world and to do all such things as are incidental or conducive to the attainment of the above object."



## भारत का विदेशी व्यापार

531

के कुल व्यापार की मात्रा 1956-57 ई० में 9.1 करोड़ रुपये से बढ़कर 1969-70 ई० में 163.1 करोड़ रुपये, 1970-71 में 215 करोड़ रुपये तथा 1973-74 में 520 करोड़ रुपये हो गयी। इस प्रकार आशा है कि निगम विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित करने में बहुत अधिक सहायक होगी। 1970-71 में निगम द्वारा निर्यात की मात्रा 70 करोड़ रुपये, आयात की मात्रा 140 करोड़ रुपये तथा आंतरिक व्यापार की मात्रा 5 करोड़ रुपये थी।

राजकीय व्यापारिक निगम ने निर्यात के क्षेत्र में बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य किया है। वास्तव में, देश की विदेशी विनिमय-सम्बन्धी वर्तमान कठिनाइयों के निवारण के लिए निर्यात को अधिकतम प्रोत्साहन देना अनिवार्य है और इस क्षेत्र में निगम के अधिक सहायक होने की आशा की जाती है। हाल में ही निगम ने लघु उद्योगों की वस्तुओं के निर्यात को सहायता देने के लिए EASI (Export Aid to Small Scale Industry) नामक एक योजना चालू की है।

खनिज एवं धातु व्यापारिक निगम (Minerals and Metals Trading Corporation) :—1962 ई० में राजकीय व्यापारिक निगम को दो भागों में विभाजित कर एक खनिज एवं धातु व्यापारिक निगम स्थापित किया गया जिसने अक्टूबर, 1963 ई० से कार्य करना प्रारम्भ किया। इसकी अधिकृत पूँजी 5 करोड़ रुपये है। इसका प्रधान उद्देश्य खनिज-पदार्थों के निर्यात तथा धातुओं के आयात का नियन्त्रण है। निगम लोहा, कोयला, मैंगनीज तथा बॉक्साइट आदि का निर्यात करती है। 1968-69 में निगम ने 91.7 लाख टन कच्चे लोहे का निर्यात किया था। 1968-69 ई० में इसने कुल 80.2 करोड़ रुपये के खनिज-पदार्थों का निर्यात किया था। इसी तरह यह ताम्बा, शीशा, अलुमिनियम आदि का भी आवश्यकतानुसार आयात करता है।

मेटल स्कैप ट्रेड निगम (Metal Scrap Trade Corporation) :—इसी प्रकार के एक और निगम मेटल स्कैप ट्रेड कॉर्पोरेशन की स्थापना सितम्बर, 1964 ई० में की गयी। इसकी अधिकृत पूँजी 2 करोड़ रुपये है। यह फेरस तथा गैर-फेरस धातुओं के स्कैप का आयात-निर्यात करता है। 1967 ई० के प्रथम नौ माह में इसका निर्यात 9.77 करोड़ रुपये था।

पंचवर्षीय योजनाओं में भारत का विदेशी व्यापार (India's Foreign Trade in Five Year Plans)

पंचवर्षीय योजनाओं में विदेशी विनिमय प्राप्त करने के लिए निर्यात को प्रोत्साहित करने पर पूरा-पूरा जोर दिया जा रहा है। दूसरी ओर, विदेशी विनिमय सीमित

होने के कारण आयात पर भी तरह-तरह के नियन्त्रण लगाये जा रहे हैं।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में विदेशी व्यापार (Foreign Trade in the First Five Year Plan) :—प्रथम पंचवर्षीय योजना में विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में नीति-निर्धारित करने में देश-विभाजन एवं स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हुए परिवर्तनों को ध्यान में रखा गया था। इन परिवर्तनों में खाद्यान्न तथा कच्चे पदार्थों के आयात में अत्यधिक वृद्धि, निर्यात की मात्रा में कमी, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य अल्प-मुद्रावाले देशों के साथ व्यापारिक संतुलन की प्रतिकूलता इत्यादि विशेष प्रमुख थे। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर प्रथम योजना-काल में विदेशी व्यापार की नीति का निर्धारण किया गया था। प्रथम योजनाकाल के पाँच वर्षों में देश के आयात-निर्यात का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

प्रथम योजनाकाल में विदेशी व्यापार (करोड़ रुपये में)

| वर्ष    | आयात   | निर्यात | व्यापारिक संतुलन |
|---------|--------|---------|------------------|
| 1951-52 | 962.9  | 730.1   | —232.8           |
| 1952-53 | 633.0  | 601.9   | —31.1            |
| 1953-54 | 591.8  | 539.7   | —52.1            |
| 1954-55 | 689.7  | 596.6   | —93.1            |
| 1955-56 | 778.1  | 640.3   | —137.8           |
| कुल योग | 3650.5 | 3108.6  | —541.9           |

इस प्रकार प्रथम योजनाकाल में चालू खाता (Current Account) में कुल 3650.5 करोड़ रुपये का आयात तथा 3108.6 करोड़ रुपये का निर्यात किया गया था। दूसरे शब्दों में, प्रथम योजनाकाल में आयात का वार्षिक औसत 730.1 करोड़ रुपये तथा निर्यात का वार्षिक औसत 621.7 करोड़ रुपया था। और, योजनाकाल में पाँच वर्षों में देश का व्यापारिक सन्तुलन कुल 541.9 करोड़ रुपये से भारत के विपक्ष में था।

द्वितीय योजनाकाल में विदेशी व्यापार (Foreign Trade in the Second Five Year Plan) :—द्वितीय योजनाकाल में कई कारणों से निर्यात की अपेक्षा आयात में बहुत अधिक वृद्धि हुई जिसका अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

द्वितीय योजनाकाल में विदेशी व्यापार (करोड़ रुपये में)

| वर्ष    | आयात   | निर्यात | व्यापारिक संतुलन |
|---------|--------|---------|------------------|
| 1956-57 | 1102.1 | 635.0   | —466.9           |
| 1957-58 | 1231.2 | 594.2   | —639.0           |
| 1958-59 | 1029.3 | 576.3   | —453.0           |



|         |        |        |         |
|---------|--------|--------|---------|
| 1959-60 | 932.3  | 627.4  | -304.9  |
| 1960-61 | 1105.7 | 630.2  | -475.2  |
| कुल     | 5402.6 | 3063.6 | -2339.0 |

इस प्रकार द्वितीय योजनाकाल के पांच वर्षों में कुल 3063.6 करोड़ रुपये की वस्तुओं, यानी औसत प्रति वर्ष 612.7 करोड़ रुपये मूल्य की वस्तुओं का निर्यात हुआ था। इसके विपरीत 5402.6 करोड़ रुपये, यानी प्रतिवर्ष 1080.5 करोड़ रुपये का आयात हुआ था। इस प्रकार द्वितीय योजनाकाल में व्यापारिक सन्तुलन (Balance of Trade) 2339 करोड़ रुपये से भारत के विपक्ष में था। इससे स्पष्ट है कि द्वितीय योजनाकाल में आयात में बहुत अधिक वृद्धि हुई। आयात में इस वृद्धि के लिए द्वितीय योजना के प्रारम्भिक वर्षों में खाद्यान्न की कमी तथा औद्योगीकरण पर जोर होने के कारण मशीनों एवं यन्त्रों के आयात में अधिक वृद्धि आदि उत्तरदायी हैं।

तृतीय योजनाकाल में विदेशी व्यापार (India's Foreign trade during the Third Five Year Plan) :—तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में देश के विदेशी व्यापार की नीति का मुख्य उद्देश्य आयात को कम करना तथा निर्यात को बढ़ाना था। भारत-जैसे विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्थावाले देशों में आयात में निरन्तर वृद्धि की आवश्यकता पड़ती है। इसे पूरा करने के लिए निर्यात में वृद्धि अनिवार्य है। तृतीय पंचवर्षीय योजना में चीनी तथा पाकिस्तानी आक्रमण से उत्पन्न संकट के कारण निर्यात को बढ़ाने की आवश्यकता और भी प्रबल हो गयी। योजना आयोग ने 1961-62 ई० से 1965-66 की अवधि में अर्थ-व्यवस्था की वर्तमान गति को बनाये रखने के लिए 3,570 करोड़ रुपये के आयातों (Maintenance imports) की आवश्यकता का अनुमान लगाया था। इस अवधि में लगभग 500 करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा की आवश्यकता ऋणों तथा इनके सौद को चुकाने के लिए थी। साथ ही, योजना से सम्बन्धित कार्यों के लिए 2,100 करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा की और आवश्यकता थी। इस प्रकार आयोग का अनुमान था कि 1961-62 से 1965-66 ई० तक निर्यात से 3700 करोड़ रुपये का विदेशी विनिमय प्राप्त होगा। इस प्रकार तृतीय योजना में औसत प्रतिवर्ष 740 करोड़ रुपये के निर्यात का अनुमान था जबकि प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में यह औसत क्रमशः 620 करोड़ रुपये तथा 612 करोड़ रुपये था। योजनाकाल में निर्यात में वृद्धि इससे अधिक ही हुई। तृतीय पंचवर्षीय योजना में आयात एवं निर्यात का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से चगता है :—

### तृतीय योजनाकाल में विदेशी व्यापार (करोड़ रुपये में)

| वर्ष    | आयात   | निर्यात | व्यापाराधिक्य |
|---------|--------|---------|---------------|
| 1961-62 | 1006.0 | 668.3   | -337.7        |
| 1962-63 | 1096.8 | 680.9   | -415.9        |
| 1963-64 | 1245.0 | 801.6   | -443.4        |
| 1964-65 | 1420.8 | 800.9   | -619.9        |
| 1965-66 | 1350.0 | 783.3   | -566.7        |
| कुल     | 6118.6 | 3735.0  | -2383.6       |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि तृतीय योजनाकाल में निर्यात की मात्रा 3735 करोड़ रुपये थी, यानी तृतीय योजनाकाल में निर्यात में प्रायः 22.0 प्रतिशत की वृद्धि हुई। निर्यात में इस वृद्धि के लिए नयी-नयी वस्तुओं; जैसे—चीनी, कच्चा लोहा, चमड़े के सामान, हस्त-कला की वस्तुएँ आदि उत्तरदायी हैं। वास्तव में, पिछले प्रायः 15 वर्ष में विश्व में चाय, जूट-निर्मित वस्तुएँ तथा सूती वस्त्र के निर्यात में भारत का हिस्सा धीरे-धीरे घट रहा है, किंतु कई नयी वस्तुओं का निर्यात देश से किया जाने लगा है तथा इनकी मात्रा में भी क्रमशः वृद्धि हो रही है।

किन्तु, तृतीय योजनाकाल में आयात में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई। पाँच वर्षों में कुल आयात 6118.6 करोड़ रुपये था। यह वृद्धि 1965 ई० के पाकिस्तानी आक्रमण तथा योजना के अन्तिम वर्षों में खाद्य-संकट के कारण और तीव्र हो गयी। इससे देश के भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई। भुगतान संतुलन की इस प्रतिकूलता को कम करने के लिए सरकार द्वारा इस बीच नये-नये प्रयत्न किये गये, जैसे—स्वर्ण-पत्र (Gold bonds) के द्वारा देशवासियों से स्वर्ण प्राप्त करना तथा National Defence Remittance Scheme आदि।

अवमूल्यन (Devaluation) :—किन्तु, इन उपायों से भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता में कोई आशाजनक सुधार नहीं हो सका। अतः जून, 1966 ई० में भारत सरकार ने अपनी मुद्रा के समतल मूल्य में स्वर्ण के रूप में 36.5 प्रतिशत तथा यू० एस० डालर के रूप में 57.5 प्रतिशत से अवमूल्यन कर दिया। अवमूल्यन से निर्यात में वृद्धि तथा आयात में कमी की आशा की गयी थी। किन्तु अवमूल्यन से भी भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता में कोई कमी नहीं हो सकी जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—



भारत का विदेशी व्यापार (करोड़ रुपये में)  
(अवमूल्यन के बाद की दर में)<sup>1</sup>

| वर्ष    | आयात   | निर्यात |
|---------|--------|---------|
| 1960-61 | 1767.2 | 1011.7  |
| 1965-66 | 2218.4 | 1268.9  |
| 1966-67 | 2078.4 | 1156.5  |
| 1967-68 | 2042.8 | 1254.6  |
| 1968-69 | 1740.5 | 1367.4  |

इससे स्पष्ट है कि अवमूल्यन से व्यापारिक संतुलन की विपक्षता में कोई कमी नहीं हुई। फिर भी, निर्यात में वृद्धि हुई जिसके निम्नांकित कारण थे—

- (1) अवमूल्यन के प्रारम्भिक चरण में निर्यात-प्रोत्साहन उपायों को समाप्त किया गया, उन्हें पुनः अपनाना पड़ा।
- (2) लोहा एवं इस्पात तथा इंजीनियरिंग वस्तुओं के निर्यात में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। साथ ही, निर्यात प्रोत्साहन के लिए तरह-तरह के उपाय अपनाये गये।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में विदेशी व्यापार  
(Foreign Trade in the Fourth Five  
Year Plan)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में पाँच वर्षों में 9730 करोड़ रुपये के आयात की आवश्यकता का अनुमान था। इसमें से 7840 करोड़ रुपये Maintenance import, 1300 करोड़ रुपये योजना के कार्यों के लिए यन्त्र आदि के आयात तथा 590 करोड़ रुपये खाद्यान्न के आयात पर व्यय की आशा थी। इसके अतिरिक्त 2600 करोड़ रुपये ऋण, मूलधन तथा व्याज आदि के भुगतान की आवश्यकता का अनुमान था, यानी चतुर्थ योजनाकाल में कुल मिलाकर 12,330 करोड़ रुपये विदेशी मुद्रा की आवश्यकता का अनुमान था। उसमें से 4030 करोड़ रुपये योजनाकाल में ऋण एवं अनुदान आदि के रूप में विदेशी सहायता से मिलने की आशा थी। शेष 8300 करोड़ रुपये निर्यात के द्वारा पूरा करने की व्यवस्था थी। इसके लिए योजनाकाल में निर्यात को 1968.69 ई० 1360 करोड़ रुपये से बढ़ाकर 1973-74 ई०, यानी चतुर्थ योजना के अन्तिम वर्ष में 1900 करोड़ रुपये करने का आयोजन था। इस प्रकार योजनाकाल में निर्यात में 540 करोड़ रुपये यानी प्रतिवर्ष निर्यात में 7 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का आयोजन था। इस आधार पर योजना काल में कुल निर्यात की रकम 8400 करोड़ रुपये होने का अनुमान था।

1. Fourth Five Year Plan.

2. India—1977.

3. India Pocket Book of Economic Information.

चतुर्थ योजनाकाल में आयात एवं निर्यात का अंदाज निम्नांकित तालिका<sup>2</sup> से लगाया जा सकता है :—

चतुर्थ योजना में विदेशी व्यापार (करोड़ में)

| वर्ष    | आयात    | निर्यात | व्यापाराधिक्य |
|---------|---------|---------|---------------|
| 1969-70 | 1582.10 | 1413.28 | —168.82       |
| 1970-71 | 1634.20 | 1535.16 | —9.04         |
| 1971-72 | 1824.54 | 1608.22 | —216.32       |
| 1972-73 | 1867.44 | 1970.83 | +103.39       |
| 1973-74 | 2920.91 | 2483.22 | —437.69       |
| कुल     | 9829.19 | 9010.71 | —818.48       |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि चतुर्थ योजनाकाल में निर्यात की प्रगति बड़ी ही संतोषजनक रही है। योजना काल में 8300 करोड़ रुपये निर्यात की आशा थी जबकि वास्तविक रूप में 9011 करोड़ रुपये का निर्यात हुआ। योजना के अन्तिम वर्ष (1973-74) में 1960 करोड़ रुपये के निर्यात का आयोजन था जबकि उस वर्ष वास्तव में निर्यात 2483 करोड़ रुपये हुआ था। साथ ही, अनावश्यक आयात को रोकने में भी पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। इस प्रकार पाँच वर्षों में व्यापाराधिक्य केवल 818 करोड़ रुपये से भारत के विपक्ष में था, यानी चतुर्थ योजना काल में औसत वार्षिक 163 करोड़ रुपये का व्यापारिक घाटा हुआ। योजनाकाल में भुगतान संतुलन की स्थिति भी बहुत अधिक संतोषजनक रही। योजना के अन्तिम वर्ष में पेट्रोलियम तथा रासायनिक खाद आदि के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि के परिणामस्वरूप आयात के मूल्य में अप्रत्याशित वृद्धि नहीं होती तो भुगतान संतुलन की स्थिति और भी अच्छी होती।

निम्नांकित तालिका से 1951-52 से 1973-74 की अवधि में चार पंचवर्षीय योजनाओं तथा तीन वार्षिक योजनाओं में विदेशी व्यापार का अंदाजा लगता है :—

1950-51 से 1973-74 के बीच भारत का विदेशी व्यापार (करोड़ रुपये में)<sup>3</sup>

| अवमूल्यन के पूर्व |         |         | अवमूल्यन के बाद |           |        |
|-------------------|---------|---------|-----------------|-----------|--------|
| प्रथम             | द्वितीय | तृतीय   | 1966-67         | से चतुर्थ |        |
| योजना             | योजना   | योजना   | 1968-69         | योजना     |        |
| 1951-56           | 1956-61 | 1961-66 |                 | 1969-74   |        |
| आयात              | 3617    | 4882    | 6119            | 5562      | 9829   |
| निर्यात           | 3029    | 3046    | 3735            | 3778      | 9011   |
| <hr/>             |         |         |                 |           |        |
| व्यापार का        |         |         |                 |           |        |
| घाटा              | —588    | —1836   | —2384           | —1784     | —818   |
| वार्षिक           |         |         |                 |           |        |
| औसत               | —117.8  | —367.2  | —482.8          | —595      | —165.6 |



### पाँचवीं योजना में भुगतान-संतुलन की स्थिति (Balance of Payments in the Fifth Five Year Plan)

पाँचवीं योजना से सम्बन्धित आँकड़ों से यह स्पष्ट होता है कि योजनाकाल में पाँच वर्षों में कुल 12580 करोड़ रुपये तथा कुल 14,100 करोड़ रुपये निर्यात का अनुमान था। इसका अर्थ यह है कि योजनाकाल में व्यापाराधिक्य की रकम पाँच वर्षों में 1520 करोड़ रुपये होने की आशा थी। अदृश्य मदों में कुल 711 करोड़ रुपये के घाटे का अनुमान था। इसका तात्पर्य यह है कि कुल मिलाकर पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में 2231 करोड़ रुपये के घाटे का अनुमान था। विदेशी सहायता द्वारा इस घाटे की पूर्ति का आयोजन था।

पाँचवीं योजना के अन्तिम वर्ष, यानी 1978-79 में निर्यात के बढ़कर 2890 करोड़ रुपये हो जाने का आयोजन था यानी योजनाकाल में निर्यात में वार्षिक 7.6 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था। निर्यात के अन्तर्गत इंजिनियरिंग के सामान, खनिज लोहा, हस्तकला, सूती वस्त्र तथा इस्पात के निर्यात में अत्यधिक वृद्धि का आयोजन था। इसी प्रकार आयात में भी पाँचवीं योजनाकाल में वार्षिक 7.6 प्रतिशत की दर से वृद्धि का आयोजन था। कुल 14,100 करोड़ रुपये के प्रस्तावित आयात में पेट्रोलियम 22%, धातु एवं यन्त्र इत्यादि 28 प्रतिशत तथा रासायनिक खाद के आयात के 10 प्रतिशत का अनुमान था। पाँचवीं योजना में खाद्यान्न के आयात की कोई व्यवस्था नहीं की गयी थी। योजना आयोग के अनुसार "It has been assumed that the envisaged increase in output of foodgrains together with the efficient management of food economy will make possible to avoid large scale food Imports." दूसरी ओर पाँचवीं योजना में पेट्रोलियम, यन्त्र तथा रासायनिक खाद की जगह काम आनेवाली वस्तुओं के आयात को प्रोत्साहित करने का आयोजन था।

पाँचवीं योजना की अवधि में विदेशी व्यापार की स्थिति भारत के अनुकूल रही। यद्यपि यह योजना चार वर्षों में ही समाप्त हो गयी तथापि इसमें आयात की तुलना में निर्यात में बहुत अधिक वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप योजना के अंत में यानी 1977-78 में 4,000 करोड़ रुपये विदेशी मुद्रा का कोष भारत के पास हो गया। पाँचवीं योजना के तीसरे वर्ष, यानी 1976-77 में निर्यात की रकम बढ़कर 5,143 करोड़ रुपये तथा आयात की रकम 5,074 करोड़ रुपये हो गयी।

छठी पंचवर्षीय योजना में विदेशी व्यापार  
(Foreign Trade during the Sixth Five Year Plan)

छठी पंचवर्षीय योजना में निर्यात के 1976-77 में

5143 करोड़ रुपये से बढ़कर 1982-83 में 7750 करोड़ रुपये होने की आशा है। इसी प्रकार आयात के 1976-77 में 5074 करोड़ रुपये से बढ़कर 1982-83 में 10,500 करोड़ रुपये होने की आशा है। छठी योजना की रूपरेखा में विदेशी व्यापार की स्थिति के निम्नांकित प्रकार से हो जाने की आशा है:

|                       | (करोड़ रुपये में) |               |
|-----------------------|-------------------|---------------|
| मदें                  | रकम               | व्यापाराधिक्य |
| व्यापार निर्यात       | 34,000            |               |
| आयात                  | 42,825            | (-) 8,825     |
| अदृश्य सेवाएँ (शुद्ध) | 3,460             |               |
|                       | 2,015             | (+) 5,475     |
| ऋण-सेवाएँ             |                   |               |
| ब्याज                 | (-) 1,510         |               |
| पुनर्भुगतान           | (-) 2,920         | (-) 4,430     |
| अन्य देशों को सहायता  |                   | (-) 350       |
| अन्य लेन-देन          |                   | (-) 1,070     |
| कुल व्यापाराधिक्य     |                   | (-) 9,200     |

इस प्रकार छठी योजना में व्यापाराधिक्य के 9200 करोड़ रुपये से देश के विपक्ष में होने का अनुमान किया गया है। इसके भुगतान के लिए योजना अवधि में 8,020 करोड़ रुपये विदेशी ऋण एवं सहायता के रूप में प्राप्त होने का आयोजन है। भुगतान की शेष रकम, यानी 1,180 करोड़ रुपये देश के विनिमय कोष से पूरा करने का आयोजन है। छठी योजना के प्रारम्भ में भारत का विदेशी विनिमय कोष बढ़कर 4000 करोड़ रुपये हो गया था।

### निर्यात-सम्बन्धी नयी नीति (New Import Policy)

जुलाई, 1970 ई० में भारत सरकार द्वारा लोक सभा में निर्यात के सम्बन्ध में एक नयी और अधिक व्यापक नीति प्रस्तुत की गयी। इस नीति की निम्नलिखित मुख्य बातें हैं:

(i) निर्यात-प्रोत्साहन के उद्देश्य से सरकार कुछ समय के लिए आंतरिक उपभोग पर कुछ नियंत्रण भी लगा सकती है।

(ii) विदेशी व्यापार में राजकीय क्षेत्र का हिस्सा अधिक महत्वपूर्ण होना चाहिए। इस सम्बन्ध में राजकीय व्यापार निगम (State Trading Corporation) तथा खनिज एवं धातु निगम (Minerals and Metals Trading Corporation) को विशेष रूप से दायित्व निभाना होगा।



(iii) निर्यात में लगे लोगों को अधिकाधिक मात्रा में वित्तीय एवं तकनीकी सहायता प्रदान करने की व्यवस्था की जायगी। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद निर्यात उद्योग में लगे व्यक्तियों को वित्तीय सहायता प्रदान करने में विशेष सुविधा होगी।

(iv) वस्तुओं के निर्यात के साथ-साथ देश से परामर्श-सम्बन्धी सेवाओं (Consultancy Services) के निर्यात को भी प्रोत्साहित करने पर विशेष जोर दिया गया।

इस प्रकार उपरोक्त निर्यात-नीति से यह स्पष्ट है कि सरकार द्वारा निर्यात को बढ़ाने पर विशेष रूप से जोर दिया जा रहा है। किन्तु, सरकार की सफलता कई बातों पर निर्भर करती है जिनमें निम्नांकित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(क) भारतीय निर्यात की वस्तुओं को विदेशी बाजार में लागत की दृष्टि से किस हद तक प्रतिस्पर्द्धी बनाया जा सकता है।

(ख) निर्यात के ढाँचे को अधिकाधिक मात्रा में व्यापक बनाने के लिए किस हद तक व्यापारिक वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाया जा सकता है।

(ग) निर्यात के लिए अतिरिक्त रकम प्राप्त करने के उद्देश्य से सरकार किस हद तक आंतरिक उत्पादन को बढ़ाने तथा उपभोग को कम करने में सफल हो सकेगी।

(घ) देश में कीमत-स्तर को किस हद तक स्थायी बनाया जा सकता है।

सारांश यह है कि निर्यात विकास कार्य-क्रम को सफल बनाने के लिए देश की अर्थ-व्यवस्था को सामान्य रूप से विकसित करने तथा कीमत-स्तर में वृद्धि को रोकने की व्यवस्था अति आवश्यक होगी।

**व्यापार विकास संस्थान (Trade Development Authority) :**—पिछले कुछ वर्षों से निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार द्वारा अपनाये गये विभिन्न उपायों के बावजूद निर्यात की प्रगति संतोषजनक नहीं रही। अतएव, चतुर्थ योजना के निर्यात-सम्बन्धी लक्ष्यों की पूर्ति के लिए भारत सरकार द्वारा सितम्बर, 1970 ई० में एक Trade Development Authority की नियुक्ति की गयी। इसका प्रधान उद्देश्य संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, जापान, ब्रिटेन तथा कनाडा आदि देशों को बिजली का सामान, साइकिल तथा इसके पुर्जे, चमड़े के सामान, चुनी हुई दस्तकारियाँ, स्टेनलेस स्टील के सामान, मोटर गाड़ियों के कुछ पार्ट-पुर्जे आदि के निर्यात को प्रोत्साहित करना है। इन पदार्थों के निर्यात के लिए विदेशों में बहुत अधिक क्षेत्र है। अतएव, आशा की जाती है कि व्यापार विकास संस्थान निर्यात विकास के क्षेत्र में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान करेगा।

## भारत एवं गैट

### (India and the General Agreement on Tariff and Trade)

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद जब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा विश्व बैंक की स्थापना हुई तो व्यापार के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान की स्थापना को आवश्यक समझा गया। अतएव 1947 ई० में हवाना में विश्व के प्रमुख राष्ट्रों की एक बैठक हुई जिसमें एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संगठन (International Trade Organisation) की स्थापना के लिए हवाना चार्टर पर हस्ताक्षर किये गये। भारत भी इस चार्टर के प्रारम्भिक हस्ताक्षरियों में से एक था। किन्तु, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन के विरोध के कारण इस प्रकार की संस्था की स्थापना नहीं की जा सकी।

**गैट के उद्देश्य (Objectives of the G. A. T. T.) :**—अतएव 1947 ई० में जेनेवा (Geneva) में 23 राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें आयात करों को कम करने के लिए एक समझौता हुआ जिसे General Agreement on Tariff and Trade अथवा गैट (GATT) कहते हैं। इस समय इस समझौते में 50 राष्ट्र हैं जो विश्व के प्रायः 80 प्रतिशत विदेशी व्यापार के लिए उत्तरदायी हैं। 9 जुलाई, 1948 ई० से यह समझौता अस्थायी रूप से लागू किया गया। व्यापारिक नीति के क्षेत्र में गैट अन्तर-राज्य अधिकारों तथा दायित्वों को पूरा करने के लिए विभिन्न सरकारों के बीच एक प्रकार का समझौता है। इसका प्रधान उद्देश्य आपसी समझौते के द्वारा अन्तर-राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र की सभी बाधाओं को दूर करना है। (The G. A. T. T. is an inter-governmental instrument providing for rights and obligations in the field of commercial policy. Its principal objective is to promote the expansion of international trade through reciprocal and mutually advantageous arrangements directed towards the reduction of custom tariffs and other barriers to trade and the elimination of discriminatory practices) इस प्रकार गैट का मौलिक उद्देश्य स्वतन्त्र व्यापार को प्रोत्साहित करना है। यह बहु-पक्षी समझौतों के द्वारा विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से कार्य करता है। संक्षेप में, गैट के निम्नांकित तीन प्रधान उद्देश्य हैं :—

- (i) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की विभिन्न बाधाओं को कम करना (to reduce trade barriers),
- (ii) भेद-भाव को समाप्त करना (To eliminate discriminations), तथा



(iii) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सभी कुरीतियों को समाप्त करना (To abolish all unfair trade practices)।

गैट का मूल 'most favoured dation' सम्बन्धी धारा है जिसके अन्तर्गत द्विपक्षी समझौते के आधार पर सदस्य-राष्ट्र एक दूसरे को विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करते हैं। चूँकि आयात-निर्यात कर ही विदेशी व्यापार के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा प्रस्तुत करते हैं, अतएव इन्हें कम करने के लिए सदस्य-राज्यों के बीच सदा आपस में समझौते होते रहे हैं।

गैट एवं अल्प-विकसित राष्ट्र (GATT and the Under-developed countries) :—अविकसित एवं अल्प-विकसित राष्ट्रों का हित गैट के ठीक विपरीत है क्योंकि विकासशील देशों को अपने नये उद्योगों को विकसित करने का अवसर प्रदान करना पड़ता है। अतएव, इन्हें आयात-निर्यात करों को बराबर रखना पड़ता है। गैट, वास्तव में, इन देशों की आवश्यकताओं के प्रति जागरूक है। अविकसित देशों के विकास की तालिका में सम्मिलित

उद्योगों में इन्हें आयात करों को घटाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

1965 ई० में जेवरल एग्रीमेन्ट के चतुर्थ खण्ड के रूप में एक नये अध्याय का समावेश किया गया जिसके अन्तर्गत विकासशील देशों द्वारा अपने निर्माण उद्योगों के लिए बाजार की खोज पर जोर दिया गया है। अतएव विकसित राष्ट्रों से यह अनुरोध किया गया है कि वे विकासशील देशों के संभावित आयात पर किसी प्रकार के कर नहीं लगायें। इस प्रकार भारत-जैसे अर्द्ध-विकसित देश को औद्योगिक विकास के लिए टैरिफ में छूट की सुविधा प्रदान की गयी है। साथ ही, अपने नये उद्योगों की रक्षा के लिए भी इसे सुविधा प्राप्त हुई है।

भारत गैट के उद्देश्यों का भली-भाँति पालन करता है। यह विदेशी व्यापार के क्षेत्र में अनुचित रुकावट डालने का प्रयास नहीं करता। अपने नये उद्योगों को इसने विदेशी प्रतियोगिता से संरक्षण अवश्य प्रदान किया है, किन्तु इस प्रकार का संरक्षण केवल समझौते की शर्तों के अन्तर्गत ही प्रदान किया गया है। वास्तव में, गैट की नीति भारत के अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की नीति के अनुरूप ही है।

#### विशेष अध्ययन-सूची

- |                                       |                                                     |
|---------------------------------------|-----------------------------------------------------|
| 1. Manmohan Singh                     | : India's Export Trade.                             |
| 2. S. K. Verghese                     | : India's Foreign Trade.                            |
| 3. Planning Commission                | : Five Year Plans.                                  |
| 4. Reserve Bank of India              | : India's Balance of Payments 1948-49 to 1961-62.   |
| 5. Govt. of India                     | : Report of the Import and Export Committee (1969). |
| 6. The Journal of Industry and Trade, |                                                     |

—:०:—



"The Origin of inflation is very often to be found in the panicky nervousness of unstable governments in politically unsettled communities. Given political stability, there is no reason why India should not be able to carry out her future plans without generating serious inflationary pressures on the price-level."

—*Bhabatosh Dutta.*

मूल्य, मुद्रा, बैंकिंग एवं वित्तीय-व्यवस्था  
[ Prices, Currency, Banking and Financial Organisation ]



❀ इस खण्ड में ❀

- ★ अध्याय : 47 भारत में मूल्य  
(Prices in India)
- ★ अध्याय : 48 भारतीय चलन एवं विनिमय  
(Indian Currency & Exchange)
- ★ अध्याय : 49 भारतीय रुपये का अवमूल्यन  
(Devaluation of the Indian Rupee)
- ★ अध्याय : 50 भारतीय बैंकिंग व्यवस्था का विकास  
(Development of the Indian Banking)
- ★ अध्याय : 51 रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया  
(Reserve Bank of India)
- ★ अध्याय : 52 स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया  
(State Bank of India)
- ★ अध्याय : 53 भारत में मिश्रित पूँजीवाले बैंक  
(Joint Stock Banking in India)
- ★ अध्याय : 54 भारतीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण  
(Nationalisation of Indian Banks)
- ★ अध्याय : 55 भारत में बेकारी, अर्द्ध-बेकारी तथा पूर्ण रोजगारी  
(Unemployment, Under-employment and Full employment in India)
- ★ अध्याय : 56 केन्द्र एवं राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध  
(Financial Relations between States and the Union)
- ★ अध्याय : 57 केन्द्र एवं राज्य सरकारों का आय-व्यय  
(Income & Expenditure of States & the Union)



## अध्याय : 47

### भारत में मूल्य (Prices in India)

**प्राक्कथन :—**मूल्य का अध्ययन साधारणतः बड़ा ही जटिल होता है। भारत में तो देश के विशाल आकार एवं विभिन्न क्षेत्रों में मूल्य तथा जीवन-स्तर की विषमताओं के कारण इसके अध्ययन में और भी कठिनाई होती है। किन्तु, आर्थिक विकास के संदर्भ में मूल्य-स्तर का अध्ययन बहुत कारणों से विशेष महत्त्व का है। मूल्य में समय-समय पर हुए परिवर्तनों के अध्ययन से देश की सामान्य आर्थिक स्थिति का अन्दाजा लगता है। साथ ही, इसी पर देश में करों के स्तर का निर्धारण भी निर्भर करता है। मूल्य-तल में परिवर्तन से मुद्रा की क्रय-शक्ति का भी अन्दाजा लगता है। इससे इस बात का भी पता चलता है कि मूल्य में परिवर्तन से विभिन्न वर्ग किस प्रकार से प्रभावित होते हैं। उदाहरण के लिए, हमारे देश में वर्तमान समय में जो मुद्रा-स्फीति पायी जाती है, वह व्यापारियों के लिए अत्यधिक लाभदायक सिद्ध हो रही है क्योंकि इससे इनके लाभ की मात्रा में वृद्धि होती है, किन्तु इससे मध्यम तथा निम्न वर्ग के लोगों को हानि होती है। और अंततः, भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश में विकास की योजनाओं के कार्यान्वयन के लिए समुचित मूल्य-नीति की प्रबल आवश्यकता है। और-तो-और, मूल्य-नियंत्रण पर ही आर्थिक नियोजन की वास्तविक सफलता भी निर्भर करती है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में भारत में मूल्य-तल की सामान्य प्रवृत्ति इसमें वृद्धि की थी। भारत सरकार ने मूल्य-तल में वृद्धि की जाँच के लिए 1910 ई० में श्री के० एल० दत्ता की अध्यक्षता में एक मूल्य जाँच समिति (Price Enquiry Committee) की नियुक्ति की थी। समिति के अनुसार इस अवधि में देश में मूल्य-तल में अत्यधिक वृद्धि के बहुत-सारे कारण थे, किन्तु इनमें सर्वाधिक प्रमुख कारण सिक्कों का अत्यधिक टंकन था। 1898 ई० में भारत में 130 करोड़ रुपये के सिक्के प्रचलन में थे। 1908 ई० तक सरकार ने 100 करोड़ रुपये के और सिक्कों का टंकन किया। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा में इस आकस्मिक वृद्धि के परिणामस्वरूप कीमतों की वृद्धि अति स्वाभाविक थी।

**स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व कीमतें (Prices before the Independence) :—**प्रथम युद्ध-काल में युद्ध-जनित कारणों से मूल्य-स्तर में बहुत अधिक वृद्धि हुई। फिर

भी, युद्ध में संलग्न देशों की अपेक्षा भारत में मूल्य की वृद्धि कम ही हुई थी। युद्ध-काल में प्रायः सभी वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हुई थी। 1914 की तुलना 1919 ई० में खाद्यान्नों के मूल्य में 96%, आयात किये गये कपड़ों के मूल्य में 90 प्रतिशत तथा देश में बने कपड़ों के मूल्य में 60 प्रतिशत की वृद्धि हुई। युद्धकाल में कीमतों में वृद्धि के बहुत-से कारण थे जिनमें उत्पादन में कमी, युद्ध में संलग्न देशों की माँग में वृद्धि, युद्ध-काल में साख एवं मुद्रा में अत्यधिक वृद्धि आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

**महान् आर्थिक मन्दी का समय (The period of Great Depression) :—**युद्ध के बाद 1920 ई० में मूल्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये थे, किन्तु 1921 ई० के बाद इनमें ह्रास एवं मन्दी का काल प्रारम्भ हुआ। अक्टूबर, 1929 ई० में वाल स्ट्रीट के पतन (Wall Street Collapse) के साथ ही विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी प्रारम्भ हुई जिसके प्रभाव से भारत भी वंचित नहीं रह सका। इस मन्दी का प्रभाव कृषि तथा किसानों पर सबसे बुरा पड़ा। कृषि एवं कच्चे पदार्थों के मूल्य में सबसे अधिक कमी हुई। सितम्बर, 1929 ई० से मार्च, 1933 ई० के बीच निर्यात की वस्तुओं के मूल्य में 51 प्रतिशत तथा आयात की वस्तुओं के मूल्य में 27 प्रतिशत कमी हुई। इसके बाद मार्च 1933 ई० से आंशिक पुनरुत्थान का काल प्रारम्भ हुआ जो अगस्त, 1937 ई० तक चला। यह पुनरुत्थाव विश्व के पैमाने पर पुनरुत्थान का परिणाम था।

इस मन्दी के बहुत-से कारण थे जिनमें कुछ मौद्रिक तथा कुछ गैर-मौद्रिक थे। गैर-मौद्रिक कारणों के माँग की तुलना में कच्चे पदार्थों तथा निर्मित वस्तुओं की पूर्ति में अत्यधिक वृद्धि उल्लेखनीय थी। मौद्रिक कारणों में संयुक्त राज्य अमेरिका एवं फ्रांस में विश्व के अधिकांश स्वर्ण का जमा होना था। इसके फलस्वरूप विश्व के अन्य देशों के पास स्वर्ण-कोष का अभाव हो गया जिससे वे मुद्रा-संकुचन की नीति का अनुसरण करने लगे। मन्दी का प्रभाव देश की आर्थिक व्यवस्था पर बहुत बुरा पड़ा। इससे किसानों सबसे अधिक बुरी तरह से प्रभावित हुए। इनकी क्रय-शक्ति घट गयी जिससे मन्दी का प्रभाव और भी बुरा हो गया। इसका प्रभाव उद्योग-धन्धों पर भी पड़ा तथा इनकी वस्तुओं की माँग भी धीरे-धीरे घटने लगी।



द्वितीय महायुद्ध काल में मूल्य स्तर (Prices in the Second World War) :—सितम्बर, 1939 ई० में द्वितीय युद्ध प्रारम्भ होते ही वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने लगी। पूर्वी क्षेत्र में जापान के युद्ध में प्रवेश करने के फलस्वरूप मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति और भी तीव्र हो गयी। मिस्र-राष्ट्रों के पूर्वी एवं मध्य-पूर्वी मोर्चे में पूर्ति का प्रमुख साधन भारत ही था। ब्रिटिश सरकार के बदले में भारत सरकार को प्रतिवर्ष बहुत अधिक युद्ध के सामान खरीदने पड़ते थे। देश में भी सुरक्षा-व्यय में पर्याप्त वृद्धि हुई। इन सबके लिए सरकार को अत्यधिक मात्रा में नोट छापने की आवश्यकता हुई जिसके फलस्वरूप बैंकों ने अपनी जमा-राशि को भी बढ़ाना आरम्भ कर दिया। इन सब कारणों से मूल्य-तल में वृद्धि होने लगी।

युद्ध की समाप्ति के समय 1944-45 ई० में सामान्य सूचनांक 1939-40 ई० का प्रायः दुगुना से भी अधिक था। युद्ध प्रारम्भ होते ही सट्टेबाजी के कारण वस्तुओं के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि प्रारम्भ हो गयी। किन्तु जनवरी, 1940 ई० से जून, 1940 ई० तक पुनः मूल्य में कमी हुई। इसका मुख्य कारण निर्यात तथा विनिमय दर का नियन्त्रण था। किन्तु दिसम्बर, 1941 ई० में युद्ध के समीप आ जाने के कारण 1942 ई० के आरम्भ से ही मूल्य-स्तर में तीव्र गति से वृद्धि होने लगी। प्रारम्भ में सरकार ने मूल्य तल में वृद्धि को रोकने का पूरा प्रयत्न किया तथा आवश्यक वस्तुओं के मूल्य एवं वितरण पर नियन्त्रण किया गया। फिर भी, इससे स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ तथा मूल्य में वृद्धि की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर जारी रही।

युद्ध-समाप्ति के बाद भी मूल्य-तल की वृद्धि उत्तरोत्तर जारी रही जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

अगस्त, 1939 = 100

| वर्ष    | सामान्य सूचनांक |
|---------|-----------------|
| 1944-45 | 244.2           |
| 1945-46 | 244.9           |
| 1946-47 | 275.5           |
| 1947-48 | 307.7           |

युद्धोत्तर काल में मूल्य तल में वृद्धि के कई कारण थे जिनमें निम्नांकित प्रमुख थे—(1) युद्ध के बाद भी देश में मुद्रा की पूर्ति में निरन्तर वृद्धि होती रही; (2) युद्ध के उपरान्त वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग में भी वृद्धि हो गयी; तथा (3) कृषि एवं उद्योग-धन्धों के उत्पादन में कमी के फलस्वरूप भी युद्धोत्तर काल में मूल्य-तल में वृद्धि हुई।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद मूल्य-स्तर (Price-level after the Independence)  
1947 ई० में देश-विभाजन का भी मूल्य-स्तर पर प्रभाव पड़ा। विभाजन के फलस्वरूप भारत में खाद्यान्न एवं

कच्चे पदार्थों (विशेषतः कपास एवं जूट) का अभाव हो गया। इसका प्रभाव भी मूल्य-तल पर बहुत अधिक पड़ा। साथ ही, विभाजन के फलस्वरूप साम्प्रदायिक दंगे तथा बड़ी संख्या में शरणार्थियों के भारत आने का प्रभाव भी मूल्य-तल पर पड़ा। इस प्रकार मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति को विभाजन के फलस्वरूप और भी बल मिला। 1949 ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन से खाद्यान्न एवं कच्चे पदार्थों को प्राप्त करने की कठिनाई और भी उग्र हो गयी। पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया जिससे पाकिस्तानी वस्तुएँ भारत में और भी महँगी पड़ने लगीं।

इसी बीच 1950 ई० में कोरियन युद्ध का प्रभाव भी भारतीय मूल्य-तल पर बहुत अधिक पड़ा। युद्ध के प्रारम्भ में सट्टेबाजी एवं व्यापारियों द्वारा अत्यधिक संग्रह की नीति के फलस्वरूप मूल्य-सूचनांक में वृद्धि होने लगी। भारत सरकार ने मूल्य-तल में वृद्धि को रोकने के लिए आवश्यक वस्तुओं के मूल्य एवं पूर्ति पर नियन्त्रण की नीति अपनाया। किन्तु, इसका परिणाम भी आशा-जवक नहीं हुआ। इस प्रकार मूल्य-सूचनांक जो जून, 1950 में 405.8 था, बढ़कर मार्च, 1951 ई० में 438.6 हो गया।

किन्तु अप्रैल, 1951 ई० से भारत में मूल्य-तल में ह्रास की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगी। इसके कई कारण थे जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियाँ तथा भारत सरकार की मूल्य-नियन्त्रण सम्बन्धी नीति आदि प्रमुख थे। थोक मूल्यों का सूचनांक जो अप्रैल, 1951 ई० में 462.0 था, घट कर मार्च, 1952 ई० में 378.2 हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों में मार्च, 1951 ई० में अमेरिका की संग्रहीकरण (Stock Piling) की नीति में परिवर्तन तथा विश्व में उपभोक्ता मालों की पूर्ति में वृद्धि प्रमुख थे। आन्तरिक कारणों में अधिक उदार आयात-नीति, निर्यात पर नियन्त्रण, कुछ खास वस्तुओं के उपयोग पर नियंत्रण तथा अत्यधिक साख-प्रसार को रोकने के लिए बैंक दर को 3 प्रतिशत से बढ़ाकर  $3\frac{1}{2}$  प्रतिशत करना आदि प्रमुख हैं। इन उपायों का प्रभाव मूल्य-तल पर बहुत अधिक पड़ा एवं इसमें ह्रास प्रारम्भ हो गया।

किन्तु शीघ्र ही सरकारी प्रयत्नों के फलस्वरूप मूल्य में ह्रास रुक गया। इसके बहुत-से कारण थे जिनमें औद्योगिक उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि एवं सरकार द्वारा निर्यात को प्रोत्साहन देने की नीति आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पुनः 1954-55 ई० में मूल्य-तल में ह्रास की प्रवृत्ति दीख पड़ने लगी। इसका मुख्य कारण खाद्यान्नों के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि थी। 1953-55 ई० में खाद्यान्न पर से नियंत्रण हटा लिया गया। इसके परिणामस्वरूप खाद्यान्न के उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि हुई। खाद्यान्न का मूल्य सूचक मार्च, 1954 ई० में 317.8 से घटकर



मार्च 1955 ई० में 97.0 हो गया। मूल्य-तल में यह कमी मई, 1955 ई० तक चली जिसके बाद इनमें पुनः वृद्धि होने लगी तथा सितम्बर, 1955 ई० तक मूल्य-तल में 7.7 प्रतिशत की वृद्धि हो गयी। यह प्रवृत्ति अभी तक बनी हुई है। द्वितीय योजनाकाल के प्रारम्भ से ही मूल्य-तल में बहुत अधिक वृद्धि होने लगी। दिसम्बर 1954 ई० में थोक मूल्य का सूचनांक 368 से बढ़कर, दिसम्बर 1956 ई० में 429 हो गया। द्वितीय योजनाकाल में मूल्य-तल कई कारणों से प्रभावित हुआ। योजना के प्रारम्भ से ही देश में खाद्यान्न का अभाव बढ़ गया जिसकी पूर्ति के लिए अरबों रुपये के अन्न का आयात करना पड़ा। 1956 ई० में स्वेज-संकट का प्रभाव भी मूल्य-तल पर पड़ा। किन्तु इस काल में मूल्य-तल में वृद्धि का सबसे महत्वपूर्ण कारण द्वितीय योजना को कार्यान्वित करने के लिए बड़े पैमाने पर घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit financing) का अवलम्बन था।

#### पंचवर्षीय योजनाओं में मूल्य-तल (Price-Level in Five Year Plans)

पंचवर्षीय योजनाओं में अत्यधिक विनियोग से मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति उत्पन्न होने लगी। अतएव, सरकारी नीति का एक प्रधान उद्देश्य वस्तुओं के मूल्य-तल, विशेषतः उपभोक्ता वस्तुओं के मूल्य-तल को स्थायी बनाना हो गया। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के पूर्व तक मूल्य-तल में हुए परिवर्तनों का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :-

थोक मूल्यों में का सूचनांक<sup>1</sup> (1952-53 = 100)

| वर्ष    | खाद्य-पदार्थ | औद्योगिक कच्चे पदार्थ | निर्मित वस्तुएँ | सामान्य सूचनांक |
|---------|--------------|-----------------------|-----------------|-----------------|
| 1955-56 | 95.0         | 111.0                 | 103.0           | 99.2            |
| 1960-61 | 118.0        | 138.0                 | 129.0           | 127.5           |
| 1965-66 | 175.0        | 210.0                 | 157.0           | 174.0           |
| 1966-67 | 218.0        | 236.0                 | 168.0           | 202.9           |
| 1967-68 | 226.0        | 199.0                 | 163.0           | 201.1           |
| 1968-69 | 222.0        | 246.0                 | 173.0           | 211.5           |

उपरोक्त तालिका के आधार पर पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओं के 15 वर्षों की अवधि को मूल्य में परिवर्तन की दृष्टि से चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम स्तर 1951-52 से 1955-56 तक, यानी प्रथम योजना की अवधि का है जिसमें मूल्य-तल में 17.3 प्रतिशत की कमी हुई। द्वितीय स्तर द्वितीय योजना काल, यानी 1956-57 से 1960-61 ई० तक का है जिसमें 1952-53 के आधार पर मूल्य-तल के सामान्य सूचनांक में 28 प्रतिशत की वृद्धि हुई। किन्तु द्वितीय योजना के प्रारंभ

से ही मूल्य-स्तर में वृद्धि की प्रवृत्ति स्पष्ट होने लगी। इसके कई कारण थे। सर्वप्रथम तो द्वितीय योजना के प्रारम्भ से ही खाद्यान्न का अभाव हो गया जिसकी पूर्ति के लिए विदेशों से बहुत अधिक मात्रा में खाद्यान्न का आयात करना पड़ा। साथ ही, द्वितीय योजना काल में अधिक विनियोग एवं बड़े पैमाने पर घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit Financing) का प्रभाव भी मूल्य-स्तर पर पड़ा। 1960-61 ई० में मूल्य-स्तर का सामान्य सूचनांक 127.5 हो गया। तृतीय-स्तर तृतीय योजना के प्रथम दो वर्षों का है जो मूल्य-तल में सामान्य स्थिरता का समय था तथा जिसमें मूल्य-तल में 1960-61 ई० की तुलना में 0.1 प्रतिशत की कमी ही हुई। वास्तव में, तृतीय योजना के प्रथम वर्ष (1961-62) ई० में मूल्य-तल में ह्रास ही हुआ था। अन्तिम स्तर, 1963-64 से 1968-69 ई० का है जिसमें मूल्य-तल में बहुत अधिक वृद्धि हुई। इसके बाद मूल्य-तल में वृद्धि में कुछ रुकावट हुई है किन्तु पुनः मूल्य-तल में तीव्र वृद्धि जारी है।

इससे स्पष्ट है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के बाद मूल्य-तल में निरन्तर बढ़ने की प्रवृत्ति रही है। द्वितीय योजना के पाँच वर्षों में थोक मूल्यों के सामान्य सूचनांक में प्रायः 28 प्रतिशत की वृद्धि हुई। योजनाकाल में खाद्य-पदार्थों के मूल्य में 24 प्रतिशत, तैयार वस्तुओं के मूल्य में 25 प्रतिशत तथा औद्योगिक कच्चे पदार्थों के मूल्य में 47 प्रतिशत के लगभग वृद्धि हुई। इसका देश के एक बहुत बड़े जनसमुदाय पर बिल्कुल विपरीत प्रभाव पड़ा।

तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में मूल्य-तल में अत्यधिक वृद्धि (The excessive price-rise in the Third Plan) :—उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि तृतीय योजना में मूल्य-तल में अत्यधिक वृद्धि प्रारम्भ हुई। इसका प्रधान कारण 1962 ई० में चीनी आक्रमण से उत्पन्न संकट की स्थिति था। चीनी आक्रमण से उत्पन्न संकट की स्थिति का सामना करने के लिए देश की आर्थिक व्यवस्था को युद्ध के दौरान की तरह कार्य करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इससे मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति को और भी बल मिला। तृतीय योजना के प्रथम दो वर्षों 1961-62 तथा 1962-63 ई० में मूल्य-तल में कोई वृद्धि नहीं हुई। वास्तव में, 1961-62 में 1960-61 ई० की अपेक्षा मूल्य-तल में कमी ही हुई थी। थोक मूल्यों का सामान्य सूचनांक 1960-61 ई० में 127.5 था जो 1962-63 ई० में 127.4 हो गया। किन्तु इसके बाद मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई। 1964 ई० से मूल्य-तल में वृद्धि की यह प्रवृत्ति बहुत तीव्र हो गयी। 1966-67 ई० के पूर्व के तीन वर्षों में मूल्य-तल में औसत वार्षिक वृद्धि 12 प्रतिशत की हुई। 1965 ई० में पाकिस्तानी आक्रमण तथा खाद्यान्नों



के अभाव से इस प्रवृत्ति को और भी बल मिला। अप्रैल, 1963 ई० से मार्च, 1964 ई० के बीच थोक मूल्यों का सामान्य सूचकांक [1961-62 को 100 रखने पर] 127.9 से बढ़कर 159 हो गया तथा खाद्यान्नों का सूचकांक 126.1 से बढ़कर 153.6 हो गया। इसी प्रकार उपभोक्ता वस्तुओं के मूल्यों का सूचकांक (1961-62 के आधार पर) मार्च, 1963 ई० में 130 से बढ़कर मार्च 1964 ई० में 143 हो गया। यह निश्चय ही बहुत भयानक स्थिति है। द्वितीय योजना के पाँच वर्षों में थोक मूल्यों के सामान्य सूचकांक में केवल 35 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी जबकि तृतीय योजना के अन्तिम तीन वर्षों में ही 46 प्रतिशत की वृद्धि हो गयी। इसी प्रकार जबकि खाद्यान्नों के थोक मूल्यों में द्वितीय योजनाकाल के पाँच वर्षों में 34 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी, तृतीय योजनाकाल में 52 प्रतिशत की वृद्धि हो गयी। अप्रैल, 1964 ई० के बाद मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति और भी तीव्र हो गयी जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है—

#### थोक मूल्यों का सूचकांक (1961-62 = 100)

| वर्ष    | खाद्य-पदार्थ | औद्योगिक कच्चे पदार्थ | निर्मित पदार्थ | सामान्य सूचकांक |
|---------|--------------|-----------------------|----------------|-----------------|
| 1962-63 | 106          | 98                    | 103            | 103.8           |
| 1965-66 | 145          | 133                   | 118            | 131.6           |
| 1968-69 | 197          | 157                   | 133            | 165.4           |
| 1969-70 | 197          | 180                   | 144            | 171.6           |
| 1970-71 | 204          | 197                   | 155            | 181.0           |
| 1971-72 | 210          | 191                   | 167            | 188.0           |
| 1972-73 | 240          | 204                   | 177            | 207.0           |
| 1973-74 | 296          | 299                   | 206            | 254.0           |
| 1974-75 | 364          | 327                   | 255            | 313.0           |
| 1975-76 | 348          | 267                   | 253            | 303.0           |

इस प्रकार स्पष्ट है कि मार्च, 1964 ई० के बाद मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति बहुत ही तीव्र हो गयी। इस अवधि में खाद्यान्नों के मूल्य में सबसे अधिक वृद्धि हुई। इनके थोक मूल्यों का सूचकांक (1961-62-100, के आधार पर) मार्च, 1965 ई० में 145 से बढ़कर मार्च, 1967 ई० में 171 तथा मार्च, 1968 में 207 हो गया। योजना आयोग के अनुसार तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल तथा बाद में मूल्यतल में वृद्धि का प्रधान कारण खाद्यान्नों की पूर्ति का अभाव तथा आंतरिक व्यय, राजकीय तथा निजी दोनों क्षेत्र में वृद्धि थी। [The large increases during the Third plan period have been due to an inadequate increase in the available supply of

food and other essential commodities as well as a continued increase in domestic expenditure, both public and private.]

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में भी मूल्य-तल में वृद्धि की यह प्रवृत्ति जारी रही। चतुर्थ योजना के प्रारम्भ में यह प्रवृत्ति उतनी बलवती नहीं थी, किन्तु अन्तिम दो वर्षों 1972-73 तथा 1973-74 में मूल्य-तल में अप्रत्याशित दर से वृद्धि हुई। मूल्य-तल का सामान्य सूचकांक (1961-62 = 100) जो जून, 1972 में 198.8 था, बढ़कर जून, 1973 में 241.5 तथा जून, 1974 में 308.9 हो गया। वस्तु-वर्ग को ध्यान में रखने से यह स्पष्ट होता है कि खाद्य-पदार्थों के मूल्य में 1972-73 में 23.6 प्रतिशत तथा 1973-74 में 26 प्रतिशत की वृद्धि हुई। खाद्य-पदार्थों के अन्तर्गत भी सर्वाधिक वृद्धि गेहूँ एवं चावल दो पदार्थों के अन्तर्गत में ही हुई। सबसे अधिक वृद्धि इस अवधि में पेट्रोल तथा पेट्रोल से सम्बन्धित वस्तुओं के मूल्य-तल में हुई। रासायनिक खादों के मूल्य में भी अत्यधिक वृद्धि हुई। सितम्बर, 1974 तक मूल्य-तल की वार्षिक वृद्धि 32 प्रतिशत तक पहुँच गयी थी जो विश्व में सर्वाधिक है।

किन्तु जुलाई 1974 में सरकार द्वारा अपनाये गये स्फीति-विरोधी नियमों के फलस्वरूप मूल्य-तल की वृद्धि में कुछ शिथिलता आने लगी तथा 1975 में देश में आपात-कालीन स्थिति की घोषणा के परिणामस्वरूप मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति में कुछ कमी आ गयी है। परिणामस्वरूप 1975-76 में मूल्य-सूचकांक 1974-75 के 313 से घटकर 303 हो गया।

मूल्य-तल में वृद्धि के कारण रुपये का वास्तविक मूल्य भी घट रहा है और The Economic Times के रिसर्च डिविजन के अनुसार यह 1961-62 से 1968-69 के बीच आठ वर्षों में घटकर केवल 58 पैसे ही रह गया। निम्नांकित तालिका से यह बिल्कुल स्पष्ट है—

#### रुपये की क्रय-शक्ति (1960 की तुलना में)

| वर्ष | क्रय-शक्ति (पैसे में) | वर्ष | क्रय-शक्ति (पैसे में) |
|------|-----------------------|------|-----------------------|
| 1961 | 46.2                  | 1972 | 49.5                  |
| 1965 | 73.2                  | 1974 | 32.9                  |
| 1968 | 56.5                  | 1976 | 33.8                  |
| 1970 | 54.3                  | 1977 | 30.6                  |

आयोजन काल में मूल्य-तल में वृद्धि के दो दुष्परिणाम हैं:—सर्वप्रथम तो इससे योजना के कार्यक्रमों की लागत बढ़ जाती है और द्वितीयतः यह देश की विशाल जनसंख्या के जीवन-स्तर को प्रभावित करती है। वास्तव में, “मूल्य-वृद्धि के निरन्तर भय ने भारत में जनसाधारण को आयो-



जित अर्थ-व्यवस्था के लाभ के सम्बन्ध में संशयालु बना दिया है।" (The everpresent dread of soaring prices has made the common man suspicious about the benefits of a planned economy for India.) अतएव, देश में आर्थिक नियोजन के कार्य के सफल सम्पादन के लिए मूल्य-तल में इस वृद्धि को रोकना अति अनिवार्य है। इसके लिए एक उचित एवं प्रगतिशील मूल्य-नीति की आवश्यकता है। इस प्रकार की नीति के अभाव में ही तृतीय एवं चतुर्थ योजनाएँ असफल हो गयीं। पाँचवीं योजना की सफलता भी इसी पर आधारित है।

### 1950-51 ई० के बाद मूल्य-तल में वृद्धि के कारण [Causes of Rise in the Prices since 1950-51]

इस प्रकार स्पष्ट है कि पिछले कुछ वर्षों में मूल्य-तल में अत्यधिक वृद्धि हुई है। पिछले कुछ वर्षों में भारत में मूल्यों की स्फीतिजनक वृद्धि (Inflationary rise of Prices) को प्रभावित करनेवाले कारण निम्नलिखित हैं :—

1. जनसंख्या का बढ़ता हुआ दबाव (Growing Pressure of Population) :—हमारे देश में 1921 से और विशेष रूप से 1951 से जनसंख्या में निरन्तररूप से और तीव्र गति से वृद्धि हो रही है। 1951-60 वाले दशक में जनसंख्या में वृद्धि की दर 21.5 प्रतिशत अथवा 2.2 प्रतिशत वार्षिक थी जबकि 1961-70 वाले दशक में इसमें 24.6 प्रतिशत अथवा वार्षिक 2.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। मूल्य में वृद्धि, विशेषतया खाद्य-वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि का एक प्रधान कारण बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण खाद्यान्न की माँग में वृद्धि है और खाद्यान्न की मूल्य-वृद्धि के परिणामस्वरूप सामान्य मूल्य-स्तर बढ़ जाता है। किन्तु, यह याद रखना चाहिए कि आर्थिक नियोजन के आरंभ से अबतक उत्पादन में, विशेषतया खाद्यान्न के उत्पादन में, जनसंख्या वृद्धि की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई है। उदाहरणतया, 1951 से 1961 तक जनसंख्या 21.5 प्रतिशत बढ़ी, जब कि राष्ट्रीय आय में 4.4 प्रतिशत, कृषि-उत्पादन में 46 प्रतिशत, खाद्यान्न की उत्पादन में 50 प्रतिशत, औद्योगिक उत्पादन में 77 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

अतः यह स्पष्ट है कि वर्तमान समय की मूल्य-वृद्धि के लिए जनसंख्या में वृद्धि को ही उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। फिर भी, यह सत्य है कि प्रत्येक वर्ष देश की जनसंख्या में 120 से 150 लाख तक की वृद्धि हो रही है, जबकि कृषि उत्पादन में अपेक्षाकृत कम वृद्धि हो रही है।

2. मध्यवर्ती एवं पूँजीगत वस्तुओं के क्षेत्र में विनियोग की ऊँची दर (High rate of investment in intermediate and capital goods sector):—भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में आर्थिक विकास का विशाल कार्यक्रम आरम्भ करने पर भारी विनियोग करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, 1951 से 1961 के दशक में कुल 10,

100 करोड़ रुपये का विनियोग किया गया, जिसमें से सरकारी क्षेत्र में 5,200 करोड़ रुपये एवं निजी क्षेत्र में, 4,900 करोड़ रुपये का विनियोग हुआ। तीसरी योजना तथा तीन एक-वर्षीय योजनाओं (1966-69) में सरकारी क्षेत्र में 15,230 करोड़ रुपये का विनियोग हुआ। इतने भारी विनियोग के परिणामस्वरूप पूँजीगत वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होना बिल्कुल स्वाभाविक है तथा इनकी मूल्य-वृद्धि के कारण इन पर निर्भर वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं। वास्तव में, मूल्य-वृद्धि संक्रामक (Contagious) होती है जो शीघ्र ही सभी क्षेत्रों में फैल जाती है। मजदूर संघ अधिक मजदूरी प्राप्त करने के लिए संघर्ष करते हैं तथा मजदूरी में वृद्धि के परिणामस्वरूप कृषि एवं गैर-कृषि सम्बन्धी दोनों प्रकार की उपभोक्ता-वस्तुओं की सामान्य माँग बढ़ जाती है। उपभोक्ता वस्तुओं की माँग में वृद्धि का परिणाम उत्पादन के साधनों—पूँजीगत वस्तुओं, कच्चे पदार्थों इत्यादि—की माँग में वृद्धि के रूप में प्रकट होता है। अतः मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होती रहेगी जिससे मुद्रा-स्फीति (Inflation) की स्थिति प्रकट होगी।

इसके अतिरिक्त विनियोग में वृद्धि से साधारणतया मौद्रिक आय में उत्पादन की अपेक्षा अधिक वृद्धि होती है। विभिन्न प्रकार की परियोजनाओं और विनियोग की गर्भवधि (Gestation period) जितनी लम्बी होगी, मौद्रिक-आय एवं उत्पादन के बीच उतना ही अधिक समयान्तर होगा। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि दूसरी योजना के काल में विशाल औद्योगिक आधार के निर्माण का प्रयास किया गया था। अतः सरकार को ऐसी परियोजनाएँ आरम्भ करनी पड़ीं जिनके परिपालन के लिए दीर्घकाल अपेक्षित होता है। इन परियोजनाओं के निर्माण के कारण भारी विनियोग करना पड़ा जिससे उसी अनुपात में परियोजनाओं के निर्माण में लगे लोगों के लिए मौद्रिक आय का सृजन हुआ, किन्तु उत्पादन में तदनु रूप वृद्धि सम्भव न हो सकी। वस्तुतः हम 'क्षमता उपयोग' (Capacity utilisation) के काम में नहीं 'क्षमता निर्माण' (Capacity creation) के काम में व्यस्त हैं। परिणामतः विनियोग की मात्रा में वृद्धि के कारण सामान्यतः मूल्यों में वृद्धि होना बिल्कुल अनिवार्य है।

3. बढ़ता हुआ सरकारी व्यय (Mounting Public Expenditure) :—पिछले दो दशकों में सरकारी व्यय में भी भारी एवं निरन्तर वृद्धि हुई है। सरकारी व्यय से सामान्य जनता की आय उत्पन्न होती है, अतः इसकी वृद्धि का अर्थ आय में वृद्धि तथा वस्तुओं एवं सेवाओं की माँग में वृद्धि होती है। इस प्रकार भारत में मूल्य वृद्धि का एक महत्वपूर्ण कारण बढ़ता हुआ सरकारी व्यय है। 1950-51 में केन्द्र तथा राज्य सरकारों का कुल व्यय (राजस्व तथा पूँजी व्यय मिलाकर) 900 करोड़ रुपये था जो 1971-72 (बजट) में बढ़कर 8000 करोड़ रुपये तथा



1976-77 में 16,338 करोड़ रुपये हो गया। अतः कीमतों में वृद्धि का एक महत्वपूर्ण कारण बढ़ता हुआ राजकीय व्यय है। वास्तव में, राजकीय व्यय में वृद्धि से लोगों के हाथ में अधिक मौद्रिक आय प्राप्त होती है जिससे मूल्य में वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है।

#### 4. घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit Financing)

—सरकार द्वारा आर्थिक विकास की योजनाओं के वित्त प्रबन्ध के लिए अपनाई जानेवाली विधि का भी मूल्य स्तर-पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। पंचवर्षीय योजनाओं के आरम्भ से सरकार ने घाटे की वित्त-व्यवस्था को बड़े पैमाने पर अपनाया है। उदाहरण के लिए, प्रथम योजना में 420 करोड़ रुपये के घाटे की वित्त-व्यवस्था तथा दूसरी योजना में 948 करोड़ रुपये की घाटे की वित्त-व्यवस्था की गयी थी। तीसरी योजना में 550 करोड़ रुपये की घाटे की व्यवस्था की गयी थी, किन्तु योजना में घाटे की वित्त-व्यवस्था की वास्तविक रकम 1150 करोड़ रुपये हो गयी। इसी प्रकार एक-वर्षीय योजनाओं (1966-69) में 688 करोड़ रुपये घाटे की वित्त-व्यवस्था से प्राप्त किया गया तथा चतुर्थ योजना में इससे 1066 करोड़ रुपये प्राप्त किया गया था। पाँचवीं योजना काल में इस मद से 1000 करोड़ रुपये की रकम प्राप्त करने की आशा थी। इस प्रकार घाटे की वित्त-व्यवस्था के कारण मूल्य वृद्धि की प्रवृत्ति को और भी बल मिलता है।

5. मुद्रा की पूर्ति में अत्यधिक वृद्धि (Increase in the Money Supply) :—जनता के पास मुद्रा की पूर्ति में तीव्र वृद्धि भी मूल्यों के बढ़ने का एक प्रधान कारण है। जनता के पास मुद्रा की पूर्ति में चलार्थ (Currency notes) नोट और सिक्के तथा बैंक मुद्रा (Deposit Money) दोनों का समावेश रहता है। निम्नांकित तालिका<sup>1</sup> से 1961 ई० के बार मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि का अन्दाजा मिलता है :—

भारत में मुद्रा की पूर्ति (करोड़ रुपये में)

मार्च के अन्तिम शुक्रवार को

| मार्च के अन्तिम शुक्रवार को | चलार्थ जमा मुद्रा | कुल मुद्रा | मुद्रा की पूर्ति | राष्ट्रीय आय के प्रतिशत में |
|-----------------------------|-------------------|------------|------------------|-----------------------------|
|                             |                   |            | पूर्ति           |                             |
| 1961                        | 2,098             | 771        | 2,869            | 21.6                        |
| 1966                        | 3,034             | 1,495      | 4,529            | 21.9                        |
| 1971                        | 4,367             | 2,754      | 7,321            | 21.2                        |
| 1974                        | 6,308             | 4,864      | 11,172           | 22.6                        |
| 1975                        | 6,348             | 5,563      | 11,911           | 20.5                        |
| 1976                        | 6, 04             | 6,439      | 13,143           | 21.8                        |
| 1977                        | 7,869             | 8,443      | 15,606           | 24.9                        |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि जबकि पहली योजना में जनता के पास मुद्रा की पूर्ति में 220 करोड़ रुपये की तथा

दूसरी योजना में 650 करोड़ रुपये की वृद्धि हुई थी तीसरी योजना में मुद्रा की पूर्ति में 1600 करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। 1950 वाले दशक में मुद्रा की पूर्ति में 42 प्रतिशत की वृद्धि हुई किन्तु 60 वाले दशक में इसमें 150 प्रतिशत की वृद्धि हुई। मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि कुछ तो घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit financing) के कारण और कुछ मौद्रिक सौदों (Monetary transactions) में वृद्धि के कारण होती है। मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि माँग का रूप धारण कर मूल्य-स्तर पर प्रभाव डालती है।

6. वस्तुओं की पूर्ति में तदनु रूप वृद्धि का अभाव (Lack of a Corresponding increase in the supply of Commodities) :—उपरोक्त कारणों से मूल्य-तल में वृद्धि होती है, किन्तु यदि इसके साथ-ही-साथ वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि हो तो इनका मूल्य-तल पर प्रायः कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरण के लिए, प्रथम योजनाकाल में मूल्य-तल पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सका। इसके बाद 1958 तथा 1962 में मूल्य-तल में वृद्धि का प्रधान कारण कृषि के उत्पादन में तदनु रूप वृद्धि का अभाव था। 1964-65 में खाद्यान्नों का उत्पादन अधिक अवश्य हुआ किन्तु 1966-67 में खाद्यान्नों का उत्पादन बहुत ही कम रहा जिसके परिणामस्वरूप मूल्य-तल में अतिशय वृद्धि हुई। अतएव 1950-51 से मूल्य तल में वृद्धि का एक प्रमुख कारण कृषि के उत्पादन में अपेक्षाकृत कम वृद्धि है। किन्तु इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि 1968-69 के बाद खाद्यान्नों के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि के बावजूद मूल्य-तल में वृद्धि का क्रम अब भी जारी ही है।

किन्तु, कृषि-पदार्थों के मूल्य में वृद्धि के लिए बड़े-बड़े किसानों द्वारा संचय (hoarding) तथा व्यापारियों, सट्टेबाजों एवं चोरबाजारियों द्वारा परिकल्पना की अधिकता है। अत्यधिक मूल्य की परिकल्पना में ये अपने पास अनाज का बहुत बड़ा भंडार रखते हैं।

7. काले धन का कुप्रभाव (Role of Black money) :—वर्तमान समय में मूल्य में वृद्धि के लिए कालाधन (black money) भी बहुत हट तर उत्तरदायी है। वर्तमान समय में समाज में बहुत अधिक काला धन (Black and unaccounted money) का संचय है। इस धन का एक बहुत बड़ा भाग खाद्यान्नों के व्यापार में ही प्रयुक्त किया जाता है। समाज में काले धन की कुल मात्रा का पता लगाना तथा इसके प्रभाव के सम्बन्ध में अन्दाजा लगाना बड़ा ही कठिन कार्य है। किन्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि पिछले कुछ समय से मूल्य में अतिशय वृद्धि का यह एक प्रधान कारण है।

इस प्रकार पिछले कुछ वर्षों में मूल्य-तल में अत्यधिक



वृद्धि हुई है जिसके कारण आर्थिक नियोजन की वर्तमान प्रणाली के प्रति लोगों में अविश्वास की भावना उत्पन्न हो गई है। बहुत-से लोग यह सोचने लगे हैं कि वर्तमान नियोजन की प्रणाली में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। वास्तव में, आवश्यकता इस बात की है कि खाद्यान्न, चीनी तथा वस्त्र जैसी आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं को राजकीय व्यापार के अन्तर्गत लाया जाय तथा इसके वितरण पर कठोर नियन्त्रण लगाया जाय। किन्तु, इस समस्या का दीर्घकालीन उपचार इन आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि ही है।

किन्तु, 1968 ई० में मूल्य स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ तथा 1968 के अन्त में थोक मूल्यों का सामान्य सूचकांक (1961-62=100) के आधार पर 209.5 था जो पिछले वर्ष की अपेक्षा 1 प्रतिशत कम था। इसके विपरीत 1966 तथा 1967 ई० में थोक मूल्यों में औसत वृद्धि क्रमशः 13.8 तथा 15.5 प्रतिशत थी। अतएव 1968 में मूल्य-तल में स्थिरता की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई थी। किन्तु, पुनः 1969 में थोक मूल्यों के सूचकांक में 2.1 प्रतिशत की वृद्धि हुई। जनवरी, 1970 ई० में मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति और तीव्रतर हो गयी तथा जुलाई, 1975 में आपात् स्थिति की उद्घोषणा के पूर्व तक यह स्थिति ज्यों-कि-त्यों बनी रही। इसके बाद मूल्य-तल में कमी होने लगी थी।

### भारत सरकार की मूल्य-नीति (Price Policy of the Govt. of India)

इस प्रकार पिछले कुछ वर्षों से मूल्य-तल में भारी वृद्धि हो रही है, अतएव इसका नियन्त्रण वर्तमान समय में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। 1961 ई० तक मूल्य नियन्त्रण की नीति का जनता के लिए कोई महत्त्व नहीं था, किन्तु 1962 ई० में चीनी आक्रमण के संदर्भ में पहले-पहले मूल्य तल पर नियन्त्रण की आवश्यकता महसूस की गयी। इस उद्देश्य से विभिन्न प्रयास किये जाने लगे। 1972-73 ई० से मूल्य तल में अत्यधिक वृद्धि के कारण तो यह समस्या और भी गंभीर हो गयी तथा सरकार को विवश होकर विभिन्न प्रकार के प्रयत्न करने पड़े। मूल्य में अतिशय वृद्धि को नियन्त्रित करने के लिए भारत सरकार द्वारा समय-समयपर विभिन्न प्रकार के उपाय अपनाये गये हैं। इनमें निम्नांकित प्रधान हैं :—

1. बजट-नीति (Budgetary Policy) :—मूल्य-वृद्धि का एक कारण सरकारी व्यय में वृद्धि तथा घाटे की वित्त-व्यवस्था की प्रधानता है। अतएव, इस उद्देश्य से सरकार ने अपनी बजट नीति में इस रूप में परिवर्तन किया है कि स्फीतिकारी प्रवृत्तियों के कारण होने-वाली वृद्धि को रोका जाय। इस उद्देश्य से बजट-नीति में घाटे की वित्त-व्यवस्था को सीमित करने तथा जनता के उपा-  
भा० अ०—35

भोग में कमी करने पर जोर दिया जा रहा है। किन्तु राज्य तथा केन्द्र दोनों ही सरकारें इस सम्बन्ध में बिल्कुल असफल रही हैं। राज्य सरकारें तो घाटे की वित्त-व्यवस्था को और अधिक प्रधानता दे रही हैं। चौथी योजना के दौरान सरकार द्वारा घाटे की वित्त-व्यवस्था को सीमित करने का प्रयास किया गया। पाँचवीं योजना में तो सरकार द्वारा घाटे की वित्त व्यवस्था को विलुप्त सीमित करने का प्रयास किया जा रहा है। साथ ही प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों की दरों को बढ़ाकर तथा बचतों में वृद्धि करके उपभोग को सीमित किया जा रहा है।

2. मौद्रिक उपाय (Monetary Measures) :—सरकार की उपरोक्त कार्यवाही के साथ ही साथ रिजर्व बैंक ने सभी अनुसूचित बैंकों को यह निर्देश दिया है कि वे खाद्यान्न के लिए अग्रिम ऋण न दें। जमाखोरी और सट्टे-बाज खाद्यान्न खरीदने और उसके बड़े-बड़े भण्डार जमा करने के लिए अनुसूचित बैंकों (Scheduled Banks) से बड़ी-बड़ी रकमें उधार लेते हैं। सट्टेबाजी की इस प्रवृत्ति को रोकने के उद्देश्य से ही रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों द्वारा खाद्यान्नों के लिए दिये जानेवाले ऋण पर कुछ विशिष्ट प्रतिबन्ध लगाये हैं। किन्तु, समाज में इतना अधिक काला धन है कि इससे स्थिति में कुछ सुधार नहीं हो पा रही है। जुलाई, 1974 ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया ने व्याज की दरों तथा उधार देने की दरों में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि की। इस प्रकार के प्रयत्न का उद्देश्य व्यवसायों द्वारा उधार लेने को महंगा बनाने के लिए था और रिजर्व बैंक अपनी इस नीति (Restrictive credit Policy) में बहुत हद तक सफल भी रहा।

3. वस्तु-सम्बन्धी उपाय (Commodity Front)—इस मोर्चे पर सरकार ने चावल, गेहूँ, चीनी, गुड़ आदि जन-उपभोग (Mass Consumption) की वस्तुओं के मूल्य-नियन्त्रित करने पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा निम्नांकित उपाय अपनाये गये हैं :—आन्तरिक पूर्ति में वृद्धि, सरकारी भण्डारों से बड़े परिमाण में वस्तुएँ निकालना, वितरण तन्त्र में सुधार और निजी व्यापार पर कड़ा नियन्त्रण इत्यादि। किन्तु इन प्रयत्नों के उत्साह-वर्द्धक परिणाम नहीं हुए हैं। इस प्रकार सारा जोर आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों में अनुचित वृद्धि रोकने पर दिया गया है। फिर भी, इनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

(क) अधिकतम मूल्य निश्चित करना (Fixation of Maximum Price) :—जमाखोरी और सट्टेबाजी (Hoarding and speculation) की प्रवृत्ति को हतोत्साहित करने के लिए सरकार द्वारा खाद्यान्नों के थोक एवं खुदरा मूल्य नियत किये गये हैं। इसके अतिरिक्त सरकार ने वसूली के न्यूनतम मूल्य भी नियत कर दिये



हैं। साथ ही, प्रमुख खाद्यान्नों के एक राज्य से दूसरे राज्य में आने-जाने पर भी रोक लगा दी गयी है।

(ख) पूर्ति में वृद्धि (Increase in Supplies) :— आंतरिक साधनों से खाद्यान्नों की पूर्ति में जो कमी होती है उसे पूरा करने के लिए हाल के वर्षों तक सरकार ने बड़े पैमाने पर खाद्यान्नों का विदेशों से आयात किया है। खाद्यान्नों के आयात की मात्रा 1962 में 36 लाख टन से बढ़कर 1966 में 104 लाख टन तक पहुँच गयी थी। किन्तु 1970 के बाद इसमें कमी की गयी।

किन्तु पुनः 1972-73 में खरीफ की फसल के खराब होने के कारण खाद्य-पदार्थों के मूल्य में वृद्धि होने लगी तो सरकार को खाद्यान्न के आयात की सूत्रपात करनी पड़ी। परिणामस्वरूप 1973 में 36 लाख टन तथा 1974 में 48 लाख टन खाद्यान्न का आयात किया गया था। साथ, ही, आयात किये गये खाद्यान्नों को रियायती दरों पर सरकारी दुकानों के द्वारा विक्रय की व्यवस्था की जाती है। इसके अतिरिक्त, अन्तर्देशीय वसूली [Internal Procurement] भी बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। इस सम्बन्ध में 80 लाख टन का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। सरकार द्वारा वसूली के लक्ष्य की प्राप्ति से जमाखोरों तथा सट्टेबाजों की असामाजिक क्रियाओं के प्रभाव को कम करने में पर्याप्त सहायता मिलने की आशा है जिससे कीमतों की वृद्धि को रोका जा सकता है।

(ग) वितरण की व्यवस्था (Machinery for Distribution) :—इसके साथ ही सरकार खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के विक्रय की भी व्यवस्था करती है। खाद्यान्नों का सरकारी भण्डार उचित मूल्य की दुकानों पर बेचा जाता है। सरकार द्वारा बेचे जाने से दो उद्देश्य सिद्ध होते हैं :—एक तो मूल्यों में कमी आती है और दूसरा निम्न आय वाले वर्गों को अपेक्षाकृत कम मूल्य पर आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। उचित मूल्य की दुकानों का संख्या बढ़ाई गयी है। भारत सरकार ने खाद्यान्न के व्यापार और वितरण को अधिक प्रत्यक्ष रूप से अपने हाथ में लेने के लिए एक खाद्य निगम की स्थापना की थी। 1977 में जनता सरकार ने वितरण की प्रणाली में सरकारी तथा सरकारी क्षेत्र को प्रश्रय देने का निर्णय किया।

(घ) उत्पादन में वृद्धि के उपाय—मूल्य एवं वितरण पर नियन्त्रण के साथ-साथ कृषि-जन्य वस्तुओं (Agricultural commodities) का उत्पादन बढ़ाने के लिए भी सरकार द्वारा दीर्घकालीन उपाय अपनाये गये हैं। किसानों को इस उद्देश्य से विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। साथ ही, महत्त्वपूर्ण फसलों के कृषकों को न्यूनतम मूल्य [Minimum Prices] का आश्वासन देकर उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। इसके अतिरिक्त सरकार ने कृषि में नयी उत्पादन विधि अपनायी

है जिसमें कृत्रिम खादों तथा अधिक उपजवाले बीजों को बढ़ाया जा रहा है। वास्तव में, इन उपायों ने हरी क्रांति के सूत्रपात में बहुत अधिक सहायता पहुँचायी है।

उपरोक्त विवेचनों से यह स्पष्ट है कि मूल्य-वृद्धि की समस्या के प्रति सरकार निष्क्रिय नहीं है। इसने विभिन्न दिशाओं से इस समस्या के समाधान का प्रयास किया है। सितम्बर अक्टूबर 1965 में सरकार के मूल्य-नियन्त्रण में सफल न हो सकने का मुख्य कारण इसका जमाखोरों तथा सट्टेबाजों की असामाजिक क्रियाओं को न रोक सकना था। अब सरकार को चेतना प्राप्त हो चुकी है कि विकास की वर्तमान अवस्था में जबकि असामाजिक तत्त्व बड़े परिमाण में छिपे धन को लेकर बाजार में आसानी से पहुँच सकते हैं, आंशिक नियन्त्रण (Partial controls) और सीमित राजकीय व्यापार इस समस्या के लिए पर्याप्त उपाय नहीं हो सकते।

4. महत्त्वपूर्ण औद्योगिक वस्तुओं की पूर्ति (Supply of important Industrial commodities) :— महत्त्वपूर्ण औद्योगिक पदार्थों की पूर्ति पर भी सरकार द्वारा विशेष जोर दिया जा रहा है। लोहा एवं इस्पात, सीमेंट, चीनी, वस्त्र, कागज तथा रासायनिक खाद आदि वस्तुओं की पूर्ति को बढ़ाने का प्रयास किया जा रहा है। इससे महत्त्वपूर्ण औद्योगिक पदार्थों की कीमतों के नियन्त्रण में अधिक सुविधा प्राप्त हुई है।

5. 1974 के अध्यादेश (New Ordinances) :—निरन्त बढ़ती हुई मुद्रा-स्फीति के दबाव को कम करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने जुलाई 1974 में तीन अध्यादेश जारी किये। प्रथम अध्यादेश The Additional Emolument [Compulsory Deposit] Act के अन्तर्गत वेतन में अत्यधिक वृद्धि का शत-प्रतिशत एक वर्ष के लिए तथा अतिरिक्त महंगाई-भत्ते के 50 प्रतिशत भाग को दो वर्षों के लिए स्थायी खाते में जमा करने की व्यवस्था की गयी है। इस प्रकार से दो वर्षों में 100 करोड़ रुपये प्राप्त करने की आशा की गयी थी। 11 प्रतिशत व्याज की दर से यह रकम दो वर्षों के बाद तीन बराबर वार्षिक किस्तों में अदा करने की व्यवस्था थी, किन्तु 1977 में इसे समाप्त कर दिया गया। दूसरे अध्यादेश The Companies (Temporary Restrictions on Dividends) Act के अनुसार कम्पनियों द्वारा दिये जानेवाले लाभांश की एक सीमा निश्चित की गयी। इसके फलस्वरूप कम्पनियों के पास दो वर्षों में 140 करोड़ रुपये की रकम जमा होगी जिसका प्रयोग वे विस्तार-सम्बन्धी कार्यों में करेंगी। तृतीय अध्यादेश The Compulsory Deposit [Income Tax Payers] Scheme Act के अनुसार 15,000 शुद्ध वार्षिक आय से अधिक आय-वाले व्यक्तियों को अपनी आय के एक निश्चित प्रतिशत भाग अनिवार्य रूप से जमा करने की



व्यवस्था है। इस प्रकार से अनिवार्य जमा पर 10 प्रतिशत वार्षिक दर से ब्याज दिया जाता है। इसे प्रति वर्ष बढ़ाया जा रहा है। इस प्रकार आज बल की यह अध्यादेश लागू है। किन्तु इन विभिन्न प्रयत्नों के बावजूद मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति रुक नहीं पा रही है। 1975 में आपात स्थिति की घोषणा से मूल्य-तल में कुछ गिरावट अवश्य आई थी किन्तु 1977 में पुनः इसमें वृद्धि की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गयी।

इस प्रकार वर्तमान समय में योजना आयोग के समक्ष सर्वाधिक प्रमुख समस्या मूल्य-तल को नियन्त्रित (Holding the Price-Line) करने की है। यह सत्य है कि भारत जैसे विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्थावाले देश में मूल्य-तल के स्थायित्व विकास की क्रिया में बाधा उत्पन्न करता है। किन्तु, इससे मूल्य-नियन्त्रण की आवश्यकता का महत्त्व कम नहीं होता। वास्तव में, पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत अत्यधिक विनियोग के परिणामस्वरूप आय में जो वृद्धि होती है उसे रोकने के लिए उत्पादन में तदनुरूप वृद्धि आवश्यक है और उत्पादन में वृद्धि के लिए मूल्य-तल में वृद्धि के रूप में प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है। इस तथ्य को योजना आयोग ने भी स्वीकार किया था। अतएव, तृतीय योजना में धीरे-धीरे बढ़ते हुए मूल्य-तल (जैसे प्रति वर्ष 2 अथवा 3 प्रतिशत की दर से) को विकास के लिए आवश्यक समझा गया था, किन्तु मूल्य-तल में वर्तमान वृद्धि ने तो आयोग की सभी आशाओं पर पानी फेर दिया है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में मूल्य-नीति (Price policy during the Fourth Five Year Plan).—चतुर्थ योजना में मूल्य-तल में स्थायित्व के उद्देश्य को प्रधानता दी गयी थी। किन्तु मूल्य-तल में स्थायित्व का तात्पर्य मूल्य को एक निश्चित स्तर पर स्थायी बनाना ही नहीं होता, बरन् ऐसी नीति से होता है जिसमें कि आवश्यकता-नुसार परिवर्तन भी किया जा सके। वास्तव में विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था में मूल्य-तल में एक सीमा तक वृद्धि को रोका भी नहीं जा सकता। किन्तु यह एक सीमा के अन्दर ही होना चाहिए। योजना आयोग के अनुसार मूल्य-नीति के अन्तर्गत दो बातों पर जोर देना अनिवार्य है—

सर्वप्रथम, तो खाद्य-पदार्थ, वस्त्र तथा खानेवाले तेल जैसी आधारभूत आवश्यकता की वस्तुओं के मूल्य में थोक तथा खुदरा व्यापार में राजकीय भागीदारी के द्वारा स्थायित्व लाने की कोशिश की जानी चाहिए। द्वितीयतः, अर्थ-व्यवस्था में व्यय और मूल्य-वृद्धि अथवा मूल्य एवं मजदूरी आदि के बीच के स्वचालित सम्बन्ध को कम करने का प्रयास करना चाहिए। आवश्यक उपभोक्ता पदार्थों की तरह औद्योगिक कच्चे पदार्थ जिनका मूल्य-तल पर प्रभाव पड़ता है, के मूल्य में वृद्धि को रोकना भी अनिवार्य है।

इसी व्यापक उद्देश्य को ध्यान में रखकर चतुर्थ पंचवर्षीय योजना की मूल्य-नीति निर्धारित की गयी थी, किन्तु चतुर्थ योजना काल में मूल्य-तल में भारी परिवर्तन हुए। वास्तव में, चतुर्थ योजना के अन्तिम तथा पाँचवीं योजना के प्रथम वर्ष में मूल्य-तल में इतनी अधिक वृद्धि हुई कि सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था ही अस्त-व्यस्त हो गयी।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan 1974-79) में भी मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति जारी रही। पाँचवीं योजना के प्रथम वर्ष, यानी 1974-75 में सामान्य मूल्य-तल में 25.2 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस वर्ष खाद्यान्नों के मूल्य-तल में इससे भी अधिक, प्रायः 30 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस वृद्धि के लिए अन्य कारणों के अतिरिक्त मुद्रा की पूर्ति में अत्यधिक वृद्धि ही मुख्य रूप से उत्तरदायी थी। किन्तु 1975 में सरकार द्वारा मूल्य-तल में वृद्धि को रोकने के लिए कई उपाय किये गये जिनके परिणामस्वरूप 1975-76 में मूल्य-तल में 1 प्रतिशत की कमी ही हुई। योजना के तीसरे वर्ष, यानी 1976-77 में भी मूल्य-तल में केवल 2 प्रतिशत की वृद्धि हुई। योजना के अन्तिम वर्ष, यानी 1977-78 में सरकारी आँकड़ों के अनुसार मूल्य-तल में केवल नाम-मात्र की 0.7 प्रतिशत की वृद्धि हुई यद्यपि Economic Times के Research Bureau के अनुसार इस वर्ष मूल्य तल में लगभग 5% की वृद्धि हुई।

निम्नांकित तालिका से पिछले कुछ वर्षों में मूल्य-तल में परिवर्तन का अन्दाजा लगता है :—

#### थोक मूल्यों का सूचनांक

| वर्ष    | कृषि-मूल्यों का सूचनांक | निर्मित पदार्थों का सूचनांक | सामान्य सूचनांक | प्रतिशत परिवर्तन |
|---------|-------------------------|-----------------------------|-----------------|------------------|
| 1971-72 | 100.4                   | 109.5                       | 105.6           | 5.6              |
| 1972-73 | 110.3                   | 121.9                       | 116.2           | 10.0             |
| 1973-74 | 139.2                   | 139.5                       | 139.7           | 20.2             |
| 1974-75 | 169.9                   | 168.8                       | 174.9           | 25.2             |
| 1975-76 | 157.3                   | 171.2                       | 173.0           | —1.1             |
| 1976-77 | 158.5                   | 175.2                       | 176.6           | 2.1              |
| 1977-78 | 174.1                   | 179.0                       | 185.3           | 4.9              |

(Source—Economic Times, April 28, 1978)



**छठी पंचवर्षीय योजना में मूल्य-नीति (Price Policy in the Sixth Five Year Plan) :**—पाँचवीं योजना के अंतिम वर्ष, यानी 1977-78 में मूल्य-तल में वृद्धि कम अवश्य हुई, किन्तु इससे छठी योजना में इस सम्बन्ध में कोई ढिलाई बरतने का आयोजन नहीं है। योजना आयोग के अनुसार यद्यपि आयोजित विकास की अवधि में मूल्य-तल में थोड़ी बहुत वृद्धि अनिवार्य होती है तथापि छठी योजना की अवधि में मूल्य-संबंधी नीति का प्रमुख उद्देश्य मूल्य-तल में वृद्धि को एक सीमा के अन्तर्गत रखना होगा। इसके लिए वित्तीय एवं मौद्रिक नीतियों के सम्मिलित प्रयोग से कुल माँग तथा पूर्ति में समायोजन स्थापित करने का प्रयास किया जायगा। आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं की पूर्ति को बढ़ाने का भरसक प्रयत्न किया जायगा। साथ ही, खाद्यान्नों के मूल्य में स्थिरता के साथ-साथ निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र में निर्माणकारी वस्तुओं के मूल्य को भी एक सीमा के अंतर्गत स्थायी रखने का प्रयास किया जायगा।

**निष्कर्ष :**—इस प्रकार मूल्य तल में वर्तमान अत्यधिक वृद्धि देश के आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न कर रही है। मूल्य में अत्यधिक परिवर्तन आर्थिक दृष्टि से उचित नहीं होते

हैं। मूल्य में वृद्धि का प्रभाव व्यापारियों एवं धनी किसानों पर अच्छा अवश्य ही पड़ता है, किन्तु मजदूर, छोटे किसानों एवं स्थायी आयवाले वर्गों पर इसका बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ता है। मूल्य में ह्रास के फलस्वरूप आर्थिक क्रियाशीलता में कमी आ जाती है। मन्दी तथा तेजी दोनों ही समाज के लिए हानिकारक होती हैं। अतः देश की आर्थिक व्यवस्था के विकास के लिए मूल्य में स्थायित्व आवश्यक है। आर्थिक एवं सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोणों से मूल्य-संबंधी नीति का यही उद्देश्य होना चाहिए। इस प्रकार “मूल्य में आकस्मिक तथा अत्यधिक परिवर्तन आर्थिक व्यवस्था के लिए हानिकारक सिद्ध होते हैं, अतः मूल्य-सम्बन्धी नीति का उद्देश्य विनियोग एवं प्रभावपूर्ण माँग के स्तर को बनाये रखते हुए मूल्य में एक सीमा तक स्थायित्व प्रदान करना होना चाहिए।” (Sudden and heavy fluctuations in prices damage the economy, therefore, the main aim of a price policy should be to stabilise price by simultaneously maintaining the levels of investment and effective demand.) इससे समाज के सभी वर्ग के लोग लाभान्वित होंगे किन्तु इसके लिए सरकार को सदा प्रयत्नशील रहना होगा।

#### विशेष अध्ययन-सूची

- |                          |                                          |
|--------------------------|------------------------------------------|
| 1. NCAER                 | : Price Policy and Economic Growth.      |
| 2. Reserve Bank of India | : Report on Currency and Finance.        |
| 3. Planning Commission   | : Third, Fourth & Fifth Five Year Plans. |
| 4. Economic Survey       | : 1977-78                                |
| 5. Planning Commission   | : Draft Five Year Plan (1978-83)         |

—:०:—



## अध्याय : 48

### भारतीय चलन एवं विनिमय (Indian Currency & Exchange)

**प्रारम्भिक इतिहास :—**भारत में अति प्राचीन काल से ही मुद्रा का प्रयोग होते आया है। प्राचीन ग्रन्थों से इस बात का पता चलता है कि भारत में धातु के बने हुए सिक्कों का उपयोग बहुत प्राचीन काल से ही होता आ रहा है। हिन्दू शासन काल में यहाँ सोने तथा चाँदी के सिक्कों का प्रचलन था। मुगल शासकों ने भी प्राचीन पद्धति को ही अपनाया। अकबर के शासन-काल में सोने की मुहरें एवं चाँदी के रुपये दोनों का ही प्रचलन था। जिनका वजन 175 ग्रेन ट्राय था। दक्षिणी भारत में मुगल शासन स्थापित न होने के कारण वहाँ एक पृथक् सिक्का 'पेगोडा' प्रचलित था। मुगल साम्राज्य के पतन के बाद देश कई छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित हो गया जिनमें से अधिकांश ने अपनी अलग-अलग मुद्राएँ जारी कीं। आंतरिक एवं विदेशी व्यापार में उस समय चाँदी का रुपया मूल्य-मापन का कार्य करता था, किन्तु चाँदी के रुपये का वजन एवं शुद्धता विभिन्न राज्यों के सिक्कों में भिन्न-भिन्न होती थी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारत आगमन के समय देश में विभिन्न प्रकार एवं परिमाण के कुल 994 से भी अधिक सोने एवं चाँदी के सिक्के चल रहे थे। इससे कम्पनी को अपनी आय जमा करने तथा व्यापार के संचालन में बहुत अधिक कठिनाई होती थी। मुद्रा-सम्बन्धी इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए कम्पनी ने अपनी मुहर के साथ सोने एवं चाँदी के सिक्के साथ-साथ जारी किये। इन सिक्कों के वैधानिक अनुपात, वजन एवं विशुद्धता आदि निश्चित होते थे। इसी बीच सोने का बाजार-मूल्य बढ़ जाने से सोने के सिक्के बाजार से लुप्त होने लगे। अतः कम्पनी ने द्विधात्विक मान की जगह एक धातुमान अपनाने का निश्चय किया। 1818 ई० में मद्रास प्रेसीडेंसी में कम्पनी ने सोने के सिक्के की जगह पर चाँदी का प्रामाणिक सिक्का, जिसका वजन 180 ग्रेन था तथा जिसमें  $\frac{1}{12}$  भाग शुद्ध चाँदी थी, जारी किया। यद्यपि सोने के सिक्के का टंकन बन्द कर दिया गया, फिर भी इसे अवैध घोषित नहीं किया गया था। चाँदी के सिक्कों का सोने के सिक्के के साथ विनिमय का अनुपात 15:1 निश्चित किया गया। आगे चलकर 1823 ई० में बम्बई में भी कम्पनी ने इसी प्रकार के चाँदी का रुपया जारी किया और अन्त में 1835 ई० के एक अधिनियम के द्वारा कम्पनी ने अपने सभी प्रदेशों के लिए एक-मात्र चाँदी के प्रामाणिक सिक्के जारी कर दिये जिसकी तौल एवं विशुद्धता सर्वत्र एक समान थी।

1835 ई० का भारतीय टंकन अधिनियम एवं रजतमान (The Indian Coinage Act of 1835 and the Silver Standard) :—कम्पनी ने 1835 ई० के टंकन अधिनियम (Coinage Act) के अनुसार संपूर्ण देश में रजतमान (Silver Standard) की स्थापना की। इस अधिनियम के अनुसार चाँदी के रुपये का वजन 180 ग्रेन था, इसका  $\frac{1}{12}$  भाग शुद्ध चाँदी का होता था। इस अधिनियम के अनुसार सम्पूर्ण देश के लिए कम्पनी ने एक धातुमान की पद्धति अपनायी, किन्तु सोने के सिक्कों को बिल्कुल समाप्त नहीं किया गया। इनके अनुसार जनता की माँग के अनुरूप सोने की मुहरें एवं पाँच रुपये, दस रुपये, तथा तीस रुपये के मूल्य के सोने की सिक्कों के टंकन एवं प्रचलन का भी अधिकार मिला। साथ ही, 1814 ई० में एक घोषणा-पत्र द्वारा जनता की देनदारी के भुगतान के लिए सरकारी खजानों को 15:1 की दर से स्वर्ण मुहरें लेने का अधिकार दिया गया। 1848 ई० के बाद आस्ट्रालिया एवं कैलिफोर्निया में सोने की खानों के पता लगाने के फलस्वरूप विश्व में सोने का उत्पादन बढ़ने लगा जिससे चाँदी के अनुपात में उसका मूल्य घट गया। अतः जनता ने सरकार को स्वर्ण मुहरों में कर आदि देना प्रारम्भ कर दिया। इससे सरकार की कठिनाई बहुत ही बढ़ गयी जिसके फलस्वरूप लॉर्ड डलहौजी ने 1841 ई० के घोषणा-पत्र को रद्द कर दिया। साथ ही, सोने का पूर्णरूप से विमुद्रीकरण कर दिया गया। इसी बीच 1850 ई० में चाँदी का उत्पादन घट जाने से यह धातु अधिक मूल्यवान हो गयी जिससे लोगों ने रुपये के गला कर धातु में परिवर्तित करना प्रारम्भ कर दिया। इससे देश में मुद्रा का अभाव हो गया जिससे व्यापार में कठिनाई होने लगी। देश में उस समय बैंकिंग एवं साख-व्यवस्था के अभाव ने इन कठिनायों को और भी बढ़ा दिया। इससे देश के अनेक भागों में सोने के टुकड़ों का मुद्रा के रूप में व्यवहार किया जाने लगा। अतः 1864 ई० में भारत सरकार ने एक अधिसूचना जारी की जिसके अनुसार पौण्ड एवं आधे पौण्ड को क्रमशः दस तथा पाँच रुपये की दर पर स्वीकार किया जाने लगा। सरकार भी इन्हें भुगतान में स्वीकार करने लगी।

**मैसफील्ड आयोग :—**लेकिन, इन प्रयत्नों से भी कठिनाइयाँ दूर नहीं हुई। इसी बीच देश में स्वर्ण-मुद्रा मान अपनाने पर जोर दिया जाने लगा। अतः इस समस्या पर विचार करने के लिए सरकार ने 1866 ई० में मैसफील्ड आयोग की नियुक्ति की जिसने इस सम्बन्ध में



निम्नलिखित सुझाव दिये—(1) पाँच, दस एवं पन्द्रह रुपये के सिक्के जारी किये जायें, तथा (2) चलन में सोने, चाँदी एवं कागजी तीनों प्रकार के सिक्के रखे जायें। सरकार ने मैसफील्ड आयोग की सिफारिशों को उस समय स्वीकार नहीं किया। साथ ही, 1868 ई० से सोने के मूल्य में वृद्धि के कारण पौण्ड एवं आधा पौण्ड के मूल्य को बढ़ाकर क्रमशः 10 रुपये 50 पैसे तथा 5 रुपये 25 पैसे कर दिया गया।

**रजत मान का पतन (Break-down of the Silver Standard) :—**इसी बीच 1871 ई० के बाद रजत मान की कार्य प्रणाली में बहुत-सी कठिनाइयाँ उपस्थित हो गयीं। चाँदी की नयी-नयी खानों की खोज के फलस्वरूप चाँदी की पूर्ति में बहुत वृद्धि हो रही थी जिससे चाँदी का मूल्य धीरे-धीरे कम होने लगा। 1873 ई० के पश्चात् अधिकांश यूरोपीय देशों ने (1876 ई० में जर्मनी तथा 1874 ई० में स्वीडेन, नार्वे एवं डेनमार्क आदि ने) चाँदी का विमुद्रा-करण (Demonetization) कर दिया। अधिकांश पश्चिमी देशों एवं अमेरिका ने स्वर्ण-मान को ही अपनाया। इन सब कारणों से भारत में चाँदी का आयात बढ़ गया तथा इसके मूल्य में बहुत कमी आ गयी। चाँदी का मूल्य 1875 ई० में 58 पैसे प्रति औंस से घटकर 1879 ई० में 52.5 पैसे प्रति औंस, 1888 ई० में 43 पैसे प्रति औंस तथा 1899 ई० में 27 पैसे प्रति औंस हो गया। चाँदी के मूल्य में इस कमी के कारण रुपये एवं पौण्ड की विनिमय दर 2 शिलिंग से घटकर 1892 ई० में 1 शिलिंग 2 पैसे हो गयी। इससे वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने लगी। सरकार को गृह व्यय (Home charges) चुकाने में अधिक देना पड़ने लगा। चाँदी के मूल्य में निरन्तर कमी होने के कारण विनिमय दर स्थायी न रह सकी, जिसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। इन सब कारणों से देश में स्वर्ण-मान अपनाने की जोरदार माँग की जाने लगी।

**हर्शल कमिटी, 1892 (The Herschell Committee of 1892) :—**इस प्रकार रजत मान की कार्यप्रणाली में कठिनाइयाँ अनुभव होने लगीं। साथ ही, रुपये के विनिमय मूल्य में निरन्तर कमी के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति अच्छी नहीं थी। ऐसी स्थिति में भारतीय मुद्रा-प्रणाली की जाँच तथा विनिमय की दर में कमी को रोकने के सम्बन्ध में सुझाव देने के उद्देश्य से सरकार ने लार्ड हर्शल की अध्यक्षता में 1892 ई० में एक समिति की नियुक्ति की। हर्शल कमिटी ने एक पंगुमान (Limping Standard) को अपनाने की सिफारिश की जिसमें (1) सोने एवं चाँदी की स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई बन्द कर देनी चाहिए; (2) रुपया असीमित वैध सिक्का रहे, तथा (3) अन्तरिम काल में स्वर्ण केवल अंशतः चलार्थ के रूप में प्रयुक्त हो जिसके पश्चात् स्वर्ण-मान अपनाने के लिए एक निश्चित कदम उठाया जाय। कमिटी ने इस बात की भी

सिफारिश की कि सोने की मुद्रा सरकारी खजानों में 1 शि० 4 पें० की दर से स्वीकृत की जानी चाहिए तथा इसी विनिमय दर को स्थायी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया तथा चाँदी की स्वतन्त्र ढलाई बन्द कर दी गयी। इन सिफारिशों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए 1893 ई० में एक नया अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार 1870 ई० के टंकन अधिनियम तथा 1882 ई० के पत्र-मुद्रा अधिनियम में संशोधन किया गया। बम्बई तथा कलकत्ते के टंकालों को पत्र-मुद्रा जारी करने का अधिकार दिया गया। रुपये की विनिमय-दर 1 शि० 4 पें० निर्धारित की गयी। स्वर्ण-मुद्रा के आंशिक उपयोग से अन्तर्गतत्वा पूर्ण स्वर्ण-मान की स्थापना में सहायता की आशा की जाती थी।

**फाउलर कमिटी, 1898 ई० (Fowler Committee, 1898) :—**धीरे-धीरे रुपये की विनिमय-दर 1 शि० 4 पें० के लगभग स्थिर हो रही थी। इसी बीच भारत सरकार ने पूर्ण स्वर्ण-मान की स्थापना के लिए भारत सचिव से सिफारिश की जिसके परिणामस्वरूप 1898 ई० में सर हेनरी फाउलर की अध्यक्षता में एक फाउलर कमिटी की नियुक्ति की गयी। फाउलर कमिटी ने स्थिति की जाँच के पश्चात् सरकार के सम्मुख अपना सुझाव रखा। समिति की राय में भारत का अन्तिम उद्देश्य स्वर्ण-मुद्रा-मान (Gold Currency Standard) होना चाहिए जिससे देश में स्वतन्त्र रूप से स्वर्ण का अन्तर्प्रवाह तथा वहि-प्रवाह हो सके। फाउलर कमिटी ने इस सम्बन्ध में निम्न-लिखित सुझाव दिये—(1) देश में सोवरेन तथा अर्द्ध-सोवरेन विधि-ग्राह्य सिक्के मान लिये जायें और इनकी स्वतन्त्र ढलाई हो; (2) रुपया असीमित विधि-ग्राह्य-सिक्का रहे, किन्तु इसकी ढलाई न हो; (3) सरकार सोने के बदले रुपये दे, किन्तु रुपये के बदले सोना देने के लिए बाध्य न हो; (4) विनिमय दर को 1 शि० 4 पें० पर स्थायी बनाया जाय; (5) रुपये की ढलाई से जो लाभ प्राप्त हो उसे एक 'स्वर्ण-मान-कोष' में जमा किया जाय, (6) व्यापारिक संतुलन की प्रतिकूलता को समाप्त करने के लिए सरकार सोना देने को तैयार हो।

सरकार ने फाउलर कमिटी की इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया तथा सितम्बर, 1899 ई० में ब्रिटिश सोवरेन एवं अर्द्ध-सोवरेन को सम्पूर्ण भारत में वैध सिक्का घोषित कर दिया गया। 1900 ई० में रुपये की ढलाई से होनेवाले लाभ को जमा करने के लिए एक स्वर्ण मान कोष की स्थापना की गयी। सरकार ने देश में स्वर्ण मुद्रा के टंकन के लिए टंकाल खोलने का प्रयत्न किया, किन्तु ब्रिटिश ट्रेजरी ने भारत में शाही टंकाल की शाखा खोलने की स्वीकृति नहीं प्रदान की। अतः सोने की टंकाल की योजना समाप्त हो गयी।



रुपये की स्वतन्त्र ढलाई बन्द हो जाने से देश में मुद्रा का अभाव हो गया। जनसंख्या एवं व्यापार में वृद्धि तथा अकाल की स्थिति ने मुद्रा की मांग को और भी उग्र बना दिया। अतः 1898 ई० के संकट को दूर करने के लिए अस्थायी उपचार के रूप में एक अधिनियम पारित हुआ। इसके अनुसार यह आयोजन किया गया कि भारत सचिव के कौंसिल बिलों की बिक्री से प्राप्त रकम 'भारतीय पत्र-मुद्रा-कोष' के नाम से स्वर्ण के रूप में 'बैंक ऑफ इंग्लैंड' में जमा की जाय। इस जमा किए गये सोने के आधार पर भारत सरकार पत्र-मुद्रा जारी करके भारत सचिव के ड्राफ्टों का भुगतान करेगी। साथ ही, स्वर्ण-मुद्रा के प्रयोग को भी प्रोत्साहित किया जाने लगा, किन्तु इसका उत्साहजनक परिणाम नहीं हुआ। 1900 ई० में सरकार को विवश होकर बहुत बड़े पैमाने पर चाँदी के सिक्कों का टंकन प्रारम्भ करना पड़ा। 'भारतीय पत्र-मुद्रा-कोष' में जमा सोने से इंग्लैंड में चाँदी खरीद कर रुपये के टंकन के लिए भारत भेजी जाती थी। इस कोष से विपरीत व्यापाराधिक्य की स्थिति में भारतीय विनिमय-दर को स्थायी रखने में भी सहायता ली जाने लगी। 1900 ई० में इस अधिनियम की अवधि को दो वर्षों के लिए और बढ़ा दिया गया तथा 1902 ई० में भारतीय पत्र-मुद्रा-कोष को स्थायी बना दिया गया। 1906 ई० में भारत में रुपये की मांग की पूर्ति के लिए एक 'रुपया रक्षित कोष' स्थापित किया गया जिसका नाम 'स्वर्ण-मान रक्षित कोष की रजत शाखा' पड़ा। इसका प्रमुख उद्देश्य सोवरेन के बदले असीमित मात्रा में चाँदी के रुपये देकर विनिमय दर को 1 शि० 4 पेंस पर स्थायी बनाना था। इस प्रकार स्वर्ण-मान की दो शाखाएँ हो गयीं। एक लन्दन में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में तथा दूसरी भारत में चाँदी के रूप में। 1904 ई० भारत सचिव ने यह घोषणा की कि अब से वे लन्दन में क्रेताओं को 1 शि० 4 पेंस की दर से असीमित मात्रा में कौंसिल बिलों की बिक्री करेंगे।

किन्तु, 1907 ई० में फसलों की खराबी, अकाल एवं यूरोप की आर्थिक मन्दी के फलस्वरूप भारत को विदेशी विनिमय-सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिससे विनिमय की दर घटने लगी। विनिमय-दर में ह्रास एवं प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन के कारण बाहर सोना भेजने की आवश्यकता पड़ी। अतः भारत सचिव की सलाह से भारत सरकार ने इंग्लैंड में रिर्वर्स कौंसिल बिल 1 शि० 3½ पेंस प्रति रुपये की दर से बेचना प्रारम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त और भी प्रयत्न किये गये जिनसे स्थिति में कुछ सुधार हुआ और दूसरे वर्ष विनिमय-दर पुनः 1 शि० 4 पेंस पर स्थिर हो गयी। किन्तु इसका एक-मात्र कारण समुत्थान ही था।

### स्वर्ण-विनिमय मान (Gold Exchange Standard)

भारत में 1893 ई० में रुपये की स्वतन्त्र ढलाई की समाप्ति से लेकर 1907-8 ई० के आर्थिक संकट के समय तक किये गये विभिन्न प्रयत्नों के फलस्वरूप देश में स्वर्ण-विनिमय मान (Gold Exchange Standard) की स्थापना हुई। यह प्रणाली बिना किसी पूर्व योजना के स्वतः उत्पन्न हो गयी। फाउलर कमिटी तथा भारत सरकार ने इसे प्रारम्भ में स्वीकार नहीं किया था। स्वर्ण-विनिमय पद्धति के अन्तर्गत देश में कागज अथवा किसी अन्य निम्न धातु की बनी मुद्रा का प्रचलन रहता है जो स्वर्ण से सम्बद्ध रहती है। मुद्रा का स्वर्ण से यह सम्बन्ध सीधा नहीं होकर किसी दूसरे देश की मुद्रा के माध्यम से होता है जहाँ स्वर्ण-मान का प्रचलन नहीं है। इस प्रकार स्वर्ण-विनिमय मान की निम्नांकित प्रमुख विशेषताएँ हैं:—

- (1) देश की मुद्रा कागज अथवा किसी अन्य धातु की बनी हुई होती है;
- (2) सरकार देश की मुद्रा को एक निश्चित दर पर दूसरे देश की मुद्रा में परिवर्तित करती है जहाँ पर स्वर्ण-मान का प्रचलन रहता है, तथा
- (3) विदेशों में सोना सुरक्षित-कोष में रहता है जिससे सोना दिया जाता है।

भारत में स्वर्ण-विनिमय मान (Gold Exchange Standard) :—स्वर्ण-विनिमय मान के अन्तर्गत भारतीय रुपये को इंग्लैंड के पाँड से सम्बद्ध कर दिया गया था जहाँ स्वर्ण-मान का प्रचलन था। इसके अन्तर्गत रुपये को प्रत्यक्ष रूप में स्वर्ण में परिवर्तित नहीं किया जाता था, किन्तु इसे 1 शि० 4 पेंस की दर से पाँड में बदल दिया जाता था और पाँड एक निश्चित दर पर स्वर्ण में परिवर्तित किया जा सकता था। इस प्रकार स्वर्ण विनिमय मान का देश में प्रचलन हुआ। इस प्रणाली को चालू रखने के लिए दो कोष स्थापित किये गये : एक रुपये के रूप में भारत में तथा दूसरा, पाँड के रूप में लन्दन में। भारत सचिव 1 शि० 3½ पेंस की दर कौंसिल बिल लन्दन में बेचते थे। लन्दन के जिन व्यापारियों को रुपया भेजना पड़ता था वे इस कौंसिल बिल को खरीदते थे। इसके विपरीत इंग्लैंड में भुगतान करने के उद्देश्य से भारतीय व्यापारी 1 शि० 3½ पेंस की दर से रिर्वर्स कौंसिल-बिल भारत सरकार से खरीदते थे। इस प्रकार विनिमय दर 1 शि० 4 पेंस थी, किन्तु व्यवहार में रुपये के पाँड मूल्य में परिवर्तन की सीमाएँ 1 शि० 4 पेंस और 1 शि० 3½ थीं।

स्वर्ण-विनिमय मान के गुण एवं दोष (Merits and Demerits of The Gold Exchange Standard) :—स्वर्ण-विनिमय मान के पक्ष में बहुधा यह कहा जाता है कि वह बिल्कुल स्वर्ण-मान की ही तरह कार्य करता था। देश में सोने के सिक्के प्रचलन में नहीं थे, अतः इसमें सोने के उपयोग



में भी बहुत अधिक वचत होती थी। इस प्रकार भारत-जैसे निर्धन देश के लिए यह निश्चय ही एक अच्छी पद्धति थी। इसका दूसरा लाभ यह बतलाया जाता था कि लंदन में सुरक्षित कोष में रखा गया सोना भारत एवं ब्रिटेन दोनों देशों की मुद्राओं के सुरक्षित कोष का कार्य करता था।

किन्तु, व्यवहार में यह प्रणाली बहुत ही दोषपूर्ण थी। यद्यपि इस मान से विनिमय-दर में स्थायित्व आ गयी तथापि यह देश के मूल्य-स्तर में स्थिरता नहीं प्रदान कर सका। इससे व्यापार में एक प्रकार की अनिश्चिता उत्पन्न हो गयी जिसका देश की आर्थिक व्यवस्था पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ा। भारत में इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष इसके संचालन से सम्बन्धित था। केन्द्रीय बैंक के अभाव में सरकारी कर्मचारी ही इसका प्रबन्ध करते थे। ये कर्मचारी मुद्रा-प्रणाली के प्रबन्ध में ही बहुत कम प्रवीण होते थे। बाजार तथा व्यापार की परिस्थितियों से इनका कोई सम्पर्क नहीं रहता था, इसलिए इसका प्रबन्ध त्रुटिपूर्ण होता था। साथ ही, प्रबन्धित-मान (Managed Standard) होने के कारण पग-पग पर सरकार को इसके कार्य-संचालन में हस्तक्षेप करना पड़ता था। अतः इस मौद्रिक मान की कटु आलोचना की जाने लगी।

1. चेम्बरलेन आयोग ने निम्नांकित सुझाव प्रस्तुत किया था—

- (i) Gold Exchange Standard was suitable for India. Increased use of gold in internal circulation should not be encouraged and the people in the country neither desired nor needed gold as currency.
- (ii) There was no need for a mint for coinage of gold. However should the Indian sentiments demand it and the Government of India was ready to bear the burden of its expenses a mint might be established to make sovereigns and half-sovereigns. In the event of not establishing a mint the Government should review the notification withdrawn in 1906 to receive gold at Bombay mint in exchange for notes or rupees.
- (iii) As regards the Gold Standard Reserve, the Commission held that no maximum limit to its amount could be prescribed but it should be largely of gold and that it should be located in London.

1913 ई० का चेम्बरलेन आयोग<sup>1</sup> (Chamberlain Commission of 1913)—उपरोक्त दोषों के कारण भारत में जनमत स्वर्ण-विनिमय-मान के पक्ष में नहीं था। अतः देश में यह मांग की जाने लगी कि फाउलर कमिटी के सुझावों के आधार पर स्वर्ण मान की स्थापना की जाय। जब विश्व के प्रायः सभी देशों में स्वर्ण-मान का प्रचलन था तथा सभी इसे एक-मात्र सन्तोषजनक मुद्रा-पद्धति मानते थे, भारत में जनता की इच्छाओं के बावजूद इसे ग्रहण नहीं करना बड़ा ही अनुचित जान पड़ता था। अतः अप्रैल, 1913 ई० में भारतीय मुद्रा एवं विनिमय-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करने के लिए श्री चेम्बरलेन की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्ति हुई जिसने 1914 ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। आयोग की निम्नलिखित सिफारिशें प्रमुख थीं : (1) आयोग ने भारत में स्वर्ण-विनिमय मान को चालू रखने की सिफारिश की; (2) भारत में सोने के सिक्कों को ढालने के लिए किसी टक्साल की आवश्यकता नहीं थी, फिर भी, भारतीय जनमत को देखते हुए इस प्रकार के टक्साल की देश में स्थापना की जा सकती है,

(iv) Elasticity should be imparted to the currency system of the country by issuing notes against securities. The use of notes as currency should be encouraged and 500 rupee notes should be universalised.

(v) The Commission favoured the abolition of the Rupee branch of the Indian Reserve.

(vi) The Government should undertake to sell bills in India on London at the rate of 1 sh. 3½ p. whenever called upon to do so.

The report of the Commission was published in February 1914, and in July 1914, the global war broke out with the result that the Government could not act upon most of the recommendations of the Commission. The Government, however, abolished the silver branch of the Gold Standard Reserve and also undertook to sell Reverse Council Bills at the rate recommended by the Commission, whenever need to do so arose.



(3) स्वर्ण-मान कोष की कोई अधिकतम सीमा नहीं रहनी चाहिए; वरन् इसमें अधिक-से-अधिक सोना जमा रहना चाहिए; (4) स्वर्ण-मान-कोष की रजत शाखा बन्द कर देनी चाहिए; (5) पत्र-मुद्रा प्रणाली को अधिक लोचदार बनाने के लिए नोटों के रक्षित भाग (Fiduciary Issue) को 14 करोड़ रुपये कर देना चाहिए; तथा (6) सरकार को 1 शि० 3 $\frac{1}{2}$  पैसे की दर से रिर्वर्स कौंसिल बिल बेचने की जिम्मेवारी लेनी चाहिए। चेम्बरलेन आयोग की सिफारिशें फरवरी, 1914 ई० में प्रकाशित हुईं और जुलाई, 1914 ई० में प्रथम युद्ध छिड़ गया। अतः युद्ध के फलस्वरूप, सरकार आयोग की अधिकांश सिफारिशों को कार्यान्वित नहीं कर सकी।

प्रथम विश्व-युद्ध में भारतीय मुद्रा प्रणाली (Indian Currency during the First World War)—प्रथम महायुद्ध का भारतीय मुद्रा-प्रणाली पर बड़ा ही व्यापक प्रभाव पड़ा। युद्ध के प्रारम्भ होने के साथ ही जनता में एक व्यापक भय एवं अविश्वास उत्पन्न हो गया जिससे व्यापार के कार्यों में एक प्रकार की शिथिलता आ गयी। भारत सरकार ने इस बिगड़ती हुई स्थिति को सुधारने तथा मुद्रा-प्रणाली में जनता के विश्वास को जमाने के बहुत-से प्रयत्न किये। युद्ध के प्रारम्भ में जनता ने अपने सेविंग्स बैंक खाते से रुपया निकालना आरम्भ कर दिया तथा नोटों को रुपये में परिवर्तित करने की मांग की जाने लगी। सरकार ने इन सभी मांगों की पूर्ति की तथा केवल 1 अगस्त से 4 अगस्त, 1914 ई० के बीच सरकार को 28 लाख पौंड कीमत का स्वर्ण इस प्रकार से नोटों के बदले में देना पड़ा। अतः 5 अगस्त, 1914 ई० से सरकार ने आवश्यक व्यापारिक कार्यों के अतिरिक्त सोना देना बन्द कर दिया। विनिमय दर में ह्रास को रोकने के लिए जनवरी, 1915 ई० तक सरकार ने 87 लाख पौंड के लगभग रिर्वर्स कौंसिल बिलों को विक्रय किया। 1915 ई० के अन्त में स्थिति में कुछ सुधार हुआ तथा पुनः रुपया जमा किया जाने लगा। किन्तु चाँदी का मूल्य धीरे-धीरे बढ़ रहा था और बढ़ते-बढ़ते 27 पौंड प्रति औंस से 1920 ई० तक 89 पौंड प्रति औंस तक हो गया। इससे एक नयी कठिनाई उपस्थित हो गयी। इस स्थिति का सामना करने के लिए यह निश्चित किया गया कि चाँदी के मूल्य में वृद्धि के साथ-साथ रुपये के विनिमय मूल्य में भी वृद्धि की जाय। इस प्रकार स्वर्ण-विनिमय-मान प्रायः समाप्त हो गया और इसकी जगह पर औपचारिक घोषणा नहीं की गयी थी। इसके फलस्वरूप, रुपये की विनिमय दर में परिवर्तन होने लगा। विनिमय दर, जो 1917 ई० में 1 शि० 4 पैसे थी, बढ़कर 1918 ई० में 2 शि० 4 पैसे हो गयी। जनवरी एवं मार्च, 1920 ई० में विनिमय-दर बढ़कर क्रमशः 2 शि० 6 पैसे तथा 2 शिलिंग 11 पैसे हो गयी। 1920 ई० से रिर्वर्स कौंसिलों

की विक्री में भी इसी दर को लागू कर दिया गया। इस कठिनाई को दूर करने के लिए निजी व्यक्तियों के चाँदी का आयात बन्द कर दिया गया। सरकार ने स्वयं मुद्रा-ढलाई के लिए बड़ी-मात्रा में चाँदी का आयात करना प्रारम्भ किया। 1918 ई० में सरकार ने अमेरिका से 20 करोड़ औंस चाँदी खरीदने का निश्चय किया। दिसम्बर, 1917 ई० में विनिमय कार्यों को सुगम बनाने के लिये 1 रु० एवं 2 $\frac{1}{2}$  रु० के नोट जारी किये गये। इसके अतिरिक्त नोटों को रुपये में बदलने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया, किन्तु इन सब प्रयत्नों के बावजूद सरकार स्वर्ण-विनिमय-मान की रक्षा नहीं कर सकी।

बैबिंगटन स्मिथ कमिटी, 1919 (The Babington Smith Committee, 1919)—मई, 1919 ई० में भारत सरकार ने देश की मुद्रा-प्रणाली की जाँच करने तथा भविष्य में इस सम्बन्ध में सुझाव देने के लिये बैबिंगटन स्मिथ कमिटी की नियुक्ति की। कमिटी की राय में देश की तत्कालीन परिस्थितियों में विनिमय-दर में स्थायित्व अति आवश्यक था। इस कमिटी की निम्नांकित सिफारिशें प्रमुख थीं—(1) रुपये का विनिमय मूल्य 2 शि० निर्धारित किया जाय, यानी 10 रुपये बराबर 1 सोवरेन का हो। कमिटी ने 2 शि० के अनुपात का सुझाव इस तर्क पर दिया कि इससे व्यापार में कम-से-कम अव्यवस्था होगी तथा यह उच्च विनिमय-दर भी भारत के निर्यात में कोई हानि पहुँचाये बगैर आयात एवं गृह-प्रभार (Home charges) के लिए लाभप्रद सिद्ध होगी। (2) रुपया असीमित वैध सिक्का रहे। (3) सोने एवं चाँदी के आयात-निर्यात पर कोई रुकावट नहीं हो तथा बम्बई में एक टंकसाल स्थापित की जाय जहाँ जनता द्वारा दिये गये सिक्कों से सोवरेन की ढलाई की जाय। (4) स्वर्ण-मान कोष का अधिकांश भाग सोने में रहे तथा शेष सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में। इस कोष का एक अंश भारत में रहना चाहिये। इस प्रकार कमिटी ने इस सम्बन्ध में बहुत-से सुझाव प्रस्तुत किये।

दो शिलिंग अनुपात की असफलता :—सरकार ने इस कमिटी की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और तदनुसार रुपये का विनिमय-मूल्य 2 शि० स्वर्ण कर दिया। सोवरेन को 10 रु० की दर पर विधिग्राह्य घोषित किया गया तथा फरवरी, 1920 ई० में चाँदी के आयात पर कर हटा लिया गया। किन्तु, सरकार इस विनिमय-दर को बहुत अधिक समय तक नहीं कायम रख सकी। ज्योंही सरकार ने विनिमय-दर को 2 शि० प्रति रुपया निश्चित किया, रिर्वर्स कौंसिलों की मांग बढ़ गयी और जब सरकार ने इसे बनाये रखने का प्रयास किया तो उसे बहुत अधिक हानि उठानी पड़ी। यह दर आयातकर्त्ताओं के लिए विशेष लाभप्रद थी। अतः इससे



आयात में वृद्धि होने लगी। इससे व्यापारिक संतुलन भारत के विपक्ष में होने लगा तथा रुपये की मांग में कमी आने लगी और स्टलिंग की मांग बढ़ गयी। इसी समय विनिमय की दरों में परिकल्पना भी आरम्भ हो गयी। अतः सरकार के लिए 2 शि० स्वर्ण का अनुपात कायम रखना प्रायः असंभव हो गया। ऐसी स्थिति में सरकार ने 2 शि० स्टलिंग का अनुपात चलाने का प्रयत्न किया, इसमें भी सफलता नहीं मिल सकी। इससे 28 सितम्बर, 1920 ई० को सरकार ने इस विनिमय दर को कायम रखने का विचार छोड़ दिया; क्योंकि तबतक सरकार को इससे 38 करोड़ रुपये का नुकसान हो चुका था। फलतः जुलाई, 1921 ई० में विनिमय-दर घटकर प्रायः 1 शि० 3 पैसे हो गयी। विनिमय की दर अक्टूबर, 1924 में 1 शि० 6 पैसे हो गयी। इस प्रकार 2 शि० स्वर्ण अनुपात बिल्कुल असफल रहा। वास्तव में, सरकार ने बेबिंगटन स्मिथ कमिटी की सिफारिशों को कार्यान्वित करने में अति शीघ्रता से काम लिया था। यह सरकार की बड़ी भारी भूल थी जिससे देश के व्यापारियों एवं व्यवसायियों को बहुत अधिक हानि उठानी पड़ी।

### हिल्टन यंग आयोग

(Hilton Young Commission)

1919 से 1925 ई० तक का समय भारतीय मुद्रा के इतिहास में घोर उथल-पुथल का समय था। इस बीच सरकार ने रुपये के विनिमय मूल्य को 2 शि० निश्चित करने के कोई असफल प्रयास किये। इसका देश की मुद्रा एवं विनिमय व्यवस्था पर बड़ा ही गहरा प्रभाव पड़ा। अतः सरकार ने मुद्रा एवं विनिमय की समस्याओं पर विचार करने के लिए अगस्त 1925 ई० में हिल्टन यंग की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्ति की। आयोग की सिफारिशों का देश की मुद्रा, विनिमय एवं बैंकिंग व्यवस्था के विकास में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। आयोग की मुख्य सिफारिशों को निम्नांकित तीन वर्गों में विभाजित कर अध्ययन किया जा सकता है: (क) मुद्रा-मान सम्बन्धी सिफारिशें; (ख) विनिमय-दर-सम्बन्धी सिफारिशें तथा (ग) मुद्रा को नियन्त्रित करनेवाले अधिकारी से सम्बन्धित सिफारिशें।

(i) मुद्रा-मान का प्रश्न—हिल्टन यंग आयोग ने उस समय देश में प्रचलित मुद्रा-मान, अर्थात् स्वर्ण-विनिमय मान का भली-भांति विवेचन किया। आयोग के अनुसार स्वर्ण-विनिमय मान रुपये के मूल्य में स्थायित्व ला सकता था, किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में इसके कई दोष थे; जैसे—(क) सर्वप्रथम तो इस मान की कार्यप्रणाली बड़ी ही जटिल थी। मुद्रा के मूल्य को स्थायी बनाये रखने के लिए कौंसिल विल तथा रिजर्व-कौंसिल-बिलों का सहारा लेना पड़ता था। (ख) इस पद्धति में अन्य स्वर्ण-मानों की तरह देश की मुद्रा के स्वतः संकोच एवं प्रसार की

व्यवस्था नहीं थी। यह कार्य मुद्रा अधिकारियों पर निर्भर करता था। इस प्रकार यह प्रणाली लोचहीन थी। (ग) इसमें कई प्रकार के दोष थे; जैसे—स्वर्ण-मान रक्षित कोष, पत्र-मुद्रा कोष, रजत-मान कोष आदि। इससे भी इस प्रणाली में जटिलता आ जाती थी तथा इसमें अपव्यय भी होता था। (घ) यह प्रणाली इंग्लैंड पर निर्भर होने के कारण पराधीन थी। देश की मुद्रा का स्वर्ण से सम्बन्ध प्रत्यक्ष नहीं होकर स्टलिंग के माध्यम से था। इस प्रकार स्वर्ण-विनिमय मान के उपरोक्त दोषों के फलस्वरूप आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह प्रणाली भारत के लिए उपयुक्त नहीं है। हिल्टन आयोग ने देश के लिए स्वर्ण-मुद्रा मान (Gold Currency Standard) की भी जाँच की तथा विभिन्न दोषों के फलस्वरूप इसे भी भारत के लिए अनुपयुक्त बतलाया। स्वर्ण-मुद्रा मान के सफल संचालन के लिए अधिक मात्रा में सोने की आवश्यकता थी, किन्तु भारत के पास पर्याप्त मात्रा में सोना उपलब्ध नहीं था। अतः यह मान उपयुक्त नहीं था। इस मान को अपनाने से सोना के अनुपात में चाँदी का मूल्य घट जायगा। अतः देशवासियों के संचित चाँदी का मूल्य यों ही कम हो जायगा जिससे उन्हें हानि होगी। इसका विश्व के रजत मूल्य पर भी प्रभाव पड़ेगा।

इन सब बातों पर विस्तृत रूप से विचार करते हुए हिल्टन आयोग ने बहुमत से भारत में भी इंग्लैंड की तरह स्वर्ण-धातु मान (Gold Bullion Standard) अपनाने का सुझाव दिया। इस प्रकार के मान में चाँदी के रुपये तथा कागज के नोट ही वास्तविक प्रचलन में होंगे। सोना के सिक्कों का देश में प्रचलन न होगा, किन्तु देश की मुद्रा का एक निश्चित वजन के सोने के पिण्ड में परिवर्तित किया जायगा।

इस प्रकार आयोग ने भारत के लिए स्वर्ण-धातु मान का सुझाव दिया। आयोग के अनुसार इस मान की निम्नांकित प्रमुख विशेषताएँ होंगी—(1) सरकार अथवा देश के मुद्रा-अधिकारी असीमित मात्रा में एक निश्चित दर पर कम-से-कम 400 औंस शुद्ध सोने (1065 तोले) की पिण्डों को बेचेंगे अथवा खरीदेंगे। (2) सोवरेन विधि ग्राह्य नहीं रह जायगी अर्थात् सोने की मुद्रा का प्रचलन नहीं होगा। देश में केवल चाँदी के रुपये तथा पत्र-मुद्रा का ही प्रचलन रहेगा। नोटों के बदले चाँदी के रुपये देने की प्रणाली के सम्बन्ध में आयोग ने यह सिफारिश की कि कुछ समय तक नोटों के बदले चाँदी के रुपये देने की प्रतिज्ञा का पालन किया जाय। किन्तु, नये नोटों के बदले रुपया देने का उत्तरदायित्व सरकार नहीं ले। आयोग ने 1 रुपया के नोट जारी करने का भी सुझाव दिया, किन्तु इन्हें चाँदी के रुपये में परिवर्तित करने का उत्तरदायित्व नहीं होना चाहिए। (3) आयोग ने यह सुझाव दिया कि स्वर्ण-मुद्रा-कोष एवं पत्र-मुद्रा कोष को सम्मिलित कर दिया जाय



तथा इसे लन्दन के बजाय भारत में रखा जाय। कोष की बनावट एवं अनुपात को वैधानिक ढंग पर निश्चित कर देना चाहिए जिससे मुद्रा का स्वतः विस्तार एवं संकुचन होता रहे। आयोग के अनुसार इस कोष में 40 प्रतिशत स्वर्ण प्रतिभूतियाँ होनी चाहिए। (4) आयोग ने देश में निश्चित अरक्षित-नोट निर्गम-प्रणाली (Fixed Fiduciary System) के स्थान पर आनुपातिक निधि-पद्धति (Proportional Reserve System) अपनाने की सिफारिश की थी।

इन सिफारिशों के आधार पर सरकार ने 1927 ई० में एक अधिनियम पारित किया जिसके अनुसार सोने की कीमत 21 रुपये, 3 आने, 10 पाई प्रति तोला निर्धारित की गयी। इस कीमत पर 400 औंस की सोने की पिंड बेची एवं खरीदी जाती थी। विनिमय-दर 1 शि० 6 पें० प्रति रुपया निर्धारित की गयी। सोवरेन को विधि ग्राह्य मुद्रा नहीं माना गया, किन्तु इन्हें खजाने में प्रति सोवरेन 13 रु०, 2 आना, 4 पाई की दर से बेचा जा सकता था। यह मान देश में सितम्बर, 1931 ई० तक रहा और उस समय जब इंग्लैंड ने स्वर्ण-मान का परित्याग कर दिया तो भारत ने भी स्वर्ण-धातु मान को छोड़ दिया।<sup>1</sup>

(ii) विनिमय की दर :—हिल्टन आयोग का सबसे अधिक विवादास्पद सुझाव विनिमय की दर से सम्बन्धित था। आयोग ने बहुमत से यह निश्चित किया कि विनिमय की दर 1 शि० 6 पें० प्रति रुपये होनी चाहिए। आयोग के एक सदस्य सर पुरुषोत्तम दास ठाकुर दास ने अपनी एक अलग रिपोर्ट में विनिमय की दर को 1 शि० 4 पें० पर रखने की सलाह दी।<sup>2</sup> इस प्रकार विनिमय की दर के सम्बन्ध में आयोग एकमत नहीं हो सका।

विनिमय की दर 1 शि० 6 पें० के पक्ष में तर्क :— बहुमत 1 शि० 6 पें० प्रति रुपये के पक्ष में था। इन लोगों का कहना था कि यह एक स्वाभाविक एवं प्राकृतिक दर थी; क्योंकि गत प्रायः दो वर्षों से विनिमय की दर इसी बिन्दु पर स्थायी थी। इसके फलस्वरूप देश में मजदूरी, मूल्य, उत्पादन व्यय आदि, अर्थात् देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था इसी दर पर समायोजित हो चुकी थी। सरकारी बजट भी इसी दर से तैयार किये जाते थे। अतः इसमें परिवर्तन का प्रभाव देश की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर पड़ेगा। 1 शि० 4 पें० की दर देश में 1917 ई० से 1925 ई० के बीच प्रायः असफल रही। इससे देश की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी थी। साथ ही, विनिमय की दर 1 शि० 4 पें० प्रति रुपये रखने पर मूल्य

में प्रायः 12½ प्रतिशत की सामान्य वृद्धि हो जायगी जिससे मजदूरी की वास्तविक दरों में भी कमी होगी। इसका समाज के निश्चित आयवाले वर्ग पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा।

विनिमय की दर 1 शि० 4 पें० के पक्ष में तर्क :— आयोग के एक सदस्य सर पुरुषोत्तमदास ठाकुर दास का मत था कि तत्कालीन परिस्थितियों में रुपये की स्वाभाविक विनिमय-दर 1 शि० 4 पें० थी। इसके पक्ष में कहा जाता था कि यह दर 1898 ई० से लेकर 1917 ई० तक प्रचलित थी। अतः देश इसका अभ्यस्त हो गया था। साथ ही, यह बात प्रमाणित नहीं की जा सकती थी कि विनिमय-दर में वृद्धि के फलस्वरूप मजदूरी में किसी प्रकार की कमी होगी। साथ ही, 1 शि० 6 पें० की दर से किसानों के ऋण में प्रायः 1 ½ प्रतिशत की वृद्धि होगी। अतः इसका प्रभाव किसी-न किसी वर्ग पर बुरा पड़ेगा। वास्तव में, 1 शि० 4 पें० की दर का कुछ ही व्यक्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, किन्तु 1 शि० 6 पें० का समाज के एक बहुत बड़े वर्ग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। अतः आयोग के अल्पमत ने 1 शि० 4 पें० के सम्बन्ध में ही सुझाव दिया।

भारत सरकार ने 1927 ई० के अधिनियम के अनुसार बहुमत के प्रस्ताव से सहमत हो, जनमत के विरुद्ध विनिमय दर 1 शि० 6 पें० प्रति रुपया निर्धारित किया, किन्तु इससे यह विवाद समाप्त नहीं हुआ।

(iii) मुद्रा-नियन्त्रण के लिए रिजर्व बैंक की स्थापना का सुझाव :—देश की मुद्रा एवं बैंकिंग व्यवस्था में समन्वय स्थापित करने तथा मुद्रा के नियन्त्रण के लिए आयोग ने एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता को महसूस किया। देश में मुद्रा नियन्त्रण का कार्य सरकार करती थी तथा साख-नियन्त्रण का कार्य इम्पीरियल बैंक करता था। इससे इन दोनों की नीति में सहयोग एवं समन्वय का अभाव था। अतः आयोग ने एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया जिसका नाम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया रखा जाय। यह बैंक देश में केन्द्रीय बैंक के प्रायः सभी कार्यों को करेगा। इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक के कुछ कार्यों को अवश्य करता था, किन्तु यह एक व्यावसायिक बैंक था, अतः इसे केन्द्रीय बैंक में परिवर्तित करने से देश को बहुत हानि होगी। आयोग के अनुसार यह बैंक एक गैर सरकारी बैंक होना चाहिए जिसके हिस्सेदार जनता एवं विभिन्न संस्थाएँ हों, किन्तु विभिन्न कारणों से 1934-35 ई० के

ऑफ इण्डिया को ही केन्द्रीय बैंक के रूप में परिवर्तित करने का सुझाव दिया था। इनके अनुसार रिजर्व बैंक नामक एक पृथक् बैंक की स्थापना की कोई आवश्यकता नहीं थी।

1. आयोग के एक सदस्य सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने स्वर्ण-धातु मान के बदले एक ऐसे मुद्रा-मान को अपनाने का सुझाव दिया था जिसमें सोने की बनी मुद्रा का प्रचलन हो।

2. सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने इम्पीरियल बैंक



पूर्व रिजर्व बैंक की स्थापना नहीं की जा सकी।

स्टर्लिंग-विनिमय मान (1931-47) (Sterling Exchange Standard, 1931-47)—सितम्बर, 1931 ई० में जब ब्रिटेन ने स्वर्ण मान का परित्याग कर दिया तब भारत सरकार ने भी स्वर्ण धातु मान को छोड़ दिया। अतः 1927 ई० के करेन्सी अधिनियम को रद्द कर दिया गया एवं रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग से स्थापित कर दिया गया। इस प्रकार भारत में स्टर्लिंग विनिमय मान की स्थापना हुई जिसके अनुसार रुपये की विनिमय दर 1 शि० 6 पें० निश्चित की गयी। इस दर पर बाह्य कार्यों के लिए सरकार ने नोटों को स्टर्लिंग में बदलने की जिम्मेवारी ली। आन्तरिक कार्यों के लिए रुपया पहले की तरह ही चलता रहा। रुपये के स्टर्लिंग के साथ इस गठबन्धन की कटु आलोचना हुई। आलोचकों का कहना था कि इससे स्वर्ण मान वाले देशों से होनेवाला आयात अधिक महँगा हो जायगा; क्योंकि स्टर्लिंग का 1931 ई० में 60 प्रतिशत से अवमूल्यन हो गया। इससे रुपये का स्वर्ण-मूल्य भी कम हो जायगा जिससे भारत से स्वर्ण का निर्यात होने लगेगा। साथ ही, इससे भारत का भाग्य सदा के लिए इंग्लैंड के साथ बँध जायगा; अर्थात् राजनीतिक गुलामी के साथ-साथ आर्थिक गुलामी में भी भारत जकड़ जायगा। इसके विपरीत स्टर्लिंग विनिमय मान के समर्थकों का कहना था कि रुपये को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय अथवा स्टर्लिंग से इसका संबंध स्थापित नहीं किया जाय तो विनिमय दर में बहुत अधिक परिवर्तन होगा जिसका विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। साथ ही, भारत का अधिकांश व्यापारिक सम्बन्ध इंग्लैंड के ही साथ था और प्रति वर्ष गृह व्यय के रूप में भी भारत इंग्लैंड को बहुत बड़ी रकम चुकाता था। इस दृष्टि से भी भारत का स्टर्लिंग के साथ सम्बन्ध जोड़ना अधिक लाभप्रद था।

स्वर्ण एवं रजत का निर्यात :—जब देश में स्टर्लिंग विनिमय मान की स्थापना हुई तो वहाँ से बहुत अधिक मात्रा में स्वर्ण एवं रजत का निर्यात होने लगा। सन् 1931 ई० के पूर्व भारत में बहुत अधिक मात्रा में स्वर्ण एवं चाँदी का आयात हुआ करता था, परन्तु, 1931 ई० के बाद इनका बहुत बड़ी मात्रा में निर्यात होने लगा। अनुमान लगाया जाता है कि 1931 ई० से 1940 ई० के नौ वर्षों के बीच भारत से कुल 362 45 करोड़ रुपये मूल्य का प्रायः 416'8 लाख औंस सोने का निर्यात हुआ। इस स्वर्ण-निर्यात के निम्नलिखित कारण थे :—1961 ई० के आर्थिक संकट एवं मन्दी के कारण कृषि पदार्थों का मूल्य बहुत कम हो गया जिससे कृषक वर्ग को अपने संचित धन, जो स्वर्ण के रूप में था, बेचना पड़ा। साथ ही, जब 1921 ई० में स्टर्लिंग का स्वर्ण के रूप में अवमूल्यन हुआ और रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग से जोड़ दिया गया तो भारत में स्वर्ण का मूल्य बहुत बढ़ गया। इससे देशवासियों को सोने

के निर्यात में लाभ प्रतीत होने लगा।

सोने के निर्यात से सरकार को विशेष राहत मिली। इस समय भारत का व्यापाराधिक्य मुख्यतः इसके प्रतिकूल था। ऐसी स्थिति में 1 शि० 6 पें० की दर को बनाये रखना सरकार के लिए कठिन हो रहा था। सोने के निर्यात से स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ तथा सरकार ने विनिमय के अनुपात को बनाये रखने के साथ-साथ बहुत बड़ी मात्रा में स्टर्लिंग भी खरीद लिया जिससे भारतीय मुद्रा के रक्षित कोष में भी पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हुई। किन्तु, भारत में जनता स्वर्ण निर्यात को बन्द करने के पक्ष में थी। लोगों का कहना था कि सरकार एवं रिजर्व बैंक को सोना स्वयं खरीदना चाहिए। इससे रिजर्व बैंक के सुरक्षित कोष में वृद्धि हो सकती थी।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना<sup>1</sup> :—1926 ई० में हिल्टन यंग आयोग की सिफारिशों के अनुसार देश में रिजर्व बैंक की स्थापना नहीं की जा सकी। पुनः 1931 ई० में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने भी देश में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना पर जोर दिया। अतएव 6 अगस्त, 1934 ई० को भारतीय विधान सभा में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम पारित हुआ जिसके अनुसार 1 अप्रैल, 1935 ई० को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई। इस बैंक की स्थापना से देश की मुद्रा प्रणाली में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। सर्वप्रथम, रिजर्व बैंक को देश में पत्र-मुद्रा जारी करने का एकाधिकार हो गया। साथ ही, इस बैंक की स्थापना से साख एवं मुद्रा दोनों के नियंत्रण का कार्य एक ही संस्था को सौंपा गया। विदेशी विनिमय दर को 1 शि० 6 पें० की दर पर स्थायी रखने का दायित्व भी रिजर्व बैंक को ही दिया गया। रिजर्व बैंक विनिमय दर के परिवर्तन को स्वर्ण के क्रय-विक्रय द्वारा 17 पें० तथा 18 पें० के बीच रखने का सदा प्रयत्न करता था। इस प्रकार देश की मुद्रा एवं विनिमय व्यवस्था के इतिहास में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

### भारतीय पत्र-मुद्रा (Indian Paper Currency)

प्रारम्भिक इतिहास :—1861 ई० के पूर्व भारत में पत्र-मुद्रा जारी करने का अधिकार कम्पनी द्वारा केवल बम्बई; मुद्रास तथा बंगाल के प्रेसीडेंसी बैंकों एवं कुछ अन्य बैंकों को ही दिया गया था। इनके नोट विधि-ग्राह्य नहीं थे तथा एक सीमित क्षेत्र में ही चलते थे। 1861 ई० में भारत सरकार द्वारा एक 'पत्र-मुद्रा-अधिनियम' (Paper Currency Act) पारित किया गया जिसके अनुसार सरकार ने नोट जारी करने का अधिकार प्रेसीडेंसी बैंकों के हाथ से अपने हाथ में ले लिया। इस अधिनियम के 1 रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का विस्तारपूर्वक विवरण एक पृथक् अध्याय में किया गया है।



अनुसार नोट जारी करने के करेंसी-सिद्धांत (Currency Principle) को अपनाया गया तथा निश्चित अरक्षित नोट, निर्गम प्रणाली (Fixed Fiduciary System) के आधार पर सरकार नोट छापने लगी। केवल 4 करोड़ रुपये के नोट सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर जारी किये जा सकते थे। शेष के लिए नोटों की रकम के बराबर सिक्के, स्वर्ण अथवा रजत पिंडों का कोष रखना आवश्यक था। सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर छापे जानेवाले नोटों (Fixed Fiduciary Issue) की सीमा को समय-समय पर विशेष कानूनों द्वारा बदला गया। 1871 ई० में इसे 6 करोड़, 1890 ई० में 8 करोड़, 1897 ई० में 10 करोड़ तथा 1905 ई० में यह सीमा 12 करोड़ रुपये कर दी गयी। इससे स्पष्ट है कि नोट जारी करने की तत्कालीन प्रणाली पर्याप्त मात्रा में लोचदार नहीं थी। 1903 ई० में 5 रुपये के नोट को, 1910 ई० में 10 रुपये तथा 25 रुपये के नोट और 1911 ई० में 100 रुपये के नोट को सर्वमान्य वैध-मुद्रा घोषित किया गया। इसी प्रकार धातु कोष के सम्बन्ध में भी समय-समय पर परिवर्तन किये गये।<sup>1</sup>

इस प्रकार की नोट निर्गमन प्रणाली के बहुत-से लाभ थे। सर्वप्रथम, तो इसमें सुरक्षा की मात्रा बहुत अधिक थी। प्रस प्रणाली में एक निश्चित सीमा के बाद नोटों के निर्गमन के लिए शत-प्रतिशत स्वर्ण अथवा रजत का कोष रखना अनिवार्य था। इससे इस व्यवस्था के अन्तर्गत मुद्रा-प्रसार का भय बहुत ही कम था। साथ ही, इस प्रणाली में नोटों को चाँदी के रूपों में परिवर्तित भी किया जा सकता था। अतः इसमें परिवर्तनशीलता का गुण भी वर्तमान था। किन्तु, इस प्रणाली के कुछ दोष भी थे। सबसे प्रमुख दोष इस प्रणाली का बेलोचदार होना था। एक निश्चित सीमा से अधिक नोट जारी करने के लिए इसमें शत-प्रतिशत कोष की आवश्यकता पड़ती थी। इससे यह प्रथा अभिव्ययी भी थी।

प्रथम महायुद्ध का भारतीय पत्र-मुद्रा पर प्रभाव :— युद्ध प्रारम्भ होते ही लोगों का पत्र-मुद्रा पर से विश्वास समाप्त होने लगा और प्रारम्भ में सोने तथा बाद में चाँदी के सिक्कों की मांग की जाने लगी। किन्तु, युद्धकाल में धीरे-धीरे बढ़ते हुए व्यापार के कारण अधिक मुद्रा की मांग होने लगी और इस बड़ी हुई मांग की पूर्ति चाँदी के अभाव में चाँदी के सिक्के से नहीं कर पत्र-मुद्रा द्वारा ही की गयी। इससे पत्र-मुद्रा में जनता का विश्वास बढ़ने लगा। सितम्बर, 1917 ई० में 2½-रु० के तथा जनवरी, 1918 ई०

1. 5000 तथा 1000 रुपये के नोट 1931-32 ई० में सर्वमान्य वैध-मुद्रा घोषित किये गये।

में 1 रुपये के नोट भी जारी किये गये। सितम्बर, 1919 ई० में सरकार द्वारा प्रतिभूतियों पर जारी किये जानेवाले नोटों की सीमा को बढ़ाकर 120 करोड़ रुपये कर दिया गया।

हिल्टन यंग आयोग ने 1926 ई० में देश की पत्र-मुद्रा-प्रणाली के सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये थे जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :—(1) देश में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय, जिसे नोट जारी करने का एकाधिकार हो, (2) एक रुपये के नोट पुनः जारी किये जायें जो रुपये में परिवर्तनशील नहीं होनी चाहिए, (3) नोट रूपों के बजाय 400 औंस के स्वर्ण पिंडों (Gold Bullion) में परिवर्तित होने चाहिये। आयोग ने भारत में आनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System) के आधार पर नोट जारी करने की सिफारिश की और 40 प्रतिशत कोष का सुझाव दिया।

भारतीय पत्र-मुद्रा की वर्तमान प्रणाली (Present system of note-issue in India) :—1934 ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम पारित हुआ तथा 1 अप्रैल, 1935 ई० से रिजर्व बैंक ने कार्य करना प्रारम्भ किया। इस अधिनियम के अनुसार नोट जारी करने का एकाधिकार रिजर्व बैंक को दिया गया जिसके लिए बैंक द्वारा एक पृथक् नोट विभाग (Issue Department) की स्थापना भी की गयी। प्रारम्भिक विधान के अनुसार रिजर्व बैंक जितनी पत्र-मुद्राएँ जारी करता था उसका 40 प्रतिशत भाग उसे सोने तथा विदेशी प्रतिभूतियों के रूप में सुरक्षित कोष में रखना आवश्यक था। इस सुरक्षित कोष में से कम-से-कम 40 करोड़ रुपये (1956 ई० के पूर्व 21 रु० 6 आने, 10 पाई प्रति तोला की दर से) का स्वर्ण होना चाहिए था। सुरक्षित कोष में स्वर्ण एवं विदेशी प्रतिभूतियों के अतिरिक्त 60 प्रतिशत भाग रुपये के सिक्के, भारत सरकार के ऋण-पत्र तथा तीन महीने में भुगतान होनेवाली हुण्डियाँ रहती थीं।<sup>2</sup> यदि स्वर्ण एवं विदेशी ऋण-पत्रों का अनुपात कभी 40 प्रतिशत से घट गया तो इसके लिए रिजर्व बैंक को सरकार की स्वीकृति लेनी पड़ती थी। साथ ही, कम रकम पर ब्याज भी देना पड़ता था। इस प्रकार रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद देश में पत्र-मुद्रा जारी करने की आनुपातिक कोष-प्रणाली प्रारम्भ हुई।

यह प्रथा प्रायः 20 वर्षों तक चलती रही, किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश के आयोजित विकास के फलस्वरूप देश में मुद्रा की मात्रा में बहुत अधिक वृद्धि की आवश्यकता हुई। साथ ही, बैंक के विदेशी

2. 1948 ई० के पूर्व विदेशी प्रतिभूतियों का अधिप्राय केवल स्टर्लिंग प्रतिभूतियों से था, किन्तु इसके बाद इसमें संशोधन हुआ जिसके अनुसार आजकल अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के किसी भी सदस्य राष्ट्र की मुद्रा तथा प्रतिभूतियों को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है।



मुद्रा-कोष में भी योजनाकरण के कारण बहुत अधिक कमी होने लगी। अतः 1956 ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया अधिनियम में एक संशोधन किया गया जिसके अनुसार पत्र-मुद्रा जारी करने की प्रणाली में परिवर्तन किया गया। संशोधित विधान के अनुसार आनुपातिक कोष-प्रणाली के बदले न्यूनतम कोष-प्रणाली को अपनाया गया जिसके अनुसार रिजर्व बैंक को अपने सुरक्षित कोष में कम-से-कम 115 करोड़ रुपये का स्वर्ण तथा 400 करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा रखनी पड़ती है। साथ ही, सुरक्षित कोष में रखे गये सोने का मूल्य आजकल अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के द्वारा निर्धारित मूल्य, यानी 62 रु० 50 पै० प्रति तोला की दर से आँका जाता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (संशोधन) अधिनियम, 1956 ई० के अनुसार आनुपातिक कोष-प्रणाली की जगह नोट जारी करने के लिए एक निश्चित न्यूनतम (Fixed minimum) सुरक्षित कोष प्रणाली को अपनाया गया। सुरक्षित कोष की निम्नतम सीमा 515 करोड़ रुपये निश्चित कर दी गयी जिसमें कम-से-कम 115 करोड़ रुपये के मूल्य का स्वर्ण होना चाहिए था। 31 अक्टूबर, 1957 ई० को एक अध्यादेश जारी कर [जो आगे चलकर Reserve Bank of India (Second Amendment) Act, 1957 हो गया] सुरक्षित कोष की निम्नतम सीमा घटाकर 200 करोड़ रुपये कर दी गयी जिसमें कम-से-कम 115 करोड़ रुपये का स्वर्ण आवश्यक था। साथ ही, इस संशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक सरकार की अनुमति से विदेशी मुद्रा के कोष को बिल्कुल ही समाप्त कर सकता है।

### द्वितीय महायुद्ध एवं भारतीय मुद्रा

(Indian Currency during the Second World War)

सितम्बर, 1939 ई० में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। उस समय भारत में स्टर्लिंग-विनिमय मान का प्रचलन था। आंतरिक मुद्रा में पत्र-मुद्रा, चाँदी का रुपया एवं अठन्नी  $\frac{1}{16}$  शुद्धता के अपरिमित विधि-ग्राह्य थे। विनिमय की दर 1 शि० 6 पै० पर लगभग स्थायी रहती थी। युद्ध प्रारम्भ होते ही जनता का देश की मुद्रा-प्रणाली पर से विश्वास कम होने लगा तथा लोगों ने चाँदी के सिक्कों का संग्रह करना आरम्भ कर दिया। जून 1940 ई० में फ्रांस की हार के बाद तो यह प्रवृत्ति और भी बढ़ गयी। इस परिस्थिति का सामना करने के लिए रिजर्व बैंक ने सीमित मात्रा में रुपया देना आरम्भ कर दिया तथा डिफेंस ऑफ इण्डिया अधिनियम के अन्तर्गत आवश्यकता से अधिक रुपया रखना अपराध भी घोषित कर दिया गया। युद्धकाल में 2 रुपये के नोट जारी किये गये। साथ ही, देश में सिक्कों की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के

लिए सरकार ने 1940 ई० में भारतीय टंकन अधिनियम (Indian Coinage Act) में संशोधन द्वारा रुपये, अठन्नी एवं चवन्नी की शुद्धता (Fineness) को  $\frac{1}{16}$  से घटाकर  $\frac{1}{2}$  भाग कर दिया। इसके अतिरिक्त अक्टूबर, 1940 ई० में सरकार के आदेशानुसार विक्टोरिया के छापेवाले रुपये तथा अठन्नियों का विमुद्रीकरण कर दिया गया। इसी प्रकार दिसम्बर, 1941 ई० में एक आदेशानुसार सप्तम एडवर्ड तथा नवम्बर, 1941 ई० में जॉर्ज पंचम के छापेवाले रुपये एवं अठन्नियों को भी बन्द कर दिया गया। इन सब प्रयत्नों से धीरे-धीरे सिक्कों के संग्रहीकरण की प्रवृत्ति कम हो गयी।

द्वितीय महायुद्धकाल में मुद्रा-प्रसार बहुत अधिक हुआ तथा बैंकों के जमा में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। सितम्बर, 1939 ई० में कुल प्रायः 196 करोड़ रुपये के नोट चलन में थे जो सितम्बर, 1944 ई० में बढ़कर 1147 करोड़ रुपये के हो गये अर्थात् युद्धकाल में नोट की मात्रा में प्रायः 951 करोड़ रु० की वृद्धि हुई। युद्धकाल में साख मुद्रा भी 126 करोड़ रुपये से बढ़कर 444 करोड़ रुपये हो गयी। पत्र-मुद्रा एवं साख में यह वृद्धि मुख्यतः युद्धजनित परिस्थितियों के फलस्वरूप ही हुई थी और नोटों का निर्गमन स्टर्लिंग जमा के आधार पर किया गया था। सितम्बर, 1939 ई० में रिजर्व बैंक के निर्गम विभाग में स्टर्लिंग जमा की रकम 605 करोड़ रुपये थी जो बढ़कर सितम्बर, 1945 ई० में 1942 करोड़ रुपये हो गयी।

साम्राज्य डॉलर कोष (Empire Dollar Pool) — युद्ध के सफल संचालन के लिए 1939 ई० में ब्रिटिश सरकार ने स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देशों की विदेशी विनिमय निधियों का नियंत्रण अपने हाथ में ले लिया। युद्धकाल में स्टर्लिंग क्षेत्र के किसी भी देश का अमेरिका अथवा अन्य देशों के साथ जो व्यापाराधिक्य होता था उसे उसका भुगतान ब्रिटेन अपने स्टर्लिंग के रूप में करता था। इस प्रकार इस क्षेत्र का कोई भी देश व्यापाराधिक्य तथा अन्य किसी कारण से, जो डॉलर प्राप्त करता था, उसे साम्राज्य डॉलर कोष में जमा करके स्टर्लिंग के रूप में साख प्राप्त कर लिया करता था। इस प्रकार सम्पूर्ण स्टर्लिंग क्षेत्र की विदेशी-विनिमय-सम्बन्धी आय इसी साम्राज्य डॉलर कोष में जमा कर दी जाती थी। इसे साम्राज्य डॉलर कोष का नाम दिया गया। इस कोष का उपयोग सभी सदस्य देश अपनी आवश्यकतानुसार करते थे। युद्धकाल में भारत भी इस कोष का एक प्रमुख सहायक रहा एवं इसने प्रायः 405 करोड़ रुपये कीमत का डॉलर इस कोष में जमा किया तथा 240 करोड़ रुपये कीमत का डॉलर व्यय किया।



## पौंड पावना

(Sterling Balances)

द्वितीय महायुद्धकाल में भारत की मौद्रिक व्यवस्था की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता पौंड पावने की रकम का जमा होना था। युद्ध के पूर्व भारत पर इंग्लैंड का ऋण था, किन्तु युद्धकाल में विभिन्न परिस्थितियों के फलस्वरूप भारत ने न केवल इंग्लैंड का पुराना ऋण ही चुका दिया वरन् उल्टे भारत की अरबों रुपये की रकम पौंड पावने के रूप में इंग्लैंड में जमा हो गयी। पौंड पावने की रकम जमा होने के निम्नलिखित तीन कारण थे—(1) भारत ने इंग्लैंड के लिए युद्धकाल में बहुत-सी सामग्री प्रदान की जिनका मूल्य इसे स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में प्राप्त हुआ; (2) भारत सरकार ने इंग्लैंड की सरकार के लिए भारत में भी बहुत-सी रकम व्यय की जिनका भुगतान उसे स्टर्लिंग के रूप में ही प्राप्त हुआ; (3) भारत के अनुकूल व्यापार तथा डॉलर कोष में जमा की गयी विदेशी विनिमय की रकम के बदले भी इसे स्टर्लिंग ही प्राप्त हुआ। इस प्रकार 1945-46 ई० में पौंड-पावने की रकम 1733 करोड़ रुपये हो गयी। यह रकम निश्चय ही बहुत अधिक थी। इसके फलस्वरूप इंग्लैंड भारत का देनदार हो गया। किन्तु पौंड-पावने की रकम भारत के युद्ध कालीन त्याग एवं कष्ट के परिणामस्वरूप ही एकत्र हुई थी। ब्रिटिश सरकार ने आरम्भ में इस रकम को कम करने का प्रयत्न किया, किन्तु वह इसमें पूर्णतया असफल रही। पौंड-पावने की रकम को घटाने के विरुद्ध बहुत-से तर्क प्रस्तुत किये जाने लगे, किन्तु ब्रिटिश सरकार की इस नीति से भारत में बहुत असन्तोष हुआ और अन्त में दोनों के बीच बहुत-से समझौते हुए जिनके अनुसार ब्रिटिश सरकार ने पौंड-पावने की रकम को चुकता करने की बात तय की। अब तक इसका अधिकांश भाग भारत ने प्राप्त कर लिया है तथा यह रकम प्रायः समाप्त हो चली है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एवं भारतीय मुद्रा (International Monetary Fund and the Indian Currency) :—युद्धकाल में ही मित्र-राष्ट्रों ने मुद्रा एवं विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों के समाधान के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के निर्माण के प्रश्न पर विचार करना प्रारम्भ किया तथा इस उद्देश्य से ब्रैटन-उडस नामक स्थान में 1944 ई० में विशेषज्ञों की एक बैठक हुई। इसके फलस्वरूप दो अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का निर्माण हुआ :—(1) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund), तथा (2) अन्तर्राष्ट्रीय विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development)। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का प्रधान उद्देश्य सदस्य-देशों की मुद्रा की विनिमय-दरों में स्थायित्व प्रदान करना था। भारत प्रारम्भ से ही इन

संस्थाओं का सदस्य है। इन संस्थाओं की सदस्यता स्वीकार करने से मुद्रा-सम्बन्धी नीति में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता पड़ी। इससे रुपये का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य अब डॉलर तथा स्वर्ण के रूप में निश्चित किया गया है। 1966 ई० के अवमूल्यन के बाद से रुपये का विनिमय-मूल्य 0.1185 ग्राम शुद्ध सोना या 13.336 सेंट हो गया है। साथ ही, इस सदस्यता के फलस्वरूप रिजर्व बैंक अब किसी भी विदेशी मुद्रा का क्रय तथा विक्रय कर सकता है। इस प्रकार रुपये एवं स्टर्लिंग का वैधानिक गठबन्धन समाप्त हो गया यद्यपि व्यवहार में यह सम्बन्ध आज भी बना आ रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सदस्यता स्वीकार करने से रिजर्व बैंक अधिनियम में भी कुछ संशोधन की आवश्यकता पड़ी। पहले रिजर्व बैंक नोट जारी करने के लिए 40 प्रतिशत भाग स्वर्ण या स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में रखता था। अब यह सभी देशों की मुद्राएँ खरीद एवं बेच सकता है। साथ ही, नोटों की जमानत के रूप में किसी देश की मुद्रा को रख सकता है, बशर्ते कि वह देश अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष का सदस्य हो।

1947 ई० में देश-विभाजन का प्रभाव भी देश की मुद्रा-प्रणाली पर पड़ा। देश-विभाजन के फलस्वरूप भारतीय मुद्रा का भी भारत एवं पाकिस्तान के बीच 13:3 के अनुपात में विभाजन हुआ। साथ ही, यह व्यवस्था भी की गयी कि 30 सितम्बर, 1947 ई० तक भारतीय नोट पाकिस्तान में प्रचलित रहेंगे। 31 मार्च, 1948 ई० तक रिजर्व बैंक ही पाकिस्तान के लिए भी नोट जारी करेगा। 1 जुलाई, 1948 ई० को पाकिस्तान के स्टेट बैंक की स्थापना हुई और तब भारत एवं पाकिस्तान की मौद्रिक व्यवस्था बिल्कुल अलग-अलग हो गयी।

## पंचवर्षीय योजनाओं में भारतीय मुद्रा

(1951-1976)

1951-52 ई० में भारत के आर्थिक विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ प्रारम्भ हुईं। पंचवर्षीय योजनाओं का देश की मौद्रिक व्यवस्था पर तीन प्रकार से प्रभाव पड़ा है—(1) योजना काल में देश में सामान्य मूल्य तल में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही जिसके परिणामस्वरूप भारतीय मुद्रा के आन्तरिक मूल्य में कमी हुई। (2) योजना-करण का भारतीय मुद्रा के विदेशी विनिमय दर पर भी प्रभाव पड़ा। (3) योजना काल में देश में मुद्रा की कुल पूर्ति में भी अत्यधिक वृद्धि हुई।

आयोजित विकास की अवधि में देश में मूल्य-तल में निश्चित रूप से वृद्धि हुई है जो अग्रोक्त तालिका से स्पष्ट है :—



## थोक मूल्यों का सूचनांक (1952-53 = 100)

| वर्ष                                                             | मूल्य सूचनांक |
|------------------------------------------------------------------|---------------|
| 1955-56                                                          | 92.5          |
| 1960-61                                                          | 124.9         |
| 1961-62                                                          | 125.1         |
| 1963-63                                                          | 117.9         |
| अंतिम सप्ताह थोक मूल्यों का सूचनांक <sup>1</sup> (1970-71 = 100) |               |
| 1971-72                                                          | 106           |
| 1972-73                                                          | 116           |
| 1973-74                                                          | 140           |
| 1974-75                                                          | 175           |
| 1975-76                                                          | 173           |
| 1976-77                                                          | 176           |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि चतुर्थ पंचवर्षीय योजना काल में थोक मूल्यों के सूचनांक में अत्यधिक वृद्धि हुई। मूल्य-तल में यह वृद्धि तृतीय योजना तथा इसके बाद वाले वर्षों से ही तीव्र हो गयी थी। जैसा कि स्पष्ट है, द्वितीय योजना काल के 5 वर्षों में मूल्य तल में केवल 32.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि तृतीय योजना काल में पाँच वर्षों में मूल्य तल में 37.5 प्रतिशत तथा केवल 1966-67 में एक वर्ष की अवधि में 21.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के दूसरे वर्ष 1970-71 से 1973-74 के बीच मूल्य सूचनांक 100 से बढ़कर 140 हो गया। केवल चतुर्थ योजना के अंतिम वर्ष 1973-74 में मूल्य तल में 24 प्रतिशत की वृद्धि हुई। उपभोक्ता वस्तुओं के मूल्य तल में भी योजना काल में इसी प्रकार से वृद्धि हुई। मूल्य तल में इस वृद्धि के परिणामस्वरूप योजना काल में भारतीय मुद्रा की क्रय-शक्ति में बहुत अधिक कमी हुई। केवल 1960 की तुलना में 1 रुपये की क्रय शक्ति घट कर 1969 में 57 पैसे तथा 1976 में 34 पैसे हो गयी। मूल्य तल में वृद्धि, यानी भारतीय मुद्रा की क्रय शक्ति में इस कमी का प्रधान कारण पंचवर्षीय योजनाओं में बड़े पैमाने पर घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit financing) की नीति को अपनाने के कारण मुद्रा की कुल पूर्ति में अत्यधिक वृद्धि है।

प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाओं तथा 1966-67 से 1968-69 के काल में घाटे की वित्त-व्यवस्था के रूप में 3102 करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में घाटे की वित्त व्यवस्था की रकम 1066 करोड़ रुपये

थी। इसके अतिरिक्त इस अवधि में विदेशी भुगतान संतुलन के घाटे की पूर्ति के लिए विदेशों से बहुत अधिक रकम ऋण के रूप में भी ली गयी थी। तीनों पंचवर्षीय योजनाओं तथा 1966-67 एवं 1968-69 में भारत के विदेशी व्यापार का कुल घाटा 7006 करोड़ रुपये था।

इसके अतिरिक्त चतुर्थ पंचवर्षीय योजना की अवधि में कुल आयात 9863.6 करोड़ रुपये तथा कुल निर्यात 9051 करोड़ रुपये थी, यानी पाँच वर्षों में घाटे की रकम 812 करोड़ रुपये के लगभग थी।

इसी प्रकार पंचवर्षीय योजना की अवधि में मुद्रा की कुल पूर्ति में भी अत्यधिक मात्रा में वृद्धि हुई जिसका अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

जनता के हाथ सम्पूर्ण मुद्रा की पूर्ति (करोड़ रुपये में)<sup>2</sup>  
मार्च के अंतिम मुद्रा बैंक कुल मुद्रा मुद्रों की पूर्ति  
सप्ताह जमा की पूर्ति राष्ट्रीय आय के प्रतिशत में

|      |       |       |        |      |
|------|-------|-------|--------|------|
| 1961 | 2,098 | 771   | 2,869  | 21.6 |
| 1966 | 3,034 | 1,495 | 4,529  | 21.9 |
| 1971 | 4,367 | 2,954 | 7,321  | 21.2 |
| 1974 | 6,308 | 4,864 | 11,172 | 22.6 |
| 1975 | 6,348 | 5,563 | 11,911 | 20.5 |
| 1976 | 6,704 | 6,439 | 13,143 | 21.8 |
| 1977 | 7,869 | 7,738 | 15,606 | 24.9 |

स्पष्ट है कि मार्च 1961 से मार्च 1977 के बीच जनता के पास मुद्रा की कुल पूर्ति में 6 गुना से भी अधिक वृद्धि हुई जब कि वास्तविक राष्ट्रीय आय में, इस अवधि में केवल दुगुनी ही वृद्धि हुई। दूसरे शब्दों में, इस अवधि में मुद्रा की कुल राशि में राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि की तुलना में अधिक वृद्धि हुई। इसके परिणाम-स्वरूप भी मूल्य-तल में अत्यधिक वृद्धि हुई। केवल तृतीय योजना काल में (1961-62 से 1965-66 के बीच) मुद्रा की पूर्ति में प्रायः 1600 करोड़ रुपये, यानी प्रायः 60 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि योजना काल में वास्तविक राष्ट्रीय आय में केवल 13 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। चतुर्थ योजना की अवधि में मुद्रा की कुल पूर्ति में प्रायः 4400 करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। यही कारण है कि तृतीय तथा चतुर्थ योजना काल में कीमतों में भारी वृद्धि हुई। कीमतों में इस वृद्धि के परिणामस्वरूप भारतीय रुपये के आंतरिक मूल्य में भारी कमी हो गयी।

## विशेष अध्ययन-सूची

1. Reserve Bank : Reports on Currency and Finance.  
of India
2. B. R. Ambedkar : History of Indian Currency and Banking.
3. Jather and Beri : Indian Economics (Chapters on Indian Currency and Exchange).

1. Economic Survey, 1975-76.

2. Statistical Out line of India, 1978.



## अध्याय : 49

### भारतीय रुपये का अवमूल्यन

#### (Devaluation of the Indian Rupee)

**अवमूल्यन का अर्थ (Meaning of Devaluation):—** सरकारी तौर पर किसी देश की मुद्रा के मूल्य को अन्य देशों की मुद्राओं के रूप में मूल्य कम करने को 'अवमूल्यन' कहते हैं। (Devaluation means the lowering of the external value of a country's currency unit by an official act.) दूसरे शब्दों में, जब कोई देश अपनी मुद्रा के बदले पहले से कम ही दूसरे देश की मुद्रा लेने के लिए तैयार हो जाता है, तो उसे मुद्रा का अवमूल्यन कहते हैं। जैसे मान लीजिए भारत का 100 रुपया 35 डॉलर के बराबर है। अब यदि किसी कारणवश भारत सरकार 100 रुपये की विनिमय-दर घटाकर 20 डॉलर निर्धारित कर दे, तो इसे हम भारतीय रुपये का अवमूल्यन कहेंगे।

अवमूल्यन की विभिन्न परिभाषाएँ दी जाती हैं। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाएँ इस प्रकार हैं :—

डॉ० गांगुली के अनुसार, "अवमूल्यन का अभिप्राय देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य में कमी कर देना है।"

इसी प्रकार पाल एनर्जिंग के अनुसार, "देश की मुद्रा का अन्य देशों की मुद्राओं के मूल्य के साथ निर्धारित सरकारी समता (Official parities) में कमी करना ही अवमूल्यन है।"

**अवमूल्यन के उद्देश्य (Objectives of the Devaluation):—** विभिन्न प्रश्न अब यह है कि अवमूल्यन क्यों किया जाता है? वास्तव में, अवमूल्यन के निम्नांकित प्रधान उद्देश्य हो सकते हैं—

(1) भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता को दूर करना :— अवमूल्यन का सर्वाधिक प्रधान कारण भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता (adverse balance of payment) को दूर करना है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देशी वस्तुएँ विदेशों में सस्ती हो जाती हैं। इसका कारण स्पष्ट है। अवमूल्यन से देश की मुद्रा के सस्ती हो जाने से विदेशी पहले से कम ही मुद्रा देकर अधिक सामान खरीद सकते हैं। इससे निर्यात प्रोत्साहित होते हैं जब कि स्वदेश में आयातित माल महंगा हो जाने से आयात निरुत्साहित होते हैं। परिणामतः देश का भुगतान असन्तुलन दूर हो जाता है। अधिकांश अवमूल्यन प्रायः इसी उद्देश्य से किये जाते हैं।

भा० अ०—36

(2) उद्योग-धंधों को संरक्षण प्रदान करना :—जब किसी देश में राशिपातन की दृष्टि से कोई दूसरा देश अपनी सस्ती वस्तुएँ भेजकर वहाँ के उद्योग-धन्धों को नष्ट करना चाहता है तो इसे देश की मुद्रा के अवमूल्यन द्वारा रोका जाता है; क्योंकि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप स्वदेश में आयातित माल महंगा हो जाता है।

(3) देश की मुद्रा के आन्तरिक मूल्य को ऊँचा करना :—आन्तरिक मूल्य-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए भी अवमूल्यन किया जाता है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देशी वस्तुएँ विदेशियों के लिए सस्ती हो जाती हैं जिससे वे अधिक मात्रा में वस्तुएँ खरीदने लगते हैं। विदेशों में स्वदेशी वस्तुओं की मांग बढ़ जाने के कारण देश के आन्तरिक मूल्य-तल में वृद्धि होने लगती है।

(4) अधिमूल्यन की स्थिति में सुधार :—अधिमूल्यन यानी देशी मुद्रा के बाह्य मूल्य के पहले से अधिक होने पर भी अवमूल्यन के द्वारा इसमें सुधार किया जा सकता है।

(5) निर्यात व्यापार (Export) :—इसमें अपनी स्थिति को पूर्ववत् बनाये रखने के उद्देश्य से भी कभी-कभी अवमूल्यन किया जाता है। यों तो अवमूल्यन के उपरोक्त कई कारण होते हैं, किन्तु इसका सर्वाधिक प्रधान कारण निर्यात में वृद्धि तथा आयात में कमी करना है।

इस प्रकार अवमूल्यन के उपरोक्त सारे उद्देश्य होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) की स्थापना से विश्व में मुद्रा के अवमूल्यन के एक युग का ही समाप्ति होता है। 1948 से 1967 के बीच के 20 वर्षों में कुल 109 देशों ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया। इनमें से 24 देशों ने अपनी मुद्रा के मूल्य में 75 प्रतिशत तक अवमूल्यन किया तथा 38 देशों में 40 से 25 प्रतिशत के बीच अवमूल्यन किया गया। इस अवधि में अफ्रिका के सबसे अधिक 36 देशों, तथा लैटिन अमेरिका के 23 देशों ने अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया। इस अवधि में स्वयं भारत ने भी दो बार सितंबर, 1949 तथा जून 1966 में अपने रुपये का अवमूल्यन किया।



### 1949 में रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of the Rupee, 1949)

द्वितीय विश्व-युद्ध तथा युद्धोत्तर-काल (Post-war Period) में स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देश विशेषतः ब्रिटेन का व्यापारिक संतुलन डॉलर क्षेत्र के साथ निरन्तर प्रतिकूल होते जा रहा था। इसके फलस्वरूप 'डॉलर गैप' बढ़ने लगा। 1946 ई० में यह 22.6 करोड़ से बढ़कर 1947 ई० में 102.4 करोड़ पौंड हो गया। यथा इससे स्टर्लिंग क्षेत्र में डॉलर का अत्यधिक अभाव (Scarcity) होने लगा। इस प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन के विभिन्न कारण थे। युद्ध के बाद आर्थिक पुनर्संगठन के लिए स्टर्लिंग क्षेत्र के प्रायः सभी देश पूँजीगत मालों के आयात के लिए अत्यधिक मात्रा में अमेरिका पर निर्भर करने लगे थे। द्वितीय युद्धकाल में अमेरिका ने अधिक औद्योगिक कुशलता हासिल कर ली थी जिससे संसार के अधिकांश देश अपनी पूर्ति के लिए अमेरिका पर ही आश्रित रहने लगे थे। अतः डॉलर की माँग बढ़ गयी जिससे इसका अभाव होने लगा। युद्ध ने ब्रिटेन की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया था। इन कठिनाइयों से झुटकारा पाने के लिए इंग्लैंड ने 18 सितम्बर, 1949 ई० को अपनी मुद्रा का अवमूल्यन घोषित किया। इसके अनुसार पौंड के मूल्य को 30.5 प्रतिशत कम कर दिया गया जिससे पौंड एवं डॉलर का अनुपात 1 पौंड = 4.403 डॉलर से घट कर 1 पौंड = 2.80 डॉलर हो गया।

भारत का व्यापारिक संतुलन भी डॉलर क्षेत्र के साथ इसी प्रकार प्रतिकूल रहता था। आयात एवं निर्यात में भारी असंतुलन था। अतएव, स्टर्लिंग के अवमूल्यन होते ही स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देशों ने (पाकिस्तान को छोड़कर) थोड़े ही दिनों में अपनी-अपनी मुद्रा का अवमूल्यन घोषित कर दिया। भारतीय रुपये का भी स्टर्लिंग के अवमूल्यन के शीघ्र बाद ही अवमूल्यन घोषित किया गया। इसके फलस्वरूप रुपये का डॉलर एवं स्वर्ण-मूल्य 30.5 प्रतिशत घटा दिया, अर्थात् 1 रुपया = 30.125 सेंट से घटाकर 1 रुपया = 21 सेंट हो गया। इस प्रकार अमेरिका से 1 डॉलर की वस्तुओं के आयात के लिए पहले 3 रुपये 5 आने देने पड़ते थे; अब उसी एक डॉलर के लिए 4 रुपये 12 आने देने पड़ते हैं। रुपये के इस अवमूल्यन में भारत ने पौंड का ही पूरा-पूरा अनुकरण किया।

1949 ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के प्रभाव (Effects of the Devaluation of the Indian

1. "While announcing devaluation in the Indian Parliament, Dr. John Mathai, the then Finance Minister said, "I feel that in this matter I have had to act, not on

Rupee in 1949) :—1949 ई० के अवमूल्यन का देश की आर्थिक व्यवस्था पर निम्नलिखित प्रभाव पड़ा :—

(i) देश के भुगतान सन्तुलन की स्थिति में पर्याप्त मात्रा में सुधार हुआ :—अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत के व्यापाराधिक्य की प्रतिकूलता में पर्याप्त मात्रा में कमी हुई। यद्यपि यह सुधार अस्थायी ही था, फिर भी इसका प्रमुख कारण भारतीय रुपये का अवमूल्यन था। अवमूल्यन के फलस्वरूप डॉलर क्षेत्र की वस्तुओं का भारतीय रुपये के रूप में मूल्य बहुत बढ़ गया। इसके विपरीत भारतीय वस्तुएँ इस क्षेत्र में सस्ती पड़ने लगीं। इस प्रकार भारत का डॉलर क्षेत्र के साथ व्यापाराधिक्य, जो 1949 ई० में 53 करोड़ रुपये से प्रतिकूल था, 1950 ई० में 19 करोड़ रुपये से भारत के पक्ष में हो गया।

(ii) अवमूल्यन के फलस्वरूप देश के मूल्य तल में वृद्धि हुई :—अवमूल्यन के फलस्वरूप प्रारम्भ में कुछ आवश्यक वस्तुओं के मूल्य में कमी हुई, किन्तु पुनः मूल्य में वृद्धि आरम्भ हो गयी। इस प्रकार मूल्य का सामान्य सूचकांक, जो अगस्त, 1949 ई० में 389.0 था, जून, 1950 ई० में 395.6 हो गया। कोरियन युद्ध के फलस्वरूप ताँ मूल्य-तल अक्टूबर, 1950 ई० में 413.5 हो गया।

(iii) पौंड पावने का मूल्य भी कम हो गया :—अवमूल्यन के बाद भारत ने पौंड-पावने का जितना भाग डॉलर-क्षेत्र में व्यय किया था उसका मूल्य भी 30.5 प्रतिशत से घट गया।

(iv) विदेशी ऋण के भार में वृद्धि :—भारत ने अमेरिका तथा विश्व बैंक से जो ऋण लिया, उसके भार में भी अवमूल्यन के फलस्वरूप वृद्धि हो गयी।

(v) अवमूल्यन के फलस्वरूप डॉलर क्षेत्र में निर्यात को प्रोत्साहन मिला तथा वहाँ के आयात में भी कमी हो गयी :—अमेरिकी वस्तुएँ भारत में महँगी पड़ने लगीं जिससे भारत को यन्त्र तथा खाद्य-सामग्री खरीदने में कठिनाई होने लगी। साथ ही, पाकिस्तान ने भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया था। अतः, वहाँ से भी कच्चा जूट तथा कपास आदि मँगाने का खर्च बढ़ने लगा।

इस प्रकार अवमूल्यन ने देश की आर्थिक व्यवस्था को बहुत अधिक प्रभावित किया। इसके प्रभावों के मूल्यांकन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि भारत को अवमूल्यन से प्रारम्भ में कुछ लाभ अवश्य हुआ, किन्तु दीर्घकाल में इससे कोई विशेष लाभ नहीं हो सका। व्यापारिक संतुलन में स्थायी रूप से कोई सुधार नहीं हो सका। निर्यात व्या-conviction born of logic necessarily, but so to speak, by the compulsion of events, since Sterling was devalued, there was no other course open to us."



पार को प्रोत्साहन अवश्य मिला, किन्तु खाद्य संकट की स्थिति को दूर करने के लिए बहुत-बड़ी मात्रा में अमेरिका से खाद्यान्न का आयात करना पड़ा। पाकिस्तान ने भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया जिससे भारत की कठिनाइयाँ और भी बढ़ गयीं। भारत को पाकिस्तान से कच्चा जूट एवं कपास खरीदने के लिए अब अधिक मूल्य चुकाना पड़ता था। इससे दोनों देशों के बीच का व्यापार प्रायः बन्द सा हो गया।

### 1966 में भारतीय रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of the Indian Rupee in 1966)

पुनः भारत सरकार ने देश की बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए 6 जून, 1966 ई० को भारतीय रुपये का अवमूल्यन किया। इसके अनुसार रुपये के बाह्य मूल्य (external value) में 36.5 प्रतिशत की कमी की गयी। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भारतीय रुपये एवं अमेरिकन डॉलर की नयी समता दर 7.5 भारतीय रुपये = 1 अमेरिकन डॉलर हो गयी। दूसरे शब्दों में, 1 भारतीय रुपया अब 13.333 अमेरिकन सेंट के बराबर हो गया। इसके पूर्व इनकी समता दर 4.7619 भारतीय रुपये = 1 अमेरिकन डॉलर थी। इस प्रकार अवमूल्यन के पश्चात् अब 100 अमेरिकन डॉलर के लिए 750 भारतीय रुपये देने पड़ते हैं जब कि इसके पूर्व इसके लिए केवल 476.19 रुपये ही देने पड़ते थे। इसी प्रकार पहले 12.33 भारतीय रुपये ब्रिटेन के 1 पाउंड के बराबर होता था, अवमूल्यन के बाद ब्रिटेन का 1 पाउंड - 21 भारतीय रुपये के बराबर हो गया। अवमूल्यन के कारण रुपये की स्वर्ण समता-मूल्य में भी परिवर्तन हुआ है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप 100 रुपये के समता-मूल्य को 18.66 ग्राम स्वर्ण से घटाकर 11.85 ग्राम स्वर्ण कर दिया गया। इस प्रकार भारत सरकार ने भारतीय रुपये का 36.5 प्रतिशत अवमूल्यन किया है। दूसरे शब्दों में, भारतीय मुद्रा के रूप में विदेशी मुद्रा का मूल्य अवमूल्यन के परिणामस्वरूप 57.5 प्रतिशत से बढ़ गया है।

इसके पूर्व भारत ने 20 सितम्बर, 1949 ई० को भी अपनी मुद्रा का 30.5 प्रतिशत से अवमूल्यन किया था जिससे रुपये के विनिमय मूल्य को अमेरिकन डॉलर के रूप में 1 रुपया = 33.225 सेंट से घटाकर 1 रुपया = 21 सेंट कर दिया गया था। दूसरे शब्दों में, स्वर्ण के रूप में भारतीय रुपये की समता दर को 0.268691 ग्राम शुद्ध स्वर्ण कर दिया गया था।

इस प्रकार प्रायः 17 वर्षों के बाद भारत ने अपनी मुद्रा का दूसरी बार अवमूल्यन किया। 1966 ई० में भारतीय रुपये का अवमूल्यन प्रधानतः निर्यात में वृद्धि के लिए किया गया था। अवमूल्यन के फलस्वरूप निर्यात में वृद्धि का प्रधान कारण यह है कि अवमूल्यन वाले देश की

वस्तुएँ विदेशों में पहले की अपेक्षा सस्ती हो जाती हैं जिससे विदेशियों को इनके लिए कम ही मूल्य चुकाना पड़ता है। एक उदाहरण द्वारा इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। अवमूल्यन के पूर्व अमेरिका के 100 डॉलर द्वारा भारत को 476.19 रुपये की वस्तुएँ प्राप्त हो जाती थीं। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भारतीय मुद्रा का विनिमय मूल्य घट गया है, अतएव अब 100 डॉलर के द्वारा भारत से 750 रुपये की वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं। इससे स्पष्ट है कि अवमूल्यन से भारतीय वस्तुएँ विदेशों में सस्ती हो गयीं। इसके विपरीत अवमूल्यन के परिणामस्वरूप विदेशी वस्तुएँ भारत में महँगी पड़ने लगती हैं, जिससे आयात हतोत्साहित होता है। उपरोक्त उदाहरण के आधार पर इसे भी अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। मान लिया कि संयुक्त राज्य अमेरिका में किसी मशीन की कीमत 100 डॉलर है। उसे भारत में आयात के लिए अवमूल्यन के पूर्व 476.19 रुपये देने पड़ते थे, किन्तु अवमूल्यन के बाद उसी यन्त्र को भारत में मँगाने के लिए अब 750 रुपये देने पड़ते हैं। इससे स्पष्ट है कि विदेशी वस्तुएँ अवमूल्यन वाले देश में महँगी हो जाती हैं जिससे आयात हतोत्साहित होता है।

इस प्रकार अवमूल्यन के फलस्वरूप देश की मुद्रा की विनिमय-दर कम हो जाती है, यानी इसके विदेशी विनिमय मूल्य में भारी कमी आ जाती है। अतएव, इसके परिणामस्वरूप निर्यात में वृद्धि होती है तथा आयात हतोत्साहित होता है।

### भारतीय रुपये के अवमूल्यन के लिए उत्तरदायी परिस्थितियाँ

#### (Circumstances leading to the Devaluation of the Indian Rupee)

अब हम यहाँ पर उन परिस्थितियों की व्याख्या करेंगे जिनके परिणामस्वरूप 1966 में भारतीय रुपये का अवमूल्यन अनिवार्य हो गया। 6 जून, 1966 ई० को रुपये के अवमूल्यन की घोषणा करते हुए भारत के तत्कालीन वित्त मन्त्री श्री सचीन्द्र चौधरी ने बहुत सारी परिस्थितियों की चर्चा की जिनके परिणामस्वरूप अवमूल्यन अनिवार्य हो गया था। इनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं:—

1. आन्तरिक मूल्य-तल में वृद्धि के कारण रुपये की आन्तरिक मूल्य में भारी कमी :—सर्वप्रथम तो 1966 में भारतीय मुद्रा की क्रय-शक्ति में पिछले दस वर्षों की अपेक्षा बहुत कमी आ गयी। भारत में पिछले कुछ वर्षों से मूल्य-तल में निरन्तर वृद्धि हो रही है। वर्तमान में भारतीय मूल्य-तल में दस वर्ष पहले की अपेक्षा प्रायः 80 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। विश्व के अधिकांश देश, जिनसे हमलोगों का व्यापारिक सम्बन्ध है, में मूल्य तल में इस बीच इतनी अधिक वृद्धि नहीं हुई है, परन्तु रुपये की



विदेशी विनिमय दर में 1949 ई० से कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। अतएव ऐसी स्थिति में विदेशी बाजार में हमलोगों के निर्यात को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जबकि हमें अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए अधिकाधिक मात्रा में निर्यात की आवश्यकता पड़ती थी। निर्यात की इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए भारत सरकार को बहुत सारे उपायों, जैसे—निर्यातकों को आर्थिक सहायता, करों में छूट, आयात का हक आदि अपनाना पड़ा था, किन्तु इन उपायों से भी एक सीमित मात्रा में ही सफलता मिली थी। साथ ही, ये सारे उपाय केवल अल्पकालीन थे। दीर्घकाल तक इन्हें नहीं अपनाया जा सकता था। हमारे वित्त मन्त्री के अनुसार ऐसी स्थिति में सरकार के समक्ष रुपये के बाह्य मूल्य को कम करने के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं रह गया था।

2. चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के लिए बड़े पैमाने पर विदेशी सहायता की आवश्यकता :—इसका दूसरा कारण चतुर्थ पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने के लिए बड़े पैमाने पर विदेशी सहायता की आवश्यकता बतलायी गयी थी। वास्तव में, विकास की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए बड़े पैमाने पर विदेशी विनिमय की आवश्यकता पड़ती है और पर्याप्त मात्रा में निर्यात के अभाव में विदेशी विनिमय के लिए हमें विदेशी सहायता पर ही निर्भर रहना पड़ता है। वित्त मन्त्री के शब्दों में ही हमलोगों के विदेशी विनिमय की स्थिति इस प्रकार की है कि पर्याप्त मात्रा में विदेशी सहायता के अभाव में आर्थिक विकास की गति निश्चित रूप से मन्द पड़ जायगी। औद्योगिक उत्पादन में 1965 ई० में केवल 4 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी, कृषि का उत्पादन भी अपेक्षित गति से नहीं बढ़ा। इसे बढ़ाने के लिए विदेशों से ऋण एवं उर्वरक के आयात की प्रबल आवश्यकता है। विदेशी ऋणों की वापसी के लिए भी हमारी देनदारी बहुत अधिक है। ऐसी स्थिति में पर्याप्त मात्रा में विदेशी सहायता के लिए भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन अनिवार्य हो गया। वित्त मन्त्री के शब्दों में, "A truncated plan, without aid or aid in much small amount will not meet the requirements of the situation or enable us to deal with our deeprooted economic problems satisfactorily."

3. निर्यात प्रोत्साहन की विफलता :—1966 ई० के अवमूल्यन का तीसरा प्रधान कारण सरकार द्वारा निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिये अपनाये गये विभिन्न उपायों की विफलता भी थी। प्रथम योजना के अन्त में 9970 करोड़ रुपये राष्ट्रीय आय के विरुद्ध हमारा वार्षिक निर्यात केवल 606 करोड़ रुपये, यानी कुल राष्ट्रीय आय का केवल 5 प्रतिशत भाग ही था।

इसी प्रकार द्वितीय योजना में औसत वार्षिक निर्यात राष्ट्रीय आय का 4.6 प्रतिशत तथा तृतीय योजना में 4.3 प्रतिशत तथा तृतीय योजना में 4.3 प्रतिशत था यानी इसमें सापेक्षिक रूप में निरन्तर ह्रास हो रहा था। अतः निर्यात में प्रोत्साहन के लिए अवमूल्यन आवश्यक समझा जाने लगा।

(4) आयात में निरन्तर वृद्धि :—एक ओर तो देश के निर्यात में कोई वृद्धि नहीं हो रही थी और दूसरी ओर इसके आयात में इस अवधि में निरन्तर वृद्धि हो रही थी जिसके परिणामस्वरूप भुगतान संतुलन की विपक्षता बढ़ने लगी। अतएव, आयात को हतोत्साहित करने के लिए भी अवमूल्यन आवश्यक समझा गया।

(5) भुगतान संतुलन का निरन्तर विपक्ष में होना (Continued Adverse Balance of payments) :—पिछले कुछ वर्षों से भारत का भुगतान संतुलन निरन्तर इसके विपक्ष में रहता आ रहा था। व्यापारिक संतुलन की विपक्षता का तात्पर्य यह है कि हमलोग निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक करते हैं। भारत के व्यापारिक संतुलन में इस विपक्षता के कई कारण हैं, जैसे—भारत से निर्यात की कमी, किन्तु बड़े पैमाने पर खाद्यान्न तथा यन्त्र एवं अन्य उपकरणों का आयात। भुगतान संतुलन की इस विपक्षता को विदेशों की सरकारों, मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक तथा निजी व्यक्तियों से ऋण लेकर पूरा करना पड़ता है। इसके फलस्वरूप विदेशी विनिमय कोष में निरन्तर कमी होती जा रही है। उदाहरण के लिए, तृतीय योजना के प्रथम चार वर्षों में भारत के विदेशी विनिमय कोष में 70 करोड़ रुपये की कमी हो गयी। इसी बीच अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से भारत के ऋण में भी वृद्धि हुई। तृतीय योजना के प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कुल बकाया रकम 12.75 करोड़ डॉलर थी, अवमूल्यन के समय बढ़कर यह 32.5 करोड़ डॉलर हो गयी।

भुगतान संतुलन की इस निरन्तर विपक्षता का देश के आर्थिक विकास की योजनाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इसे दूर करने के लिए सरकार द्वारा आयात पर कठोर नियन्त्रण लगाये गये तथा निर्यात को कई प्रकार से प्रोत्साहित किया गया। किन्तु इन सबके बावजूद भुगतान संतुलन की विपक्षता निरन्तर बढ़ती गयी। अवमूल्यन के द्वारा इस समस्या का भी समाधान किया जा सकता है। अवमूल्यन से निर्यात में वृद्धि तथा आयात में कमी की आशा की जाती है जिससे भुगतान संतुलन की विपक्षता की समस्या का समाधान सुगम जान पड़ता है।

अवमूल्यन के प्रभाव  
(Effects of Devaluation)

अब प्रश्न यह है कि क्या यह अवमूल्यन हमारी वर्तमान आर्थिक समस्याओं के समाधान में सहायक हो



सकता है ? रुपये का अवमूल्यन इसलिए हुआ कि इसके बाह्य मूल्य में बहुत कमी आ गयी थी, किन्तु ऐसा क्यों हुआ ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि अवमूल्यन देश की अत्यन्त खराब आर्थिक स्थिति का परिणाम है। दूसरे शब्दों में, अवमूल्यन पिछले 19 वर्षों में देश की आर्थिक व्यवस्था के गलत ढंग से संचालन का परिणाम था। यदि प्रारम्भ से ही देश की आर्थिक व्यवस्था को उचित रूप में संचालित किया गया होता तो इतने बड़े पैमाने पर अवमूल्यन की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती और इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी बात तो यह है कि भारतीय रुपये के बाह्य मूल्य में कमी इसके आंतरिक मूल्य में कमी का ही परिणाम है। (The Rupee lost its value abroad because it had already lost its value at home.) अवमूल्यन के द्वारा हम अपनी मुद्रा के बाह्य मूल्य को प्रभावित कर सकते हैं तथा विदेशी मुद्राओं के साथ नयी समता-दर की स्थापना की जा सकती है। किन्तु अवमूल्यन के द्वारा रुपये के आंतरिक मूल्य में ह्रास को रोका नहीं जा सकता। दूसरे शब्दों में, आन्तरिक अव्यवस्था जो बाह्य अव्यवस्था का प्रधान कारण है अभी ज्यों की त्यों बनी रहेगी और जब तक आंतरिक अव्यवस्था को ठीक नहीं किया जायगा तबतक इसे नये एवं कम मूल्य पर भी रुपये के बाह्य मूल्य को स्थायी नहीं बनाया जा सकता। (The domestic disequilibrium, which is the fundamental cause of the external disequilibrium, would still persist and unless this domestic disequilibrium is corrected, the external value of the rupee may not be stabilised even at the new and lower rate.) दूसरे शब्दों में, अवमूल्यन का उद्देश्य तबतक पूरा नहीं हो सकता जबतक कि रुपये के आंतरिक मूल्य, यानी वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप में इसकी क्रय शक्ति सुदृढ़ नहीं की जाय। ऐसा जबतक नहीं होगा, तबतक सम्भव है कि अवमूल्यन से उन शक्तियों को प्रोत्साहन मिलेगा जिनके द्वारा रुपये की आंतरिक क्रय-शक्ति में और कमी होगी और इस प्रकार देश में मुद्रा-स्फीति को और भी प्रश्रय मिलेगा। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है : "Devaluation which is a consequence of inflation may also cause further inflation by generating new rupee incomes in the economy unmatched by increase in goods and services." अतः आवश्यकता इस बात की है कि अवमूल्यन के साथ-साथ आंतरिक अपस्फीति-जनक नीति का अनुकरण किया जाय। फ्रांस में अवमूल्यन की सफलता का प्रधान कारण यही था। किन्तु कई कारणों से भारत सरकार के लिए अपस्फीतिजनक नीति का अनुकरण करना कठिन है। अतएव अधिकांश देशों में अवमूल्यन के साथ इस नीति का अनुकरण नहीं किया जाता। यही कारण है कि बहुत-से देशों में अव-

मूल्यन स्थायी सुधार के रूप में कार्य नहीं कर केवल एक अस्थायी उपचार ही सिद्ध हुआ है। भारत में यही बात देखने को मिलती है।

इससे स्पष्ट है कि अवमूल्यन मुद्रा-स्फीति की समस्या के समाधान में बहुत हद तक सहायक नहीं हो सकता। वास्तव में, अवमूल्यन के परिणामस्वरूप मूल्य-तल में कमी हुई भी नहीं। इसके लिए सरकार को मुद्रा के आंतरिक मूल्य को सुदृढ़ बनानेवाले अन्य उपायों का अनुकरण करना पड़ेगा जिसके लिए भारत सरकार तथा हमारे वित्त मन्त्री शायद अभी तैयार नहीं हैं।

अवमूल्यन का निर्यात पर प्रभाव (Effects of the Devaluation on Export) :—दूसरी बात यह है कि अवमूल्यन से भारतीय निर्यात में वृद्धि की आस की गयी थी। निर्यात मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।—पहला परम्परागत निर्यात (traditional exports), जैसे—कहवा, तिलहन तथा जूट की बनी वस्तुएँ इत्यादि। दूसरी श्रेणी में नये-नये निर्यातों को रखा जा सकता है; जैसे—बिजली के सामान, सूती वस्त्र, यन्त्र इत्यादि। जहाँ तक परम्परागत निर्यात का सम्बन्ध है इस प्रकार की वस्तुओं का भारत से निर्यात बहुत पहले से होता आ रहा है। अतः इनके निर्यात के लिए व्यापारिक संगठन पहले से ही काम कर रहा है। इन वस्तुओं के निर्यात सम्बन्ध में भारत की स्थिति पहले से ही अच्छी है; अतएव केवल इनके उत्पादन में वृद्धि तथा इनकी लागत में कमी अनिवार्य है जिससे निर्यात बढ़ाने के लिए पर्याप्त मात्रा में इनका आधिक्य हो सके। किन्तु इनमें से अधिकांश वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि में पर्याप्त समय लगेगा; क्योंकि उत्पादन में वृद्धि तथा उत्पादन व्यय में कमी के लिए इन उद्योगों का अगले संगठन में सुधार करना होगा जिसमें कुछ समय का लगना अनिवार्य है। अतएव, परम्परागत वस्तुओं के निर्यात पर अवमूल्यन के प्रभावों के अध्ययन के लिए इस 'समय के तत्त्व' पर ध्यान देना अनिवार्य है क्योंकि समय व्यतीत होने के साथ-साथ अवमूल्यन का प्रभाव भी धीरे-धीरे घटने लगेगा। साथ ही, सरकार द्वारा अवमूल्यन के बाद इस प्रकार की 12 वस्तुओं पर निर्यात करों में वृद्धि की गयी। इसका भी इनके निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

जहाँ तक गैर-परम्परागत वस्तुओं के निर्यात का सम्बन्ध है, सरकार इनके निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए अवमूल्यन के पहले इन्हें विभिन्न प्रकार की आर्थिक सहायताएँ प्रदान करती थीं। खास-खास उद्योगों को तो निर्यात के लिए सरकार 200 प्रतिशत या इससे भी अधिक सहायता प्रदान करती थी। अवमूल्यन के पश्चात् इन्हें समाप्त कर दिया गया है। ऐसी स्थिति में अवमूल्यन का इस प्रकार के निर्यात पर क्या प्रभाव पड़ेगा अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। किन्तु इनमें से अधिकांश वस्तुओं का उत्पादन व्यय हमारे देश में अन्य देशों की



अपेक्षा अधिक ऊँचा है। अतएव, अब प्रश्न यह उठता है कि क्या भारतीय रुपये के 36.5 प्रतिशत अवमूल्यन से अपनी वर्तमान लागत पर ये विदेशी बाजार में सफलतापूर्वक प्रतियोगिता कर सकते हैं? यह बिल्कुल संदिग्ध है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यदि ये अपने निर्यात को बढ़ाने में सफल भी हो जायें तो इन वस्तुओं की देश में कमी हो जायगी जिससे इनके आंतरिक मूल्य में वृद्धि होगी।

फिर भी, अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश के कुल निर्यात में वृद्धि अवश्य हुई है। अवमूल्यन के पूर्व तृतीय योजना के पाँच वर्षों में निर्यात का वार्षिक औसत 762 करोड़ रुपये थे। जबकि 1966-67 तथा 1967-68 में वार्षिक निर्यात क्रमशः 1079 करोड़ रुपये तथा 1255 करोड़ रुपये था किन्तु निर्यात में यह वृद्धि आयात के मूल्य में वृद्धि के द्वारा समाप्त हो गयी और परिणामस्वरूप व्यापार के घाटे में इस अवधि में अधिक वृद्धि हुई।

अवमूल्यन का आयात पर प्रभाव (Effects of the Devaluation on Imports) — जहाँ तक आयात पर अवमूल्यन के प्रभाव का प्रश्न है, भारतीय रुपये के 36.5 प्रतिशत अवमूल्यन से आयात के मूल्य में 57.5% की वृद्धि हो गयी। इसका तात्पर्य यह है कि यदि 1966-67 ई० में आयात को 1965-66 ई० के स्तर (1350 करोड़ रुपये) पर भी रखा जाय तो इसके मूल्य में रुपये के रूप में प्रायः 776 करोड़ रुपये की वृद्धि होगी। इसका तात्पर्य यह है कि 1965-66 ई० के बराबर आयात, यानी 1966-67 में भी 1350 करोड़ रुपये मूल्य के आयात के लिए भारत को 2126 करोड़ रुपये व्यय करना पड़ेगा। वास्तव में अवमूल्यन के बाद के वर्षों में 1966-67 तथा 1967-68 ई० में आयात क्रमशः 1886 करोड़ रुपये तथा 2070 करोड़ हुआ। ऐसी स्थिति में आयात के सामान प्रयोग करनेवाले उद्योगों का उत्पादन-व्यय बढ़ जायगा जिससे इनकी वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होगी। आयात की जानेवाली कुछ वस्तुओं पर सरकार ने अवमूल्यन के बाद आयात करों में कुछ छूट दी है। उदाहरण के लिए, यन्त्रों के आयात पर से आयात करों को 45 प्रतिशत से घटाकर 27½ प्रतिशत कर दिया गया है, किन्तु इस प्रकार की छूट का प्रभाव बिल्कुल नगण्य है; क्योंकि इस घटी हुई दर पर भी आयात के बढ़ते हुए खर्च के कारण छूट की रकम प्रायः वही रह जायगी। अवमूल्यन के बाद सरकार अपनी आयात नीति को भी अधिक उदार बना रही है। सरकार का उद्देश्य आवश्यक उद्योगों के लिए कच्चे पदार्थ तथा मशीन आदि के आयात को अधिक उदार बनाना है। इससे इन उद्योगों के विकास को अच्छा प्रोत्साहन मिलेगा। साथ ही, अवमूल्यन के परिणामस्वरूप खाद्यान्न एवं खाद के आयात-मूल्य में जिस हद तक वृद्धि होगी उस हद तक सरकार इन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करेगी जिससे इनके विक्रय मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होने

पाये। वास्तव में, अवमूल्यन के पश्चात् आयात में कमी अवश्य हुई 1968-69 ई० में आयात में कमी अवश्य हुई, किन्तु आयात में यह कमी मुख्यतः खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि के कारण इनके आयात में कमी का परिणाम थी।

आंतरिक मूल्य-तल पर प्रभाव (Effects of Internal Prices) :— अन्त में, हमें यह देखना है कि अवमूल्यन का आंतरिक मूल्य-तल पर क्या प्रभाव पड़ेगा? अवमूल्यन के समर्थकों का कहना है कि अवमूल्यन मूल्य-तल की स्थायी बनाता है और कभी-कभी इसमें कमी भी लाता है। किन्तु, वास्तव में इस प्रकार का तर्क तथ्यहीन जान पड़ता है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि अवमूल्यन का प्रधान उद्देश्य निर्यात को प्रोत्साहित तथा आयात को हतोत्साहित करना है। निर्यात में वृद्धि से निर्यात की वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होती है और मूल्य में यह वृद्धि केवल निर्यात तक ही सीमित नहीं रहकर देश के उपभोक्ता उद्योगों को भी प्रभावित करती है। साथ ही, निर्यात की वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि से इनके लिए कच्चे पदार्थों तथा मजदूरी की दर में भी वृद्धि होगी और इस प्रकार इनके मूल्य में वृद्धि का प्रभाव धीरे-धीरे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर पड़ने लगता है। इसी प्रकार आयात के महंगा हो जाने के कारण आयात की जानेवाली वस्तुओं तथा इनकी स्थानापन्न वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो जाती है। जिन उद्योगों में आयात किये गये यन्त्रों अथवा कच्चे पदार्थों का प्रयोग किया जाता है, उनका उत्पादन व्यय भी बढ़ जायगा जिससे इनके द्वारा निर्मित वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होगी। मूल्य-वृद्धि की मात्रा किसी वस्तु-विशेष के उत्पादन में आयात की गयी वस्तुओं के महत्त्व पर निर्भर करती है। और, इस प्रकार इन वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि का प्रभाव धीरे-धीरे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर पड़ेगा।

किन्तु, अवमूल्यन के परिणामस्वरूप मूल्य-तल में इस वृद्धि को सरकार उचित आर्थिक, मौद्रिक तथा प्रशासनिक उपायों द्वारा रोक सकती है। भारत सरकार भी इस सम्बन्ध में जागरूक है तथा मूल्य-तल में वृद्धि को रोकने के लिए बहुत-सारे उपाय अपनाये जा रहे हैं, जैसे— खाद्यान्न एवं खाद जैसे आधारभूत आयातों पर आर्थिक सहायता देना, आवश्यक वस्तुओं के मूल्य पर नियन्त्रण तथा इनके वितरण की व्यवस्था के लिए सरकारी एवं सहकारी भंडारों की स्थापना और उदार आयात नीति का अनुकरण इत्यादि। किन्तु, इन उपायों का मूल्य-तल पर अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा है। साथ ही, यह बहुत कुछ मौनसून की प्रकृति तथा घाटे की वित्त-व्यवस्था की मात्रा पर निर्भर करता है। यदि मौनसून की प्रकृति उचित रही तथा कृषि की उपज पर्याप्त मात्रा में हुई एवं सरकार घाटे की वित्त-व्यवस्था को एक सीमा के अन्तर्गत रखने में समर्थ हुई तो इससे मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति अवश्य ही रुकेगी।

विशेष अध्ययन-सूची



अध्याय : 50

## भारतीय बैंकिंग व्यवस्था का विकास

( Development of Indian Banking System )

प्रथम महायुद्ध तक बैंकिंग व्यवस्था का विकास :— आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में बैंकों का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। बैंक हमारी आर्थिक व्यवस्था में विभिन्न प्रकार से सहायता प्रदान करते हैं। उत्पादन, विक्रय, आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार आदि सभी क्षेत्रों में ये अनेक प्रकार से सहायक सिद्ध होते हैं। इंग्लैंड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे विकसित देशों में बैंकों का जमा 90 प्रतिशत तक मुद्रा का कार्य करता है।

अंगरेजों के भारत आगमन के सदियों पूर्व भारत में बैंकिंग का कार्य देशी महाजन तथा साहूकारों द्वारा किया जाता था। ये महाजन एवं साहूकार जनता का जमा ग्रहण करते, उन्हें उधार देते तथा देश के व्यापार में विभिन्न प्रकार से सहायता प्रदान करते थे, किन्तु अंगरेजों के भारत आगमन के पश्चात् भारतीय बैंकिंग व्यवस्था का ह्रास प्रारम्भ हो गया। अंगरेजों ने देशी बैंकिंग प्रणाली का उपयोग नहीं किया तथा इसके बदले स्थान-स्थान पर एजेंसी गृहों (Agency houses) की स्थापना को प्रोत्साहित करने लगे। इन एजेंसी गृहों में कम्पनी के कर्मचारियों की पूँजी जमा रहती थी। बाद में, इन्होंने जनता से भी जमा प्राप्त करना आरम्भ कर दिया। किन्तु, 1813 ई० में कम्पनी का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त हो गया जिससे इन एजेंसी गृहों के व्यापार को बहुत बड़ा धक्का लगा। साथ ही, इन्होंने सट्टेबाजी में भी हाथ बैटाना प्रारम्भ कर दिया था जिससे 1830-31 ई० तक अधिकांश एजेंसी गृह समाप्त कर दिये गये। इनमें से कुछ अच्छी आर्थिक स्थितिवाले गृहों ने असीमित देय की मिश्रित पूँजीवाले बैंकों की स्थापना की। इन बैंकों में से कुछ ने पत्र-मुद्रा चलाने का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु 1831-32 ई० में ये सब भी फेल कर गये। तब से लेकर 1880 ई० तक देश में बैंकिंग व्यवस्था का विकास बड़ी ही मन्द गति से होता रहा।

कम्पनी की आज्ञा के अनुसार 1806 ई० में कलकत्ता में, 1840 ई० में बम्बई में तथा 1843 में मद्रास में एक-एक प्रेसीडेंसी बैंक की स्थापना की गयी। कम्पनी ने इन तीनों बैंकों में अपनी पूँजी लगायी। इन बैंकों को पत्र-मुद्रा जारी करने का अधिकार दिया गया। 1852 ई० तक इन प्रेसीडेंसी बैंकों ने नोट जारी करने का कार्य किया। इसके बाद सरकार ने पत्र-मुद्रा जारी करने का कार्य स्वयं

अपने हाथ में ले लिया। 1876 ई० में प्रेसीडेंसी बैंक अधिनियम पारित होने के बाद सरकार ने इन बैंकों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। ये बैंक 1920 ई० तक सफलापूर्वक कार्य करते रहे। उसी वर्ष इन तीनों बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गयी।

1880 ई० के बाद भारत में तीव्र गति से बैंकों का विकास प्रारम्भ हुआ तथा देश में बहुत से बैंकों की स्थापना हुई। इनमें से अधिकांश बैंक यूरोपियन पूँजी एवं व्यवस्था के अन्तर्गत स्थापित किये गये थे। अवध कॉमर्शियल बैंक भारतीय पूँजी एवं व्यवस्था द्वारा स्थापित सर्वप्रथम बैंक था। इसके बाद पंजाब नेशनल बैंक, दि बैंक ऑफ बड़ौदा, सेंट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, इलाहाबाद बैंक आदि बैंकों की स्थापना हुई। आज भी ये भारत के मुख्य व्यावसायिक बैंक हैं। इनके अतिरिक्त बहुत-से छोटे छोटे बैंकों की भी स्थापना हुई, जिनकी संख्या 1913 ई० तक 560 हो गयी थी। बैंकों के इस अनियोजित विकास के परिणामस्वरूप भारतीय बैंकों को बहुत-सारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। फलतः 1913-17 ई० के बीच 87 बैंक फेल कर गये।

1913-17 ई० का बैंकिंग संकट (Banking Crisis of 1913-17):—सन् 1913-17 ई० के बीच का समय भारतीय बैंकों के लिए संकट का समय था। इस संकट के कई महत्वपूर्ण कारण थे—(1) 1905 ई० के बाद बैंकों की स्थापना द्रुतगति से प्रारम्भ हुई जिसका भारतीय बैंकों पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। (2) नये-नये बैंक युद्धकालीन परिस्थितियों का सामना नहीं कर सके तथा युद्धजनित परिस्थितियों के स्वयं शिकार हो गये। (3) युद्धकाल में सरकार ने बहुत बड़ी मात्रा में बाजार से धन लेना प्रारम्भ कर दिया जिससे मुद्रा-बाजार में धन का अभाव हो गया। (4) भारतीय मुद्रा एवं साख-प्रणाली में लोच का अभाव भी इसका एक प्रमुख कारण था। भारत में साख-व्यवस्था का अभी पूर्णरूपेण विकास नहीं हुआ था। इससे आवश्यकता पड़ने पर बैंकों को सहायता नहीं मिल सकी। (5) देश में एक केन्द्रीय बैंक का अभाव था। देश की बैंकिंग व्यवस्था के सफल-संचालन के लिए एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता होती है जो इस क्षेत्र में पथ-प्रदर्शक



का कार्य करता है। किन्तु भारत में उस समय ऐसी संस्था का प्रायः अभाव था। इन सब कारणों से 1913 ई० से बैंकिंग संकट का दीर्घ काल प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम दि पिपुल्स बैंक ऑफ इण्डिया 1913 ई० में इस संकट का शिकार हुआ। 1917-18 ई० तक यह संकटकाल रहा जिसमें कुल 87 बैंक फेल कर गये।

**बैंकों के फेल होने के कारण (Causes of Bank failures) :-** इस प्रकार देश में यदा-कदा बैंकिंग संकट उत्पन्न होते रहता था। यहाँ पर अत्यधिक मात्रा में बैंकों के फेल होने के बहुत-से कारण थे जिनमें से कुछ का सम्बन्ध तो उस समय की परिस्थितियों से था तथा कुछ का सम्बन्ध देश की बैंकिंग व्यवस्था के दोषों से था जिनमें से आज भी बहुत-से वर्तमान हैं। संक्षेप में, इस अवधि में भारत में बैंकों के फेल होने के निम्नांकित प्रमुख कारण थे :-

(1) **सुयोग्य बैंक संचालकों का अभाव :-** देश में बैंकों की स्थापना को 1905 ई० के स्वदेशी आन्दोलन से बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला तथा बहुत बड़ी संख्या में बैंकों की स्थापना की जाने लगी। किन्तु इन बैंकों के लिए सुयोग्य संचालकों का अभाव था। सुयोग्य संचालकों के अभाव में इन बैंकों को तरह-तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इनकी कार्यवाही बैंकिंग के सिद्धान्तों के आधार पर नहीं होती थी। परिणामस्वरूप, बहुत-से बैंक फेल कर गये।

(2) **व्याज की दर का अधिक होना :-** बैंकों के पास परिदत्त पूँजी का अभाव था, अतएव वे अपने कार्य-संचालन के लिए ऊँची व्याज की दर पर जमा ग्रहण करते थे। कभी-कभी तो ऋण लेने तथा देने की दरों में बहुत कम अन्तर होता था। इसी प्रकार अपने पास समुचित नकद जमा (Cash Reserve) रखे बगैर ही बैंकों ने जमाकर्ता के धनों को दीर्घकाल के लिए उधार देना प्रारम्भ कर दिया। कभी-कभी तो ये अपनी पूँजी ऐसे कार्यों में लगाते थे जिनका वापस होना सम्भव नहीं जान पड़ता था। ऐसी परिस्थिति में बैंकों का फेल होना बिल्कुल स्वाभाविक था।

(3) **सट्टेबाजी में धन का विनियोग :-** बहुत-से बैंकों ने अपने धन को सट्टेबाजी में विनियोग करना प्रारम्भ कर दिया था। इससे इन्हें बहुत अधिक क्षति उठानी पड़ी। बैंक इस बात को बहुत गुप्त रखते थे।

(4) **बैंक के साधनों का निजी कार्यों में उपयोग :-** कुछ बैंकों के संचालकों ने बैंकों के धन को अपने निजी कार्यों में भी लगाना प्रारम्भ कर दिया जिससे संकटकाल में अधिकांश बैंक फेल कर गये।

(5) **नकद कोष (Cash Reserve) का कम अनुपात :-** भारत में बैंक प्रारम्भ से ही अपने कुल जमा का एक बहुत छोटा भाग नकद कोष के रूप में रखते थे।

अतः ग्राहकों की मांग बढ़ जाने पर इसे पूरा करना इस प्रकार के बैंकों के लिए बहुत ही कठिन हो जाता था जिससे बैंक आर्थिक संकट में फँस जाते थे।

(6) **केन्द्रीय बैंक का अभाव :-** देश की बैंकिंग व्यवस्था के समुचित नियन्त्रण के लिए एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु भारत में रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व इस प्रकार के केन्द्रीय बैंक का सर्वथा अभाव था। अतः उचित पथ-प्रदर्शन एवं निर्देशन के अभाव में बैंकों का अत्यधिक संख्या में फेल होना बिल्कुल स्वाभाविक ही था। साथ ही, 1913 ई० तक देश में बैंकों के लिए कोई विधान नहीं था जिससे प्रायः सभी बैंक स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करते थे।

### दोनों महायुद्धों के बीचवाले समय में बैंकों का विकास (Development of Banking in the Inter-War Period)

1913 ई० से 1917 ई० के बीच बैंकिंग संकट के फलस्वरूप जनता का बैंकों पर से विश्वास धीरे धीरे कम होने लगा। प्रथम महायुद्धकाल के प्रारम्भ में यह कठिनाई बहुत बढ़ गयी थी, किन्तु युद्ध के अन्तिम भाग में धीरे-धीरे परिस्थितियों में सुधार होने लगा। युद्धकाल में मुद्रा-स्फीति के कारण जनता के पास अधिक मात्रा में धन आया जिससे बैंकों के जमा में वृद्धि होने लगी तथा बैंकों का टूटना भी कम हो गया। स्थान-स्थान पर नये-नये बैंकों की भी स्थापना की जाने लगी। 1920 ई० में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिलाकर एक इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया (Imperial Bank of India) की स्थापना की गयी। इस बैंक ने देश की बैंकिंग व्यवस्था के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1922 ई० में पुनः मुद्रा-स्फीति तथा आर्थिक मन्दी के कारण बैंकों के समक्ष संकट उपस्थित हो गया। यह संकट 1929-30 ई० की मन्दी में और भी गम्भीर हो गया तथा 1936 ई० तक चलता रहा। 1929-36 ई० के बीच में देश में कुल 481 बैंक फेल कर गये जिनमें से 98 पंजाब में, 64 उत्तर-प्रदेश में तथा 57 बम्बई में थे। 1930 ई० में एक केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (Central Banking Enquiry Committee) की नियुक्ति हुई जिसका उद्देश्य देश की बैंकिंग व्यवस्था में सुधार के लिए आवश्यक सुझाव देना था। इस समिति ने इस सम्बन्ध में बहुत-से सुझाव दिये जिनमें निम्नलिखित दो प्रमुख थे—

(1) देश में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय, तथा (2) बैंकिंग व्यवस्था के समुचित विकास के लिए एक बैंकिंग विधान बनाया जाय। सरकार समिति की सिफारिशों को शीघ्र कार्यान्वित नहीं कर सकी, फिर भी 1934 ई० में एक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम पारित हुआ जिसके अनुसार 1935 ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई। देश की बैंकिंग व्यवस्था



के इतिहास में इस बैंक की स्थापना का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। साथ ही, 1936 ई० में बैंकिंग कम्पनियों पर नियन्त्रण रखने के लिए इण्डियन कम्पनीज ऐक्ट (Indian Companies Act) में भी आवश्यक संशोधन किया गया।

इस काल में देश की बैंकिंग व्यवस्था का अत्यन्त अव्यवस्थित तरीके से विकास हुआ। एक ओर तो बम्बई, मद्रास, उत्तर-प्रदेश, पंजाब तथा बंगाल में बैंकों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई तो दूसरी ओर असम, उड़ीसा, बिहार तथा मध्य-प्रदेश आदि प्रान्तों में बैंकिंग सुविधाओं में कोई वृद्धि नहीं हुई। इन प्रान्तों में बैंकों की शाखाओं का भी अभाव था। शाखा स्थापित करते समय बैंक बहुधा इम्पीरियल बैंक की ही नकल करते थे। अतः बैंकों की शाखाएँ मुख्यतः बड़े-बड़े नगरों में ही स्थापित की गयीं जिससे देश के अधिकांश भाग में बैंकिंग की सुविधाओं का पर्याप्त मात्रा में विकास नहीं हो पाया। बैंकिंग व्यवस्था के इस अव्यवस्थित विकास के फलस्वरूप बैंकों के जमा में भी केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति दीख पड़ने लगी। 1922 से 1939 ई० के बीच बैंकों की जमा राशि 70 करोड़ रुपये से बढ़कर 110 करोड़ रुपये हो गयी जिसका प्रायः 83 प्रतिशत भाग इम्पीरियल बैंक तथा अन्य सात प्रमुख बैंकों के पास था।

**द्वितीय महायुद्धकाल में बैंकिंग व्यवस्था :—**द्वितीय महायुद्ध का देश की बैंकिंग व्यवस्था पर बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ा। एक ओर तो पुराने बैंकों ने उन्नति की और दूसरी ओर नये-नये बैंकों की स्थापना भी हुई। युद्धकाल में मुद्रा-स्फीति के फलस्वरूप बैंकों के जमा की राशि में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। बैंकों का कुल जमा 1939 ई० में 159.45 करोड़ रुपये से बढ़कर 1944-45 ई० में 1097 करोड़ रुपये हो गया। युद्धकाल में बैंकों की संख्या में भी आश्चर्यजनक गति से वृद्धि हुई। 1936 ई० तक अनुसूचित बैंकों (Scheduled Banks) की संख्या बढ़कर 98 तथा इनके कार्यालयों की संख्या बढ़कर 3106 हो गई। युद्धकाल में बैंकों की आय में भी पर्याप्त वृद्धि हुई, किन्तु युद्ध के पूर्व की तरह इस काल में भी बैंकों का प्रसार बिना किसी पूर्वनिश्चित योजना के ही हुआ। अतः युद्धकाल में भी बैंकों के असंतुलित विकास की प्रवृत्ति को विशेष बल मिला। साथ ही बैंकों का प्रसार इतनी तेजी के साथ हुआ कि योग्य, अनुभवी एवं कुशल प्रबन्धकों तथा कर्मचारियों का अभाव होने लगा। देश की बैंकिंग व्यवस्था पर इसका भी बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ा।

युद्ध के बाद 1947 ई० में देश की स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ-साथ देश-विभाजन भी

हुआ जिसका प्रभाव पंजाब एवं बंगाल के बैंकों पर बहुत बुरा पड़ा। देश में उत्पादन कम हो गया, आयात-निर्यात घट गये तथा बहुत बड़े पैमाने पर जान-माल का भी विनाश हुआ। इसका देश के बैंकों पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा जिसके परिणामस्वरूप केवल 1947 ई० में 30 बैंक फेल कर गये।

### भारतीय बैंकों की वर्तमान स्थिति (Present Position of Banks in India)

1972 ई० के अन्त में भारत में अनुसूचित बैंकों (Scheduled Bank) की संख्या 74 थी, जबकि इनकी संख्या 1950-51 में 93 थी। 1972 में इनकी कुल शाखाएँ 14,739 थीं। साथ ही अनुसूचित बैंकों (Non-Scheduled Banks) की संख्या 1956 ई० में 354 से घटकर 1972 ई० में केवल 9 ही रह गयी। इस अवधि में बैंकों का सम्मिश्रण (Amalgamation of Banks) ही इनकी संख्या में इस कमी का प्रधान कारण था। 30 मई, 1975 को सभी अनुसूचित बैंकों का कुल जमा (Total deposit) 12,129 करोड़ रुपये था जबकि 30 जून, 1969 को इनका कुल जमा केवल 4646 करोड़ था। इस प्रकार 1969 से 1975 के बीच व्यावसायिक बैंकों के कुल जमा में 161 प्रतिशत की वृद्धि हुई।<sup>1</sup>

गैडगिल समिति के अनुसार देश के कुल बैंकों के जमा का प्रायः एक तिहाई भाग कलकत्ता तथा बम्बई दो नगरों से प्राप्त होता है तथा आधा से अधिक बैंक-साख इन्हीं दो नगरों में प्रदान भी किया जाता है। प्रति व्यक्ति औसत जमा सम्पूर्ण देश के लिए 143 रुपये हैं। यह औसत सबसे अधिक लगभग 200 रुपये चंडीगढ़ में तथा सबसे कम लगभग 13 रुपये उड़ीसा में है।

### भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के दोष तथा इसे सुदृढ़ बनाने के उपाय

अजकल भारतीय बैंकिंग व्यवस्था में अनेक दोष पाये जाते हैं जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं—(1) देश में बैंकिंग कम्पनियों की संख्या अत्यधिक है। अत्यधिक संख्या में होने के कारण अधिकांश कम्पनियों का आकार बहुत ही छोटा होता है। (2) बैंकों के व्यापार के तरीकों में भी विभिन्नता पायी जाती है। भिन्न-भिन्न बैंक विभिन्न तरीकों का अनुसरण करते हैं जिससे इनका समुचित विकास नहीं हो पाता। (3) अचल सम्पत्ति के आधार पर भारतीय बैंक अत्यधिक कर्ज देते हैं जिससे इसे वसूलने में बहुत कठिनाई होती है। कभी-कभी तो ये अपर्याप्त जमानत पर भी कर्ज दे देते हैं। (4) शाखाओं की स्थापना में भी बैंक बहुधा अनियोजित ढंग से कार्य करते हैं। शाखाओं की स्थापना में आर्थिक



लाभों की बजाय प्रतियोगिता को ही प्राथमिकता दी जाती है। (5) बैंकों का दोषपूर्ण प्रवन्ध भी भारतीय बैंकिंग व्यवस्था का एक प्रमुख दोष है। भारत में बैंकों के संचालन एवं प्रवन्ध के लिए सुयोग्य व्यक्तियों का अभाव है। बैंकों का कुछ व्यापार से अनुचित सम्बन्ध भी रहता है जिसका प्रभाव भी बैंकों पर बहुत खराब पड़ता है। (6) इनके अतिरिक्त भारतीय बैंक बहुधा झूठे आँकड़े देकर अपनी वास्तविक स्थिति को छिपाने का प्रयत्न करते हैं।

रिजर्व बैंक द्वारा भारतीय बैंकों की स्थिति के सम्बन्ध में समय-समय पर जाँच की गयी है तथा इनके दोषों को दूर करने के लिए सुझाव भी दिये गये हैं। इनमें से कुछ प्रमुख सुझाव इस प्रकार हैं :—

(1) बैंकों के प्रवन्ध के सम्बन्ध में सुझाव :— भारतीय बैंकों को बहुधा सुयोग्य एवं कुशल संचालकों की सेवाएँ उपलब्ध नहीं हो पाती हैं जिससे इनकी कार्य-वाही में विभिन्न प्रकार के दोष आ जाते हैं। बैंकिंग व्यवस्था के समुचित विकास के लिए बैंकों का प्रवन्ध कुशल एवं योग्य व्यक्तियों के हाथ में होना चाहिए। अतः रिजर्व बैंक ने कर्मचारियों के प्रशिक्षण एवं उनकी नियुक्ति में सावधानी तथा उनकी कार्य-प्रणाली में सुधार की सिफारिश की है।

(2) विनियोग नीति के सम्बन्ध में सुझाव :— प्रायः ऐसा देखा जाता है कि भारतीय बैंक सरकारी प्रतिभूतियों में अपने धन का विनियोग बहुत कम करते हैं। असूचित बैंकों (Non-Scheduled Banks) के साथ तो यह बात विशेष तौर से पायी जाती है। जाँच से यह पता चलता है कि 113 बैंकों ने या तो सरकारी प्रतिभूतियों में अपना धन बिल्कुल ही नहीं लगाया है अथवा लगाया भी है तो यह उनके कुल जमा का प्रायः 1 प्रतिशत भाग से भी कम है। ये बैंक बहुधा ऐसी कम्पनियों के शेयर में अपने धन का विनियोग करते हैं जिनमें उनके संचालकों का हितनिहित रहता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति निश्चय ही दोषपूर्ण है। अतः इसमें सुधार आवश्यक है। इसलिए रिजर्व बैंक ने यह सुझाव दिया कि बैंकों को अपने धन का अधिकांश भाग सरकारी प्रतिभूतियों में ही लगाना चाहिए।

(3) ऋण-सम्बन्धी नीति के लिए सुझाव :— कुछ बैंक अपर्याप्त जमानत अथवा ऋणी की स्थिति की समुचित जाँच किये बगैर ही ऋण दे दिया करते हैं जिससे ऋण की वसूली में कठिनाई होती है। कभी-कभी अधिक लाभ कमाने की लालच में बैंक अपनी शक्ति से भी अधिक ऋण दे देते हैं। बैंकों को ऋण देने में बहुत अधिक सावधानी की आवश्यकता है। ऋण देने के पूर्व ऋणी की स्थिति के सम्बन्ध में पूरी जाँच आवश्यक है। सन् 1949, ई० के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम की 24वीं धारा के अनुसार

बैंकों की अपनी माँग एवं मुद्दती देनदारी का 20 प्रतिशत भाग तरल सम्पत्ति के रूप में रखना अनिवार्य बना दिया गया है।

(4) शाखा खोलने के सम्बन्ध में सुझाव :— युद्धकाल में व्यापारिक समृद्धि के कारण बैंकों ने बगैर सोचे-समझे ही शाखाएँ स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया था। इसका भी बैंकिंग व्यवस्था के विकास पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। ग्रामीण बैंकिंग जाँच-समिति ने इस सम्बन्ध में सुझाव दिया था कि शाखाओं की स्थापना की अनुमति इस प्रकार दी जानी चाहिए जिससे कि बैंकों में आपस में प्रति-योगिता नहीं हो सके।

(5) लाभांश का वितरण :— प्रायः यह देखा जाता है कि बहुत से बैंक अपने लाभ का अधिकतर भाग हिस्से-दारों के बीच बाँट देते हैं, वे सुरक्षित कोष पर बहुत ही कम ध्यान देते हैं। इससे उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ नहीं हो पाती। 1949 ई० के बैंकिंग कम्पनीज-अधिनियम के अन्तर्गत इस दोष को दूर करने के लिए यह व्यवस्था की गयी है कि प्रत्येक बैंक को अपने लाभ का 20 प्रतिशत भाग सुरक्षित कोष में तबतक जमा करना आवश्यक है जबतक कि उनका सुरक्षित कोष उनकी परिदत्त पूँजी के बराबर नहीं हो जाय। इन सारे सुझावों के अतिरिक्त बैंकों की कार्य-प्रणाली में सुधार के अन्य कई सुझाव भी दिये गये हैं जिससे बैंकों का समुचित ढंग से विकास हो सके।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया

(Reserve Bank of India)

मुद्रा तथा बैंकिंग व्यवस्था में स्थायित्व लाने के लिए भारत में भी एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता का अनुभव लोगों को बहुत पहले से ही होता आ रहा था। किन्तु 1935 ई० के पूर्व देश में इस प्रकार की संस्था की स्थापना नहीं की जा सकी थी। सन् 1920 ई० में ब्रुसेल्स की अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-परिषद् (International Economic Conference) में स्वर्ण-मान की पुनर्स्थापना के लिए इस आशय का एक प्रस्ताव पारित किया कि जिन देशों में केन्द्रीय बैंक नहीं हैं वहाँ शीघ्र ही इसकी स्थापना की जानी चाहिए। वास्तव में, स्वर्ण-मान की सफलता केन्द्रीय बैंक पर बहुत कुछ आधारित है। अतः इस कमी को दूर करने के लिए भारत सरकार द्वारा तीनों प्रेसीडेंसी बैंकों को मिलाकर 1920 ई० में एक इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गयी। किन्तु इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक का कार्य सफलतापूर्वक नहीं कर सका; क्योंकि यह प्रधानतया एक व्यावसायिक बैंक था जिसे केन्द्रीय बैंक के कुछ ही कार्य दिये गये थे। साथ ही, देश की साख एवं मौद्रिक व्यवस्था पर सरकार एवं इम्पीरियल बैंक का दोहरा नियन्त्रण देश की आर्थिक व्यवस्था के लिए हितकर नहीं जान पड़ा। इन्हीं कारणों



एवं उपरोक्त दोनों को दूर करने के लिए 1910 ई० में हिल्टन यंग आयोग (Royal Commission on Currency and Finance) ने एक स्वतन्त्र केन्द्रीय बैंक की स्थापना की सिफारिश की थी। उसने मुद्रा एवं साख-व्यवस्था के उचित संचालन एवं नियंत्रण के लिए भारत सरकार से एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की सिफारिश की जिसका नाम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया रखा जाय। सन् 1928 ई० में इस आशय का एक विधेयक भी विधान सभा के समक्ष प्रस्तुत किया गया, किन्तु चन्द वैधानिक कठिनाइयों से उस समय उसे स्थगित कर दिया गया। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच-समिति ने भी सन् 1930 ई० में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की सिफारिश की थी। उपर्युक्त आर्थिक आधाराओं के अतिरिक्त देश की बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना ने भी केन्द्रीय बैंक की स्थापना में तात्कालिक सहयोग प्रदान किया। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप 1934 ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया<sup>1</sup> अधिनियम पारित हुआ तथा पहली अप्रैल, 1935 ई० से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने अपना कार्य आरम्भ कर दिया।

#### जमा बीमा निगम (Deposit Insurance Corporation)

भारत में बैंकिंग-व्यवस्था के विकास के इतिहास से यह स्पष्ट है कि देश में समय-समय पर बहुत से बैंक फेल होते रहे। सन् 1913-17 ई० में तो बैंकों को बड़े पैमाने पर असफलता का सामना करना पड़ा था। सन् 1947 के बाद भी बैंकों का फेल होना पूर्णतः बन्द नहीं हुआ। उदाहरणार्थ, जून, 1960 में महाराष्ट्र का लक्ष्मी बैंक (Lukshmi Bank) तथा अगस्त, 1960 में केरल का पल्लाई सेंट्रल बैंक (Palai Central Bank) फेल हो गया। इन बैंकों के फेल हो जाने से देश की बैंकिंग व्यवस्था पर जनता के विश्वास को भारी धक्का लगा और बहुत से लोगों ने डर से अपनी रकम निकालना आरम्भ कर दिया। इस स्थिति का सामना करने एवं छोटे तथा मध्यम वर्ग के जमाकर्त्ताओं के हितों को सुरक्षित रखने के लिए 1 जनवरी, 1962 को भारत सरकार ने एक जमा बीमा निगम की स्थापना की थी।

निगम की अधिकृत एवं परिदत्त पूँजी 1.5 करोड़ रुपये है जो रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा प्रदान की गयी है। निगम चाहे तो रिजर्व बैंक से 5 करोड़ रुपये तक का ऋण ले सकता है। रिजर्व बैंक के गवर्नर इस निगम के अध्यक्ष हैं। निगम के लिए 5 सदस्यों का एक संचालक मंडल भी नियुक्त किया गया है।

देश के सभी बैंकों के लिए निगम का सदस्य होना अनिवार्य है। निगम ने प्रत्येक बैंक में जमाकर्त्ता की जमा-राशि (deposit) के बीमा की सीमा को 1 जनवरी,

1963 से बढ़ाकर 5000 रुपये तथा अप्रैल, 1970 से 10,000 रुपये कर दिया गया। आगे चलकर जुलाई, 1976 से इस रकम को बढ़ाकर 20 हजार रुपये कर दिया गया। दूसरे शब्दों में, यदि कोई बैंक फेल हो जाता है तो उसके सभी जमाकर्त्ताओं के 20,000 रुपये की सीमा की जमा-राशि सुरक्षित रहती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जमा बीमा निगम की स्थापना से छोटी श्रेणी के जमाकर्त्ताओं के जमा (deposit) अधिक सुरक्षित हो गये हैं। परन्तु केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों तथा बैंकिंग कम्पनियों की जमा राशियों पर यह योजना लागू नहीं होती। केन्द्रीय सरकार की पूर्ण अनुमति से जमा बीमा निगम को बीमा की राशि में वृद्धि करने का भी अधिकार है। इस समय सदस्य बैंकों से निगम 4 पैसे सैंकड़े प्रति वर्ष बीमा-शुल्क (Premium) के रूप में वसूल करता है। निगम इस शुल्क को बढ़ाकर 15 पैसे सैंकड़े प्रति वर्ष कर सकता है। यदि कोई सदस्य बैंक अपने प्रीमियम (अथवा बीमा शुल्क) का भुगतान नहीं करता तो निगम उसे 8 प्रतिशत वार्षिक की दर से व्याज भी वसूल कर सकता है। जमा बीमा निगम की सफलता के लिए यह नितांत आवश्यक है कि रिजर्व बैंक विभिन्न बैंकों के कार्यों का प्रभावपूर्ण निरीक्षण करे और उन्हें किसी प्रकार की वित्तीय अनियमितताएँ करने के अवसर न दे।

जून, 1977 ई० के अन्त में 78 व्यावसायिक बैंक, 848 सहकारी बैंक तथा 48 प्रादेशिक ग्रामीण बैंक बीमाकृत थे। 1962 से 1977 तक निगम ने बैंकों से सम्बन्धित 113 लाख रुपये के दावे स्वीकार किये थे। 31 दिसम्बर, 1971 को इसका कुल जमा बीमा कोष 20.97 करोड़ रुपये था जो कुल बीमाकृत जमा का 0.5 प्रतिशत भाग था।

#### बैंकों का सामाजिक नियन्त्रण (Social Control over Commercial Banks)

दिसम्बर, 1967 में तत्कालीन वित्त मंत्री ने संसद् में व्यावसायिक बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण के सम्बन्ध में एक विधेयक प्रस्तुत किया जो आगे चलकर कानून बन गया। सामाजिक नियन्त्रण कार्यक्रम के अन्तर्गत व्यावसायिक बैंकों के संचालक मण्डल में महत्वपूर्ण परिवर्तन की व्यवस्था थी। साथ ही, सामाजिक नियन्त्रण कार्यक्रम के अन्तर्गत देश में दिसम्बर, 1967 में एक राष्ट्रीय साख-परिषद् (National Credit Council) की नियुक्ति की गयी। वित्त मंत्री इसके अध्यक्ष बने। परिषद् में कुल 26 सदस्य थे। वह परिषद् बैंकों के सम्बन्ध में एक व्यापक साख नीति का निर्धारण करने के उद्देश्य से बनी थी। प्रारम्भ में, सामाजिक नियन्त्रण की नीति को 25 करोड़ रुपये से अधिक जमावाले बैंकों पर लागू करने की व्यवस्था थी।

1. रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का सविस्तार विवरण अगले अध्याय में किया गया है।



### प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Major Commercial Banks)

किन्तु, 19 जुलाई, 1969 को राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश जारी कर 50 करोड़ रुपये से अधिक जमावाले 14 बड़े-बड़े व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। इन बैंकों के नाम हैं—(1) सेंट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, (2) बैंक ऑफ इण्डिया, (3) पंजाब नेशनल बैंक, (4) बैंक ऑफ बड़ौदा, (5) युनाइटेड कमर्शियल बैंक, (6) कैनारा बैंक, (7) युनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया, (8) डेना बैंक, (9) सिंडिकेट बैंक, (10) युनियन बैंक ऑफ इंडिया, (11) इलाहाबाद बैंक, (12) इण्डियन बैंक, (13) बैंक ऑफ महाराष्ट्र, तथा (14) इण्डियन ओवरसीज बैंक।

भारतीय बैंकों के सामाजिक नियन्त्रण तथा राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में विस्तृत व्याख्या आगे चलकर एक अध्याय में की गयी है।

**बैंकिंग आयोग (Banking Commission) :—** 3 फरवरी, 1969 को भारत सरकार ने श्री आर० जी० सरैया (R. G. Saraiya) की अध्यक्षता में एक बैंकिंग आयोग की नियुक्ति की घोषणा की। इस आयोग का प्रधान उद्देश्य समुचित आधार पर बैंकों के विकास के सम्बन्ध में सुझाव प्रस्तुत करना था। 9 फरवरी, 1972 को आयोग ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। आयोग ने राजकीय क्षेत्र के बैंकों को दो या तीन अखिल भारतीय

बैंक (All India Banks) तथा 6 अन्य ऐसे बैंक जो एक वृहत् क्षेत्र में बैंकिंग सेवाओं के विकास में विशिष्टता प्राप्त करेंगे, के रूप में पुनर्गठित करने का सुझाव दिया। बैंकों के पुनर्गठन में पिछड़े हुए क्षेत्रों को विशेष सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। निजी क्षेत्र के बैंकों को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए आयोग ने एक निश्चित अवधि के अन्तर्गत बैंकों के आपस में मिलाने (Merger and amalgamation) का सुझाव दिया। ग्रामीण क्षेत्र में ग्रामीण बैंकों (Rural Banks) की स्थापना का भी सुझाव दिया गया। इस प्रकार के बैंकों की स्थापना में आयोग के अनुसार सुदृढ़ प्राथमिक सहकारी समितियों को व्यावसायिक बैंकों के सहायक (Subsidiary) के रूप में विकसित करने को प्रोत्साहित करना चाहिए या व्यावसायिक बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रों में सहायक बैंकों की स्थापना के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। अक्टूबर, 1975 से इस प्रकार के बैंकों की स्थापना की जा रही है।

आयोग ने मौद्रिक नीति को प्रभावपूर्ण तरीके से कार्यान्वित करने के लिए गैर-बैंकिंग वित्तीय मध्यस्थों पर कठोर नियन्त्रण लगाने का सुझाव दिया। साथ ही, देशी बैंकों को संगठित बैंकों से मिलाने पर (Linking indigenous banking agencies with organised banking system) सुझाव दिया। आयोग की सिफारिशों पर रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया तथा भारत सरकार द्वारा विचार किया जा रहा है।

### विशेष अध्ययन-सूची

- |                          |                                               |
|--------------------------|-----------------------------------------------|
| 1. B. R. Ambedkar        | : History of the Indian Currency and Banking. |
| 2. Reserve Bank of India | : Functions and Working.                      |
| 3. " " "                 | : Reports on Currency & Finance.              |



## अध्याय : 51

## रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India)

रिजर्व बैंक की स्थापना :—मुद्रा एवं बैंकिंग-व्यवस्था में स्थायित्व लाने के उद्देश्य से भारत में केन्द्रीय बैंक (Central Bank) की आवश्यकता का अनुभव लोगों को बहुत पहले से ही हो रहा था। किन्तु 1935 ई० के पूर्व तक देश में इस प्रकार की किसी भी संस्था की स्थापना नहीं की जा सकी थी। 1913 ई० में चेम्बरलेन आयोग (Chamberlain Commission) के सदस्य के रूप में लॉर्ड केन्स (Keynes) ने भारतीय केन्द्रीय बैंक के विधान का एक खाका तैयार किया था। किन्तु इसी बीच 1914 ई० में प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ जाने के कारण केन्स के प्रस्ताव के सम्बन्ध में कोई भी विचार नहीं किया जा सका। सन् 1920 ई० में ब्रुसेल्स की अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-परिषद् (International Economic Conference) ने स्वर्णमान की पुनर्स्थापना के लिए इस आशय का एक प्रस्ताव स्वीकार किया था कि जिस देश में केन्द्रीय बैंक नहीं है वहाँ इसकी स्थापना शीघ्र ही की जानी चाहिए। वास्तव में स्वर्णमान की सफलता के लिए केन्द्रीय बैंक की स्थापना अनिवार्य थी। अतः इस कमी को दूर करने के लिए 1920 ई० में भारत सरकार ने तीनों प्रेसीडेंसी बैंकों को मिलाकर एक इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की किन्तु इम्पीरियल बैंक प्रधानतया एक व्यावसायिक बैंक था जिसे केन्द्रीय बैंक के कुछ ही कार्य दिये गये थे। अतएव यह केन्द्रीय बैंक के कार्यों को पूरा नहीं कर सका। 1926 ई० में हिल्टन यंग आयोग (Hilton Young Commission) ने मौद्रिक एवं साख-व्यवस्था के समुचित संचालन एवं नियंत्रण के लिए एक स्वतन्त्र केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया था जिसकी प्रमुख विशेषताएँ रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की योजना में सम्मिलित की गयीं। केन्द्रीय बैंकिंग जांच-समिति ने भी 1930 ई० में भारत में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया। इन सब सिफारिशों एवं सुझावों के साथ ही देश की बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना ने भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना में तात्कालिक सहयोग प्रदान किया। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप 1934 ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम पारित हुआ तथा 1 अप्रैल, 1935 ई० से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने अपना कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया भारत का केन्द्रीय बैंक है। इसकी स्थापना के पूर्व केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कुछ कार्यों को इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया सम्पन्न करता था।

विधान (Constitution) —रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ऐक्ट के अनुसार 1935 ई० में हुई थी। इसकी अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) 5 करोड़ रुपये थी जिसे 100-100 रुपये के 5 लाख हिस्सों में विभाजित किया गया था। बैंक की संचालन-शक्ति कुछ ही व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित होने से बचाने के लिए सम्पूर्ण देश को पाँच क्षेत्रों—बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली तथा रंगून में विभाजित कर दिया गया था। परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था होते हुए भी कुछ ही वर्षों में हस्तांतरण के द्वारा धीरे-धीरे अधिकांश हिस्से बम्बई में ही केन्द्रित हो गये। अतः मार्च, 1940 ई० में रिजर्व बैंक के विधान में एक आवश्यक संशोधन किया गया, जिसके द्वारा इस प्रकार की व्यवस्था की गयी कि किसी भी व्यक्ति के पास बैंक के 20,000 रुपये से अधिक के हिस्से नहीं हो सकते। यदि किसी व्यक्ति के पास इससे अधिक रकम के हिस्से हो जायेंगे तो उसका नाम अंशधारियों की सूची से पृथक् कर दिया जायगा।

राष्ट्रीयकरण :—किन्तु सरकार का यह प्रयत्न भी बैंक के हिस्सों को बम्बई क्षेत्र में केन्द्रित होने से नहीं रोक सका। अतः अन्ततः Reserve Bank of India (Transfer to Public Ownership) Act, 1948 के अनुसार 1 जनवरी, 1949 ई० को रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हुआ। सरकार ने हिस्सेदारों को प्रति एक सौ रुपये के लिए 118 रुपये 10 आना मुआवजा देकर सभी हिस्से स्वयं खरीद लिये। इस प्रकार 1 जनवरी, 1949 ई० से यह बैंक पूर्णतया सरकारी बैंक के रूप में कार्य कर रहा है, किन्तु राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप बैंक के विधान एवं कार्यवाही में केवल नाम-मात्र के लिए ही परिवर्तन किये गये हैं।

रिजर्व बैंक का प्रबन्ध (Management of the Reserve Bank).:—बैंक के कार्यों का संचालन एक केन्द्रीय संचालक मण्डल (Central Board of Directors) द्वारा होता है जिसके 15 सदस्य होते हैं तथा जिनकी नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती है। इनमें एक गवर्नर (Governor) तथा तीन डिपुटी गवर्नर (Deputy Governor), चार स्थानीय मण्डलों से मनोनीति संचालक, भारत सरकार द्वारा मनोनीत 6 संचालक तथा एक सरकारी कर्मचारी होते हैं। सरकारी कर्मचारी को मृतदान का अधिकार नहीं होता। केन्द्रीय संचालक मण्डल की बैठक साल में कम-से-कम छः बार तथा प्रत्येक तीन महीने में एक बार अवश्य होती है। बोर्ड ने



अपने कुछ अधिकार एक समिति को दे दिये हैं जो साधारणतया प्रति सप्ताह बैठती है।

चारों क्षेत्रों—बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा दिल्ली में स्थानीय प्रबन्ध के लिए चार स्थानीय मण्डल (Local Boards) हैं। प्रत्येक मण्डल में केन्द्रीय सरकार द्वारा 4 वर्षों के लिए नियुक्त 5 सदस्य होते हैं। ये मण्डल केन्द्रीय संचालक मण्डल के आदेशानुसार कार्य करते हैं तथा केन्द्रीय संचालक मण्डल को आवश्यकतानुसार प्रमुख विषयों पर परामर्श देते हैं।

रिजर्व बैंक का गवर्नर केन्द्रीय संचालक परिषद् का अध्यक्ष तथा बैंक का मुख्य कार्यकारी अधिकारी होता है। बैंक के तीनों डिप्टी गवर्नरों के जिम्मे बैंक के कुछ विभाग के कार्य हैं। गवर्नर तथा डिप्टी गवर्नर की कार्याधि एक बार में पाँच वर्ष से अधिक नहीं हो सकती। यह उनकी नियुक्ति के समय केन्द्रीय सरकार के द्वारा निश्चित की जाती है। किन्तु इनकी पुनः नियुक्ति भी की जा सकती है।

संगठन (Organisation) :—बैंक ऑफ इंग्लैंड के समान ही रिजर्व बैंक के भी दो प्रमुख विभाग हैं—

(1) चलन विभाग (Issue Department) जिसका प्रमुख कार्य पत्र-मुद्रा जारी करना तथा उसकी जमानत के रूप में विधान द्वारा निश्चित सुरक्षित कोष की व्यवस्था करना है।

(2) बैंकिंग विभाग (Banking Department)—जिसका निर्माण 1 जुलाई, 1950 ई० को हुआ था। यह

अनुसूचित बैंकों के कुल जमा का एक निश्चित प्रतिशत नकद मुद्रा के रूप में रखने का भी कार्य करता है।

इनके अतिरिक्त देश में कृषि-साख की समुचित व्यवस्था के लिए रिजर्व बैंक का एक पृथक् कृषि-साख विभाग (Agricultural Credit Department) भी है। यह विभाग कृषि साख-सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करता है।

### रिजर्व बैंक के कार्य

#### Functions of the Reserve Bank)

रिजर्व बैंक भारत का केन्द्रीय बैंक है। अतः यह केन्द्रीय बैंक के प्रायः सभी कार्यों को सम्पन्न करता है। वास्तव में, रिजर्व बैंक का प्रमुख कार्य देश की मौद्रिक व्यवस्था को इस प्रकार से नियंत्रित करना है जिससे कि देश के आर्थिक स्थायित्व में वृद्धि हो। (The primary function of the Reserve Bank is to regulate the monetary system of the country so as to promote the maintenance of economic stability and to assist the growth of the economy within its framework.) इसके कार्यों को निम्नांकित दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है—

- (क) केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य, तथा
- (ख) साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य।

रिजर्व बैंक के कार्यों का संक्षिप्त विवरण निम्नांकित तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

### रिजर्व बैंक के कार्य

#### नियमन तथा नियन्त्रण-सम्बन्धी कार्य

#### आर्थिक विकास सम्बन्धी कार्य

#### आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना

#### आर्थिक स्थिरता को प्राप्त करना

#### (क) केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य

1. पत्र-मुद्रा जारी करना,
2. सरकार के बैंकर के रूप में कार्य,
3. बैंकों के बैंक के रूप में कार्य,
4. विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण,
5. साख-नियन्त्रण,
6. अन्य केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य।

#### (ख) साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य

1. जमा स्वीकार करना,
2. व्यापारिक तथा वाणिज्यिक विलों का क्रय-विक्रय,
3. कृषि-विलों का क्रय-विक्रय,
4. ऋण देना,
5. विदेशी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय,
6. मूल्यवान वस्तुओं का क्रय-विक्रय,
7. अन्य देशों के बैंकों से व्यवहार।

(क) केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य (Central Banking Functions of the Reserve Bank of

India)—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी निम्नलिखित प्रमुख कार्य हैं—



(i) पत्र-मुद्रा जारी करना (Issue of Paper-money)—देश में पत्र-मुद्रा (एक रुपये के नोट के अतिरिक्त) जारी करने का एक-मात्र अधिकार रिजर्व बैंक को ही प्राप्त है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए बैंक का एक पृथक् विभाग है जिसे चलन विभाग (Issue Department) कहते हैं। बैंक के नोटों में जनता का विश्वास बनाये रखने के लिए रिजर्व बैंक को पहले कुल निर्गमित नोटों के मूल्य का 40 प्रतिशत भाग स्वर्ण-मुद्राओं, स्वर्ण-पाटों एवं विदेशी प्रतिभूतियों के रूप में रखना पड़ता था। इनमें 21 रुपये 3 आने 8 पाई प्रति तोले के हिसाब से किसी भी समय बैंक के पास कम-से-कम 40 करोड़ रुपये का स्वर्ण रखना अनिवार्य था। इस प्रकार रिजर्व बैंक द्वारा आनुपातिक निधि पद्धति (Proportional Reserve System) के आधार पर नोट जारी करने का कार्य प्रायः 20 वर्षों तक चलता रहा। किन्तु देश के आयोजित आर्थिक विकास के लिए अब अधिक विदेशी मुद्रा की आवश्यकता पड़ने लगी जिसके फलस्वरूप नोट जारी करने की इस पद्धति में भी संशोधन की आवश्यकता पड़ी। अतः रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (संशोधन) अधिनियम 1956 जो 6 अक्टूबर, 1956 ई० को लागू हुआ, के अनुसार आनुपातिक निधि पद्धति के स्थान पर एक न्यूनतम कोष (Minimum Reserve) प्रणाली को अपनाया गया, जिसमें 400 करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियों तथा 115 करोड़ रुपये के स्वर्ण-मुद्रा एवं स्वर्ण-पाट, यानी कुल मिलाकर 515 करोड़ रुपये के न्यूनतम कोष को आवश्यक बनाया गया। साथ ही, बैंक के पास स्वर्ण का मूल्य, जो पहले 21 रुपये 3 आने 8 पाई के हिसाब से तय किया जाता था, को बढ़ाकर 62 रुपये 50 पैसे प्रति तोला कर दिया गया। आगे चलकर रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (द्वितीय संशोधन) अधिनियम, 1957 ई० के अनुसार विदेशी प्रतिभूतियाँ, स्वर्ण-मुद्रा एवं स्वर्णपाट के न्यूनतम कोष की रकम को घटाकर 200 करोड़ रुपये कर दिया गया जिसमें कम-से-कम 115 करोड़ रुपये की स्वर्ण-मुद्रा एवं स्वर्णपाट का होना अनिवार्य था। साथ ही, इस संशोधन के अनुसार केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति से रिजर्व बैंक विदेशी प्रतिभूतियों के कोष को पूर्णतया समाप्त भी कर सकता है, किन्तु ऐसी हालत में कम-से-कम 115 करोड़ रुपये की स्वर्ण-मुद्रा एवं स्वर्णपाटों का होना विलकुल आवश्यक है।

(2) सरकार के बैंकर के रूप में कार्य करना (Acting as Banker to the Govt.)—रिजर्व बैंक केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के सभी बैंकिंग-सम्बन्धी कार्यों को भी सम्पन्न करता है। यह इनसे जमा के रूप में रकम प्राप्त करता है तथा इनके आदेशानुसार इनका भुगतान भी करता है। सरकार की जो रकम इसके यहां जमा की जाती है उसपर यह कोई व्याज नहीं देता। यह सरकार के लिए ऋण एकत्र करता तथा उसके भुगतान (Borrowing and refunding) एवं प्रबन्ध की भी

व्यवस्था करता है। रिजर्व बैंक सरकारी प्रभूतियों का क्रय-विक्रय करता है एवं विदेशी विनिमय का भी प्रबन्ध करता है। इस बैंक ने सरकारी बैंक के रूप में बहुत सफलतापूर्वक कार्य किया है। जिस स्थान में रिजर्व बैंक की शाखाएँ नहीं होतीं वहाँ स्टेट बैंक इस बैंक के एजेंट के रूप में सरकार के बैंकिंग सम्बन्धी कार्यों को सम्पन्न करता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व-बैंक में भारत सरकार के एजेंट के रूप में कार्य करता है। आवश्यक वित्तीय मामलों, जैसे—नये ऋणों को जारी करने, कृषि-साख, औद्योगिक वित्त तथा नियोजन एवं आर्थिक विकास-सम्बन्धी सूचनाओं के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक सरकार को आवश्यक परामर्श भी देता है।

(3) बैंकों के बैंक के रूप में कार्य करना (Acting as Banker's Bank)—रिजर्व बैंक देश के बैंकों के बैंक के रूप में भी कार्य करता है। यह उनपर नियन्त्रण रखता है तथा उनका पथ-प्रदर्शन भी करता है। बैंकिंग व्यवसाय आरम्भ करने के पूर्व किसी भी बैंक को रिजर्व बैंक की अनुमति लेनी पड़ती है। इसी प्रकार नयी शाखाओं की स्थापना के पूर्व भी रिजर्व बैंक की अनुमति लेनी पड़ती है। देश के सभी अनुसूचित बैंकों (Scheduled Banks) को अपने कुल जमा दायित्व का औसत रूप से 3 प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक के पास जमा करना पड़ता है। 1956 ई० के एक संशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक को चालू जमा राशि के लिए नकद कोष की रकम को 5 प्रतिशत से 20 प्रतिशत तक तथा सावधि राशि के लिए 2 प्रतिशत से 8 प्रतिशत तक करने का अधिकार प्राप्त है। रिजर्व बैंक इस जमा राशि से बैंकों के अन्तिम ऋणदाता (Lender of the Last Resort) के रूप में आर्थिक संकटकाल में इन्हें ऋण देकर फेल होने से बचाता है। यह बैंक दर (Bank rate) तथा खुले बाजार की नीति (Open Market Operations) द्वारा बैंकों की साख नीति पर भी नियन्त्रण रखता है। साथ ही, इनके समाशोधन-गृह (Clearing House) का भी कार्य करता है।

(4) विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण :—रिजर्व बैंक का एक प्रमुख कार्य मुद्रा के बाह्य मूल्य में स्थायित्व लाना है। इस उद्देश्य से रिजर्व बैंक अधिकांश देशों की मुद्रा का कोष अपने पास रखता है तथा जनता की माँग के अनुसार इनका क्रय-विक्रय करता है। सन् 1946 में भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का एक सदस्य बन गया जिसके अनुसार अब रुपये का मूल्य स्वर्ण के रूप में एक तोला सोना 62 रुपये 50 पैसे निश्चित किया गया। इसी दर से बैंक उन सभी देशों की मुद्राओं का क्रय-विक्रय करता है जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य हैं। बैंक विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय उन्हीं दरों पर कर सकता है जिन्हें केन्द्रीय सरकार समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के परामर्श से निश्चित करती है। रिजर्व बैंक एक



निश्चित मात्रा से कम मूल्य की विदेशी मुद्रा का सौदा नहीं करता, किन्तु, रिजर्व बैंक का विशेष सम्बन्ध स्टर्लिंग से ही है। भारत स्टर्लिंग क्षेत्र का एक सदस्य है, अतः यहाँ के विदेशी लेन-देन का कार्य मुख्यरूपेण स्टर्लिंग के माध्यम से ही होते हैं। आजकल भारत के कुल विदेशी लेन-देन का प्रायः 70 प्रतिशत भाग स्टर्लिंग में, 10 प्रतिशत भाग डॉलर में तथा शेष रुपये के रूप में होता है। रिजर्व बैंक 1 शि० 1 पें० प्रति रुपये की दर से स्टर्लिंग खरीदता तथा 1 शि० की दर से इसका विक्रय करता है। इस दर में समय-समय पर परिवर्तन भी होते रहते हैं। युद्ध तथा अन्य परिस्थितियों में मुद्रा के बाह्य मूल्य में स्थायित्व लाने के लिए बैंक सरकारी नीति के अनुसार विभिन्न तरीकों से विनिमय-नियन्त्रण का कार्य भी करता है।

(5) साख-नियन्त्रण (Credit Control) :—रिजर्व बैंक का एक प्रमुख कार्य साख की मात्रा का नियन्त्रण करना है। साख-नियन्त्रण का उद्देश्य साख की मात्रा का व्यवसाय की साख-सम्बन्धी माँग के साथ समायोजन करना है। देश में साख की मात्रा व्यावसायिक बैंकों की साख-नीति पर निर्भर करती है। अतः साख-नियन्त्रण का अर्थ बैंकों की साख-नीति पर नियन्त्रण रखना है। बैंक-दर में परिवर्तन, खुले बाजार की नीति तथा अन्य वैधानिक अधिकारों के उपयोग द्वारा रिजर्व बैंक साख का नियन्त्रण करता है। साख का सृजन बैंकों के नकद जमा पर भी निर्भर करता है। अतः साख-नियन्त्रण का प्रमुख जरिया बैंकों के नकद जमा कोष को नियन्त्रित करना है। जब रिजर्व बैंक साख की मात्रा में वृद्धि चाहता है तो इसे बैंकों के नकद जमा कोष में वृद्धि का प्रयत्न करना पड़ता है तथा साख की मात्रा में कमी करने के लिए बैंक के नकद जमा-कोष को घटाने का प्रयत्न करना पड़ता है।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया साख-नियन्त्रण के उद्देश्य से निम्नांकित तरीकों को कार्य में लाता है :—

(i) बैंक दर (Bank rate) :—बैंक दर वह दर है जिसपर रिजर्व बैंक व्यावसायिक बैंकों को सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देता है अथवा उनके प्रथम श्रेणी के विनिमय बिलों को पुनः वट्टा (Re-discount) करता है। बैंक दर नीति द्वारा साख-नियन्त्रण तब ही प्रभावशाली होता है जबकि देश की बैंकिंग संस्थाएँ आर्थिक संकट के समय अपने बिलों के पुनः भुगतान के लिए केन्द्रीय बैंक पर आश्रित रहती हों। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की बैंक-दर नीति आरंभ से ही अधिक सफल नहीं हो सकी है और आज भी यह बहुत प्रभावपूर्ण (Effective) नहीं है। इसका प्रधान कारण देश के

विभिन्न स्थानों पर व्याज की दर में विभिन्नता है। इसके अतिरिक्त भारत में बैंक-दर की नीति के अधिक संप्रभाविक नहीं होने के दो अन्य कारण हैं—(क) देश में मुद्रा-प्रसार के कारण मुद्रा की बाहुल्यता है जिससे व्यावसायिक बैंकों तथा अन्य बैंकों को बहुत अधिक मात्रा में जनता से जमा-राशि प्राप्त हो जाती है। इसके फलस्वरूप देश की बैंकिंग संस्थाएँ साख-निर्माण तथा आर्थिक सहायता के लिए रिजर्व बैंक पर बहुत कम निर्भर करती हैं। (ख) भारत में रिजर्व बैंक तथा देश की अन्य बैंकिंग संस्थाओं में घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। (ग) देश में एक सुसंगठित बिल-बाजार (Organised Bill Market) का अभाव है।

रिजर्व बैंक की बैंक-दर 1938 ई० से नवम्बर, 1951 ई० तक 3 प्रतिशत रही, परन्तु नवम्बर 1951 ई० में यह  $3\frac{1}{2}\%$  हो गयी। पुनः 1957 ई० में इसे बढ़ाकर 4% कर दिया गया। बैंक-दर की इस वृद्धि के फलस्वरूप देश में व्याज की अन्य दरों में भी वृद्धि हो गयी जिससे द्वितीय युद्ध-काल में अपनायी गयी सस्ती मुद्रा-नीति (Cheap Money Policy) का अन्त हुआ तथा सन् 1951 ई० से दुर्लभ-मुद्रा नीति (Dear Money Policy) का प्रारम्भ हुआ। सस्ती मुद्रा-नीति के बहुत सारे गुण हैं किन्तु इसके बहुत-सारे दोष भी हैं जिनके फलस्वरूप धीरे-धीरे इसका परित्याग किया जाने लगा। देश की पंचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए पूँजी-निर्माण की गति में वृद्धि अनिवार्य है और इसके लिए दुर्लभ मुद्रा नीति का अनुकरण भी आवश्यक हो जाता है। अतः, रिजर्व बैंक ने बैंक-दर को बढ़ाकर अथवा दुर्लभ मुद्रा नीति को अपनाकर देश की पूँजी-निर्माण की शक्ति में वृद्धि की है, विदेशी पूँजी को आकर्षित करने की परिस्थितियाँ उत्पन्न की हैं, मुद्रा-स्फीति पर रोक लगायी है, विदेशी व्यापार की विपक्षता को दूर करने का प्रयत्न किया है तथा बैंकों को असीमित मात्रा में ऋण प्रदान करने की नीति का नियन्त्रण किया है इत्यादि। इस प्रकार बैंक-दर में इस वृद्धि के कारण ऋण का लेना कम हो गया तथा बहुत-सारे ऋण वापिस किये गये।

सितम्बर, 1960 ई० में बैंक-दर को 4 प्रतिशत पर स्थायी रख कर कोटिबद्ध उधार दान दरों (Graded Lending Rates) की नयी योजना चालू की गयी। पुनः 2 जनवरी, 1963 से रिजर्व बैंक ने अपनी बैंक-दर को 4 प्रतिशत से बढ़ाकर  $4\frac{1}{2}$  प्रतिशत तथा सितम्बर 1964 ई० में 5 प्रतिशत कर दिया। 1963 ई० की संशोधित उधार नीति के अनुसार अनुसूचित बैंक अपने कुल वैधानिक जमा (Statutory Deposits) का



## रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया

75 प्रतिशत भाग तक बैंक-दर पर रिजर्व बैंक से उधार ले सकता है। इससे अधिक 75 प्रतिशत तक उधार लेने के लिए उसे बैंक-दर से 1 प्रतिशत अधिक दर पर ब्याज चुकाना पड़ता है। यदि अनुसूचित बैंकों द्वारा प्राप्त ऋण की रकम आधारभूत कोटा (Basic quota) के 150 प्रतिशत से अधिक हो जाय तो इस अतिरिक्त ऋण की रकम के लिए बैंक-दर से 1 1/2 प्रतिशत से अधिक ब्याज चुकाना पड़ता है। इस प्रकार अनुसूचित बैंकों को उधार देने के लिए रिजर्व बैंक की विभिन्न दरें कर दी गयीं। पुनः 17 फरवरी, 1965 ई० को रिजर्व बैंक ने अपनी बैंक-दर को बढ़ाकर 6 प्रतिशत कर दिया। फरवरी, 1971 में रिजर्व बैंक ने अपने बैंक-दर को 5 प्रतिशत से बढ़ाकर 6 प्रतिशत किया। आगे चलकर, मई 1973 में देश में मुद्रा-स्फीति के बढ़ते हुए दबाव को रोकने के लिए बैंक-दर को 6 प्रतिशत से बढ़ाकर 7 प्रतिशत तथा जुलाई, 1974 में 9 प्रतिशत कर दिया गया है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की बैंक-दर का साख-नियन्त्रण के उद्देश्य से पुनः सन् 1951 ई० के बाद प्रयोग किया जाने लगा है तथा इसमें पर्याप्त सफलता भी मिली है।

(ii) खुले बाजार की क्रियाएँ (Open Market Operations) :—केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक-दर नीति को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए खुले बाजार की नीति को अपनाते हैं। खुले बाजार की नीति का अर्थ केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा-बाजार में सरकारी प्रतिभूतियों तथा प्रथम श्रेणी के विलों एवं प्रतिज्ञा-पत्रों का साख-नियन्त्रण के उद्देश्य से क्रय-विक्रय है। रिजर्व बैंक को भी अन्य केन्द्रीय बैंकों की तरह खुले बाजार की क्रियाओं का अधिकार दिया गया है ताकि वह भी इस नीति द्वारा अपनी बैंक-दर नीति को अधिक प्रभावपूर्ण बना सके। गत वर्षों में सदस्य बैंक आवश्यकता के समय रिजर्व बैंक को असीमित मात्रा में सरकारी प्रतिभूतियाँ (Govt. Securities) बेचकर धन प्राप्त कर लिया करते थे जिससे साख का प्रसार हो जाया करता था। परन्तु 1951 ई० में रिजर्व-बैंक ने अपनी इस नीति में भी परिवर्तन कर दिया और यह घोषणा कर दी कि वह बैंक की सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सरकारी प्रतिभूतियों अथवा ऋण-पत्र नहीं खरीदेगा बल्कि वह बैंक-दर पर स्वीकृत ऋण-पत्रों के आधार पर ही केवल ऋण देगा। रिजर्व बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं की नीति में इस परिवर्तन से निम्नलिखित लाभ हुए—(क) बैंक-दर पहले की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण हो गया, (ख) मुद्रा की पूर्ति में लोच आ गयी; क्योंकि व्यस्त व्यावसायिक काल में बैंक ऋण-पत्रों के आधार पर रिजर्व बैंक से ऋण ले लेते हैं और इस प्रकार की दशाओं का अन्त हो जाने पर ये रिजर्व बैंक को ऋण की राशि लौटा देते हैं

और अपने ऋण-पत्र वापिस कर लेते हैं; तथा (ग) इस नीति से रिजर्व बैंक का देश की विभिन्न बैंकिंग संस्थाओं पर संप्रभावित नियन्त्रण स्थापित हो गया है।

परन्तु, रिजर्व बैंक की उक्त नीति के निम्नलिखित दोष भी हैं :—(अ) खुले बाजार की क्रियाओं का गुप्त रहना अनिवार्य है, परन्तु रिजर्व बैंक की उपरोक्त नीति से ये क्रियाएँ श्व गुप्त नहीं रह सकती हैं। (आ) जब रिजर्व बैंक ऋण-पत्रों का स्वयं क्रय-विक्रय करता था, उस समय ऋण-पत्रों के मूल्य में बहुत स्थिरता रहती थी, परन्तु रिजर्व बैंक की मुद्रा नीति के परिवर्तनों से अब ऋण-पत्रों का मूल्य भी बहुत कम हो गया। यह स्पष्ट है कि सरकारी ऋण-पत्रों के मूल्य में इस प्रकार का परिवर्तन सर्वथा अनुचित ही है। (इ) उक्त परिवर्तित नीति बैंकों के लिए अत्यधिक महँगी, असुविधाजनक तथा कष्टदायक सिद्ध होने लगी। अतः सम्भव है कि इस प्रकार की नीति से देश में एक सुसंगठित मुद्रा-बाजार के विकास में बाधा पड़े।

फिर भी, रिजर्व बैंक खुले बाजार की क्रियाओं का बड़े पैमाने पर प्रयोग करता है तथा 1970-71 में इस नीति के अन्तर्गत 84.1 करोड़ रुपये की प्रतिभूतियों का विक्रय किया गया था।

(iii) नकद कोषों के अनुपात में परिवर्तन (Variations in the Cash Reserve Ratio) :—अन्य केन्द्रीय बैंकों की तरह रिजर्व बैंक को भी देश के विभिन्न बैंकों की जमा-राशि पर नियन्त्रण करने का अधिकार है। 1934 ई० के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ऐक्ट के अनुसार प्रत्येक अनुसूचित बैंक (Scheduled Bank) को अपनी मांग जमा (Demand Liabilities) का 5% और स्थायी जमा (Time Liabilities) का 2% रिजर्व बैंक के पास जमा करना पड़ता था। अब तो 1949 ई० के बैंकिंग कम्पनीज ऐक्ट के अनुसार अन्य प्रकार के बैंकों को भी रिजर्व बैंक अथवा अपने पास उक्त प्रतिशत में नकद जमा रखनी पड़ती है ताकि देश में साख का केवल उचित मात्रा में ही निर्माण हो सके। परन्तु आलोचकों का यह मत है कि उक्त व्यवस्था में चूंकि बैंकों का रिजर्व बैंक के पास या स्वयं बैंकों के पास नकद कोष समस्त दायित्वों का एक निश्चित प्रतिशत के रूप में रहता है, इसलिए रिजर्व बैंक द्वारा नकद कोष में परिवर्तन के द्वारा साख-नियन्त्रण की नीति अधिक प्रभावशाली एवं सफल नहीं हो सकी है। इसका कारण स्पष्ट है। देश की बैंकिंग संस्थाएँ अपने शेष धन से ही पर्याप्त मात्रा में साख-निर्माण का कार्य कर लेती हैं और उन्हें इस कार्य को करने के लिए रिजर्व बैंक पर अधिक निर्भर नहीं रहना पड़ता।



नकद कोष के अनुपात में परिवर्तन को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए 1956 ई० में रिजर्व बैंक अधिनियम में संशोधन हुआ जिसके अनुसार रिजर्व बैंक को अनुसूचित बैंकों के नकद कोष के अनुपात में परिवर्तन करने की शक्ति प्रदान की गयी। इस अधिनियम के अनुसार रिजर्व बैंक को अनुसूचित बैंकों के नकद कोष के अनुपात में चालू जमा (Demand Deposit) के सम्बन्ध में 6 प्रतिशत से 20 प्रतिशत तक तथा स्थायी जमा (Time Deposit) के 2 प्रतिशत से 8 प्रतिशत तक करने का अधिकार दिया गया।

पुनः रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया संशोधित अधिनियम 1962 ई० के अनुसार, जो 15 सितम्बर, 1962 ई० से लागू है, अनुसूचित बैंकों को अपने सभी प्रकार के जमा दायित्व का 3 प्रतिशत भाग नकद मुद्रा के रूप में रिजर्व बैंक के पास जमा करना अनिवार्य बना दिया गया। रिजर्व बैंक आवश्यकतानुसार इसे बढ़ाकर 15 प्रतिशत तक कर सकता है। मुद्रा-स्फीति के बढ़ते हुए दबाव को रोकने के लिए जून, 1973 ई० से न्यूनतम जमा की रकम को 3 प्रतिशत से बढ़ाकर 5 प्रतिशत कर दिया गया है।

### साख-नियन्त्रण के गुणात्मक तथा प्रत्यक्ष तरीके (Selective and Direct Methods of Credit Control)

साख-नियन्त्रण के उपरोक्त तीनों सामान्य अथवा परिमाणात्मक तरीकों (General or Quantitative methods) के अतिरिक्त रिजर्व बैंक अधिक प्रत्यक्ष अथवा गुणात्मक नियन्त्रण के निम्नलिखित तरीकों को भी कार्य में लाता है :-

(iv) प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action) :- रिजर्व बैंक की प्रत्यक्ष कार्यवाही द्वारा साख-नियन्त्रण की नीति सन् 1949 ई० के बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के पारित हो जाने पर कुछ प्रभावपूर्ण हो सकी है। इस अधिनियम के द्वारा रिजर्व बैंक को बैंकिंग कम्पनी के नियन्त्रण के हेतु कुछ विशेष प्रकार के अधिकार मिल गये हैं। अब यह बैंक किसी भी बैंक को विशेष प्रकार के लेन-देन करने से रोक सकता है। यह किसी भी बैंक को किसी मामले में सलाह दे सकता है। यह किसी भी बैंक का निरीक्षण करके उसे अपना निरीक्षण सम्बन्धी प्रतिवेदन भेज सकता है तथा उस पर विचार करने के लिए बैंक के संचालकों की बैठक बुला सकता है। किसी भी बैंक को उसकी कार्य प्रणाली के दोषों को सुधारने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा दिये गये सुझावों का पालन करने के लिए भी वह आदेश दे सकता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक प्रत्यक्ष कार्यवाही द्वारा भी साख का नियन्त्रण कर सकता है। 1966 ई० से बैंक ने अपने इस अधिकार

का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया है। उदाहरण के लिए, मई से सितम्बर 1956 ई० के बीच रिजर्व बैंक ने धान तथा चावल पर अग्रिम को कम करने के सम्बन्ध में बहुत-सारे आदेश दिये। तब से समय-समय पर रिजर्व बैंक इस सम्बन्ध में आवश्यक आदेश जारी करते रहता है। यद्यपि रिजर्व बैंक को अनुसूचित तथा असूचित दोनों प्रकार के बैंक की साख-सम्बन्धी क्रियाओं के नियमन का अधिकार प्राप्त है, फिर भी, शासन-सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण अभी तक बैंक ने केवल अनुसूचित बैंकों को ही इस आशय के आदेश दिये हैं।

(v) साख की रैशनिंग (Rationing of Credit) :- सन् 1949 ई० के बैंकिंग कम्पनी अधिनियम द्वारा बैंक को यह अधिकार मिल गया है कि वह देश-हित में समस्त बैंकों की अथवा किसी एक बैंक की ऋण-नीति निर्धारित कर सकता है और इस प्रकार निर्धारित नीति का पालन सब बैंकों अथवा सम्बन्धित संस्थाओं को करना पड़ता है। इतना ही नहीं, रिजर्व बैंक को यहाँ तक अधिकार है कि वह अन्य बैंकों को आदेश दे सकता है कि वे केवल अमुक कार्यों के लिए ही ऋण अमुक व्याज की दर पर दें। चूँकि बैंकिंग संस्थाओं को रिजर्व बैंक के इन आदेशों का पालन पूर्णतया करना पड़ता है, इसलिए, रिजर्व बैंक की साख को रैशनिंग द्वारा साख-नियन्त्रण की नीति अत्यधिक प्रभावपूर्ण एवं सफल रही है।

(vi) प्रचार तथा नैतिक दबाव की नीति (Methods of Publicity and Moral Persuasion) :- चूँकि रिजर्व बैंक का देश की बैंकिंग संस्थाओं से अभी तक बहुत अधिक घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका है, इसलिए वह प्रचार द्वारा साख-नियन्त्रण की नीति को नहीं अपनाता है, परन्तु देश की बैंकिंग संस्थाओं पर अपना नैतिक प्रभाव डालने में थोड़ा बहुत सफल अवश्य हुआ है और वह इस नीति द्वारा ही बैंकों के अनेक दोषों को दूर कर रहा है। उदाहरण के लिए, सितम्बर, 1949 ई० में रुपये के अवमूल्यन के अवसर पर रिजर्व बैंक के गवर्नर ने देश के सभी प्रमुख बैंकों के प्रतिनिधियों की एक बैठक बुलाई जिसमें उन्होंने बैंकों से सट्टा अथवा फाटका की क्रियाओं के लिए अग्रिम न देने तथा बैंकों के सहयोग का अनुरोध किया। उसका परिणाम बहुत ही आशाजनक हुआ। इसी प्रकार जून, 1957 ई० में बैंक के गवर्नर ने सभी बैंकों को पत्र द्वारा अपने अपने अग्रिमों में कमी करने का सुझाव दिया। दिसम्बर, 1961 ई० में रिजर्व बैंक देश के व्यावसायिक बैंकों को समय-समय पर समझा-बुझाकर प्रभाव डालने का प्रयास करता है जिसमें उसे अभी तक पर्याप्त सफलता मिल पायी है।



इस प्रकार साख-नियन्त्रण के लिए रिजर्व बैंक उपरोक्त सभी तरीकों को काम में लाता है। निम्नांकित तालिका द्वारा ये तरीके अत्यधिक स्पष्ट हो जाते हैं :—

### साख-नियन्त्रण के तरीके

#### परिमाण्वात्मक नियन्त्रण के तरीके

|                                                                                                                      |                                                                             |                                                                                                                            |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| बैंक-दर (नवम्बर, 1951 ई० तक 3 प्रतिशत, इसके बाद साढ़े तीन प्रतिशत तथा जुलाई, 1974 ई० में बढ़ाकर नौ प्रतिशत किया गया) | खुले बाजार की क्रियाएँ (विशेष रूप से 1951 ई० के बाद प्रयोग में लायी गयी है) | नकद कोष के अनुपात में परिवर्तन— 1956 ई० के संशोधन के अनुसार इस सम्बन्ध में बैंक को बहुत ही विस्तृत अधिकार प्राप्त हुए हैं) |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

#### गुणात्मक नियन्त्रण के तरीके

|                                                                           |                                                                         |                                                          |
|---------------------------------------------------------------------------|-------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------|
| प्रत्यक्ष कार्य-वाही (1956 ई० से इस शक्ति का प्रयोग प्रारम्भ किया गया है) | साख की रेशनिंग (1949 ई० के ऐक्ट के द्वारा बैंक को यह अधिकार प्राप्त है) | नैतिक दबाव (सर्वप्रथम सितम्बर, 1949 में प्रयोग किया गया) |
|---------------------------------------------------------------------------|-------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------|

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की साख-नियन्त्रण की नीति के अप्रभावपूर्ण होने के कारण (Causes of the ineffectiveness of the Credit-Control policy of the Reserve Bank of India):—उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक के पास साख-नियन्त्रण के बहुत-से साधन हैं, परन्तु अनुभव से यही पता चलता है कि इतने अधिक साधनों के होते हुए भी रिजर्व बैंक देश में साख एवं मुद्रा के नियन्त्रण में बहुत अधिक सफल नहीं हो पाया है। इसके निम्नांकित प्रधान कारण हैं :—

(क) एक सुविकसित विल बाजार का अभाव :— देश में अभी तक एक सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित मुद्रा-बाजार तथा विल-बाजार का अभाव है जिससे साख-नियन्त्रण के उद्देश्य से रिजर्व बैंक की बैंक-दर की नीति प्रभावपूर्ण नहीं हो पायी है।

(ख) देश के आर्थिक ढाँचे में लोच का अभाव :— देश में श्रमिकों की मजदूरी तथा वस्तुओं के मूल्यों के सम्बन्ध में अनेक नियन्त्रण पाये जाते हैं जिनके परिणाम-स्वरूप देश का आर्थिक ढाँचा लोचदार नहीं रह जाता है। ऐसी स्थिति में रिजर्व बैंक की कोई भी साख-नियन्त्रण-नीति बहुत महत्वपूर्ण नहीं हो सकती है।

(ग) स्वदेशी बैंकिंग-व्यवस्था पर रिजर्व बैंक के नियन्त्रण का अभाव :—रिजर्व बैंक अभी तक देशी बैंकों पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं स्थापित कर सका है। इस प्रकार चूँकि रिजर्व बैंक का भारतीय मुद्रा-बाजार के एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंग पर कोई नियन्त्रण नहीं हो

पाया है, इसलिए, यह अपनी साख एवं मुद्रा-नीति के संचालन में बहुत अधिक सफल नहीं हो सका है।

(घ) व्यावसायिक बैंकों के पास नकद कोष का बाहुल्य :—भारत में द्वितीय युद्धोत्तर काल में अत्यधिक मुद्रा-प्रसार के कारण बैंकों के पास बहुत अधिक मात्रा में नकद मुद्रा जमा हो गयी। इससे समस्त दायित्वों का एक निश्चित प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास या अपने पास नकद के रूप में रखने के बाद भी इनके पास इतनी रकम रह जाती है कि साख-भूजन के लिए उन्हें रिजर्व बैंक पर आश्रित नहीं रहना पड़ता है।

इस प्रकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के साख-नियन्त्रण की नीति अभी तक मुख्यतः अप्रभावपूर्ण ही रही है।

(6) अन्य केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य :—रिजर्व बैंक केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कुछ अन्य कार्य भी करता है, जो निम्न प्रकार के हैं :—

(अ) कृषि वित्त-व्यवस्था :—आरम्भ से ही रिजर्व बैंक ने कृषि-कार्यों के लिए वित्त की सुविधा प्रदान करने के लिए कृषि-साख विभाग की स्थापना कर दी थी। इस विभाग के निम्न कार्य निर्धारित किये गये हैं :—(क) कृषि साख से सम्बन्धित समस्याओं के बारे में अनुसंधान करना, (ख) कृषि-साख के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक, राज्य सहकारी बैंक एवं अन्य बैंकों की क्रियाओं में समन्वय स्थापित करना है। इसकी सविस्तार व्याख्या आगे चलकर रिजर्व बैंक एवं कृषि-साख नामक खंड के अंतर्गत की गयी है।



(ब) औद्योगिक वित्त-व्यवस्था :—इसी प्रकार औद्योगिक साख प्रदान करनेवाली विभिन्न-संस्थाओं की स्थापना में भी रिजर्व बैंक सक्रिय सहयोग प्रदान करता है। इन्में औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्तीय निगम तथा औद्योगिक विकास बैंक आदि उल्लेखनीय हैं।

(स) बैंकिंग-सम्बन्धी प्रशिक्षण :—बैंकिंग-सम्बन्धी प्रशिक्षण की सुविधा के लिए रिजर्व बैंक ने 1954 ई० में एक बैंकिंग ट्रेनिंग कॉलेज की स्थापना की है जहाँ विभिन्न बैंकों के अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है।

(द) आर्थिक सूचनाएँ और आँकड़ें एकत्र करना एवं उन्हें प्रकाशित करना :—रिजर्व बैंक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य मुद्रा, साख, कृषि-उत्पादन, लाभांश, व्याज की दरें एवं मुद्रा-वाजार आदि विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में अनुसंधान करना, आँकड़ों को संग्रह करना और उन्हें प्रकाशित करना है। यह कार्य बैंक के 'शोध एवं सांख्यिकी विभाग' द्वारा सम्पादित किया जाता है।

(य) समाशोधन गृह का कार्य :—रिजर्व बैंक देश का केन्द्रीय बैंक होने के कारण सदस्य बैंकों के लिए समाशोधन-गृह का कार्य भी सम्पन्न करता है।

(र) मुद्रा का स्थानान्तरण :—रिजर्व बैंक मुद्रा और कोष को एक स्थान से दूसरे स्थान में भेजने का कार्य भी सम्पन्न करता है।

(7) साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य (Ordinary Banking Functions of the Reserve Bank) :—रिजर्व बैंक के साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य निम्नांकित हैं :—

(i) जमा स्वीकार करना :—रिजर्व बैंक केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारी, पोस्ट ट्रस्ट एवं अन्य बैंकों तथा व्यक्तियों से बिना व्याज निक्षेप (Deposit) स्वीकार करता है, किन्तु यह निजी व्यक्तियों का जमा स्वीकार नहीं करता।

(ii) व्यापारिक एवं वाणिज्यिक बिलों का क्रय-विक्रय करना :—रिजर्व बैंक भारत में भुगतान किये जानेवाले व्यापारिक एवं वाणिज्यिक बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों को खरीदता, बेचता तथा पुनः कटौती भी करता है, बशर्त कि ये बिल 90 दिन से अधिक की न हों।

(iii) कृषि-बिलों का क्रय-विक्रय :—यह बैंक भारत में भुगतान होनेवाले अधिक-से-अधिक 15 महीनों की अवधि के कृषि-बिलों का क्रय-विक्रय एवं पुनः कटौती (Re-discount) करता है।

(iv) ऋण देना :—यह बैंक सरकार तथा बैंकों को माँग पर भुगतान किया जानेवाला ऋण अथवा अधिक-से-अधिक 90 दिन की अवधि के लिए ऋण देता है। यह ऋण स्वीकृत प्रतिभूतियों, बैंकों के ऋण-पत्रों तथा सोना,

चाँदी आदि की जमानत पर दिया जाता है, किन्तु यह निजी व्यक्तियों को ऋण नहीं प्रदान करता।

(v) विदेशी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय :—रिजर्व बैंक भारत के बाहर अन्य देशों की उन प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय कर सकता है जिसका भुगतान खरीदने की तारीख से 10 वर्षों के अन्दर हो जाता है।

(vi) सूर्यवान धातुओं का क्रय-विक्रय :—रिजर्व बैंक सोने, चाँदी व सोने के सिक्कों के क्रय-विक्रय का कार्य भी करता है। 1978 में सरकार की नीति के अनुसार रिजर्व बैंक पन्द्रह दिन में एक बार सोने की निलामी करता था।

(vii) अन्य देशों के बैंकों से व्यवहार :—रिजर्व बैंक अपने कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I.M.F.) के सदस्य राष्ट्रों के केन्द्रीय बैंकों के साथ खाता खोल सकता है, उनसे एजेन्सी का सम्बन्ध बना सकता है, उनके एजेंट के रूप में कार्य कर सकता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से लेन-देन कर सकता है।

### रिजर्व बैंक एवं कृषि-साख

#### (Reserve Bank and the Agricultural Credit)

रिजर्व बैंक का एक प्रमुख कार्य कृषि-साख की समुचित व्यवस्था करना है। इस उद्देश्य से ही बैंक का एक पृथक कृषि-साख विभाग (Agricultural Credit Department) है। प्रारम्भ में रिजर्व बैंक के इस विभाग का कार्य केवल कुछ विवरणों के प्रकाशन-मात्र तक ही सीमित था। इसलिए, इसकी बहुत कड़ी आलोचना की गयी, लेकिन पिछले दस वर्षों में बैंक ने इस कमी को दूर करने का प्रयत्न किया है। कृषि-साख विभाग के साधारण तथा निम्नांकित प्रधान कार्य हैं :—

(1) इसका सर्वप्रथम कार्य कृषि-साख सम्बन्धी प्रश्नों का अध्ययन करना तथा विशेषज्ञों की नियुक्ति करना है।

(2) द्वितीयतः यह केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों एवं प्रादेशिक सहकारी बैंकों को कृषि-साख के विकास के सम्बन्ध में उचित परामर्श देता है।

(3) तृतीयतः, रिजर्व बैंक प्रान्तीय सहकारी संस्थाओं को ग्रहणीय प्रतिभूतियों एवं प्रान्तीय सहकारी बैंकों तथा भूमि-वन्धक बैंकों के प्रतिज्ञा-पत्रों के आधार पर अधिक-से-अधिक 90 दिनों के लिए ऋण देता है। विशेष परिस्थितियों में इन बिलों की अवधि 9 महीने तक बढ़ा दी जाती है। कुछ दिन पहले से यह सीमा 14 महीने कर दी गयी है। रिजर्व बैंक प्रान्तीय सहकारी संस्थाओं को भी व्यावसायिक बैंकों की शर्तों पर ऋण देता है। सहकारी संस्थाओं के लिए व्याज की दर बैंक-दर बढ़ने पर डेढ़ प्रतिशत ही रखी गयी है। रिजर्व बैंक ने 1954 ई० में सहकारी बैंकों का कृषि-कार्य के लिए सहायता प्रदान करने के



लिए 16 करोड़ रुपये का ऋण दिया था। कृषि-साख की समुचित व्यवस्था के लिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट 1951 तथा 1955 ई० में संशोधन किये गये। 1949-50 में ग्रामीण बैंकिंग जांच-समिति की सिफारिश के आधार पर विलों की परिपक्वता का समय 9 महीने से बढ़ाकर 15 महीने तक कर दिया गया तथा सहकारी संस्थाओं से कम व्याज की दर ली जाने लगी। 1956 ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के संशोधन का एक मात्र उद्देश्य-कृषि-साख का विस्तार ही था। इस संशोधन के फलस्वरूप रिजर्व बैंक कृषि-कार्य के लिए 15 महीने से 5 वर्ष तक की अवधि के लिए 5 करोड़ रुपये तक का ऋण दे सकता है। राज्य सरकार, सहकारी समितियों तथा बैंकों के माध्यम से यह रकम कृषकों को दी जायगी जो इसे कुआँ खुदवाने, ट्रैक्टर एवं कृषि के अन्य वैज्ञानिक औजार खरीदने तथा छोटे-मोटे बाँधों के द्वारा सिंचाई की सुविधा का प्रबन्ध करने के लिए प्रयास करेंगे। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक को सहकारी बैंकों के अधिपत्रों को पुनः बट्टा करने तथा छोटे-छोटे उद्योगों के उत्पादन एवं वितरण-सम्बन्धी कार्यों के लिए आर्थिक सहायता देने की भी अनुमति मिल गयी है।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख-सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) की सिफारिशों के आधार पर सन् 1955 ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में संशोधन किया गया जिसके अनुसार रिजर्व बैंक के अन्तर्गत कृषि-साख से सम्बन्धित निम्नलिखित दो कोषों की स्थापना की गयी—

(क) पहला कोष राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष [National Agricultural Credit (Long-Term Operation) Fund] है। इस कोष की स्थापना 3 फरवरी, 1956 ई० को हुई थी। इस कोष में सरकार ने प्रारम्भ में 10 करोड़ रुपये जमा के रूप में दिये और अगले 5 वर्षों तक रिजर्व बैंक इस कोष में 5 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष जमा करने को था। इस प्रकार से 1960-61 ई० तक इस कोष में 35 करोड़ रुपये हो जाने की आशा थी। इस कोष की स्थापना निम्नलिखित उद्देश्यों से की गयी है—(i) इस कोष में से राज्य सरकारों को सहकारी साख-संस्थाओं की हिस्सा पूँजी में लगाने के लिए 20 वर्षों तक की अवधि के लिए ऋण दिया जायगा। (ii) साथ ही, इस कोष में राज्य सहकारी बैंकों को कृषि-कार्य के लिए 5 महीने से 5 वर्ष की अवधि तक के लिए मध्य-कालीन ऋण देने की व्यवस्था है, तथा (iii) इसमें से भूमि-बन्धक बैंकों को 20 वर्षों तक के लिए दीर्घकालीन ऋण दिया जायगा। जून, 1972 तक इस कोष के पास कुल 209 करोड़ रुपये की रकम जमा हो गयी थी।

(ख) दूसरा कोष राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायित्व) कोष [National Agricultural Credit Stabilization Fund] है जिसकी स्थापना 30 जून, 1956 ई०

को हुई थी। इस कोष में रिजर्व बैंक प्रतिवर्ष 1 करोड़ रुपया जमा करेगा। इस कोष की रकम में से राज्य-सहकारी बैंकों को 15 महीने से लेकर 5 वर्ष तक के लिए मध्यकालीन कर्ज दिया जायगा। जून 1972 तक इस कोष में 45 करोड़ रुपये की रकम जमा हो गयी थी।

इससे यह स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक कृषि-साख सम्बन्धी समस्याओं के समाधान के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील है। इसके प्रयत्नों के फलस्वरूप देश में कृषि-साख की व्यवस्था में उत्तरोत्तर सुधार होते जा रहा है। रिजर्व बैंक की कृषि-साख सम्बन्धी नीति के सम्बन्ध में दो बातें महत्वपूर्ण हैं—सर्वप्रथम तो अवतक रिजर्व बैंक ने कृषि को केवल अल्पकालीन ऋण ही प्रदान किया है। वास्तव में, वैधानिक रूप में मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन साख रिजर्व बैंक के क्षेत्र से परे हैं। किन्तु भूमि-विकास बैंकों के ऋण-पत्रों को खरीद कर यह परोक्ष रूप से दीर्घकालीन साख प्रदान करने में सहायता प्रदान करता है। दूसरा, यह है कि अभी तक रिजर्व बैंक द्वारा प्रदान की गयी सुविधाओं का मुख्य रूप से गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आन्ध्र तथा कर्नाटक जैसे राज्यों में ही, जहाँ पर सहकारिता आन्दोलन का विकास हुआ है, पूर्ण रूप से प्रयोग किया जा सका है। अन्य राज्यों में अभी तक रिजर्व बैंक की गारंटी पर कृषि-साख प्रदान की जाती है। इससे स्पष्ट है कि कृषि-साख सम्बन्धी सहायता को प्राप्त करने के लिए सहकारिता आन्दोलन का विकास अनिवार्य है। इतना ही नहीं रिजर्व बैंक ने कृषि पुनर्वित्त निगम की स्थापना में भी सहयोग प्रदान किया है।

### रिजर्व बैंक एवं औद्योगिक वित्त

(Reserve Bank and Industrial Finance)

रिजर्व बैंक आजकल देश में औद्योगिक संस्थानों को वित्तीय सहायता प्रदान करने में भी महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान कर रहा है। इस उद्देश्य से 1957 ई० में एक औद्योगिक वित्त-विभाग (Industrial Finance Department) की स्थापना की गयी। हमारे देश में पूँजी का अभाव है जिससे द्रुतगति से औद्योगीकरण के कार्य में निस्सन्देह कठिनाई उपस्थित होती है। अतः औद्योगीकरण की आवश्यकताओं को देखते हुए देश में उद्योग-सन्धों को दीर्घ एवं मध्य-कालीन कर्ज प्रदान करनेवाली संस्थाओं की स्थापना अनिवार्य हो जाती है। इस उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने इस प्रकार की बहुत-सी संस्थाओं की स्थापना में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है जिनमें औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation), राज्य वित्तीय निगम (State Financial Corporations) तथा औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank) इत्यादि प्रमुख हैं। बैंक ने इन संस्थाओं की हिस्सा-पूँजी का एक अंश प्रदान किया है तथा वह इन्हें आवश्यक-



कतानुसार उधार की सुविधा भी प्रदान करता है। लघु उद्योगों को ऋण एवं सहायता प्रदान करने के लिए रिजर्व बैंक ने सरकार की ओर से जुलाई, 1960 ई० से एक प्रत्याभूति योजना (Guarantee scheme) चालू की है जिसके अन्तर्गत यह एक निर्धारित मात्रा तक अन्य बैंकों द्वारा लघु उद्योगों को दिये गये ऋणों के भुगतान की गारंटी लेती है। पहले यह योजना केवल 22 जिलों में लागू की गयी थी, किन्तु वर्तमान समय में यह सर्वत्र लागू है। इसके अन्तर्गत एपेक्स सहकारी बैंकों (Apex Co-operative Banks) द्वारा लघु उद्योगों को दिये गये सभी प्रकार के अग्रिम भी आते हैं। इस प्रकार रिजर्व बैंक औद्योगिक साख के क्षेत्र में भी आजकल महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है।

देश के आर्थिक विकास के साथ-साथ रिजर्व बैंक के कार्यों की सीमा भी बढ़ती जा रही है। यह बैंक आजकल बहुत प्रकार के विकास सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन कर रहा है। साख-व्यवस्था के नियमन के साथ-साथ रिजर्व बैंक आज देश में एक ऐसी बैंकिंग व्यवस्था के विकास में लीन है जो वाणिज्य-व्यवसाय के अतिरिक्त कृषि एवं उद्योग-धन्धों के विकास में भी समुचित सहयोग प्रदान कर सके। इस उद्देश्य की पूर्ति में यह पर्याप्त सफल भी रहा है। साथ ही, यह सरकार को आर्थिक एवं वित्तीय मामलों में परामर्श भी देता है। बैंक के इस कार्य का महत्व भी आज दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही जा रहा है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक व्यावसायिक बैंकों, सहकारी समितियों, संयुक्त पूँजी कम्पनियों तथा विदेशी व्यापार आदि के सम्बन्ध में आँकड़े एकत्र करता है तथा समय-समय पर इनका प्रकाशन भी करता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक के कार्यों की सीमा में उत्तरोत्तर वृद्धि होता जा रही है।

### रिजर्व बैंक के कार्यों का मूल्यांकन

(An Appraisal of the Functions of the Reserve Bank of India)

अब हमें यह देखना है कि रिजर्व बैंक अपने उद्देश्यों की पूर्ति में कहीं तक सफल रहा है? रिजर्व बैंक की स्थापना अप्रैल, 1935 ई० में हुई थी। इसकी स्थापना के पूर्व देश में कोई केन्द्रीय बैंक नहीं था। केन्द्रीय बैंक के अभाव में देश का मुद्रा-बाजार पूर्णतया असंगठित था तथा बैंकिंग व्यवस्था का भी पर्याप्त विकास नहीं हो पाया था। अतः रिजर्व बैंक की स्थापना से बहुत सी आशाएँ थीं। रिजर्व बैंक अबतक अपने जीवनकाल के प्रायः 40 वर्ष पूरा कर चुका है। इस अवधि में इसने निस्सन्देह देश में एक वृद्ध एवं सुव्यवस्थित बैंकिंग व्यवस्था के विकास में सहयोग प्रदान किया है। रिजर्व बैंक ने सफ़लतापूर्वक देश में पत्र-मुद्रा जारी करने का कार्य

किया है। इसने सस्ती मुद्रा-नीति (Cheap Money Policy) का अनुसरण कर भारतीय उद्योग, कृषि एवं वाणिज्य की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति की है। 1951 ई० तक बैंक-दर 3 प्रतिशत थी। 1951 ई० में इसे बढ़ाकर  $3\frac{1}{2}$  प्रतिशत कर दिया गया। पुनः 1951 ई० में इसे बढ़ाकर 4 प्रतिशत तथा 1963 ई० में  $4\frac{1}{2}$  प्रतिशत कर दिया गया। मई, 1973 ई० में बैंक-दर को बढ़ाकर 7 प्रतिशत तथा जुलाई, 1974 में 9 प्रतिशत कर दिया गया जो पिछले सभी वर्षों से अधिक है। रिजर्व बैंक ने देश की बैंकिंग व्यवस्था को भी विभिन्न प्रकार से सहायता प्रदान की है। बहुत-से व्यावसायिक बैंकों को आर्थिक संकट में अन्तिम ऋणदाता (Lender of the Last Resort) के रूप में सहायता प्रदान कर इसने उन्हें फेल होने से बचाया है। औद्योगिक वित्त-व्यवस्था को सुदृढ़ आधार प्रदान करने में भी रिजर्व बैंक बहुत अधिक प्रयत्नशील रहा है। बैंक के इन प्रयत्नों के फल-स्वरूप ही देश में औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation), राज्य वित्तीय निगम (State-Financial Corporation), पुनर्वित्त निगम (Re-finance Corporation), औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank) तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाएँ स्थापित हो सकी हैं। ये संस्थाएँ उद्योग-धन्धों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करती हैं। कृषि-साख के सहायताार्थ बैंक का कृषि-साख-विभाग प्रारम्भ से ही प्रयत्नशील रहा है, किन्तु हाल के संशोधन के फलस्वरूप बैंक कृषि-साख की व्यवस्था में और भी अधिक प्रयत्नशील हो गया है। रिजर्व बैंक ने भारत एवं राज्य सरकारों के लिए सरकारी ऋण की व्यवस्था भी की है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से सम्बन्ध स्थापित कर बैंक ने रुपये के बाह्य मूल्य को भी स्थायी बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार रिजर्व बैंक ने केन्द्रीय बैंक के प्रायः सभी कार्यों को पर्याप्त सफलता के साथ सम्पन्न किया है।

किन्तु, रिजर्व बैंक के कार्यों की कई कारणों से आलोचना भी की जाती है। इसके विरुद्ध साधारणतया निम्नलिखित आरोप लगाये जाते हैं :—

(1) रुपये के आन्तरिक मूल्य में अस्थिरता (Instability in the internal value of the Rupee) :—रिजर्व बैंक रुपये के आन्तरिक मूल्य को स्थायी बनाने में प्रायः असफल रहा है। द्वितीय महायुद्ध के समय देश में मुद्रा की मात्रा में बहुत अधिक वृद्धि हुई जिससे मुद्रा के मूल्य में बहुत ह्रास हुआ तथा मूल्य-तल में पर्याप्त वृद्धि हुई। इसका देश की आर्थिक व्यवस्था पर बड़ा ही घातक प्रभाव पड़ा है, किन्तु इसके लिए हम केवल रिजर्व बैंक को ही पूर्ण रूप से उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते। इसके लिए सरकार तथा तत्कालीन परिस्थितियाँ भी बहुत हद तक उत्तरदायी थीं।



(2) सुव्यवस्थित मुद्रा-बाजार एवं बिल बाजार का अभाव :—प्रायः यह कहा जाता है कि रिजर्व बैंक देश में एक सुसंगठित मुद्रा एवं बिल-बाजार की स्थापना में असफल रहा है। देश में मुद्रा-बाजार के समुचित विकास के लिए यह बाजार के विभिन्न अंगों में यथेष्ट सहयोग नहीं उत्पन्न कर सका है। अपने जीवन-काल के प्रायः 44 वर्षों के बाद भी यह देशी बैंकिंग प्रणाली से प्रभावपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने में प्रायः असफल रहा है। इसी प्रकार बिलों के पुनः भुगतान (Re-discount) की सुविधा प्रदान करने में भी प्रायः असफल रहा है। भारतीय मुद्रा-बाजार के विभिन्न हिस्सों में प्रचलित व्याज की दरों में भी अभी तक समानता नहीं आ पायी है। इसी प्रकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के विभिन्न प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप देश में अभी तक समुचित बिल बाजार का विकास नहीं हो पाया है।

(3) कृषि-साख (Agricultural Credit) की समुचित व्यवस्था का अभाव :—रिजर्व बैंक के विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि यह देश में कृषि-साख की समुचित व्यवस्था को प्रोत्साहित नहीं कर सका है। भारत में कृषि-साख प्रदान करने के प्रमुख साधन—महाजन तथा साहूकार—की क्रियाओं को अभी तक बैंक नियन्त्रित नहीं कर सका है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्रामीण साख-सर्वेक्षण समिति की सिफारिशों के आधार पर बैंक ने कृषि-साख को अधिक प्रोत्साहित करना प्रारम्भ कर दिया है। किन्तु फिर भी, अब तक इस क्षेत्र में बहुत अधिक कार्य करने की आवश्यकता है।

इस प्रकार रिजर्व बैंक के कार्यों के विरुद्ध बहुत-सारी आलोचनाएँ दी जाती हैं, किन्तु इन सारी आलोचनाओं के बावजूद देश में आर्थिक स्थायित्व के युग का संचार करने में बैंक ने निस्सन्देह बड़ा ही महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। रिजर्व बैंक ने समय-समय पर अपने कार्यों द्वारा देश की आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ आधार प्रदान करने का सफल प्रयास किया है। आशा की जाती है कि भविष्य में देश के आर्थिक हित में बैंक और अधिक उपयोगी कार्य करेगा।

निम्नांकित तालिका से रि. बैं. बैंक की परिसम्पत्ति एवं दायित्व का अन्दाजा लगता है—

रिजर्व बैंक का दायित्व तथा परिसम्पत्ति

(करोड़ रुपये में)

|                         | 1961 | 1966 | 1973  | 1975  |
|-------------------------|------|------|-------|-------|
| दायित्व (Liabilities)   | 2470 | 3591 | 6905  | 9 666 |
| चलन में नोटों की मात्रा | 1985 | 2866 | 5253  | 6,196 |
| सरकारी जमा              | 106  | 77   | 71    | 542   |
| बैंकों का जमा           | 71   | 104  | 297   | 631   |
| अन्य जमा                | 88   | 194  | 85    | 689   |
| अन्य दायित्व            | 221  | 394  | 1198  | 1614  |
| परिसम्पत्ति (Assets)    | 2470 | 3591 | 6905  | 9,666 |
| स्वर्ण सिक्के तथा धातु  | 118  | 116  | 183   | 183   |
| विदेशी सम्पत्ति         | 136  | 110  | 376   | 633   |
| रुपये की प्रतिभूतियाँ   | 1813 | 2719 | 5,425 | 6,298 |
| अन्य सम्पत्ति           | 403  | 646  | 923   | 2525  |

#### विशेष अध्ययन-सूची

1. Reserve Bank of India : Functions and Working.
2. Reserve Bank of India : Reports on Currency and Finance.
3. S. K. Basu : A Survey of Contemporary Banking Trends, Chapters XII to XIV.
4. K. N. Raj : Monetary Policy of the Reserve Bank of India.



## अध्याय : 52

## स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया

( State Bank of India )

अखिल भारतीय ग्रामीण साख-सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) की सिफारिशों के आधार पर 1 जुलाई, 1955 ई० को इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया के राष्ट्रीयकरण द्वारा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई।

**इम्पीरियल बैंक (Imperial Bank) :—**सन् 1920 ई० के इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया ऐक्ट के अनुसार कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के तीनों प्रेसीडेंसी बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गयी थी। भारत में आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था के इतिहास में इम्पीरियल बैंक की स्थापना का विशेष महत्त्व है। इसकी स्थापना के साथ ही देश में आधुनिक बैंकिंग पद्धति का भी आविर्भाव हुआ। इसकी अधिकृत पूँजी 12.15 करोड़ रुपये तथा परिदत्त पूँजी 5.75 करोड़ रुपये थी। यद्यपि यह एक व्यावसायिक बैंक था तथापि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना के पूर्व यह केन्द्रीय बैंक के बहुत-सारे कार्यों का भी सम्पादन करता था।

**इम्पीरियल बैंक का प्रबन्ध—**इम्पीरियल बैंक ऐक्ट के अनुसार इसका प्रबन्ध एक केन्द्रीय संचालन मण्डल द्वारा किया जाता था। इसमें 16 सदस्य थे। केन्द्रीय संचालन-मण्डल के अतिरिक्त बम्बई, कलकत्ता एवं मद्रास में तीन स्थानीय बोर्ड कार्य करते थे। केन्द्रीय मण्डल ही बैंक की नीति निर्धारित करता था।

**रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व इम्पीरियल बैंक ही देश में केन्द्रीय बैंक के प्रायः सभी कार्यों को करता था।** इस प्रकार आरम्भ में इसका कार्य दोहरा था। देश के केन्द्रीय बैंक के रूप में यह सरकारी कोष-जमा करता था, सरकारी ऋणों की व्यवस्था करता था, बैंकों के बैंक के रूप में कार्य करता था तथा कोषों के एक स्थान से दूसरे स्थान में हस्तांतरण का कार्य भी करता था। साथ ही, एक साधारण हिस्सेदारों के बैंक के रूप में यह व्यावसायिक बैंक-सम्बन्धी प्रायः सभी कार्यों को भी सम्पन्न करता था, किन्तु सन् 1935 में रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् इम्पीरियल बैंक के केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कार्यों को समाप्त कर दिया गया तथा इसके दूसरे कार्यों पर से भी प्रतिवन्ध हटा लिये गये। इसके बाद यह केन्द्रीय बैंक के एजेंट के रूप में कार्य करने लगा। केन्द्रीय बैंक के प्रति-

निधि के रूप में इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी सभी कार्यों को सम्पन्न करता था। यह केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों का जमा प्राप्त करता था और उनपर किसी प्रकार का व्याज नहीं चुकाता था। इम्पीरियल बैंक सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध करता, समाशोधन गृह का कार्य करता तथा एक जगह से दूसरी जगह सरकारी रकम को भेजने का भी कार्य करता था।

इम्पीरियल बैंक व्यावसायिक बैंक के सामान्य कार्यों को भी करता था। वास्तव में, अपने कार्यकाल में यह देश का सबसे बड़ा व्यावसायिक बैंक था।

इन सभी सेवाओं के उपरान्त भी इम्पीरियल बैंक की निरन्तर आलोचना होती रही। इसके निम्नांकित कारण थे :—

(1) भारतीय हितों की उपेक्षा :—यूरोपियनों के हाथ में बैंक का प्रबन्ध होने के कारण भारतीय व्यवसायी फर्मों को यह उतनी सुविधा नहीं प्रदान करता था जितना कि यूरोपियन फर्मों को। साथ ही, यह भारत में विदेशी हितों का समर्थक भी था और भारत के निवासियों को बैंक व्यवस्था में उच्च शिक्षा नहीं प्रदान करता था।

(2) विदेशियों का आधिपत्य :—इम्पीरियल बैंक की अधिकांश पूँजी विदेशियों के हाथ में थी। अतएव, इसका प्रबन्ध भी विदेशियों के हाथ में ही था जिससे वे भारतीय हितों की उपेक्षा करते थे।

(3) शाखा-सम्बन्धी नीति त्रुटिपूर्ण थी :—इम्पीरियल बैंक ने अपनी शाखाएँ उन्हीं स्थानों में स्थापित की थीं, जहाँ पर अन्य बैंकों की शाखाएँ पहले से थीं। इससे वह भारतीय बैंकों से एक प्रकार से अनुचित प्रतियोगिता करता था।

(4) सुव्यवस्थित बिल बाजार के विकास में असफलता :—इम्पीरियल बैंक देश में एक सुव्यवस्थित बिल बाजार की स्थापना भी नहीं कर सका था। यह बिलों के भुगतान की उपेक्षा कर ऋणों को ही प्राथमिकता प्रदान करता था जिसके परिणामस्वरूप देश में बिल बाजार के विकास में यह सक्रिय सहयोग नहीं प्रदान कर सका।

इन्हीं सब कारणों से इस बैंक के राष्ट्रीयकरण की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। फलस्वरूप, अखिल भारतीय



ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) की सिफारिशों के आधार पर इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण किया गया तथा 1 जुलाई, 1955 ई० को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई। इसके फलस्वरूप इम्पीरियल बैंक की समस्त भारत स्थित सम्पत्ति एवं दायित्व स्टेट बैंक के नाम से हस्तांतरित कर दिये गये। इस बैंक की स्थापना का मुख्य उद्देश्य देश की विभिन्न बैंकिंग संस्थाओं तथा सहकारी बैंकों को सहायता पहुँचाना एवं सरकार की आर्थिक नीति को कार्यान्वित करना है।

### स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के मुख्य उद्देश्य (Main Objectives of the State Bank of India)

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना निम्नांकित उद्देश्यों को ध्यान में रख कर की गयी थी—

(1) ग्रामीण साख-व्यवस्था में सरकार की साझेदारी :—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का मुख्य उद्देश्य सहकारी साख-व्यवस्था में सरकार की साझेदारी स्थापित करना था। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्टेट बैंक राज्य सरकारों को ऋण देने के लिए तैयार रहता है।

(2) लाइसेंसदार गोदामों एवं भण्डार-गृहों की स्थापना में सहायता देना :—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया देश के विभिन्न भागों में लाइसेंसदार गोदामों एवं विक्रय समितियों की स्थापना में भी आर्थिक सहायता प्रदान करता है। इससे कृषि-पदार्थों के संचय आदि में बहुत अधिक सुविधा होती है।

(3) छोटे उद्योगों को आर्थिक सहायता देना :—स्टेट बैंक का एक उद्देश्य देश में स्थापित किये गये छोटे-छोटे उद्योगों को ऋण आदि के रूप में आर्थिक सहायता प्रदान करना भी है।

(4) छोटी-छोटी बचतों को प्रोत्साहित करना :—स्टेट बैंक ग्रामीण क्षेत्रों एवं छोटे-छोटे कस्बों में शाखाएँ स्थापित करके बचतों को प्रोत्साहित करता है ताकि इन्हें एकत्र करके देश के औद्योगिक विकास में लगाया जा सके। इस उद्देश्य से बैंक की शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित की जा रही हैं।

(5) धन के स्थानान्तरण की सुविधा प्रदान करना :—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया सस्ती दरों पर धन के स्थानान्तरण की सुविधा भी प्रदान करता है। इससे देश की बैंकिंग-व्यवस्था के विकास में सहायता मिलती है।

स्टेट बैंक की पूँजी :—स्टेट बैंक की अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) 20 करोड़ रुपये तथा परिदत्त पूँजी 5.625 करोड़ रुपये है। सम्पूर्ण पूँजी को एक-एक सौ रुपये के 20 लाख अंशों में विभाजित किया गया है।

बैंक की सम्पूर्ण हिस्सा-पूँजी का 55 प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक एवं केन्द्रीय सरकार ने खरीदा है और शेष 45 प्रतिशत भाग जनता के हाथों में बेचा गया है जिसमें इम्पीरियल बैंक के पुराने हिस्सेदारों को प्राथमिकता दी गयी है।

प्रबन्ध (Management) :—स्टेट बैंक के प्रबन्ध के लिए एक केन्द्रीय मण्डल का निर्माण किया गया है जिसमें एक चेयरमैन, एक उप-चेयरमैन तथा 2 प्रबन्ध संचालकों (Managing Directors) के अतिरिक्त 16 सदस्य हैं। मण्डल के चेयरमैन एवं एक उप-चेयरमैन की नियुक्ति भारत सरकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के परामर्श से करती है। केन्द्रीय मण्डल में चेयरमैन एवं उप-चेयरमैन के अतिरिक्त प्रबन्ध संचालक हिस्सेदारों द्वारा निर्वाचित 6 संचालक तथा रिजर्व बैंक के परामर्श पर केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त 8 संचालक, जिनमें दो ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था एवं सहकारिता के विशेषज्ञ होते हैं, रहते हैं। केन्द्रीय मण्डल के अतिरिक्त मद्रास, बम्बई तथा कलकत्ता में एक-एक स्थानीय मण्डल भी हैं।

### स्टेट बैंक के कार्य

#### (Functions of the State Bank)

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के कार्यों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य; तथा

(ख) साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य।

(क) केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य :—स्टेट बैंक उन स्थानों पर जहाँ रिजर्व बैंक की शाखा नहीं है, इसके एजेंट के रूप में कार्य करता है। इस प्रकार स्टेट बैंक केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी भी कुछ कार्य सम्पन्न करता है। यह सरकारी बैंक के रूप में केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के लेन-देन का कार्य करता है, सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था करता है तथा बैंकों के बैंक के रूप में भी कार्य करता है। इससे यहाँ देश के अन्य बैंक भी अपना धन जमा करते हैं जिससे यह उनके आर्थिक संकट काल में सहायता पहुँचाता है। यह रिजर्व बैंक की ओर से बैंकों के समाशोधन गृह (Clearing house) का भी कार्य करता है।

(ख) साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य :—स्टेट बैंक व्यावसायिक बैंक-सम्बन्धी सामान्य कार्यों को भी सम्पन्न करता है। वास्तव में, यह एक व्यावसायिक बैंक की ही तरह है, यद्यपि साधारण व्यावसायिक बैंकों से इसकी स्थिति कुछ भिन्न है। व्यावसायिक बैंक के रूप में यह साधारणतया निम्नांकित कार्यों को सम्पन्न करता है :—

(1) यह बैंक अन्य व्यावसायिक बैंकों की तरह सरकारी एवं अच्छी प्रतिभूतियों एवं दृजरी बिलों में वित्त-योग करता है।



(2) अन्य व्यावसायिक बैंकों की तरह जनता की बचत को जमा के रूप में प्राप्त करता एवं जनता की बहु-मूल्य वस्तुओं को सुरक्षित रखता है।

(3) बहुमूल्य धातुओं का क्रय-विक्रय करता है।

(4) उद्योग एवं व्यापार में सहायता पहुँचाने के दृष्टिकोण से चल या अचल सम्पत्ति, स्वीकृत प्रतिज्ञा-पत्र, ऋण-पत्र, माल के अधिकारपत्र पर किसी व्यक्ति या संस्था को ऋण प्रदान करने का कार्य करता है।

**वर्जित कार्य (Prohibited Functions) :—**स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम की धारा 34 के अनुसार स्टेट बैंक अपने अंशों तथा अचल सम्पत्ति की जमानत के आधार पर 6 महीने से अधिक की अवधि के लिए ऋण अथवा अग्रिम नहीं दे सकता। बैंक किसी भी ऐसे विनियम-साख पत्र जिसकी अवधि 15 माह से अधिक है, को खरीद नहीं सकता तथा ऐसे साख-पत्र की जमानत पर ऋण अथवा अग्रिम भी नहीं दे सकता है।

1957 ई० के State Bank of India (Subsidiary Bank) Act के अनुसार 1959 में स्टेट बैंक ने हृदरवाद बैंक, तथा 1960 में बैंक ऑफ जयपुर, बैंक ऑफ इन्दौर, बैंक ऑफ बिकानेर, द्रावनकोर बैंक, बैंक ऑफ मैसूर, बैंक ऑफ पटियाला तथा स्टेट बैंक ऑफ सौराष्ट्र की व्यवस्था को अपने हाथ में ले लिया।

**स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की गति :—**1 जुलाई, 1955 ई० से इस बैंक ने अपना कार्य प्रारम्भ किया। अधिनियम के अनुसार इम्पीरियल बैंक की भारत-स्थित समस्त सम्पत्ति एवं दायित्व (Assets and Liabilities) स्टेट बैंक को हस्तांतरित कर दिये गये। उस समय इम्पीरियल

बैंक की 475 शाखाएँ थीं। बैंक का एक प्रमुख उद्देश्य देश के ग्रामीण एवं अविकसित क्षेत्रों में बैंकिंग की सुविधा का प्रसार करना है। इस उद्देश्य से यह निश्चित किया गया था कि स्टेट बैंक प्रथम पाँच वर्षों में 400 नयी शाखाएँ स्थापित करेगा। नयी शाखाओं की स्थापना में जो पहले हानि होगी उसकी क्षति-पूर्ति के लिए एक एकीकरण एवं विकास-कोष (Integration and Development Fund) की स्थापना की गयी। बैंक ने 1961 ई० तक 500 नयी शाखाएँ स्थापित कर ली थीं। इसके फल-स्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग की सुविधा में पर्याप्त वृद्धि हुई है। 30 सितम्बर, 1975 ई० को स्टेट बैंक की कुल 3558 तथा इसके सहायकों (Subsidiaries) की कुल 1760 शाखाएँ थीं। स्टेट बैंक की कुल शाखाओं में 1105 ग्रामीण क्षेत्रों में, 944 अर्द्ध-शहरी क्षेत्रों में, 284 नागरिक क्षेत्रों में तथा 242 बड़े-बड़े नगरों तथा बन्दरगाहों में थीं। इसी प्रकार सहायकों की 707 शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रों, 442 अर्द्ध-नागरिक क्षेत्रों, 135 नागरिक तथा 99 बड़े-बड़े क्षेत्रों में थीं। स्टेट बैंक देश में बैंकिंग व्यवस्था के विकास के लिए अनुसूचित बैंकों तथा सहकारी संस्थाओं को एक सप्ताह में दो बार निःशुल्क एक स्थान से दूसरे स्थान पर रकम भेजने की सुविधा प्रदान करता है। दिसम्बर, 1966 ई० में स्टेट बैंक तथा इसके सहायकों का कुल जमा 797 करोड़ रुपये था जो सम्पूर्ण बैंकिंग व्यवस्था के जमा का प्रायः एक तिहाई भाग है।

इस प्रकार भारतीय बैंकिंग प्रणाली में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया या इसके सहायक बैंक को एक विशेष महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। निम्नांकित तालिका से भी यह स्पष्ट है :—

दिसम्बर, 1975 ई० को (करोड़ रुपये में)

|                             | कुल अनुसूचित बैंक | स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एवं सहायक | 14 राष्ट्रीय कुत बैंक |
|-----------------------------|-------------------|---------------------------------|-----------------------|
| कुल जमा (Total Deposit)     | 13,386            | 3,816 (28.5)                    | 7,448 (55.6)          |
| कुल अग्रिम (Total Advances) | 9,585             | 2,826 (29.5)                    | 5,342 (55.7)          |

देश के लोगों में बैंकिंग-सम्बन्धी आदतों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से स्टेट बैंक ने 1 जनवरी, 1962 ई० से विशेष साख अन्तरण योजना (Special Credit Transfer Scheme) चालू की है। यह योजना निम्न तथा मध्यम आय वाले वर्गों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। इस योजना के अन्तर्गत बैंक के वे ग्राहक जिनका बैंक की किसी भी शाखा में खाता है, देश में किसी भी स्थान से जहाँ पर स्टेट बैंक की शाखा है, अपने हिसाब में जमा करने के लिए 1000 रुपये तक की राशि को बिना किसी खर्च के स्थानान्तरण कर सकते हैं। यह योजना भारतीय बैंकिंग के इतिहास की एक नवीन विशेषता है।

**स्टेट बैंक एवं ग्रामीण साख (State Bank and Rural Credit) :—**स्टेट बैंक का एक प्रमुख कार्य ग्रामीण साख की सुविधा प्रदान करना है। इस उद्देश्य से बैंक विभिन्न प्रकार की सहकारी समितियों को साख की सुविधा प्रदान करता है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की प्रेषण-सुविधाएँ योजना के अन्तर्गत स्टेट बैंक ने 1965 ई० में सहकारी संस्थाओं को 262 करोड़ रुपये की धनराशि की प्रेषण-सुविधाएँ प्रदान की थीं। इसके अतिरिक्त बैंक ने अपनी निजी प्रेषण योजना के अन्तर्गत 224 करोड़ रुपये की धनराशि के प्रेषण की सुविधाएँ प्रदान की थीं। 1965 ई० में बैंक ने सहकारी बैंकों तथा सहकारी केन्द्रीय



भूमि-बन्धक बैंकों को क्रमशः 31.5 करोड़ रुपये तथा 87 करोड़ रुपये की ऋण-सीमा की सहायता प्रदान की थी। बैंक ने भूमि-बन्धक बैंकों को उनके ऋण-पत्रों की जमानत पर ऋण लेकर सहायता की थी। सितम्बर, 1965 ई० के अन्त में स्टेट बैंक के पास सहकारी केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों के 9.1 करोड़ रुपये के ऋण-पत्र थे। 1965 ई० में बैंक ने सरकारी चीनी मिलों को 9.4 करोड़ रुपये के 28 अग्रिम प्रदान किये थे। 1965 ई० में बैंक ने अन्य सहकारी प्रोसेसिंग तथा विपणन समितियों को भी 1.6 करोड़ रुपये के 176 अग्रिमों को स्वीकृति प्रदान की थी। इसके अतिरिक्त बैंक ने कुछ अन्य सहकारी संस्थाओं को भी, जिनमें औद्योगिक सहकारी संस्थाएँ भी सम्मिलित हैं, वित्तीय सहायता प्रदान की थी। 1965 ई० में औद्योगिक सहकारी संस्थाओं को दी गयी मूल्य अग्रिम सहायता की राशि 72.7 लाख रुपये थी। 1965 ई० में बैंक ने अन्य सभी प्रकार की सहकारी संस्थाओं को 87.5 लाख रुपये के 55 अग्रिमों की स्वीकृति प्रदान की थी। इसके अतिरिक्त 1965 ई० में केन्द्रीय तथा राजकीय भण्डार-गृह निगमों को बैंक ने 3.5 करोड़ रुपये के 1,503 अग्रिमों को स्वीकृति प्रदान की थी।

लघु उद्योगों को सहायता (Assistance to Small Scale Industries) :—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का एक प्रमुख कार्य लघु उद्योगों को सहायता प्रदान करना है। गत 10 वर्षों में बैंक के इस कार्य-क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई है। बैंक के उदार ऋण योजना के अन्तर्गत लघु उद्योगों को दी गयी कुल वित्तीय सहायता की राशि 31 दिसम्बर, 1965 ई० को 53.1 करोड़ रुपये थी। इसके अतिरिक्त 5 लाख रुपये से अधिक पूँजी वाले 53 लघु उद्योगों को

1.4 करोड़ रुपये की वित्तीय सहायता प्रदान की गयी थी। भारत सरकार की साख-प्रत्याभूति योजना (Credit Guarantee Scheme) के अन्तर्गत 1965 ई० के अन्त तक बैंक से 28.3 करोड़ रुपये के अग्रिमों के अन्तर्गत बैंक ने 1965 ई० में 17 लघु उद्योगों को 10.7 लाख रुपये की साख सीमा की स्वीकृति प्रदान की थी।

निष्कर्ष—किन्तु, इन सबके बावजूद स्टेट बैंक की कार्यवाही के विरुद्ध बहुत सारी आलोचनाएँ दी जाती हैं। सर्वप्रथम, तो यह कहा जाता है कि सरकारी बैंक होने के कारण इसके दिन-प्रतिदिन के कार्यों में अधिक सरकारी हस्तक्षेप की आशा की जाती है। इससे बैंक की कार्य-पद्धति राजनैतिक स्वार्थों पर आधारित हो जायगी। किन्तु, इस प्रकार की आलोचना में कोई तथ्य नहीं है। इसके विरुद्ध दूसरी आलोचना यह दी जाती है कि स्टेट बैंक नागरिकों को समुचित मात्रा में बैंकिंग की सुविधाएँ नहीं प्रदान करता है। यह आलोचना भी तथ्यहीन जान पड़ती है। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम में यह स्पष्ट रूप में बतलाया गया है कि यह बैंक व्यावसायिक रीति-रिवाजों तथा सिद्धान्तों के आधार पर कार्य करेगा। इस प्रकार इन सब आलोचनाओं के बावजूद यह कहा जा सकता है कि भारतीय बैंक व्यवस्था में स्टेट बैंक का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में, “स्टेट बैंक निजी क्षेत्र को पहले से अधिक लाभान्वित कर रहा है।” [The Bank has been serving the private sector better than before.] स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के आजकल सात सहायक बैंक हैं। इन बैंकों को मिलाकर इसे 4 बैंकों में पुनर्गठित करने की योजना पर विचार किया जा रहा है, किन्तु अभी तक इसे कार्य रूप नहीं दिया जा सका है।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. Reports of the Annual General Meetings of the State Bank of India.
2. S. B. I. Monthly Bulletins.
3. S. R. K. Rao : The Indian Money Market, Chapter III.



## अध्याय : 53

भारत में व्यावसायिक बैंक  
( Commercial Banks in India )

**प्राक्कथन :** भारत में व्यावसायिक बैंकों का इतिहास कोई बहुत पुराना नहीं है। अंगरेज व्यापारियों ने कम्पनी के शासनकाल में ही कुछ एजेन्सी गृहों की स्थापना की थी। भारत में आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था का विकास इन्हीं एजेन्सी-गृहों से आरम्भ हुआ है। इन एजेन्सी गृहों में से कुछ ने आधुनिक तरीके पर बैंकिंग व्यवस्था का भी संगठन किया था, किन्तु भारत में व्यावसायिक बैंकों की प्रगति वास्तव में 1860 ई० के बाद से ही आरम्भ हुई। 1868 ई० तक देश में बैंकों की संख्या बढ़कर 25 हो गयी। इसके बाद 1900 ई० तक इनकी संख्या में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई, किन्तु इसके पश्चात् व्यावसायिक बैंकों का द्रुतगति से विकास आरम्भ हुआ। 1905 ई० के बाद स्वदेशी आन्दोलन से प्रभावित हो कितने ही देशी बैंक स्थापित किये गये। 1935 ई० में रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् मिश्रित पूँजीवाले बैंक को दो वर्गों में विभाजित किया गया :—(1) अनुसूचित बैंक (Scheduled Banks) तथा (2) असूचित बैंक (Non-Scheduled Banks)। अनुसूचित बैंक (Scheduled Banks) वे बैंक हैं जिनका नाम रिजर्व बैंक की द्वितीय अनुसूची में दर्ज रहता है। इनकी चुकता पूँजी (Paid-up-Capital) एवं संचित कोष (Reserve Fund) मिलाकर 50 लाख रुपये के बराबर होना चाहिए। वर्तमान समय में इन्हें अपने कुल Demand तथा Time Deposit का 5 प्रतिशत भाग Reserve Bank के पास नकद मुद्रा के रूप में जमा करना पड़ता है। इसी प्रकार इन्हें प्रति सप्ताह अपना तलपट (Balance Sheet) रिजर्व बैंक के पास भेजना पड़ता है। इस प्रकार अनुसूचित बैंकों को कुछ शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं जिनके बदले में उन्हें रिजर्व बैंक द्वारा बहुत सी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। असूचित अथवा गैर-अनुसूचित बैंकों को अपना नाम रिजर्व बैंक की अनुसूची में दर्ज नहीं कराना पड़ता है।

### भारत में व्यावसायिक बैंकों के कार्य (Functions of the Commercial Banks in India)

भारत में व्यावसायिक बैंक साधारण बैंकिंग के प्रायः

सभी कार्यों को सम्पन्न करते हैं। संक्षेप में, इनके निम्न-लिखित प्रमुख कार्य हैं :—

(1) ग्राहकों से जमा प्राप्त करना :—सर्वप्रथम तो, व्यावसायिक बैंक अपने ग्राहकों का जमा ग्रहण करते हैं। यह इन बैंकों का एक प्रमुख कार्य है। व्यावसायिक बैंक मुख्यतया तीन प्रकार के खाते में जमा ग्रहण करते हैं :—स्थायी जमा खाता, चालू जमा खाता तथा वचत बैंक का खाता। बैंक प्रथम तथा तृतीय श्रेणी के खाते में जमा की गयी रकम पर प्रायः व्याज भी देते हैं।

(2) ऋण प्रदान करना :—व्यावसायिक बैंकों का दूसरा प्रमुख कार्य ऋण अथवा उधार देना है। बैंक विभिन्न प्रकार से ऋण प्रदान करते हैं जिनमें बिलों को पुनः-बट्टा करना (Rediscounting of Bills), अधिविक्रय (Overdraft), नकद-साख (Cash credit), अल्प-कालीन ऋण (Loans at Call and Short notice) आदि प्रमुख हैं। ऋण अथवा उधार देने की क्रिया में व्यावसायिक बैंक साख का सृजन भी करते हैं। इस प्रकार इन बैंकों का यह एक प्रमुख कार्य है। व्यावसायिक बैंक साधारणतया व्यापारियों तथा उद्योगपतियों को अल्प-कालीन कर्ज प्रदान करते हैं। किसानों को ये बहुधा ऋण नहीं प्रदान करते। इसके दो प्रधान कारण हैं—सर्वप्रथम तो, चूँकि इनका अधिकांश जमा अल्पकालीन अवधि का होता है, अतः ये दीर्घकालीन ऋण नहीं प्रदान करते। द्वितीयतः, व्यापारियों तथा व्यवसायियों से इन्हें उच्च दर से व्याज प्राप्त होती है। किन्तु 14 बड़े-बड़े व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद अब किसानों, लघु उद्योगों तथा फुटकर व्यापारियों को ऋण की सुविधा प्रदान करने पर जोर दिया जा रहा है।

(3) एजेन्सी-सम्बन्धी कार्य :—व्यावसायिक बैंक अपने ग्राहकों के एजेन्ट के रूप में भी कार्य करते हैं। इस रूप में ये अपने ग्राहकों का प्रीमियम चुकाते हैं; विनिमय साध्य-पत्रों को एकत्र करते हैं, सुरक्षा-सम्बन्धी कार्य करते हैं।

के आधार पर हुआ हो, किन्तु भारत में मिश्रित पूँजी वाले बैंक शब्द का प्रयोग बहुधा व्यावसायिक बैंक के लिए ही किया जाता है।

1. मिश्रित पूँजीवाले बैंक, वाक्यांश से भारत में व्यावसायिक बैंकों (Commercial Banks) का ही बोध होता है। दूसरे शब्दों में, मिश्रित पूँजीवाले बैंक का तात्पर्य वे बैंकों से है जिनका संगठन मिश्रित पूँजी कम्पनी



धन-सम्बन्धी सलाह देते हैं तथा संस्थाओं के ऋणों का अभिगोपन करते हैं। इस प्रकार व्यावसायिक बैंक अनेक एजेन्सी-सम्बन्धी कार्य भी करते हैं।

(4) विविध कार्य :—इनके अतिरिक्त व्यावसायिक बैंक अपने ग्राहकों के अन्य बहुत सारे कार्यों का भी संपादन करते हैं। उदाहरण के लिए,

- (अ) ये अपने ग्राहकों के जेवर, जायदाद तथा बहुमूल्य क्रागजातों को सुरक्षित रखने के लिए लॉकर्स आदि की सुविधा प्रदान करते हैं;
- (ब) ये धन के स्थानान्तरण की सुविधा भी प्रदान करते हैं;
- (स) ग्राहकों की आर्थिक स्थिति एवं साख के सम्बन्ध में रिपोर्ट देते हैं;
- (द) अंशों एवं ऋण-पत्रों का अभिगोपन करते हैं, तथा
- (य) साख प्रमाण-पत्र (Letter of Credit) जारी करते हैं, इत्यादि।

भारत में व्यावसायिक बैंकों के विकास में

कठिनाइयाँ एवं दोष

(Difficulties and Defects in the Development of Commercial Banking in India)

भारत में व्यावसायिक बैंकों का समुचित विकास नहीं हो पाया है। वास्तव में, इनके विकास के मार्ग में कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ हैं जिनके फलस्वरूप इनका समुचित विकास नहीं हो पाता है। साथ ही, इन बैंकों के कुछ अपने दोष भी हैं जिनके फलस्वरूप इनके विकास का मार्ग अवरुद्ध सा हो जाता है। यद्यपि द्वितीय महायुद्ध के दौरान देश में बैंकों का पर्याप्त विकास हुआ, फिर भी, अभी तक इस क्षेत्र में हमारा देश अन्य देशों से बहुत ही पिछड़ा है। इस प्रकार जबकि स्विट्जरलैंड में प्रति 1333 व्यक्तियों के पीछे एक बैंक तथा इंग्लैंड में 3900 व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है; भारत में प्रति 2 लाख 76 हजार व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है। इससे भारत में बैंकिंग विकास की मन्द गति का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

भारत में व्यावसायिक बैंकों के विकास की मन्द गति के बहुत-से कारण हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

(1) समय-समय पर आनेवाले बैंकिंग संकट (Banking Crisis) :—देश में समय-समय पर बैंकिंग संकट के फलस्वरूप बैंकों का विकास अवरुद्ध सा हो जाता है। संकटकाल में बहुत-से बैंक यों ही फेल कर जाते हैं।

(2) देश की जनता में बैंकिंग-सम्बन्धी आदतों का अभाव :—भारत में प्रति व्यक्ति आय बहुत ही कम है जिसके फलस्वरूप बचत भी बहुत ही कम होती है। इतना ही नहीं, हमारे देश में कुछ व्यक्ति जो थोड़ा-बहुत बचाते हैं, उसे बैंक में रखना नहीं चाहते वरन् उसे अपने पास तक

मुद्रा के रूप में या जमीन के नीचे गाड़ कर रखना ही अधिक सुरक्षित समझते हैं। इस प्रकार भारत के जन-साधारण में बैंकिंग-सम्बन्धी आदतों का सामान्य रूप से अभाव पाया जाता है। इसके कई प्रमुख कारण हैं जिनमें जनता की संकुचित मनोवृत्ति, शिक्षा का अभाव तथा बैंकों की कार्य प्रणाली सम्बन्धी त्रुटियाँ आदि विशेष तौर से महत्वपूर्ण हैं।

(3) सरकारी प्रोत्साहन का अभाव :—भारत में सरकार तथा विभिन्न सरकारी संस्थाओं द्वारा बैंकों को प्रोत्साहन नहीं मिलता। ये संस्थाएँ आम व्यावसायिक बैंकों के साथ अपना सम्बन्ध नहीं रखतीं। रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक तथा अन्य राष्ट्रीयकृत बैंक ही इनके सारे बैंकिंग-सम्बन्धी कार्यों को सम्पन्न करते हैं। इसका भी बैंकों की व्यवस्था पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

(4) विदेशी विनिमय बैंकों से प्रतियोगिता :—भारत में व्यावसायिक बैंकों को विदेशी विनिमय बैंकों से अधिक प्रतियोगिता करनी पड़ती है। भारत का सम्पूर्ण विदेशी व्यापार प्रायः विदेशी विनिमय बैंकों के हाथ में ही है। इनकी आर्थिक स्थिति तथा संगठन भारतीय बैंकों की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ होती है जिससे भारतीय जनता का इनपर अधिक विश्वास रहता है। साथ ही, इन बैंकों की शाखाएँ विश्व के प्रायः सभी प्रमुख व्यावसायिक केन्द्रों में होती हैं। इससे भी विदेशी विनिमय बैंकों को बहुत अधिक लाभ होता है। ये विदेशी बैंक भारतीय बैंकों से देशी व्यापार एवं साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्यों में भी प्रतियोगिता करते हैं जिससे व्यावसायिक बैंकों के साथ व्यापार की कमी रहती है।

(5) स्टेट बैंक तथा देशी बैंक एवं महाजनों से प्रतियोगिता :—भारतीय व्यावसायिक बैंकों को स्टेट बैंक (पहले इम्पीरियल बैंक) तथा देशी महाजनों एवं साहुकारों से भी प्रतियोगिता करनी पड़ती है। देशी बैंक एवं महाजनों की कार्य-प्रणाली सीधी एवं सरल होती है जिससे व्यावसायिक बैंकों को इनसे प्रतियोगिता करना कठिन हो जाता है।

(6) बैंकों की शाखाओं का कम होना :—हमारे देश में शाखा बैंकिंग प्रणाली का प्रचलन है; फिर भी, औसत रूप से व्यावसायिक बैंकों की बहुत कम शाखाएँ हैं। शाखाओं के अभाव में जोखिम का प्रादेशिक वितरण नहीं हो पाता। साथ ही, ग्रामीण क्षेत्रों में शाखाओं के अभाव से जनता में बैंकिंग सम्बन्धी आदतों का विस्तार भी बहुत ही कम हो पाया है।

(7) बैंकों की कार्य-प्रणाली में त्रुटियाँ :—भारतीय व्यावसायिक बैंकों की कार्य-प्रणाली में बहुत-से दोष पाये जाते हैं जिनके चलते इनका समुचित विकास नहीं हो पाता है। इन त्रुटियों में निम्नलिखित प्रधान हैं :—

(क) व्यावसायिक बैंक व्यापारिक बिलों को बहुत कम



प्रोत्साहित करते हैं। ये सरकारी प्रतिभूतियों में ही अधिकांशतः अपनी रकम का विनियोग करते हैं। (ख) ये किसी अन्य व्यक्ति अथवा स्वीकृत प्रतिभूतियों की जमानत पर ऋण देते हैं। पश्चिमी देशों की तरह अपने ग्राहकों को व्यक्तिगत जमानत पर ऋण नहीं देते। इसका कारण यह है कि बैंकों को ग्राहकों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं प्राप्त रहती है। विशेष जानकारी के अभाव में ऋण देना बड़ा ही जोखिमपूर्ण कार्य हो जाता है। पश्चिमी देशों में 'एक व्यापारी एक बैंक' (One man one bank) की प्रथा पायी जाती है, किन्तु हमारे देश में व्यापारी किसी एक बैंक से अपना सम्बन्ध रखना नहीं चाहते। (ग) इसके अतिरिक्त भारत में व्यावसायिक बैंकों में बहुधा पारस्परिक सहयोग का अभाव पाया जाता है। कभी-कभी तो इनमें प्रतियोगिता भी पायी जाती है जिसका इनकी स्थिति पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ता है। (घ) कुछ व्यावसायिक बैंक सामान्य बैंकिंग सिद्धांतों का भी अनुकरण नहीं करते तथा अपने धन को सट्टाबाजी वगैरह में लगाते हैं, ऊँचे-ऊँचे लाभांश का वितरण करते हैं, रक्षित कोष पर जोर नहीं देते आदि।

इनके अतिरिक्त बैंकों की अकुशल सेवा, अंगरेजी भाषा में कार्य, शाखाओं का अभाव आदि कारणों से भी भारत में व्यावसायिक बैंकों की विशेष प्रगति नहीं हो पायी है। इन सब दोषों के कारण भारत में व्यावसायिक बैंकों का समुचित विकास नहीं हो पाया है।

### व्यावसायिक बैंकों के दोषों को दूर करने के सुझाव

इस प्रकार भारतीय व्यावसायिक बैंकों के समक्ष आज अनेकों कठिनाइयाँ हैं तथा इनकी कार्य-प्रणाली भी अत्यंत दोषपूर्ण हैं। देश के आर्थिक विकास के लिए एक सुविकसित बैंकिंग व्यवस्था का विकास आवश्यक है और एक सुविकसित बैंकिंग व्यवस्था के लिए व्यावसायिक बैंक के इन दोषों एवं कठिनाइयों को दूर करना अनिवार्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 1949 ई० के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम ने भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के बहुत-सारे दोषों को दूर कर दिया है, फिर भी, इनके विकास के लिए सामान्य रूप से निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं :—

1. बैंकों में जनता का विश्वास उत्पन्न करने के लिए सक्रिय प्रयास :—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार एवं सरकारी संस्थाओं को प्रमुख व्यावसायिक बैंकों से अपना व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। ऐसा करने से जनता का व्यावसायिक बैंकों में विश्वास बढ़ेगा। सरकार द्वारा बैंकों को स्टाम्प तथा रजिस्ट्रेशन फी आदि में भी छूट देनी चाहिए।

2. अधिक शाखाओं की स्थापना के लिए प्रोत्साहन :—देश में समुचित बैंकिंग व्यवस्था के विकास के लिए

बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रों एवं छोटे-छोटे नगरों में शाखाएँ स्थापित करने के लिए भी प्रोत्साहन देना चाहिए। किन्तु शाखाओं की स्थापना में सदा इस बात को ध्यान में रखना अनिवार्य है कि इससे बैंकों में अनुचित प्रतियोगिता को प्रश्रय नहीं मिले। रिजर्व बैंक एवं स्टेट बैंक ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग-सम्बन्धी सुविधाओं के विस्तार में विशेष सहयोग प्रदान कर सकते हैं।

3. विदेशी विनियम बैंकों के कार्यों पर नियन्त्रण :—विनियम बैंकों के कार्य-क्षेत्र को सीमित करना अनिवार्य है। इनके कार्य-क्षेत्र को केवल आयात-निर्यात तक ही सीमित कर देना चाहिए ताकि ये सामान्य बैंकिंग के कार्यों में व्यावसायिक बैंकों से प्रतियोगिता नहीं कर सकें। 1949 ई० के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम में विनियम बैंकों पर नियन्त्रण की व्यवस्था अवश्य की गयी है, परन्तु इस क्षेत्र में अभी और अधिक तत्परता की आवश्यकता है।

4. देशी बैंकर्स तथा महाजनों पर नियन्त्रण :—देशी बैंकों तथा महाजनों पर भी इसी प्रकार नियन्त्रण की आवश्यकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज भी महाजन तथा साहूकार देश की आर्थिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान कर रहे हैं। फिर भी, इनके कार्यों पर उचित नियन्त्रण लगाकर इन्हें संगठित रूप देना व्यावसायिक बैंकों के विकास के लिए अनिवार्य है।

5. छोटे-छोटे बैंकों का एकीकरण (Amalgamation) :—देश में बैंकिंग व्यवस्था के समुचित विकास के लिए छोटे-छोटे बैंकों का एकीकरण आवश्यक है। 1949 ई० के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम में रिजर्व बैंक को इस प्रकार का अधिकार दिया गया है। अतः रिजर्व बैंक को अलाभकर एवं छोटे-छोटे बैंकों के एकीकरण में शीघ्रता से काम लेना चाहिए।

6. बैंकों की कार्य-प्रणाली में सुधार :—व्यावसायिक बैंकों को अपनी कार्य-प्रणाली में भी आवश्यक सुधार लाने की कोशिश करनी चाहिए। इन्हें अपने धन के विनियोग में अत्यन्त सावधानी से काम लेना चाहिए तथा बैंकिंग के सामान्य सिद्धान्तों का अनुकरण करना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकल व्यावसायिक बैंक इस ओर बहुत अधिक सचेष्ट हैं, किन्तु इस क्षेत्र में अभी और अधिक तत्परता की आवश्यकता होगी। बैंकों को उत्पादक-कार्यों के लिए ही ऋण प्रदान करना चाहिए तथा ऋण-सम्बन्धी जमानत के नियमों को अधिक उदार बनाना चाहिए। स्टेट बैंक को भी व्यावसायिक बैंकों के प्रति अधिक उदार नीति का अनुसरण करना चाहिए।

7. रिजर्व बैंक एवं स्टेट बैंक की सहयोगपूर्ण नीति :—रिजर्व बैंक एवं स्टेट बैंक को भी व्यावसायिक बैंकों के प्रति अनेक उदार नीति का अनुसरण करना चाहिए।



आर्थिक संकट के समय रिजर्व बैंक को सदा व्यावसायिक बैंकों की सहायता के लिए तत्पर रहना चाहिए। इसी प्रकार स्टेट बैंक को भी इन बैंकों के साथ प्रतियोगिता नहीं करनी चाहिए, वरन् प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग की नीति अपनानी चाहिए।

### भारत में व्यावसायिक बैंकों का भविष्य (Future of Commercial Banks in India)

उक्त उपायों द्वारा भारत में व्यावसायिक बैंकों की सारी कृत्रियों को दूर किया जा सकता है। 1949 ई० के बैंकिंग कम्पनीज-अधिनियम के अनुसार रिजर्व बैंक को इन बैंकों पर नियन्त्रण के बहुत-सारे अधिकार दिये गये हैं। साथ ही, रिजर्व-बैंक अधिनियम में भी इस आशय के बहुत-से संशोधन किये गये हैं। आशा है कि रिजर्व बैंक के नेतृत्व में देश के व्यावसायिक बैंक उक्त सुझावों के आधार पर अपने को अधिक संगठित बनाने का प्रयास करेंगे।

जून, 1974 में देश में कुल 73 अनुसूचित बैंक थे जिनकी कुल शाखाओं की संख्या 16,936 थी। जून 1977 में शाखाओं की संख्या बढ़कर 24,666 हो गयी। इनमें से 22 राजकीय क्षेत्र के बैंक थे। इनमें स्टेट बैंक तथा 7 इसके सहायक एवं 14 राष्ट्रीयकृत बैंक थे। देश के कुल बैंकिंग व्यवसाय के प्रायः 84 प्रतिशत भाग राजकीय क्षेत्र के बैंकों के हाथ में है। (जून, 1969 में इनकी केवल 8262 शाखाएँ थीं।) जून, 1973 में उनकी कुल 15,362 शाखाएँ थीं। 1950-51 में इन बैंकों की संख्या 93 थी। बैंकों के सम्मिश्रण के कारण अनुसूचित बैंकों की संख्या में निरन्तर कमी हो रही है। दिसम्बर, 1975 में इनका कुल जमा 13,386 करोड़ रुपये था जिसमें से राजकीय क्षेत्र के बैंक का जमा 11,264 करोड़ रुपये तथा शेष जमा की रकम 2122 करोड़ रुपये अन्य बैंकों की थी। इस वर्ष उनके पास कुल 908 करोड़ रुपये नकद जमा थे, यानि कुल जमा एवं नकद कोष का अनुपात (Cash-deposit ratio) 8 प्रतिशत था। पिछले कुछ वर्षों में भारतीय बैंकों की जमा राशि में बहुत अधिक वृद्धि हुई है जिसका अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :—

| वर्ष        | मांग जमा | सावधि जमा | कुल जमा | नकद जमा का अनुपात |
|-------------|----------|-----------|---------|-------------------|
| 1950-51     | 592.5    | 288.1     | 880.6   | 10.6              |
| 1955-56     | 630.8    | 412.4     | 1043.2  | 8.1               |
| 1960-61     | 719.7    | 1016.3    | 1746.0  | 5.7               |
| 1965-66     | 1426.9   | 1623.0    | 3049.9  | 6.8               |
| 1966-67     | 1649.1   | 1775.7    | 3434.8  | 6.3               |
| मार्च, 1973 | 3754.0   | 4849.0    | 8603.0  | 8.4               |
| मार्च, 1975 | 4963.0   | 6864.0    | 11827.0 | 8.0               |

स्पष्ट है कि पिछले प्रायः 25 वर्षों में बैंकों के कुल जमा में 14-गुना से भी अधिक वृद्धि हुई है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि देश में बैंकिंग-सम्बन्धी आदतों का धीरे-धीरे विकास हो रहा है।

पहले व्यावसायिक बैंक अपने कुल साधनों का अधिकांश भाग अपने संचालकों तथा उनसे सम्बन्धित उद्योगों में ही लगाते थे। अतः इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए वर्षों से इनके राष्ट्रीयकरण की मांग की जा रही थी। परिणामस्वरूप, 19 जुलाई, 1969 को भारत सरकार ने एक अध्यादेश द्वारा 50 करोड़ रुपये से अधिक जमा वाले 14 बड़े-बड़े व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर लिया। व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की विस्तृत व्याख्या अगले अध्याय में की गयी है। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकों की कार्यवाही में आमूल परिवर्तन हुआ है। सर्वप्रथम तो, बैंकों ने कृषि, लघु उद्योग तथा फुटकर व्यापारियों को ऋण देना प्रारम्भ कर दिया है। साथ ही, राष्ट्रीयकृत बैंक ग्रामीण क्षेत्रों तथा ऐसे क्षेत्र में, जहाँ अभी तक बैंकिंग-सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव था, में अपनी शाखाओं का विस्तार कर रहे हैं।

देश में बैंकिंग-सम्बन्धी सेवाओं के विस्तार में राजकीय क्षेत्र के बैंकों का योगदान बड़ा ही महत्वपूर्ण रहा है। राष्ट्रीयकरण के बाद इनकी शाखाओं का विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत अधिक विस्तार हुआ है। निम्नांकित तालिका से यह स्पष्ट है :—

### भारत में व्यावसायिक बैंकों का भौगोलिक वितरण शाखाओं की संख्या

| क्षेत्र                    | जून, 1969        | जून, 1972         | जून, 1977         |
|----------------------------|------------------|-------------------|-------------------|
| ग्रामीण                    | 1832<br>(22.4)   | 4814<br>(35.3)    | 9,536<br>(38.4)   |
| अर्द्ध-शहरी                | 3322<br>(40.1)   | 4,385<br>(32.2)   | 7,210<br>(29.1)   |
| शहरी क्षेत्र               | 1447<br>(17.5)   | 2323<br>(17.1)    | 4,261<br>(17.2)   |
| बड़े-बड़े शहर तथा बन्दरगाह | 1,661<br>(20.0)  | 2100<br>(15.4)    | 3,795<br>(15.3)   |
| कुल                        | 8,262<br>(100.0) | 13,622<br>(100.0) | 24,802<br>(100.0) |

(कोष्ठक के अंक कुल के प्रतिशत को दिखलाते हैं)

इससे स्पष्ट है कि जून, 1969 से जून, 1977 के बीच कुल 16,540 नयी शाखाएँ स्थापित की गयीं। इनमें अधिकांश शाखाएँ राजकीय क्षेत्र के बैंकों की शाखाएँ थीं।



जून 1977 में बैंक की कुल शाखाओं में से 18,902 शाखाएँ राजकीय क्षेत्र के बैंकों की, 780 शाखाएँ प्रादेशिक बैंकों की, तथा शेष निजी क्षेत्र के बैंकों की शाखाएँ थीं। इनमें से स्टेट बैंक तथा उसके सहायकों की शाखाएँ 6,359 तथा 14 राष्ट्रीयकृत बैंकों की 12,543 शाखाएँ थीं।

**लीड बैंक योजना (Lead Bank Scheme) :—** नारिमन समिति तथा गॉडगिल अध्ययन दल के सुझावों के आधार पर 1969 के अन्त में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने बैंकों के विकास को अधिक प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से एक 'Lead Bank Scheme' तैयार किया। इस योजना के अन्तर्गत देश के प्रत्येक जिले में बैंकिंग-सम्बन्धी सेवाओं के विस्तार का कार्य एक राष्ट्रीयकृत बैंक को सौंपा गया है। प्रत्येक बैंक अपने जिले में बैंकों के विकास की क्रिया को तीव्र बनाने के लिए प्रभाव पूर्ण तरीके से कार्य करेगा। बैंकिंग-सम्बन्धी सेवाओं के विकास के साथ-साथ Lead Bank राज्य तथा जिला अधिकारियों से सम्पर्क स्थापित कर उस जिले के आर्थिक विकास के लिए भी कार्य करेगा।

इस उद्देश्य से प्रत्येक बैंक द्वारा पहले उसके अन्तर्गत के जिले का विस्तारपूर्वक सर्वेक्षण किया जाता है। जून, 1974 तक देश के कुल 338 जिलों में सर्वेक्षण का कार्य पूरा हो गया था। साथ ही, कुछ जिलों के चुने हुए क्षेत्रों का अधिक गहन रूप से सर्वेक्षण किया जा रहा है जिसके आधार पर इन जिलों के विकास की कई योजनाएँ तैयार की जा रही हैं। भारत सरकार की एक योजना के अनुसार जून, 1978 तक देश के सभी प्रखंडों में एक-एक शाखा स्थापित करने की व्यवस्था है।

दिसम्बर, 1977 में देश में 318 ऐसे प्रखंड थे जिनमें बैंकों की शाखाएँ नहीं थी।

**कृषि को वित्त (Bank finance for agriculture):—** भारत में व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण का प्रधान उद्देश्य कृषि तथा अन्य कमजोर क्षेत्रों को वित्तीय सहायता प्रदान करना था। इस क्षेत्र में राष्ट्रीयकरण के ब्रह्म बाद संतोषजनक प्रगति हुई है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

| क्षेत्र             | कमजोर क्षेत्र को बैंक साख<br>ऋणी के खातों की संख्या |           | ऋण की रकम (करोड़ रुपये में) |           |
|---------------------|-----------------------------------------------------|-----------|-----------------------------|-----------|
|                     | जून, 1969                                           | जून, 1974 | जून, 1969                   | जून, 1974 |
| कृषि                |                                                     |           |                             |           |
| प्रत्यक्ष वित्त     | 1,60,022                                            | 19,20,911 | 40.52                       | 478.27    |
| परोक्ष वित्त        | 4,461                                               | 2,17,015  | 122.12                      | 228.93    |
| लघु उद्योग          | 50,850                                              | 2,13,429  | 2,51.07                     | 909.70    |
| सड़क एवं जल यातायात | 2,324                                               | 68,201    | 5.49                        | 95.22     |
| चालक एवं छोटे-छोटे  |                                                     |           |                             |           |
| फुटकर व्यापार       | 33,241                                              | 3,51,384  | 19.37                       | 125.43    |
| स्वतः नियोजित       | 7,769                                               | 1,99,171  | 1.91                        | 33.58     |
| शिक्षा              | 1,477                                               | 13,705    | 0.80                        | 3.82      |
| कुल                 | 2,60,142                                            | 29,85,816 | 440.97                      | 1874.98   |

कृषि को अधिकाधिक मात्रा में वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए बहुत-सारे बैंक अधिक प्रयत्नशील हैं। इस उद्देश्य से ये संगठित कार्यक्रमों पर अधिक जोर देते हैं। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने इस उद्देश्य से देश भर में 177 कृषि विकास शाखाओं की स्थापना की है जिन्होंने दिसम्बर, 1974 तक 50 करोड़ रुपये का ऋण प्रदान किया था।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. Reserve Bank of India : Reports on Currency and Exchange.
2. Reserve Bank of India : Functions and Working.
3. B. R. Ambedkar : History of the Indian Currency and Banking.
4. Govt. of India : Reports of the Banking Commission, 1972.
5. Reserve Bank of India : Trends and Progress of Banking in India, 1976-77.



## भारतीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण

### (Nationalisation of Banks in India)

**प्राक्कथन :—**स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से ही भारत में व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की मांग की जाने लगी है। 1954-55 ई० में अखिल भारतीय कांग्रेस महा-समिति द्वारा समाजवादी ढाँचे की सामाजिक व्यवस्था (Socialist Pattern of Society) के आदर्श को अपनाने के बाद तो राष्ट्रीयकरण की मांग को और भी बल मिला। राष्ट्रीयकरण की इस बढ़ती हुई मांग के परिणामस्वरूप ही 1949 ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया (Reserve Bank of India) का राष्ट्रीयकरण किया गया तथा 1955 ई० में इम्पीरियल बैंक ऑफ इंडिया (Imperial Bank of India) का राष्ट्रीयकरण कर तथा अन्य 12 बैंकों को मिलाकर एक स्टेट बैंक ऑफ इंडिया (State Bank of India) की स्थापना की गयी। किन्तु इससे भी व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की मांग में कोई कमी नहीं आई। परिणामस्वरूप अक्टूबर, 1967 ई० में अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के जबलपुर अधि-वेशन में बैंकों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर तत्कालीन वित्त मन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने यह घोषणा की कि फिलहाल देश के व्यावसायिक बैंकों का सामाजिक नियन्त्रण (Social control) किया जायगा और दो वर्षों में यदि सामाजिक नियन्त्रण की नीति सफल नहीं हुई तो व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर विचार किया जायगा।

किन्तु, सामाजिक नियन्त्रण के बाद व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की मांग और जोर पकड़ती ही गयी और अन्ततः 19 जुलाई, 1969 को एक अध्यादेश द्वारा भारत सरकार ने 50 करोड़ रुपये से अधिक जमा वाले देश के 14 प्रमुख व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर लिया।

अब पहले भारत में बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष तथा विपक्ष के विभिन्न तर्कों की व्याख्या की जायगी।

भारत में व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क

(Arguments for Nationalisation of Commercial Banks in India)

भारत में व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में समय-समय पर विभिन्न तर्क दिये जाते रहे हैं जिनमें निम्नांकित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(i) जमाकर्ताओं के हितों की सुरक्षा (Safeguard-  
भा० ख० शा०—38

ing the interest of depositors) :— व्यावसायिक बैंकों का एक प्रमुख कार्य जनता की बचतों को जमा के रूप में स्वीकार करना है। जनसाधारण सुरक्षा अथवा व्याज कमाने के उद्देश्य से ही अपनी बचतों को बैंकों में जमा करते हैं, किन्तु व्यावसायिक बैंक यदा-कदा इनके जमा का दुरुपयोग करते हैं जिसके परिणामस्वरूप समय-समय पर बहुत से बैंकों को अपना कार्य ही बन्द करने के लिए विवश होना पड़ता है तथा जनता का जमा डब जाता है। उदाहरण के लिए, भारत में 1913 से 1921 के बीच के बैंक संकट की अवधि में 1597 बैंक जिनकी कुल परिदत्त पूँजी 19.56 करोड़ रुपये थी, फेल कर गये। इसी प्रकार 1953 से 1960 के बीच 86 बैंक, जिनकी कुल परिदत्त पूँजी 1.24 करोड़ रुपये तथा कुल जमा 3.37 करोड़ रुपये था, बन्द हो गये। इससे स्पष्ट है कि निजी नियन्त्रण के अन्तर्गत के बैंकों में जमाकर्ताओं का हित सदा सुरक्षित नहीं रहता। देश में डालमिया जैन के नियन्त्रण के अन्तर्गत की कम्पनियों की कार्यवाही की जाँच के लिए नियुक्त विवान बोस आयोग का भी यह निष्कर्ष था कि इस वर्ग की कम्पनियों की सभी राष्ट्र-विरोधी तथा समाज-विरोधी क्रियाओं में किसी-न-किसी बैंक का अवश्य ही सहयोग था। अतः जमाकर्ताओं के हितों की सुरक्षा के लिए व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण अनिवार्य है। जमा बीमा निगम (Deposit Insurance Corporation) की स्थापना से छोटे-छोटे जमाकर्ताओं के हित तो सुरक्षित हो गये हैं किन्तु 10,000 रुपये से अधिक के जमा अभी भी असुरक्षित ही हैं।

(2) निजी बैंकों द्वारा साख के अत्यधिक सृजन से स्फीति को बल मिला है (Over-expansion of credit by privately owned commercial banks has greatly added to the inflationary pressure) :— भारत में व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में बहुत यही तर्क भी प्रस्तुत किया जाता है कि निजी नियन्त्रण के अन्तर्गत के व्यावसायिक बैंक अधिकाधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से साख का अनुचित सृजन करते हैं जिससे देश में स्फीति-जनक प्रवृत्तियों को और भी बल मिलता है। डा० ग्यानचन्द (Gyanchand) ने अपनी पुस्तक 'The Menace of Inflation' में इसकी चर्चा करते हुए लिखा है कि "The credit which the banks provide are not merely loans of the savings which is deposited with them by their



clients .... Even the loans which are made from saving give the banks enormous power over the surplus resources of the country which should not be used according to the discretion of self-appointed directors and not unoften in their own interest and that of their business. But as currency and credit differ only in form and not in substance as instruments of exchange, the privately owned institutions are an important source of money supply and exercise this function as stated above without due regard for the interests of the community."

निस्सन्देह रिजर्व बैंक के नियंत्रण के बावजूद व्यावसायिक बैंक अधिकाधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं को ध्यान में रखे बगैर ही अनुचित तरीके से साख का सृजन करने में सफल हो जाते हैं। इस प्रक्रिया में बड़े-बड़े उद्योगपतियों तथा व्यावसायियों को तो असीमित मात्रा में ऋण प्राप्त हो जाता है, किन्तु जिन्हें वित्त की वास्तविक रूप से आवश्यकता होती है, वे इससे वस्तुतः वंचित ही रह जाते हैं। वास्तव में, पिछले कुछ वर्षों में अधिक लाभ तथा आर्थिक शक्ति प्राप्त करने के लोभ में व्यावसायिक बैंकों द्वारा अनियोजित तरीके से साख के प्रसार से देश में स्फीतिजनक प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से प्रभावित हुई हैं और इन्हें नियंत्रित करने से रिजर्व बैंक की साख-नीति वस्तुतः प्रभावहीन रही है।

(3) आर्थिक सत्ता का संकेन्द्रण (Concentration of Economic power):—भारत में प्रमुख व्यावसायिक बैंकों का स्वामित्व कुछ प्रमुख औद्योगिक गृहों के हाथ में ही है जिन्हें इन बैंकों द्वारा बहुत बड़े पैमाने पर ऋण तथा अग्रिम सदा प्राप्त होते हैं। इन औद्योगिक गृहों के प्रतिनिधि प्रमुख व्यावसायिक बैंकों के संचालन-मण्डल के सदस्य होते हैं। इस प्रकार Interlocking of Directorship के द्वारा ये अपने उद्योगों के लिए वित्त प्राप्त करने में समर्थ हो पाते हैं। प्रत्येक बैंक उसी उद्योग को अधिकाधिक ऋण प्रदान करता है जिसमें उसके संचालकों का हित निहित रहता है। यही समाज में आर्थिक शक्ति तथा सत्ता के अनुचित संकेन्द्रण का प्रधान कारण है। उदाहरण के लिए; 1965 ई० के अन्त में बैंकों के कुल अग्रिम का 88.7 प्रतिशत भाग केवल उद्योग तथा वाणिज्य को दिया गया था। रिजर्व बैंक के गवर्नर ने भी इस प्रकार का विचार व्यक्त किया है। अर्वाचनीय ढंग से बैंकों के जमा का प्रयोग करने से आर्थिक शक्तियों का संकेन्द्रण देखने को यदा-कदा मिलता है।

किन्तु, इस प्रकार का तर्क-संवंधा उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि देश में आर्थिक संकेन्द्रण के लिए सरकार

की योजना-सम्बन्धी प्राथमिकताएँ, लाइसेंस नीति तथा आयात-निर्यात नीति भी कम उत्तरदायी नहीं हैं। साथ ही, यह कहना भी तथ्ययुक्त नहीं है कि बैंकों ने अपने हितोंवाली या ऐसे फर्मों में अपने धन का अधिकांश भाग लगाया है जिनमें वे निजी दिलचस्पी रखते हैं। उदाहरण के लिए, 1966 ई० में देश के 20 प्रमुख व्यावसायिक बैंकों ने कुल 1472 करोड़ रुपये अग्रिम के रूप में दिये थे जिनमें 1322 करोड़ रुपये यानी कुल अग्रिम का प्रायः 89.9 प्रतिशत भाग ऐसे फर्मों को दिया गया था जिनमें इनके संचालकों का कोई हित निहित नहीं था। निम्नांकित तालिका से यह अधिक स्पष्ट हो जाता है :—

1966 में निजी क्षेत्र के 20 बड़े-बड़े बैंकों के अग्रिम का वितरण

| मदों                                                | अग्रिम<br>(करोड़ रु० में) | कुल अग्रिम<br>का प्रतिशत |
|-----------------------------------------------------|---------------------------|--------------------------|
| 1. वे अग्रिम जिनमें निदेशकों का हित निहित है        | 50                        | 3.4                      |
| 2. वे अग्रिम जिनमें निदेशकों का नाम-मात्र का हित है | 99                        | 6.7                      |
| 3. वे अग्रिम जिनमें निदेशकों का कोई हित नहीं है     | 1323                      | 89.9                     |
| कुल                                                 | 1472                      | 100.0                    |

दूसरी ओर इस संदर्भ में अधिक दिलचस्प बात यह है कि स्टेट बैंक ने 1966 में अपने कुल अग्रिम का 24 प्रतिशत भाग अपने निदेशकों तथा उनसे सम्बन्धित फर्मों को दिया था।

(4) बैंकिंग सेवाओं के नियोजित विस्तार (Planned expansion of Banking services) के लिए :—देश में बैंकिंग सेवाओं के नियोजित विस्तार के लिए भी व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण आवश्यक बतलाया जाता है। देश की प्रायः 80 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में निवास करती है और देश के ग्रामीण क्षेत्रों में अब भी बैंकों का विस्तार विल्कुल ही नहीं हुआ है। साथ ही, भिन्न-भिन्न राज्यों में बैंकिंग-सम्बन्धी सेवाओं के विस्तार में धीरे-धीरे विषमता पायी जाती है। महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु, पश्चिमी बङ्गाल तथा केरल आदि राज्यों में अन्य राज्यों की अपेक्षा बैंकिंग-सम्बन्धी सुविधाओं का अधिक विस्तार



हुआ है। यह इस बात से स्पष्ट है कि जबकि केरल में औसत रूप से प्रति 58 वर्ग मील में एक बैंक है, जम्मू कश्मीर में प्रति 6151 वर्गमील तथा उड़ीसा में प्रति 1075 वर्गमील में एक बैंक है।

ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सम्बन्धी सेवाओं के विस्तार की भी बहुत अधिक आवश्यकता है, किन्तु इसमें अल्प-काल में बहुत ही कम लाभ की आशा की जाती है। अतः राष्ट्रीयकरण के वगैर ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग-सम्बन्धी सेवाओं का समुचित विस्तार सम्भव नहीं है।

(5) आर्थिक विकास की योजनाओं में सहयोग के लिए :—बैंकों के राष्ट्रीयकरण से देश की जनता का भारतीय बैंकिंग प्रणाली में विश्वास बढ़ेगा जिससे बैंकों की जमा राशि में अधिक वृद्धि की सम्भावना है। इससे भारत सरकार को धन-प्राप्ति का एक ऐसा साधन प्राप्त होगा जिसमें निरन्तर वृद्धि होती जायगी। स्पष्टतः इससे आर्थिक विकास की पंचवर्षीय योजनाओं के कार्यान्वयन में बहुत अधिक सहायता की आशा की जाती है।

किन्तु इस प्रकार का तर्क बिल्कुल तथ्यहीन जान पड़ता है; क्योंकि निजी क्षेत्र के बैंक भी छोटी-छोटी वचतों को एकत्र करने में राजकीय क्षेत्र के बैंकों से पीछे नहीं हैं। साथ ही, इनका जमा भी अनुत्पादक कार्यों में नहीं लगाया गया है।

(6) महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों के लिए ऋण-प्राप्ति में सुविधा :—भारतीय बैंकों पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि ये बहुधा केवल बड़े-बड़े उद्योगों तथा महत्त्वपूर्ण व्यावसायिक इकाइयों को ही कर्ज प्रदान करते हैं। कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात व्यापार, जिनका देश की अर्थ-व्यवस्था में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, के लिए साख प्रदान करने में ये कोई विशेष रुचि नहीं दिखलाते।

इस तर्क में सत्य की मात्रा अधिक अवश्य जान पड़ती है जैसा कि राष्ट्रीयकरण के पूर्व इनके ऋणों का वितरण निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है—

| ऋण-प्राप्ति के क्षेत्र | कुल ऋण का प्रतिशत |
|------------------------|-------------------|
| 1. उद्योग              | 61.3              |
| 2. व्यापार             | 24.4              |
| 3. वित्तीय संस्थाएँ    | 3.3               |
| 4. कृषि                | 0.2               |
| 5. लघु उद्योग          | 4.6               |
| 6. व्यवसाय             | 0.6               |
| 7. विविध               | 2.6               |

कुल 100.0

इस प्रकार स्पष्ट है कि राष्ट्रीयकरण के पूर्व बैंकों के कुल ऋण का केवल 0.2 प्रतिशत भाग कृषि तथा 4.6 प्रतिशत लघु उद्योगों को प्राप्त हुआ था। इन क्षेत्रों की

अवहेलना का एक कारण यह भी है कि इनमें जोखिम की मात्रा बहुत अधिक पायी जाती है। केवल राष्ट्रीयकृत बैंक ही इतना अधिक जोखिम वहन कर सकते हैं। अतः कृषि, लघु-उद्योग तथा निर्यात व्यापार की अधिकाधिक सहायता प्रदान करने के लिए भी व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण आवश्यक बतलाया जाता है।

भारत में व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में तर्क

(Arguments against Nationalisation of Commercial Banks in India)

इसके विपरीत कुछ लोग भारत में बैंकों के राष्ट्रीयकरण को सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण से हितकर नहीं मानते। व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में ये बहुधा निम्नांकित तर्क प्रस्तुत करते हैं :—

(1) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को व्यावसायिक बैंकों के नियंत्रण के सम्बन्ध में यों ही बहुत व्यापक अधिकार प्राप्त हैं :—भारतीय बैंकिंग अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया जो देश का केन्द्रीय बैंक है, को देश के व्यावसायिक बैंकों के नियमन एवं नियंत्रण के सम्बन्ध में अत्यन्त व्यापक अधिकार प्रदान किये गये हैं। सामाजिक नियंत्रण कार्यक्रम के अन्तर्गत तो रिजर्व बैंक को और भी व्यापक अधिकार प्रदान किये गये थे। रिजर्व बैंक द्वारा इन अधिकारों के समुचित रूप से प्रयोग करने पर व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। रिजर्व बैंक के ये अधिकार निम्नांकित विवरण से अधिक स्पष्ट हो जाते हैं—

(क) व्यवस्थापन पर नियंत्रण (Control over management)—रिजर्व बैंक किसी भी बैंक के अध्यक्ष अथवा किसी निदेशक को हटा सकता है, निदेशक मंडल में अपना प्रतिनिधि (Nominee) रख सकता है तथा प्रमुख कार्याधिकारी की नियुक्ति में भी हस्तक्षेप कर सकता है।

(ख) निरीक्षण (Supervision)—रिजर्व बैंक किसी भी बैंक के खाते का पूर्ण रूप से निरीक्षण कर सकता है तथा किसी भूल को सुधारने का आदेश दे सकता है। साथ ही, एक करोड़ से अधिक के सभी अग्रिम के लिए व्यावसायिक बैंकों को रिजर्व बैंक की पूर्व अनुमति लेनी पड़ती है।

(ग) बैंकों के विस्तार पर नियंत्रण (Regulation over expansion of Banks) :—रिजर्व बैंक की अनुमति के बगैर कोई भी बैंक कोई नयी शाखा नहीं खोल सकता। इसी प्रकार यह छोटे-छोटे बैंकों को मध्यम अथवा बड़े आकार के बैंकों से मिलाने का आदेश भी दे सकता है।

(घ) साख-नियंत्रण (Credit control)—रिजर्व बैंक की साख-नियंत्रण के सम्बन्ध में भी व्यापक अधिकार प्राप्त



है। इसे जमा तथा ऋण पर व्याज की दरों को निश्चित करने का अधिकार प्राप्त है। 1972 ई० के एक संशोधन के अनुसार व्यावसायिक बैंक को कुल जमा का कम-से-कम 27 प्रतिशत भाग तरल साधन के रूप में रखना पड़ता है। इसमें सरकारी प्रतिभूतिमाँ भी सम्मिलित हैं।

सारांश यह है कि बैंकिंग व्यवसाय के क्षेत्र में कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जिस पर रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का प्रभावपूर्ण नियंत्रण नहीं हो। ऐसी स्थिति में व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण लगभग अनावश्यकसा-ही प्रतीत होता जान पड़ता है।

(2) कुल जमा का एक बहुत बड़ा भाग पहले से भी राजकीय क्षेत्र में विद्यमान है—यह तर्क देना कि व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण से सरकार को जमा के रूप में एक बहुत बड़ी रकम प्राप्त होगी, बिल्कुल तथ्यहीन है। वास्तव में, देश के व्यावसायिक बैंकों के कुल जमा का एक बहुत बड़ा भाग पहले से ही स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा इसके सहायक बैंकों के हाथ में है। इनके अतिरिक्त पोस्ट ऑफिस बचत बैंक-व्यवस्था है जिसके द्वारा सरकार जनता की बचतों का एक बड़ा भाग एकत्र करती है। 31 मार्च, 1966 को कुल पोस्टल जमा 641 करोड़ रुपये था। इनके अतिरिक्त राजकीय क्षेत्र में औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्तीय निगम, औद्योगिक विकास बैंक, यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया तथा जीवन बीमा निगम आदि हैं जिनके द्वारा पूँजी बाजार का एक बहुत बड़ा भाग सरकारी क्षेत्र में चला जाता है। यदि सांस्थानिक वित्त के क्षेत्र में जीवन बीमा निगम (Life Insurance Corporation) के कार्यों को भी ध्यान में रखा जाय तो इससे सरकारी क्षेत्र का महत्त्व बहुत ही बढ़ जाता है। इनके द्वारा सरकार बहुत हद तक निजी क्षेत्र को नियन्त्रित करने में समर्थ हो जाती है।

(3) राष्ट्रीयकरण से सम्पूर्ण शक्ति एक केन्द्रीय संस्था के हाथ में केन्द्रित हो जायगी—जिसके निर्णय सभी के लिए बाध्य होंगे। दूसरे शब्दों में, इससे एक बहुत ही छोटे वर्ग के व्यक्तियों के हाथ विशाल आर्थिक शक्ति का संकेन्द्रण हो जायगा। इससे जमाकर्ताओं तथा ऋण लेनेवालों को नौकर-शाही के इशारे पर चलना होगा। दूसरे शब्दों में, इससे लोग एक प्रकार के Post Office Socialism का अनुभव करेंगे। राष्ट्रीयकरण से लोचपूर्ण प्रयोजन एवं उद्योग के लिए क्षेत्र के बहुत ही सीमित हो जाने की भी संभावना है।

(4) यह कहना भी सत्य नहीं है कि व्यावसायिक बैंक केवल अपने संचालकों तथा इनसे संबंधित कम्पनियों को ही कर्ज तथा अग्रिम प्रदान करते हैं। वास्तव में, इनके ऋण तथा अग्रिम पर रिजर्व बैंक का प्रभावपूर्ण नियंत्रण रहता है तथा बैंकों को अपने तल-मट में इन्हें दिखलाना भी पड़ता है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस प्रकार का अग्रिम कोई बहुत बड़ा भी नहीं है। उदाहरण के लिए, 1966 ई० में निजी क्षेत्र के 20 प्रमुख अधिसूचित

बैंक के कुल जमा का केवल 11 प्रतिशत भाग संचालकों तथा इनसे सम्बन्धित कम्पनियों में था जबकि राजकीय क्षेत्र के बैंकों द्वारा 26 प्रतिशत भाग उनके संचालकों तथा उनसे सम्बन्धित कम्पनियों को दिया गया था।

(5) व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण से इनकी कुशलता में भी कमी आ जायगी :—इस प्रकार का तर्क जीवन बीमा निगम तथा अन्य राजकीय संस्थाओं की कार्यवाही के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार की अकुशलता का एक प्रमाण जीवन बीमा निगम के विनियोग से मिल सकता है। निगम द्वारा लाखों रुपये अवांछनीय ढंग से विनियोजित किये गये थे। हरिदास मुंद्रा का मुकदमा इसका सबसे बड़ा उदाहरण है।

(6) कृषि तथा लघु उद्योगों के लिए धन—व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में सर्वाधिक प्रधान तर्क यह दिया जाता है कि ये कृषि एवं लघु उद्योग के लिए ऋण नहीं प्रदान करते, किन्तु इस प्रकार का आरोप बहुधा युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि लघु उद्योगों तथा कृषि को ऋण प्रदान करना कई कारणों से बड़ा ही कठिन कार्य है। सर्वप्रथम लघु उद्योगों का उदाहरण लिया जाय। लघु उद्योगों के कर्ज चुकाने की शक्ति (Credit worthiness) के संबंध में पता लगाना बड़ा ही कठिन कार्य है। साथ ही, इनकी आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में पता लगाना भी कठिन कार्य है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि बैंकों को सदा तरलता एवं सुरक्षा को ध्यान में रखकर ही ऋण देना पड़ता है; क्योंकि बैंक अपने जमाकर्ताओं की रकम के Trustees की तरह होते हैं।

व्यावसायिक बैंकों द्वारा कृषि को ऋण प्रदान करना तो और भी कठिन कार्य है। कृषि के क्षेत्र में ऋण प्रदान करने की समस्या ग्रामीण क्षेत्रों में बिखरे हुए लगभग 6 करोड़ व्यक्तिगत किसानों को ऋण देने की है जो बहुधा जीवन-निर्वाह स्तर पर कृषि का कार्य करते हैं। इनमें से अधिकांश की ज़ोतें अनार्थिक हैं। इन किसानों को ऋण प्रदान करना व्यावसायिक बैंकों के लिए व्यावहारिक नहीं जान पड़ता। कृषि तथा किसानों को ऋण प्रदान करने के लिए सहकारी संस्थाएँ पिछले 60-65 वर्षों से विशेष रूप से कार्य करती हैं, किन्तु सहकारिता आन्दोलन भी अपने उद्देश्य की पूर्ति में मुख्यतः असफल ही रहा है। अतः किसानों की साख-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के सहकारिता आन्दोलन को ही सबल आधार प्रदान करना नितान्त आवश्यक है।

बैंकों का सामाजिक नियन्त्रण  
Social Control over Commercial Banks)

देश में व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की बढ़ती हुई मांग के परिणामस्वरूप अक्टूबर, 1961 ई० में अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति ने अपने अधिवेशन में बैंकों



## भारतीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण

597

के सामाजिक नियन्त्रण के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पारित किया।

किन्तु, बैंकों के सामाजिक नियन्त्रण का आशय क्या है? प्रो० जी० डी० एच० कोल (G. D. H. Cole) जैसे कुछ लेखकों के अनुसार बैंकों के सामाजिक नियन्त्रण का तात्पर्य बैंकों का राष्ट्रीयकरण अथवा समाजीकरण है, किन्तु भारतीय संदर्भ में समाजीकरण तथा राष्ट्रीयकरण पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। वास्तव में, जबकि व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण का आशय सरकार द्वारा बैंकों के स्वामित्व तथा नियन्त्रण दोनों से है, सामाजिक नियन्त्रण का तात्पर्य कुछ सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा अधिकाधिक मात्रा में बैंकों का नियमन एवं नियंत्रण है। इस नीति के अन्तर्गत बैंकों का स्वामित्व इनके हिस्सेदारों के ही हाथ में रहेगा तथा इनकी व्यवस्था इनके द्वारा चुने गये संचालक मण्डल के द्वारा ही की जायगी, किन्तु सरकार को इनके लिए एक पूर्णकालिक अध्यक्ष की नियुक्ति का अधिकार प्रदान किया गया जो एक प्रोफेसनल बैंकर होगा। अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के प्रस्ताव के अन्तर्गत सामाजिक नियन्त्रण की व्याख्या निम्न प्रकार से की गयी थी :

“Social control means greater participation of banks with effective state guidance in the mobilization of deposits and distribution of credit to the socially desirable sectors of the economy.” इसके अनुसार सामाजिक नियन्त्रण के अन्तर्गत निम्नांकित बातों का समावेश आवश्यक है :—

(क) गांधी में बैंकिंग-सम्बन्धी आदर्शों के प्रसार तथा बचत को एकत्र करने के उद्देश्य से ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों का अधिकाधिक प्रसार; (ख) कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात के लिए प्राथमिकता के आधार पर ऋण प्रदान करना; (ग) विकास-सम्बन्धी योजनाओं के अनुरूप बैंकों का विकास जिससे ये योजना के लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक हो सकें; तथा (घ) साख के अत्यधिक संकेन्द्रण को रोकना।<sup>1</sup>

बैंकों के सामाजिक नियन्त्रण सम्बन्धी विधेयक, 1967 :—बैंकों को सामाजिक नियन्त्रण के अन्तर्गत लाने के उद्देश्य से 23 दिसम्बर, 1967 को श्री मोरारजी देसाई ने संसद के समक्ष एक विधेयक प्रस्तुत किया जो 1968 ई० में कानून बन गया तथा 1 फरवरी, 1969 से लागू किया गया। इस विधेयक के अन्तर्गत बैंकों पर

प्रभावपूर्ण नियन्त्रण के लिए निम्नांकित कदम उठाये जाने की व्यवस्था थी :—

(i) सर्वप्रथम तो, प्रत्येक बैंक के लिए एक पूर्णकालिक अध्यक्ष होगा जो बैंक व्यवसायी (Professional banker) होगा। उसका कार्यकाल 5 वर्षों का होगा। उसकी नियुक्ति अथवा बर्खास्तगी के लिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की पूर्व अनुमति आवश्यक होगी।

(ii) बैंकों के संचालक मण्डल में कम-से-कम दो निदेशक ऐसे होंगे जिन्हें कृषि, लघु उद्योग तथा सहकारिता के सम्बन्ध में व्यावहारिक अनुभव हो।

(iii) कोई भी बैंक अपने निदेशकों तथा उन उद्योगों को जिनमें उनका हित निहित हो ऋण नहीं प्रदान करेगा।

(iv) लगातार बैंकिंग अधिनियम तथा रिजर्व बैंक के निदेशों को उल्लंघन करनेवाले बैंक के सम्पूर्ण कारोबार को रिजर्व बैंक अपने हाथ में ले सकता है।

(v) एक राष्ट्रीय साख परिषद् (National Credit Council) की स्थापना की व्यवस्था थी जिसमें 25 सदस्य होंगे। वित्त मन्त्री इसके अध्यक्ष होंगे। रिजर्व बैंक के गवर्नर, योजना आयोग के उपाध्यक्ष, वित्त मन्त्रालय के सचिव तथा कृषि-पुनर्वित्त निगम के अध्यक्ष के अतिरिक्त इसके 20 अन्य सदस्य होंगे जो विभिन्न हितों के विशेषज्ञ होंगे। इस परिषद् का मुख्य कार्य बैंकों के लिए साख-वितरण के सम्बन्ध में व्यापक नीति का निर्धारण तथा विभिन्न साख-संस्थाओं की साख-सम्बन्धी नीति में समन्वय स्थापित करना होगा।

इस प्रकार सामाजिक नियन्त्रण की नीति के अन्तर्गत बैंकों पर अधिक प्रभावपूर्ण नियन्त्रण की व्यवस्था की गयी थी। साथ ही, सरकार द्वारा इस सन्दर्भ में एक राष्ट्रीय बैंकिंग नीति की भी घोषणा की गयी थी। इस राष्ट्रीय बैंकिंग नीति में निम्नांकित पांच बातों का समावेश था :—

(i) जमाकर्ताओं का हित सुरक्षित होना चाहिए।

(ii) देश में मौद्रिक स्थायित्व बना रहना चाहिए।

(iii) बैंकिंग नीति का प्रधान उद्देश्य आर्थिक विकास के क्रम में सहायता प्रदान करना होना चाहिए।

(iv) साधनों के वितरण में प्राथमिक क्षेत्रों को प्राथमिकता देनी चाहिए।

of economic power and misdirection of resources. The banking system is an important intermediary through which the savings of the community are channelised, and is a key constituent of our economic life. We are all agreed that its policies must serve the basic social and economic objectives.”

1. दिसम्बर, 1967 में संसद में सामाजिक नियन्त्रण-सम्बन्धी नीति की घोषणा करते हुए श्री मोरारजी देसाई ने निम्नांकित विचार व्यक्त किया था :—“Our fundamental aim within the frame-work of democratic socialism, is to regulate our social and economic life or to attain the optimum growth rate for our economy and to prevent at the same time any monopolistic trend, concentration



(v) साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग होना चाहिए।

इस प्रकार कुल मिलाकर सामाजिक नियन्त्रण की नीति देश के आर्थिक हित को ध्यान में रखकर तैयार की गयी थी। इससे आर्थिक विकास के क्षेत्र में बैंकों से महत्वपूर्ण सहयोग की आशा की जाती थी।

**चौदह बड़े-बड़े व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण**  
(Nationalisation of 14 Major Commercial Banks)

किन्तु, सामाजिक नियन्त्रण की नीति भी राष्ट्रीयकरण के हिंसायतियों की आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं कर सकी तथा बैंकों के राष्ट्रीयकरण की माँग निरन्तर जारी रही। 1969 में कांग्रेस महासमिति के बंगलोर अधिवेशन में सामाजिक नियन्त्रण की कटु आलोचना हुई। तत्कालीन गृह-मन्त्री चौहान ने इसकी आलोचना करते हुए यह विचार व्यक्त किया था कि "राष्ट्रीयकरण के बगैर सामाजिक नियन्त्रण का कोई अर्थ नहीं होता तथा मात्र सामाजिक नियन्त्रण के बगैर राष्ट्रीयकरण एक प्रपंच मात्र है।" (Social control without nationalisation has no meaning and nationalisation without Social control could be a fraud.)

अतः अभी सामाजिक नियन्त्रण की स्थाही भी नहीं सूख पायी थी कि 19 जुलाई, 1969 को एक अध्यादेश द्वारा भारत सरकार ने 50 करोड़ रुपये से अधिक जमा वाले निम्नांकित 14 बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया :—

- (1) सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया,
- (2) बैंक ऑफ इण्डिया,
- (3) पंजाब नेशनल बैंक,
- (4) बैंक ऑफ बड़ौदा,
- (5) युनाइटेड कॉमिशियल बैंक,
- (6) कैनारा बैंक,
- (7) युनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया,
- (8) डेना बैंक,
- (9) सिंडिकेट बैंक,
- (10) युनियन बैंक ऑफ इण्डिया
- (11) इलाहाबाद बैंक,
- (12) इण्डियन बैंक,
- (13) बैंक ऑफ महाराष्ट्र तथा
- (14) इण्डियन ओवरसीज बैंक।

इस प्रकार सरकार ने एक कलम से ही 2742 करोड़

रुपये के अतिरिक्त जमा पर अपना अधिकार कर लिया। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा इसके सहायकों के साथ-साथ इन चौदह बैंकों को मिलाकर सरकार का अब कुल बैंक जमा के 85 प्रतिशत से भी अधिक भाग पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो गया।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण की घोषणा करते हुए प्रधान मन्त्री ने अपने एक प्रसारण में यह एलान किया था कि बैंकिंग व्यवस्था जैसी संस्था, जिसका राष्ट्र के करोड़ों निवासियों के जीवन से अत्यधिक घनिष्ठ रूप में सम्बन्ध है, को अधिक व्यापक सामाजिक उद्देश्य से प्रेरित होना चाहिए तथा राष्ट्रीय प्राथमिकताओं एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्य करना चाहिए। इसीलिए यह माँग की जाती रही है कि बड़े-बड़े बैंकों पर केवल सामाजिक नियन्त्रण ही नहीं होना चाहिए वरन् इन्हें सरकारी स्वामित्व के अन्तर्गत लाना चाहिए। प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण जनता की बचत को एकत्र करने तथा उसे उत्पादक कार्यों में लगाने वाली संस्थाओं को राजकीय स्वामित्व के अंतर्गत लाने की ओर पहला कदम है।<sup>1</sup> (The nationalisation of major commercial banks is a significant step in the process of public control over the principal institutions for the mobilisation of people's savings and canalising them towards productive purposes.)

**राष्ट्रीयकरण के उद्देश्य (Objectives of Nationalization) :—**भारत सरकार द्वारा प्रमुख बैंकों के राष्ट्रीयकरण के निम्नांकित प्रधान उद्देश्य बतलाये गये हैं :—

(1) अर्थ-व्यवस्था के विकास की गति को तीव्रतर बनाना (Accelerating the growth of the Economy) :—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राष्ट्रीयकरण के बाद प्रमुख क्षेत्रों में बैंक-साख के प्रवाह में वृद्धि की जायगी। साथ ही, अबतक के उपेक्षित क्षेत्रों में भी इसके प्रवाह में वृद्धि होगी। इस प्रकार आर्थिक विकास की गति तीव्र होगी जिसका निर्धनता तथा बेरोजगारी की समस्या पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा और साथ ही, समाज में धनी तथा निर्धन वर्गों के बीच विषमता में भी कमी होगी।

(2) देश में बचत को अधिक प्रभावपूर्ण तरीके से एकत्र करना तथा इसे देश की सामाजिक एवं आर्थिक प्राथ-

the funds entrusted to them while at the same time, making credit available according to national priorities. No bank, whether in public or private sector, can abandon the test of viability of credit transactions. The experiment of social control is a continuing one. It aims at socialization of credit without nationalisation of banking."

1. बंगलोर अधिवेशन में बैंकों के राष्ट्रीयकरण को तत्कालीन परिस्थितियों में अनावश्यक बतलाते हुए तत्कालीन उप-प्रधान मन्त्री तथा वित्त मन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने एक पृथक् टिप्पणी में निम्नांकित विचार व्यक्त किया था : "Mere nationalisation will not provide more resources. Banks are the custodians of people's savings and it is only natural that they exercise a degree of care in deploying



मिकताओं के अनुसार प्रयोग में लाना (To mobilise more effectively the country's savings and to channelise them in conformity with nation's social and economic priorities) सम्भव होगा।

(3) बैंकों पर से चन्द व्यक्तियों के नियंत्रण को समाप्त करना (Removal of control over banks by a few)।

(4) कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात व्यापार के लिए पर्याप्त मात्रा में साख की व्यवस्था (Provision of adequate credit for agriculture, small industries and export) बैंकों के राष्ट्रीयकरण के द्वारा ही सम्भव होगा।

(5) बैंकों की व्यवस्था को पेशेवर व्यवस्थाओं के हाथ सुपुर्द करना (The giving of a professional bent to bank management)।

(6) नये साहसोद्यमियों के दश को प्रोत्साहित करना (The encourage and foster the growth of progressive and new entrepreneurs)।

(7) ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग-संबंधी सुविधाओं का विस्तार (To extend banking facilities in unbanked and under banked centres, especially in rural areas)।

(8) बैंक के कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण को समुचित सुविधा तथा सेवा की शर्तों में सुधार (The provision of adequate training as well as reasonable terms of services for the bank staff)।

25 जुलाई, 1969 को संसद में इस सम्बन्ध में एक विधेयक पारित हुआ जो आगे चलकर अधिनियम बन गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत सभी राष्ट्रीयकृत बैंकों को समान मूल्य के आधार पर 75 करोड़ रुपये मुआवजा देने की व्यवस्था थी। मुआवजे की रकम प्रतिज्ञापत्र या शेयर सर्टिफिकेट के रूप में दी जायगी जो 10 वर्षों के बाद परिपक्व होंगे। साथ ही, इन पर 4½ प्रतिशत वार्षिक व्याज भी चुकाई जायगी। किन्तु, विदेशों में स्थित इन बैंकों की शाखाओं के सम्बन्ध में यह लागू नहीं होगा, यदि उन देशों के कानून के अनुसार सरकारी बैंकों को वहाँ काम काज करने की इजाजत नहीं है।

किन्तु, बैंकों के राष्ट्रीयकरण अधिनियम को कुछ लोगों ने सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी तथा सर्वोच्च न्यायालय ने बहुमत से राष्ट्रीयकरण को दो आधार पर अवैध करार किया—सर्वप्रथम तो सभी बैंकों का राष्ट्रीयकरण नहीं कर सरकार ने केवल इन 14 बैंकों के प्रति भेद-भाव (Hostile discrimination) किया था। द्वितीयतः, इस अधिनियम के अन्तर्गत मुआवजे की रकम

भी अपर्याप्त थी। अतः बैंकों के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में पुनः एक नया विधेयक लाना पड़ा जिसमें इन त्रुटियों को दूर करने का प्रयास किया गया। इस नये अधिनियम में बैंकों को अधिक मुआवजा दिया गया। साथ ही, भेद-भाव की भावना को समाप्त करने के लिए यह व्यवस्था की गयी कि राष्ट्रीयकृत बैंकों के संचालक अथवा हिस्सेदार भी नये बैंकिंग व्यवसाय की स्थापना कर सकते हैं।

भारतीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध तर्क (Arguments against Nationalisation) :—अब यह प्रश्न है कि क्या बैंकों का राष्ट्रीयकरण उचित है तथा इससे आर्थिक विकास के क्षेत्र में यथोचित सहयोग प्राप्त हो सकता है? वास्तव में, भारत सरकार द्वारा प्रमुख बैंकों के इस राष्ट्रीयकरण की कई कारणों से आलोचना की गयी है। इसमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

(1) राजनीतिक निर्णय (Political decision) :— 14 प्रमुख व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण या सम्बन्ध में सरकार का निर्णय जिस पृष्ठभूमि तथा जितनी जल्दी-बाजी में लिया गया था उसे देखकर इसे राजनीतिक निर्णय ही कहा जा सकता है। वास्तव में, कांग्रेस के दोनों गुटों के पारस्परिक मतभेद के फलस्वरूप सत्तारूढ़ कांग्रेस ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए ही ऐसा कदम उठाया था। यह इस बात से स्पष्ट है कि दिसम्बर, 1963 में भारत सरकार ने एक बैंकिंग आयोग (Banking Commission) की नियुक्ति की थी। किन्तु इसकी सिफारिशों के पूर्व ही बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर देना राजनीतिक निर्णय ही कहा जा सकता है।

(2) राजनीतियों का प्रभुत्व :—राष्ट्रीयकरण से बैंकों की व्यवस्था में राजनीतियों के प्रभुत्व में वृद्धि की आशा की जाती है। जिस प्रकार से देश का सहकारिता आन्दोलन पराजित राजनीतियों का कार्य-क्षेत्र बन गया है उसी प्रकार-सत्तारूढ़ दल बैंकों के संचालक मण्डल में भी अपने लोगों को रखना प्रारम्भ कर देगा। देश के राजकीय क्षेत्र के प्रायः सभी उद्योगों के साथ यही बात पायी जाती है और बैंकों का संचालन राजनीतियों के हाथ में आने से पुनः बैंकों की समग्र सत्ता का कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रीयकरण हो जायगा जो समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के लिए निश्चय ही हानिकारक सिद्ध होगी।

(3) नौकरशाही का प्रभुत्व :—राष्ट्रीयकृत बैंकों के संचालन में उसी लालफीतेशाही तथा कागजी कार्यवाही के प्रभावपूर्ण होने की आशा है जो अन्य सरकारी संस्थाओं तथा वितीय कार्यालयों में पायी जाती है। इससे राष्ट्रीयकरण का मूल उद्देश्य ही समाप्त हो जायगा।

(5) क्षेत्रीय संकीर्णता :—राष्ट्रीयकरण के अन्तर्गत



एक प्रमुख समस्या इस बात को लेकर भी उत्पन्न हो गयी है कि राष्ट्रीयकृत बैंकों के संचालक मण्डलों में राज्य सरकारों का कितना प्रतिनिधित्व हो? कुछ राज्य सरकारों ने तो यह मांगना भी प्रारम्भ कर दिया है कि बैंकों द्वारा उनके क्षेत्र में संग्रहीत राशि उन्हीं राज्यों में विनियोग की जाय। इस प्रकार की मांग देश की एकता तथा क्षेत्रीय संतुलन की भावना के विपरीत है। यदि इसे स्वीकार कर लिया गया तो असम, उड़ीसा, बिहार, जम्मू कश्मीर जैसे पिछड़े हुए राज्यों के विकास में राष्ट्रीयकरण से कोई भी सुविधा नहीं प्राप्त होगी।

(5) छोटे-छोटे हितों का प्रतिनिधित्व भी साख के विद्रोह के विरुद्ध है :—राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकों के संचालक-मण्डल में छोटे-छोटे हितों के प्रतिनिधित्व की जो मांग की जाती है वह भी स्वस्थ नहीं है। इससे संचालक मण्डल में बहुधा ऐसे व्यक्ति आ-जायेंगे जिन्हें बैंकों की वास्तविक कार्यवाही के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं रहती, अतः इस सम्बन्ध में भी आदर्श की जगह व्यावहारिकता को ही कसौटी मानना चाहिए।

### बैंकों के राष्ट्रीयकरण को कैसे सफल बनाया जाय ?

इस प्रकार व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की कटु आलोचना की जाती है, किन्तु अब तो इनका राष्ट्रीयकरण एक वास्तविकता बन गया है। अतः अब प्रश्न यह है कि व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण को कैसे सफल बनाया जाय? वास्तव में, भारतीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण सरकार तथा बैंक कर्मचारियों के लिए एक चुनौती है। यदि राष्ट्रीयकरण से जनता को अधिक सुविधाएँ नहीं मिलेंगी तथा कृषि, लघु उद्योग एवं निर्यात को अधिकाधिक मात्रा में सहायता नहीं प्राप्त होगी तो राष्ट्रीयकरण के विरोधियों की धारणाएँ सही ही निकलेंगी। अतः राष्ट्रीयकरण को सफल बनाने के लिए निम्नांकित उपायों को कार्य में लाना अनिवार्य है :—

(1) बैंक के कर्मचारियों को मनोवृत्ति में परिवर्तन :—सर्वप्रथम तो, राष्ट्रीयकरण की सफलता बैंक कर्मचारियों की मनोवृत्ति में आमूल परिवर्तन पर निर्भर करती है। अभी तक बैंक कर्मचारी अपने को जनता का सेवक नहीं समझते जिससे देश में बैंकिंग-सम्बन्धी सेवाएँ बहुत ही कम लोकप्रिय हो पायी हैं। वास्तव में, अब बैंक कर्मचारियों की इस धारणा पर काय करना चाहिए कि 'ग्राहक ही राजा है' (Customer is the king) तथा 'कोई भी ग्राहक छोटा नहीं है' (No Customer is small)। इस उद्देश्य से बैंक कर्मचारियों के लिए स्थान-स्थान पर प्रत्यास्मरण कार्यक्रमों (Refresher courses)

की व्यवस्था की जानी चाहिए जिनमें इन्हें जनसेवा की मूल भावना की प्रेरणा दी जानी चाहिए।

(2) जमा-संग्रह पर जोर :—बैंकों के कर्मचारियों की मनोवृत्ति में परिवर्तन के साथ-साथ राष्ट्रीयकृत बैंकों के जमा में वृद्धि के लिए भी विशेष प्रयत्नों का आयोजन करना चाहिए। इस उद्देश्य से ग्रामीण क्षेत्रों में इन बैंकों को अपनी शाखाओं का विस्तार करना चाहिए। भारतीय कृषि से देश की कुल राष्ट्रीय आय का लगभग 50% भाग प्राप्त होता है। साथ ही, आयोजित विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत पिछले प्रायः 20-25 वर्षों में कृषि के क्षेत्र में अरबों रुपये की पूँजी लगी हुई है, फिर भी कृषक-परिवार कुल वचतों का केवल 2.3 प्रतिशत भाग ही संग्रह करते हैं। ग्रामीण क्षेत्र में बैंकों की शाखाओं के विस्तार में 'एक कर्मचारी कार्यालय' (One-man office) तथा 'चलते-फिरते बैंकों' (Mobile banks) से भी बहुत अधिक सहायता मिल सकती है। संतोष का विषय है कि राष्ट्रीयकरण के बाद नयी शाखाओं की स्थापना में ग्रामीण तथा अर्द्ध-शहरी क्षेत्रों को ही प्राथमिकता दी जा रही है। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों के विस्तार में बहुत अधिक सहायता मिल रही है।

(3) लघु उद्योगों को वित्त :—भारत में प्रायः 1.2 लाख लघु औद्योगिक संस्थान हैं, जिनमें कोई 29 लाख व्यक्ति नियोजित हैं तथा जो समस्त निर्माण-क्षेत्र का लगभग 52 प्रतिशत भाग सामान तैयार करते हैं। अतः राष्ट्रीयकृत बैंकों को लघु उद्योगों के विकास में भी उदारतापूर्वक साख प्रदान करना चाहिए। इस प्रकार के उद्योगों को लगभग 400-500 करोड़ रुपये के वार्षिक साख की आवश्यकता पड़ेगी। बैंकों को इतनी मात्रा में इन्हें वित्त प्रदान करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त इन्हें तकनीकी सहायता प्रदान करनी चाहिए।

(4) कृषि के लिए वित्त :—भारत में व्यावसायिक बैंकों के विरुद्ध बहुधा यह शिकायत भी की जाती है कि ये कृषि तथा किसानों को ऋण नहीं प्रदान करते। उदाहरण के लिए, 1968 ई० में प्रमुख अधिसूचित बैंकों के कुल विनियोग का केवल 0.2 प्रतिशत भाग ही कृषि को दिया गया था। अतः राष्ट्रीयकृत बैंकों को कृषि के लिए वित्त प्रदान करने की विशेष व्यवस्था करनी चाहिए। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (1969) ने अपने प्रतिवेदन में यह विचार व्यक्त किया था कि 1973-74 तक ग्रामीण साख के लिए लगभग 4000 करोड़ रुपये की वार्षिक रकम की आवश्यकता होगी। राष्ट्रीयकृत बैंकों को इसका एक बड़ा भाग स्वयं पूरा करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। ऐसा करने में इन्हें किसी विशेष प्रकार की कठिनाई नहीं होगी।



(5) निर्यात (Export) :—देश के आर्थिक विकास के लिए निर्यात-सम्बन्धी उद्योगों पर अधिक जोर देना भी आवश्यक है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत निर्यात में 7 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का आयोजन था जिसके परिणामस्वरूप निर्यात की कुल मात्रा के 1968-69 में 934 करोड़ रुपये से बढ़कर 1973-74 में 1900 करोड़ रुपये तथा 1980-81 तक 3000 करोड़ रुपये होने की आशा है। निर्यात में इतनी अधिक वृद्धि के लिए निर्यात-सम्बन्धी उद्योगों को विशेष सहायता की आवश्यकता है। राष्ट्रीयकृत बैंकों को इस सम्बन्ध में वित्त, तकनीकी सलाह तथा विक्रय-सम्बन्धी मार्ग-प्रदर्शन की व्यवस्था करनी चाहिए। वास्तव में, पश्चिमी देशों के बैंकों की तरह भारतीय बैंकों को भी विदेशी बाजारों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए पृथक विभागों की स्थापना की जानी चाहिये तथा निर्यातकों को इस सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की सहायता प्रदान करनी चाहिए।

(6) सरकारी नीति (Government Policy) :—व्यावसायिक बैंकों को अपने-अपने कार्यक्षेत्र में सरकार द्वारा निर्धारित विकास की योजनाओं तथा प्राथमिकताओं की जानकारी रखनी चाहिए। इन्हें अपनी व्यापक नीति का निर्धारण इन्हीं योजनाओं को ध्यान में रखकर करना चाहिए। ऐसा करने से ही देश के आर्थिक विकास में ये राष्ट्रीयकृत बैंक सहयोग प्रदान कर सकते हैं।

(7) राष्ट्रीयकृत बैंकों को क्षेत्रीय निगमों में संगठित किया जाना चाहिए—बैंकों के राष्ट्रीयकरण को सफल-भूत बनाने के लिए इनके संगठन में आमूल परिवर्तन लाने की आवश्यकता है, किन्तु सभी राष्ट्रीयकृत बैंकों को मिलाकर एक संगठन का निर्माण कार्यकुशलता की दृष्टि से उत्तम नहीं होगा। जीवन बीमा निगम (Life Insurance Corporation) की कार्यवाही से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। बैंकिंग आयोग ने भी इन्हें चार-पाँच क्षेत्रीय निगमों के रूप में संगठित कर देने का सुझाव दिया है। इन क्षेत्रीय निगमों को अपने रोज-ब-रोज के कार्यों के सम्पादन में पर्याप्त स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। ऐसा करने से राष्ट्रीयकरण के उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है।

(8) बैंकों की सेवाओं में सुधार—भारतीय बैंकों की सेवाएँ अभी तक अत्यन्त निम्न कोटि की रही हैं। इससे जनसाधारण को बैंकों से अपना कारोबार रखने में कठिनाइयों का अनुभव होता है। अतः बैंकों की सेवाओं में सुधार की प्रबल आवश्यकता है। इसके लिए बैंक कर्मचारियों की चुनाव की प्रणाली को अधिक वैज्ञानिक रूप देना होगा। साथ ही, कर्मचारियों के लिए दैनिक न्यूनतम कार्यक्रम निर्धारित कर देना चाहिए। और कर्मचारियों की स्थिति के सम्बन्ध में समय-समय पर जागरूकता प्राप्त करने के लिए विशेष समितियाँ तथा आयोगों का संगठन करना चाहिए।

इस प्रकार उपरोक्त उपायों द्वारा राष्ट्रीयकृत बैंकों की कार्यवाही को अधिक सुलभ बनाकर इन्हें देश के आर्थिक विकास के लिए लाभदायक बनाया जा सकता है। वास्तव में, राष्ट्रीयकरण कोई रामबाण औषधि नहीं है, अतः इसे सफल बनाने के लिए बैंकिंग-सम्बन्धी नीतियों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने होंगे तथा इनका दृढ़ता के साथ पालन करना होगा अन्यथा विकास का क्रम गतिशील होने के बजाय शिथिल हो जायगा तथा जनता का बैंकों पर से विश्वास ही समाप्त हो जायगा। अतः आशा है कि रिजर्व बैंक के नेतृत्व में राष्ट्रीयकृत बैंक ऐसी क्रांतिकारी नीतियों का कुशलतापूर्वक कार्यान्वयन करेंगे जिससे देश के आर्थिक विकास में ये यथोचित सहयोग प्रदान कर सकें।

### राष्ट्रीयकृत बैंकों की प्रगति (Progress of Nationalised Banks)

जुलाई, 1969 में 14 बड़े-बड़े व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया। इसके बाद इन बैंकों की कार्यवाही में महत्वपूर्ण प्रगति हुई है। व्यावसायिक बैंकों के भौगोलिक वितरण में सुधार हुआ है, शाखाओं का द्रुत-गति से विस्तार हुआ, बड़े पैमाने पर जमा का एकत्रीकरण हुआ तथा प्राथमिक क्षेत्र को दिये जानेवाले साख की मात्रा में भी तीव्र गति से वृद्धि हुई है। (There has been a considerable expansion on geographical and functional coverage of the Commercial Banks, with massive branch expansion, large scale deposit mobilization and a significant rise in credit extended to priority sectors.) निम्नांकित विवरण से यह स्पष्ट है :—

(i) नयी शाखाएँ (New Branches)—राष्ट्रीयकरण के बाद राष्ट्रीयकृत बैंकों ने नयी शाखाओं की स्थापना में विशेष रूप से अभिरुचि दिखलाना प्रारम्भ कर दिया है। शाखाओं की स्थापना में मुख्यतः ग्रामीण तथा ऐसे क्षेत्र जहाँ पर बैंकिंग की सुविधा नहीं है, को प्रधानता दी जाती है। जून, 1969 में 14 बैंकों की कुल 4,133 शाखाएँ थीं जो बढ़कर जून, 1972 तक कुल 7189 तथा जून, 1977 में 12543 शाखाएँ हो गयीं; यानी राष्ट्रीयकरण के प्रथम आठ वर्षों में इन 14 बैंकों की 8410 नयी शाखाएँ स्थापित की गयीं। इनमें से अधिकांश शाखाएँ ग्रामीण एवं अर्द्ध-शहरी क्षेत्रों में स्थापित की गयी हैं।

शाखाओं की संख्या में वृद्धि से जहाँ जून, 1969 में देश में प्रति 6,000 जनसंख्या पर बैंक की एक शाखा थी वहाँ पर जून, 1974 में प्रति 32 हजार तथा 1977 में 22 हजार जनसंख्या पर बैंक की एक शाखा हो गयी। नयी शाखाओं की स्थापना में अविकसित राज्यों को प्राथमिकता दी गयी जिसके परिणामस्वरूप प्रति बैंक शाखा औसत जनसंख्या असम में जून, 1969 में 19,8,000 से घटकर जून, 1977 में



41,000, बिहार में 2 लाख से घटकर 48,000, उड़ीसा में 2,12,000 से घटकर 41,000 तथा त्रिपुरा में 2,76,000 से घटकर 32,000 हो गयी। इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में 1969 में कुल शाखाओं का 22.4 भाग था जो बढ़कर जून 1977 में 38.4 प्रतिशत हो गया।

(ii) कृषि, लघु उद्योग तथा अन्य उपेक्षित क्षेत्रों को अधिक ऋण :- राष्ट्रीयकरण के पूर्व व्यावसायिक बैंक कृषि, लघु उद्योग, फुटकर व्यापार तथा निर्यात आदि को केवल नाम-मात्र की सहायता प्रदान करते थे, किन्तु राष्ट्रीयकरण के बाद इन उपेक्षित क्षेत्रों को प्राथमिकता के आधार पर सहायता प्रदान की जा रही है। जून, 1969 में इन बैंकों द्वारा कृषि तथा अन्य उपेक्षित क्षेत्रों को बैंकों के कुल ऋण का केवल 14.5 प्रतिशत ऋण दिया गया था। इसका प्रतिशत बढ़कर जून, 1970 में 21.3 प्रतिशत, 1971 में 22 प्रतिशत, जून, 1972 में 23 प्रतिशत तथा सितम्बर, 1973 में 25 प्रतिशत हो गया। 1971 तथा 1972 में उपेक्षित क्षेत्रों को दिये जाने वाले ऋण में प्रगति केवल नाम मात्र की हुई थी। इसके लिए राष्ट्रीयकृत बैंकों के प्रबंधकों का कहना है कि ऋणों की गुणात्मक वृद्धि पर अधिक जोर होने के कारण इसमें कम ही वृद्धि दिखलाई दे रही है, किन्तु इस प्रकार की व्यवस्था को किसी भी तरह संतोषजनक नहीं माना जा सकता। वास्तव में, पहले इन प्राथमिक क्षेत्रों (Primary sectors) की ऋण-सम्बन्धी आवश्यकताओं का अनुमान लगा लेना चाहिए और तब इन बैंकों के ऋण देने की प्रक्रिया के सरलीकरण द्वारा इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास करना चाहिए। 'Lead Bank' योजना से इन क्षेत्रों में बहुत अधिक सहायता की आशा की जाती है। इस योजना के अन्तर्गत अबतक देश के कुल 337 जिलों में से 270 जिलों का सर्वेक्षण पूरा किया गया है तथा इनमें से 100 जिलों में जिला-स्तर पर परामर्शदात्री समितियों की स्थापना भी की गयी है, किन्तु इस सम्बन्ध में सर्वाधिक प्रबल आवश्यकता अबतक के इस उपेक्षित क्षेत्र के ऋण देने की प्रक्रिया को यथासंभव सरल बनाने की है।

कृषि तथा अन्य उपेक्षित क्षेत्रों को दिये जानेवाले ऋण में वृद्धि का अन्दाजा ऋणी व्यक्तियों के खातों (Borrower's account.) की संख्या में वृद्धि से भी लगता है। जून, 1969 में इस वर्ग के खातों की संख्या 2.6 लाख थी जो बढ़कर जून, 1970 में 9.3 लाख; जून, 1971 में 11.9 लाख; दिसम्बर 1972 में 17.3 लाख तथा दिसम्बर, 1975 में 29.8 लाख हो गयी।

इस अवधि में कृषि-क्षेत्र को दिये गये ऋण में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। जून, 1969 में इन बैंकों का कृषि

तथा किसानों के पास बकाया ऋण केवल 38 करोड़ रुपये था, यह बढ़कर दिसम्बर, 1974 में 709 करोड़ रुपये हो गया। गहन कृषि-विकास के लिए रिजर्व बैंक की योजना के अनुसार इन बैंकों ने Village adoption scheme के अन्तर्गत कुछ गाँवों को चुनकर कार्य करना भी प्रारम्भ किया है।

(iii) जमा में वृद्धि - राष्ट्रीयकरण के बाद राष्ट्रीयकृत बैंकों के जमा की राशि में भी पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिए, जून, 1969 से जून, 1975 के बीच की अवधि में सभी व्यावसायिक बैंकों की जमा राशि 4646 करोड़ रुपये से बढ़कर 11,827 करोड़ रुपये हो गयी। इस प्रकार 6 वर्षों में कुल जमा में 150 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसमें से सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की जमा राशि में 7492 करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। केवल 14 राष्ट्रीयकृत बैंकों की जमा राशि में 3490 करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। इस अवधि में राष्ट्रीयकृत बैंकों की जमा राशि में वृद्धि का अनुपात क्रमशः 15:3 प्रतिशत, 17.5 प्रतिशत तथा 22.5 प्रतिशत था। स्पष्ट है कि इस अवधि में मूल्य-तल में वृद्धि के बावजूद बैंक जमा में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

इस प्रकार राष्ट्रीयकरण के बाद राष्ट्रीयकृत बैंकों ने निस्संदेह पर्याप्त प्रगति की है, किन्तु इसके बावजूद बैंकिंग सम्बन्धी सेवाओं के वितरण का क्षेत्रीय विषमता में अभी तक बहुत ही कम कमी हुई है। परिणामस्वरूप, आज भी भिन्न-भिन्न राज्यों में बैंकिंग सम्बन्धी सेवाओं का वितरण एक समान नहीं है। भिन्न-भिन्न राज्यों में बैंकों की शाखाओं का वितरण निम्न तालिका से स्पष्ट है :-

विभिन्न राज्यों में शाखाओं का वितरण तथा प्रति कार्यालय जनसंख्या

| राज्य             | बैंक कार्यालय की संख्या |              | प्रति बैंक कार्यालय जनसंख्या (हजार में) |              |
|-------------------|-------------------------|--------------|-----------------------------------------|--------------|
|                   | 30 जून, 1969            | 30 जून, 1977 | 30 जून, 1969                            | 30 जून, 1977 |
| आन्ध्रप्रदेश      | 567                     | 1844         | 71                                      | 24           |
| असम               | 74                      | 354          | 198                                     | 41           |
| बिहार             | 273                     | 1176         | 207                                     | 48           |
| गुजरात            | 752                     | 1883         | 34                                      | 14           |
| हरियाणा           | 172                     | 604          | 57                                      | 17           |
| हिमाचल प्रदेश     | 42                      | 253          | 80                                      | 15           |
| जम्मू एवं काश्मीर | 35                      | 285          | 114                                     | 16           |
| केरल              | 601                     | 1703         | 35                                      | 13           |
| मध्यप्रदेश        | 343                     | 1247         | 116                                     | 33           |
| महाराष्ट्र        | 1118                    | 2671         | 44                                      | 19           |
| मणिपुर            | 2                       | 23           | 479                                     | 47           |

1. Economic Survey, 1972-73, p. 6.

2. Annual Report and Trend and Progress of Banking in India, R. B. I. Bulletin. Aug. 1977



## भारतीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण

603

| राज्य               | बैंक कार्यालय की संख्या |              | प्रति बैंक कार्यालय जनसंख्या (हजार में) |              |
|---------------------|-------------------------|--------------|-----------------------------------------|--------------|
|                     | 30 जून, 1969            | 30 जून, 1977 | 30 जून, 1969                            | 30 जून, 1977 |
| मेघालय              | 7                       | 41           | 141                                     | 25           |
| कर्नाटक             | 756                     | 2138         | 38                                      | 14           |
| नागालैंड            | 2                       | 22           | 205                                     | 23           |
| उड़ीसा              | 100                     | 529          | 212                                     | 41           |
| पंजाब               | 346                     | 1271         | 42                                      | 11           |
| राजस्थान            | 364                     | 1022         | 70                                      | 25           |
| तमिलनाडु            | 1060                    | 2307         | 37                                      | 18           |
| त्रिपुरा            | 5                       | 49           | 276                                     | 32           |
| उत्तर प्रदेश        | 747                     | 2724         | 18                                      | 33           |
| पश्चिमी बंगाल       | 504                     | 1626         | 87                                      | 27           |
| केन्द्रशासित प्रदेश | 392                     | 1031         | —                                       | —            |
| कुल भारत            | 8262                    | 24,802       | 65                                      | 22           |

## प्रादेशिक ग्रामीण बैंक

(Regional Rural Banks)

हाल में ही, भारत सरकार ने एक अध्यादेश जारी कर देश भर में प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों की स्थापना का निर्णय किया है। यह निर्णय ग्रामीण क्षेत्रों की साख की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए सम्यक् जान पड़ता है। अवतक इस क्षेत्र में साख के लिए सहकारी साख समितियों पर ही मुख्य रूप से निर्भर किया जा रहा था। किन्तु इन समितियों की कार्यवाही संतोषप्रद नहीं रही है। इधर ग्रामीण क्षेत्रों में इन समितियों द्वारा दी जानेवाली साख की मात्रा में वृद्धि अवश्य हुई है। उदाहरण के लिए 1951-52 में अल्प एवं मध्यकालीन सहकारी साख की मात्रा केवल 25 करोड़ रुपए थी जो बढ़कर 1971-72 में 608 करोड़ रुपए हो गयी। किन्तु, फिर भी ग्रामीण साख की आवश्यकताओं को देखते हुए यह रकम निश्चय ही अर्याप्त है। जून, 1972 ई० में देश में कुल 1,58,000 प्राथमिक सहकारी समितियाँ थीं जो देश के कुल 95 प्रतिशत गाँवों में विस्तृत थीं। किन्तु इन समितियों की औसत सदस्य संख्या केवल 253 ही थी। इन सदस्यों के अन्तर्गत भी केवल 40 प्रतिशत सदस्यों को ही ऋण मिल पाया था। सहकारी समितियों की इस असंतोषप्रद कार्यवाही के कई कारण हैं किन्तु रिजर्व बैंक के अनुसार इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण अत्यधिक मात्रा में बकाया ऋण (over dues) ही है। कारण जो भी हो, यह निर्विवाद है कि केवल सहकारिता के आधार पर ही ग्रामीण साख की समस्याओं का उचित तरीके से समाधान नहीं किया जा सकता है।

राष्ट्रीयकरण के बाद व्यावसायिक बैंक भी ग्रामीण

साख के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। जून, 1969 में व्यावसायिक बैंकों द्वारा कृषि को प्रत्यक्ष ऋण के रूप में केवल 54 करोड़ रुपये की रकम दी गयी थी जो बढ़कर दिसम्बर, 1974 में 540 करोड़ रुपये हो गयी। इस प्रकार व्यावसायिक बैंकों द्वारा दिये जानेवाले साख में पाँच वर्षों में प्रायः 10 गुनी वृद्धि उत्साहजनक अवश्य है, किन्तु व्यावसायिक बैंकों द्वारा दिये गये कुल साख का यह केवल 7 प्रतिशत भाग ही है। राष्ट्रीयकरण के बाद व्यावसायिक बैंकों ने ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर शाखाओं की स्थापना की है। वस्तुतः, 1969 के बाद जितनी शाखाओं की स्थापना हुई है उनमें 50 प्रतिशत शाखाएँ केवल ग्रामीण क्षेत्रों में ही स्थापित की गयी हैं। किन्तु सहकारिता आन्दोलन तथा व्यावसायिक बैंक दोनों ही के विस्तार में प्रादेशिक विषमता बहुत अधिक पायी जाती है। परिणामस्वरूप, आज भी देश के अधिकांश भागों में बैंकों तथा सहकारी संस्थाओं का अभाव पुराया जाता है। (Several parts of the country remain under-banked and under-financed.) साथ ही, दोनों के द्वारा दिये गये कर्ज से मुख्यतः बड़े-बड़े किसान ही लाभान्वित हो पाये हैं।

इस प्रकार ऐसा अनुमान किया जाता है कि कुल ग्रामीण साख की आवश्यकता का प्रायः एक-तिहाई भाग ही सांस्थानिक साख (institutional credit) का है। किन्तु वर्तमान समय में विशेषतः कृषि क्षेत्र में नये तकनीक के प्रयोग के कारण ग्रामीण साख की समस्या में गुणात्मक तथा परिमाणमक दोनों ही दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। भारतीय कृषक अब पिछड़ेपन के कुचक्र से निकलने के लिए दृढ़ संकल्प है, अतएव ऐसी स्थिति में केवल वित्त के अभाव से इस मार्ग में कोई बहुत बड़ी बाधा नहीं उपस्थित होनी चाहिए, इसी बात को ध्यान में रखकर श्रीमती गाँधी के 20 सूत्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में साख की अधिकाधिक सुविधा प्रदान करने के उद्देश्य से प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों की स्थापना पर जोर दिया जाने लगा है। इस सम्बन्ध में भारत सरकार द्वारा सितम्बर 1975 के अन्त में एक अध्यादेश जारी किया गया था।

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 2 अक्टूबर, 1975 को देश के कुछ चुने हुए जिले में इस प्रकार के पाँच प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों की स्थापना की गयी। ये पाँच बैंक उत्तर प्रदेश के गोरखपुर तथा मुरादाबाद जिले में, हरियाणा के भिवानी जिले में, राजस्थान के जयपुर जिले में तथा पश्चिमी बंगाल के मालदा जिले में स्थापित किये गये हैं। ये पाँच बैंक क्रमशः सीडिकेट बैंक, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, पंजाब नेशनल बैंक, युनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा समर्थित हैं। तत्पश्चात् कुछ और प्रादेशिक बैंकों की स्थापना की गयी। इनमें से एक बिहार के भोजपुर तथा



रोहतास जिले में पंजाब नेशनल बैंक के तत्वावधान में स्थापित किया गया है। अध्यादेश के अनुसार इन प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों की कुल हिस्सा पूँजी का 50 प्रतिशत भाग भारत सरकार द्वारा, 15 प्रतिशत भाग सम्बन्धित राज्य सरकार द्वारा तथा 35 प्रतिशत भाग सम्बन्धित व्यावसायिक बैंक द्वारा प्रदान किया जायगा। इनकी व्यवस्था 9 सदस्यों के एक संचालक मंडल द्वारा की जायगी जिसके अध्यक्ष तथा तीन अन्य सदस्यों की नियुक्ति भारत सरकार द्वारा, 3 सम्बन्धित व्यावसायिक बैंकों द्वारा तथा 2 राज्य सरकारों द्वारा की जायगी।

धीरे-धीरे इन बैंकों का विस्तार किया जाने लगा है तथा जून, 1977 तक इनकी संख्या बढ़कर 48 हो गयी है। उस समय इनकी शाखाओं की संख्या बढ़कर 780 हो गयी थी। इनमें से उत्तर प्रदेश में 10 प्रादेशिक बैंक हैं जिनकी शाखाओं की संख्या 169 तथा बिहार में 7 हैं जिनकी शाखाओं की संख्या 63 हो गयी है। इसी प्रकार आंध्र प्रदेश में 3 बैंक हैं जिनकी शाखाओं की संख्या 88 है।

प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों तथा व्यावसायिक बैंकों में मुख्य अन्तर :—ग्रामीण बैंक मुख्यतः व्यावसायिक बैंकों की ही तरह कार्य करेंगे। किन्तु फिर भी उनमें तथा व्यावसायिक बैंकों में निम्नांकित प्रमुख अन्तर होंगे :—

सर्वप्रथम तो प्रादेशिक ग्रामीण बैंक का कार्यक्षेत्र किसी एक राज्य के एक या अधिक जिले तक ही सीमित होगा।

द्वितीयतः, ये मुख्यतः लघु एवं सीमांत किसानों तथा कृषि-श्रमिकों को ही ऋण प्रदान करेंगे।

तृतीयतः, चूँकि ये बैंक गाँवों के कमजोर समुदाय के लोगों को ही सहायता प्रदान करेंगे अतएव इनके उधार देने की दरें (Lending Rates) सहकारी साख समितियों से अधिक नहीं होगी।

और अन्ततः इन बैंक के कर्मचारियों की तनखाह भारत सरकार द्वारा निश्चित की जायगी। इसके निर्धारण में राज्य सरकारों तथा स्थानीय संस्थाओं के समान स्तर के कर्मचारियों की तनखाह को भी ध्यान में रखा जायगा।

प्रारम्भ में कुछ समय तक ये बैंक ग्रामीण क्षेत्रों के व्यावसायिक बैंक के पूरक बैंक में कार्य करेंगे, किन्तु अन्ततः ऐसी आशा की जाती है कि ग्रामीण क्षेत्रों में लघु एवं सीमांत किसानों, कृषक मजदूरों, छोटे-छोटे कलाकारों तथा छोटी-छोटी कम्पनियों को ऋण प्रदान करने का कार्य पूर्णतः प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों को ही हस्तांतरित कर दिया जायगा।

### विशेष अध्ययन-सूची

- |                       |                                           |
|-----------------------|-------------------------------------------|
| 1. Sayers             | : Modern Banking.                         |
| 2. N. Kumar           | : Bank Nationalisation in India.          |
| 3. The Economic Times | : Bombay' 21st to 30 June, 1969.          |
| 4. Govt. of India     | : Report of the Banking Commission, 1972. |



## अध्याय : 55

## भारत में बेकारी, अर्द्ध-बेरोजगारी एवं पूर्ण रोजगार

## (Unemployment, Under-employment and Full-employment in India)

**प्राक्कथन :—**मानव उत्पादन का साधन एवं साध्य दोनों ही हैं। अतः, आर्थिक विकास की कोई भी योजना जो उसे केवल एक साधन मानती है तथा उसके अधिकार को समुचित स्थान नहीं प्रदान करती, नियोजन के वास्तविक उद्देश्य को पूरा नहीं कर पाती। इस प्रकार मानव-शक्ति के नियोजन को किसी भी प्रकार के आर्थिक नियोजन का एक महत्वपूर्ण अंग समझना चाहिए। मानव-शक्ति के नियोजन का उद्देश्य मानव-पूँजी का निर्माण तथा इसका पूरा-पूरा उपयोग होना चाहिए। इस प्रकार इसका उद्देश्य उपलब्ध मानव-शक्ति की माँग एवं पूर्ति का विभिन्न देशों में एक उचित नीति के आधार पर वितरण हो। किन्तु श्रम की माँग में वृद्धि के वगैर अतिरिक्त श्रम-शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग नहीं किया जा सकता। अतएव विकास के प्रक्रम में उद्योगों के आधार का विस्तारिकरण जिससे सभी प्रकार के मानव-श्रम की माँग बढ़ती है, आवश्यक है। जहाँ तक श्रमशक्ति की पूर्ति का सम्बन्ध है, यह बहुत-सी बातों पर निर्भर करता है जैसे जन्म एवं मृत्यु दरें, सामाजिक संस्थाएँ, औरतों के प्रति व्यवहार तथा काम के घंटे इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि श्रम की पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्त्व श्रम की माँग को प्रभावित करने वाले तत्त्वों से पूर्णतया स्वतंत्र हैं। साथ ही, चूँकि अल्पकाल में, न तो श्रम की माँग न श्रम की पूर्ति में ही परिवर्तन किया जा सकता है, अतएव श्रम की पूर्ति को किसी खास समय में दिया हुआ मानकर मानव-शक्ति के नियोजन का प्रयास करना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में मानव-शक्ति के नियोजन का उद्देश्य विभिन्न पेशों में श्रम की संभावित माँग को पता लगाकर इसी आधार पर आवश्यक क्षेत्र में श्रमिकों को प्रशिक्षित करने का प्रयास करना चाहिए। भारत-जैसे देश में इसी संदर्भ में बेरोजगारी तथा मानव-शक्ति का नियोजन महत्वपूर्ण है।

**बेरोजगारी के कारण (Causes of Unemployment) :—**पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की एक प्रधान समस्या बेरोजगारी की समस्या है। किसी देश या समाज में बेरोजगारी के मुख्यतः तीन कारण होते हैं :—(क) बेरोजगारी समाज या देश में सक्रिय माँग की कमी के कारण हो सकती है। (Unemployment may be due to a fall in effective demand) (ख) मूल्य

एवं लागत में असंतुलन के फलस्वरूप भी बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न हो सकती है। तथा (ग) देश में पूँजी एवं अन्य आवश्यक साधनों के अभाव से भी बेरोजगारी उत्पन्न हो सकती है। पश्चिम के प्रगतिशील राष्ट्रों में बेरोजगारी का प्रमुख कारण देश में वस्तुओं की माँग का कम होना है जो अन्ततोगत्वा आय की अपर्याप्तता अथवा न्यूनता का परिणाम है। इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था वाले देशों में माँग एवं रोजगार में प्रायः सीधा सम्बन्ध रहता है, अतः माँग में कमी का प्रभाव रोजगार पर शीघ्र पड़ता है। किन्तु भारत में बेरोजगारी की समस्या का प्रमुख कारण देश में पूँजी एवं अन्य साधनों का अभाव है। पिछड़ी हुई आर्थिक व्यवस्था वाले देशों में माँग का प्रभाव रोजगार पर उतना प्रत्यक्ष नहीं होता। भारत में पूँजी एवं विकास के अन्य आवश्यक साधनों का अभाव है, किन्तु श्रम का प्राचुर्य है। यहाँ काम करने के तरीके अद्यतन हैं और बेरोजगारी की समस्या विभिन्न रूपों में पायी जाती है। किसानों को कृषि-कार्य में सालों भर रोजगार नहीं मिलता। अतः ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी के साथ साथ अर्द्ध-बेरोजगारी (Under-employment) की समस्या भी वर्तमान रहती है। हमारे देश के साथ यह निश्चय ही बहुत बड़ी विचित्र बात है कि एक ओर तो देश में जनता की आवश्यकताओं के लिए उपभोग की वस्तुओं का अभाव है तो दूसरी ओर बड़े पैमाने पर बेरोजगारी की समस्या विद्यमान है। इस विचित्रता का प्रमुख कारण देश में पूँजी का अभाव है। इसके अतिरिक्त देश में बेरोजगारी के अन्य बहुत-से कारण भी हैं, जैसे—आर्थिक साधनों का अपूर्ण उपयोग, विकास कार्यक्रमों की धीमी प्रगति, बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण का अभाव, छोटे उद्योगों का ह्रास इत्यादि। उपर्युक्त कारणों से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से हमारे देश में बेकारी की समस्या दिन-प्रति-दिन गम्भीर होती जा रही है, और आजकल तो इस सम्बन्ध में स्थिति इतनी गम्भीर हो गयी है कि इस पर काबू पाना सरल नहीं जान पड़ता।

## बेरोजगारी के विभिन्न रूप

## (Different types of Unemployment)

पश्चिम के विकसित राष्ट्रों में मुख्यतया पूर्ण रोजगार (Full employment) की स्थिति पायी जाती है।



पूर्ण रोजगार की स्थिति में जैसा कि लार्ड विलियम बेवरिज (Lord William Beveridge) का कथन है, "काम, न कि मनुष्य, को इंतजार करना चाहिए।" (Jobs, rather the men, should wait.) परन्तु इन देशों में भी साधारणतया 2 से 4% तक अस्थिर बेकारी (Frictional unemployment), पायी जाती है। इसके अतिरिक्त उन देशों में केवल मन्दो के समय में माँग घट जाने से व्यापक बेरोजगारी उत्पन्न होती है। किन्तु भारत जैसे अविकसित राष्ट्र में विभिन्न प्रकार की बेरोजगारी सदा देखने को मिलती है। इनमें निम्नलिखित प्रधान हैं :—

(1) खुली या संरचनात्मक बेरोजगारी. (Open or Structural Unemployment) :—भारत में ऐसे बहुत-से व्यक्ति मौजूद हैं जो काम ढूँढते हैं लेकिन उनको काम नहीं मिलता। ऐसे व्यक्तियों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती ही जा रही है क्योंकि देश की जनसंख्या आर्थिक साधनों के उपयोग की तुलना में अधिक तेजी के साथ बढ़ रही है। वर्षों से भारतीय अर्थ-व्यवस्था में स्थिरता, शिथिलता एवं गतिहीनता की अवस्था बनी हुई है। देश की अधिकांश जनता कृषि पर आश्रित है और कृषि में उसी पुराने पद्धति का उपयोग किया जाता है जो वर्तमान परिस्थितियों के लिए अनुपयुक्त है। भारत औद्योगिक दृष्टि से एक पिछड़ा राष्ट्र है। उद्योग-वृन्धों के अभाव में यहाँ पर व्यापक रूप से बेरोजगारी पायी जाती है। व्यापार, यातायात तथा सामाजिक सेवाओं आदि का विकास भी उतनी तेजी से नहीं हुआ है जितनी तेजी से होना चाहिए था। इस प्रकार हमारी आर्थिक व्यवस्था का ढाँचा ही ऐसा रहा है जिससे कि बेरोजगारी खुले रूप में विद्यमान रही है।

(2) छुपी हुई बेरोजगारी या अर्द्ध-बेरोजगारी (Disguised Unemployment or Under-employment) :—भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में इस प्रकार की बेरोजगारी बहुत अधिक प्रचलित है। छुपी हुई बेकारी अथवा अर्द्ध-बेरोजगारी का तात्पर्य यह है कि श्रमिक वैसे तो अपने आपको काम पर लगा हुआ समझता है, लेकिन उसकी सामान्य उत्पात्ति बिल्कुल नगण्य या नहीं के बराबर होती है। भारतीय कृषि पर अत्यधिक जनसंख्या आश्रित है। किसानों की जोते छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हैं जो गाँव के भिन्न-भिन्न भागों में बिखरी होती हैं। देश में अनाधिक जोतों की संख्या बहुत अधिक है। यदि भारत में इस अतिरिक्त जनसंख्या को कृषि से हटाकर अन्य उद्योगों में लगाया जाय तो कृषि का उत्पादन नहीं घटेगा क्योंकि थोड़े व्यक्ति ही वैज्ञानिक कृषि के आधार पर अधिक उत्पादन कर सकेंगे। छुपी हुई बेकारी शहरों में, विशेषतः सरकारी विभागों में भी पायी जाती है। भारत में प्रशासन का व्यय दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही जा रहा है।

कई स्थानों पर आवश्यकता से अधिक कर्मचारी नियुक्त किये जाते हैं। यह भी प्रायः इसी किस्म की बेकारी का नमूना है। अधिकांश घरों की स्त्रियों को भी पूरा कार्य नहीं मिलता और वे भी अर्द्ध-बेरोजगारी का शिकार होती हैं।

(3) मौसमी बेकारी (Seasonal Unemployment) : भारत के अधिकांश भागों में कृषि का कार्य एक खास मौसम में ही चलता है। इसलिए वर्ष के शेष भाग में किसानों को बेकार रहना पड़ता है। मौसमी बेकारी कुछ औद्योगिक संस्थानों में भी पायी जा सकती है, जैसे चीनी के कारखाने साल भर तक नहीं चलते, इसलिए इनके श्रमिकों को कुछ समय तक बेकार रहना पड़ता है। कुटीर उद्योग के ह्रास से मौसमी बेरोजगारी की तीव्रता बढ़ गयी है। इसका किसान तथा मजदूरों के जीवन-स्तर पर बड़ा ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(4) चक्रीय बेकारी (Cyclical Unemployment) : मंदी (Depression) के दिनों में माँग घट जाने से जो बेकारी फैलती है उसे चक्रीय बेकारी कहते हैं। इस प्रकार की बेकारी पूँजीवादी देशों में प्रधानतः पायी जाती है। भारत भी इससे मुक्त नहीं है। कई बार विदेशों में माँग घट जाने से निर्यात उद्योग को धक्का पहुँचता है और कुछ कारखाने बन्द हो जाते हैं जिससे इस प्रकार की बेकारी उत्पन्न हो जाती है। हमारे यहाँ ऐसी स्थिति सूती-वस्त्र एवं जूट उद्योगों में विशेष रूप से देखने को मिलती है।

(5) अस्थिर बेकारी (Frictional Unemployment) :—कभी-कभी कुछ विशेष उद्योगों के बन्द हो जाने से उसमें लगे हुए श्रमिक बेकार हो जाते हैं। ऐसे श्रमिक नये कार्य सीखकर शीघ्र ही दूसरे उद्योगों में नहीं लग जाते वरन् कुछ समय तक इनको बेकार रहना पड़ता है। यह अस्थिर बेकारी का उदाहरण है। पश्चिमी देशों में इस प्रकार की बेकारी कोई विशेष समस्या नहीं मानी जाती क्योंकि श्रम की अत्यधिक गतिशीलता एवं प्रशिक्षण की पर्याप्त सुविधाएँ होने से ऐसे श्रमिक शीघ्र ही नये व्यवसाय में प्रवेश पा लेते हैं। लेकिन भारत में इन परिस्थितियों के अभाव में अस्थिर बेरोजगारी भी बहुत कष्टदायक सिद्ध होती है।

(6) प्रौद्योगिक बेकारी (Technological Unemployment) :—उत्पादन को विधि में सुधार लाने से जो बेकारी फैलती है उसे प्रौद्योगिक बेकारी कहते हैं। भारत-जैसे देश में जहाँ पहले से ही बहुत बेकारी फैली हुई है, उद्योग-वृन्धों का अभिनवीकरण (Rationalisation) चुपमता से नहीं किया जा सकता है। इसलिए ऐसा उपाय अनायास जाना चाहिए जिससे कि धीमी गति से आधुनिकीकरण किया जाय और साथ में बेकार होने वाले



व्यक्तियों को भी काम देने की व्यवस्था की जा सके जिससे कि यह कार्य बिना आँसू वहाये (Rationalisation without tears) भी सम्भव हो सके। हमें प्रांतीय बेकारी का सामना अवश्य करना पड़ेगा क्योंकि इसके वगैर उत्पादन क्षमता में वृद्धि नहीं हो सकती। कृषि में भी इस प्रकार की बेरोजगारी की सम्भावना बहुत अधिक वर्तमान है।

### भारत में बेरोजगारी की प्रकृति (Nature of Unemployment in India)

भारत एक अर्द्ध-विकसित देश है, अतएव यहाँ पर बहुत बड़े पैमाने पर बेरोजगारी की समस्या पायी जाती है। यहाँ बेरोजगारी मुख्यतः तीन प्रकार की होती है :— (क) कृषि-सम्बन्धी बेरोजगारी (Agricultural unemployment), (ख) औद्योगिक बेरोजगारी (Industrial unemployment), तथा (ग) शिक्षित वर्गों की बेरोजगारी (Unemployment among the educated classes)। कृषि-सम्बन्धी बेरोजगारी मुख्यतः ग्रामीण क्षेत्रों में ही पायी जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों में बहुधा दो प्रकार की बेरोजगारी पायी जाती है— मौसमी बेकारी (Seasonal Unemployment) तथा स्थायी बेकारी (Perennial Unemployment)। मौसमी बेकारी के अन्तर्गत ग्रामवासी फसल कट जाने के बाद बेकार हो जाते हैं तथा जब तक दूसरी फसल का कार्य प्रारम्भ नहीं हो जाता तब तक बेकार ही रहते हैं। भारतीय गाँवों में मौसमी बेकारी के सम्बन्ध में अलग-अलग अनुमान लगाए गये हैं। शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) के अनुसार औसत कृषक वर्ष में कम-से-कम चार-पाँच माह तक अवश्य ही बेकार रहता है। स्थायी बेकारी के अन्तर्गत भारतीय गाँवों में बहुत सारे व्यक्ति बेरोजगार रहते हैं। गाँवों में स्थायी बेरोजगारी का मुख्य कारण कृषि पर जनसंख्या की अत्यधिक निर्भरता है। इस प्रकार 1951 ई० में कृषि तथा तत्सम्बन्धित उद्योगों में 10 करोड़ व्यक्ति आश्रित थे, इनकी संख्या बढ़कर 1961 में 13.8 करोड़ तथा 1971 ई० में 14.83 करोड़ हो गयी। ऐसा देखने से जान पड़ता है कि ये सभी लोग कृषि-कार्य में लगे हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि इनमें बहुतों को कुछ भी काम नहीं मिलता, यानी इनमें से अधिकांश छुपी हुई बेकारी (Disguised Unemployment) या अर्द्ध-बेकारी (Under-employment) के शिकार रहते हैं। औद्योगिक बेरोजगारी प्राचीन उद्योग-धन्धों के पतन के कारण उत्पन्न हुई। अंग्रेजों ने भारत से इस प्रकार की नीति का अनुसरण किया जिससे कि देश के प्रधान उद्योग-धन्धे समाप्त हो गये। विवश होकर हजारों की संख्या में लोग गाँव छोड़कर नगरों की ओर जाने लगे, किन्तु नगरों में भी आधुनिक उद्योग-धन्धों के अभाव में उन्हें बेकार हो जाना पड़ा। शिक्षित वर्गों में भी बेकारी की समस्या

भा० अ०—39

बड़ी ही गम्भीर है। पिछले कुछ वर्षों से, विशेषतः स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से देश में शिक्षित व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि से यह समस्या और भी गम्भीर हो गयी है। शिक्षित बेरोजगारी के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि इस वर्ग के लोग एक विशेष प्रकार के रोजगार को ही चाहते हैं। इस प्रकार की बेरोजगारी मुख्यतः 30 वर्ष से कम आयु वाले व्यक्तियों में ही पायी जाती है। ये युवक बुद्धिजीवी लोग बेरोजगारी के समय सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था के प्रति एक प्रकार का विद्रोह रखने लगते हैं, और धीरे-धीरे साम्यवाद के पुजारी बन जाते हैं। किन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने से स्पष्ट होगा कि सफेद कालर वर्ग (White Collar Class) में बेरोजगारी दोषपूर्ण शिक्षा-प्रणाली की ही देन है।

इस प्रकार भारत में वर्तमान समय में बेकारी की समस्या बड़ी ही उग्र रूप से पायी जाती है। देश का भविष्य इस समस्या के समुचित समाधान पर ही निर्भर करता है। अतएव पंचवर्षीय योजना में इस समस्या के समाधान पर विशेष रूप से जोर दिया जा रहा है।

अर्द्ध-बेरोजगारी (Under-employment) :—भारत में अर्द्ध-बेरोजगारी की समस्या बहुत ही गम्भीर है। राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण (National Sample Survey) ने इस सम्बन्ध में पता लगाया है। इस सर्वेक्षण के अनुसार प्रति सप्ताह 28 घण्टे से कम कार्य करने वाले अत्यधिक अर्द्ध-बेरोजगार (Severely Under-employed) समझे जाते हैं तथा सप्ताह में 29 से 42 घण्टे तक कार्य करने वाले कम मात्रा में अर्द्ध-बेरोजगार (moderately under-employed) समझे गये थे। 11 वें एवं 12 वें सर्वेक्षण के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में काम में लगे व्यक्तियों के 7.03 प्रतिशत तथा शहरी क्षेत्र में 4.49 प्रतिशत से अत्यधिक अर्द्ध-बेरोजगार थे तथा ग्रामीण क्षेत्र में 5.1 प्रतिशत एवं शहरी क्षेत्र में 5.84 प्रतिशत व्यक्ति साधारण अर्द्ध-बेकार थे। इससे स्पष्ट है कि अर्द्ध-बेरोजगारी की समस्या ग्रामीण एवं शहरी दोनों ही क्षेत्रों में गम्भीर रूप में वर्तमान है। आगे चलकर 14 वें सर्वेक्षण जुलाई 1958 से जून 1961 में अर्द्ध-बेरोजगारों का अनुमान 14.7 प्रतिशत तथा 16 वें सर्वेक्षण में 10.5 प्रतिशत लगाया गया था।

अर्द्ध-बेकारी की समस्या के समाधान के लिए कुछ छिट-पुट प्रयत्न किए गए किन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में इनसे स्थिति में उत्साहजनक सुधार नहीं हुआ। तृतीय पंचवर्षीय योजना में इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहा गया था कि अर्द्ध-बेकारी की समस्या का स्थायी रूप से समाधान कृषि के वैज्ञानिक संगठन पर निर्भर करता है। (A lasting solution of the problem of under employment will require not only the universal adoption



of scientific agriculture but also the diversification and strengthening of the rural economic structure programmes for developing killage and small industries, linking up the economy of the villages and the growing urban centres, setting up processing industries on Co-operative basis; and carrying new industries into rural areas for part of the third plan and have to be further intensified ) चतुर्थ योजना में भी इस समस्या के समाधान पर विशेष रूप से जोर दिया गया था।

### भारत में बेरोजगारी की मात्रा

( The Magnitude of Unemployment in India )

देश में बेकारों की संख्या के सम्बन्ध में निश्चित रूप से पता लगाने का कोई साधन नहीं है। फिर भी, इस सम्बन्ध में समय-समय पर कुछ अनुमान अवश्य लगाए गए हैं। उदाहरण के लिए, प्रो० पी० के० बत्तल ने यह अनुमान लगाया था कि भारत में बेरोजगार व्यक्तियों का प्रतिशत 1901 ई० में 7.1 था जो बढ़कर 1931 ई० में 14.2 प्रतिशत हो गया। इन्होंने 1951 ई० में बेरोजगारी के संबंध में 20 प्रतिशत का अनुमान लगाया था।<sup>1</sup> किन्तु राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण ( National Sample Survey ) में इस सम्बन्ध में अनुमान लगाए गए हैं जिनसे वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त होती है। निम्नांकित तालिका<sup>2</sup> से यह अधिक स्पष्ट है :-

### आयु वर्गों के अनुसार बेरोजगारों की मात्रा

| आयु वर्ग        | ग्रामीण क्षेत्र | नगरिक क्षेत्र |
|-----------------|-----------------|---------------|
| 0-16            | 4.91            | 8.25          |
| 17-21           | 7.26            | 17.12         |
| 22-26           | 7.75            | 17.38         |
| 27-36           | 5.63            | 8.30          |
| 37-46           | 5.90            | 4.78          |
| 47-56           | 5.16            | 4.62          |
| 57-61           | 5.60            | 6.64          |
| 62 वर्ष से अधिक | 5.33            | 2.83          |

कुल औसत 5.97 7.35

उपरोक्त तालिका में बेरोजगारी की मात्रा को विभिन्न आयु वर्गों के अन्तर्गत कार्यशील जनसंख्या के अनुपात में दिखलाया गया है। स्पष्ट है कि 17 से 21 तथा 22 से 26 वर्ष आयु वाले वर्गों में बेरोजगारी की मात्रा सबसे

अधिक पायी जाती है। इसका कारण यह है कि कामें चाहने वाले आगन्तुक मुख्यतः इन्हीं आयु वर्गों में पाये जाते हैं।

1961 ई० की जनगणना में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या का अनुमान 14 लाख लगाया गया था, जिसमें से 5.7 लाख ग्रामीण क्षेत्रों में तथा 8.3 लाख शहरी क्षेत्रों में थे। राष्ट्रीय न्यादर्श के 16 वें सर्वेक्षण में यह अनुमान लगाया गया कि ग्रामीण जनसंख्या के 1.68 प्रतिशत तथा शहरी जनसंख्या के 0.82 प्रतिशत व्यक्ति जुलाई, 1960 से जून 1961 के बीच बेकार थे। इस आधार पर 1960-61 ई० में बेकारी की संख्या ग्रामीण क्षेत्रों में 58 लाख तथा शहरी क्षेत्रों में 6.5 लाख थी। 1971 की जनगणना के अनुसार 0.68 प्रतिशत शहरी जनसंख्या बेरोजगार थी। इन आँकड़ों में बहुत अधिक विभिन्नता है, अतः योजना आयोग ने अगस्त, 1968 में श्री बी० भगवती की अध्यक्षता में एक समिति (Committee of Experts on Unemployment) की नियुक्ति की जो देश में बेरोजगारों की संख्या के सम्बन्ध में अनुमान लगायगी तथा 1961-69 के बीच की अवधि को ध्यान में रखते हुए चतुर्थ योजना 1969-74 के लिए रोजगार सम्बन्धी नीति के संबंध में सुझाव देना था। मई, 1973 में समिति ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। समिति के अनुसार देश में 1971 में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या 187 लाख थी। इनमें से 90 लाख बिल्कुल बेरोजगार थे तथा 97 लाख लोग ऐसे थे जिन्हें सप्ताह में 14 घण्टे से भी कम प्राप्त था। कुल बेरोजगार व्यक्तियों में से 161 लाख ग्रामीण क्षेत्रों में तथा 26 लाख शहरी क्षेत्र में थे। समिति के ये निष्कर्ष बहुत कुछ अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन द्वारा संकलित 1972 में एशियाई देशों में बेरोजगार सम्बन्धी आँकड़ों से मिलते-जुलते हैं।

योजना आयोग के अनुसार 1971 ई० में देश में कुल श्रमिकों का अनुमान 23 करोड़ 5 लाख लगाया गया था। इसमें से आयोग के अनुसार 36 लाख स्थायी रूप से बेरोजगार (Chronic Unemployment) थे। इसी आधार पर आयोग ने 1978 में श्रम पर लगे लोगों (Labour Force) की संख्या का अनुमान 26.53 करोड़ लगाया है जिसमें से 44 लाख लोग स्थायी रूप से बेरोजगार थे।<sup>3</sup>

पंचवर्षीय योजनाओं में रोजगार की व्यवस्था (Employment in Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में रोजगार की व्यवस्था (Employment in the First Five Year Plan) :- उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि हमारे देश में बेकारी की

1. देखें :- P. K. Wattal; Population problem in India.

2. NSS Survey with and 2th Round Report.

3. Draft Five Year Plan (1978-83).



समस्या बड़ी ही उग्र हो गयी है। अतः देश के आर्थिक विकास की किसी भी योजना में मानव-शक्ति के पूर्ण उपयोग का प्रयत्न आवश्यक है। किंतु प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस समस्या को विशेष स्थान नहीं दिया गया था। वास्तव में, प्रथम योजना ऐसे समय में तैयार की गयी थी जब देश में रोजगार के सम्बन्ध में सर्वत्र एक प्रकार का आशावाद वर्तमान था। किन्तु, 1953 ई० के प्रारम्भ तक युद्धोत्तरकालीन परिस्थितियाँ समाप्त हो गयीं और देश के समस्त बेरोजगारी की समस्या ने उग्र रूप धारण कर लिया। मार्च 1951 ई० में काम-दिलाऊ संस्थाओं (Employment Exchanges) में रजिस्टर्ड बेकारों की संख्या 3.3 लाख से बढ़कर दिसम्बर, 1953 ई० में 5.22 लाख हो गयी। अतः योजना आयोग को रोजगार के साधनों में वृद्धि के लिए विशेष कार्यक्रम तैयार करना पड़ा। 1953 ई० के अन्त में रोजगार की संभावनाओं में वृद्धि के उद्देश्य से योजना आयोग ने एक 11 सूत्रीय कार्यक्रम तैयार किया। इनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—(i) सिवाई एवं शक्ति की योजनाओं के निकट कार्य एवं प्रशिक्षण की स्थापना की जाय, (ii) लघु उद्योग एवं व्यापार करने के उद्देश्य से लोगों को विशेष प्रकार की सहायता दी जानी चाहिए, (iii) उन व्यवसायों में जहाँ विशेषज्ञों का अभाव हो, प्रशिक्षण की सुविधा में वृद्धि करनी चाहिए; (iv) सरकार द्वारा सामान खरीदने में कुटीर एवं लघु उद्योगों को विशेष प्राथमिकता दी जानी चाहिए, (v) सड़क एवं यातायात के अन्य साधनों का विकास करना चाहिए, (vi) शहरों में कम आयवाले व्यक्तियों के लिए गृहों के निर्माण को प्रोत्साहित करना चाहिए, (vii) राष्ट्रीय-विस्तार खण्डों की प्रगति में और तीव्रता लानी चाहिए आदि।

परन्तु इन सब प्रयत्नों के बावजूद प्रथम योजना-काल में इस क्षेत्र में बहुत ही कम सफलता मिल सकी। फिर भी, प्रथम योजना ने देश की आर्थिक व्यवस्था को इस प्रकार से सबल बना दिया कि द्वितीय योजना में सरकार रोजगार के साधनों पर विशेष रूप से ध्यान देने की स्थिति में हो गयी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में रोजगार की व्यवस्था (Employment in the Second Five Year Plan)

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में बेकारी की समस्या को दूर करने का विशेष प्रयत्न किया गया था। योजना के आधारभूत उद्देश्यों में बेकारी की समस्या का समाधान भी एक था। शहरी क्षेत्रों में बेरोजगारों की संख्या को पता लगाने के उद्देश्य से किये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार 1954 ई० में शहरी बेरोजगारों की संख्या 22.4

लाख थी। इसी आधार पर आयोग ने 1956 ई० में शहरी बेकारों की संख्या का अनुमान 25 लाख लगाया था। इसके साथ ही योजनाकाल में (1956 ई० से 1961 ई०) पाँच वर्षों में यह अनुमान लगाया गया था कि शहरी क्षेत्रों में 38 लाख नये आगन्तुकों के लिए रोजगार की व्यवस्था करनी होगी। इस प्रकार कुल मिलाकर 1961 ई० तक शहरी क्षेत्रों में 63 लाख बेरोजगारों के लिए रोजगार की व्यवस्था करनी थी।<sup>1</sup>

साथ ही, यह अनुमान लगाया गया था कि ग्रामीण क्षेत्रों में 1955-56 ई० में 28 लाख बेरोजगार व्यक्ति थे। इसके अतिरिक्त 1956 ई० से 1961 ई० के बीच ग्रामीण बेरोजगारों की संख्या में 62 लाख की वृद्धि का अनुमान था, यानी इस योजना के अन्त तक ग्रामीण क्षेत्र में 90 लाख व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था करनी थी।

इस प्रकार द्वितीय योजना के अन्त में शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में पुराने बेरोजगारों की संख्या 53 लाख तथा नये रोजगार चाहनेवालों की संख्या का अनुमान 100 लाख लगाया गया था। अतः, द्वितीय योजना के अन्त तक 1961 ई० में देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति लाने के लिए 153 लाख व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था करनी थी। इसके अतिरिक्त अर्द्ध-बेरोजगारों की संख्या भी थी जिसका इपी रूप से अन्दाजा लगाया जा सकता है। द्वितीय योजना में इतने अधिक व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था करना संभव नहीं था। योजना आयोग की राय में इस समस्या के समाधान के लिए एक दीर्घकालीन कार्यक्रम की आवश्यकता है। फिर भी, द्वितीय योजनाकाल में यथासंभव रोजगार की संभावनाओं को बढ़ाने का प्रयत्न किया गया था जिसके फलस्वरूप पाँच वर्षों में 80 लाख व्यक्तियों को रोजगार दिलाने की व्यवस्था की जा सकी थी।

किन्तु द्वितीय योजना का यह लक्ष्य पूर्ण नहीं हो सका तथा योजनाकाल में केवल 65 लाख अतिरिक्त व्यक्तियों के लिए ही रोजगार की व्यवस्था हो पायी। इसका अर्थ यह है कि योजना आयोग के अनुमान के अनुसार द्वितीय योजना के अन्त में 88 लाख व्यक्ति बेरोजगार रह गये थे।

शिक्षित बेरोजगारों की समस्या

(Problem of educated unemployment)

द्वितीय योजना में शिक्षित बेरोजगारों की समस्या के समाधान में विशेष रूप से जोर दिया गया था। शिक्षितों की बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए सितम्बर, 1955 ई० में एक विशेष अध्ययन दल की नियुक्ति की गयी थी जिसने शहरी क्षेत्रों में किये गये सर्वेक्षण के आधार पर द्वितीय योजना

1. द्वितीय योजनाकाल में यह अनुमान लगाया गया था कि पाँच वर्षों में 100 लाख नये रोजगार पाने वाले (new entrants to labour force) होंगे, जिनमें से

38 लाख शहरी क्षेत्रों में तथा 62 लाख ग्रामीण क्षेत्रों में होने का अनुमान किया गया था।



के प्रारम्भ में देश में शिक्षित बेरोजगारों की संख्या का अनुमान 5.5 लाख लगाया गया था। साथ ही, यह अनुमान लगाया गया था कि 1961 ई० तक पाँच वर्षों में 14.5 लाख नये शिक्षित व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था करनी होगी, यानी 1961 ई० तक शिक्षित बेकारों की संख्या के लगभग 20 लाख हो जाने की आशा थी जिनके लिए रोजगार की व्यवस्था करनी थी। ( शिक्षितों के अन्तर्गत उक्त समिति ने मैट्रिकुलेशन पास या इससे अधिक तक के लोगों को रखा था। ) समिति ने यह अनुमान लगाया था कि द्वितीय योजनाकाल में विकास की योजनाओं के फलस्वरूप कुल 10 लाख अतिरिक्त शिक्षित व्यक्तियों को कार्य मिलेगा। पाँच वर्षों में 2.4 लाख व्यक्ति अवकाश प्राप्त करेंगे जिनके बदले उतनी ही संख्या में लोगों को और रोजगार मिल जायगा। साथ ही, गैर-सरकारी क्षेत्र में विकास के फलस्वरूप 2 लाख शिक्षित बेकारों को योजनाकाल में रोजगार प्रदान किया जा सकेगा। इस प्रकार द्वितीय योजनाकाल में कुल 14.4 लाख शिक्षित व्यक्तियों को रोजी दिलाने का आयोजन था।

लेकिन; इससे शिक्षित बेकारी की समस्या ज्यों-की-त्यों रह जायगी तथा परिस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होगा। शिक्षित बेकारों की उक्त समिति ने इस कार्य के लिए 130 करोड़ रुपये के व्यय पर एक विशेष कार्यक्रम का सुझाव दिया था जिसके अनुसार लघु-उद्योगों में 1.5 लाख व्यक्तियों, सहकारी माल यातायात में 32 हजार तथा राज्य सरकार की योजनाओं में 53 हजार व्यक्तियों को रोजगार मिलने की व्यवस्था की गयी। यह योजना आरम्भ में प्रयोगात्मक ढंग पर लागू की जाने को थी। किन्तु इसके सफल सम्पादन के बाद भी द्वितीय योजना के अन्त में लगभग 3.5 लाख शिक्षित व्यक्तियों को योजनाकाल में रोजगार से वंचित रहना पड़ता। अतः शिक्षित बेरोजगारों के सम्बन्ध में योजना आयोग ने दीर्घकालीन उपायों को अपनाने की सिफारिश की थी। दीर्घकालीन उपायों के अन्तर्गत देश की आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में सुधार, तकनीकी शिक्षा पर अधिक जोर, सामान्य आर्थिक विकास आदि उल्लेखनीय हैं। साथ ही, सरकारी नौकरियों में बहाली के तरीकों में सुधार तथा विश्वविद्यालयों में रोजगार-सम्बन्धी समाचार देनेवाली संस्थाओं (University Employment Bureaus) की स्थापना भी आवश्यक है।

क्षेत्रीय बेरोजगारी की समस्या (Problem of Regional Unemployment) :—द्वितीय योजना में विभिन्न क्षेत्रों के बीच समान रोजगार की सुविधा प्रदान करने पर भी जोर दिया गया था। देश में कुछ ऐसे क्षेत्र भी हैं जहाँ अन्य क्षेत्रों की तुलना में बेकारों की संख्या बहुत अधिक है। कुछ क्षेत्रों में अर्द्ध-बेकारी की समस्या भी बहुत अधिक है तथा औसत आय अन्य क्षेत्रों की तुलना में बहुत ही कम है। इंग्लैण्ड में भी इस प्रकार की क्षेत्रीय

बेकारी की समस्या पड़ी थी जिसे दूर करने के लिए विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता पड़ी थी। द्वितीय योजना में इस समस्या को दूर करने पर विशेष रूप से जोर दिया गया था जिससे देश के विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक असमानता को दूर किया जा सके।

क्षेत्रीय बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए द्वितीय योजना में निम्नलिखित सुझाव दिये गये थे :— (क) सरकारी क्षेत्रों में उद्योग-धन्यों के निर्माण की योजना बनाने के समय पिछड़े क्षेत्रों को विशेष प्राथमिकता दी जानी चाहिए जिससे रोजगार की संभावनाओं में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि की जा सके। (ख) पिछड़े क्षेत्र के व्यापारियों एवं उद्योगपतियों को अपेक्षाकृत रियायती दर पर कर्ज देना चाहिए। (ग) सरकारी क्षेत्र में ठेका देते समय इस क्षेत्र के लोगों के लिए एक निश्चित प्रतिशत सुरक्षित रखना चाहिए। (घ) गैर-सरकारी क्षेत्र में पूँजी विनियोग को संभव बनाने के उद्देश्य से अन्य प्रकार की वित्तीय सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। योजना आयोग की राय में उपरोक्त उपायों के साथ-साथ उस क्षेत्र विशेष के व्यक्तियों में अधिक उत्साह के संचार की आवश्यकता है। इस प्रकार भारत सरकार, राज्य सरकारें तथा स्थानीय संस्थाओं एवं व्यक्तियों के सहयोग के द्वारा बेकारी की समस्या का निराकरण किया जा सकता है।

इस प्रकार द्वितीय योजना के अन्तर्गत देश में बेकारी की समस्या को दूर करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया गया था। किन्तु द्वितीय योजनाकाल में कृषि में रोजगार के साधनों में आयोजित लक्ष्य से भी कम ही वृद्धि हुई। योजनाकाल में कृषि के अतिरिक्त अन्य उद्योगों में कुल 80 लाख व्यक्तियों को रोजगार देने का आयोजन था, किन्तु वास्तव में केवल 65 लाख व्यक्तियों के लिए ही रोजगार की व्यवस्था की जा सकी थी; यानी द्वितीय योजना के रोजगार-सम्बन्धी लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो पायी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में रोजगार की व्यवस्था (Employment in the Third Five Year Plan)

द्वितीय योजनाकाल में रोजगार के साधनों में आयोजित लक्ष्य से कम ही वृद्धि हुई जिसके परिणामस्वरूप तृतीय योजना के प्रारम्भ से ही बेकारों की संख्या द्वितीय योजना के प्रारम्भ होने के समय से अनुमानतः 20 लाख अधिक थी। साथ ही, यह अनुमान लगाया गया था कि तृतीय योजना काल में 150 लाख नये आगंतुकों के लिए रोजगार की व्यवस्था करनी होगी। इसमें एक-तिहाई भाग ग्रामीण क्षेत्रों में होंगे। तृतीय योजना में विनियोग की जानेवाली कुल रकम के आधार पर योजनाकाल में 35 लाख अतिरिक्त व्यक्तियों के लिए कृषि से तथा 105 लाख व्यक्तियों के लिए अन्य उद्योगों में रोजगार के साधनों में वृद्धि का आयोजन था। दूसरे शब्दों में, योजनाकाल



में केवल नये आगंतुकों के लिए रोजगार प्रदान करने के लिए भी तृतीय योजनाकाल में कम-से-कम 10 लाख व्यक्तियों के लिए अतिरिक्त रोजगार की व्यवस्था आवश्यक थी।

किन्तु अब ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि तृतीय योजना प्रारम्भ होने के पूर्व देश में बेकारों की संख्या लगभग 70 लाख थी। साथ ही, योजनाकाल में नये काम चाहनेवाले व्यक्तियों की संख्या 170 लाख थी। इस प्रकार योजनाकाल में 240 लाख व्यक्तियों के लिए रोजगार प्रदान करने की व्यवस्था आवश्यक थी। इसमें से योजना आयोग के अनुसार योजनाकाल में कृषि तथा गैर-कृषि क्षेत्र में 155 लाख नये रोजगार के साधनों की ही व्यवस्था की गयी। इसमें से 115 लाख गैर-कृषि तथा 40 लाख कृषि के क्षेत्र में था, यानी तृतीय योजना के अन्त में प्रायः 85 लाख व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था नहीं की जा सकी।

कृषि एवं गैर-कृषि के अतिरिक्त रोजगार के साथ-साथ तृतीय योजना में अर्द्ध-बेरोजगारी की मात्रा में महत्वपूर्ण कमी की आशा की गयी थी। कृषि में अति-

रिक्त बेरोजगारी के अन्तर्गत एक-चौथाई क्षमता को ही रखा गया था। शेष अर्द्ध-बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए रखा गया था। अर्द्ध-बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए जीवन-स्तर में पर्याप्त मात्रा में सुधार की आशा की जाती है।

नियोजन एवं प्रशिक्षण के मुख्य निदेशक (Director General of Employment and Training) के द्वारा एकत्र आंकड़ों के अनुसार 1960-61 से 1965-66 के बीच रोजगार 121 लाख से बढ़कर 1965-66 में 154.6 लाख हो गया, यानी 28 प्रतिशत की वृद्धि हुई। दूसरे शब्दों में इसमें तृतीय योजना में औसत रूप से 5 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। इसके बाद 1966-67 में रोजगार में केवल 0.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि 1967-68 में इसमें प्रायः कोई वृद्धि नहीं हुई तथा 1968-69 में 2 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई।

1951-52 से 1968-69 तक पंचवर्षीय योजनाओं में बेकारी की समस्या के समाधान के प्रयत्नों के प्रयास का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जाता है :—

#### पंचवर्षीय योजनाओं में बेरोजगारी का अनुमान (लाख में)<sup>1</sup>

|                                                       | प्रथम योजना<br>(1951-56) | द्वितीय योजना<br>(1956-61) | तृतीय योजना<br>(1961-66) | एक वर्षीय योजनाएँ<br>(1966-69) |
|-------------------------------------------------------|--------------------------|----------------------------|--------------------------|--------------------------------|
| 1. योजना के प्रारम्भ में श्रम-शक्ति                   | 1852                     | 1970                       | 2150                     | 2290                           |
| 2. योजनाकाल में आगंतुकों की शुद्ध संख्या              | 90                       | 118                        | 170                      | 140                            |
| 3. योजना के प्रारम्भ में बेकारों की संख्या            | 33                       | 53                         | 71                       | 96                             |
| 4. कुल (2+3)                                          | 123                      | 171                        | 241                      | 236                            |
| 5. अतिरिक्त रोजगार की व्यवस्था                        | 70                       | 100                        | 145                      | 16                             |
| 6. योजना के अन्त में बेकारों की संख्या (4-5)          | 53                       | 71                         | 96                       | 220                            |
| 7. बेरोजगारों की संख्या कुल श्रम-संख्या-              |                          |                            |                          |                                |
| के अनुपात में $\left(\frac{6}{1+2} \times 100\right)$ | 2.9                      | 0.7                        | 4.5                      | 9.6                            |

#### चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में रोजगार की व्यवस्था (Employment in the Fourth Five Year Plan).

चतुर्थ योजना (1969-74 ई.) में रोजगार के संबंध में आंकड़ों का प्रयोग नहीं किया गया था। किन्तु योजना में सम्मिलित कार्यक्रमों के द्वारा रोजगार के साधनों में पर्याप्त वृद्धि की आशा की गयी थी। योजना में श्रम-प्रधान कार्यों, जैसे—सड़क, लघु-सिंचाई, सहायिता, बाढ़

नियन्त्रण आदि पर अधिक जोर दिया गया था जिनसे रोजगार की संभावनाओं में पर्याप्त वृद्धि की आशा की गयी थी। इस योजना में श्रम-प्रधान कार्यों पर विनियोग की रकम में भी पर्याप्त वृद्धि की गयी थी। साथ ही, इस प्रकार के श्रम-प्रधान कार्यों के लिए योजनाकाल में प्रति



वर्ष 290 करोड़ ऋण प्रदान करने की व्यवस्था थी जबकि इसके पूर्व के तीन वर्षों में इस प्रकार के ऋण का वार्षिक औसत 100 करोड़ रुपये ही था। कृषि में विकास की बढ़ती हुई दर से योजनाकाल में और अधिक रोजगार मिलने की आशा थी।

योजनाकाल में गैर-कृषि क्षेत्र में रोजगार में और अधिक वृद्धि की आशा थी। वास्तव में, खनिज तथा निर्माण उद्योगों पर अधिक जोर, लघु एवं ग्रामीण उद्योगों को प्रदान की जानेवाली सहायता, ग्रामीण क्षेत्र के विद्युतीकरण तथा उद्योगों के विकेन्द्रीकरण की नीति के कारण रोजगार के साधनों में पर्याप्त वृद्धि की आशा की गयी थी। इसी प्रकार तृतीय के क्षेत्र में भी अधिकाधिक मात्रा में रोजगार के साधनों में वृद्धि की आशा की गयी थी।

चतुर्थ योजना के रोजगार-सम्बन्धी कार्यक्रम<sup>1</sup> (Employment Programmes under the Fourth Five Year Plan) :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में बेकारी की समस्या के समाधान पर विशेष रूप से जोर दिया गया था। योजनाकाल में इस उद्देश्य से निम्नांकित विशेष कार्यक्रमों को अपनाया गया था :—

(1) ग्रामीण विकास-सम्बन्धी कार्य (Rural Works Programme) :—चतुर्थ योजना में ग्रामीण विकास सम्बन्धी कार्यक्रम पर 100 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। योजनाकाल में कृषक मजदूरों को सहायता देने के उद्देश्य से भूमि तथा श्रम की कार्य-क्षमता को बढ़ाने के लिए अधिक रोजगार प्रदान करने की क्षमता वाले कार्यक्रम अपनाये गये थे। इस उद्देश्य से 54 सूबा-स्त प्रखंड चुने गये थे तथा प्रत्येक प्रखण्ड में लगभग 2 करोड़ रुपये देने की व्यवस्था थी जिससे 25 हजार से 30 हजार तक अतिरिक्त व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था की जा सकती थी।

(2) लघु कृषक विकास एजेंसीज (Small Farmers Development Agencies) :—चतुर्थ योजना काल में देश के 46 चुने हुए जिलों में Pilot Projects स्थापित किये जाने को थे। इस उद्देश्य से योजना काल में 675 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। इस कार्यक्रम का उद्देश्य छोटे-छोटे किसानों को लाभ पहुँचाना था। इसमें छोटे-छोटे किसानों को आधुनिक तकनीक तथा गहन कृषि-कार्यक्रम को अपनाने के लिए उधार देने की व्यवस्था थी।

(3) सीमांत किसान तथा कृषक मजदूर एजेंसी (Marginal Farmers and Agricultural Labourers) :—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत देश के चुने हुए 41 जिलों में सीमांत किसानों तथा कृषक मजदूरों को लाभान्वित करने

के उद्देश्य से कार्यक्रम स्थापित करने की व्यवस्था थी। इनमें से प्रत्येक कार्यक्रम से 20,000 परिवारों के लाभान्वित होने की आशा थी। इन परिवारों को गोपालन, कुकुट पालन, बाग-बागवानी तथा मत्स्य पालन आदि के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करने की व्यवस्था थी।

(4) कृषि-सेवा केन्द्र (Agro Service Centre)—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत यांत्रिक, कृषि तथा विद्युत इंजीनियरिंग के बेरोजगार स्नातकों को कृषि-सम्बन्धी औजारों की मरम्मत तथा निर्माण के लिए केन्द्र स्थापित करने में आर्थिक सहायता प्रदान करने की व्यवस्था थी। इस कार्य के लिए स्टेट बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं से ऋण की व्यवस्था की जाने में थी। चतुर्थ योजनाकाल में इस कार्यक्रम के अन्तर्गत देश भर में कुल 5000 केन्द्र स्थापित करने का आयोजन था।

(5) क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम (Area Development Schemes) :—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 10 बृहत सिंचाई कार्यक्रमों के क्षेत्र में सड़क, बाजार इत्यादि महत्वपूर्ण सुविधाओं (Infrastructure facilities) के अन्तर्गत 15 करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था थी।

(6) ग्रामीण बेरोजगारी के लिए विशेष कार्यक्रम (Crash Programme for the Rural Unemployment) :—ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी तथा अर्द्ध-बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए चतुर्थ योजना में एक विशेष कार्यक्रम अपनाने का आयोजन था। इस कार्यक्रम का प्रधान उद्देश्य विभिन्न श्रम-प्रधान एवं उत्पादक उपायों द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में अतिरिक्त रोजगार के अवसरों का निर्माण था। इस प्रकार के कार्यक्रम के दो प्रधान उद्देश्य हैं—सर्वप्रथम तो प्रत्येक कार्यक्रम को औसत रूप से प्रति जिले में वर्ष में 10 माह के लिए कम से कम 1000 व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करना था। द्वितीयतः, प्रत्येक कार्यक्रम के अन्तर्गत स्थानीय विकास कार्यक्रम के अनुरूप पर्याप्त मात्रा में कार्य प्रदान करना। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ऐसे परिवारों को प्रधानता दी जायगी जिसमें कोई भी वयस्क को रोजगार प्राप्त नहीं है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सड़क-निर्माण, लघु सिंचाई कार्यक्रम, भूमि-संरक्षण, वन रोपण आदि को प्रधानता दी जाती है। वास्तव में, इसमें खर्च की जानेवाली रकम का 60 प्रतिशत सड़कों के निर्माण, 25 प्रतिशत लघु सिंचाई तथा शेष 15 प्रतिशत में अन्य कार्यक्रम की व्यवस्था थी।

इस विशेष कार्यक्रम (Crash programme) जिसे अप्रैल 1971 में प्रारम्भ किया गया है के अन्तर्गत तीन वर्षों (1971-74) में 150 करोड़ रुपये के व्यय द्वारा लगभग 4 लाख व्यक्तियों को रोजगार मिलने की आशा थी।



### पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में रोजगार (Employment in the Fifth Five Year Plan)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में रोजगार की सुविधाओं में वृद्धि तथा श्रम-प्रधान उपायों को अधिकाधिक मात्रा में अपनाने पर जोर दिया गया था। किन्तु चतुर्थ योजना में श्रम-शक्ति की वृद्धि के अनुपात में रोजगार के अवसरों में वृद्धि नहीं हुई। इसके लिए कई कारण उत्तरदायी थे— यथा कृषि तथा उद्योग दोनों क्षेत्रों में चतुर्थ योजना में किये गये विनियोग से अपेक्षित मात्रा में रोजगार के अवसरों का सृजन नहीं हो सका। योजना आयोग के अनुसार देश की शिक्षण पद्धति भी अत्यंत दोषपूर्ण है जिससे रोजगार के अवसरों में वृद्धि में कठिनाई होती है।

ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि चतुर्थ योजना में पुराने बेरोजगारों के अतिरिक्त 230 लाख तथा पाँचवीं योजना में प्रायः 300 लाख नये काम चाहने वाले व्यक्ति होंगे। इतनी बड़ी संख्या में भी रोजगार की व्यवस्था करना कठिन है। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में रोजगार के अवसरों में अधिकतम वृद्धि पर जोर दिया गया था। योजना आयोग के अनुसार रोजगार के साधनों में वृद्धि आय तथा धन के वितरण की विषमता को दूर करने के उद्देश्य से भी अतिआवश्यक थी। आयोग के अनुसार रोजगार दो प्रकार का हो सकता है—(क) मजदूरी पर रोजगार (Wage employment) तथा दूसरा (ख) स्वयं रोजगार (Self employment)। पाँचवीं योजना में आयोजित बड़े पैमाने पर विनियोग से बहुत अधिक मात्रा में पहले प्रकार के रोजगार के अवसरों के सृजन की आशा की जाती थी। किन्तु आयोग के अनुसार केवल मजदूरी वाले रोजगार के अवसरों के सृजन से ही बेरोजगारी की समस्या का समाधान नहीं हो सकता, अतएव स्वयं-नियोजन (Self-employment) सम्बन्धी कार्यक्रमों के विस्तार पर अधिक जोर देने की आवश्यकता पर बल दिया गया। फलस्वरूप पाँचवीं योजना में लघु उद्योग, सेवाओं, वाणिज्य तथा व्यापार के क्षेत्र में इस प्रकार के अधिकाधिक अवसरों के सृजन पर जोर देने की व्यवस्था थी।

योजना आयोग के अनुसार चूँकि दो-तिहाई से अधिक निवासी कृषि पर आश्रित हैं अतएव पाँचवीं योजना काल में कृषि के क्षेत्र में इतने और नये आगन्तुकों के लिए रोजगार की व्यवस्था को आवश्यक समझा गया। कृषि के क्षेत्र में कृषक मजदूर छोटे-छोटे तथा सीमान्त किसानों के बीच बेरोजगारी की समस्या और भी गंभीर है। औद्योगीकरण की वर्तमान दर से उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में भी बड़े पैमाने पर रोजगार चाहनेवालों को कृषि से उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में हस्तांतरण संभव नहीं था। अतएव कृषि में ही अधिकाधिक व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था को आवश्यक समझा गया। इस कार्य में

ग्रामीण विकास से सम्बन्धित विशिष्ट कार्यक्रमों—जैसे क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम, ग्रामीण बेरोजगारों के लिए विशेष कार्यक्रम, लघु कृषक विकास एजेंसी आदि से बहुत अधिक सहायता की आशा थी। पाँचवीं योजना में इन कार्यक्रमों को और विस्तृत रूप में लागू करने का आयोजन था जिससे इस क्षेत्र में और अधिक सहायता की आशा की गयी थी।

साथ ही, जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि को रोकने के लिए परिवार नियोजन के कार्यक्रमों को प्रभावपूर्ण तरीके से लागू करने पर भी पाँचवीं योजना में विशेष रूप से जोर दिया गया है।

किन्तु पाँचवीं योजना में रोजगार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण वृद्धि नहीं हो पायी। योजना आयोग के अनुसार 1971 से 78 के बीच श्रम-शक्ति में 350 लाख की वृद्धि हुई जिसमें से केवल 90 लाख व्यक्तियों को गैर-कृषि कार्यों में रोजगार प्राप्त हो सका। इसमें से आधा संगठित क्षेत्र में था। योजना आयोग के अनुमान के अनुसार श्रम-शक्ति में वृद्धि का 10 से 11 प्रतिशत भाग प्रति वर्ष संगठित क्षेत्र में खपता है तथा शेष कृषि तथा अन्य क्षेत्रों में अर्द्ध-रोजगार पाता है अथवा स्थायी रूप से बेकार हो जाता है। इससे देश में श्रम-शक्ति की अत्यधिक वर्धादी बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है।

छठी पंचवर्षीय योजना में रोजगार  
(Employment in the Sixth Five Year Plan)  
राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण (National Sample Survey) के 27वें सर्वेक्षण में तीन प्रकार की बेरोजगारी का अनुमान लगाया गया है—

- (1) स्थायी बेरोजगारी (Chronic Unemployment),
- (2) साप्ताहिक बेरोजगारी (Weekly Unemployment), तथा
- (3) बेरोजगारी एवं अर्द्ध-बेरोजगारी (Unemployment including under employment)।

उपरोक्त आधार पर योजना आयोग ने 1978 के लिए स्थायी रूप से बेरोजगार लोगों की संख्या का अनुमान 44 लाख लगाया था किन्तु स्थायी बेरोजगारी तो भारत में बेरोजगारी की मूल समस्या नहीं है क्योंकि हमारे देश में बहुत-से ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें वर्ष में कुछ दिन या सप्ताह के लिए ही कार्य मिल पाता है। अतएव इस प्रकार के अनियमित रूप से बेरोजगार लोगों के सम्बन्ध में अनुमान लगाने के लिए राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण ने साप्ताहिक बेरोजगारी का अनुमान लगाने का प्रयास किया था। इसके अन्तर्गत ऐसे व्यक्तियों को रखा गया था जिन्हें सर्वेक्षण सप्ताह में एक दिन भी कार्य नहीं मिला था। 1973 में ऐसे लोगों की संख्या 101 लाख थी जो बढ़कर 1978 तक 112 लाख हो गयी थी।



किन्तु योजना आयोग के अनुसार साप्ताहिक बेरोजगारी से भी बेरोजगारी की समस्या का संतोषजनक तरीके से हल नहीं निकल पाता क्योंकि बहुत-से ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें पूरा एक सप्ताह तक कार्य नहीं मिलता। अतएव बेरोजगारी की समस्या के सम्बन्ध में वास्तविक जानकारी के लिए बेरोजगार दिन (Unemployed days) न कि बेरोजगार व्यक्तियों की गणना की जानी चाहिए। इस प्रकार का बेरोजगार दिन (person-day unemployment) 1973 में 13 करोड़ दिन प्रति सप्ताह या जिसका तात्पर्य 186 लाख बेरोजगार व्यक्तियों के किसी छ स दिन बेरोजगार होने से था। इसी आधार पर 1978 में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या का अनुमान आयोग द्वारा 205 लाख लगाया गया है जिसमें से 165 लाख लग ग्रामीण क्षेत्रों में तथा 41 लाख लोग शहरी क्षेत्रों में बेरोजगार थे। इससे 1978 में बेरोजगारी की समस्या का अन्दाजा लगता है।

छठी योजना के लिए रोजगार-सम्बन्धी नीति (Employment Policy for the Sixth Plan Period) :— उपरोक्त परिस्थितियों में छठी योजना की अवधि के लिए रोजगार-सम्बन्धी नीति के निर्धारण में योजना आयोग ने निम्नांकित तीन बातों पर ध्यान दिया है—(क) अधिकतम संभव विकास की दर निर्धारित करना (To maintain the highest feasible rate of growth);

(ख) उत्पादन को अधिक रोजगार-प्रधान बनाना (To make the pattern of production more labour intensive); तथा

(ग) तकनीकी प्रगति को इस प्रकार से निर्धारित करना जिससे कि रोजगार में वृद्धि की दर संतोषजनक हो सके। (To regulate technological changes so that the rate of growth of employment is maintained at a satisfactory level)।

छठी योजना की अवधि में पांच वर्षों में औद्योगिक उत्पादन में वार्षिक 6 से 7 प्रतिशत वृद्धि की आशा की जाती है जिसके परिणामस्वरूप संगठित क्षेत्र में रोजगार में संभवतः 3 से 3.5 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि की आशा है। किन्तु रोजगार में इस दर से वृद्धि से देश की कुल श्रम-शक्ति के केवल 0.3 प्रतिशत भाग के खपने की आशा है, अतएव शेष भाग के लिए हमें मुख्य रूप से कृषि तथा अन्य सम्बन्धित क्षेत्रों एवं लघु प्रमाण उद्योगों तथा सेवाओं के विस्तार पर निर्भर करना पड़ेगा।

सबसे बड़ी बात यह है कि रोजगार में वृद्धि के लिए मांग की संरचना को श्रम-प्रधान वस्तुओं की ओर परिवर्तित करना पड़ेगा। (The pattern of demand should change in a more labour intensive direction.) जहाँ तक निजी उपभोग व्यय का प्रश्न है, योजना आयोग ने यह अनुमान लगाया है कि आय के

वितरण की वर्तमान स्थिति में धनी वर्ग से 10 लाख रुपये का उपभोग निर्धन वर्ग की ओर स्थानान्तरित करने से 20-2 व्यक्ति वर्ष रोजगार (person-years employment) का सृजन किया जा सकता है। अतएव रोजगार की सुविधाओं में विस्तार के लिए यह आवश्यक है कि सरकार इस प्रकार की नीति का अनुगमन करे जिससे कि निर्धन वर्ग के हाथ में बड़े पैमाने पर क्रय-शक्ति का सृजन हो सके। इस उद्देश्य से योजना आयोग ने कई प्रकार के सुझाव प्रस्तुत किये हैं जिनमें सिंचाई की सुविधाओं में विस्तार, भूमि-सुधार-सम्बन्धी कार्यक्रमों को तीव्रता के साथ लागू करना तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली को अधिक कारगर बनाना इत्यादि है।

निजी मांग को प्रभावित करने के अतिरिक्त सरकार अपने विनियोग तथा व्यय में समायोजन के द्वारा भी रोजगार में वृद्धि कर सकती है। सामाजिक ऊपरी व्यय-सम्बन्धी सेवाएँ (Infrastructure services) जैसे—सड़क-निर्माण, जल-आपूर्ति एवं सामाजिक सेवाओं जैसे शिक्षा एवं स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुविधाओं के विस्तार से बहुत अधिक लोगों को रोजगार प्रदान किया जा सकता है। इसी प्रकार गाँवों के विद्युतीकरण से भी सिंचाई तथा लघु उद्योगों के विस्तार को प्रोत्साहन प्राप्त होगा। अतएव छठी योजना के अन्तर्गत राजकीय विनियोग का एक महत्वपूर्ण भाग इन्हीं सेवाओं के विस्तार, विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में लगाया जा रहा है। संशोधित न्यूनतम आवश्यक कार्यक्रम (Revised Minimum Needs Programmes) जिसके अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक एवं प्रौढ़ शिक्षा, ग्रामीण स्वास्थ्य एवं जल-आपूर्ति, ग्रामीण सड़क-निर्माण एवं विद्युतीकरण तथा ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिहीन व्यक्तियों के लिए आवास की सुविधा आदि सम्मिलित हैं उसे अगले दस वर्षों में 10 लाख व्यक्तियों के लिए वर्ष में 160 दिन तक कार्य दिलाने की आशा की जाती है। इसी प्रकार तकनीकी नीति के अन्तर्गत तकनीक में इस प्रकार के सुधार के समावेश का प्रयास किया जा रहा है जिससे कि रोजगार के साधनों में वृद्धि के कार्यक्रम को प्रश्रय मिले।

इस प्रकार छठी योजना में रोजगार के साधनों में वृद्धि के विभिन्न प्रयत्नों के परिणामस्वरूप पांच वर्षों में विभिन्न क्षेत्रों में 493 लाख व्यक्ति वर्ष (persons years) अतिरिक्त रोजगार के सृजन का अनुमान है जिसका अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है—

छठी योजना की अवधि में रोजगार में वृद्धि  
(लाख व्यक्ति वर्ष में)

| क्षेत्र          | 1977-78 | 1982-83 | योजना काल में वृद्धि |
|------------------|---------|---------|----------------------|
| 1. कृषि एवं      |         |         |                      |
| सम्बन्धी क्षेत्र | 992.1   | 1219.8  | 227.7                |



## भारत में बेकारी, अर्द्ध-बेरोजगारी एवं पूर्ण रोजगार

613

|                                          |        |        |       |
|------------------------------------------|--------|--------|-------|
| 2. खनन                                   | 9.0    | 13.5   | 4.5   |
| 3. विनिर्माण                             | 227.4  | 316.5  | 89.1  |
| 4. अन्य जिसमें सेवाएँ<br>भी सम्मिलित हैं | 442.2  | 613.5  | 171.3 |
| कुल                                      | 1670.7 | 2163.3 | 492.6 |

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि यदि योजना के सभी कार्यक्रम सफल हो जायें तो पाँच वर्षों में कुल 493 लाख व्यक्ति वर्ष रोजगार का सृजन होगा जिसमें से 228 लाख कृषि एवं तत्सम्बन्धी सेवाओं में, 94 लाख उद्योग एवं खनन में तथा शेष 171 लाख अन्य क्षेत्रों में होंगे।

**निष्कर्ष :—**इस प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं में बेरोजगारी की समस्या के समाधान का पूरा-पूरा प्रयास किया जा रहा है। किन्तु अभी देश में बेरोजगारों की संख्या में निरन्तर वृद्धि ही होती जा रही है। दूसरे शब्दों में, पंचवर्षीय योजनाओं में बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए अपनाये गये विभिन्न प्रयत्नों के बावजूद देश में बेरोजगारों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। वास्तव में, देश के लिए यह एक बहुत विकट समस्या है। इसी समस्या के समाधान पर हमारा भविष्य निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त देश में अर्द्ध-बेरोजगारी भी बहुत बड़े पैमाने पर पायी जाती है।

बेरोजगारी की समस्या का समाधान विनियोग की दर में वृद्धि तथा द्रुतगति से औद्योगीकरण के द्वारा किया जा सकता है। वास्तव में, भारत के आर्थिक विकास की योजनाओं का रोजगार-प्रधान होना अनिवार्य है, तभी इनसे देश की विशाल जनसंख्या को लाभ हो सकता है। अतएव हमारे देश में आर्थिक नियोजन की पद्धति इस प्रकार की होनी चाहिए कि समान विनियोग की मात्रा

से अधिकाधिक मात्रा में रोजगार के साधनों की व्यवस्था की जा सके। साथ ही, देश की शिक्षा-प्रणाली में भी इस प्रकार का परिवर्तन करना चाहिए जिससे यह अधिक व्यावसायिक हो तथा विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। इसके अतिरिक्त भूमि पर से जनसंख्या के अतिरिक्त बोझ को कम करने के उपायों को भी काम में लाना अनिवार्य है। इसके लिए ग्रामीण उद्योगों की अधिकाधिक व्यवस्था अनिवार्य है।

उपर्युक्त उपायों के साथ-साथ बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए जनसंख्या के नियोजन की प्रभावपूर्ण नीति को अपनाना भी अनिवार्य है। वास्तव में, हमारे देश में नये काम चाहनेवालों की संख्या में प्रति वर्ष इतनी अधिक वृद्धि होती है कि पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा इन्हें ही पूर्ण मात्रा में रोजगार नहीं प्रदान किया जा सकता है। इसके परिणामस्वरूप बेरोजगारों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है।

इतने बड़े पैमाने पर लोगों के लिए रोजगार की व्यवस्था केवल अल्पकालीन उपायों से संभव नहीं है। अतएव इस समस्या के समाधान के लिए एक दीर्घकालीन नीति अपनाने की प्रबल आवश्यकता है जिसमें एक ओर तो रोजगार के साधनों में वृद्धि पर जोर देना चाहिए तथा दूसरी ओर जनसंख्या का प्रभावपूर्ण तरीके से नियंत्रण करना चाहिए। इसी प्रकार की नीति से बेरोजगारी की समस्या का समाधान हो सकता है। छठी पंचवर्षीय योजना में आयोग ने इस समस्या के समाधान के लिए एक दीर्घकालीन दृष्टिकोण अपनाया है जिससे इस क्षेत्र में बहुत अधिक सुधार की आशा की जाती है। किन्तु समय ही इन उपायों की सफलता के सम्बन्ध में बतला सकता है।

## विशेष अध्ययन-सूची

- |                        |   |                                          |
|------------------------|---|------------------------------------------|
| 1. W. Beveridge        | : | Full Employment in a Free Society.       |
| 2. N. Das              | : | Unemployment, Full employment and India. |
| 3. Planning Commission | : | Third, Fourth & Fifth Five Year Plans.   |
| 4. Planning Commission | : | Sixth Five Year Plan.                    |





## अध्याय : 56

## केन्द्र एवं राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्ध

(Financial Relation between the Centre and State)

केन्द्र एवं राज्य के बीच आय के साधनों का वितरण :- प्रारम्भ में भारत की वित्तीय-व्यवस्था केन्द्रीय-भूत थी एवं सारी शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार के हाथ में ही केन्द्रित थीं। आगे चलकर धीरे-धीरे इसका विकास संघीय ढंग पर होने लगा और आज यहाँ की वित्तीय व्यवस्था पूर्ण रूप में संघीय हो गयी है। संविधान में केन्द्र एवं राज्यों की विषय-सूची निर्धारित कर दी गयी है और यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कौन-कौन से कर केन्द्रीय सरकार लगा सकती है तथा कौन-कौन कर राज्य सरकारें लगा सकती हैं। 1951 ई० के वित्त आयोग के अनुसार भारत की वित्तीय व्यवस्था के इतिहास को हम निम्न-लिखित चार कालों में विभाजित कर सकते हैं :-

- (1) ब्रिटिश शासनकाल के प्रारम्भ से लेकर 1919 ई० तक;
- (2) 1919 ई० से लेकर 31 मार्च, 1937 ई० तक;
- (3) 1 अप्रैल, 1937 ई० से लेकर 1947 ई० तक; तथा
- (4) 1947 ई० से स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद का समय।

प्रथम काल (1919 ई० के पूर्व का समय) :- ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने शासन-काल के प्रारम्भ में शासन की विभिन्न इकाइयों को वित्तीय मामलों में पूरी स्वतंत्रता दी थी। किंतु इससे विभिन्न क्षेत्रों के बीच शासन-सम्बन्धी भारी अन्तर उत्पन्न हो गये। अतः 1833 ई० में एक नियम द्वारा वित्त तथा राजस्व-पद्धति का केन्द्रीकरण किया गया। इससे केन्द्रीय शासन तो सुदृढ़ हो गया, परंतु इसने एक ही साथ कई गंभीर समस्याएँ उत्पन्न कर दीं। प्रांतीय सरकारें गैर-जिम्मेवार तरीके से खर्च करने लगीं। सभी प्रांतीय सरकारों ने अपनी आवश्यकता को बढ़ा-चढ़ा कर दिखलाना प्रारम्भ कर दिया जिससे कि केन्द्रीय सरकार से अधिक धन प्राप्त किया जा सके। परिणाम यह हुआ कि अव्यय, अकुशलता तथा प्रांतीय सरकारों के बीच आपसी संघर्ष बढ़ने लगे। सर जॉन स्ट्रेची के शब्दों में, "सरकारी आय के विभाजन में प्रांतों के बीच झगड़ा-फसाद होता था जिसमें अधिक झगड़ालू प्रांत ही अधिक लाभ में रहते थे।"

इस पद्धति को "निस्सार एकद्वयता एवं दुराग्रहपूर्ण केन्द्रीकरण" (Barren uniformity and pedantic

centralisation) की पद्धति कहा जाता था। लार्ड मेयो ने इन दोषों को दूर करने के लिए 1871 ई० में विकेन्द्रीकरण की पद्धति को अपनाया जिसके अनुसार जेल, रजिस्ट्रेशन, पुलिस, शिक्षा एवं सड़कें प्रांतीय सरकारों को सौंप दी गयीं। सरकारी कार्यों के समुचित संपादन के लिए प्रांतों को इन विभागों की आय के अतिरिक्त निश्चित मात्रा में केन्द्र ने अनुदान देना भी प्रारम्भ कर दिया। किन्तु, इस योजना ने प्रांतीय अर्थ-व्यवस्था की असमानताओं को और भी बढ़ा दिया। 1877 ई० में लार्ड लिटन ने प्रांतीय सरकारों को कुछ स्थानीय महत्त्व के साधनों का उत्तरदायित्व सौंप दिया तथा आय के कुछ साधनों को भी प्रदान किया। 1882 ई० में लार्ड रिपन ने वार्षिक अनुदान की जगह पर प्रांतों को कुछ साधनों से प्राप्त सम्पूर्ण आय तथा कुछ आंशिक आय देने का निश्चय किया। परिणामस्वरूप आय की तीन मुख्य मदें हो गयीं :- (1) साम्राज्यीय मदें (Imperial heads) जैसे-वाणिज्य विभागों के लाभ एवं अफीम, नमक आदि से प्राप्त आय, (2) प्रांतीय मदें (Provincial heads) जैसे-नागरिक विभाग एवं प्रांतीय कार्य; तथा (3) विभाजित मदें (Divided heads) जैसे-उत्पादन शुल्क, स्टाम्प, रजिस्ट्रेशन तथा वन इत्यादि। प्रत्येक पाँच वर्षों पर स्थिति का पुनर्वीक्षण किया जाता था। यह प्रणाली दीर्घकालीन दृष्टिकोण को अपनाने में सहायक अवश्य थी, किन्तु केन्द्रीय सरकार ने इसके अनुसार अपने लिए सदा अधिक-से-अधिक रखने का प्रयत्न किया था। इस प्रकार इस पद्धति से भी असन्तोष पूर्णतया समाप्त न हो सका। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि सरकारी आय पाँच वर्षों के लिए ही निश्चित रहती थी। इसे दूर करने के लिए लार्ड कर्जन ने 1904 ई० से इस पद्धति को अर्द्ध स्थायित्व (Quasi permanent) का रूप प्रदान किया। 1911 ई० में लार्ड हार्डिज ने इसे स्थायी बना दिया।

विकेन्द्रीकरण आयोग (Royal Decentralisation Commission) की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए लार्ड हार्डिज ने साधनों को निम्न प्रकार से विभाजित किया था :-

(क) केन्द्रीय आय के साधन :- नमक, टकसाल एवं विनिमय, सीमा-शुल्क, रेल, डाक-तार तथा देशी राज्यों से प्राप्त होने वाले दान।



(ख) विभाजित साधन :—आवकारी, आय-कर, सिचाई, स्टाम्प एवं लगान; तथा।

(ग) प्रान्तीय आय के साधन :—वन, रजिस्ट्रेशन, शिक्षा एवं न्याय-विभाग से प्राप्त आय।

यह व्यवस्था 1918 ई० तक चलती रही किन्तु इसके फलस्वरूप प्रान्तीय साधनों तथा आवश्यकताओं में अन्तर पूर्णतः समाप्त नहीं हो सका। इस व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह था कि इसके अन्तर्गत न तो प्रान्त नये कर लगा सकते थे और न ऋण ही ले सकते थे।

द्वितीय काल (1919 ई० से 1937 तक) : 1919 के शासन-सुधार अधिनियम के अनुसार केन्द्रीय एवं प्रांतीय सरकारों के आर्थिक सम्बन्ध को पुनः नये स्तर पर रखा गया। इसके अनुसार विभाजित साधनों को पूर्णतः समाप्त कर दिया गया। प्रांतीय सरकारों को कुछ विशेष परिस्थितियों में कर लगाने एवं ऋण देने का भी अधिकार दिया गया। इससे केन्द्र को 26 करोड़ रुपये का घाटा हुआ तथा प्रान्तों को कुछ बचत हुई जिसे पूरा करने के लिए यह निश्चित किया गया कि प्रान्त केन्द्रों को कुछ अंशदान (Provincial contribution) दिया करे।

मेस्टन परिनिर्णय (Meston Award) :—इस अंशदान को निश्चित करने के लिए लाड मेस्टन की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की गयी जिसके निर्णय को मेस्टन-परिनिर्णय (Meston Award) कहते हैं। इस समिति ने प्रत्येक प्रान्त के प्रारम्भिक, मध्यस्थ तथा प्रामाणिक चन्दे की सीमा को निश्चित कर दिया। कुछ संशोधन के साथ समिति की इन सिफारिशों को शासन-सुधार विधान में सम्मिलित कर लिया गया। किन्तु इससे भी कोई आशाजनक सुधार नहीं हुआ तथा मेस्टन-समिति की आशाओं के विपरीत प्रांतीय सरकारों को घाटा होने लगा। इससे अंशदान देना कुछ कठिन होने लगा। अतः 1927-28 ई० में उन्हें स्थगित कर दिया गया और अन्त में इसे 1928-29 ई० में बन्द कर दिया गया। मेस्टन निर्णय का कटु आलोचना की जाने लगी। इसका सबसे बड़ा दोष यह था कि प्रांतीय सरकारों की आय के साधन लोचहीन थे किन्तु इनकी आवश्यकताएँ तेजी के साथ बढ़ रही थीं। इसके विपरीत केन्द्रीय सरकार की आवश्यकताएँ प्रायः स्थायी थीं, किन्तु आय के साधन लोचपूर्ण थे और बढ़ भी रहे थे। इससे प्रान्तों का असंतोष बढ़ गया तथा मेस्टन-निर्णय समाप्त करने की मांग की जाने लगी।

तृतीय काल (1937-1947) : 1935 ई० में गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया ऐक्ट (Government of India Act) पारित हुआ जिसके अनुसार भारत एक संघीय देश हो गया। इस विधान के अनुसार प्रांतीय तथा संघीय आय के निम्नांकित साधन निश्चित किये गये—

(क) प्रांतों द्वारा लगाये गये तथा एकत्र किये गये कर—भूमि कर, सिचाई से प्राप्त आय, आवकारी (मादक द्रव्यों पर) कर, क्राय-भूमि पर उत्तराधिकार कर, वस्तु पर विक्रय कर तथा विज्ञापन कर।

(ख) संघ द्वारा लगाये गये तथा एकत्र किये गये कर जिसकी आय का प्रांतों के बीच वितरण होता था :—कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार पर कर, विनिमय-बिलों के स्टाम्प, रेलों तथा वायुयानों द्वारा ले जाये गये माल एवं यात्रियों के भाड़े पर कर।

(ग) संघ द्वारा लगाये गये तथा एकत्र किये गये कर जिनका प्रांतों एवं संघ के बीच वितरण होता था :—कृषि-आय कर के अतिरिक्त आय-कर, नमक, जूट-निर्यात-कर तथा तम्बाकू पर कर।

1936 ई० में उक्त विधान की धारा 138 एवं 140-42 के अन्तर्गत केन्द्र एवं प्रान्तों के वित्तीय सम्बन्धों की जाँच के लिए सर ओटो नेमियर (Sir Otto Nieme-yer) की नियुक्ति हुई। सर नेमियर ने यह सुझाव दिया कि निम्नलिखित निश्चित प्रतिशत के आधार पर आय-कर से प्राप्त होने वाली आय के 50 प्रतिशत को प्रांतों के बीच वितरित किया जाय; मद्रास 15, बम्बई 20, बंगाल 20, संयुक्त प्रांत 15, पंजाब 8, बिहार 10, मध्यप्रदेश 5, असम 2, उड़ीसा 2, सिन्ध तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रांत 1। जूट निर्यात कर के सम्बन्ध में सर नेमियर ने यह सिफारिश की थी कि प्रांतों को मिलने वाली आय का प्रतिशत बढ़ाकर 62 कर दिया जाय। सर नेमियर के अन्य सुझावों में निम्नलिखित प्रमुख थे :—(क) प्रांतीय संघटित ऋण को कम करके प्रांतों का वित्तीय निवारण किया जाय; तथा (ख) प्रांतों की आय की कमी को पूरा करने के लिए केन्द्र द्वारा वार्षिक अनुदान एवं आर्थिक सहायता प्रदान की जाय।

प्रान्तीय सरकारें सर नेमियर के सुझावों से संतुष्ट नहीं थीं। आय-कर के वास्तविक विभाजन से हर प्रान्त अपने-अलग-अलग कारणों से असंतुष्ट था। इसके अतिरिक्त प्रांतों को वित्तीय सहायता देने की योजना भी संतोषजनक नहीं थी क्योंकि इससे उनके वित्तीय स्तर में विशेष अन्तर का भय था।

चतुर्थ काल (1947 ई० से अब तक)—1947 ई० में देश का विभाजन हुआ एवं स्वतन्त्रता प्राप्त हुई जिससे नेमियर के सुझावों में परिवर्तन की आवश्यकता पड़ी। अतः भारत सरकार ने अस्थायी तौर पर आय-कर के वितरण के विषय में एक अध्यादेश निकाला जिसके अनुसार प्रांतों को आय-कर के अर्द्ध-भाग के वितरण का प्रतिशत इस प्रकार से निश्चित किया गया—मद्रास 18, बम्बई 11, पश्चिमी बंगाल 12, संयुक्त प्रान्त 19, पूर्वी पंजाब 5,



बिहार 13, मध्य प्रदेश तथा बरार 6, उड़ीसा एवं असम 3। इस सूत्र के अनुसार 1950 ई० तक काम किया गया।

**देशमुख परिनिर्णय (Deshmukh Award):**—नवम्बर, 1947 ई० में भारत सरकार ने श्री सी० डी० देशमुख को विभाजन के बाद की नवीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए प्रान्तों में आय-कर तथा जूट निर्यात-कर के वितरण के सम्बन्ध में सुझाव प्रस्तुत करने के लिए नियुक्त किया। श्री देशमुख ने राज्यों की जनसंख्या तथा आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए राज्यों के बीच आय-कर के वितरण के लिए निम्नांकित सूत्र दिया जो अप्रैल 1950 ई० से लागू हुआ—मद्रास 17.5, बम्बई 11, पश्चिमी बंगाल 13.5, उत्तर प्रदेश 18, पंजाब 5.5, बिहार 12.5, मध्य प्रदेश 6, असम तथा उड़ीसा 3। श्री देशमुख ने जूट-निर्यात कर में पश्चिमी बंगाल को 105 लाख, असम को 40 लाख, बिहार को 35 लाख तथा उड़ीसा को 5 लाख रुपये देने का सुझाव दिया।

इस प्रकार वर्तमान समय में कुछ करों से प्राप्त आय का पूर्णतः केन्द्रीय सरकार द्वारा उपयोग किया जाता है, कुछ करों से प्राप्त आय का केन्द्र एवं राज्यों के बीच वितरण किया जाता है तथा कुछ करों से प्राप्त आय पूर्णतः राज्यों के बीच वितरित कर दी जाती है।

### नये संविधान के वित्तीय उपबन्ध (Financial Provisions of the New Constitution)

भारत के नये संविधान में 1935 ई० के संविधान में दी गयी वित्तीय व्यवस्था को व्यवहारतः स्वीकार कर लिया गया है। संविधान की सातवीं अनुसूची में करों को निम्नांकित तीन प्रधान मदों में वितरित किया गया है :—

(i) संघ के अधिकार-क्षेत्र के कर (Sources of Revenue of the Union):—इनमें निम्नलिखित प्रधान कर सम्मिलित हैं :—कृषि-सम्बन्धी आय के अतिरिक्त अन्य आय पर कर (Taxes on Income other than agricultural income), निगम कर (Corporation Tax), मादक वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के उत्पादन पर कर, कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की जायदाद पर कर, मृत्यु कर, कुछ प्रकार के स्टाम्प कर, अखबारों के क्रय-विक्रय तथा उनमें दिये गये विज्ञापन पर कर, रेल-भाड़ा एवं किराये पर कर तथा राज्य या समवर्ती सूची में जो विशेष रूप से कर नहीं दिये गये हैं उन पर कर इत्यादि।

(ii) राज्यों द्वारा लगाये गये तथा वसूल किये जाने वाले कर (Sources of Revenue of the State):—इस श्रेणी में निम्नांकित करों को सम्मिलित किया गया है :—भूमि-कर, कृषि-आय कर, कृषि-भूमि कर, मृत्यु कर,

खनिज-पदार्थों पर कर, मादक वस्तुओं के उत्पादन पर कर, बिजली की बिक्री एवं उपभोग पर कर, अखबार के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर कर, कुछ प्रकार के स्टाम्प कर, रजिस्ट्रेशन फीस, सड़क तथा आन्तरिक जल-मार्ग पर पैसेंजर टैक्स आदि।

इससे स्पष्ट है कि महत्वपूर्ण तथा अपेक्षाकृत अधिक लोचदार स्रोत केन्द्रीय सरकार को दिये गये हैं, किन्तु कल्याण-कार्य तथा सामाजिक सेवाओं का भार मुख्य रूप से राज्यों को सौंपा गया है। अतः इनके साधनों तथा जिम्मेदारियों में बहुत बड़ा अन्तर आ जाता है। इसे दूर करने के लिए केन्द्र द्वारा राज्यों को कुछ अनुदान देने की व्यवस्था है।

(iii) संविधान में कुछ ऐसे भी कर हैं जिनमें राज्य एवं केन्द्र दोनों ही भागीदार होंगे। इन्हें भी निम्नांकित तीन वर्गों में रखा गया है :—

(क) संघ द्वारा लगाये गये किन्तु राज्यों द्वारा एकत्र तथा उपयोग किये गये कर (Duties levied by the Union, but collected and appropriated by the States); जैसे मदिरा तथा अफीम के प्रयोग से बनायी गयी औषधियों एवं टॉयलेट वस्तुओं पर लगाये गये कर।

(ख) संघ द्वारा लगाये गये तथा एकत्र किये गये कर जिन्हें राज्य सरकारों को दे दिया जाता है; जैसे—कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सम्पत्ति पर सम्पत्ति कर, रेलवे के भाड़े पर कर तथा अखबारों के क्रय-विक्रय एवं इनके विज्ञापन पर कर इत्यादि।

(ग) संघ द्वारा लगाये गये एवं एकत्र किये गये कर जिनका संघ एवं राज्यों के बीच वितरण होता है (Taxes levied and collected by the Union which are distributed between the Union and States); जैसे—कृषि-आय के अतिरिक्त अन्य आय-कर, कुछ वस्तुओं के उत्पादन पर लगाये गये उत्पादन-कर इत्यादि।

इनके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों के बीच संतुलन स्थापित करने के उद्देश्य से संविधान में संघ द्वारा राज्यों को सहायता एवं अनुदान (Grants-in-aid) भी देने की व्यवस्था है।

### प्रथम वित्त आयोग (First Finance Commission)

श्री देशमुख का परिनिर्णय अस्थायी था, फिर भी इससे राज्यों को संतोष नहीं हुआ। भारतीय संविधान की धारा 280 के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा संविधान प्रारम्भ होने के दो वर्षों के अन्दर और पुनः प्रत्येक पाँच-पाँच वर्षों पर या आवश्यकता पड़ने पर इससे पहले भी एक वित्त



आयोग (Finance Commission) की नियुक्ति की व्यवस्था थी। अतः नवम्बर 1951 ई० में श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में प्रथम वित्त आयोग की नियुक्ति की गयी। इस आयोग के विचारधारा दो प्रमुख बातें थीं—(1) संघ एवं राज्यों के बीच कुछ करों से प्राप्त आय के विभाजन के सम्बन्ध में सुझाव देना, तथा (2) उन सिद्धान्तों को निश्चित करना जिनके अनुसार राज्यों को संचित निधि (Consolidated Fund) में से अनुदान दिया जा सके। वित्त आयोग ने अपनी रिपोर्ट 1952 ई० में प्रस्तुत की। आयोग ने अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करने में निम्नांकित तीन सिद्धान्तों को अपनाया था :—

(क) राज्यों को अतिरिक्त साधन अथवा धन-राशि देने में केन्द्र के साधनों का उस सीमा तक प्रयोग करना चाहिए जिससे केन्द्र के लिए धन की कमी नहीं पड़े। इसका कारण यही है कि राज्यों की उन्नति का आधार केन्द्र की सुदृढ़ वित्तीय स्थिति ही है। अतः केन्द्र में सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था बनाये रखने के सम्बन्ध में केन्द्र की अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखना चाहिए।

(ख) केन्द्र द्वारा राज्यों को दिये जाने वाले अनुदान के वितरण में सभी राज्यों के साथ एक ही सिद्धान्त का पालन किया जाना चाहिए; तथा

(ग) वितरण की व्यवस्था इस प्रकार से होनी चाहिए जिससे राज्यों की आपसी विषमता कम-से-कम हो सके।

आय कर का वितरण :—आयोग ने आय-कर के वितरण में इस बात की सिफारिश की कि राज्यों का अंश 50 प्रतिशत से बढ़ाकर 55 प्रतिशत कर दिया जाय। इसका कारण यह दिया गया कि एक ओर तो सभी राज्य अधिक अंश की मांग कर रहे थे और दूसरी ओर पहले इसका वितरण केवल 9 राज्यों में ही किया जाता था, किन्तु अब इसका वितरण 16 राज्यों के बीच करना था। आय कर के वितरण को निश्चित करने में आयोग ने निम्नलिखित सात बातों पर विचार किया—(1) विभिन्न राज्यों से वसूल की गयी आय कर की धन-राशि; (2) विभिन्न राज्यों में रहने वाले व्यक्तियों की आय, चाहे वह जहाँ से भी प्राप्त की गयी हो, पर वसूल किया गया कर; (3) आय के स्रोतों के अनुसार विभिन्न राज्यों में एकत्र आय-कर; (4) प्रत्येक राज्य की जनसंख्या; (5) प्रत्येक राज्य में औद्योगिक श्रमिकों की संख्या; (6) प्रत्येक राज्य की प्रति-व्यक्ति आय; तथा (7) जनसंख्या का घनत्व एवं आर्थिक विकास का स्तर, इत्यादि।

आय-कर के वितरण में आयोग ने उक्त बातों को ध्यान में रखा। आयोग के समक्ष इस सम्बन्ध में बहुत-से सुझाव दिये गये थे। कुछ राज्यों ने इस प्रकार का सुझाव रखा था कि आय कर के वितरण में विभिन्न

राज्यों में वसूल की गयी धन-राशि को ही आधार मानना चाहिए। किन्तु आयोग के अनुसार राज्य द्वारा वसूल की गयी धन-राशि को आधार मानना भी उचित नहीं होगा क्योंकि आय कर से प्राप्त होने वाली कुल धन-राशि का प्रायः 75 प्रतिशत भाग केवल बम्बई तथा पश्चिमी बंगाल से ही प्राप्त होता था और इस धन-राशि का भी अधिकांश भाग केवल बम्बई तथा कलकत्ता के दो नगरों से ही प्राप्त होता था। अतः केवल इस बात पर अधिक जोर देने का अर्थ यह होता कि अधिकांश भाग इन्हीं दो राज्यों को मिल जाता। इसी प्रकार प्रत्येक राज्य की आवश्यकताओं की जानकारी के लिए वित्त-आयोग ने न तो औद्योगिक श्रम को ही आधार माना और न प्रति व्यक्ति आय को ही। आयोग के अनुसार औद्योगिक श्रम से भी केवल आंशिक स्थिति का ही संकेत मिल सकता है। साथ ही, राज्यों की प्रति-व्यक्ति आय के सम्बन्ध में उपयुक्त आँकड़े उपलब्ध भी नहीं हैं, अतः आयोग ने यह माना कि वर्तमान परिस्थितियों में प्रत्येक राज्य की आवश्यकताओं का पता लगाने के लिए उसकी जनसंख्या ही उपयुक्त साधन है।

इस आधार पर आयोग ने यह सिफारिश की कि राज्यों को दिये जानेवाले आय कर का 20 प्रतिशत भाग राज्यों में संग्रहीत आय के अनुपात से तथा 80 प्रतिशत भाग 1951 ई० की जनगणना के अनुसार उनकी जनसंख्या के आधार पर वितरित किया जाय। इस प्रकार आयोग द्वारा 'क' एवं 'ख' वर्ग के राज्यों के लिए निम्नलिखित प्रतिशत निश्चित किये गये :—

| राज्य                         | ऑटो नेमियार सूत्र के अनुसार | प्रथम वित्त आयोग द्वारा निर्धारित प्रतिशत |
|-------------------------------|-----------------------------|-------------------------------------------|
| 'क' वर्ग के राज्य             | प्रतिशत                     | प्रतिशत                                   |
| 1. मद्रास <sup>1</sup>        | 15                          | 15.25                                     |
| 2. बम्बई                      | 20                          | 17.50                                     |
| 3. पश्चिमी बंगाल <sup>2</sup> | 20                          | 11.25                                     |
| 4. उत्तर प्रदेश               | 15                          | 15.75                                     |
| 5. पंजाब                      | 8                           | 3.25                                      |
| 6. बिहार                      | 10                          | 9.75                                      |
| 7. मध्य प्रदेश                | 5                           | 5.25                                      |
| 8. असम                        | 2                           | 2.25                                      |
| 9. उड़ीसा                     | 2                           | 3.50                                      |

1. मद्रास राज्य के कुल हिस्से का 36 प्रतिशत भाग आन्ध्र को मिला।

2. ऑटो नेमियार सूत्र के अन्तर्गत के प्रतिशत विभाजन के पूर्व के हैं।



## ख. 'वर्ग के राज्य'

|                     |      |      |
|---------------------|------|------|
| 10. हैदराबाद        | .... | 4.50 |
| 11. राजस्थान        | .... | 3.50 |
| 12. द्रावनकोर-कोचीन | .... | 2.50 |
| 13. मैसूर (कर्नाटक) | .... | 2.75 |
| 14. मध्य भारत       | .... | 1.75 |
| 15. सौराष्ट्र       | .... | 1.00 |
| 16. पेप्सू          | .... | 0.75 |

आयोग ने 'ग' वर्ग के राज्यों का हिस्सा 2.75 प्रतिशत निश्चित किया :

केन्द्रीय उत्पाद-शुल्क का वितरण (Distribution of the Union Excise Revenue) :—उत्पाद-शुल्क पहले आय का महत्वपूर्ण साधन नहीं माना जाता था, किन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद इसका महत्त्व बहुत बढ़ गया। केन्द्रीय उत्पाद-शुल्क से प्राप्त आय को पहले केन्द्र एवं प्रान्तों के बीच विभाजित किया जाता था। प्रान्तों को मादक द्रव्यों पर शुल्क लगाने का अधिकार था तथा केन्द्रीय सरकार पेट्रोलियम, नमक, टायर-ट्यूब आदि पर कर लगा सकती थी। दियासलाई, चीनी, तम्बाकू तथा वनस्पति घी आदि पर उत्पाद-शुल्क के देशी रियासतों के साथ वितरण की भी व्यवस्था थी, किन्तु देशी रियासतों के विलयन के बाद यह व्यवस्था समाप्त हो गयी। भारतीय संविधान में केन्द्रीय उत्पाद-कर से प्राप्त होनेवाली सम्पूर्ण आय या उसका कुछ अंश राज्यों में विभाजित करने की व्यवस्था की गयी है। अतः अधिकांश राज्यों ने वित्त आयोग से उत्पाद-शुल्क से प्राप्त आय के वितरण की मांग की। आयोग ने तम्बाकू (सिगरेट, सिगार इत्यादि), दियासलाई तथा वनस्पति घी पर लगाये गये उत्पाद-शुल्कों से होनेवाली आय के 40 प्रतिशत को विभिन्न राज्यों में 1951 ई० की जनगणना के अनुसार वितरण करने की सिफारिश की। आयोग ने इस पर विभिन्न राज्यों के लिए वितरण का प्रतिशत इस प्रकार से निश्चित किया :—

| 'क' वर्ग के राज्य   | प्रतिशत |
|---------------------|---------|
| असम                 | 2.61    |
| बिहार               | 1.60    |
| बम्बई               | 10.37   |
| मद्रास <sup>1</sup> | 16.44   |
| उड़ीसा              | 4.22    |
| मध्य प्रदेश         | 6.13    |
| पंजाब               | 3.66    |
| उत्तर प्रदेश        | 18.22   |
| पश्चिम बंगाल        | 7.17    |

1. मद्रास की प्राप्त रकम का 36 प्रतिशत भाग आन्ध्र के लिए निश्चित कर दिया गया।

## केन्द्रीय उत्पाद-शुल्क का वितरण

| 'ख' वर्ग के राज्य | प्रतिशत |
|-------------------|---------|
| हैदराबाद          | 5.29    |
| मध्यभारत          | 2.29    |
| मैसूर (कनटक)      | 2.62    |
| पेप्सू            | 1.00    |
| राजस्थान          | 4.40    |
| सौराष्ट्र         | 1.19    |
| द्रावनकोर-कोचीन   | 2.68    |

जूट-निर्यात कर (Export duty on Jute) :— वित्त आयोग ने संविधान के अनुच्छेद 273 के अन्तर्गत जूट-पदार्थों के निर्यात-कर से प्राप्त आय के बंगाल, असम, बिहार एवं उड़ीसा को निम्न प्रकार से अनुदान देने की सिफारिश की :—

(लाख रुपये में)

| राज्य            | देशमुख निर्णय के अनुसार | वित्त आयोग द्वारा निर्धारित धनराशि |
|------------------|-------------------------|------------------------------------|
| 1. पश्चिमी बंगाल | 10.5                    | 150                                |
| 2. असम           | 40                      | 75                                 |
| 3. बिहार         | 35                      | 75                                 |
| 4. उड़ीसा        | 5                       | 15                                 |

अनुदान (Grants-in-aid) :—वित्त आयोग ने केन्द्रीय राजस्व में से राज्यों को अनुदान देने के प्रश्न पर भी विचार किया। इस सम्बन्ध में आयोग ने विभिन्न सिद्धान्तों पर विचार किया, जैसे—बजट-सम्बन्धी आवश्यकताएँ, करों का प्रभाव, समाज-सेवाओं का स्तर, विशेष जिम्मेवारियाँ तथा राष्ट्रीय महत्त्व के कार्य इत्यादि। आयोग के अनुसार किसी राज्य को अनुदान की आवश्यकता है या नहीं, यदि है तो कितनी है तथा राज्य अपनी कर-प्रणाली का किस हद तक उपयोग करता है आदि के अध्ययन से किसी राज्य की आवश्यकता के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इस सम्बन्ध में समाज-सेवाओं के स्तर तथा विभिन्न परिस्थितियों एवं जिम्मेवारियों का भी विशेष महत्त्व है। आयोग ने पश्चिमी बंगाल के लिए 80 लाख रुपये तथा पूर्वी पंजाब के लिए 125 लाख रुपये का अनुदान निर्धारित किया क्योंकि विभाजन के फलस्वरूप इन राज्यों में कुछ विशेष समस्याएँ उत्पन्न हो गयी थीं। इनके अतिरिक्त असम को 1 करोड़, उड़ीसा को 75 लाख, द्रावनकोर कोचीन को 45 लाख एवं सौराष्ट्र को 40 लाख रुपये का अनुदान निर्धारित किया गया। विभिन्न राज्यों के अनुदान के निर्धारण में आयोग ने बहुत-से उद्देश्यों को अपने समक्ष रखा था। आयोग के अनुसार



अनुदान का मुख्य उद्देश्य राज्यों की पिछड़ी हुई आर्थिक व्यवस्था, आय के साधनों का अभाव तथा आर्थिक समस्याओं पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया था। इसके अतिरिक्त आयोग ने बिहार, मध्य भारत, हैदराबाद, राजस्थान, उड़ीसा, पंजाब तथा पेश्पुरा राज्यों में प्रारम्भिक शिक्षा की सुविधाओं में विस्तार के लिए अनुदान की भी सिफारिश की थी।

**प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशों की समीक्षा**  
(An Appraisal of the Recommendations of First Finance Commission) :—प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशों की कई बातों को लेकर आलोचना भी की गयी थी। कहा गया था कि आयोग द्वारा निर्धारित सिद्धांत न्यायोचित नहीं थे। आयोग ने यह मान लिया था कि राज्य की आवश्यकताओं को मापने का सबसे उचित साधन उसकी जनसंख्या ही है। किन्तु यह उचित नहीं जान पड़ता। वास्तव में, जनसंख्या के साथ-साथ राज्यों के आर्थिक पिछड़ेपन, वित्तीय कठिनाइयों तथा विशेष परिस्थितियों एवं जिम्मेदारियों पर भी उचित ध्यान देना आवश्यक है। आयोग ने आय-कर तथा उत्पाद-शुल्क दोनों के वितरण में उक्त बातों पर अधिक जोर नहीं दिया। किसी राज्य से प्राप्त होने वाली आय को भी वितरण का आधार मानना न्यायसंगत नहीं है। इसी प्रकार बम्बई जैसे-धनी राज्य की आवश्यकता असम एवं उड़ीसा जैसे राज्यों से निश्चय ही बहुत कम है। अतः न्यायोचित यह होता कि गरीब एवं पिछड़े राज्यों को, चहे उनकी जनसंख्या कम हो अथवा अधिक धनी एवं विकसित राज्यों की तुलना में राजस्व में वितरण में प्राथमिकता प्रदान की जानी चाहिए थी। किन्तु, आय-कर एवं उत्पाद-शुल्क के वितरण में आयोग ने इस बात पर उचित ध्यान नहीं दिया।

भारत सरकार ने प्रथम वित्त-आयोग की सभी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। वास्तव में, आयोग की सिफारिशों के कार्यान्वयन से केन्द्र एवं राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध में बहुत कुछ सुधार हुआ। साथ ही आयोग की सिफारिशों ने मियर तथा देशमुख के निर्णय की अपेक्षा अधिक न्यायोचित भी थीं। इसके फलस्वरूप राज्यों को केन्द्र से प्रतिवर्ष 21 करोड़ रुपये की अतिरिक्त रकम प्राप्त होने लगी। आयोग ने पिछड़े राज्यों को विशेष अनुदान प्रदान करने की व्यवस्था कर संघ की वित्तीय व्यवस्था में एक नये अध्याय का प्रादुर्भाव किया। अन्य वित्त आयोगों ने भी प्रथम आयोग द्वारा दिखाये गये मार्ग का अनुसरण कर पिछड़े राज्यों की समस्याओं के समाधान में विशेष सहयोग प्रदान करने का प्रयास किया।

## द्वितीय वित्त आयोग (Second Finance Commission)

संविधान के 280 वें अनुच्छेद में यह व्यवस्था है कि प्रति पाँच वर्षों पर राष्ट्रपति द्वारा एक वित्त आयोग की नियुक्ति की जायगी। इसी आधार पर जून, 1956 ई० में श्री के० सन्तानम की अध्यक्षता में द्वितीय वित्त आयोग को नियुक्ति हुई जिसने सितम्बर, 1957 ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। द्वितीय वित्त आयोग की सिफारिशों से राज्यों को पहले से अधिक लाभ प्राप्त हुआ तथा इन्हें केन्द्र से अनुदान एवं अंशदान के रूप में प्रायः 104 करोड़ रुपये मिलने लगे (रेलवे भाड़ा पर लगाये गये कर से प्राप्त 15 करोड़ रुपये के अतिरिक्त) जबकि प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशों के आधार पर इन्हें औसत रूप से वार्षिक 93 करोड़ रुपये ही प्राप्त होते थे।

आयोग ने आय कर में से राज्यों को अंशदान के रूप में मिलने वाली रकम को 55 प्रतिशत से बढ़ाकर 60 प्रतिशत कर दिया। केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों को शुद्ध-प्राप्ति (Net-proceeds) के 1 प्रतिशत भाग देने की व्यवस्था की गयी। आयोग ने विभिन्न राज्यों के बीच इस अंशदान के वितरण में 10 प्रतिशत भाग राज्यों द्वारा संग्रहीत आय के अनुपात में तथा 90 प्रतिशत भाग उनकी जनसंख्या के अनुपात में वितरित करने की सिफारिश की। प्रथम आयोग के अनुसार 20 प्रतिशत संग्रहीत आय तथा 81 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर वितरण किया जाता था।

प्रथम वित्त-आयोग ने तम्बाकू, दियासलाई तथा वनस्पति घी पर लगाये गए उत्पाद-शुल्क के 40 प्रतिशत भाग को राज्यों में बाँटने की सिफारिश की थी। द्वितीय आयोग ने उत्पाद-शुल्क में राज्यों के हिस्से को 40 प्रतिशत से घटाकर 25 प्रतिशत करने की सिफारिश की। किन्तु तम्बाकू, दियासलाई तथा वनस्पति घी के अतिरिक्त राज्यों को चीनी, चाय, कहवा तथा कागज के उत्पाद-शुल्क की रकम में से 90 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर वितरित करने की सिफारिश की गयी। मिल के कपड़े, चीनी तथा तम्बाकू पर बिक्री कर की जगह लगाये जाने वाले अतिरिक्त उत्पाद-शुल्क में से 1 प्रतिशत केन्द्रीय शासित प्रदेशों को  $1\frac{1}{2}$  प्रतिशत जम्मू एवं कश्मीर को देने की सिफारिश की गयी। शेष रकम के विभिन्न राज्यों में विभाजन के लिए भी आयोग ने एक निश्चित प्रतिशत निर्धारित किया था।

मृत्यु-कर, जो सर्वप्रथम 1953 ई० में लगाया गया था, की आय को विभिन्न राज्यों के बीच आय-कर के अनुपात में ही विभाजित किया जाता था। आयोग ने इस सम्बन्ध में यह सिफारिश की थी कि केन्द्र द्वारा शासित



प्रदेशों के लिए 1 प्रतिशत काट कर कुल आय में से स्थायी सम्पत्ति से मृत्यु-कर के रूप में प्राप्त आय को राज्यों के बीच उनकी स्थायी सम्पत्ति से संग्रहीत आय के आधार पर तथा शेष रकम को राज्यों की जनसंख्या के आधार पर विभाजित किया जाना चाहिए।

रेलों के भाड़े पर लगाये गये कर (Tax on Railway fares) के सम्बन्ध में आयोग ने यह सिफारिश की कि इससे प्राप्त कुल आय में से 1 प्रतिशत केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों के लिए काटकर शेष राज्यों के बीच वितरित कर देना चाहिए।

द्वितीय वित्त आयोग की सिफारिशों के आधार पर राज्यों की केन्द्र से अंगदान एवं अनुदान के रूप में प्रतिवर्ष 140 करोड़ रुपये प्राप्त होने लगे जबकि प्रथम आयोग की सिफारिशों के आधार पर उन्हें औसतन 93 करोड़ रुपये प्रति वित्त ही प्राप्त होते थे। इस प्रकार राज्यों के लिए द्वितीय वित्त आयोग की सिफारिशें निश्चय ही लाभदायक थीं।

### तृतीय वित्त आयोग

(Third Finance Commission)

संविधान के 280 वें अनुच्छेद के अनुसार राष्ट्रपति ने 2 दिसम्बर, 1960 ई० को तृतीय वित्त आयोग की नियुक्ति की जिसने 14 दिसम्बर, 1961 ई० को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। तृतीय वित्त आयोग को निम्नलिखित विषयों के सम्बन्ध में अपना प्रतिवेदन देना था—(क) करों से प्राप्त शुद्ध आय का केन्द्र एवं राज्यों के बीच किस सिद्धांत के अनुसार विभाजन हो; तथा (ख) किस आधार पर केन्द्रीय सरकार राज्यों को अनुदान दे। इनके अतिरिक्त आयोग को राष्ट्रपति को निम्नांकित विषयों के सम्बन्ध में भी सिफारिशें देनी थीं—(i) तृतीय पंचवर्षीय योजना की आवश्यकताओं एवं राज्य के साधनों को ध्यान में रखते हुए राज्यों के बीच अनुदान के विभाजन का क्या सिद्धांत होना चाहिए, (ii) कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर लगाये गये मृत्यु-कर का राज्यों के बीच किस आधार पर वितरण किया जाय, (iii) रेलवे भाड़े पर लगाये गये कर से प्राप्त शुद्ध आय का राज्यों के बीच किस आधार पर वितरण किया जाय, तथा (iv) सूती वस्त्र, रेशम, ऊनी वस्त्र, चीनी, तम्बाकू आदि वस्तुओं पर विक्रय-कर के बदले लगाया गया उत्पाद-कर किस सिद्धांत के आधार पर वितरित किया जाय।

तृतीय वित्त आयोग की प्रमुख सिफारिशें निम्नांकित हैं :

मृत्यु-कर :—1 अप्रैल, 1962 ई० से लेकर 4 वर्षों तक कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की सम्पत्ति

से प्राप्त कुल आय में से 1 प्रतिशत केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों (Union Territories) के लिए रखा जाय। इसके बाद शेष को गतिशील (Movable) एवं अगतिशील (Immovable) सम्पत्ति से प्राप्त आय के आधार पर अलग-अलग किया जाय और अगतिशील सम्पत्ति से प्राप्त आय का विभाजन विभिन्न राज्यों के बीच प्रत्येक राज्य की कुल अगतिशील सम्पत्ति के अनुपात में तथा अन्य प्रकार की सम्पत्ति से प्राप्त आय को विभिन्न राज्यों के बीच आयोग द्वारा प्रस्तावित पर दी गयी तालिका के अनुपात में वितरित किया जाय।

अनुदान (Grants-in-aid) :—संविधान की धारा 235 (क) के अन्तर्गत आयोग द्वारा प्रस्तावित रकम के अनुसार केन्द्रीय सरकार-राज्य सरकारों को अनुदान देगी।

आयकर (Income Tax) :—कृषि आय पर कर तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये गये पारिश्रमिक के ऊपर संग्रहीत आय कर के अतिरिक्त सभी प्रकार की आय पर प्राप्त आय कर का 66 $\frac{2}{3}$  प्रतिशत राज्यों के बीच वितरित किया जाय। द्वितीय वित्त आयोग के अनुसार राज्यों की आय का 60 प्रतिशत वितरित किया जाता था। आय-कर में से केन्द्र शासित क्षेत्रों का हिस्सा 2 $\frac{1}{2}$  प्रतिशत निश्चित किया गया।

केन्द्रीय उत्पाद कर (Central Excise Duties) :—1 अप्रैल, 1962 ई० से लेकर 4 वर्षों तक आयोग द्वारा वर्णित वस्तुओं के उत्पाद-कर से प्राप्त कुल आय को राज्यों के बीच बाँट दिया जाय।

अतिरिक्त उत्पाद-कर (Additional Excise Duties) :—1 अप्रैल, 1962 ई० से लेकर चार वर्षों तक सूती वस्त्र, कृत्रिम रेशम के कपड़े, रेशमी वस्त्र, ऊनी वस्त्र, चीनी तथा तम्बाकू पर विक्रय-कर के बदले लगाये गये उत्पाद-कर में से 1 प्रतिशत केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों के लिए, 1 $\frac{1}{2}$  प्रतिशत जम्मू एवं कश्मीर के लिए तथा शेष को विभिन्न राज्यों में निम्न प्रकार से वितरित किया जाय—(क) 1956-57 ई० में इन वस्तुओं के विक्रय-कर से विभिन्न राज्यों को प्राप्त आय की रकम में बराबर रकम उन्हें दी जाय तथा शेष को आयोग द्वारा प्रस्तावित अनुपात में वितरित किया जाय। (ख) शेष रकम का वितरण विभिन्न राज्यों के बीच आयोग द्वारा प्रस्तावित अनुपात में वितरित के अनुसार किया जाय।

रेलवे पैसेन्जर फेयर पर कर के बदले अनुदान (Grants in lieu of tax on railway passenger fare) :—आयोग ने रेलवे पैसेन्जर फेयर पर कर के बदले 1 अप्रैल, 1962 ई० से प्रतिवर्ष 125 करोड़ रुपये राज्यों के बीच वितरित करने की सिफारिश की।



## केन्द्र एवं राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्ध

तृतीय वित्त आयोग की सिफारिशों से राज्यों को निस्सन्देह पहले की अपेक्षा बहुत अधिक साधन प्राप्त हुए हैं। वास्तव में, राज्यों के बढ़ते हुए दायित्व को देखते हुए ऐसा आवश्यक भी जान पड़ता है।

**तृतीय वित्त आयोग की सिफारिशों की समीक्षा**  
(An Appraisal of the Recommendations of the Third Finance Commission) :—तृतीय वित्त आयोग की सिफारिशों से राज्यों को निस्सन्देह पहले की अपेक्षा अधिक साधन प्राप्त हुए। वास्तव में, राज्यों के बढ़ते हुए दायित्व को देखते हुए यह आवश्यक भी जान पड़ता था। किन्तु आयोग द्वारा प्रस्तावित राज्यों के अनुदान की सम्पूर्ण रकम सरकार द्वारा नहीं स्वीकार की गयी। अतएव इससे केवल 10 राज्य ही लाभान्वित हुए तथा बिहार, महाराष्ट्र, पंजाब, उत्तर प्रदेश एवं पश्चिमी बंगाल पाँच राज्य लाभान्वित नहीं हुए। इससे इन राज्यों की वित्तीय कठिनाइयाँ बहुत ही बढ़ गयीं।

### चतुर्थ वित्त-आयोग

#### (Fourth Finance Commission)

संविधान के 280 वें अनुच्छेद के अनुसार राष्ट्रपति ने 5 मई, 1964 ई० को डा० पी० पी० राजमन्नार की अध्यक्षता में चतुर्थ वित्त आयोग की नियुक्ति की जिसने 12 अगस्त, 1965 ई० को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। संविधान के 280 वें अनुच्छेद के अनुसार वित्त-आयोग को निम्नांकित विषयों पर अपना प्रतिवेदन देना था—(i) करों से प्राप्त शुद्ध आय का केन्द्र एवं राज्यों के बीच किस सिद्धांत के अनुसार विभाजन हो; तथा (ii) किस आधार पर केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को अनुदान दे। इनके अतिरिक्त आयोग को निम्नांकित विषयों के संबंध में भी सिफारिश करनी थी :—(क) किन-किन राज्यों को अनुदान की आवश्यकता है और कितनी आवश्यकता है, (ख) संविधान के अनुच्छेद 269 के अनुसार मृत्यु-कर से प्राप्त आय के राज्यों के बीच वितरण के सिद्धांत में किये जाने वाले परिवर्तन; (ग) रेलवे भाड़े पर कर के बदले राज्यों को दिये जाने वाले अनुदान के वितरण के सिद्धांत में परिवर्तन, यदि ऐसा आवश्यक हो; (घ) सूती वस्त्र, रेशमी तथा कृत्रिम रेशम के वस्त्र, ऊनी वस्त्र, चीनी तथा तम्बाकू पर राज्यों के विक्रय-कर के बदले लगाये गये अतिरिक्त उत्पाद-कर से प्राप्त शुद्ध आय के राज्यों के बीच वितरण के सिद्धांत में परिवर्तन, यदि ऐसा आवश्यक हो, (च) उन वस्तुओं जिनके करों का राज्यों के बीच वितरण किया जाता है के उत्पादन, उपभोग तथा निर्यात पर राज्यों के विक्रय कर तथा संघीय उत्पाद-कर के सम्मिलित प्रभाव (Combined incidence) तथा यदि उस पर राज्य के विक्रय-करों में वृद्धि हो तो राज्यों के हिस्से में समायोजन के सम्बन्ध में

सिफारिश करना। आयोग की सिफारिशें 1 अप्रैल, 1966 ई० से लेकर 5 वर्षों तक लागू रहने की थी।

चतुर्थ वित्त आयोग को प्रमुख सिफारिशें निम्नांकित थीं

**मृत्यु-कर (Death duty) :**—आयोग के अनुसार कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की सम्पत्ति से प्राप्त कर में से 2 प्रतिशत केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों (Union territories) के लिए रखा जाय। शेष को अगतिशील (immovable) एवं अन्य (property other than immovable) सम्पत्ति से प्राप्त आय के आधार पर अलग-अलग किया जाय और अगतिशील सम्पत्ति से प्राप्त आय को विभिन्न राज्यों के बीच इनकी कुल अगतिशील सम्पत्ति के मूल्य के अनुपात में वितरित किया जाय तथा अन्य प्रकार की सम्पत्ति से प्राप्त आय को राज्यों की जनसंख्या के आधार पर इनके बीच वितरित किया जाय।

**रेलवे भाड़े पर कर के बदले में अनुदान (Grants in lieu of Taxation on Railway Fare) :**—1957 ई० में रेलवे भाड़े पर एक कर लगाया गया था जिसे 1961 ई० में रेलवे भाड़े में मिला दिया गया। किन्तु संघीय सरकार ने रेलवे भाड़े के बदले में 12-50 करोड़ रुपये की रकम को राज्यों के बीच वितरित करने का निर्णय किया। चतुर्थ आयोग ने भी इसी रकम को राज्यों के बीच 625 पृष्ठ की तालिका के अनुसार वितरित करने की सिफारिश की। चतुर्थ आयोग ने प्रत्येक राज्य के लिए रकम को निश्चित नहीं कर राज्यों के हिस्से को प्रतिशत के रूप में दिखलाया था।

**आय-कर (Income Tax) :**—चतुर्थ वित्त आयोग ने कृषि-आय तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये गये पारिश्रमिक के ऊपर संग्रहीत कर के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की आय पर प्राप्त आय कर का 75 प्रतिशत भाग राज्यों के बीच विभाजित करने की सिफारिश की। (तृतीय आयोग ने इस सम्बन्ध में 66 प्रतिशत के विभाजन की सिफारिश की थी।) इसमें 80 प्रतिशत राज्यों की जनसंख्या के आधार पर तथा 20 प्रतिशत भाग उनमें संग्रहीत कर के आधार पर वितरित करने की सिफारिश की गयी। आयोग ने 1961 ई० की जनगणना तथा 1963-64 ई० के पूर्व तीन वर्षों के औसत संग्रह पर राज्यों के बीच विभाजन का प्रतिशत निश्चित कर दिया जो पृष्ठ 625 की तालिका से स्पष्ट है। आय कर में से केन्द्र-शासित क्षेत्रों (Union territories) का हिस्सा 2 प्रतिशत निश्चित किया गया।

**केन्द्रीय उत्पाद-कर (Union Excise Duty) :**—आयोग ने इस बात की सिफारिश की कि 1966-67 से लेकर 1970-71 तक पाँच वर्षों में संविधान के अनुच्छेद 272 के अन्तर्गत सभी वस्तुओं के केन्द्रीय उत्पाद-कर से प्राप्त शुद्ध आय का 20 प्रतिशत भाग विभिन्न राज्यों के



बीच आयोग द्वारा निर्धारित प्रतिशत में विभाजित किया जाय।

**अतिरिक्त उत्पाद-कर (Additional duties on Excise in lieu of Sales tax on Sugar, Tobacco and Textiles) :—**वित्त आयोग ने इस सम्बन्ध में निम्नांकित सिफारिश की है :—1966-67 से 1970-71 ई० के बीच सूती वस्त्र, रेशमी एवं कृत्रिम रेशम के वस्त्र, ऊनी वस्त्र, चीनी तथा तम्बाकू पर विक्रय कर के बदले लगाये गये अतिरिक्त उत्पाद-कर की शुद्ध आय का (क) 1 प्रतिशत भाग केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्रों (Union Territories) के लिए रखा जाय, 1.50 प्रतिशत भाग जम्मू एवं कश्मीर के लिए पृथक् कर दिया जाय, (ग) 0.05 नागालैंड राज्य को दिया जाय, तथा (घ) 97.45 प्रतिशत भाग में से 1946-47 ई० में विभिन्न राज्यों द्वारा इनसे प्राप्त विक्रय-कर की 3254 लाख रुपये की रकम के अनुसार उनके बीच विभाजित कर दिया जाय, तथा 3254 लाख रुपये से अतिरिक्त रकम को राज्यों के बीच आयोग द्वारा निर्धारित प्रतिशत में विभाजित कर दिया जाय।

चतुर्थ वित्त आयोग की प्रमुख सिफारिशें अगले पृष्ठ पर दी गयी हैं।

#### पंचम वित्त आयोग (Fifth Finance Commission)

31 अक्टूबर, 1968 ई० को भारत सरकार ने श्री महावीर त्यागी की अध्यक्षता में पाँचवें वित्त आयोग की नियुक्ति की जिसने 31 जुलाई, 1969 को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। आयोग के समक्ष विचाराधीन विषयों में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—(i) वितरण किये जाने वाले करों का केन्द्र एवं राज्यों के बीच विभाजन, (ii) केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यों को दिये जानेवाले अनुदान के लिए सिद्धांतों को निर्धारित करना, (iii) कुछ राज्यों द्वारा अनधिकृत अधिक्किषों (Unauthorised overdraft) की समस्या तथा उसका निदान, (iv) राज्यों को प्रदत्त विषय तथा संविधान की 269 वीं धारा के अन्तर्गत राज्यों की आय में वृद्धि की सम्भावना, तथा (v) चीनी, तम्बाकू एवं वस्त्र पर विक्रय कर के बदले अतिरिक्त उत्पाद-कर की व्यवस्था का पुनरावलोकन।

**पंचम वित्त आयोग (Fifth Finance Commission) की प्रमुख सिफारिशें निम्नांकित हैं :—**

**मृत्यु-कर (Death duty) :—**आयोग के अनुसार कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की सम्पत्ति से प्राप्त मृत्यु-कर में से 2 प्रतिशत केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों (Union territories) के लिए रखा जाय। शेष को अगतिशील (immovable) एवं अन्य सम्पत्ति (Property other than immovable) से प्राप्त आय के आधार पर अलग-अलग किया जाय और अगतिशील सम्पत्ति से

प्राप्त आय को विभिन्न राज्यों के बीच इनकी कुल अगतिशील सम्पत्ति के मूल्य के अनुपात में वितरित किया जाय तथा अन्य प्रकार की सम्पत्ति से प्राप्त आय को राज्यों की जनसंख्या के आधार पर इनके बीच 626 पृष्ठ की तालिका पर दिये गये प्रतिशत में वितरित किया जाय।

**रेलवे भाड़े पर कर के बदले में अनुदान (Grants-in-lieu of taxation on Railway Fare) :—**1957 ई० में रेलवे भाड़े पर एक कर लगाया गया था-जिसे 1961 ई० में रेलवे भाड़े में मिला दिया गया। किन्तु संघीय सरकार ने रेलवे भाड़े के बदले में 12.50 करोड़ रुपये की रकम को राज्यों के बीच वितरित करने का निर्णय किया। पंचम आयोग ने भी इतनी ही रकम को राज्यों के बीच पृष्ठ 626 पर दी गयी तालिका के अनुसार वितरित करने की सिफारिश की।

**आय-कर (Income Tax) :—**पंचम वित्त आयोग ने कृषि-आय तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये गये पारि-श्रमिक के ऊपर संग्रहीत कर के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की आय पर प्राप्त आय-कर का 75 प्रतिशत भाग राज्यों के बीच विभाजित करने की सिफारिश की। (चतुर्थ आयोग ने भी इस सम्बन्ध में 75 प्रतिशत के विभाजन की सिफारिश की थी।) इसमें से 90 प्रतिशत राज्यों की जनसंख्या के आधार पर तथा 10 प्रतिशत उनमें संग्रहीत कर के आधार पर वितरित करने की सिफारिश की गयी। इस आधार पर राज्यों के बीच विभाजन का प्रतिशत निश्चित कर दिया गया जो कि पृष्ठ 626 की तालिका से स्पष्ट है। आय-कर में से केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों (Union territories) का हिस्सा 2.5 प्रतिशत निश्चित किया गया।

**केन्द्रीय उत्पाद-कर (Union Excise Duty) :—**आयोग ने इस बात की सिफारिश की कि 1969-70 ई० से लेकर 1971-72 तक तीन वर्षों में सभी वस्तुओं पर लगाये गये उत्पाद-कर का 20 प्रतिशत (विशेष उत्पाद-करों को छोड़ कर) तथा 1972-73 एवं 1973-74 में विशेष करों को सम्मिलित करते हुए सभी करों का 20 प्रतिशत भाग राज्यों के बीच आयोग द्वारा निर्धारित प्रतिशत में विभाजित किया जाय। प्रतिशत के निर्धारण में आयोग ने 80 प्रतिशत जनसंख्या तथा 20 प्रतिशत अन्य बातों को महत्त्व दिया है।

**अतिरिक्त उत्पाद-कर (Additional duties on Excise in lieu of Sales tax on Sugar, Tobacco, Textiles) :—**पंचम वित्त आयोग ने इस सम्बन्ध में निम्नांकित सिफारिश दी कि सूती वस्त्र, रेशमी वस्त्र, ऊनी वस्त्र, चीनी तथा तम्बाकू पर विक्रय-कर के बदले लगाये गये अतिरिक्त उत्पाद-कर को जारी रखा जाय और इससे प्राप्त शुद्ध आय का (क) 2.05 प्रतिशत भाग केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्रों (Union territories) के



## चतुर्थ वित्त आयोग की मुख्य सिफारिशें

| राज्य                | मृत्यु-कर का हिस्सा <sup>1</sup> | आय-कर का हिस्सा 75% | 275 (i) अनुच्छेद के अन्तर्गत अनुदान (लाख रुपये में) | सभी वस्तुओं के उत्पाद कर से प्राप्त आय ( 20 प्रतिशत ) का हिस्सा | रेलवे भाड़े पर कर के बदले राज्यों का हिस्सा | 6 वस्तुओं के विक्रय-कर के बदले अतिरिक्त उत्पाद-कर |
|----------------------|----------------------------------|---------------------|-----------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------|---------------------------------------------|---------------------------------------------------|
|                      | प्रतिशत                          | प्रतिशत             | प्रतिशत                                             | प्रतिशत                                                         | प्रतिशत                                     | 1956-57 में राज्यों की आय लाख ₹० में              |
| 1. आन्ध्र            | 8.34                             | 7.77                | 722                                                 | 7.77                                                            | 9.05                                        | 235.24                                            |
| 2. असम               | 2.75                             | 3.32                | 1652                                                | 3.32                                                            | 2.79                                        | 85.00                                             |
| 3. बिहार             | 10.76                            | 10.03               | ....                                                | 10.03                                                           | 9.99                                        | 130.15                                            |
| 4. गुजरात            | 4.78                             | 4.80                | ....                                                | 4.80                                                            | 7.11                                        | 323.45                                            |
| 5. जम्मू एवं कश्मीर  | 0.83                             | 2.26                | 657                                                 | 5.16                                                            | ....                                        | ....                                              |
| 6. केरल              | 3.92                             | 4.16                | 2082                                                | 4.15                                                            | 1.81                                        | 95.08                                             |
| 7. मध्य प्रदेश       | 7.50                             | 7.40                | 270                                                 | 7.40                                                            | 9.85                                        | 155.17                                            |
| 8. मद्रास (तमिलनाडु) | 7.80                             | 7.18                | 685                                                 | 7.18                                                            | 5.81                                        | 285.34                                            |
| 9. महाराष्ट्र        | 9.16                             | 8.23                | ....                                                | 8.23                                                            | 8.98                                        | 637.77                                            |
| 10. मैसूर (कर्नाटक)  | 5.46                             | 5.41                | 1824                                                | 5.41                                                            | 3.98                                        | 100.10                                            |
| 11. नागालैंड         | 0.09                             | 2.21                | 707                                                 | 2.21                                                            | 0.01                                        | ....                                              |
| 12. उड़ीसा           | 4.07                             | 4.82                | 2918                                                | 4.82                                                            | 2.12                                        | 85.10                                             |
| 13. पंजाब            | 4.70                             | 4.86                | ....                                                | 4.85                                                            | 7.43                                        | 175.19                                            |
| 14. राजस्थान         | 4.37                             | 5.06                | 673                                                 | 5.06                                                            | 6.40                                        | 90.10                                             |
| 15. उत्तर प्रदेश     | 17.08                            | 14.78               | ...                                                 | 14.88                                                           | 18.33                                       | 575.81                                            |
| 16. पश्चिम बंगाल     | 8.09                             | 7.51                | ....                                                | 7.51                                                            | 6.40                                        | 210.43                                            |
| कुल                  | 100.00                           | 100.00              | 12189                                               | 100.00                                                          | 100.00                                      | 3254.00                                           |
|                      |                                  |                     |                                                     |                                                                 |                                             | 11.93                                             |

1. इसमें अस्थायी सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार का सम्पत्ति से संगृहीत कर केवल सम्मिलित है।



## भारतीय अर्थशास्त्र

## पंचम वित्त आयोग की मुख्य सिफारिशें

| राज्य               | मृत्यु-कर का हिस्सा <sup>1</sup> | आय-कर का हिस्सा 75% | 275 (1) अनुच्छेद के अन्तर्गत अनुदान (लाख रुपये में) | सभी वस्तुओं के उत्पादन कर से प्राप्त आय (20 प्रतिशत) का हिस्सा | रेलवे भाड़े पर कर के बदले राज्यों का हिस्सा प्रतिशत में | वस्तुओं के विक्रय-कर के बदले अतिरिक्त उत्पाद-कर | शेष का प्रतिशत |
|---------------------|----------------------------------|---------------------|-----------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------|---------------------------------------------------------|-------------------------------------------------|----------------|
|                     | प्रतिशत                          | प्रतिशत             | पाँच वर्षों में कुल रकम                             | प्रतिशत                                                        |                                                         | स्थायी कर                                       |                |
| 1. आन्ध्र           | 8.37                             | 8.01                | 6501                                                | 7.15                                                           | 8.56                                                    | 335.24                                          | 8.13           |
| 2. असम              | 2.76                             | 2.67                | 10197                                               | 2.51                                                           | 2.88                                                    | 85.38                                           | 2.47           |
| 3. बिहार            | 10.80                            | 9.99                | ....                                                | 13.81                                                          | 10.86                                                   | 130.16                                          | 8.40           |
| 4. गुजरात           | 4.00                             | 5.18                | ....                                                | 4.17                                                           | 6.91                                                    | 323.25                                          | 6.33           |
| 5. जम्मू एवं कश्मीर | 0.83                             | 0.79                | 7398                                                | 1.12                                                           | 0.01                                                    | ....                                            | ....           |
| 6. हरियाणा          | 1.76                             | 1.73                | 4965                                                | 1.49                                                           | 2.46                                                    | 65.49                                           | 1.70           |
| 7. केरल             | 3.93                             | 3.83                | ....                                                | 4.28                                                           | 1.78                                                    | 95.08                                           | 4.84           |
| 8. मध्य प्रदेश      | 7.35                             | 7.09                | 2282                                                | 8.40                                                           | 9.92                                                    | 155.17                                          | 3.34           |
| 9. तमिलनाडु         | 7.83                             | 8.18                | ....                                                | 6.50                                                           | 5.54                                                    | 285.34                                          | 9.63           |
| 10. महाराष्ट्र      | 9.20                             | 11.34               | ....                                                | 0.93                                                           | 9.12                                                    | 637.77                                          | 13.89          |
| 11. मैसूर (कर्नाटक) | 5.48                             | 5.40                | 1799                                                | 4.65                                                           | 3.86                                                    | 100.10                                          | 6.00           |
| 12. नागालैण्ड       | 0.09                             | 0.08                | 7795                                                | 0.08                                                           | 0.01                                                    | ....                                            | ....           |
| 13. उड़ीसा          | 4.08                             | 3.05                | 10467                                               | 4.72                                                           | 2.66                                                    | 85.10                                           | 3.13           |
| 14. पंजाब           | 2.59                             | 2.55                | ....                                                | 2.17                                                           | 4.76                                                    | 96.07                                           | 2.98           |
| 15. राजस्थान        | 4.68                             | 4.34                | 5149                                                | 5.28                                                           | 6.43                                                    | 90.10                                           | 4.42           |
| 16. उत्तर प्रदेश    | 17.05                            | 16.01               | ....                                                | 18.82                                                          | 5.54                                                    | 575.81                                          | 12.99          |
| 17. पश्चिमी बंगाल   | 8.02                             | 9.11                | 7262                                                | 6.84                                                           | 19.06                                                   | 280.41                                          | 8.75           |
| कुल                 | 100.00                           | 100.00              | 63785                                               | 100.00                                                         | 100.00                                                  | 3240.37                                         | 100.00         |

1. इसमें अस्थायी सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सम्पत्ति से संग्रहीत कर केवल सम्मिलित हैं।



लिए रखा जाय, (ख) 0.83 प्रतिशत भाग जम्मू एवं कश्मीर के लिए पृथक् कर दिया जाय, (ग) 0.09 नागालैंड राज्य को दिया जाय, तथा (घ) 97.03 प्रतिशत भाग में से 1956-57 में विभिन्न राज्यों द्वारा इनसे प्राप्त विक्रय-कर की 3254 लाख रुपये रकम के अनुसार उनके बीच विभाजित कर दिया जाय तथा अतिरिक्त रकम को जम्मू एवं कश्मीर तथा नागालैंड के अतिरिक्त अन्य राज्यों के बीच आयोग द्वारा प्रस्तावित प्रतिशत में विभाजित कर दिया जाय।

पंचम वित्त आयोग की प्रमुख सिफारिशें 626 पृष्ठ पर दी गयी हैं।

### छठा वित्त आयोग

(Sixth Finance Commission)

राष्ट्रपति ने 1972 में श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी की अध्यक्षता में छठे वित्त आयोग (Sixth Finance Commission) की नियुक्ति की थी जिसकी सिफारिशें 28 अक्टूबर, 1973 को प्रकाशित हो गयीं। आयोग के अनुसार राज्यों को मिलनेवाली सहायता (Grants in-aid) 1973-74 में अंत होनेवाले पाँच वर्षों में 711 करोड़ रुपये से बढ़कर 1978-79 में अन्त होनेवाले पाँच वर्षों में 2.10 करोड़ रुपये हो जायगी। आय कर में राज्यों का हिस्सा 75 प्रतिशत से बढ़ाकर 80 प्रतिशत कर दिया गया है। इसी प्रकार संघीय उत्पाद-करों में राज्यों का हिस्सा 20 प्रतिशत हो गया।

छठे वित्त-आयोग की सिफारिशों के परिणामस्वरूप 1974-79 के बीच पाँच वर्षों की अवधि में केन्द्र से राज्यों को 9,609 करोड़ रुपये की रकम हस्तांतरित होगी। इसमें से 7,099 करोड़ रुपये वितरित किये जाने वाले करों में (divisible pool of taxes and duties) में से राज्यों का हिस्सा होगा तथा शेष 2510 करोड़ रुपये की रकम संविधान की धारा 275 के अन्तर्गत राज्यों के अनुदान (grants-in-aid) के रूप में प्राप्त होगी।

इस प्रकार राज्यों को प्राप्त होनेवाली यह रकम निश्चय ही बहुत अधिक है। वास्तव में, विभिन्न वित्त-आयोग की सिफारिशों के फलस्वरूप राज्यों को मिलनेवाली रकम में निरंतर वृद्धि होती जा रही है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है—

विभिन्न वित्त आयोग की सिफारिशों के परिणामस्वरूप राज्यों को मिलने वाली रकम

| अवधि                            | राज्यों को मिलने वाली कुल रकम (करोड़ रु० में) |
|---------------------------------|-----------------------------------------------|
| प्रथम योजना (1951-56)           | 394                                           |
| द्वितीय योजना (1956-61)         | 900                                           |
| तृतीय योजना (1961-66)           | 1,542                                         |
| तीन-एक-वर्षीय योजनाएँ (1966-69) | 1,741                                         |
| चतुर्थ योजना (1965-74)          | 5,316                                         |
| पंचम योजना (1974-79)            | 9,609                                         |

छठे वित्त-आयोग की मुख्य सिफारिशें (Main Recommendations of the Sixth Finance Commission): छठे वित्त आयोग की विन्नांकित प्रधान सिफारिशें हैं

1. आय-कर (Personal Income Tax) :— छठे वित्त आयोग ने आयकर से प्राप्त रकम के 80 प्रतिशत भाग को राज्यों के बीच वितरित करने की सिफारिश की है। इसके पूर्व राज्यों को आय-कर से 75 प्रतिशत भाग ही प्राप्त होता था। इसमें से पहले की ही तरह 90 प्रतिशत राज्यों को उनकी जनसंख्या के अनुसार तथा 10 प्रतिशत उनमें एकत्रित रकम के आधार पर वितरित किया जाता है।

2. संघीय उत्पाद-कर (Union Excise Duties) :— छठे वित्त आयोग ने आधारभूत उत्पाद-करों में से राज्यों को मिलने वाले 20 प्रतिशत भाग में कोई परिवर्तन नहीं किया है। राज्यों के बीच उत्पाद-करों का वितरण पहले 20 प्रतिशत राज्यों के तुलनात्मक पिछड़ेपन तथा 80 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर वितरित किया जाता था। छठे वित्त आयोग ने इसमें परिवर्तन कर इसे 25 प्रतिशत पिछड़ेपन तथा 75 प्रतिशत जनसंख्या कर दिया।

3. अतिरिक्त उत्पाद करों से प्राप्त आय का वितरण (Distribution of Income from Additional Excise Duties) :— गत वर्षों में अतिरिक्त उत्पाद करों से प्राप्त आय में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। अतएव आयोग के अनुसार इन करों से प्राप्त आय में से अब गारंटी देने की कोई आवश्यकता नहीं है, अतएव आयोग ने इन करों में से प्राप्त शुद्ध आय में से 1.41% केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों के लिए रखकर शेष रकम को राज्यों के बीच निर्धारित प्रतिशत में वितरित करने की सिफारिश की है।

4. मृत्यु कर, कृषि-सम्पत्ति पर कर इत्यादि (Estate duty, Wealth Tax on Agricultural Property, etc.):— छठे वित्त आयोग ने मृत्यु कर तथा रेल भाड़े के बदले में करों के वितरण में किसी प्रकार के परिवर्तन की सिफारिश नहीं की है। जहाँ तक कृषि-सम्पत्ति पर सम्पत्ति कर का प्रश्न है, आयोग ने इस बात की सिफारिश की थी कि इसका वितरण राज्यों में कर के अन्तर्गत लायी गयी सम्पत्ति के अनुपात में किया जाय।

5. राज्यों को सहायता अनुदान (Grants-in-aid to States) :— छठे वित्त आयोग ने कुछ राज्यों को 2509.6 करोड़ रुपये की सहायता अनुदान के रूप में देने की सिफारिश की थी।

इस प्रकार छठे वित्त आयोग की सिफारिशें बहुत ही व्यापक हैं। आयोग ने राज्यों की आवश्यकताओं तथा इनकी आर्थिक परिस्थितियों का विस्तृत अध्ययन कर अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था। आयोग की सिफारिशों के फलस्वरूप राज्यों को कर तथा शुल्क के रूप में अप्रैल 1974 से मार्च 1979 के बीच 7100 करोड़ रुपये तथा सहायता अनुदान के रूप में 2510 करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा की जाती है।



**सातवाँ वित्त आयोग (Seventh Finance Commission):**—जून, 1977 में राष्ट्रपति ने श्री जे० एम० शेलत (J. M. Shelat) की अध्यक्षता में सातवें वित्त आयोग की नियुक्ति की जिसने 28 अक्टूबर, 1978 को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। वित्त आयोग की सिफारिशों का विस्तृत व्योरा अभी प्राप्त नहीं हो पाया है।

**केन्द्र तथा राज्यों के बीच आय के वितरण की वर्तमान स्थिति:**—छठे वित्त आयोग की सिफारिशों के पश्चात् केन्द्र तथा राज्यों के बीच आय का वितरण निम्नांकित प्रकार से होता है:—

केन्द्रीय सरकार निम्नांकित करों को लगाती है, वसूल करती है, तथा इनसे प्राप्त आय का उपयोग करती है—आयात-निर्यात कर, केन्द्रीय उत्पाद-कर का 80 प्रतिशत भाग, डाक एवं तार, रेलवे, मुद्रा एवं टकसाल तथा रिजर्व बैंक इत्यादि।

राज्य सरकारें निम्नांकित करों को लगाती हैं, वसूल करती हैं तथा इनकी आय का उपयोग करती हैं—भूमि-कर, सिचाई, स्टाम्प एवं रजिस्ट्रेशन, विक्रय-कर, मनोरंजन-कर, कृषि आय-कर, विद्युत् कर इत्यादि।

केन्द्रीय सरकार निम्नांकित करों को लगाती है, वसूल करती है तथा इनकी सम्पूर्ण आय को राज्य सरकारों को

हरतांतरित कर देती है—मृत्यु कर, स्टाम्प कर तथा रेलवे पैसेंजर कर।

इनके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार आय कर एवं नियम कर भी लगाती है तथा सम्पूर्ण निगम कर एवं केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों से वसूल आय कर के अतिरिक्त शेष आय कर के 20 प्रतिशत स्वयं रखती है तथा शेष 80 प्रतिशत भाग को राज्यों के बीच वितरित कर देती है।

आय कर के वितरण के सम्बन्ध में विभिन्न वित्त-आयोगों के प्रतिवेदन का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है—

| आयोग               | आय कर में राज्यों का हिस्सा (प्रतिशत में) | आय कर (प्रतिशत में) का वितरण जनसंख्या के आधार पर | आय कर की प्राप्ति के आधार पर |
|--------------------|-------------------------------------------|--------------------------------------------------|------------------------------|
| प्रथम वित्त आयोग   | 55                                        | 80                                               | 20                           |
| द्वितीय वित्त आयोग | 60                                        | 90                                               | 10                           |
| तृतीय वित्त आयोग   | 66.6                                      | 80                                               | 20                           |
| चतुर्थ वित्त आयोग  | 75                                        | 80                                               | 20                           |
| पंचम वित्त आयोग    | 75                                        | 90                                               | 10                           |
| षष्ठ वित्त आयोग    | 80                                        | 90                                               | 10                           |

इस प्रकार केन्द्र एवं राज्यों का वित्तीय सम्बन्ध उपरक्तों विवरण से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

### विशेष अध्ययन-सूची

1. B. R. Mishra : Indian Federal Finance.
2. Taxation Enquiry Commission Report.
3. Reports of the First, Second, Third, Fourth & Fifth Finance Commissions.
4. Report of the Sixth Finance Commission.
5. Draft Five Year Plan (1978-83).



## अध्याय : 57

## केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों का आय-व्यय

(Income and Expenditure of the Central and State Government)

**बजट का अर्थ एवं महत्त्व (Meaning and Importance of the Budget) :**—भारतीय संविधान में केन्द्र तथा राज्य सरकारों के कार्यों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है। उदाहरण के लिए, केन्द्र के जिम्मे सुरक्षा, यातायात, करेंसी, बैंकिंग एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि तथा राज्य सरकारों के जिम्मे पुलिस, शिक्षा, चिकित्सा, कृषि एवं वन इत्यादि हैं। इसी प्रकार संविधान में राज्यों तथा केन्द्र के बीच आय एवं व्यय के साधनों के भी वितरण की व्यवस्था है। संविधान के अनुसार केन्द्रीय सरकार की आय के निम्नांकित प्रमुख साधन हैं—आयात-निर्यात कर, उत्पाद-कर, आय-कर, निगम-कर, रेलवे, डाक-तार, मुद्रा एवं टकसाल तथा रिजर्व-बैंक से प्राप्त आय इत्यादि। इसी प्रकार केन्द्रीय सरकार के व्यय की निम्नलिखित प्रधान मदें हैं : डाक-तार, सुरक्षा व्यय, कर वसूलने का व्यय एवं नागरिक व्यवस्था-सम्बन्धी व्यय इत्यादि।

सभी सरकारें प्रति वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ में अपने एक वर्ष के संभावित आय एवं व्यय का एक व्योरा संसद अथवा विधान सभा के सम्मुख प्रस्तुत करती हैं जिसे आय-व्यय या बजट (Budget) कहते हैं। अतएव भारत सरकार भी प्रतिवर्ष अपना बजट संसद में प्रस्तुत करती है। किसी देश के आर्थिक जीवन में बजट का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान होता है। वास्तव में, बजट प्रत्येक देश की आर्थिक नीतियों को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करता है। देश की आर्थिक नीति उसी से परिलक्षित होती है। बजट से देश में वस्तुओं एवं सेवाओं की कुल मांग प्रभावित है और उसी पर देश में बचत एवं विनियोग का स्तर, आय एवं रोजगार का स्तर आदि निर्भर करते हैं। बजट में परिवर्तन से देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन हो जाता है। वास्तव में, राजकाशीय नीति में परिवर्तन के द्वारा देश की सम्पूर्ण आर्थिक रूप-रेखा को ही परिवर्तित किया जा सकता है।

**बजट के विभिन्न प्रकार (Different types of Budget) :**—बजट निम्नांकित तीन प्रकार के होते हैं :—

(1) **आधिक्य बजट (Surplus Budget) :**—जब राज्य को जो आय प्राप्त होती है उससे कम रकम व्यय की जाती है तो इस प्रकार के बजट को आधिक्य का बजट कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि आय 100 करोड़

रुपये एवं व्यय 80 करोड़ रुपये हो तो यह आधिक्य का बजट कहा जायगा।

(2) **घाटे का बजट (Deficit Budget) :**—जब राज्य आय से अधिक व्यय करता है तो इसे घाटे का बजट (Deficit Budget) कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि आय 100 करोड़ रुपये तथा व्यय 120 करोड़ रुपये हो तो इसे घाटे का बजट कहते हैं।

(3) **संतुलित बजट (Balanced Budget) :**—इसके विपरीत जब राज्य के बजट में आय एवं व्यय दोनों बराबर होते हैं तो उसे संतुलित बजट कहते हैं। उदाहरण के लिए, जब आय तथा व्यय दोनों ही 100 करोड़ रु० हों, तो यह संतुलित बजट हुआ।

1978-79 ई० का भारत सरकार का बजट (Budget of the Government of India for the year 1978-79)

28 फरवरी, 1978 ई० को भारत सरकार के वित्त मन्त्री श्री एच० एम० पटेल ने भारतीय संसद के सम्मुख 1978-79 का बजट प्रस्तुत किया। श्री पटेल ने वस्तुतः जनता पार्टी का पहला बजट पूर्ण वित्तीय वर्ष के लिए प्रस्तुत किया। इस बजट के अन्तर्गत राजस्व खाते में 1978-79 ई० में कुल 10,782.35 करोड़ रुपये आय के रूप में प्राप्य होने की आशा है। 1977-78 ई० के संशोधित अनुमान के अनुसार भारत सरकार की कुल आय की रकम 8906 करोड़ रुपये तथा 1972-73 के संशोधित अनुमान के अनुसार 4628 करोड़ रुपये थी। इसी प्रकार 1978-79 ई० में केन्द्रीय सरकार का राजस्व खाते में कुल अनुमानित व्यय 10,899 करोड़ रुपये हैं। 1977-78 ई० के संशोधित अनुमान के अनुसार राजस्व खाते में व्यय की कुल रकम 9743 करोड़ रुपये तथा 1972-73 के संशोधित अनुमान के अनुसार 4591 करोड़ रुपये थी।

इस प्रकार 1978-79 में भारत सरकार के राजस्व खाते में 116 करोड़ रुपये आधिक्य (Surplus) की आशा की जाती है।

1978-79 ई० की पूँजीगत प्राप्तियाँ (Capital Receipts) 6584 करोड़ रुपये तथा पूँजीगत व्यय (Capital disbursements) 7518 करोड़ रुपये की थी, यानी पूँजीगत खाते में 837 करोड़ रुपये का घाटा दिखलाया गया है। इस प्रकार बजट-सम्बन्धी कुल घाटा 1978-79 में 934 करोड़ रुपये होने की आशा है।



## 1978-79 के बजट के अनुसार केन्द्रीय सरकार की आय एवं व्यय की प्रमुख मदें

## राजस्व बजट (Revenue Budget) (करोड़ रुपये में)

## राजस्व खाते में आय (Revenue Receipts)

|                                                 | 1975-76<br>(संशोधित) | 1978-79<br>(बजट) |
|-------------------------------------------------|----------------------|------------------|
| आय के साधन (Sources of Income)                  |                      |                  |
| करों से प्राप्त आय (Tax Revenue)                |                      |                  |
| आयात-निर्यात कर                                 | 1357.0               | 1860.64          |
| संघीय उत्पाद-शुल्क                              | 3823.6               | 5315.25          |
| निगम कर                                         | 954.0                | 1449.80          |
| आय-कर                                           | 1060.0               | 1135.70          |
| मृत्यु-कर                                       | 9.2                  | 11.00            |
| सम्पत्ति-कर (Taxes on Wealth)                   | 52.0                 | 55.00            |
| अन्य कर                                         | 213.7                | 226.37           |
| करों से प्राप्त कुल आय                          | 7469.5               | 10,052.76        |
| घटाया राज्यों का हिस्सा                         | 1599.0               | 2024.52          |
| करों से प्राप्त शुद्ध आय (Gross Tax Revenue)    | 5870.5               | 80,28.24         |
| गैर-कर-सम्बन्धी आय (Non-Tax Revenue)            |                      |                  |
| ब्याज (Interest Receipts)                       | 994.8                | 1389.42          |
| मुनाफा एवं लाभ (Dividends and Profits)          | 195.2                | 270.24           |
| अन्य अकर-सम्बन्धी आय                            | 962.3                | 1094.45          |
| कुल अकर-सम्बन्धी आय (Total Non-Tax Revenue)     | 2152.3               | 2754.11          |
| कुल राजस्व प्राप्तियाँ (Total Revenue Receipts) | 8022.8               | 10,782.35        |

## राजस्व-सम्बन्धी व्यय (Revenue Disbursements) (करोड़ रुपये में)

मदें

|                                                        | 1975-76<br>(संशोधित) | 1976-77<br>(बजट) |
|--------------------------------------------------------|----------------------|------------------|
| राज्यों के मदें में                                    |                      |                  |
| वित्तीय सेवाएँ                                         | 77.8                 | 79.57            |
| ब्याज का भुगतान                                        | 193.4                | 404.75           |
| प्रशासनिक सेवाएँ                                       | 1220.8               | 1840.45          |
| विविध सामान्य सेवाएँ                                   | 372.3                | 432.40           |
| सुरक्षा-सम्बन्धी सेवाएँ                                | 174.5                | 196.55           |
| सामाजिक एवं सामुदायिक सेवाएँ                           | 2191.6               | 2651.57          |
| आर्थिक सेवाएँ                                          | 519.5                | 775.36           |
| अनुदान (Grants-in-aid and Contributions)               | 1005.2               | 1938.60          |
|                                                        | 1361.6               | 2579.93          |
| राजस्व-सम्बन्धी कुल व्यय (Total Revenue Disbursements) | 7116.7               | 10,899.18        |

उपरोक्त तालिका को देखने से राजस्व खाते में 1978-79 के बजट अनुमान के अनुसार भारत सरकार की आय एवं व्यय का अन्दाजा लगता है।



## केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों का आय-व्यय

631

## पूँजीगत प्राप्तियाँ (Details of Capital Receipts)

( करोड़ रुपये में )

| मदें                      | 1975-76 | 1978-79 |
|---------------------------|---------|---------|
| (संशोधित) (बजट-सम्बन्धी)  |         |         |
| 1. बाजार-ऋण               | 452.4   | 1649.8  |
| 2. बाह्य ऋण               | 628.3   | 833.3   |
| 3. ऋण एवं अग्रिम की वसूली | 1451.0  | 2386.0  |
| 4. अल्प बचत               | 350.5   | 460.0   |
| 5. भविष्य निधि            | 225.7   | 248.3   |
| 6. अन्य प्राप्तियाँ       | 967.0   | 1007.0  |

कुल पूँजीगत प्राप्तियाँ 4129.9 6584.5

## पूँजीगत व्यय (Details of Capital Disbursements)

( करोड़ रुपये में )

| मदें                            | 1975-76 | 1978-79 |
|---------------------------------|---------|---------|
| (संशोधित) (बजट-सम्बन्धी)        |         |         |
| 1. सामान्य सेवाएँ               | 466.9   | 543.6   |
| 2. सामाजिक एवं सामुदायिक सेवाएँ | 78.8    | 130.0   |
| 3. आर्थिक सेवाएँ                | 1710.4  | 2106.4  |
| 4. ऋण एवं अग्रिम                | 3269.6  | 4737.6  |

कुल पूँजीगत व्यय 5525.7 7517.68

## केन्द्रीय सरकार की आय के प्रमुख साधन

(Main Sources of Revenue of the Central Govt.)

आय-कर (Income Tax) :—आय-कर का भारतीय कर-व्यवस्था में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। यह एक प्रत्यक्ष कर (Direct Tax) है। भारत में आय-कर सर्वप्रथम 1860 ई० में लगाया गया था। किन्तु 1865 ई० में कुछ कारणों से इसे बन्द कर दिया गया। पुनः 1869 ई० में यह कर लगाया गया और तब से इसका भारतीय कर-व्यवस्था में एक प्रमुख स्थान हो गया है। 1886 ई० में इसमें आमूल परिवर्तन लाकर इसे सरकारी आय का एक स्थायी साधन बनाया गया। तबसे इसमें समय-समय पर देश की वित्तीय आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन होते रहे हैं। कर-मुक्त आय की सीमा को 500 रुपये से बढ़ाकर 1930 ई० में 1000 तथा 1935 ई० में 2000 रुपया कर दिया गया। प्रथम युद्धकाल में एक अतिरिक्त कर (Super Tax) लगाया गया जिसे युद्ध के उपरान्त बन्द कर दिया गया। 1935 ई० में छोटी-छोटी आय पर कर की दरों में कमी कर दी गयी तथा कर-मुक्त आय की सीमा को बढ़ाकर 2000 रुपये कर दिया गया। 1939 ई० में क्रम-पद्धति (Step

System) की जगह प्रखण्ड-पद्धति (Slab System) को अपनाया गया। इस पद्धति के अन्तर्गत आय के प्रत्येक खण्ड पर विभिन्न दरों से कर लगाया जाता है। मार्च, 1940 ई० में एक अतिरिक्त लाभ-कर (Excess profit Tax) लगाया गया जिसके द्वारा सभी युद्धजनित असाधारण लाभों पर 10 प्रतिशत का एक कर लगाया जाता था। आगे चलकर अर्जित (Earned) तथा अनर्जित (unearned) आय में भी अन्तर किया गया। युद्ध-काल में करों की दरों में बहुत अधिक वृद्धि हुई। किन्तु युद्ध-काल के बाद दरों में कमी की गयी तथा अतिरिक्त लाभ कर को हटा दिया गया।

वर्तमान समय में भारतीय आय-कर की निम्नांकित प्रमुख विशेषताएँ हैं :—

(1) यह कर केवल शुद्ध आय पर लगाया जाता है; यानी आय में से इसे उत्पन्न करने का खर्च घटा दिया जाता है।

(2) कर भारतवासियों को ही देना पड़ता है। विदेशी अपनी आय के केवल उसी भाग पर कर देते हैं जो भारत में उत्पन्न की गयी हो।

(3) तीसरी विशेषता यह है कि आय-कर 'खण्ड-प्रणाली' (Slab System) के अनुसार लगाया जाता है। इसके अनुसार कुल आय विभिन्न खण्डों में विभाजित कर दी जाती है तथा निम्नतम खण्ड पर किसी प्रकार का कर नहीं लगाया जाता है।

(4) 1965-66 ई० से सभी प्रकार की आयों पर कर लगाया जाता है। पहले एक विवाहित तथा दो-आश्रित बच्चे वाले किसी व्यक्ति के लिए आय की न्यूनतम सीमा 4800 रुपये थी। किन्तु 1970-71 ई० के बजट में इसे समाप्त कर सभी व्यक्तियों के लिए आय कर-निर्धारण के लिए आय की न्यूनतम सीमा को बढ़ाकर 5000 रुपये तथा आगे चलकर इसे 6000 रुपये कर दिया गया है। 1975 ई० में इसे बढ़ाकर 8000 रु० कर दिया गया।

1960-61 ई० में आय कर से 167 करोड़ रुपये तथा 1961-62 ई० में 165 करोड़ रुपये की आय हुई थी। 1975-76 ई० के संशोधित बजट के अनुसार आय कर से 1060 करोड़ रुपये तथा 1976-77 के बजट के अनुसार 957 करोड़ रुपये की आय का अनुमान है। छठे वित्त-आयोग की सिफारिशों के अनुसार आय-कर से प्राप्त कुल आय का 80 प्रतिशत भाग राज्य सरकारों के बीच विभाजित कर दिया जाता है।

चीनी एवं पाकिस्तानी आक्रमण से उत्पन्न संकट की स्थिति का सामना करने के लिए 1963-64 के बजट में वित्त मन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने आयकर की दरों में बहुत अधिक परिवर्तन किया था। कर के बाद बची हुई आय पर एक अतिरिक्त कर (Additional Sur-



charge) भी लगाया गया था। किन्तु, करदाता अनिवार्य बचत (Compulsory Deposit) में रुपया जमाकर इस अतिरिक्त कर की दर में प्रथम 6000 रु० पर 2 प्रतिशत तथा शेष आय पर 3 प्रतिशत तक कम कर सकता था। किन्तु 1964-65 ई० के बजट में श्री टी० टी० कृष्णमाचारी ने अनिवार्य बचत को समाप्त कर इसके स्थान पर वार्षिक जमा योजना (Annuity Deposit Scheme) लागू किया जो केवल 15000 रुपये से अधिक वार्षिक आयवाले व्यक्तियों पर लागू होती थी। साथ ही, 1963-64 ई० में लगाये गये अतिरिक्त कर को आय-कर एवं सुपर कर में मिला दिया गया। 1965-66 ई० के बजट में श्री कृष्णमाचारी ने आय कर की दरों में हरेक स्तर पर कमी की तथा आय-कर को अत्यधिक सुविधाजनक बनाने का प्रयास किया। 1967-68 ई० में आश्रित पिता तथा माता के लिए कुछ छूट की व्यवस्था की गयी। 1968-69 ई० में वार्षिक जमा योजना को भी समाप्त कर दिया गया। 1970-71 ई० के बजट में ऊँची आय पर करों की दर में और वृद्धि की गयी।

1972-73 ई० के संशोधित अनुमान के अनुसार इस मंद में कुल 602 करोड़ रुपये की आय हुई थी जबकि 1975-76 ई० के संशोधित अनुमान के अनुसार 1060 करोड़ रुपये हुई। वांचू समिति की सिफारिशों को ध्यान में रखकर 1975-76 तथा 1976-77 में आय कर की दरों में हरेक स्तर पर पर्याप्त मात्रा में कमी की गयी। 1978-79 के बजट के अनुसार आय कर से 1136 करोड़ रुपये आय की आशा है। इसमें से राज्यों का हिस्सा 736 करोड़ रुपये है। साथ ही, 15000 रुपये वार्षिक आय से अधिक आयवाले व्यक्तियों के लिए एक अनिवार्य बचत योजना (Compulsory Saving Scheme) के अंतर्गत एवं निश्चित प्रतिशत दो वर्षों के लिए जमा करना पड़ता। इस प्रकार आय कर को अधिक वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया गया है।

**अधिकतम आय की सीमा (Ceiling on Income) :**—भारत में गत कुछ वर्षों से व्यक्तिगत आय की सीमा-निर्धारण के सम्बन्ध में भी बातचीत चल रही है। कर-जाँच आयोग (Taxation Enquiry Commission) के अनुसार व्यक्तिगत आय की अधिकतम सीमा निश्चित कर देनी चाहिए, जो कर देने के पश्चात् देश में औसत प्रति परिवार की आय के 37 गुणा से अधिक नहीं होनी चाहिए। किन्तु इस प्रकार की सीमा-निर्धारण केवल कर के द्वारा ही सम्भव नहीं है, वरन् इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बहुत अधिक प्रयत्नों की आवश्यकता पड़ेगी। साथ ही, इसे शीघ्रतापूर्वक लागू नहीं किया जा सकता। कर जाँच आयोग की उपरोक्त सिफारिशों के बाद देश में समाजवादी विचारधारा के व्यक्तियों ने अधिकतम आय की सीमा-निर्धारण के लिए नारा बुलन्द

करना आरम्भ किया। किन्तु व्यक्ति की आय की अधिकतम सीमा-निर्धारण के क्षेत्र में बहुत-सी व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। साथ ही, आय में व्याप्त विषमता को इस सीमा-निर्धारण के द्वारा दूर भी नहीं किया जा सकता है। हमारे भूतपूर्व प्रधान मन्त्री एवं राष्ट्र-निर्माता श्री जवाहरलाल नेहरू ने आय की अधिकतम सीमा-निर्धारण के द्वारा समाजवाद लाने के सम्बन्ध में कहा था कि "समाजवाद का अर्थ निर्धनता नहीं है, इसका अर्थ एक निश्चित ऊँचाई से अधिक आयवाले व्यक्तियों के सिर को काटना नहीं है।"<sup>1</sup> इसके लिए समाज में अधिकतम आयवाले व्यक्तियों की आय को कर के द्वारा कम करना तथा कम आयवाले व्यक्तियों की आय को सार्वजनिक सुविधाओं की व्यवस्था द्वारा बढ़ाने का प्रयत्न करना होगा।

प्रो० काल्डोर के अनुसार भी समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता को आय की सीमा-निर्धारण द्वारा नहीं दूर किया जा सकता है। इस प्रकार व्यक्तिगत आय की अधिकतम सीमा-निर्धारण का समाज पर बहुत अच्छा प्रभाव नहीं पड़ेगा। इससे आर्थिक क्षेत्र में प्रेरणा (Incentive) के समाप्त होने की आशंका है।

**निगम कर (Corporation Tax) :**—यह रजिस्टर्ड कम्पनियों पर लगाया जाता है। सर्वप्रथम, युद्धकाल में यह कर लगाया गया था। सभी कम्पनियों पर कर की दर एक समान होती है। 1961-62 ई० में इससे 156 करोड़ रुपये तथा 1965-66 ई० में 230 करोड़ रुपये की आय प्राप्त हुई थी। 1975-76 ई० के संशोधित अनुमान के अनुसार इस कर से 954 करोड़ रुपये की आय हुई तथा 1978-79 ई० में इससे 1449.8 करोड़ रुपये आय की आशा है। इस प्रकार निगम कर से प्राप्त आय में भी क्रमशः वृद्धि हो रही है। निगम कर से प्राप्त सम्पूर्ण आय केन्द्रीय सरकार को ही प्राप्त होती है। इस प्रकार वर्तमान समय में निगम कर भारत सरकार की आय का एक प्रधान साधन है।

**आयात-निर्यात कर (Customs) :**—यह कर एक परोक्ष कर (Indirect Tax) है। आधुनिक समय में केन्द्रीय सरकार की आय का यह एक प्रमुख साधन है। आयात-निर्यात करों से होनेवाली सम्पूर्ण आय केन्द्रीय सरकार को ही प्राप्त होती है। प्रथम महायुद्ध तक देश में स्वतन्त्र व्यापार की नीति का प्रचलन था, अतः आयात-निर्यात करों से बहुत ही कम आय प्राप्त होती थी। किन्तु युद्ध के उपरान्त 1922-23 ई० में भारत

1. "Socialism is not something which can be defined as a dead level of poverty. It does not mean cutting of the heads of every body above a certain height."



सरकार ने विवेचनात्मक संरक्षण की नीति को अपनाया जिससे इस कर से प्राप्त आय में वृद्धि होने लगी। फिर भी, 1938-39 ई० तक इससे केवल 40.6 करोड़ रुपये की ही वार्षिक आय प्राप्त हुई थी। द्वितीय महायुद्ध काल में अधिक आय की आवश्यकता के फलस्वरूप आयात-निर्यात करों की दरों में बहुत अधिक वृद्धि की गयी जिससे केन्द्रीय सरकार की आय में इस साधन का महत्व धीरे-धीरे बढ़ने लगा तथा आजकल तो यह आय का एक प्रधान साधन बन गया है। आयात-निर्यात करों से 1963-64 ई० में 212 करोड़ रुपये की आय हुई थी और 1975-76 ई० के संशोधित अनुमान के अनुसार इससे 1357 करोड़ रुपये की आय प्राप्त हुई जबकि 1978-79 ई० के बजट के अनुसार इससे 1860.6 करोड़ रुपये आय की आशा की जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन करों से प्राप्त आय में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

आयात-कर विदेशों से आयात की जाने वाली वस्तुओं पर लगाये जाते हैं। इस प्रकार के कर सरकार की आय बढ़ाने तथा उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से लगाये जाते हैं। ये कर दो प्रकार से लगाये जाते हैं :—एक वजन या मात्रा के आधार पर जिसे विशिष्ट कर (Specific duty) कहते हैं और दूसरा मूल्य के आधार पर जिसे मूल्यगत आयात कर (Advalorem duty) कहते हैं। मूल्यगत आयात-करों में चोरी का भय बहुत अधिक रहता है क्योंकि व्यापारी अपनी वस्तुओं के लिए बहुधा कम ही मूल्य दिखाने का प्रयत्न करते हैं। इसके विररीत विशिष्ट आयात कर के साथ ऐसी बात नहीं पायी जाती है। किन्तु इस प्रकार के कर से आय बहुत ही कम प्राप्त होती है। अतः भारत में मूल्यगत आयात करों की ही प्रधानता है।

निर्यात कर देश से बाहर भेजी जाने वाली वस्तुओं पर लगाये जाते हैं। इस प्रकार के करों का मुख्य उद्देश्य सरकारी आय में वृद्धि होता है। इस कर से प्राप्त आय का एक हिस्सा विदेशों में इन वस्तुओं के प्रचार आदि पर भी खर्च किया जाता है। 1949 ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के बाद सरकार ने निर्यात कर की दरों में बहुत अधिक वृद्धि कर दी थी जिसके फलस्वरूप इससे बहुत अधिक आय हुई। किन्तु आजकल निर्यात को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से बहुत-सी वस्तुओं के निर्यात करों में कमी कर दी गयी है। निर्यात-कर अधिकतर विशिष्ट होते हैं।

संघीय उत्पादकर (Union Excise Duty) :—यह कर देश में तैयार होनेवाली कुछ वस्तुओं पर लगाया जाता है जिनमें चाय, कहवा, चीनी, तम्बाकू, दियासलाई, वनस्पति घी, सूती-वस्त्र, मोटर आदि प्रमुख हैं। यह कर वस्तुओं पर उनके उत्पादन के समय लगाया जाता है। यह

कर एक परोक्ष कर है तथा इसका भार अन्ततः मुख्य रूप से उपभोक्ताओं पर ही पड़ता है। साथ ही, यह समानुपातिक दर से लगाया जाता है जिससे जो व्यक्ति जितनी ही अधिक मात्रा में वस्तुओं को खरीदता है उसे उतना ही अधिक कर देना पड़ता है। इस कर का प्रभाव वस्तुओं की माँग पर भी पड़ता है। अतः यह कर अधिकांशतः उन्हीं वस्तुओं पर लगाया जाता है जिनकी माँग अपेक्षाकृत बेलोचदार होती है। आजकल भारत की कर-व्यवस्था में इस कर का महत्व सबसे अधिक है।

इस प्रकार, संघीय उत्पादकरों का आज देश की कर-व्यवस्था में विशेष महत्व है। चीनी, चाय, कहवा, कागज, तम्बाकू, दियासलाई तथा वनस्पति घी पर लगाये गये उत्पादकरों का 20 प्रतिशत भाग राज्य सरकारों के बीच विभाजित किया जाता है। 1961-62 ई० में संघीय उत्पादकरों से 489.31 करोड़ रुपये की आय प्राप्त हुई थी। 1967-68 ई० के संशोधित बजट अनुमान के अनुसार संघीय उत्पादकरों से कुल 1163.5 करोड़ रुपये की आय तथा 1975-76 के संशोधित अनुमान के अनुसार इससे 3923.6 करोड़ रुपये की आय प्राप्त हुई थी और 1978-79 के बजट के अनुसार 5315.3 करोड़ रुपये की आय का अनुमान है। इसमें से 1978-79 के बजट के अनुसार राज्यों का हिस्सा 1278 करोड़ रुपये तय किया गया है। जब प्रथम पंचवर्षीय योजना लागू की गयी थी तो कुल केवल 12 वस्तुओं पर ही उत्पादकर लगाया गया था, किन्तु आजकल कुल 35 से भी अधिक वस्तुओं पर लगाया जाता है।

मृत्यु अथवा उत्तराधिकार-कर (Estate Duty) :—यह कर संसार के प्रायः सभी उन्नतिशील देशों में लगाया जाता है। इसके दो रूप हैं—मृत्यु-कर जो व्यक्ति की मृत्यु के समय उसकी सम्पत्ति पर लगाया जाता है तथा दूसरा उत्तराधिकार-कर जो उत्तराधिकारियों द्वारा प्राप्त सम्पत्ति पर लगाया जाता है। यह एक प्रत्यक्ष कर है तथा देश में सम्पत्ति के वितरण की विषमता को कम करने का एक प्रमुख साधन है। भारत में बहुत समय पूर्व से इस प्रकार के कर लगाने की बात चली आ रही थी। 1924-25 ई० की कर जाँच समिति ने भारत में मृत्यु-कर लगाने के प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार किया था। 1935 ई० के संविधान में भी इस प्रकार के कर की व्यवस्था की गयी थी जिसके अनुसार कृषि-भूमि के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार अन्य सभी प्रकार की सम्पत्ति पर उत्तराधिकार कर लगा सकती थी किन्तु इस प्रकार के करों से प्राप्त आय को राज्यों को देने की व्यवस्था थी। 1946 ई० में सरकार ने उत्तराधिकार कर लगाने के उद्देश्य से एक विधेयक विधान सभा के सम्मुख रखा था, किन्तु उस समय वह कानून का रूप नहीं धारण कर सका। 1948 ई० में इस आशय का



एक दूसरा असफल प्रयास किया गया। पुनः 1952 ई० में इस आशय का एक विधेयक प्रस्तुत किया गया जो कानून बन गया तथा अक्टूबर, 1952 ई० से लागू किया गया। इस अधिनियम के अनुसार यह सम्पत्ति पर (कृषि-भूमि को छोड़कर) लगाया जाता है। इसके अनुसार हिन्दू परिवार के लिए कम-से-कम 50 हजार रुपये तथा अन्य हालतों में 1 लाख रुपये तक की सम्पत्ति पर कोई कर नहीं लगता। इससे अधिक सम्पत्ति पर उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दरों पर खण्ड-प्रणाली (Slab system) के अनुसार यह कर लगता है। इस कर से निम्नलिखित प्रकार की सम्पत्ति को छूट दी जाती है :—(क) मृत्यु के छः महीने के भीतर सार्वजनिक कार्य के लिए 2500 रुपये तक का दिया गया दान, (ख) मृत्यु के दो साल के अन्दर तक 1500 रुपये तक के कोई अन्य उपहार, (ग) 50,000 रुपये तक मृत्यु-कर चुकाने के लिए ली गयी बीमा पॉलिसी, (घ) सरकार के पास मृत्यु-कर चुकाने के लिए 50 हजार रुपये तक जमा की गयी रकम, (च) मृतक की जिन्दगी पर 50 हजार रुपये तक के लिए जीवन बीमा, तथा (छ) किसी लड़की अथवा लड़कियों के ब्याह के लिए पृथक् प्रथम रूप से रखी गयी रकम जो अधिक-से-अधिक प्रति लड़की 5 हजार रुपये तक होगी। प्रथम मृत्यु के पश्चात् तीन महीनों की अवधि में होनेवाली सभी मृत्युओं का एक ही मौत गिना जाता है। 1963-64 ई० में इससे 13 लाख रुपये की आय प्राप्त हुई थी। 1964-65 ई० में मृत्यु-कर की दर में वृद्धि की गयी जिसके अनुसार 10 लाख रुपये से ऊपर की जायदाद पर 40 प्रतिशत मृत्यु-कर के रूप में लिया जायगा। 1978-79 ई० के बजट में इससे 11 करोड़ रुपये आय की आशा है जिसमें से राज्यों का हिस्सा 9.85 करोड़ रुपये है। वंच समिति की सिफारिशों को ध्यान में रखकर 1976-77 में मृत्यु-कर की दरों में बहुत अधिक कमी हो गयी है।

**उपहार-कर (Gift Tax) :—**भारत में मृत्यु-कर से बचने के लिए अधिकांश लोगों ने उपहार देना प्रारम्भ कर दिया। अतः इस प्रकार की बुराई को दूर करने के लिए डॉ० कालडोर ने एक उपहार-कर (Gift Tax) लगाने का सुझाव दिया। भारत सरकार ने डॉ० कालडोर के सुझावों के आधार पर 1958-59 ई० में इस प्रकार का एक कर लगाया। 1965-66 ई० के संशोधित बजट अनुमान के अनुसार इससे 300 लाख रुपये की आय हुई थी। इस कर का प्रधान उद्देश्य मृत्यु कर से बचने की प्रवृत्ति को कम करना है। 1964-65 ई० के बजट में इस कर की दरों में और वृद्धि की गयी। 1967-68 ई० में इस मद से 175 लाख रुपये आय की आशा थी। 1975-76 के संशोधित अनुमान में इस मद में 4.75 करोड़ रुपये आय प्राप्त हुई थी तथा 1978-79 के बजट में इस मद में 7.75 करोड़ रुपये और प्राप्त होने की आशा है। इस

प्रकार के कर में वृद्धि का प्रधान उद्देश्य बड़े-बड़े उपहारों को रोकना है।

**सम्पत्ति-कर (Wealth Tax) :—**सम्पत्ति-कर भारत में 1 अप्रैल, 1955 ई० से लगाया गया। इस प्रकार का कर 1 लाख रुपये से अधिक सम्पत्ति वाले व्यक्तियों तथा 2 लाख रुपये से अधिक सम्पत्ति वाले सम्मिलित हिन्दू परिवारों को देना पड़ता है। कृषि-सम्बन्धी सम्पत्ति, प्रोविडेंट फण्ड तथा बीमा पॉलिसी की रकम के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की सम्पत्ति पर यह कर लगाया जाता है। 25 हजार रुपये तक के जेवर को भी इस कर से मुक्त कर दिया गया है। व्यक्ति के सम्बन्ध में प्रथम एक लाख तथा सम्मिलित परिवार के सम्बन्ध में दो लाख रुपये की सम्पत्ति पर कोई कर नहीं लगता। उसके बाद व्यक्ति के सम्बन्ध में अगले चार लाख तथा सम्मिलित परिवार के सम्बन्ध में तीन लाख पर 1 प्रतिशत की दर से तथा उसके बाद अगले 5 लाख पर 2 प्रतिशत की दर से कर लगाया जाता है। कम्पनियों के सम्बन्ध में बैंकिंग, बीमा तथा जहाजी कम्पनियों को इससे पूर्णतः मुक्त कर दिया गया है। अन्य कम्पनियों के सम्बन्ध में भी विभिन्न प्रकार की रियायतें दी गयी हैं। 1961-62 ई० में इस कर से 8.26 करोड़ रुपये तथा 1965-66 ई० में 4 करोड़ रुपये की आय प्राप्त हुई थी। 1975-76 ई० के संशोधित अनुमान के अनुसार इससे 52 करोड़ रुपये की आय हुई थी तथा 1978-79 ई० के बजट में इससे 55 करोड़ रुपये आय की आशा है।

**अकर-आगम (Non-Tax Revenue) :—**उपरोक्त करों के अतिरिक्त भारत सरकार को प्रतिवर्ष वाणिज्यिक उपक्रम तथा विविध कार्यों से भी आय प्राप्त होती है जिनमें मुद्रा एवं टकसाल, डाक-तार विभाग, नागरिक प्रशासन, सार्वजनिक उद्योग तथा रेलों से प्राप्त आय इत्यादि प्रमुख हैं। मुद्रा तथा टकसाल केन्द्रीय सरकार की आय का एक प्रमुख साधन है। 1973-74 ई० में इससे 154.6 करोड़ रुपये की आय की आशा थी। इसके अतिरिक्त सरकार को कुछ विशेष प्रकार की आय भी प्राप्त होती है। सरकार शासन-सम्बन्धी सेवाओं के लिए भी कुछ मूल्य कभी-कभी वसूल करती है। 1978-79 ई० में अकर-आगम से कुल 2754 करोड़ रुपये आय की आशा है। इसमें केवल व्याज के रूप में सरकार को 1389 करोड़ रुपये, लाभ एवं मुनाफा के रूप में 270 करोड़ रुपये तथा अन्य प्रकार की मदों से 1094.5 करोड़ रुपये आय की आशा है।

**केन्द्रीय सरकार के व्यय की प्रमुख मदें (Main Heads of Expenditure of the Central Government)**

भारत सरकार प्रतिवर्ष कुछ खास मदों पर व्यय भी करती है। भारत सरकार के व्यय की मदों में प्रतिरक्षा



सम्बन्धी व्यय, सूद तथा ऋण का भुगतान, करों की वसूली में खर्च तथा राज्यों को अनुदान आदि उल्लेखनीय हैं।

**प्रतिरक्षा-सम्बन्धी व्यय (Defence Expenditure) :**—भारत सरकार के व्यय की मर्दों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि प्रतिरक्षा पर सरकार प्रतिवर्ष बहुत बड़ी रकम खर्च करती है। इसका उद्देश्य देश की स्वतन्त्रता की रक्षा करना है। साथ ही, देश के भीतर शांति तथा व्यवस्था बनाये रखने के कार्य में भी इससे सहायता मिलती है। 1962 ई० में चीनी आक्रमण तथा 1965 ई० में पाकिस्तानी आक्रमण के कारण प्रतिरक्षा का व्यय बढ़ गया है। 1961-62 ई० में इस मद में 289.54 करोड़ रुपये, 1962-63 ई० में 451.81 करोड़ रुपये, 1963-64 में 692.5 करोड़ रुपये तथा 1964-65 ई० में 711 करोड़ रुपये व्यय किये गये। 1967-68 ई० में इस मद में 856.8 करोड़ रुपये तथा 1972-73 ई० में 1404.14 करोड़ रुपये व्यय हुए जबकि 1975-76 के बजट में 2036 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। यह 1962-63 ई० में व्यय की गयी रकम का प्रायः चार गुणा है। 1978-79 ई० के बजट के अनुसार प्रतिरक्षा पर कुल 2651.57 करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है।

इससे स्पष्ट है कि आजकल केन्द्रीय सरकार के कुल व्यय का लगभग 26 प्रतिशत भाग प्रतिरक्षा पर ही व्यय किया जा रहा है। प्रतिरक्षा पर इतनी अधिक रकम व्यय करने से विकास के कार्य पर धनका अवश्य पहुँचता है, किन्तु पड़ोसी राष्ट्र चीन की बढ़ती हुई नैनिक शक्ति को देखते हुए प्रतिरक्षा पर अत्यधिक व्यय बिल्कुल अनिवार्य जान पड़ता है।

**करों की वसूलने का खर्च (Tax Collection) :**—आगम पर प्रत्यक्ष मांग में भी निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। आगम पर प्रत्यक्ष मांग का अभिप्राय उस व्यय से है जो विभिन्न प्रकार के करों को एकत्र करने में किया जाता है। 1962-63 ई० में इस मद में कुल 23.47 करोड़ रुपये तथा 1963-64 ई० में 23.67 करोड़ रुपये व्यय हुआ था जबकि 1973-74 ई० के बजट में इस मद में 63.6 करोड़ रुपये व्यय का अनुमान था। 1978-79 के बजट में इस मद में 405 करोड़ रुपये व्यय की आशा है। इससे स्पष्ट है कि इस मद में व्यय भी निरन्तर बढ़ते जा रहा है। इसे किसी प्रकार भी उचित नहीं कहा जा सकता। इसका प्रमुख कारण नये करों में वृद्धि है, अतः आवश्यकता इस बात की है कि इस व्यय में यथासम्भव कमी की जाय।

**सूद तथा ऋण का भुगतान (Payment of Interest and Loans) :**—ऋण पर भी भारत सरकार आजकल बहुत अधिक रकम खर्च करती है। सरकार विकास एवं अन्य कार्यों के लिए देश एवं विदेशों से कर्ज लेती है जिस पर व्याज चुकाना पड़ता है। द्वितीय महायुद्ध काल के समय से इन ऋणों का महत्त्व बहुत बढ़ गया है जिससे सूद की रकम भी बढ़ती जा रही है। आजकल पंचवर्षीय योजनाओं के लिए सरकार बहुत अधिक ऋण ले रही है। 1967-68

ई० के संशोधित बजट के अनुसार इस मद में 508.3 करोड़ रुपये व्यय किये गये जबकि 1961-62 ई० में इस मद में केवल 83.85 करोड़ ही व्यय हुआ था। 1972-73 ई० के संशोधित अनुमान के अनुसार 768.6 करोड़ रुपये व्यय हुआ तथा 1975-76 के बजट में इस मद में 1187.8 करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था है। 1978-79 के बजट में इस मद में व्यय 1840.45 करोड़ रुपये था।

व्यय का एक महत्वपूर्ण शीर्षक प्रशासनिक सेवाएँ (Administrative Services) भी है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से इसमें निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। 1962-63 ई० में इस मद में कुल 75.2 करोड़ रुपये व्यय हुआ था, जबकि 1973-74 ई० के बजट में इस मद में प्रायः 279.44 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। 1978-79 के बजट में इस मद में 432.4 करोड़ रुपये व्यय की आशा है। इस मद में व्यय में कमी की बड़ी आवश्यकता है। कर-जाँच समिति के अनुसार इस मद में अपव्यय को दूर करने तथा मितव्ययिता लाने की बड़ी आवश्यकता है। किन्तु वर्तमान समय में बढ़ते हुए मूल्य-तल तथा प्रशासनिक जटिलताओं के कारण इसमें कमी की बहुत कम सम्भावना है। सार्वजनिक निर्माण (Public works) का कार्य राज्य सरकारों के अधीन है, फिर भी केन्द्र को इस मद में थोड़ा-बहुत व्यय करना पड़ता है। 1973-74 ई० के बजट में इस मद में 46.96 करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन था।

इनके अतिरिक्त मुद्रा एवं टकसाल पर भी भारत सरकार प्रतिवर्ष कुछ रकम व्यय करती है।

**राज्यों को अनुदान (Grant-in-aid to States) :**—केन्द्रीय सरकार प्रतिवर्ष राज्य सरकारों को विशेष कार्यों के लिए अनुदान भी प्रदान करती है। अनुदान विभिन्न उद्देश्यों से दिये जाते हैं। इनका महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। छठे वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार तो केन्द्र को आजकल बहुत अधिक रकम अनुदान के रूप में देनी पड़ रही है। 1972-73 ई० में राज्यों तथा केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों को कुल 965.5 करोड़ रुपये अनुदान दिया गया था तथा 1975-76 में 1158 करोड़ रु० के अनुदान की व्यवस्था थी। 1978-79 में राज्यों को अनुदान के रूप में 2580 करोड़ रुपये व्यय की आशा है।

**अन्त में अप्रत्याशित व्यय (Extraordinary Items)** है। इस प्रकार का व्यय अनियमित प्रकृति का होता है। उदाहरण के लिए बाढ़, दुर्भिक्ष एवं अन्य प्रकार के संकट आदि दूर करने का व्यय, इत्यादि। 1973-74 के बजट में इस मद में 10.6 करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी।

### राज्यों की वित्त-व्यवस्था (State Finances)

भारतीय संविधान के अनुसार देश का संगठन संघीय आधार पर हुआ है। अतएव इसमें प्रत्येक राज्य अथवा इकाई को कार्य-संचालन की स्वतन्त्रता दी गयी है। राज्यों की आय के साधन तथा व्यय की मर्दें भी निश्चित



की गयी हैं। निम्नांकित तालिका में 1973-74 ई० में जिससे कि राज्यों की आय एवं व्यय का सामान्य रूप से बिहार सरकार की आय एवं व्यय को दिखलाया गया है अन्दाजा लगाया जा सकता है :-

## बिहार सरकार की आय एवं व्यय के साधन

|                                       | 1971-72 ई० में<br>वास्तविक आय | (करोड़ रु० में)<br>1973-74 ई० में<br>बजट-सम्बन्धी अनुमान |
|---------------------------------------|-------------------------------|----------------------------------------------------------|
| आय के प्रमुख साधन                     |                               |                                                          |
| केन्द्रीय करों का हिस्सा              | 100.53                        | 125.22                                                   |
| भूमि-कर (Land Revenue)-शुद्ध          | 7.73                          | 12.79                                                    |
| राज्य उत्पाद-कर (State Excise Duties) | 12.65                         | 14.65                                                    |
| स्टाम्प, रजिस्ट्रेशन                  | 9.49                          | 12.23                                                    |
| कृषि आय-कर                            | 6.25                          | 7.48                                                     |
| मनोरंजन कर                            | 4.03                          | 3.30                                                     |
| मोटरगाड़ियों पर कर                    | 4.48                          | 5.04                                                     |
| विक्रय-कर                             | 42.27                         | 48.95                                                    |
| विद्युत्-कर                           | 5.20                          | 8.32                                                     |
| पैसेंजर तथा वस्तुओं पर कर             | 1.44                          | 3.85                                                     |
| कुल कर-सम्बन्धी आय                    | 191.07                        | 234.83                                                   |
| गैर-कर-सम्बन्धी आय                    | 57.35                         | 100.75                                                   |
| सफल आय                                | 248.42                        | 335.60                                                   |

## व्यय की मदें

|                                   | 1971-72 ई० में<br>वास्तविक व्यय | (करोड़ रुपये में)<br>1973-74 ई० में<br>बजट-सम्बन्धी अनुमान |
|-----------------------------------|---------------------------------|------------------------------------------------------------|
| करों की बसूली                     | 9.93                            | 13.33                                                      |
| सिंचाई एवं नौ-चालन इत्यादि        | 6.50                            | 2.33                                                       |
| ऋण-सेवाएँ                         | 39.63                           | 43.28                                                      |
| नागरिक प्रशासन                    | 34.21                           | 37.76                                                      |
| वैज्ञानिक विभाग                   | 37.10                           | 50.22                                                      |
| शिक्षा                            | 49.97                           | 85.19                                                      |
| चिकित्सा एवं सार्वजनिक स्वास्थ्य  | 21.33                           | 30.09                                                      |
| कृषि, पशु-चिकित्सा एवं सहकारिता   | 23.67                           | 30.19                                                      |
| वन-विभाग                          | 1.30                            | 1.30                                                       |
| विविध                             | 8.13                            | 12.16                                                      |
| उद्योग एवं आपूर्ति                | 1.97                            | 4.10                                                       |
| नागरिक कार्य                      | 16.71                           | 15.00                                                      |
| ग्रामीण सामुदायिक विकास कार्यक्रम | 11.98                           | 20.96                                                      |
| कुल व्यय                          | 284.06                          | 356.11                                                     |

राज्य सरकारों के बजट के अध्ययन से स्पष्ट है कि इनकी आय के प्रमुख साधन भूमि-कर, विक्री-कर, राज्य उत्पाद-कर, मनोरंजन-कर, कृषि-आय-कर, सिंचाई से प्राप्त आय, स्टाम्प तथा रजिस्ट्रेशन फी आदि हैं। इनके अतिरिक्त राज्यों को केन्द्र से आय-कर, मृत्यु कर, संघीय

उत्पाद-कर, रेलवे भाड़े पर कर आदि के अंशदान के रूप में भी पर्याप्त रकम मिलती है। कुछ राज्यों में नशाखोरी को बन्द करने की नीति अपनाने के फलस्वरूप राज्य उत्पाद-कर में कमी आ गयी है।



**भूमि-कर (Land Revenue) :**—भूमि-कर बहुत दिनों तक राज्य सरकारों की आय का एक प्रमुख साधन रहा है, किन्तु अब कुछ राज्यों में इसे समाप्त करने की बात सोची जा रही है। बिहार सरकार भी इसे समाप्त करने की बात सोच रही थी, किन्तु अब यह विचार प्रायः छोड़ दिया गया है। उत्तर प्रदेश तथा बिहार में छोटी-छोटी ज़ोनों पर से भूमि-कर को समाप्त कर बड़ी-बड़ी ज़ोनों पर अधिक उच्च दर से कर लगाने की बात की जा रही है। 1973-74 ई० में बिहार राज्य में भूमि-कर से 1279 लाख रुपये आय का अनुमान था। बिहार सरकार ने हाल में ही भूमि कर को प्रगतिशील बनाने का प्रयास किया है।

**आबकारी कर या राज्य-उत्पाद कर (State Excise Tax) :**—आबकारी कर राज्य सरकारों की आय का एक प्रधान साधन है। इस प्रकार का कर गांजा, भांग, अफीम तथा अन्य मादक वस्तुओं के उत्पादन पर लगाया जाता है। इसका उद्देश्य सरकारी आय में वृद्धि के साथ-साथ मादक वस्तुओं के उपभोग को नियन्त्रित करना है। 1973-74 में बिहार सरकार को इस मद में कुल 14.65 करोड़ रुपये की आय हुई थी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् कुछ राज्यों—महाराष्ट्र, गुजरात तथा तमिलनाडु में नशा-बन्दी कार्यक्रम (Prohibition) अपनाते के फलस्वरूप आय का यह साधन बिलकुल ही समाप्त हो गया था। परन्तु नशाबन्दी कार्यक्रम देशव्यापी नहीं हो सका है, अतएव तमिलनाडु ने भी जून, 1971 ई० से नशाबन्दी को समाप्त कर पुनः आबकारी करों को लगाया है। परन्तु पुनः कुछ राज्यों में धीरे-धीरे नशाबन्दी अपनाने की बात चल रही है।

**विक्रय-कर (Sales Tax) :**—राज्यों की वित्त-व्यवस्था में विक्रय-कर का महत्वपूर्ण स्थान है। यह सर्वप्रथम 1938 ई० में मध्य प्रदेश की सरकार द्वारा लगाया गया था। इसके बाद यह कर 1939 ई० में मद्रास में तथा 1941 ई० में बंगाल में लगाया गया। आजकल तो प्रायः सभी राज्यों में यह कर लगाया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में विक्रय-कर सर्वप्रथम 1933 ई० में लगाया गया था और आजकल वहाँ की सरकार की कुल आय का प्रायः  $\frac{1}{3}$  भाग इसी कर से प्राप्त होता है। इंग्लैंड में इसके बदले में क्रय-कर (Purchase Tax) लगाया जाता है। इस प्रकार का कर सर्वप्रथम 1940 ई० में उपभोग को कम करने के उद्देश्य से लगाया गया था। विक्रय-कर एवं क्रय-कर में अन्तर यह है कि विक्रय-कर विक्री पर लगाया जाता है और व्यापारियों से वसूल किया जाता है जबकि क्रय-कर खरीद पर लगता है तथा खरीददारों से वसूल किया जाता है।

भारत में अधिकांश राज्य सरकारों द्वारा सभी महत्वपूर्ण वस्तुओं पर विक्रय-कर लगाया जाता है। साथ ही,

पश्चिमी बंगाल सरकार द्वारा कच्चे जूट, उत्तरप्रदेश में गन्ना तथा तमिलनाडु में चमड़ा पर क्रय-कर भी लगाया जाता है। विक्रय-कर भिन्न-भिन्न राज्यों में या तो Single point होता है या Multiple point. Multiple point में विक्रय-कर हर एक स्तर पर लगाया जाता है। इसमें अधिक कर प्राप्त होने की गुंजाइश रहती है जिससे इस प्रकार के कर की दर साधारणतया कम होती है। इसके विपरीत Single point में कर एक ही स्थान में लगाया जाता है। भिन्न-भिन्न राज्यों में करों की दरों में भी विभिन्नता पायी जाती है। बिहार सरकार को विक्रय-कर से 1966-67 ई० में 25 करोड़ रुपये की आय हुई थी तथा 1973-74 के बजट में विक्रय-कर से 48.95 करोड़ रुपये की आय का अनुमान था। वर्तमान समय में सभी राज्य सरकारों को इस मद से बहुत अधिक आय प्राप्त हो रही है। किन्तु यह कर बहुत ही प्रतिगामी (Regressive) है, अतएव निर्धन व्यक्तियों पर इसका भार अधिक पड़ता है।

**कृषि-आय कर (Agricultural Income Tax) :**—भारत में केन्द्रीय सरकार कृषि-आय कर नहीं लगा सकती। संविधान के अनुसार कृषि-आय पर कर लगाने का अधिकार राज्य सरकारों को ही मिला है। सर्वप्रथम बिहार सरकार ने 1938 ई० में कृषि-आय पर एक कर लगाया था। इस समय बिहार, उत्तर प्रदेश, असम, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, राजस्थान तथा केरल आदि राज्यों में कृषि-आय पर कर लगाया जाता है। कर-जाँच आयोग (Taxation Enquiry Commission) ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये थे :—(i) कृषि-आय कर प्रत्येक राज्य में लगाया जाना चाहिए, (ii) कर की दर पर्याप्त होनी चाहिए, तथा (iii) कर-मुक्त आय की न्यूनतम सीमा प्रत्येक राज्य में 3,000 रु० होनी चाहिये। कृषि-आय कर जमींदारी प्रथा के समय में यदि अपनाया गया होता तो इससे पर्याप्त मात्रा में आय प्राप्त हुई होती। आजकल तो इस सम्बन्ध में प्रश्न यह है कि भूमि-कर को हटा कर कृषि-आय कर को ही क्यों नहीं अपनाया जाय। किन्तु, कर जाँच आयोग को यह सुझाव मान्य नहीं था; क्योंकि 1953-54 ई० में भूमि-कर से सभी राज्यों में लगभग 70 करोड़ रुपये की आय हुई थी। जमींदारी उन्मूलन के बाद भी इसमें और भी वृद्धि हुई है। अतएव, इसे बिलकुल समाप्त नहीं किया जा सकता। फिर भी, कृषि-आय कर को बड़े पैमाने पर अपनाना चाहिए। 1973-74 में बिहार सरकार को कृषि-आय कर से 48 लाख रुपये आय का अनुमान था।

अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि हरी क्रान्ति के चलते बड़ी-बड़ी फर्मों की आय में जो अत्यधिक वृद्धि हुई है उसे अधिक प्रगतिशील करों द्वारा वसूलने का प्रयास करना चाहिए। इस सम्बन्ध में निकट भविष्य में भारत



सरकार द्वारा कुछ कदम उठाने की आशा की जाती है।

**केन्द्रीय करों में हिस्सा (Share in Central Taxes):**—राज्य सरकारों की आय का एक प्रधान साधन कुछ प्रमुख केन्द्रीय करों—आयकर, मृत्यु कर तथा संघीय उत्पाद कर का एक भाग मिलता है। 1971-72 में बिहार सरकार को केन्द्रीय करों में हिस्सा के रूप में 103.53 करोड़ रुपये प्राप्त हुआ था तथा 1972-73 ई० के बजट में इस मद में 125.22 करोड़ रुपये प्राप्ति की आशा थी। इसमें से आयकर के हिस्से के रूप में बिहार सरकार को 49.8 करोड़ रुपये, मृत्यु-कर से 90 लाख रुपये तथा संघीय उत्पाद-कर से 84.37 करोड़ रुपये आय की आशा थी।

**गैर-कर-सम्बन्धी आय (Non-Tax Revenue):**—राज्य सरकारों को कुछ गैर-कर सम्बन्धी आय के साधन भी उपलब्ध हैं। बिहार सरकार को 1971-72 में गैर-कर सम्बन्धी साधनों से 57.35 करोड़ रुपये आय प्राप्त हुई थी तथा 1973-74 के बजट के अनुसार 100.77 करोड़ रुपये की आय हुई। इससे स्पष्ट है कि राज्य सरकारों की गैर-कर-सम्बन्धी आय में भी वृद्धि हो रही है। 1973-74 में प्रशासनिक सेवाओं से 2.26 करोड़ रुपये, सामाजिक एवं विकासात्मक सेवाओं से 15.24 करोड़ रुपये, सिंचाई से 10 लाख रुपये, राज्य के सार्वजनिक उपक्रमों से 78 लाख रुपये, व्याज के रूप में 12.1 करोड़ रुपये, राज्य के लाँडरी से 1.45 करोड़ रुपये तथा सहायता एवं अन्य (Grants-in-aid and Other Contributions) से 66.87 करोड़ रुपये की आय का अनुमान था।

**राज्य सरकारों का व्यय (Expenditure of the State Govts.):**—राज्य सरकारें अपनी आय का अधिकांश भाग सामाजिक सेवाओं तथा नागरिक प्रशासन एवं पुलिस आदि पर व्यय करती हैं। केन्द्र की तरह राज्य सरकारों के व्यय में भी करों की वसूली में निरन्तर वृद्धि हो रही है, अतः इस व्यय में मितव्ययिता अनिवार्य है। राज्य-सरकारें अपने राज्य में कृषि के विकास पर पर्याप्त रकम व्यय करती हैं। कृषि विकास के अन्तर्गत उत्तम बीज, खाद, ऋण आदि की सुविधाओं के अतिरिक्त पशु-चिकित्सा एवं विकास तथा सहकारिता आदि भी सम्मिलित हैं। किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राज्य सरकारें सामाजिक सेवाओं के विकास पर बहुत अधिक रकम व्यय कर रही हैं। सामाजिक सेवाओं के अन्तर्गत शिक्षा एवं जन-स्वास्थ्य प्रमुख हैं। वास्तव में, इस प्रकार की सेवाओं पर अधिक व्यय की आवश्यकता भी है जिससे

जन-साधारण के जीवन-स्तर में सुधार हो सके। राज्य सरकारों को व्याज के रूप में भी बहुत अधिक रकम खर्च करनी पड़ती है। इसमें केन्द्रीय सरकार तथा जीवन बीमा निगम जैसी संस्थाओं से लिये गये ऋण भी सम्मिलित हैं।

**निष्कर्ष:**—इस प्रकार भारत में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की आय के साधन तथा व्यय की उपरोक्त प्रमुख मदें हैं। पञ्चवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सरकारी आय में वृद्धि के लिए निरन्तर प्रयास किये जा रहे हैं। परिणाम-स्वरूप देश में केन्द्र तथा राज्य सरकारों की सम्मिलित आय 1950-51 में 697 करोड़ रुपये से बढ़कर 1969-70 में 4800 करोड़ रुपये हो गयी, किन्तु फिर भी, भारत में करों से प्राप्त कुल आय सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय का केवल 12.4 प्रतिशत भाग थी। इंग्लैंड में कुल राष्ट्रीय आय का 31.8 प्रतिशत भाग, आस्ट्रेलिया में 28.1 प्रतिशत भाग, पश्चिमी जर्मनी में 28.6 प्रतिशत भाग, संयुक्त राज्य अमेरिका में 25.9 प्रतिशत भाग करों के रूप में प्राप्त होता है। इस प्रकार विकसित देशों की तुलना में भारत में यह वास्तव में बहुत ही कम है।

भारत में करों से प्राप्त आय के निम्न होने के कई कारण हैं। इनमें सर्वाधिक प्रधान कारण बड़े पैमाने पर करों की चोरी (Tax evasion) है। अतएव, करों की वर्तमान दरों में वृद्धि करने की अपेक्षा भारत तथा राज्य सरकारों द्वारा करों की वसूली के तरीकों में सुधार से भी अधिक लाभ की आशा की जा सकती है। साथ ही, देश की कर-व्यवस्था में परोक्ष करों की ही प्रधानता है तथा इनसे कुल आय का अधिकांश भाग प्राप्त होता है।

**परोक्ष कर जाँच समिति की सिफारिशें (Report of the Indirect Taxes Enquiry Committee):**—भारत-सरकार ने रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के भूतपूर्व गवर्नर श्री एल० के० झा की अध्यक्षता में एक परोक्ष कर जाँच समिति की नियुक्ति की थी जिसने 1977 के अंत में अपना प्रतिवेदन भारत सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया। समिति के अनुसार भारतीय कर-व्यवस्था में परोक्ष करों का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। 1976-77 में भारत तथा राज्य सरकारों की करों से कुल आय लगभग 11000 करोड़ रुपये थी जिसमें से प्रायः 80 प्रतिशत भाग परोक्ष करों से ही प्राप्त हुआ था। इसके विपरीत विकसित देशों में इसका प्रतिशत लगभग 45 से 50 तक ही है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय कर-व्यवस्था के अन्तर्गत परोक्ष करों की ही प्रधानता है।

#### विशेष अध्ययन-सूची

1. Budgets of the Govt. of India and of Bihar, 1978-79.
2. India—1976.
3. Eastern Economists Budget November, 1976.
4. Reserve Bank of India Bulletin, June, 1975-76.



## IMPORTANT QUESTIONS

### परिचय एवं प्राकृतिक साधन

1. What are the signs of economic under-development that are present in India ? How far have the Five Year Plans changed the picture in the last 25 years ?  
भारत में आर्थिक दृष्टि से अर्द्ध-विकसित होने के कौन-कौन से लक्षण वर्तमान हैं ? पिछले 25 वर्षों में पंच-वर्षीय योजनाओं से इस स्थिति में क्या परिवर्तन हुआ है ?
2. In what ways can India be regarded as an economically under-developed country ? Does India possess all the requisites of economic progress ?  
भारत को किन-किन कारणों से आर्थिक दृष्टि से अर्द्ध-विकसित देश समझा जा सकता है ? क्या भारत में आर्थिक विकास के लिए सभी आवश्यक शक्त मौजूद हैं ?
3. "India possesses all the necessary natural resources for her economic development." Examine. Discuss some of the important measures which are being taken for their development.  
"भारत में आर्थिक विकास के लिए आवश्यक सभी प्राकृतिक साधन वर्तमान हैं।" व्याख्या कीजिए। इनके विकास के लिए अपनाये गये कुछ महत्वपूर्ण उपायों की व्याख्या कीजिए।
4. "Forests are the handmaid of agriculture in India." Elucidate and discuss the forest policy of the Govt. of India  
"वन भारतीय कृषि के सहचर हैं।" स्पष्ट कीजिए तथा भारत सरकार की वन-नीति की व्याख्या कीजिये।
5. "Forests are handmaid of Indian Agriculture." Elucidate and discuss the Forest policy outlined in the Five Year Plans.  
"वन भारतीय कृषि के सहचर हैं।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए तथा पंचवर्षीय योजनाओं में वर्णित वन-नीति की व्याख्या कीजिए।
6. What are the economic benefits derived from forests ? Are forest resources of Bihar adequate ?  
वन की आर्थिक उपयोगिता का वर्णन कीजिए। क्या बिहार के वन-साधन पर्याप्त हैं ?
7. Discuss the importance of forests in the economic life of India. Describe the measures under taken by the Govt. to develop it during the five Five Year Plans.  
भारत के आर्थिक जीवन में वनों के महत्व की व्याख्या कीजिए। पाँचों पंचवर्षीय योजनाओं में इनके विकास के लिए किये गये उपायों को बतलाइये।
8. Give a critical estimate of the mineral resources of Bihar. What in your opinion, should be the main features of a programme of mineral development of our country ?  
बिहार की खनिज-सम्पत्ति की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए। आपकी राय में, देश के खनिज के विकास-सम्बन्धी कार्यक्रम की क्या विशेषताएँ होनी चाहिए ?
9. Give a critical estimate of the mineral resources of India with special reference to Bihar. Discuss the Mineral Policy of the Govt. of India.  
बिहार को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए भारत की खनिज-सम्पत्ति की व्याख्या कीजिए। भारत सरकार की खनिज-नीति की विवेचना कीजिए।
10. Give an estimate of the Mineral resources of India. Discuss the mineral policy of the Govt. of India.  
भारत के खनिज-साधनों की व्याख्या कीजिए। भारत सरकार की खनिज नीति की व्याख्या कीजिए।



( 2 )

11. Give an idea of the Water-power resources of India and their exploitation and development under the Five Year Plans.

भारत में जल-शक्ति के साधनों की व्याख्या कीजिए तथा पंचवर्षीय योजनाओं में इनके विकास एवं उपयोग के लिए किये गये प्रयत्नों की व्याख्या कीजिए।

12. Give a critical account of the power resources in India. Enumerate some of the important hydro-electric projects of India.

भारत में जल-शक्ति के साधनों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। भारत की कुछ प्रमुख जल-शक्ति की योजनाओं का वर्णन कीजिए।

13. Make a brief review of India's industrial fuel resources with special reference to their present position and the future possibilities of the development of hydro-electricity.

जल-शक्ति को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए, भारत के औद्योगिक ईंधन के साधनों तथा भविष्य में इनके विकास की संभावनाओं की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

14. "India presents a paradox of poverty in plenty." Explain this statement and comment on it.

"भारत प्रचुरता में निर्धनता नामक एक पहेली प्रस्तुत करता है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा इस पर टिप्पणी कीजिए।

15. Examine the mineral resources of India. What suggestions have been made in our plans to develop them?

भारत के खनिज साधनों की समीक्षा कीजिए। पंचवर्षीय योजनाओं में इनके विकास के लिए क्या सुझाव किये गये हैं?

16. What steps have been taken by the Government to promote the development and exploitation of minerals in India in the Plan period?

योजना काल में सरकार द्वारा भारत के खनिज-पदार्थों के विकास तथा प्रयोग के लिए क्या-क्या उपाय किये गये हैं?

17. Describe in brief our principal multi-purpose River Valley Projects of India. How do they help the development of our agriculture and industries?

भारत की प्रमुख नदी घाटी योजनाओं का संक्षिप्त विवरण दीजिए। कृषि तथा उद्योग के विकास में ये किस प्रकार सहायता करती हैं?

18. Describe the importance of hydro-electricity as a source of power in India. What measures have been adopted by the Government since 1956 to develop it?

भारत में शक्ति के साधन के रूप में जल-विद्युत के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। 1956 ई० के बाद इनके विकास के लिए सरकार द्वारा क्या उपाय किये गये हैं?

19. Describe the importance and present position of the supply of hydro-electricity in India. Discuss the chance of the hydro-electricity becoming the main source of power in the future.

भारत में वर्तमान समय में जल-शक्ति की पूर्ति की स्थिति का विवेचना कीजिए। भविष्य में जल-विद्युत की शक्ति के प्रधान साधन होने की संभावनाओं पर विचार कीजिए।

20. Describe the recent development of power resources in India and point out how far our power resources are adequate for the industrial development of the country.

भारत में शक्ति के साधनों के वर्तमान विकास की व्याख्या कीजिए तथा यह बतलाइये कि देश के औद्योगिक विकास के लिए हमारी शक्ति के साधन कहाँ तक पर्याप्त हैं।



( 3 )

21. "The mineral resources of India are sufficient in quantity and diversity to form the basis of a prosperous economy." Discuss.

"भारत की खनिज-सम्पत्ति देश में समृद्ध अर्थ-व्यवस्था के आधार के लिए मात्रा तथा विविधता दोनों ही दृष्टि में पर्याप्त है।" व्याख्या कीजिए।

22. What is the target for coal in the Second Five Year Plan? How does the plan propose to realise it?

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कोयले का क्या लक्ष्य है? योजना में इसे किस प्रकार प्राप्त करने का आयोजन है?

23. Have we sufficient mineral oils in India. Discuss and examine the steps taken to increase its supply.

क्या भारत में खनिज तेल के साधन पर्याप्त हैं? व्याख्या कीजिए तथा इसकी पूर्ति को बढ़ाने के लिए अपनाये गये उपायों का वर्णन कीजिए।

24. "India is endowed with the basic mineral and power resources needed for industrial expansion." Discuss. What steps have been taken with regard to mineral development in our country.

"भारत में औद्योगिक विस्तार के लिए आवश्यक आधारभूत खनिज तथा शक्ति के सभी साधन मौजूद हैं।" व्याख्या कीजिए। खनिज-साधनों के विकास के लिए हमलोगों के देश में क्या उपाय किये गये हैं।

25. Give a short account of the mineral oil resources in India. Examine briefly the steps taken by the Govt. of India during the last decade to increase the supply of mineral oil.

भारत में खनिज तेल के साधनों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। पिछले दशक में खनिज तेल की पूर्ति को बढ़ाने के लिये सरकार द्वारा अपनाये गये उपायों की व्याख्या कीजिए।

26. "Power development is the key to industrial progress." Examine this statement and describe some of the important hydro-electric projects of India.

"शक्ति का विकास औद्योगिक प्रगति का प्रधान सूचक है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा देश की कुछ प्रमुख नदी-घाटी योजनाओं का वर्णन कीजिए।

27. "The maldistribution of power resources is a hinderance to the balanced economic development of India." Discuss.

"शक्ति के साधनों का विषम वितरण भारत के संतुलित आर्थिक विकास के क्षेत्र में बाधक सिद्ध हो रहा है।" स्पष्ट कीजिए।

28. Review the policy laid down in the Five Year Plans for the development of Power resources in India and the success achieved by the same.

पंचवर्षीय योजनाओं में भारत में शक्ति साधनों के विकास के लिए प्रस्तावित नीति तथा इस सम्बन्ध में प्राप्त सफलता की व्याख्या कीजिए।

### जनसंख्या एवं जनसंख्या-सम्बन्धी नीति

1. Discuss briefly the arguments regarding over-population in India. What are the remedies suggested?

भारत में जनाधिक्य के सम्बन्ध में दिये जानेवाले विभिन्न तर्कों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। इसके लिये क्या उपाय प्रस्तावित किये गये हैं?

2. Discuss the causes of the growth of population in India in the last 30 years. Is it necessary to check it? If so, what measures would you suggest?

पिछले 30 वर्षों में जनसंख्या में वृद्धि के कारणों की व्याख्या कीजिए। क्या इसे रोकना आवश्यक है? यदि हाँ तो आप इसके लिए क्या सुझाव देंगे?



( 4 )

3. "Grow more Food Campaign without Grow Less Children Campaign' will be ineffective." Discuss.

"कम बच्चे उत्पन्न करो" के बगैर अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन सफलीभूत नहीं हो सकता।" व्याख्या कीजिए।

4. Is India over-populated? Can planning of her population be made effective?

क्या भारत में जनाधिक्य है? क्या इसकी जनसंख्या के नियोजन को प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है?

5. "Population is outstripping the means of subsistence in India." Discuss.

"भारत में जनसंख्या निर्वाह के साधनों से अधिक तीव्र गति से बढ़ रही है।" व्याख्या कीजिए।

6. "A rapidly growing population is the most fundamental obstacle to economic development in India." Examine this statement and suggest a suitable population policy for India.

"द्रुतगति से बढ़ती हुई जनसंख्या देश के आर्थिक विकास के लिए सबसे बड़ी बाधा सिद्ध हो रही है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा भारत के लिए एक उपयुक्त जनसंख्या-सम्बन्धी नीति प्रस्तावित कीजिए।

7. Is over-population or under-development the root cause of India's poverty?

भारत की निर्धनता का प्रधान कारण जनाधिक्य अथवा अर्द्ध-विकसित स्थिति का होना है?

8. Do you think the existing misery of India is due to her large population? How would you try to reduce its rate of growth?

क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि भारत की वर्तमान निर्धनता इसकी बड़ी जनसंख्या का परिणाम है? विकास की तुलना में इसकी दर को कम करने के लिए आप क्या सुझाव दीजिएगा?

9. "The most difficult problem of India is her rapid growth of population." Discuss. What steps have been taken to check it? Give your suggestions.

"भारत की सबसे विकट समस्या उसकी जनसंख्या की द्रुतगति से वृद्धि है।" व्याख्या कीजिए। इसे रोकने के लिए क्या उपाय किये गये हैं? अपने सुझाव दीजिए।

10. Do you favour the policy of "checking population growth" in India for rapid improvement in the standard of living? Give reasons for your answer.

जीवन-स्तर में द्रुतगति से सुधार के लिए क्या आप जनसंख्या की वृद्धि की दर को रोकने के पक्ष में हैं? अपने उत्तर की पुष्टि के लिए कारण दीजिए।

11. Describe the occupational distribution of Indian population as revealed by the 1961 census and comment on the same.

1961 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या के व्यावसायिक वितरण की व्याख्या करें तथा इस पर टिप्पणी करें।

12. Examine the occupational distribution of population in India and explain its relationship with poverty in our country.

भारत में जनसंख्या के व्यावसायिक वितरण की व्याख्या करें तथा अपने देश की निर्धनता से इसके सम्बन्ध की व्याख्या करें।

13. Account for the high rate of population growth during the last two decades. How far can the problem of the population be solved by internal migration?

पिछले दो दशकों में जनसंख्या में वृद्धि की उच्च दर के कारणों की व्याख्या करें। आन्तरिक प्रवास द्वारा जनसंख्या की समस्या का कहाँ तक समाधान किया जा सकता है?

14. "In India an effective curb on population growth is an important condition for rapid improvement in income and in levels of living." Examine this statement in the light of experiences during the decade 1951-60.



“भारत में आय एवं जीवन-स्तर में द्रुतगति से सुधार के लिए जनसंख्या की वृद्धि पर महत्वपूर्ण नियन्त्रण एक आवश्यक शर्त है।” 1951 से 60 वाले दशक के आधार पर इस कथन की व्याख्या कीजिए।

15. “Any comprehensive scheme of economic planning must include within its scope population planning as well.” Discuss. How far the Govt. of India adhered to the above principle in the Five Year Plans?

“आर्थिक नियोजन की किसी भी वृहत् योजना में जनसंख्या-सम्बन्धी नियोजन को सम्मिलित करना आवश्यक है।” व्याख्या कीजिए। पंचवर्षीय योजनाओं में सरकार ने कहाँ तक इस नीति पर ध्यान दिया है?

16. “The existing misery of India is due not as much to the increase in population as to the failure to develop the countries resources.” Discuss.

“भारत का वर्तमान संकट जनसंख्या में द्रुतगति से वृद्धि के कारण नहीं बल्कि मुख्यतः देश के साधनों को विकसित करने की विफलता के कारण है।” व्याख्या कीजिए।

17. Comment on—(a) The occupational distribution of the Indian population, and (b) a high birth and falling death rate in India. Bring out their economic significance.

भारत में (क) जनसंख्या के व्यावसायिक वितरण, तथा (ख) बढ़ती हुई जन्म-दर एवं घटती हुई मृत्यु-दरों पर टिप्पणी लिखें तथा उनके आर्थिक महत्व की व्याख्या करें।

18. Examine the salient features of our population. Do you advocate family planning to solve our population problem?

अपने देश की जनसंख्या की मुख्य विशेषताओं की व्याख्या कीजिए। क्या अपनी जनसंख्या की समस्या के समाधान के लिए आप परिवार नियोजन को अपनाने का सुझाव देते हैं?

19. What are the special features of the population problem in India? Examine critically the population policy of the Govt. of India.

भारत की जनसंख्या-सम्बन्धी समस्या की प्रधान विशेषताएँ क्या हैं? भारत सरकार की जनसंख्या-सम्बन्धी नीति की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

20. “Careful population planning is an urgent necessity in India otherwise population growth would eat up economic growth.” Discuss it with reference to the growth of population in India in the last four decades.

“भारत में जनसंख्या का सावधानी से नियोजन बिल्कुल आवश्यक है अन्यथा जनसंख्या में वृद्धि आर्थिक विकास के सभी लाभ समाप्त कर देगी।” पिछले चार दशकों में भारत की जनसंख्या की वृद्धि को ध्यान में रखते हुए इस बात की व्याख्या कीजिए।

21. “Population problem of India has become explosive.” Discuss the statement and attempt an appraisal of the family planning programme of the Government of India?

“भारत में जनसंख्या की समस्या विस्फोट हो गयी है।” इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा भारत सरकार के परिवार नियोजन सम्बन्धी कार्यक्रम की आलोचनात्मक समीक्षा प्रस्तुत कीजिए।

राष्ट्रीय आय एवं पंचवर्षीय योजनाएँ

1. Give an estimate of the India's National Income, indicating the proportions derived from different sectors. How has the positions changed during the Five Year Plans?

भारत की राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाइये। इसमें से कौन-सा भाग विभिन्न क्षेत्रों द्वारा प्राप्त होता है पंचवर्षीय योजनाओं में इस स्थिति में क्या परिवर्तन हुआ है?



2. Indicate the causes and remedies of India's Foreign-Exchange crisis. What has been the reason for improvement in Foreign exchange position ?  
भारत के विदेशी विनिमय संकट के कारण तथा निवारण की व्याख्या कीजिए। वर्तमान समय में इस स्थिति में सुधार के क्या कारण हैं ?
3. "A large inc. ase in employment opportunities must be regarded as a principal objective of the Sixth Five Year Plan." How does the plan proposes to create these opportunities ?  
"छठी पंचवर्षीय योजना का एक प्रधान उद्देश्य रोजगार की सुविधाओं में पर्याप्त वृद्धि करना है।" योजना में इन सुविधाओं में विस्तार के लिए क्या किये जा रहे हैं ?
4. "Deficit financing in the Fourth Five Year Plan is the main cause of high prices in India." Discuss.  
"भारत में मूल्य-तल में वृद्धि के लिए चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में घाटे की वित्त-व्यवस्था मुख्य रूप से उत्तर-दायी है।" व्याख्या कीजिए।
5. Describe the progress achieved during the Fourth & Fifth Five Year Plans.  
चतुर्थ एवं पंचम पंचवर्षीय योजनाओं में हुई प्रगति की समीक्षा कीजिए।
6. Point out the main differences in the scheme of priorities of First and Second Five Year Plans and account for these differences.  
प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में प्राथमिकता के क्रम में मुख्य अन्तर की व्याख्या कीजिए तथा इस अन्तर का कारण बतलाइये।
7. Give an idea of- the proposed investment programmes of the Sixth Five Year Plan of India. Would you suggest modifications in the light of our growing defence requirements ?  
छठी पंचवर्षीय योजना में प्रस्तावित विनियोग के कार्यक्रम की व्याख्या कीजिए। देश की बढ़त हुई सुरक्षा की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर आप इसमें क्या सुधार का सुझाव दीजियेगा ?
8. What are the objectives of the Second Five Year Plan of India ? To what extent have these been realised ?  
भारत की द्वितीय पंचवर्षीय योजना के क्या उद्देश्य हैं ? किस हद तक इनकी पूर्ति हो पायी है ?
9. Describe the sources of finance of the Fifth Five Year Plan. Discuss the role assigned to deficit financing in it.  
पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के वित्तीय साधनों की व्याख्या कीजिए। इसमें घाटे की वित्तीय व्यवस्था के महत्त्व की व्याख्या कीजिए।
10. Do you consider the extent of deficit financing envisaged in the Second Five Year Plan feasible and desirable ?  
क्या द्वितीय योजना में प्रस्तावित घाटे की वित्तीय व्यवस्था की प्राप्ति सम्भव तथा उचित है ?
11. "The unbalanced nature of our economy has been the primary cause of unemployment." Discuss and suggest a programme for full employment.  
"हमारी अर्थ-व्यवस्था की असंतुलित प्रकृति देश की बेरोजगारी का एक प्रधान कारण है।" इसकी व्याख्या कीजिए तथा पूर्ण रोजगार के लिए एक कार्यक्रम का सुझाव दीजिए।
12. Examine Critically the financing of the Sixth Five Year Plan of India.  
छठी पंचवर्षीय योजना की वित्तीय व्यवस्था की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
13. Explain the difficulties in the implementation of the Fifth Five Year Plan.  
पाँचवीं पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने की कठिनाइयों की व्याख्या कीजिए।
14. Give a short account of the financial aspects of the Fifth Five Year Plan. Why has it been called an ambitious Plan ?



पाँचवीं पंचवर्षीय योजना की आलोचनात्मक वित्तीय व्यवस्था की व्याख्या कीजिए। इसे अत्यधिक महत्वाकांक्षी योजना क्यों कहा गया है ?

15. Discuss briefly the principal objectives of the Sixth Five Year Plan of India. What importance has been given to development of agriculture and rural industries in it ?

भारत की छठी पंचवर्षीय योजना के प्रधान उद्देश्यों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। ग्रामीण उद्योग एवं कृषि के विकास को इसमें क्या महत्त्व दिया गया है ?

16. "India's Sixth Five Year Plan is bigger and bolder than all the previous Plans." Examine this statement.

भारत की छठी योजना अन्य योजना की अपेक्षा बहुत बड़ी तथा महत्वाकांक्षी है। इस कथन की व्याख्या कीजिए।

17. Give an idea of the investment programme of the Sixth Five Year Plan of India. How is the outlay in the public sector proposed to be financed ?

छठी पंचवर्षीय योजना के विनियोग-सम्बन्धी कार्यक्रमों की व्याख्या कीजिए। राजकीय क्षेत्र में व्यय की रकम को किस प्रकार से प्राप्त करने का आयोजन है ?

18. What are the difficulties of economic planning in the under-developed countries ? Discuss these with special reference to India.

अर्द्ध-विकसित देशों में आर्थिक नियोजन के मार्ग में क्या-क्या कठिनाइयाँ हैं ? भारत के सन्दर्भ में इसकी व्याख्या करें।

19. Discuss the sources of finance for the Fifth Five Year Plan.

पाँचवीं योजना के वित्तीय साधनों की व्याख्या करें।

20. Mention the achievements of the Third Five Year Plan in the fields of agricultural and industrial development in India.

भारत में कृषि तथा उद्योग-धन्यों के विकास के क्षेत्र में तृतीय योजना की निष्पत्तियों की व्याख्या करें।

21. Discuss the financial resources of the Fourth Five Year Plan. What difficulties are being felt on account of the Pakistani war ?

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के वित्तीय साधनों की व्याख्या कीजिए। पाकिस्तानी आक्रमण के कारण इस योजना को कार्यान्वित करने में क्या कठिनाइयाँ महसूस की गयीं ?

22. Give a critical estimate of the main features of the Sixth Five Year Plan of India.

In what respects it differs from the earlier plans ?

भारत की छठी योजना की मुख्य विशेषताओं की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए। किस अर्थ में यह पूर्वगामी योजनाओं से भिन्न है ?

23. Assess the gains and shortcomings of the Third Five Year Plan and suggest the action to be taken to fulfil the targets in the interest of the nation's welfare and security.

तृतीय योजना की निष्पत्तियों तथा त्रुटियों की व्याख्या कीजिए तथा देश के कल्याण एवं सुरक्षा के हित में इसके लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सुझाव प्रस्तुत कीजिए।

24. Comment upon the scheme of priorities of the Fifth & Sixth Five Year Plan.

पंचम तथा छठी पंचवर्षीय योजनाओं की प्राथमिकताओं की व्याख्या कीजिये।

25. "The Third Five Year Plan was built on the lessons learnt from the Second Plan." Discuss.

"तृतीय योजना द्वितीय योजना में प्राप्त सबक से तैयार की गयी थी।" व्याख्या कीजिए।

26. Discuss briefly the financial resources of the Sixth Five Year Plan. What role has been assigned to new taxation in it ?

छठी पंचवर्षीय योजना की वित्तीय व्यवस्था की संक्षिप्त व्याख्या कीजिये। नये करारोपण को इसमें क्या स्थान दिया गया है।



27. Describe the principal objectives of the Fifth Five Year Plan. How did they differ from the earlier plans ?  
 पंचम पंचवर्षीय योजना के प्रमुख उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए। पूर्वगामी योजनाओं से ये किस अर्थ में भिन्न हैं ?
28. Discuss the Financial resources of the Fifth Five Year Plan. What role has been assigned to taxation and borrowing in it ?  
 पंचम पंचवर्षीय योजना की वित्तीय व्यवस्था की व्याख्या कीजिए। करारोपण तथा ऋण प्राप्ति को इसमें क्या स्थान दिया गया है ?

### भारतीय कृषि

1. Examine the need and point out the scope for extending the area under cultivation in India.  
 भारत में कृषि के अन्तर्गत की भूमि के क्षेत्र में वृद्धि की आवश्यकता तथा संभावनाओं पर प्रकाश डालिए।
2. "The future of Indian Agriculture lies in the intensification of cultivation rather than extension of the cultivated area." Examine the above statement in the light of India's land use pattern and the yields of her agricultural and per acre.  
 "भारतीय कृषि का भविष्य कृषि को गहन बनाने में है न कि कृषि के क्षेत्र में विस्तार पर।" भारत में भूमि के उपयोग तथा प्रति एकड़ कृषित भूमि की उपज को ध्यान में रखते हुए उपरोक्त कथन की व्याख्या कीजिए।
3. Analyse the effects of partition on supply of agricultural products in India. Describe the measures which have been adopted during the last decade to adjust the supply to the demand.  
 भारत में कृषि-उत्पादन की पूर्ति पर देश-विभाजन के प्रभावों की व्याख्या कीजिए। पिछले दशक में पूर्ति को माँग के अनुसार समायोजित करने के प्रयत्नों की व्याख्या कीजिये।
4. Examine the importance of irrigation works in developing Indian Agriculture. What attempts have been made by the Govt. to develop them ?  
 भारतीय कृषि के विकास में सिंचाई के महत्त्व की व्याख्या कीजिये। सरकार द्वारा इसके विकास के लिए क्या प्रयत्न किये गये हैं ?
5. What are the causes of low productivity of Indian Agriculture ? Suggest measures for its improvement.  
 भारतीय कृषि की निम्न उत्पादकता के क्या कारण हैं ? इसके विकास के लिए उपाय बतलाइये।
6. "Only scientific and intensive cultivation on the one hand and population planning on the other can solve the food problem of India on permanent basis." Discuss.  
 "भारत की खाद्य-समस्या का स्थायी समाधान एक ओर वैज्ञानिक एवं गहन कृषि तथा दूसरी ओर जनसंख्या के नियोजन पर निर्भर करता है।" व्याख्या कीजिये।
7. "In regard to the money-lenders one of the objectives of reforms should be the provision of an institutional alternative to the money-lender himself." Do you support this view ? Give reasons for your answer.  
 "महाजनों के सम्बन्ध में सुधार का एक उद्देश्य इनके बदले एक सांस्थानिक विकल्प की व्यवस्था होनी चाहिये।" क्या आप इस विचार का समर्थन करते हैं ? अपने उत्तर के लिए कारण दीजिए।
8. Account for the poor achievement of co-operative movement in India. What steps have been taken during the last decade to strengthen it ?  
 भारत में सहकारिता आन्दोलन की मन्द प्रगति के कारणों की व्याख्या कीजिए। पिछले दशक में इसे सुदृढ़ बनाने के लिए क्या उपाय किये गये हैं ?



9. Discuss how far the multipurpose co-operative societies have achieved their objectives. Do you suggest any change in their working?  
बहुउद्देशीय सहकारी समितियों ने कहाँ तक अपने उद्देश्यों को प्राप्त किया है ? इसकी व्याख्या कीजिए । क्या आप इनकी कार्य-प्रणाली में कोई सुधार प्रस्तावित करना चाहते हैं ?
10. Discuss the role of co-operative movement in financing Indian agriculture. Account for its poor achievement in this direction.  
भारतीय कृषि की वित्तीय व्यवस्था में सहकारिता आन्दोलन के महत्त्व की व्याख्या कीजिये । इस क्षेत्र में इस आन्दोलन की मन्द प्रगति के कारणों की व्याख्या कीजिए ।
11. What do you understand by multipurpose Co-operative societies ? To what extent have they succeeded in improving the economic conditions of the rural population in Bihar ?  
बहुधन्वी सहकारी समितियों से आप क्या समझते हैं ? बिहार की ग्रामीण-जनसंख्या की आर्थिक स्थिति के सुधार में ये कहाँ तक सफल भूत रही हैं ।
12. Account for the slow progress of co-operative movement in India. How can the movement be made more effective ?  
भारत में सहकारिता आन्दोलन की मन्द प्रगति के कारणों की व्याख्या कीजिए । इस आन्दोलन को अधिक प्रहत्वपूर्ण कैसे बनाया जा सकता है ?
13. "It is the bonds of debt that shackle Indian Agriculture." Elucidate. What steps have been taken by the state to tackle this problem ?  
"ऋण के बोझ ही कृषि को जकड़े हुए हैं ।" व्याख्या कीजिए । राज्य द्वारा इस समस्या के समाधान के लिए क्या उपाय किये गये हैं ?
14. Discuss briefly the different aspects of food problem in India. What steps have been taken by the state to increase supply of food in recent years ?  
भारत की खाद्य-समस्या के विभिन्न पहलुओं की व्याख्या कीजिए । हाल के वर्षों में खाद्यान्न की पूर्ति में वृद्धि के लिए राज्य द्वारा क्या उपाय किये गये हैं ?
15. Account for the chronic food shortage in recent years. Has the green Revolution changed the picture ?  
हाल के वर्षों में भारत में निरन्तर खाद्यान्न में कमी के कारणों की व्याख्या कीजिए । क्या हरी क्रांति से स्थिति में कुछ सुधार हुआ है ?
16. What are the handicaps from which the agricultural labour suffers in India ? What measures have been adopted in India to improve their condition ? Are they adequate ?  
भारत में खेतिहर मजदूरों की कठिनाइयों की व्याख्या कीजिए । इनकी स्थिति में सुधार के लिए क्या उपाय किये गये हैं ? क्या ये पर्याप्त हैं ?
17. What are the difficulties in marketing the agricultural produce in rural India ? Suggest measures for removing them.  
ग्रामीण भारत में कृषि-पदार्थों के विक्रय में क्या कठिनाइयाँ हैं ? इन्हें दूर करने के उपाय बतलाइये ।
18. Examine the defects of agricultural marketing in India. What steps are being taken to remove them under the Five Year Plans ?  
भारत में कृषि विक्रय-व्यवस्था के दोषों की व्याख्या कीजिये । पंचवर्षीय योजनाओं में इन दोषों को दूर करने के लिए क्या किये जा रहे हैं ?
19. Discuss the importance of River Valley Projects undertaken in recent years.  
हाल की नदी घाटी योजनाओं के महत्त्व की व्याख्या कीजिये ।



20. Discuss the arguments for and against the redistribution of agricultural land holdings in India. Would you prefer land ceiling legislation for the purpose ?  
भारत में कृषि-जोतों के पुनर्वितरण के पक्ष तथा विपक्ष के तर्कों की व्याख्या कीजिये । क्या आप इसके लिए जोतों की हदबन्दी के पक्ष में हैं ?
21. What should be the objectives for a suitable land Policy for India at the present time ? Examine the proposals of the Planning Commission in this behalf.  
वर्तमान समय में भारत के लिए एक उचित भूमि नीति के क्या उद्देश्य होने चाहिये ? इस सम्बन्ध में योजना आयोग के प्रस्तावों की व्याख्या कीजिये ।
22. Discuss the role of agriculture in our Planning. What are the programmes of its development in the Sixth Five Year Plan ?  
भारत के नियोजन कार्यक्रम में कृषि के महत्त्व की व्याख्या कीजिये । तृतीय पंचवर्षीय योजना में कृषि-विकास के कार्यक्रमों की व्याख्या कीजिये ।
23. Assess the success or failure of the co-operative credit movement in India. What place has been given to co-operative credit in the Five Year Plans ?  
भारत में सहकारिता आन्दोलन की सफलता अथवा विफलता की व्याख्या कीजिये । पंचवर्षीय योजनाओं में सहकारी साख के महत्त्व की व्याख्या कीजिये ।
24. "At the root of much of the poverty of the people in India and of the risks to which they are exposed lies the unfortunate circumstance that agriculture is the only source of livelihood of the masses of the population." Discuss this statement and suggest remedies.  
"भारत में देशवासियों की निर्धनता तथा इनके जोखिम का एक-मात्र प्रधान कारण वह दयनाक स्थिति है कि कृषि देशवासियों का एक-मात्र धन्धा है ।" इस कथन की व्याख्या कीजिये तथा सुझाव प्रस्तुत कीजिए ।
25. "Co-operative farming can only be a temporary half way house to collective farming and it will surely lead to chaos and confusion in rural life." Comment.  
"सहकारी कृषि केवल सामूहिक कृषि की ओर एक स्थायी मार्ग होगा तथा इससे ग्रामीण जीवन में निश्चय ही संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी ।" इस कथन की विवेचना कीजिए ?
26. "Co-operative farming is the only solution for removing the short-comings from which Indian agriculture is suffering. "Do you agree ? Discuss the difficulties in the way of adopting Co-operative farming in India.  
"भारतीय कृषि के दोषों को दूर करने का एक-मात्र उपाय सहकारी कृषि ही है ।" क्या आप इससे सहमत हैं ? भारत में सहकारी कृषि अपनाने के मार्ग की कठिनाइयों की व्याख्या कीजिए ।
27. Critically examine the land reforms policy of different State governments. What should be the suitable land policy for India at the present time ?  
भिन्न-भिन्न राज्य सरकारों की भूमि-सुधार-नीति का वर्णन कीजिए । वर्तमान समय में भारत के लिए समुचित भूमि-नीति का वर्णन कीजिए । वर्तमान समय में भारत के लिए समुचित भूमि-नीति क्या होनी चाहिए ?
28. Examine the proposal for land reforms in Five Year Plan. How far have they been carried out so far ?  
पंचवर्षीय योजनाओं में प्रस्तावित भूमि-सुधार की व्याख्या कीजिए । कहाँ तक ये सुधार अभी अपनाये जा सके हैं ?



29. Describe in brief the pattern of co-operative movement in India. What are the main causes of its failure?

संक्षेप में भारत में सहकारिता आन्दोलन के ढाँचे की व्याख्या कीजिए। इसकी असफलता के मुख्य कारण क्या हैं?

30. What is Community Project? What success has been achieved by this movement?

सामुदायिक विकास कार्य-क्रम क्या है? इस आन्दोलन को क्या सफलता प्राप्त हुई है?

### कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धे

1. What are the problems of Small Scale Industries in India? What steps have been taken by the Govt. to encourage them?

भारत में लघु उद्योगों की क्या समस्याएँ हैं? सरकार द्वारा इन्हें प्रोत्साहित करने के लिए क्या प्रयास किये गये हैं?

2. Discuss the role assigned to Small-Scale Industries in the planned economic development of India. What attempts have been made to remove its conflict with large scale industries?

भारत के आयोजित आर्थिक विकास में लघु उद्योगों के महत्व की व्याख्या कीजिए। बड़े पैमाने के उद्योगों के साथ इनके विरोध को दूर करने के लिए क्या किये गये हैं?

3. Do you agree with the view that the development of Cottage Industries is necessary to solve the problem of poverty in India? Mention the steps taken by the State to aid their development.

क्या आप इस बात से सहमत हैं कि भारत की निर्धनता की समस्या के समाधान के लिए कुटीर उद्योगों का विकास अत्यावश्यक है। राज्य द्वारा इसके विकास के लिए अपनाये गये उपायों की व्याख्या कीजिये।

4. Examine the role of Village and Small Scale Industries in national planning. What steps have been taken to improve their condition during the Third Year Plan?

राष्ट्रीय नियोजन के लिए ग्रामीण तथा लघु उद्योगों के महत्व की व्याख्या कीजिये। तृतीय पंचवर्षीय योजना में इन्हें विकसित करने के लिए क्या उपाय किये गये हैं?

5. Discuss the role of village and small scale industries in the industrial economy of India. What steps have been taken to improve their condition during the period 1951-1966?

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में ग्रामीण तथा लघु उद्योगों के महत्व की व्याख्या कीजिए। 1951-66 के बीच इनकी स्थिति में सुधार के लिए अपनाए गए उपायों की व्याख्या कीजिए।

6. What place has been given to cottage industries in the Five Year Plans of India? Is the importance given to these industries in the Sixth Plans justified?

भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में कुटीर उद्योगों के महत्व की व्याख्या कीजिए। क्या छठी योजना में इन उद्योगों को दिया गया महत्व न्यायोचित है?

7. "Small scale and cottage industries constitute an integral part of our national economy." Discuss and state the steps taken by the Govt. of India for the development of small scale and cottage industries, with special Reference to the Sixth Plan.

"कुटीर उद्योग हमारी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के प्रधान अंग हैं।" इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा भारत सरकार द्वारा कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए अपनाये गये उपायों की व्याख्या छठी योजना के विशेष संवर्धन में कीजिए?



8. In what ways does the Govt. favour the cottage producers and restrict the large producers of consumer goods ? Are you in favour of such a policy ? Discuss with reference to the provisions made during the Sixth Five Year Plans.

किन-किन उपायों द्वारा सरकार उपभोक्ता वस्तुओं के लघु उत्पादकों को प्रोत्साहित तथा बड़े पैमाने के उत्पादकों की हतोत्साहित करती है ? क्या आप इस प्रकार की नीति के पक्ष में हैं ? छठी योजना में इस सम्बन्ध में व्यवस्था ध्यान में रखते हुए व्याख्या कीजिए ।

9. Bring out the points of distinction between cottage and small scale industries. What part do cottage and small scale industries play in our economic life ?

कुटीर एवं लघु उद्योगों में अन्तर की व्याख्या कीजिये । हमारे आर्थिक जीवन में कुटीर एवं लघु उद्योगों का क्या महत्व है ?

10. "Small scale and cottage industries are the relics of backward technology and the sooner we get rid of this the better." Examine critically this statement against the background of Indian economy.

"लघु उद्योग प्राचीन तकनीक के अवशेष हैं और जितनी ही शीघ्रता से हम इनका परित्याग करें उतना ही अच्छा होगा ।" भारतीय अर्थ-व्यवस्था के संदर्भ में इस कथन की व्याख्या कीजिए ।

11. What should be the relative roles of cottage and small scale industries and large scale industries in our economy ? Do you think that our planning has given them the right priority ? Discuss it with reference to the Sixth Plan.

हमारी अर्थ-व्यवस्था में कुटीर एवं लघु उद्योगों तथा बृहत् प्रमाण उद्योगों का सापेक्षिक महत्व क्या होना चाहिये ? क्या आप इस बात से सहमत हैं कि हमारे नियोजन में इन्हें उचित स्थान दिया गया है ? छठी योजना के संदर्भ में इसकी व्याख्या करें ।

#### उद्योग-धन्धों का सामान्य सर्वेक्षण

1. Discuss the various measures adopted by state to promote industrialisation in India. Are these measures adequate ?

भारत में औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करने के लिए अपनाए गए विभिन्न उपायों की व्याख्या कीजिए । क्या ये उपाय पर्याप्त हैं ?

2. Why has the rate of industrialisation in India been very slow before Independence ? How have the Five Year Plans increased the rate ?

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व भारत में औद्योगीकरण की प्रगति क्यों मन्द थी ? पंचवर्षीय योजनाओं ने इस दर में किस प्रकार से वृद्धि की है ?

3. "The industrial Sector in India is unevenly and in some ways inadequately developed." Discuss.

भारत का औद्योगिक क्षेत्र कुछ अर्थ में विषम रूप से तथा अपर्याप्त तरीके में विकसित है ।" व्याख्या कीजिये ।

#### प्रमुख संगठित उद्योग-धन्धे

1. Describe the present position and future of either (a) the jute, or (b) the cotton textile industry in India How has partition of the country affected this Industry ?

भारत में (क) जूट, अथवा (ख) सूती-वस्त्र उद्योग की वर्तमान स्थिति तथा भविष्य की व्याख्या कीजिए । देश-विभाजन ने इस उद्योग को किस प्रकार से प्रभावित किया है ?

2. Examine the present position and problems of any of the following industries in India —(a) Jute Mill Industry, and (b) Iron & Steel Industry.

(क) जूट उद्योग, अथवा (ख) लोहा एवं इस्पात उद्योग की वर्तमान स्थिति एवं समस्याओं की विवेचना कीजिये ।

3. Describe any one of the following industries :—(a) Engineering industry, or (b) Jute Industry.

से किसी भी एक उद्योग की व्याख्या कीजिए :—(क) इंजीनियरिंग उद्योग, तथा (ख) जूट उद्योग ।



( 13 )

4. Examine the present position and scheme of development either of (a) the Iron and Steel Industry, or (b) the Jute Industry in India.  
भारत में (अ) लोहा एवं इस्पात उद्योग, या (ब) जूट उद्योग की वर्तमान स्थिति तथा विकास के कार्यक्रमों की व्याख्या कीजिए।
5. Write an essay on either—(a) the Sugar Industry, or (b) the Cotton Textile Industry in India.  
भारत में (क) चीनी उद्योग, अथवा (ख) सूती वस्त्र-उद्योग पर एक निबन्ध लिखें।
6. Discuss the present position and future prospects of Cement or Cotton Textile Industry in India. Discuss the importance given to them in Sixth plan?  
भारत में सीमेंट उद्योग अथवा सूती-वस्त्र उद्योग की वर्तमान स्थिति तथा भविष्य की संभावनाओं की व्याख्या कीजिए। छठी योजना में इनको दिये गये महत्व की व्याख्या कीजिए?
7. Examine the present position and problems of the Sugar Industry in India. In India self-sufficient in Sugar?  
भारत में चीनी उद्योग की वर्तमान स्थिति तथा समस्याओं की व्याख्या कीजिए। क्या भारत चीनी के मामले में आत्म-निर्भर है?
8. Describe the importance of the Cotton Textile Industry in the economy of India. Discuss the present problems of the industry.  
भारत की अर्थ-व्यवस्था में सूती वस्त्र-उद्योग के महत्व की व्याख्या कीजिए। इस उद्योग की वर्तमान समस्याओं की व्याख्या कीजिए।
9. 'When compared with Cotton Industry the position of Jute Industry is much stronger in international trade.' Is this statement still true after the partition.  
'सूती वस्त्र-उद्योग की तुलना में जूट उद्योग की स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अत्यधिक सुदृढ़ है।' क्या देश-विभाजन के बाद भी यह बात सत्य है?
10. Discuss the role of protection in the Development of Iron and Steel and Sugar Industries in India. Do you advocate further protection to them?  
लोहा तथा इस्पात उद्योग एवं चीनी उद्योग के विकास में संरक्षण के महत्व की व्याख्या करें। क्या आप इन्हें और अधिक संरक्षण देने के पक्ष में हैं?
11. Trace the development of any one of the following Indian industries and discuss their problems—(a) Jute manufacturing or (b) Iron & Steel industry.  
निम्नांकित में से किसी भी एक भारतीय उद्योग के विकास के इतिहास का वर्णन कीजिए तथा इनकी समस्याओं को बतलाइये—(क) जूट उद्योग, या (ख) लोहा एवं इस्पात उद्योग।
12. Examine the present position and problems of either the cotton textile or the Iron and Steel Industry in India.  
भारत में सूती-वस्त्र उद्योग अथवा लोहा तथा इस्पात उद्योग की वर्तमान स्थिति एवं समस्याओं का वर्णन कीजिए।
13. Examine the present position and problems of the (a) Cotton textile industry or (b) Sugar Industry in India.  
सूती वस्त्र-उद्योग अथवा चीनी उद्योग की वर्तमान स्थिति तथा समस्याओं का वर्णन कीजिए।
14. Give a brief account of the Iron and Steel Industry in India. What are its problems? What Provisions have been made in the Sixth Five Year Plan for its development?  
भारत में लोहा एवं इस्पात उद्योग की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। इसकी क्या समस्याएँ हैं? छठी पंचवर्षीय योजना में इसके विकास के लिए क्या व्यवस्था की गयी है?
15. "The Sugar industry is the child of protection." Elucidate. Discuss the present problems of the industry.  
"चीनी उद्योग संरक्षण का शिशु है।" स्पष्ट कीजिए तथा चीनी उद्योग की वर्तमान समस्याओं की व्याख्या कीजिए।



16. Give an account of the present position and the problems of the Jute or Iron and Steel Industry of India.  
भारत के जूट अथवा लोहा इस्पात उद्योग की वर्तमान स्थिति तथा समस्याओं का वर्णन कीजिए।
17. Give a brief but critical estimate of the present position of the Jute Industry in India. What will be the effect of development of Jute manufacturing Industry in Bangala Desh on the Indian Jute Industry.  
भारत में जूट उद्योग की एक संक्षिप्त किन्तु आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत कीजिए। भारतीय जूट उद्योग पर बंगला देश में जूट उद्योग के विकास का क्या प्रभाव पड़ेगा?
18. Give a brief account of the Industrial enterprises Started by the Government of India in the post-war period.  
भारत सरकार द्वारा युद्धोत्तरकाल में प्रारम्भ औद्योगिक संस्थानों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।
19. Write a Short note on any two public sector industries in Bihar.  
बिहार के किन्हीं दो राजकीय क्षेत्र के उद्योगों पर टिप्पणी लिखिए।

### औद्योगिक नीति

1. Examine the main features of the Industrial policy of India of 1956 and show how it differs from that of 1948 ?  
1956 की भारत की औद्योगिक नीति की प्रधान विशेषताओं की व्याख्या कीजिए तथा यह दिखलाइये की 1948 की औद्योगिक नीति से इसमें क्या भिन्नता है?
2. Describe briefly the main features of the Industrial policy enunciated by the Govt. of India in 1956. Do you approve of this policy? If so, why?  
भारत सरकार द्वारा 1956 में घोषित औद्योगिक नीति की प्रमुख विशेषताओं की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। क्या आप नीति को स्वीकार करते हैं? सकारण स्पष्ट कीजिए?
3. Give a critical estimate of post-war industrial policy of the Government of India.  
भारत सरकार की युद्धोत्तरकालीन औद्योगिक नीति की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत कीजिए।
4. What is the role assigned to private sector in India's industrial policy? Do you consider it to be consistent with the socialistic pattern of society?  
भारत की औद्योगिक नीति में निजी क्षेत्र को क्या महत्व दिया गया है? क्या यह समाजवादी ढाँचे की सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप है?
5. Critically examine the Industrial policy of the Govt. of India of 1977. In what respects does it differ from earlier policies?  
भारत सरकार की 1977 की औद्योगिक नीति की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए। किस अर्थ में यह पहले की नीतियों से भिन्न है?
6. How far has the present industrial development of the country influenced the Industrial policy of the Government. Do you advocate any change in this policy?  
देश के वर्तमान औद्योगिक विकास ने सरकार की औद्योगिक नीति को किस प्रकार से प्रभावित किया है? क्या इस नीति में आप किसी परिवर्तन के पक्ष में हैं?
7. Describe the present industrial policy of the Govt. of India. Will it lead to mixed economy or socialism?  
भारत सरकार की वर्तमान औद्योगिक नीति की व्याख्या करें। क्या यह मिश्रित अर्थ-व्यवस्था अथवा समाजवाद की स्थापना में सहायक होगी?
8. "The policy of simultaneous development of the Large Scale Industries in the Public sector and Small and Cottage Industries envisaged in 1977 Industrial Policy is the product of confused thinking." Discuss.



“नयी औद्योगिक नीति में एक ओर तो सांख्यिक क्षेत्र में बड़े पैमाने के उद्योग तथा दूसरी ओर लघु एवं कुटीर-उद्योगों के विकास पर साथ-साथ जोर अस्पष्ट विचारधारा का परिणाम है।” स्पष्ट कीजिए।

9. Examine the Industrial policy of the Government of India (1956). Do you agree with the change & brought about by 1977 policy?

भारत सरकार की 1956 ई० की औद्योगिक नीति की समीक्षा कीजिए। क्या आप इसमें 1977 की नीति द्वारा लाये गये परिवर्तनों के पक्ष में हैं?

10. “The Industrial Policy Resolution of 1956 contemplates a mixed economy in which public and private enterprises work hand in hand.” Examine this statement.” Do you advocate any change in this policy?

“1956 ई० की औद्योगिक नीति एक ऐसी मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की स्थापना का प्रयास है जिसमें निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र हाथ-में-हाथ मिलाकर चलेंगे।” क्या आप इस नीति में कोई परिवर्तन चाहते हैं?

11. Discuss the salient features of the Industrial Policy Resolution (1956) of the Govt. of India. How far are the economic and social objectives envisaged therein realised?

1956 ई० की औद्योगिक नीति की प्रधान विशेषताओं की व्याख्या कीजिए। इस नीति में वर्णित आर्थिक तथा सामाजिक उद्देश्यों की कहां तक पूर्ति हो पायी है?

### औद्योगिक वित्त, प्रबंध अभिकर्ता प्रणाली तथा औद्योगिक वित्त निगम

1. Describe briefly the problem of Industrial Finance for large scale industries in India. Examine the steps taken by the State in recent years to remove the shortcomings of the system.

भारत में बड़े पैमाने के उद्योगों के लिए औद्योगिक वित्त की समस्या का संक्षिप्त विवरण दीजिए। राज्य द्वारा हाल में इस व्यवस्था के दोषों को दूर करने के लिए किये गये उपायों का वर्णन कीजिए।

2. What steps have been taken by the Govt. to improve industrial finance in India since the independence? Describe the functions of different institutions set up for the purpose.

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सरकार द्वारा औद्योगिक वित्त में सुधार के लिए अपनाये गये उपायों की व्याख्या कीजिए? इस उद्देश्य से स्थापित विभिन्न संस्थाओं के कार्यों की व्याख्या कीजिए।

3. Discuss briefly the system of Industrial Finance for Large Scale Industries in India. Examine the steps taken by the state in recent years to remove the shortcomings of the system.

भारत में बड़े पैमाने के उद्योगों के लिए औद्योगिक वित्त-व्यवस्था का संक्षिप्त विवरण दें। राज्य द्वारा हाल के वर्षों में इस व्यवस्था को दूर करने के लिए किए गए उपायों की व्याख्या कीजिए।

4. Discuss the role of the managing Agency system in the industrial development of India. Do you advocate its abolition?

भारत के औद्योगिक विकास में प्रबंध अभिकर्ता प्रणाली के महत्व की व्याख्या करें। क्या आप इसे समाप्त करने के पक्ष में हैं?

5. Discuss the important functions of Managing Agency system in India. What are its shortcomings? Should Managing Agency System be allowed to continue?

भारत में प्रबंध अभिकर्ता प्रणाली के महत्वपूर्ण कार्यों की व्याख्या कीजिए। इसकी क्या त्रुटियाँ हैं? क्या प्रबंध अभिकर्ता प्रणाली को चलने देना चाहिए?

6. “The managing agency system in India must be mended and not ended.” Comment on the statement and review the changes introduced in the system by the present Companies Act.



“भारत में प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली को समाप्त करने के बजाय इसमें सुधार लाना चाहिए।” इस कथन की समीक्षा कीजिए तथा आधुनिक कम्पनी विधान द्वारा इस प्रथा में किए गए परिवर्तनों की व्याख्या कीजिए।

7. Examine the functions of the Industrial Finance Corporation and State Financial Corporations.

औद्योगिक वित्त निगम तथा राज्य वित्तीय निगमों के कार्यों की व्याख्या कीजिए।

8. Examine the functions of the Industrial Finance Corporation of India. What are its contributions towards recent Industrial growth?

भारत के औद्योगिक वित्त निगम के कार्यों की व्याख्या कीजिए। आधुनिक औद्योगिक विकास में इसकी क्या देन है?

9. Examine the functions and constitution of the Industrial Finance Corporation. How far has it helped in solving the problem of Industrial Finance?

औद्योगिक वित्त निगम के कार्यों की व्याख्या कीजिए। औद्योगिक वित्त की समस्या के समाधान में यह कहाँ तक सहायक सिद्ध हुई है?

10. What are the sources of finances for Industries in India? What has been done by the Govt. in recent years to increase facilities for industrial finance?

भारत में उद्योगों के लिए वित्त-प्राप्ति के कौन-कौन से साधन हैं? औद्योगिक वित्त की सुविधाओं में विकास के लिए हाल में सरकार द्वारा क्या उपाय किए गए हैं?

11. Give a brief description of the public enterprises started to finance Industries in India.

उद्योगों को वित्त प्रदान करने के लिए स्थापित राजकीय क्षेत्र की संस्थाओं की संक्षेप में व्याख्या कीजिए।

12. Give an account of the organisation, functions and working of the Industrial Development Bank of India. How far has it been helpful in extending financial assistance to Industries?

भारत के औद्योगिक विकास बैंक के संगठन, कार्य तथा कार्यवाही की व्याख्या करें। उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने में यह कहाँ तक सफल रहा है?

13. Examine the various public institutions that have been set up in the Post-independence period of India for financing development of industries in the country.

युद्धोत्तर काल में भारत में उद्योगों को वित्त प्रदान करने के लिए स्थापित विभिन्न राजकीय संस्थाओं की व्याख्या कीजिए।

### विदेशी पूँजी एवं उद्योग-संरक्षण नीति

1. “In securing rapid industrial development under present conditions, foreign capital has an important part to play.” Discuss this statement and the extent of foreign aid made available to India in recent years.

“वर्तमान परिस्थितियों में द्रुतगति से औद्योगिक विकास के लिए विदेशी पूँजी का स्थान बड़ा ही महत्वपूर्ण है।” इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा हाल के वर्षों में भारत को उपलब्ध विदेशी पूँजी की मात्रा के सम्बन्ध में अनुमान लगाइए।

2. Examine the present policy of the Government of India regarding the investment of foreign capital in the country.

वर्तमान समय में देश में विदेशी पूँजी के विनियोग के सम्बन्ध में सरकारी नीति की व्याख्या कीजिए।

3. “The Indian Fiscal Commission of 1949-50 approached their task from a new angle of vision and laid down new principles of protection.” Discuss.

“1949-50 के उद्योग वित्त आयोग ने अपने कार्य को एक नए दृष्टिकोण से सम्पन्न किया तथा संरक्षण के लिए नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।” व्याख्या कीजिए।

4. In what respects are the recommendations of the Second Fiscal Commission (1950) different from the recommendations of the previous Fiscal Commission?



द्वितीय वित्त आयोग (1950) की सिफारिशों किन-किन बातों में प्रथम आयोग से भिन्न हैं ?

5. Examine the working of the policy of discriminating protection in India. What are the new principles of protection recommended by the Fiscal commission of 1949-50 ?

भारत में विवेचनात्मक संरक्षण की नीति की क्रियाशीलता की विवेचना कीजिए। 1949-50 के वित्त आयोग द्वारा प्रस्तावित संरक्षण के सिद्धान्त क्या हैं ?

6. What is the present attitude of the Govt. of India towards the investment of foreign capital in our country ? Make out a strong case for the use of foreign capital during development planning in India.

भारत में विदेशी पूँजी के विनियोग के सम्बन्ध में सरकार की वर्तमान नीति क्या है ? भारत के विकास की योजनाओं के कार्यान्वयन के क्रम में विदेशी पूँजी के प्रयोग के लिए तर्क प्रस्तुत कीजिए।

7. "The discriminating protection has vouchsafed nothing better perfunctory assistance, indifferently and grudgingly rendered to industries whose subsequent development has been left to its own course." Discuss the statement of Prof. Adarkar with special reference to any two industries to which protection was granted after 1924.

“विवेचनात्मक संरक्षण अनियमित संरक्षण की तरह है जो ऐसे उद्योगों को अनादरपूर्ण तरीके से प्रदान किया गया था जिनके भविष्य में विकास को उनके ही भाग्य पर छोड़ दिया गया।” 1924 ई० के बाद संरक्षण प्रदान किए गए किन्हीं दो उद्योगों को ध्यान में रखते हुए प्रो० अदाकर के उपरोक्त कथन की विवेचना कीजिए।

8. Examine briefly the weaknesses of the policy of discriminating protection. Discuss how developmental protection would solve this problem.

विवेचनात्मक संरक्षण की नीति की त्रुटियों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए तथा इस बात को बतलाइए कि किस प्रकार विकासात्मक संरक्षण इस समस्या का समाधान कर सकता है ?

9. Discuss the part played by foreign capital in the Industrial development of India.

भारत के आर्थिक विकास में विदेशी पूँजी के महत्त्व की व्याख्या कीजिए।

10. Why was the 1921 protection policy described as discriminatory ? How did the 1950 policy differ from it ? How far is the latter an improvement over the former ?

1921 ई० की संरक्षण नीति को विभेदात्मक क्यों कहा गया था ? 1950 की नीति किस अर्थ में इससे भिन्न है ? यह किस अर्थ में पहली नीति से श्रेष्ठकर है ?

11. What is the significance of foreign Capital in India's economic development during the plan period ?

योजनाकाल में भारत के आर्थिक विकास में विदेशी पूँजी का क्या महत्त्व है ?

12. How does the present Fiscal policy differ from the earlier policy of discriminating protection ? Examine its effects on the industrial development of India.

वर्तमान उद्योग-वित्त नीति किस अर्थ में विवेचनात्मक संरक्षण की नीति से भिन्न है ? भारत के औद्योगिक विकास पर इसके प्रभावों की व्याख्या कीजिए।

13. What do you understand by the triple formula as laid down by the Policy of discriminating protection ? Discuss the effects of the application of this formula on the development of industries in India.

विवेचनात्मक संरक्षण की नीति द्वारा प्रस्तुत संरक्षण के तीन सूत्रों से आप क्या समझते हैं ? भारतीय उद्योगों पर इन सूत्रों के प्रभावों का वर्णन करें।

14. Describe briefly the effects of protection on development of Sugar and Steel Industries of India.



भारत में चीनी तथा इस्पात उद्योगों के विकास पर संरक्षण के प्रभावों की व्याख्या कीजिए ।

### औद्योगिक श्रम

1. Describe briefly the causes of the low efficiency of Industrial labourers in India. Suggest measures by which their efficiency may be raised.

भारत में औद्योगिक श्रमिकों की निम्न कार्य-कुशलता के कारणों की व्याख्या कीजिए । इनकी कार्य-कुशलता में वृद्धि के उपायों की व्याख्या कीजिए ।

2. Describe in brief the important problems of Industrial labour in India.

भारत में औद्योगिक श्रमिकों की प्रमुख समस्या का संक्षिप्त विवरण दीजिए ।

3. Describe the development of labour legislation in India after the Second World War. द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत में श्रम सन्धियों के विकास की व्याख्या कीजिए ।

4. Discuss the present position of the trade union movement in India. What are its shortcomings ?

भारत में श्रम-संघ की वर्तमान स्थिति की व्याख्या कीजिए । इनकी कौन-कौन-सी त्रुटियाँ हैं ?

5. Explain the causes of industrial unrest in India and discuss the machinery evolved for solving industrial unrest.

भारत में औद्योगिक अशान्ति के कारणों की व्याख्या करें तथा औद्योगिक अशान्ति की समस्या के लिए प्रयुक्त यंत्र का वर्णन करें ।

6. Describe briefly the measures adopted by the Government of India to improve the conditions of industrial workers in the country.

भारत में औद्योगिक मजदूरों की स्थिति में सुधार के लिए सरकार द्वारा किए गए प्रयत्नों की व्याख्या कीजिए ।

7. What are the shortcomings of Trade union Movement in India ? Suggest measures to remove them.

भारत में श्रमिक-संघ आन्दोलन की प्रधान त्रुटियों की व्याख्या कीजिए । इन्हें दूर करने के उपायों को बतलाइए ।

8. What measure have been adopted in recent years to bring about industrial peace in India ?

वर्तमान समय में औद्योगिक शान्ति के लिए सरकार द्वारा किये गये प्रयत्नों की व्याख्या कीजिए ।

9. What steps have been taken by the Govt. since 1948 for securing industrial peace ? 1948 ई० के बाद औद्योगिक शान्ति के लिए किए गए प्रयत्नों की व्याख्या कीजिए ।

10. Trace the growth and development of Trade Union Movement in India. What are the drawbacks of the movement and how can they be removed ?

भारत में श्रमिक-संघ की उत्पत्ति तथा विकास की व्याख्या कीजिए । इस आन्दोलन की कौन-कौन-सी त्रुटियाँ हैं तथा इन्हें कैसे दूर किया जा सकता है ?

11. Describe the growth of the Trade Union Movement in India. Why has it not made satisfactory progress ? What should be done to put it on sound lines.

भारत में श्रमिक-संघ आन्दोलन के विकास की व्याख्या कीजिए । इसकी संतोषजनक प्रगति क्यों नहीं हुई है ? इसे सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए क्या-क्या करना चाहिए ?

12. What are the shortcomings of the Trade Union movement in India ? Suggest measures to remove them.

भारत में श्रमिक-संघ आन्दोलन की कौन-कौन-सी त्रुटियाँ हैं ? इन्हें दूर करने के उपायों की व्याख्या करें ।



13. What measures have been taken by the Government of India in recent years to promote the welfare of Industrial workers? Are these adequate?  
हाल के वर्षों में भारत सरकार द्वारा श्रम-कल्याण कार्यों के विकास के लिए क्या प्रयास किए गए हैं? क्या ये पर्याप्त हैं?
14. What do you mean by labour welfare? What steps have been taken by the Government in recent years for the welfare of industrial labour in India?  
श्रम-कल्याण से आप क्या समझते हैं? हाल के वर्षों में सरकार द्वारा औद्योगिक श्रमिकों के कल्याण के लिए किए गए उपायों का वर्णन कीजिए।
15. What measures have been adopted by the Govt. of India for the welfare of industrial workers since 1948?  
1948 ई० के बाद सरकार द्वारा औद्योगिक श्रमिकों के कल्याण के लिए क्या कार्य किए गए हैं? क्या ये पर्याप्त हैं?
16. What measures of social security have been provided to industrial workers of India since Independence?  
स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सरकार द्वारा श्रमिकों को कौन-कौन-सी सामाजिक सुरक्षा प्रदान की गयी है?
17. Discuss the necessity of social insurance for industrial workers in India. Examine the adequacy of the social insurance legislations passed in post-independent India.  
भारत में औद्योगिक श्रमिकों के लिए सामाजिक बीमा की आवश्यकता का वर्णन कीजिए। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में पारित सामाजिक बीमा-सम्बन्धी विधानों की पर्याप्तता पर विचार करें।
18. Examine the machinery for solving industrial disputes in India. How, in your opinion, can industrial peace be achieved in your country?  
भारत में औद्योगिक संघर्षों की रोक-थाम के लिए यन्त्रों की उपलब्धता की व्याख्या कीजिए। देश में, आपकी राय में, औद्योगिक शांति किस प्रकार स्थापित की जा सकती है?
19. What important labour legislations have been passed in India in recent years? Do these meet our requirements?  
हाल के वर्षों में भारत में कौन-कौन से महत्वपूर्ण श्रम-विधान पारित किए गए हैं? क्या ये हमारी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त हैं?
20. Describe the present position of Trade Union Movement in India. How far has the movement been vitiated by political considerations and to what effect?  
भारत में श्रम-संगठनों की वर्तमान स्थिति की व्याख्या करें। राजनीतिक प्रभावों द्वारा यह आन्दोलन कहाँ तक दुष्प्रभावित हुआ है तथा इसका क्या प्रभाव पड़ा है?
21. Examine the Social Security Legislations passed in India in recent years.  
भारत में हाल के वर्षों में पारित सामाजिक सुरक्षा-सम्बन्धी विधानों की व्याख्या करें।
22. Discuss the existing scheme of social security to industrial working population of India?  
भारत में औद्योगिक श्रमिकों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने की वर्तमान व्यवस्था की व्याख्या करें।
23. Briefly describe Employees' State Insurance Act, 1948 and the Employees' Provident Fund Act, 1952. Do they give adequate social security to the working population of India.  
कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 तथा कर्मचारी निर्वाह निधि अधिनियम 1952 की संक्षिप्त व्याख्या करें। क्या ये देश के श्रमिकों को पर्याप्त मात्रा में सामाजिक सुरक्षा प्रदान करते हैं?



24. Describe briefly the growth and recent tendencies in trade unionism in India. What are its shortcomings? Suggest measures to remove them.

भारत में श्रमिक संघीयता के विकास तथा आधुनिक प्रवृत्तियों की संक्षिप्त व्याख्या करें। इनकी कौन-कौन-सी वृद्धियाँ हैं? इन्हें दूर करने के उपाय बताइए।

### यातायात के साधन

1. Discuss with reference to India, the importance of transport in a country's economic development. Examine in this connection the place given to transport in the Five Year Plans.

भारत के सन्दर्भ में, किसी देश के आर्थिक विकास में यातायात के महत्त्व की व्याख्या करें। इस सम्बन्ध में पंचवर्षीय योजनाओं में यातायात के साधनों को दिये गये महत्त्व की व्याख्या करें।

2. Account for the emphasis given on the transport and communication in our Plans. What are the schemes for their development?

हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में यातायात तथा संचार को दिए गए महत्त्व की व्याख्या करें। इनके विकास के क्या कार्यक्रम हैं?

3. What do you know about the present position of Indian Railway? Write a short note on—(a) the new Railways Convention of 1947; (b) the Zonal-Regrouping Scheme.

भारतीय रेलों की वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं?—(क) 1947 ई० के नये रेलवे कन्वेन्शन तथा (ख) विभिन्न समूहों में रेलों के विभाजन पर टिप्पणी लिखें।

4. Discuss the development of railways under India's Five Year Plans.

भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में रेलों के विकास की व्याख्या कीजिए।

5. Explain the meaning of rail-road co-ordination. What steps has the Govt. taken to bring about rail-road co-ordination in India?

रेल-सड़क समन्वय का क्या अर्थ है? भारत में रेल-सड़क समन्वय के लिए सरकार द्वारा क्या उपाय किए गए हैं?

6. What has the Govt. of India done for the improvement of Road transport since the Independence?

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सड़क-यातायात के विकास के लिए किए गए प्रयत्नों की व्याख्या कीजिए।

7. "India requires not only development of transport services but also a proper co-ordination between different forms of transport." Discuss.

"भारत में केवल यातायात-सम्बन्धी सेवाओं के विकास की आवश्यकता ही नहीं, बल्कि यातायात के विभिन्न साधनों के बीच समन्वय की भी आवश्यकता है।" व्याख्या कीजिए।

8. Discuss the importance of Railways in our economy. What are their present problems?

देश की अर्थ-व्यवस्था में रेलों के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। इनकी वर्तमान समस्याएँ क्या हैं?

9. Discuss the nature of competition between rail-road transport in India. How would you bring about a better co-ordination between the two?

भारत में रेल एवं सड़क यातायात के बीच प्रतियोगिता की प्रकृति की व्याख्या कीजिये। इन दोनों में आप किस प्रकार उत्तम समन्वय की स्थापना कीजियेगा?

10. Why is proper co-ordination between different forms of transport in India considered necessary?

भारत में यातायात के विभिन्न साधनों के बीच उचित समन्वय क्यों आवश्यक है?

- II. Examine the present position and future possibilities of (a) Aerial, and (b) Marine transport in India.

भारत में श्रमिक



भारत में (क) वायु, तथा (ख) सामुद्रिक यातायात की वर्तमान स्थिति तथा भविष्य की सम्भावनाओं की व्याख्या कीजिए।

12. Why is efficient transport system regarded as an important basis for economic development? Give your arguments with reference to the Indian economy.  
आर्थिक विकास के लिए क्यों कुशल यातायात व्यवस्था को क्यों आवश्यक आधार माना जाता है? भारतीय अर्थ-व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए इस सम्बन्ध में तर्क प्रस्तुत कीजिए।
13. Discuss the problems of rail-road co-ordination in India & indicate the causes which obstruct the development of road transport in India.  
भारत में रेल-सड़क समन्वय की समस्या की व्याख्या कीजिए तथा उन कारणों की व्याख्या कीजिए जो सड़क यातायात के विकास में बाधक सिद्ध होते हैं।
14. "Road transport is vital for the successful execution of a plan of economic development based on a programme of rapid industrialisation." Discuss. How do you justify the nationalisation of road transport in India?  
"द्रुतगति से उद्योगीकरण पर आधारित योजना के सफल सम्पादन के लिए सड़क यातायात का विकास आवश्यक है।" व्याख्या कीजिए। भारत में आप सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण को किस प्रकार से न्यायोचित करार कर सकते हैं?
15. "The policy of nationalisation of road transport by the State Government is likely to conflict with the policy of development of Railways." Discuss it critically.  
"राज्य सरकारों द्वारा सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण के रेलों के विकास की नीति के विरुद्ध जाने की संभावना है।" इसकी आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
16. Discuss the importance of road transport in India. Examine the measures adopted by the Govt. to develop road transport in India since 1961.  
भारत में सड़क यातायात के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। 1961 ई० के बाद सरकार द्वारा सड़क यातायात के विकास के लिए किये गये प्रयत्नों की व्याख्या कीजिए।
17. Discuss the problems and prospects of Road Transport in India. What steps have been taken to develop the same during the plan period?  
भारत में सड़क यातायात की समस्याओं तथा सम्भावनाओं की व्याख्या कीजिए। योजनाकाल में इसके विकास के लिए क्या उपाय किये गये हैं?
18. Discuss the importance of transport and communication in our country. Do you think that the right priority has been given to transport and communication in our planning?  
अपने देश में यातायात एवं संचारवाहन के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। क्या आप इस बात से सहमत हैं कि विकास की योजनाओं में इन्हें उचित प्राथमिकता प्रदान की गयी है?

#### भारत का विदेशी व्यापार

1. "India's foreign trade has undergone a fundamental change largely on account of the partition of the country." Discuss. What are the characteristics of our foreign trade at present?  
"विभाजन के परिणामस्वरूप भारत के विदेशी व्यापार में आमूल परिवर्तन हुए हैं।" व्याख्या कीजिए। वर्तमान समय में देश के विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं?
2. Describe the changes that have taken place in the direction and composition of India's foreign trade during the post-war period.



• युद्धोत्तर काल में भारत के विदेशी व्यापार की दिशा तथा बनावट में हुए परिवर्तनों की व्याख्या कीजिए ।

3. Examine briefly the changes in the Volume, composition and direction of the foreign trade of India since 1947.

1947 ई० के बाद भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा, बनावट तथा दिशा में हुए परिवर्तनों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए !

4. Discuss fully the salient features of India's foreign trade after the independence.

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत के विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषताओं की व्याख्या कीजिए ।

5. "Considerations of foreign exchange have largely influenced the Foreign Trade Policy of the Govt. of India." Discuss and examine this in the light of the recent trends in India's foreign trade.

"विदेशी विनिमय की आवश्यकता ने भारत सरकार की विदेशी व्यापार-सम्बन्धी नीति को बहुत अधिक प्रभावित किया है।" भारत के विदेशी व्यापार की वर्तमान प्रवृत्तियों के संदर्भ में इस कथन की व्याख्या कीजिए ।

6. Discuss briefly the trends in the foreign trade of India during the last decade. Account for the large increase in imports during this period.

पिछले दशक में भारत के विदेशी व्यापार की प्रकृति की संक्षिप्त व्याख्या कीजिये । इस अवधि में आयात में अत्यधिक वृद्धि के कारणों की व्याख्या कीजिए ।

7. Examine the present trends in India's foreign trade. What do you suggest to correct the adverse balance of payments ?

भारत के विदेशी व्यापार की वर्तमान प्रवृत्तियों की व्याख्या कीजिए । विपरीत भुगतान संतुलन को ठीक करने के लिए आप क्या उपाय प्रस्तुत करते हैं ?

8. Examine the causes of India's adverse balance for payments in post-war years. What measures have been adopted to correct it and with what results ?

युद्धोत्तर काल में भारत के विपरीत भुगतान संतुलन के कारणों की व्याख्या कीजिये । इसे ठीक करने के लिए क्या उपाय किये गये हैं तथा इनका परिणाम क्या हुआ है ?

9. Examine the important changes that have taken place in the nature, volume and direction of India's foreign trade during the last ten years.

पिछले दस वर्षों में भारत के विदेशी व्यापार की प्रकृति, मात्रा तथा दिशा में हुए प्रमुख परिवर्तनों की व्याख्या कीजिए ।

10. Discuss the nature and extent of India's adverse balance of trade since 1966. How can it be reduced ?

1966 ई० के बाद भारत के प्रतिकूल व्यापाराधिक्य की प्रकृति तथा मात्रा का वर्णन कीजिए । इसे कैसे कम किया जा सकता है ?

11. Discuss the recent trends in India's foreign trade. Do you advocate a planned Foreign trade for this country ?

भारत के विदेशी व्यापार की आधुनिक प्रकृति की व्याख्या कीजिए । क्या आप इस देश के लिए आयोजित विदेशी व्यापार के पक्ष में हैं ?

12. What important changes have taken place in the nature and direction of India's foreign trade since 1950 ? Suggest measures for export promotion in India.

1950 ई० के बाद भारत के विदेशी व्यापार की प्रकृति तथा दिशा में क्या महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं ? निर्यात व्याख्या कीजिये ।



13. Describe the main trends in India's Foreign trade since 1949.  
1949 ई० के बाद भारत के विदेशी व्यापार की मुख्य प्रवृत्तियों की व्याख्या कीजिए।
14. What important changes have taken place in the nature and direction of India's foreign trade in recent years ?  
हाल के वर्षों में भारत के विदेशी व्यापार की प्रकृति तथा दिशा में क्या परिवर्तन हुए हैं ?
15. What are the main items of our export trade ? Discuss the importance of promoting our export at the present time.  
हमारे निर्यात की मुख्य मदें क्या हैं ? वर्तमान समय में निर्यात को प्रोत्साहित करने के महत्त्व की व्याख्या कीजिए।

### भारतीय मुद्रा

1. Analyse the circumstances that led to the devaluation of the Indian rupee in 1949. Consider its effects on our foreign trade.  
1949 ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों की व्याख्या कीजिए। देश के विदेशी व्यापार पर इसके प्रभावों को बतलाइये।
2. Discuss the circumstances which led to the devaluation of the Indian Rupee in 1966. How has it affected price-level ?  
1966 ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों की व्याख्या कीजिए। इसने मूल्य-तल को किस प्रकार से प्रभावित किया है ?
3. Discuss the main changes which the Second World War brought about in the currency and exchange systems in India.  
द्वितीय विश्व-युद्ध द्वारा देश की मौद्रिक तथा विनिमय-व्यवस्था में लाये गये परिवर्तनों की व्याख्या कीजिए।
4. Describe the circumstances which led to the devaluation of the Indian Rupee in Sept. 1949. What were its consequences ?  
1949 ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों की व्याख्या कीजिए। इसके क्या परिणाम हुए हैं ?

### भारतीय बैंकिंग

1. Give an account of the Joint Stock Commercial Banks in India. Point out their main defects. How have these defects been sought to be removed by recent banking legislation ?  
भारत में व्यावसायिक बैंकों की व्याख्या कीजिए। इनकी प्रमुख त्रुटियों को बतलाएँ। हाल के बैंकिंग विधान द्वारा इन त्रुटियों को किस प्रकार से दूर करने का प्रयास किया गया है ?
2. Analyse the effects of the last war on Commercial Banking. What are the problems facing these banks at present ?  
व्यावसायिक बैंकों पर द्वितीय विश्व युद्ध के प्रभावों की व्याख्या कीजिए। वर्तमान समय में बैंकों की क्या समस्याएँ हैं ?
3. Give an account of the working of the Reserve Bank of India. How far has it helped in providing agricultural Credit ?  
रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की कार्यवाही का वर्णन करें। कृषि-साख प्रदान करने में यह कहाँ तक सहायक सिद्ध हुआ है ?
4. Explain the principal functions of the Reserve Bank of India.  
रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के मुख्य कार्यों की व्याख्या कीजिए।
5. What are the causes of Bank failures in India ? How has the position been improved by the Banking Companies Act of 1949 ?



भारत में बैंकों के फेल होने के क्या कारण हैं ? 1949 के बैंकिंग कम्पनिज विधान द्वारा स्थिति में क्या सुधार हुआ है ?

6. Outline the recent trends in Indian banking. What part the Reserve Bank has played in the development of a sound banking system in India ?

वर्तमान भारतीय बैंकिंग-व्यवस्था की मुख्य प्रवृत्तियों की व्याख्या कीजिए । देश में सबल बैंकिंग-व्यवस्था के विकास में रिजर्व बैंक का क्या स्थान रहा है ?

7. State the importance of indigeneous bankers in the banking system of India. What suggestions can you offer for improving their system of banking ?

भारत की बैंकिंग-व्यवस्था में देशी बैंकों के महत्व की व्याख्या कीजिए । इनकी बैंकिंग-व्यवस्था में सुधार के लिए आप क्या सुझाव देंगे ?

8. Discuss the Constitution and functions of the Reserve Bank of India.

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के कार्यों तथा संगठन की व्याख्या कीजिए ।

9. In what ways, has the Reserve Bank of India been assisting the development of rural credit facilities in the country ?

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया देश में ग्रामीण साख की सुविधाओं के विस्तार में किस प्रकार सहायता प्रदान कर रहा है ?

10. What are the existing agencies of Rural credit in India ? Discuss the role of the Reserve Bank of India in providing rural finance.

भारत में ग्रामीण साख के वर्तमान साधन कौन-कौन से हैं ? ग्रामीण वित्त प्रदान करने में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के कार्यों की व्याख्या कीजिए ।

11. Describe the main constituents and salient features of the Indian Money Market. How can its shortcomings be removed ?

भारतीय मुद्रा-बाजार के प्रमुख निर्मायकों तथा इनकी विशेषताओं को व्याख्या कीजिए । इसकी वृत्तियों को कैसे दूर किया जा सकता है ?

12. Why was the Imperial Bank of India nationalised ? Distinguish its functions from those of the Reserve Bank.

इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण क्यों किया गया है ? रिजर्व बैंक से इसके कार्यों की इसकी तुलना कीजिए ।

13. Discuss briefly the role of the Reserve Bank of India in the Banking structure of the country. Why has it been nationalised ?

देश की बैंकिंग व्यवस्था में रिजर्व बैंक के महत्व की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए । इसका राष्ट्रीयकरण क्यों किया गया है ?

14. What are the shortcomings of the banking system in our country ? Do you advocate their wholesale nationalization ?

हमारे देश की बैंकिंग व्यवस्था की कौन-कौन-सी प्रधान वृत्तियाँ हैं ? क्या आप इसके पूर्ण राष्ट्रीयकरण के पक्ष में हैं ?

15. Examine the role of the Reserve Bank of India in the Indian economy ? What special role does the bank play in rural finance ?

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के महत्व की व्याख्या कीजिए । ग्रामीण वित्त प्रदान करने में यह कौन सा कार्य करता है ?

Describe in brief the constituent elements of our money market and point out its de-



भारतीय मुद्रा-बाजार की निर्मायक संस्थाओं की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए तथा इसके दोषों को बतलाइये।

### भारतीय वित्त-व्यवस्था

1. What are the principal defects in the Indian Tax system? How would you attempt to remove those defects?  
भारतीय कर-व्यवस्था के कौन-कौन-से प्रधान दोष हैं? इन दोषों को दूर करने का आप किस प्रकार प्रयास करेंगे?
2. What are the principal defects in the Indian Tax system? How can they be remedied?  
भारतीय कर-व्यवस्था के कौन-कौन से प्रधान दोष हैं? इन्हें कैसे दूर किया जा सकता है?
3. Discuss the desirability or otherwise of levying death duties in India.  
भारत में मृत्यु-कर लगाने के धीचित्य पर विचार कीजिए।
4. Bring out the need for imposition of death duties in India and give the main features of the Estate duty Act of 1953.  
भारत में मृत्यु कर लगाने की आवश्यकता पर विचार कीजिए तथा 1953 के जायदाद-कर की मुख्य विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।
5. What are the important recent trends in the finances of the state of Bihar. How would you improve them?  
बिहार राज्य की वित्तीय व्यवस्था की आधुनिक प्रवृत्तियों की व्याख्या कीजिए। इनमें आप किस प्रकार से सुधार ला सकते हैं?
6. Give a brief outline of the main recommendations of the First Indian Finance Commission (1951).  
प्रथम भारतीय वित्त आयोग (1951) की मुख्य सिफारिशों की संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत कीजिए।
7. What are different source of revenue of the Govt. of India? Are they adequate for development?  
भारत सरकार की आय के कौन-कौन-से प्रधान साधन हैं? क्या ये विकास के लिए पर्याप्त हैं?
8. Examine the importance of Income Tax and Sales Tax as sources of revenue of the Union and the State Governments in India.  
भारत में संघीय तथा राज्य सरकारों की आय के साधन के रूप में आय-कर एवं विक्रय-कर की व्याख्या कीजिए।
9. Critically examine the main sources of Revenue of the Govt. of Bihar. Suggest measures to augment the state revenue.  
बिहार सरकार की आय के मुख्य साधनों की व्याख्या कीजिए। राज्य की आय में वृद्धि के लिए आप क्या सुझाव देंगे?
10. Discuss the importance of Land revenue as a source of State Finance. Examine briefly the criticisms levelled against it as a form of indirect tax.  
राज्यों के वित्त के अन्तर्गत भूमि कर के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। परोक्ष कर के रूप में इसके विरुद्ध की जाने वाली मुख्य आलोचनाओं की व्याख्या कीजिए।
11. Describe the main sources of revenue of the Government of the Indian Union. Assess their relative importance.  
भारत की संघीय सरकार की आय के प्रमुख साधनों की व्याख्या बतलाइये।



12. Examine the salient features of our tax structure. Is it adequate for our economic development ?

भारतीय कर-व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं की समीक्षा कीजिए। क्या हमारे आर्थिक विकास के लिए यह पर्याप्त है ?

### भारत में कीमतें

1. Account for the general rise in Price-level after the last World War in India. What measures have been taken by the Govt. to control it and with what success ?

भारत में गत महायुद्ध के बाद से मूल्य-तल में हुई सामान्य वृद्धि की व्याख्या कीजिए। उसे नियंत्रित करने के लिए सरकार द्वारा क्या उपाय किये गये हैं तथा इस सम्बन्ध में क्या सफलता प्राप्त हुई है ?

2. How do you explain the recent rise in prices in India ? What measures have been adopted by the Govt. to fight it ?

भारत में हाल में मूल्य-तल में हुई वृद्धि की व्याख्या आप किस प्रकार से करते हैं ? उसे नियंत्रित करने के लिए सरकार द्वारा क्या उपाय किये गये हैं ?

3. Account for increasing price-level in recent years. What measures have been taken by the Government to control it ?

हाल के वर्षों में मूल्य-तल में वृद्धि के कारणों की व्याख्या कीजिए। उसे नियंत्रित करने के लिए सरकार द्वारा क्या उपाय किये गये हैं ?

4. Account for the steep rise in prices in recent years. Examine briefly the measures taken by the Govt. of India to check it

हाल के वर्षों में मूल्य-तल में तीव्र गति से वृद्धि के कारणों की व्याख्या कीजिए। इसे नियंत्रित करने के लिए भारत सरकार द्वारा अपनाये गये उपायों की व्याख्या कीजिए।

5. Account for the post-war inflationary situation in the country. What measures have been taken to control it and with what success ?

देश में युद्धोत्तरकालीन स्फीतिजनक स्थिति के कारणों की व्याख्या कीजिए। इसे नियंत्रित करने के लिए क्या उपाय किये गये हैं तथा इसमें क्या सफलता मिली है ?

6. "The ever present dread of soaring prices has made the common man suspicious about the benefits of planned economy." Examine this statement and give reasons for the rise in prices these days.

"बढ़ते हुए मूल्य-तल के निरन्तर भय ने आयोजित अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में सामान्य लोगों को बिल्कुल भयावह बना दिया है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा वर्तमान समय में देश में मूल्य-तल में वृद्धि के कारणों को बतलाइये।

—: 0 :—















